(Oriental Publishers & Distributors)
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

विषय-सूची

दो शब्द

ऋग्वेदप्रातिशाख्य एक अनमोल ग्रन्थ है। विश्वविद्यालयों तथा प्राचीन संस्कृत-सस्थानो में वैदिक साहित्य के अध्ययन के प्रसङ्ग में यह ग्रन्थ सर्वत्र पाठ्यत्वेन निर्दिष्ट है। किंतु यह ग्रन्थ आजकल बाजार में उपलब्ध नही है। मैंने सोचा कि वैदिक साहित्य के अभ्यर्थी के नाते इस विषय में मेरा कुछ कर्तव्य है। इस सकल्प को कार्यान्वित करने के लिए मैंने अपने विभागाध्यक्ष महोदय डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी से निवेदन किया। बड़े उत्साह के साथ उन्होंने अनुमति दी। वर्तमान सस्करण इस प्रोत्साहन का ही परिणाम है।

ऋग्वेदप्रातिशाख्य एक अनन्यसाधारण ग्रन्थ है। विषय-वस्तु का वैचित्र्य, अधुना-लुप्त शास्त्रीय परम्परा, पारिभाषिक शब्दो का वेष्टन – यह त्रिवेणीसंगम इसमें पाया जाता है। कार्य के प्रारम्भ में कुछ उद्वेग-सा अनुभव हुआ। इस ग्रन्थ पर कतिपय आधुनिक मनीषियों का लेख तो है किंतु पूर्णाङ्ग विवेचन एक नवीन समस्या थी जिसका हल अभी तक नही हुआ था। गुरुवर प० रामनाथ दीक्षित जी, वेदविभागाध्यक्ष सस्कृत महाविद्यालय, से इस विषय में उत्साह तो मिला ही, अनेक शङ्काओ का समाधान भी उन्होंने आग्रह एवं कृपा के साथ कर दिया। गुरुवर डा० गोपालचन्द्र मिश्र जी, वेदविभागाध्यक्ष वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, से भी अनेक प्रकार की सहायता मिली।

डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी के प्रति मेरा आभार असीम है। एक शब्द में, पद-पद पर उनके सुझाव और उनकी सहायता के बिना इस सस्करण का इस प्रकार का रूप सभव ही न होता। यह भी उनकी कृपा है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत-शोध-प्रकाशन-माला में इस ग्रन्थ को स्थान भी मिल गया।

विभाग के शोध-सहायक मेरे शिष्य डा० कमला प्रसाद सिंह ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो अत्यधिक परिश्रम किया है उसके लिये मैं उनको हार्दिक आशीर्वाद दे रहा हूँ। विभाग के शोध-कार्य के साथ सपृक्त प० चिन्तामणि झा जी ने भी ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता की है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस के मैनेजर साहब श्री रवीन्द्र कुमार बरी जी, सहायक श्री कुमुद भट्टाचार्य जी तथा हिन्दी-विभाग-सचालक श्री बसन्तू राम जी ने भी पर्याप्त सहृदयता के साथ सहायता की है।

मै उन सब सज्जनो के प्रति जिन्होंने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इस पुनीत कार्य में सहायता की है आन्तरिक श्रद्धा तथा कृतज्ञता प्रकट कर रहा हूँ।

मनुष्य के कार्य मे जाने तथा अनजाने अनेक त्रुटियाँ रह जाती हैं। उनको सहृदयता के साथ क्षमा करके गुण गृह्णन्तु साधव.।

दीपावली, १९७० ई०

इति विदुषामनुचर.
वीरेन्द्र कुमार वर्मा

The Ṛg-veda-prātiśākhya is a work of rare importance among the technical Studies on Vedic Literature. Written by as great a sūtrakāra as Śaunaka and commented upon by as great a bhāṣyakāra as Uvata, the Prātiśākhya is a comprehensive study on Vedic 'form' in all its delicate shades

Naturally, modern writers, both Eastern and Western, have laid their hands on this work and their contributions have thrown useful light on various problems dealt with in the Prātiśākhya.

But Uvata's has largely remained a singular exception that no scholar to this day has tried to give an exposition of it or to translate it in any modern language to bring to the fore the wealth of ideas therein.

I must congratulate Dr Virendra Kumar Varma, Reader in Sanskrit of my Department, who has brought all his honest labour and scholarship to bear upon the production of an edition of this important work, that largely fulfils the desideratum indicated above. I am therefore happy to include this edition in the Banaras Hindu University Sanskrit Series as the Fifth Volume

The venture is intended to be a positive step towards preservation and propagation of the ancient wisdom of India. Dr Varma's success in this direction is now open to inspection by the scholarly world.

The research staff and the B H U. Press deserve all praise for the ungrudging help they have rendered towards the completion of its printing with speed and precision

Dr S. BHATTACHARYA

भूमिका

ऋग्वेदप्रातिशाख्य का महत्त्व

वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। मानव सस्कृति के प्राचीनतम रूप तथा विकास को समझने के लिये वेदो का परिशीलन अपरिहार्य है। ससार में भारत को जो प्राथमिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई वह वेदो के माध्यम से ही है। मानव जाति के इतिहास के ज्ञान के लिये, भारतीय सस्कृति को समझने के लिये और भाषा-विज्ञान की पुष्टि के लिये वेदो का अध्ययन आवश्यक माना जाता है। और यह भी सच है कि षड् वेदाङ्गो के मौलिक अनुशीलन, मनन एव पर्यालोचन के विना वेदो का अध्ययन पूर्ण नही माना जा सकता है और न इनके विना वेदो को भलीभाँति समझा ही जा सकता है।

ब्राह्मण-काल में आर्यजन गुरु-मुख से सहितात्मक वैदिक मन्त्रो का अध्ययन करके उनको स्मरण रखते थे। वाद में जब लोक-भाषा का विकास हुआ तो सहितात्मक वैदिक मन्त्रो की भाषा से आर्यजन अपरिचित होने लगे। ऐसी परिस्थिति में वर्ण, स्वर, मात्रा, सधि, छन्द आदि के विशिष्ट नियमो के अभाव में वैदिक मन्त्रो का शुद्ध उच्चारण दुरूह-सा हो गया। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्रातिशाख्यो के रूप में ससार का प्राचीनतम वैज्ञानिक ध्वनि-अध्ययन भारत में निष्पन्न हुआ। प्रातिशाख्यो में पाँच अधिक महत्त्वपूर्ण है—ऋग्वेदप्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयिप्रातिशाख्य, अथर्ववेदप्रातिशाख्य तथा ऋक्तन्त्र।

सभी वैदिक मन्त्रो के शुद्ध उच्चारण के लिये वेद की प्रत्येक शाखा का ध्वनि-विषयक अध्ययन सम्पन्न हुआ। एक-एक शाखा से सम्वद्ध होने के कारण ही ये ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' कहलाते है (शाखाया शाखाया प्रतिशाखम्, प्रतिशाख भव प्रातिशाख्यम्)। उदात्त आदि स्वरो, वर्णों की सधियो, वर्णों के उच्चारण के गुणो और दोषो, वर्णो की उत्पत्ति, पद-पाठ से सहिता-पाठ बनाने के नियमो आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो का सुसम्वद्ध विवरण इन प्रातिशाख्यो में प्रस्तुत किया गया है। वैदिक मन्त्रो के अर्थ-ज्ञान के लिये जिस प्रकार निरुक्त-ग्रन्थ उपयोगी है उसी प्रकार मन्त्रो के बाह्य स्वरूप के ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थ उपयोगी है।

प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रो के बाह्य स्वरूप के ज्ञान के लिये शिक्षा-ग्रन्थो, व्याकरण-ग्रन्थों और छन्दोग्रन्थो के होते हुए प्रातिशाख्य-ग्रन्थो की क्या उपयोगिता है ? इसका उत्तर है कि शिक्षा-ग्रन्थ, व्याकरण-ग्रन्थ और छन्दोग्रन्थ सभी वेदो के विषय में सामान्य बातें बतलाते हैं, उनका सम्वन्ध वेद की किसी विशेष शाखा के साथ नही है। परन्तु प्रातिशाख्य का सम्वन्ध मुख्य रूप से वेद की किसी एक विशिष्ट शाखा के साथ होने के कारण प्रत्येक प्रातिशाख्य शाखा-विशेष का ऊहापोह करके उसका विशिष्ट एवं साङ्गोपाङ्ग अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त क्रम-पाठ, क्रम-हेतु, वेदो का पारायण इत्यादि अनेक विषयो का प्रतिपादन भी प्रातिशाख्य-ग्रन्थो में किया गया है जिन्हें शिक्षा-ग्रन्थो, व्याकरण-ग्रन्थो और छन्दोग्रन्थों में स्थान नही मिला है।

ऋग्वेदप्रातिशाख्य प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा विषय के विस्तृत एव वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से सभी प्रातिशाख्य-ग्रन्थो में शीर्षस्थानीय है। यत अन्य सभी वेदो ने ऋग्वेद के मन्त्रो को नि सकोच रूप से ग्रहण किया है, अत यह नितान्त स्वाभाविक है कि अन्य वेदो के प्रातिशाख्यो पर ऋग्वेदप्रातिशाख्य का प्रभाव विशाल है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य में ऋग्वेद की एकमात्र उपलब्ध शाकल शाखा की शैशिरीय उपशाखा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

सूत्रकार

१०२८ सूक्तो, १०५८०½ ऋचाओ तथा १५३८२६ शब्दो से समन्वित ऋग्वेद-संहिता की रचना अनेक छन्दो में हुई है। सूत्रकार ने इतने विशाल साहित्य के एक-एक वर्ण का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और इसके बाह्य स्वरूप को सामान्य नियमों तथा विशेष नियमो के रूप में उपनिबद्ध किया है। सामान्य नियमो तथा विशेष नियमो के अन्तर्गत न आने वाले सभी स्थलो को निपातन के रूप में प्रस्तुत किया ै। अपने नियमो को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन्होंने तद्विषयक अनेक प्रचलित परम्पराओ का उल्लेख किया है। अनेक विवादास्पद विषयो तथा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बातो के विषय में अन्य आचार्यों के मतो को प्रस्तुत करके अपने मत को भी व्यक्त किया है।

सूत्रकार की कतिपय विशेषताओ को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) सूत्रकार ने सधि आदि के नामो के रूप में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है जो अन्यत्र कही उपलब्ध नही होते हैं; जैसे अन्वक्षरसधिवक्त्र, अनाम, नियत, प्रतिकण्ठ, प्रत्याम्नाय, न्याय, प्रत्यय, प्रवाद आदि; (२) प्रत्येक संधि आदि के पारिभाषिक नाम दिये गये है और ये पारिभाषिक शब्द अर्थ के अनुसार निर्मित है। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'घ', 'घि' आदि तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य में प्रयुक्त 'सिम्', 'जित्', 'घि' आदि की भाँति अनर्थक सज्ञाओ का प्रयोग सूत्रकार ने नही किया है। प्रातिशाख्य में प्रयुक्त अधिकतर पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग इस प्रातिशाख्य के पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नही होता है, अत यह माना जा सकता है कि ये पारिभाषिक शब्द सूत्रकार की ही देन है; (३) चतुर्दश पटल में उच्चारण-दोषो का जैसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है वैसा अन्यत्र कही नही मिलता; (४) सूत्रकार की शैली सामान्यत सीधी और स्पष्ट है। किंतु कही-कही पर कवित्व के चक्कर में पडकर सूत्रकार ने छोटी-छोटी बातों को घुमा-फिरा कर कहा है। एकादश पटल इसका उदाहरण है, (५) ग्रन्थ की रचना सूत्र-शैली में हुई है। तथापि सूत्र-शैली की अस्पष्टता तथा कृत्रिमता से यह ग्रन्थ मुक्त है। अर्थ की हानि करके अल्प शब्दो के प्रयोग का प्रयत्न नही किया गया है, (६) सूत्रकार का केवल यही प्रयत्न रहा है कि ऋग्वेद-सहिता की सभी विशिष्टताओ का उल्लेख किया जाये और यह कार्य पूरा करने के लिए उनके पास अगाध पाण्डित्य तथा अक्षय शब्द-भण्डार है। वैदिक परम्पराओ का उनको सविशेष ज्ञान था।

भाष्यकार

उव्वट के भाष्य में एक अच्छे भाष्य के सभी गुण विद्यमान है। उनके भाष्य की गणना सस्कृत के उच्चकोटि के भाष्यो में की जाती है। उनके भाष्य के अधोलिखित

स्थलों से उनकी आलोचनात्मक एवं सूक्ष्म दृष्टि का निदर्शन दिया जाता है—सोऽयमाचार्य-प्रवृत्त्या पाठक्रमोऽनुमीयमानो लौकिकवर्णसमाम्नायस्य द्विधा पाठं गमयति···(१।३); गुणोऽयं शास्त्रकृतो यदनेनैव सूत्रेण स्वार्थमभिधत्ते, अधिकार च प्रकरोति ··(१।६८) एवं तदूर्ध्वस्तनाभ्यामस्यैव सूत्रस्य प्रपञ्च. कृत ···(१।७०); अतोऽयं लाघविक आचार्यः पुरस्ताद-पवाद चक्रे (१।७७) इत्यादि।

भाष्यकार की कतिपय विशेषताओ को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—(१) भाष्यकार ने सूत्रकार की पुष्टि करना अपना परम कर्तव्य समझा हैं। उन्होंने सभी सूत्रो की सार्थकता को स्थापित किया है तथा सूत्रस्थ सभी पदो की उपयोगिता को दिखलाया है। सूत्रो में प्रतीयमान विरोधों का परिहार किया है तथा सूत्रकार के विरोध में उठायी गई पूर्वपक्षी की शङ्काओ का समाधान अपनी पूरी शक्ति के साथ किया है; (२) सूत्रो को समझाने के लिए उन्होंने सर्वत्र उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत किया है; (३) अपने भाष्य मे उन्होने अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया है; जैसे—प्रातिशाख्य का प्रयोजन; अधिकार-सूत्र का स्वरूप; विवृत्ति का स्वरूप; कम्प का स्वरूप; स्वरभक्ति, यम और अभिनिधान का स्वरूप; क्रम-पाठ की उपयोगिता; वर्णों के गुण; अनुस्वार का विचार इत्यादि; (४) उन्होने गम्भीर विषयो को समझाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है।

ऋग्वेदप्रातिशाख्य के संस्करण

वर्तमान सस्करण से पहले ऋग्वेदप्रातिशाख्य के छ सस्करण प्रकाश में आ चुके है। सबसे पहले इसके सूत्रो का सस्करण १८५९ ई० में एम. ए रेग्नियर ने प्रस्तुत किया। उन्होने सूत्रो का अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया तथा उवट-भाष्य के आधार पर संक्षिप्त व्याख्या भी प्रस्तुत की। १८६९ ई० में मैक्समूलर ने सूत्रो को प्रकाशित किया। उन्होंने सूत्रो का अनुवाद जर्मन भाषा में किया तथा उवट-भाष्य के आधार पर संक्षिप्त व्याख्या भी प्रस्तुत की। उसी वर्ष ऋग्वेदप्रातिशाख्य के सूत्रो का एक सस्करण सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से प्रकाशित किया। १९०३ ई० मे उवटभाष्यसहित ऋग्वेदप्रातिशाख्य का एक सस्करण प० युगल किशोर व्यास तथा उनके शिष्य पं० प्रभुदत्त शर्मा द्वारा बनारस से प्रकाशित हुआ। १९०५ ई० में उवटभाष्यसहित ऋग्वेदप्रातिशाख्य का एक सस्करण हितव्रत सामकण्ठ ने कलकत्ता से प्रकाशित किया। इन उपर्युक्त सभी सस्करणो तथा अनेक हस्तलेखो का मन्थन करके प्रौढ़ वैदिक विद्वान् डा० मगलदेव शास्त्री ने उवटभाष्यसहित ऋग्वेदप्रातिशाख्य का बडा वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक अध्ययन तीन खण्डो में प्रस्तुत किया। प्रथम खण्ड में ऋग्वेदप्रातिशाख्य को कारिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इस खण्ड में सभी हस्तलेखो का परिचय दिया गया है तथा ऋग्वेदप्रातिशाख्य के कर्त्ता, भाषा, शैली आदि पर विचार किया गया है। द्वितीय खण्ड में ऋग्वेदप्रातिशाख्य के सूत्रो तथा उवट-भाष्य को प्रस्तुत किया गया है तथा पाद-टिप्पणियो में पाठ-भेदों को दिखलाया गया है। तृतीय खण्ड में सूत्रों का अनुवाद और कतिपय टिप्पणियाँ अंग्रेजी में दी गई है तथा अन्त में अनेक परिशिष्टों को जोडा गया है। डा० मगलदेव शास्त्री के ग्रन्थ का आवश्यकतानुसार उपयोग वर्तमान सस्करण में किया गया है।

वर्तमान संस्करण

अभी तक जो कार्य नहीं हो सका था वह है उवट-भाष्य का मन्थन। भाष्य का आक्षरिक अनुवाद अब तक किसी भी भाषा में नहीं हुआ था। यह भाष्य आयतन में सूत्र से कम से कम बीस गुणा है। विचार तथा शैली की दृष्टि से यह पातञ्जल महा-भाष्य, शाबर-भाष्य प्रभृति प्रसिद्ध महाभाष्यों से किसी अंश में कम नहीं है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य के इस भाष्य में विभिन्न विषयों के वैचित्र्य तथा गाम्भीर्य आ गये हैं। अतः इसका मन्थन समुद्र-मन्थन-सा हो जाता है। विषय-वस्तु अत्यन्त पारिभाषिक होने के कारण और आधुनिक जगत् के सतत-सञ्चरणक्षेत्र के बाहर होने के कारण अन्य अनेक शास्त्रों की भाँति प्रातिशाख्य-शास्त्र की रक्षा का प्रश्न बड़ा जटिल होकर हमारे सामने उपस्थित हो गया है। रक्षा का अर्थ केवल नाश से बचाना ही नहीं, प्रचार भी है। प्रातिशाख्य-शास्त्र की विषय-वस्तु पारिभाषिक शब्दों एवं प्राचीन शैली से प्रतिपादित होने के कारण आधुनिक जगत् इस शास्त्र के लाभ से वंचित होता जा रहा है। यही स्थिति रही तो यह सम्प्रदाय क्रमशः लुप्त ही हो जायेगा। अत एव गुरुपरम्परा-सिद्ध एवं भारतीय-ऐतिह्य-वाही इस महान् ग्रन्थ-रत्न —ऋग्वेदप्रातिशाख्य—की रक्षा अत्यन्त स्पृहणीय है। यह इष्ट तभी सिद्ध हो सकता है जब भाष्य का रहस्य आधुनिक सुधी-समाज के सामने खोलकर रख दिया जाये। विशेषतः इसी उद्देश्य से इस संस्करण की प्रवृत्ति हुई है।

वर्तमान संस्करण की विशेषतायें

इस संस्करण की ये विशेषतायें हैं :—(१) पूर्ववर्ती आचार्यों से जो कार्य सिद्ध है उसका पिष्टपेषण नहीं किया गया है, अपितु उसी के आधार पर इस कार्य को आगे बढ़ाया गया है। जैसे कि डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा गृहीत सूत्रपाठ एवं भाष्यपाठ को ही अधिकांशतः अपनाया गया है। कहीं-कहीं डा० शास्त्री के पाठ का ग्रहण न करके उनके द्वारा पादटिप्पणी में उल्लिखित पाठान्तर को अपनाया गया है। पदोक्ति को सुसम्बद्ध बनाने के लिये अथवा सुसंगत अर्थ की प्राप्ति के लिए एक आध स्थलों पर अभिनव भाष्य-पाठ की कल्पना भी की गई है, (२) ऋग्वेदप्रातिशाख्य का यह संस्करण अपने ढंग का सर्वप्रथम प्रयास है। प्रत्येक सूत्र का तथा तत्सम्बन्ध भाष्य का हिन्दी में आक्षरिक अनुवाद किया गया है। विषय को समझने में सौविध्य की दृष्टि से अनुवाद में अधुना प्रचलित लौकिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। कोष्ठकों में पारिभाषिक शब्दों का सन्निवेश करके प्रौढ़ि भी सन्निहित की गई है। सूत्रार्थ तथा भाष्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए अनुवाद करते समय आवश्यकतानुसार कोष्ठक में अतिरिक्त शब्द जोड़े गये हैं; (३) प्रत्येक सूत्र के अनुवाद में जहाँ-जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ-वहाँ सूत्रान्तर से अनुवृत्त शब्दों का ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार भाष्यकार ने अपने भाष्य में जहाँ सूत्र-प्रतीक को छोड़ दिया है वहाँ-वहाँ कोष्ठक में उन प्रतीकों को दिखलाया गया है जिससे मूल और उसकी व्याख्या को संलग्न करके पाठक देख सकें, (४) यतः उपर्युक्त शास्त्र-रक्षा ही इस संस्करण का उद्देश्य है, अतः भाष्यस्थ प्रत्येक कठिन स्थल के विषय में टिप्पणी लिखी गई है (I) टिप्पणियों को सार्थक तथा संक्षिप्त बनाने के लिए निर्यासात्मक गणितीय रूप से विषयों का

उपन्यास किया गया है (ii) विषयों को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं रेखा-चित्रों की भी सहायता ली गई है (iii) आवश्यकतानुसार संहिता-पाठ, पद-पाठ तथा क्रम-पाठ दिये गये हैं; (५) सूत्रोक्त तथा भाष्योक्त प्रत्येक उदाहरण का मूल पाद-टिप्पणी में उल्लिखित किया गया है; (६) ग्रन्थ के अन्त में पाँच उपयोगी परिशिष्ट जोड़े गये हैं।

इस संस्करण को प्रस्तुत करने में यही उद्देश्य रहा है कि ग्रन्थ स्वयं ही अपने गुणों से पाठकों को अवगत करावे। अत एव यह कर्तव्य समझा गया है कि वैयक्तिक विचारों एवं कल्पनाओं को ग्रन्थ की विषय-वस्तु में न लगाया जावे। इस बात का निरन्तर ध्यान रखा गया है कि इस दुर्बोध विषय को आधुनिक पाठकों के सम्मुख आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया जाये जिससे बुद्धिमान् पाठकों को विषय के समझने में सौविध्य हो। इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता मिली है इसके निर्णय के लिए सहृदय विद्वत्समाज से प्रश्रय अभ्यर्थना कर रहा हूँ।

———

संक्षेप-सूची

अ० प्रा०=अथर्ववेदप्रातिशाख्यम्, ह्विटनी द्वारा संपादित

अनुवाका०=अनुवाकानुक्रमणी, मैक्डानल द्वारा संपादित

आ० गृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्रम्, बिब्लिओथेका इण्डिका

आ० श्रौ०=आश्वलायनश्रौतसूत्रम्, बिब्लिओथेका इण्डिका

ऋ०=ऋग्वेदसंहिता

ऋ० खि०=ऋग्वेदखिलानि, आउफ्रेक्ट का ऋग्वेद का संस्करण

ऋ० प०=ऋग्वेदपदपाठः

ऋ० क्र०=ऋग्वेदक्रमपाठः

ऋ० वि०=ऋग्विधानम्, ए० आर० मेयेर द्वारा संपादित

ऐ० आ०=ऐतरेयारण्यकम्, ए० बी० कीथ द्वारा सपादित

ऐ० ब्रा०=ऐतरेयब्राह्मणम्, आउफ्रेक्ट द्वारा संपादित

कौ० ब्रा०=कौषीतकिब्राह्मणम्, लिण्डनर द्वारा संपादित

तै० प्रा०=तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्, ह्विटनी द्वारा संपादित

तै० ब्रा०=तैत्तिरीयब्राह्मणम्, बिब्लिओथेका इण्डिका

द० स्मृ०=दक्षस्मृति', आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि

धा० पा०=पाणिनीयधातुपाठ.

नि०=निरुक्तम्

पा०=पाणिनीयाष्टाध्यायी

पा०=पाणिनीयाष्टाध्यायी पर वार्तिकपाठ

पा० शि०=पाणिनीयशिक्षा, बनारससंस्कृतग्रन्थमाला (शिक्षासंग्रह)

पि०=पिङ्गलच्छन्द.सूत्रम्

प्र० सू० प०=प्रतिज्ञासूत्रपरिशिष्टम्, बनारससंस्कृतग्रन्थमाला (शिक्षासग्रह)

प्रै०=प्रैष, सेफ्टेलौविट्स के द्वारा संपादित

बृ० दे०=बृहद्देवता, मैक्डानल द्वारा संपादित

म० स्मृ०=मनुस्मृति

महा०=महाभारतम्, टी० ए० कृष्णाचार्य द्वारा सपादित

मा० शि०=अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा, बनारससंस्कृतग्रन्थमाला (शिक्षासंग्रह)

मा० श्रौ०=मानवश्रौतसूत्रम्, एफ०नौयार द्वारा सपादित

मैत्र्यु०=मैत्र्युपनिषद्, बिब्लिओथेका इण्डिका

या० शि०=याज्ञवल्क्यशिक्षा, बनारससंस्कृतग्रन्थमाला (शिक्षासग्रह)

वा० प्रा०=वाजसनेयिप्रातिशाख्यम्, इन्दु रस्तोगी द्वारा सपादित

वा० स०=वाजसनेयी सहिता

शा० श्रौ०=शाङ्खायनश्रौतसूत्रम्, बिब्लिओथेका इण्डिका

—

शौनककृतम्

ऋग्वेद-प्रातिशाख्यम्

ओ३म्

श्रीशौनकाय नमः

अथ विष्णुमित्रकृता वर्गद्वयवृत्तिः

(वृत्तिकारकृतं मङ्गलाचरणम्)

सूत्रभाष्यकृतः सर्वान् प्रणम्य शिरसा शुचिः ।
शौनकं च विशेषेण येनेदं पार्षदं कृतम् ॥१॥
तथा वृत्तिकृतः सर्वांस्तान्सूत्रयशसस्तथा ।
तेषां प्रसादादेतेषां स्वशक्त्या वृत्तिमारभे ॥२॥

(वृत्तिकार के द्वारा किया गया मङ्गलाचरण)

सभी सूत्रकारों और भाष्यकारों को प्रणाम करके और विशेष रूप से शौनक को (प्रणाम करके) जिस (शौनक) ने इस प्रातिशाख्य (पार्षद)[क] का निर्माण किया है; उसी प्रकार सभी वृत्तिकारो तथा सूत्रों (के अध्यापन एवं व्याख्यान) से यश प्राप्त कर लेने वाले (मौखिक व्याख्याताओं)[ख] को भी (नमस्कार करके), उन (सूत्रकारों, भाष्यकारों तथा वृत्तिकारों) की एवं इन (मौखिक व्याख्याताओं) की कृपा से मैं पवित्र (हृदय वाला) अपनी शक्ति से वृत्ति को प्रारम्भ करता हूँ ॥१–२॥

टि० (क) 'परिषद्' का अर्थ है सभा अथवा गोष्ठी। प्राचीन काल में ऐसी परिषदें संगठित रहती थी जिनमें ध्वनि-विज्ञान और व्याकरण जैसे विषयों पर नियमित रूप से विचार होता था। ऐसी परिषदों से सम्बद्ध होने के कारण ही प्रातिशाख्यों को पार्षद या पारिषद-सूत्र कहते हैं। निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने नि० १।१७ की व्याख्या करते हुए कहा है—"स्वचरणपरिषदेव यः प्रतिशाखा-नियतमेव पदावग्रहप्रगृह्यक्रमसंहितास्वरलक्षणमुच्यते तानीमानि पार्षदानि प्राति-शाख्यानीत्यर्थः" अर्थात् पार्षद या प्रातिशाख्य वे ग्रन्थ हैं जो अपने अध्येतृगण की परिषद् में एक शाखा से सम्बद्ध पदविभाग, प्रगृह्य, क्रमपाठ, संहितापाठ और स्वर के लक्षण को कहते हैं। किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के चारों ओर बैठने वाले सहायक व्यक्तियों के लिये भी 'पार्षद' शब्द का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से भी प्रातिशाख्यों को, वेदों का सहायक होने के कारण, पार्षद कहा जा सकता है।

(ख) ग्रन्थों के मर्मज्ञ कतिपय आचार्य ऐसे होते हैं जो सूत्रों के व्याख्यानों को ग्रन्थबद्ध न करके अपने जिज्ञासु और श्रद्धालु शिष्यों को उपदेश के रूप में बतलाते हैं। उपदेश के गाम्भीर्य से उनका वह व्याख्यानप्रयुक्त यश सर्वत्र फैल जाता है। ऐसे ही मौखिक व्याख्याकारों की ओर 'सूत्रयशस' पद के द्वारा संकेत किया गया है। इसके द्वारा विष्णुमित्र अपने मौखिक व्याख्यान करने वाले गुरु को भी नमस्कार कर लेते हैं।

लेख्यदोषनिवृत्त्यर्थं विस्तरार्थं क्वचित्क्वचित् ।
ज्ञातार्थपाठनार्थं च योज्यते सा मया पुनः ॥३॥

तस्याः समापने शक्ति त एव प्रदिशन्तु मे ।
लब्ध्वा काममहं तेभ्यो गच्छेयं पारमीप्सितम् ॥४॥

चम्पायां न्यवसत्पूर्वं वत्सानां कुलमृद्धिमत् ।
यस्मिन्द्विजवरा जाता बह्वृचाः पारगोत्तमा ॥ ५ ॥

देवमित्र इति ख्यातस्तस्मिञ्जातो महामतिः ।
स वै पारिषदे श्रेष्ठः सुतस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

नाम्ना तु विष्णुमित्र स कुमार इति शस्यते ।
तेनेयं योजिता वृत्तिः सक्षिप्ता पार्षदे स्फुटा ॥ ७ ॥

परिगृह्णन्तु विप्रेन्द्रा सुप्रसन्ना इमां मम ।
अज्ञानाद्यदयुक्तं स्यात् तदृजूकृत्य गृह्यताम् ॥ ८ ॥

(१) (सूत्रों की) विषय-वस्तु से सम्बद्ध आक्षेपो (दोषो) की निवृत्ति के लिये, (२) कही-कही विशद व्याख्यान (विस्तार) करने के लिये और (३) ज्ञात पदार्थों के अध्यापन के लिये मै इस (वृत्ति) की रचना कर रहा हूँ क ॥३॥ इस (वृत्ति) के समाप्त करने में वे (सूत्रकार आदि) ही मुझे शक्ति प्रदान करें। उनसे पर्याप्त (शक्ति) प्राप्त करके मैं (ग्रन्थ की) अभीप्सित समाप्ति को प्राप्त कर लूँ ॥४॥

पहले चम्पा (नगरी) में वत्स (लोगो) का एक धनाढ्य कुल निवास करता था जिसमें विद्वत्शिरोमणि ऋग्वेदी श्रेष्ठ ब्राह्मण उत्पन्न हुये ॥५॥ उस (कुल) में देव-मित्र नामक अत्यन्त बुद्धिमान् (व्यक्ति) उत्पन्न हुआ। वह प्रातिशाख्य का श्रेष्ठ (विद्वान् था)। उस महापुरुष का विष्णुमित्र नाम वाला पुत्र (था)। उसे (लोग) कुमार कहते थे। उस (विष्णुमित्र) के द्वारा प्रातिशाख्य के ऊपर यह सक्षिप्त और स्पष्ट वृत्ति निर्मित हुई है ॥६-७॥ श्रेष्ठ विप्र लोग मेरी इस वृत्ति को भलीभाँति प्रसन्नचित्त होकर ग्रहण करें। अज्ञान के कारण जो अनुचित कहा गया हो उसे ठीक करके ग्रहण कर लें ॥८॥

टि० (क) तीन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर विष्णुमित्र इस वृत्ति की रचना कर रहे है— (१) प्राचीन भाष्यकारो एव वृत्तिकारो ने सूत्रो के तत्त्व के व्याख्यान में कही-कही न्यूनता की है जिनका परिहार इस वृत्ति के द्वारा किया जायेगा। (२) पूर्ववर्ती भाष्यकारो एव वृत्तिकारो ने कही-कही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों का अति सक्षेप से व्याख्यान किया है। ऐसे स्थलों का विस्तार करना भी इस वृत्ति का उद्देश्य है। (३) प्राचीन भाष्यो और वृत्तियो में बहुत से स्थल भलीभाँति ज्ञात और स्पष्ट हैं, उनका यहाँ पुन प्रतिपादन अध्यापन के लिये किया जायेगा जिससे उन विषयो का लोगों में अधिकाधिक प्रचार हो सके।

(शास्त्रावतारः)

शास्त्रावतार सम्बन्ध विषयं च प्रयोजनम् ।
ज्ञात्वा ग्राह्यं भवेच्छास्त्रमिति शिष्टानुशासनम् ॥
तस्मादादौ तावच्छास्त्रावतार उच्यते ।
शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः ।
दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके ॥
इति शास्त्रावतारं स्मरन्ति ।

(शास्त्र की उत्पत्ति)

शास्त्र की उत्पत्ति, सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन को जानकर ही शास्त्र ग्रहण करने के योग्य होता है (अर्थात् इन बातो को जानकर ही लोग शास्त्र में प्रवृत्त होते हैं)—यह विद्वानों का उपदेश है ।

इसलिये आदि में शास्त्र की उत्पत्ति कही जाती है—

नैमिषारण्य के दीक्षित निवासियों के द्वारा दीक्षाकाल में प्रेरित होकर (सत्रयाग के) यजमान (गृहपति) शौनक ने बारह दिनो वाले सत्र (याग) में (इस प्रातिशाख्य का) प्रवचन किया था ।

शास्त्र की यह उत्पत्ति बतलाते हैं ।

(शास्त्रस्य सम्बन्धः विषयश्च)

अथ सम्बन्ध उच्यते । इह हि द्विजानां वेदाभ्यासः सकलपुरुषार्थसिद्धेः कारणमिति वैदिकः सिद्धान्तः । स च पुरुषार्थश्चतुर्विधः—धर्मार्थकाममोक्षा इति । तदप्युक्तमृग्विधाने, यथा—पवमाननाभानेदिष्ठहृद्यपुरुषसूक्तादिषु ।

(शास्त्र का सम्बन्ध और विषय)

अब सम्बन्ध कहते है । इस ससार में द्विजों के लिये वेद का अभ्यास सभी पुरुषार्थों की सिद्धि का कारण है—यह वैदिक सिद्धान्त है । और वह पुरुषार्थ चार प्रकार का है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । उसे भी 'ऋग्विधान' में कहा गया है, जैसे—'पवमान,' 'नाभानेदिष्ठ,' 'हृद्य' और 'पुरुष' सूक्तो में (क्रमश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को कहा गया है)[क] ।

टि० (क) 'ऋग्विधान' में ऋग्वेद के सूक्तों अथवा मन्त्रों का विधान विशेष कार्यों की सिद्धि के लिये किया गया है । इसके तृतीय अध्याय के प्रथम बारह श्लोकों में ऋग्वेद के नवम मण्डल के प्रथम ६७ 'पवमान'-सूक्तो का विधान धर्म के लिये किया गया है । तृतीय अध्याय के ६३-७० श्लोकों में नाभानेदिष्ठ ऋषि द्वारा दृष्ट सूक्त (१०।६१) का विधान धन-प्राप्ति (अर्थ) के लिये किया गया है । तृतीय अध्याय के १०१-१०७ श्लोको में 'हृद्य' नामक सूक्तों (१०।८३-८४) का विधान काम की सिद्धि के लिये किया गया है । तृतीय अध्याय के १३७-२३६ श्लोकों में 'पुरुष'-सूक्त (१०।९०) का विधान मोक्ष की सिद्धि के लिये किया गया है ।

वेदाभ्यासो हि पञ्चधा विहितः—अध्ययनं विचारोऽभ्यसनं जपोऽध्यापनमिति। तथा च स्मर्यते—

"वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥"[१] इति

तदपि वक्ष्यति—"एकः श्रोता दक्षिणतो निषीदेत्"[२] इत्यादिनाऽध्ययनम्। "अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिम्"[३] इत्यभ्यसनम्। "प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्"[४] इति जपादि। अध्यापनम्—"पारायणं वर्तयेद् ब्रह्मचारी"[५] इत्येवमादिना। तस्मादधीतवेदस्य हि सति सामर्थ्ये सम्पूर्णफलेच्छया विचारस्यावसरः प्राप्तः। स च विचारो द्विविधः—अर्थतो लक्षणतश्चेति। तथा चोक्तम्—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥"[६] इति।

तथा च—

"लक्षणं यो न वेत्त्यृचां न कर्मफलभाग्भवेत्।
लक्षणज्ञो हि मन्त्राणां सकलं भद्रमश्नुते॥" इति।

वेद का अभ्यास पाँच प्रकार का विहित है—अध्ययन, विचार, अभ्यसन, जप और अध्यापन। और वैसा कहा (भी) गया है—

"वेद का अभ्यास पाँच प्रकार का है—पहले वेद का ग्रहण (अध्ययन) करना, (तब) विचार, अभ्यसन, जप और तब शिष्यो के लिये (वेद का) दान (अर्थात् अध्यापन)।"

(सूत्रकार) भी इन्हें बतलायेंगे—"एक श्रोता (अर्थात् शिष्य) दाहिनी ओर बैठे" इत्यादि के द्वारा अध्ययन को (बतलायेंगे)। "अभ्यास के लिये द्रुत वृत्ति का (प्रयोग करे)" से अभ्यसन को बतलायेंगे। "प्रयोग के लिए मध्यम (वृत्ति का प्रयोग करे)" से जपादि को बतलायेंगे। अध्यापन को—"(जो स्वयं) ब्रह्मचारी (रह चुका है वह गुरु) अध्यापन (पारायण) करे" इत्यादि के द्वारा। वेद का अध्ययन करने के उपरान्त सम्पूर्ण फल की इच्छा से, यदि सामर्थ्य हो तो, विचार का अवसर प्राप्त (होता है)। और वह विचार दो प्रकार (का होता है)—अर्थ (की दृष्टि) से और बाह्य स्वरूप (लक्षण) (की दृष्टि) से। और वैसा कहा भी गया है—

"जो (व्यक्ति) वेद को पढ़कर (उसका) अर्थ नही जानता वह भार को ढोने वाला मूढ़ (ठूंठा वृक्ष) है। जो अर्थ को जानता है वह सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त कर लेता है और ज्ञान से पाप को नष्ट करके स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।"

उसी प्रकार (इसमें भी)—

"जो (व्यक्ति) ऋचाओ का बाह्यस्वरूप (लक्षण) नही जानता वह कर्मफल को प्राप्त नही करता। मन्त्रो के बाह्यस्वरूप (लक्षण) को जानने वाला (व्यक्ति) सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त कर लेता है।"

---

[१] द० स्मृ० २।३४ [२] १५।२ [३] १३।४९ [४] १३।४९
[५] १५।११ [६] नि० १।१८

तस्मात्तावत्पूर्वं लक्षणमुच्यते, लक्षणपूर्वकं ह्यर्थपरिज्ञानम् ।

तथा चोक्तम्—

"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं योगार्षमेव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ॥" इति ।

इसलिए पहले (मन्त्रों का) लक्षण कहते हैं, क्योंकि लक्षण के उपरान्त अर्थ का ज्ञान (होता है)। वैसा कहा भी है—

"मन्त्र को जानने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को प्रत्येक स्थल पर स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा, देवता, विनियोग और ऋषि को जानना चाहिये ।"

(सूत्रकारकृतं मङ्गलाचरणम्)

सर्वत्र शास्त्रादौ नमस्कार करोत्याचार्य इष्टसिद्धयर्थम् । यथा—"स्वयभुवे ब्रह्मणे विश्वगोप्त्रे"[१]; यथा च—"सर्वात्मान विश्वसृज स्वयभुवम्" इति; यथा च—"पितृदेवर्षि-साध्येभ्यः"[२] इति । अतोऽत्रापि शौनकाचार्यो भगवाञ्छास्त्रादौ नमस्कार चकार, अविघ्नार्थं च—परावर इति ।

(सूत्रकार के द्वारा किया गया मङ्गलाचरण)

आचार्य (शौनक) उद्देश्य (इष्ट) की सिद्धि के लिये सर्वत्र शास्त्र के आदि में नमस्कार करते हैं। जैसे—"विश्व के रक्षक स्वयभू ब्रह्मा के लिये (नमस्कार करके)"; और जैसे—'विश्व को उत्पन्न करने वाले स्वयभू परमात्मा को (नमस्कार करके)"; और जैसे—"पितरो, देवो, ऋषियो और साध्यो के लिये (नमस्कार करके)"। इसलिये यहाँ भी भगवान् शौनकाचार्य ने शास्त्र के आदि में (इष्ट की सिद्धि के लिए) और विघ्न की निवृत्ति के लिये "परावरे" इत्यादि के द्वारा नमस्कार किया है ।

परावरे ब्रह्मणि यं सदाहुर्
वेदात्मानं वेदनिधिं मुनीन्द्राः ।
तं पद्मगर्भं परमं त्वादिदेवं
प्रणम्यर्चां लक्षणमाह शौनकः ॥१॥

का० अ०—पर (ब्रह्म) और अवर ब्रह्म (शब्द-ब्रह्म) में जिस (अवर-ब्रह्म) की श्रेष्ठ मुनि लोग सर्वदा स्तुति करते हैं, उस वेदात्मा, वेदनिधि, पद्मगर्भ, सर्वश्रेष्ठ तथा आदिदेव को नमस्कार करके शौनक ऋचाओं का लक्षण कहते हैं ।

---

[१] ऋ० वि० १।१।१

[२] अनुवाका० ३

वि० वृ०—परं चावरं च परावरं ब्रह्म। परं नाम मनसा ध्यानगम्यं सदसदात्मकं वेदान्तेषु यदुच्यते[१]—"यदेतद्धृदयं मनश्च"[२] इत्यादि, तथा च—"महापुरुष इति यमवोचाम"[३] इत्यादि। तथा च—

"ज्योतिरजरं ब्रह्म यद्योगात्समुपाश्नुते"[४] इति।

"स ब्रह्मामृतमत्यन्तं योनिं सदसतोर्ध्रुवम्।

महच्चाणु च विश्वेशं विशति ज्योतिरुत्तमम्॥"[५] इति च।

वि० वृ० अ०—परावर ब्रह्म=पर (ब्रह्म) और अवर (ब्रह्म)। पर (ब्रह्म वह है) जो मन से ध्यानपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है और जिसे उपनिषदों में सदात्मक और असदात्मक कहा गया है—"जो हृदय और मन है" इत्यादि, और उसी प्रकार—"जिसको हमने 'महापुरुष' कहा है" इत्यादि। और उसी प्रकार—

"(बृहस्पति ऋषि ने उस परब्रह्मज्ञान की स्तुति की) जो अमर ज्योति है और जिस (ज्ञान) की प्राप्ति (योग) से (व्यक्ति) ब्रह्म का लाभ कर लेता है।" और—

"वह (ब्रह्मवित्) उस ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है जो अमर है, अनन्त है, कारण (सत्) और कार्य (असत्) का सनातन उत्पत्तिस्थल है, जो विशाल और सूक्ष्म है, सबका स्वामी है और सर्वश्रेष्ठ ज्योति है।"

अवरं तु पुनः करणवदुपांशुध्वाननिमदोपब्दिमन्मन्द्रमध्यमोत्तमस्थानेषु जपादिषु कर्मसु यत्प्रयुज्यते शब्दाख्यम्—"अग्निमीळे"[६] इत्यादि। तदुक्तम्—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥"[७]

इति शब्दब्रह्मज्ञानपूर्वकं परब्रह्मज्ञानम्।

इसके विपरीत "अग्निमीळे" इत्यादि शब्दरूप (ब्रह्म) ही अवर (ब्रह्म) है, जो जपादि कर्मों में करणसहित उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्, मन्द्र, मध्यम और उत्तम अवस्थाओं (स्थानों) में प्रयुक्त होता है।[क]

कहा भी है—

"दो ब्रह्म जानने चाहिए—शब्दब्रह्म और जो पर (ब्रह्म) है। शब्दब्रह्म में पारंगत होने पर (व्यक्ति) परब्रह्म को प्राप्त करता है।"

इस प्रकार शब्दब्रह्म का ज्ञान होने पर परब्रह्म का ज्ञान होता है।

टि० (क) वाणी (Speech) की ये सात अवस्थायें होती हैं—(१) उपांशु (२) ध्वान (३) निमद (४) उपब्दिमत् (५) मन्द्र (६) मध्यम और (७) उत्तम। 'उपांशु' अवस्था में बहुत धीमी ध्वनि से उच्चारण किया जाता है। उदाहरण के लिये कानाफूसी करते समय 'उपांशु' उच्चारण होता है। इसमें सम्बद्ध वर्णों के

---

[१] तु० वृ० उ० ३।३।१ [२] ऐ० आ० २।६ [३] ऐ० आ० ३।२।२

[४] बृ० दे० ७।१०९ [५] बृ० दे० ८।१४० [६] ऋ० १।१।१

[७] मैत्र्यु० ६।२२

तस्मिन् परावरे ब्रह्मणि; यम् = वेदब्रह्माख्यम्, सदा = सर्वदा; आहुः = ब्रुवन्ति = स्तुत्यादिभि स्तुवन्ति = विचारयन्ति = मीमांसन्ते। "एत ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते"[१] इति यथा। क आहुः? मुनीन्द्राः = मुनिप्रधानाः। ऋषयो मन्त्र-द्रष्टार। कैर्नामभिः? इत्युच्यते—

परावरे ब्रह्मणि = उस पर और अवर ब्रह्म में; यम् = जिस वेदब्रह्म नामक (ब्रह्म) को; सदा = सर्वदा; आहुः = कहते हैं = स्तुति आदि से वर्णन करते हैं = विचार करते हैं = मीमांसा करते हैं। जैसे (यह प्रमाण है)—"इसी के विषय में ऋग्वेदी लोग (बह्वृच)[क] प्रौढ़ शस्त्र[ख] (उक्थ) में विचार करते हैं।" कौन कहते हैं? मुनीन्द्राः = प्रधान मुनि लोग। मन्त्रों का दर्शन करने वाले ऋषि (कहलाते हैं)। किन नामों से (कहते हैं)? (उत्तर) बतलाते हैं—

उच्चारणस्थानों और प्रयत्नों की चेष्टा तो अवश्य होती है किंतु ध्वनि नही होती अथवा अत्यन्त अल्प ध्वनि होती है। मन ही मन में उच्चारण करना भी 'उपांशु' नही क्योंकि 'उपांशु' में वाचिक चेष्टा अनिवार्य है। तै० प्रा० २३।६ में 'उपांशु' का लक्षण यह किया गया है—"करणवदशब्दममन प्रयोगमुपांशु" अर्थात् सम्बद्ध स्थान और प्रयत्न से, बिना शब्द किये, तथा मन ही मन में न किया जाने वाला, उच्चारण (प्रयोग) 'उपांशु' है। 'ध्वान' में ध्वनि होती है किंतु स्वरों और व्यञ्जनो के भेद का ज्ञान नही होता है जैसा कि तै० प्रा० २३।७ में कहा गया है—"अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः" अर्थात् स्वरों और व्यञ्जनों की जिसमें उपलब्धि नही होती वह 'ध्वान' है। वाणी की 'निमद' नामक तृतीय अवस्था में ध्वनि कुछ और ऊँची हो जाती है और उसमें स्वरों और व्यञ्जनों का भेद ज्ञात होता है जैसा कि तै० प्रा० २३।८ में कहा गया है—"उपलब्धिर्निमदः" अर्थात् जहाँ स्वरों और व्यञ्जनों की उपलब्धि हो वह 'निमद' है। चतुर्थ अवस्था 'उपब्दिमत्' में उच्च ध्वनि होती ह जैसा कि तै० प्रा० २३।९ में कहा है—"सशब्दमुपब्दिमत्" अर्थात् 'उपब्दिमत्' में (उच्च) शब्द के साथ उच्चारण होता है। 'मन्द्र', 'मध्यम' और 'तार' अवस्थाओं में क्रमश. हृदय, कण्ठ और शिर में उच्चारण होता है जैसा कि तै०प्रा० २३।१० में कहा गया है—"उरसि मन्द्रं कण्ठे मध्यम शिरसि तारम्"। 'मन्द्र' अवस्था में व्याघ्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है, 'मध्यम' अवस्था में चक्रवाक के कूजने के समान ध्वनि होती है और 'तार' अवस्था में मयूर अथवा हंस अथवा कोकिल की ध्वनि के समान ध्वनि होती है।

टि० (क) याग में प्रयोग करने के लिए जिन 'होतृ' नामक ऋत्विजों के पास वेद से सगृहीत बहुत ऋचायें हैं उन ऋत्विजों को 'बह्वृच' कहते है, जैसा कि सायण ने ऐ० आ० ३।२।३ के भाष्य में कहा है—

"बह्व्य ऋचो यागप्रयोगार्थं येषा होतॄणा ते होतारो बह्वृचा।"

(ख) 'होतृ' नामक ऋत्विज् ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करके देवताओं का यज्ञ में आह्वान करता है। गायी न जाने वाली इन ऋचाओ से सम्पन्न स्तुति को 'शस्त्र' कहा जाता है, जबकि गाये जाने वाले साम-मन्त्रों से सम्पन्न स्तुति को 'स्तोत्र' कहते हैं।

[१] ऐ० आ० ३।२।३

वेदात्मा वेदनिधिः पद्मगर्भः परम आदिदेव इत्येवमादिभि । वेदानामात्मा= वेदात्मा। वेदा इति—विद्यते ज्ञायते लभ्यते वैभिर्धर्मादिपुरुषार्थं इति वेदा । "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।"[1] तत्र ह्यव्यभिचारेण तत्स्वरवर्णमात्रापूर्वक पाठः। सर्वकाल सर्वदेशेषु प्रतिचरणमविभागेनैकैको मन्त्रराशिर्वेद इत्युच्यते । आत्मा —"अत सातत्यगमने" ।[2] सततं सर्वदा सर्वदेशे सर्वकाले च भोक्तृत्वेन च स्रष्टृत्वेन चातति गच्छतीत्यात्मा । त वेदात्मानम् ।

वेदात्मा, वेदनिधि, पद्मगर्भ, परम, आदिदेव इत्यादि (नामो से)। वेदात्मा= वेदों की आत्मा। वेदा इति—इनके द्वारा धर्म आदि पुरुषार्थ जाना जाता है या प्राप्त किया जाता है इसलिए इन्हें वेद (कहते हैं)। "मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है।" उन (वेदों) में बिना किसी अपवाद के स्वर, वर्ण और मात्रापूर्वक पाठ (होता है)। सब कालो में और सब देशो में विना किसी भेद के प्रत्येक शाखा में एक-एक मन्त्र-राशि वेद कही जाती है। आत्मा (शब्द) 'अत' सातत्यगमने (से निष्पन्न हुआ है)। सततम्=सर्वदा, सब स्थानों पर, सभी समयों में, भोक्ता के रूप में और स्रष्टा के रूप में भ्रमण करता है=जाता है, इसलिए (इसे) आत्मा (कहते हैं)। उस वेदात्मा को (प्रणाम करके)।

वेदनिधिम्—वेदानां निधिर्वेदनिधिः; वेदानां स्थानमित्यर्थः। जनयति पोषयति च। तथा च व्यासः :—

"सृष्ट्यादौ ब्रह्मणो वेदा मुखेभ्यश्च विनिर्गताः ।
तत्रैव च लय यान्ति प्रलये समुपस्थिते ॥" इति ।

त वेदनिधिम् ।

पद्मगर्भम्—पद्मे गर्भः=पद्मगर्भः=पद्मगर्भादुत्पन्नः। तथा च—

"विष्णोर्जले शयानस्य नाभेः पद्मं समुत्थितम् ।
तस्मिन्ब्रह्मा समुत्पन्नस्तेन दृष्टं चराचरम् ॥" इति ।

तं पद्मगर्भम् ।

परमम्—स एव देवानां परमोऽन्ये देवा अवमा इत्यर्थः। तं परमम् ।

वेदनिधिम्—वेदनिधि =वेदों की निधि, (अर्थात्) वेदो का स्थान। (शब्दब्रह्म वेद को) उत्पन्न करता है और (उसका) पोषण करता है। व्यास ने भी वैसा (कहा है)—

"सृष्टि के आदि में वेद ब्रह्मा के मुख से निकले और प्रलय उपस्थित होने पर वहीं विलीन हो जाते है।"

उस वेदनिधि को (प्रणाम करके)।

पद्मगर्भम्—पद्मगर्भ =पद्म में सजात, पद्म रूप गर्भ से उत्पन्न (यह अर्थ है)। वैसा भी (कहा है)—

"जल में शयन करते हुए विष्णु की नाभि से पद्म उत्पन्न हुआ। उसमें ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, (जिसने) चराचर को देखा।"

उस पद्मगर्भ को (प्रणाम करके)।

परमम्—देवताओं के मध्य में वही सर्वश्रेष्ठ (परम) है, अन्य देव (उसकी अपेक्षा) निकृष्ट है। उस सर्वश्रेष्ठ को (नमस्कार करके)।

---

[1] प्र० सू० प० १।२ [2] धा० पा०

तु शब्दो विशेषणार्थः । आदिदेवम् इति—स एव ह्यादावुत्पन्नः पश्चादन्ये देवा इति । "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ।[1]"

तमेवंगुणविशिष्टं ब्रह्मावराख्यं प्रणम्य = प्रणामं कृत्वा; प्रकर्षेण नमनम् = प्रणमनम् = नमस्कारं कृत्वेत्यर्थः ।

'तु' शब्द विशेषण के लिए है । आदिदेवम् –वही आदि में उत्पन्न हुआ; तत्पश्चात् अन्य देवता (उत्पन्न हुए) । देव—दान देने से अथवा दीपन से अथवा द्योतन[क] से अथवा द्युस्थानीय होने से (देव कहे जाते हैं) ।

इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट अवर नामक ब्रह्म को प्रणम्य = प्रणाम करके; प्रकृष्ट रूप से नमन = प्रणमन = नमस्कार करके (यह अर्थ है) ।

(सूत्रकारस्य प्रतिज्ञा)

ततः किं कृतवानित्युच्यते—ऋचां लक्षणमाह शौनक इति । ऋच इति परिमिताक्षर-पादार्धर्चविहिता मन्त्राः । तथा चोक्तम्—

"यः कश्चित्पादवान्मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसंपदा ।
स्वरयुक्तोऽवसानेन च तामृचं परिजानते ॥" इति ।

(सूत्रकार की प्रतिज्ञा)

तत्पश्चात् क्या किया ? (उत्तर) बतलाते हैं—शौनक ने ऋचाओं का बाह्य स्वरूप (लक्षण) बतलाया । परिमित अक्षरों, पादों और अर्धर्चों से समन्वित मन्त्र ऋचायें (कहलाती हैं) । वैसा कहा भी है—

"जो कोई मन्त्र पादों से समन्वित (होता है) और अक्षर-सम्पत्ति से युक्त (होता है), (उदात्तादि) स्वरों से युक्त (होता है) और अवसान से (युक्त होता है), उसे ऋचा समझते हैं ।"

लक्षणं च स्वरवर्णाक्षरमात्राभिर्लक्षितम् । तदुक्तम्—"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा" इति । आह = ब्रवीति = वदति = उच्चारयतीत्यर्थः । शौनक आचार्यो भगवान्; शुनकस्यापत्यं शौनकः ।

स्वर, वर्ण, अक्षर और मात्रा आदि से विशिष्ट बाह्यस्वरूप (लक्षण) (होता है) [अर्थात् ऋचाओं के लक्षण को जानने के लिए हम ऋचाओं के स्वर, वर्ण, अक्षर मात्रा आदि का अध्ययन करते हैं] । कहा भी है—"स्वर, वर्ण, अक्षर (और) मात्रा (ही लक्षण हैं) ।"[ख] आह = बोलता है = कहता है = उच्चारण करता है—यह अर्थ है । शौनक = भगवान् आचार्य ने (कहा); शौनक = शुनक का पुत्र । 'शौनक' नाम का ग्रहण स्मरण

टि० (क) दीपन और द्योतन का एक ही अर्थ है—प्रकाश करना । इनमें केवल धातु का भेद है ।

टि० (ख) पृ० ८ पर उद्धृत श्लोक को देखिए ।

[1] नि० ७।४

नामग्रहणं स्मरणार्थम्। यावदस्मिँल्लोके पुरुषः पुण्येन कर्मणा श्रूयते तावदयं स्वर्गे लोके वसति—इति श्रुतिः। तथा चोक्तम्—

"दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणाम्।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते॥"[१] इति।

यथा—"महिदास ऐतरेय आह"[२] इति; यथा च—"मनुराह प्रजापतिः।"[३]

ऋचां लक्षणमाह इतीयमाचार्यस्य प्रतिज्ञा। अत ऊर्ध्वं यदुच्यते तत्सर्वमृचां लक्षणमिति वेदितव्यम्। "संहिता पदप्रकृतिः"[४] इत्येवमादि तत्सर्वमृचां लक्षणमिति वेदितव्यम्। यथा—"अग्न्याधेयप्रभृतीन्याह वैतानिकानि"[५]; यथा च—"गृह्याणि वक्ष्यामः"[६] इति प्रतिज्ञां करोति। तथा सर्वत्र वेदितव्यम्॥

एवं शास्त्रादौ नमस्कारं च प्रतिज्ञां च कृत्वा शास्त्रप्रयोजनमाह—

के लिए है। जब तक इस संसार में पुरुष का नाम (उसके) पुण्य कर्म के कारण रहता है, तब तक वह स्वर्गलोक में निवास करता है—यह श्रुति (परम्परा) है। वैसा कहा भी है—

"पुण्य के कार्यों का विवरण द्युलोक और भूमि को स्पर्श करता रहता है। जब तक वार्त्ता रहती है तब तक पुरुष स्मरण में रहता है।"

जैसे—"ऐतरेय महिदास ने कहा" और जैसे—"प्रजापति मनु ने कहा।"

"ऋचाओं का लक्षण कहते हैं" यह आचार्य की प्रतिज्ञा है। इसके आगे जो कहेंगे वह सब ऋचाओं का बाह्य स्वरूप (लक्षण) है—यह जानना चाहिए। (जैसे) "पद संहिता की प्रकृति हैं" इत्यादि सब (सूत्र) ऋचाओं का लक्षण है—यह जानना चाहिए। (प्रतिज्ञा के बारे में दृष्टान्त) जैसे—"तीन पवित्र अग्नियों में किए जाने वाले (अर्थात् वेदप्रतिपादित) अग्न्याधेय प्रभृति (यागों) को कहते हैं" और जैसे—"गृह्याग्नि में किए जाने वाले (यागों) को कहेंगे" में (आश्वलायन) प्रतिज्ञा करते हैं। वैसा सर्वत्र जानना चाहिए [तात्पर्य यह है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार प्रतिज्ञा के द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषय की घोषणा करते हैं]।

इस प्रकार शास्त्र के आदि में नमस्कार और प्रतिज्ञा करके (अब) शास्त्र का प्रयोजन कहते हैं—

(शास्त्रस्य प्रयोजनम्)

माण्डूकेयः संहितां वायुमाह
तथाकाशं चास्य माक्षव्य एव।

(शास्त्र का प्रयोजन)

का० अ०—माण्डूकेय ने (द्युलोक और पृथ्वी की) संधि (संहिता) को वायु बतलाया है। वैसे ही माक्षव्य ने इस (उपासन) के लिए (संहिता) को आकाश (बतलाया है)।

[१] महा० ३।३१४।१२२ [२] ऐ० आ० २।१।८ [३] म० स्मृ० १०।७८
[४] २।१ [५] आ० श्रौ० १।१।२ [६] आ० गृ० १।१।१

वि० वृ०—इत्यादि। तथा च—

"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यताम्॥" इति।

वि० वृ० अ०—इत्यादि। (प्रयोजन की आवश्यकता के विषय में) वैसा (कहा) भी है—

"सभी शास्त्रों का अथवा किसी भी कर्म का जब तक प्रयोजन नहीं बतलाया जाता, तब तक कौन उसको ग्रहण करेगा? (अर्थात् उसके प्रति कोई आकर्षित न होगा)।"

माण्डूकेयः आचार्यो भगवान् संहिताम्=द्यावापृथिव्योः संहिताम्; वायुमाह=ब्रवीति—"अथातः संहिताया उपनिषत्—पृथिवी पूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपं वायुः संहितेति माण्डूकेयः"[१] इति। तथाकाशं चास्य माक्षव्य एव—तथा तयोरेव द्यावापृथिव्योराकाशं च संहितामस्योपासनस्य माक्षव्यो नामाचार्य इच्छति। च-शब्दाद्वायुं च॥

(माण्डूकेय इत्यादि श्लोक की व्याख्या) भगवान् माण्डूकेय आचार्य द्युलोक और पृथिवी की संधि (संहिता) को वायु आह=कहते हैं=बतलाते हैं—"इस कारण से इसके बाद में[क] संहिता की विद्या[ख] (उपनिषत्) को (कहते हैं)—माण्डूकेय (का मत है) कि पृथिवी पूर्वरूप है और द्युलोक उत्तररूप है तथा वायु (उनकी) संधि (संहिता) है।" **तथाकाशं चास्य माक्षव्य एव** (का व्याख्यान)—माक्षव्य नामक आचार्य का अभिमत है कि इस उपासन में द्युलोक और पृथिवी की संधि (संहिता) आकाश है। (सूत्र में प्रयुक्त) 'च' शब्द से वायु भी (संहिता) है।[ग]

टि० (क) पाठवासना से युक्त व्यक्ति का चित्त पाठसम्बन्ध से रहित प्राणविद्या और ब्रह्मविद्या में प्रवेश नहीं कर पाता, इस कारण से पाठ की जाने वाली संहिता की विद्या बतलाते हैं—यह तात्पर्य है।

(ख) संहिता की इस विद्या (उपनिषत्=उपासना) से प्रजा, पशु आदि फल की प्राप्ति होती है, जैसा कि सायण ने ऐ० आ० ३।१।१ की व्याख्या में बतलाया है—"उपनिषण्णमस्यां विद्यायां प्रजापश्वादिफलमुपनिषत्।"

(ग) सूत्रकार ने दूसरे, तीसरे और चौथे श्लोकों में ऐतेरेयारण्यक के तृतीय आरण्यक के विषय के कतिपय अंश को उद्देश्यविशेष से उपनिबद्ध किया है जिसे वृत्तिकार ने ऐतरेयारण्यक के उद्धरण देकर समझाने का प्रयत्न किया है। ऐतरेयारण्यक और तत्रत्य सायण-भाष्य की सहायता से इस विषय को कुछ विस्तार में यहाँ समझाया जा रहा है।

ऐतरेयारण्यक के तृतीय आरण्यक में संहिता की उपासना का प्रतिपादन किया गया है। "अग्निमीळे" (ऋ० १।१।१) के 'अग्निम्' पद का जो मकार है वह संहिता का पूर्व-रूप है; 'ईळे' का ईकार संहिता का उत्तर-रूप है। इन

[१] ऐ० आ० ३।१।१

समानतानिले चाम्बरे च
मत्वागस्त्योऽविपरिहारं तदेव ॥ २ ॥

का० अ०—वायु और आकाश समान हैं, (यह) मानकर आगस्त्य ने (कहा कि) वही (अर्थात् इन दोनों को समान मानना ही) अपरित्याग (अपरिहार है)।

समानताम्=समाने तुल्ये एते संहिते अनिले चाम्बरे च। (एवं) मत्वा आगस्त्यः=अगस्त्यपुत्रः, अविपरिहारं दत्तवांस्तदेव नान्य इति। विविधः परिहारः=विपरिहारः। अविपरिहार मत्वा अपरित्यक्तो वायुराकाशश्चेति।

समानताम्=चाहे वायु (संहिता) हो और चाहे आकाश (संहिता) हो दोनो संहितायें समान है, यह मानकर आगस्त्यः=अगस्त्यके पुत्र ने, अपरिहार दिया। (वायुसंहिता और आकाशसंहिता—ये दोनो) वही (अर्थात् समान) है, अन्य नही। विपरिहार=विविध परिहार। (इस प्रकार) मानने पर न तो वायु का परित्याग होता है और न आकाश का।

दो वर्णों का मेल (=भी) संहिता है। इन पूर्वोत्तर वर्णों और उनकी संहिता में क्रमश पृथिवी, द्युलोक और वायु की दृष्टि करनी चाहिए। दूसरे शब्दो में—पूर्व वर्ण आदि की पृथिवी आदि की दृष्टि से उपासना करनी चाहिए। आचार्य माण्डूकेय का मत है कि संहिता (भी) में वायुदृष्टि करनी चाहिये। आचार्य माक्षव्य का कहना है कि इस संहिता (भी) में आकाशदृष्टि करनी चाहिये। माक्षव्य का अभिप्राय है कि आकाशदृष्टि करने पर वायुदृष्टि का भी परित्याग नही होता क्योंकि आकाश में स्थित रहने के कारण वायु का आकाश में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसके विपरीत वायु में आकाश का अन्तर्भाव नही हो सकता क्योंकि आकाश वायु का कारण है और वायु की अपेक्षा अधिक व्याप्त है। इससे सिद्ध हुआ कि आकाशदृष्टि करने पर आकाशदृष्टि और वायुदृष्टि—ये दोनों—संहिता में सिद्ध हो जाती हैं। इसके विपरीत वायुदृष्टि करने पर आकाशदृष्टि का परित्याग हो जाता है। इससे आकाशदृष्टि करना ही युक्त है।

आचार्य आगस्त्य का कहना है कि माण्डूकेय का मत (वायु=संहिता) और माक्षव्य का मत (आकाश=संहिता)—ये दोनो—समान अर्थात् तुल्य बल वाले है। "वायु आकाश में स्थित है" यह वस्तुस्थिति यहाँ उपासना में कोई महत्त्व नही रखती क्योकि वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार कोई उपासना प्रवृत्त नही होती किंतु वचन के अनुसार होती है। वचन तो "वायु=संहिता" और "आकाश=संहिता" इन दोनो पक्षो में समान है। इसलिये आकाशदृष्टि करने पर वायुदृष्टि सिद्ध नही होती जिसके परिणामस्वरूप वायु का परित्याग हो जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति में वायु और आकाश से सम्बद्ध दोनो मत बराबर है। इसलिये संहिता में विकल्प से वायु और आकाश की दृष्टि करनी चाहिये, यह सिद्धान्त है।

अध्यात्मक्लृप्तौ शूरवीरः सुतश्च
वाङ्मनसयोर्विवदन्त्यानुपूर्व्ये ।

का० अ०—अध्यात्मदृष्टि में शूरवीर (माण्डूकेय) और (उनके) पुत्र वाणी और मन के क्रम के विषय में विवाद करते हैं ।

वि० वृ०—अध्यात्मक्लृप्तौ=अध्यात्मविषये क्लृप्तिः=कल्पना; प्राणः संहिता । (शूरवीरः=) शूरवीरनामाऽऽचार्यः, तस्य सुतश्च; विवदन्ति=विवाद कुरुतः; वाङ्मनसयोः; आनुपूर्व्ये=क्रमे । कथम् ? "अध्यात्मम्—वाक्पूर्वरूपं मन उत्तररूपं प्राणः संहिता"[1] इत्येकः । अपरस्तद्विपरीतमाह "मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम्"[2] इति ।

वि० वृ० अ०—अध्यात्मक्लृप्तौ=अध्यात्म[क] के विषय में 'क्लृप्ति'=कल्पना; प्राण सहिता है । (शूरवीरः=)शूरवीर (माण्डूकेय) नामक आचार्य सुतश्च=और उनका पुत्र; वाङ्मनसयोः=वाणी और मन के; आनुपूर्व्ये=क्रम के विषय में; विवदन्ति=विवाद करते हैं । कैसे ? "अध्यात्म (उपासना को कहते हैं)—वाणी पूर्वरूप है, मन उत्तररूप है, प्राण (उनकी) संहिता है" यह एक (माण्डूकेय) (कहता है) । दूसरा (माण्डूकेय का पुत्र) उसके विपरीत कहता है—"मन पूर्वरूप है, वाणी उत्तररूप है ।"[ख]

टि० (क) यहाँ पर अध्यात्म उपासना का प्रसंग है । आरण्यकों म आत्मा का अर्थ अधिकतर स्थलो पर जीवात्मा (Soul) नही अपितु स्थूल शरीर और शरीर के अवयव हैं । इसीलिये सायण ने 'अध्यात्मम्' शब्द के विषय में कहा है—"आत्मानं वागादिसघातरूपमधिकृत्य वर्तत इत्यध्यात्ममुपासनमुच्यते" अर्थात् वाणी आदि शरीर के अवयवो के समूह को अधिकृत करके प्रवृत्त होने से इसे अध्यात्म उपासना कहते हैं ।

(ख) माण्डूकेय आचार्य का मत है कि पूर्व-वर्ण में वाणी की दृष्टि करनी चाहिये और उत्तर-वर्ण में मन की दृष्टि करनी चाहिये । माण्डूकेय के ज्येष्ठ पुत्र वाणी और मन के पूर्वोक्त क्रम को विपरीत कर देते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि लोक में सभी पुरुष पहले मन में यह सकल्प कर लेते है कि "यह कहूँगा"; तत्पश्चात् उच्चारण करते हैं । इसलिए इस वस्तुतत्त्व का अनुसरण करके पूर्व-वर्ण में मन की दृष्टि करनी चाहिये और उत्तर-वर्ण में वाणी की दृष्टि करनी चाहिए । दोनों वर्णो की सधि (सहिता) में तो पूर्वोक्त प्राण की ही दृष्टि (ध्यान) करनी चाहिये; उसमें कोई मतभेद नही है ।

इसके अनन्तर ऐतरेयारण्यककार का कथन है—"समानमेनयोरत्र पितुश्च पुत्रस्य च, इति ।" इसका अर्थ यह है कि उपासना वस्तुतत्त्व की अपेक्षा नहीं करती । "वचन के अनुसार उपासना करनी चाहिये"—यह न्याय है । इसलिये पिता और पुत्र—इन दोनो—का मत समान है । वाणी की दृष्टि और मन की दृष्टि के क्रम में विकल्प है—यह सिद्धान्त है ।

[1] ऐ० आ० ३।१।१ [2] ऐ० आ० ३।१।१

एवम्—"अथातः संहिताया उपनिषत्"[1] इत्यस्यार्थः सूचितः। तस्य प्रयोजनं किल वक्ष्यति—"पूर्वमक्षरं पूर्वरूपमुत्तरमुत्तररूप योऽवकाशः पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सा संहिता"[2] इति। तत्र पृथिव्यां दृष्टिर्दृष्टेः फलं तत्फलप्राप्तिः स्यादिति। वक्ष्यति च—"स य एवमेतां संहितां वेद"[3] इति॥

अथेदानीं संहिता-पद-क्रम-स्वरूपमाह—

इस प्रकार—"इसलिए अब सहिता की विद्या (उपासना) (बतलाते हैं)" का अर्थ सूचित कर दिया गया है। उसका प्रयोजन बतलायेंगे—"(इस सहितोपनिषद् के प्रारम्भ में 'पृथिवी पूर्वरूप द्यौरुत्तररूपम्' इत्यादि में) पूर्वरूप से पूर्ववर्ती अक्षर (विवक्षित है), उत्तररूप से परवर्ती (उत्तर) अक्षर (विवक्षित है)। पूर्वरूप और उत्तररूप के मध्य में जो अवकाश है वह सहिता (शब्द से विवक्षित है)।" वहाँ (अर्थात् पूर्ववर्ती अक्षर आदि में) पृथिवी आदि की दृष्टि (ध्यान) करनी चाहिये। दृष्टि का फल यह है कि उससे उस फल की प्राप्ति हो जायेगी। (ऐतरेयारण्यककार) भी बतलायेंगे—"जो इस प्रकार सहिता को जानता है।"

तत्पश्चात् अब सहिता (-पाठ), पद (-पाठ) और क्रम (-पाठ) का स्वरूप बतलाते है—

(संहिता-पद-क्रम-स्वरूपम्)

संधेर्विवर्तनं निर्भुजं वदन्ति
शौद्धाक्षरोच्चारणं च प्रतृण्णम्।
उभयं व्याप्तमुभयमन्तरेण
तथा परे कामा अन्ननाकोभयाख्याः॥

(संहिता-पाठ, पद-पाठ और क्रम-पाठ का स्वरूप)

का०अ०—संधि के संपादन करने को 'निर्भुज' (संहिता-पाठ) कहते हैं और (प्रत्येक) शुद्ध अक्षर (और पद) के उच्चारण को 'प्रतृण्ण' (पद-पाठ) (कहते हैं)। 'उभयमन्तरेण' (क्रम-पाठ) के द्वारा दोनों ('निर्भुज' तथा 'प्रतृण्ण') व्याप्त रहते हैं। उसी प्रकार कामनाओं (के पदार्थ भी) श्रेष्ठ हैं—अन्न, स्वर्ग और दोनों (अन्न और स्वर्ग)।

वि० वृ०—निर्भुजम्—संहिताध्ययनमुच्यते। संधेर्विवर्तनम्—द्वयोः पदयोरक्षरयोर्वा संधिः—मध्यमवकाशोऽन्तरमित्यनर्थान्तरम्। तस्य संधेः; विवर्तनम्—अविच्छेदाध्ययनम्; तत् निर्भुजं वदन्ति। आचार्याः—पाठकाः। द्विविधा हि संहिता—अक्षरसंहिता च पदसंहिता च। अत्राक्षरग्रहणमुपलक्षणं वर्णयन्ति। संधिविवृत्त्या तु निर्भुजं वदन्ति इति केचित्पठन्ति। अर्थस्तु स एव। शौद्धाक्षरोच्चारणम्—शुद्धे द्वे अक्षरे पदे वा संधिमकुर्वता, उच्चारणम्—अभिव्याहरणम्; तत्, प्रतृण्णम्—पदाध्ययनमुच्यते।

---

[1] ऐ० आ० ३।१।१ [2] ऐ० आ० ३।१।५ [3] ऐ० आ० ३।१।५

वि० वृ० अ०—सहिताध्ययन (संहिता-पाठ) को 'निर्भुज'[क] कहते हैं। संधेर्विवर्तनम्—दो पदों अथवा अक्षरों की संधि=मध्य, अवकाश या अन्तर—ये भिन्नार्थक नहीं हैं (अर्थात् समानार्थक हैं); (पदान्त और पदादि के बीच में जो अवकाश होता है उसको हटाना ही संधि का कार्य है)। उस (अवकाश से सम्बन्धित) संधि के विवर्तन=अविच्छेदाध्ययन को, निर्भुजं वदन्ति='निर्भुज' कहते हैं। आचार्य=पाठक (कहते हैं)। संहिता दो प्रकार की होती है—अक्षरसंहिता और पदसंहिता। यहाँ अक्षर के ग्रहण को उपलक्षण बतलाते हैं। कुछ लोग संधिविवृत्या[ख] तु निर्भुजं वदन्ति यह पाठ करते हैं; अर्थ तो वही है। शौद्धाक्षरोच्चारणम्—दो शुद्ध अक्षरों अथवा दो पदों का बिना संधि किये जो उच्चारण=कथन है, उसे प्रतृण्ण[ग]=पदाध्ययन (पद-पाठ) कहते हैं।

उभयं व्याप्तम्—संहिता च पदं च। केन? इत्याह—उभयमन्तरेण; क्रमाध्ययनेनोभयं व्याप्तं स्थितं वेदितव्यम्। "यद्धि संधिं विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपमथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत्प्रतृण्णस्याग्र उ एव। उभयमन्तरेणोभयं व्याप्तं भवति"[1] इति। उभयमन्तेणोभयं व्याप्तमग्रे इति केचित्पठन्ति। स एवार्थः। अग्रे प्रथममेव क्रमादनेन व्याप्तं भवतीति वेदितव्यम्। तथा परे कामा अन्ननाकोभयाख्याः—पराः कामा य उक्ताः अन्नकामः; नाककामः=स्वर्गकाम इत्यर्थः; उभयकामः=अन्नकामः स्वर्गकामश्च। तथा चोक्तम्

दोनों व्याप्त (रहते हैं)—संहिता (-पाठ) और पद (-पाठ)। किनसे (व्याप्त रहते हैं)? (उत्तर) बतलाते हैं—उभयमन्तरेण[घ] के द्वारा। क्रमाध्ययन (क्रमपाठ) के द्वारा दोनों व्याप्त होकर स्थित रहते हैं—यह जानना चाहिये। "जब (व्यक्ति) (दो पदों की) संधि (अर्थात् अत्यन्त सन्निकर्ष) को विशेष रूप से उच्चरित करता है तो वह 'निर्भुज' का स्वरूप है। जब शुद्ध (विकाररहित) दो अक्षरों (अथवा दो पदों का) उच्चारण करता है तो वह 'प्रतृण्ण' का (स्वरूप) है। (प्रतृण्ण का यह स्वरूप संहिता से) प्रथमभावी ही है (अग्र उ एव) (क्योंकि पद का स्वरूप सिद्ध होने पर ही संहिता की प्रवृत्ति होती है)। 'उभयमन्तरेण' (क्रम-पाठ) के द्वारा दोनों (संहिता-पाठ और पद-पाठ) व्याप्त रहते हैं।" कुछ लोग उभयमन्तेणोभयं

टि० (क) सायण ने 'निर्भुज' का निर्वचन इस प्रकार किया है—"निर्दिष्टौ (सम्मिलितौ) भुजसदृशौ पूर्वोत्तरशब्दौ यस्मिन्संहितारूपे तदुच्चारणं निर्भुजम्" इसका अर्थ यह है कि जिस संहितारूप में पूर्व-शब्द और उत्तर-शब्द भुजाओं के समान मिले रहते हैं (निर्दिष्टौ) वह उच्चारण 'निर्भुज' है। "भुजसदृशौ" कहने का यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि शब्द एक शरीर की दो भुजाओं के समान हैं।

(ख) यहाँ पर 'विवृत्त्या' पद 'विवर्तन' (अविच्छेदाध्ययन) से सम्बद्ध है। द्वितीय पटल में प्रतिपादित 'विवृत्ति' से इस पद का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ग) हिंसार्थक 'तृद्' धातु से यह पद निष्पन्न है। पदपाठ में पद विच्छिन्न रहते हैं, इसलिये इसे 'प्रतृण्ण' कहते हैं।

(घ) संहितापाठ और पदपाठ का मेल होने के कारण क्रमपाठ 'उभयमन्तरेण' कहा जाता है।

[1] ऐ० आ० ३।१।३

"अन्नाद्यकामो निर्भुजं ब्रूयात्स्वर्गकामः प्रतृण्णमुभयकाम उभयमन्तरेण"[१] इति। एतत्सर्वं तु विज्ञेयं वाक्यशेषः।

व्याप्रभ्रमे यह पाठ करते हैं। अर्थ वही है। पाठक्रमो में संहिता-पाठ और पद-पाठ के बाद में पहला इसका स्थान है—यह जानना चाहिये। **तथा परे कामा अन्ननाकोभयाख्याः**—उसी प्रकार जिन्हें श्रेष्ठ कामनायें कहा कया है (वे ही यहाँ पर कामनायें है)—अन्न की कामना; नाक की कामना=स्वर्ग की कामना, दोनो कामनायें=अन्न की कामना और स्वर्ग की कामना। वैसा कहा भी गया है—"खाने योग्य अन्न की कामना करने वाला (व्यक्ति) 'निर्भुज' (संहिता-पाठ) का उच्चारण करे; स्वर्ग की कामना करने वाला (व्यक्ति) 'प्रतृण्ण' (पद-पाठ) का (उच्चारण करे), दोनो की कामना करने वाला (व्यक्ति) 'उभयमन्तरेण' (क्रम-पाठ) का (उच्चारण करे)"। यह सब जानना चाहिये—यह वाक्य शेष है।

प्राणः षकारो यश्च बलं णकारः।

का० अ०—षकार (संहिता का) प्राण है और णकार (संहिता का) बल है।

वि० वृ०—तच्च विज्ञेयम्। प्राणस्य षकारः संज्ञा। "षकारः प्राण आत्मा"[२] इति श्रुतिः। "सबलां सप्राणां संहितां वेदायुष्यमिति विद्यात्।"[३] बलं णकारः, णकारेण हि बलवती संहिता। वायोर्हि प्राणस्य बलवत्त्वं कार्यं स्पृष्टं करणम्। षकारः प्राण आत्मा।

वि० वृ० अ०—इसको भी जानना चाहिये। षकार प्राण की संज्ञा है। यह श्रुति है—"षकार प्राण है (अर्थात् षकार में प्राण का ध्यान करना चाहिये), (प्राण होने से षकार) जीवात्मा (आत्मा) भी है (क्योकि जीवात्मा प्राण को धारण करने वाला है)।" (यह भी श्रुति है)—"(जो णकार और षकार के सहित ऋचाओ का उच्चारण करता है वह व्यक्ति) बलसहित और प्राणसहित संहिता को जानता है[क] (और उस व्यक्ति को यह जानना चाहिये

टि० (क) षकार आदि ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में वायु का (मुख में) मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध न होकर थोड़ा-थोडा खुला रहता है जिससे वायु उस सँकरे मार्ग से घर्षण करती हुई बाहर निकलती रहती है। ये वायु-प्रधान ध्वनियाँ कही जाती हैं क्योंकि इनके उच्चारण में वायु क्षणभर के लिए भी न रुककर लगातार बाहर निकलती रहती है। षकार को संहिता का प्राण कहने का यही कारण है कि षकार वायु (प्राण) प्रधान ध्वनि है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि पद-पाठ के अधिकतर सकार संहिता में षकार हो जाते है। षकार संहिता-पाठ की एक मुख्य विशेषता है।

णकार आदि स्पर्श वर्णो के उच्चारण में मुख के दो अङ्ग एक दूसरे का स्पर्श करके वायु को रोक लेते है। अन्दर से आती हुई दुर्बल वायु को रोककर ये अङ्ग बलशाली बना देते हैं और तदनन्तर एक दूसरे से अलग होकर ये अङ्ग वायु को बाहर जाने देते है। इसी कारण से यहाँ णकार को संहिता का बल कहा गया है। षकार की भाँति णकार भी संहिता की ही एक मुख्य विशेषता है। पद-पाठ के अधिकतर नकार संहिता-पाठ में णकार हो जाते हैं।

[१] ऐ० आ० ३।१।३ [२] ऐ० आ० ३।२।६ [३] ऐ० आ० ३।२।६

तथा चोक्तम् । "य ऊष्माणः स प्राणः"[1] इति । तथा णकाराख्येन बलेन बलवती भवति । णकारश्च स्पर्शः; स्पृष्टं करणं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तथा चोक्तम्—"तस्यै वा एतस्यै संहितायै णकारो बलं षकारः प्राण आत्मा । स यो हैतौ णकारषकारावनुसंहितमृचो वेद सबलां सप्राणां संहितां वेदायुष्यमिति विद्यात्"[2] इति । तथा च—"ते यद्वयमनुसंहितमृचोऽधीमहे यच्च माण्डूकेयीयमध्यायं प्रब्रूमः"[3] इति । माण्डूकेयीयमिति कथम् ? इत्युच्यते—"अथ वयं ब्रूमो निर्भुजवक्त्राः" इति ह स्माह ह्रस्वो माण्डूकेयः, "पूर्वमेवाक्षरं पूर्वरूपमुत्तरमुत्तररूपं योऽयकाशः पूर्वोत्तररूपे

कि) यह आयु को देने वाला है।"क णकार (सहिता का) बल है; क्योंकि णकार के द्वारा सहिता बलवती (होती है)। (णकार के उच्चारण में) स्पर्श वर्णो के उच्चारण में प्रयुक्त (स्पृष्ट) आभ्यतर प्रयत्न (करण) से प्राणवायु को दृढ करना चाहिये। षकार (सहिता का) प्राण है (और) जीवात्मा (आत्मा) भी है। वैसा कहा भी है—'जो ऊष्म (-वर्ण) है, वे प्राण (वायु) (स्वरूप है)।" उसी प्रकार णकार नामक बल के द्वारा (सहिता) बलवती होती है। और णकार स्पर्श (-वर्ण) है, अर्थ यह है कि इसका आभ्यन्तर प्रयत्न (करण) स्पृष्ट करना चाहिये। वैसा कहा भी है—"उस सहिता का णकार (वर्ण) बल है (यह ध्यान करना चाहिये); षकार (वर्ण) प्राण है (यह ध्यान करना चाहिये), (अतएव) जीवात्मा (आत्मा) भी है। जो (सहितोपासक) सहिता में आने वाले इन णकार और षकार का (बल और प्राण के रूप में ध्यान करता हुआ) ऋचाओ को जानता है (अर्थात् ऋचाओं का पाठ करता है) वह बलसहित और प्राणसहित सहिता को जानता है (अर्थात् बलसहित और प्राणसहित सहिता की उपासना करता है। ऐसा न करने पर सहिता दुर्बल और प्राणरहित हो जायेगी)। यह जानना चाहिये कि यह आयुष्प्रद है।"ख उसी प्रकार—"(यदि) हम (णकार और षकार में बल और प्राण का ध्यान करते हुये) सहिता के अनुसार ऋचाओं का अध्ययन करते है और माण्डूकेयीय अध्याय को प्रकृष्ट रूप से उच्चारण करते है [तो हमें णकार (बल) और षकार (प्राण) प्राप्त हो जाते है]।" माण्डूकेयीय क्यो (कहा) ? (उत्तर) बतलाते है—वामन (स्वल्प देह वाले; ह्रस्व) माण्डूकेय ने कहा—"निर्भुज (सहिता) का उच्चारण करने वाले हमलोग कहते है कि पूर्ववर्ती अक्षर पूर्वरूप है और परवर्ती (अक्षर) उत्तररूप है

टि० (क) उच्चारण करने वाले की आयु बढ जाती है अथवा सहिता आयुष्मती हो जाती है।

(ख) वृत्तिकार ने ऐतरेय आरण्यक ३।२।६ के एक अश को तीन बार भिन्न-भिन्न रूपों में उद्धृत किया है; पहली और दूसरी बार इस अश के थोडे-थोडे शब्दों को और तीसरी बार सम्पूर्ण अंश को उद्धृत किया है जिससे विषय कुछ दुरूह और पुनरुक्त सा हो गया है। इस अश का तात्पर्य इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—सहिता में प्रयुक्त णकार को सहिता का बल और षकार को सहिता का प्राण समझना चाहिये। सहिता णकार से बलवती और षकार से प्राणवती होती है। इन दो वर्णों के बिना सहिता दुर्बल और निष्प्राण हो जाती है। जो व्यक्ति णकार और षकार के साथ सहिता का पाठ करता है वह बलसहित और प्राणसहित सहिता की उपासना करता है। साराश यह है कि संहितोपासक को यह ध्यान रखना चाहिये कि णकार सहिता का बल है और षकार सहिता का प्राण है।

[1] ऐ० आ० २।२।४ [2] ऐ० आ० ३।२।६ [3] ऐ० आ० ३।२।६

अन्तरेण येन संधिं विवर्तयति येन स्वरास्वरं विजानाति येन मात्रामात्रां विभजते सा संहितेति ।"[१] "स य एवमेतां संहितां वेद संधीयते प्रजया पशुभिर्यशसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन सर्वमायुरेति"[२] इति प्रशंसा ।

और पूर्वरूप और उत्तररूप के मध्य में वह अवकाश संहिता है जिसके द्वारा (व्यक्ति) संधि का सम्पादन करता है, स्वर और अस्वर का विवेक[क] करता है और मात्रा और अमात्रा का विभाग करता है" ।[ख] "जो इस प्रकार इस संहिता को जानता है, वह प्रजा, पशु, यश, ब्रह्म-वर्चस और स्वर्गलोक को प्राप्त करता है और सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है"—यह प्रशंसा (अर्थवाद) है ।

वाक्प्राणयोर्यश्च होमः ॥४॥

का० अ०—वाणी और प्राण का जो परस्पर होम (होता है उसे) भी (जानना चाहिये) ।

वि० वृ० —तच्च विज्ञेयम् । वाचि प्राणो हूयते प्राणे च वाग्घूयते । तथा चोक्तम्—"तद्यत्रैतदधीते वा भाषते वा वाचि तदा प्राणो भवति वाक्तदा प्राणं रेढ्यथ यत्र तूष्णीं वा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा वाग्भवति प्राणस्तदा वाचं रेळिह ।"[३] तथा च—"किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचं यो ह्येव प्रभवः स एवाप्ययः"[४] इति ॥

वि० वृ० अ०—उसे भी जानना चाहिये । वाणी में प्राण का होम होता है और प्राण में वाणी का होम होता है । वैसा कहा भी गया है—"जब (पुरुष) इस (अर्थात् वेदवाक्य) का अध्ययन करता है अथवा (लौकिक भाषा को) बोलता है तब प्राण वाणी में होता है (अर्थात् वाणी का ही उच्चारणरूप व्यापार होता है, उच्छ्वासनिःश्वासरूप प्राण का व्यापार नहीं होता); उस समय वाणी प्राण को खा जाती है । दूसरी ओर (अथ) जब (पुरुष) मौन रहता है अथवा सोता है तब वाणी प्राण में होती है (वाणी का व्यापार दिखलाई नहीं पड़ता, प्राण का व्यापार ही दिखलाई पड़ता है) । उस समय प्राण वाणी को खा लेता है ।" और उसी प्रकार (संहितोपासना अथवा ब्रह्मज्ञान से कृतकृत्य कावषेय ऋषि कहते हैं)—"किस प्रयोजन को उद्दिष्ट करके हम (वेदों का) अध्ययन करेंगे और किस प्रयोजन को उद्दिष्ट करके हम यागों का अनुष्ठान करेंगे (अर्थात् सब पुरुषार्थ सम्पन्न हो जाने से हम लोगों का अध्ययन और यागों से कोई प्रयोजन नहीं है) । (तथापि दूसरों के परितोष के

टि० (क) "अग्निमीळे" (ऋ० १।१।१) यहाँ पर संहिता-काल में 'ईकार' और 'एकार' पद-पाठ की भाँति अनुदात्त नहीं होते अपितु (यथाक्रम) स्वरित और प्रचय होते हैं । यही स्वर और अस्वर का विवेक है । ऐसा संहिता होने के कारण ही होता है ।

(ख) "तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः" (ऋ० १।२।६) यहाँ पर पद-पाठ में वकार के ऊपर ह्रस्व स्वरवर्ण दिखलाई पड़ता है । संहिता-काल में वह (ह्रस्व अकार की) मात्रा नहीं होती, अपितु एकार की मात्रा हो जाती है । यही मात्रा और अमात्रा का विभाग है । ऐ० आ० ३।१।५ पर सायण-भाष्य देखिये ।

[१] ऐ० आ० ३।१।५ [२] ऐ० आ० ३।१।५ [३] ऐ० आ० ३।१।६ [४] ऐ० आ० ३।२।६

लिये यदि अनुष्ठान अपेक्षित ही है तब भी सायप्रातःकालीन अग्निहोत्र की तरह हमारे स्वत. सिद्ध दो होम सदा ही चलते रहते हैं जैसे अध्ययन करते अथवा बोलते समय) हम (वह्निस्थानीय) वाणी में (होमद्रव्यरूप) प्राण का होम करते हैं; (मौन रहने के समय और सोने के समय वह्निस्थानीय) प्राण में (होमद्रव्यरूप) वाणी का होम करते हैं। (वाणी और प्राण में) जो (एक समय दूसरे का) उत्पत्तिहेतु है, वही (दूसरे समय) उसका लयहेतु हो जाता है)।[क]

एवं च संहितोपनिषदि योऽर्थः स एवाचार्येण प्रदर्शित इति विज्ञापनार्थम्। तस्य किल तत्प्रयोजनम्। वेदे योऽर्थोऽभिहितः स एव शास्त्रे प्रतिबद्ध इति ज्ञापनार्थं च। यथा— "अथाप्यृच उदाहरन्ति"[1]; यथा च—"अन्याधेयप्रभृतीन्याह वैतानिकानि"[2] इति। यथा—

(ऐतरेयारण्यक के सहितोपनिपद् के विषय की जो सूचना दी गई है) उसका प्रयोजन (यह बतलाना है कि) सहितोपनिपद् में जो विषय (प्रतिपादित किया गया है) उसे ही आचार्य (शौनक) ने (ऋक् प्रा० में) दिखलाया है।[ख] यह बतलाना भी (इसका प्रयोजन है कि) वेद में जिस विषय का कथन किया गया है वही शास्त्र में प्रतिबद्ध किया गया है। जैसे—"अब ऋचाओं को भी उद्धृत करते हैं"; और जैसे—"श्रुतिप्रतिपादित अग्न्याधेय को कहते है"।[ग] जैसा (कि कहा है)—

टि० (क) जैसे वाणी की निवृत्ति होने पर प्राणवृत्ति का उद्भव होता है और उसी वाणी की प्रवृत्ति होने पर प्राणवृत्ति विलीन हो जाती है और जैसे प्राणवृत्ति की निवृत्ति होने पर वाणी की वृत्ति का उद्भव होता है और प्राणवृत्ति की प्रवृत्ति होने पर वाणी की वृत्ति विलीन हो जाती है।

(ख) ऐतरेयारण्यक के सहितोपनिषद् (तृतीय आरण्यक) के विषय का शौनक ने जो प्रतिपादन किया है वह केवल यह दिखलाने के लिये किया है कि ऋक्प्रातिशास्य में वे किसी नितान्त नवीन विषय का प्रतिपादन नही करेंगे। वे वेद को आधार मानकर ही और वेद में प्रतिपादित विषय का ही व्यवस्थित रीति से प्रतिपादन करेंगे।

(ग) ये उदाहरण यह बतलाने के लिये दिये गये हैं कि श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र आदि जितने भी शास्त्र है वे श्रुति को आधार मानकर ही और श्रुति में प्रतिपादित विषयो का ही व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन करते है और वे बार-बार यह स्मरण दिलाते रहते हैं कि वे श्रुति में प्रतिपादित बातो को ही कह रहे हैं। यहाँ पर यह शका करनी उचित नही है कि पहले कहे गये विषयो का प्रतिपादन करने से प्रातिशाख्यादि शास्त्र अनुपयोगी और अनावश्यक हैं क्योंकि वेदो में इधर-उधर बिखरे हुये तथ्यों का व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन करके इन शास्त्रों ने विषयों के अवबोध के लिये बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वेदो के ऊपर आधृत होने से यह भी निर्विवाद सिद्ध है कि शास्त्रों में मनगढंत बातो को न कहकर श्रुति-प्रतिपादित बातो को ही व्यवस्थित रूप से कहा गया है।

[1] आ० गृ० १।१।४ [2] आ० श्रौ० १।१।२

"शास्त्रानुपूर्वं तद्विद्याद्यथोक्तं लोकवेदयोः"[1] इति ।

कथमिति चेत्—यदुच्यते वैदिककर्मानुष्ठानात्पुरुषस्य निःश्रेयसार्थफलावाप्तिरेष वैदिकः सिद्धान्तः । तत्र विध्यर्थवादाः श्रूयन्ते निन्दाप्रशंसापृष्टाख्यातासाराभीक्ष्णसंप्रश्नसंशया इति । तदुक्तम्—

"विधिर्निन्दा प्रशंसा च पृष्टमाख्यातमित्यपि ।
आसाराभीक्ष्णसंप्रश्ना ब्राह्मणे संशयश्च यः ॥" इति

यस्मात्केवलैर्वेदवाक्यैर्न शक्यतेऽनुष्ठातुं विक्षिप्तत्वाद्वेदवाक्यानां गूढार्थत्वाच्चातः कविभिराचार्यैर्वेदार्थकुशलैर्वेदार्थेभ्यो निष्कृष्य कर्मार्थम् सुबोधानीमानि विद्यास्थानानि प्रवर्तितानि—शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषं धर्मशास्त्रं पुराणं न्यायविस्तरो मीमांसादीनि ।

"जैसा लोक और वेद में कहा गया है वही शास्त्र में व्यवस्थित रूप से कह दिया गया है ।"

यदि (पूछो) कि कैसे ? (उत्तर) यह जो कहा गया है कि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से पुरुष के नि.श्रेयस अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, यह वैदिक सिद्धान्त है । उस (वेद) में विधि, अर्थवाद, निन्दा, प्रशसा, प्रश्न, उत्तर, विषय का उपस्थापन (आसार), ज्ञात पदार्थ की पुनरावृत्ति (अभीक्ष्ण), परामर्शरूप प्रेरणा (सप्रश्न) और सशय सुनाई पडते है । कहा भी गया है—

"विधि, निन्दा, प्रशसा, प्रश्न, उत्तर, विषय का उपस्थापन (आसार), ज्ञात पदार्थ की पुनरावृत्ति (अभीक्ष्ण), परामर्शरूप प्रेरणा (सप्रश्न) और सशय ब्राह्मण में (प्रतिपादित किये गये है) ।"

इधर-उधर बिखरे रहने से तथा गूढार्थ होने से यत. केवल वेद-वाक्यो से अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है, अत वेद के अर्थ में कुशल एव क्रान्तदर्शी आचार्यों ने यागों (कर्म) के लिए वेद के अर्थों से निकालकर इन सुबोध विद्यास्थानों का निर्माण किया है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द., ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पुराण, न्यायविस्तर, मीमासा आदि ।

कानि पुनः प्रयोजनानि विद्यास्थानानामनुप्रवर्तन्ते । अत आह—शिक्षा स्वरवर्णोच्चारणोपदेशकं शास्त्रम् । कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम् । व्याकरणं च शब्दार्थव्युत्पत्तिकरं शास्त्रम् । निरुक्तं पदविभागमन्त्रार्थदेवतानिरूपणार्थं शास्त्रम् । छन्दो गायत्र्यादीनां छन्दसां ज्ञानशास्त्रम् । ज्योतिषं कालपरिज्ञापनार्थं शास्त्रम् । धर्मशास्त्रमाचाराद्युपदेशकं शास्त्रम् । पुराणं स्थित्युत्पत्तिप्रलयादिसूचकं शास्त्रम् । न्यायविस्तरः प्रमाणैरर्थपरीक्षणं करोति शास्त्रम् । मीमांसा वेदवाक्यार्थविचारणाय शास्त्रम्–इत्येवमादीनि प्रयोजनानि विद्यास्थानानाम् ।

विद्यास्थानो के क्या प्रयोजन होते है (यह प्रश्न उठता है) ? (उत्तर में) कहते हैं—स्वर, वर्ण (आदि) के उच्चारण का उपदेश करने वाला शास्त्र शिक्षा है । वेद में विहित यागों (कर्मों) को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र कल्प है । शब्द और अर्थ की व्युत्पत्ति करने वाला शास्त्र व्याकरण है । पदविभाग, मन्त्रार्थ और देवताओं के

1. पा० शि० १

निरूपण के लिए शास्त्र निरुक्त है। गायत्र्यादि छन्दों का ज्ञान कराने वाला शास्त्र छन्दः है। काल का ज्ञान कराने के लिए शास्त्र ज्योतिष है। आचार आदि का उपदेश करने वाला शास्त्र धर्मशास्त्र है। स्थिति, उत्पत्ति, प्रलय आदि की सूचना देने वाला शास्त्र पुराण है। न्यायविस्तर नामक शास्त्र प्रमाणो से पदार्थों का परीक्षण करता है। वेद के वाक्यो के अर्थ के विचार के लिए शास्त्र मीमांसा है—इत्यादि विद्यास्थानों के प्रयोजन है।

अत आचार्यो भगवाञ्छौनको वेदार्थवित्सुहृद् भूत्वा ब्राह्मणेभ्योऽर्थवादानुत्सृज्य विधि समाहृत्य पुरुषहितार्थमृग्वेदस्य शिक्षाशास्त्रं कृतवानिति प्रदर्शनार्थं वर्णयन्ति। अन्यथा वेदार्थो न शक्यते ज्ञातुम्। तथा चोक्तम्—"न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रः"[1] इति। यथा च—

"योगेन, दाक्षिण्येन, दमेन, बुद्धया, बाहुश्रुतेन, तपसा, नियोगतः"[2] इति।

प्रसङ्गाद् बहु लपितमिदानीं प्रकृतमुच्यते—

इसलिए वेद के अर्थों के ज्ञाता भगवान् आचार्य शौनक ने ब्राह्मणग्रन्थों से अर्थवादों को छोड़कर और विधि को लेकर मित्र-भाव से जनो के हित के लिए ऋग्वेद का शिक्षा-शास्त्र बनाया है—यह दिखलाने के लिए (प्रातिशाख्य-शास्त्र का) वर्णन करते हैं। अन्यथा वेद के अर्थ का ज्ञान नही हो सकता। वैसा कहा भी है—"जो ऋषि नही है उसे मन्त्र प्रत्यक्ष नहीं हो सकता"। और जैसे—

"मन की एकाग्रता (योग), दक्षता (दाक्षिण्य), आत्म-नियन्त्रण (दम), बुद्धि, गम्भीर विद्वत्ता (बाहुश्रुत), तपस्या और विनियोग से (व्यक्ति मन्त्रो के अर्थ को जान सकता है)।"

प्रसङ्ग से बहुत कह दिया गया है, अब प्रकृत को कहते हैं—

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः ॥५॥
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्।

का० अ०—(वर्णों का) गुरुत्व, लघुता, साम्य; 'ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत' ('अक्षर'); लोप, आगम, विकार; 'प्रकृतिभाव', अपरिवर्तित विसर्जनीय ('विक्रम') और द्वित्व ('क्रम'); 'स्वरित', 'उदात्त' और 'अनुदात्त' ('स्वर'), श्वास, नाद और दोनों।

वि० वृ०—वर्णानां गुरुत्वम् आधिक्यं हि यथा—"गुरूणि दीर्घाणि"[3] इत्येवमादि। तथा साम्यम्=समत्वमित्यर्थः। ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं प्लुतत्वं च। लोपश्चागमश्च विकारश्च। वर्णानां लोपो यथा—"चित्कम्भनेन स्कभीयान्"[4] इति। आगमः—"अस्कृतोवसम्"[5] इति। विकारः—"सुषुमा यातम्"[6] इति। प्रकृतिः—"प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः"[7] इति। यथा—

---

[1] बृ० दे० ८।१२९ [2] बृ० दे० ८।१३० [3] १।२० [4] ऋ० १०।१११।५
[5] ऋ० १०।१२७।३ [6] ऋ० १।१३७।१ [7] २।५१

"प्रो अस्मै"[१]; "इन्द्राग्नी अपादियम्"[२] इति। विक्रमः—"विक्रान्तः प्राकृतोपधः"[३] इति। "याः फलिनीः"[४]; "अगस्त्यः खनमानः।"[५] क्रमश्च वेदितव्यः, यथा—"स्वरानुस्वारोपहितः"[६] इति द्वित्वं वर्णानाम्। यथा—"आ प्र द्रव परावतः।"[७] स्वरितत्वमुदात्तत्वम्, नीचत्वम्=अनुदात्तत्वमित्यर्थः। यथा—"उदात्तश्चानुदात्तश्च"[८] इत्यादि। श्वासत्वं नादत्वं तथोभयम्=श्वासनादत्वम्। "श्वासोऽघोषाणाम्"[९] इत्येवमित्यादि ॥

वि० वृ० अ०—वर्णों का गुरुत्वम्—आधिक्य, जैसे—"दीर्घं गुरु है" इत्यादि। उसी प्रकार साम्यम्=समत्व–यह अर्थ है। ह्रस्वत्व, दीर्घत्व और प्लुतत्व। लोप, आगम और विकार—वर्णों का लोप, जैसे—"चित्कम्भनेन स्कभीयान्" ['चित्कम्भनेन' (प० पा० चित्। स्कम्भनेन) में सकार का लोप हो गया है]; आगम—"अस्कृतोषसम्" ['अकृतोषसम्' (प० पा० अकृत। उषसम्) में सकार का आगम हो गया]; विकार—"सुषुमा यातम्" ['सुषुमा' (प० पा० सुसुम। आ) में सकार का षकार हो गया]। प्रकृतिभाव—"इति शब्द परे हो तो 'प्रगृह्य' ('स्वर'-वर्ण) 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं। जैसे—"प्रो अस्मै" (अकार परे होने पर 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण 'ओ' 'प्रकृतिभाव' से है), "इन्द्राग्नी अपादियम्" (अकार परे होने पर प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण 'ई' 'प्रकृतिभाव' से है)। अपरिवर्तित विसर्जनीय ('विक्रम')—"(जहां विसर्जनीय) बिना परिवर्तन के (प्राकृत) रहता है, उसे 'विक्रान्त' (संधि कहते हैं)।" (जैसे) "या. फलिनी" (४।३३ के अनुसार 'फकार' परे होने पर विसर्जनीय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ), "अगस्त्य खनमान" (४।३३ के अनुसार खकार परे होने पर विसर्जनीय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ)। द्वित्व (क्रम) को भी जानना चाहिए, जैसे—"अव्यवहित पूर्ववर्ती (वर्ण) 'स्वर'-वर्ण अथवा 'अनुस्वार' हो तो ('संयोग' के आदि वर्ण का द्वित्व हो जाता है)" से वर्णों का द्वित्व (हो जाता है), जैसे—"आ प्र द्रव परावत।" स्वरितत्व, उदात्तत्व (और) नीचत्वम्=अनुदात्तत्व—यह अर्थ है। जैसे - "'उदात्त' और 'अनुदात्त'" इत्यादि। श्वासत्व, नादत्व और तथोभयम्=श्वासत्व और नादत्व। (जैसे)—"'अघोष' (वर्णों) का श्वास (प्रकृति होती है)।"

एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता ॥९॥

का० अ०—वैदिक भाषा को जानने वाले को यह सब जानना चाहिए।

वि०वृ०—एतत्सर्वं यदनुक्रान्तम्- माण्डूकेयः संहिताम्—इत्येवमादि तत्सर्वम्, विज्ञेयम्=विविधं ज्ञेयम्, वेदितव्यमित्यर्थः। केनेत्याह—(छन्दोभाषामधीयता=) छन्दोभाषा योऽधीते तेनेत्यर्थः, नान्येन। द्विविधा हि भाषा—लौकिकी, वैदिकी च। या वैदिकी सा छन्दोभाषेत्युच्यते। यथा चोक्तम्—"लोकवेदयोः"[१०] इति। विज्ञेयमिति सर्वत्रानुषज्यते–पुरस्तादुपरिष्टाच्च ॥

वि० वृ० अ०—माण्डूकेय संहिताम्—इत्यादि जो कहा गया है, एतत्सर्वम्=इस सब को, विज्ञेयम्=विविध रूप से ज्ञेयम्=जानना चाहिये यह अर्थ है। किसे (जानना

---

[१] ऋ० ८।६२।१ [२] ऋ० ६।५९।६ [३] ४।३५ [४] ऋ० १०।९७।१५
[५] ऋ० १।१७९।६ [६] ६।१ [७] ऋ० ८।८२।१ [८] ३।१
[९] १३।४ [१०] पा० शि० १

चाहिये) ? (छन्दोभाषामधीयता=)जो छन्दोभाषा का अध्ययन करता है—उसे (जानना चाहिए) यह अर्थ है, अन्य को नहीं। भाषा दो प्रकार की होती है—लौकिकी और वैदिकी। जो वैदिकी है उसे छन्दोभाषा कहते हैं। जैसा कहा है—"लोक और वेद में।" **विज्ञेयम्** (जानना चाहिए) का सर्वत्र सम्बन्ध होता है—आगे भी और पीछे भी।

छन्दोज्ञानमाकारं भूतज्ञानं
छन्दसां व्याप्तिं स्वर्गामृतप्राप्तिम् ।

का० अ०—छन्दों का ज्ञान, (उनका) आकार, भूतों का ज्ञान, छन्दों की व्याप्ति और स्वर्ग तथा अमृत की प्राप्ति (को भी जानना चाहिए)।

वि० वृ०—छन्दसां ज्ञानम्=छन्दोज्ञानम् यथा गायत्र्यादि। तथा छन्दसाम् आकारं श्वेतादि। भूतज्ञानं छन्दसाम्; यथा—"सर्वाणि भूतानि मनो गतिश्च"[1] इत्यादि। तथा छन्दसां व्याप्तिम्; यथा—"गुर्वक्षराणां गुरुवृत्ति सर्वम्"[2] इत्यादि। स्वर्गप्राप्तिं चामृतप्राप्तिं च=स्वर्गामृतप्राप्तिम्; यथा—"स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम्"[3] इति।

तच्च विज्ञेयं यस्मात्तस्मात्—

वि० वृ० अ०—छन्दोज्ञानम्=छन्दो के ज्ञान को, जैसे 'गायत्री' आदि। छन्दो के श्वेत आदि आकारम्=आकार को भी। छन्दो के भूतज्ञानम्=भूतज्ञान को भी, जैसे—"सब प्राणी (भूत), मन और गति ('त्रिष्टुप्' और 'जगती' से सम्बद्ध है)।" उसी प्रकार—छन्दसां व्याप्तिम्=छन्दो की व्याप्ति को; जैसे—"(जो कोई स्थावर और जङ्गम) गुरु स्वभाव वाला है वह सब गुरु अक्षरो (वाले 'त्रिष्टुप्') का है" इत्यादि। स्वर्गामृतप्राप्तिम्=स्वर्ग की प्राप्ति और अमृत की प्राप्ति को; जैसे—"इनसे स्वर्ग और अमृत को जीत लेता है।"

यत वह जानना चाहिए अत—

अस्य ज्ञानार्थमिदमुत्तरत्र
वक्ष्ये शास्त्रमखिलं शैशिरीये ॥७॥

का० अ०—इस सब के ज्ञान के लिए आगे शैशिरीय शाखा के अनुसार इस सम्पूर्ण शास्त्र को कहूँगा।

वि० वृ०—अस्य कस्य ? माण्डूकेयः संहिताम्—इत्येवमादेरनुक्रान्तस्य, ज्ञानार्थम्, ज्ञानप्रयोजनायेत्यर्थः। इदं शास्त्रम्=पार्षदाख्यम्; अखिलम्=संपूर्णम्=कृत्स्नम्; उत्तरत्र वक्ष्ये—वक्ष्यामि इत्यर्थः। शैशिरीये; पारायणपाठ इति वाक्यशेषः=शैशिरीयायां संहितायामित्यर्थः। शैशिरीया संहिता शैशिरदृष्टत्वात्। तथा पुराण उक्तम्—

"मुद्गलो गोखलो वात्स्यः शैशिरः शिशिरस् तथा।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः॥" इति।

---

[1] १८।५९ [2] १८।६० [3] १८।६२

तथा च—ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायामिति । यथा—ऋग्वेदे पारणाम्नाये शाकले शैशिरीयकम्, इति च ।

वि० वृ० अ०—अस्य=इसके; किसके ? (बतलाते हैं) माण्डूकेय सहिताम्—इत्यादि कहे गए (विषय) के, ज्ञानार्थम्—ज्ञानरूप प्रयोजन के लिए—यह अर्थ है । इदं शास्त्रम्—प्रातिशाख्य (पार्षद) नामक; अखिलम्=सम्पूर्ण=कृत्स्न को, उत्तरत्र वक्ष्ये=आगे कहेंगे—यह अर्थ है । शैशिरीय में —पारायण पाठ में –यह वाक्य–शेष है=शैशिरीय शाखा में—यह अर्थ है । शैशिर के द्वारा दृष्ट शैशिरीय सहिता (कहलाती है) । वैसा पुराण में कहा गया है—

"मुद्गल, गोखुल, वात्स्य, शैशिर और शिशिर—ये पाँच शाकल के शिष्य हैं जो भिन्न-भिन्न शाखाओं के प्रवर्तक हैं ।"

उसी प्रकार—ऋग्वेद की शैशिरीय सहिता में । जैसे—शाकल सहिता के पारायण-पाठ में शैशिरीय ।

पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः ।
स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम् ॥८॥

का० अ०—(जो व्यक्ति) पद (-पाठ) और क्रम (-पाठ) के भेद को जानता है; वर्णों के क्रम (अर्थात संहितापाठ में) जो विचक्षण है; (और) 'स्वर' और 'मात्रा' को विशेष रूप से जानता है, वह आचार्य की समृद्धि को प्राप्त करे (अर्थात् वह आचार्यत्व करे) ।

वि० वृ०—पदानां क्रमः=पदक्रमः । अनुपरिपाट्या संहिता पदसंहिता । वर्ण-संहिता च यथा वर्णानां क्रम =वर्णक्रमः । (वर्णक्रमविचक्षणः=) वर्णसंहिताविचक्षण इत्यर्थः । अथवान्यथा योजना :–पदानां क्रमस्य च पदाध्ययनस्य च क्रमाध्ययनस्य च विभागो विविधो भागो विभागः । एवं यो जानाति स च पदक्रमविभागज्ञः । वर्णक्रमविचक्षणः इति संहिताध्ययनविचक्षण इत्यर्थः । एवमध्ययनत्रितयं च प्रकृतं निर्भुजं प्रतृण्णमुभयमन्तरेण च, तस्मादेवमुच्यते ॥

वि० वृ० अ०—पदक्रमः=पदों का क्रम । (पदों के) क्रम से की जाने वाली सहिता पदसहिता है । वर्णक्रमः=वर्णों का क्रम, (इसके) अनुसार (जो की जावे वह) वर्णसहिता है । (वर्णक्रमविचक्षणः=) वर्णसहिता में विचक्षण—यह अर्थ है । अथवा अन्यथा योजना (करनी चाहिए) (अर्थात् इस श्लोक की व्याख्या भिन्न प्रकार से की जा सकती है) —पदों का और क्रम का=पदाध्ययन का और क्रमाध्ययन का; विभाग=विविध भाग । इसे जो जानता है वह पदक्रमविभागज्ञः=पद (-पाठ) और क्रम (-पाठ) के विभाग को जानने वाला है । वर्णक्रमविचक्षणः=सहिताध्ययन में विचक्षण । तीन प्रकार के अध्ययनों—'निर्भुज' 'प्रतृण्ण' और 'उभयमन्तरेण' के प्रकृत होने से इस प्रकार (व्याख्यान) कहा गया है ।

स्वरमात्राविशेषज्ञः । स्वराश्च मात्राश्च=स्वरमात्राः । स्वरा उदात्तादयः । मात्रा ह्रस्वादयः । एवं विशेषं यो जानाति सः; **गच्छेद्**=व्रजेत् । क्व गच्छेत् ? इत्युच्यते—**आचार्यसंपदम्**, आचार्यत्वं कुर्यादित्यर्थः । अन्यथाधिकार्येव न भवति । तथा चोक्तम्—

"याजनाध्यापनाभ्यां स छन्दसां यातयामं वा ।
स्थाणुं वच्छंति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा ॥"

इत्यादि। तथा चोक्तम्—

"वटवः पण्डिता मूर्खा अन्योन्याध्यापकाश्च ये ।
दोषं कुर्वन्ति ते मूढास्तस्माद् वृद्धं तु सेवयेत् ॥" इति।

अथवा—**गच्छत्याचार्यसंसदम्** इति पाठः । गच्छति=व्रजति=प्राप्नोति । आचार्याणां संसदम्=सभास्थानम् । सुमन्त्वादय आचार्या यत्र तिष्ठन्ति तत्रेत्यर्थः । एवं वृद्धप्रशंसा । यथा—"ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयः"[1] इति । यथा च— "स य एवमेतां संहितां वेद"[2] इति ॥

स्वरमात्राविशेषज्ञः—स्वरमात्रा='स्वर' और 'मात्रा' । 'स्वर'-'उदात्त' आदि है । मात्रायें—'ह्रस्व' आदि है । इस विशेष (बात) को जो जानता है वह **गच्छेत्**=जावे । कहाँ जावे ? बतलाते हैं—**आचार्यसंपदम्**=आचार्यत्व करे—यह अर्थ है । अन्यथा (आचार्यत्व का) अधिकारी ही नही होता । वैसा कहा भी है—"(अशुद्ध) याजन और अध्यापन से उसके छन्द व्यर्थ हो जाते है, वह स्थाणु को प्राप्त होता है, गड्ढे में गिर जाता है अथवा विनष्ट हो जाता है"[क] इत्यादि । वैसा कहा भी है—

"व्याकरण आदि में निष्णात किन्तु प्रातिशाख्य-शास्त्र को न जानने वाले (पण्डिता), वर्णोच्चारण में असमर्थ (वटव) मूर्ख जो एक दूसरे के अध्यापक है, वे मूढ दोष करते है । इसलिए (प्रातिशाख्य के जानने वाले) विद्वान् (वृद्ध) की सेवा करनी चाहिए ।"

अथवा—**गच्छत्याचार्यसंसदम्** यह पाठ है । गच्छति=जाता है=प्राप्त करता है । आचार्यों की 'ससदम्'=सभास्थान को । सुमन्तु आदि आचार्य जहाँ स्थित होते है वहाँ—यह अर्थ है । इस प्रकार विद्वानो (वृद्ध) की प्रशसा (की गई है) । जैसे—"(जो यज्ञ के रहस्य को जानकर यज्ञ करता है वह) ऋग्युक्त, यजुर्युक्त और सामयुक्त (हो जाता है) ।" और जैसे—"जो इस सहिता को इस प्रकार जानता है ।"[ख]

एवं शास्त्रप्रयोजनमुक्त्वा शास्त्रसंव्यवहारार्थं वर्णक्रमार्थं चाक्षरसमाम्नायमाह—

इस प्रकार शास्त्र का प्रयोजन कहकर शास्त्र में व्यवहार के लिए और वर्णों के क्रम के लिए वर्णमाला (अक्षर-समाम्नाय) को कहते है—

टि० (क) तुलना कीजिए—ऋक्सर्वानुक्रमणी, परिभाषा १ ; आर्षेय ब्राह्मण १।१
(ख) पृष्ठ २२ को देखिए ।

---

[1] ऐ० ब्रा० १।४।५ [2] ऐ० आ० ३।१।५

(वर्णमाला)

अकारर्कारावि उ ए ओ ऐ औ ।

(वर्णमाला)

का० अ०—अ (अकार), ऋ (ऋकार), इ, उ, ए, ओ, ऐ, औ (ये 'स्वर'-वर्ण हैं) ।

वि० वृ०—अकारश्च ऋकारश्च अकारर्कारौ=अ ऋ इति । अथ इकारश्च उकारश्च एकारश्च ओकारश्च ऐकारश्च औकारश्चेति=इ, उ, ए, ओ, ऐ, औ इति । एवमनेन क्रमेणाष्टौ वर्णा वेदितव्याः ॥

वि० वृ० अ०—अकारर्कारौ=अकार और ऋकार=अ, ऋ । इसके बाद इकार, उकार, एकार, ओकार, ऐकार और औकार=इ, उ, ए, ओ, ऐ, औ । इस प्रकार इस क्रम से आठ वर्णों को जानना चाहिए ।

पदाद्यन्तयोर्न ऌकारः स्वरेषु ।

का० अ० पद के आदि और अन्त में (विद्यमान) ऌकार 'स्वर'(-वर्णों) में नहीं (माना जाता) ।

वि० वृ०—(पदाद्यन्तयोः=) पदस्यादावन्ते च, (ऌकारः=) ऌवर्णः, स्वरेषु न गृह्यते । पदमध्ये भवतीति वेदितव्यम् । उत्तरत्रापि विचारयिष्यामः ॥

वि० वृ० अ०—(पदाद्यन्तयोः=)पद के आदि और अन्त में, (ऌकारः=)ऌ वर्ण का; (स्वरेषु=) स्वर-वर्णों में गणन नहीं होता । किंतु पद के मध्य में होता है—यह जानना चाहिए । आगे भी (इस पर) विचार करेंगे ।

आकारादीन्दीर्घरूपान्द्वितीयान्ह्रस्वेषु ।

का० अ०—आकार आदि 'दीर्घ'-रूपों को 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्णों) का द्वितीय (जानना चाहिए) ।

वि० वृ०—अकारादयो ह्रस्वा उक्ताः । तेषु तेषु ह्रस्वेषु आकारादयो दीर्घरूपाः । तान् (आकारादीन् दीर्घरूपान्) द्वितीयान् विजानीयात् । किमुक्तं भवति ? अकारो ह्रस्वः; तस्य आकारो दीर्घो द्वितीयो वेदितव्यः । तथा ऋकारो ह्रस्वः, तस्य ॠकारो दीर्घो द्वितीयः । तथा इकारो ह्रस्वः, तस्य ईकारो दीर्घो द्वितीयः । तथा उकारो ह्रस्वः, तस्य ऊकारो दीर्घो द्वितीयः । अ, आ, ऋ, ॠ इ, ई, उ, ऊ इत्येतत्सिद्धं भवति ।

वि० वृ० अ०—अकार आदि 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्णों) को कह दिया गया है । उन-उन, ह्रस्वेषु='ह्रस्व' ('स्वर'-वर्णों) के आकार आदि दीर्घ रूप हैं । उन (आकारादीन् दीर्घरूपान्=आकार आदि दीर्घ' रूपों को), द्वितीयान्=द्वितीय, जानना चाहिए । इस कथन का क्या तात्पर्य है ? अकार 'ह्रस्व' है, 'दीर्घ' आकार को उसका द्वितीय जानना चाहिए (अर्थात् अकार प्रथम है और आकार द्वितीय है) । उसी प्रकार ऋकार 'ह्रस्व'

है, 'दीर्घ' ॠकार उसका द्वितीय है। उसी प्रकार इकार 'ह्रस्व' है, 'दीर्घ' ईकार उसका द्वितीय है। उसी प्रकार उकार 'ह्रस्व' है, 'दीर्घ' ऊकार उसका द्वितीय है। (जैसे)—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ—यह (क्रम) सिद्ध होता है।

पञ्चस्वपि तानि सन्ति ॥६॥

का० अ०—पाँचों में ही वे ('दीर्घ') होते हैं।

वि० वृ०—तानि; कानि ? दीर्घाणीत्यर्थ । पञ्चष्वपि ह्रस्वेषु द्वितीयाः सन्ति=भवन्ति; किं पुनश्चतुर्षु। अपिशब्द ऌकारस्य विकल्पार्थ । यदि दीर्घो भवति । वक्ष्यति—"ऋकारऌकारौ"[१] इति । तथा—"ह्रस्वादेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ"[२] इति ॥

वि० वृ० अ०—तानि=वे, कौन ? 'दीर्घ'—यह अर्थ है। पञ्चष्वपि=पाँचों ह्रस्वों में द्वितीय होते हैं। चार में (होने का) का तो कहना ही क्या ? अपि शब्द ऌकार के विकल्प के लिए है। यदि 'दीर्घ' होवे (तात्पर्य यह है कि यदि ऌ का दीर्घ रूप ॡ स्वीकार किया जावेगा तो वह ऌ का द्वितीय होगा। यदि कही पर ऌ के दीर्घ रूप ॡ को स्वीकार किया ही न जाये तो तब ऌ का द्वितीय रूप होगा ही नहीं)। (सूत्रकार) कहेंगे—"ऋकार और ऌकार (आदि 'जिह्वामूलीय' हैं)।" उसी प्रकार (सूत्रकार कहेंगे)—"(स्थान और प्रश्लेष के प्रसङ्ग में) 'ह्रस्व' का आदेश होने पर 'सवर्ण' 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' (समझने चाहिए)।" (इन दोनो सूत्रो से ज्ञात होता है कि शौनक ऌ के दीर्घ रूप ॡ को स्वीकार करते है और ऐसी स्थिति में ऌकार का द्वितीय रूप ॡकार हो गया—ऌ, ॡ)।

कखौ गघौ ङ।

का० अ०—क ख ग घ ङ।

वि० वृ०—ककारश्च खकारश्च कखौ। तथा—गकारश्च घकारश्च गघौ। ङकारश्च। क, ख, ग, घ, ङ। एवं पञ्चभिर्वर्णै प्रथम पञ्चवर्गो वेदितव्य ॥

वि० वृ० अ०—कखौ=ककार और खकार। उसी प्रकार-गघौ=गकार और घकार। और ङकार। (अर्थात्) क, ख, ग, घ ङ। इस प्रकार पांच वर्णों से (समन्वित) प्रथम पञ्चवर्ग जानना चाहिए।

चछौ जझौ ञ।

का० अ०—च छ, ज झ, ञ।

वि० वृ०—चकारश्च छकारश्च चछौ। जकारश्च झकारश्च जझौ। ञकारश्च। च, छ, ज, झ, ञ। एवं पञ्चभिर्वर्णैर्द्वितीयः पञ्चवर्गः ॥

वि० वृ० अ०—चछौ=चकार और छकार। जझौ=जकार और झकार। और ञकार। (अर्थात्) च, छ, ज, झ, ञ। इस प्रकार पाँच वर्णो से द्वितीय पञ्चवर्ग (होता है)।

---

[१] १।४५ [२] १।५५

टठौ डढौ ण ।

का० अ०—ट ठ, ड ढ, ण ।

वि० वृ०—टकारश्च ठकारश्च टठौ । डकारश्च ढकारश्च डढौ । णकारश्च । ट, ठ, ड, ढ, ण । एवं पञ्चभिर्वर्णैस्तृतीयः पञ्चवर्गः ।

वि० वृ० अ०—टठौ=टकार और ठकार । डढौ=डकार और ढकार । और णकार । (अर्थात्) ट, ठ, ड, ढ, ण । इस प्रकार पाँच वर्णों से तृतीय पञ्चवर्ग (होता है) ।

तथौ दधौ न ।

का० अ०—त थ, द ध, न ।

वि० वृ०—तकारश्च थकारश्च तथौ । दकारश्च धकारश्च दधौ । नकारश्च । त, थ, द, ध, न । एवं पञ्चभिर्वर्णैश्चतुर्थः पञ्चवर्गः ।

वि० वृ० अ०—तथौ=तकार और थकार । दधौ=दकार और धकार । और नकार । (अर्थात्) त, थ, द, ध, न । इस प्रकार पाँच वर्णों से चतुर्थ पञ्चवर्ग (होता है) ।

पफौ बभौ म ।

का० अ०—प फ, ब भ, म ।

वि० वृ०—पकारश्च फकारश्च पफौ । बकारश्च भकारश्च बभौ । मकारश्च । प, फ, ब, भ, म । एवं पञ्चभिर्वर्णैः पञ्चमः पञ्चवर्गः ॥

वि० वृ० अ०—पफौ=पकार और फकार । बभौ=बकार और भकार । और मकार । (अर्थात्) प, फ, ब, भ, म । इस प्रकार पाँच वर्णों से पचम पञ्चवर्ग (होता है) ।

यरलवाः ।

का० अ०—य, र, ल, व ।

वि० वृ०—यकारश्च रेफश्च लकारश्च वकारश्च यरलवाः । एते चत्वारो वेदितव्या ॥

वि० वृ० अ०—यरलवाः=यकार, रेफ, लकार और वकार । इन चारो को जानना चाहिए ।

हशषसाः ।

का० अ०—ह, श, ष, स ।

वि० वृ०—हकारश्च शकारश्च षकारश्च सकारश्च हशषसाः । एते चत्वारोऽनेन क्रमेण वेदितव्याः ॥

वि० वृ० अ०—हशषसाः=हकार, शकार, षकार और सकार। इन चारों को इस क्रम से जानना चाहिए।

अः ✕क ✕प अं।

का० अ०—अः, ✕क, ✕प, अं।

वि० वृ०—अः इति विसर्जनीय। ✕क इति जिह्वामूलीय। ✕प इत्युपध्मानीय.। अं इत्यनुस्वार। एवमपरे चत्वारोऽनेनैव क्रमेण वेदितव्या.॥

वि० वृ० अ०—'अः' विसर्जनीय है। '✕क' जिह्वामूलीय है। '✕प उपध्मानीय है। 'अं' 'अनुस्वार' है। इस प्रकार इन दूसरे चारों को भी इसी क्रम से जानना चाहिए।

इति वर्णराशिः क्रमश्च ॥१०॥

का० अ०—यह वर्णमाला (वर्णराशि) और (उसका) क्रम है।

वि० वृ०—इति=एवमुक्तप्रकारेण, वर्णराशिः वेदितव्य। अकाराद्यनुनासिकान्त.। वर्णानां राशि=वर्णराशि.। (राशिः=)संघात=समूहः। वर्णकोशो वर्णसामाम्नाय इत्यनर्थान्तरम्। (क्रमश्च=) वर्णक्रमश्च अयमेव वेदितव्य उक्तप्रकारेण। वक्ष्यति—"ऋकाराद्यो दश नामिन स्वरा"[१] इति। तथा—"परेष्वैकारमोजयो."[२]; "औकारं युग्मयो."[३] इति। "अन्त्या सप्त तेषामघोषा।"[४] तथा—"प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्"[५] इति। एवमादिष्वयं क्रमो वेदितव्य॥

वि० वृ० अ०—इति=कहे गए प्रकार से; वर्णराशिः=वर्णमाला को; जानना चाहिए। अकार से लेकर अनुनासिक (अं)[क] तक। वर्णराशि=वर्णों की राशि। (राशि)=सघात=समूह। वर्णकोश और वर्णसामाम्नाय भिन्नार्थक नही है (अर्थात् ये समानार्थक हैं)। कहे गए प्रकार से इसी (क्रमः=) वर्णक्रम को; जानना चाहिए। (सूत्रकार) कहेंगे—"ऋकार आदि दस 'नामिन्' 'स्वर' है।" उसी प्रकार—"बाद वालों (ए, ओ, ऐ, औ) में से विषम (ए, ऐ) परे हो तो (अकार और आकार) ऐकार (हो जाते है)"; "सम (ओ,औ) परे हो तो (अकार और आकार) औकार (हो जाते है)।" "उन (अर्थात् 'ऊष्म-' वर्णों) में अन्तिम सात 'अघोष' है।" उसी प्रकार—"ऊष्म (-वर्णों) में प्रथम और पञ्चम ('कण्ठ्य') है" इत्यादि में यह क्रम जानना चाहिए (इन सभी स्थलो पर आचार्य शौनक ने प्रस्तुत क्रम का आश्रय लिया है। इस क्रम को आधार मानकर ही ऐसे सूत्रो का अर्थ ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नही)।

टि० (क) 'अं' 'अनुस्वार' है। भाष्यकार ने इसके लिए जो 'अनुनासिक' शब्द का व्यवहार किया है वह उचित नही है। 'अं' यह नासिक्य ध्वनि है; दे० १।४८।

---

[१] १।६५ [२] २।१८ [३] २।१९
[४] १।११ [५] १।३९

एवं वर्णसमाम्नायमुक्त्वा तत्र लघुनोपायेन संज्ञापरिभाषाभ्यां शास्त्रे संव्यवहारसिद्धि मन्यमान संज्ञासंज्ञिसम्बन्धार्थमाह ॥

॥ इति श्रीदेवमित्रसुतविष्णुमित्रकृते प्रातिशाख्यभाष्ये वर्गद्वयवृत्तिः ॥

इस प्रकार वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) को कहकर "संज्ञा और परिभाषा से शास्त्र में व्यवहार की सिद्धि लघु उपाय से हो जाती है" यह मानते हुए (सूत्रकार अब) सज्ञा और सज्ञी के सम्बन्ध को कहते हैं ।

॥ श्रीदेवमित्र के पुत्र विष्णुमित्र द्वारा कृत प्रातिशाख्यभाष्य में वर्गद्वयवृत्ति समाप्त हुई ॥

---

१ : संज्ञा-परिभाषा-पटलम्

अथ शौनकीयमृग्वेदप्रातिशाख्यम्

उवटकृतभाष्यसहितम् ।

(भाष्यकारकृतं मङ्गलाचरणम्)

ओ३म् नमो भगवते मङ्गलेश्वरश्रीमद्दिव्यलक्ष्मीनृसिंहाय श्रीवेदपुरुषाय नमः ।

(भाष्यकार के द्वारा किया गया मङ्गलाचरण)

ओ३म् मङ्गल के प्रभु (मङ्गलविधाता), श्रीमान्, ज्योतिर्मय, लक्ष्मीसहित नृसिंह का अवतार ग्रहण करने वाले वेद-पुरुष (वेदों के उद्धारक या वेदों में प्रतिपाद्य) भगवान् विष्णु को बारंबार नमस्कार ।

उ० भा०—किमर्थमिदमारभ्यते ?

(प्रातिशाख्यप्रयोजनम्)

"शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम् ।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ॥"[क]

प्रातिशाख्यप्रयोजनमनेन श्लोकेनोच्यते । शिक्षादिभिर्यत्सामान्येनोत्सर्गेणोक्तं लक्षणम्, यथा—तावच्छिक्षायाम्—"स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा"[1] सामान्येन सर्वशाखासु रेफो मूर्धन्य इत्युक्तः । तथान्यस्यां शिक्षायाम्—"दन्तमूलीय"[2] इति रेफो दन्तमूलीय उक्त. । एवं सर्वा शिक्षा वर्णेषु स्थानकरणानुप्रदानादि सर्वासु शाखासु विदधाति; न तु नियमत. कस्यां शाखायां रेफो मूर्धन्य कस्यां दन्तमूलीय इति । अत एतद्व्यवस्थापकमारभ्यते—"दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः"[3]; "सकाररेफलकाराश्च"[4]; "रेफ बर्स्व्यमेके ।"[5] एवमस्यां शाखायां दन्तमूलीयो वा बर्स्व्यो वा रेफ इत्येतदवधारितम् ।

उ० भा० अ०—(प्रश्न) यह (प्रातिशाख्य) किसलिए प्रारम्भ किया जा रहा है ?

(प्रातिशाख्य का प्रयोजन)

(उत्तर) "शिक्षा, छन्द और व्याकरण के द्वारा सामान्य रूप से कहा गया जो लक्षण है वह "इस शाखा में इस प्रकार है" यह (बतलाना) (प्रातिशाख्य) शास्त्र का प्रयोजन है ।"

टि० (क) यह श्लोक किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नही होता है । सम्भवत यह उवट की अपनी ही रचना है । यह श्लोक अन्य प्रातिशाख्यों पर पूर्णतया लागू न होकर केवल ऋग्वेद-प्रातिशाख्य पर ही लागू होता है क्योकि अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में छन्दों का वर्णन नही मिलता है ।

---

[1] पा० शि० १७ [2] या० शि० पृष्ठ ३३

[3] १।४४ [4] १।४५ [5] १।४६

इस श्लोक के द्वारा प्रातिशाख्य का प्रयोजन कहा जा रहा है। शिक्षा आदि के द्वारा जो सामान्य नियम (उत्सर्ग) से कहा गया लक्षण है, जैसे, शिक्षा में—"ऋकार, टवर्ग, रेफ और षकार 'मूर्धन्य' हैं" (इस सूत्र के द्वारा) सभी शाखाओं में रेफ को सामान्य रूप से 'मूर्धन्य' कहा गया है। उसी प्रकार अन्य शिक्षा में—"(रेफ) 'दन्तमूलीय' है" (इस सूत्र से) रेफ को 'दन्तमूलीय' कहा गया है। इस प्रकार सभी शिक्षा (ग्रन्थ) वर्णों के (उच्चारण) स्थान, (उच्चारण में) आभ्यन्तर प्रयत्न (करण) और बाह्य प्रयत्न (अनुप्रदान) आदि का सभी शाखाओं में (अर्थात् वेद की सभी शाखाओं को दृष्टि में रखकर) विधान करते हैं; किन्तु विशिष्ट रूप से (शिक्षा) (यह विधान) नहीं (करती है कि) किस शाखा में रेफ 'मूर्धन्य' (होता है और) किस शाखा में 'दन्तमूलीय' (होता है)। इसलिए उसकी व्यवस्था करने वाला (अर्थात् इस प्रकार के विशिष्ट विधानों के लिए) (प्रातिशाख्य) आरम्भ किया जाता है—"तवर्ग 'दन्तमूलीय' है", "सकार, रेफ और लकार भी ('दन्तमूलीय' हैं)" (और) "कतिपय (आचार्य) रेफ को वर्त्स्य से (उच्चरित) होने वाला (मानते हैं)।" इस प्रकार इस शाखा (शाकल शाखा की शैशिरीय नामक उपशाखा) में रेफ 'दन्तमूलीय' अथवा (मतभेदेन) 'वर्त्स्य'[क] है—यह निश्चय किया गया है।

तथा सर्वैश्छन्दोविचित्यादिभिः पिङ्गलयास्कसैतवप्रभृतिभिर्यत्सामान्येनोक्तं लक्षणम्, यथा—षट्सप्तत्यक्षरा चातिधृतिर्भवति।[1] तथा तत्रैवोक्तम्—"पाद इयाविपूरणः।"[2] एवं सामान्यलक्षणे सति—"स हि शर्धो न मारुतम्"[3] इति चातिच्छन्दस्यष्टापदायामष्टषष्ट्यक्षरायामपि सदेह। किमियमष्टषष्ट्यक्षरात्यष्टि पादानामविकर्षेण, आहोस्वित्पादानां विकर्षेणातिधृति। अस्मिन्सदेह इद विशेषलक्षणमारभ्यते—"सखे च स हि शर्धश्च मध्यमो वर्ग उच्यते"[4] इति। एवमस्यां शाखायां पादविकर्षेणेयमतिधृति।

उसी प्रकार पिङ्गल, यास्क[ख] और सैतव[ग] प्रभृति सभी (ग्रन्थकारों) के द्वारा (अपने) 'छन्दोविचिति' आदि (ग्रन्थों) में जो सामान्य रूप से कहा गया लक्षण है जैसे—(पिङ्गल के छन्द सूत्र के अनुसार) ७६ अक्षरों की 'अतिधृति' होती है। उसी प्रकार वहीं पर कहा

टि० (क) 'वर्त्स्य' के लिए १।४६ को देखिए।

(ख) ये यास्क निरुक्तकार यास्क से भिन्न आचार्य प्रतीत होते हैं। इन्होंने सैतव से छन्द शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था और पिङ्गल को इन्होंने छन्द शास्त्र का ज्ञान कराया था (दे० भगवद्दत्त द्वारा रचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग २, पृष्ठ २४६)। आचार्य पिङ्गल ने अपने 'छन्द सूत्र' ३।३० में इनका नामोल्लेख किया है। इनका ग्रन्थ अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है।

(ग) यास्क से प्राचीन छन्द शास्त्र के आचार्य हैं। आचार्य पिङ्गल ने अपने 'छन्द-सूत्र' ५।१८ में इनका नामोल्लेख किया है। इनका ग्रन्थ भी अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है।

---

1. पि० ४।५-७
2. पि० ३।१-२
3. ऋ० १।१२७।६
4. १६।९१

गया है—" 'इय्' इत्यादि से पाद की पूर्ति (कर लेनी चाहिए)।"[क] इस प्रकार (पिङ्गल के द्वारा) सामान्य नियम होने पर—"स हि शर्धो न मारुतम्" इस ६८ अक्षरों और आठ पादों वाली अतिछन्दस्क ऋचा (के विषय) में सदेह (होता है)—क्या पादों (के अक्षरों) को बिना तोड़े (अविकर्षेण) यह ६८ अक्षरों वाली 'अत्यष्टि' है अथवा पादों (के अक्षरों) को तोड़ने पर (विकर्षेण)[ख] यह (७६ अक्षरों वाली) 'अतिधृति' है? यह सन्देह होने पर (इस प्रातिशाख्य के द्वारा यह विशेष लक्षण आरम्भ किया जाता है—"......सखे (सखे सखायमभ्या ववृत्स्व[1]) और स हि शर्ध.[2]......(ये ऋचायें) मध्यम वर्ग कहा जाता है (जिससे यह ऋचा ७६ अक्षरों की हुई)।" इस प्रकार इस (शैशिरीय) नामक शाखा में पादों (के अक्षरो) को तोड़ने पर यह (ऋचा) 'अतिधृति' है।

तथा व्याकरणे यत्सामान्येन, यथा—"ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्"[3] इति। अस्य सूत्रस्यायमर्थः—ऋग्विषये तु, नु, घ, मक्षु, तङ [आख्यातानि पिपृत गायत इत्येवमादीनि तङ-शब्देन गृह्यन्ते] कुत्र, उरुष्य—एतानि पदानि व्यञ्जने प्रत्यये दीर्घमापद्यन्ते। तु—"आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।"[4] नु—"नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः।"[5] घ—"आ घा ये अग्निमिन्धते।"[6] मक्षु। "मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो नः"[7] इत्यादि। तद्व्यवस्थापयितुमिदमारभ्यते। न सर्वत्रैतानि पदान्यस्यां शाखायां दीर्घाणि भवन्ति। यथा, तु—"तत्तु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनम्।"[8] नु—"अधि वोचा नु सुन्वते।"[9] घ—"आ घ त्वावान्त्मनाप्तः॥"[10]

उसी प्रकार व्याकरण में जो सामान्य (विधि से कहा गया है), जैसे—"ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्।" इस (सामान्य) सूत्र का यह अर्थ है—ऋचाओं में 'तु', 'नु', 'घ', 'मक्षु', 'तङ', 'कुत्र' और 'उरुष्य'—ये (अर्थात् इनमें से कोई भी) पद, 'व्यञ्जन' परे होने पर, 'दीर्घ' हो जाते है ['तङ' शब्द से 'पिपृत' और 'गायत' इत्यादि आख्यातों का ग्रहण होता है]। जैसे, 'तु'—"आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।" 'नु'—"नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः।" 'घ'—"आ घा ये अग्निमिन्धते।" 'मक्षु'—"मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो न."—इत्यादि। उस (व्याकरण) की

टि० (क) इस सूत्र का अर्थ यह है कि जब छन्दों के पादों की 'अक्षर'-सख्या की पूर्ति न होती हो तो वहाँ 'इय्' एव 'उव्' इत्यादि से 'अक्षर'-सख्या की पूर्ति करनी चाहिए। उदाहरणत.—"तत्सवितुर्वरेण्यम्" 'गायत्री' छन्द के इस पाद में आठ अक्षरो के स्थान पर केवल सात 'अक्षर' है, इसलिए 'अक्षर'-सख्या की पूर्ति के लिए 'य्' के स्थान पर 'इय्' मानकर इस प्रकार उच्चारण करते है "तत्सवितुर्वरेणियम्।"

(ख) छन्दो के न्यून अक्षरो वाले पादो की अक्षर'-सख्या की पूर्ति के लिए 'इय्' 'उव्' आदि की कल्पना करने और 'प्रश्लिष्ट' सधियो के पृथक् करने को 'विकर्ष' कहते है। इसके पूर्ण विवेचन के लिए ऋ० प्रा० १७।२२ और १७।२३ पर उवट-भाष्य को देखिए।

---

[1] ऋ० ४।१।३ [2] ऋ० १।१२७।६
[3] पा० ६।३।१३३ [4] ऋ० ४।३२।१ [5] ऋ० ४।१६।२१
[6] ऋ० ८।४५।१ [7] ऋ० ३।३१।२० [8] ऋ० १।१३२।३
[9] ऋ० १।१३२।१ [10] ऋ० १।३०।१४

व्यवस्था करने के लिए (अर्थात् ऋग्वेद से सम्बद्ध व्याकरण-विषयक विशिष्ट बातो को बतलाने के लिए) यह (प्रातिशाख्य) प्रारम्भ किया जाता है—ये पद इस शाखा में सर्वत्र दीर्घ नही होते है, जैसे—'तु'—"तत्तु प्रय प्रत्नथा ते शुशुक्वनम् ।" 'नु'—"अधि वोचा नु सुन्वते ।" 'घ'—"आ घ त्वावान्त्मनाप्त ।"

ननु मक्षुशब्दस्य सामान्यलक्षणेनैव दीर्घभाव उक्तः, न चात्रापवादोऽस्ति । तत्र ह्येव पठ्यते—"मक्ष्वित्युकार प्लवते सर्वत्राप्यपदान्तभाक् ।"[१] अतो मक्षुशब्दस्य मृग्य प्रयोजनम् । नैष दोषः । सामान्यलक्षणानुवादेनैव विशेषलक्षणं विधातुं शक्यते, नान्यथा । सोऽयं मक्षु-शब्दस्यानुवादो द्रष्टव्यः । एवमन्यत्रापि सामान्यविशेषलक्षणसाम्ये द्रष्टव्यः ।

(प्रश्न) सामान्य लक्षण (पूर्वोक्त व्याकरणसूत्र) से ही 'मक्षु' शब्द का 'दीर्घ' होना कहा गया है, और इस विषय में अपवाद नही है क्योंकि वहाँ (अर्थात् प्रातिशाख्य में) इस प्रकार पाठ किया गया है—" 'मक्षु' (शब्द) का उकार सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाता है, चाहे वह पद के अन्त में भी विद्यमान न हो ।" इसलिये (प्रातिशाख्य में) 'मक्षु' शब्द (के ग्रहण) का प्रयोजन खोजना चाहिए । (उत्तर) यह दोष नही है । सामान्य लक्षण का अनुवाद करके ही विशेष लक्षण का विधान किया जा सकता है, अन्यथा नही । 'मक्षु' शब्द का यहाँ (प्रातिशाख्य में) अनुवाद समझना चाहिये । अन्य स्थलो पर भी सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण की समानता होने पर उसी प्रकार परिहार समझना चाहिए ।[क]

टि० (क) भाष्यकार का कथन है कि व्याकरण-शास्त्र वेद की सभी शाखाओ से सम्बद्ध सामान्य-नियमो का विधान करता है । उसका किसी विशेष शाखा से सम्बन्ध नही होता ह । दूसरी ओर प्रातिशाख्य वेद की किसी एक शाखा से सम्बद्ध होता है । व्याकरण के सामान्य नियमो की ही वह विशिष्ट परिस्थितियो में व्यवस्था करता है । उसका कार्य यह बतलाना ह कि वे सामान्य नियम उस शाखा-विशेष में कहाँ-कहाँ लागू नही होते है । सक्षेप में हम यो कह सकते है कि व्याकरण सामान्य नियमो का विधान करता है और प्रातिशाख्य विशेष नियमो का । व्याकरण general grammar है तो प्रतिशाख्य applied grammar ।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि 'मक्षु' शब्द के विषय में प्रातिशाख्य ने कोई विशेष बात नही बतलाई है । व्याकरण और प्रातिशाख्य दोनो में ही सामान्य रूप से इसके दीर्घत्व का विधान किया गया है । अब प्रश्न उठता है कि जब 'मक्षु' शब्द के विषय में कोई विशेष बात बतलानी ही नही तब प्राति-शाख्य में इस पद का ग्रहण ही क्यो किया गया है ?

इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि यह कोई दोष नही है । यहाँ 'मक्षु' शब्द का अनुवाद किया गया है । सामान्य लक्षण का अनुवाद करके ही विशेष लक्षण का विधान किया जा सकता है । सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण में जहाँ इस प्रकार साम्य हो वहाँ अनुवाद मानकर परिहार कर लेना चाहिए ।

[१] ७।५

एवं शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैर्यत्सर्वासु शाखासु सामान्येन लक्षणमुच्यते तदेवास्यां शाखायामनेन व्यवस्थाप्यत इत्येतत्प्रयोजनमस्याङ्गस्य। तथा चाथर्वणप्रातिशाख्य इदमेव प्रयोजनमुक्तम्—"एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन।"[1] अस्य सूत्रस्यायमर्थः—सामान्येन लक्षणेन यद्विकल्पप्राप्तं तदेवमस्यां शाखायां व्यवस्थितं भवतीति प्रातिशाख्यप्रयोजनमुक्तम्।

इस प्रकार शिक्षा, छन्द और व्याकरण के द्वारा सब शाखाओं में जो सामान्य रूप से लक्षण कहा जाता है वही इस शाखा में इस (प्रातिशाख्य) के द्वारा व्यवस्थित किया जाता है, इस (प्रातिशाख्यात्मक) अङ्ग (वेदाङ्ग) का यह प्रयोजन है। उसी प्रकार आथर्वणप्रातिशाख्य में भी यही प्रयोजन कहा गया है—"एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन।" इस सूत्र का यह अर्थ है—सामान्य लक्षण के द्वारा जो विकल्प से प्राप्त होता है वही इस शाखा में व्यवस्थित हो जाता है, यह प्रातिशाख्य का प्रयोजन कहा गया है।

अथवा नैवैतदङ्गं शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणस्य विशेषे व्यवस्थापकम्। किंतु स्वतन्त्रमेवैतदन्यशास्त्रनिरपेक्षम् —तथाहि शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैर्यन्न विहितं तदिह विधीयमानं दृश्यते। यथा—क्रमः क्रमहेतुः पारायणमित्येवमादिकम्। अङ्गता चास्यान्यशास्त्रसव्यपेक्षस्य नैव स्यादकृत्स्नत्वात्। कृत्स्नतां वेदाङ्गतामनिन्द्यतामार्षतां च स्वयमेव शौनको दर्शयिष्यति—"कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम्"[2] इति। अनयोः पक्षयोर्यतरः पक्ष श्रेयांस्ततरो ग्रहीतव्यः॥

उक्तं शास्त्रप्रयोजनम्। प्रथमे तु पटले संज्ञा परिभाषाश्चोच्यन्ते। तदर्थमिदमारभ्यते—

(प्रातिशाख्य के प्रयोजन के विषय में दूसरा दृष्टिकोण) अथवा यह अङ्ग शिक्षा, छन्दः और व्याकरण के द्वारा सामान्य रूप से कहे गये लक्षण का विशेष में व्यवस्थापक नहीं है। अन्य शास्त्रों (अर्थात् शिक्षा, छन्द और व्याकरण) से निरपेक्ष यह स्वतन्त्र ही (शास्त्र है); क्योंकि शिक्षा, छन्द और व्याकरण के द्वारा जो विहित नहीं है उसका यहाँ विधान किया गया दिखलाई पड़ता है, जैसे—क्रम (अर्थात् क्रम-पाठ), क्रम-पाठ का हेतु, (वेद का) पारायण इत्यादि। अन्य शास्त्रों की अपेक्षा करने पर तो (स्वयं में) पूर्ण न होने के कारण यह (वेद का) अङ्ग भी नहीं हो सकेगा। (इस प्रातिशाख्य-शास्त्र की) संपूर्णता, वेदाङ्गता, अनिन्द्यता, और आर्षता को शौनक स्वयं ही दिखलायेंगे—"यह पूर्ण है, वेदाङ्ग है, अनिन्द्य है और ऋषिप्रोक्त है।" इन दोनो पक्षों में से जो अधिक अच्छा लगे उसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

शास्त्र का प्रयोजन कह दिया गया। प्रथम पटल में संज्ञा और परिभाषा कहते हैं। उनके लिये यह (सूत्र) आरम्भ करते हैं—

---

[1] अथ० प्रा० १।२

[2] १४।६९

(समानाक्षरसंज्ञा)

अष्टौ समानाक्षराण्यादितः ॥१॥

(समानाक्षरसंज्ञा)

सू० अ०—आदि में आठ ('अक्षर') 'समानाक्षर' (monopthongs) हैं।

उ० भा०—अष्टौ इति संख्या। समानाक्षराणि इति संज्ञा। आदितः इति पञ्चमी; "पञ्चम्यास्तसिल्"[1] इति हि वैयाकरणाः पठन्ति। अथ कोऽर्थः? आदित आरभ्य वर्णसमाम्नायस्य (अष्टौ=) अष्टाक्षराणि; (समानाक्षराणि=) समानाक्षरसंज्ञकानि; भवन्ति। यथा—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ। समानाक्षरसंज्ञाया प्रयोजनम्—"समानाक्षरे सस्थाने"[2] इति।

अथवा आदित इति नैवाय पञ्चम्यर्थे तसिल्। किं तर्हि? सप्तम्यर्थे; तत्रापि हि लक्षणं स्मर्यते—"तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्"[3] इति। तत्र चैतान्युदाहरणानि—'आदित' 'मध्यतः' 'पृष्ठतः' इति। अतोऽयं सप्तम्यर्थ एव। अस्मिन्पक्षे एवम्—आदितः= वर्णसमाम्नायस्यादौ; (अष्टौ=) अष्टाक्षराणि; (समानाक्षराणि=) समानाक्षरसंज्ञकानि; भवन्ति॥

उ० भा० अ०—अष्टौ यह संख्या है। समानाक्षर यह संज्ञा है। आदितः इस (पद) में पञ्चमी (विभक्ति में 'तसिल्' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ) है; क्योंकि वैयाकरण "पञ्चम्यन्त (किम् आदि शब्दो) से 'तसिल्' (प्रत्यय विकल्प से होता है)" (इस सूत्र से 'तसिल्' का) विधान करते हैं। तब (शौनक-सूत्र का) अर्थ क्या हुआ? आदितः=आदि (अक्षर) से लेकर; वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) के; (अष्टौ=) आठ अक्षर; (समानाक्षराणि=) 'समानाक्षर'-संज्ञक; होते हैं। जैसे—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ। समानाक्षर संज्ञा का प्रयोजन—"समान स्थान वाले दो समानाक्षर (एक दीर्घ 'स्वर'-वर्ण को प्राप्त हो जाते है)।"[क]

टि० (क) "संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते॥"

अर्थात् संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार—ये छः प्रकार के सूत्र होते हैं। प्रस्तुत सूत्र संज्ञा-सूत्र है। संज्ञा-सूत्र परार्थ होता है। संज्ञा करने का यह प्रयोजन होता है कि ग्रन्थ में उस संज्ञा का व्यवहार होता है। संज्ञा का प्रयोजन बतलाने के लिये भाष्यकर प्रातिशाख्य के उस स्थल को उद्धृत कर देते हैं जहाँ प्रस्तुत संज्ञा का व्यवहार हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि उस स्थल को समझने के लिये ही वह संज्ञा की गयी है। यदि संज्ञा न की जावे तो उस स्थल को समझा नहीं जा सकता है। यदि किसी संज्ञा का ग्रन्थ में व्यवहार नहीं हुआ है तो उस संज्ञा के ज्ञान से पुण्य मिलता है। पुण्यप्राप्ति ही उस संज्ञा का प्रयोजन है; दे० २।२६ पर उवट-भाष्य।

---

[1] पा० ५।३।७ [2] २।१५ [3] पा० वा० ५।४।४४

अथवा आदितः में यह 'तसिल्' प्रत्यय पञ्चमी के अर्थ में नहीं है। तो (फिर) किस (अर्थ में है) ? सप्तमी के अर्थ में है क्योंकि वहाँ पर भी (अर्थात् सप्तमी के अर्थ में भी) लक्षण किया गया है—"'आदि' प्रभृति (शब्दों) से (सभी विभक्तियों के अर्थ में) 'तसिल्' प्रत्यय होता है।" और वहाँ (अर्थात् सप्तमी के अर्थ में) ये उदाहरण है—'आदितः' 'मध्यतः', 'पृष्ठतः' इत्यादि। अतः यह ('तसिल्' प्रत्यय) सप्तमी के अर्थ में ही है। इस पक्ष में इस प्रकार (सूत्र का अर्थ होगा)—आदितः=वर्णमाला के आदि में; (पठित प्रथम) (अष्टौ=) आठ अक्षर; (समानाक्षराणि=) 'समानाक्षर'-संज्ञक; होते हैं।

(संध्यक्षरसंज्ञा)

ततश्चत्वारि संध्यक्षराण्युत्तराणि ॥२॥

(संध्यक्षरसंज्ञा)

सू० अ०—तत्पश्चात् आगे वाले चार ('अक्षर') 'संध्यक्षर' (diphthongs) हैं।

उ० भा०—ततः=तेभ्यः समानाक्षरेभ्यः; उत्तराणि चत्वारि; (संध्यक्षराणि=) संध्यक्षरसंज्ञकानि; भवन्ति। अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह संधौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते। यथा—ए, ओ, ऐ, औ। संध्यक्षरसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"संध्यानि संध्यक्षराण्याहुरेके"[1] इति। ततः इत्यनयैव पञ्चम्या संध्यक्षराणां समानाक्षरैः सहानन्तर्ये सिद्धे यत् उत्तराणि इति वदति तदन्तरा ऌ ॡ इत्यनयोः स्वरयोः प्रतिषेधार्थम्। तथा च यत्नं करिष्यति—"ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः"[2] इति।

उ० भा० अ०—ततः=तत्पश्चात्=उन समानाक्षरों से; उत्तराणि=(अव्यवहित) बाद में आने वाले; चत्वारि=चार ('अक्षर'); (संध्यक्षराणि=) 'संध्यक्षर'-संज्ञक होते हैं। अकार की इकार, उकार, एकार और ओकार के साथ संधि होनेपर जो 'अक्षर' निष्पन्न होते हैं वे वैसे (अर्थात् 'संध्यक्षर') कहे जाते हैं। जैसे—ए, ओ, ऐ, औ। संध्यक्षर-संज्ञा का प्रयोजन—"कुछ (लोग) संधि से उत्पन्न (अक्षरों) को संध्यक्षर कहते हैं।"

ततः (पद में प्रयुक्त) इस पञ्चमी के द्वारा ही संध्यक्षरों का समानाक्षरों से आनन्तर्य सिद्ध होने पर (सूत्रकार ने) जो उत्तराणि पद का कथन किया है वह (संध्यक्षरों) में 'ऌ' और 'ॡ'—इन दो 'स्वर' (-वर्णों)—के प्रतिषेध करने के लिए (किया है)।[क]

टि० (क) तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'ततः' पद में प्रयुक्त पञ्चमी से ही यह ज्ञात हो जाता है कि समानाक्षरों के अनन्तर 'संध्यक्षर' हैं तथापि सूत्रकार ने 'उत्तराणि' पद का प्रयोग इसलिए किया है कि कोई यह न समझ बैठे कि संध्यक्षरों में ऌ और ॡ—ये दो 'स्वर'-वर्ण—आते है। संध्यक्षरों में इन दो 'स्वर'-वर्णों का प्रतिषेध करने के लिए ही सूत्रकार ने 'उत्तराणि' पद का प्रयोग किया है। ज्ञातव्य है कि इस प्रातिशाख्य में 'स्वर'-वर्णों का क्रम इस प्रकार है—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ऌ, (ॡ), ई३।

---

[1] १३।३८ [2] १।६५

उसी प्रकार (सूत्रकार आगे) भी यत्न करेंगे—"ऋकार आदि दस ('अक्षर') 'नामिन्' हैं ।"[क]

(स्वरसंज्ञा)

एते स्वराः ॥२॥

(स्वरसंज्ञा)

सू० अ०—ये ('समानाक्षर' और 'संध्यक्षर') 'स्वर' (-वर्ण) (vowels) हैं।

उ० भा०—य एते समानाक्षरसंध्यक्षरसंज्ञा वर्णास्त एते द्वादश (स्वराः=)स्वरसंज्ञा; वेदितव्या । उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचया एष्वक्षरेषु स्थिता । स्वर्यन्ते शब्द्यन्त इति स्वरा । यथा—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ इति । स्वरसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते"[१] इति ।

उ० भा० अ०—जो ये 'समानाक्षर' और 'संध्यक्षर' संज्ञा वाले वर्ण हैं; एते=इन बारह (वर्णों) को; (स्वराः=) 'स्वर'-संज्ञक (वर्ण); जानना चाहिए। 'उदात्त', 'अनुदात्त', 'स्वरित' और 'प्रचय' (नामक 'स्वर') इन ('स्वर'-संज्ञक) अक्षरों में स्थित हैं। स्वर्यन्ते= (बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं) उच्चरित होते हैं, (इसलिए) 'स्वर' (कहलाते हैं) ।[ख] जैसे—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ। स्वर-संज्ञा का प्रयोजन—"स्वर और 'अनुस्वार' अव्यवहित पूर्व में हो तो ('संयोग' का प्रथम वर्ण) द्वित्व को प्राप्त करता है।"

ननु कथं वर्णसमाम्नायमनुपदिश्यैव—"अष्टौ समानाक्षराण्यादित"[२] इति । उपदिष्टस्य हि व्यपदेशो एवमुपपद्यते 'आदित' इति, नानुपदिष्टस्य । तथा—"चत्वारि संध्यक्षराण्युत्तराणि"[३] इत्युत्तरव्यपदेशो नैव घटत इति ।

नैष दोषः । उपदिष्टो वर्णसमाम्नायो लौकिको विद्यते । तत्र यावन्तो वर्णा अस्यां शाखायामुपयोक्ष्यन्ते तावतां संज्ञां कर्तुं तमेव वर्णसमाम्नायमुररीकृत्याह—"अष्टौ

टि० (क) इस सूत्र में 'दश' पद का ग्रहण 'नामिन्' में 'ऌ' और 'ॡ' के प्रतिषेध के लिए ही किया गया है। ऋकार से लेकर औकार तक दस ही 'स्वर'-वर्ण हैं, अतएव 'दश' पद को सूत्र में न रखने पर भी दस ही 'नामिन्' 'स्वर'-वर्ण होते तथापि कोई व्यक्ति 'नमिन्' करके 'ऌ' और 'ॡ' को भी न समझ बैठे, इसलिए सूत्र में 'दश' पद को रखा।

(ख) 'स्वर' शब्द 'शब्द करने' के अर्थ वाली 'स्वृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है। पाणिनीय शिक्षा की 'पञ्जिका' नाम की व्याख्या में 'स्वर' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"स्वरा इति 'स्वृ शब्दोपतापयो' स्वर्यंते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच् प्रत्यय" (पा० शि० ४ पर पञ्जिका)। इस व्याख्या के अनुसार इन वर्णों को 'स्वर' कहने का यह कारण है कि इनकी सहायता से व्यञ्जनों का उच्चारण होता है।

---

[१] ६।१ [२] १।१ [३] १।२

समानाक्षराण्यादितः ।"[1] तथा तामेवानुपूर्वीमङ्गीकृत्य—"चत्वारि संध्यक्षराणि"[2] इत्युत्तर-शब्दमाह ।

(प्रश्न) वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) का उपदेश किये बिना ही "आदि में आठ (वर्ण) 'समानाक्षर' हैं"—यह कैसे कहा ? क्योंकि उपदिष्ट (वस्तु) का ही 'आदि में' ('आदितः') इस प्रकार उल्लेख उपपन्न होता है, अनुपदिष्ट (वस्तु) का नहीं। वैसे ही "बाद वाले चार 'संध्यक्षर' हैं" में 'बाद वाले' ('उत्तराणि') यह उल्लेख ठीक नहीं बैठता है।[क]

(उत्तर) यह दोष नहीं है। उपदिष्ट लौकिक वर्णमाला विद्यमान है। उस (लौकिक वर्णमाला) में से जितने वर्णों का उपयोग इस शाखा में होगा उतने (वर्णों) की संज्ञा करने के लिए इसी (लौकिक) वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) को स्वीकार करके (सूत्रकार ने) कहा है—"आदि में आठ (वर्ण) 'समानाक्षर' हैं।" उसी प्रकार उसी (लौकिक वर्णमाला) के क्रम (आनुपूर्वी) को स्वीकार करके—"बाद वाले चार (वर्ण) 'संध्यक्षर' हैं" (इस सूत्र में) 'उत्तर' शब्द को (सूत्रकार ने) कहा है।

ननु यदि लौकिकोऽत्र वर्णसमाम्नायो गृह्यते एवं तर्हि तयानुपूर्व्या भवितव्यम्। तत्र च ऊकारात् परौ ऋॠकारौ समामनन्ति—उ, ऊ, ऋ, ॠ इति। ऐकारात्पूर्वमेकारमौकारात्पूर्वमोकारम्—ए, ऐ, ओ, औ इति। सकारात्परं हकारं समामनन्ति—श, ष, स, ह इति।

सत्यम्। आचार्यप्रवृत्त्या क्रमोऽन्यथानुमीयते। तद्यथा—"ऋकारादयो दश नामिनः स्वरा"[3] इति। यद्याकारात्परौ पठ्येते तदानीं दश नामिनः स्वरा सम्पद्यन्ते। तथा—"सन्ध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तर युजोरुकारः"[4] इति। यदि ए, ओ, ऐ, औ एवं पाठो भवति तदानीं युजोरुत्तरमर्धमुकार संपद्यते। तथा—यदि शकारात् पूर्वो ह पठ्यते तदानीम्—"वुस्पृष्ट तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्"[5] अयं पाठक्रम उपपद्यत इति। सोऽयमाचार्यप्रवृत्त्या पाठक्रमोऽनुमीयमानो लौकिकवर्णसमाम्नायस्य द्विधा पाठं गमयति। अतोऽय लौकिको वर्णसमाम्नायो गृह्यते। तथा तयानुपूर्व्या तन्न वुरुक्तमिति। उभे अप्येते आनुपूर्व्यौ लौकिकस्य वर्णसमाम्नायस्य द्रष्टव्ये ॥

(प्रश्न) यदि यहाँ पर लौकिक वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) का ग्रहण किया गया है तो उसी (लौकिक) क्रम (आनुपूर्वी) से (उस लौकिक वर्णमाला का ग्रहण) करना चाहिए और वहाँ (लौकिक वर्णमाला में) ऊकार से परे ऋकार और ॠकार का पाठ

टि० (क) तात्पर्य यह है कि वर्णमाला का कथन करने के बाद में यह कहना चाहिए था कि वर्णमाला के आदि में आठ 'अक्षर' 'समानाक्षर'-सज्ञक हैं और उनके बाद में आने वाले चार 'अक्षर' 'सध्यक्षर' हैं। 'आदि में' सुनने के तुरन्त बाद ही यह प्रश्न होता है कि किसके आदि में ? इसलिये सूत्रकार ने वर्णमाला का कथन किये बिना ही जो 'आदित' और 'उत्तराणि' पदों का प्रयोग किया है वह ठीक नहीं है।

---

[1] १।१ [2] १।२ [3] १।६५ [4] १३।३९ [5] १३।१०

करते हैं—उ, ऊ, ऋ, ॠ। ऐकार से पहले एकार और औकार से पहले ओकार (का पाठ करते हैं)—ए, ऐ, ओ, औ। सकार से परे हकार का पाठ करते हैं—श, ष, स, ह।

(उत्तर) (यह बात तो) सच (है कि लौकिक वर्णमाला का ग्रहण लौकिक क्रम से ही करना चाहिए)। (अतएव) आचार्य की प्रवृत्ति से (लौकिक वर्णमाला में) क्रम का अन्यथा अनुमान किया जाता है। जैसे—"ऋकार से प्रारम्भ करके दस 'स्वर'-वर्ण 'नामिन्' हैं" (इस सूत्र को लीजिये)। यदि आकार से परे (ऋकार और ॠकार) का पाठ होता है तो तब दस 'स्वर' (-वर्ण) सम्पन्न होते हैं। उसी प्रकार "(विषम संख्या वाले) संध्यक्षरों में अकार (पूर्व) अर्ध (होता है) और इकार बाद वाला (अर्ध होता है)। सम संख्या वाले (संध्यक्षरों में) उकार (बाद वाला अर्ध होता है)" (इस सूत्र को लीजिये)। यदि—ए, ओ, ऐ, औ—इस प्रकार पाठ होता है तो तब सम संख्या वाले (संध्यक्षरों) के बाद वाले आधे भाग का उकार होना सम्पन्न होता है। वैसे ही—यदि शकार से पहले हकार का पाठ होवे तो तब—"हकार से पूर्व वाले चार वर्णों का (प्रयत्न) ईषत्स्पृष्ट (थु स्पृष्ट) (होता है)" यह पाठक्रम उपपन्न होता है। आचार्य की (इस प्रकार की) प्रवृत्ति से अनुमान किया गया यह पाठक्रम लौकिक वर्णमाला के दो प्रकार के पाठ (के अस्तित्व) को बतलाता है। इसलिए इस (अनुमित) लौकिक वर्णमाला का ग्रहण किया गया है। उसी प्रकार यह भी ठीक ही कहा गया है कि उसी (लौकिक) क्रम से (वर्णमाला का ग्रहण किया गया है)। लौकिक वर्णमाला के इन दोनों ही क्रमों को समझना चाहिये।[क]

टि० (क) प्रारम्भ में यह शंका हुई थी कि वर्णमाला का कथन किए बिना ही भाष्यकार ने 'आदित' और 'उत्तराणि' पदों का जो प्रयोग किया है वह ठीक नहीं है। इस शंका के उत्तर में भाष्यकार ने कहा था कि यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सूत्रकार ने लौकिक वर्णमाला और उसके क्रम को स्वीकार करके 'आदित' और 'उत्तराणि' पदों का प्रयोग किया है। इस पर पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि सूत्रकार ने लौकिक वर्णमाला के क्रम को स्वीकार नहीं किया है। लौकिक वर्णमाला में ऊकार के बाद में ऋकार और ॠकार का पाठ करते हैं; ऐकार से पहले एकार और औकार से पहले ओकार का पाठ करते हैं और सकार से परे हकार का पाठ करते हैं। इसके विपरीत सूत्रकार ने ऋकार और ॠकार को ऊकार से पहले माना है और संध्यक्षरों के क्रम को—ए, ओ, ऐ, औ—इस रूप में माना है। उन्होंने हकार को शकार से पहले माना है। इसलिये यह कहना कथमपि युक्त नहीं कि सूत्रकार ने लौकिक वर्णमाला और उसके क्रम को स्वीकार किया है।

इसके उत्तर में भाष्यकार का कथन है कि आचार्य शौनक ने वर्णमाला के भिन्न क्रम को जो माना है उससे यह ज्ञात होता है कि उस समय लोक में वर्णमाला के दो क्रम प्रचलित थे—एक वह जिसका पूर्वपक्षी ने निर्देश किया है और दूसरा वह जिसे आचार्य शौनक ने स्वीकार किया है। दूसरे क्रम वाली वर्णमाला को स्वीकार करके ही आचार्य शौनक ने अपने सूत्रों का प्रणयन किया है। उस क्रम को दृष्टि में रखकर ही उनके सूत्र स्पष्ट होते हैं, अन्यथा नहीं।

(इपर-प्लुतस्य दीर्घवत्त्वम्)

इपरो दीर्घवत्प्लुतः ॥४॥

(इकारपर प्लुत का दीर्घ के समान होना)

सू० अ०—इकार परे हो तो 'प्लुत' ('स्वर') 'दीर्घ' ('स्वर') के समान (होता है) ।

उ० भा०—(इपरः=) इकारपरः; प्लुतो दीर्घवत्प्रत्येतव्यः । वतिः सर्वसादृश्यार्थः । यथा ईकार इतिना सह संधौ दीर्घमेकमीकारं निरनुनासिकमापद्यते तथायमपि प्लुत ईकारं निरनुनासिकमापद्यत इत्यर्थः । क्रमसंहितायां परिग्रहस्य पूर्वे वचन ईत्वभूतो भवति । द्वितीयेऽनुनासिकस्त्रिमात्रस्तु यथा—"विन्दतीति विन्दतीँ३ ॥"[1]

उ० भा० अ०—(इपरः=) इकार परे हो तो; प्लुतः= 'प्लुत' को; दीर्घवत्= 'दीर्घ' के समान; जानना चाहिए । 'वति' (प्रत्यय) सब प्रकार के सादृश्य (को बतलाने) के लिए (प्रयुक्त हुआ है) । जिस प्रकार ईकार इति के साथ मिलने पर एक निरनुनासिक 'दीर्घ' ईकार हो जाता है, उसी प्रकार यह (इकारपर) 'प्लुत' भी निरनुनासिक ईकार हो जाता है—यह अर्थ है । क्रम-सहिता[क] में 'परिग्रह'[ख] के पूर्व-वचन में ('प्लुत' ईकार) (इति के इकार के साथ मिलकर) 'ई' हो जाता है । द्वितीय (वचन) में तो 'अनुनासिक' और 'प्लुत' (त्रिमात्र) (ही रहता है) । जैसे—"विन्दतीति विन्दतीँ३ ।"[ग]

टि० (क) क्रम-पाठ में दो-दो पदो की सधि होती है । प्रत्येक पद को एक बार पूर्व में आने वाले और एक बार बाद में आने वाले पद के साथ मिलाकर उच्चारण करना होता है । जैसे—"पर्जन्याय प्र । प्र गायत । गायत दिव. । दिवस्पुत्राय । पुत्राय मीळ्हुषे । मीळ्हुष इति मीळ्हुषे" (ऋ० ऋ० ७।१०२।१) ॥ क्रम-पाठ का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ के एकादश और द्वादश पटलों में हुआ है ।

(ख) जब किसी पद के बाद में 'इति' जोड़कर 'इति' के पश्चात् उस पद का पुनरुच्चारण किया जाता है तो इस प्रक्रिया को 'परिग्रह' कहा जाता है । जब वह पद पूर्व में और 'इति' बाद में हो तो वह 'परिग्रह' का पूर्व वचन है और तत्पश्चात् जब 'इति' पूर्व में और वह पद बाद में हो तो वह 'परिग्रह' का द्वितीय वचन है । उपर्युक्त उदाहरण में 'मीळ्हुष इति' यह 'परिग्रह' का पूर्व वचन है और 'इति मीळ्हुषे' यह द्वितीय वचन है ।

(ग) 'विन्दतीँ३' का ईकार १।३१ के अनुसार 'प्लुत' है और १।६४ के अनुसार 'अनुनासिक' हो गया है । यह पद १०।९ के अनुसार 'परिग्रह' को प्राप्त करके इस रूप में आ जाता है—"विन्दतीँ३ इति विन्दतीँ३ ।" 'विदतीँ३' के ईकार की 'इति' के इकार के साथ सधि प्राप्त नही होती क्योकि २।१५ से 'दीर्घ' और 'ह्रस्व' इकारों की ही सधि हो सकती है, 'प्लुत' की नही । इस अप्राप्त संधि की प्राप्ति के लिए ही प्रस्तुत सूत्र का प्रणयन हुआ है । इकार परे रहते प्रस्तुत सूत्र-से 'प्लुत' ईकार को 'दीर्घ' ईकार के समान माना गया है जिससे 'दीर्घ' ईकार के समान इस 'प्लुत' ईकार की भी 'ह्रस्व' इकार के साथ सधि हो गई और यह अभीष्ट रूप निष्पन्न हो गया—"विन्दतीति विन्दतीँ३ ।"

---

[1] ऋ० ऋ० १०।१४६।१

(अनुस्वारस्य स्वरूपम्)

अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा ॥५॥

(अनुस्वार का स्वरूप)

सू० अ०—'अनुस्वार' 'व्यञ्जन' भी है और 'स्वर' भी है।

उ० भा०—अं वर्णसमाम्नाये पठ्यते। स कांश्चित्स्वरधर्मान्गृह्णाति कांश्चिद्व्यञ्जनधर्मान्। तद्यथा—ह्रस्वत्व दीर्घत्वं प्लुतत्वमुदात्तत्वं स्वरितत्वमिति स्वरधर्माः। तथा—अर्धमात्राकालता स्वरवशेनोदात्तानुदात्तस्वरितत्व संयोगश्चेति व्यञ्जनधर्माः। तत्रोभयधर्मयोगादुभयस्वभावं स्वरव्यञ्जनयोरन्यद्वर्णान्तरं प्रकाशयति—"अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा" इति। वर्णस्वरूपकथनेन प्रयोजनम्—तेन स्वरग्रहणेन व्यञ्जनग्रहणेन च न गृह्यते, स्वशब्दग्रहणेन वर्णग्रहणेन च गृह्यते। यथा—"स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते"[1] इति स्वरशब्देन न गृह्यते, स्वशब्देन च गृह्यते। "अनुस्वारो व्यञ्जन चाक्षराङ्गम्"[2] इति च व्यञ्जनग्रहणेन न गृह्यते। "एके वर्णाञ्छाव्वतिकान्त कार्यान्"[3] इत्यत्र वर्णग्रहणेनानुस्वारोऽपि गृह्यत इति।

उ० भा० अ०—'अं' यह 'अनुस्वार' वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) में आता है। वह ('अनुस्वार') 'स्वर' के कतिपय गुणों को (धारण करता है) और 'व्यञ्जन' के कतिपय गुणों को (धारण करता है)। जैसे—'ह्रस्व' होना, 'दीर्घ' होना, 'प्लुत' होना, 'उदात्त' होना, 'अनुदात्त' होना (और) 'स्वरित' होना—ये 'स्वर'(-वर्ण) के गुण हैं। उसी प्रकार—आधी मात्रा के काल का होना, स्वरवश 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित' होना तथा 'संयोग' प्राप्त करना—ये 'व्यञ्जन' के गुण हैं। (उक्त सूत्र) "'अनुस्वार' या तो 'व्यञ्जन' है या 'स्वर' है"—(इस तथ्य को) प्रकाश में लाता है कि ('स्वर' और 'व्यञ्जन') इन दोनों के गुणों को धारण करने के कारण दोनों के स्वभाव वाला ('अनुस्वार') 'स्वर' और 'व्यञ्जन' से भिन्न (एक) वर्ण है। वर्ण (अर्थात् 'अनुस्वार') के स्वरूप को (स्वतन्त्र रूप से) कहने का प्रयोजन—इससे 'स्वर' का ग्रहण करने से और 'व्यञ्जन' का ग्रहण करने से (इसका) ग्रहण नहीं होता। अपने ('अनुस्वार') शब्द का ग्रहण करने से और वर्ण का ग्रहण करने से इसका ग्रहण होता है।[क] जैसे—"'स्वर' और 'अनुस्वार' अव्यवहित पूर्व में हो तो ('संयोग' का प्रथम वर्ण) द्वितीय को प्राप्त करता है।" (इस सूत्र में) 'स्वर' शब्द से ('अनुस्वार' का) ग्रहण नहीं होता है, अपने ('अनुस्वार') शब्द से ग्रहण होता है (यदि 'स्वर' शब्द से 'अनुस्वार' का भी ग्रहण हो जाता तो उक्त सूत्र में 'अनुस्वार' शब्द का ग्रहण करने की आवश्यकता ही न होती)। (उसी प्रकार) "'अनुस्वार' और 'व्यञ्जन' 'अक्षर' का 'अङ्ग' है।" (इस सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण करने से ('अनुस्वार' का) ग्रहण नहीं

टि० (क) तात्पर्य यह है कि 'अनुस्वार' 'स्वर' और 'व्यञ्जन' के अन्तर्गत नहीं है। हाँ, वर्ण में तो उसका अन्तर्भाव होता है। यदि कहीं 'अनुस्वार' का ग्रहण अपेक्षित है तो 'अनुस्वार' पद का प्रयोग आवश्यक है। वर्ण कहने पर तो 'स्वर', 'व्यञ्जन' और 'अनुस्वार' इन सभी का ग्रहण होता है।

---

[1] ६।१ [2] १।२२ [3] १३।१४

होता है (यदि 'व्यञ्जन' का ग्रहण करने से ही 'अनुस्वार' का ग्रहण हो जाता तो 'अनुस्वार' के पृथक् उल्लेख की आवश्यकता न होती)। "कतिपय (आचार्य) वर्णों को नित्य (मानते हैं), अनित्य नहीं" यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) वर्ण के ग्रहण से 'अनुस्वार' का भी ग्रहण हो जाता है।[क]

ननु "सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव"[१] इति व्यञ्जनग्रहणेनानुस्वारग्रहणमस्तु। को गुण इति चेत् ? सूत्रमेतन्नारब्धव्यं स्याद्व्यञ्जनग्रहणेन ग्रहणात्। "सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि"[२]; "अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्"[३] इति, "संयोगानुस्वारपराणि यानि"[४] इत्येवमादिसूत्रेष्वनुस्वारग्रहणं न कर्तव्यं स्याद्व्यञ्जनग्रहणेनैव सिद्धत्वात्। "स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादिः"[५] इत्यत्रानुस्वारस्य व्यञ्जनत्वे सत्यपि वचनात्परस्य संयोगादेर्द्विरुक्तिर्भविष्यति न त्वनुस्वारस्यैव—इत्येवमनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वेन सर्वमभिप्रेतं सिद्ध्यति। अतो व्यञ्जनग्रहणेनैवानुस्वारग्रहणं भवतु, किमनेन योगेन—"अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा" इति।

सत्यमेतद्यदि नामानुस्वारस्य स्वरूपं न कथितं स्यात्। तस्मात्स्वरव्यञ्जनातिरिक्तमन्यद्वर्णान्तरमेतदित्येतत्स्थापनपरमेवैतत्सूत्रमिति सिद्धान्तितम्॥

(पूर्वपक्षी) "अवशिष्ट सब (वर्ण) 'व्यञ्जन' ही हैं" के अनुसार 'व्यञ्जन' के ग्रहण से ही 'अनुस्वार' का भी ग्रहण होवे। (सिद्धान्ती का प्रश्न) (ऐसा होने से) क्या लाभ (होगा) ? (पूर्वपक्षी का उत्तर) 'व्यञ्जन' के ग्रहण से ('अनुस्वार' का) ग्रहण हो जाने से इस (प्रस्तुत) सूत्र का निर्माण न करना पड़ता। (इसके अतिरिक्त) "व्यञ्जनसहित, अनुस्वारसहित अथवा शुद्ध भी ('स्वर' 'अक्षर' होता है)"; " 'अनुस्वार' और 'व्यञ्जन' 'अक्षर' के 'अङ्ग' हैं", " 'संयोग' और 'अनुस्वार' परे हो तो ('ह्रस्व' 'स्वर' भी 'गुरु' होते हैं)" इत्यादि सूत्रों में 'व्यञ्जन' (पद) के ग्रहण से ही सिद्ध हो जाने से 'अनुस्वार' (पद) का ग्रहण न करना पडता। " 'स्वर' और 'अनुस्वार' अव्यवहित पूर्व में हों तो 'संयोग' का प्रथम वर्ण दो बार उच्चरित होता है" यहाँ पर 'अनुस्वार' के 'व्यञ्जन' होने पर भी ('अनुस्वार' का) कथन होने से ('अनुस्वार' से) परवर्ती 'संयोग' के प्रथम वर्ण का ही दो बार उच्चारण होता है, 'अनुस्वार' का नहीं।[ख] इस प्रकार 'अनुस्वार' को

टि० (क) इन तीन सूत्रों को यहाँ यह बतलाने के लिये उद्धृत किया गया है कि 'अनुस्वार' वर्ण तो है किन्तु न केवल 'स्वर'-वर्ण है और न केवल 'व्यञ्जन'-वर्ण।

(ख) निर्दिष्ट सूत्र के अनुसार 'स्वर' के बाद वाले 'व्यञ्जन' का द्वित्व हो जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि 'अनुस्वार' को 'व्यञ्जन' माना जायेगा तो 'स्वर' के बाद में स्थित 'अनुस्वार' का द्वित्व हो जायेगा; किन्तु 'अनुस्वार' का द्वित्व होता नहीं। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि इस सूत्र में स्पष्ट रूप से यह कह दिया गया है कि 'स्वर' और 'अनुस्वार' से बाद में आने वाले 'संयोग' का प्रथम वर्ण द्वित्व को प्राप्त करता है। इस स्पष्ट कथन से 'अनुस्वार' के द्वित्व होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

[१] १।६ [२] १८।३२ [३] १।२२ [४] १।२१ [५] ६।१

'व्यञ्जन' मानने पर सभी अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। इसलिए 'व्यञ्जन' के ग्रहण से ही 'अनुस्वार' का ग्रहण होवे; "'अनुस्वार' 'व्यञ्जन' भी है और 'स्वर' भी है" इस सूत्र (योग) से क्या (लाभ है) ?

(सिद्धान्ती) यह (अर्थात् 'अनुस्वार' को 'व्यञ्जन' मानना) ठीक होता यदि (सूत्रकार के द्वारा) 'अनुस्वार' का स्वरूप न कहा गया होता (किन्तु सूत्रकार ने तो 'अनुस्वार' के स्वरूप को कह दिया है)। इसलिए यह 'अनुस्वार' 'स्वर' और 'व्यञ्जन' से अतिरिक्त एक अन्य वर्ण है, यह बतलाने के लिए ही यह सूत्र (निर्मित हुआ है)—यह निश्चय किया जाता है)।

(व्यञ्जनसंज्ञा)

सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव ॥६॥

(व्यञ्जनसंज्ञा)

सू० अ०—शेष सब (वर्ण) 'व्यञ्जन' (consonants) ही हैं।

उ० भा०—उपयुक्तेतरवचन शेषशब्द। स्वरानुस्वारव्यतिरिक्त सर्वः शेषो वर्णराशि ; (व्यञ्जनानि=)व्यञ्जनसंज्ञकः; वेदितव्य। व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि। सर्वशब्दो यमादीनां परिग्रहणार्थ। तेषां यद्यप्यत्र संज्ञाधिकारे ग्रहण न कृत तथापि स्थानाधिकारे ग्रहण कृतमेव—"नासिक्ययमानुस्वारान्"[१] इति। ऌकारस्य मात्रिकस्य ईकारस्य च प्लुतस्य सर्वशब्देन ग्रहण न भविष्यति स्वरशब्देन ग्रहणात्। "धातौ स्वर कल्पयताल्लृकार."[२] इति ऌकारस्य स्वरसंज्ञा। तथा—"तिस्रः प्लुत उच्यते स्वर"[३] इति प्लुतस्य स्वरसंज्ञा। अतश्च स्वरग्रहणेनैव ग्रहणाद् व्यञ्जनत्व न भवति। व्यञ्जनान्येव इत्यवधारणमनुस्वारस्योभयरूपतामुज्ज्वलयति। व्यञ्जनसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जने"[४] इति॥

उ० भा० अ०—शेष शब्द कहे गये (वर्णों) से अन्य (वर्णों) का वाचक है। 'स्वर' और 'अनुस्वार' से व्यतिरिक्त, (सर्वः शेषः=) सभी शेष वर्णों को, (व्यञ्जनानि=) 'व्यञ्जन'-संज्ञक; जानना चाहिए। (ये वर्ण) अर्थों को, व्यक्त करते हैं=प्रकट करते हैं[क] —(इसलिए ये वर्ण) 'व्यञ्जन'[ख] (कहलाते है)। (सूत्र में) सर्व शब्द (का प्रयोग)

टि० (क) 'व्यञ्जन' ही अर्थ-विशेष के बोधक होते है। शब्दो के अर्थ 'व्यञ्जन' के बदलने पर बदल जाते है। उदाहरण के लिए 'धूप', 'कूप' और 'यूप'—इन तीन शब्दो में 'स्वर' वही है, किंतु व्यञ्जन भिन्न है। व्यञ्जनो के भिन्न-भिन्न होने से इन शब्दो के अर्थ बदल गये हैं।

(ख) तै० प्रा० १।६ पर वैदिकाभरण नामक भाष्य में 'व्यञ्जन' पद का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—"परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्।" इसका अर्थ यह है कि 'स्वर' की सहायता से व्यक्त अर्थात् उच्चरित होने के कारण ये वर्ण 'व्यञ्जन' कहे जाते है।

[१] १।४८ [२] १३।३५ [३] १।३० [४] ७।१

'यम'[क] आदि के ग्रहण के लिये हैं। उन ('यम' आदि) का यद्यपि यहाँ (वर्णों की) संज्ञा के अधिकार मे ग्रहण नही किया गया है तथापि 'स्थान' के अधिकार में ग्रहण किया ही गया है— " 'यम', 'नासिक्य' और 'अनुस्वार' (को छोडकर शेष सब 'ओष्ठ्य' हैं)।" एक मात्रा वाले लृकार और 'प्लुत' ईकार का सर्वशब्द से ग्रहण नही होगा क्योंकि (इन दोनों का) 'स्वर' शब्द से ग्रहण हुआ है।[ख] "(जब रेफ लकार हो जाता है तो) 'क्लृप्' धातु में लृकार 'स्वर' होता है"[ग] (इस सूत्र से) लृकार की 'स्वर'-संज्ञा (की गई है)। उसी प्रकार " 'प्लुत' 'स्वर' तीन (मात्राओं) का कहा जाता है" (इस सूत्र से) 'प्लुत' की 'स्वर'-संज्ञा (की गई है)। इसलिये 'स्वर' के रूप में ग्रहण करने से ही ग्रहण हो जाने से ('लृ' और 'ई३' का) व्यञ्जनत्व नही होता। 'व्यञ्जन' ही है, यह निश्चय 'अनुस्वार' की उभयरूपता ('स्वर'-रूपता और 'व्यञ्जन'-रूपता) को स्पष्ट कर देता है।[घ] व्यञ्जन-संज्ञा का प्रयोजन—"व्यञ्जन परे होने पर 'ह्रस्व' ('स्वर') 'दीर्घ' (हो जाता है)।"

(स्पर्शसंज्ञा)

तेषामाद्याः स्पर्शाः ॥७॥

(स्पर्शसंज्ञा)

सू० अ०—उन (व्यञ्जनों) में आदि वाले (वर्ण) 'स्पर्श' (contact consonants) हैं।

टि० (क) 'अननुनासिक' 'स्पर्श' के बाद में 'अनुनासिक' 'स्पर्श' हो तो दोनों के मध्य में एक नासिक्य वर्ण (='यम') का उच्चारण तो होता है किन्तु इसे प्रायः लिखा नहीं जाता है। उदाहरण के लिये 'पलिक्नी' का उच्चारण 'पलिक्क्नी' होता है जहाँ द्वितीय ककार (='यम') नासिक्य उच्चरित होता है। 'यम' के विस्तृत वर्णन के लिये छठा पटल देखिये।

(ख) सूत्र में प्रयुक्त 'सर्व' शब्द के द्वारा 'यम' आदि ध्वनियों का 'व्यञ्जन' में ग्रहण होता है। अवशिष्ट होने पर भी लृकार और 'प्लुत' ईकार का 'व्यञ्जन' में ग्रहण नही होता क्योंकि इन्हें क्रमशः १३।३५ और १।३० में स्पष्ट रूप से स्वर' कहा गया है।

(ग) मूलतः 'ऋ' तथा 'लृ' को क्रमशः रेफ और लकार का 'स्वर'-रूप माना गया है। इसलिये प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थ 'ऋ' तथा 'लृ' में क्रमशः रेफ तथा लकार का अंश मानते हैं। ऋ० प्रा० १३।३४-३५ का कथन है कि ऋकार में रेफ विद्यमान होता है और जब वह रेफ लकार हो जाता है तो 'ऋ' का 'लृ' हो जाता है। 'ऋ' की भाँति यह 'लृ' भी 'स्वर' है।

(घ) "ये शेष वर्ण 'व्यञ्जन' ही हैं" इस निश्चय के द्वारा सूत्रकार 'अनुस्वार' से इन शेष वर्णों अर्थात् व्यञ्जनों का भेद बतलाते हैं जिससे 'अनुस्वार' की उभयरूपता स्पष्ट हो जाती है। ये वर्ण 'व्यञ्जन' ही हैं, जब कि 'अनुस्वार' 'स्वर' और 'व्यञ्जन' दोनो हैं, केवल 'व्यञ्जन' नही।

उ० भा० **तेषाम्** व्यञ्जनानाम् **आद्या** वर्णा, **(स्पर्शाः=)** स्पर्शसंज्ञाः; वेदितव्या। स्पृष्टकरणा। स्पर्शा कादयो मान्ता.। **स्पर्शसंज्ञाया** प्रयोजनम्—**"स्पर्शाः** पूर्व व्यञ्जनान्युत्तराणि"[1] इति ॥

उ० भा० अ०—**तेषाम्**=उन (व्यञ्जनो) मे, **आद्याः**=आदि वाले वर्णों को, **(स्पर्शाः=)** 'स्पर्श'-संज्ञक, जानना चाहिए। (इन स्पर्शों का) 'आभ्यन्तर प्रयत्न' 'स्पृष्ट' (होता है)[क]। 'क' से लेकर 'म' तक 'स्पर्श' है। **स्पर्श**-संज्ञा का प्रयोजन—**"स्पर्श** पूर्व में और 'व्यञ्जन' बाद में (हो तो 'अवशगम' संधि होती है)।"

(वर्गसंज्ञा)

पञ्च ते पञ्चवर्गाः ॥८॥

(वर्गसंज्ञा)

सू० अ०—(उन स्पर्शों के) पाँच-पाँच (वर्णों) के पाँच 'वर्ग' हैं।

उ० भा०—**ते** च स्पर्शा **पञ्चवर्गाः**। पञ्चभि स्पर्शैर्वर्ग एषामिति **पञ्चवर्गाः**। कियन्तस्ते वर्गा इति? **पञ्च**। यथा—कखगघङ, चछजझञ, टठडढण, तथदधन, पफबभम। **वर्गसंज्ञायाः** प्रयोजनम्—"**वर्गे वर्गे** च प्रथमावघोषौ"[2] इति ॥

उ० भा० अ०-**ते**=वे 'स्पर्श', **पञ्चवर्गाः**=पाँच-पाँच (वर्णों) के 'वर्ग' वाले है। पाँच-पाँच स्पर्शों से इनका (एक-एक) 'वर्ग' (होता है), (इसलिए इन्हें) पाँच-पाँच (वर्णों) के 'वर्ग' वाला (कहा गया है)। वे 'वर्ग' कितने है? (उत्तर) **पञ्च**=पाँच है। जैसे—कखगघङ (कवर्ग), चछजझञ (चवर्ग), टठडढण (टवर्ग), तथदधन (तवर्ग), पफबभम (पवर्ग)। **वर्ग**-संज्ञा का प्रयोजन—"प्रत्येक **वर्ग** में प्रथम दो 'अघोष' है।"

(अन्तःस्थासंज्ञा)

चतस्रोऽन्तस्थास्ततः ॥९॥

(अन्तःस्थासंज्ञा)

सू० अ०—तदनन्तर (=उन स्पर्शों के बाद मे) चार (वर्ण) 'अन्तःस्था' (semi-vowels) हैं।

उ० भा०—**ततः**=तेभ्यः स्पर्शेभ्योऽनन्तरा; **चतस्रः**, **(अन्तस्थाः=)** अन्तःस्थासंज्ञिकाः, वर्णव्यक्तयो वेदितव्या.। स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति **अन्तःस्थाः**। व्यञ्जनान्येवैतानि स्त्रीलिङ्गानि निर्दिष्टानि। यथा—य, र, ल, व। **अन्तःस्थासंज्ञाया** प्रयोजनम्—"**अन्तस्थासु** रेफवर्जं परासु"[3] इति।

टि० (क) इनका उच्चारण करते समय मुख के दो अंग एक दूसरे का स्पर्श करके वायु को रोकते है और फिर एक दूसरे से अलग होकर वायु को बाहर जाने देते है। दो अंगो का स्पर्श होने के कारण इन ध्वनियो को 'स्पर्श' कहते है।

---

[1] ४।१ [2] १।१२ [3] ४।७

उ० भा० अ० ततः=उन स्पर्शों के बाद वाले; चतस्रः=चार वर्णों को; (अन्तस्थाः=) 'अन्त स्था'-संज्ञक; जानना चाहिये। 'स्पर्श' और 'ऊष्मन्' के मध्य (अन्त) में अवस्थित हैं, इसलिए इन्हें अन्तःस्था (कहते हैं)। स्त्रीलिङ्ग में निर्दिष्ट ये 'व्यञ्जन' ही हैं। जैसे—य, र, ल, व। अन्तःस्था-संज्ञा का प्रयोजन—"रेफव्यतिरिक्त अन्तःस्था परे हों तो (मकार 'अनुनासिक' 'अन्त स्था' हो जाता है)।

(ऊष्मसंज्ञा)

उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः ॥१०॥

(ऊष्मसंज्ञा)

सू० अ०—(अन्तःस्था) के बाद वाले आठ (वर्ण) 'ऊष्मन्' (spirants, breath-sounds) (कहलाते) हैं।

उ० भा०—अन्तःस्थाभ्य उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः वेदितव्याः। ऊष्मा=वायुः; तत्प्रधाना वर्णा ऊष्माणः। यथा—ह, श, ष, स, अः, ꣳक, ꣳप, अं इति। ऊष्मसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"तमेवोष्माणमूष्मणि"[१] इति। यस्तु—चतस्रोऽन्तस्थास्तत उत्तरे—इत्येव सूत्रमिच्छति तस्य चतस्रोऽन्तःस्था इत्यनयोः पदयोः स्त्रीलिङ्गबहुवचनान्तत्वादुत्तर इत्यस्य च पदस्य पुंलिङ्गबहुवचनान्तत्वात्सम्बन्धो दुर्लभः। अतः चतस्रोऽन्तस्थास्ततः—इत्यत्रैव सूत्रच्छेदः॥

उ० भा० अ०—'अन्त स्था' (वर्णों) से, उत्तरेऽष्टा=बाद वाले आठ (वर्णों) को; ऊष्माणः='ऊष्मन्'[क]; जानना चाहिये। ऊष्मा=(मुख से निकलने वाली) वायु है; उस (वायु) की (जिन) वर्णों में प्रधानता (होती है वे) ऊष्मन् (कहलाते हैं)। जैसे—ह, श, ष, स, अः, ꣳक, ꣳप, अं। ऊष्म-संज्ञा का प्रयोजन—"('अघोष') ऊष्मन् बाद में हों तो (विसर्जनीय) उसी ऊष्मन् (में परिणत हो जाता है)।" जो (व्यक्ति)—चतस्रोऽन्तस्थास्तत उत्तरे—इस प्रकार सूत्र को मानता है उसके (मत में यह दोष है कि) 'चतस्र' और 'अन्त स्था' इन दो पदों के स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त होने से और 'उत्तरे' इस पद के पुंलिङ्ग बहुवचनान्त होने से ('उत्तरे' का 'चतस्र' तथा 'अन्त स्था' के साथ)

टि० (क) 'स्पर्श'-वर्णों के उच्चारण के समय क्षणभर के लिये मुख में वायु का मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है किंतु 'ऊष्म'-वर्णों के उच्चारण के समय वायु का मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध न होकर थोडा खुला रहता है जिससे वायु उस सँकरे मार्ग से दोनों ओर घर्षण करती हुई बलपूर्वक बाहर निकलती रहती है। इसलिए 'ऊष्म' -वर्णों को 'संघर्षी' (fricatives) भी कहते हैं। वायु-प्रधान कहने का यही तात्पर्य है कि इन ध्वनियों के उच्चारण में वायु क्षणभर के लिये भी न रुककर लगातार बाहर निकलती रहती है।

---

[१] ४।३२

सम्बन्ध दुर्लभ है।[क] इसलिये—'चतस्रोऽन्तस्थास्तत' यहीं पर सूत्र का विभाग करना (उचित है)।

(अघोषसंज्ञा)

अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः ॥११॥

(अघोषसंज्ञा)

सू० अ०—उन ('ऊष्म'-वर्णों) में अन्तिम सात (वर्ण) 'अघोष' (sonant या voiceless) हैं।

उ० भा०—तेषाम् एवोष्मणाम् अन्त्याः सप्त ऊष्माणः, (अघोषाः=) अघोषसंज्ञाः; वेदितव्याः। यथा—श, ष, स, अः, ᳵ क, ᳵ प, अ इति। अघोषसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"अघोषे रेफ्यरेफी च"[१] इति ॥

उ० भा० अ०—तेषाम्=उन 'ऊष्म' (-वर्णों) में ही; अन्त्याः=अन्तवाले, सप्त= सात ऊष्म (-वर्णों) को, (अघोषाः=) 'अघोष'[ख]-संज्ञक, जानना चाहिये (अर्थात् 'ऊष्म'-वर्णों में से अन्तिम सात को 'अघोष' कहते हैं)। जैसे—श, ष, स, अः, ᳵ क, ᳵ प, अ। अघोष-संज्ञा का प्रयोजन—"अघोष ('स्पर्श') परे हो तो 'रिफित' अथवा 'अरिफित' (विसर्जनीय) (परवर्ती) 'अघोष' ('स्पर्श') के समान स्थान वाला 'ऊष्म' (-वर्ण) हो जाता है)।"

वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ ॥१२॥

सू० अ०—प्रत्येक वर्ग में प्रथम दो (वर्ण) भी 'अघोष' हैं।

उ० भा०—वर्गे वर्गे; (प्रथमौ=) प्रथमद्वितीयौ वर्णौ; (अघोषौ=) अघोषसंज्ञौ; वेदितव्यौ। यथा—कख, चछ, टठ, तथ, पफ इति। पारिशेष्यादन्यानि घोषवत्संज्ञकानि व्यञ्जनानि ॥

टि० (क) कुछ लोग १।९ और १।१० की व्यवस्था इस प्रकार करते हैं—"चतस्रोऽन्तस्थास्तत उत्तरे" और "अष्टा ऊष्माण।" भाष्यकार का कहना है कि 'उत्तरे' पद का सम्बन्ध 'चतस्र' और 'अन्तस्था' पदों के साथ नहीं हो सकता क्योंकि 'उत्तरे' पद पुल्लिङ्ग बहुवचन है और 'चतस्र' तथा 'अन्तस्था' पद स्त्रीलिङ्ग बहुवचन है। इस प्रकार सूत्रों की व्यवस्था करने पर लिङ्ग का दोष आ जाता है, इसलिये यह व्यवस्था त्याज्य है।

(ख) 'अघोष' ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ (vocal chords) एक दूसरे से दूर रहती हैं जिसके परिणामस्वरूप स्वरतन्त्रियों से प्रश्वास का घर्षण नहीं होता और इसीलिये उनमें कम्पन नहीं होता। इसके विपरीत 'सघोष' ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरे के निकट होती हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमें वायु के घर्षण से कम्पन होता है।

---

[१] ४।३१

उ० भा० अ०—**वर्गे वर्गे**=प्रत्येक वर्ग में; (**प्रथमौ**=) प्रथम और द्वितीय वर्णों को; (**अघोषौ**=) 'अघोष'-संज्ञक; जानना चाहिये। जैसे—कख, चछ, टठ, तथ, पफ। शेष रहने से अन्य 'व्यञ्जन' 'सघोष' ('घोषवत्,' voiced)-संज्ञक हैं।[क]

टि० (क) ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व और ह—ये 'सघोष' हैं।

(सोष्मसंज्ञा)

युग्मौ सोष्माणौ ॥१३॥

(सोष्मसंज्ञा)

सू० अ०—(प्रत्येक वर्ग में) सम (even) (वर्ण) 'सोष्मन्' (aspirates) हैं।

उ० भा०—वर्गे वर्गे इति वर्तते। वर्गे वर्गे च; युग्मौ=द्वितीयचतुर्थौ वर्णौ; सोष्माणौ वेदितव्यौ। अन्वर्थसञ्ज्ञेयम्। ऊष्मा=वायुः; तेन सह वर्तन्त इति सोष्माणः। यथा—खघ, छझ, ठढ थध फभ इति। सोष्मसञ्ज्ञायाः प्रयोजनम्—"सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते"[1] इति॥

उ० भा० अ०—(इस सूत्र में १।१२ से) "वर्गे वर्गे" की अनुवृत्ति हो रही है। प्रत्येक वर्ग में, **युग्मौ**=सम=द्वितीय और चतुर्थ वर्णों को, **सोष्माणौ**='सोष्म'[क](-सञ्ज्ञक); जानना चाहिये। यह अर्थानुसारिणी सञ्ज्ञा है। ऊष्मा=(मुख से निकलने वाली) वायु; उस (वायु) के साथ (उच्चरित) होते हैं इसलिये, **सोष्माणः**='सोष्मन्' (कहलाते हैं)। जैसे—खघ, छझ, ठढ, थध, फभ। सोष्म-सञ्ज्ञा का प्रयोजन—"सोष्म (-वर्ण) तो (स्ववर्गीय) पूर्व्य (वर्ण) के साथ उच्चरित होता है।"

(अनुनासिकसंज्ञा)

अनुनासिकोऽन्त्यः ॥१४॥

(अनुनासिकसंज्ञा)

सू० अ०—(प्रत्येक वर्ग का) अन्तिम वर्ण 'अनुनासिक' (nasal) है।

उ० भा०—वर्गे वर्गे चेति वर्तते। प्रतिवर्गम् अन्त्यः वर्णः; (अनुनासिकः=) अनुनासिकसञ्ज्ञः; वेदितव्यः। यथा ङ, ञ, ण, न, म इति। अनुनासिकसञ्ज्ञायाः प्रयोजनम्—"परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु"[2] इति। इयमप्यन्वर्थसञ्ज्ञा। नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते। तथा चोक्तम्—"मुख-नासिकावचनोऽनुनासिकः"[3] इति॥

टि० (क) इन वर्णों को 'महाप्राण' भी कहा जाता है। प्राण का अर्थ है वायु। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु का आधिक्य हो, उन्हें 'महाप्राण' या 'सोष्मन्' (aspirates) कहते हैं। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु का आधिक्य न हो उन्हें 'अल्पप्राण' (unaspirates) कहते हैं।

---

[1] ६।२ [2] ६।१९ [3] पा० १।१।८

उ० भा० अ०—(इस सूत्र में १।१२ से) "वर्गे वर्गे" की अनुवृत्ति हो रही है। प्रत्येक वर्ग के अन्त्यः=अन्तिम वर्ण को; (अनुनासिकः=) 'अनुनासिक'-संज्ञक^क, जानना चाहिये। जैसे—ङ, ञ, ण, न, म। अनुनासिक-संज्ञा का प्रयोजन—"अनुनासिक 'स्पर्श' परे हों तो ('अननुनासिक' 'स्पर्श' अपने 'यम' हो जाते हैं)।" यह भी अर्थानुसारिणी संज्ञा है। जो वर्ण अपने स्थान के साथ-साथ नासिका से निष्पन्न होता है दो स्थान वाले उस वर्ण को 'अनुनासिक' कहते हैं। वैसा कहा भी गया है —"[मुख और नासिका से बोला जाने वाला (वर्ण) 'अनुनासिक' (-संज्ञक होता है]।"

(पदावसाने प्रथमतृतीयस्पर्शयोर्विकल्पः)

तस्मादन्यमवसाने तृतीयं गार्ग्यः स्पर्शम् ॥१५॥

(पद के अवसान में प्रथम और तृतीय स्पर्शों का विकल्प)

सू० अ०—उस (='अनुनासिक') से अन्य 'स्पर्श' को (पद के) अवसान में स्थित होने पर गार्ग्य (वर्ग का) तृतीय ('स्पर्श') (मानता है)।

उ० भा०—"ऊष्मान्तस्थसोष्म"[1] —इत्यत्र प्रथमतृतीयपञ्चमान् स्पर्शान्पदान्तीयान् वक्ष्यति। तत्र प्रथमतृतीयविकल्पार्थमिदमारभ्यते। तस्मात्=अनुनासिकात्=अन्त्यात्स्पर्शात्; अन्यम्; (अवसाने=) पदावसाने; वर्तमानं स्पर्शम् गार्ग्य आचार्यः स्व तृतीयं मन्यते। यथा—वाग्, षड्, तद्, ककुब्। तस्मादन्यम् इति किम्? तान्, तम्।

उ० भा० अ०—"(विसर्जनीय को छोडकर अन्य) 'ऊष्म' (-वर्ण), 'अन्तस्था', ऋकार, 'सोष्म' (-वर्ण) (और चवर्ग पद के अन्त में नही आते)" यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) (सूत्रकार) बतलायेंगे कि प्रथम, तृतीय और पञ्चम 'स्पर्श' पद के अन्त में आते हैं। उनमें से प्रथम और तृतीय के विकल्प के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया जाता है। तस्मात्='अनुनासिक' से=अन्तिम 'स्पर्श' से, अन्यम्=अन्य, स्पर्शम्=स्पर्श को, गार्ग्यः=गार्ग्य आचार्य, अवसाने=पद के अवसान में, वर्तमान होने पर अपने (वर्ग) वाला

टि० (क) अनुनासिकेतर स्पर्शों के उच्चारण के समय कौवा (uvula) तन कर खडा हो जाता है और श्वास-नलिका से आई हुई वायु को नासिका-विवर में तनिक भी नही जाने देता। इसका परिणाम यह होता है कि मुख के अंगो के स्पर्श के अनन्तर सारी वायु मुख-विवर से बाहर निकल जाती है। 'अनुनासिक' स्पर्शों के उच्चारण के समय कौवा (uvula) तन कर नासिका-विवर को नही रोकता जिसके परिणाम-स्वरूप वायु नासिका-विवर से बाहर निकल सकती है। 'अनुनासिक' स्पर्शो के उच्चारण में सम्बद्ध अंगो का स्पर्श तो अन्य 'स्पर्श' व्यञ्जनो के समान मुख में ही होता है किन्तु स्पर्श होने के अनन्तर वायु गूँजती हुई नासिका-विवर से बाहर निकल जाती है। इस प्रकार 'अनुनासिक' स्पर्शों के दो स्थान होते हैं—एक वह जहाँ स्पर्श होता है और दूसरा नासिका।

[1] १२।१

तृतीयम्=तृतीय; मानता है[क] (अर्थात् गार्ग्य के मत से 'वर्ग' का तृतीय 'स्पर्श' ही पद के अन्त में आता है, प्रथम 'स्पर्श' नहीं) जैसे—वाग्, पड्, तद्, ककुब् । "उस (='अनुनासिक') से अन्य ('स्पर्श') को" यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) तान्, तम्[ख] ।

प्रथमं शाकटायनः ॥१६॥

सू० अ०—(किंतु) शाकटायन (प्रत्येक 'वर्ग' का) प्रथम ('स्पर्श') (मानते हैं) ।

उ० भा०—शाकटायनः आचार्यः प्रथमं मन्यते । यथा—वाक्, षट्, तत्, ककुप् ।

उ० भा० अ०— शाकटायनः=शाकटायन आचार्य; (प्रत्येक 'वर्ग' के); प्रथमम्=प्रथम ('स्पर्श') को, (पदान्त में) मानते हैं (अर्थात् शाकटायन के मत से 'वर्ग' का प्रथम 'स्पर्श' ही पद के अन्त में आता है, तृतीय 'स्पर्श' नहीं)। जैसे—वाक्, पट्, तत्, ककुप् ॥

(ह्रस्वसंज्ञा)

ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ता स्वराणाम् ॥१७॥

(ह्रस्वसंज्ञा)

सू० अ०—'स्वर'(- वर्णों) में प्रथम सात तक विषम (odd) ('स्वर'-वर्ण) 'ह्रस्व' हैं ।

उ० भा०—ओजाः=विषमाः, स्वराणां मध्ये; (ह्रस्वाः=) ह्रस्वसंज्ञाः; वेदितव्याः; (सप्तमान्ताः=) सप्तमपर्यन्ताः । यथा—अ, ऋ, इ, उ इति । ह्रस्वसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्"[1] इति ॥

टि० (क) वा० प्रा० १।८५ में पद के अन्त में आने वाले वर्ण के लिये 'पदान्तीय'-संज्ञा का विधान किया गया है । यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में 'पदान्तीय' संज्ञा नहीं की गई है तथापि संज्ञा-पटल में आने के कारण इस सूत्र को 'पदान्तीय'-संज्ञा से सम्बद्ध ही माना जा सकता है । कुछ आचार्य वर्गों के प्रथम वर्ण को 'पदान्तीय' मानते हैं और कुछ आचार्य तृतीय वर्ण को । पाणिनि ने "वावसाने" ८।४।५६ के अनुसार दोनों विकल्प स्वीकार किये हैं । गार्ग्य के मत से तृतीय 'स्पर्श' और शाकटायन के मत से प्रथम 'स्पर्श' पद के अन्त में आते हैं । किन्तु ऋग्वेद-प्रतिशाख्य वर्गों के प्रथम वर्णों को 'पदान्तीय' मानकर ही संधियों का वर्णन करता है । पदपाठकार शाकल्य ने भी अपने ऋग्वेद के पदपाठ में प्रथम वर्णों को ही 'पदान्तीय' माना है । इस प्रकार प्रथम वर्णों को पदान्तीय मानने वाला मत ही मुख्यतः मान्य है ।

(ख) यदि पद के अन्त में 'अनुनासिक' को छोड़कर अन्य 'स्पर्श' हो तो उसे गार्ग्य तृतीय मानता है । 'तान्' और 'तम्' ये दो प्रत्युदाहरण हैं । इन पदों के अन्त में 'अनुनासिक' 'स्पर्श' वर्तमान है, अतः यहाँ तृतीय 'स्पर्श' होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

[1] २।२७

उ० भा० अ०—स्वराणाम्='स्वर' (-वर्णों) के मध्य में; (सप्तमान्ताः=) सप्तमपर्यन्त; ओजाः=विषम (odd) (वर्णों) को; (ह्रस्वाः=) 'ह्रस्व'-संज्ञक; जानना चाहिये (अर्थात् सप्तमपर्यन्त विषम (odd) वर्णों को 'ह्रस्व' कहते हैं)। जैसे—अ, ऋ, इ, उ। ह्रस्व-संज्ञा का प्रयोजन—"ह्रस्व पूर्व में हो तो (विसर्जनीय) अकार हो जाता है।"

(दीर्घसंज्ञा)

अन्ये दीर्घाः ॥१८॥

(दीर्घसंज्ञा)

सू० अ०—('ह्रस्व' से) अन्य ('स्वर'-वर्ण) 'दीर्घ' हैं।

उ० भा०—ह्रस्वसंज्ञकेभ्यो ये अन्ये स्वरास्ते; (दीर्घाः=) दीर्घसंज्ञाः, वेदितव्याः। यथा—आ, ऋ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ इति। दीर्घसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जने"[1] इति॥

उ० भा० अ०—'ह्रस्व'-संज्ञक ('स्वर'-वर्णों) से जो; अन्ये=अन्य 'स्वर'-वर्ण हैं उन्हें; (दीर्घाः=) 'दीर्घ'-संज्ञक; जानना चाहिये। जैसे—आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ। दीर्घसंज्ञा का प्रयोजन—"'व्यञ्जन' परे हो तो 'ह्रस्व' दीर्घ (हो जाता है)।"

(अक्षरसंज्ञा)

उभये त्वक्षराणि ॥१९॥

(अक्षरसंज्ञा)

सू० अ०—किंतु दोनों 'अक्षर' हैं।

उ० भा०—य इह ह्रस्वदीर्घसंज्ञाः स्वरा निर्दिष्टाः, यौ च वक्ष्यमाणकौ स्वरौ—"धातौ स्वरः कल्पयताल्लृकारः"[2] इति—"तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः"[3] इति लृकारईप्लुतौ एत उभये तु; (अक्षराणि=) अक्षरसंज्ञाः; वेदितव्याः। यथा—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ इति; लृ, ई३इति।

ननु कस्मात्प्रकृता एव स्वरा दीर्घा ह्रस्वास्चोभयग्रहणेन नान्तर्भाव्यंते येन व्यवहितावपि लृकारप्लुतावुभयग्रहणेनान्तर्भाव्येते इति? शृणु; तन्त्रान्तरे—"स्वरोऽक्षरम्"[4] इति स्वरमात्रस्याक्षरसंज्ञा विधीयते। अयमपि—"सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्"[5] इति स्वरस्याक्षरसंज्ञां विधास्यति। न चाक्षरसंज्ञां विनोदात्तादयः स्वरास्तदाश्रयाः स्युः—"त उच्यन्तेऽक्षराश्रया"[6] इति वचनात्। किंच गुरुलघुपूर्वाङ्गपराङ्गचिन्तामक्षरस्यैवेदानीं वक्ष्यति। तस्मादक्षरसंज्ञाप्राप्त्यर्थमिह लृकारप्लुतावुभयशब्देनान्तर्भाव्येते न तु प्रकृता एव ह्रस्वदीर्घाः स्वरा इति। अक्षरसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"यकाराद्यक्षरं परम्"[7] इति।

---

[1] ७।१ [2] १३।३५ [3] १।३०

[4] अथ० प्रा० १।९३, वा० प्रा० १।९९

[5] १८।३२ [6] ३।१-२ [7] २।३५

उ० भा० अ०—'ह्रस्व' और 'दीर्घ' सञ्ज्ञा वाले जो 'स्वर' यहाँ निर्दिष्ट किये गये हैं और—"(जब रेफ लकार हो जाता है तो) 'क्लृप्' धातु में लृकार 'स्वर' (होता है)" (तथा) "'प्लुत' 'स्वर' तीन (मात्राओं) का कहा जाता है" (इन सूत्रों में) जो दो 'स्वर' (लृकार और 'प्लुत' ईकार बतलाये जायेंगे—इन; उभये=दोनों को; (अक्षराणि=) 'अक्षर'-संज्ञक; जानना चाहिये। जैसे—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ ऐ, औ (और) लृ, ई३। (प्रश्न) 'उभय' शब्द से प्रकृत 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'–'स्वर'-वर्णों का ही अन्तर्भाव क्यों नहीं होता, जिससे व्यवहित भी लृकार और 'प्लुत' ईकार का 'उभय' शब्द से अन्तर्भाव किया जा रहा है? (उत्तर) सुनो, दूसरे (प्रातिशाख्य) ग्रन्थ में "'स्वर' 'अक्षर' हैं" से सभी 'स्वर'-वर्णों की 'अक्षर'-सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। ये भी (सूत्रकार)—"'व्यञ्जन'-सहित, 'अनुस्वार'-सहित, अथवा शुद्ध भी 'स्वर' (-वर्ण) 'अक्षर' (होता है)" से 'स्वर' (-वर्ण) की 'अक्षर'-सञ्ज्ञा का विधान करेंगे। और 'अक्षर'-सञ्ज्ञा के बिना 'उदात्त' आदि 'स्वर' उन (लृ और ई३) के आश्रय में नही रह सकते (अर्थात् वे 'स्वर'-विहीन हो जायेंगे) क्योकि (ऐसा) वचन है—"'अक्षर' पर आश्रित उन ('उदात्त' आदि) का ('आयाम' आदि से) उच्चारण होता है।" इसके अतिरिक्त 'अक्षर' के विषय में ही (सूत्रकार) 'गुरु', 'लघु', 'पूर्वाङ्ग' और 'पराङ्ग' का विचार करेंगे। इसलिये इन दोनों की 'अक्षर'-सञ्ज्ञा की प्राप्ति के लिये ही यहाँ 'उभय' शब्द के द्वारा लृकार और 'प्लुत' (ईकार) का अन्तर्भाव होता है, प्रकृत 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्णों) का नही।[क] अक्षर-सञ्ज्ञा का प्रयोजन—"यकार से प्रारम्भ होने वाला 'अक्षर' परे हो तो (अकार का 'अभिनिधान' हो जाता है)।"

(गुरुसंज्ञा)

गुरूणि दीर्घाणि ॥२०॥

(गुरुसंज्ञा)

सू० अ०—'दीर्घ' ('स्वर') 'गुरु' हैं।

उ० भा०—यानि दीर्घाणि अक्षराणि तानि; (गुरूणि=) गुरुसञ्ज्ञकानि, वेदितव्यानि। प्लुतस्याप्यत्र ग्रहणं द्रष्टव्यम्; यो हि द्विमात्रं गुरु कल्पयति कल्पयत्येवासौ त्रिमात्रमपीति। यथा—आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई३ इति। गुरुसञ्ज्ञायाः प्रयोजनम्—"गुर्वक्षराणां गुरुवृत्ति"[1] इति।

टि० (क) भाष्यकार ने 'उभय'-शब्द के द्वारा प्रकृत 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्णों) का अन्तर्भाव न करके जो व्यवहित लृकार और 'प्लुत' ईकार का अन्तर्भाव किया है वह अस्वाभाविक है। भाष्यकार ने खींचातानी करके जो अर्थ इस सूत्र का किया है वह सूत्रकार को अभीष्ट नही था। सूत्रकार ने १३।३५ और १।३० मे क्रमश लृकार और 'प्लुत' ईकार के स्वरत्व का जो विधान किया है उससे उनका अक्षरत्व भी सूचित हो जाता है। इसके अतिरिक्त १८।३२ में सूत्रकार ने स्वयं ही स्पष्ट शब्दों में सभी 'स्वर'-वर्णों की 'अक्षर' सञ्ज्ञा का विधान किया है।

[1] १८।६०

उ० भा० अ०—जो, दीर्घाणि='दीर्घ' 'अक्षर' हैं उन्हें, (गुरूणि=) गुरु-सञ्ज्ञक, जानना चाहिये। 'प्लुत' ('स्वर'-वर्ण) का भी यहाँ ग्रहण समझना चाहिये, क्योंकि जो दो मात्राओं वाले ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण) को 'गुरु' मानता है वह तीन मात्राओं वाले ('प्लुत' 'स्वर'-वर्ण) को भी (नि सन्देह 'गुरु') मानता है। जैसे—आ, ॠ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई३। गुरुसञ्ज्ञा का प्रयोजन—"जो स्वभाव से गुरु है वह गुरु अक्षरों से (सम्बद्ध है)।"

तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि ॥२१॥

सू० अ०—उसी प्रकार दूसरों (अर्थात् 'ह्रस्व' स्वरों) में जो 'संयोग'-पर ('संयोग' है परे जिनके) और 'अनुस्वार'-पर ('अनुस्वार' है परे जिनके) हैं (वे भी 'गुरु'-संज्ञक हैं)।

उ० भा०—यथा दीर्घाणि गुरुसञ्ज्ञकानि तथा; इतरेषाम्=ह्रस्वानामक्षराणाम्, (यानि स्वरानुस्वारपराणि=) यानि संयोगपराणि यानि चानुस्वारपराणि, तानि गुरुसञ्ज्ञकानि भवन्ति। संयोगपराणि—"प्रप्र वस्त्रिष्टुभम्"[1] इति। अनुस्वारपराणि—"वसुं सूनुं सहसो जातवेदसम्"[2] इति; "त्वं सोमासि सत्पतिः।"[3] पारिशेष्यादन्यानि लघुसञ्ज्ञकानि "संहितायां लघोर्लघु"[4] इति सव्यवहारदर्शनाच्च। "ऋषभं मा समानानाम्"[5] इत्युदाहरणम् ॥

उ० भा० अ०—जिस प्रकार 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) 'गुरु'-सञ्ज्ञक हैं; तथा=उसी प्रकार, इतरेषाम्=ह्रस्व स्वरों में, (यानि संयोगानुस्वारपराणि=) जो 'संयोग'-पर और 'अनुस्वार'-पर हैं, वे 'गुरु'-सञ्ज्ञक हैं (अर्थात् वे 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण भी 'गुरु'-सञ्ज्ञक होते हैं, जिनके परे संयुक्त 'व्यञ्जन' हो या 'अनुस्वार' हो)। 'संयोग'-पर (का उदाहरण)—"प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषम्।" 'अनुस्वार'-पर (का उदाहरण)—"वसुं सूनुं सहसो जातवेदसम्"; "त्वं सोमासि सत्पति।" शेष होने से और "संहिता में 'लघु' ('अक्षर') से परे 'लघु' ('अक्षर') हो तो (अकार का 'अभिनिधान' हो जाता है)" (इस सूत्र में) व्यवहार दिखलाई पड़ने से ('गुरु'-सञ्ज्ञक अक्षरों से) अन्य ('अक्षर') 'लघु'-सञ्ज्ञक हैं। "ऋषभं मा समानानाम्"—यह उदाहरण है।

(अनुस्वारव्यञ्जनयोरङ्गत्वविचारः)

अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम् ॥२२॥

(अनुस्वार और व्यञ्जन के पूर्वाङ्ग तथा पराङ्ग होने का विचार)

सू० अ०—'अनुस्वार' और 'व्यञ्जन' 'अक्षर' ('स्वर'-वर्ण) का 'अङ्ग' (होते हैं)।

उ० भा०—एवम्—"अष्टौ समानाक्षराणि"[6] इत्यादिना वर्णसमाम्नायमनुक्रम्य ततः—"सर्वः शेषो व्यञ्जनानि"[7] इत्यादिना व्यञ्जनगताः सञ्ज्ञाः कृत्वा अनन्तरम्—"ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ता स्वराणाम्"[8] इत्यादिनाक्षरगताः सञ्ज्ञाः कृत्वा अधुनाक्षरव्यञ्जनसंनिकर्षे किं

---

[1] ऋ० ८।६९।१ [2] ऋ० १।१२७।१ [3] ऋ० १।९१।५
[4] २।३५ [5] ऋ० १०।१६६।१ [6] १।१
[7] १।६ [8] १।१७

कस्याङ्गमित्येतन्निरूपणायाह—अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्, स्वराङ्गमित्यर्थः। अत्र यानि स्वरमध्यगतानि व्यञ्जनानि न भवन्ति तान्युदाहरणम्। यथा, प्र—पकाररेफावकारस्याङ्गम्; "वर्क्"[१]—वकाररेफककारा अकारस्याङ्गम्; "चक्र यत्"[२]—ककाररेफानुस्वारा अकारस्याङ्गम्। अव्यञ्जनत्वादनुस्वारस्य ग्रहणम्। अङ्गसंज्ञायाः प्रयोजनम् -यानि यस्य स्वरस्याङ्गभूतानि व्यञ्जनानि तानि तेनैव स्वरेण समानस्वराणि भवन्ति। तथा चोक्तम्—

"स्वरः उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधान त्रैस्वर्यं व्यञ्जन तेन सस्वरम्॥"[३]

उ० भा० अ०—इस प्रकार—"(वर्णमाला के आदि में) आठ ('अक्षर') 'समानाक्षर' है" इत्यादि के द्वारा वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) का प्रतिपादन करके तत्पश्चात्—"शेष सब (वर्ण) 'व्यञ्जन' है" इत्यादि के द्वारा 'व्यञ्जन'-विषयक 'स्पर्श' आदि संज्ञाओ को करके (उसके) बाद—" 'स्वर' (-वर्णों) में सप्तमपर्यन्त नियम ('स्वर'-वर्ण) 'ह्रस्व'(-संज्ञक) है" इत्यादि के द्वारा 'अक्षर'-विषयक ('ह्रस्व' आदि) संज्ञाओ को करके अब—'अक्षर' ('स्वर'-वर्ण) और 'व्यञ्जन' का मेल (सनिकर्ष) होने पर कौन किसका 'अङ्ग' होता है—इसका निरूपण करने के लिये कहते है—अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्—'अनुस्वार' और 'व्यञ्जन' 'अक्षर' के 'अङ्ग'[क] (होते है) अर्थात् 'स्वर' (-वर्ण) के 'अङ्ग' (होते है)। जो 'व्यञ्जन' (दो) 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य मे विद्यमान नही है, वे यहाँ (अर्थात् इस सूत्र के) उदाहरण है। जैसे, 'प्र'—पकार और रेफ अकार के 'अङ्ग' है; 'वर्क्'—वकार, रेफ और ककार अकार के 'अङ्ग' है; "चक्र यत्" —ककार, रेफ और 'अनुस्वार' अकार के 'अङ्ग' है। 'अनुस्वार' 'व्यञ्जन' नही है —इसलिये 'अनुस्वार' का (सूत्र में) (पृथक्) ग्रहण (किया गया है)। 'अङ्ग'-संज्ञा का प्रयोजन—जो 'व्यञ्जन' जिस 'स्वर' (-वर्ण) के 'अङ्ग' होते है वे ('व्यञ्जन')

टि० (क) प्रातिशाख्य-ग्रन्थो में 'अक्षर' को भाषा की मूल इकाई माना गया है। तै० प्रा० १।२ पर 'वैदिकाभरण' भाष्य में 'अक्षर' की यह परिभाषा दी गई है—"न क्षरन्तीत्यक्षराणि क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्।" इस परिभाषा के अनुसार 'अक्षर' वह है जो अन्य का 'अङ्ग' न बने। 'स्वर'-वर्ण को ही 'अक्षर' माना गया है, 'व्यञ्जन'-वर्ण को नही, क्योकि (१) 'स्वर'-वर्ण निरपेक्ष होता है—वह किसी अन्य की सहायता के बिना उच्चरित होता है। 'व्यञ्जन' सापेक्ष होता है—वह 'स्वर'-वर्ण की सहायता के बिना उच्चरित नही हो सकता, (२) जिस प्रकार दुग्ध और जल के मिश्रण होने पर दुग्ध ही परिलक्षित होता है, उसी प्रकार 'स्वर'-वर्ण और 'व्यञ्जन'-वर्ण का सनिकर्ष होने पर 'स्वर'-वर्ण ही परिलक्षित होता है, 'व्यञ्जन'-वर्ण नही। (३) 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित' ('स्वर') 'स्वर'-वर्ण के ही गुण होते है, 'व्यञ्जन'-वर्ण के नही।

'अक्षर' न होने के कारण 'व्यञ्जन' और 'अनुस्वार' इन दोनो को 'स्वर'-वर्ण ('अक्षर') का 'अङ्ग' बनना पड़ता है। सभी प्रातिशाख्यो ने अक्षर-विभाजन के नियमो को प्रतिपादित किया है। यही 'अङ्ग'-संज्ञा है।

[१] ऋ० १।६३।७ [२] ऋ० १०।७३।९ [३] या० शि० ११८

उसी 'स्वर' (-वर्ण) के समान 'स्वर' (accent) वाले हो जाते हैं (अर्थात् यदि 'स्वर' (-वर्ण) 'उदात्त' है तो उसका अङ्गभूत 'व्यञ्जन' भी 'उदात्त' होगा, इत्यादि)। वैसा कहा भी है—

"'स्वर' (-वर्ण) 'उदात्त' (उच्च) (होता है), 'स्वर' (-वर्ण) 'अनुदात्त' (नीच) (होता है) और 'स्वर' (-वर्ण) 'स्वरित' भी (होता है)। तीनों (अर्थात् 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित') 'स्वर' (accent) 'स्वर'-प्रधान हैं (अर्थात् 'स्वर'-सञ्ज्ञक वर्ण पर आश्रित हैं)। 'व्यञ्जन' (जिस 'स्वर'-वर्ण का 'अङ्ग' होता है) उस ('स्वर'-वर्ण) के समान 'स्वर' वाला हो जाता है।

स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य ॥२३॥

सू० अ०—(दो) 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में (वर्तमान) 'व्यञ्जन' बाद वाले ('स्वर'-वर्ण) के ('अङ्ग' होते हैं)।

उ० भा०—एवं तावद्यत्रैकः स्वरस्तत्र पूर्वाणि पराणि च व्यञ्जनानि तस्यैवाङ्ग भवन्ति। अथ पुनर्यानि स्वरयोर्मध्यगतानि तानि किं पूर्वस्य उत उत्तरस्याङ्गमित्यस्मिन्सन्देहे त्विदमारभ्यते। (स्वरान्तरे=)स्वरयोरन्तरे, यानि व्यञ्जनानि तानि उत्तरस्य एवाङ्ग भवन्ति, न पूर्वस्य। यथा, अ॒यम्—इत्यय-शब्दस्यान्तोदात्तत्वाद्यकार उदात्तवच्छ्रूयते। तथा—"अ॒यं दे॒वाय॒ जन्म॑ने"[1]—इत्यत्रैकारस्यानुदात्तत्वाद्दकारोऽनुदात्तवच्छ्रूयते। यथा—"गाय॑न्ति त्वा"[2] इत्यकारस्य स्वरितत्वाद्यकारः स्वरितवच्छ्रूयते॥

उ० भा० अ०—इस प्रकार जहाँ (जिस पद में) एक 'स्वर' (-वर्ण) हो वहाँ पूर्ववर्ती और परवर्ती 'व्यञ्जन' उसी ('स्वर'-वर्ण) के 'अङ्ग' होते हैं। किन्तु इसके विपरीत जो 'व्यञ्जन' दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में होते हैं वे ('व्यञ्जन') क्या पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) के ('अङ्ग' होंगे) अथवा परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) के 'अङ्ग' (होंगे)?—यह संदेह होने पर तो यह (सूत्र) आरम्भ करते हैं। दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में जो 'व्यञ्जन' (होते हैं) वे ('व्यञ्जन') परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) के ही अङ्ग होते हैं, पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) के नहीं। जैसे, अ॒यम्—यहाँ 'अयम्' शब्द के 'अन्तोदात्त' होने से यकार 'उदात्त' के समान सुना जाता है। वैसे ही—"अ॒यं दे॒वाय॒ जन्म॑ने"—यहाँ पर ('दे' के) एकार के 'अनुदात्त' होने से दकार 'अनुदात्त' के समान सुना जाता है। जैसे—"गाय॑न्ति त्वा" में अकार के 'स्वरित' होने से यकार 'स्वरित' के समान सुना जाता है।

पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ ॥२४॥

सू० अ०—'अनुस्वार' और 'विसर्जनीय' पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) के ('अङ्ग' होते हैं)।

उ० भा०—"स्वरान्तरे" इति वर्तते। अनुस्वारविसर्जनीयौ स्वरान्तरे वर्तमानौ पूर्वस्वरस्याङ्ग भवतः। यथानुस्वारस्योदाहरणं भवति—"व॒सुं सू॒नुं सह॑सः।"[3] विसर्जनीयस्य—"नॄः पात्रम्"[4] इति; "नॄः प्रणेत्रम्"[5] इत्येवमादि॥

---

[1] ऋ० १।२०।१ [2] ऋ० १।१०।१ [3] ऋ० १।१२७।१
[4] ऋ० १।१२१।१ [5] तै० ब्रा० ३।६।२।१

उ० भा० अ०—(२।२३ से) "स्वरान्तरे" की अनुवृत्ति हो रही है। 'अनुस्वार' और 'विसर्जनीय' दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में होने पर पूर्ववर्ती 'स्वर' (-वर्ण) के 'अङ्ग' होते हैं। जैसे, (यह) 'अनुस्वार' का उदाहरण है—"वसुं सूनुं सहसः।" 'विसर्जनीय' का (उदाहरण)—"नृः पात्रम्"; "नृः प्रणेत्रम्" इत्यादि[क]।

संयोगादिर्वा ॥२५॥

सू० अ०—'संयोग' का प्रथम (वर्ण) (दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य में होने पर) विकल्प से (पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण का अथवा परवर्ती 'स्वर'-वर्ण का 'अङ्ग' होता है)।

उ० भा०—संयोगस्यादिभूतो वर्णः स्वरान्तरे वर्तमानः पूर्वस्य वा स्वरस्याङ्गं भवति परस्य वा। यथा—"आ त्वा रथम्"[1] इति द्वौ तकारौ वकारश्च संयोगः। तत्र क्रमजः प्रथमस्तकारः पूर्वस्याङ्गं तस्य चोदात्तत्वादुदात्तवच्छ्रूयते। द्वितीयः संयोगादिः पूर्वस्य वोदात्तस्य स्वरस्याङ्गमुत्तरस्य वानुदात्तस्वरस्याङ्गमुदात्तानुदात्तवच्छ्रूयत इत्यर्थः। वकारो द्वितीयस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चानुदात्तत्वादनुदात्तवच्छ्रूयते।

तथा—"अग्निमीळे"[2] इति द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः। तत्र प्रथमो गकारः क्रमजः पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चानुदात्तत्वादनुदात्तवच्छ्रूयते। द्वितीयो गकारः संयोगादिः स यमीभूतः पूर्वस्य वा स्वरस्याङ्गं परस्य वोदात्तसंज्ञितस्योदात्तानुदात्तवच्छ्रूयते। नकारो द्वितीयस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चोदात्तत्वादुदात्तवच्छ्रूयते॥

उ० भा० अ०—'सयोग' का प्रथम वर्ण दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में होने पर या तो पूर्व 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' होता है- या परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) का ('अङ्ग' होता है)। जैसे—"आ त्वा रथम्" यहाँ दो तकारो और वकार का 'संयोग' है। उनमें द्वित्व ('क्रम') से उत्पन्न प्रथम तकार पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) का 'अङ्ग' है और उस (पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण) के 'उदात्त' होने से (प्रथम तकार) 'उदात्त' के समान सुना जाता है। 'संयोग' का प्रथम (वर्ण)=द्वितीय (तकार) या तो पूर्ववर्ती 'उदात्त' 'स्वर'(-वर्ण) का 'अङ्ग' (होता है) या परवर्ती 'अनुदात्त' 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' (होता है); उदात्तानुदात्तवत् सुना जाता है—यह अर्थ है (अर्थात् या तो 'उदात्त' के समान सुना जाता है या 'अनुदात्त' के समान)। वकार द्वितीय 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' है और उस (द्वितीय 'स्वर'-वर्ण) के 'अनुदात्त' होने से (वकार) 'अनुदात्त' के समान सुना जाता है।

टि० (क) इस सूत्र में "स्वरान्तरे" की अनुवृत्ति आवश्यक है क्योंकि दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य में न आने वाले 'अनुस्वार' और 'विसर्जनीय' तो १।२२ से ही पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' हो जाते हैं। किन्तु यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि 'अनुस्वार' और 'विसर्जनीय' के तुरन्त बाद में ही 'स्वर'-वर्ण हो। 'अनुस्वार' या 'विसर्जनीय' तथा परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के मध्य में एक या अनेक 'व्यञ्जन'-वर्णों का व्यवधान भी हो तो कोई हानि नहीं है जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।

[1] ऋ० ८।६८।१ [2] ऋ० १।१।१

उसी प्रकार—"अ॒ग्निमी॑ळे" में दो गकारो और नकार का 'सयोग' है। उनमें द्वित्व ('क्रम') से उत्पन्न प्रथम गकार पूर्व 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' है और उस (पूर्व 'स्वर'-वर्ण) के 'अनुदात्त' होने से (प्रथम गकार) 'अनुदात्त' के समान सुना जाता है। 'सयोग' का प्रथम (वर्ण) = द्वितीय गकार 'यम'[क] होकर या तो पूर्ववर्ती ('अनुदात्त') 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' (होता है) या परवर्ती 'उदात्त' नामक ('स्वर'-वर्ण) का ('अङ्ग' होता है), (जिससे वह) 'उदात्त' (अथवा) 'अनुदात्त' के समान सुना जाता है। नकार द्वितीय 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' है और उस (द्वितीय 'स्वर'-वर्ण) के 'उदात्त' होने से (वह नकार) 'उदात्त' के समान सुना जाता है।[ख]

च परक्रमे द्वे ॥२६॥

सू० अ०—और (जब 'संयोग' के) दूसरे ('व्यञ्जन') का द्वित्व ('क्रम') हो तो दो ('व्यञ्जन') (या तो पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' होते हैं या परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' होते हैं)।

उ० भा०—चकारो भिन्नक्रमः समुच्चयार्थीयः। परस्य च व्यञ्जनस्य यत्र, क्रमः= क्रान्ति = द्विरुक्तिः; तत्र द्वे व्यञ्जने वा पूर्वस्वरस्याङ्गमुत्तरस्य वा। यथा—"आर्त्नी इमे"[1] इति रेफो द्वौ तकारौ नकारश्च सयोगः। तत्र—"स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्गम्"[2] इति स्वरभक्तिसहितो रेफः पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चोदात्तत्वादुदात्तवच्छ्रूयते। क्रमजस्तकारः संयोगादिश्च यमीभूतः पूर्वस्य वा स्वरस्याङ्गमुत्तरस्य वा। नकारस्तूत्तरस्य स्वरस्याङ्गं तस्य च स्वरितत्व˜त्स्वरितवच्छ्रूयते।

तथा—"पार्ष्ण्यां॑ वा"[3] इति रेफः षकारौ द्वौ णकारौ यकारश्च सयोगः। तत्र रेफः स्वरभक्त्या सहितः पूर्वस्वरस्याङ्ग तस्य चोदात्तत्वादुदात्तवच्छ्रूयते। षकारौ पूर्वस्य वा स्वरस्याङ्गमुत्तरस्य वा। संयोगादिर्णकारो यकारश्चोत्तरस्य स्वरस्याङ्गं तस्य स्वरितत्वात्स्वरितवच्छ्रूयेते॥

उ० भा० अ०—चकार समुच्चय अर्थ में है और भिन्न क्रम में है (अर्थात् सूत्र के पदो का क्रम यह है—परक्रमे च द्वे)। (परक्रमे =) जहाँ ('सयोग' के) दूसरे 'व्यञ्जन' का क्रम = क्रान्ति = दो बार उच्चारण (द्विरुक्ति) (होता है), वहाँ दो 'व्यञ्जन' या तो

टि० (क) 'यम' के लिये पृ० ५१ तथा ६।२९ को देखिये।

(ख) "आ त्वा" और "अग्निमीळे" में जो दो तकार और दो गकार है उनमें द्वितीय तकार और द्वितीय गकार सयोग' के आदि वर्ण है। प्रथम तकार और प्रथम गकार तो ६।१ के अनुसार द्वित्व होने के परिणामस्वरूप आते है, इसलिये इन्हें 'क्रमज' कहा गया है। 'क्रम' के लिये पष्ठ पटल को देखिये। शाकल-सहिता की मुद्रित पुस्तको में तो इन स्थलो पर द्वित्व दिखलाया ही नही गया है क्योंकि शाकल-सहिता में पष्ठ पटल में विहित 'क्रम' सर्वत्र नही माना गया है।

---

[1] ऋ० ६।७५।४ [2] १।३२ [3] ऋ० १।१६२।१७

पूर्ववर्ती 'स्वर'(-वर्ण) के 'अङ्ग' (होते हैं) या परवर्ती ('स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' होते हैं)। जैसे—"आर्त्त्नी इमे" में रेफ, दो तकारों और नकार का 'संयोग' है। उनमें से " 'स्वरभक्ति' पूर्ववर्ती (रेफ या लकार) से सम्बद्ध (होती है) और (पूर्ववर्ती) 'अक्षर' ('स्वर'-वर्ण) का 'अङ्ग' (होती है)"—(इस सूत्र से) 'स्वरभक्ति'[क] सहित रेफ पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण ('आ')का 'अङ्ग' है और उस (पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण) के 'उदात्त' होने से ('स्वरभक्ति' सहित रेफ भी) 'उदात्त' के समान सुना जाता है। द्वित्व ('क्रम') से उत्पन्न तकार और 'संयोग' का प्रथम (तकार) 'यम' होकर या तो पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण ('आ') के 'अङ्ग' (होते हैं) या परवर्ती ('स्वर'-वर्ण'ई')के('अङ्ग'होते हैं)। नकार तो परवर्ती 'स्वर'-वर्ण('ई')का ही 'अङ्ग' है और उस (परवर्ती 'स्वर'-वर्ण) के 'स्वरित' होने से (नकार) 'स्वरित' के समान सुना जाता है।

उसी प्रकार—"पार्ष्ण्यां वा" में रेफ, दो षकारों, णकार और यकार का 'संयोग' है। उनमें से रेफ 'स्वरभक्ति' के सहित पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण का 'अङ्ग' है और उस (पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण) के 'उदात्त' होने से 'उदात्त' के समान सुना जाता है। दो षकार या तो पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' है या परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' हैं। 'संयोग' का आदि णकार और यकार परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' हैं (और) उसके 'स्वरित' होने से 'स्वरित' के समान सुने जाते हैं।

(ह्रस्वस्वरस्य उच्चारणकालः)

मात्रा ह्रस्वः ॥२७॥

(ह्रस्व स्वर का उच्चारण-काल)

सू० अ०—'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) एक मात्रा (काल वाला होता है)।

उ० भा०—**ह्रस्वस्वरो मात्राकालो वेदितव्यः। यथा—अ, ऋ, इ, उ, लृ इति॥**

उ० भा० अ०—'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण को एक मात्रा[ख] काल वाला जानना चाहिये (अर्थात् 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है)। जैसे—अ, ऋ, इ, उ, लृ।

टि० (क) यदि रेफ के पूर्व में 'स्वर'-वर्ण हो और बाद में 'व्यञ्जन'-वर्ण हो तो रेफ और परवर्ती 'व्यञ्जन'-वर्ण के मध्य में एक अति 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण का उच्चारण किया जाता है जिसे 'स्वरभक्ति' कहते हैं। जैसे, 'बर्हि' पद में रेफ के पूर्व में 'स्वर'-वर्ण (अकार) है और बाद में 'व्यञ्जन'-वर्ण हकार है। यहाँ पर रेफ और हकार के मध्य में एक ऋवर्णात्मक अति 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण का उच्चारण किया जाता है। इस अति 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण (='स्वरभक्ति') का उच्चारण तो किया जाता है किंतु मुद्रित ग्रन्थों में इसे दिखलाया नहीं जाता है। 'स्वरभक्ति' के लिए षष्ठ पटल को देखिए।

(ख) एक मात्रा से काल के उतने अंश को समझना चाहिये जितना चुटकी बजाने में अथवा पलक गिरने में लगता है। एक 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण के उच्चारण में उतना काल लगता है।

(अवग्रहस्य उच्चारणकालः)

तावदवग्रहान्तरम् ॥२८॥

(अवग्रह का उच्चारण-काल)

सू० अ०—'अवग्रह' का उतना (एक मात्रा) ही काल होता है।

उ० भा०—अवग्रहः=नानाग्रहः। समासवर्तिनोः पदयोः पृथक्करणं मात्राकालं भवतीत्यर्थः। "पुरःऽहितम्। रत्नऽधातमम्।"[1]

उ० भा० अ०—अवग्रह =पृथक् रूप से ग्रहण करना। समास में वर्तमान (पदों) का पृथक्करण एक मात्रा काल वाला होता है—यह अर्थ है।[क] (जैसे) "पुरःऽहितम्। रत्नऽधातमम्।"

(दीर्घस्वरस्य उच्चारणकालः)

द्वे दीर्घः ॥२९॥

(दीर्घ स्वर का उच्चारण-काल)

सू० अ०—'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) दो (मात्रा काल वाला होता है)।

उ० भा०—द्विमात्राकालो दीर्घस्वरो वेदितव्यः। यथा—आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ इति ॥

उ० भा० अ०—'दीर्घ' 'स्वर' को दो मात्रा काल वाला जानना चाहिये (अर्थात् 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण के उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है)। जैसे—आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ।

(प्लुतस्य स्वरसंज्ञा उच्चारणकालश्च)

तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः ॥३०॥

(प्लुत की स्वरसंज्ञा और उच्चारण-काल)

सू० अ०—'प्लुत' 'स्वर'-वर्ण तीन (मात्रा) वाला कहा जाता है।

उ० भा०—स्वरसंज्ञा प्लुतस्यानेन विधीयते। स च तिस्रो मात्रा भवति ॥

उ० भा० अ०—इस (सूत्र) से 'प्लुत' की 'स्वर'-संज्ञा का विधान किया गया है और वह ('प्लुत') तीन मात्रा (काल वाला) होता है (अर्थात् 'प्लुत' 'स्वर'-वर्ण के उच्चारण में तीन मात्रा का समय लगता है)।

टि० (क) पद-पाठ में समासों के घटक पदों को और कुछ अन्य पदों में प्रकृति और प्रत्यय को इस प्रकार ऽ के चिह्न से पृथक् किया जाता है। इस प्रकार पृथक् किए गए पूर्व-पद्य के उच्चारण और उत्तर-पद्य के उच्चारण के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है। इस पृथक्करण को ही 'अवग्रह' कहते हैं; गौण रूप से इस ऽ चिह्न को भी 'अवग्रह' कहते हैं।

---

[1] ऋ० प० १।१।१

(प्लुतोदाहरणानि)

अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३-
दर्थे प्लुतिर्भीरिव विन्दती३ त्रिः ॥३०॥

(प्लुत के उदाहरण)

सू० अ०—(वाक्य में) अर्थ (की समाप्ति) होने पर 'प्लुति' (होती है) (और वह सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल) तीन बार (इन स्थलों पर आती है)—"अधः स्विदासी३त्"; "उपरि स्विदासी३त्"; "भीरिव विन्दती३।"

उ० भा० तिस्रो मात्राः प्लुतस्वरो भवतीति प्रतिज्ञाय अधुनोदाहरणैस्तानेव प्लुतान्दर्शयितुमाह। "अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।"[1] "न त्वा भीरिव विन्दती३।"[2] एतेषूदाहरणेषु; अर्थे प्लुतिः=अर्थसमाप्तौ प्लुतिः=आख्यातस्यान्ते स्वरे प्लुतिरित्यर्थः। उदाहरणैरेव त्रित्वस्य सिद्धत्वाद्यत् त्रिः-ग्रहण करोति तद्विषयापेक्षयैव। सप्रैषसंहितायां चतुःषष्ट्यां त्रिरेव प्लुतो भवति। अधउपरिशब्दौ विशेषणत्वेनोपादीयेते—"किं स्विदासीदधिष्ठानम्"[3] इत्यत्र प्लुतिर्मा भूदिति। भीरिवग्रहणं च विशेषणग्रहणार्थम्—"भयं विन्दति मामिह"[4] इत्येवमादिनिवृत्त्यर्थम्॥

उ० भा० अ०—'प्लुत' 'स्वर'-वर्ण की तीन मात्रायें होती हैं—यह प्रतिज्ञा करके अब उदाहरणों के द्वारा उन्हीं प्लुतों को दिखलाने के लिये (सूत्रकार ने यह सूत्र) कहा है। (उदाहरण) "अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।" "न त्वा भीरिव विन्दती३।" इन उदाहरणों में, अर्थे प्लुतिः=अर्थ की समाप्ति होने पर 'प्लुति' है=आख्यात के अन्तिम 'स्वर'-वर्ण पर 'प्लुति' है—यह अर्थ है। उदाहरणों के द्वारा ही ('प्लुत' के) तीन होने की बात सिद्ध होने पर (भी) जो, त्रिः='त्रि.' शब्द; का ग्रहण (सूत्रकार) करते हैं वह विषय की अपेक्षा से ही (करते हैं अर्थात् वह ग्रहण साभिप्राय है)—६४ अध्यायों से समन्वित प्रैषसहित (ऋग्वेद) संहिता में तीन ही 'प्लुत' हैं। 'अधः' और 'उपरि' शब्दों का (सूत्र में) विशेषण के रूप में ग्रहण किया गया है (जिससे कि)—"किं स्विदासीदधिष्ठानम्" में 'प्लुति' न हो जावे।[क] "भय विदन्ति मामिह" इत्यादि में ('प्लुति' की) निवृत्ति के लिये (सूत्र में) 'भीरिव' का ग्रहण विशेषण के लिये किया गया है।[ख]

(स्वरभक्तेः पूर्वभाक्त्वं पूर्वाक्षराङ्गत्वञ्च)

स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्गम् ॥३२॥

टि० (क) इस उदाहरण में 'स्विदासीत्' के पूर्व में 'अध.' या 'उपरि' शब्द नहीं हैं, अतः यहाँ 'प्लुति' नहीं हुई।

(ख) पूर्व में 'भीरिव' न होने से 'विन्दति' में 'प्लुति' नहीं हुई।

---

[1] ऋ० १०।१२९।५
[2] ऋ० १०।८१।२
[3] ऋ० १०।१४६।१
[4] ऋ० ९।६७।२१

सू० अ०—'स्वरभक्ति' पूर्ववर्ती (रेफ या लकार) से सम्बद्ध होती है और (पूर्ववर्ती) 'अक्षर' ('स्वर'-वर्ण) का 'अङ्ग' (होती है)।

उ० भा०—"ऋकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा"[1] इति वक्ष्यति। सा स्वरभक्तिः; (पूर्वभाक्=) पूर्वं रेफं लकारं वा भजते। रेफादुत्तरा रेफसदृशी भवति, लकारादुत्तरा लकारसदृशी भवति। (अक्षराङ्गम्=) स्वराङ्गम्; च भवति; रेफाद्वा लकाराद्वा यस्माद्व्यञ्जनादुत्तरा भवति तत्सहिता सा पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं भवतीत्यर्थः। यथा –"प्रत्यु अदर्शि"[2]; "आर्ष्टिषेणः।"[3] "वनस्पते शतवल्शः"[4], "नारायासो न जल्हवः।"[5] अन्वर्थसंज्ञा चेयम्। स्वरभक्तिः स्वरप्रकार इत्यर्थः॥

उ० भा० अ०—"('स्वर'-वर्ण पूर्व में हो और 'व्यञ्जन'-वर्ण बाद में हो तो रेफ से) बाद में ऋवर्णात्मिक 'स्वरभक्ति'[क] (उत्पन्न होती है)" यह (सूत्रकार आगे) बतलायेंगे। वह 'स्वरभक्ति'; (पूर्वभाक्=) पूर्ववर्ती रेफ या लकार से सम्बद्ध होती है। रेफ से बाद वाली रेफ के 'सदृश' होती है, लकार से बाद वाली लकार के सदृश होती है। (अक्षराङ्गम्=) और (पूर्ववर्ती) 'स्वर'-वर्ण का 'अङ्ग' होती है, रेफ या लकार जिस 'व्यञ्जन' से बाद में होती है, उस ('व्यञ्जन') के सहित वह पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण का 'अङ्ग' होती है—यह अर्थ है। जैसे—"प्रत्यु अदर्शि", "आर्ष्टिषेण।"[ख] "वनस्पते शतवल्श"; "नारायसो न जल्हव।"[ग] और यह संज्ञा अर्थानुसारिणी है। 'स्वरभक्ति' 'स्वर' का प्रकार है—यह अर्थ है।

(दीर्घस्वरभक्तेः कालः)

द्राघीयसी सार्धमात्रा ॥३२॥

सू० अ०—दीर्घतरा (हो तो) वह ('स्वरभक्ति') आधी मात्रा (काल) वाली (होती है)।

उ० भा०—तत्र या; (द्राघीयसी=) दीर्घतरा; स्वरभक्तिः सा; (अर्धमात्रा=) अर्धमात्राकाला; भवति। यथा—"प्रत्यु अदर्शि"[1] "कर्हि"[7] "वनस्पते शतवल्शः॥"[8]

उ० भा० अ०—जो; (द्राघीयसी=) दीर्घतरा; 'स्वरभक्ति' (होती है); सा=

टि० (क) 'स्वरभक्ति' के लिए पृष्ठ ६५ तथा षष्ठ पटल को देखिए।
(ख) इन दोनो उदाहरणो में 'स्वरभक्ति' रेफ के सदृश है और रेफ के सहित वह पूर्ववर्ती 'स्वर' (क्रमशः अकार और आकार) का 'अङ्ग' है।
(ग) इन दोनो उदाहरणों में 'स्वरभक्ति' लकार के सदृश है और लकार के सहित वह पूर्ववर्ती 'स्वर' (अकार) का 'अङ्ग' है।

---

[1] ६।४६ [2] ऋ० ७।८१।१ [3] ऋ० १०।९८।५
[4] ऋ० ३।८।११ [5] ऋ० ८।६१।११ [6] ऋ० ७।८१।१
[7] ऋ० ५।७४।१० [8] ऋ० ३।८।११

वह; (अर्धमात्रा=) आधी मात्रा काल वाली; होती है। जैसे—"प्रत्यु अदर्शि"; "र्काहि" "वनस्पते शतवल्श. ।"[क]

(व्यञ्जनानां कालः)

इतरे च ॥३४॥

सू० अ०—अन्य (अर्थात् 'व्यञ्जन') भी (आधी मात्रा काल वाले होते हैं)।

उ० भा०—उक्तकालेभ्य. (इतरे च=) येऽन्ये वर्णास्तेऽर्धमात्राकाला भवन्ति। कादीनि व्यञ्जनान्युदाहरणम् ॥

उ० भा० अ०—जिन (वर्णों) का काल बतला चुके हैं उनसे (इतरे च=) अन्य जो वर्ण हैं वे भी आधी मात्रा काल वाले होते हैं। 'क' आदि 'व्यञ्जन'-वर्ण उदाहरण हैं।

(ह्रस्वस्वरभक्तेः कालः)

अर्धोनान्या ॥३५॥

सू० अ०—अन्य (अर्थात् ह्रस्व 'स्वरभक्ति') आधे से कम (अर्थात् चौथाई मात्रा काल वाली होती है)।

उ० भा०—द्राघीयस्याः स्वरभक्तेर्या अन्या स्वरभक्ति. सा; अर्धोना भवति=पादमात्रा भवतीत्यर्थः। यथा—"आर्ष्णिषेणः"[१]; "वर्ष्यान् ॥"[२]

उ० भा० अ०—दीर्घतरा 'स्वरभक्ति' से जो, अन्या=दूसरी 'स्वरभक्ति' है वह, (अर्धोना=) आधे से कम (मात्रा वाली) होती है=चौथाई (पाद) मात्रा (काल वाली) होती है—यह अर्थ है। जैसे—"आर्ष्णिषेण"; "वर्ष्यान् ।"

(रक्तसंज्ञा)

रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः ॥३६॥

(रक्तसंज्ञा)

सू० अ०—'अनुनासिक' (वर्ण) 'रक्त'-संज्ञक है।

उ० भा०—अनुनासिक; (रक्तसंज्ञः=) रक्त उच्यते। यस्य वर्णस्यानुनासिकसंज्ञा विहिता तस्यानेन रक्तसंज्ञा विधीयते। यथा—"अनुनासिकोऽन्त्य"[३]—ङञणनमाः। "पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिक स्वरः।"[४] "महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्राः"[५]; "यन्नीक्षणं माँस्पचन्या उखायाः।"[६] रक्तसंज्ञाया प्रयोजनम्—"रक्तं ह्रस्व द्राघयन्त्युग्रं ओकः"[७]; "रक्तं रागः समवाये स्वराणाम्"[८] इति ॥

टि० (क) 'स्वरभक्ति' दो प्रकार की होती है—दीर्घ और ह्रस्व। यदि एक ही 'ऊष्म'-वर्ण परे हो तो 'स्वरभक्ति' दीर्घ होती है और यदि द्वित्व-प्राप्त 'ऊष्म'-वर्ण परे हो तो 'स्वरभक्ति' ह्रस्व होती है। दे० ६।४८-४९।

---

[१] ऋ० १०।९८।५ [२] ऋ० ५।८३।३ [३] १।१४ [४] ४।८०
[५] ऋ० ६।१९।१ [६] ऋ० १।१६२।१३ [७] १४।५१ [८] १४।५६।

उ० भा० अ० अनुनासिक:=‘अनुनासिक’ वर्ण, (रक्तसंज्ञ:=) ‘रक्त’ कहलाता है। जिस वर्ण की ‘अनुनासिक’-सज्ञा का (१।१४ में) विधान किया जा चुका है, इस (सूत्र) से उस (वर्ण) की ‘रक्त’-सज्ञा का विधान किया गया है। जैसे—“(प्रत्येक वर्ग का) अन्तिम (वर्ण) ‘अनुनासिक’ है” (इस सूत्र में) ङ, ञ, ण, न, म (की ‘अनुनासिक’-सज्ञा का विधान किया गया है)। (‘अनुनासिक’-सज्ञा का प्रयोग इस सूत्र में किया गया है)—“(जहाँ नकार का लोप होता है या रेफ होता है या ‘ऊष्मन्’ होता है वहाँ) उस (नकार) के स्थान से पूर्व वाला ‘स्वर’ ‘अनुनासिक’ (हो जाता है)।” (इस सूत्र के य उदाहरण है)—“महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा”[क] (और) “यत्तीक्षण माँस्पचन्या उखाया।”[ख] रक्त-सज्ञा का प्रयोजन—“रक्त (‘अनुनासिक’) ‘ह्रस्व’ (‘स्वर’-वर्ण) को ‘दीर्घ’ कर देते हैं”, (जैसे) “उग्रँ ओक” (में); “रक्त (‘अनुनासिक’) व्यञ्जनो के साथ सम्बन्ध होने पर स्वरों की अनुनासिकता (राग) (कर दी जाती है)।”

(संयोगसंज्ञा)

संयोगस्तु व्यञ्जनसंनिपातः ॥३७॥

(संयोगसंज्ञा)

सू० अ०—‘व्यञ्जन’-वर्णों का मेल (संनिपात) ‘संयोग’ (कहलाता है)।

उ० भा० —(व्यञ्जनसंनिपात:=) व्यञ्जनयोर्मेलक:, (संयोग:=) सयोगसंज्ञ: भवति। यथा—“प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषम्।”[१] संयोगसज्ञाया: प्रयोजनम् “स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादि:”[२] इति ॥

इदानीं वर्णानां स्थानान्युच्यन्ते—

उ० भा० अ० -(व्यञ्जनसंनिपात:=) ‘व्यञ्जन’ (-वर्णों) का मेल (=सम्मिलित-‘व्यञ्जन’-वर्ण), (संयोग:=) सयोग’-सज्ञक; होता है।[ग] जैसे— “प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषम्।” संयोग-सज्ञा का प्रयोजन—“स्वर’ (-वर्ण) या ‘अनुस्वार’ से अव्यवहित बाद में आने वाले सयोग का प्रथम (वर्ण) द्वित्व को प्राप्त करता है।”

अब वर्णों के स्थान’ बतलाते है—

(वर्णानां स्थानानि)

कण्ठ्योऽकारः ॥३८॥

टि० (क) यहाँ ‘महान्’ के नकार का लोप हो गया है जिसके परिणामस्वरूप निर्दिष्ट सूत्र से पूर्ववर्ती ‘स्वर’ (आकार) ‘अनुनासिक’ हो गया है।

(ख) यहाँ नकार का ‘ऊष्मन्’ हो गया है जिसके परिणामस्वरूप पूर्ववर्ती ‘स्वर’ (आकार) ‘अनुनासिक’ हो गया है।

(ग) पाणिनि का ‘सयोग’-सज्ञा-विधायक सूत्र यह है—“हलोऽनन्तरा सयोग” (१।१।७) अर्थात् जिन व्यञ्जन (-वर्णों) के मध्य में ‘स्वर’ (-वर्ण) का व्यवधान न हो, उन ‘व्यञ्जन’-वर्णों की ‘सयोग’ सज्ञा होती है।

[१] ऋ० ८।६९।१ [२] ६।१

(वर्णों के स्थान)

सू० अ०—अकार 'कण्ठ्य' है (अर्थात् अ, आ का उच्चारण-स्थान कण्ठ है)।

उ० भा०—कण्ठे भवः=कण्ठ्यः। (कण्ठ्यः=) कण्ठस्थानः; (अकारः=) अकारवर्णः; प्रत्येतव्य.। "ह्रस्वादेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ"[१] इति वक्ष्यत्यतोऽकाराकारौ गृह्येते। यथा—अ, आ। स्थानकथने प्रयोजनम्—"निरस्तं स्थानकरणापकर्षे"[२] इति॥

उ० भा० अ०—कण्ठ्यः=कण्ठ में (उच्चरित) होने वाला। (अकारः=) अकार वर्ण को; (कण्ठ्यः=) कण्ठ स्थान वाला; जानना चाहिये। ""ह्रस्व'-वर्ण का (सूत्र में) उल्लेख होने पर 'सवर्ण'[क] 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' (इन दोनों का ग्रहण करना चाहिए)" (इस सूत्र को सूत्रकार आगे) कहेंगे, इसलिए (अकार कहने पर भी यहाँ) अकार और आकार (इन दोनो) का ग्रहण होता है। जैसे अ, आ। स्थान कहने का प्रयोजन—"उच्चारण-स्थान और उच्चारणावयव का अपकर्ष होने पर 'निरस्त' (नामक दोष होता है)।"

प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम् ॥३९॥

सू० अ०—'ऊष्म' (-वर्णों) के मध्य में प्रथम और पञ्चम—ये दो (वर्ण)-भी ('कण्ठ्य' हैं)।

उ० भा० —प्रथमो हकारः पञ्चमो विसर्जनीयः। (प्रथमपञ्चमौ=) एतौ; द्वौ च ऊष्मणां मध्ये कण्ठस्थानौ वेदितव्यौ; ह. अः। द्वौ इति पादपूरण प्रथमपञ्चमौ इति द्विवचनेनैव द्वित्वस्याभिहितत्वात्॥

उ० भा० अ०—प्रथम ('ऊष्मन्') हकार है और पञ्चम ('ऊष्मन्') विसर्जनीय है। (प्रथमपञ्चमौ=प्रथम और पञ्चम) इन, (द्वौ च=) दो को भी; 'ऊष्म'-वर्णों के मध्य में कण्ठ- स्थान वाला जानना चाहिये; ह, अः। (सूत्र में प्रयुक्त) द्वौ (पद) पाद को पूरण करने के लिए है क्योंकि प्रथमपञ्चमौ में द्विवचन से ही द्वित्व का कथन हो जाता है।

केचिदेता उरस्यौ ॥४०॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) इन वर्णों को उरः (स्थान से उच्चरित) होने वाला (मानते हैं)।

टि० (क) आचार्य शौनक ने 'सवर्ण' संज्ञा का विधान किसी सूत्र में नहीं किया है। पाणिनि का 'सवर्ण'-संज्ञा विधायक सूत्र यह है—' तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" अर्थात् जिन वर्णों के उच्चारण-स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न —ये दोनों—समान हों वे वर्ण परस्पर 'सवर्ण'-संज्ञा वाले होते हैं। तु० —वा०प्रा० १।४३ 'समानस्थान-करणास्यप्रयत्नः सवर्णः।"

---

[१] १।५५ [२] १४।२

उ० भा०—केचित् आचार्याः; एतौ =हकारविसर्जनीयौ; (उरस्यौ) उरःस्थानौ; इच्छन्ति; ह, अः ॥

उ० भा० अ०—(केचित्=) कतिपय आचार्य; एतौ=इन हकार और विसर्जनीय को; (उरस्यौ=) उरस् स्थान वाला; मानते हैं [अर्थात् कतिपय आचार्य हकार तथा विसर्जनीय का स्थान उरस् मानते हैं] ह, अ ।

ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः ॥४१॥

सू० अ०—ऋकार (ऋ, ॠ), लृकार (लृ, ॡ), षष्ठ ऊष्मन् (ᳵक) और प्रथम वर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) 'जिह्वामूलीय' हैं (अर्थात् ये वर्ण जिह्वा के मूल से उच्चरित होते हैं) ।

उ० भा०—(ऋकारल्कारौ=) ऋकारश्च लृकारश्च; षष्ठः च ऊष्मा=जिह्वामूलीयः; प्रथमश्च (वर्गः=) ककारादिवर्गः; एते (जिह्वामूलीयाः=) जिह्वामूलस्थानाः; वेदितव्याः—ऋॠ, लृॡ, ᳵक; कखगघङ । ननु च—"धातौ स्वरः कल्पयताल्लृकारः"[1] इति लृकारस्य स्वरसंज्ञा कृता; "चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्याः"[2] इति प्रयोगश्च दृश्यते । लृकारस्तु चतुःषष्ट्या न दृश्यते । अथ किमर्थमुदाह्रियते ? नैष दोषः । यथोदकाहारस्य मत्स्याहरणमविरुद्धम्, यथा पुष्पाहारस्य फलाहरणमविरुद्धम्, एवमेतदपि प्रसङ्गादुच्यते ॥

उ० भा० अ०—(ऋकारल्कारौ=) ऋकार और लृकार; (षष्ठ ऊष्मा=) छठाँ 'ऊष्मन्'='जिह्वामूलीय', प्रथमश्च (वर्गः)=ककार से प्रारम्भ होने वाला प्रथम 'वर्ग'—इन्हें (जिह्वामूलीयाः)=जिह्वा-मूल स्थान वाला, जानना चाहिये—ऋ ॠ, लृ ॡ, ᳵक, कखगघङ । शंका होती है—"(ऋकार में स्थित रेफ का जब लकार हो जाता है तो) 'क्लृप' धातु में लृकार 'स्वर'(-वर्ण) होता है" में लृकार की 'स्वर' संज्ञा की गई है और "चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या" में (लृकार का) प्रयोग भी दिखलाई पड़ता है । किंतु लृकार तो ऋग्वेद में दिखलाई नहीं पड़ता है । तब किस कारण से (लृ) को उद्धृत किया जा रहा है ? (उत्तर) यह दोष नहीं है । जिस प्रकार जल लाने के साथ-साथ मछली लाने में कोई विरोध नहीं है, (और) जिस प्रकार पुष्प लाने के साथ-साथ फल लाने में विरोध नहीं है, उसी प्रकार यह (लृकार का स्थान) भी प्रसङ्ग से कह दिया गया है ।[क]

तालव्यावेकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः ॥४२॥

सू० अ०—एकार, चकारवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ), इकार (इ, ई), ऐकार, यकार और शकार 'तालव्य' (तालु स्थान वाले) हैं ।

टि० (क) जिस प्रकार यदि कोई व्यक्ति जल लाने के लिये जावे और जल के साथ-साथ मछली भी ले आवे तो कोई दोष नहीं और जिस प्रकार यदि पुष्प लाने के लिये जावे और साथ-साथ फल भी ले आवे तो कोई दोष नहीं, उसी प्रकार ऋग्वेद में अप्रयुक्त लृकार का प्रसङ्गत स्थान बतला देने में कोई दोष नहीं है ।

---

[1] १३।३५ [2] ऋ० १०।१३०।६

उ० भा०—(एकारचकारवर्गौ=) एकारश्च चवर्गश्च; (इकारैकारौ=) इकारश्च ऐकारश्च; यकारः च शकारः चैते; (तालव्यौ—तालव्याः=) तालुस्थानाः; वेदितव्याः; ए चछजझञ इई ऐ य श ॥

उ० भा० अ०—(एकारचकारवर्गौ=) एकार और चवर्ग (च, छ, ज, झ ञ); (इकारैकारौ=) इकार (इ, ई) और ऐकार; यकारः=यकार; शकारः=शकार—इन्हें (तालव्यौ=) तालु स्थान वाला; जानना चाहिये—ए, चछजझञ, इई, ऐ, य, श।

मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ ॥४३॥

सू० अ०—षकार और टकारवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) 'मूर्धन्य' (मूर्धा 'स्थान' वाले हैं)।

उ० भा०—(मूर्धन्यौ=) मूर्ध्नि स्थाने; (षकारटकारवर्गौ=) षकारश्च टवर्गश्च; प्रत्येतव्यौ, ष टठडढण ॥

उ० भा० अ०—(षकारटकारवर्गौ=) षकार और टवर्ग को; (मूर्धन्यौ=) मूर्धा स्थान में (उच्चरित होने वाले); जानना चाहिए; ष, टठडढण।

दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः ॥४४॥

सू० अ०—तकारवर्ग (त, थ, द, ध, न) तो 'दन्तमूलीय' (दाँतों के मूल से उच्चरित होने वाला) है।

उ० भा०—(दन्तमूलीयः=) दन्तमूलस्थानः, तकारवर्गः वेदितव्यः; त, थ, द, ध, न ॥

उ० भा० अ०—तकारवर्गः=तवर्ग (=त, थ, द, ध, न) को, (दन्तमूलीयः=) दन्तमूल स्थान वाला, जानना चाहिये; त, थ, द, ध, न।

सकाररेफलकाराश्च ॥४५॥

सू० अ०—सकार, रेफ, और लकार भी ('दन्तमूलीय' हैं)।

उ० भा०—(सकाररेफलकाराः=) सकारादयः च वर्णाः; दन्तमूलस्थाना वेदितव्याः; स, र, ल ॥

उ० भा० अ०—(सकाररेफलकाराश्च=) सकारादि वर्णों को भी; दन्तमूल स्थान वाले जानना चाहिए, स, र, ल।

रेफं वर्स्व्यमेके ॥४६॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) रेफ को वर्स्व से उच्चरित होने वाला ('वर्स्व्य') (मानते हैं)।

उ० भा०—एके आचार्या रेफम् वर्स्व्यम् इच्छन्ति। वर्स्वे भव=वर्स्व्यः। वर्स्वशब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेश उच्यते। "अवका दन्तमूलैः मृदं वर्स्वैः"[1] इति दर्शनात् ॥

---

[1] वा० स० २५।१

उ० भा० अ०—एके=कतिपय आचार्य; रेफम्=रेफ को; वर्त्स्यम्=वर्त्स से उच्चरित होने वाला; मानते हैं। वर्त्स्यः=वर्त्स से (उच्चरित) होने वाला। वर्त्स शब्द के द्वारा दन्तमूल से ऊपर वाला उठा हुआ प्रदेश कहा जाता है।[क] "अवका (नामक देवता) को (अश्व के) दन्तमूल से और मृद (नामक देवता) को (अश्व के) वर्त्स से (प्रसन्न करता है)" (में वर्त्स शब्द का प्रयोग दिखलाई पड़ता है)।

शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान् ॥४७॥

सू० अ०—नासिक्यों को छोड़ कर शेष (वर्णराशि) 'ओष्ठ्य' (ओष्ठ 'स्थान' से उच्चरित होने वाली) है।

उ० भा०—शेषः वर्णराशिः; (ओष्ठ्यः=) ओष्ठस्थानः; वेदितव्यः। किमविशेषेण? नेत्याह—अपवाद्य नासिक्यान्=परिवर्ज्य नासिकास्थानान्वर्णानित्यर्थः। कश्च शेषः? उ, ऊ, ओ, औ, प, फ, ब, भ, म, व; उपध्मानीयः=✕प; इति॥

के ते नासिक्या इत्यस्यामपेक्षायामाह—

उ० भा० अ०—शेषः=शेष वर्णराशि को, (ओष्ठ्यः=) ओष्ठ स्थान वाली, जानना चाहिये। क्या बिना अपवाद (विशेष) के (अर्थात् क्या शेष सभी वर्ण 'ओष्ठ्य' हैं)? (उत्तर) नहीं, (सूत्रकार ने) कहा है—अपवाद्य नासिक्यान्=नासिका स्थान वाले वर्णों को छोड़कर—यह अर्थ है। शेष क्या हैं? (शेष ये हैं)—उ, ऊ, ओ, औ, प, फ, ब, भ, म, व; उपध्मानीय=✕प (ये ग्यारह वर्ण 'ओष्ठ्य' हैं)।

वे 'नासिक्य' कौन-कौन हैं, यह अपेक्षा होने पर (सूत्रकार ने) कहा है—

नासिक्ययमानुस्वारान् ॥४८॥

सू० अ०—'नासिक्य', 'यम' और 'अनुस्वार' (इन नासिक्यों को छोड़कर शेष सब 'ओष्ठ्य' हैं)।

उ० भा० ँ इति नासिक्यः। कँ, खँ, गँ, घ इत्यादयो यमाः। वक्ष्यति हि—"यमः प्रकृत्यैव सदृक्"[1] इति। अं इत्यनुस्वारः। एते नासिक्याः॥

उ० भा० अ०—ँ यह नासिक्य है। क, ख, ग, घ इत्यादि यम हैं। (सूत्रकार आगे) बतलायेंगे—"'यम' प्रकृति के ही सदृश (होता है)।" अं यह अनुस्वार है। ये 'नासिक्य' हैं।

इति स्थानानि ॥४९॥

सू० अ०—ये (वर्णों के उच्चारण के) 'स्थान' हैं।

टि० (क) दाँतों के पीछे उभरा हुआ जो प्रदेश है उसे वर्त्स कहते हैं। यह कठोर तालु का अगला भाग है। उस स्थान से उच्चरित ध्वनि को 'वर्त्स्य' कहते हैं। तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य २।१८ पर त्रिभाष्यरत्न में भी दन्तपंक्ति के ऊपर वाले उच्च प्रदेश को वर्त्स कहा गया है - "वर्त्सप्विति दन्तानामुपरिष्टादुच्चप्रदेशोऽभिधीयते।"

[1] ६।३२

उ० भा०—अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते । इतिकरणः समाप्त्यर्थः । "कण्ठ्योऽकारः"[1] इत्यत आरभ्य यत्परिभाषित तानि स्थानानि वेदितव्यानि ॥

उ० भा० अ०—वर्णों के आधार को 'स्थान' शब्द से कहा जाता है। इति शब्द समाप्ति के लिये (सूत्र में प्रयुक्त है)। "अकार कण्ठ्य' है"—इस (सूत्र से) आरम्भ करके जो कहा गया है उन्हें; **स्थानानि**='स्थान'; जानना चाहिये।

अत्र यमोपदेशः ॥५०॥

सू० अ०—यहाँ पर (अर्थात् इन्हीं स्थानों में) यमों (के 'स्थान') का निर्देश (करना चाहिए)।

उ० भा०—"कण्ठ्योऽकारः"[2] इत्यत आरभ्य यानि स्थानान्युक्तानि; अत्र=एषु स्थानेषु; (यमोपदेशः=) यमानां स्थानोपदेश; कर्तव्यः। नासिक्यास्तावत्सर्व एव यमा उक्ताः; द्वितीयं तु प्रकृत्याश्रयं यत्स्थानं तदर्थमिदमुक्तम्। तच्च भवद्यथान्तरं भवति। "पलिक्नी"[3] इत्यत्र ककारसरूपो यम; 'चख्नथुः' इत्यत्र खकारसरूपो यमः; "जग्मतुः"[4] इत्यत्र गकारसरूपो यम"; "जघ्नथुः"[5] इत्यत्र घकारसरूपो यमः। वक्ष्यति—"यमः प्रकृत्यैव सदृक्"[6] इति। एवं विंशतिर्यमा बह्वृचानां भवन्ति; स्वरूपैश्चत्वार एव। तदुत्तरत्र यमलक्षणे विचारयिष्यामः ॥

ङकारस्य पूर्वोक्तस्थानापरितोषात्स्थानान्तर प्रतिपादयितुमाह-

उ० भा० अ०—"अकार 'कण्ठ्य' है"—इस (सूत्र) से आरम्भ करके जो 'स्थान' बतलाये गये है, **अत्र**=इन स्थानो में; (**यमोपदेशः**=) यमों[क] के स्थान का निर्देश, करना चाहिये। 'नासिक्य' तो सभी यमों को कहा गया है (अर्थात् सभी यमो का नासिका तो एक 'स्थान' है ही), प्रकृति पर आश्रित जो दूसरा 'स्थान' है उसके लिये वर्तमान (सूत्र) कहा गया है। और वह समीपता के अनुसार होता है। (जैसे) "पलिक्नी" में 'यम' ककार के सदृश है, 'चख्नथु." में 'यम' खकार के सदृश है, "जग्मतु" में 'यम' गकार के सदृश है; 'जघ्नथु" में 'यम' घकार के सदृश है। (सूत्रकार आगे) बतलायेंगे—"'यम' प्रकृति के ही सदृश (होता है)।" इस प्रकार ऋग्वेदियों के बीस 'यम' होते हैं; स्वरूप से चार ही (होते है)।[ख] इस पर बाद मे 'यम' के लक्षण (६।२९) में विचार करेंगे।

टि० (क) 'यम' के लिये पृष्ठ ५१ तथा षष्ठ पटल देखिये।

(ख) सूत्रकार ने यमों की सख्या के विषय में स्पष्ट रूपेण कहीं भी कुछ नहीं कहा है। हाँ, उन्होंने ६।३२ में यह तो कहा है कि 'यम' वर्ण अपने प्रकृतिभूत 'स्पर्श' के सदृश होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रकृतिभूत अननुनासिक स्पर्शों के बीस होने के कारण 'यम' भी बीस होते हैं। यमो की सख्या के विषय में भाष्यकार का कहना है कि ऋग्वेदियो के बीस 'यम' होते है; स्वरूप से तो 'यम' चार ही हैं। भाष्यकार यह स्पष्ट नहीं करते कि चार 'यम' किस

[1] १।३८ [2] १।३८ [3] ऋ० ५।२।४
[4] ऋ० १०।४०।१४ [5] ऋ० ७।९९।४ [6] ६।३२

डकार के पूर्वोक्त स्थान से परितोष न होने से दूसरे स्थान के प्रतिपादन करने के लिये (सूत्रकार) कहते हैं—

जिह्वामूलं तालु चाचार्य आह ।
स्थानं डकारस्य तु वेदमित्रः ॥५१॥

सू० अ०—डकार का 'स्थान' जिह्वामूल और तालु है, (ऐसा) आचार्य वेदमित्र कहते हैं ।

उ० भा०—अधस्तन स्थानमुपसहरन्नाह आचार्यो वेदमित्रो जिह्वामूलं तालु च डकारस्य स्थानमाह । कोऽन्यथा ब्रवीति ? आचार्यग्रहण पूजार्थम् ॥

उ० भा० अ०—उपर्युक्त 'स्थान' का उपसहार करते हुये (सूत्रकार ने) कहा है—आचार्य वेदमित्र डकार का 'स्थान' जिह्वामूल और तालु बतलाते हैं । (प्रश्न) (आचार्य लोगो के अतिरिक्त) अन्य कौन (ऐसी बात) कहता है (तब सूत्र में आचार्य का ग्रहण क्यो किया) ? (उत्तर) (ठीक है किंतु) आचार्य शब्द का (सूत्र में) ग्रहण (उनके प्रति) सम्मान (पूजा) प्रकट करने के लिये (किया गया है) ।

(डकारस्थाने ळकारः, ढकारस्थाने ळ्हकारश्च)

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य
संपद्यते स डकारो ळकारः ।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य
ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः ।
इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि
वीळ्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण ॥५२॥

(डकार के स्थान पर ळकार और ढकार के स्थान पर ळ्हकार)

सू० अ०—इन्हीं (आचार्य) के (मत से) डकार दो स्वरों के मध्य में आकर ळकार हो जाता है और इन्हीं (आचार्य) के (मत से) वही (डकार) हकार (=ऊष्मन्) मिल जाने से ढकार बन कर ळ्हकार हो जाता है। 'इळा', 'साळ्हा' और (पद-पाठ में) 'अवग्रह' के प्रयुक्त होने पर 'वीळ्वङ्ग' (वीळुऽअङ्ग)—ये यहाँ पर (अर्थात् ळकार और ळ्हकार के) उदाहरण हैं ।

उ० भा०—स एवोक्तस्थानो डकारो अस्य आचार्यस्य मतेन द्वयोः स्वरयोर्मध्यम् ; (एत्य=) प्राप्य; (ळकारः संपद्यते=) ळकारभावं याति । किंच स एव डकारो हकारेण

प्रकार हैं । ऐसा लगता है कि उन्होने सभी वर्गों के प्रथम स्पर्शों को एक इकाई मानकर, द्वितीय स्पर्शों को दूसरी इकाई मानकर, तृतीय स्पर्शो को तीसरी इकाई मानकर और चतुर्थ स्पर्शो को चौथी इकाई मानकर—उसके आधार पर यमो की चार सख्या बतलाई है । ६।२९ के उवट-भाष्य को भी इसके लिये देखिये ।

ऊष्मणा संप्रयुक्तः सन्नस्यैव आचार्यस्य मतेन ढकारः (भवति); तथा च सति स ढकारो ळ्हकारताम्; (एति=) याति। अस्यार्थस्येष्टत्वात्स्वयमेवोदाहरणानि दर्शयति—इळा साळ्हा चात्र यथासंख्येन ळकारळ्हकारयोः; (निदर्शनानि=) उदाहरणे। "इळां देवीम्"[१]; "मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा।"[२] बहुवचनं वक्ष्यमाणोदाहरणापेक्षम्। वीड्वङ्ग इत्येतत् उदाहरणम् अवग्रहेण सह भवति—"वनस्पते। वीळुऽअङ्गः।"[३] स्वरयोः इति किम्? "वनस्पते वीड्वङ्गः"[४]; "मीढ्वस्तोकाय तनयाय॥"[५]

उ० भा० अ०—जिसका स्थान (पूर्ववर्ती सूत्र में) बतलाया गया है, स डकारः=वह डकार, अस्य=इन आचार्य (वेदमित्र) के मत से; द्वयोः स्वरयोर्मध्यम् (एत्य)=दो स्वरों के मध्य में आकर; (ळकारः संपद्यते=) ळकारभाव को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् ळकार हो जाता है)। इसके अतिरिक्त, स एव=वही डकार; ऊष्मणा=हकार के साथ; संप्रयुक्तः सन्=मिलकर; ढकारः (भवति=) ढकार (हो जाता है), और वैसा होने पर (अर्थात् दो स्वरों के मध्य में आने पर) वह ढकार, ळ्हकारताम् (एति=) ळ्हकारता को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् ळ्हकार हो जाता है)[तात्पर्य यह है कि दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य में आने पर 'ड्' का 'ळ्' और 'ढ्' (ड्+ह्) का 'ळ्ह्' हो जाता है]। (आचार्य वेदमित्र के) इस अर्थ के अभीष्ट होने से (सूत्रकार) स्वय ही उदाहरणों को दिखलाते है। इळा साळ्हा चात्र='इळा' और 'साळ्हा' यहाँ पर क्रमश ळकार और ळ्हकार के; (निदर्शनानि=) उदाहरण; है। (जैसे) "इळां देवीम्"; "मरुद्भिरुग्र. पृतुनासु साळ्हा।" (निदर्शनानि) पद में जो बहुवचन है वह आगे कहे जाने वाले उदाहरण को ध्यान में रखकर है। वीड्वङ्ग इत्येतत्='वीड्वङ्ग' यह उदाहरण, अवग्रहेण=अवग्रह' के साथ; होता है (अर्थात् पद-पाठ में जब 'अवग्रह' का प्रयोग होगा तब यह भी उदाहरण बन जायेगा; संहिता-पाठ में नही)। (जैसे) "वनस्पते। वीळुऽअङ्ग।" "दो स्वरों के (मध्य में आने पर)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "वनस्पते वीड्वङ्ग."[क]; "मीढ्वस्तनयाय तोकाय॥"[ख]

(परिभाषासूत्राणि)

न्यायैर्मिश्रानपवादान्प्रतीयात् ॥५३॥

(परिभाषा-सूत्र)

सू० अ०—अपवादों को सामान्य नियमों से मिला हुआ समझना चाहिये।

उ० भा०—न्यायाः=उत्सर्गाः=महाविषया विधयः। अपवादाः=अल्पविषया विधयः। तान् (अपवादान्) (न्यायैः=) उत्सर्गैः; मिश्रान्=एकीकृतान्; जानीयात्। अपवादविषय मुक्त्वोत्सर्गा प्रवर्तन्त इत्यर्थः। "स्पर्शाः पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तराण्यास्थापिता-

टि० (क) यहाँ पर डकार दो स्वरों के मध्य में न होने से ळकार नही हुआ। इसलिये यह कहा गया है कि दो स्वरों के मध्य में आने पर डकार ळकार होता है।
(ख) यहाँ पर ढकार, दो स्वरों के मध्य में न होने से, ळ्हकार नहीं हुआ।

[१] ऋ० ७।४४।२ [२] ऋ० ७।५६।२३ [३] ऋ० प० ६।४७।२६
[४] ऋ० ६।४७।२६ [५] ऋ० २।३३।१४

नामवशगम तत्"[१] इति सधिविषय उत्सर्ग , "घोषवत्परा प्रथमास्तृतीयान्"[२] इत्यपवादः। "एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरं यदेभ्य "[३] इत्युत्सर्ग । अस्य स्वयमेवापवादमाह—"सामवशा इति चैवापवादान्"[४], अनुलोमानामन्वक्षरसधीनामपवादानिति ॥

उ० भा० अ०—**न्यायाः**=उत्सर्ग=विस्तृत क्षेत्र वाली (सामान्य) विधियाँ (general rules)। **अपवादाः**=अल्प क्षेत्र वाली विधियाँ (exceptional rules)। उन (**अपवादान्**=अपवादो) को, (**न्यायैः**=) उत्सर्ग=सामान्य नियमों के साथ, **मिश्रान्**=मिला हुआ=एक किया हुआ, जानना चाहिये। अपवाद के क्षेत्र (विषय) को छोड कर सामान्य नियम (=उत्सर्ग) प्रवृत्त होते हैं—यह अर्थ है (तात्पर्य यह है कि जहाँ पर सामान्य-नियम और अपवाद—इन दोनो—की प्राप्ति होती है वहाँ अपवाद वाला कार्य होगा)। (उदाहरण) "'स्पर्श' पूर्व में हो और 'व्यञ्जन' बाद में हो तो 'आस्थापित' (सधियो) के मध्य में वह 'अवशगम' है (जिसमें वर्ण केवल समीप में आ जाते है, उनमें कोई विकार नही होता)"-यह सधिविषयक सामान्य नियम (उत्सर्ग है)। "'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में हो तो वर्गों के प्रथम 'स्पर्श' तृतीय ('स्पर्श') (हो जाते है)"—यह (पूर्ववर्ती सूत्र का) अपवाद है।[क] "'एष', 'स्य.' 'स' और 'स्वर' (-वर्ण) जब पूर्व में होते हैं और 'व्यञ्जन' इनसे बाद में होता है तो वे 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियाँ (होती है)"—यह सामान्य नियम (=उत्सर्ग) है। इस (सामान्य नियम) का स्वय ही अपवाद कहते हैं—"सामवश (सधियो) को अपवाद (समझना चाहिए)", 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियो का अपवाद (समझना चाहिए)।[ख]

टि० (क) यत्। वा (ऋ० प० पा० ६।२३।२) में सामान्य सूत्र (४।१) और अपवाद-सूत्र (४।२)—ये दोनो प्राप्त होते हैं। सामान्य सूत्र के अनुसार वकार ('व्यञ्जन') परे होने पर तकार ('स्पर्श') में कोई विकार नही होना चाहिये। इसके विपरीत अपवाद-सूत्र के अनुसार, वकार ('सघोष'—'व्यञ्जन') परे होने पर, तकार (प्रथम 'स्पर्श') अपने 'वर्ग' के तृतीय 'स्पर्श' (दकार) में परिणत होता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार सामान्य नियम और अपवाद के प्राप्त होने पर अपवाद वाला कार्य होता है जिससे यहाँ तकार का दकार होकर सहिता में 'यद्वा' रूप निष्पन्न होना है।

(ख) "मक्षुऽमक्षु। कृणुहि।" (ऋ० प० पा० ३।३१।२०) में दोनो 'ह्रस्व' उकारो के बाद में 'व्यञ्जन' होने से ये 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियाँ है (दे० २।८)। 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियो में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण 'दीर्घ' नही होता है। इसके विपरीत 'सामवश' सधि (७।५) के अनुसार यहाँ दोनो उकारो को दीर्घत्व की प्राप्ति होती है। अपवाद होने के कारण 'सामवश' सधि वाला कार्य ही होता है जिसके अनुसार सहिता-पाठ में यह रूप निष्पन्न होता है—"मक्षूमक्षू कृणुहि।"

---

[१] ४।१ [२] ४।२
[३] २।८ [४] १।६०

सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम् ॥५४॥

सू० अ०—सम्पूर्ण शास्त्र के विषय (के अपवाद के रूप में) निपातन ('प्रतिकण्ठ') को कहा गया है।

उ० भा०—सर्वं च तच्छास्त्रं च सर्वशास्त्रम्। तस्यार्थः=सर्वशास्त्रार्थः। तं सर्वशास्त्रार्थम् उत्सर्गत्वेन पुरस्कृत्य तस्यैवापवादत्वेन प्रतिकण्ठमुक्तं जानीयात्। प्रतिकण्ठ-शब्देन निपातनमुच्यते। तद्धि कण्ठं कण्ठमिव प्रतिसगृह्यैकैकस्यैव प्रदर्श्यते। "नू इत्था ते"[1]—"न्वित्था" इति प्राप्ते क्षैप्रसंधेरपवादो दीर्घत्वं च निपात्यते। "परीतो षिञ्चत"[2] इति "इतः सिञ्चत" इति प्राप्ते विसर्जनीयस्य सोपधस्यौत्वं निपात्यते, परस्य च षत्वम्॥

उ० भा० अ०—सर्वशास्त्रम्=सम्पूर्ण शास्त्र। उस (सम्पूर्ण शास्त्र) का विषय (अर्थ)=सर्वशास्त्रार्थ.। सम्पूर्ण शास्त्र के विषयो को सामान्य शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करके उसके ही अपवाद के रूप में 'प्रतिकण्ठ' को कहा गया जानना चाहिये।[क] 'प्रतिकण्ठ' के द्वारा निपातनो (irregular forms) को कहा जाता है। उन निपातनो (irregular forms) को नाम लेलेकर एक-एक को दिखलाया जाता है। (उदाहरण) "नू इत्था ते"[ख]—"न्वित्था"

टि० (क) विधि तीन प्रकार की होती है—सामान्य-विधि, अपवाद-विधि और निपातन-विधि। सामान्य-विधि मे किसी बात का सामान्यत विधान किया जाता है। अपवाद-विधि सामान्य-विधि के विरुद्ध विधान करके सामान्य-विधि का किसी विशिष्ट क्षेत्र में बाध कर देती है। निपातन-विधि संपूर्ण शास्त्र का बाध करती है। अपवाद-विधि और निपातन-विधि में यह मुख्य भेद है कि अपवाद-विधि प्रायश किसी एक सामान्य-विधि से सम्बद्ध होती है। इसके विपरीत निपातन-विधि का सम्बन्ध किसी एक सामान्य-विधि के साथ नही होता। वह तो सम्पूर्ण शास्त्र का अपवाद होती है। दूसरा भेद यह है कि अपवाद-विधि में प्रतिपादित नियम के अनेक उदाहरण हो सकते है जिनको सूत्रो में नाम ले लेकर गिनाया नही जाता है। इसके विपरीत निपातन-विधि मे कोई ऐसा विधान नहीं होता जिसके अनेक उदाहरण हो सकें। यहाँ तो साधारण नियमो के विरुद्ध सभी स्थलो को नाम ले लेकर गिनाया जाता है। आचार्य के उच्चारण (उल्लेख) के कारण ये साधारण नियमो के विरुद्ध रूप भी निपातन से साधु (समर्थित) होते हैं।

यद्यपि यहाँ अपवाद-विधि और निपातन-विधि का भेद प्रस्तुत कर दिया गया है तथापि कौन विधि अपवाद-विधि है और कौन निपातन-विधि है इसमें सूत्रकार तथा भाष्यकार ही प्रमाण हैं। सूत्रकार अथवा भाष्यकार जिस विधि को अपवाद-विधि कहे वह अपवाद-विधि है और जिसे निपातन-विधि कहे वह निपातन-विधि है।

(ख) नु। इत्था। ते॥ प० पा०

उकार के परे इकार होने के कारण यहाँ २।२१ से 'क्षैप्र' संधि प्राप्त होती है जिससे उकार को वकार में परिणत होना चाहिये किन्तु निपातन से 'क्षैप्र' संधि नहीं हुई और उकार ऊकार हो गया। "नू इत्था ते" का निपातन के रूप में उल्लेख सूत्रकार ने २।७० में किया है।

[1] ऋ० १।१३२।४ [2] ऋ० ९।१०७।१

प्राप्त होने पर 'क्षैप्र' सन्धि का अपवाद और (उकार का) दीर्घत्व निपातन से होता है। "परीतो षिञ्चत"[क]—'इत सिञ्चत" प्राप्त होने पर उपधा-सहित विसर्जनीय का ओकार और परवर्ती (=सकार) का षकार निपातन से हुआ है।

स्थानप्रश्लेषोपदेशे स्वराणां
ह्रस्वादेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ ॥५५॥

स० अ०—'स्वर' (-वर्णों) के (उच्चारण-) 'स्थान' और 'प्रश्लिष्ट' संधि के उपदेश में (जहाँ) 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) का उल्लेख हो (वहाँ) 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'—दोनों 'सवर्ण' ('स्वर'-वर्णों)—को (समझना चाहिये)।

उ० भा०—"कण्ठ्योऽकारः"[1] इत्यादि स्थानोपदेशः। "समानाक्षरे सस्थाने"[2] इत्यादि प्रश्लेषोपदेशः। (स्थानप्रश्लेषोपदेशे=) एतस्मिन् उभयरूपे; स्वराणाम् उपदेशे सति; (ह्रस्वादेशे=) यत्र ह्रस्वस्वर आदिश्यते तत्र, उभावपि ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ प्रत्येतव्यौ। "कण्ठ्योऽकारः" इत्युक्ते ह्रस्वदीर्घावपि गृह्येते। उपलक्षणार्थं चैतत्; तथाहि—"अधः स्विदासी३त्"[3] इत्यादीनां प्लुतानां तालुस्थानं भवतीति। तथा—"इकारोदय एकारमकारः सोदयः"[4] इत्युक्ते ह्रस्वदीर्घावपि गृह्येते। स्थानप्रश्लेषोपदेशे इति किम्? "ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्"[5] इति ह्रस्व एव गृह्यते॥

उ० भा० अ०—"अकार कण्ठ्य है" इत्यादि, स्थानोपदेशः='स्थान' का उपदेश है। "समान 'स्थान' वाले दो 'समानाक्षर' (एक 'दीर्घ' हो जाते हैं)" इत्यादि, प्रश्लेषोपदेशः='प्रश्लिष्ट' संधि का उपदेश है। (स्थानप्रश्लेषोपदेशे='स्थान' और 'प्रश्लेष' के उपदेश में=) इन दोनो रूपो में; स्वराणाम्='स्वर'-वर्णों का; उपदेश होने पर (सूत्र में) जहाँ; (ह्रस्वादेशे=)'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण का उल्लेख किया जाता है वहाँ, ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ='सवर्ण' 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'—इन दोनों; को समझना चाहिये। "अकार 'कण्ठ्य' है"—यह कहने पर 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'—दोनो ही—का ग्रहण होता है। और यह (केवल) उपलक्षण के लिये है क्योंकि—"अधः स्विदासी३त्" इत्यादि प्लुतो का तालु 'स्थान' होता है।[ख] उसी प्रकार—"इकार परे होने पर अकार परवर्ती (इकार) के साथ एकार (हो जाता है)"—यह

टि० (क) परि। इतः। सिञ्चत॥ प० पा० ४।३४ से "इत. सिञ्चत" रूप प्राप्त होता है किन्तु निपातन से उपधा-सहित विसर्जनीय ओकार हो जाता है और परवर्ती सकार षकार हो जाता है। "परीतो षिञ्चत" का निपातन के रूप में उल्लेख सूत्रकार ने ५।१७ में किया है।

(ख) 'स्थान' के प्रसङ्ग में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण कहने से 'ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत'—इन तीनों—का ग्रहण होता है। उदाहरण के लिये १।४२ में यद्यपि 'इ' को ही 'तालव्य' बतलाया गया है तथापि इससे 'इ', 'ई' और 'ई३'—इन तीनो—को 'तालव्य' समझना चाहिये।

---

[1] १।३८ [2] २।१५ [3] ऋ० १०।१२९।५
[4] २।१६ [5] २।२७

कहे जाने पर 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'– दोनों–का ग्रहण होती है।[क] " 'स्थान' और 'प्रश्लिष्ट' संधि के उपदेश में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) " 'ह्रस्व' पूर्व में हो तो ('अरिफित' विसर्जनीय) अकार (हो जाता है)"—यहाँ अकार से 'ह्रस्व' का ही ग्रहण होता है।[ख]

असावमुमिति तद्भावमुक्तं यथान्तरम् ॥५६॥

सू० अ०—(आगे जिन सूत्रों में यह कहा जायेगा कि) "यह वह (हो जाता है)" (वहाँ) अत्यन्त समीपता की दृष्टि से (यथान्तरम) उसका (=द्वितीया विभक्ति में निर्दिष्ट का) होना बतलाया गया है।

उ० भा० असौ इति प्रथमानिर्दिष्टस्य ग्रहणम्। अमुम् इति द्वितीयानिर्दिष्टस्य। यत्र असौ वर्णः अमुम् इत्येवं वक्ष्यति तत्र तद्भावमुक्तम् जानीयात्। तत् इत्यनेन द्वितीया-निर्दिष्ट परामृश्यते। तेन रूपेण भवनम्=तद्भावः। स च प्रथमानिर्दिष्टस्य भवति। त च तद्भावं यथान्तरं जानीयात्। यो यस्य; अन्तरः=सनिकृष्टः स्थानकरणानुप्रदानैः; स तस्य भवति। यथा—"समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्"[1] इति। तव अयम्= "तवायम्"[2]—अत्र असावमुमिति तद्भावमुक्तम् इति द्वावकारौ दीर्घमेक स्वरमापद्येते। त च यथान्तरम् इति कृत्वा आकारमेवापद्येते। मधु उदकम्="मधूदकम्"[3]—अत्र असावमुमिति तद्भावमुक्तम् इति द्वावकारौ दीर्घमेक स्वरमापद्येते। त च यथान्तरम् इति कृत्वा ऊकारमेवापद्येते॥

"स्यार्यमिश्रानपवादात्"[4] इत्यत आरभ्य परिभाषासूत्राण्येतानि।

उ० भा० अ०—असौ के द्वारा (सूत्रो में) प्रथमा (विभक्ति) में निर्दिष्ट (पद) का ग्रहण करना होगा। अमुम् के द्वारा (सूत्रो में) द्वितीया (विभक्ति) में निर्दिष्ट (पद) का (ग्रहण करना होगा)। जहाँ पर, असौ=यह (वर्ण), अमुमिति=उस (वर्ण) को (प्राप्त हो जाता है), इस प्रकार (सूत्रकार) कहेंगे, वहाँ पर तद्भावमुक्तम् जानना चाहिये। तत् इस (पद) के द्वारा (सूत्रो में) द्वितीया में निर्दिष्ट (पद) का निर्देश किया गया है। तद्भावः=उस (द्वितीया में निर्दिष्ट पद के) रूप में होना। और वह प्रथमा (विभक्ति) में निर्दिष्ट (पद) का होता है (तात्पर्य यह है कि विकार को प्राप्त करने वाले वर्णों को प्रातिशाख्य के सूत्रों में प्रथमा विभक्ति में रखा गया है और विकारात्मक परिणाम के रूप में आने वाले वर्णों को द्वितीया विभक्ति म रखा गया है)। और उस; तद्भावम्=

टि० (क) 'प्रश्लिष्ट' सधि के प्रसङ्ग में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण कहने से 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'—इन दोनो—का ग्रहण होता है। उदाहरण के लिये २।१६ में यह कहा गया है कि इकार परे हो तो अकार परवर्ती इकार के साथ एकार हो जाता है। यहाँ इकार से 'इ' और 'ई'—इन दोनों को और अकार से 'अ' और 'आ'—इन दोनों—को समझना चाहिये जिससे अ या आ+इ या ई=ए।

(ख) यहाँ 'ह्रस्व' कहने से 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण का ही ग्रहण होता है, 'दीर्घ' का नही क्योकि यह सूत्र 'स्थान' और 'प्रश्लिष्ट' सधि के प्रसङ्ग में नही आया है।

---

[1] २।१५ [2] ऋ० ३।३५।६ [3] ऋ० ९।६७।३२ [4] १।५३

द्वितीया में निर्दिष्ट पद के रूप में होने को; **यथान्तरम्** जानना चाहिये। (उच्चारण-) स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न (करण) और बाह्य प्रयत्न (अनुप्रदान) (की दृष्टि) से जो (द्वितीयानिर्दिष्ट) जिस (प्रथमानिर्दिष्ट) के अन्तर=सन्निकृष्ट (अर्थात् सर्वाधिक समीप) हो; वह (द्वितीयानिर्दिष्ट) उस (प्रथमानिर्दिष्ट) का होता है[क] (तात्पर्य यह है कि प्रथमा विभक्ति में निर्दिष्ट वर्ण उच्चारण-स्थान आदि की दृष्टि से अपने सर्वाधिक समीप वर्ण में ही परिवर्तित होता है)। "समान 'स्थान' वाले दो 'समानाक्षर' एक 'दीर्घ' 'स्वर' हो जाते हैं"—(इस सूत्र के अनुसार प्रथम उदाहरण)—तव अयम्="तवायम्"—यहाँ "यह वह (हो जाता है)" के अनुसार दो अकार एक 'दीर्घ' 'स्वर' होते हैं और "अत्यन्त समीपता की दृष्टि से" के अनुसार आकार ही होते हैं। (द्वितीय उदाहरण) मधु उदकम्= "मधूदकम्"—यहाँ पर "यह वह (हो जाता है)" के अनुसार दो अकार एक 'दीर्घ' 'स्वर' होते हैं और "अत्यन्त समीपता की दृष्टि से" के अनुसार ऊकार ही होते हैं।

(प्रैषाणां पादवत्त्वम्)

पादवच्चैव प्रैषान् ॥५७॥

(प्रैषों का पाद के समान होना)

सू० अ०—प्रैषों को (छन्दः के) पाद के समान ही (जानना चाहिये)।

उ० भा०—"होता यक्षदग्निं समिधा सुषमिधा"[1] इत्यवयः प्रैषाः, तान् (प्रैषान्), (पादवत्=) पादतुल्यलक्षणान्, जानीयात्। ऋक्षु यल्लक्षणं तत्प्रैषेष्वपि भवतीत्यर्थः। तद्यथा—"नकार आकारोपधः"[2] इत्यनेन नकारलोपः पदवृत्तिषु विहितः स प्रैषेष्वपि भवति। "होता यक्षदिन्द्रं हरिवाँ इन्द्रो धाना"[3] इति। "इन्द्राग्नी छागस्य"[4] इत्यत्र—"छकारो दीर्घेण च नेतिवर्जम्"[5] इति वचनाच्छकारस्य द्वित्वं न भवति ॥

उ० भा०.अ०—"होता भलीभाँति प्रज्ज्वलित होने वाली समिध् से याग करे" इत्यादि प्रैष हैं, उन (प्रैषान्=प्रैषों) को; (पादवत्=) पाद के तुल्य लक्षण वाले, जानना चाहिये।[ख] ऋचाओं में जो लक्षण है वह प्रैषों में भी होता है—यह अर्थ है। जैसे—

टि० (क) प्रातिशाख्य के सूत्रों के अर्थ को समझने की विधि इस सूत्र में बतलाई गई है। विकार को प्राप्त करने वाले वर्णों को प्रातिशाख्य के सूत्रों में प्रथमा विभक्ति में रखा गया है और विकारात्मक परिणाम के रूप में आने वाले वर्णों को द्वितीया विभक्ति में रखा गया है। दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं—प्रथमा में निर्दिष्ट वर्णों के स्थान पर द्वितीया में निर्दिष्ट वर्ण आ जाते हैं।

"अपवादों को सामान्य नियमों से मिला हुआ (समझना चाहिये)"—इस सूत्र से आरम्भ करके ये परिभाषा-सूत्र हैं।

(ख) इस सूत्र में यह प्रतिपादन किया गया है कि ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में प्रतिपादित नियम जिस प्रकार ऋग्वेद की ऋचाओं पर लगते हैं, उसी प्रकार प्रैष-मन्त्रों पर भी लगते हैं।

---

[1] तै० ब्रा० ३।६।२।१ [2] ४।६५ [3] आ० श्रौ० ५।४।३

[4] तै० ब्रा० ३।६।८।१ [5] ६।१२-१३

"आकार से अव्यवहित वाद में आने वाला नकार (लुप्त हो जाता है, यदि वाद में 'स्वर'-वर्ण हो)"—इस (सूत्र) के द्वारा नकार के लोप का विधान पादों में किया गया है, वह प्रैषों में भी होता है। (उदाहरण) "होता यक्षदिन्द्रं हरिवाँ इन्द्रो धानाः" (ऋचाओं के पादों की भाँति इस प्रैष में भी नकार का लोप हो गया है)। "'मा' के अतिरिक्त अन्य 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से (अव्यवहित वाद में आने वाला) छकार (द्वित्व को प्राप्त नही करता)"—इस नियम से "इन्द्राग्नी छागस्य" में छकार का द्वित्व नही होता (तात्पर्य यह है कि ऋचाओं के पादों से सम्वद्ध इस नियम की प्रवृत्ति प्रैप मन्त्र में भी हो गई)।

(पदान्तलक्षणम्)

प्राक्चानार्षादितिकरणात्पदान्ताँस्तद्युक्तानाम् ॥५८॥

(पदान्त का लक्षण)

सू० अ०—उस (=अनार्ष 'इति' शव्द) से संवद्ध (पदों) के (उन) पदान्तों को (पदान्त जानना चाहिये) जो अनार्ष 'इति' शव्द से पूर्व में (दिखलाई पड़ते हैं)।

उ० भा०—"पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति यत्सा"[1] इति संहितालक्षणं वक्ष्यति। न च पदान्तपदाद्योर्लक्षणमनुक्त्वा संहितालक्षणं वेदितुं शक्यते। तत्र पदादयो ज्ञायन्त एव; पदान्ता अपि येऽत्रेतिकरणरहिताः। येऽत्र सेतिकरणास्ते संदिह्यन्ते। अतस्तत्र लक्षणमाह—

प्राक्=पूर्वेण, अनार्षादितिकरणात्=अवैदिकादितिकरणात्; पदान्तान् जानीयात्। कथभूतानाम्? तद्युक्तानाम्=तेनानार्षेणेतिकरणेन; युक्तानाम्=संवद्धानाम्। "प्रातरिति। सोमम्।"[2] "देवम्। भारिति भाः।"[3] अत्र विसर्जनीयः पदान्तीयो न तु रेफः—"ऊष्मान्तस्थसोष्मचकारवर्गा नान्तं यान्त्यन्यत्र विसर्जनीयात्"[4] इति वचनात्। अनार्षादितिकरणात् इति किम्? "यः प्राणिति॥"[5]

उ० भा० अ०—"पदान्तों का पदादियो के साथ जो मेल सपादन करती है वह ('संहिता') है"— 'संहिता' का यह लक्षण (सूत्रकार) वतलायेंगे और पदान्त तथा पदादि का लक्षण विना कहे 'संहिता' का लक्षण जाना नहीं जा सकता है। उन (पदान्त और पदादि) में से पदादि ज्ञात ही है। 'इति' शव्द से रहित जो पदान्त है वे भी (ज्ञात हैं)। जो 'इति' शव्द के सहित (पदान्त होते हैं) उनके विषय में सदेह होता है। इसलिये उन ('इति' शव्द से युक्त पदान्तों) का लक्षण (सूत्रकार) कहते है—

अनार्षादितिकरणात्=अवैदिक 'इति' शव्द लगने से; प्राक्=पूर्व में (वर्तमान); पदान्तान्=पदान्तों को; (पदान्त) जानना चाहिये। किस प्रकार के (पदों) के? (उत्तर) तद्युक्तानाम्=उस अनार्ष 'इति' शव्द से युक्त=सम्वद्ध (पदों) के (तात्पर्य यह है कि पद-पाठ में जिन पदो के साथ 'इति'-शव्द लगकर मिल जाता है उन पदों के अन्तिम वर्ण (अन्त) वहीं होंगे जो 'इति' लगने से पहले होते है)। (जैसे) "प्रातरिति।

[1] २।२ [2] ऋ० प० ७।४१।१ [3] ऋ० प० १।१२८।२
[4] १२।१ [5] ऋ० १०।१२५।४

सोमम् ।" "देवम् । भारिति भा. ।" "विसर्जनीय को छोड कर अन्य 'ऊष्म' (-वर्ण), 'अन्तःस्था', ऋकार, 'सोष्म' (-वर्ण) और चवर्ग (पदो के) अन्त में नही आते"–इस नियम के अनुसार यहाँ (अर्थात् उपर्युक्त दो उदाहरणों में) विसर्जनीय पदान्त है, रेफ नही। "अनार्ष इति शब्द से (सम्बद्ध पदो का)"–यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "प्र. प्राणिति ।"[क]

तेन येऽसंहितानाम् ॥५९॥

सू० अ०—उस (अनार्ष 'इति' शब्द) से असम्बद्ध (असंहित) (पदों) के जो (पदान्त हैं उन्हें ही पदान्त जानना चाहिये)।

उ० भा०—यत्रेतिकरणो विद्यते न तु पदान्तेन संसृष्टस्तत्रायं विधिरुच्यते । तेन=अनार्षेणेतिकरणेन; असंहितानाम्=असंबद्धाना पदानाम्; ये पदान्तास्त एव पदान्ता वेदितव्याः । "इन्द्राग्नी इति"[१], "अस्मे इति ।"[२] "इन्द्राग्नी इत्यपादियम्", "प्रातरिति सोमम्"—इत्येवं संहिता मा भूदित्येवमर्थं आरम्भः ॥

उ० भा० अ०—जहाँ पर 'इति' शब्द होता है किंतु पदान्त के साथ सम्बद्ध नहीं होता है वहाँ यह विधि कही जाती है। तेन=अनार्ष 'इति' शब्द से, असंहितानाम्= असम्बद्ध पदो के, ये=जो पदान्त है, उन्हें ही पदान्त जानना चाहिये। (उदाहरण) "इन्द्राग्नी इति"; "अस्मे इति ।" 'इन्द्राग्नी इत्यपादियम्", "प्रातरिति सोमम्"—इस प्रकार 'संहिता' न हो जाये इसलिये यह (पदान्त का विषय) प्रारम्भ (किया गया है)।[ख]

(सामवशसंधेरुल्लेखः)

सामवशा इति चैवापवादान् ।
कुर्वन्ति ये संपदं पादवृत्तयोः ॥६०॥

(सामवश संधि का उल्लेख)

सू० अ०—'सामवश' (-संज्ञक) संधियो को ('अनुलोमान्वक्षर' संधियों का) अपवाद (जानना चाहिये), जो ('सामवश'-संज्ञक संधियाँ) पादवृत्तियों का संपादन करती हैं।

टि० (क) इस प्रत्युदाहरण में 'इति' अनार्ष नही है, अपितु यह 'प्र' पूर्वक 'अन्' धातु का अन्य पुरुष एक वचन में रूप है और संहिता-पाठ तथा पद-पाठ - इन दोनो—में समानरूपेण 'प्राणिति' रहता है। इस 'प्राणिति' पद का अन्तिम इकार पदान्त है।

(ख) तात्पर्य यह है कि 'संहिता' के निर्माण के लिये पदान्त का ज्ञान आवश्यक है। पदान्त के ज्ञान के अभाव में इतिकरणसहित पदों की 'संहिता' करने में 'इति' को भी 'संहिता' में ग्रहण कर लिया जायेगा जिससे शुद्ध 'संहिता' नही बनेगी जैसा कि भाष्य में दिखलाया गया है।

१ ऋ० प० ६।५९।६   २ ऋ० प० १।९।७

उ० भा०—सामवशान्सधीनुपरिष्टाद्वक्ष्यति—"यथादिष्ट सामवशः स सधि"[1] इति । (सामवशा इति=) तान्सामवशान्सधीन्; (अपवादान्=) अनुलोमानामन्वक्षरसधीनामपवादभूतान्; जानीयात् । अन्वर्थसंज्ञा चेयम् । समस्य भाव =सामम् । "प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्"[2] इत्युद्गात्रादित्वादञ् । छन्दसां समत्वम्; वश = प्रयोजनम्, येषामन्वक्षरसंधीनां ते सामवशा संधयः । छन्दसां सपत्करा इत्यर्थः । अत एवमाह—कुर्वन्ति ये संपदं पादवृत्तयोः । कतरौ तौ पादस्य वृत्ती ? गुर्वक्षरप्रपञ्चो लघ्वक्षरप्रपञ्चश्च । ताभ्यां हि प्रपञ्चाभ्यां गायत्रादयः पादा वर्तन्ते, अत पादस्यैतौ वृत्ती । पादवृत्तयोः संपद कुर्वन्ति, नार्थान्तर कुर्वन्ति । "मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो न"[3] इत्यादीन्युदाहरणानि ॥

उ० भा० अ०—'सामवश' सधियों को (सूत्रकार) आगे कहेंगे—"('व्यञ्जन' परे हो तो 'ह्रस्व' 'स्वर' 'दीर्घ' हो जाता है) जैसा कि (आगे) दिखलाया गया है और वह 'सामवश' सधि[क] (कहलाती है) ।" (सामवशा इति=) उन 'सामवश' सधियों को; (अपवादान्=) 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियो[ख] का अपवाद; जानना चाहिये । यह ('सामवश') अर्थानुसारिणी सज्ञा है । सामम्=सम का भाव । छन्दों का समत्व है; वश=प्रयोजन; जिन 'अन्वक्षर' सधियों का वे 'सामवश' सधियाँ है । "प्राणधारी जाति (अर्थात् जीवधारी जातिवाची प्रातिपदिकों से), वयोवचन (अर्थात् अवस्था-वाची प्रातिपदिकों से) तथा उद्गात्रादि (प्रातिपदिकों) से (भाव और कर्म अर्थ में) 'अञ्' (प्रत्यय होता है)"—(इस सूत्र से) 'उद्गात्र' आदि में होने से (सम में 'अञ्' प्रत्यय हुआ है) । ('सामवश' सधियाँ) छन्दों का सपादन करने वाली है—यह अर्थ है । इसलिये (सूत्रकार ने) कहा है—कुर्वन्ति ये संपदं पादवृत्तयोः= जो पादवृत्तियों का सपादन करती है । पाद की वे दो वृत्तियाँ कौन है ? (उत्तर) 'गुरु' अक्षरो का प्रपञ्च और 'लघु' अक्षरों का प्रपञ्च । यत इन्ही दो प्रपञ्चों से 'गायत्र' आदि पाद (सम्पन्न) होते है अत पाद की ये दो वृत्तियाँ हैं । ('सामवश' संधियाँ) पाद-वृत्तियो का सपादन करती हैं, अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं लाती । "मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो न."[ग] इत्यादि उदाहरण है ।

टि० (क) 'सामवश' सधियों का विस्तृत वर्णन ग्रन्थ के सप्तम, अष्टम और नवम पटलों में हुआ है ।

(ख) 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियो के लिये २।८ को देखिये ।

(ग) "मक्षुऽमक्षु । कृणुहि । गोजित. । नः ॥" यह प्रकृत पाद का पद-पाठ है । यहाँ पर दोनों 'ह्रस्व' उकारो के बाद में 'व्यञ्जन' होने से ये 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियाँ है । छन्दः में समत्व लाने के लिये दोनों उकारों को ऊकार कर दिया गया है । 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियों में 'ह्रस्व' 'स्वर' 'दीर्घ' नही होता परन्तु यहाँ 'ह्रस्व' 'स्वर' दीर्घ हो गया है । अतः 'सामवश' संधियाँ 'अनुलोम अन्वक्षर' सधियों का अपवाद होती हैं ।

---

[1] ७।१ [2] पा० ५।१।१२९
[3] ऋ० ३।३१।२०

(पद्यानां पदवद्भावः)

अप्रत्याम्नाये पदवच्च पद्यान् ॥६१॥

(पद्यों का पदवत् होना)

सू० अ०—विपरीत विधान (प्रत्याम्नाय) के न होने पर पद्यों को पद के समान (समझना चाहिये)।

उ० भा०—"पदान्तादिष्वेव विकारशास्त्रम्"[१] इति वक्ष्यति। न तु तत्पद्येषु प्राप्नोति। अतस्तत्प्रापणार्थमाह। प्रत्याम्नाय=पुनर्वचनम्। (अप्रत्याम्नाये=) असति पुनर्वचने; पदवत् पद्यान् जानीयात्। त्वाऽऊतासः (=त्वोतास)। "त्वोतासो न्यर्वता।"[२] "उकारोदय ओकारम्"[३] इति पदसंधिषु वक्ष्यति। पद्येष्वपि तद्भवति। अप्रत्याम्नाये इति किम्? "वसोरिन्द्र वसुपतिम्"[४] इति। "षष्ठ चाष्टाक्षरेऽक्षरम्"[५] इति प्लुतिः प्राप्ता—"विप्रहे"[६] इति पुनर्वचनान्न भवति॥

किमेतावानेवापवाद? नेत्याह—

उ० भा० अ०—"विकार का विधान करने वाले नियम (=विकारशास्त्र) पद के अन्तिम (वर्णों) और (पद के) प्रथम (वर्णों) पर ही (लागू होते है)"—यह (सूत्रकार आगे) कहेंगे। वह (विकारशास्त्र) 'पद्य'[क] (के अन्तिम और प्रथम वर्णों) में प्राप्त नही होता है। इसलिये ('पद्य' के अन्तिम और प्रथम वर्णों में) उस (विकारशास्त्र की) प्राप्ति कराने के लिये (सूत्रकार ने यह सूत्र) कहा है।[ख] प्रत्याम्नाय=पुनर्वचन (=विपरीत

टि० (क) 'पद्य' इस पारिभाषिक शब्द की व्याख्या सूत्रकार ने कही भी नही की है किंतु भाष्यकार ने २।१२ की व्याख्या में 'पद्य' के लिये 'सावग्रह' पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है कि शाकल्य-कृत पद-पाठ में जो शब्द 'अवग्रह' के साथ दिखलाई पडता है वह 'पद्य' है। इसके अनुसार अधोलिखित स्थल 'पद्य' हैं :—(१) समास-घटक पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध, (२) कतिपय पदो में प्रकृति और प्रत्यय जैसे 'पञ्चऽभि'; 'अप्ऽसु'; 'धृष्णुऽया', 'सुम्नऽयु'; 'गोऽमत्' इत्यादि।

(ख) सूत्रकार ने २।५ में यह विधान किया है कि विकार का विधान करने वाले जितने नियम है वे पदान्तो और पदादियो में ही लागू होते है। इस नियम से पद-पाठ से संहिता-पाठ करने पर पद के अन्तिम वर्णों और पद के प्रथम वर्णों में ही विकार होंगे, अन्यत्र नही। इसके अनुसार सावग्रह-पदो के पूर्व-पद्य के अन्तिम वर्ण और उत्तर-पद्य के प्रथम वर्ण में कोई विकार नहीं हो सकता क्योकि 'पद्य' पद नही है। किंतु ऐसा मानने पर संहिता-पाठ में अनुपलब्ध रूप की सिद्धि हो जायगी। इसलिये सावग्रह-पदो के पूर्व-पद्य के अन्तिम वर्ण और उत्तर-पद्य के

[१] २।५
[२] ऋ० १।८।२
[३] २।१७
[४] ऋ० १।९।९
[५] ८।३९
[६] ८।१

उल्लेख) । (अप्रत्याम्नाये=) पुनर्वचन (=विपरीत विधान) न होने पर' पदवत् पद्यान्=पद्यो को पद के समान; जानना चाहिये । (उदाहरण) "त्वाऽऊतास." (प० पा०) (="त्वोतास") (स० पा०) । "त्वोतासो न्यर्वता।" "उकार (उ या ऊ) बाद में हो तो (अकार=अ या आ) ओकार (हो जाता है)"—(यह सूत्र सूत्रकार) पदो की संधि के विषय में कहेंगे । (प्रस्तुत सूत्र की सहायता से) वह पद्यों में भी प्राप्त हो जाता है (जिससे "त्वाऽऊतास"="त्वोतास" हो जाता है) । "पुनर्वचन न होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "वसोरिन्द्र वसुपतिम्" में "आठ अक्षरों वाले (आनुष्टुभ पाद) में छठा 'अक्षर' ('दीर्घ' हो जाता है)"–(इस सूत्र से 'वसु' 'पद्य' को पद के समान मानकर इसके उकार का) दीर्घत्व प्राप्त होता है (किंतु)—"पृथक् अवस्थित (पदो में दीर्घत्व होगा)"—इस पुनर्वचन (=विपरीत विधान) के होने से (उकार का दीर्घत्व) नही होता ।[क]

क्या इतना ही अपवाद है (अर्थात् विपरीत विधान को छोडकर क्या अन्य सभी स्थलों पर 'पद्य' को पद के समान माना जाता है) ? (उत्तर) नहीं, (सूत्रकार अन्य अपवादो को) कहते हैं–

(पद्यानां पदवद्भावप्रतिषेधस्थलानि)

ऋते नतोपाचरितक्रमस्वरान् ॥६२॥

सू० अ०—'मूर्धन्यभाव ('नत'), 'सकारभाव' ('उपाचरित'), 'क्रम-पाठ' और 'स्वर' को छोड़कर (अन्य स्थलो पर 'पद्य' को पद के समान जानना चाहिए) ।

उ० भा०—ऋते=विहाय=परित्यज्य; नतम् उपाचरितम् क्रमम् स्वरम् चान्यत्र पदवत्पद्याञ्जानीयात् । इह तु पदस्य यत्कार्यं विधीयते तत्पद्यस्य न भवति । नते—

प्रथम वर्ण में विकार की प्राप्ति के लिये सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया है जिसका अर्थ है कि पद्यो को पद के समान ही मानना चाहिये जिसके अनुसार पदान्तो और पदादियों में होने वाले विकार पद्यान्तो और पद्यादियों में भी हो जाते है । इस सूत्र से विकारशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत हो गया है । उदाहरण के लिये "त्वाऽऊतास" (प० पा०) में 'अवग्रह' के नाते दो 'पद्य' है—'त्वा' और 'ऊतास' । पद्यो को पदो के समान मानने पर संधि के नियम के अनुसार ऊकार परे होने पर आकार परवर्ती ऊकार के साथ मिलकर ओकार हो गया जिससे "त्वोतास." यह संहिता-रूप निष्पन्न हो गया ।

(क) विपरीत विधान होने पर पद्यो को पद के समान नही माना जाता । उदाहरण के लिये "वसुपतिम्" ("वसुऽपतिम्"–प० पा०) इस समस्त पद में दो 'पद्य' हैं—'वसु' और 'पतिम्' । 'वसु' 'पद्य' को पद के समान मानने पर 'वसु' का उकार ८।३९ से दीर्घत्व को प्राप्त करता है किन्तु अष्टम पटल के प्रारम्भ में ही स्पष्ट रूप से यह कह दिया गया है कि इस पटल में पृथक् अवस्थित ही पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' होते हैं जिसके अनुसार 'पतिम्'-'पद्य' के साथ मिले हुए 'वसु'-'पद्य' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही होता ।

"सुदीतिभिः सु दीदिहि"[1]-यदि हि पदकार्यं पद्येऽपि स्याद्भिःशब्देनावह्लक्षरेणोपहितत्वात्-"स्यवह्लक्षरेण"[2] इति सुशब्दस्य षत्वं स्यात् । "यदहं गोपतिः स्याम्"[3]—यदि पदकार्यं पद्येषु स्यादत्रापि - "पदादयश्च स्यिति"[4] इति पतिशब्देनावह्लक्षरेणोपहितत्वात्स्यति पदादेः षत्वं स्यात् ।

उ० भा० अ० —नतम्[क]='मूर्धन्यभाव' को; उपाचरितम्[ख]='सकारभाव' को, क्रमम्='क्रम-पाठ' को, स्वरम्='स्वर' को, ऋते=विहाय=छोडकर; अन्यत्र पद के समान पद्यो को जानना चाहिए (अर्थात् 'मूर्धन्यभाव', 'सकारभाव', 'क्रम-पाठ' और 'स्वर' में 'पद्य' को पद के समान नही माना जाता । अन्य सभी स्थलो पर 'पद्य' को पद के समान माना जाता है) । यहाँ (अर्थात् 'मूर्धन्यभाव', 'सकारभाव', 'क्रम-पाठ' और 'स्वर में') तो पद का जो कार्य विहित होता है वह 'पद्य' का नही होता । 'मूर्धन्यभाव' ('नत') में (प्रथम उदाहरण)—"सुदीतिभि सु दीदिहि"— यदि पद का कार्य 'पद्य' में भी होवे तो "अवह्लक्षर (पद) से अव्यवहित परवर्ती 'सु' (षत्व को प्राप्त करता है)"—(इस सूत्र के अनुसार) अवह्लक्षर 'भि.' 'पद्य' से अव्यवहित बाद में आने के कारण 'सु' का षत्व हो जायेगा ।[ग] (द्वितीय उदाहरण) "यदह गोपति स्याम्"—यदि पद का कार्य पद्यो में भी होवे तो यहाँ भी '(अवह्लक्षर पद पूर्व में हो तो) पद के आदि में स्थित स्य्' (षत्व को प्राप्त करता है)"—(इस सूत्र के अनुसार) अवह्लक्षर 'पति' पद्य से अव्यवहित बाद में आने के कारण (स्याम्) पद के आदि में स्थित 'स्य्' का षत्व हो जायेगा ।

षत्वे तूदाहरणं नास्ति । उपाध्यायस्तु—"पितृयाणम्"[5] इत्युदाहरति । पूर्वपद्यस्यान्निमित्तादुत्तरपद्यस्यस्य नकारस्य पदवत्पद्यानिति पदभावाद्भिन्नपदत्वान् नतिनं प्राप्नोति; तत "ऋते नत" - इत्यनेन प्राप्यत इत्यभिप्रायेण । एतच्चासत् । यत्र हि सामान्येन पदस्य कार्यं विधीयते, तच्च पदवत्पद्यान् इत्यनेन पद्येष्वपि प्राप्यते । तत्प्राप्तं सद्—"ऋते नत'—

टि० (क) 'दन्त्य'-वर्ण के स्थान पर 'मूर्धन्य'-वर्ण होने को 'नत' या 'नति' (cerebralization) कहते है, जैसा कि वा० प्रा० १।४२ में कहा गया है—"दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नति ". अर्थात् नकार के स्थान पर णकार और सकार के स्थान पर षकार होना 'नति' है ।

(ख) विसर्जनीय के स्थान पर सकार होने को 'उपाचरित' ('सकारभाव', sibilation) कहते है ।

(ग) (स० पा०) "सुदीतिभि•" (=प० पा० "सुदीतिऽभि ") पद में दो 'पद्य' है—'सुदीति' और 'भि ' । यदि 'मूर्धन्यभाव' (नति') के विषय में भी 'भि ' 'पद्य' को पद के समान माना जायेगा तो इस अवह्लक्षर 'भि ' पद से अव्यवहित बाद में आने वाले 'सु' का सकार ५।५ से षकार हो जायेगा जो सहिता-पाठ में उपलब्ध नही होता है । इसलिए 'मूर्धन्यभाव' ('नति') के विषय में 'पद्य' का पदवत् होना इस सूत्र से निषिद्ध किया गया ।

[1] ऋ० ६।४८।३ [2] ५।५ [3] ऋ० ८।१४।२
[4] ५।६ [5] ऋ० १०।२।७

इत्यनेन पुनर्निषिध्यते—सोऽस्यापवादसूत्रस्य विषयः। अत्र तु स्वयमेव सूत्रकारोऽवोचत्—"ऋकाररेफषकारा नकारं समानपदेऽवगृह्ये नमन्ति। अन्तःपदस्थम्"[1] इति। अत एतद-सदुदाहरणम्।

'णत्व' (रूप) ('नति' का) तो उदाहरण नहीं है। उपाध्याय तो ('णत्व' के लिए) "पितृयाणम्" उदाहरण देते हैं। पूर्व-पद्य ('पितृ') में स्थित ('णत्व' के) निमित्त (अर्थात् ऋकार) से उत्तर-पद्य में स्थित नकार का 'मूर्धन्यभाव' ('नति'; 'णत्व') प्राप्त नहीं होता है क्योंकि "पदवत् पद्यान्" के अनुसार (पद्यों के) पदवत् होने से ('पितृ और 'यानम्' ये दो 'पद्य' भिन्न पद (हो जाते हैं); तब "ऋते नत—" इस (अपवाद-सूत्र) के द्वारा ('मूर्धन्यभाव') प्राप्त होता है—यह (उपाध्याय का) अभिप्राय है।[क] (उपाध्याय का यह उदाहरण) यथार्थ नहीं है क्योंकि जहाँ सामान्य रूप से पद का (कोई) कार्य विहित होता है और वह (पदकार्य) "पदवत् पद्यान्"—इस (नियम) से पद्यों में भी प्राप्त हो जाता है, (इस प्रकार) प्राप्त होने पर वह ('पद्य' में पदकार्य)—"ऋते नत—" इस (सूत्र) से निषिद्ध किया जाता है। वह ('पद्य' में पदकार्य का निषेध करना) इस अपवाद-सूत्र का विषय है। यहाँ (अर्थात् "पितृयाणम्" के 'णत्व' के विषय में) तो सूत्रकार ने स्वयं ही कहा है—"ऋकार, रेफ और षकार पद के मध्य में वर्तमान नकार को णकार कर देते हैं, यदि वे (ऋकार, रेफ और षकार) उसी सावग्रह (पद-पाठ में 'अवग्रह' से संयुक्त) पद में स्थित हों जिसमें नकार स्थित है"—(तात्पर्य यह है कि १।६२ अपवाद-सूत्र है। "पितृयाणम्" के 'णत्व' को सिद्ध करने के लिए इस अपवाद-सूत्र को प्रयुक्त नहीं करना चाहिए क्योंकि "पितृयाणम्" के 'णत्व' की सिद्धि तो सामान्य-सूत्र (५।४०) से हो जाती है)। अतः यह अयथार्थ उदाहरण है।

उपाचरितः—"पयस्पय परिपतिम्"[2]—अत्रापि पदकार्यं यदि पद्येषु स्यात्पयस्पथ इत्यत्रोपाचरितो न स्याद्भिन्नपदत्वात्। "अन्त पदं तु सर्वत्रैवोपाचरितः"[3]—इत्यनेनान्तः-पदमुपाचरितो विधीयते। अतः पदवद्भावः पद्यानाम् उपाचरिते निषिध्यते। निरवकाशोऽय-

टि० (क) उपाध्याय अर्थात् भाष्यकार के गुरुजी के अनुसार "पितृयाणम्" (प० पा० "पितृऽयानम्") इस अपवाद-सूत्र का उदाहरण है। "पदवत् पद्यान्" के अनुसार 'पितृ' और 'यानम्' को पद मानने पर ये भिन्न हो जाते है और इस प्रकार पूर्व-पद्य ('पितृ') में स्थित ऋकार का उत्तर-पद्य ('यानम्') में स्थित नकार पर कोई प्रभाव नहीं पडता जिसके परिणामस्वरूप 'यानम्' का नकार णकार नहीं होता। तब 'ऋते नत—" इस प्रस्तुत अपवाद-सूत्र की सहायता से नकार णकार होता है क्योकि इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि 'मूर्धन्यभाव' के विषय में 'पद्य' को पद के समान नहीं माना जाता जिससे 'पितृ' और 'यानम्' को भिन्न-भिन्न पद नहीं माना जायेगा। यह तो एक ही पद है जिसके परिणामस्वरूप 'पितृ' पद्य का ऋकार 'यानम्' के नकार को णकार में परिवर्तित कर देता है। यह आचार्य का अभिप्राय है। आचार्य के इस अभिप्राय का खण्डन भाष्यकार ने अपने भाष्य में किया है।

[1] ५।४० [2] ऋ० ६।४९।८ [3] ४।४१

मन्तःपदविधिरिति चेत् । न । "अञ्जस्पाइव"[१]; "दुष्प्राव्योऽवहन्ता"[२]; "त्वं हि राधस्पते"[३]— इत्येवमादिषु समापाद्योपाचरितेषु स्यात् । अत्र हि विक्रान्तसंधिरेव भवति, न तु खण्डनम् ।

'सकारभाव' ('उपाचरित')—"पथस्पथ परिपतिम्"—यहाँ पर भी पद का कार्य यदि पद्यो में होवे तो "पथस्पथ." में 'सकारभाव' ('उपाचरित') नही होगा, भिन्न पद होने से ।[क] "पद के मध्य में तो सर्वत्र ही 'सकारभाव' ('उपाचरित') (होता है)"— इस (सूत्र) के द्वारा पद के मध्य में 'सकारभाव' ('उपाचरित') का विधान किया गया है (अत इस सूत्र से यहाँ विसर्जनीय का सकार हो जायेगा) । इसलिए पद्यो का पद के समान होना 'सकारभाव' ('उपाचरित') में निषिद्ध किया गया है । यदि (कहते हो कि) "यह अन्तःपदविधि (सावग्रह स्थलो को छोडकर) निरवकाश है"—(तो ऐसी बात) नही है, "अञ्जस्पाइव"; "दुष्प्राव्योऽवहन्ता"; 'त्वं हि राधस्पते'—इत्यादि स्थलो पर नियम से प्राप्त सकारभावो (उपाचरितो) में (अन्त पदविधि सावकाश) है, क्योकि यहाँ (अर्थात् इन उदाहरणो में पद-पाठ में) 'विक्रान्त' संधि ही है (अर्थात् पद-पाठ में इनका विसर्जनीय विना परिवर्तन के ज्यो का त्यो रहता है) किंतु ('अवग्रह' के द्वारा "अञ्ज पा.", "दु प्र" और "राध पते" का) पृथक्करण (खण्डन) नही होता ।[ख]

टि० (क) (स० पा०) "पथस्पथ. परिपतिम्"=(प० पा०) "पथ ऽपथ. । परिऽपतिम् ।।" "पथ ऽपथ" में 'अवग्रह' के कारण दो 'पद्य' है—'पथ' और 'पथ' । यदि "पदवत् पद्यान्"—के अनुसार इन पद्यो को पद के समान माना जायेगा तो ये भिन्न-भिन्न पद हो जायेंगे जिससे संहिता-पाठ में विसर्जनीय सकार में परिवर्तित नही होगा जिससे संहिता में 'पथ पथ' यह रूप हो जायेगा किंतु संहिता-पाठ मे "पथस्पथ" रूप ही उपलब्ध होता है । इसलिए प्रस्तुत अपवाद-सूत्र में यह कह दिया गया है कि 'सकारभाव' ('उपाचरित') के प्रसङ्ग में पद्यो को पद के समान नही माना जाता । "पथ ऽपथ" को एक पद मानने पर तो 'अन्त - पद तु सर्वत्रैवोपाचरित."—इस सूत्र से 'सकारभाव' ('उपाचरित') हो जाता है ।

(ख) भाष्यकार ने बतलाया है कि "पथऽपथ" इत्यादि स्थलो पर विसर्जनीय का सकार ४।४१ से होता है । यहाँ पर यह शका हो सकती है कि अन्त पदविधि (४।४१) मुख्य रूप से एक पद से सम्बद्ध विधि है । "पथस्पथ" (प० पा० "पथ ऽपथ") इत्यादि स्थलो पर तो यह विधि १।६२ की सहायता से गौण रूप से लागू होती है क्योकि "पदवत् पद्यान्" के अनुसार "पथस्पथ" (प० पा० "पथ ऽपथ") एक पद नही है । ऐसी वस्तुस्थिति में यह प्रश्न हो सकता है कि क्या अन्त पदविधि का कोई शुद्ध स्थल भी है जहाँ इस सूत्र से एक पद के मध्य में विसर्जनीय का सकार हुआ हो ।

इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि "पथ ऽपथ" आदि गौण स्थलो को छोडकर अन्य शुद्ध स्थल भी ऐसे है जहाँ एक ही पद के मध्य में इस विधि (४।४१) से विसर्जनीय का सकार होता है । उदाहरण के लिए अधोलिखित स्थलो को देखिए—

(स० पा०) "अञ्जस्पाइव"=(प० पा०) "अञ्ज.पा ऽइव ।"
(स० पा०) "दुष्प्राव्योऽवहन्ता"=(प० पा०) 'दु प्रऽअव्य । अवऽहन्ता ।'
(स पा०) 'त्व हि राधस्पते'=(प० पा०) "त्वम् । हि । राध पते ।"

---

[१] ऋ० १०।९४।१३ [२] ऋ० ४।२५।६ [३] ऋ० ८।६१।१४

क्रमः—"सुतसोमा अर्हविद"[१]—अत्र यदि पदवत्पद्या स्युः—"क्रमो द्वाभ्यामभिक्रम्य"[२]—इति द्वाभ्यां पदाभ्यां स्यात् ।

'क्रमपाठ'—"सुतसोमा अर्हविद."—यहाँ पर यदि 'पद्य' पद के समान हों तो "दो पदों से प्रारम्भ करके क्रम (-पाठ) (को करे)"-(इस सूत्र से) दो-दो पदों से (क्रम) होगा।[क]

स्वरः—"पुरोहितमिति पुरःऽहितम् ।"[३] अत्र पुर शब्दस्यान्तोदात्तस्य हितशब्दोऽनुदात्तो मात्राकालव्यवहित । तत्र पदवद्भावे सति पूर्वमन्तोदात्तं पद्यमनपेक्ष्यैव हितशब्दोऽनुदात्तः स्यात् । अतः स्वरग्रहणम् । ननु—"यथा संधीयमानानाम्"[४]—इत्यनेनावग्रहस्य स्वर वक्ष्यति । एवं तर्हि स्पष्टार्थं स्वरग्रहणम् ॥

'स्वर'—"पुरोहितमिति पुरःऽहितम् ।" यहाँ पर 'अन्तोदात्त' 'पुर'-शब्द से 'सर्वानुदात्त' 'हितम्'-शब्द एक मात्रा काल से व्यवहित है (अर्थात् 'पुर' और 'हितम्' पद्यों के उच्चारण के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान है) । ('पुरः' और 'हितम्' इन पद्यों को) पद के समान मानने पर पूर्ववर्ती 'अन्तोदात्त' 'पद्य' ('पुर.') की अपेक्षा न करके ('सर्वानुदात्त') 'हित'-शब्द 'सर्वानुदात्त' हो जायेगा।[ख] इसलिए (इस अपवाद-सूत्र में) 'स्वर' का ग्रहण (किया

१३।३१ और १३।३२ में इन स्थलो पर विस्तार में विचार किया गया है। वहाँ बतलाया गया है कि पद-पाठ में इन पदों का उपर्युक्त रूप होता है । तात्पर्य यह है कि इन पदों में पद-पाठ में विसर्जनीय अविकृत रहता है और 'अवग्रह' के द्वारा इन पदो का खण्डन नही किया जाता। यह स्पष्ट है कि 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् न किए जाने के कारण ये भिन्न-भिन्न पद न होकर एक-एक ही पद है और इनमें "अन्त पद तु सर्वत्रैवोपाचरित" (४।४१) के अनुसार सहिता-पाठ में विसर्जनीय सकार में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार यह निश्चय होता है कि ४।४१ में विहित अन्तःपदविधि के दो प्रकार के उदाहरण मिलते है—(१) (प० पा०) "राय पते" इत्यादि मुख्य स्थल जहाँ १।६२ की आवश्यकता ही नही पड़ती (२) (प० पा०) "पथ.ऽपथ." इत्यादि गौणस्थल जहाँ १।६२ से "पदवत् पद्यान्"—इस नियम का बाध करके ४।४१ की प्रवृत्ति होती है।

(क) पद्यों को पद के समान मानने पर यहाँ क्रम-पाठ इस प्रकार होगा—"सुतसोमा. । सोमा अह. । अर्हविद"—जो क्रम-पाठ अशुद्ध है। इसलिए क्रम-पाठ में पद्यों को पद के समान नही माना जाता।

(ख) "पुरःऽहितम्" में 'पुर.' के 'उदात्त' के कारण 'हितम्' का 'हि' ३।२१ से 'स्वरित' हो जाता है। किंतु यदि 'पुर.' और 'हितम्' पद्यों को दो भिन्न पदो के समान माना जावे तो 'पुर' के 'उदात्त' का 'हितम्' के ऊपर कोई प्रभाव नही पड़ेगा जिससे हितम् पद 'सर्वानुदात्त' होगा जो संहिता-पाठ में उपलब्ध नही होता है। इसलिए स्वर में 'पद्य' के पदवत् होने का निषेध किया गया है।

[१] ऋ० क्र० १।२।२ [२] १०।१-२ [३] ऋ० क्र० १।१।१ [४] ३।२४

गया है)। (शंका) "जिस प्रकार संधि को प्राप्त करने वाले (पदों का 'स्वर' होता है, वैसा ही 'स्वर' 'अवग्रह' होने पर भी होता है)"—इस (सूत्र) के द्वारा (सूत्रकार) 'अवग्रह' का 'स्वर' कहेंगे। (समाधान) तब तो स्पष्टता के लिए (सूत्र में) 'स्वर' का ग्रहण (किया गया है)।[क]

(अवसाने अष्टस्वराणामनुनासिकसंज्ञा)

अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्या—

नाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान् ॥६३॥

(अवसान में आठ स्वरों की अनुनासिक-संज्ञा)

सू० अ०—आचार्य लोग प्रथम आठ 'स्वर' (-वर्णों) को 'अनुनासिक' (-संज्ञक) कहते हैं (जब वे आठ 'स्वर'-वर्ण) 'प्रगृह्य' नहीं होते और अवसान में (आते हैं)।

उ० भा०—अष्टौ स्वरान् आद्यान् अकारादीन् आचार्याः अप्रगृह्यानवसाने अनुनासिकान्; (आहुः =) ब्रुवन्ति। "ईळ्यो नूतनैरुतँ"[1]; "इन्दवो वामुशन्ति हिँ।"[2] आद्यान् इति किम्? 'अग्ने'; 'शतक्रतो'। अवसाने इति किम्? "न नि मिषति सुरणः।"[3] अप्रगृह्यान् इति किम्? "सुतानां वाजिनीवसू॥"[4]

उ० भा० अ०—(वर्णमाला में) अकार से लेकर, **आद्यान् अष्टौ स्वरान्**=प्रथम आठ 'स्वर' (-वर्णों) को; **आचार्याः**=आचार्य लोग, **अप्रगृह्यान्**='प्रगृह्य' न होने पर; **अवसाने**=ऋचा के अवसान में (स्थित होने पर), **अनुनासिकान्**='अनुनासिक'; **(आहु)**=बतलाते हैं (अर्थात् आचार्यों के अनुसार प्रथम आठ 'स्वर'-वर्ण 'अनुनासिक'-संज्ञक होते हैं, यदि वे 'प्रगृह्य' न हों और ऋचा के अवसान में विद्यमान हों)।[ख] (उदाहरण) "ईळ्यो नूतनैरुतँ", "इन्दवो वामुशन्ति हिँ।" "प्रथम (आठ 'स्वर'-वर्णों) को"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) 'अग्ने', 'शतक्रतो'।[ग] "अवसान में

टि० (क) शंकाकार का आशय यह है कि ३।२४ में यह विधान किया गया है कि 'अवग्रह' का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती 'स्वर' का प्रभाव परवर्ती 'स्वर' पर पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप 'पुरः' के 'उदात्त' के प्रभाव से 'हितम्' का 'हि' 'स्वरित' हो जाता है। ऐसी स्थिति होने पर इस प्रस्तुत अपवाद-सूत्र में 'स्वर' का ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके समाधान में सूत्रकार का कहना है कि तब तो इस सूत्र में 'स्वर' का ग्रहण स्पष्टता के लिये किया गया है कि 'स्वर' के विषय में 'पद्य' को पद के समान नहीं माना जाता है।

(ख) तात्पर्य यह है कि वर्णमाला के प्रथम आठ 'स्वर'-वर्ण 'अनुनासिक' उच्चरित होते हैं यदि वे ऋचा के अवसान में स्थित हों और वे 'प्रगृह्य' न हों।

(ग) एकार और ओकार प्रथम आठ 'स्वर'-वर्णों में नहीं आते, अतः 'प्रगृह्य' न होने पर भी तथा अवसान में होने पर भी ये 'स्वर'-वर्ण 'अनुनासिक' नहीं होते।

[1] ऋ० १।१।२ [2] ऋ० १।२।४ [3] ऋ० ३।२९।१४ [4] ऋ० १।२।५

(आने पर)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "न नि मिषति सुरणः।"[क]
"'प्रगृह्य' न होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सुताना वाजिनीवसू।"[ख]

(एकस्यैव प्लुतस्यानुनासिकसंज्ञा)

तत्त्रिमात्रे शाकला दर्शयन्त्या-
चार्यशास्त्रापरिलोपहेतवः ॥६४॥

(एक ही प्लुत की अनुनासिक-संज्ञा)

सू० अ०—(१।६३ में प्रतिपादित) आचार्यों के नियम (शास्त्र) के लोप के परिहार को चाहने वाले शाकल्य ऋषि के अनुयायी लोग उस (आनुनासिक्य) को एक तीन मात्रा वाले (अर्थात् एक 'प्लुत' 'स्वर'-वर्ण) पर दिखलाते हैं।

उ० भा०—तत्=एतदानुनासिक्यम्; त्रिमात्रे स्वरे, (शाकलाः=) शाकल्यऋषेर्मतानुसारिणः, दर्शयन्ति। अत्र हेतुमाह—(आचार्यशास्त्रापरिलोपहेतवः=) आचार्यशास्त्रमनेनैकेन प्लुतेनानुनासिकेन सतास्माकमपरिलुप्तं यथा स्यादिति। "न त्वा भीरिव विन्दतीँ३ ॥"[1]

उ० भा०—(शाकलाः=) शाकल्य ऋषि के मत का अनुसरण करने वाले लोग, (१।६३ में प्रतिपादित) तत्=इस आनुनासिक्य को, (केवल) त्रिमात्रे=तीन मात्रा वाले (एक 'प्लुत') 'स्वर' (-वर्ण) पर; दर्शयन्ति=दिखलाते हैं। इसमें अर्थात् ऐसा करने में कारण बतलाते हैं—(आचार्यशास्त्रापरिलोपहेतवः=) जिसमे इस एक 'अनुनासिक' 'प्लुत' के कारण हमारे (=शाकल्य के अनुयायियों के) मत से भी आचार्यों के शास्त्र का लोप न हो।[ग] "न त्वा भीरिव विन्दतीँ३।"

टि० (क) 'न' ('अ'), 'नि' ('इ') और —'ति' ('इ') ऋचा के अवसान में स्थित नहीं हैं, अतः प्रथम आठ 'स्वर'-वर्णों में होने पर भी और 'प्रगृह्य' न होने पर भी ये 'अनुनासिक' नहीं हुए। ऋचाओं में अवसान कहाँ-कहाँ होता है—इसके लिए १८।४६-५७ को देखिए।

(ख) यद्यपि 'ऊ' प्रथम आठ 'स्वर'-वर्णों में है और अवसान में भी है तथापि १।७१ से 'प्रगृह्य' होने के कारण यह 'अनुनासिक' नहीं हुआ।

(ग) १।६३ से पता चलता है कि वर्णमाला के प्रथम आठ 'स्वर'-वर्णों को उसी सूत्रोक्त अवस्था-विशेष में 'अनुनासिक' उच्चरित करने की एक प्रबल प्रवृत्ति उस समय प्रचलित थी। यही कारण है कि उसी सूत्र में कहा गया है कि बहुत से आचार्यों ने इस आनुनासिक्य ('अनुनासिक'-उच्चारण) का विधान किया है। इस प्रकार प्रचलित होने पर भी यह प्रवृत्ति शाकल्य ऋषि के अनुयायियों को मान्य नहीं थी। ये लोग इन आठ 'स्वर'-वर्णों को 'अनुनासिक' उच्चरित नहीं करते थे। फिर भी शाकल लोग यह भी नहीं चाहते थे कि आचार्य

---

[1] ऋ० १०।१४६।१

(नामि-संज्ञा)

ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः ॥६५॥

(नामिसंज्ञ)

सू० अ०—ऋकार से प्रारम्भ होने वाले दस 'स्वर' (-वर्ण) 'नामिन्' (कहलाते हैं)।

उ० भा०– (ऋकारादयः=) ऋकारमादौ कृत्वा; दश स्वराः; (नामिनः=) नामिसंज्ञाः; वेदितव्याः। नमयन्ति=दन्त्यं सन्तं मूर्धन्यं कुर्वन्तीति नामिनः। ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ इति। नामिसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"अन्तःपाद नाम्युपधः सकारः"[1] इति॥

उ० भा० अ० (ऋकारादयः=) ऋकार से प्रारम्भ होने वाले; दश स्वराः= दस स्वरों को; (नामिनः=) 'नामि'-संज्ञक; जानना चाहिये। नमयन्ति='दन्त्य' (वर्ण) को 'मूर्धन्य' बना देते हैं, (इसलिये) नामिनः='नामिन्' (कहलाते हैं)। ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ। नामि-संज्ञा का प्रयोजन—"पाद के मध्य में नामि (-'स्वर'-वर्ण) से अव्यवहित बाद में आने वाला सकार (षकार हो जाता है)।"

(नतिषु नन्तृनम्ययोः पौर्वापर्यम्)

पूर्वो नन्ता नतिषु नम्यमुत्तरम् ॥६६॥

(नति में नन्ता और नम्य का पौर्वापर)

सू० अ०—'मूर्धन्यभाव' ('नति') में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला (वर्ण; 'नन्ता') पूर्व में (होता है) और 'मूर्धन्यभाव' ('नति') से प्रभावित होने वाला (वर्ण; 'नम्य') बाद में होता है।

उ० भा०—"ऋकाररेफषकारा नकारं नम्यन्ति"[2] इति वक्ष्यति। तत्र पूर्वं ऋकारादय उत्तरे वा। अतस्तद्व्यवस्थार्थमाह—पूर्वो नन्ता नतिषु नम्यमुत्तरम्=नतिषु वर्तमानानां वर्णानां पूर्वो नन्ता वर्णो भवति, नम्यम् व्यञ्जनम् उत्तरं भवति। "पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणम्।"[3] पूर्वो नन्ता इति किम्? "अर्वाञ्चमद्य यय्यं नृवाहणम्"[4]–ऋकारात्पूर्वस्य नकारस्य नतिर्मा भूदिति। नम्यम् उत्तरम् इति किम्? ऋकारादुत्तरस्य वाहन-नकारस्य नतिर्यथा स्यादिति॥

लोगों की परम्परा का पूर्णतया लोप हो जावे। इसलिए आचार्य लोगों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए शाकल लोग एक 'प्लुत' 'स्वर'-वर्ण को 'अनुनासिक' उच्चरित करते थे। ऐसा करने से आचार्य लोगों के अनुशासन (शास्त्र) का पूर्णतया लोप नहीं हुआ।

---

[1] ५।११
[2] ५।४०
[3] ऋ० १०।२।७
[4] ऋ० २।३७।५

उ० भा० अ०—"ऋकार, रेफ और षकार नकार को 'मूर्धन्य' कर देते हैं"—यह (सूत्रकार) कहेंगे। वहाँ (अर्थात् 'मूर्धन्यभाव' में) ऋकार आदि पूर्व में होते हैं अथवा बाद में (यह संदेह होता है)। इसलिए इसकी व्यवस्था के लिये (यह सूत्र) कहा गया है—**पूर्वो नन्ता नतिषु नम्यमुत्तरम्**—**नतिषु**='मूर्धन्यभाव' में वर्तमान वर्णों के मध्य में; **नन्ता**='मूर्धन्यभाव' को करने वाला वर्ण; **पूर्वः**=पूर्व में; होता है; **नम्यम्**='मूर्धन्यभाव' से प्रभावित होने वाला 'व्यञ्जन'; **उत्तरम्**=बाद में; होता है। (उदाहरण) "पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणम्।" "नन्ता पूर्व में हो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अर्वाञ्चमद्य यय्य नृवाहणम्"—ऋकार से पूर्व वाले नकार को 'मूर्धन्यभाव' न हो (इसलिए कहा है कि 'नन्ता' पूर्व में हो)। "नम्य बाद में हो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) ऋकार से बाद वाले 'वाहन' के नकार का जिससे 'मूर्धन्य' हो (इसलिए कहा है कि 'नम्य' बाद में हो)।[क]

(अरिफितविसर्जनीयस्य सोपधस्यैकवर्णवत्त्वम्)

सहोपधोऽरिफित एकवर्णव-
द्विसर्जनीयः स्वरघोषवत्परः ॥६७॥

(उपधा-सहित अरिफित विसर्जनीय का एक वर्ण के समान होना)

सू० अ०—'स्वर' (-वर्ण) और 'सघोष' ('व्यञ्जन') परे हों तो अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण (=उपधा) के सहित 'अरिफित' विसर्जनीय एक वर्ण के समान (समझा जाना चाहिए)।

उ० भा०—**अरिफितः विसर्जनीयः**; (**सहोपधः**=)उपधासहितः; **एकवर्णवत्** अवगन्तव्यः; (**स्वरघोषवत्परः**=)स्वरपरो घोषवत्परश्च सन्। **स्वरपरः**—"य इन्द्र सोमपातमः"[1], "ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्"[2]—इति सोपधस्याकारः। **घोषवत्परः**—"नमो भरन्त एमसि"[3]; "ओकारं ह्रस्वपूर्वः"—इति सोपधस्योकारः। **अरिफितः** इति किम्? "पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।"[5] **स्वरघोषवत्परः** इति किम्? "यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम.॥"[6]

उ० भा० अ०—**अरिफितः विसर्जनीयः**='अरिफित' विसर्जनीय[ख] को, (**सहोपधः**=) उपधा के सहित, **एकवर्णवत्**=एक वर्ण के समान; जानना चाहिये, **स्वरघोषवत्परः**=) 'स्वर' (-वर्ण) बाद में हो अथवा 'सघोष' ('व्यञ्जन') बाद में हो तो (अर्थात् 'अरिफित' विसर्जनीय को अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित एक वर्ण के समान जानना चाहिये,

टि० (क) 'नृवाहणम्' में ऋकार ('नन्ता') ने अपने अव्यवहित पूर्व मे स्थित नकार को णकार नही बनाया, अपितु दूर में स्थित बाद वाले नकार ('नम्य') को णकार बना दिया। इसीलिए कहा गया है कि 'नन्ता' पूर्व में होता है और 'नम्य' बाद में होता है।

(ख) १।७६ से लेकर १।१०३ तक 'रिफित'-संज्ञक विसर्जनीय का विवरण दिया गया है। इनसे अन्य 'अरिफित' विसर्जनीय होते है।

---

[1] ऋ० ८।१२।१ [2] २।२७ [3] ऋ० १।१।७ [4] ४।२५
[5] ऋ० १०।५९।७ [6] ऋ० ७।१९।१

यदि वाद में 'स्वर'-वर्ण अथवा 'सघोष' 'व्यञ्जन' हो)। **स्वरपर** (विसर्जनीय का उदाहरण) —"य इन्द्र सोमपातम."; ' 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) पूर्व में (और कोई 'स्वर'-वर्ण बाद में हो तो 'अरिफित' विसर्जनीय) अकार (हो जाता है)"—(इस सूत्र से) अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित (विसर्जनीय) अकार (हो गया है)। **सघोषपर** (विसर्जनीय का उदाहरण)—"नमो भरन्त एमसि"; "'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) पूर्व में हो (और 'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में हो तो 'अरिफित' विसर्जनीय) ओकार (हो जाता है)"—(इस सूत्र से) अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित (विसर्जनीय) ओकार (हो गया है)।[क] "अरिफित"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "पुनर्योर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।"[ख] ' स्वर' (-वर्ण) और 'सघोष' ('व्यञ्जन') हैं परे जिसके"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीमः।"[ग]

(प्रगृह्यसंज्ञा)

ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः ॥६८॥

(प्रगृह्य-संज्ञा)

सू० अ०—संबोधन (आमन्त्रित) से उत्पन्न (अर्थात् संबोधन पद के अन्त में विद्यमान) ओकार 'प्रगृह्य' (-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—ओकारः; (आमन्त्रितजः=) आमन्त्रिताज्जातः; (प्रगृह्यः=) प्रगृह्य-संज्ञः; भवति। "इन्द्रो इति", "विष्णो इति।" प्रगृह्यसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"प्रकृत्येति-

टि० (क) २।२७ और ४।२५ में यद्यपि 'अरिफित' विसर्जनीय के ही क्रमशः अकार और ओकार होने का विधान किया गया है तथापि वह 'अरिफित' विसर्जनीय अपने अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के साथ अकार और ओकार होता है क्योंकि प्रस्तुत सूत्र से 'अरिफित' विसर्जनीय, 'स्वर'-वर्ण और 'सघोष'-व्यञ्जन' परे रहते, अपने अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के साथ एक वर्ण माना जाता है।

(ख) 'पुनः' में जो विसर्जनीय है वह १।१०३ से रिफित है, इसलिये इस विसर्जनीय को अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के साथ एक वर्ण के समान नही माना जाता। यहाँ अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण अविकृत रहता है और 'रिफित' विसर्जनीय ४।२७ से रेफ हो जाता है। यदि 'अरिफित' विसर्जनीय को भी अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित एक वर्ण के समान माना जाये तो यहाँ ऐसा रूप बनेगा—"पुनर्द्युर्देवी पुनरन्तरिक्षम्" जो संहिता-पाठ में उपलब्ध पाठ के प्रतिकूल है। अतः सूत्र में 'अरिफित' शब्द रखा।

(ग) यहाँ पर विसर्जनीय के अनन्तर तकार है जो न 'स्वर'-वर्ण है और न 'सघोष'-'व्यञ्जन' है, अतः इस 'अरिफित' विसर्जनीय को अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित एक वर्ण के समान नही जानना चाहिए। यदि अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित 'अरिफित' विसर्जनीय को एक वर्ण के समान माना जायेगा तो ऐसा रूप बनेगा—"यस्तिग्मशृङ्ग"—जो संहिता-पाठ में उपलब्ध पाठ के प्रतिकूल है। कोई ऐसी संहिता न बना ले इसलिये सूत्र में "स्वरघोषवत्परः" को रखा।

करणादौ प्रगृह्याः"[1] इति। एतच्च सूत्रं स्वार्थमभिधायोत्तरसूत्रेषु प्रगृह्यसंज्ञामधिकरोति। अतोऽधिकारसूत्रमेवैतत्। ननु अधिकारसूत्र परार्थं भवति, एतत्तु स्वार्थमभिधाय परार्थं भवति। अथ कथमधिकारसूत्रमेतदिति? नैष दोषः। गुणोऽयं शास्त्रकृतो यदनेनैव सूत्रेण स्वार्थमभिधत्ते, अधिकारं च प्रकरोति। अतोऽधिकारसूत्रमेवैतदिति। आह च—

उभयार्थं परार्थं वा सूत्रं स्यादाधिकारिकम्।
संज्ञासूत्रं परार्थं स्यात् पारिभाषिकमेव च॥
परिभाषां च संज्ञां च कार्यकालां प्रचक्षते।
अधिकारः कृतो यत्र ततोऽन्यत्र न गच्छति॥

उ० भा० अ०—(आमन्त्रितजः) ओकारः=सम्बोधन (आमन्त्रित) से उत्पन्न ओकार; (प्रगृह्यः=)'प्रगृह्य'-संज्ञक; होता है (अर्थात् सम्बोधन पद के अन्त में विद्यमान ओकार 'प्रगृह्य'-संज्ञा होती है)। (जैसे) "इन्दो इति"; "विष्णो इति।" प्रगृह्य-संज्ञा का प्रयोजन—"'इति' शब्द बाद में हो तो प्रगृह्य ('स्वर'-वर्ण) 'प्रकृतिभाव' से (रहते हैं)।" यह सूत्र अपने अर्थ को बतलाकर बाद वाले सूत्रों में 'प्रगृह्य'-संज्ञा का अधिकार करता है। इसलिये यह अधिकार-सूत्र ही है। (प्रश्न) अधिकार-सूत्र दूसरे (सूत्रों) के लिये (=परार्थ) होता है, किंतु यह (प्रस्तुत सूत्र) तो अपने अर्थ (स्वार्थ) को बतलाकर दूसरे (सूत्रों) के लिये (=परार्थ) होता है। तब यह अधिकार-सूत्र कैसे है? (उत्तर) यह दोष नहीं है। यह तो शास्त्रकार का गुण है जो इसी सूत्र से अपने अर्थ (सूत्र के अर्थ) को बतलाते हैं और अधिकार को भी करते हैं। इसलिये यह अधिकार-सूत्र ही है। कहा भी है—

"अधिकार-सूत्र या तो उभयार्थ (स्वार्थ तथा परार्थ) होता है या (केवल) परार्थ होता है। संज्ञा-सूत्र और परिभाषा-सूत्र परार्थ होते है। परिभाषा (-सूत्र) और संज्ञा (-सूत्र) को कार्य के समय (उपस्थित होने वाला) कहते हैं (अर्थात् जब-जब कार्य पड़ता है तब-तब परिभाषा-सूत्र और संज्ञा-सूत्र उपस्थित हो जाते हैं। वे पहले और पीछे सर्वत्र लागू होते हैं)। जहाँ अधिकार किया जाता है वहाँ से अन्यत्र (अधिकार-सूत्र) नही जाता है।"

टि० (क) 'प्रगृह्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—अवरुद्ध होने के योग्य। जिन 'स्वर'-वर्णों की 'प्रगृह्य'-संज्ञा की जाती है वे वर्ण, 'स्वर'-वर्ण परे रहते, सन्धि के सामान्य-नियमों के अनुसार विकार प्राप्त नही करते हैं। सूत्रकार ने १।६८ से लेकर १।७५ तक उन सभी स्थलों को बतलाया है जहाँ 'स्वर'-वर्ण 'प्रगृह्य'-संज्ञक होते हैं। २।५१ और २।५२ में सूत्रकार ने इन सभी 'प्रगृह्य'-संज्ञक वर्णों के समान कार्य ('प्रकृतिभाव') का विधान किया है। 'प्रगृह्य'-संज्ञक 'स्वर'-वर्ण कहीं-कहीं विकार को भी प्राप्त हो जाते हैं, देखिए २।५३ और २।५५। 'प्रगृह्य'-संज्ञक 'स्वर'-वर्ण के प्रगृह्यत्व को प्रदर्शित करने के लिए पद-पाठ में इनके आगे 'इति' लगाया जाता है।

---

[1] २।५१

पदं चान्यः ॥६९॥

सू०अ०—'(सम्बोधन पद के अन्त में आने वाले ओकार से) अन्य भी (ओकार) पद (होने पर) 'प्रगृह्य' होता है) ।

उ० भा० आमन्त्रितसंज्ञितादोकारात् अन्यः ओकारः, पदम्=ओ इति, सोऽपि प्रगृह्यसंज्ञो भवति । "ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ॥"[१]

उ० भा० अ०—सम्बोधन (आमन्त्रित) के बाद में विद्यमान ओकार से; अन्यः= अन्य, (जो) ओकार, पदम्=पद='ओ', है वह भी 'प्रगृह्य'-संज्ञक होता है (अर्थात् स्वतन्त्र पद होने पर 'ओ' 'प्रगृह्य' होता है) । (उदाहरण) "ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ।"[क]

अपूर्वपदान्तगश्च ॥७०॥

सू० अ०—(समास के) पूर्व-पद के अन्त में न आने वाला (ओकार) भी ('प्रगृह्य' होता है) ।

उ० भा०—(अपूर्वपदान्तगश्च=) पूर्वपदान्तगश्च य ओकारो न भवति; स प्रगृह्यसंज्ञो भवति । पूर्वपदोत्तरपदव्यपदेशश्च समास एव भवति । अतोऽयमर्थः—पूर्वपदान्तस्यौकारस्य प्रगृह्यसंज्ञा न भवति । "यांश्चो नु दाधृविर्भरध्यै"[२]; "एषो उषा अपूर्व्या"[३] अपूर्वपदान्तगः इति किम् ? "यदह गोपतिः स्याम्"[४]; "कुवित्सु नो गविष्टये ।"[५] ननु अनेनैव सूत्रेणाधस्तनयोः सूत्रयोर्विषयः सूचितः । एवं तर्ह्यधस्तनाभ्यामस्यैव सूत्रस्य प्रपञ्चः कृतः । ते वै विषय संगृहीता येषां लक्षण प्रपञ्चश्च ॥

उ० भा० अ०—(अपूर्वपदान्तगश्च=) पूर्व-पद के अन्त में जो ओकार स्थित नहीं होता है, वह भी 'प्रगृह्य' संज्ञक होता है । पूर्व-पद और उत्तर-पद का उल्लेख समास में ही होता है । इसलिये यह अर्थ हुआ—समास के पूर्व-पद के अन्त में स्थित ओकार की 'प्रगृह्य'-संज्ञा नहीं होती । (उदाहरण) "यांश्चो नु दाधृविर्भरध्यै"[ख], "एषो उषा अपूर्व्या ।"[ग] "पूर्व-पद के अन्त में न आने वाला"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "यदह गोपतिः स्याम्"[घ]; "कुवित्सु नो गविष्टये ।"[ङ] (प्रश्न) इसी सूत्र से पूर्ववर्ती दो सूत्रों का विषय

टि० (क) ओ इति । हि । वर्तन्ते । रथ्याऽइव । चक्रा ॥ प० पा०

(ख) यान् । चो इति । नु । दाधृवि । भरध्यै ॥ प० पा०

(ग) एषो इति । उषा । अपूर्व्या ॥ प० पा०

इन उदाहरणों में ओकार पूर्व-पद के अन्त में स्थित नहीं है, अत ये ओकार 'प्रगृह्य' हैं ।

(घ) यत् । अहम् । गोऽपति । स्याम् ॥ प० पा०

(ङ) कुवित् । सु । नः । गोऽइष्टये ॥ प० पा०

इन प्रत्युदाहरणों में ओकार पूर्व-पद के अन्त में स्थित है, अत ये ओकार 'प्रगृह्य'-संज्ञक नहीं हैं ।

---

[१] ऋ० १०।११७।५ [२] ऋ० ६।६६।३ [३] ऋ० १।४६।१
[४] ऋ० ८।१४।२ [५] ऋ० ८।७५।११

सूचित (गतार्थ) हो जाता है (तब उन पूर्ववर्ती सूत्रों की क्या आवश्यकता)? (उत्तर) तब तो पूर्ववर्ती दोनों सूत्रों के द्वारा इसी सूत्र का प्रपञ्च किया गया है। वे ही विधियाँ सरलता से समझ में आती हैं जिनके लक्षण और प्रपञ्च—ये दोनों—(सूत्रों में किए जाते हैं)।[क]

षष्ठाद्यश्च द्विवचोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः ॥७१॥

सू० अ०—छठे ('स्वर'-वर्ण) से प्रारम्भ होने वाले तीन 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्ण) (ई, ऊ, ए) भी द्विवचनान्त (पदों) के अन्त में आने पर ('प्रगृह्य' होते हैं)।

उ० भा०—षष्ठाद्यश्च त्रयो दीर्घाः स्वराः; (द्विवचोऽन्तभाजः=) **द्विवचनाभिधायिनः**; प्रगृह्य-संज्ञा भवन्ति। "इन्द्राबृहस्पती वयम्"[१]; "इन्द्रवायू इमे सुताः"[२]; "**द्वे विरूपे** चरतः स्वर्थे।"[३] द्विवचोऽन्तभाजः इति किम्? "अग्न आ याहि वीतये॥"[४]

उ० भा० अ० षष्ठाद्यश्च त्रयो दीर्घाः=(वर्णमाला के) छठे ('स्वर') से प्रारम्भ होने वाले तीन 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्ण) भी, (द्विवचोऽन्तभाजः=द्विवचनान्त पदों के अन्त में आने पर=) द्विवचन का अभिधान करने वाले होने पर, 'प्रगृह्य'-संज्ञक होते हैं (अर्थात् द्विवचनान्त पद के अन्त में विद्यमान 'ई', 'ऊ' तथा 'ए' 'प्रगृह्य'-संज्ञक होते हैं)। (उदाहरण) 'इन्द्राबृहस्पती वयम्'[ख] "इन्द्रवायू इमे सुता"[ग], "द्वे विरूपे चरत स्वर्थे।"[घ] "द्विवचनान्त

टि० (क) शंकाकार का आशय यह है कि इस सूत्र से पूर्व-पद के अन्त में न आने वाले सभी ओकार 'प्रगृह्य' हो जाते हैं। १।६८ और १।६९ के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत 'इन्दो इति"; "विष्णो इति" तथा "ओ हि वर्तन्ते" इत्यादि ओकारों का 'प्रगृह्य' होना भी इसी सूत्र (१।७०) से सिद्ध हो जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर १।६८ और १।६९ की क्या उपयोगिता है?

इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि १।६८ और १।६९ के द्वारा प्रस्तुत सूत्र का प्रपञ्च किया गया है। किसी दुर्बोध नियम (विधि) को समझाने के लिए उसका उदाहरणादि के द्वारा विवरण करना ही प्रपञ्च कहलाता है। वे ही विधियाँ सरलता से समझ में आती है जिनका लक्षण भी किया जावे और प्रपञ्च भी। केवल लक्षण अथवा केवल प्रपञ्च उतना उपयोगी नहीं होता है। १।७० में पूर्व-पद के अन्त में न आने वाले ओकार के 'प्रगृह्य' होने का लक्षण किया गया है। इस सूत्र के अनेक उदाहरण हैं। सम्बोधन पद के अन्त में आने वाले ओकार तथा स्वतन्त्र ओकार पद के 'प्रगृह्य' होने का पुनर्विधान क्रमश: १।६८ और १।६९ में कर दिया गया है।

(ख) इन्द्राबृहस्पती इति। वयम्॥ प० पा०

(ग) इन्द्रवायू इति। इमे। सुता॥ प० पा०

(घ) द्वे इति। विरूपे इति विऽरूपे। चरत। स्वर्थे इति सुऽअर्थे॥ प० पा०

इन उदाहरणों में 'ई', 'ऊ' तथा 'ए' द्विवचनान्त पदों के अन्त में आये हैं, अत: ये 'प्रगृह्य' हैं।

---

[१] ऋ० ४।४९।५ [२] ऋ० १।२।४ [३] ऋ० १।९५।१ [४] ऋ० ६।१६।१०

(पदों) के अन्त में आने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अग्न आ याहि वीतये।"क

साप्तमिकौ च पूर्वौ ॥७२॥

सू० अ०—(इन तीन में से) पूर्व वाले दो सप्तमी के अर्थ में होने पर भी ('प्रगृह्य' होते हैं)।

उ० भा०—एतेषामेव त्रयाणां वर्णानां मध्ये यौ पूर्वौ दीर्घौ स्वरौ तौ प्रगृह्यसंज्ञौ भवतः; (साप्तमिकौ=) सप्तम्यर्थाभिधायिनौ; चेद्भवत। "दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्"[1]—सरस्यामिति प्राप्ते छान्दसः सप्तम्यर्थ ईकारः। "सोममिन्द्र चमू सुतम्"[2]—चम्वामिति प्राप्ते सप्तम्यर्थं ऊकार.। "स्वायां तनू ऋत्व्ये।"[3] "सोमो गौरी अधि श्रित।"[4] "स्तीर्णे राये सुभरं वेद्यस्याम्।"[5] साप्तमिकौ इति किम् ? "पीत्वी सोमस्य वावृधे॥"[6]

उ० भा० अ०—इन्हीं तीन वर्णों ('ई', 'ऊ', 'ए') के मध्य में जो; पूर्वौ=पूर्व वाले दो; 'दीर्घ' 'स्वर' हैं वे 'प्रगृह्य'-संज्ञक होते हैं, यदि वे, साप्तमिकौ=सप्तमी के अर्थ को कहने वाले हों। (उदाहरण) "दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्"ख—'सरस्याम्' प्राप्त होने पर सप्तमी के अर्थ में ईकार (हो गया है)। 'सोममिन्द्र चमू सुतम्'ग-'चम्वाम्' प्राप्त होने पर सप्तमी के अर्थ में ऊकार हुआ। "स्वाया तनू ऋत्व्ये"घ—('तन्वाम्' प्राप्त होने पर सप्तमी के अर्थ में ऊकार हो गया)। "सोमो गौरी अधि श्रित"ङ—('गौर्याम्' प्राप्त होने पर सप्तमी के अर्थ में ईकार हो गया)। "स्तीर्णे राये सुभरे वेद्यस्याम्"च—('वेद्याम्' प्राप्त होने पर सप्तमी के अर्थ में ईकार-'वेदी'छ—हो गया)। "सप्तमी के अर्थ में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "पीत्वी सोमस्य वावृधे।"ज

टि० (क) अग्ने। आ। याहि। वीतये॥ प० पा०

'अग्ने' द्विवचन में न होकर सम्बोधन के एकवचन में है, अत इसके अन्त में आने वाला एकार 'प्रगृह्य' नही है। इसी कारण से यहाँ संधि हो गई है।

(ख) दृतिम्। न। शुष्कम। सरसी इति। शयानम्॥ प० पा०

(ग) सोमम्। इन्द्र। चमू इति। सुतम्॥ प० पा०

(घ) स्वायाम्। तनू इति। ऋत्व्ये॥ प० पा०

(ङ) सोम.। गौरी इति। अधि। श्रित॥ प० पा०

(च) स्तीर्णम्। राये। सुऽभरम्। वेदी इति। अस्याम्॥ प० पा०

(छ) 'वेदी' का ईकार प्रस्तुत सूत्र से 'प्रगृह्य'-संज्ञक है। 'प्रगृह्य' होने पर संहिता-पाठ में २।५२ से ईकार का 'प्रकृतिभाव' होना चाहिये किन्तु २।७० के अनुसार निपातन से यहाँ संधि हो गई है। पद-पाठ में तो 'इति' परे होने पर २।५१ मे यहाँ 'प्रकृतिभाव' हो जाता है

(ज) पीत्वी। सोमस्य। ववृधे॥ प० पा०

'पीत्वी' का ईकार सप्तमी के अर्थ में नही है. अत. इस ईकार की 'प्रगृह्य'-संज्ञा नहीं हुई।

---

[1] ऋ० ७।१०३।२ [2] ऋ० ८।७६।१० [3] ऋ० १०।१८३।२
[4] ऋ० ९।१२।३ [5] ऋ० २।३।४ [6] ऋ० ३।४०।७

अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः ॥७३॥

सू० अ०—'अस्मे', 'युष्मे', 'त्वे' और 'अमी' (पद) भी 'प्रगृह्य' (होते हैं)।

उ० भा० -अस्मे युष्मे त्वे अमी—इत्येते च ईकारैकाराः; (प्रगृह्याः=) प्रगृह्यसंज्ञाः; भवन्ति। अस्मे -"अस्मे आ वहतं रयिम्।"[१] युष्मे—"न युष्मे वाजबन्धवः।"[२] त्वे—"त्वे इद्धूयते हविः।"[३] अमी—"अमी ये पञ्चोक्षण.।"[४] प्रगृह्यसंज्ञाधिकारे पुन. प्रगृह्यग्रहणमोकारस्य एकारस्य च सप्तम्यर्थनिवृत्त्यर्थम् ॥

उ० भा० अ०—अस्मे, युष्मे, त्वे और अमी—ये (अर्थात् इन पदों के अन्त में विद्यमान) भी ईकार और एकार, (प्रगृह्याः=) 'प्रगृह्य'-संज्ञक; होते हैं। अस्मे—'अस्मे आ वहत रयिम्।"[क] युष्मे—"न युष्मे वाजबन्धवः।"[ख] त्वे—"त्वे इद्धूयते हविः।"[ग] अमी—"अमी ये पञ्चोक्षण।"[घ] 'प्रगृह्य'-संज्ञा के अधिकार में पुन. 'प्रगृह्य' (पद) का जो ग्रहण किया है वह ईकार और एकार के सप्तम्यर्थ की निवृत्ति के लिये है।

उपोत्तमं नानुदात्तं न पद्यम् ॥७४॥

सू० अ०—(उपर्युक्त पदों में) अन्तिम से पूर्ववर्ती ('उपोत्तम'; 'त्वे') 'अनुदात्त' या 'पद्य' (होने पर) ('प्रगृह्य') नहीं (होता)।

उ० भा०—अस्मे युष्मे त्वे अमी-इत्येतेषां पदानाम्; (उपोत्तमम्=) यत् उत्तमस्य पदस्य समीपे पद तत्, अनुदात्तम् वा पद्यम् वा तत्प्रगृह्यसंज्ञं न भवति। "ओहंब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे।"[५] "त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे॥"[६]

उ० भा० अ० -'अस्मे', 'युष्मे', 'त्वे' और 'अमी'—इन पदों में; (उपोत्तमम्=) अन्तिम पद ('अमी') के समीप में स्थित जो पद ('त्वे') है; वह; अनुदात्तम्='अनुदात्त' होने पर; या, पद्यम्='पद्य' होने पर; 'प्रगृह्य'-संज्ञक; न=नहीं; होता है। (उदाहरण) "ओहंब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे"[ङ], "त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे।"[च]

टि० (क) अस्मे इति। आ। वहतम्। रयिम् ॥प० पा०
(ख) न। युष्मे इति। वाजऽबन्धव ॥ प० पा०
(ग) त्वे इति। इत्। हूयते। हवि. ॥ प० पा०
(घ) अमी इति। ये। पञ्च। उक्षण ॥ प० पा०
(ङ) ओहंऽब्रह्माणः। वि। चरन्ति। ऊँ इति। त्वे ॥ प० पा०
(च) त्वम्। तम्। अग्ने। अमृतऽत्वे। उत्ऽतमे ॥ प० पा०

प्रथम उदाहरण में 'अनुदात्त' तथा द्वितीय उदाहरण में 'पद्य' होने के कारण 'त्वे' 'प्रगृह्य' नहीं है। पूर्ववर्ती सूत्र (१।७३) से प्राप्त 'प्रगृह्य' का इस सूत्र में निषेध किया गया है।

---

[१] ऋ० ८।५।१५
[२] ऋ० ८।६८।१९
[३] ऋ० १।२६।६
[४] ऋ० १।१०५।१०
[५] ऋ० १०।७१।८
[६] ऋ० १।३१।७

उकारश्चेतिकरणेन युक्तो
रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन ॥७५॥

सू० अ०—किसी 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ ('अपृक्त') उकार भी, 'इति' शब्द से मिलने पर, 'अनुनासिक' ('रक्त'), 'दीर्घ' और 'प्रगृह्य' हो जाता है, शाकल के मत से।

उ० भा०—अपृक्तश्च उकारः प्रगृह्यसंज्ञो भवति। स च इतिकरणेन युक्तः; रक्तः=अनुनासिकः, (द्राघितः=) दीर्घः; च भवति, शाकलेन मतेन। "ऊँ इति।" अपृक्तः इति किम्? "स्विति सु।" इतिकरणेन युक्तः इति युक्तवचनमितिकरणात्परस्याप्युकारस्य दीर्घत्वं रक्तत्वं च करोति—"ऊँ इत्यूँ।" आर्ष्यां च संहितायामितिकरणायोगाद्रक्तत्वं दीर्घत्वं प्रगृह्यसंज्ञत्वं च न भवति—"अवेद्विन्द्र जल्गुलः॥"[१]

उ० भा० अ०—अपृक्तः उकारश्च=किसी 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ उकार भी, 'प्रगृह्य'-संज्ञक होता है और इतिकरणेन युक्तः='इति' शब्द से मिलने पर, वह; रक्तः='अनुनासिक' और (द्राघितः=) 'दीर्घ', हो जाता है, शाकलेन=शाकल के मत से (अर्थात् पद-पाठ में 'इति' शब्द के साथ युक्त होने पर 'उ' पद 'प्रगृह्य', 'दीर्घ' और 'अनुनासिक' हो जाता है)। (उदाहरण) "ऊँ इति।" "किसी 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ ('अपृक्त')"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) स्विति सु।"[क] इतिकरणेन युक्तः (में प्रयुक्त) युक्त-शब्द 'इति' शब्द से परवर्ती उकार को भी 'दीर्घ' और 'अनुनासिक' ('रक्त') कर देता है (क्योंकि परवर्ती उकार भी तो इति' शब्द से मिला हुआ होता है)। (उदाहरण) "ऊँ इत्यूँ।" आर्षी-संहिता में 'इति' शब्द के साथ मेल (योग) न होने से (उकार का) अनुनासिकत्व (रक्तत्व), दीर्घत्व और प्रगृह्यसंज्ञत्व नहीं होता (अर्थात् उकार 'अनुनासिक', 'दीर्घ' और 'प्रगृह्य' नहीं होता)। (उदाहरण) 'अवेद्विन्द्र जल्गुल.।"[ख]

(रेफिसंज्ञा)

ऊष्मा रेफी पञ्चमो नामिपूर्वः ॥७६॥

(रेफिसंज्ञा)

सू० अ०—'नामि' ('स्वर') पूर्व में हो तो पञ्चम 'ऊष्म' (-वर्ण अर्थात् विसर्जनीय) 'रेफिन्' (अर्थात् 'रेफि'-संज्ञक, rhotacized) (होता है)।

टि० (क) एक वर्ण वाले पद को 'अपृक्त' कहते हैं जैसा कि वा० प्रा० १।१५१ में कहा गया है—"एकवर्णं पदमपृक्तम्।" यहाँ उकार सकार से मिला हुआ होने से 'अपृक्त' नहीं है अत यह 'अनुनासिक', 'दीर्घ' और 'प्रगृह्य' नहीं है।

(ख) अव। इत्। ऊँ इति। इन्द्र। जल्गुल ॥ प० पा०

पद-पाठ में 'इति' से सम्बद्ध होने के कारण उकार 'अनुनासिक', 'दीर्घ' और 'प्रगृह्य' है। संहिता-पाठ में 'इति' से सम्बद्ध न होने के कारण उकार 'अनुनासिक', 'दीर्घ और 'प्रगृह्य' नहीं है जिसके परिणाम-स्वरूप उकार की 'इन्द्र' के इकार के साथ 'क्षैप्र' सधि हो गई।

[१] ऋ० १।२८।१

उ० भा०—पञ्चम ऊष्मा=विसर्जनीयः; नामिपूर्वः सन्; (रेफी=) रेफिसंज्ञः; भवति। "अग्निरस्मि जन्मना"[१]; "पूर्वीरहं शरदः।"[२] रेफिसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफ रेफी॥"[३]

उ० भा० अ०—नामिपूर्वः='नामि' (-'स्वर') पूर्व में; हो तो; पञ्चम ऊष्मा=पांचवा 'ऊष्म' (-वर्ण)=विसर्जनीय, (रेफी=) 'रेफि' संज्ञक[क] होता है (अर्थात् 'अ' और 'आ' से अन्य 'स्वर'-वर्ण के बाद में आने वाले विसर्जनीय को 'रेफिन्' कहते हैं)। (उदाहरण) अग्निरस्मि जन्मना"[ख], "पूर्वीरहं शरद.।"[ग] रेफि-संज्ञा का प्रयोजन—"अव्यवहित पूर्व

टि० (क) विसर्जनीय दो प्रकार का माना गया है—(१) 'रेफिन्' या 'रिफित' विसर्जनीय और (२) 'अरेफिन्' या अरिफित' विसर्जनीय। 'रिफित' विसर्जनीय का मूल रेफ होता है किंतु रेफ पद के अन्त में नही आ सकता (दे० १२।१). इसलिए वह विसर्जनीय में परिणत हो जाता है। 'अरिफित' विसर्जनीय का मूल रेफ न होकर सकार होता है किंतु रेफ की भाँति सकार भी पद के अन्त में नहीं आ सकता, वह भी विसर्जनीय में परिणत हो जाता है। स्वर'-वर्णों या 'सघोष'-व्यञ्जनों के पूर्व में आने पर 'रिफित' विसर्जनीय रेफ में परिणत हो जाता है किंतु 'अरिफित' विसर्जनीय कभी भी रेफ में परिणत नही होता है।

'अ' और 'आ' के अतिरिक्त अन्य (अर्थात् 'नामि'-) 'स्वर'-वर्णों से बाद में विद्यमान विसर्जनीय 'रिफ्ति' होता है। किंतु कभी-कभी 'अ' और 'आ' के भी बाद में आने वाला विसर्जनीय रिफित' होता है। ऋ० प्रा० १।७८ से लेकर १।१०३ तक ऐसे ही शब्दों की सूची प्रस्तुत करता है जिनमें विसर्जनीय 'अ' या 'आ' के भी बाद में आने पर 'रिफित' होता है।

(ख) 'रिफित'-संज्ञक पदों के 'रिफित'-विसर्जनीय के आगे पद-पाठ में 'इति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह 'इति' शब्द 'रिफित' विसर्जनीय के 'रिफित'-स्वरूप को बतलाने के लिये प्रयुक्त होता है। किंतु यह इति' शब्द केवल वही प्रयुक्त होता है जहाँ संहिता-पाठ में 'रिफित'-विसर्जनीय विसर्जनीय के रूप में होता है। इसके विपरीत जहाँ संहिता-पाठ में 'रिफित'-संज्ञक पदो के अन्त में 'रिफित'-विसर्जनीय न होकर रेफ होता है वहाँ 'रिफित' विसर्जनीय का स्वरूप स्पष्ट होने से पद-पाठ में 'इति' शब्द नही लगाया जाता है। विसर्जनीय के स्वरूप को भलीभाँति समझाने के लिये १।७८ से लेकर १।१०३ तक के सभी सूत्रो के उदाहरणो का पद-पाठ यथास्थान प्रस्तुत किया जायेगा।

अग्नि.। अस्मि। जन्मना॥ प० पा०

इकार ('नामि'-'स्वर') पूर्व में होने के कारण 'अग्नि' पद का विसर्जनीय 'रेफि'-संज्ञक है जो संहिता-पाठ में ४।२७ से रेफ हो गया है। संहिता पाठ में 'अग्नि' के रिफित-विसर्जनीय का रिफित-स्वरूप स्पष्ट है. अत पद-पाठ में इसके साथ 'इति' शब्द नही लगा है। इसी प्रकार आगे के सभी उदाहरणों को समझना चाहिये।

(ग) पूर्वीः। अहम्। शरद॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ३।२६।७ [२] ऋ० १।१७९।१ [३] ४।२७

में कोई भी वर्ण हो और बाद में 'स्वर'-वर्ण या 'सघोष' (–'व्यञ्जन') हो तो रैफि विसर्जनीय (रेफी) रेफ (हो जाता है)।"

महोऽपोवर्जमितरो यथोक्तम् ॥७७॥

सू० अ०—'मह:' और 'अप:' (इन दो पदों को छोड़ कर अन्यत्र) अन्य (='अ', 'आ' के बाद में आने वाला) विसर्जनीय ('रिफित'-संज्ञक होता है), जैसा (आगे वाले सूत्रों में) बतलाया गया है (अर्थात् 'मह:' और 'अप:' पदों में अकार के बाद में आते हुये भी विसर्जनीय 'रिफित'-संज्ञक नहीं होगा)।

उ० भा०—महः अपः इत्येते पदे; (वर्जम्=) वर्जयित्वा, उक्तादन्यः=इतरः= अनामिपूर्वो यः; पञ्चम ऊष्मा=विसर्जनीयः; स; यथोक्तम्=यथा वक्ष्यमाण तथा; रेफिसंज्ञो भविष्यतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। "अवर्मह इन्द्र"[1]; "अपस्कः"[2]—इत्येते वर्जयित्वा।

उ० भा० अ०—महः अपः—इन दो पदों को; (वर्जम्=) छोड़कर; इतरः= (१।७६ में) कहे गए ('नामि'-स्वर'-वर्ण से बाद में आने वाले विसर्जनीय) से अन्य= 'अनामि' (-'स्वर'-वर्ण='अ', 'आ') के बाद में आने वाला जो; पञ्चम 'ऊष्म' (-वर्ण)= विसर्जनीय है वह; यथोक्तम्=जैसा (आगे वाले सूत्रों में) कहा गया है वैसे, 'रैफि'-संज्ञक होता है—यह अधिकार जानना चाहिए। "अवर्मह इन्द्र", "अपस्कः"—इन दो (स्थलों) को छोड़कर।[क]

ननु कस्मादनयोः पदयो पुरस्तादपवाद क्रियते। एते हि पदे वक्ष्यमाणानां पदानां विशेषणाभिप्रायेण पठ्येते। नैतत्। यथाभूत चेतरेषां विशेष्यभूतानां पदानां रूपं तथा- भूतमनयोरपि पदयोः। तेषामप्यनामिपूर्वो विसर्जनीयो यथा, तथानयोरपि पदयोः। अतस्तुल्य- रूपत्वात्कस्यचिन्मन्दबुद्धेः सन्देहो मा भूदिति पुरस्तादपवादः क्रियते।

(प्रश्न) इन दो पदों ('अप' और 'मह') का पहले अपवाद किस कारण से किया गया है? क्योंकि आगे उल्लिखित पदों में इन दो पदों को विशेषण के अभिप्राय से

टि० (क) यह सूत्र यह अधिकार करता है कि 'अ' या 'आ' के बाद में आने वाला विसर्जनीय अधोलिखित (१।७८ से १।१०३ सूत्रों में उल्लिखित) स्थलों पर 'रैफि'-संज्ञक होता है। यह सूत्र साथ ही साथ १।९० और १।९६ में उल्लिखित 'अप' और 'मह' के विसर्जनीय के 'रैफि'-संज्ञक होने का निषेध करता है। तात्पर्य यह है कि 'अप.' और 'मह' के विसर्जनीय को छोडकर अधोलिखित सूत्रों में उल्लिखित अन्य वे सभी विसर्जनीय 'रैफि'-संज्ञक हैं जो 'अ' या 'आ' के बाद में विद्यमान हैं। 'अप' और 'मह' के विसर्जनीय तो 'अ' के बाद में आने पर भी 'रिफित'-संज्ञक नहीं हैं।

[1] ऋ० १।१२३।६ [2] ऋ० ७।२१।३

उल्लिखित किया गया है।[क] (उत्तर) यह (बात) नही है। जैसा अन्य विशेष्य पदों का रूप है वैसा (रूप) इन दो पदों का भी है—जिस प्रकार उन (अन्य पदो) का विसर्जनीय 'अनामि' ('-स्वर'-वर्ण='अ' या 'आ') के बाद में विद्यमान है, उसी प्रकार इन दो पदों ('अप' और 'मह') का भी (विसर्जनीय 'अनामि'-'स्वर'-वर्ण='अ' के बाद में विद्यमान है)। इसलिए (अन्य विशेष्य पदो और इन दो पदों—'अप' और 'मह'—का) तुल्य रूप होने से किसी मन्दबुद्धि को सदेह न हो जाये इसलिए पहले अपवाद कर दिया गया है।[ख]

यद्येवमर्थं पुरस्तादपवादः क्रियते, एवं तर्हि न कर्तव्योऽपवाद। तत्रैव वयं तथा व्याख्यास्यामो यथा विशेषणार्थतानयोः पदयोर्भविष्यति। तद्यथा—"अपस्कः"[1] इत्यत्र तावदप इत्येतस्य पदस्य करित्येतस्मिन्पदे परभूत उपाचरित वक्ष्यति—"करं कृतं कृधि करत्करित्यपि परेषु"[2]—अतोऽप इत्येतस्य विशेषणार्थतावगम्यते। आचार्यश्च—"अपस्कः"[3] इत्यत्र सकारं विसर्जनीयस्य दर्शयिष्यति। अतोऽस्मिन्पदे विशेषणार्थता स्थिता। तथा—"अवर्महः"[4] इत्यत्र—"वरवरावरिति चैकपादे व्यपपूर्वाणि"[5] इत्यनेनावरित्येतस्य पदस्य रेफिसंज्ञा न प्राप्नोति। अतो मह इत्येतत्पद विशेषणार्थं पठितमिति गम्यते। सर्वो च रेफदर्शनात्—"अवर्महः"[6] इति।

यदि इसलिए (अर्थात् इन दो पदों—'अप' और 'मह' के विशेषणत्व को बतलाने के लिए) पहले अपवाद किया गया है तब तो अपवाद नहीं करना चाहिए था। वही हम ऐसा व्याख्यान करेंगे जिससे इन पदो का (अन्य पदों=क्रमश 'क' और 'अव' के)

टि० (क) पूर्वपक्षी का यह कहना है कि सर्वदा सामान्य-सूत्र के द्वारा विधान करके तदनन्तर उसका अपवाद किया जाता है। ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर यहाँ सामान्य-सूत्रो के पहले ही अपवाद क्यो कर दिया गया है? दूसरी बात यह है कि 'अप.' और 'मह.' पद क्रमश 'क.' और 'अव.' के विशेषण के रूप में ३।९० और ३।९६—इन सूत्रों—में उल्लिखित किये गए है। विशेष्य पदो के 'रिफित'-संज्ञक होने का ही विधान सूत्रों म किया गया है। विशेषण होने के नाते 'अप' और 'मह' पदों के विसर्जनीय के 'रिफित'-संज्ञक होने का प्रश्न ही नही उठता। तब इन पदों का अपवाद करने की आवश्यकता ही नहीं थी।

(ख) भाष्यकार का कहना है कि इन पदों ('अप.' और 'मह.') का अपवाद करने का यह कारण है कि आगे वाले सूत्रों में उल्लिखित विशेष्य पदों और इन दो विशेषण पदों का रूप समान है। समान रूप होने के कारण किसी मन्दबुद्धि को कदाचित् इनके विशेषण होने का ज्ञान ही न होता और वह विशेष्य पदों के विसर्जनीय के समान इन विशेषण पदों ('अप' और 'मह:') के विसर्जनीय को भी 'रेफि'-संज्ञक समझ बैठता। इस प्रकार के संदेह की निवृत्ति के लिये यहाँ पहले ही इन पदों का अपवाद कर दिया गया है।

[1] ३।९० [2] ४।४३ [3] ३।९०
[4] ३।९६ [5] ३।९९ [6] ३।९६

विशेषण के रूप में होना (सिद्ध) हो जायेगा। जैसे—"अपस्क" यहाँ (विद्यमान) 'अप' इस पद का 'सकारभाव' ('उपाचरित'), 'क' यह पद परे रहते, (सूत्रकार) बतलायेंगे—"'करम्', 'कृतम्', 'कृधि', 'करत्' (और) 'क'-(ये पद) परे रहते भी (अकार के बाद में आने वाला विसर्जनीय सकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से 'अप.' इस (पद) को विशेषणार्थता ज्ञात होती है। आचार्य (सूत्रकार) भी "अपस्क"—में विसर्जनीय के स्थान पर सकार दिखलायेंगे। इससे इस पद ('अप') में विशेषणार्थता निश्चित (स्थित) हो गई।[क] उसी प्रकार "अवर्मह" में (विद्यमान) 'अव' इस पद की 'रेफि'-सज्ञा—"एक पाद में 'वि' या 'अप' पूर्व में हो तो 'व', 'अव' और 'आव' ('रेफि'-सज्ञक होते है)"—इस (सूत्र) से प्राप्त नही होती है। इसलिए 'मह' यह पद ('अव' के) विशेषण के रूप में (सूत्र में) पठित है—यह ज्ञात होता है। "अवर्मह" (यहाँ) सधि होने पर जो रेफ दिखलाई पडता है (उससे 'मह' की विशेषणार्थता निश्चित हो जाती है)।[ख]

न चायमर्थ आशङ्कनीयो यथा निपातनान्युभयार्थान्यपि भवन्तीति; तद्यथा—"अनुसेषिधत्"[१]—इत्यत्र पदादे सकारस्य षत्वनिषेधः परस्य च षत्व युगपन्निपात्यते; एवमिहापि—"अवर्महः" इति युगपत्पदयोरुभयोः रेफिसंज्ञा मा भूदित्यतो मह इत्येतस्य पदस्य पुरस्तादपवादः क्रियत इति। यतो निपातनं नामाचार्योच्चारणमुच्यते; यथा—"अनुसेषिधत्"[२]; 'इतो विष्वत'[३] इति बह्व्प्यप्राप्तमाचार्योच्चारणात्साधु भवति। नह्यत्राचार्यो रेफं दर्शयति द्वयोरपि पदयोः—"अवर्महः"[४] इति। अतो निपातनाशङ्का न कर्तव्येति। एव तर्हि किमर्थमाचार्यः पुरस्तादपवादं करोति ?

टि० (क) पूर्वपक्षी का कहना है कि 'अप' और 'मह' के विशेषण रूप को दिखलाने के लिए इन दोनो का अपवाद करना अनावश्यक है। इन दोनो पदो का विशेषण होना तो ऐसे निश्चित हो जाता है—४।४३ में यह विधान किया गया है कि 'क' परे रहते 'अप' का विसर्जनीय सकार हो जाता है और सूत्रकार ने १।९० ('अपस्क') में विसर्जनीय के स्थान पर सकार को दिखलाया है जिससे सिद्ध हो गया कि 'अप' के विसर्जनीय के 'रेफि'-सज्ञक होने का प्रश्न ही नही उठता। यह तो १।९० ("अपस्क") में 'क' के विशेषण के रूप में उल्लिखित है जिसका अर्थ यह है कि 'अप' पूर्व में रहते 'क' 'रेफि'-सज्ञक होता है।

(ख) "अवर्मह" में 'मह' 'अव' के विशेषण के रूप में उल्लिखित है। "अवर्मह" में विद्यमान 'अव' के विसर्जनीय की १।९९ से 'रेफि'-सज्ञा नही होती क्योकि 'अव' के पूर्व में न 'वि' है और न 'अप' है। "अवर्मह" में जो रेफ दिखलाई पड रहा है उससे यह स्पष्ट है कि 'अव' का विसर्जनीय रेफि'-सज्ञक है जो ४।२७ के अनुसार सहिता-पाठ में रेफ में परिणत हो गया है। 'अव' का जो विसर्जनीय यहाँ ("अवर्मह" में) 'रेफि'-सज्ञक है वह 'मह' के कारण ही है जिससे यह स्पष्ट हो गया कि 'मह' सूत्र में 'अव' के विशेपण के रूप में प्रयुक्त है जिससे सूत्र का यह अर्थ है—'मह' परे रहते 'अव' 'रेफि'-सज्ञक होता है।

[१] ५।३० [२] ५।३० [३] ५।१७ [४] १।९६

इस बात की आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि जिस प्रकार निपातन दो कार्यों के लिए भी होते हैं जैसे—"अनुसेषिधत" में 'पद्य' ('सेसिधत्') के प्रथम सकार के 'षत्व' का निषेध और परवर्ती (सकार का) 'षत्व'—ये दोनों–एक साथ ही निपातन से होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी (निपातन से) "अवर्मह" में दोनों पदों ('अव' और 'मह') की 'रेफि'-संज्ञा न हो जावे—इसलिए 'मह' इस पद का पहले अपवाद कर दिया गया है। क्योंकि आचार्य के उच्चारण को निपातन कहा जाता है, जैसे—'अनुसेषिधत्" और 'इतो पिञ्चत" में (साधारण नियम से) अप्राप्त बहुत-सा कार्य आचार्य के उच्चारण से साधु होता है। किंतु यहाँ "अवर्मह" में तो आचार्य (सूत्रकार) दोनो पदो में रेफ नही दिखलाते हैं (अर्थात् यदि यह निपातन का स्थल होता तो आचार्य इसका उल्लेख अवश्य करते)। इसलिए निपातन की आशङ्का नही करनी चाहिए। ऐसी वस्तुस्थिति में (बतलाइये) कि आचार्य ने पहले अपवाद क्यो किया है ?

अत्र ब्रूमः—यदेवमनेन प्रकारेण दुःप्रतिपाद्यत्वमस्यार्थस्य अयं तावत्प्रधानभूतो दोषः। अन्यच्च ग्रन्थगौरवभयाद्दुष्टशिष्येणैतन्नोदितम्—"महोऽपोवर्जम्" इत्यनयो पदयोः पुरस्तादपवादो न कर्तव्य इति। तच्च ग्रन्थगौरवमनेन प्रकारेण प्रतिपादयतः सुतरामपरिहृतमेवास्ते। अतोऽयं लाघविक आचार्यः पुरस्तादपवादं चक्रे—'महोऽपोवर्जम्"—इति॥

(सिद्धान्ती) यहाँ (अर्थात् इस विषय में) बतलाते हैं—इस प्रकार से इस विषय का प्रतिपादन अत्यन्त दुरूह है—यह (आपके मत में) सबसे बड़ा दोष है। दूसरी बात यह भी है कि दुष्ट शिष्य ने ग्रन्थ के गौरव से बचने के लिए यह कहा है कि—"महोऽपोवर्जम्" के द्वारा इन दो पदो ('मह' और 'अप') का पहले अपवाद नहीं करना चाहिए। वह ग्रन्थ का गौरव तो इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले (आप के मत में भी) सुतराम् अपरिहृत रहता है (अर्थात् आपके मत को मानने पर भी ग्रन्थ में कोई लाघव नही आता। इसमे तो बल्कि ग्रन्थ का गौरव और अधिक हो जाता है)। इसलिए संक्षेप में कहने वाले इस आचार्य (शौनक) ने पहले अपवाद कर दिया है—' 'मह' और 'अप' को छोड़कर।" (ऐसा करने से किसी प्रकार की दुरूहता नही रही और विषय पूर्णतया स्पष्ट हो गया)।

अन्तोदात्तमन्तः ॥७८॥

स० अ०—'अन्तोदात्त' 'अन्तः' (पद) ('रेफि'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—अन्तः इत्येतत्पदम् अन्तोदात्तम् सद्रेफिसंज्ञं भवति। "अन्तरिच्छन्ति तं जने।"[1] अन्तोदात्तम् इति किम् ? इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः॥"[2]

उ० भा० अ०—अन्तः यह पद; अन्तोदात्तम्='अन्तोदात्त'; होने पर 'रेफि'-सज्ञक होता है।[क] (उदाहरण) "अन्तरिच्छन्ति त जने।"[ख] "'अन्तोदात्त'

टि० (क) जब किसी पद को 'रेफि'-सज्ञक कहा जाता है तो उससे यह समझना चाहिये कि उसका विसर्जनीय 'रेफि'-संज्ञक है। रेफि'-सज्ञक होन से वह यथास्थान रेफ मे परिणत हो जाता है।

(ख) अन्तः। इच्छन्ति। तम्। जने॥ प० पा०

[1] ऋ० ८।७२।३ [2] ऋ० १।१६४।३५

होने पर''–यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः।''क

अक्षाविपर्यये ॥७९॥

सू० अ०—('स्वर' का) विपर्यय होने पर 'अक्षाः' (पद) ('रेफि'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—अक्षाः इत्येतत्पदमधस्तनस्य पदस्य; (विपर्यये=)स्वरविपर्यये सति; रेफिसंज्ञं भवति। अन्तोदात्तं चाधस्तनपदं तत्स्वरविपर्ययेऽनुदात्तं वाद्युदात्तं वा भवति। अनुदात्तम्—"अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः।"[1] आद्युदात्तम्—"यदक्षारतिं देवयुः।"[2] विपर्यये इति किम् ? "न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन्॥"[3]

उ० भा० अ०—अक्षाः यह पद, उपर्युक्त पद ('अन्त') के; (विपर्यये=) 'स्वर' का विपर्यय होने पर, 'रेफि'-संज्ञक होता है। और उपर्युक्त पद ('अन्त') 'अन्तोदात्त' है; उसके 'स्वर' का विपर्यय होने पर ('अक्षाः' पद) 'अनुदात्त' या 'आद्युदात्त' होता है। (तात्पर्य यह है कि 'सर्वानुदात्त' या 'आद्युदात्त' होने पर 'अक्षाः' पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)। अनुदात्त (का उदाहरण)—"अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः।"ख आद्युदात्त (का उदाहरण) "यदक्षारतिं देवयुः।"ग "('स्वर' का) विपर्यय होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन्।"घ

स्पर्शे चोषः प्रत्यये पूर्वपद्यः ॥८०॥

सू० अ०—'स्पर्श' (–'व्यञ्जन') परे हो तो पूर्व-'पद्य' 'उषः' भी ('रेफि'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—उषः इत्ययं पूर्वपद्यः सन् स्पर्शे प्रत्यये रेफिसंज्ञो भवति। "उषर्बुध आ वह"[4]; "उषर्भुद्भदतिथिः।"[5] स्पर्शे इति किम् ? "उषउषो हि वसो।"[6] पूर्वपद्यः इति किम् ? "उषो मघोनि॥"[7]

टि० (क) इयम्। वेदिः। परः। अन्तः। पृथिव्याः॥
यहाँ पर 'अन्त' पद 'अन्तोदात्त' नहीं अपितु 'आद्युदात्त' है, इसलिये यह 'रेफि'-संज्ञक नहीं है।

(ख) अनूपे। गोऽमान्। गोभिः। अक्षाःरिति॥ प० पा०
'अनुदात्त' ('सर्वानुदात्त') होने के कारण 'अक्षाः' पद 'रेफि'-संज्ञक है। पद-पाठ में 'इति' लगाकर 'अक्षाः' के 'रिफित'-विसर्जनीय के 'रिफित'-स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

(ग) यत्। अक्षाः। अतिं। देवऽयुः॥ प० पा०

(घ) निऽउप्ता। अक्षाः। अनु। दीवे। आसन्॥ प० पा०
'अन्तोदात्त' होने के कारण 'अक्षा' पद 'रिफित'–संज्ञक नहीं है।

---

[1] ऋ० ९।१०७।९ [2] ऋ० ९।४३।५ [3] ऋ० १०।२७।१७
[4] ऋ० १।४४।९ [5] ऋ० ६।४।२ [6] ऋ० १०।८।४ [7] ऋ० ४।५५।९

उ० भा० अ०—स्पर्शे प्रत्यये='स्पर्श' (-व्यञ्जन') परे हो तो; उषः यह (शब्द) पूर्वपद्यः=पूर्व-'पद्य' होने पर; 'रेफि'-सज्ञक होता है। (उदाहरण) "उषर्बुध आ वह"[क] "उषर्भुद्भूदतिथि।"[ख] "'स्पर्श' परे हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "उषउषो हि वसो।"[ग] "'पूर्व-'पद्य' होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "उषो मघोनि।"[घ]

प्रातः ॥८१॥

सू० अ०—'प्रातः' (पद 'रेफि'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—प्रातः इत्येतत्पदं रिफितसज्ञं भवति। "प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे॥"[1]

उ० भा० अ०—प्रातः यह पद 'रिफित'-सज्ञक होता है। (उदाहरण) "प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे।"[ङ]

देवं भाः ॥८२॥

सू० अ०—'भाः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है यदि उसके पूर्व में) 'देवम्' (पद हो)।

उ० भा०—भाः इत्येतत्पदं रिफितसंज्ञं भवति देवम् इत्येतत्पद पूर्वं चेत्। "देवं भाः परावतः।"[2] देवम् इति किम्? "बृहद्भा बिभ्रतो हविः॥"[3]

उ० भा० अ०—भाः यह पद 'रिफित'-सज्ञक होता है, यदि देवम् यह पद (उस 'भा' पद के) पूर्व में हो। (उदाहरण) "देव भा परावत.।"[च] "देवम्"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "बृहद्भा बिभ्रतो हवि।"[छ]

वधराद्युदात्तम् ॥८३॥

सू० अ०—'आद्युदात्त' 'वधः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)

टि० (क) उषऽबुध.। आ। वह॥ प० पा०

(ख) उषऽभुत्। भूत्। अतिथिः॥ प० पा०

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'उष' शब्द पूर्व-'पद्य' है, अत यह 'रेफि'-सज्ञक है।

(ग) उष ऽउष। हि। वसो इति॥ प० पा०

यहाँ पूर्व-'पद्य' 'उष.' के परे 'स्पर्श'-वर्ण नही ह अपितु 'स्वर'-वर्ण है जिससे इस 'उष.' की 'रेफि'-संज्ञा नही है।

(घ) उष.। मघोनि॥ प० पा०

यहाँ 'उष.' पद पूर्व-'पद्य' नही है, अत. यह 'रेफि'-सज्ञक नही है।

(ङ) प्रात। अग्निम्। प्रात.। इन्द्रम्। हवामहे॥ प० पा०

(च) देवम्। भारिति भाः। पराऽवतः॥ प० पा०

(छ) बृहत्। भा.। बिभ्रत। हवि॥ प० पा०

यहाँ 'भाः' के पूर्व में 'देवम्' पद न होने से 'भा.' 'रिफित'-संज्ञक नही है।

---

[1] ऋ० ७।४१।१ [2] ऋ० १।१२८।२ [3] ऋ० १।४५।८

उ० भा०—वधः इत्येतत्पदम् आद्युदात्तम् चेद्रिफितसंज्ञं भवति। "वधंजघान तविषीभिरिन्द्रः।"[१] आद्युदात्तम् इति किम्? "आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु॥"[२]

उ० भा० अ०—यदि वधः यह पद आद्युदात्तम्='आद्युदात्त'; हो तो, 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) 'वधंजघान तविषीभिरिन्द्र।'[क] "'आद्युदात्त' होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु।"[ख]

करनुदात्तम् ॥८४॥

सू० अ०—'अनुदात्त' 'कः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—कः इत्येतत्पदं रिफितसंज्ञ भवति अनुदात्तम् चेत्। "नि काव्या वेधसः शश्वतस्कः।"[३] अनुदात्तम् इति किम्? "को अद्य नर्यो देवकामः॥"[४]

उ० भा० अ०—यदि कः यह पद अनुदात्तम्='अनुदात्त', होवे तो वह 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "नि काव्या वेधस शश्वतस्क।"[ग] "अनुदात्त"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "को अद्य नर्यो देवकाम।"[घ]

अविभः ॥८५॥

सू० अ—'अविभः' (पद 'रफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—अविभः इत्येतत्पदं रिफित-संज्ञं भवति। "पितेव पुत्रमविभरुपस्थे॥"[५]

उ० भा० अ०—अविभः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "पितेव पुत्रमविभरुपस्थे।"[ङ]

तदादः ॥८६॥

सू० अ०—'तत्' पूर्व में हो तो 'आदः' ('रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—आदः इत्येतत्पदं तद् इत्येत्पूर्वं चेद्रिफितसंज्ञं भवति। "विवल्परि

टि० (क) वधं। जघान। तविषीभि। इन्द्रं॥ प० पा०
'वध' पद 'आद्युदात्त' होने के कारण 'रिफित'-संज्ञक है।
(ख) आरे। गोऽहा। नृऽहा। वध। व। अस्तु॥ प० पा०
'वध' पद 'अन्तोदात्त' होने के कारण 'रिफित'-संज्ञक नही है।
(ग) नि। काव्या। वेधसं। शश्वंत। क॥ प० पा०
'क' पद 'अनुदात्त' होने के कारण 'रिफित'-संज्ञक है।
(घ) क। अद्य। नर्यं। देवऽकाम॥ प० पा०
'क' पद 'उदात्त' होने के कारण 'रिफित'-संज्ञक नही है।
(ङ) पिताऽइव। पुत्रम्। अविभ। उपऽस्थे॥ प० पा०

[१] ऋ० ५।३२।३ [२] ऋ० ७।५६।१७ [३] ऋ० १।७२।१
[४] ऋ० ४।२५।१ [५] ऋ० १०।६९।१०

सुप्रथितं तदादः ।"[१] तद् इति किम् ? "अष्टा महो दिव आदो हरी इह ।"[२] आदः इति किम् ? "अदो यद्दारु प्लवते ॥"[३]

उ० भा० अ०—तद् यह (पद) पूर्व में हो तो आदः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "दिवस्परि सुप्रथितं तदाद.।"[क] "तद्"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अष्टा महो दिव आदो हरी इह।"[ख] "आद."—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अदो यद्दारु प्लवते।"[ग]

स्तः प्रागाथम् ॥८७॥

सू० अ०—प्रगाथ (-सूक्तों) में ('स्तः') ('रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—स्तः इत्येतत्पदं प्रागाथम् चेद्रिफितसंज्ञं भवति। "मा न स्तरभिमातये।"[४] प्रागाथम् इति किम् ? "नास्य ते महिमानं परि ष्टः॥"[५]

उ० भा० अ०—यदि; प्रागाथम्=प्रगाथ (सूक्तों) में आवे तो; स्तः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "मा न स्तरभिमातये।"[घ] "प्रगाथ (सूक्तों) में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) 'नास्य ते महिमानं परि ष्ट।"[ङ]

एतशे कः ॥८८॥

सू० अ०—'एतशे' (पद पूर्व में हो तो) 'कः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—कः इत्येतत्पदम् एतशेपूर्वं चेद्रिफितसंज्ञं भवति। "पुरः सुतीरुर्परा एतशे कः।"[६] एतशे इति किम् ? "को अद्य नर्यः।"[७] करनुदात्तमुक्तमुदात्तार्थ आरम्भः॥

उ० भा० अ०—यदि एतशे पूर्व में होवे तो कः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "पुर सुतीरुर्परा एतशे क।"[च] "एतशे"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ?

टि० (क) दिव.। परि। सुऽप्रथितम्। तत्। आ। अदरित्यद ॥ प० पा०
(ख) अष्टा। मह। दिव। आद। हरी इति। इह॥ प० पा०
'तद्' पूर्व में न होने के कारण 'आद' की 'रिफित'-संज्ञा नहीं हुई।
(ग) अद। यत्। दारु। प्लवते॥ प० पा०
(घ) मा। न। स्त.। अभिऽमातये॥ प० पा०
प्रगाथ-सूक्त में आने के कारण 'स्त' 'रिफित'-संज्ञक है।
(ङ) न। अस्य। ते इति। महिमानम्। परि। स्त इति स्त॥ प० पा०
प्रगाथ-सूक्त में न आने के कारण 'स्त' 'रिफित'-संज्ञक नहीं है।
(च) पुरः। सुती। उर्परा। एतशे। करिति क॥ प० पा०
'एतशे' पूर्व में होने के कारण 'क.' 'रिफित'-संज्ञक है।

---

[१] ऋ० १।१२१।१० [२] ऋ० १।१२१।८ [३] ऋ० १०।१५५।३
[४] ऋ० ८।३।२ [५] ऋ० १।६१।८ [६] ऋ० ५।२९।५
[७] ऋ० ४।२५।१

(उत्तर) "को अद्य नर्यः ।"क 'अनुदात्त' 'कः' के विषय में कह चुके हैं[१]; 'उदात्त' ('क.') के लिये (सूत्र) बनाया है ।

दिवे कः ॥८९॥

० अ०—'दिवे' (पद पूर्व में हो तो) 'कः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है) ।

उ० भा०—कः इत्येतत्पद रिफितसज्ञं भवति दिवेपूर्वं चेत् । "महे यत्पित्र ईं रसं दिवे कः ।"[२] दिवे इति किम् ? "को अद्य नर्यः ।"[३] उदात्तार्थ आरम्भः ॥

उ० भा० अ०—यदि दिवे पूर्व में हो तो कः यह पद 'रिफित'-सज्ञक होता है । (उदाहरण) "महे यत्पित्र ईं रसं दिवे क ।"ख "दिवे"-यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "को अद्य नर्य ।"ग 'उदात्त' ('क') के लिये सूत्र बनाया है ।

अपस्कः ॥९०॥

सू० अ०—'अपः' (पद पूर्व में हो तो) 'कः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है) ।

उ० भा०—कः इत्येतत्पद रिफितसज्ञ भवति अपः इत्येतत्पद पूर्वं चेत् । "इन्द्राय यो नः प्रदिवो अपस्कः ।"[४] अपः इति किम् ? "को वस्त्राता वसवः ।"[५] उदात्तार्थ आरम्भः ॥

उ० भा० अ०—यदि अपः पद पूर्व में हो तो 'क' यह पद 'रिफित'-सज्ञक होता है (उदाहरण) "इन्द्राय यो नं प्रदिवो अपस्क ।"घ "अप"-यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "को वस्त्राता वसव ।"ङ 'उदात्त' ('क') के लिये (सूत्र) बनाया है ।

अत्साः ॥९१॥

सू० अ०—'अत्साः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है ।

उ० भा०—अत्साः इत्येतत्पद रिफितसंज्ञं भवति । "लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः ॥"[६]

टि० (क) क । अद्य । नर्यः ॥ प० पा०
'एतवो' पूर्व में न होने के कारण 'क' 'रिफित'-सज्ञक नही है ।

(ख) महे । यत् । पित्रे । ईम् । रसम् । दिवे । क ॥ प० पा०
'दिवे' पूर्व में होने के कारण 'क' 'रिफित'-सज्ञक है ।

(ग) क । अद्य । नर्य ॥ प० पा०
'दिवे' पूर्व में न होने के कारण 'क' 'रिफित'-सज्ञक नही है ।

(घ) इन्द्राय । य । नु । प्रऽदिवं । अप । करिति क ॥ प० पा०
'अप' पूर्व में होने के कारण 'क' 'रिफित'-सज्ञक है ।

(ङ) क । वः । त्राता । वसव ॥ प० पा०
अप' पूर्व में न होने के कारण 'क' 'रिफित'-सज्ञक नही है ।

---

[१] दे० १।८४ [२] ऋ० १।७१।५ [३] ऋ० ४।२५।१
[४] ऋ० ६।२३।५ [५] ऋ० ४।५५।१ [६] ऋ० १०।२८।४

उ० भा०—अत्साः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "लोपाश. सिंहं प्रत्यञ्चमत्सा।"क

अविपूर्वमस्तः ॥९२॥

सू० अ०—'वि' पूर्व में न हो तो 'अस्तः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—अस्तः इत्येतत्पदं रिफितसंज्ञं भवति; (अविपूर्वम्=) विपूर्वं चेन्न भवति। "वज्रेण हि वृत्रहा वृत्रमस्तः।"[1] अविपूर्वम् इति किम्? "पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः॥"[2]

उ० भा० अ०—(अविपूर्वम्=) यदि 'वि' पूर्व में न हो तो, अस्तः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "वज्रेण हि वृत्रहा वृत्रमस्तः।"ख "'वि' पूर्व में न होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्त।"ग

स्वः स्वरितम् ॥९३॥

सू० अ०—'स्वरित' (होने पर) 'स्वः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—स्वः इत्येतत्पदं रिफित-संज्ञं भवति स्वरितम् चेत्। "स्वर्यद्वेदिं सुदृशीकमर्कैः।"[3] स्वरितम् इति किम? "यो नः स्वो अरणः॥"[4]

उ० भा० अ०—यदि; स्वरितम्='स्वरित'; हो तो स्वः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "स्वर्यद्वेदिं सुदृशीकमर्कैः।"घ "स्वरित"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "यो नः स्वो अरणः।"ङ

न समासाङ्गमुत्तरम् ॥९४॥

सू० अ०—समास का उत्तर-पद (अङ्ग) (होने पर) ('स्वः' पद 'रिफित'-संज्ञक) नहीं (होता है)।

उ० भा—स्वः इत्येतत्पदम्; (समासाङ्गमुत्तरम्=) समासस्योत्तराङ्ग सत्; रिफित-

टि० (क) लोपाश.। सिंहम्। प्रत्यञ्चम्। अत्सारिति॥ प० पा०
(ख) वज्रेण हि वृत्रहा वृत्रमस्तरदेवस्य॥ सं०पा०
वज्रेण। हि। वृत्रऽहा। वृत्रम्। अस्त॥ प० पा०
'वि' पूर्व में न होने के कारण 'अस्त' 'रिफित'-संज्ञक है।
(ग) पुरुऽत्रा। वृत्र.। अशयत्। विऽअस्त.॥ प० पा०
'वि' पूर्व में होने के कारण 'अस्त.' 'रिफित'-संज्ञक नहीं है।
(घ) स्वः। यत्। वेदिं। सुऽदृशीकम्। अर्कैः॥ प० पा०
'स्वरित' होने के कारण 'स्व' पद 'रिफित'-संज्ञक है।
(ङ) य.। नः। स्वः। अरण॥ प० पा०
'स्वरित' न होने के कारण 'स्व.' पद 'रिफित'-संज्ञक नहीं है।

[1] ऋ० १०।१११।६ [2] ऋ० १।३२।७ [3] ऋ० ४।१६।४ [4] ऋ० ६।७५।१९

संज्ञं न भवति । "यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणा ।"[1] उत्तराङ्गम् इति किम् ? "मादयस्व स्वर्णरे ॥"[2]

उ० भा० अ०—(समासाङ्गमुत्तरम्=) समास का उत्तर-पद (अङ्ग) होने पर; 'स्व.' यह पद 'रिफित'-संज्ञक; न=नहीं; होता है । (उदाहरण) "य. पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणा ।"[क] "उत्तर-पद (होने पर)" यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "मादयस्व स्वर्णरे ।"[ख]

स्वरादेशोऽपूर्वपदेषु ॥९५॥

सू० अ०—(७८,७९,८३,८४ और ९३ वे सूत्रों में किया गया) 'स्वर' का विधान (निर्दिष्ट पदों के) पूर्व-पद न होने पर (ही लागू होता है)।

उ० भा०—योऽयं स्वरादेशः—"अन्तोदात्तमन्तः";[३] "वधराद्युदात्तम्";[४] "स्वः स्वरितम्"[५] इत्यादेशः सः; अपूर्वपदेषु इति=पूर्वपदेषु न भवति । एतदुक्तं भवति—यदि पूर्वपदानि भवन्ति तदान्यस्वरानुदात्तादियुक्तान्यपि रिफितान्येव भवन्ति । "अन्तर्वावत्क्षयं दधे";[६] "वधर्यन्तीं बहुभ्यः";[७] "स्वर्जिदभिजित्पवते सहस्रजित् ॥"[८]

उ० भा० अ०—जो यह, स्वरादेशः=स्वर' का विधान—"'अन्तोदात्त' (होने पर) 'अन्त.' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)"; "'आद्युदात्त' (होने पर) 'वध.' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)"; "'स्वरित' (होने पर) 'स्व' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)"—(इन सूत्रों में किया गया है) वह विधान; अपूर्वपदेषु=(निर्दिष्ट पदों के) पूर्व-पद होने पर नहीं लगता है । (इस सूत्र में) यह कहा है—यदि ('अन्त.' इत्यादि निर्दिष्ट पद) पूर्व-पद होते हैं तब (वे पद) 'अनुदात्त' आदि अन्य स्वरों से युक्त होने पर भी 'रिफित' ही होते हैं ।[ग]

टि० (क) य. । पुष्पिणीः । च । प्रऽस्व । च । धर्मणा ॥ प० पा०
समास का उत्तर-पद होने के कारण 'स्व.' 'रिफित'-संज्ञक नहीं है ।

(ख) मादयस्व । स्व ऽनरे ॥ प० पा०
समास का उत्तर-पद न होने के कारण 'स्व' 'रिफित'-संज्ञक है ।

(ग) इस सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि 'अन्त' इत्यादि पदों के 'रिफित'-संज्ञक होने के लिये 'अन्तोदात्त' आदि 'स्वर' की जो शर्त रखी गई थी वह केवल तभी लागू होती है जब ये पद समस्त पदों के पूर्व-पद नहीं होते । समस्त-पदों के पूर्व-पद होने पर तो इनके 'रिफित' होने के लिये कोई शर्त नहीं है । उदाहरण के लिये 'अन्तः' पद को लीजिये । १।७८ में यह विधान किया गया है कि 'अन्तोदात्त' होने पर 'अन्त' पद 'रिफित'-संज्ञक होता है । इस प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि 'अन्त' पद यदि समस्त-पद का पूर्व-पद हो तो उसके 'रिफित' होने के लिये 'अन्तोदात्त' होने की शर्त नहीं है । 'अन्तोदात्त'

---

[१] ऋ० २।१३।७ [२] ऋ० ८।१०३।१४ [३] १।७८
[४] १।८३ [५] १।९३ [६] ऋ० १।४०।७
[७] ऋ० १।१६१।९ [८] ऋ० ९।७८।४

(उदाहरण) "अन्तर्वावत्क्षयं दधे"क; "वृधर्यन्तीं बहुर्म्यः"ख; "स्वर्जिदप्सुजित्पवते सहस्रजित् ॥"ग

अवर्महः ॥९६॥

सू० अ०—'महः' (पद से पूर्व में होने पर) 'अवः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—अवः इत्येतत्पद रिफितसंज्ञं भवति महः इत्येतस्मात्पदात्पूर्वं चेत्। "अवर्मह इन्द्र दादृहि।"[१] महः इति किम्? "अवो बभूथ शतमूते अस्मे।"[२]

उ० भा० अ०—महः इस पद से पूर्व में हो तो अवः यह पद 'रिफित'-संज्ञक होता है। (उदाहरण) "अवर्मह इन्द्र दादृहि।"घ "महः"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अवो बभूथ शतमते अस्मे।"ङ

अनर्धर्चान्ते स्वरघोषवत्परमूधः ॥९७॥

सू० अ०—यदि 'स्वर' (-वर्ण) या 'सघोष' (-'व्यञ्जन') बाद में हो तो अर्धर्च के अन्त में न (आने वाला) 'ऊधः' (पद 'रिफित'-संज्ञक होता है)।

ऊधः इत्येतत्पदं स्वरघोषवत्परम् रिफितसंज्ञं भवति; (अनर्धर्चान्ते=) अर्धर्चान्तं चेन्न भवति। "प्र कृष्णाय रुशदपिन्वतोधर्ऋतम्"[३]; "ऊधर्न गोनां स्वाद्मा पितूनाम्।"[४]

न होने पर भी वह 'रिफित'-संज्ञक होता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि भाष्यकार भाष्य में १।७८, १।८३ और १।९३ का ही उल्लेख करते हैं, १।७९ और १।८४ का नहीं। इसका यही कारण हो सकता है कि १।७९ और १।८४ में उल्लिखित 'अक्षा' और 'क' पद समस्त-पदो के पूर्व-पद के रूप में उपलब्ध नहीं होते हैं।

टि० (क) अन्तःऽवावत्। क्षयम्। दधे॥ प० पा०
यद्यपि 'अन्त.' पद 'अन्तोदात्त' नहीं है तथापि पूर्व-पद होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से यह 'रिफित'-संज्ञक हो गया।

(ख) वृधःऽयन्तीम्। बहुऽर्म्यः॥ प० पा०
यद्यपि 'वध:' पद 'आद्युदात्त' नहीं है तथापि पूर्व-पद होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से यह 'रिफित'-संज्ञक हो गया।

(ग) स्वःऽजित्। अप्ऽजित्। पवते। सहस्रऽजित्॥ प० पा०
यद्यपि 'स्व.' पद 'स्वरित' नहीं है तथापि पूर्व-पद होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से यह 'रिफित'-संज्ञक हो गया।

(घ) अवः। महः। इन्द्र। ददृहि॥ प० पा०
'महः' पद से पूर्व में होने के कारण 'अव.' 'रिफित'-संज्ञक है।

(ङ) अवः। बभूथ। शतम्ऽऊते। अस्मे इति॥ प० पा०
'महः' पद से पूर्व में न होने के कारण 'अवः' 'रिफित'-संज्ञक नहीं है।

---

[१] ऋ० १।१३३।६ [२] ऋ० ७।२१।८ [३] ऋ० १०।३१।११ [४] ऋ० १।६९।२

अनर्धर्चान्ते इति किम् ? "सकृच्छकं दुदुहे पृश्निरूधः।"[1] स्वरघोषवत्परम् इति किम् ? "पृथिव्यामतिषितं यदूधः॥"[2]

उ० भा० अ०—**स्वरघोषवत्परम्**='स्वर' (-वर्ण) या 'सघोष' ('व्यञ्जन') बाद में हो तो; **ऊधः** यह पद 'रिफित'-सञ्ज्ञक होता है; (अनर्धर्चान्ते=) यदि (वह) ('ऊध.') अर्धर्च का अन्तिम (पद) न हो। (उदाहरण) "प्र कृष्णाय रुशदपिन्वतोधर्ऋतम्"[क]; "ऊधर्न गोना स्वाद्मा पितूनाम्।"[ख] "अर्धर्च के अन्त में (न होने पर)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सकृच्छुक दुदुहे पृश्निरूध।"[ग] "'स्वर' (-वर्ण) या 'सघोष' ('-व्यञ्जन') परे होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "पृथिव्यामतिषित यदूध"[घ]

टि० (क) प्र। कृष्णाय। रुशत्। अपिन्वत। ऊधः। ऋतम्॥ प० पा०
'स्वर'-वर्ण (ऋकार) परे होने के कारण 'ऊध' 'रिफित'-सञ्ज्ञक है।

(ख) ऊध। न। गोनाम्। स्वाद्म। पितूनाम्॥ प० पा०
'सघोष' ('-व्यञ्जन') (नकार) परे होने के कारण 'ऊध' 'रिफित'-सञ्ज्ञक है।

(ग) सकृत्। शुक्रम्। दुदुहे। पृश्नि। ऊध॥ प० पा०
अर्धर्च के अन्त में होने के कारण 'ऊध' 'रिफित'-सञ्ज्ञक नहीं है। 'ऊध' पद यहाँ द्वितीय अर्धर्च का अन्तिम पद है। इस पद के साथ ऋचा ही समाप्त हो जाती है जिससे यह स्पष्ट है कि इससे परे न तो 'स्वर'-वर्ण है और न 'सघोष-' 'व्यञ्जन' है। इसलिए 'स्वर'-वर्ण अथवा 'सघोष'-'व्यञ्जन' परे न होने के कारण ही 'ऊध' 'रिफित'-सञ्ज्ञक नही है। ऐसी स्थिति में इस प्रत्युदाहरण की दृष्टि से "अर्धर्च के अन्त में न होने पर"—इस प्रतिबन्ध की कोई उपयोगिता प्रतीत नही होती है। हो सकता है कि दूसरी ऋचा (ऋ० ६।६६।२) के आदि में विद्यमान 'सघोष'-'व्यञ्जन' ('ये') को दृष्टि में रखकर भाष्यकार ने यह प्रत्युदाहरण प्रस्तुत किया हो किंतु इस प्रत्युदाहरण की अपेक्षा यह प्रत्युदाहरण अधिक युक्त है—"कया भुवा नि दधे धेनुरूध। ऋतस्य...... ।" (ऋ० ३।५५।१३) यहाँ पर उसी ऋचा के द्वितीय अर्धर्च के आदि में विद्यमान 'स्वर'-वर्ण के परे रहने पर भी 'ऊध' 'रिफित'-सञ्ज्ञक नही है क्योकि 'ऊध' अर्धर्च के अन्त में विद्यमान है। उसी ऋचा के द्वितीय अर्धर्च के आदि वर्ण के प्रभाव से प्रथम अर्धर्च के अन्तिम वर्ण को कार्य प्राप्त होता है—इसके लिए प्रमाण के रूप में भाष्यकार के द्वारा प्रस्तुत २।७१ के इस उदाहरण को देखिए—"इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एद बर्हि ···· " (ऋ० ८।१७।१)। यहाँ पर द्वितीय अर्धर्च के आदि 'स्वर'-वर्ण (एकार) के प्रभाव से "पिबा इमम्"—इस द्विपद में 'पिब' का बकार आकार हो गया है।

(घ) पृथिव्याम्। अतिऽसितम्। यत्। ऊध.॥ प० पा०
'स्वर'-वर्ण अथवा 'सघोष'-'व्यञ्जन' परे न होने के कारण 'ऊधः' 'रिफित'-सञ्ज्ञक नही है।

---

[1] ऋ० ६।६६।१ [2] ऋ० १०।७३।९

न रेफेऽरुषासोऽतृणन्मही ॥६८

सू० अ०—रेफ, 'अरुषासः', 'अतृणत्' अथवा 'मही' बाद में होता है तो ('ऊधः' 'रिफित'-संज्ञक) नहीं (होता है)।

उ० भा०—(रेफे=) रेफादौ पदे परभूते; अरुषासः अतृणत् मही—इत्येतेषु परभूतेषु ऊधः-शब्दो रिफितसंज्ञो न भवति। रेफे—"समूधो रोमशं हतः।"[१] अरुषासः—"रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य।"[२] अतृणत्—"शुच्यूधो अतृणन्न गवाम्।"[३] मही—'पृश्निर्यदूधो मही जभार॥"[४]

उ० भा० अ०—(रेफे=) रेफ से प्रारम्भ होने वाला पद परे हो तो; अरुषासः, अतृणत् (और) मही—ये (पद) (अर्थात् इनमें से कोई भी पद) परे हों तो 'ऊध' शब्द 'रिफित'-सज्ञक; न=नहीं; होता है। (उदाहरण) रेफ परे होने पर—"समूधो रोमशं हत।"[क] अरुषासः—"रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य।"[ख] अतृणत्—"शुच्यूधो अतृणन्न गवाम्।"[ग] मही—' पृश्निर्यदूधो मही जभार।"[घ]

वरवरावरिति चैकपादे
व्यपपूर्वाण्यसमासाङ्गयोगे ॥६६॥

सू० अ०—एक (ही) पाद में 'वि' या 'अप' पूर्व में हो तो 'वः' 'अवः' और 'आवः' ('रिफित'-संज्ञक होते हैं), (यदि इन पाँच पदों में से कोई भी) समास का घटक (अङ्ग) न हो।

उ० भा०—वः अवः आवः—इत्येतानि पदानि रिफितसज्ञानि भवन्ति। कथं-भूतानीति ? अत आह—(एकपादे=) एकस्मिन्पादे; यदि वि अप इत्येवंपूर्वाणि भवन्ति। (असमासाङ्गयोगे=) यदि चोभयोरपि समासाङ्गयोगो न भवन्ति=यदि च वः अवः आव इत्येतानि च पदानि समासाङ्गभूतानि न भवन्ति; वि अप इत्येते च पदे यदि समासाङ्गभूते न भवत इत्यर्थः। वः—"गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा"[५]; "यो गा उदाजदप हि वलं वः।"[६] अवः—"वि ज्योतिषा संववृत्वत्तमोऽवः"[७]; "अपावरद्रिवो बिलम्।"[८] आवः—"व्यावर्देव्या मतिम्"[९]; "अप द्रुहस्तम आवरजुष्टम्।"[१०]

टि० (क) सम्। ऊध। रोमशम्। हत.॥ प० पा०
रेफ से प्रारम्भ होने वाला 'रोमशम्' पद बाद में है इसलिए 'ऊध' पद 'रिफित'-सज्ञक नहीं है। अन्य उदाहरणो को भी इसी प्रकार समझना चाहिए।
(ख) रिहन्ति। ऊध। अरुषास। अस्य॥ प० पा०
(ग) शुचि। ऊध। अतृणत्। न। गवाम्॥ प० पा०
(घ) पृश्नि.। यत्। ऊध। मही। जभार॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ८।३१।९ [२] ऋ० १।१४६।२ [३] ऋ० ४।१।१९
[४] ऋ० ७।५६।४ [५] ऋ० १।६२।५ [६] ऋ० २।१४।३
[७] ऋ० ५।३१।३ [८] ऋ० १।११।५ [९] ऋ० ८।९।१६
[१०] ऋ० ७।७५।१

एकपादे इति किम् ? "अभेष्माप तदुच्छत्वनेहसो व ।"[1] व्यपपूर्वाणि इति किम् ? "को वस्त्राता वसवः"[2]; "महि त्रीणामवोऽस्तु"[3]; "प्रावो यद्दस्युहत्ये कुत्सवत्सम् ।"[4] असमासाङ्गयोगे इति किम् ? "अपावरद्रिवो बिलम् ।"[5] असमासाङ्गयोगे इत्युभयार्थं कस्मात् ? "विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः ॥"[6]

उ० भा० अ०—वः अवः आवः—ये पद 'रिफित'-सञ्ज्ञक होते हैं। किस प्रकार के ('व' 'अव' और 'आव.') (यह प्रश्न उठता है) ? इसलिए (सूत्रकार ने) कहा है—(एकपादे=) एक पाद में; यदि वि या अप–ये (पद) ('व', 'अव.' अथवा 'आव' के); पूर्वाणि=पूर्व में; होते हैं। (असमासाङ्गयोगे=) यदि दोनों ('व' 'अव', 'आव' तथा 'वि' 'अप') का ही समास के घटक (अङ्ग) के रूप में योग न हो=यदि 'व','अव' और 'आव.'–ये पद भी समास का घटक (अङ्ग) नही होते हैं; यदि 'वि' और 'अप'—ये पद भी समास का घटक (अङ्ग) नही होते है—यह अर्थ है। (उदाहरण) वः— "गृणानो, अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा"[क]; "यो गा उदाजप हि वल व ।"[ख] अवः—"वि ज्योतिषा सववृत्वत्तमोऽवः"[ग] "अपावरद्रिवो बिलम् ।"[घ] आवः—"व्यावर्देव्या मतिम्"[ङ], "अप द्रुहस्तम आवरजुष्टम् ।"[च]

"एक पाद में"–यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) 'अभेष्माप तदुच्छत्वनेहसो व ।"[छ] "'वि' या 'अप' पूर्व में होने पर"–यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "को वस्त्राता वसव."[ज], "महि त्रीणामवोऽस्तु"[झ]; "प्रावो यद्दस्युहत्ये कुत्सवत्सम् ।"[ञ] "समास के रूप में योग न होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) अपावरद्रिवो बिलम् ।"[ट]

टि० (क) गृणान । अङ्गिरःऽभि । दस्म । वि । व । उषसा ॥ प० पा०

(ख) य । गा । उत्ऽआजत् । अप । हि । वलम् । वरिति व. ॥ प० पा०

(ग) वि । ज्योतिषा । सम्ऽववृत्वत् । तम. । अवरित्यव ॥ प० पा०

(घ) अप । अव । अद्रिऽव । बिलम् ॥ प० पा०

(ङ) वि । आव । देवि । आ । मतिम् ॥ प० पा०

(च) अप । द्रुह । तम. । आव । अजुष्टम् ॥ प० पा०

(छ) अभेष्म । अप । तत् । उच्छतु । अनेहस । व ॥ प० पा०

(ज) क. । व । त्राता । वसव ॥ प० पा०

'अप' पद 'महापङ्क्ति' 'जगती' के चतुर्थ पाद में तथा 'व' पद पञ्चम पाद में स्थित है अत दोनो के एक पाद में न होने के कारण 'व' 'रिफित'-सञ्ज्ञक नही है।

(झ) महि । त्रीणाम् । अव । अस्तु ॥ प० पा०

(ञ) प्र । आव । यत् । दस्युऽहत्ये । कुत्सऽवत्सम् ॥ प० पा०

इन तीन प्रत्युदाहरणों में 'व.' 'अव.' तथा 'आव' के पूर्व में न 'वि' है और न 'अप' है, इसलिए 'व' 'अव' और 'आव' यहाँ पर 'रिफित'-सञ्ज्ञक नहीं है।

(ट) अप । अव । अद्रिऽव । बिलम् ॥ प० पा०

यहाँ पर 'व' समास का घटक (अङ्ग) है, अत यह 'रिफित'-सञ्ज्ञक नही है।

---

[1] ऋ० ८।४७।१८ [2] ऋ० ४।५५।१ [3] ऋ० १०।१८५।१

[4] ऋ० १०।१०५।११ [5] ऋ० १।११।५ [6] ऋ० १।६४।९

"समास के रूप में योग न होने पर"—यह दोनों ('वः', 'अव.', 'आवः' तथा 'वि', 'अप') के लिये किस कारण से कहा ? (उत्तर) "विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः।"क

पथ्या मघोनी दिवि चक्षसा मदे
पूर्वोऽर्चिषातीतृषामोत्तरेषु न ॥१००॥

सू० अ०—'पथ्या', 'मघोनी', 'दिवि', 'चक्षसा', 'मदे', 'पूर्वः', 'अर्चिषा' और 'अतीतृषाम'—(ये पद) बाद में हों तो ('वः', 'अवः' और 'आवः' 'रिफित'-संज्ञक) नहीं (होते)।

उ०भा०—पथ्या, मघोनी, दिवि, चक्षसा, मदे, पूर्वः, अर्चिषा, अतीतृषाम—इत्येतेषु पदेषु; (उत्तरेषु=) परभूतेषु; वः, अवः, आवः—इत्येतानि पदानि रिफितसंज्ञानि न भवन्ति। पथ्या—"व्युषा आवः पथ्या जनानाम्।"[१]–ख मघोनी—"अथो अद्येदं व्यावो मघोनी।"[२]–ग दिवि—"व्युषा आवो दिविजा ऋतेन।"[३]–घ चक्षसा—"वि यदावश्च-क्षसा सूर्यस्य।"[४]–ङ मदे—"वि वो मदे शीरम्।"[५]–च पूर्वः—"उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वःपूर्वः।"[६]–छ अर्चिषा—"व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।"[७]–ज अतीतृषाम—"नापाभूत न वोऽतीतृषाम।"[८]–झ एतेषु उत्तरेषु इति किम् ? "वि सूर्यो रोदसी चक्षसावः॥"[९]

उ० भा० अ०—पथ्या, मघोनी, दिवि, चक्षसा, मदे, पूर्वः, अर्चिषा, अतीतृषाम—ये पद; (उत्तरेषु=) परे होने पर; 'व.', 'अव.', और 'आवः'—ये पद 'रिफित'-

टि० (क) विऽद्युत्। न। तस्थौ। मरुतः। रथेषु। वः॥ प० पा०

यहाँ 'वि' समास का अङ्ग है, अत 'वः' रिफित'-संज्ञक नहीं है। इससे यह निश्चित हो गया कि 'व.', 'अव.' और 'आव.' तभी 'रिफित'-संज्ञक होते हैं जब 'व', 'अव', 'आव' तथा 'वि' 'अप' में से कोई भी समास का अङ्ग न हो।

(ख) वि। उषाः। आव। पथ्या। जनानाम्॥ प० पा०

'पथ्या' पद बाद में आने के कारण 'आव.' पद 'रिफित'-संज्ञक नहीं है। आगे के सभी उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिये। सभी स्थल १।९९ के अपवाद हैं।

(ग) अथो इति। अद्य। इदम्। वि। आव.। मघोनी॥ प० पा०
(घ) वि। उषा.। आव। दिविऽजा.। ऋतेन॥ प० पा०
(ङ) वि। यत्। आव.। चक्षसा। सूर्यस्य॥ प० पा०
(च) वि। व। मदे। शीरम्॥ प० पा०
(छ) उत। अन्य। अस्मत्। यजते। वि। च। आवः। पूर्वःऽपूर्व.॥ प० पा०
(ज) वि। उषा। चन्द्रा। मही। आव.। अर्चिषा॥ प० पा०
(झ) न। अप। अभूत। व.। अतीतृपाम॥ प० पा०

[१] ऋ० ७।७९।१ [२] ऋ० १।११३।१३ [३] ऋ० ७।७५।१
[४] ऋ० १।११३।९ [५] ऋ० १०।२१।१ [६] ऋ० ५।७७।२
[७] ऋ० १।१५७।१ [८] ऋ० ४।३४।११ [९] ऋ० ७।७९।१

सञ्ज्ञक; न=नहीं; होते हैं। ······। "ये (पद) परे होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "वि सूर्यो रोदसी चक्षसाव ।"[क]

होतः सनितः पोतर्नेष्टः सोतः सवितर्नेतस्त्वष्टः ।
मातर्जनितर्भ्रातस्त्रात स्थातर्जरितर्धातर्धर्तः ॥१०१॥

सू० अ०—'होतः', 'सनितः', 'पोतः', 'नेष्टः', 'सोतः', 'सवितः', 'नेतः', 'त्वष्टः', 'मातः', 'जनितः', 'भ्रातः', 'त्रातः', 'स्थातः', 'जरितः', 'धातः', 'धर्तः' (ये पद 'रिफित'-संज्ञक होते हैं)।

उ० भा०- होतः, सनितः, पोतः, नेष्टः, सोतः, सवितः, नेतः, त्वष्टः, मातः, जनितः, भ्रातः, त्रातः, स्थातः, जरितः, धातः, धर्तः - इत्येतानि पदानि रिफितसंज्ञानि भवन्ति । होतः—"यथा होतर्मनुषो देवताता ।"[१-ख] सनितः—"सनित सुसनित-रुग्र ।"[२-ग] पोतः—"पोतर्यज"[३] इति प्रैषिकम् । नेष्टः—"ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना ।"[४-घ] सोतः—"ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय ।"[५-ङ] सवितः—"विश्वानि देव सवितः ।"[६-च] नेतः—"ते ते देव नेत ।"[७-छ] त्वष्टः—"शिवस्त्वष्टरिहा गहि ।"[८-ज] मातः—"पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे वाम् ।"[९-झ] जनितः—"बोधि प्रयन्तर्जनितर्वसूनाम् ।"[१०-ञ] भ्रातः—"इन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम् ।"[११-ट] त्रातः—"ओजिष्ठ त्रातरवितः ।"[१२-ठ]

टि० (क) वि । सूर्य । रोदसी इति । चक्षसा । आवरित्याव ॥ प० पा०
यहाँ पर चक्षसा' पद 'आव' पद के बाद में न आकर पूर्व में आया है, अत प्रस्तुत सूत्र से 'आव' के 'रिफित' होने का निषेध नही होगा। अत 'वि' पूर्व में होने के कारण 'आव' पूर्ववर्ती सूत्र (१।९९) से 'रिफित'-सञ्ज्ञक हो गया।
(ख) यथा । होत । मनुष । देवऽताता ॥ प० पा०
(ग) सनितरिति । सुऽसनित । उग्र ॥ पा० पा०
(घ) ग्नाव । नेष्टरिति । पिब । ऋतुना ॥ प० पा०
(ङ) ज्येष्ठेन । सोत । इन्द्राय ॥ प० पा०
(च) विश्वानि । देव । सवित ॥ प० पा०
(छ) ते । ते । देव । नेत ॥ प० पा०
(ज) शिव । त्वष्ट । इह । आ । गहि ॥ प० पा०
(झ) पित । मात । यत् । इह । उपऽब्रुवे । वाम् ॥ प० पा०
(ञ) बोधि । प्रऽयन्त । जनित । वसूनाम् ॥ प० पा०
(ट) इन्द्र । भ्रात । उभयत्र । ते । अर्थम् ॥ प० पा०
(ठ) ओजिष्ठ । त्रात । अवितरिति ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ६।४।१ [२] ऋ० ८।४६।२० [३] मा० श्रौ० २।४।१।२८
[४] ऋ० १।१५।३ [५] ऋ० ८।२।२३ [६] ऋ० ५।८२।५
[७] ऋ० ५।५०।२ [८] ऋ० ५।५।९ [९] ऋ० १।१८५।११
[१०] ऋ० १।७६।४ [११] ऋ० ३।५३।५ [१२] ऋ० १।१२९।१०

स्थातः—"स्मसि स्यातर्हरीणाम् ।"[१-क] जरितः—"प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम् ।"[२-ख] धातः—"धातर्विधात कलशाँ अभक्षयम् ।"[३-ग] धर्तः—"धनानां धर्तरवसा ॥"[४-घ]

उ० भा० अ०—होतः, सनितः, पोतः, नेष्टः, सोतः, सवितः, नेतः, त्वष्टः, मातः, जनितः, भ्रातः, त्रातः, स्थातः, जरितः, धातः, धर्तः—ये पद 'रिफित'-सञ्ज्ञक होते हैं।.........।

जामातर्दुहितर्दर्तः प्रशास्तरवितः पितः ।
दोषावस्तरवस्पर्तः प्रयन्तश्चेदिङ्ग्यमुत्तमम् ॥१०२॥

सू० अ०—'जामातः', 'दुहितः', 'दर्तः', 'प्रशास्तः', 'अवितः', 'पितः', 'दोषावस्तः', 'अवस्पर्तः' और 'प्रयन्तः' (ये पद 'रिफित'-संज्ञक होते हैं); अन्तिम (अर्थात् 'प्रयन्तः') सावग्रह ('इङ्ग्य') (='प्रऽयन्तः') होने पर ही 'रिफित'-संज्ञक होता है)।

उ० भा०—जामातःप्रभृति प्रयन्तःपर्यन्तान्येतानि पदानि रिफितसंज्ञानि भवन्ति । किमविशेषेण सर्वाण्येव पदानि ? नेत्याह—इङ्ग्यमुत्तमम् । इङ्ग्यशब्देन सावग्रहं पदमुच्यते । उत्तमं पदं सावग्रहं भवति तदानीं रिफितसंज्ञं भवति ।

जामातः—"त्वष्टुर्जामातारद्भुत ।"[५-ङ] दुहितः—"प्रावाद्य दुहितर्दिवः ।"[६-च] दर्तः—"पुरां दर्तः पायुभिः ।"[७-छ] प्रशास्तः—"प्रशास्तर्यज"[८] इति प्रैषिकम् । अवितः—"ओजिष्ठ त्रातरविता रथम् ।"[९-ज] पितः—"पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे वाम् ।"[१०-झ] दोषावस्तः—"दोषावस्तर्धिया वयम् ।"[११-ञ] अवस्पर्तः—"अवस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम् ।"[१२-ट]

टि० (क) स्मसि । स्यात । हरीणाम् ॥ प० पा०
(ख) प्र । बोधय । जरित । जारम् । इन्द्रम् ॥ प० पा०
(ग) धात । विधातरिति विऽधात । कलशान् । अभक्षयम् ॥ प० पा०
(घ) धनानाम् । धर्त । अवसा ॥ प० पा०
(ङ) त्वष्टु । जामात. । अद्भुत ॥ प० पा०
(च) प्र । अव । अद्य । दुहित । दिव. ॥ प० पा०
(छ) पुराम् । दर्तरिति दर्त । पायुऽभि ॥ प० पा०
(ज) ओजिष्ठ । त्रात । अवितरिति । रथम् ॥ प० पा०
(झ) पित । मात. । यत् । इह । उपऽब्रुवे । वाम् ॥ प० पा०
(ञ) दोषाऽवस्त । धिया । वयम् ॥ प० पा०
(ट) अवऽस्पर्त । अधिऽवक्तारम् । अस्मऽयुम् ॥ प० पा०

[१] ऋ० ८।४६।१ [२] ऋ० १०।४२।२ [३] ऋ० १०।१६७।३
[४] ऋ० १।१६०।५ [५] ऋ० ८।२६।२१ [६] ऋ० १।४९।२
[७] ऋ० १।१३०।१० [८] मा० श्रौ० २।४।१।२८ [९] ऋ० १।१२९।१०
[१०] ऋ० १।१८५।११ [११] ऋ० १।१।७ [१२] ऋ० २।२३।८

प्रयन्तः—"बोधि प्रयन्तर्जनितर्वसूनाम् ।"[१–क] इङ्ग्यमुत्तमम् इति किम् ? उपप्रयन्तो अध्वरम् ।"[२–ख] पर्यन्तःपदमत्र नावगृह्यते; अतो रिफितं न ॥

उ० भा० अ०—जामातः (पद) से लेकर पर्यन्तः (पद) तक ये पद 'रिफित'-सञ्ज्ञक होते ह । क्या सभी पद विना किसी विशेष के ('रिफित'-संज्ञक होते हैं) ? (उत्तर) नहीं; (सूत्रकार ने) कहा है—इङ्ग्यमुत्तमम् । (पदपाठ में) 'अवग्रह'-सहित पद को 'इङ्ग्य' शब्द से कहते है। अन्तिम पद (='प्रयन्तः') (पदपाठ में) 'अवग्रह' के सहित (='प्रऽयन्तः') हो तो तब वह 'रिफित'-सञ्ज्ञक होता है ।

"अन्तिम सावग्रह हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "उपप्रयन्तो अध्वरम् ।" 'पर्यन्तः' पद यहाँ ('उपऽप्रयन्त' में) 'अवग्रह' से पृथक् नही किया जाता है, इसलिए ('प्रयन्तः' पद) 'रिफित'-सञ्ज्ञक नही है ।

दीधरभारवरीवरदर्दर्दर्दरदर्घजागरजीगः ।
वारपुनः पुनररस्परक स्पः सस्वरहः सनुतः सवरस्वाः ॥१०३॥

सू० अ०—'दीधः', 'अभाः', 'अवरीवः', 'अदर्दः', 'दर्दः' 'अदर्घः', 'अजागः', 'अजीगः', 'वाः', 'अपुनः', 'पुनः', 'अस्पः', 'अकः', 'स्पः', 'सस्वः', 'अहः', 'सनुतः' 'सवः' (और) 'अस्वाः' (ये पद 'रिफित'-संज्ञक होते हैं) ।

उ० भा०—दीधः, अभाः, अवरीवः, अदर्दः, दर्दः, अदर्घः, अजागः, अजीगः, वाः, अपुनः, पुनः, अस्पः, अकः, स्पः, सस्वः, अहः, सनुतः, सवः, अस्वाः—इत्येतानि पदानि रिफितसंज्ञानि भवन्ति ।

दीधः—"आमासु पक्व शच्या नि दीधः ।"[३–ग] अभाः—"इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः ।"[६–घ] अवरीवः—"किमावरीवः कुह कस्य शर्मन् ।"[५–ङ] अदर्दः—"अदर्दरुत्समसृजो वि खानि ।"[४–च] दर्दः—"अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविः ।"[७–छ] अदर्घः—

टि० (क) बोधि । प्रऽयन्त । जनित । वसूनाम् ॥ प० पा०
यह 'प्रयन्त' पद पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक् किया गया है । अत यह 'रिफित'—सञ्ज्ञक है ।
(ख) उपऽप्रयन्त । अध्वरम् ॥ प० पा०
(ग) आमासु । पक्वम् । शच्या । नि । दीधरिति दीध ॥ प० पा०
(घ) इषम् । ऊर्जम् । सुऽक्षितिम् । विश्वम् । आ । अभारित्यभा ॥ प० पा०
(ङ) किम् । आ । अवरीवरिति । कुह । कस्य । शर्मन् ॥ प० पा०
(च) अदर्द । उत्सम् । असृजः । वि । खानि ॥ प० पा०
(छ) अप । यत् । अद्रिम् । पुरुऽहूत । दर्द । आवि ॥ प० पा०

[१] ऋ० १।७६।४ [२] ऋ० १।७४।१ [३] ऋ० ६।१७।६
[४] ऋ० १०।२०।१० [५] ऋ० १०।१२९।१ [६] ऋ० ५।३२।१
[७] ऋ० ४।१६।८

"उत्संहायास्याद्व्यृतूंरदर्धः ।"[१-क] अजागः—"अजागरास्वधि देव एकः ।"[२-ख] अजीगः—"आदित् प्रसिष्ठ ओषधीरजीग. ।"[३-ग] वाः—"वारिन्मण्डूक इच्छति ।"[४-घ] अपुनः—"अनानुकृत्यमपुनश्चकार ।"[५-ङ] पुनः—"पुनरागाः पुनर्नव ।"[६-च] अस्पः—"महो राये चितयन्नत्रिमस्पः ।"[७-छ] अकः—"अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकः ।"[८-ज] स्पः—"शूरो न युध्यन्नव नो निद स्पः ।"[९-झ] सस्वः—"सस्वश्चिद्धि तन्वः शुम्भमाना. ।"[१०-ञ] अहः—"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च ।"[११-ट] सनुतः—"सनुतर्येहि तं ततः ।"[१२-ठ] सबः—"सबर्दुघायाः पय उस्रियायाः ।"[१३-ड] अस्वाः—"आ यस्ते योनिं घृतवन्तमस्वाः ।"[१४-ढ]

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायां वज्रटसुतउवटकृतौ परिभाषा प्रथमं पटलम् ॥

उ० भा० अ०—द्रीघः, अभाः, अवरीवः, अदर्दः, दर्दः, अदर्धः, अजागः, अजीगः, वाः, अपुनः, पुनः, अस्पः, अकः, स्पः, सस्वः, अहः, सनुवः, सवः, अस्वाः—ये पद 'रिफित'-संज्ञक होते हैं ।······।

वज्रट के पुत्र उवट की कृति प्रातिशाख्य-भाष्य में
परिभाषा-नामक प्रथम पटल समाप्त हुआ ।

टि० (क) उत् । सम्ऽहाय । अस्यात् । वि । ऋतून् । अदर्धः ॥ प० पा०
(ख) अजागः । आसु । अधि । देवः । एकः ॥ प० पा०
(ग) आत् । इत् । प्रसिष्ठ । ओषधीः । अजीगरिति ॥ प० पा०
(घ) वाः । इत् । मण्डूक. । इच्छति ॥ प० पा०
(ङ) अनन्ऽकृत्यम् । अपुनरिति । चकार ॥ प० पा०
(च) पुन. । आ । अगाः । पुनःऽनव ॥ प० पा०
(छ) मह. । राये । चितयन् । अत्रिम् । अस्परित्यस्पः ॥ प० पा०
(ज) अवद्यम्ऽइव । मन्यमाना । गुहा । अकः ॥ प० पा०
(झ) शूरः । न । युध्यन् । अव । नः । निदः । स्परिति स्पः ॥ प० पा०
(ञ) सस्वरिति । चित् । हि । तन्वः । शुम्भमाना ॥ प० पा०
(ट) अहरिति । च । कृष्णम् । अह. । अर्जुनम् । च ॥ प० पा०
(ठ) सनुत. । वेहि । तम् । तत. ॥ प० पा०
(ड) सबःऽदुघायाः । पय. । उस्रियायाः ॥ प० पा०
(ढ) आ । य. । ते । योनिम् । घृतऽवन्तम् । अस्वाः ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० २।३८।४ [२] ऋ० १०।१०४।९ [३] ऋ० १।१६३।७
[४] ऋ० ९।११२।४ [५] ऋ० १०।६८।१० [६] ऋ० १०।१६१।५
[७] ऋ० ५।१५।५ [८] ऋ० ४।१८।५ [९] ऋ० ९।७०।१०
[१०] ऋ० ७।५९।७ [११] ऋ० ६।९।१ [१२] ऋ० ८।९७।३
[१३] ऋ० १।१२१।५ [१४] ऋ० १०।१४८।५

२ : संहिता-पटलम्

(संहिताधिकारः)

संहिता पदप्रकृतिः ॥१॥

(संहिता का अधिकार)

सू० अ०—पद हैं मूल (=प्रकृति) जिसके वह 'संहिता' है (अर्थात् पद 'संहिता' की प्रकृति हैं)।

उ० भा०—संहिता पदप्रकृतिः इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् आ सीमापटलात्। पदानि प्रकृतिभूतानि यस्याः संहितायाः सा पदप्रकृतिः संहितात्र विकारः। तथा हि षत्वणत्वादयो विकाराः संहिताया एव भवन्ति। प्रकृतिभूतत्वाच्च पदानां सिद्धत्वम्॥

उ० भा० अ०—संहिता पदप्रकृतिः=पद 'संहिता' के मूल (=प्रकृति) हैं—इस (सूत्र के) अधिकार को सीमा-पटल (द्वादश पटल) के पूर्व तक जानना चाहिए। पद हैं प्रकृतिभूत जिस 'सहिता' के वह पदप्रकृति 'संहिता' यहाँ (प्रातिशाख्य में) विकार (मानी जाती है)।[क] उदाहरण के लिए 'षत्व', णत्व' आदि विकार 'संहिता' के ही होते हैं। मूल (=प्रकृति) होने के कारण पद सिद्ध हैं (और 'संहिता' साध्य है)।

(संहितास्वरूपम्)

पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति यत्सा कालाव्यवायेन ॥२॥

(संहिता का स्वरूप)

सू० अ०—काल का व्यवधान किए विना जो पदान्तों का पदादियों के साथ मेल संपादन करती है वह 'संहिता' है।

उ० भा०—संहितायाः पदानि प्रकृतिभूतानीत्युक्तम्। न तु संहितायाः स्वरूपं प्रतिपादितमित्यत आह—पदान्तान्पदादिभिः यत्; (संदधदेति=) एकीकुर्वन्नेति= ग्रन्थमनुसरति; सा संहितोच्यते। कालाव्यवायेन=तु पदान्तानां (पदादिभिः) काल-क्रमानुपादानं परिपाद्य। सा च द्विविधा संहिता—आर्षी अन्यसंहिता च। आर्षी—"अर्थ

टि० (क) 'सहिता' पदों पर आधारित है। पदो के मिलने से ही 'सहिता' का निर्माण होता है। यही कारण है कि पदों को 'सहिता' का मूल (=प्रकृति) माना जाता है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थ मुख्यतः उन नियमों का विधान करते हैं जिनकी सहायता से पदो से 'संहिता' सम्पन्न होती है। इस विषय में अथर्व-प्रातिशाख्य १।२ की व्याख्या में कहा गया है—"यथा तन्तूनां वासो यथा दारुशिलामृदां प्रासादस्तथा च सधिशास्त्राणि पदसधानार्थं प्रोक्तानि"—अर्थात् जिस प्रकार तन्तुओं से वस्त्र का निर्माण होता है और जिस प्रकार लकड़ी, पत्थर और मिट्टी से प्रासाद का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार संधि के नियम ('सहिता' के निर्माण के लिए) पदो को मिलाने के लिए प्रोक्त हैं।

देवाय जन्मने ।"[१] क्रमसंहिता—"पर्जन्याय प्र । प्र गायत । गायत दिवः ।"[२] संहितासंज्ञायाः प्रयोजनम्—"ऋते न च द्वंपदसंहितास्वरौ ।"[३]

उ० भा० अ०—पद 'सहिता' की प्रकृति हैं—यह कहा जा चुका है। किंतु 'सहिता' का स्वरूप प्रतिपादित नही किया गया हैं, इसलिए ('सहिता' के स्वरूप के प्रतिपादन करने के लिए सूत्रकार ने) कहा है—पदान्तान्पदादिभिः=पदान्तो को पदादियों के साथ; यत्=जो; (संदधदेति=मिलाती हैं=) एक करती है=मेल (ग्रथन) सपादन करती है, सा=वह; 'सहिता' कहलाती हैं (अर्थात् 'सहिता' वह है जो पद के अन्तिम वर्ण को दूसरे पद के प्रथम वर्ण के साथ मिलावे)। कालाव्यवायेन=पदान्तो और पदादियो के मध्य में काल के व्यवधान के रहते हुए भी उसको न मानकर।[क] और वह 'सहिता' दो प्रकार की (होती है)—आर्षी (=ऋषिदृष्ट 'सहिता') और क्रमसंहिता।[ख] आर्षी (का उदाहरण)—"अथ देवाय जन्मने।" क्रमसंहिता (का उदाहरण)—"पर्जन्याय प्र। प्र गायत। गायत दिव।" संहिता-सज्ञा का प्रयोजन—"(क्रम-पाठ के विना) दो पदो की संहिता और 'स्वर' (सिद्ध नही होते)।"

(विवृत्तिस्वरूपम्)

स्वरान्तरं तु विवृत्तिः ॥३॥

(विवृत्ति का स्वरूप)

सू० अ०—दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य-अवकाश (मध्य-व्यवधान) को 'विवृत्ति' (hiatus) (कहते हैं)।

उ० भा०—अस्यामेव सहितायां यत्; (स्वरान्तरम्=) स्वरयोरन्तरं वक्ष्यति तत्; (विवृत्तिः=) विवृत्तिसंज्ञम्; स्यात्। "नू इत्था ते पूर्वया च।"[४] विवृत्तिसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"यतो दीर्घस्ततो दीर्घा विवृत्तयः"[५] इति ॥

उ० भा० अ०—इसी 'सहिता' में जिस, (स्वरान्तरम्=) दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य-अवकाश (मध्य-व्यवधान) को (सुत्रकार) कहेंगे वह, (विवृत्तिः=) 'विवृत्ति-

टि० (क) 'प्रश्लिष्ट' आदि कतिपय सधियो में तो पदान्त और पदादि इस प्रकार मिलकर एक हो जाते हैं कि पदान्त और पदादि के मध्य में काल का व्यवधान बिलकुल नही रहता। 'प्रश्लिष्ट' आदि कतिपय सधियो को छोडकर अन्य सधियो में वास्तव में काल का व्यवधान होता है किंतु वह इतना अल्प होता है कि उसको नहीं के बराबर ही माना जाता है।

(ख) 'क्रम-सहिता' के लिए ग्रन्थ के एकादश और द्वादश पटलो को देखिए।

[१] ऋ० १।२०।१ [२] ऋ० क्र० ७।१०२।१ [३] ११।७०
[४] ऋ० १।१३२।४ [५] २।७९

सञ्ज्ञक; होता है।[क] (उदाहरण)—"नू इत्था ते पूर्वथा च।"[ख] विवृत्ति-संज्ञा का प्रयोजन—"जहाँ (एक ओर या दोनों ओर) 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) हों वहाँ 'दीर्घ विवृत्तियाँ' (होती हैं)।"

(विवृत्तिकालः)

सा वा स्वरभक्तिकाला ॥४॥

(विवृत्ति का काल)

सू० अ०—वह ('विवृत्ति') विकल्प से 'स्वरभक्ति' के काल वाली (होती है)।

उ० भा०—सा=विवृत्तिः स्वरभक्तिकाला वा स्यात्, अधिककाला वा। स्वरभक्तेः कालः—"द्राघीयसी सार्धमात्रा"[१]; "अर्धोनान्या"[२] इति। तत्राय विवृत्तेर्विभागस्त्रिप्रकारः। उभयतोह्रस्वा पादमात्राकाला—"प्र ऋभुभ्यः",[३] "प्रत्यु अदर्शि।"[४] एकतोदीर्घार्धमात्राकाला—"नू इत्था ते"[५]; "सानो अव्ये।"[६] उभयतोदीर्घा पादोनमात्राकाला—"ता ईं वर्धन्ति"[७]; "इमा गावः सरमे या ऐच्छ।"[८] "विवृत्तिषु प्रत्ययादेरदर्शनम्"[९] इति दीर्घ वक्ष्यति, अतः "छायोष्णवद्विवृत्तिः" इति सम्यग्व्याख्यान न भवति ॥

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र पूर्ववर्ती सूत्र (२।२) का अपवाद है। पूर्ववर्ती सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि 'संहिता' में पदान्तों के उच्चारण और पदादियों के उच्चारण के मध्य में काल का व्यवधान नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादित 'विवृत्ति'-सञ्ज्ञक जो व्यवधान है उसका काल चौथाई मात्रा, आधी मात्रा अथवा तीन-चौथाई मात्रा होता है, जैसा कि परवर्ती सूत्र (२।४) में प्रतिपादित किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह सामान्य नियम है कि 'संहिता' में पदान्त और पदादि के उच्चारणो के मध्य में काल का व्यवधान नही होता है किंतु इसके अपवाद-स्वरूप 'विवृत्ति' में काल का व्यवधान होता है।

(ख) जहाँ पर दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य में सधि का स्थल होते हुए भी सधि नही होती वहाँ उच्चारण करते समय काल का व्यवधान होता है। पदान्त के उच्चारण तथा पदादि के उच्चारण के मध्य मे विद्यमान इस काल के व्यवधान को ही 'विवृत्ति' कहते है। प्रस्तुत उदाहरण में 'ऊ' तथा 'इ' के मध्य में २।२१ से 'क्षैप्र' सधि सभव होते हुए भी सधि नही हुई है, अत. यहाँ 'विवृत्ति' है। या० शि० में 'विवृत्ति' के स्वरूप के विषय मे यह कहा गया है—

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सधिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशेति निदर्शनम् ॥९४॥

'विवृत्ति' वैदिक सधि की मुख्य विशेषता है। लौकिक सस्कृत में जहाँ साधारणतया सधि होती है वहाँ पर वैदिक सस्कृत में अनेक स्थलों पर 'स्वर'-वर्णों के मध्य में सधि न होकर 'विवृत्ति' हो जाती है।

---

[१] १।३३ [२] १।३५ [३] ऋ० ४।३३।१
[४] ऋ० ७।८१।१ [५] ऋ० १।१३२।४ [६] ऋ० ९।९१।१
[७] ऋ० १।१५५।२ [८] ऋ० १०।१०८।५ [९] १४।५९

उ० भा० अ०—सा=वह 'विवृत्ति'; **स्वरभक्तिकाला वा**='स्वरभक्ति' के काल वाली होती है या अधिक काल वाली होती है। 'स्वरभक्ति' का काल—"दीर्घतरा हो तो वह आधी मात्रा (काल वाली होती है)" और "अन्य (अर्थात् ह्रस्व 'स्वरभक्ति') आधे से कम (अर्थात् चौथाई मात्रा काल वाली होती है)।" इससे 'स्वरभक्ति' का विभाग तीन प्रकार का है। दोनों ओर 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) वाली ('विवृत्ति') चौथाई (पाद) मात्रा काल वाली (होती है) (जैसे)—"प्र ऋभुभ्य"; "प्रत्यु अदर्शि।" एक ओर 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) वाली ('विवृत्ति') आधी मात्रा काल (वाली होती है) (जैसे)—"नू इत्था ते"; 'सानो अव्ये।" दोनों ओर 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) वाली चौथाई कम एक (अर्थात् तीन-चौथाई, पौन) मात्रा काल वाली होती है (जैसे)—"ता ईं वर्धन्ति", "इमा गाव सरमे या ऐच्छ।" "विवृत्तियों में परवर्ती (पद) के प्रथम (वर्ण) का लोप (अदर्शन) (कर दिया जाता है)"—इस दोष को (सूत्रकार) कहेंगे। इसलिए "'विवृत्ति' छाया और धूप के समान है"—यह व्याख्यान ठीक नहीं है।[क]

(संधिविषये परिभाषाः)

पदान्तादिष्वेव विकारशास्त्रं
पदे दृष्टेषु वचनात्प्रतीयात् ॥५॥

(संधिविषयक परिभाषायें)

सू० अ०—पद (-पाठ) में दिखलाई पड़ने वाले पदान्तों और पदादियों में ही विकारसम्बन्धी शास्त्र को (लागू) जानना चाहिए (और वहाँ भी वह विकार-सम्बन्धी शास्त्र) विधान (वचन) के अनुसार (ही लागू होता है)।

उ० भा०—यत्किञ्चित् विकारशास्त्रम् तत्, (पदान्तादिष्वेव=) पदान्तेषु पदादिषु

टि० (क) किसी का यह कहना है कि पदान्त के उच्चारण और पदादि के उच्चारण के मध्य में जो 'विवृत्ति'-संज्ञक काल का व्यवधान है—इससे संहिता के उच्चारण में समय की हानि होती है। इस समय की हानि की पूर्ति के लिए पदादि 'स्वर'-वर्ण का लोप (अनुच्चारण) कर देना चाहिए। जिस प्रकार छाया बढ़ने पर धूप घट जाती है अथवा धूप बढ़ने पर छाया घट जाती है, उसी प्रकार 'विवृत्ति' में अतिरिक्त समय लग जाने पर पदादि 'स्वर'-वर्ण के अनुच्चारण से उस समय की पूर्ति हो जाती है।

इसके उत्तर में भाष्यकार का यह कहना है कि यह व्याख्यान ठीक नहीं है क्योंकि १४।५९ में आचार्य ने परवर्ती पद के प्रथम वर्ण (=पदादि 'स्वर'-वर्ण) के अदर्शन (अनुच्चारण) को दोष बतलाया है, अतएव ऐसा करना त्याज्य है। दूसरी बात यह भी है कि 'विवृत्ति' के काल (चौथाई मात्रा, आधी मात्रा और तीन-चौथाई मात्रा) की पूर्ति के लिए एक मात्रा वाले ('ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण) और दो मात्रा वाले ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण) का अदर्शन (अनुच्चारण) कथमपि उचित नहीं है। इसलिए यह व्याख्यान असंगत है।

च; वेदितव्यम् । पदे दृष्टेषु=पदावस्थायामुपलब्धेषु । पदान्तादिषु पदे दृष्टेषु अपि वचनात् प्रतीयात्। वचनमन्तरेण विकारो न भवति । पदान्तेषु—"वसुं सूनुं सहसः"[१] "त्र्यर्यमा मनुषः ।"[२] पदादिषु—"आपो हि ष्ठा मयोभुवः"[३]; "परा वीरास एतन ।"[४] पदे दृष्टेषु इति किम् ? "ता अस्य पृशनायुवः"[५]; "तस्मा अर गमाम वः ।"[६] अत्र पव आकारस्यादृष्टत्वात्स्वरसंधिर्न भवति । वचनात् इति किम् ? "अग्निमीळे पुरोहितम्"[७] अत्र मकारस्य पदान्तीयस्य वचनमन्तरेण न कश्चिद्विकार' ॥

उ० भा० अ०—जो कोई; विकारशास्त्रम्=विकार का विधान करने वाला शास्त्र; है वह, (पदान्तादिष्वेव=) पदान्तों और पदादियों में ही; (लागू होता है यह) जानना चाहिए।[क] पदे दृष्टेषु=पद की अवस्था (=पद-पाठ) में उपलब्ध=पद (-पाठ) में दिखलाई पडने वाले भी पदान्तो और पदादियो में; वचनात् प्रतीयात्=विधान (वचन) से (विकार को) जानना चाहिए। विधान (वचन) के विना विकार नही होता है। पदान्तों में (विकार का उदाहरण)—"वसु सूनुं सहस"[ख]; "त्र्यर्यमा मनुषः।"[ग] पदादियों में (विकार का उदाहरण) 'आपो हि ष्ठा मयोभुव"[घ]; "परा वीरास एतन।"[ङ] "पद-पाठ में दिखलाई पडने वाले (पदान्तो और पदादियों) में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "ता अस्य पृशनायुव"[च]; "तस्मा अर गमाम व."[छ]—यहाँ

टि० (क) तात्पर्य यह है कि आगे बतलाये जाने वाले सूत्रों में जिन संधि-नियमों का विधान किया गया वे नियम पद के अन्तिम वर्ण और प्रथम वर्ण पर ही लागू होते हैं अर्थात् उनके अनुसार संधि पदान्त और पदादि में ही होगी, जैसा कि वा० प्रा० में भी कहा गया है—"पदान्तपदाद्यो संधि" ३।३ ।

(ख) वसुम् । सूनुम् । सहस ॥ प० पा०

यहाँ पर 'वसुम्' और 'सूनुम्'—इन दोनों पदों के अन्त में आने वाला मकार संहिता-पाठ में ४।१५ से 'अनुस्वार' हो गया है ।

(ग) त्री । अर्यमा । मनुष ॥ प० पा०

यहाँ पर 'त्री' पद के अन्त में आने वाला ईकार संहिता-पाठ में २।२१ से यकार हो गया है ।

(घ) आप । हि । स्थ । मयऽभुव ॥ प० पा०

यहाँ पर 'स्थ' पद के आदि में विद्यमान सकार संहिता-पाठ में ५।१२ से षकार हो गया है ।

(ङ) परा । वीरास. । इतन ॥ प० पा०

यहाँ पर 'इतन' पद के आदि में विद्यमान इकार संहिता-पाठ में २।७२ से एकार हो गया है ।

(च) ता. । अस्य । पृशनऽयुव ॥ प० पा०

(छ) तस्मै । अरम् । गमाम । व. ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १।१२७।१ [२] ऋ० ५।२९।१ [३] ऋ० १०।९।१ [४] ऋ० ५।६१।४
[५] ऋ० १।८४।११ [६] ऋ० १०।९।३ [७] ऋ० १।१।१

(अर्थात् इन दोनों प्रत्युदाहरणों में) पद (०.०) म आकार के दिखलाई न पडने से (आकार की परवर्ती अकार के साथ) स्वरसधि नही होती है। "नियम के अनुसार"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अग्निमीळे पुरोहितम्"[क]—यहाँ पदान्तीय मकार का, नियम के अभाव में, कोई विकार नही हुआ है (मकार में कोई विकार नही हुआ क्योंकि विकार करने के लिए कोई नियम नही है)।

पदं पदान्तादिवदेकवर्णं प्रश्लिष्टमपि ॥६॥

सू० अ०—एक वर्ण वाले पद को, प्रश्लिष्ट होने पर भी, पदान्तवत् और पदादिवत् (समझना चाहिए)।

उ० भा०—एको वर्णोऽस्येति एकवर्णम्। एकवर्णं यत् पदं तत्; (पदान्तादिवत्=) पदान्तवत् पदादिवच्च कार्यं लभते। (अपि=) यद्यपि; प्रश्लिष्टं भवति। "इन्द्रेहि मत्स्यन्धसः"[1]; "उद्वेति सुभगः ॥"[2]

उ० भा० अ०—एकवर्णम्=एक वर्ण है जिसमें वह (पद)। एकवर्णम्=एक वर्ण वाला; जो पदम्=पद; है वह, (पदान्तादिवत्=) पदान्त की तरह और पदादि की तरह; कार्य प्राप्त करता है (अर्थात् पदान्त-सम्बन्धी और पदादि-सम्बन्धी कार्यों को प्राप्त करता है); (अपि=) यद्यपि (चाहे) वह, प्रश्लिष्टम्=(दूसरे 'स्वर' के साथ) मिला हुआ हो।[ख] (जैसे) "इन्द्रेहि मत्स्यन्धस"[ग]; "उद्वेति सुभग।"[घ]

टि० (क) अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम् ॥ प० पा०

(ख) 'संहिता' पदान्त को पदादि से मिलाती है। जहाँ पर एक वर्ण वाला ही पद होता है तो उस वर्ण को उस पद का आदि माना जावे या अन्त माना जावे—इस प्रश्न के समाधान के लिए प्रस्तुत सूत्र का निर्माण हुआ है। इस सूत्र के अनुसार वह वर्ण पदान्त का कार्य भी करता है और पदादि का भी, जैसा कि वा० प्रा० १।१५२ में कहा गया है—"स एवादिरन्तश्च।" यह बात लोक से भी सिद्ध है, जैसे—"देवदत्तस्यैक पुत्र. स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठ" अर्थात् देवदत्त का एक पुत्र है, उसे ही ज्येष्ठ भी और कनिष्ठ भी कहा जाता है।

(ग) इन्द्र। आ। इहि। मत्सि। अन्धस. ॥ प० पा०

यहाँ एक वर्ण वाला पद 'आ' है। इस 'आ' को पदान्त भी माना जाता है और पदादि भी। यह 'आ' पदादि का कार्य करके 'इन्द्र' के 'अ' के साथ मिलकर २।१५ से 'आ' बनता है जिससे यह रूप निष्पन्न होता है—इन्द्रा। इहि। मिलने (प्रश्लिष्ट होने) के अनन्तर भी पदान्त का कार्य करता हुआ यह 'आ' 'इहि' के 'इ' के साथ मिलकर २।१६ से 'ए' बन जाता है और तब यह 'संहिता' सम्पन्न होती है—"इन्द्रेहि"।

(घ) उत्। ऊँ इति। एति। सुऽभग. ॥ प० पा०

---

[1] ऋ० १।९।१ [2] ऋ० ७।६३।१

आनुपूर्व्येण संधीन् ॥७॥

सू० अ०—(पदों के) क्रम (आनुपूर्व्य) से ('प्रश्लिष्ट') संधियों को (करना चाहिए)।

उ० भा०—"पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति यत्सा कालाव्यवायेन"[1] इत्यत्र पदपाठ-क्रमानुपूर्व्येण संधय उक्ताः सामान्यतः। अथेदानीं प्रश्लिष्टान्संधीनाह—(आनुपूर्व्येण=) पदानुपूर्व्येण; प्रश्लिष्टान् संधीन् कुर्यात्। तद्यथा—"इन्द्र। आ। इहि। मत्सि। अन्धसः।"[2] इन्द्रशब्दस्य त्वाकारेण सह संधौ कृत इन्द्रा इति भवति। तत इहि अनेन सह संधौ इन्द्रेहि इति भवति।

उ० भा० अ० —"काल का व्यवधान किए बिना जो पदान्तों का पदादियों के साथ मेल संपादन करती है वह ('संहिता' है)"—यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) पद-पाठ के क्रम की आनुपूर्वी से संधियों को सामान्य रूप से कह दिया गया है (अर्थात् यह बतला दिया गया है कि संधियाँ 'पद-पाठ' के क्रम से होती हैं)। इसके अनन्तर अब 'प्रश्लिष्ट' संधियों के विषय में कहते हैं—(आनुपूर्व्येण=) पदों के क्रम (आनुपूर्व्य) से; 'प्रश्लिष्ट', संधीन्=संधियों को; करना चाहिए। उदाहरण के लिए—"इन्द्र। आ। इहि। मत्सि। अन्धसः।" (को लेते हैं)। 'इन्द्र' शब्द की आकार के साथ ('प्रश्लिष्ट') संधि करने पर 'इन्द्रा' हो जाता है। तदनन्तर ('इन्द्रा' की) 'इहि' के साथ ('प्रश्लिष्ट') संधि होने पर 'इन्द्रेहि' हो जाता है।

ननु—"पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति"[3]—इत्यनेनाप्येतदेव प्राप्नोतीत्यथ किमर्थोऽयं योगः? शृणु—"पदं पदान्तादिवदेकवर्णम्"[4] इत्यनेन सूत्रेण पदान्तवत्कार्यं लभत इत्येत-त्प्रथममुक्त्वा पश्चात्पदादिवदित्युक्तम्। अतः प्रश्लिष्टस्य पदस्य पूर्वमन्तकार्याणि प्रवर्तन्ते, पश्चात् पदादिकार्याणि। तथा चानिष्टं रूपं सिध्यति। अतस्तदपवादार्थमाह—अत्रापि पदानुपूर्व्येण संधयो भवन्तीति॥

(शंका) "पदान्तों का पदादियों के साथ (जो) मेल संपादन करती है (वह 'संहिता है)"—इस (सूत्र) से भी यही प्राप्त होता है (कि पदों के क्रम से संधियों को करना चाहिए) तब यह अतिरिक्त सूत्र किस लिए (बनाया है)? (समाधान) सुनो—"एक वर्ण वाले पद को, प्रश्लिष्ट होने पर भी, पदान्तवत् और पदादिवत् (समझना चाहिए)"—इस सूत्र के द्वारा—(एक वर्ण वाला पद) पदान्त की तरह कार्य प्राप्त करता है—यह पहले कहकर बाद में यह कहा गया है कि पदादि की तरह कार्य को प्राप्त करता है। इसलिए 'प्रश्लिष्ट' (संधि) के अन्तकार्य पहले प्रवृत्त होते हैं, उसके पश्चात् पद के आदि कार्य (ऐसा कोई समझ सकता है)। और ऐसा (करने पर) अनिष्ट (अर्थात् 'संहिता' में अनुपलब्ध) रूप सिद्ध

(१३२ घ) यहाँ पर 'उ' एक वर्ण वाला पद है जो पदादि का कार्य करके 'उत्' के साथ मिलकर 'उद्' बन जाता है और तदनन्तर पदान्त का कार्य करता हुआ 'एति' के 'ए' के साथ मिलकर २।२१ से 'व्' में परिणत हो जाता है और इस प्रकार यह 'संहिता' बनती है—'उद्वेति'।

[1] २।२ [2] ऋ० प० १।९।१ [3] २।२ [4] २।६

होता है।[क] इसलिए उस (अनिष्ट रूप) के निवारण के लिए (सूत्रकार ने यह सूत्र) कहा है—यहाँ ('प्रश्लिष्ट' संधियों में) भी पदों के क्रम (आनुपूर्व्य) से संधियाँ होती हैं।

(स्वरव्यञ्जनसंधयः =)

(अनुलोमा अन्वक्षरसंधयः)

एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे
भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरं यदेभ्यः।
तेऽन्वक्षरसंधयोऽनुलोमाः ॥८॥

(स्वर और व्यञ्जन की संधियाँ)

(अनुलोम अन्वक्षरसंधियाँ)

सू० अ०—'एषः', 'स्यः', 'सः' या 'स्वर' (-वर्ण) जब पूर्व में होते हैं और 'व्यञ्जन' (-वर्ण) इनसे बाद में (होता है) तो वे 'अनुलोम अन्वक्षर' संधियाँ (कहलाती हैं)।

उ० भा०—चतुःप्रकाराः संधयो भवन्ति। तद्यथा -द्वयो स्वरयो, द्वयोर्व्यञ्जनयोः; व्यञ्जनस्वरयोः, स्वरव्यञ्जनयोरिति। तत्र स्वरव्यञ्जनसंधिमाह—

एषः स्यः सः—एतानि च पदानि यदा; (पूर्वे=) पूर्वाणि; भवन्ति। स्वराश्च= स्वरान्तानि च; यदा, (पूर्वे=) पूर्वाणि पदानि; भवन्ति। व्यञ्जनं च यदा उत्तरम्; (एभ्यः=) एतेभ्यः; भवति। तदा तेऽनुलोमा अन्वक्षरसंधय इत्येवंसंज्ञा वेदितव्या। एषः—"एष देवो अमर्त्यः।"[१] स्यः—"उत स्य वाजी क्षिपणिम्।"[२] सः—"स सुतः पीतये वृषा।"[३] स्वराः पूर्वे—"न नि मिषति सुरणः।"[४]

एष स्य स च स्वराश्च इति द्विश्चकारकरणं तुल्ययोगनिवृत्त्यर्थम्। तेनैतद्भवति— "प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव"[५] इत्यत्र एष स्य स इत्येते न गृह्यन्ते। यदि हि गृह्येरन्— "नमस्त गोमति"[६] इत्यत्र—"तत्र प्रथमास्तृतीयभावम्" इति तकारस्य दकार स्यात्। द्विश्चकारकरणात्त्वयं दोषो न भवति॥

उ० भा० अ०—संधियाँ चार प्रकार की होती हैं। जैसे—दो 'स्वर' (-वर्णों) की, दो 'व्यञ्जन' (-वर्णों) की, 'व्यञ्जन' (-वर्ण) और 'स्वर' (-वर्ण) की (तथा) 'स्वर'

टि० (क) (प० पा०) "इन्द्र। आ। इहि।" में यदि 'आ' पहले पदान्त की तरह कार्य करे और फिर पदादि की तरह तो वह ('आ') इहि' के 'इ' के साथ मिलकर 'ए' हो जायेगा और फिर यह 'ए' 'इन्द्र' के 'अ' के साथ मिलकर 'ऐ' हो जायेगा और इस प्रकार "इन्द्रैहि" रूप सम्पन्न हो जायेगा जो संहिता-पाठ में उपलब्ध नहीं है। ऐसे रूपों के निवारण के लिए ही प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है।

---

१ ऋ० ९।३।१ २ ऋ० ४।४०।४ ३ ऋ० ९।३७।१
४ ऋ० ३।२९।१४ ५ २।९ ६ ऋ० ७।३२।१०

(-वर्ण) और 'व्यञ्जन' (-वर्ण) की। उनमें से 'स्वर' (-वर्ण) और 'व्यञ्जन' (-वर्ण) की संधि को (सूत्रकार) कहते हैं—

एषः; स्यः, सः—ये पद; **यदा**=जब; (**पूर्वे**=) पूर्व में; **भवन्ति**=होते हैं। **स्वराश्च**=या 'स्वर' (-वर्ण) में अन्त होने वाले पद; **यदा**=जब; (**पूर्वे**=) पूर्व में; **भवन्ति**=होते हैं। और; **व्यञ्जनम्**='व्यञ्जन' (-वर्ण); (एभ्यः=) इनसे; **यदा उत्तरम्**=जब बाद में, होता है। तब; **तेऽनुलोमान्वक्षरसंधयः**=उन्हें 'अनुलोम अन्वक्षर'-संज्ञक संधियाँ जानना चाहिए। (उदाहरण) एषः—"एष देवो अमर्त्यः।"[क] स्यः—"उत स्य वाजी क्षिपणिम्।"[ख] सः—'स सुत' पीतये वृषा।"[ग] 'स्वर' (—वर्ण) पूर्व में होने पर—"न नि मिषति सुरणः।"[घ]

एष स्य स च स्वराश्च में दो बार चकार शब्द का प्रयोग (एष.,' 'स्य.', 'स.' तथा 'स्वर'-वर्णों के) तुल्य बल (योग) की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। इससे यह (लाभ) होता है कि "('स्वर' वर्ण और 'व्यञ्जन'-वर्ण का) विपर्यय होने पर तो वे ही 'प्रतिलोम' ('अन्वक्षर' संधियाँ हो जाती हैं)"—यहाँ पर (अर्थात् इस सूत्र में) 'एष', 'स्य' (और) 'स.' का ग्रहण नही होता है। यदि इनका ग्रहण किया जावे तो "गमत्स गोमति" यहाँ (अर्थात् इस ऋचा में)—"उन ('प्रतिलोम अन्वक्षर' संधियों) मे प्रथम ('स्पर्श') तृतीय ('स्पर्श') (हो जाते है)"—(इस सूत्र के अनुसार) तकार का दकार हो जायेगा (जो संहिता-पाठ में उपलब्ध नही होता है)। दो बार चकार शब्द के प्रयोग से तो यह दोष नही होता है।[ङ]

टि० (क) एषः। देव.। अमर्त्य.॥ प० पा०

यहाँ पर 'एष' पूर्व में स्थित है और 'व्यञ्जन' (द्) बाद में स्थित है, अत. यहाँ 'अनुलोम अन्वक्षर' संधि है। यह ज्ञातव्य है कि 'एषः' के विसर्जनीय का लोप प्रस्तुत सूत्र से न होकर २।११ से हुआ है। अत. 'एष.' के बाद में 'व्यञ्जन' आ जाने मात्र से ही अनुलोम अन्वक्षर' संधि हो जाती है। प्रस्तुत सूत्र से कोई विकार नही होता। इसी प्रकार बाद वाले उदाहरणों को समझना चाहिए।

(ख) उत। स्य। वाजी। क्षिपणिम्॥ प० पा०

(ग) स.। सुत। पीतये। वृषा॥ प० पा०

(घ) न। नि। मिषति। सुऽरण॥ प० पा०

इस उदाहरण में तीन स्थलो ('न+नि"; "नि+मि"; "ति+सु") पर 'अनुलोम अन्वक्षर' संधि है। स्पष्ट है कि कोई भी विकार नही हुआ है।

(ङ) गमत्। स। गोऽमति॥ प० पा०

एष स्य स च स्वराश्च में चकार का दो बार ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि 'एष.', 'स्य.'. 'स' तथा 'स्वर'-वर्ण समान बल वाले नही है और समान बल वाले न होने से यह लाभ होता है कि परवर्ती सूत्र २।९ में 'स्वर'-वर्ण का तो ग्रहण हो जाता है किंतु 'एष.', 'स्य' और 'स.' का ग्रहण नही होता है। यदि इन तीन पदों का भी परवर्ती सूत्र में ग्रहण किया जावे तो 'व्यञ्जन' के बाद में 'एष', स्यः' और 'स.' होने पर भी 'प्रतिलोम अन्वक्षर' संधि हो जायेगी।

(व्यञ्जनस्वरसंधयः)

(प्रतिलोमा अन्वक्षरसंधयः)

प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव ।।९।।

(व्यञ्जन और स्वर की संधि)

(प्रतिलोम अन्वक्षर संधियाँ)

सू० अ०—('स्वर'-वर्ण और 'व्यञ्जन'-वर्ण का) विपर्यय होने पर (अर्थात् 'व्यञ्जन'-वर्ण पूर्व में और 'स्वर'-वर्ण बाद में होने पर) तो वे ही 'प्रतिलोम' ('अन्वक्षर' संधियाँ हो जाती हैं) ।

उ० भा०—त एव अन्वक्षरसंधय; (प्रतिलोमाः=) प्रतिलोमोपपदाः; भवन्ति; (विपर्यये=) यदा स्वरव्यञ्जनविपर्ययो भवति । पूर्वेषु संधिषु स्वराः पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तराणि; इह तु व्यञ्जनानि पूर्वाणि स्वरा उत्तर इत्यर्थः । "तमिन्द्र०दानमीमहे ॥"[1]

उ० भा० अ०—त एव=वे ही; अन्वक्षरसंधियाँ, (प्रतिलोमाः=) 'प्रतिलोम' उपपद वाली, हो जाती है (अर्थात् वे 'प्रतिलोम अन्वक्षर' संधियाँ हो जाती हैं), (विपर्यये=) जब 'स्वर' (-वर्ण) और 'व्यञ्जन' (-वर्ण) का परस्पर स्थान-परिवर्तन (विपर्यय) हो जाता है । पूर्ववर्ती ('अनुलोम अन्वक्षर') संधियों में 'स्वर' (-वर्ण) पूर्व में (और) 'व्यञ्जन' (-वर्ण) बाद में होते है, यहाँ ('प्रतिलोम अन्वक्षर' संधियो में) तो 'व्यञ्जन' (-वर्ण) पूर्व में और 'स्वर' (-वर्ण) बाद में होते हैं—यह अर्थ है । (जैसे) "तमिन्द्रं दानमीमहे ।"[क]

(प्रतिलोमान्वक्षरसंधिषु प्रथमस्पर्शस्य तृतीयभावः)

तत्र प्रथमास्तृतीयभावं प्रतिलोमेषु नियन्ति ।।१०।।

(प्रतिलोम अन्वक्षर संधियों में प्रथम स्पर्श का तृतीय होना)

सू० अ०—उन 'प्रतिलोम' ('अन्वक्षर' संधियों) में प्रथम ('स्पर्श') तृतीय ('स्पर्श') हो जाते हैं ।

उदाहरण के लिए "गमत्स" भी 'प्रतिलोम अन्वक्षर' संधि का स्थल होगा । ऐसा होने पर 'प्रतिलोम अन्वक्षर' संधि के नियम (२।१०) से तकार का दकार हो जायेगा जिससे यह संहिता बन जायेगी—"गमद्स" जो उपलब्ध पाठ नही है । इस दोष के परिहार के लिए ही सूत्रकार ने सूत्र में चकार का दो बार प्रयोग किया है जिससे परवर्ती सूत्र में इन तीन पदो का ग्रहण नही होता है ।

टि० (क) तम् । इन्द्रम् । दानम् । ईमहे ।। प० पा०

इस उदाहरण में 'प्रतिलोम अन्वक्षर' संधि दो स्थलो ("म्+इ"; "म्+ई") पर है । 'व्यञ्जन' (-वर्ण) और 'स्वर' (-वर्ण) केवल मिल गए हैं । कोई विकार नही हुआ है ।

---

[1] ऋ० ८।४६।६

उ० भा०—तत्र=तेषु; प्रतिलोमेषु अन्वक्षरसंधिषु प्रथमाः स्पर्शाः पदान्तीयाः तृतीयभावम्; (नियन्ति=) गच्छन्ति। "अर्वागा वर्तया हरी"[१]; "हृव्यवाळग्निरजरः पिता न"[२]; "यदङ्ग दाशुषे त्वम्"[३]; "इन्द्रस्य त्रिष्टुविह भागः॥"[४]

उ० भा० अ०—तत्र=उन; प्रतिलोमेषु='प्रतिलोम अन्वक्षर' संधियों में; प्रथमाः=प्रथम 'स्पर्श'; पद के अन्त में आने पर; तृतीयभावम्=तृतीयभाव को; (नियन्ति=) प्राप्त हो जाते हैं (=तृतीय 'स्पर्श' हो जाते हैं)। (उदाहरण) 'अर्वागा वर्तया हरी"क; "हृव्यवाळग्निरजर पिता न"ख, "यदङ्ग दाशुषे त्वम्"ग; 'इन्द्रस्य त्रिष्टुविह भाग।"घ

(अनुलोमान्वक्षरसंधिषु ऊष्मलोपः)

अथेतरेषु। ऊष्मा परिलुप्यते त्रयाणां स्वरवर्जम् ॥११॥

(अनुलोम अन्वक्षर संधियों में ऊष्मन् का लोप)

सू० अ०—('प्रतिलोम अन्वक्षर' संधियों से) अन्य (अर्थात् 'अनुलोम अन्वक्षर' संधियों) में तीनो (अर्थात् 'एषः', 'स्यः' और 'सः') का विसर्जनीय (ऊष्मन्), 'स्वर' (-वर्ण) को छोड़कर, लुप्त हो जाता है।

उ० भा०—अथेतरेषु=अनुलोमेष्वन्वक्षरसंधिषु; ऊष्मा=विसर्जनीयः; (परिलुप्यते=) लुप्यते। त्रयाणां पदानामेष स्य स इत्येतेषाम्। स च; स्वरवर्जम्=स्वर वर्जयित्वा। "सहोपधोऽरिफितः"[५] इत्यादिना विसर्जनीयलोपे सति स्वरस्य लोपः प्राप्नोति। अतः स्वरवर्जम् इत्युच्यते। "एष कविरभिष्टुतः।"[६] "उत स्य वाजी।"[७] स वाज्यर्वा॥"[८]

उ० भा० अ०—अथेतरेषु=('प्रतिलोम अन्वक्षर' संधियो से) अन्य में='अनुलोम अन्वक्षर' संधियों में; ऊष्मा=विसर्जनीय, (परिलुप्यते=) लुप्त हो जाता है। 'एषः', 'स्य' और 'स.' इन; त्रयाणाम्=तीनो का। और वह, स्वरवर्जम्='स्वर' (-वर्ण) को छोड़कर (लुप्त होता है)। "अरिफित (विसर्जनीय) को उपधा के सहित" इत्यादि (सूत्र के) द्वारा विसर्जनीय का लोप होने पर 'स्वर' (-वर्ण) का लोप प्राप्त होता है। इसलिए "'स्वर' (-वर्ण) को छोडकर"—यह कहा गया है।ङ (उदाहरण) "एष कविरभिष्टुत.।"च "उत स्य वाजी।"छ "स वाज्यर्वा।"ज

टि० (क) अर्वाक्। आ। वर्तय। हरी इति॥ प० पा०

(ख) हृव्यऽवाट्। अग्नि। अजरः। पिता। न.॥ प० पा०

(ग) यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्॥ प० पा०

(घ) इन्द्रस्य। त्रिऽस्तुप्। इह। भागः॥ प० पा०

(ङ) १।६७ में यह बतलाया गया है कि 'अरिफित' विसर्जनीय को उपधाभूत 'स्वर'-वर्ण के साथ एक वर्ण के समान जानना चाहिए। अतएव विसर्जनीय का लोप होने पर उपधाभूत 'स्वर'-वर्ण का लोप प्राप्त होता है क्योंकि ये दोनों (विसर्जनीय और

---

[१] ऋ० ४।३२।१५ [२] ऋ० ५।४।२ [३] ऋ० १।१।६ [४] ऋ० १०।१३०।५
[५] १।६७ [६] ऋ० ९।२७।१ [७] ऋ० ४।४०।४ [८] ऋ० ४।३६।६

न तु यत्र तानि पद्याः[क] ॥१२॥

सू० अ०—जहाँ वे ('एषः', 'स्यः' और 'सः') 'पद्य' (होते हैं) (वहाँ उनके विसर्जनीय का लोप) नहीं (होता)।

उ० भा०—(तानि=) एषः स्यः सः एतेषां मध्येऽन्यतमम्, यत्र=यस्मिन्पदे; (पद्याः=) सावग्रहम्; भवति तत्र विसर्जनीयलोपो न भवति। तद्यथा—"पशुषो न वाजान्"[१] इत्याद्युदाहरण द्रष्टव्यम् ॥

उ० भा० अ० —(तानि=) एष' 'स्य' और 'स'—इनके मध्य में कोई भी एक, यत्र=जहाँ (अर्थात्) जिस पद में, (पद्याः=) सावग्रह, होता है वहाँ विसर्जनीय का लोप, न=नही, होता है। जैसे—"पशुषो न वाजान्" इत्यादि उदाहरणो को देखना चाहिए।[ख]

(अन्तःपदं विवृत्तयः, तदन्याश्च विवृत्तयः)

पुरएता तितउना प्रउगं नमउक्तिभिः।
अन्तःपदं विवृत्तयः ॥१३॥

(पद के मध्य वाली विवृत्तियाँ और उनसे अन्य विवृत्तियाँ)

सू० अ०—'पुरएता', 'तितउना', 'प्रउगम्' 'नमउक्तिभिः' (ये चार) पद के मध्य में स्थित विवृत्तियाँ है।

उ० भा०—"स्वरान्तर तु विवृत्तिः"[२] इत्युक्तम्। अथ पदमध्ये या विवृत्तयस्ता प्रतिपादयत्यवग्रहसन्देहव्युदासार्थम्। पुरएता तितउना प्रउगं नमउक्तिभिः—एताः; अन्तःपदम्=पदस्य मध्ये, विवृत्तयः। पुरएता—"इन्द्र प्र णः पुरएतेव।"[३] ननु—"पुरएतासि महतो धनस्य"[४] इत्येतत्कस्मान्नोदाहरण भवति? "पदवच्च पद्यान्"[५] इति परिभाषितत्वात्पव-

उपधाभूत 'स्वर'-वर्ण) मिलकर एक वर्ण होते हैं और लोप सम्पूर्ण वर्ण का ही होना चाहिए किंतु यहाँ उपधाभूत 'स्वर'-वर्ण का लोप अभीष्ट नही है। अत. सूत्रकार ने 'स्वरवर्जम्" कहकर यह बतला दिया कि विसर्जनीय का ही लोप होता है, उसके उपधाभूत 'स्वर'-वर्ण का नही।

(च) एष । कविः । अभिऽस्तुत ॥ प० पा०

(छ) उत । स्य । वाजी ॥ प० पा०

(ज) स । वाजी । अर्वा ॥ प० पा०

टि० (क) 'तानि' और 'पद्या' मे लिङ्ग-भेद 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" न्याय की ओर संकेत करता है।

(ख) पशुऽस । न । वाजान् ॥ प० पा०

'पशुऽस' में 'स' पद्य है, अत इसके विसर्जनीय का लोप नही होता, अपितु यह विसर्जनीय ४।२५ से ओकार हो जाता है।

[१] ऋ० ५।४१।१ [२] २।३ [३] ऋ० ६।४७।७ [४] ऋ० ९।९७।२९ [५] १।६१

सधिरेवायम्। तितउना—"सक्तुमिव तितउना।"[1] प्रउगम्—"छन्दः किमासीत्प्रउगम्।"[2] नमउक्तिभिः—"दाश्नोति नमउक्तिभिः॥"[3]

उ० भा० अ०—"दो 'स्वर' (-वर्णो) के मध्य-अवकाश को 'विवृत्ति' (कहते हैं)"—यह कहा जा चुका है। अब पद के मध्य में जो विवृत्तियाँ है, उनका प्रतिपादन 'अवग्रह' के सन्देह को दूर करने के लिए करते है।[क] पुरएता तितउना प्रउगं नमउक्तिभिः—ये; अन्तःपदम्=पद के मध्य में, विवृत्तयः=विवृत्तियाँ है। पुरएता- 'इन्द्र प्र ण पुरएतेव।"[ख] (प्रश्न)— पुरएतासि महतो वनस्य"[ग]—यह किस कारण से ('अन्तःपदविवृत्ति' का) उदाहरण नही है? (उत्तर) "पद्यो को पद के समान (जानना चाहिए)"—इस परिभाषा के अनुसार यह पदसधि ही है।[घ] तितउना —"सक्तु-

टि० (क) तात्पर्य यह है कि यदि अन्तःपद विवृत्तियो का प्रतिपादन न किया जावे तो इनके स्थलो पर लोग अवग्रह' का सदेह करने लगेंगे। उदाहरण के लिए 'प्रउगम्' पद को लेते है। यदि यह न बतलाया जावे कि 'प्र' और 'उ' के मध्य में 'विवृत्ति' है तो कोई 'प्रउगम्' पद में उपसर्ग का प्रदर्शन करने के लिए 'प्र' और 'उ' के मध्य में 'अवग्रह' का सन्देह कर बैठेगा। 'विवृत्ति' का प्रतिपादन करने के अनन्तर तो ऐसा सन्देह नही हो सकता। यह निश्चित है कि 'विवृत्ति' के स्थल पर अवग्रह' नही होता क्योंकि 'विवृत्ति' और 'अवग्रह' का काल भिन्न है। इसीलिए भाष्यकार कह रहे है कि 'अवग्रह' के सन्देह को दूर करने के लिए सूत्रकार ने अन्तःपद विवृत्तियो का प्रतिपादन किया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद मे केवल इन्ही स्थलो पर अन्तःपद विवृत्तियाँ है।

(ख) इन्द्र। प्र। न। पुरएताऽइव॥ प० पा०

(ग) पुरःऽएता। असि। महतः। वनस्य॥ प० पा०

(घ) इस शका के समाधान के लिए पहले हम इन दो पदों के पद-पाठ पर दृष्टि डालें—"पुरएताऽइव" तथा "पुरःऽएता"। दूसरे उदाहरण में हम देखते है कि "पुरःऽएता" सावग्रह पद है जिसका प्रत्येक पद्य' ('पुर' और 'एता') "पदवच्च पद्यान्"—इस परिभाषा-सूत्र के अनुसार पद है। इसलिए 'पुर' और 'एता'—ये दो 'पद्य' (पद) पदसधि के द्वारा सहिता-पाठ में मिल जाते है क्योकि पदान्त तथा पदादि मे होने वाली जो सधि है उसे पदसधि कहते है। इस प्रकार "पुरएतासि" मे जो 'विवृत्ति' है वह पदसधि के अन्तर्गत आ जाती है। इसके विपरीत पहले उदाहरण "पुरएतेव" (प० पा० "पुरएताऽइव") में 'पुर' और 'एता' 'अवग्रह' से पृथक न होने के कारण दो 'पद्य' नही है। इसलिए "पुरएता" के मध्य में विद्यमान 'विवृत्ति' पदसधि के अन्तर्गत नही आ सकती है। यह 'विवृत्ति' दो पदों के सधिस्थल पर नही, अपितु एक पद के मध्य में स्थित है। यही कारण है कि "पुरएतेव" 'अन्तःपदविवृत्ति' का उदाहरण दिया गया है, 'पुरएता" नही।

[1] ऋ० १०।७१।२ [2] ऋ० १०।१३०।३ [3] ऋ० ८।४।६

मिव तितउना ।"[क] प्रउगम्—"छन्द किमासीत्प्रउगम् ।"[ख] नमउक्तिभिः—"दाश्नोति नमउक्तिभि. ।"[ग]

अतोऽन्याः पदसंधिषु ॥१४॥

सू० अ०—इन (चार विवृत्तियों) से अन्य (विवृत्तियों) को पदों की संधियों में (समझना चाहिए)।

उ० भा०—अतः=विवृत्तिचतुष्टयात्, या अन्या विवृत्तयस्ताः पदसंधिषु वेदितव्या । "श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहम्"[१]; "कक्षीवन्तं य औशिजः ॥"[२]

इत उत्तरं स्वरसंधयः प्राक्प्रकृतिभावात्—

उ० भा० अ०—अतः=इनसे=चार विवृत्तियो से; जो; अन्याः=अन्य; विवृत्तियाँ हैं उनको; पदसंधिषु=पदों की संधियो में, जानना चाहिए (वहाँ दो पदो के संधि-स्थल पर 'विवृत्ति' होती है)। (उदाहरण) "श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहम्"[घ], "कक्षीवन्त य औशिजः ।"[ङ]

इसके आगे 'प्रकृतिभाव' से पहले तक स्वरसंधियो (को कहते हैं)—

(स्वरसंधयः)

(प्रश्लिष्टाः संधयः)

समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् ॥१५॥

(स्वरसंधियाँ)

(प्रश्लिष्टसंधियाँ)

सू० अ०—समान 'स्थान' वाले दो 'समानाक्षर' एक 'दीर्घ' 'स्वर' (—वर्ण) (हो जाते हैं)।

उ० भा०—"अष्टौ समानाक्षराण्यादितः"[३] इत्युक्तम् । समानाक्षरे; (सस्थाने=) समानस्थाने, दीर्घमेकमुभे अपि स्वरम् आपद्येते । "अश्वाजनि प्रचेतसः"[४]; "सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धः"[५]; "क्षीरं सर्पिमंधूदकम्" ।[६] समानाक्षरे इति किम् ? "त एते वाचमभिपद्य पापया ।"[७] सस्थानग्रहण किम् ? "द्रवन्नः सर्पिरासुतिः ।"[८]

टि० (क) सक्तुम्ऽइव । तितउना ॥ प० पा०

(ख) छन्दः । किम् । आसीत् । प्रउगम् ॥ प० पा०

(ग) दाश्नोति । नमउक्तिऽभि ॥ प० पा०

(घ) श्रुतऽऋषिम् । उग्रम् । अभिमातिऽसहम् ॥ प० पा०

(ङ) कक्षीवन्तम् । य । औशिज ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १०।४७।३ [२] ऋ० १।१८।१ [३] १।१
[४] ऋ० ६।७५।१३ [५] ऋ० १०।४५।४ [६] ऋ० ९।६७।३२
[७] ऋ० १०।७१।९ [८] ऋ० २।७।६

उ० भा० अ०—"(वर्णमाला के) आदि में आठ (वर्ण) 'समानाक्षर' हैं"—यह कहा जा चुका है। (सस्थाने=) समान 'स्थान' वाले; समानाक्षरे=दो 'समानाक्षर'; उभे=दोनों ही; दीर्घमेकं स्वरम्=एक 'दीर्घ' 'स्वर' (—वर्ण); हो जाते हैं[क] (तात्पर्य यह है कि यदि पदान्त 'समानाक्षर' से परे पदादि 'सवर्ण' 'समानाक्षर' हो तो दोनों 'सवर्ण' समानाक्षरों के स्थान पर एक 'सवर्ण' 'दीर्घ' हो जाता है)। (उदाहरण) "अश्वाजनि प्रचेतस"[ख]; "सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्ध"[ग]; "क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।"[घ] "दो 'समानाक्षर'"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "त एते वाचमभिपद्य पापया।"[ङ] "समान 'स्थान' का (सूत्र में) ग्रहण" क्यों (किया)? (उत्तर) "द्र्वन्नः सर्पिरासुतिः।"[च]

इकारोदय एकारमकारः सोदयः ॥१६॥

सू० अ०—इकार ('इ' या 'ई') बाद में हो तो (पूर्ववर्ती) अकार ('अ' या 'आ') परवर्ती ('इ' या 'ई') के साथ मिलकर एकार (हो जाता है)।

उ० भा०—(इकारोदयः=) इकारपरः; अकारः एकारम् आपद्यते; सोदयः= सह परेणेकारेण। "एन्द्र सानसिं रयिम्"[1]; "एमेनं सृजता सुते।"[2]

उ० भा० अ०—(इकारोदयः=) इकारपर (=इकार है परे जिसके वह); अकारः=अकार='अ' या 'आ'; एकारम्=एकार; हो जाता है। सोदयः=परवर्ती (इकार='इ' या 'ई') के साथ (तात्पर्य यह है कि 'अ' या 'आ' पदान्त हो और 'इ' या 'ई' पदादि हो तो दोनों मिलकर 'ए' हो जाते हैं)। (उदाहरण) "एन्द्र सानसिं रयिम्"[छ]; "एमेनं सृजता सुते।"[ज]

टि० (क) पाणिनीय व्याकरण की 'दीर्घ', 'गुण' और 'वृद्धि' सन्धियो के लिए २।२० में केवल 'प्रश्लिष्ट'—सज्ञा का व्यवहार किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में लौकिक 'दीर्घ' सधि के समान विषय का विधान किया गया है। यह बात स्मरणीय है कि ऋग्वेद में पद के अन्त में 'ऋ' कही भी नही आया है जिसके परिणाम-स्वरूप 'ऋ'+ 'ऋ'='ॠ' का उदाहरण नही मिलता।

(ख) अश्वऽअजनि। प्रऽचेतस ॥ प० पा०

(ग) सद्य। जज्ञान.। वि। हि। ईम्। इद्ध ॥ प० पा०

(घ) क्षीरम्। सर्पि। मधु। उदकम् ॥ प० पा०

(ङ) ते। एते। वाचम्। अभिऽपद्य। पापया ॥ प० पा०

'ए' 'समानाक्षर' नही है, अत 'ते' और 'एते' के दो 'ए' मिलकर एक 'स्वर' (-वर्ण) नही हुए हैं।

(च) द्रुऽअन्न। सर्पिःऽआसुति.॥ प० पा०

यहाँ पर 'द्रु' का 'उ' (पदान्त) और 'अन्न.' का 'अ' (पदादि)—य दोनो 'स्वर' (-वर्ण) यद्यपि 'समानाक्षर' हैं तथापि समान 'स्थान' वाले नही है। अतएव दोनो मिलकर एक 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्ण) नही हुए है।

(छ) आ। इन्द्र। सानसिम्। रयिम् ॥ प० पा०

(ज) आ। ईम्। एनम्। सृजत। सुते ॥ प० पा०

---

[1] ऋ० १।८।१ [2] ऋ० १।९।२

तथा । उकारोदय ओकारम् ॥१७॥

सू० अ०—उसी प्रकार उकार ('उ' या 'ऊ') बाद में हो तो (पूर्ववर्ती अकार= 'अ' या 'आ') ओकार (हो जाता है)।

उ० भा०—यथेकारोदयोऽकारः सोदय एकमेव वर्णमापद्यते, (तथा=) एवम्, अवर्ण उकारोदय ओकारम् आपद्यते। "एतायामोप गव्यन्त इन्द्रम्।"[१]

उ० भा० अ०—जिस प्रकार इकारपर (इकार है परे जिसके वह) अकार ('अ' या 'आ') परवर्ती ('इ' या 'ई') के सहित एक ही वर्ण ('ए') हो जाता है, (तथा=) उसी प्रकार; उकारोदयः=उकारपर (उकार है बाद में जिसके वह); अवर्ण ('अ' या 'आ') (परवर्ती उ' या 'ऊ' के सहित); ओकारम्=ओकार, हो जाता है[क] (तात्पर्य यह है कि 'अ' या 'आ' पदान्त हो और उ' या ऊ' पदादि हो तो दोनो मिलकर 'ओ' हो जाते हैं)। (उदाहरण) "एतायामोप गव्यन्त इन्द्रम्।"[ख]

परेष्वैकारमोजयोः ॥१८॥

सू० अ०—('समानाक्षर'-संज्ञक 'स्वर'-वर्णों के) बाद में आने वाले (अर्थात् संध्यक्षरों) के मध्य मे जो विषम (=ओज='ए' 'ऐ') है वे बाद में हों तो (पूर्ववर्ती अकार='अ' या 'आ' परवर्ती 'ए' या 'ऐ' के सहित) ऐकार हो जाता है।

उ० भा०—परेषु=संध्यक्षरेषु; ऐकारम् आपद्यतेऽकारः सोदय। किम्विशेषेण? नेत्याह--ओजयोः=प्रथमतृतीययो=ए ऐ इत्येतयो। आ एनम्="ऐनं देवास"[२], "स्मदा परैदप दभ्रचेता.।"[३]

उ० भा० अ० परेषु=बाद वाले परे हो तो='सध्यक्षर' परे हो तो; अकार ('अ' या 'आ') परवर्ती ('ए' या 'ऐ') के सहित, ऐकारम्=ऐकार, हो जाता है। क्या बिना किसी विशेष के (अर्थात् कोई भी सध्यक्षर' परे होने पर क्या अकार- 'अ' या 'आ'— ऐकार हो जाता है)? (उत्तर) नही, (सूत्रकार ने) कहा है-- ओजयोः=विषम ('सध्यक्षर') परे होने पर=प्रथम और तृतीय परे होने पर='ए' और 'ऐ' परे होने पर (तात्पर्य यह

टि० (क) उपर्युक्त दो सूत्रो २।१६ और २।१७ में 'प्रश्लिष्ट' सधि के जिस प्रकार का विधान किया गया है वह पाणिनीय व्याकरण में 'गुण' सधि कहलाती है। केवल अन्तर इतना ही कि ऋग्वेद-सहिता में 'अ' तथा 'ऋ' की सधि से 'अर्' एकादेश नही होता है। ऋग्वेद-सहिता में अ' से परे 'ऋ' हो तो 'अ' में कोई विकार नही होता और आ' से परे 'ऋ' हो तो आ' का 'अ' हो जाता है। इसके लिए २।३२ को देखिए।

(ख) आ। इत। अयाम। उप। गव्यन्त। इन्द्रम्॥ प० पा०

---

१ ऋ० १।३३।१ २ ऋ० १।१२३।१
३ ऋ० १०।६१।८

है कि 'अ' या 'आ' पदान्त हो और 'ए' या 'ऐ' पदादि हो तो दोनो मिलकर 'ऐ' हो जाते हैं)। (उदाहरण) आ एनम्=''ऐन देवास''[क]; ''स्मदा परैदप दभ्रचेता।''[ख]

औकारं युग्मयोः ॥१९॥

सू० अ०—सम (even) ('संध्यक्षर'='ओ', 'औ') बाद में हों तो (पूर्व वर्ती अकार='अ' या 'आ' परवर्ती 'ओ' या 'औ' के सहित) औकार (हो जाता है)।

उ० भा०—(युग्मयोः=) द्वितीयचतुर्थयो =ओकारौकारयो.; अकार औकारम् आपद्यते सोदयः। ''यत्रौषधीः समग्मत''[1]; ''तं यज्ञ वर्हिषि प्रौक्षन्॥''[2]

उ० भा० अ०—(सध्यक्षरो में) (युग्मयोः=)=सम=द्वितीय और चतुर्थ=ओकार और औकार बाद में हो तो; अकार ('आ' या 'आ') परवर्ती ('ओ' या 'औ') के सहित; औकारम्=औकार; हो जाता है (तात्पर्य यह है कि 'अ' या 'आ' पदान्त हो और 'ओ' या 'औ' पदादि हो तो दोनो मिलकर 'औ' हो जाते हैं)। (उदाहरण) ''यत्रौषधी समग्मत''[ग]; ''त यज्ञ वर्हिषि प्रौक्षन्।''[घ]

एते प्रश्लिष्टा नाम संधयः ॥२०॥

सू० अ०—ये (१।१५ से १।१९ तक विहित) 'प्रश्लिष्ट' नाम की संधियाँ हैं।

उ०भा०—(प्रश्लिष्टा नाम=) प्रश्लिष्टसंज्ञा, संधयः वेदितव्या एते—''समानाक्षरे सस्थाने''[3] इत्यत आरभ्य। प्रयोजनम्—''प्रश्लिष्टादभिनिहितात्''[4] इति॥

उ० भा० अ०—''समान 'स्थान' वाले दो 'समानाक्षर' (एक 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण हो जाते हैं)'' से लेकर, एते संधयः=इन संधियो को, (प्रश्लिष्टा नाम=) 'प्रश्लिष्ट'-संज्ञक; जानना चाहिए। (प्रश्लिष्ट-संज्ञा का) प्रयोजन ''प्रश्लिष्ट से और 'अभिनिहित' से (परवर्ती 'अनुस्वार' संहिता-पाठ मे 'दीर्घ'-पूर्व हो जाता है)।''

(क्षैप्राः संधयः)

समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम् ॥२१॥

(क्षैप्रसंधियाँ)

सू० अ०—'स्वर' (—वर्ण) बाद में हो तो (पूर्ववर्ती) अकण्ठ्य 'समानाक्षर' ('इ', 'ई', 'उ', 'ऊ') अपना 'अन्तःस्था' ('य्', 'व्') (हो जाता है)।

टि० (क) आ। एनम्। देवासः॥ प० पा०
(ख) स्मत्। आ। परा। ऐत्। अप। दभ्रऽचेता.॥ प० पा०
(ग) यत्र। ओषधी.। सम्ऽअग्मत॥ प० पा०
(घ) तम्। यज्ञम्। वर्हिषि। प्र। औक्षन्॥ प० पा०

[1] ऋ० १०।९७।६ [2] ऋ० १०।९०।७ [3] २।१५ [4] १३।२६

उ० भा०—समानाक्षरम् उक्तलक्षणम्; अन्तःस्थाम् आपद्यते; स्वां स्थानेन। अकण्ठ्यम्=कण्ठ्यरहितम्=अकाराकाराभ्यां विना; स्वरोदयम्=स्वरपरम्। यथा—"अभ्यार्षेय जमदग्निवन्नः"[1], "अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च।"[2]

अकण्ठ्यग्रहण यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम्। यथासख्य हि सम्भवति—चतस्रोऽन्तःस्थाश्च-त्वारश्च स्वराः—"ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ"[3] इति वचनात्॥

उ० भा० अ०—जिसका लक्षण कहा जा चुका है वह, समानाक्षरम्='समानाक्षर'; (उच्चारण-)'स्थान' के अनुसार, स्वाम्=अपना, अन्तःस्थाम्='अन्तःस्था'; हो जाता है। अकण्ठ्यम्=कण्ठ्यरहित=अकार और आकार के विना; स्वरोदयम्=स्वरपर ('स्वर'-वर्ण है परे जिसके वह) (तात्पर्य यह है कि 'इ' या 'ई' तथा 'उ' या 'ऊ' पदान्त हो और 'स्वर'-वर्ण पदादि हो तो 'इ' या 'ई' का 'य्' और 'उ' या 'ऊ' का 'व्' हो जाता है)।[क] जैसे—"अभ्यार्षेय जमदग्निवन्न"[ख], "अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च।"[ग]

अकण्ठ्य (पद का सूत्र में) ग्रहण यथासंख्य की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। क्योंकि यथासख्य सम्भव है। चार 'अन्तःस्था' हैं और—"('ह्रस्व' का विधान होने पर) 'सवर्ण' 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' को (समझना चाहिए)"—इस नियम से चार 'स्वर' (-वर्ण) हैं।[घ]

न समानाक्षरे स्वे स्वे ॥२२॥

सू० अ०—यदि अपना-अपना (अकण्ठ्य) 'समानाक्षर' बाद में हो तो (पूर्ववर्ती अकण्ठ्य 'समानाक्षर' 'अन्तःस्था') नहीं (होता है)।

टि० (क) इस सूत्र में प्रतिपादित 'क्षैप्र' सधि को पाणिनीय व्याकरण में 'यण्' सधि कहा जाता है। ऋग्वेद में पद के अन्त में 'ऋ' उपलब्ध नही होता है, इसलिए 'ऋ' के 'र्' होने का कोई उदाहरण उपलब्ध नही होता है। लौकिक सस्कृत में 'ऋ' के 'र्' होने के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है।

(ख) अभि। आर्षेयम्। जमदग्निऽवत्। न॥ प० पा०

(ग) अधि। इत्। नु। अत्र। सप्ततिम्। च। सप्त च॥ प० पा०

(घ) तात्पर्य यह है कि यदि अकण्ठ्य-पद का सूत्र में ग्रहण न किया जाता तो कोई यह समझ सकता था कि 'अ' ('अ' या 'आ'), 'ऋ' ('ऋ' या 'ॠ'), 'इ' ('इ' या 'ई') और 'उ' ('उ' या 'ऊ')—ये चार 'स्वर'-वर्ण क्रम से 'य्', 'र्', 'ल्' और 'व्'—ये चार 'अन्तःस्था'-वर्ण—हो जाते है क्योकि चार ही 'स्वर'-वर्ण हैं और चार ही 'अन्तःस्था'-वर्ण है और नियम यह है कि समसम्बन्धी विधि यथासख्य होती है अर्थात् यदि स्थानी और आदेश की सख्या समान हो तो वहाँ पर आदेश क्रम से—प्रथम को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय—इस प्रकार से होते हैं। ऐसा करने पर प्रकृत में अनिष्ट स्थिति बनती है। इस अनिष्ट स्थिति के निवारण के लिए अकण्ठ्य पद को सूत्र में रखा गया है।

---

[1] ऋ० ९।९७।५१ [2] ऋ० १०।९३।१५ [3] १।५५

उ० भा०—न भवति क्षैप्रः समानाक्षरे स्वे स्वे। ननु तत्रोक्तः प्रश्लिष्टः संधिः ? सत्यमुक्तः; यदि नामैवं मन्यते—मात्रिके प्रश्लिष्टश्चरितार्थः। यथा—"दिवीव सूर्यं दृशे"[१]; "सूपस्थाभिर्न धेनुभिः।"[२] द्विमात्रिकेषु क्षैप्रस्यावकाशः, तन्मा भूदिति "न समानाक्षरे" इत्युक्तम् ॥

उ० भा० अ०—समानाक्षरे स्वे स्वे=अपना-अपना 'समानाक्षर' बाद में हो तो; 'क्षैप्र' (संधि); न=नहीं; होती है (अर्थात् यदि किसी 'समानाक्षर' के उपरान्त वही 'समानाक्षर' हो तो 'क्षैप्र' संधि नहीं होती है)। (शङ्का) वहाँ तो 'प्रश्लिष्ट' संधि कही जा चुकी है।[क] (समाधान) (यह) सत्य है (कि ऐसे स्थलों पर 'प्रश्लिष्ट' संधि) कही जा चुकी है (किंतु) यदि कोई यह मान ले कि एक मात्रा वाले ('समानाक्षर') में 'प्रश्लिष्ट' संधि चरितार्थ हो जाती है। जैसे—"दिवीव सूर्यं दृशे"[ख]; "सूपस्थाभिर्न धेनुभिः।"[ग] (इस प्रकार एक मात्रा वाले 'ह्रस्व' समानाक्षरों में 'प्रश्लिष्ट' संधि के चरितार्थ हो जाने पर) दो मात्रा वाले ('दीर्घ'-समानाक्षरो) में 'क्षैप्र' (संधि) का अवकाश है। ('दीर्घ' समानाक्षरो में) वह ('क्षैप्र' संधि) न हो इसलिए न समानाक्षरे... यह (सूत्र) कहा है।

ते क्षैप्राः प्राकृतोदयाः ॥२३॥

सू० अ०—अविकृत (प्राकृत) परवर्ती ('स्वर'—वर्ण; उदय) वाली वे (संधियाँ) 'क्षैप्र' (कहलाती हैं) (अर्थात् 'क्षैप्र' संधियों में पदादि अविकृत रहता है)।

उ० भा०—ते क्षैप्राः संधयः, प्राकृतोदयाः=प्राकृतस्वरोदयाः। प्राकृतग्रहणं सोदयाधिकारनिवृत्त्यर्थम्। क्षैप्रसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"क्षैप्राभिनिहितेषु च।"[३]

उ० भा० अ०—प्राकृतोदयाः=अविकृत है परवर्ती 'स्वर' (-वर्ण) जिनके; ते=वे; संधियाँ; क्षैप्राः='क्षैप्र' (-संज्ञक) है (अर्थात् जिनके परवर्ती 'स्वर'-वर्ण बिना किसी विकार के अवस्थित रहते है वे उपर्युक्त संधियाँ 'क्षैप्र'-संज्ञक है)। (सूत्र में) प्राकृत (पद) का ग्रहण २।१६ से प्राप्त 'सोदय' अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)।[घ] क्षैप्र-संज्ञा का प्रयोजन—"क्षैप्र और 'अभिनिहित' (संधियो) में।"

टि० (क) तात्पर्य यह है कि समानाक्षर' के उपरान्त यदि वही 'समानाक्षर' हो तो वहाँ 'प्रश्लिष्ट' संधि होती है जिसे पहले ही कहा जा चुका है। अत: इस सूत्र की क्या आवश्यकता थी ? ऐसे स्थलो पर 'प्रश्लिष्ट' संधि विहित होने के कारण 'क्षैप्र' संधि की प्राप्ति ही नही, तब फिर निषेध क्यो ?

(ख) दिविऽइव। सूर्यम्। दृश॥ प० पा०

(ग) सुऽउपस्थाभि। न। धेनुऽभि॥ प० पा०

(घ) तात्पर्य यह है कि 'क्षैप्र' संधियों में अकण्ठ्य 'समानाक्षर' (=इवर्ण तथा उवर्ण) (पदान्त) परवर्ती 'स्वर'-वर्ण (पदादि) के साथ मिलकर 'अन्तःस्था' नही होता है, अपितु अकण्ठ्य 'समानाक्षर' अकेला 'अन्तःस्था' हो जाता है और परवर्ती 'स्वर'-वर्ण (पदादि) ज्यों का त्यों बिना किसी विकार के अवस्थित रहता है।

---

[१] ऋ० १०।६०।५ [२] ऋ० ९।६१।२१ [३] ३।१३

(पदवृत्तयः संधयः)

विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वः स्वरोदयः।
आकारम् ॥२४॥

(पदवृत्ति नामक संधियाँ)

सू० अ०—यदि 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) पूर्व में हो तथा 'स्वर' (-वर्ण) ('ह्रस्व' या 'दीर्घ') बाद में हो तो 'अरिफित' विसर्जनीय आकार हो जाता है)।

उ० भा०—विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वः सहोपधः; स्वरोदयः=स्वरपरः; आकारम् आपद्यते। यथा—"या ओषधीः सोमराज्ञीः।"[१] अरिफितः इति किम्? "वारिन्मण्डूक इच्छति।"[२] स्वरोदयग्रहणं समानाक्षराधिकारनिवृत्त्यर्थम्॥

उ० भा० अ०—दीर्घपूर्वः='दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) है पूर्व में जिसके वह; स्वरोदयः='स्वर'-पर='स्वर'-वर्ण है बाद में जिसके वह, विसर्जनीयोऽरिफितः='अरिफित' विसर्जनीय; उपधा के सहित; आकारम्=आकार, हो जाता है (अर्थात् 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण पूर्व में होने पर और 'स्वर'-वर्ण—'ह्रस्व' या 'दीर्घ' -बाद में होने पर 'अरिफित' पदान्त विसर्जनीय पूर्ववर्ती 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण के सहित आकार हो जाता है)। जैसे—"या ओषधी. सोमराज्ञी।"[क] "'अरिफित' (विसर्जनीय)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "वारिन्मण्डूक इच्छति।"[ख] "स्वरोदय" का सूत्र में ग्रहण 'समानाक्षर' के अधिकार की निवृत्ति के लिए है।[ग]

उत्तमौ च द्वौ स्वरौ ॥२५॥

सू० अ०—अन्तिम (उत्तम) दो 'स्वर' (-वर्ण) ('ऐ', 'औ') भी (आकार हो जाते हैं, यदि बाद में 'स्वर'-वर्ण हो)।

उ० भा०—(उत्तमौ द्वौ स्वरौ=) ऐ औ, आकारमापद्येते स्वरोदयौ। "सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ"[३]; "उभा उ नूनम्॥"[४]

टि० (क) या.। ओषधी.। सोमऽराज्ञी॥ प० पा०

'या.' के 'अरिफित' विसर्जनीय के पूर्व में 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण ('आ') है और बाद में 'स्वर'-वर्ण ('ओ') है, इसलिए यह विसर्जनीय पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण ('आ'=उपधा) के सहित 'आ' हो गया।

(ख) वा.। इत्। मण्डूक.। इच्छति॥ प० पा०

यद्यपि 'वा.' के विसर्जनीय के पूर्व में 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण ('आ') है और बाद में 'स्वर'-वर्ण ('इ') है, तथापि यह विसर्जनीय आकार नहीं अपितु ४।२७ से रेफ हो जाता है क्योंकि यह विसर्जनीय 'अरिफित' न होकर १।१०३ से 'रिफित' है।

(ग) यहाँ पर 'अरिफित' विसर्जनीय के बाद में 'समानाक्षर' ही नहीं अपितु कोई भी 'स्वर'-वर्ण हो तो प्रस्तुत संधि होती है।

---

[१] ऋ० १०।९७।१८
[२] ऋ० ९।११२।४
[३] ऋ० १।२४।८
[४] ऋ० १०।१०६।१

उ० भा० अ०—(उत्तमौ द्वौ स्वरौ=अन्तिम दो 'स्वर'-वर्ण=) 'ऐ' 'औ'; आकार हो जाते हैं, यदि इनके बाद में 'स्वर' (-वर्ण) हो। (उदाहरण) "सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ"क; "उभा उ नूनम् ।"ख

ताः पदवृत्तयः ॥२६॥

सू० अ० –ये 'पदवृत्ति' (-संज्ञक संधियाँ हैं)।

उ० भा० – ता एतास्तिस्रः पदवृत्तय उच्यन्ते। अत्र याभिः संज्ञाभिः शास्त्रकृद्व्यवहरति तावत्यः स्वव्यवहारार्थाः। याभिर्व्यवहारो नास्ति तासां ज्ञाने धर्मः फलम् ॥

उ० भा० अ०—ताः=ये, तीन ['आ'='आ', 'ऐ'='आ'; 'औ'='आ']; पदवृत्तयः=पदवृत्तियाँ; कही जाती हैं। जिन संज्ञाओं का शास्त्रकार (अपने ग्रन्थ में) व्यवहार करते हैं उतनी (संज्ञायें) अपने व्यवहार के लिए हैं। जिन संज्ञाओं का (ग्रन्थ में) व्यवहार नहीं हुआ है उनके ज्ञान से प्राप्त धर्म (उन संज्ञाओं का) फल है।ग

(उद्ग्राहाः संधयः)

ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम् ॥२७॥

(उद्ग्राह संधियाँ)

सू० अ०—'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) पूर्व में हो तो ('अरिफित' विसर्जनीय उपधा के सहित) अकार (हो जाता है)।

उ० भा०—ह्रस्वपूर्वस्तु; सः=अरिफितो विसर्जनीयः; सोपधः स्वरोदयः अकारम् आपद्यते। "य इन्द्र सोमपातम ।"[1] "अरिफित" इत्येव—"अन्तरिच्छन्ति तं जने ॥"[2]

उ० भा० अ०—ह्रस्वपूर्वस्तु='ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) है पूर्व में जिसके; सः=वह 'अरिफित' विसर्जनीय; 'स्वर' (-वर्ण) ('ह्रस्व' या 'दीर्घ') परे होने पर, उपधा के सहित अकारम्=अकार; हो जाता है (अर्थात् 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण पूर्व में हो और कोई भी 'स्वर'-वर्ण बाद में हो तो 'अरिफित' विसर्जनीय पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण के सहित 'अ' हो जाता है)। (उदाहरण) "य इन्द्र सोमपातम ।"घ (इस सूत्र में भी) 'अरिफित' (विसर्जनीय) ही (समझना चाहिए)—"अन्तरिच्छन्ति त जने ।"ङ

टि० (क) सूर्याय । पन्थाम् । अनुऽएतवै । ऊँ इति ॥ प० पा०

(ख) उभौ । ऊँ इति । नूनम् ॥ प० पा०

(ग) भाष्यकार का कहना है कि यद्यपि 'पदवृत्ति'–संज्ञा का ग्रन्थ में कहीं भी व्यवहार नहीं हुआ है तथापि यह संज्ञा करना निरर्थक नहीं है। इस संज्ञा के ज्ञान से धर्म रूप फल की प्राप्ति होती है।

(घ) यः । इन्द्र । सोमऽपातम ॥ प० पा०

'य' के 'अरिफित' विसर्जनीय के पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर-वर्ण' ('अ') है

---

[1] ऋ० ८।१२।१ [2] ऋ० ८।७२।३

पूर्वौ चोपोत्तमात्स्वरौ ॥२८॥

सू० अ०—उपोत्तम (अन्तिम 'स्वर'-वर्ण से पूर्ववर्ती अर्थात् 'ऐ') से पूर्व वाले दो 'स्वर' (-वर्ण) ('ए' और 'ओ') भी (अकार हो जाते हैं, यदि बाद में 'स्वर'-वर्ण हो)।

उ० भा०—पूर्वौ चोपोत्तमात्। उत्तमात् पूर्वः स्वरः=ऐकारः; तस्मात् (=उपोत्तमात्) पूर्वौ (स्वरौ=) एकारौकारौ स्वरपरावकारमापद्येते। "अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः"[1]; "वाय उक्थेभिर्जरन्ते ॥"[2]

उ० भा० अ०—पूर्वौ चोपोत्तमात्=उपोत्तम से पूर्व वाले दो ('स्वर'-वर्ण) भी। अन्तिम (उत्तम) ('स्वर'-वर्ण='औ') से पूर्व वाला 'स्वर' (-वर्ण) ऐकार (उपोत्तम) है; उस (उपोत्तमात्=अन्तिम से पूर्व वाले 'स्वर'-वर्ण) से पूर्व वाले दो (स्वरौ='स्वर'-वर्ण=) एकार और ओकार; 'स्वर' (-वर्ण) परे होने पर, अकार हो जाते हैं (तात्पर्य यह है कि 'स्वर'-वर्ण परे (=पदादि) होने पर, (पदान्त) 'ए' और 'ओ' का 'अ' हो जाता है)। (उदाहरण) "अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवा."[क]; "वाय उक्थेभिर्जरन्ते।"[ख]

त उद्ग्राहाः ॥२९॥

सू० अ०—ये 'उद्ग्राह' (-संज्ञक संधियाँ हैं)।

उ० भा०—ते; (उद्ग्राहाः=) उद्ग्राहसंज्ञाः; सन्धयो वेदितव्याः। "उद्ग्राहाणां पूर्वरूपाण्यकारे"[3] इति प्रयोजनम् ॥

उ० भा० अ०—ते=(२।२७ और २।२८ में कही गई) इन (संधियों) को, (उद्ग्राहाः=) 'उद्ग्राह'-संज्ञक; संधियाँ जानना चाहिए। "अकार बाद में हो तो 'उद्ग्राह' (संधियों) के पूर्व-रूप ('प्रकृतिभाव' से रहते हैं)"—यह ('उद्ग्राह'-संज्ञा का) प्रयोजन है।

(१४७घ) और बाद में 'स्वर'-वर्ण ('इ') है, इसलिए यह विसर्जनीय अपने पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण ('अ'; उपधा) के सहित 'अ' हो गया।

(ङ) अन्त.। इच्छन्ति। तम्। जने ॥ प० पा०

यद्यपि विसर्जनीय के पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण ('अ') और बाद में 'स्वर'-वर्ण ('इ') है, तथापि यह विसर्जनीय 'अ' न होकर ४।२७ से रेफ हो गया क्योंकि यह विसर्जनीय 'अरिफित' नहीं अपितु १।७८ से 'रिफित' है।

टि० (क) अग्ने। इन्द्र। वरुण। मित्र। देवा. ॥ प० पा०

(ख) वायो इति। उक्थेभि.। जरन्ते ॥ प० पा०

---

[1] ऋ० ५।४६।२ [2] ऋ० १।२।२ [3] २।३३

(उद्ग्राहपदवृत्तयः संधयः)

दीर्घपरा उद्ग्राहपदवृत्तयः ॥३०॥

(उद्ग्राहपदवृत्ति संधियाँ)

सू० अ०—'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) परे हो तो (वे संधियाँ ही) उद्ग्राहपदवृत्तियाँ (कहलाती हैं)।

उ० भा०—तथा त एवोद्ग्राहा दीर्घपराः सन्त उद्ग्राहपदवृत्तयः भवन्ति। "क ईषते तुज्यते"[1]; "सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥"[2]

उ० भा० अ०—उसी प्रकार वे ही 'उद्ग्राह' (संधियाँ) दीर्घपराः='दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) परे होने पर; उद्ग्राहपदवृत्तयः='उद्ग्राहपदवृत्ति' (-संज्ञक) हो जाती हैं। (उदाहरण) "क ईषते तुज्यते" क; "सहस्रसावे प्र तिरन्त आयः।" ख

(भुग्नाः संधयः)

ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽन्तरागमः ॥३१॥

(भुग्न संधियाँ)

सू० अ०—'ओष्ठ्य' ('ओ' और 'औ') हैं योनि (=मूल) जिनकी ऐसे ('अ' और 'आ') के परे यदि अनोष्ठ्य ('स्वर'-वर्ण) हो तो (दोनों के) मध्य में वकार का आगम हो जाता है। (इसे) 'भुग्न' (संधि कहते हैं)।

उ० भा०—ओष्ठ्यौ=ओकारौकारौ; योनी ययोस्तौ; ओष्ठ्ययोनी=अकाराकारौ; तयोः (ओष्ठ्ययोन्योः) अनोष्ठ्ये स्वरे परभूते वकारोऽन्तरागमः [illegible] यत्र ओकारौकारयोः स्थाने सम्भूतावतः कारणाद्वकाराकारावोष्ठ्ययोनी। तेन वकारागमः। भुग्नं नाम चैतत्संधानं भवति। "वायवा याहि दर्शत"[3]; "ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।"[4] अनोष्ठ्ये इति किम्? "वाय उक्थेभिर्जरन्ते"[5]; "उभा उपांशु प्रथमा पिबाव।"[6]

उ० भा० अ०—'ओष्ठ्य'=ओकार और औकार; जिनकी योनि है, वे ओष्ठ्य' योनि वाले=अकार और आकार; उन, (ओष्ठ्ययोन्योः='ओष्ठ्य' योनि वाले अकार

टि० (क) कः। ईषते। तुज्यते॥ प० पा०

यहाँ 'अः' 'अ' हो गया है। २।२७ के अनुसार यह 'उद्ग्राह' संधि थी किंतु 'अ' के बाद में 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण ('ई') होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से यह 'उद्ग्राहपदवृत्ति' संधि हो गई है। ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण बाद में हो तो 'उद्ग्राह' संधि होती है और 'दीर्घ' स्वर'-वर्ण बाद में हो तो 'उद्ग्राहपदवृत्ति' संधि होती है। दोनों संधियों में ही अः, 'ए' और 'ओ' का 'अ' हो जाता है।

(ख) सहस्रऽसावे। प्र। तिरन्ते। आयुः॥ प० पा०

यहाँ 'दीर्घ' स्वर'-वर्ण (आ') के परे रहते पदान्त 'ए' का संहिता-पाठ में 'अ' हो गया है, अतः यह उद्ग्राहपदवृत्ति' संधि है।

---

[1] ऋ० १।८४।१७ [2] ऋ० ३।५३।७ [3] ऋ० १।२।१
[4] ऋ० १।२।८ [5] ऋ० १।२।२ [6] ऋ० १०।८३।७

और आकार) के बाद में; अनोष्ठ्ये=अनोष्ठ्य 'स्वर' (-वर्ण) हो तो, वकारोऽन्तरागमः=यहाँ (दोनो के) मध्य में वकार का आगम, हो जाता है। क्योंकि ओकार और औकार (इन 'ओष्ठ्य' 'स्वर'-वर्णों) के स्थान पर (प्रकृत अकार और आकार) आते हैं, इस कारण से (प्रकृत) अकार और आकार 'ओष्ठ्य' योनि वाले हैं। वहाँ वकार का आगम (हो जाता है) और यह 'भुग्न' नाम की संधि है (तात्पर्य यह है कि २।२५ और २।२८ के अनुसार 'औ' और 'ओ' के स्थान पर आने वाले 'आ' और 'अ' के बाद में 'उ', 'ऊ' से भिन्न 'स्वर'-वर्ण आवे तो दोनो के मध्य में 'व्' का आगम हो जाता है)। (उदाहरण) "वायवा याहि दर्शत"[क] "ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।"[ख] "अनोष्ठ्य ('स्वर'-वर्ण) बाद में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "वाय उक्थेभिर्जरन्ते"[ग]; "उभा उपांशु प्रथमा पिबाव।"[घ]

(उद्ग्राहवन्तः संधयः)

ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत् ॥३२॥

(उद्ग्राहवत् संधियाँ)

सू० अ०—ऋकार बाद में हो तो 'कण्ठ्य' ('अ' और 'आ') अकार (हो जाते हैं)। यह 'उद्ग्राहवत्' (-संज्ञक) संधि है)।

उ० भा०—कण्ठ्यौ=अकाराकारौ, ऋकारे उदये अकारम् आपद्येते। तत् सधानम्; (उद्ग्राहवन्=) उद्ग्राहवत्संज्ञम्, वेदितव्यम्। "प्र ऋभुभ्यो दूतमिव"[1] "आमुषायन्मधुन ऋतस्य।"[2]

टि० (क) वायो इति। आ। याहि। दर्शत ॥ प० पा०

यहाँ पर २।२८ से 'वायो' का ओकार अकार हो जाता है। यह अकार 'ओष्ठ्य' (=ओकार) के स्थान पर आया है, इसलिए यह अकार 'ओष्ठ्य'-योनि है। इस अकार के बाद में अनोष्ठ्य 'स्वर'-वर्ण (आकार) विद्यमान है, इसलिए प्रकृत सूत्र से अकार और आकार के मध्य में वकार का आगम हो गया है। इस प्रकार यह रूप निष्पन्न होता है—वायवा याहि।

(ख) ऋतेन। मित्रावरुणौ। ऋतऽवृधौ। ऋतऽस्पृशा ॥ प० पा०

यहाँ दो स्थलों पर 'भुग्न' संधि हुई है। २।२५ से औकार के स्थान पर आने वाले आकार के बाद में अनोष्ठ्य 'स्वर'-वर्ण ('ऋ' आया है जिससे दोनो स्थलों पर वकार का आगम हो गया है।

(ग) वायो इति। उक्थेभिः। जरन्ते ॥ प० पा०

(घ) उभौ। उपऽअंशु। प्रथमा। पिबाव ॥ प० पा०

उपर्युक्त दोनो प्रत्युदाहरणो में 'भुग्न' संधि नही हुई है क्योंकि 'ओष्ठ्य' योनि वाले अकार और आकार के बाद में अनोष्ठ्य 'स्वर'-वर्ण नही, अपितु 'ओष्ठ्य' 'स्वर'-वर्ण (उकार) विद्यमान है।

---

[1] ऋ० ४।३३।१ [2] ऋ० १०।६८।४

उ० भा० अ०—**कण्ठ्यौ**='कण्ठ्य' ('स्वर'-वर्ण)=अकार और आकार; **ऋकारे उदये**=ऋकार परे होने पर; **अकारम्**=अकार; हो जाते हैं। **तत्**=इस; सधि को; (**उद्ग्राहवत्**=) 'उद्ग्राहवत्'-सज्ञक; जानना चाहिए (अर्थात् ऋकार परे हो तो 'अ' और 'आ' का 'अ' हो जाता है)। (उदाहरण) "प्र ऋभुभ्यो दूतमिव"[क]; "आप्रुपायन्म-धुन ऋतस्य।"[ख]

(प्राच्यपदवृत्तयः पञ्चालपदवृत्तयश्च)

उद्ग्राहाणां पूर्वरूपाण्यकारे
प्रकृत्या द्वे ओ भवत्येकमाद्यम्।
प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयस्ताः
पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति ॥२३॥

(प्राच्यपदवृत्तियाँ और पञ्चालपदवृत्तियाँ)

सू०अ०—'उद्ग्राह' संधियों के जो पूर्व-रूप (=ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय,'ए' और 'ओ') हैं उनके परे यदि अकार हो तो (उन पूर्व-रूपों में से) दो ('ए' और 'ओ') प्रकृति-रूप में (अर्थात् बिना किसी विकार के ज्यों के त्यों रहते हैं) (तथा) आदि वाला एक (ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय) 'ओ' हो जाता है। वे 'प्राच्यपञ्चालपदवृत्तियाँ' (कहलाती हैं)। 'ओष्ठ्य' ('ओ') है पूर्व में जिनके वे पञ्चालों की होती हैं (अर्थात् वे 'पञ्चालपदवृत्तियाँ' कहलाती हैं)। (अन्य अर्थात् एकारपूर्व प्राच्यों की होती हैं अर्थात् वे 'प्राच्यपदवृत्तियाँ' कहलाती हैं)।

उ० भा०—उद्ग्राहाणां संधीनां यानि पूर्वरूपाणि=ये पूर्वरूपा अवयवाः=ह्रस्वपूर्वो विसर्जनीय एकार ओकारश्च, तानि अकारे प्रत्यये प्रकृत्या द्वे भवतः, ओ भवत्येकमाद्यम्। ताः च (प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयः=) प्राच्यपदवृत्तयः पञ्चालपदवृत्तयश्चोच्यन्ते। एवं सामान्यत उक्त्वा अथेदानीं विशेषमाह—पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति। इतरास्तु प्राच्य-पदवृत्तयः। "पुरोळाशो यो अस्मै"[१]; "प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य।"[२] "ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसानाः।"[३]

उ० भा० अ०—**उद्ग्राहाणाम्**='उद्ग्राह'-सज्ञक सधियो[४] के; जो; **पूर्वरूपाणि**=पूर्व-रूप=जो पूर्व-रूप अवयव (अर्थात् इन सधियों के पूर्ववर्ती पदों के अन्तिम 'अक्षर'=

टि० (क) प्र। ऋभुऽभ्य.। दूतम्ऽइव॥ प० पा०
ऋकार बाद में होने के कारण 'कण्ठ्य' ('अ') का 'अ' हो गया है अर्थात् 'अ' अविकृत रहा है।
(ख) आऽप्रुषायन्। मधुना। ऋतस्य॥ प० पा०
ऋकार बाद में आने के कारण 'कण्ठ्य' ('आ') का 'अ' हो गया है।

१ ऋ० ८।३१।२
२ ऋ० ९।८६।१६
३ ऋ० ४।३४।१०
४ दे०—२।२७ और २।२८

पदान्त)=ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय, एकार और ओकार (हैं); अकारे=अकार परे (=पदादि) हो तो उन (पूर्व-रूपों) में से दो ('ए', 'ओ') प्रकृति-रूप में (=बिना किसी विकार के) रहते हैं (और) आदि वाला एक (ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय) 'ओ' हो जाता है। वे (प्राच्य-पञ्चालपदवृत्तयः=) 'प्राच्यपदवृत्तियाँ' और पञ्चालपदवृत्तियाँ' कहलाती हैं। इस प्रकार सामान्य रूप से कहकर अब (सूत्रकार) विशेष कहते हैं—पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति='ओष्ठ्य' ('ओ') पूर्व में हैं जिनके वे पञ्चालो की होती हैं (अर्थात् वे 'पञ्चाल-पदवृत्तियाँ' कहलाती हैं)। अन्य (=एकार हैं पूर्व में जिनके वे) तो 'प्राच्यपदवृत्तियाँ' होती हैं। (उदाहरण) "पुरोळाश यो अस्मै"क; "प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य।"ख "ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना।"ग

(अभिनिहिताः संधयः)

अथाभिनिहितः संधिरेतैः प्राकृतवैकृतैः ।
एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र संधिजाः ॥३४॥

(अभिनिहित संधियाँ)

सू० अ०—अब 'अभिनिहित' संधि (बतलाई जायेगी)। (ऋचा के) पाद के आदि में स्थित अकार इन प्राकृत ('ए', 'ओ') और वैकृत (ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ 'ओ') के साथ मिलकर एक हो जाता है। वे ('ए' और 'ओ') यहाँ ('अभिनिहित' संधि में) संधि के परिणाम के रूप में (विद्यमान रहते हैं) (अर्थात् 'अभिनिहित' संधि होने के अनन्तर भी पदान्त 'ए' और 'ओ' ज्यों के त्यो रहते हैं जब कि पदादि 'अ' लुप्त हो जाता है)।

उ० भा०—अथशब्दो महाधिकारद्योतनार्थः। (अभिनिहितः=) अभिनिहितसंज्ञकः, संधिः; वक्ष्यत इति वाक्यशेषः। स च एतैः प्राकृतवैकृतैः अधस्तनैः। एकारौकाराभ्यां

टि० (क) पुरोळाशम् । यः । अस्मै ॥ प० पा०

'यः' का विसर्जनीय 'उद्ग्राह' संधि के तीन पूर्वरूपों में से प्रथम पूर्वरूप (ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय) है। इसके बाद में अकार है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय 'ओ' हो गया है। 'ओष्ठ्य' पूर्व में होने के कारण यह ("यो अस्मै") 'पञ्चालपदवृत्ति' का उदाहरण है।

(ख) प्रो इति । अयासीत् । इन्दुः । इन्द्रस्य ॥ प० पा०

'प्रो' का ओकार 'उद्ग्राह' संधियों का तृतीय पूर्वरूप है। इसके बाद में अकार है; इसलिए यह ओकार प्रस्तुत सूत्र से प्रकृति-रूप में रह गया है। यह भी 'पञ्चालपदवृत्ति' का उदाहरण है।

(ग) ते । अग्रेऽपाः । ऋभवः । मन्दसानाः ॥ प० पा०

'ते' का एकार 'उद्ग्राह' संधियो का द्वितीय पूर्वरूप है। इसके बाद में अकार है, इसलिए यह एकार प्रकृति-रूप में रह गया है और एकारपूर्व होने के कारण यह 'प्राच्यपदवृत्ति' का उदाहरण है।

प्राकृताभ्यां ह्रस्वपूर्वेण च ओकारभूतेन वैकृतेन एकीभवति पादादिरकारः। ते च अत्र त्रयः; (संधिजाः=) संधौ दृश्यन्ते। "सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने"[१]; "दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने"[२]; "अत्रा चित्तो मघो पितोऽरम्।"[३] पादादिः इति किम्? "चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति"[४]; "आरे अस्मे च शृण्वते।"[५] अभिनिहितसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"क्षैप्राभिनिहितेषु च"[६] इति॥

उ० भा० अ०—अथ शब्द महाधिकार के द्योतन के लिए (सूत्र में प्रयुक्त हुआ है)। (अभिनिहितः=) 'अभिनिहित'-संज्ञक; संधिः=संधि; 'वक्ष्यते' (कहेंगे) यह वाक्य-शेष है (अर्थात् वाक्य को पूरा करने के लिए 'वक्ष्यते' लगा लेना चाहिए)। और वह ('अभिनिहित' संधि) (यह है)—एतैः=इन; पूर्वोक्त; प्राकृतवैकृतैः=प्राकृत और वैकृत के साथ=प्राकृत एकार और ओकार के साथ तथा ह्रस्वपूर्व (विसर्जनीय) के स्थान पर आने वाले वैकृत ओकार के साथ (मिलकर); एकीभवति पादादिरकारः=पाद के आदि में स्थित अकार एक हो जाता है (तात्पर्य यह है कि ऋचा के पाद के आदि में विद्यमान 'अ' पूर्ववर्ती 'ए' या 'ओ' के साथ मिलकर एक हो जाता है अर्थात् 'अभिनिहित' संधि को प्राप्त करता है)। और; ते=वे तीनों (प्राकृत एकार, प्राकृत ओकार, वैकृत ओकार); अत्र=यहाँ (अर्थात् 'अभिनिहित' संधि में); (संधिजाः=) संधि होने पर दिखलाई पड़ते हैं (अर्थात् उनके स्वरूप में कोई विकार नहीं होता जब कि परवर्ती अकार अदृश्य हो जाता है)। (उदाहरण) "सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने"[ख]; "दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने"[ग];

टि० (क) 'अभिनिहित' संधि को पाणिनीय व्याकरण में 'पूर्वरूप' संधि कहते हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि लौकिक संस्कृत में 'ए' और 'ओ' के बाद में विद्यमान 'अ' सर्वत्र 'पूर्वरूप' संधि को प्राप्त करता है किंतु ऋग्वेद-संहिता में कम से कम एक चौथाई स्थलों पर 'अ' 'अभिनिहित' संधि को प्राप्त न करके 'प्रकृतिभाव' से रहता है।

(ख) सुऽगम्। तत्। ते। तावकेभ्यः। रथेभ्यः।
अग्ने।........................॥ प० पा०

यहाँ 'जगती'-छन्दस्क ऋचा के चतुर्थ पाद के आदि में स्थित ('अग्ने' पद का) अकार (पदादि) वैकृत 'ओ' (पदान्त) के साथ मिलकर एक हो गया है और संधि के परिणाम के रूप में 'ओ' ज्यों का त्यों विद्यमान है। उसमें कोई विकार नहीं हुआ है जबकि 'अ' अदृश्य हो गया है।

(ग) दधासि। रत्नम्। द्रविणम्। च। दाशुषे।
अग्ने।........................॥ प० पा०

यहाँ 'जगती'-छन्दस्क ऋचा के चतुर्थ पाद के आदि में स्थित ('अग्ने' पद का) अकार (पदादि) एकार (पदान्त) के साथ मिलकर एक हो गया है और संधि के परिणाम के रूप में 'ए' ज्यों का त्यों विद्यमान है जबकि 'अ' अदृश्य हो गया है।

---

[१] ऋ० १।९४।११ [२] ऋ० १।९४।१४ [३] ऋ० १।११८७।७
[४] ऋ० ७।६०।७ [५] ऋ० १।७४।१ [६] ३।१३

"अत्रा चिन्नो मधो पितोऽरम् ।"क "पाद के आदि वाला (अकार)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "चिकित्वांसो अचेतस नयन्ति"ख, "आरे अस्मे च शृण्वते ।"ग अभिनिहित—संज्ञा का प्रयोजन—"क्षैप्र और अभिनिहित (सन्धियों) में ।"

अन्तःपादमकाराच्चेत्संहितायां लघोर्लघु ।
यकाराद्यक्षरं परं वकाराद्यपि वा भवेत् ॥३५॥

सू० अ०—यदि 'संहिता' (-पाठ) में 'लघु' अकार से परे यकार से प्रारम्भ होने वाला या वकार से प्रारम्भ होने वाला 'लघु' 'अक्षर' ('=स्वर'-वर्ण) हो तो पाद के मध्य में (भी अकार एकार और ओकार के साथ मिलकर एक हो जाता है)।

उ० भा०—अन्तःपादम्=पादस्य मध्ये । अधिकारवचनम् । अकाराच्चेत्—अभिनिधीयमानस्याकारस्य विशेषणानि । अकारात् लघोः परमक्षरं लघु यकारादि वा वकारादि वा; (चेत्=) यदि, भवेत्, संहितायाम्=संहितापाठे । अथ सोऽकारः; अभिनिधीयते=प्राकृतवैकृतैरेकीभवति—इत्यर्थः ।

यकारादेः—"यमैच्छाम मनसा सोऽयमागात् ।"[1] वकारादेः—"त पृच्छन्तोऽवरासः"[2], "यस्ते मन्योऽविधद्वज्र"[3], "तेऽवदन्प्रथमाः ।"[4] अन्तःपादग्रहणं पादाद्यधिकारनिवृत्त्यर्थम् । संहिताधिकारे पुनः संहिताग्रहणं किमर्थम् ? "अस्ति सोमो अयं सुतः"[5]; "माशिवासो अव क्रमुः"[6] इत्येवमादिषु संहिताया गुरुत्वाद् यकारवकारादेः अक्षरस्य पदे लघावपि तस्मात्प्रकृतिभावार्थम् । लघोः इति किम् ? "व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम् ।"[7] लघु इति किम् ? "द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात् ।"[8] यकाराद्यक्षरं परं वकाराद्यपि वा इति किम् ? "एनं देवासो अमृतासो अस्युः"[9], "वज्रेण धृष्णो अप ता नुदस्व"[10], "यथा शार्याते अपिबः ॥"[11]

टि० (क) अत्र । चित् । न । मधो इति । पितो इति ।
अरम् । ·· ··· ··· ·· · ॥ प० पा०

यहाँ 'गायत्री'-छन्दस्क ऋचा के चतुर्थ पाद के आदि में स्थित ('अरम्' पद का) अकार (पदादि) प्राकृत ओकार (पदान्त) के साथ मिलकर एक हो गया है और सन्धि के परिणाम के रूप में 'ओ' ज्यों का त्यों विद्यमान है ।

(ख) चिकित्वांस. । अचेतसम् । नयन्ति ॥ प० पा०

पाद के आदि में न होने के कारण 'अचेतसम्' का अकार (पदादि) पूर्ववर्ती वैकृत ओकार (पदान्त) के साथ मिलकर एक नहीं हुआ है ।

(ग) आरे । अस्मे इति । च । शृण्वते ॥ प० पा०

पाद के आदि में न होने के कारण 'अस्मे' का अकार (पदादि) पूर्ववर्ती एकार (पदान्त) के साथ मिलकर एक नहीं हुआ ।

---

[1] ऋ० १०।५३।१ [2] ऋ० ६।५...१ [3] ऋ० १०।८३।१ [4] ऋ० १०।१०९।१
[5] ऋ० ८।९४।४ [6] ऋ० ७।३२।२७ [7] ऋ० ६।१४।३ [8] ऋ० ४।४।१५
[9] ऋ० १।१२३।१ [10] ऋ० ६।२१।७ [11] ऋ० ३।५१।७

उ० भा० अ०—**अन्त:पादम्**=पाद के मध्य में। यह अधिकार का कथन है।[क] **अकाराच्चेत्** (इत्यादि) अभिनिधीयमान (एक हो जाने वाले) अकार के विशेषण हैं। (**चेत्**=) यदि, **संहितायाम्**=संहिता-पाठ में; **लघो: अकारात् परम्**='लघु' अकार से परे, **यकारादि वकारादि वा**=यकार से प्रारम्भ होने वाला या वकार से प्रारम्भ होने वाला; **लघु अक्षरं भवेत्**='लघु' 'अक्षर' होवे। तब वह अकार 'अभिनिधान' को प्राप्त करता है=प्राकृत और वैकृत (एकार तथा ओकार) के साथ मिलकर एक हो जाता है (तात्पर्य यह है कि पाद के मध्य में स्थित अकार भी 'अभिनिहित' संधि को प्राप्त करता है यदि (१) अभिनिधीयमान अकार 'लघु' हो (२) अभिनिधीयमान अकार के बाद में विद्यमान 'अक्षर' (i) यकार अथवा वकार से प्रारम्भ होने वाला हो और (ii) वह 'अक्षर' संहिता-पाठ में 'लघु' हो)।

यकारादि का (उदाहरण)—"यमैच्छाम मनसा सोऽयमागात्।"[ख] **वकारादि** का (उदाहरण)—"त पृच्छन्तोऽवरास"[ग]; "यस्ते मन्योऽविधद्वज्र"[घ]; "तेऽवदन्प्रथमा."[ङ] **अन्त:पाद** पद का (सूत्र में) ग्रहण (२।३४से प्राप्त) पादादि के अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। (प्रश्न) 'संहिता' के अधिकार (२।१) में पुन 'संहिता' पद का (सूत्र में) ग्रहण क्यों (किया गया है)? (उत्तर) "अस्ति सोमो अय सुत."[च]; और "माशिवासो अव क्रमु"[छ] इत्यादि (स्थलों) में यकार तथा वकार से प्रारम्भ होने वाला 'अक्षर' पद-पाठ में 'लघु' होने पर भी 'संहिता' में 'गुरु' है, इसलिए (ऐसे स्थलों पर) 'प्रकृतिभाव' के लिए (सूत्र में 'संहितायाम्' पद का ग्रहण किया गया है)।[ज] "'लघु' (अकार) से (परे)"—यह

टि० (क) "अन्त पादम्" का अधिकार २।४८ तक चलता है।

(ख) यम्। ऐच्छाम। मनसा। स। अयम्। आ। अगात्॥ प० पा०

यहाँ पर अकार बाद में होने के कारण पूर्ववर्ती ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय २।३३ से 'ओ' हो गया जिससे यह रूप निष्पन्न हुआ—सो। अयम्। अब अभिनिधीयमान 'अ' 'लघु' है और इस 'लघु' 'अ' से परे यकार से प्रारम्भ होने वाला 'लघु' 'अक्षर' 'अ' है। अत. पाद के मध्य में होने पर भी 'अ' पूर्ववर्ती वैकृत 'ओ' के साथ मिलकर एक हो गया है। आगे के उदाहरणों को भी ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ग) तम्। पृच्छन्त। अवरास॥ प० पा०

(घ) य.। ते। मन्यो इति। अविधत्। वज्र॥ प० पा०

(ङ) ते। अवदन्। प्रथमा॥ प० पा०

(च) अस्ति। सोम। अयम्। सुत॥ प० पा०

(छ) मा। अशिवास। अव। क्रमु॥ प० पा०

(ज) यहाँ पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि 'संहिता' का अधिकार तो पहले (२।१) से ही चल रहा है, तब सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'संहिता' पद का पुन ग्रहण क्यों किया है? इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि 'संहिता'-पाठ में ही यकारादि तथा वकारादि 'अक्षर' का 'लघु' होना आवश्यक है 'पद-पाठ' में नहीं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि 'पद-पाठ' में यकारादि तथा वकारादि 'अक्षर' का 'लघु'

(सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "व्रतै. सीक्षन्तो अव्रतम्"[क] "'लघु' (यकारादि या वकारादि 'अक्षर')"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात् ।"[ख] "यकारादि 'अक्षर' या वकारादि 'अक्षर' "—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "ऐनं देवासो अमृतासो अस्थु."[ग], "वज्रेण धृष्णो अप ता नुदस्व"[घ]; "यथा शार्यते अपिब ।"[ङ]

अन्याद्यपि तथायुक्तमावोऽन्तोपहितात्सतः ॥३६॥

सू० अ०—'आवः' में समाप्त (अन्त) होने वाले (पद) से उपहित (preceded) (अभिनिधीयमान अकार) से परे (यकार और वकार से) अन्य ('व्यञ्जन') से प्रारम्भ होने वाला भी (किंतु) उसी प्रकार से युक्त ('अक्षर') हो तो (अकार का 'अभिनिधान' हो जाता है) ।

उ० भा०—यकरादि वकरादि वा यदक्षरमुक्त तदुच्यते—(अपि=) यद्यपि; (अन्यादि=) अन्यव्यञ्जनादि; तदक्षरं भवति; तथा=तेनैव प्रकारेण; युक्तं भवति= संहितायां लघोर्लघु भवति–इत्यर्थः; अथ तदा आवोऽन्तोपहितात्सतः; (तदा) अकारस्याभि- निधानं भवति । आवः एवमन्तो यस्य पदस्य तदावोऽन्तम्; तेनोपहितः=आवोऽन्तोपहितः; तस्मात्=आवोऽन्तोपहितात्सतः । "समत्र गावोऽभितोऽनवन्त ।"[१] तथायुक्तम् इति किम् ? "आ गावो अग्मन् ।"[२] आवोऽन्तोपहितात्सतः इति किम् ? ऐनं देवासो अमृतासो अस्थुः ।"[३]

(१५५ज) अथवा 'गुरु' होना कोई महत्त्व नही रखता । उदाहरण के लिए—"अस्ति सोमो अयं सुत " तथा "माशिवासो अव क्रमु " इन स्थलो पर क्रमश यकारादि तथा वकारादि 'अक्षर' पद-पाठ में 'लघु' होने पर भी संहिता-पाठ में 'गुरु' हैं क्योंकि इनके परे क्रमश 'अनुस्वार' और 'सयोग' हैं । ऐसे स्थलो पर 'अभिनिहित' संधि न होकर 'प्रकृतिभाव' ही होवे—इसी के लिए सूत्रकार ने 'संहितायाम्' पद का इस सूत्र में ग्रहण किया है ।

टि० (क) व्रतै । सीक्षन्त । अव्रतम् ॥ प० पा०

यहाँ वकारादि 'अक्षर' 'लघु' है किंतु अभिनिधीयमान 'अ' संयोगपर होने के कारण 'गुरु' है । इसलिए यहाँ 'अभिनिहित' संधि नहीं हुई ।

(ख) द्रुह । निद । मित्रऽमह. । अवद्यात् ॥

यहाँ अभिनिधीयमान 'अ' 'लघु' है किंतु वकारादि 'अक्षर' सयोगपर होने के कारण 'गुरु' है । इसलिए यहाँ 'अभिनिहित' सधि नही हुई ।

(ग) आ । एनम् । देवास । अमृतास । अस्थु ॥ प० पा०

(घ) वज्रेण । धृष्णो इति । अप । ता । नुदस्व ॥ प० पा०

(ङ) यथा । शार्यते । अपिब ॥ प० पा०

उपर्युक्त तीनों प्रत्युदाहरणो में प्रत्येक के 'लघु' अकार से परे यद्यपि 'लघु' 'अक्षर' विद्यमान है तथापि वह ('लघु' 'अक्षर') यकार अथवा वकार से प्रारम्भ नही होता है, अत अकार 'अभिनिधान' को प्राप्त नही करता है ।

[१] ऋ० ५।३०।१० [२] ऋ० ६।२८।१ [३] ऋ० १।१२३।१

उ० भा० अ०—(अभिनिधीयमान अकार से बाद में विद्यमान) जिस 'अक्षर' को यकार से प्रारम्भ होने वाला अथवा वकार से प्रारम्भ होने वाला (२।३५ में) कहा गया है, उस ('अक्षर' के विषय में कुछ और) कहते हैं—(अपि=) यद्यपि; (अन्यादि=) अन्य 'व्यञ्जन' से प्रारम्भ होने वाला; वह 'अक्षर' होता है; (किंतु) तथा=उसी प्रकार से; युक्त (सम्बद्ध) होता है=संहिता-पाठ में 'लघु' ('अक्षर') से परे 'लघु' ('अक्षर') होता है—यह अर्थ है; इसके अतिरिक्त; आवोऽन्तोपहितात्सतः= आव' में समाप्त (अन्त) होने वाले (पद) से उपहित (अभिनिधीयमान अकार) से परे (वह 'अक्षर' होता है तो); (तब) अकार का 'अभिनिधान' होता है (तात्पर्य यह है कि पाद के मध्य में स्थित अकार की 'अभिनिहित' सन्धि तब भी हो जाती है जब इसके परे यकार तथा वकार से अन्य 'व्यञ्जन' से प्रारम्भ होने वाला भी 'अक्षर' हो किंतु ऐसा तभी होता है जब (१) अभिनिधीयमान अकार 'लघु' हो (२) यकार तथा वकार से अन्य 'व्यञ्जन' से प्रारम्भ होने वाला परवर्ती 'अक्षर' भी संहिता-पाठ में 'लघु' हो (३) अभिनिधीयमान अकार के अव्यवहित पूर्व में ऐसा पद विद्यमान हो जो 'आव.' में समाप्त होता हो)। (उदाहरण) "समत्र गावोऽभितोऽनवन्त।"[क] "उसी प्रकार से युक्त"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "आ गावो अग्मन्।"[ख] "'आव' में अन्त होने वाले (पद) से उपहित (अभिनिधीयमान अकार) से परे (आने पर)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "एनं देवासो अमृतासो अस्थुः।"[ग]

टि० (क) सम्। अत्र। गावः। अभितः। अनवन्त॥ प० पा०

यहाँ 'आव' में अन्त होने वाला पद 'गाव' है। यह 'गाव.' पद 'अभितः' पद के 'अ' की उपधा (=अव्यवहित पूर्ववर्ती पद) है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'अभित.' का 'अ' 'आव.' में अन्त होने वाले 'गाव.' पद से उपहित है। अभिनिधीयमान अकार ('अभित.' का 'अ') 'लघु' है और इससे परे यकार अथवा वकार से अन्य 'व्यञ्जन' ('भ्') से प्रारम्भ होने वाला 'लघु' 'अक्षर' इकार है। अतः 'अभित.' के 'अ' का 'अभिनिधान' प्रकृत सूत्र से हो गया।

(ख) आ। गावः। अग्मन्॥ प० पा०

यहाँ पर 'आव.' में अन्त होने वाले 'गाव.' पद से उपहित ('अग्मन्' के) 'अ' का संहिता-पाठ में 'अभिनिधान' नहीं हुआ है क्योंकि वह उसी प्रकार से युक्त नहीं है अर्थात् 'लघु' 'अक्षर' से परे 'लघु' 'अक्षर' नहीं है। अभिनिधीयमान अकार (='अग्मन्' का 'अ') 'गुरु' है क्योंकि इसके बाद में संयुक्त 'व्यञ्जन' (='संयोग') है।

(ग) आ। एनम्। देवास। अमृतास। अस्थु॥ प० पा०

यहाँ पर अभिनिधीयमान अकार ('अमृतास.' का 'अ') 'लघु' है तथा इसके परे 'भ्' से प्रारम्भ होने वाला 'अक्षर' (=ऋकार) भी 'लघु' है, तथापि 'अमृतास.' के 'अ' का 'अभिनिधान' नहीं हुआ क्योंकि यह 'अ' 'आवः' में अन्त होने वाले पद से उपहित नहीं है।

अयेऽयोऽवेऽव इत्यन्तैरकारः सर्वथा भवन् ॥३७॥

सू० अ०—'अये', 'अयः', 'अवे' और 'अवः'—इनमें अन्त होने वाले पदों) से (उपहित, preceded) सब प्रकार का अकार ('अभिनिहित' संधि को प्राप्त कर लेता है)

उ० भा०—अये अयः अवे अवः; (इत्यन्तैः=) एवमन्तैः पदैः; उपहितः अकारः; सर्वथा=सर्वप्रकारोऽपि; भवन् अभिनिधीयते। सर्वथाग्रहणं गुरुलघ्वर्थम्। अये—"अजीतयेऽहतये पवस्व।"[१] अयः—"ता अञ्जयोऽरुणयो न ससुः।"[२] अवे—"युव श्वेतं पेद्वेऽश्विनाश्वम्।"[३] अवः—"पुरूरवोऽनु ते केतमायम्।"[४] तदन्तग्रहणादिह न भवति—"विपा वराहमयोअग्रया हन्",[५] "तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे।"[६] "पादमध्ये" इति किम्? "इन्द्र जामय उत येऽजामयोऽर्वाचीनासः"[७]—अत्र च प्रकारान्तरेण जातत्वात् ॥

उ० भा० अ०—अये, अयः, अवे, अवः; (इत्यन्तैः=) इनमें अन्त होने वाले पदों से; उपहित (अर्थात् जब इनमें अन्त होने वाले पद पूर्व में हों तो), अकारः=(अभिनिधीयमान) अकार, सर्वथा=सब प्रकार का भी, भवन्=होता हुआ, 'अभिनिधान' को प्राप्त करता है (अर्थात् पूर्ववर्ती 'ए' या 'ओ' के साथ मिलकर एक हो जाता है)। सर्वथा पद का (सूत्र में) ग्रहण 'गुरु' और 'लघु' (इन दोनों के ग्रहण) के लिए किया गया है (अर्थात् 'गुरु' और 'लघु' दोनों प्रकार का अकार 'अभिनिधान' को प्राप्त करता है)। अये—"अजीतयेऽहतये पवस्व।"[क] अयः - "ता अञ्जयोऽरुणयो न ससुः।"[ख] अवे—"युव श्वेत पेद्वेऽश्विनाश्वम्।"[ग] अवः—"पुरूरवोऽनु ते केतमायम्।"[घ] "इनमें अन्त होने वाले"- इसका ग्रहण होने से यहाँ (अर्थात् निम्नलिखित प्रत्युदाहरणों में) ('अभिनिधान') नहीं होता है—"विपा वराहमयोअग्रया हन्"[ङ], "तद्देवानामवो अद्या

टि० (क) अजीतये। अहतये। पवस्व ॥ प० पा०
'अये' में अन्त होने वाले 'अजीतये' पद से उपहित (अर्थात् 'अजीतये' के अव्यवहित बाद में आने वाले) 'अहतये' का अकार 'अजीतये' के एकार के साथ अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है।
(ख) ता। अञ्जय। अरुणय। न। ससु ॥ प० पा०
(ग) युवम्। श्वेतम्। पेद्वे। अश्विना। अश्वम् ॥ प० पा०
(घ) पुरूरव। अनु। ते। केतम्। आयम् ॥ प० पा०
(ङ) विपा। वराहम्। अयऽअग्रया। हन्निति हन् ॥ प० पा०
'अग्रया' के अकार के पूर्व में अवस्थित 'अय' पदान्त न होकर स्वयं पद. अतः यहाँ 'अभिनिहित' संधि नहीं हुई। 'अभिनिहित' संधि के लिए पूर्व 'अय' में अन्त होने वाला पद होना चाहिए, स्वयं 'अय' पद नहीं।

---

१ ऋ० ९।९६।४ २ ऋ० १०।९५।६ ३ ऋ० १०।३९।१० ४ ऋ० १०।९५ ५ ऋ० १०।९९।६ ६ ऋ० १०।३६।२ ७ ऋ० ६।२५।३

वृणीमहे।"[क] "पाद के मध्य में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) इन्द्र जामय उत येऽजामयोऽर्वाचीनास ।"[ख]—यहाँ पर ('अभिनिधान') अन्य प्रकार से हुआ है।

व इत्येतेन चा न प्र क्व चित्रः सवितैव कः ।
पदैरुपहितेनैतैः ॥३८॥

सू० अ०—'आ', 'न', 'प्र', 'क्व', 'चित्रः', 'सविता' 'एव' (और) 'कः'—इन (=में से किसी भी एक) पदों से उपहित (preceded) 'वः' इस (पद) से (उपहित अकार 'अभिनिधान' को प्राप्त करता है)।

उ० भा०—आ, न, प्र, क्व, चित्रः, सविता, एव, कः—एतैः पदैरुपहितेन वः इत्येतेन पदेनोपहितोऽकारोऽभिनिधीयते। आ—"आ वोऽहं समिति ददे।[१—ग] न—"न वोऽश्वाः श्रथयन्ताह सिस्रतः।"[२—घ] प्र—"प्र वोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदम्।[३—ङ] क्व—"क्व वोऽश्वाः क्वाभीशवः।"—[च] चित्रः—"चित्रो वोऽस्तु यामः।"[४—छ] सविता—

टि० (क) तत्। देवानाम्। अवः। अद्य। वृणीमहे॥ प० पा०

इस प्रत्युदाहरण में 'अद्य' के अकार के पूर्व में 'अवः' पदान्त न होकर स्वय पद है अत. यहाँ 'अभिनिहित' सधि नही हुई।

(ख) इन्द्र। जामय.। उत। ये। अजामयः। अर्वाचीनास॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र में २।३५ से "अन्त पादम्=पाद के मध्य में" की अनुवृत्ति हो रही है (दे. पृ. १५५ टि० क) जिसके अनुसार इस सूत्र से पाद के मध्य में स्थित अकार का 'अभिनिधान' होता है। यदि अकार पाद के आदि में स्थित है तब तो उसका 'अभिनिधान' इस सूत्र से नही होता अपितु उसका 'अभिनिधान' तो २।३४ से ही हो जाता है। जैसे इस प्रत्युदाहरण में 'अर्वाचीनास.' के अकार का 'अभिनिधान' इस सूत्र से नही हुआ अपितु २।३४ से हुआ है। 'अजामयः' के अकार का 'अभिनिधान' तो २।४६ के अनुसार निपातन से हुआ है। इस प्रकार इस प्रत्युदाहरण मे प्रस्तुत सूत्र से कोई भी 'अभिनिधान' नही हुआ है।

(ग) आ। व। अहम्। सम्ऽइतिम्। ददे॥ प० पा०

यहाँ 'व' के पूर्व में निर्दिष्ट पदो में से प्रथम पद (अर्थात् 'आ') स्थित है, इसलिए 'व' के बाद में विद्यमान 'अहम्' के अकार ने 'अभिनिहित' सधि को प्राप्त कर लिया है। आगे के सभी उदाहरणो को इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

(घ) न। व। अश्वा। श्रथयन्त। अह। सिस्रत। प० पा०

(ङ) प्र। व। अच्छ। रिरिचे। देवऽयु। पदम्॥ प० पा०

(च) क्व। व। अश्वाः। क्व। अभीशव॥ प० पा०

(छ) चित्र। व.। अस्तु। याम.॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १०।१६६।४ [२] ऋ० ५।५४।१० [३] ऋ० १०।३२।५
[४] ऋ० ५।६१।२ [५] ऋ० १।१७२।१

"तत्सविता वोऽमृतत्वमासुवत् ।"[१-क] एव—"अत्रैव वोऽपि नह्यामि ।"[२-ख] कः—को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतः ।[३-ग] एतैः पदैः इति किम् ? "अच्छा वो अग्निमवसे ।।"[४-घ]

उ० भा० अ०—आ, न, प्र, क्व, चित्रः, सविता, एव, कः ; एतैः पदैरुपहितेन=इन पदों से उपहित; व इत्येतेन='व.' इस (पद) से, उपहित अकार 'अभिनिधान' को प्राप्त करता है (तात्पर्य यह है कि 'व.' के पूर्व में निर्दिष्ट पदों में से कोई एक हो तो इस ('व.') के बाद में आने वाला 'अ' 'अभिनिधान' को प्राप्त करता है)।··· ····।

सर्वैरेवोदयाः परे ।।३९।।

सू० अ०—सभी (एकार और ओकार) से बाद में आने पर परवर्ती (पद) (अर्थात् २।४०में निर्दिष्ट पदों के प्रथम अकार) ('अभिनिहित' संधि को प्राप्त करते हैं)।

उ० भा०—सर्वैरेव=प्राकृतवैकृतैरेकारौकारैः; (उदयाः=) उपहिताः सन्तः; परे पदादिभूता अभिनिधीयन्ते ।।

न ज्ञायन्ते कतमे त इत्यत आह—

उ० भा० अ०—सर्वैरेव=सभी=प्राकृत और वैकृत एकार और ओकार से; (उदयाः=) उपहित होने पर; परे=परवर्ती पदों के प्रथम अकार; 'अभिनिधान' को प्राप्त करते हैं (तात्पर्य यह है कि किसी भी 'ए' अथवा 'ओ' के बाद में आने पर २।४० में निर्दिष्ट पदों के प्रथम 'अ' 'अभिनिधान' को प्राप्त कर लेते हैं) ।

यह पता नहीं चलता कि वे (पद) कितने हैं, इसलिए (उन पदों को) कहते हैं—

अदादवत्रोंऽजनयन्तान्यत्य।
अभेदयोऽपाष्टिरवन्त्ववीरता ।
अमुमुक्तममतयेऽनशामहा
अव त्वचोऽवीरतेऽवांस्यवोऽरथाः ।।४०।।

सू० अ०—'अदात्', 'अवत्रैः', 'अजनयन्त', 'अन्यत्यै', 'अभेत्', 'अयोऽपाष्टिः' 'अवन्तु', 'अवीरता', 'अमुमुक्तम्' 'अमतये', 'अनशामहै', 'अव त्वचः', 'अवीरते', 'अवांसि'; 'अवः' (और) 'अरथाः' ।

टि० (क) तत् । सविता । व. । अमृतऽत्वम् । आ । असुवत् ।। प० पा०
(ख) अत्र । एव । व. । अपि । नह्यामि ।। पा० पा०
(ग) क । व. । अन्त । मरुत । ऋष्टिऽविद्युत ।। प० पा०
(घ) अच्छ । व. । अग्निम् । अवसे ।। प० पा०
निर्दिष्ट पदों में से कोई भी 'व' पद के पूर्व में नहीं है, अत. 'व.' के बाद में विद्यमान 'अग्निम्' पद के अकार ने संहिता-पाठ में 'अभिनिधान' को प्राप्त नहीं किया है ।

---

[१] ऋ० १।११०।३ [२] ऋ० १०।१६६।३ [३] ऋ० १।१६८।५ [४] ऋ० ५।२५।१

उ० भा०—अदात्, अवर्त्रः, अजनयन्त, अव्यत्यै, अभेत्, अयोऽपाष्टिः, अवन्तु, अवीरता, अमुमुक्तम्, अमतये, अनशामहै, अव त्वचः, अवीरते, अयांसि, अवः, अरथाः।

अदात्—"स नः सनिता सनये स नोऽदात्।"[१-क] अवर्त्रः—"अमर्त्योऽवर्त्र ओषधीषु।"[२-ख] अजनयन्त—"यं देवासोऽजनयन्ताग्निम्।"[३-ग] अव्यत्यै—'उत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।"[४-घ] अभेत्—"वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोऽभेत्।"[५-ङ] अयोऽपाष्टिः—"श्येनोऽयोऽपाष्टिर्हन्ति दस्यून्।"[६-च] पदादौ लक्षणतोऽभिनिहितः, पदमध्ये निपातनात्। अवन्तु—"अधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।"[७-छ] अवीरता—"माशेषसोऽवीरता परि त्वा।"[८-ज] अमुमुक्तम्—"अत्रिं न महस्तमसोऽमुमुक्तम्।"[९-झ] अमतये—"मा नो अग्नेऽमतये।"[१०-ञ] अनशामहै—"येन वस्योऽनशामहै।"[११-ट] अव त्वचः—"शिरोऽव त्वचो भरः।"[१२-ठ] त्वचः इति किम्? "माशिवासो अव क्रमुः।"[१३-ड] अवीरते—

टि० (क) स। न। सनिता। सनये। स। न। अदात्॥ प० पा०
(ख) अमर्त्यः। अवर्त्रः। ओषधीषु॥ प० पा०
(ग) यम्। देवासः। अजनयन्त। अग्निम्॥ प० पा०
(घ) उत। स्म। मे। अव्यत्यै। पृणासि॥ प० पा०
(ङ) वि। तिग्मेन। वृषभेण। पुरः। अभेत्॥ प० पा०
(च) श्येनः। अयःऽअपाष्टिः। हन्ति। दस्यून्॥ प० पा०

('अयोऽपाष्टि') पद के आदि में 'अभिनिहित' (सन्धि) (प्रस्तुत) नियम (लक्षण) से (हुई है), पद के मध्य में निपातन से ('अभिनिहित' सन्धि हुई है) (तात्पर्य यह है कि 'अयोऽपाष्टि' के प्रथम अकार का 'अभिनिधान' प्रस्तुत सूत्र से हुआ है और द्वितीय अकार का 'अभिनिधान' निपातन से हुआ है)।

(छ) अधि। ब्रुवन्तु। ते। अवन्तु। अस्मान्॥ प० पा०
(ज) मा। अशेषसः। अवीरता। परि। त्वा॥ प० पा०
(झ) अत्रिम्। न। महः। तमसः। अमुमुक्तम्॥ प० पा०
(ञ) मा। नः। अग्ने। अमतये॥ प० पा०
(ट) येन। वस्यः। अनशामहै॥ प० पा०
(ठ) शिरः। अव। त्वचः। भरः।॥ प० पा०
(ड) मा। अशिवासः। अव। क्रमुः॥ प० पा०

'अव' के अकार का 'अभिनिधान' तभी होता है जब 'अव' के पश्चात् 'त्वच' पद हो जैसा कि उदाहरण में हुआ है। प्रत्युदाहरण में 'अव' के बाद में 'त्वच' पद नहीं है, अतः 'अव' के अकार का 'अभिनिधान' नहीं हुआ है।

---

[१] ऋ० १।३०।१६ [२] ऋ० ६।१२।३ [३] ऋ० १०।८८।९
[४] ऋ० १०।९५।५ [५] ऋ० १।३३।१३ [६] ऋ० १०।९९।८
[७] ऋ० १०।१५।५ [८] ऋ० ७।१।११ [९] ऋ० ६।५०।१०
[१०] ऋ० ३।१६।५ [११] ऋ० ८।२७।२२ [१२] ऋ० १०।१७१।२
[१३] ऋ० ७।३२।२७

"मा नो अग्नेऽवीरते परा दा।"[१-क] अवांसि—"आ दैव्या वृणीमहेऽवांसि।"[२-ख] अवः—"आ तेऽवो वरेण्यम्।"[३-ग] "आ नोऽवोभिर्मरुतो यान्त्वच्छ"[४-घ]—द्वे उदाहरणे। अरथाः—"अनश्वासो ये पवयोऽरथाः॥"[५-ङ]

उ० भा० अ०—अदात्, अवर्त्रः, अजनयन्त, अव्यत्यै, अभेत्, अयोऽपाष्टिः, अवन्तु, अवीरता, अमुमुक्तम्, असतये, अनशामहै, अव त्वचः, अवीरते, अवांसि अवः (और) अरथाः। ·· ··· ·· ·· ·· ·· ·· ·· ।

वासोवायोऽभिभुवे कवष्यः
संक्रन्दनो धीजवनः स्वधाव।
उत्सादत ऋतावः सगर्भ्यो
हिरण्यशृङ्ग इति चोपधाभिः ॥४१॥

सू० अ०—'वासोवायः', 'अभिभुवे', 'कवष्यः', 'संक्रन्दनः', 'धीजवनः' 'स्वधाव', 'उत्सादत', 'ऋतावः', 'सगर्भ्यः' (और) 'हिरण्यशृङ्गः'—इन उपधाओं (अव्यवहित पूर्ववर्ती पदों) से भी (उपहित अकार 'अभिनिहित' संधि को प्राप्त कर लेता है)।

उ० भा०—वासोवायः, अभिभुवे, कवष्यः, संक्रन्दनः, धीजवनः, स्वधावः, उत्सादतः, ऋतावः, सगर्भ्यः, हिरण्यशृङ्गः—इति=एवंरूपाभिः; चोपधाभिः उपहितोऽकारोऽभिनिधीयते।

वासोवायः—"वासोवायोऽवीनाम्।"[६-च] अभिभुवे—"अभिभुवेऽभिभङ्गाय।"[७-छ] कवष्यः—"कवष्योऽकोपधावनीः।"[८] संक्रन्दनः—"संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः।"[१-ज]

टि० (क) मा। नः। अग्ने। अवीरते। परा। दा॥ प० पा०

(ख) आ। दैव्या। वृणीमहे। अवांसि॥ प० पा०

(ग) आ। ते। अवः। वरेण्यम्॥ प० पा०

(घ) आ। नः। अवःऽभिः। मरुतः। यान्तु। अच्छ॥ ॥ प० पा०
'अव' के अकार के 'अभिनिधान' के दो उदाहरण दिए गए हैं।

(ङ) अनश्वासः। ये। पवयः। अरथाः॥ प० पा०

(च) वासःऽवायः। अवीनाम्॥ प० पा०
'वासोवाय' पद पूर्व में होने के कारण 'अवीनाम्' के अकार ने 'अभिनिहित' संधि को प्राप्त कर लिया है अर्थात् पूर्ववर्ती 'ओ' के साथ मिलकर एक हो गया है। आगे वाले सभी उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(छ) अभिऽभुवे। अभिऽभङ्गाय॥ प० पा०

(ज) सम्ऽक्रन्दनः। अनिऽमिषः। एकऽवीरः॥ प० पा०

१ ऋ० ७।१।१९ २ ऋ० ७।९७।२ ३ ऋ० ५।३५।३
४ ऋ० १।१६८।२ ५ ऋ० ५।३७।५ ६ ऋ० १०।२६।६
७ ऋ० ७।९१।२ ८ तै० ब्रा० ३।६।२।२ १ ऋ० १०।१०३।१

धीजवनः—"पूषेव धीजवनोऽसि सोम।"[१-क] स्वधावः—'रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति हि ते।"[२-ख] उत्सादतः—"उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानाम्।"[३-ग] ऋतावः—"सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय।"[४-घ] सगर्भ्यः—"सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।"[५] हिरण्यशृङ्गः—"हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः॥"[६-ङ]

उ० भा० अ०—वासोवायः, अभिभुवे, कवष्यः, संक्रन्दनः, धीजवनः, स्वधावः, उत्सादतः, ऋतावः, सगर्भ्यः, हिरण्यशृङ्गः—इति=इस प्रकार की; चोपधाभिः= उपधाओं से भी; उपहित अकार 'अभिनिहित' संधि को प्राप्त कर लेता है (तात्पर्य यह है कि परवर्ती 'अ' इन निर्दिष्ट पदों के अन्तिम 'ए' या 'ओ' के साथ मिलकर एक हो जाता है)।.... ....।

येऽरा रायोऽध मेऽधायि नोऽहिरग्नेऽभिदासति।
जायमानोऽभवोऽग्नेऽयं नृतोऽपोंऽहोऽतिपिप्रति ॥४२॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों में अकार का 'अभिनिधान' होता है)— 'येऽराः', 'रायोऽध', 'मेऽधायि', 'नोऽहिः', 'अग्नेऽभिदासति', 'जायमानोऽभवः', 'अग्नेऽयम्', नृतोऽपः' (और) 'अंहोऽतिपिप्रति'।

उ० भा०—येऽराः, रायोऽध, मेऽधायि, नोऽहिः, अग्नेऽभिदासति, जायमानोऽभवः, अग्नेऽयम्, नृतोऽपः, अंहोऽतिपिप्रति—एते च द्वैपदा यथागृहीतमभिनिधीयन्ते।

येऽराः—"रथानां न येऽराः।"[७-च] रायोऽध—"सत्रा रायोऽध ये पार्थिवासः।"[८-छ] मेऽधायि—"उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि।"[९-ज] नोऽहिः—"उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु।"[१०-झ] अग्नेऽभिदासति—"यो नो अग्नेऽभिदासति।"[११-ञ] जायमानोऽभवः—"जायमानोऽभवो

टि० (क) पूषाऽइव। धीऽजवन। असि। सोम॥ प० पा०
(ख) राय॑। पूर्धि। स्वधाऽव। अस्ति। हि। ते॥ प० पा०
(ग) उत्सादत.। अङ्गात्। अङ्गात्। अवत्तानाम्॥ प० पा०
(घ) सम्ऽराट्। ऋतऽव। अनु। मा। गृभाय॥ प० पा०
(ङ) हिरण्यऽशृङ्ग। अय.। अस्य। पादा॥ प० पा०
(च) रथानाम्। न। ये। अरा.॥ प० पा०
(छ) सत्रा। राय। अध। ये। पार्थिवास॥ प० पा०
(ज) उप। प्र। अगात्। सुऽमत्। मे। अधायि॥ प० पा०
(झ) उत। न। अहि। बुध्न्य। शृणोतु॥ प० पा०
(ञ) यः। न। अग्ने। अभिऽदासति॥ प० पा०

---

१ ऋ० ९।८८।३ २ ऋ० १।३६।१२ ३ वा० स० २१।४३
४ ऋ० २।२८।६ ५ ऐ० ब्रा० २।६।१२ ६ ऋ० १।१६३।९
७ ऋ० १०।७८।४ ८ ऋ० ६।३६।१ ९ ऋ० १।१६२।७
१० ऋ० ६।५०।१४ ११ ऋ० १।७९।११

महान् ।"[१-क] अग्नेऽयम्—"त्वयाग्नेऽय सुन्वन्यजमानस्य ।"[ख] नृतोऽप:—"तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र ।"[२-ग] अंहोऽतिपिप्रति—"ये नो अंहोऽतिपिप्रति ।"[३-घ]

उ० भा० अ०—येऽराः, रायोऽध, मेऽधायि, नोऽहिः, अग्नेऽभिदासति, जायमानोऽभवः, अग्नेऽयम्, नृतोऽपः (और) अंहोऽतिपिप्रति—ये द्वंपद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) 'अभिनिधान' को प्राप्त करते हैं ।

जम्भयतोऽहि मरुतोऽनुभर्त्री
यवसेऽविष्यन्वयुनेऽजनिष्ट ।
वृत्रहत्येऽवीः समरेऽतमाना
मरुतोऽमदन्नभितोऽनवन्त ॥४३॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वंपदों में अकार का 'अभिनिधान' होता है)—'जम्भयन्तोऽहिम्', 'मरुतोऽनुभर्त्री', 'यवसेऽविष्यन्', 'वयुनेऽजनिष्ट', 'वृत्रहत्येऽवीः', 'समरेऽतमानाः', 'मरुतोऽमदन्' (और) 'अभितोऽनवन्त' ।

उ० भा०—जम्भयन्तोऽहिम्, मरुतोऽनुभर्त्री, यवसेऽविष्यन्, वयुनेऽजनिष्ट, वृत्रहत्येऽवीः, समरेऽतमानाः, मरुतोऽमदन्, अभितोऽनवन्त—एते च द्वंपदा यथागृहीतमभिनिधीयन्ते ।

जम्भयन्तोऽहिम्—"जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि ।"[४-ङ] मरुतोऽनुभर्त्री—"एषा स्या वो मरुतोऽनुभर्त्री ।"[५-च] यवसेऽविष्यन्—"प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् ।"[६-छ] वयुनेऽजनिष्ट—"इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ।"[७-ज] वृत्रहत्येऽवीः—"तामिन्द्र सु वृत्रहत्येऽवीर्न ।"[८-झ] समरेऽतमानाः—"न यं वयन्ति समरेऽतमानाः ।"[९-ञ] मरुतोऽमदन्—"स्वर्नृषाचो मरुतोऽमदन्ननु ।"[१०-ट] अभितोऽनवन्त "समत्र गावोऽभितोऽनवन्त ।"[११-ठ]

टि० (क) जायमान । अभव । महान् ॥ प० पा०
(ख) यह प्रैष-मन्त्र है ।
(ग) तव । त्यत् । नर्यम् । नृतो इति । अप । इन्द्र ॥ प० पा०
(घ) ये । न । अंह. । अतिऽपिप्रति ॥ प० पा०
(ङ) जम्भयन्त । अहिम् । वृकम् । रक्षांसि ॥ प० पा०
(च) एषा । स्या । व । मरुत । अनुऽभर्त्री ॥ प० पा०
(छ) प्रोथत् । अश्व । न । यवसे । अविष्यन् ॥ प० पा०
(ज) इळाया । पुत्र । वयुने । अजनिष्ट ॥ प० पा०
(झ) नाभि । ऊँ इति । सु । वृत्रऽहत्ये । अवी । न ॥ प० पा०
(ञ) न । यम् । वयन्ति । समऽअरे । अतमाना ॥ प० पा०
(ट) स्वः । नृऽसाच । मरुत । अमदन् । अनु ॥ प० पा०
(ठ) सम् । अत्र । गाव । अभित । अनवन्त ॥ प० पा०

---

१ ऋ० १।५१।४ २ ऋ० २।२२।४ ३ ऋ० ७।६६।५ ४ ऋ० ७।३८।७
५ ऋ० १।८८।६ ६ ऋ० ७।३।२ ७ ऋ० ३।२९।३ ८ ऋ० ६।२५।१
९ ऋ० ६।९।२ १० ऋ० १।५०।९ ११ ऋ० ५।३०।१०

उ० भा० अ०—जम्भयन्तोऽहिम्, मरुतोऽनुभर्त्री, यवसेऽविष्यन्, वयुनेऽजनिष्ट, वृत्रहत्येऽवीः, समरेऽतमानाः, मरुतोऽमदन् (और) अभितोऽनवन्त—ये द्वैपद भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) 'अभिनिधान' को प्राप्त करते हैं।' ....।

ब्रुवतेऽध्वँस्तवसेऽवाचि मेऽरपद्
दधिरेऽग्ना नहुषोऽस्मत्पुरोऽभिनत्।
उप तेऽधां वहतेऽयं यमोऽदिति-
र्जनुषोऽया सुवितोऽनु श्रियोऽधित ॥४४॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों में अकार का 'अभिनिधान' होता है)—'ब्रुवतेऽध्वन्', 'तवसेऽवाचि', 'मेऽरपत्', 'दधिरेऽग्ना', 'नहुषोऽस्मत्', 'पुरोऽभिनत्', "उप तेऽधाम्', 'वहतेऽयम्', 'यमोऽदितिः', 'जनुषोऽया', 'सुवितोऽनु' (और) 'श्रियोऽधित'।

उ० भा० - ब्रुवतेऽध्वन्, तवसेऽवाचि, मेऽरपत्, दधिरेऽग्ना, नहुषोऽस्मत्, पुरोऽभिनत्, उप तेऽधाम्, वहतेऽयम्, यमोऽदितिः, जनुषोऽया, सुवितोऽनु, श्रियोऽधित—एते च द्वैपदा यथागृहीतमभिनिधीयन्ते।

ब्रुवतेऽध्वन् "सं ह ब्रुवतेऽध्वन्ना।"[१-क] तवसेऽवाचि—"सत्यशुष्माय तवसेऽवाचि।"[२-ख] मेऽरपत्—उत मेऽरपद्युवतिः।"[३-ग] दधिरेऽग्ना—"वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि।"[४-घ] नहुषोऽस्मत्—"स नृतमो नहुषोऽस्मत्सुजातः।"[५-ङ] पुरोभिनत्—"पुरोऽभिनदर्हन्दस्युहत्ये।"[६-च] उप तेऽधाम्—"उप तेऽधां सहमानाम्।"[७-छ] वहतेऽयम्—"वहतेऽयं मघवा सर्वसेनः।"[८-ज] यमोऽदितिः—"नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः।"[९-झ]

टि० (क) सम्। ह। ब्रुवते। अध्वन्। आ॥ प० पा०
(ख) सत्यऽशुष्माय। तवसे। अवाचि॥ प० पा०
(ग) उत। मे। अरपत्। युवतिः॥ प० पा०
(घ) वैश्वानरे। दधिरे। अग्ना। वसूनि॥ प० पा०
(ङ) सः। नृऽतम। नहुष। अस्मत्। सुऽजातः॥ प० पा०
(च) पुर। अभिनत्। अर्हन्। दस्युऽहत्ये। प० पा०
(छ) उप। ते। अधाम्। सहमानाम्॥ प० पा०
(ज) वहते। अयम्। मघऽवा। सर्वऽसेन॥ प० पा०
(झ) नराशंस। चतुःऽअङ्ग। यम। अदिति॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १।३७।१३ [२] ऋ० १।५१।१५ [३] ऋ० ५।६१।९
[४] ऋ० १।५९।३ [५] ऋ० १०।९९।७ [६] ऋ० १०।९९।७
[७] ऋ० १०।१४५।६ [८] ऋ० ५।३०।३ [९] ऋ० १०।९२।११

जनुषोऽया—"न य ईषन्ते जनुषोऽया न्वन्तः।"[१-क] सुवितोऽनु—"सुवितो देवान्त्सुवितोऽनु पत्म।"[२-ख] श्रियोऽधित—"विश्वा अधि श्रियोऽधित॥"[३-ग]

उ० भा० अ०—श्रुवतेऽध्वन्, तवसेऽवाचि, मेऽरपत्, दधिरेऽग्ना, नहुषोऽस्मत्, पुरोऽभिनत्, उप तेऽधाम्, वहतेऽयम्, यमोऽदितिः, जनुषोऽया, सुवितोऽनु, (और) श्रियोऽधित—ये द्वैपद भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) 'अभिनिधान' को प्राप्त करते हैं। . ... . ।

वपुषेऽनु विशोऽयन्त सन्तोऽवद्यानि खेऽनशः।
भरन्तोऽवस्यवोऽवोऽस्तु बुध्न्योऽजो मायिनोऽधमः ॥४५॥

सू० अ०—(अकार का 'अभिनिधान' अधोलिखित द्वैपदों में भी होता है)—'वपुषेऽनु', 'विशोऽयन्त', 'सन्तोऽवद्यानि', 'खेऽनशः', 'भरन्तोऽवस्यवः', 'अवोऽस्तु', 'बुध्न्योऽजः' (और) 'मायिनोऽधमः'।

उ० भा०—वपुषेऽनु, विशोऽयन्त, सन्तोऽवद्यानि, खेऽनशः, भरन्तोऽवस्यवः, अवोऽस्तु, बुध्न्योऽजः, मायिनोऽधमः—एते च द्वैपदा यथागृहीतमभिनिधीयन्ते।

वपुषेऽनु—"प्र वां वयो वपुषेऽनु पप्तन्।"[४-घ] विशोऽयन्त—"स यद्विशोऽयन्त शूरसातौ।"[५-ङ] सन्तोऽवद्यानि—"अन्तः सन्तोऽवद्यानि पुनाना।"[६-च] खेऽनशः—"खे रथस्य खेऽनशः।"[७-छ] भरन्तोऽवस्यवः—"स्यूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यव[ज]। अवोऽस्तु—"महि त्रीणामवोऽस्तु।"[९-झ] बुध्न्योऽजः—"अहिर्बुध्न्योऽज एकपादुत।"[१०-ञ] मायिनोऽधमः—"त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः।"[११-ट]

टि० (क) न। ये। ईषन्ते। जनुष। अया। नु। अन्तरिति॥ प० पा०
(ख) सुवित। देवान्। सुवित। अनु। पत्म॥ प० पा०
(ग) विश्वा। अधि। श्रिय। अधित॥ प० पा०
(घ) प्र। वाम्। वय.। वपुषे। अनु। पप्तन्॥ प० पा०
(ङ) सम्। यत्। विश। अयन्त। शूरऽसातौ॥ प० पा०
(च) अन्तरिति। सन्त। अवद्यानि। पुनाना॥ प० पा०
(छ) खे। रथस्य। खे। अनश॥ प० पा०
(ज) स्यूरम्। न। कत्। चित्। भरन्त। अवस्यव॥ प० पा०
(झ) महि। त्रीणाम्। अव। अस्तु॥ प० पा०
(ञ) अहि। बुध्न्य.। अज। एकऽपात्। उत॥ प० पा०
(ट) त्वम्। मायाभि। अप। मायिन। अधम॥ प० पा०

---

१ ऋ० ६।६६।४ २ ऋ० १०।५६।३ ३ ऋ० १०।१२७।१
४ ऋ० ६।६३।६ ५ ऋ० ६।२६।१ ६ ऋ० ६।६६।४
७ ऋ० ८।९१।७ ८ ऋ० ८।२१।१ ९ ऋ० १०।१८५।१
१० ऋ० २।३१।६ ११ ऋ० १।५१।५

उ० भा० अ०—वपुषेऽस्तु, विशोऽयन्त, सन्तोऽवद्यानि, खेऽनशः, भरन्तोऽवस्यवः, अवोऽस्तु, बुध्न्योऽजः, मायिनोऽधमः—ये द्वैपद भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) 'अभिनिधान' को प्राप्त करते हैं··· ········ ··· ।

देवोऽनयत्पुरूवसोऽसुरघ्नो
भूतोऽभि श्वेतोऽरुषस्तेन नोऽद्य ।
येऽजामयस्तेऽरदन्नोऽधिवक्ता
तेऽवर्धन्त तेऽरुणेभिः सदोऽधि ॥४६॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों में भी अकार का 'अभिनिधान' हो जाता है)—'देवोऽनयत्', 'पुरूवसोऽसुरघ्नः', भूतोऽभि', 'श्वेतोऽरुषः', 'तेन नोऽद्य', 'येऽजामयः', 'तेऽरदत्', 'नोऽधिवक्ता', 'तेऽवर्धन्त', 'तेऽरुणेभिः' (और) 'सदोऽधि'।

उ० भा०—देवोऽनयत्, पुरूवसोऽसुरघ्नः, भूतोऽभि, श्वेतोऽरुषः, तेन नोऽद्य, येऽजामयः, तेऽरदत्, नोऽधिवक्ता, तेऽवर्धन्त, तेऽरुणेभिः, सदोऽधि—एते च द्वैपदा यथागृहीतमभिनिधीयन्ते।

देवोऽनयत्—"देवोऽनयत्सविता सुपाणिः।"[१-क] पुरूवसोऽसुरघ्नः—"पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः।"[२-ख] भूतोऽभि—"मेषो भूतोऽभि यन्नयः।"[३-ग] श्वेतोऽरुषः—"कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य।"[४-घ] तेन नोऽद्य—"तेन नोऽद्य विश्वे देवाः।"[५] तेन इति किम्? "ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नः।"[६-ङ] येऽजामयः—"इन्द्र जामय उत येऽजामयः।"[७-च] तेऽरदत्—"प्र तेऽरदद्वरुणो यातवे पथः।"[८-छ] नोऽधिवक्ता—

टि० (क) देव। अनयत्। सविता। सुऽपाणि.॥ प० पा०

(ख) पुरुऽहूत। पुरूवसो इति पुरुऽवसो। असुरऽघ्न.॥ प० पा०

(ग) मेष। भूत। अभि। यन्। अय.॥ प० पा०

(घ) कृष्ण। श्वेत। अरुष। याम। अस्य॥ प० पा०

(ङ) ते। न। अद्य। ते। अपरम्। तुचे। तु। न॥ प० पा०

'अद्य' के अकार का अभिनिधान' तभी होता है जब पूर्ववर्ती 'न' से पहले 'तेन' पद हो जैसा कि उदाहरण में हुआ है। प्रत्युदाहरण में 'अद्य' के अकार का 'अभिनिधान' नहीं हुआ क्योंकि पूर्ववर्ती 'न.' के पहले 'तेन' नहीं अपितु 'ते' पद विद्यमान है।

(च) इन्द्र। जामय। उत। ये। अजामय.। प० पा०

(छ) प्र। ते। अरदत्। वरुण। यातवे। पथ। प० पा०

---

[१] ऋ० ३।३३।६ [२] ऋ० ६।२२।४ [३] ऋ० ८।२।४०
[४] ऋ० १०।२०।९ [५] ऋ० खि० १०।१९।१३ [६] ऋ० ८।२७।१४
[७] ऋ० ६।२५।३ [८] ऋ० १०।७५।२

"स प्राविता मघवा नोऽधिवक्ता ।"[१-क] तेऽवर्धन्त—"तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना ।"[२-ख] तेऽरुणेभिः—"तेऽरुणेभिर्वरमा पिशङ्गैः ।"[३-ग] सदोऽधि—"राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिषि ।"[४-घ]

उ० भा० अ०—देवोऽनयत्, पुरूवसोऽसुरघ्नः, मूतोऽभि, श्वेतोऽरुषः, तेन नोऽद्य, येऽजामयः, तेऽरदत्, नोऽधिवक्ता, तेऽवर्धन्त, तेऽरुणेभिः, सदोऽधि—ये द्वैपद भी जैसे (सूत्र में) ग्रहण किए गए हैं वैसे 'अभिनिहित' संधि को प्राप्त करते हैं।

स्वाध्योऽजनयन्धन्वनोऽभिमाती-
रग्नेऽप दह मनसोऽधि योऽध्वनः ।
योऽह्यस्तेऽविन्दँस्तपसोऽधि न योऽधि
पादोऽस्य योऽति ब्राह्मणोऽस्य योऽनयत् ॥४७॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों में भी अकार का 'अभिनिधान' हो जाता है)—'स्वाध्योऽजनयन्', 'धन्वनोऽभिमातीः', 'अग्नेऽप दह', 'मनसोऽधि', 'योऽध्वनः', 'योऽह्यः', 'तेऽविन्दन्', 'तपसोऽधि', 'न योऽधि', 'पादोऽस्य', 'योऽति', 'ब्राह्मणोऽस्य' (और) 'योऽनयत्' ।

उ० भा०—स्वाध्योऽजनयन्, धन्वनोऽभिमातीः, अग्नेऽप दह, मनसोऽधि, योऽध्वनः, योऽह्यः, तेऽविन्दन्, तपसोऽधि, न योऽधि, पादोऽस्य, योऽति, ब्राह्मणोऽस्य, योऽनयत्—एते च यथागृहीतमभिनिधीयन्ते ।

स्वाध्योऽजनयन्—"स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवाः ।"[५-ङ] धन्वनोऽभिमातीः—"ओज स्थिरेव धन्वनोऽभिमातीः ।"[६-च] अग्नेऽप दह—"विश्वा अग्नेऽप दहारातीः ।"[७-छ] दह इति किम् ? "महो रायः सातिमग्ने अपा वृधि ।"[८-ज] मनसोऽधि - "उर्वश्या

टि० (क) स । प्रऽअविता । मघऽवा । न । अधिऽवक्ता ॥ प० पा०
(ख) ते । अवर्धन्त । स्वऽतवस । महिऽत्वना ॥ प० पा०
(ग) ते । अरुणेभिः । वरम् । आ । पिशङ्गैः ॥ प० पा०
(घ) राजाऽइव । दस्म । नि । सद. । अधि । बर्हिषि ॥ प० पा०
(ङ) सुऽआध्य । अजनयन् । ब्रह्म । देवा ॥ प० पा०
(च) ओज. । स्थिराऽइव । धन्वन , अभिऽमाती ॥ प० पा०
(छ) विश्वा । अग्ने । अप, दह । अराती ॥ प० पा०
(ज) मह । राय । सातिम् । अग्ने । अप । वृधि ॥ प० पा०

'अप' के अकार का 'अभिनिधान' तभी होता है जब 'अप' के बाद में 'दह' पद विद्यमान हो जैसा कि उदाहरण में हुआ है। प्रत्युदाहरण में 'अप' के अकार का 'अभिनिधान' नहीं हुआ क्योंकि 'अप' के बाद में 'दह' पद नहीं आया है।

---

१ ऋ० ८।९६।२० २ ऋ० १।८५।७ ३ ऋ० १।८८।२ ४ ऋ० १०।४३।२
५ ऋ० १०।६१।७ ६ ऋ० १०।११६।६ ७ ऋ० ७।१।७ ८ ऋ० ८।२३।२९

ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः ।"[१-क] योऽध्वनः—"मनो न योऽध्वनः सद्य एति ।"[२-ख] योऽह्यः—"शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः ।"[३-ग] तेऽविन्दन्—"तेऽविन्दन्मनसा दीध्यानाः ।"[४-घ] तपसोऽधि—"तपसोऽध्यजायत ।"[५-ङ] न योऽधि—"भूषन्न योऽधि बभ्रूषु ।"[६-च] न इति किम् ? "पावमानीर्यो अध्येति ।"[७-छ] पादोऽस्य—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि ।"[८-ज] योऽति—"इन्द्रो विश्वा योऽति शृण्वे ।"[९-झ] ब्राह्मणोऽस्य—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ।"[१०-ञ] योऽनयत्—"आ योऽनयत् सधमा आर्यस्य ॥"[११-ट]

उ० भा० अ०—स्वाध्योऽजनयन्, धन्वनोऽभिमातीः, अग्नेऽप दह, मनसोऽधि, योऽध्वनः, योऽह्यः, तेऽविन्दन्, तपसोऽधि, न योऽधि, पादोऽस्य, योऽति, ब्राह्मणोऽस्य (और) योऽनयत्—ये भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) 'अभिनिधान' को प्राप्त करते हैं।······ · ·······।

सोऽस्माकं यो द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्य-
स्तेभ्योऽकरं पयस्वन्तोऽमृताश्च ॥४८॥

सू० अ०—('अभिनिधान' इन स्थलों पर) भी (हो जाता है)—'सोऽस्माकं यः', द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्यः', 'तेभ्योऽकरम्' (और) 'पयस्वन्तोऽमृताश्च' ।

उ० भा० सोऽस्माकं यः, द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्यः, तेभ्योऽकरम्, पयस्वन्तोऽमृताः—एते च द्वैपदा यथागृहीतमभिनिधीयन्ते ।

टि० (क) उर्वश्या । ब्रह्मन् । मनस । अधि । जात ॥ प० पा०
(ख) मन. । न । य. । अध्वन. । सद्य । एति ॥ प० पा०
(ग) शतऽचक्रम् । य. । अह्य । वर्तनि. ॥ प० पा०
(घ) ते । अविन्दन् । मनसा । दीध्याना. ॥ प० पा०
(ङ) तपस. । अधि । अजायत ॥ प० पा०
(च) भूषन् । न । य । अधि । बभ्रूषु ॥ प० पा०
(छ) पावमानी । य । अधिऽएति ॥ प० पा०

'अधि' के अकार का 'अभिनिधान' तभी होता है, जब पूर्ववर्ती 'य' के पूर्व में 'न' पद हो जैसा कि उदाहरण में हुआ है। प्रत्युदाहरण में 'अधि' के अकार का 'अभिनिधान' नही हुआ क्योंकि पूर्ववर्ती 'य' के पूर्व में 'न' पद नही है।

(ज) पाद । अस्य । विश्वा । भूतानि ॥ प० पा०
(झ) इन्द्र । विश्वा । य । अति । शृण्वे ॥ प० पा०
(ञ) ब्राह्मण । अस्य । मुखम् । आसीत् ॥ प० पा०
(ट) आ । य । अनयत् । सधऽमा । आर्यस्य ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ७।३३।११ [२] ऋ० १।७१।९ [३] ऋ० १०।१४४।४
[४] ऋ० १०।१८१।३ [५] ऋ० १०।१९०।१ [६] ऋ० १।१४०।६
[७] ऋ० ९।६७।३२ [८] ऋ० १०।९०।३ [९] ऋ० ८।२।३४
[१०] ऋ० १०।९०।१२ [११] ऋ० ७।१८।७

सोऽस्माकं यः—"उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यः।"[१-क] यः इति किम्? "सास्माकमनवद्य तूतुजान।"[२-ख] द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्यः—"त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्यः।"[३-ग] तेभ्योऽकरम्—"इद तेभ्योऽकरं नमः।"[४-घ] पयस्वन्तोऽमृताः—"शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः॥"[५]

उ० भा० अ० सोऽस्माकं यः, द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्यः, तेभ्योऽकरम् (और) पयस्वन्तोऽमृताः—ये द्वैपद भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) 'अभिनिधान' को प्राप्त करते हैं।

अन्योऽर्वाकेऽथो इति नोदयेषु
पुत्रः पराके च परावतश्च ॥४९॥

सू० अ०—'पुत्रः', 'पराके' और 'परावतः' के बाद में (क्रमशः) 'अन्यः', 'अर्वाके' और 'अथो' हो तो (अकार का 'अभिनिधान' नहीं होता)।

उ० भा०—"अथाभिनिहितः संधिः"[६] इत्यनुक्रम्य पादादिरकार एकीभवतीति यदुक्तं तस्यायमपवादः। अन्यः, अर्वाके, अथो—एतेषु पदेषु उदयेषु; पुत्रः, पराके, परावतः—एतेषु च पूर्वपदेषु यथासंख्यमभिनिहितो न भवति।

अन्यः—"अल्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्य।"[७] अर्वाके—"यन्नासत्या पराके अर्वाके।"[८] अथो—'आविवासन्परावतो अथो॥"[९]

उ० भा० अ०—'अब 'अभिनिहित' संधि (को कहते हैं)" से प्रारम्भ करके (इस सूत्र में) जो कहा गया है कि 'पाद का आदि अकार (पूर्ववर्ती एकार और ओकार के साथ मिलकर) एक हो जाता है"—उसका यह (सूत्र) अपवाद है। अन्यः, अर्वाके, अथो—ये पद, उदयेषु=बाद में होने पर, पुत्रः, पराके, परावतः—ये (पद) क्रमशः पूर्व

टि० (क) उपस्ति। अस्तु। स। अस्माकम्। यः॥ प० पा०
(ख) स। अस्माकम्। अनवद्य। तूतुजान॥ प० पा०
'स' के बाद में आने वाले 'अस्माकम्' पद के अकार का 'अभिनिधान' तभी होता है जब 'अस्माकम्' के बाद में 'य' पद विद्यमान हो, जैसा उदाहरण में हुआ है। प्रत्युदाहरण में 'अस्माकम्' के अकार का 'अभिनिधान' नहीं हुआ है क्योंकि बाद में य' पद नहीं है। (प० पा०) 'स। अस्माकम्।" =(सं० पा०) "सास्माकम्" में निपातन से विसर्जनीय का लोप होकर 'प्रश्लिष्ट' संधि हुई है, दे० २।६८।
(ग) त्वम्। सोम। तनूकृत्ऽभ्य। द्वेषेऽभ्य। अन्यऽकृतेभ्य॥ प० पा०
(घ) इदम्। तेभ्य। अकरम्। नम॥ प० पा०

---

१ ऋ० १०।९७।२३
२ ऋ० ११२९।१
३ ऋ० ८।७९।३
४ ऋ० १०।८५।१७
५ तै० ब्रा० २।६।११।१०
६ २।३४
७ ऋ० ७।१०३।३
८ ऋ० ८।९।१५
९ ऋ० ९।३९।५

में होने पर 'अभिनिहित' (संधि) नही होती है (तात्पर्य यह है कि यदि 'पुत्र' 'पराके' और 'परावत.' पदो के तुरन्त वाद क्रमश. 'अन्य', 'अर्वाके' और 'अथो' पद हों तो 'अभिनिहित' संधि नही होती है)।

अन्यः—"अल्खलीकृत्या पितर न पुत्रो अन्य।"[क] अर्वाके—"यन्नासत्या पराके अर्वाके।"[ख] अथो—"आविवासन्परावतो अथो।"[ग]

अन्तःपादं च वयो अन्तरिक्षे
वयो अस्याश्रथयो हेतयस्त्रयः।
वो अन्धसः शयवे अश्विनोभये
श्रवो अधि सार्ञ्जयो जामयः पयः ॥५०॥

सू० अ०—और पाद के मध्य मे (इन स्थलों पर अकार का 'अभिनिधान' नहीं होता)—'वयो अन्तरिक्षे', 'वयो अस्य', 'अश्रथयः', 'हेतयः', 'त्रयः', 'वो अन्धसः', 'शयवे अश्विना', 'उभये', 'श्रवो अधि', 'सार्जय्यः', 'जामयः' (और) 'पयः'।

उ० भा०—"अन्तःपादम्"[१] इत्युपक्रम्य यदुक्तं तस्यायमपवाद। (अन्तःपादम् च=) पादमध्ये च—वयो अन्तरिक्षे, अश्रथयः, हेतयः, त्रयः, वो अन्धसः, शयवे अश्विना, उभये, श्रवो अधि, सार्ञ्जयः, जामयः, पयः।

वयो अन्तरिक्षे—"अग्नि वयो अन्तरिक्षे पतन्तः।"[२] अन्तरिक्षे इति कस्मात्? "आ वां वयोऽश्वासः।"[३] वयो अस्य—"वर्धो अग्ने वयो अस्य।"[४] अस्य इति किम्? "आ वां वयोऽश्वास.।"[५] अश्रथयः—"सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिम्।"[६] हेतयः—"शतानीका हेतयो अस्य।"[७] त्रयः—"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य।"[८] वो अन्धसः—"पान्तमा वो अन्धसः।"[९] अन्धसः इति किम्? "आ वोऽहं समिति ददे।"[१०] "व इत्येतेन वा न

टि० (क) अल्खलीकृत्य। पितरम्। न। पुत्र।
अन्य। ································ ॥ प० पा०

(ख) यत्। नासत्या। पराके।
अर्वाके। ··· · · ···· ॥ प० पा०

(ग) आऽविवासन्। पराऽवत।
अथो इति। ····· ॥ प० पा०

उपर्युक्त स्थलों पर 'अन्य', 'अर्वाके' तथा 'अथो'—ये पद पाद के आदि में विद्यमान हैं, अत इनके अकार का 'अभिनिधान' २।३४ से प्राप्त होता है किंतु प्रस्तुत सूत्र में इनके 'अभिनिधान' का निषेध कर दिया गया है।

[१] ऋ० २।३५ [२] ऋ० १०।८०।५ [३] ऋ० ६।६३।७
[४] ऋ० १।७१।६ [५] ऋ० ६।६३।७ [६] ऋ० १०।११२।८
[७] ऋ० ८।५०।२ [८] ऋ० ४।५८।३ [९] ऋ० ८।९२।१
[१०] ऋ० १०।१६६।४

प्र···"[१] इत्यस्यायमपवादः। "अयेऽयोऽवेऽव इत्यन्तः" "[२] इत्यस्यापवादाः शेषाः। शयवे अश्विना—"अपिन्वतं शयवे अश्विना गाम्।"[३] उभये—"यद्वां हवन्त उभये अध।"[४] श्रवो अधि—"यत्पार्यंदाय श्रवो अध्यधत्तम्।"[५] अधि इति किम्? "श्रवोऽमृत्यु धुक्षत।"[६] साञ्जयः—"भरद्वाजान्साञ्जयो अभ्ययष्ट।"[७] जामयः—"जामयो अभ्य-रीयताम्।"[८] पयः—"आसा यवस्य पयो अक्रत स्वम्॥"[९]

उ० भा० अ०—"पाद के मध्य में" से प्रारम्भ करके जो कहा गया है उसका यह अपवाद है। (अन्तःपादं च=) और पाद के मध्य में (इन स्थलों पर 'अभिनिधान' नहीं होता है)—वयो अन्तरिक्षे, वयो अस्य, अश्रथयः, हेतयः, त्रयः, वो अन्धसः, शयवे अश्विना, उभये, श्रवो अधि, साञ्जयः, जामयः, पयः।

वयो अन्तरिक्षे—"अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्त।"[क] "अन्तरिक्षे"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "आ वां वयोऽश्वास।"[ख] वयो अस्य—"वर्षो अग्ने वयो अस्य।"[ग] "अस्य"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "आ वा वयोऽश्वास।"[घ] अश्रथयः—"सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिम्।"[ङ] हेतयः—"शतानीका हेतयो अस्य।"[च] त्रयः—"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य।"[छ] वो अन्धसः—"पान्तमा वो अन्धस।"[ज] "अन्धस"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "आ वोऽहं समितिं ददे।" "'आ', 'न', 'प्र'

टि० (क) अग्निम्। वय। अन्तरिक्षे। पतन्त॥ प० पा०

(ख) आ। वाम्। वय। अश्वास॥ प० पा०

'वयो' (='वय') पूर्व में हो तो परवर्ती 'अन्तरिक्षे' पद के ही अकार का 'अभिनिधान' नहीं होता जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट है। प्रत्युदाहरण में 'वयो' (='वय') के बाद में आने वाले 'अश्वास' पद के अकार का 'अभि-निधान' २।३७ से हो गया क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में वयो' ('वय') के बाद में आने वाले केवल 'अन्तरिक्षे' (तथा 'अस्य') पद के अकार के 'अभिनिधान' का ही निषेध किया गया है।

(ग) वर्षो इति। अग्ने। वय.। अस्य॥ प० पा०

(घ) आ। वाम्। वय.। अश्वास॥ प० पा०

(ङ) सतीनऽमन्यु। अश्रथय.। अद्रिम्॥ प० पा०

(च) शतऽअनीका.। हेतय.। अस्य॥ प० पा०

(छ) चत्वारि। शृङ्गा। त्रय। अस्य॥ प० पा०

(ज) पान्तम्। आ। व। अन्धस.॥ प० पा०

(झ) आ। व.। अहम्। सम्ऽइतिम्। ददे॥ प० पा०

२।३८ में यह विधान किया गया था कि 'आ' इत्यादि पदों से उपहित 'व.' पद से उपहित अकार का 'अभिनिधान' हो जाता है। "वो अन्धस" में

[१] २।३८ [२] २।३७ [३] ऋ० १।११७।२०
[४] ऋ० ७।८२।९ [५] ऋ० १।११७।८ [६] ऋ० ६।४८।१२
[७] ऋ० ६।४७।२५ [८] ऋ० १।२३।१६ [९] ऋ० १०।१।२

('श्व', 'चित्र:' 'सविता', 'एव' और 'क'—इन पदों से उपहित) 'व.' इस (पद) से (उपहित अकार 'अभिनिधान' को प्राप्त करता है)" इस (सूत्र) का यह ("वो अन्धस") अपवाद है। शेष (सभी) " 'अये', 'अय:', 'अवे' और 'अव.'—इनमें अन्त होने वाले (पदों) से (उपहित अकार अभिनिधान' को प्राप्त करता है)"—इस (सूत्र) के अपवाद हैं।[क] **शयवे अश्विना** "अपिन्वत शयवे अश्विना गाम्।"[ख] **उभये**—यद्वा हवन्त उभये अघ।"[ग] **श्रवो अधि**—"यन्नार्षदाय श्रवो अध्यत्तम्।"[घ] "अधि"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "श्रवोऽमत्यु धुक्षत।"[ङ] **साञ्जय:**—"भरद्वाजान्साञ्जयो अभ्यष्ट।"[च] **जामय:**—"जामयो अध्वरीयताम्।"[छ] **पय:**—"आसा यदस्य पयो अक्रत स्वम्॥"[ज]

उ० भा०—इदानीं प्रकृतिभाव:। तत्र प्रथम पदसहितामाह—

उ० भा० अ०—अब 'प्रकृतिभाव' (कहा जाता है)। इस ('प्रकृतिभाव' के) विषय में पहले (सूत्रकार ने) पद-सहिता को कहा है (अर्थात् सूत्रकार पहले पद-पाठ में होने वाले 'प्रकृतिभाव' को कहते है। पद-पाठ में 'इति' के साथ होने वाली पद की सहिता को यहाँ पद-सहिता कहा गया है)।

(प्रकृतिभाव)

प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्या: ॥५१॥

(प्रकृतिभाव)

सू० अ० 'इति' शब्द परे हो तो 'प्रगृह्य' ('स्वर'-वर्ण) 'प्रकृतिभाव' से (रहते हैं)।

(१७२क्ष) अकार का 'अभिनिधान' नही हुआ क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में इस स्थल पर 'अभिनिधान' का निषेध किया गया है। 'वो' (='व') के बाद में जब 'अन्धस:' पद आता है तभी 'अभिनिधान' नहीं होता, इसलिए 'वोऽहम्' में २।३८ से 'अभिनिधान' हो गया है।

टि० (क) इस सूत्र में उल्लिखित बारह अपवादों मे से केवल एक ("वो अन्धस") २।३८ का अपवाद है। शेष सभी ग्यारह स्थल २।३७ के अपवाद है।

(ख) अपिन्वतम्। शयवे। अश्विना। गाम्॥ प० पा०

(ग) यत्। वाम्। हवन्ते। उभये। अघ॥ प० पा०

(घ) यत्। नार्सदाय। श्रव। अधिऽअत्तम्॥ प० पा०

(ङ) श्रव। अमृत्यु। धुक्षत॥ पा० पा०

इस सूत्र में यह कहा गया है कि 'श्रव' के बाद में आने पर 'अधि' का अकार 'अभिनिधान' को प्राप्त नही करता है जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट है। प्रत्युदाहरण में 'श्रव' के बाद में आने वाले 'अमृत्यु' के अकार का 'अभिनिधान' २।३७ से हो गया है क्योकि इसका निषेध प्रस्तुत सूत्र में नही किया गया है।

(च) भरत्ऽवाजान्। साञ्जय.। अभि। अयष्ट॥ प० पा०

(छ) जामय:। अध्वरिऽयताम्॥ प० पा०

(ज) आसा। यत्। अस्य। पय:। अक्रत। स्वम्॥ प० पा०

उ० भा०—इतिकरणादौ परभूते प्रगृह्याः प्रकृत्या भवन्ति। "इन्दो इति"; "शतक्रतो इति"; "ॐ इति"; "प्रो इति", "इन्द्राग्नी इति", "द्वे इति ॥"

उ० भा० अ०—इतिकरणादौ='इति' शब्द परे होने पर, प्रगृह्याः प्रकृत्या='प्रगृह्य' ('स्वर'-वर्ण) प्रकृतिभाव' से, रहते हैं (अर्थात् 'प्रगृह्य' स्वरो की 'इति' के इकार के साथ सधि नही होती। (उदाहरण) ' इन्दो इति", "शतक्रतो इति"[क], "ॐ इति",[ख] "प्रो इति"[ग], "इन्द्राग्नी इति", "द्वे इति।'[घ]

स्वरेषु चार्ष्याम् ॥५२॥

सू० अ०—आर्षी (-संहिता) में 'स्वर' (-वर्ण) परे होने पर भी ('प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं)।

उ० भा०—स्वरेषु च परभूतेषु आर्ष्याम् संहितायाम्। ऋषिदृष्टा=आर्षी, तत्र, प्रगृह्याः प्रकृत्या भवन्ति। "राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे"[१]; "इन्द्रवायू इमे सुताः"[२]; "ते इद्विप्रा ईळते"[३], "प्रो अयासीदिन्दुः"[४]; "सोमो गौरी अधि श्रितः ॥"[५]

उ० भा० अ०—स्वरेषु च='स्वर' (-वर्ण) परे होने पर भी; आर्ष्याम्=आर्षी सहिता में। ('आर्ष्याम्' पद की व्याख्या)—ऋषियो के द्वारा दृष्ट=आर्षी, वहाँ (अर्थात् आर्षी में='आर्ष्याम्')। 'प्रगृह्य' 'स्वर' (-वर्ण) प्रकृतिभाव' से रहते हैं (तात्पर्य यह है कि सहिता-पाठ में पदान्त 'प्रगृह्य' स्वर'-वर्ण के परे पदादि 'स्वर'-वर्ण हो तो दोनो 'स्वर'-वर्णों में सधि नही होगी)। (उदाहरण) ' राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे", "इन्द्रवायू इमे सुता", "ते इद्विप्रा ईळते"[ङ], ' प्रो अयासीदिन्दु", "सोमो गौरी अधि श्रित।"[च]

टि० (क) 'इन्दो' और 'शतक्रतो' का ओकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है (अर्थात् अविकृत रहना है) क्योकि यह ओकार १।६८ से 'प्रगृह्य' है तथा इसके बाद में 'इति' है।

(ख) 'ॐ' 'प्रकृतिभाव' से रहता है क्योंकि यह १।७५ से 'प्रगृह्य' है तथा इसके बाद में 'इति' है।

(ग) 'प्रो' का ओकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है क्योकि यह १।७० से प्रगृह्य' है तथा इसके बाद में 'इति' है।

(घ) 'इन्द्राग्नी' का ईकार और द्वे' का एकार प्रकृतिभाव' से रहते है क्योकि ये १।७१ से 'प्रगृह्य' है तथा इनके बाद में 'इति' है।

(ङ) 'राजन्ती' और रोदसी' का ईकार 'इन्द्रवायू' का ऊकार और 'ते' का एकार—ये 'स्वर'-वर्ण—'प्रकृतिभाव' से रहते है क्योकि ये १।७१ से 'प्रगृह्य' है और इनके बाद में 'स्वर'-वर्ण है।

(च) 'प्रो' का ओकार और गौरी' का ईकार 'प्रकृतिभाव' से रहते है क्योकि ये क्रमश १।७० तथा १।७२ से प्रगृह्य' है तथा इनके बाद में 'स्वर'-वर्ण है।

१ ऋ० ६।७०।२ २ ऋ० १।२।४ ३ ऋ० ६।७०।४
४ ऋ० ९।८६।१६ ५ ऋ० ९।१२।३

प्रथमो यथोक्तम् ॥५३॥

सू० अ०—प्रथम ('प्रगृह्य') (अर्थात् आमन्त्रितज ओकार) (आर्षी-संहिता में वैसे ही संधि को प्राप्त करता है) जैसे (२।२८, २।३१ और २।३४ आदि में) कहा गया है।

उ० भा०—प्रथमः प्रगृह्य आर्ष्यां संहितायां यथोक्तम् एव भवति। कश्च प्रथमः ? "ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्य"[1] इत्यनेन य उक्तः। "इन्दविन्द्राय मत्सरम्"[2]; "वाय उक्थेभिर्जरन्ते"[3]; "अत्रा चित्तो मवो पितोऽरम्"[4]; "यददो पितो अजगन्"[5]; "पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः।"[6] प्रथमः इति किम् ? "प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य॥"[7]

उ० भा० अ०—प्रथमः=प्रथम; 'प्रगृह्य' ('स्वर'-वर्ण) आर्षी-सहिता में (वैसा ही होता है) जैसा (२।२८, २।३१ और २।३४ आदि में) कहा गया है[क] (तात्पर्य यह है कि प्रथम 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण अर्थात् आमन्त्रितज ओकार 'प्रकृतिभाव' से नही रहता है, अपितु पूर्वोक्त नियमों—२।२८, २।३१ और २।३४ आदि के अनुसार कार्य को प्राप्त करता है)। प्रथम ('प्रगृह्य') कौन-सा है ? (उत्तर) 'संबोधन (आमन्त्रित) पद का अन्तिम ओकार 'प्रगृह्य' (-सज्ञक) (होता है)"– इस (सूत्र) के द्वारा जिसे कहा गया है (वह प्रथम है)। (उदाहरण) "इन्दविन्द्राय मत्सरम्"[ख]; "वाय उक्थेभिर्जरन्ते"[ग], "अत्रा चित्तो मवो

टि० (क) यह सूत्र पूर्ववर्ती सूत्र (२।५२) का अपवाद है। २।५२ के अनुसार संहिता-पाठ में 'स्वर'-वर्ण बाद में आने पर पूर्ववर्ती 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं किंतु यह सूत्र प्रथम 'प्रगृह्य' के 'प्रकृतिभाव' का निषेध कर देता है। इस सूत्र के अनुसार प्रथम 'प्रगृह्य' प्रकृतिभाव' से न रहकर पूर्वोक्त नियमों के अनुसार कार्य को प्राप्त करता है।

(ख) इन्दो इति। इन्द्राय। मत्सरम्॥ प० पा०

'इन्दो' का ओकार प्रथम (=आमन्त्रितज) है, अत. प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त नही हुआ अपितु २।३१ से यहाँ 'भुग्न' सधि हो गई। पद-पाठ में तो इससे परे इति' शब्द है जिससे यह 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण (=ओकार) २।५१ से 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त हो गया और इति' के इकार के साथ इसकी सधि नही हुई।

(ग) वायो इति। उक्थेभि। जरन्ते॥ प० पा०

'वायो' का ओकार प्रथम (=आमन्त्रितज) है, अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त नही हुआ, अपितु २।३८ से यहाँ 'उद्ग्राह' सधि हो गई (अर्थात् यहाँ ओकार अकार हो गया)। पद-पाठ में तो २।५१ से 'प्रकृतिभाव' हो गया।

---

[1] १।६८ [2] ऋ० ९।२६।६ [3] ऋ० १।२।२ [4] ऋ० १।१८७।७
[5] ऋ० १।१८७।७ [6] ऋ० ६।२२।४ [7] ऋ० ९।८६।१६

पितोऽरम्"क, "यददो पितो अजगन्"ख; "पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्न ।"ग "प्रथम. (ओकार)"— यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य ।"घ

सहोदयास्ताः प्रगृहीतपदाः सर्वत्रैव ॥५४॥

सू० अ०—परवर्ती ('स्वर'-वर्णों) के साथ (होने वाली) ये (संहितायें) सर्वत्र (अर्थात् पद-पाठ में और संहिता-पाठ में) 'प्रगृहीतपद' (कहलाती हैं)।

उ० भा० – सह उदयेन वर्तन्त इति सहोदयाः। ताः संहिताः; (प्रगृहीतपदाः=) प्रगृहीतपदसंज्ञाः; वेदितव्याः । सर्वत्रैव=पदसंहितायामितिकरणादौ परभूते स्वरेषु चार्ष्यामुदयेषु; प्रगृहीतपदा एव। "इन्दो इति", "शतक्रतो इति शतऽक्रतो"; "इन्द्राग्नी इति।" "अतप्यमाने अवसावन्ती अनु।"[१]

उ० भा० अ०—परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) के साथ होती हैं=सहोदयाः। ताः=वे 'संहिता'; (प्रगृहीतपदाः=) 'प्रगृहीतपद'-संज्ञक; जाननी चाहिए। सर्वत्रैव=सर्वत्र ही='इति' शब्द परे रहते पद-संहिता में और 'स्वर'-वर्ण परे रहते आर्षी (-संहिता) में; 'प्रगृहीतपद' ही (कहलाती) है। (उदाहरण) 'इन्दो इति", "शतक्रतो इति शतऽक्रतो"; "इन्द्राग्नी इति।"ङ "अतप्यमाने अवसावन्ती अनु।"च

टि० (क) अत्र। चित्। न। मघो इति। पितो इति।
अरम्। ... ... ॥ प० पा०
'पितो' का ओकार प्रथम (=आमन्त्रितज) है, अत. प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त नही हुआ अपितु २।३४ से यहाँ 'अभिनिहित' संधि हो गई। पद-पाठ में तो २।५१ से यहाँ भी 'प्रकृतिभाव' हो गया।

(ख) यत्। अद.। पितो इति। अजगन्॥ प० पा०
'पितो' का ओकार आमन्त्रितज है, अत यह प्रकृत सूत्र से 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त नही हुआ, अपितु २।३३ से 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त हुआ है।

(ग) पुरुऽहूत। पुरुवसो इति पुरुऽवसो। असुरऽघ्न॥ प० पा०
'पुरुवसो' का ओकार प्रथम (=आमन्त्रितज) है, अत यह प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त नही हुआ अपितु यहाँ २।४६ से 'अभिनिहित' संधि हो गई। पद-पाठ में तो २।५१ से यहाँ भी 'प्रकृतिभाव' हो गया।

(घ) प्रो इति। अयासीत्। इन्दु। इन्द्रस्य॥ प० पा०
'प्रो' का ओकार प्रथम (=आमन्त्रितज) नही है, अत संहिता-पाठ में भी यह २।५२ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहेगा क्योंकि इसके परे 'स्वर'-वर्ण है। पद-पाठ में तो यह २।५१ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहेगा ही।

(ङ) 'इति' परे रहते 'इन्दो' और 'शतक्रतो' का ओकार तथा 'इन्द्राग्नी' का ईकार २।५१ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि ओकार और ईकार में कोई विकार नही होता। विकार न होने पर भी पदान्त ओकार

[१] ऋ० १।१८५।४

त्र्यक्षरान्तास्तु नेवे ॥५५॥

सू० अ०—किंतु, 'इव' पद बाद में होने पर, तीन अक्षरों (=स्वरवर्णों) वाले (पदों) के अन्त में आने वाले ('प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण आर्षी संहिता में 'प्रकृतिभाव' से) नहीं रहते (अपितु वे 'अक्षर' 'इव' के इकार के साथ संधि को प्राप्त कर लेते ᷉) ।

उ० भा०—(त्र्यक्षरान्तास्तु=) त्र्यक्षरपर्यन्ताः पुन.; प्रगृह्या इवे प्रत्यये न प्रकृत्या भवन्त्यार्ष्यां संहितायाम् । "दम्पतीव क्रतुविदा ।"[1] आर्ष्याम् इति किम् ? (दम्पतीव—) "दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव"[2]; उपधीव—"उपधी इवेत्युपधीऽइव ॥"[3] त्र्यक्षरान्ताः इति किम् ? "अक्षी इव चक्षुषा यातमर्वाक् ।"[4] इवे इति किम् ? "रोदसी आ वदत ॥"[5]

उ० भा० अ०—(त्र्यक्षरान्तास्तु=) किंतु तीन अक्षरों (='स्वर'-वर्णों) वाले (पदो) के अन्त में विद्यमान; 'प्रगृह्य' (स्वर'-वर्ण); इवे ='इव' (शब्द) परे होने पर; 'प्रकृतिभाव' से, न=नही, रहते है. आर्षी सहिता में (तात्पर्य यह है कि सहितापाठ में तीन अक्षरो वाले पदो के अन्त में आने वाले 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण 'प्रकृतिभाव'-से नही रहते, यदि उनके बाद में 'इव' पद हो जिससे पदान्त 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण की 'इव' के इकार (पदादि) के साथ सधि हो जाती है) ।[क] (उदाहरण) "दम्पतीव क्रतुविदा ।"[ख] "आर्षी (सहिता) में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर)(स० पा० दम्पतीव—)(प० पा०)"दम्पती

(१७६ङ) अथवा ईकार तथा पदादि इकार की 'सहिता' (मेल) तो सम्पन्न होती ही है । इस विकार–विहीन 'सहिता' को 'प्रगृहीतपद' कहा जाता है ।

(च) 'स्वर'-वर्ण परे रहते 'अतप्यमाने' का एकार तथा 'अवन्ती' का ईकार २।५२ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं । अविकृत रहने पर भी 'ए' और 'ई' की परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के साथ 'सहिता' तो सम्पन्न होती ही है जिसे 'प्रगृहीतपद' कहा जाता है ।

टि० (क) यह सूत्र २।५२ का अपवाद है । २।५२ में यह विधान किया गया है कि आर्षी संहिता में 'स्वर'-वर्ण परे रहते पदान्त 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं । प्रस्तुत सूत्र के अनुसार तीन अक्षरों वाले पदों के अन्त में विद्यमान 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण, 'इव' परे रहते, 'प्रकृतिभाव' से न रहकर सधि को प्राप्त कर लेते हैं ।

(ख) 'दम्पती' पद का ईकार १।७१ से 'प्रगृह्य' है । इसके बाद में 'स्वर'-वर्ण 'इव' का ('इ')होने के कारण इसे २।५२ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहना चाहिए किंतु इस ('ई') ने प्रस्तुत सूत्र से 'इव' के साथ विकार ('प्रश्लिष्ट' संधि) को प्राप्त कर लिया है क्योंकि यह ईकार तीन अक्षरों वाले 'दम्पती' पद के अन्त में विद्यमान है और इसके परे 'इव' पद अवस्थित है ।

---

[1] ऋ० २।३९।२ [2] ऋ० प० २।३९।२ [3] ऋ० प० २।३९।४
[4] ऋ० २।३९।५ [5] ऋ० १।६४।९

इवेति दम्पतीऽइव।" (स० पा०) उपधीव (प० पा०) "उपधी इवेत्युपधीऽइव।"[क] "तीन अक्षरा वाले (पदो) के अन्त में आने वाले ('प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण)"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अक्षी इव चक्षुषा यातमर्वाक्।"[ख] "'इव' परे होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "रोदसी आ वदत।"[ग]

आर्ष्यामेव संध्ययकारपूर्वो विवृत्तेश्च प्रत्ययः सन्नुकारः ॥५६॥

सू० अ०—आर्षी संहिता में ही संध्य यकार है पूर्व में जिसके ऐसा (अर्थात् संधि में उत्पन्न यकार से बाद में आने वाला) (उकार) और 'विवृत्ति' से परे आने वाला उकार ('प्रकृतिभाव' से रहता है)।

उ० भा०—आर्ष्यामेव इत्यवधारणं पदसंहितानिवृत्त्यर्थम्। सधौ भवः=सध्यः। सध्यो यकारः पूर्वो यस्मादिति=संध्ययकारपूर्वः; उकारः प्रकृत्या भवति। "प्रत्यु अदर्श्यायती"[1]; "अभूर्वाक्षीर्व्यु आयुरानट्।"[2]

विवृत्तेश्च; (प्रत्ययः सन्)=परभूतः; उकारः प्रकृत्या भवति। अभूवु भा उ अंशवे"[3]; "इन्द्रियं सोमं मनसा उ ईमहे।"[4] संध्यग्रहणं किम्? "ता मे जराय्वजरं मरायु।"[5] यकारपूर्वः इति किम्? "अभूर्वाक्षीः॥"[6]

उ० भा० अ०—आर्ष्यामेव[घ]=आर्षी (संहिता) में ही—यह निश्चय (अवधारण) पद-पाठ (=पद-संहिता) की निवृत्ति के लिए (किया गया है) (अर्थात् पद-पाठ में यह नियम नहीं लगता है)। संध्य.=संधि में होने वाला। संध्ययकारपूर्वः=संध्य यकार है पूर्व में जिसके वह; उकारः=उकार; 'प्रकृतिभाव' से रहता है (तात्पर्य यह है कि संधि

टि० (क) 'उपधी' का ईकार १।७१ से 'प्रगृह्य' होने पर भी आर्षी संहिता में २।५२ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से नहीं रहा और प्रस्तुत सूत्र से 'इव' के इकार के साथ मिलकर ईकार हो गया क्योंकि यह 'प्रगृह्य' ईकार तीन अक्षरों वाले 'उपधी' पद के अन्त में विद्यमान है और इसके बाद में 'इव' पद है। इसके विपरीत पद-पाठ में यह 'प्रगृह्य' ईकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है क्योंकि प्रकृत सूत्र आर्षी संहिता में ही 'प्रकृतिभाव' का निषेध कर रहा है।

(ख) 'अक्षी' पद दो अक्षरों ('स्वर'-वर्णों) से समन्वित है, अतः यहाँ 'प्रगृह्य' ईकार २।५२ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहा।

(ग) 'रोदसी' के परे 'इव' पद नहीं है, अतः तीन अक्षरों से समन्वित भी 'रोदसी' पद का 'प्रगृह्य' ईकार आर्षी संहिता में २।५२ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहा।

(घ) 'आर्ष्यामेव' का अधिकार २।५६ से लेकर २।६७ तक के सभी सूत्रों में लगता है।

---

[1] ऋ० ७।८१।१ [2] ऋ० १०।२७।७ [3] ऋ० १।४६।१० [4] ऋ० १०।६५।१० [5] ऋ० १०।१०६।६ [6] ऋ० १०।२७।७

में उत्पन्न यकार से बाद में विद्यमान उकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है)। (उदाहरण) "प्रत्यु अदर्श्यायती"[क]; "अभूर्वौक्षीर्व्यु आयुरानट् ।"[ख]

विवृत्तेश्च='विवृत्ति' से भी; (प्रत्ययः सन्=) परे आने वाला; उकारः=उकार; 'प्रकृतिभाव' से रहता है। (उदाहरण) "अभूदु भा उ अंशवे"[ग]; "इन्द्रियं सोम धनसा उ ईमहे।"[घ] "सध्य" का ग्रहण (सूत्र में) क्यों (किया)? (उत्तर) "ता मे जराय्वजरं मरायु।"[ङ] "यकार है पूर्व में जिसके (वह उकार)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अभूर्वौक्षी।"[च]

ऊकारादौ स्विति ॥५७॥

सू० अ०—ऊकार से प्रारम्भ होने वाला (पद) बाद में हो तो 'सु' यह (पद) ('प्रकृतिभाव' से रहता है)।

उ० भा०—ऊकारादौ पदे परभूते सु इत्येतत् पद प्रकृत्या भवति। "ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।"[१] ऊकारादौ इति किम्? "सूपस्थाभिर्न धेनुभिः॥"[२]

उ० भा० अ०—ऊकारादौ=ऊकार से प्रारम्भ होने वाला; पद बाद में हो तो, सु इति='सु'—यह पद; 'प्रकृतिभाव' से रहता है। (उदाहरण) "ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना

टि० (क) प्रति। ऊँ इति। अर्दार्शि। आऽयती॥ प० पा०

(ख) अभूः। ऊँ इति। औक्षीः। वि। ऊँ इति। आयुः। आनट्॥ प० पा०

दोनों ही उदाहरणों में 'स्वर'-वर्ण बाद में आने के कारण पूर्ववर्ती इकार का 'क्षैप्र' संधि से यकार हो गया है, अतः प्रस्तुत सूत्र से इस सन्धिज यकार से बाद में आने वाला उकार 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त हो गया—परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के साथ उकार की संधि नहीं हुई।

(ग) अभूत्। ऊँ इति। भा। ऊँ इति। अंशवे॥ प० पा०

(घ) इन्द्रियम्। सोमम्। धनऽसा। ऊँ इति। ईमहे॥ प० पा०

दोनों ही उदाहरणों में 'विवृत्ति' से बाद में आने वाला 'उकार' 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त हो गया।

(ङ) ता। मे। जरायु। अजरम्। मरायु॥ प० पा०

'जरायु' का यकार संधि में उत्पन्न नहीं है, अतः इस (यकार) के बाद में आने वाला उकार 'प्रकृतिभाव' से न रह कर 'क्षैप्र' संधि से वकार हो गया है।

(च) अभूः। ऊँ इति। औक्षीः॥ प० पा०

पूर्व में यकार न होने के कारण उकार 'प्रकृतिभाव' से नहीं रहा—परवर्ती औकार के साथ इस उकार की 'क्षैप्र' संधि हो गई।

---

[१] ऋ० १।११२।१ [२] ऋ० ९।६१।२१

गतम् ।"क "ऊकार से प्रारम्भ होने वाला (पद) बाद में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सूपस्थाभिर्न धेनुभि ।"ख

पूषेत्यकारे न चेत्तदेकाक्षरतत्रपूर्वम् ॥५८॥

सू०अ०—अकार बाद में हो तो 'पूषा' यह (पद) ('प्रकृतिभाव' से रहता है), यदि उस ('पूषा' पद) के पूर्व में एक 'अक्षर' वाला (पद) या 'तत्र' (पद) न हो।

उ० भा०—पूषा इति एतत्पदम्, (अकारे=) अकारादौ पदे प्रत्यये; प्रकृत्या भवति; (चेत्=) यदि; तत्=पूषेति पदम्, (एकाक्षरतत्रपूर्वम् न=) एकाक्षरपदपूर्वं न भवति; (तथा) तत्रपूर्वं चेत् न भवति—"पूषा अविष्टु माहिनः"[१]; "स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः ।"[२] न चेत्तदेकाक्षरतत्रपूर्वम् इति किम् ? 'न तं पूषापि मृष्यते"[३], "तत्र पूषाभवत्सचा ॥"[४]

उ० भा० अ०—पूषा इति= पूषा' यह पद, (अकारे=) अकार से प्रारम्भ होने वाला पद परे हो तो; 'प्रकृतिभाव' से रहता है। (चेत्=) यदि, तत्='पूषा' यह पद, (एकाक्षरतत्रपूर्वं न=) एकाक्षरपदपूर्वं (एकाक्षर पद है पूर्व में जिसके वह) नहीं होता है; चेत्=यदि; तत्रपूर्वं ('तत्र' है पूर्व में जिसके वह) नहीं होता है (तात्पर्य यह है कि 'पूषा' पद का आकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है यदि (१) 'पूषा' के परे अकार हो और (२) इसके पूर्व में एक 'अक्षर' वाला पद अथवा 'तत्र' पद न हो)। (उदाहरण)—"पूषा अविष्टु माहिन", "स्वस्ति पूषा असुरो दधातु ।"ग "एक 'अक्षर' वाला (पद) और 'तत्र' (पद) पूर्व में न हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "न तं पूषापि मृष्यते"; "तत्र पूषाभवत्सचा ।"घ

टि० (क) ताभि· । ऊँ इति । सु । ऊतिऽभि· । अश्विना । आ । गतम् ॥ प० पा०

(ख) सुऽउपस्थाभि· । न । धेनुऽभि ॥ प० पा०

यहाँ पर 'सु' के बाद में ऊकार से प्रारम्भ होने वाला पद नहीं आया है, अतः 'सु' 'प्रकृतिभाव' से न रहकर परवर्ती उकार के साथ संधि प्राप्त कर लेता है।

(ग) दोनों उदाहरणों में 'पूषा' पद के बाद में अकारादि पद है और पूर्व में न तो एकाक्षर पद है और न 'तत्र' पद है, इसलिए 'पूषा' 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त हो गया—परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के साथ इसकी संधि नहीं हुई।

(घ) क्रमश. एकाक्षर पद और 'तत्र' पद पूर्व में विद्यमान हैं, इसलिए दोनों प्रत्युदाहरणों में 'पूषा' पद को 'प्रकृतिभाव' न हुआ—परवर्ती 'स्वर'-वर्णों के साथ 'पूषा' पद की 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई।

---

[१] ऋ० १०।२६।९
[२] ऋ० ५।५१।११
[३] ऋ० ६।५४।४
[४] ऋ० ६।५७।४

श्रद्धा सम्राज्ञी सुशमो स्वधोती
पृथुज्रयी पृथिवीषा मनीषा ।
अया निद्रा ज्या प्रपेति स्वराणां
मुख्ये परे पञ्चमषष्ठयोश्च ॥५६॥

सू० अ०—'स्वर'-वर्णों के मध्य में मुख्य (=प्रथम=अकार) बाद में हो या पञ्चम (=इकार) या षष्ठ (=ईकार) (बाद में हो) तो ये (अधोलिखित पद 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं)—'श्रद्धा', 'सम्राज्ञी', 'सुशमी', 'स्वधोती', 'पृथुज्रयी', 'पृथिवी', 'ईषा', 'मनीषा', 'अया', 'निद्रा', 'ज्या' और 'प्रपा'।

उ० भा०—इति=एतानि पदानि; प्रकृत्या भवन्ति। स्वराणां मध्ये; मुख्ये=प्रथमे=अकारे; पञ्चमषष्ठयोश्च स्वरयोः परभूतयोः=इकार ईकारे च—इत्यर्थः।

श्रद्धा—"श्रद्धा इत्ते मघवन्पार्ये दिवि।"[१] सम्राज्ञी—"सम्राज्ञी अधि देवृषु।"[२] सुशमी—"एते शमीभिः सुशमी अभूवन्।"[३] स्वधा—"स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।"[४] ऊती—"ऊती अनूती हिरिशिप्रः सत्वा।"[५] पृथुज्रयी—"पृथुज्रयी असुर्येव।"[६] पृथिवी—"द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम्।"[७] ईषा—"ईषा अक्षो हिरण्ययः।"[८] मनीषा—"वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः।"[९] अया—"अया ईशानस्तविषीभिरावृतः।"[१०] निद्रा—"मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।"[११] ज्या—"ज्या इयं समने पारयन्ती।"[१२] प्रपा—"धन्वन्निव प्रपा असि।"[१३] मुख्ये परे पञ्चमषष्ठयोश्च इति किम्? "आरादुप स्वधा गहि।"[१४] आर्ष्यमेव इति किम्? "सम्राज्ञीति सम्ऽराज्ञी॥"[१५]

उ० भा० अ०—इति=ये पद; 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं। स्वराणाम्='स्वर'-वर्णों के मध्य में; मुख्ये=मुख्य परे हो=प्रथम परे हो=अकार परे हो तो; पञ्चम-षष्ठयोश्च=पञ्चम या षष्ठ भी 'स्वर' (-वर्ण) परे हो तो=इकार या ईकार परे हो तो—यह अर्थ है (अर्थात् अकार या इकार या ईकार परे हो तो निर्दिष्ट पद 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं)।

................"प्रथम (मुख्य) परे हो या पञ्चम या षष्ठ ('स्वर'-वर्ण) (परे हो तो)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "आरादुप स्वधा गहि।"[क]

टि० (क) आरात्। उप। स्वधा। आ। गहि॥ प० पा०
यहाँ 'स्वधा' के बाद में अकार, इकार या ईकार नहीं है अपितु आकार है, अतः 'स्वधा' पद का 'प्रकृतिभाव' नहीं हुआ जिससे परवर्ती आकार के साथ इसकी 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई।

[१] ऋ० ७।३२।४ [२] ऋ० १०।८५।४६ [३] ऋ० १०।२८।१२
[४] ऋ० १०।१२९।५ [५] ऋ० ६।२९।६ [६] ऋ० १।१६८।७
[७] ऋ० ३।८।८ [८] ऋ० ८।५।२९ [९] ऋ० १।७०।१
[१०] ऋ० १।८७।४ [११] ऋ० ८।४८।१४ [१२] ऋ० ६।७५।३
[१३] ऋ० १०।४।१ [१४] ऋ० ८।३२।६ [१५] ऋ० ऋ० १०।८५।४६

"आर्षी (संहिता) में ही"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "सम्राज्ञीति सम्ऽराज्ञी।"[क]

स्वरे पादादा उदये सचेति ॥६०॥

सू० अ०—पाद के आदि में स्थित 'स्वर'-वर्ण परे हो तो 'सचा' यह (पद) ('प्रकृतिभाव' से रहता है)।

उ० भा०—सचा इत्येतत् पदं प्रकृत्या भवति स्वरे पादादौ; (उदये=) उदयभूते। "मन्दिष्ट यदुशने काव्ये सचाँ इन्द्रः"[१]; "उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यत्।"[२] स्वरे पादादा उदये इति किम्? "सचैषु सवनेष्वा।"[३] मुख्ये परे पञ्चमषष्ठयोश्चेत्यस्याधिकारस्य निवृत्त्यर्थं स्वरग्रहणम्। केचित्किल पार्षदप्रपञ्च यज्ञप्रयोगे कुर्वन्ति-"इन्द्र इद्धर्योः सचा"[४]—इत्येतस्याभ्यासेऽपीमं प्रकृतिभाव कुर्वन्ति। तन्नोपपद्यते। कथम्? संहितायां यद्दृष्टं तदनेन शास्त्रेण व्याख्यायते; नानेनादृष्टं साध्यते॥

उ० भा० अ०—सचा इति='सचा' यह पद, 'प्रकृतिभाव' से रहता है, स्वरे पादादौ=पाद के आदि में स्थित 'स्वर' (-वर्ण), (उदये=) परे होने पर (तात्पर्य यह है कि ऋचा के पाद के प्रारम्भ में विद्यमान 'स्वर'-वर्ण परे हो तो 'सचा' पद का आकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है)। (उदाहरण)—"मन्दिष्ट यदुशने काव्ये सचाँ इन्द्र"[ख]; "उदुस्रिया सृजते सूर्य सचाँ उद्यत्।"[ग] "पाद के आदि में स्थित 'स्वर'-वर्ण परे होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) 'सचैषु सवनेष्वा।"[घ] "('स्वर'-वर्णों के मध्य में) मुख्य (=अकार) या पञ्चम (=इकार) या षष्ठ (=ईकार) परे हो तो" (२।५९ से प्राप्त) इस अधिकार की निवृत्ति के लिए (इस सूत्र में) 'स्वर' (पद) का ग्रहण किया गया है

टि० (क) आर्षी संहिता में ही इन पदो का 'प्रकृतिभाव' होता है। इसलिए क्रम-संहिता में 'सम्राज्ञी' के ईकार की परवर्ती 'इकार' के साथ 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई। ज्ञातव्य है कि २।५६ से 'आर्ष्यामेव' की अनुवृत्ति इस सूत्र में हो रही है।

(ख) मन्दिष्ट। यत्। उशने। काव्ये। सचा।
इन्द्रः... ... .॥ प० पा०

(ग) उत्। उस्रियाः। सृजते। सूर्यः। सचा।
उत्ऽयत् . - ... ॥ प० पा०
दोनो उदाहरणों में इकार तथा उकार पाद के आदि में स्थित है, अतः पूर्ववर्ती 'सचा' पद का 'प्रकृतिभाव' हो गया।

(घ) सचा। एषु। सवनेषु। आ॥ प० पा०
इस प्रत्युदाहरण में 'एषु' पद का एकार पाद के आदि में स्थित नहीं है, अत पूर्ववर्ती 'सचा' पद का 'प्रकृतिभाव' नहीं हुआ—परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के साथ 'सचा' की संधि हो गई।

---

१ ऋ० १।५१।११
२ ऋ० ७।८१।२
३ ऋ० १।९।३
४ ऋ० १।७।२

(जिससे कोई भी 'स्वर'-वर्ण परे रहते 'सचा' 'प्रकृतिभाव' से रहता है)। कुछ लोग प्रातिशाख्य (पार्षद) के नियमों (प्रपञ्च) को यज्ञ-प्रयोग में लगाते हैं। (जैसे) "इन्द्र इद्धर्यो. सचा" इस पाद के अभ्यास में भी इस 'प्रकृतिभाव' को करते हैं। वह युक्त नहीं है। (प्रश्न) क्यों? (उत्तर) संहिता (-पाठ) में जो दिखलाई पड़ता है उसी की इस शास्त्र (प्रातिशाख्य) के द्वारा व्याख्या की जाती है; (संहिता-पाठ में) जो दिखलाई नहीं पडता है वह इस शास्त्र से सिद्ध नहीं किया जाता है।[क]

ष्वन्तं जोषं चर्षणीश्चर्षणिभ्यः।
एकारान्तं मित्रयोरस्मदीव-
न्नमस्युरित्युपधं चेत्यपृक्तम् ॥६१॥

सू० अ०—'षु' में अन्त होने वाले (पद), 'जोषम्', 'चर्षणीः', 'चर्षणिभ्यः' 'एकारान्त' (पद), 'मित्रयोः', 'अस्मत्', 'ईवत्' (और) 'नमस्युः'—ये पूर्व में स्थित हो तो अपृक्त आकार ('प्रकृतिभाव' से रहता है, यदि पाद के आदि में स्थित 'स्वर'-वर्ण बाद में आवे)।

उ० भा०—ष्वन्तम्, जोषम्, चर्षणीः, चर्षणिभ्यः, एकारान्तम्, मित्रयोः, अस्मत्, ईवत्, नमस्युः—इत्युपधं च—इतिकरण पदस्वरूपज्ञप्त्यर्थं, एवमुपधं च; आ इत्येतत्पदम् अपृक्तम् चेत्प्रकृत्या भवति। "स्वरे पादादा उदये" इत्यनुवृत्तिः।"

षु इत्येवमन्त पदम्=ष्वन्तम्—"तं मर्जयन्त सुवृधं नदीष्वाँ उशन्तम्।"[1] जोषम्—"उतो न्वस्य जोषमाँ इन्द्रः।"[2] चर्षणीः—"आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ अर्यः।"[3] चर्षणिभ्यः- "स सहसा कारिषच्चर्षणिभ्य आँ आविः।"[4] एकारान्तं पदम्—"पथि दीर्घे गभीर आँ उग्रपुत्रे।"[5] मित्रयोः "उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति।"[6] न

टि० (क) "इन्द्र इद्धर्यो सचा" जैसे अनेक पादो का यज्ञ के समय प्रयोजनवश अभ्यास करना पडता है। अभ्यास करने पर प्रकृत पाद का यह रूप होगा—"इन्द्र इद्धर्योः सचा इन्द्र इद्धर्यो सचा।" यहाँ पर 'सचा' के बाद में पाद के आदि वाला 'इकार' आया है। कुछ लोग प्रातिशाख्य के प्रस्तुत नियम के अनुसार 'सचा' के आकार का 'प्रकृति-भाव' करके आकार और इकार की 'प्रश्लिष्ट' संधि नही करते। भाष्यकार का कहना है कि यह युक्त नही है क्योकि अभ्यास करने पर 'सचा' के बाद में जो 'इन्द्र' पद आया है वह संहिता-पाठ में दिखलाई नही पड़ता। संहिता-पाठ में जो दिखलाई पड़ता है उसी की व्याख्या प्रातिशाख्य में की जाती है। जो संहिता-पाठ में दिखलाई नही पडता उसको प्रातिशाख्य से नही साधा जाता है। इसलिए यहाँ 'सचा' के आकार और 'इन्द्र' के इकार की 'प्रश्लिष्ट' संधि करके उच्चारण करना चाहिए।

---

[1] ऋ० ९।६८।६ [2] ऋ० ८।९४।६ [3] ऋ० ३।४३।२
[4] ऋ० ६।४८।१५ [5] ऋ० ८।६७।११ [6] ऋ० ६।५१।१

चैतदुदाहरणमिह स्यात्—"एकारौकारपरौ च"[१] इत्यनेन सिद्धत्वात्। तन्न। नहि समानलक्षणानां परित्यागो न्याय्यः। न चैत विषय स विधिः प्रवेष्टुं शक्नुयादत्रापृक्तग्रहणात्। तत्र च सामान्येन विधानात्। तस्मात्साधूदाहरणम्। अस्मत्—"इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋच।"[२] ईवत्—"आ स एतु य ईवदाँ अदेवः।"[३] नमस्युः—"उप वो विश्ववेदसो नमस्युराँ असृक्षि।"[४] स्वरे पादादा उदये इति किम्? "सोमं वज्रिण आभरत्।"[५] इत्युपधम् इति किम्? "आ रश्मयो गभस्त्योः स्थूरयोराध्वन्"[६]। अपृक्तम् इति किम्? "यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक।"[७]

उ० भा० अ०—ष्वन्तम्='षु' में अन्त होने वाला पद; जोषम्, चर्षणीः, चर्षणिभ्यः; एकारान्तम्=एकार में अन्त होने वाला पद; मित्रयोः, अस्मत्, ईवत्, नमस्युः—इत्युपधं च=ये (पद) उपधा (अव्यवहित पूर्ववर्ती) हों तो; 'इति' शब्द पद के स्वरूप के ज्ञान के लिए प्रयुक्त है, आ च='आ' यह पद भी; यदि 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ (=अपृक्त) हो तो; 'प्रकृतिभाव' से रहता है। 'पाद के आदि में स्थित 'स्वर'-वर्ण परे हो तो"—इसकी अनुवृत्ति (२।६० से हो रही है)।

'षु' में अन्त होने वाला पद=ष्वन्तम्—"स मर्जयन्त सुवृध नदीष्वाँ उशन्तम्।"[क] जोषम्—"उतो न्वस्य जोषमाँ इन्द्र।"[ख] चर्षणीः—"आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ अर्य.।"[ग] चर्षणिभ्यः—"स सहस्रा कारिषच्चर्षणिभ्य आँ आवि।"[घ] एकारान्त पद—"पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे।"[ङ] मित्रयोः—"उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति।"[च]

टि० (क) तम्। मर्जयन्त। सुऽवृधम्। नदीषु। आ
उशन्तम्। · · · ॥

'अपृक्त' 'आ' के पूर्व में 'षु' में अन्त होने वाला 'नदीषु' पद है और बाद में पाद के आदि में विद्यमान 'उ' है, अत 'आ' को 'प्रकृतिभाव' प्राप्त हो गया—परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के साथ उसकी सन्धि नहीं हुई। अधोलिखित उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ख) उतो इति। नु। अस्य। जोषम्। आ।
इन्द्र। · · · · ॥ प० पा०

(ग) आ। याहि। पूर्वी। अति। चर्षणी। आ।
अर्य। · · · · ॥ प० पा०

(घ) सम्। सहस्रा। कारिषत्। चर्षणिऽभ्य। आ।
आवि। · · · ······ ॥ प० पा०

(ङ) पर्षि। दीने। गभीरे। आ।
उग्रऽपुत्रे। · · ॥ प० पा०

(च) उत्। ऊँ इति। त्यत्। चक्षु। महि। मित्रयो। आ।
एति। ······ ॥ प० पा०

---

[१] २।६२ [२] ऋ० १०।९१।१२ [३] ऋ० ८।४६।२१
[४] ऋ० ८।२७।११ [५] ऋ० ८।१००।८ [६] ऋ० ६।२९।२
[७] ऋ० १०।१२१।३

(शंका) यह उदाहरण यहाँ प्रस्तुत नही किया जा सकता है क्योंकि (यह उदाहरण तो) "एकार और ओकार परे हो तो 'कण्ठ्य' (=अकार और आकार) ('प्रकृतिभाव' से रहते है)"—इस (सूत्र) से सिद्ध हो जाता है। (समाधान) यह कहना युक्त नही है। समान लक्षणों वाले (उदाहरणों) का परित्याग न्यायसंगत नही है। (२।६२ में प्रतिपादित) वह विधि इस विषय (क्षेत्र) में प्रवेश नही कर सकती क्योंकि यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) 'अपृक्त' ('व्यञ्जन' से न मिला हुआ) का ग्रहण किया गया है। और वहाँ (अर्थात् २।६२ में) सामान्यरूप से विधान किया गया है। इसलिए उदाहरण ठीक है।[क] अस्मत्—"इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋच।"[ख] ईवत्—"आ स एतु य ईवदाँ अदेव।"[ग] नमस्युः—"उप वो विश्ववेदसो नमस्युराँ असृक्षि।"[घ] "पाद के आदि में स्थित 'स्वर'-वर्ण बाद में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "सोम वज्रिण आभरत्।"[ङ] "ये पद उपधा (=अव्यवहित पूर्ववर्ती) हों तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) 'आ रश्मयो गभस्त्यो स्थूरयोराध्वन्।"[च] "अपृक्त"—यह (सूत्र में)

टि० (क) उपर्युक्त उदाहरण २।६१ और २।६२ इन दोनों सूत्रों से सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत २।६१ के अनुसार 'मित्रयोः' पद पूर्व में होने के कारण और पादादि 'स्वर'-वर्ण बाद में होने के कारण 'अपृक्त' पद 'आ' 'प्रकृतिभाव' से रहता है। २।६२ के अनुसार 'ए' बाद में होने के कारण 'कण्ठ्य' ('आ') 'प्रकृतिभाव' से रहता है। २।६२ सामान्य-शास्त्र है और २।६१ का सम्बद्ध अश अपवाद-शास्त्र है क्योंकि २।६२ का सम्बन्ध सभी अवस्थाओं में स्थित 'कण्ठ्य'-वर्णों (अकार और आकार) से है, जबकि २।६१ के सम्बद्ध अश का सम्बन्ध केवल 'अपृक्त' आकार से है। सामान्य-शास्त्र की अपेक्षा अपवाद-शास्त्र के बलवान् होने से प्रस्तुत उदाहरण में 'प्रकृतिभाव' २।६१ से ही होता है। इसलिए यह उदाहरण युक्ति-सगत है।

(ख) इमा.। अस्मै। मतय.। वाच.। अस्मत्। आ।
ऋच। .... ॥ प० पा०

(ग) आ। स.। एतु। य.। ईवत्। आ।
अदेव.। .... ॥ प० पा०

(घ) उप। व.। विश्वऽवेदस.। नमस्यु.। आ।
असृक्षि। .... ॥ प० पा०

(ङ) सोमम्। वज्रिणे। आ। अभरत्। प० पा०

यहाँ 'आ' के बाद में आने वाला 'स्वर'-वर्ण ('अभरत्' का 'अ') पाद के आदि में विद्यमान नही है, अत. 'आ' को 'प्रकृतिभाव' प्राप्त न हुआ और परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के साथ इसकी सधि हो गई।

(च) आ। रश्मयः। गभस्त्यो.। स्थूरयो.। आ।
अध्वन्। .... ॥ प० पा०

क्यों (कहा) ? (उत्तर) "य॑ प्राणतो निमिषतो महित्वैक॑.।"क

एकारौकारपरौ च कण्ठ्यौ लुशादर्वाक् ॥६२॥

सू० अ०—लुश (ऋषि के सूक्तों) से पूर्व (वाले सूक्तों में) एकार या ओकार परे हो तो (पूर्ववर्ती) 'कण्ठ्य' (=अकार और आकार) भी ('प्रकृतिभाव' से रहते हैं)।

उ०भा०—(एकारौकारपरौ=) एकारश्च ओकारश्च परौ ययोरकाराकारयो तौ; (कण्ठ्यौ=) तयोक्तौ; लुशात् ऋषेः; (अर्वाक=) प्राक्; प्रकृत्या भवत.। "अवुध्रमु स्ये"[1] इत्यत्र लुशः। एकारौकारयोर्विशेषणार्थं पादादिग्रहणमिहानुवर्तते।

"आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकम्"[2]; "तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका।"[3] "त्वं न इन्द्रा भरँ ओज"[4]; "विश्वेदहानि तविषीव उग्रँ ओक।"[5] लुशादर्वाक् इति किम्? "यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकः।"[6] पादादौ इति किम्? "मंममग्ने वि बहो माभि शोचः"[7]; "अमितौजा अजायत॥"[8]

उ० भा० अ०—(एकारौकारपरौ=) एकार या ओकार हैं परे जिन अकार और आकार के वे, (कण्ठ्यौ=) वैसे (अर्थात् 'कण्ठ्य') कहे जाने वाले (अकार और आकार);

(१८५च) यहाँ पर 'अपृक्त' 'आ' के बाद में पादादि 'स्वर'-वर्ण ('अध्वन्' का 'अ') विद्यमान है तथापि 'अपृक्त' 'आ' को 'प्रकृतिभाव' प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि 'आ' के पूर्व में उल्लिखित पदों में से कोई भी पद विद्यमान नहीं है।

टि० (क) य॑ । प्राणत॑ । निऽमिषत । महिऽत्वा ।
एकः।..... .. .. ॥ प० पा०

यद्यपि यहाँ 'आ' के बाद में पादादि 'स्वर'-वर्ण स्थित है, तथापि 'आ' को 'प्रकृतिभाव' न हुआ क्योंकि 'आ' अपृक्त नहीं है। भाष्यकार का यह प्रत्युदाहरण पूर्ण रूप से युक्त नहीं है क्योंकि 'आ' के 'प्रकृतिभाव' होने के लिए सूत्र में तीन शर्तें बतलाई गई है—(१) 'आ' 'अपृक्त' होना चाहिए (२) इस 'आ' के पूर्व में सूत्र में उल्लिखित पदों में से कोई एक पद होना चाहिए (३) 'आ' के बाद में पाद के आदि में स्थित 'स्वर'-वर्ण होना चाहिए। इस प्रत्युदाहरण में प्रथम और द्वितीय-ये दो-शर्तें पूरी नहीं हो रही हैं। यदि यहाँ 'आ' 'अपृक्त' भी होता तब भी यहाँ 'आ' का 'प्रकृतिभाव' न होता। भाष्यकार को 'अपृक्त' का ऐसा प्रत्युदाहरण देना चाहिए था जिसमें 'आ' के पूर्व में उल्लिखित पदों में से कोई एक होता, 'आ' के बाद में पादादि 'स्वर'-वर्ण भी होता किंतु 'आ' 'अपृक्त' न होता।

---

[1] ऋ० १०।३५।१ [2] ऋ० ८।१००।५ [3] ऋ० १।३५।६
[4] ऋ० ८।९८।१० [5] ऋ० ७।२५।४ [6] ऋ० १०।१२१।३
[7] ऋ० १०।१६।१ [8] ऋ० १।११।४

लुशात्=लुश ऋषि (के सूक्तों) से; (अर्वाक्=) पहले (वाले सूक्तों में) 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं (अर्थात् लुश ऋषि के सूक्तों से पहले वाले सूक्तों में, एकार अथवा ओकार परे रहते, अकार और आकार 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं)। "अबुध्रमु त्ये" यहाँ लुश है (अर्थात् यहाँ से लुश ऋषि के सूक्त प्रारम्भ होते हैं)। एकार और ओकार के विशेषण के लिए **पादादि** की अनुवृत्ति यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) (२।६० से) हो रही है (जिससे यह सूत्र तभी लगेगा जब एकार और ओकार पाद के आदि में विद्यमान होंगे)।

(उदाहरण)—"आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकम्"[क]; "तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका।" "त्व न इन्द्रा भरँ ओज."[ग], "विश्वेदहानि तविषीव उग्रँ ओकः।"[घ] "लुश (ऋषि के सूक्तो से) पहले"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक.।"[ङ] "पाद के आदि में"—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "मैनमग्ने वि दहो माभि शोच."[च] "अमितौजा अजायत।"[छ]

टि० (क) आ। यत्। मा। वेना.। अरुहन्। ऋतस्य।
एकम्।······································॥ प० पा०

(ख) तिस्र·। द्याव.। सवितु.। द्वौ। उपऽस्था।
एका।······ ····   ············· ॥ प० पा०

उपर्युक्त दोनो उदाहरणो में पादान्त अकार और आकार के बाद में पादादि एकार विद्यमान है, अत अकार और आकार 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं।

(ग) त्वम्। न। इन्द्र। आ। भर।
ओज.।······················ ···· ॥प० पा०

(घ) विश्वा। इत्। अहानि। तविषीऽव.। उग्र।
ओक·· ··· ········· ··············॥ प० पा०

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में पादान्त अकार के बाद में पादादि ओकार विद्यमान है, अतः अकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है। सूत्रकार ने, ओकार परे रहते, आकार के 'प्रकृतिभाव' का उदाहरण नही दिया है।

(ङ) य.। प्राणत.। निऽमिषतः। महिऽत्वा।
एक.।········· ······ ·············· ॥ प० पा०

लुश ऋषि के सूक्त १०।३५।१ से प्रारम्भ होते हैं। इससे पूर्ववर्ती सूक्तों में ही प्रस्तुत नियम लागू होता है। यह मन्त्र (१०।१२१।३) लुश ऋषि के सूक्तों से पहले वाले सूक्त में नही आया है, अतः यहाँ आकार 'प्रकृतिभाव' से नही रहा—परवर्ती 'स्वर'-वर्ण ('ए') के साथ 'आ' की 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई।

(च) मा। एनम्। अग्ने। वि। दह.। मा। अभि। शोच ॥ प० पा०

'एनम्' का एकार पाद के आदि में नही है, अत. पूर्ववर्ती आकार 'प्रकृतिभाव' से न रहा—परवर्ती 'ए' के साथ 'आ' की 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई।

गोतमे चामिनन्त ॥६३॥

सू० अ०—गोतम (ऋषि के सूक्तों) में 'अमिनन्त' (पद) भी ('प्रकृतिभाव' से रहता है)।

उ० भा० —(गोतमे=) गोतमऋषिदृष्टे; च अमिनन्त इत्येतत्पद प्रकृत्या भवति —"आ ते सुपर्णा अमिनन्तँ एवैः।"[१] पादमध्यप्राप्त्यर्थं पुनर्वचनम् ॥

उ० भा० अ० —(गोतमे=) गोतम ऋषि के द्वारा दृष्ट (सूक्तों) में, च अमिनन्त='अमिनन्त' यह पद भी; 'प्रकृतिभाव' से रहता है। (उदाहरण) "आ ते सुपर्णा अमिनन्तँ एवैः।"[क] पाद के मध्य में ('प्रकृतिभाव' की) प्राप्ति के लिए पुन विधान किया गया है।[ख]

विभ्वा विधर्ता विपन्या कदा या मातेत्यृकारेऽप्यपादादिभाजि ॥६४॥

सू० अ०—पाद के आदि में न आने वाला भी ऋकार बाद में हो तो 'विभ्वा', 'विधर्ता', 'विपन्या', 'कदा', 'या' (और) 'माता' (ये पद 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं)।

उ० भा०—एतानि पदानि प्रकृत्या भवन्ति; (ऋकारे=) ऋकारादौ पदे प्रत्यये। अप्यपादादिभाजि इति अपिशब्द उभयार्थः। विभ्वा—"ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तः।"[२] विधर्ता—"प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ताँ ऋतम्।"[३] विपन्या—"प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य।[४] कदा—"अग्ने कदाँ ऋतचित्।"[५] या—"औच्छत्सा रात्री परितक्म्या याँ ऋणंचये।"[६] माता—"अप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः।"[७] ऋकारे इति किम्? "उत त्वष्टोत विभ्वानु मंसते॥"[८]

(१८७छ) अमितऽओजा। अजायत॥ प० पा०

ओकार पाद के आदि में नहीं है, अत. पूर्ववर्ती अकार 'प्रकृतिभाव' से न रहा—परवर्ती 'ओ' के साथ 'अ' की 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई।

टि० (क) आ। ते। सुऽपर्णा। अमिनन्त। एवैः॥ प० पा०

(ख) तात्पर्य यह है कि पादादि 'स्वर'-वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती 'अमिनन्त' पद, पाद के अन्त में स्थित होने पर तो, पूर्ववर्ती सूत्र (२।६२) के अनुसार ही 'प्रकृतिभाव' को प्राप्त हो जाता है। यहाँ पुन कथन यह बतलाने के लिए किया गया है कि गोतम ऋषि के सूक्तों में 'अमिनन्त' पद, पाद के मध्य में आने पर भी, 'प्रकृतिभाव' से रहता है।

---

[१] ऋ० १।७९।२ [२] ऋ० ४।३३।३ [३] ऋ० २।२८।४
[४] ऋ० ४।१।१२ [५] ऋ० ५।३।९ [६] ऋ० ५।३०।१४
[७] ऋ० ५।४५।६ [८] ऋ० ५।४६।४

उ० भा० अ०—ये पद 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं; (ऋकारे=) ऋकार से प्रारम्भ होने वाला पद परे हो तो; अप्यपादादिभाजि (=यदि वह ऋकार पाद के आदि में भी न हो तब भी) में जो अपि शब्द है वह उभय के लिए है (तात्पर्य यह है कि ऋकार चाहे पाद के आदि का हो और चाहे पाद के आदि का न हो, दोनो ही अवस्थाओं में ऋकार बाद में हो तो ये पूर्ववर्ती पद 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं)। ················। "ऋकार परे होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "उत त्वष्टोत विश्वानु मसते।"[क]

परुच्छेपे भीषा पथेत्यकारे ॥६५॥

सू० अ०—परुच्छेप (ऋषि के सूक्तों) में, अकार बाद में हो तो, (पूर्ववर्ती) 'भीषा' (और) 'पथा' ('प्रकृतिभाव' से रहते हैं)।

उ० भा०—भीषा, पथा—इत्येते परुच्छेपे ऋषौ अकारे प्रकृत्या भवतः। भीषा—"घृणान्न भीषाँ अद्रिवः।"[१] पथा—"याहि पथाँ अनेहसा।"[२] ऋषिग्रहणादिह न भवति—"कदर्यम्णो महस्पयाति।"[३] अकारे इति किम्? "पथेव यन्तावनुशासता रज ॥"[४]

उ० भा० अ०—भीषा, पथा—इति=ये (पद); परुच्छेपे=परुच्छेप ऋषि (के सूक्तों) में; अकारे=अकार परे होने पर; 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं (तात्पर्य यह है कि परुच्छेप ऋषि के सूक्तो में, अकार परे रहते, 'भीषा' और 'पथा'—ये पद 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं)। (उदाहरण) भीषा—"घृणान्न भीषाँ अद्रिवः।" पथा—"याहि पथाँ अनेहसा।" ऋषि का ग्रहण होने से यहाँ 'प्रकृतिभाव' नही होता है—"कदर्यम्णो महस्पयाति।"[ख] "अकार बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "पथेव यन्तावनुशासता रजः।"[ग]

एवाँ अग्निमत्रिषु सा प्लुतोपधा ॥६६॥

सू० अ०—अत्रि (के सूक्तों) में 'एवाँ अग्निम्' (यह द्वैपद मिलता है) जो 'प्लुतोपध' (-संज्ञक है)।

टि० (क) उत। त्वष्टा। उत। विऽश्वा। अनु। मसते ॥ प० पा०
'विश्वा' पद के परे ऋकार नहीं अपितु अकार है, अतः 'विश्वा' 'प्रकृतिभाव' से न रहा—परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के साथ इसकी 'प्रश्लिष्ट' सन्धि हो गई।

(ख) यह मन्त्र परुच्छेप ऋषि द्वारा दृष्ट सूक्त का नही है अतः यहाँ, अकार बाद में होने पर भी, पूर्ववर्ती 'पथा' को 'प्रकृतिभाव' नही हुआ।

(ग) यह मन्त्र परुच्छेप ऋषि द्वारा दृष्ट सूक्त का है तथापि 'पथा' को 'प्रकृतिभाव' नही हुआ क्योंकि 'पथा' के बाद में अकार नही अपितु इकार है।

---

[१] ऋ० १।१३३।६ [२] ऋ० १।१२९।९ [३] ऋ० १।१०५।६
[४] ऋ० १।१३९।४

उ० भा०—एवाँ अग्निम् इत्येतद् द्विपदं यथागृहीतं भवति; (अत्रिषु=) अत्रि-मण्डले। (प्लुतोपधा सा=) प्लुतोपधसञ्ज्ञकं संधानं भवति। "एवाँ अग्निमजुर्यमुः"[१]; "एवाँ अग्निं वसूयवः।"[२] अत्रिग्रहणं किम्? "एवाग्निं सहस्यं वसिष्ठ।"[३] प्लुतोपधसंज्ञाया इदानीमेव प्रयोजनं वक्ष्यति॥

उ० भा० अ०—एवाँ अग्निम्—यह द्विपद जैसा (सूत्र में) उल्लिखित है वैसा होता है; (अत्रिषु=) अत्रि-मण्डल (=पञ्चम मण्डल) में। (प्लुतोपधा सा=) वह 'प्लुतोपध'-सञ्ज्ञक संधि होती है। (उदाहरण) "एवाँ अग्निमजुर्यमुः"; "एवाँ अग्निं वसूयवः।" 'अत्रि' का (सूत्र में) क्यों उल्लेख किया? (उत्तर) "एवाग्निं सहस्य वसिष्ठ।"[क] 'प्लुतोपध'-सञ्ज्ञा का अभी (सूत्रकार) प्रयोजन बतलायेंगे।

सचाद्यो या विहिता विवृत्तयः।
प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधाः॥६७॥

सू० अ०—'सचा' से लेकर 'प्लुतोपधा' तक जिन विवृत्तियों का विधान किया गया है उनकी उपधा (=पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण) 'अनुनासिक' हो जाती है।

उ० भा०—"स्वरे पादादौ"[४] इत्यादिना या विहिताः (विवृत्तयः) सचाद्यः; (प्लुतोपधान्ताः=) "एवाँ अग्निमत्रिषु सा प्लुतोपधा"[५] इत्यन्ताः; ता अनुनासिकोपधाः भवन्ति: आनुनासिक्यमुपधानां विधीयते। "उद्रुस्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यत्॥"[६]

उ० भा० अ०—"पाद के आदि में स्थित 'स्वर'-वर्ण परे होने पर"—इस (सूत्र) से प्रारम्भ करके "अत्रि-मण्डल में 'एवाँ अग्निम्' (यह द्विपद मिलता है) जो 'प्लुतोपध' (-संज्ञक है)"—इस (सूत्र) तक जिन सचादि (विवृत्तियों का विधान किया गया है उनकी उपधा (=पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण) 'अनुनासिक' हो जाती है। (इस सूत्र से) उपधाओं (विवृत्तियों के पूर्व वाले 'स्वर'-वर्णों) के आनुनासिक्य का विधान किया गया है। (उदाहरण) "उद्रुस्रिया सृजते सूर्यः सचाँ उद्यत्।"[ख]

टि० (क) यह मन्त्र अत्रि-मण्डल (=पञ्चम मण्डल) का नहीं अपितु वसिष्ठ-मण्डल (=सप्तम मण्डल) का है, इसलिए 'एव' और 'अग्निम्' की 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गयी।

(ख) 'स्वर'-वर्ण (उकार) परे रहते 'सचा' का 'आ' २।६० से 'प्रकृतिभाव' से रहता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह 'आ' 'अनुनासिक' हो गया है।

---

[१] ऋ० ५।६।१०
[२] ऋ० ५।२५।९
[३] ऋ० ७।४२।६
[४] २।६०
[५] २।६६
[६] ऋ० ७।८१।२

(कानिचिन्निपातनानि)

सेदु सास्मिन्सेमभि साभिवेगः
सेद्दभवः सोपमा सौषधीरनु ।
सास्मा अरं सोत नः सेन्द्र विश्वा
सेति सास्माकमनवद्य सासि ॥६८॥

(कतिपय निपात)

सू० अ०—(अधोलिखित संधियाँ निपातन से होती हैं)—'सेदु', 'सास्मिन्', 'सेमभि', 'साभिवेगः', 'सेद्दभवः', 'सोपमा', 'सौषधीरनु', 'सास्मा अरम्', 'सोत नः', 'सेन्द्र विश्वा', 'सेति', 'सास्माकमनवद्य', (और) 'सासि'।

उ० भा०—यथागृहीतान्येतानि भवन्ति। अत्र विवृत्तिलोपो निपात्यते। सेदु—"सेदु राजा क्षयति।"[1] उ इति किम्? "स इद्भोजो यो गृहवे ददाति।"[2] सास्मिन्—"त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि।"[3] सेमभि—"धिया शमी सचते सेमभि।"[4] अभि इति किम्? "स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे।"[5] साभिवेगः—"असत्सु मे जरितः साभिवेगः।"[6] सेद्दभवः—"सेद्दभवो यमवथ।"[7] ऋभवः इति किम्? "स इद्देवेषु गच्छति।"[8] सोपमा—"जीवयाजं यजते सोपमा दिवः।"[9] सौषधीरनु—"सौषधीरनु रुध्यसे।"[10] अनु इति किम्? "स ओषधीः सो अपः स वनानि।"[11] सास्मा अरम्—"सास्मा अरं बाहुभ्यां यम्।"[12] अरम् इति किम्? "सो अस्मै चारुश्छदयवुत।"[13] सोत नः—"बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम्।"[14] सेन्द्र विश्वा—"या चकर्थ सेन्द्र विश्वास्युक्थ्यः।"[15] विश्वा इति किम्? "स इन्द्र चित्राँ अभि तृन्धि।"[16] सेति—"यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्।"[17] सास्माकमनवद्य—"सास्माकमनवद्य तूतुजान वेधसाम्।"[18] अनवद्य इति किम्? "सोऽस्माकम्"[19]—इत्येतदेव निपातनं प्रत्युदाहरणमत्र। अत्र विसर्जनीयलोपो निपात्यते; अन्यत्र तु विसर्जनीयस्य कृतोत्त्वस्याभिनिहितः। सासि—"यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः॥"[20]

उ० भा० अ०—(ये संधियाँ) जैसी (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसी (संहिता-पाठ में) मिलती हैं। यहाँ पर 'विवृत्ति' का लोप निपातन से होता है। (उदाहरण) "सेदु राजा

---

[1] ऋ० १।३२।१५ [2] ऋ० १०।११७।३ [3] ऋ० १०।४४।५
[4] ऋ० ९।७४।७ [5] ऋ० २।२२।१ [6] ऋ० १०।२७।१
[7] ऋ० ४।३७।६ [8] ऋ० १।१।४ [9] ऋ० १।३१।१५
[10] ऋ० ८।४३।९ [11] ऋ० १।१०३।५ [12] ऋ० २।१७।६
[13] ऋ० १०।३१।४ [14] ऋ० २।२४।१ [15] ऋ० २।१३।११
[16] ऋ० ६।१७।२ [17] ऋ० २।१२।५ [18] ऋ० १।१२९।१
[19] ऋ० १०।९७।२३ [20] ऋ० २।१३।२

क्षयति ।"[क] उ—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "स इद्भोजो यो गृह्वे ददाति।"[ख] **सास्मिन्**—"त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि ।"[ग] **सेमभि**—"धिया शमी सचते सेमभि ।"[घ] **अभि**—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे ।"[ङ] **साभिवेगः**—"असत्सु में जरित साभिवेग ।"[च] **सेदृभवः**—"सेदृभवो यमवथ ।"[छ] **ऋभवः**- यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "स इद्देवेषु गच्छति ।"[ज] **सोपमा**—"जीवयाज यजते सोपमा दिव. ।"[झ] **सौषधीरनु**—सौषधीरनु रुध्यसे ।"[ञ] **अनु**—यह (सूत्र में) क्यो

टि० (क) स । इत् । ऊँ इति । राजा । क्षयति ॥ प० पा०

यहाँ २।२७ से 'स' का 'स' होकर 'स इत्' यह रूप निष्पन्न होता है। अब 'स' और 'इत्' को 'प्रश्लिष्ट' सधि नही होनी चाहिए क्योकि पद-पाठ में 'सः' दिखलाई पडता है, 'स' नही और २।५ के अनुसार सधि तो पद-पाठ में दिखलाई पडने वाले पदान्तो और पदादियों में ही होती है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी यहाँ निपातन से 'स इत्' की 'विवृत्ति' का लोप हो जाता है जिससे 'स' और 'इत्' की 'प्रश्लिष्ट' सधि हो जाती है और इस प्रकार रूप निष्पन्न होता है— स + इत् + उ = स + इत् + उ = सेत् + उ = सेदु। इस सूत्र के सभी उदाहरणो में इसी प्रकार निपातन से 'विवृत्ति' का लोप होकर सधि हुई है।

(ख) स । इत् । भोज । य । गृह्वे । ददाति ॥ प० पा०

'इत्' के परे 'उ' होने पर ही 'विवृत्ति' का लोप होता है जैसा उदाहरण में हुआ है। इस प्रत्युदाहरण में 'इत्' के परे 'उ' नही है, अत 'विवृत्ति' का लोप न होने से सधि नही हुई।

(ग) त्वम् । ईशिषे । स । अस्मिन् । आ । सत्सि ॥ प० पा०

अकार परे होने के कारण 'स' के विसर्जनीय को २।३३ से ओकार होना चाहिए किंतु यहाँ विसर्जनीय का लोप हो गया और तत्पश्चात् निपातन से 'विवृत्ति' का लोप होकर 'प्रश्लिष्ट' सधि हो गई (स + अस्मिन् = स अस्मिन् = सास्मिन्)।

(घ) धिया । शमी । सचते । स । ईम् । अभि ॥ प० पा०

(ङ) स । ईम् । ममाद । महि । कर्म । कर्तवे ॥ प० पा०

'ईम्' के परे 'अभि' होने पर ही 'विवृत्ति' का लोप होता है जैसा उदाहरण में हुआ है। इस प्रत्युदाहरण में 'ईम्' के परे 'अभि' नही है, अत 'विवृत्ति' का लोप नही हुआ जिससे सधि नही हुई।

(च) असत् । सु । मे । जरितरिति । स । अभिऽवेग ॥ प० पा०

(छ) स. । इत् । ऋभव । यम् । अवथ ॥ प० पा०

(ज) स । इत् । देवेषु । गच्छति ॥ प० पा०

'इत्' के परे 'ऋभव' होने पर 'विवृत्ति' का लोप होता है जैसा उदाहरण में हुआ है। इस प्रत्युदाहरण में 'इत्' के परे 'ऋभव' नही है, अत 'विवृत्ति' का लोप नही हुआ जिससे सधि नही हुई।

(झ) जीवऽयाजम् । यजते । स । उपऽमा । दिवः ॥ प० पा०

(ञ) स. । ओषधी । अनु । रुध्यसे ॥ प० पा०

(कहा) ? (उत्तर) "स ओषधीः सो अपः स वनानि ।"[क] **सास्मा अरम्**—"सास्मा अरं बाहुभ्या यम् ।"[ख] **अरम्**—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सो अस्मै चारुश्छदयदुत ।"[ग] **सोत नः**—"बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम् ।"[घ] **सेन्द्र विश्वा**—"या चकर्थ सेन्द्र विश्वास्युक्थ्य. ।"[ङ] **विश्वा**—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "स इन्द्र चित्राँ अभि तृन्धि ।"[च] **सेति**—"यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् ।"[छ] **सास्माकमनवद्य**—"सास्माकमनवद्य तूतुजान वेधसा.म् ।"[ज] **अनवद्य**—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सोऽस्माकम् ।"[झ]—यही निपातन यहाँ प्रत्युदाहरण है । यहाँ पर (अर्थात् 'सास्माकमनवद्य' में) विसर्जनीय का लोप निपातन से हुआ है; अन्यत्र (अर्थात् 'सोऽस्माकम्' में) ओकार हो जाने वाले विसर्जनीय की 'अभिनिहित' संधि (निपातन से) हुई है ।[ञ] **सासि**—"यस्ताकृणो. प्रथम सास्युक्थ्य. ।"[ट]

टि० (क) स । ओषधीः । सः । अप । स. । वनानि ॥ प० पा०

इस प्रत्युदाहरण में 'ओषधी.' के परे 'अम्' न होने के कारण 'विवृत्ति' का लोप नहीं हुआ जिससे संधि नही हुई ।

(ख) स. । अस्मै । अरम् । बाहुऽभ्याम् । यम् ॥ प० पा०

(ग) स. । अस्मै । चारु· । छदयत् । उत ॥ प० पा०

इस प्रत्युदाहरण में 'अस्मै' के परे 'अरम्' न होने के कारण 'विवृत्ति' का लोप नही हुआ जिससे संधि नही हुई ।

(घ) बृहस्पते । सीसध । स । उत । न. । मतिम् ॥ प० पा०

(ङ) या । चकर्थ । स । इन्द्र । विश्वा । असि । उक्थ्य. ॥ प० पा०

(च) स । इन्द्र । चित्रान् । अभि । तृन्धि ॥ प० पा०

इस प्रत्युदाहरण में 'इन्द्र' के परे 'विश्वा' न होने के कारण 'विवृत्ति' का लोप नही हुआ जिससे संधि नही हुई ।

(छ) यम् । स्म । पृच्छन्ति । कुह । स । इति । घोरम् ॥ प० पा०

(ज) स । अस्माकम् । अनवद्य । तूतुजान । वेधसाम् ॥ प० पा०

(झ) स. । अस्माकम् ॥ प० पा०

(ञ) "सास्माकमनवद्य"—इस निपातन के प्रत्युदाहरण के रूप मे—"सोऽस्माकम्"—इस निपातन को प्रस्तुत किया गया है । "सास्माकमनवद्य" में विसर्जनीय का लोप निपातन से हुआ है और उसके बाद 'विवृत्ति' का लोप निपातन से हुआ है जिससे यहाँ 'प्रश्लिष्ट' संधि होकर (यह) रूप निष्पन्न हुआ है । बाद में 'अनवद्य' पद न होने के कारण "स । अस्माकम्" (प० पा०)="सोऽस्माकम्" (सं० पा०) में विसर्जनीय का लोप नही हुआ है और विसर्जनीय २।३३ के अनुसार 'ओ' हो गया है । किंतु "सोऽस्माकम्" में 'अभिनिहित' संधि निपातन से हुई है. दे० २।४८ ।

(ट) य. । ता । अकृणो. । प्रथमम् । स. । असि । उक्थ्य ॥ प० पा०

सेदग्ने सेदग्निर्वासिष्ठं साास्माकेभिः सेदुग्रः सेमे ।
सैना सैनं सेमं सोदञ्चं सेमां सोषां सेपे सेदीषे ॥६९॥

सू० अ०—(अधोलिखित संधियाँ निपातन से होती हैं)—'सेदग्ने', वसिष्ठ के सूक्तों में 'सेदग्निः'; 'सास्माकेभि', 'सेदुग्र', 'सेमे', 'सैना', 'सैनम्' 'सेमम्', 'सोदञ्चम्' 'सेमाम्' 'सोषाम्' 'सेषे' (और) 'सेदीषे'।

उ० भा०—सेदग्ने, सेदग्निर्वासिष्ठम्, सास्माकेभिः, सेदुग्रः, सेमे, सैना, सैनम्, सेमम्, सोदञ्चम्, सेमाम्, सोषाम्, सेशे, सेदीशे—एतानि च यथागृहीतं भवन्ति।

सेदग्ने—"सेदग्ने अस्तु सुभगः सुदानुः।"[१-क] सेदग्निर्वासिष्ठम्—"सेदग्निरग्नीँरत्यस्त्वन्यान्।"[२-ख] वासिष्ठम् इति किम्? "स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखा।"[३-ग] सास्माकेभिः—"सास्माकेभिरेतरी न शूषैः।"[४-घ] सेदुग्रः—"सेदुग्रो अस्तु मरुतः।"[५-ङ] उग्रः इति किम्? "स इद्देवेषु गच्छति।"[६-च] सेमे—"सेमे मही रोदसी यक्षत्।"[७-छ] सैना—"सैनानीकेन सुविदत्रः।"[८-ज] सैनम्—"सैनं सश्चद्देवो देवम्।"[९-झ] सेमम्—"सेम नो अध्वर यज।"[१०-ञ] सोदञ्चम्—"सोदञ्चं सिन्धुमरिणात्।"[११-ट] सेमाम्—"सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे।"[१२-ठ] सोषाम्—"सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निम्।"[१३-ड]

टि० (क) स । इत् । अग्ने । । अस्तु । सुऽभग । सुऽदानु ॥ प० पा०

(ख) स । इत् । अग्नि । अग्नीन् । अति । अस्तु । अन्यान् ॥ प० पा०

(ग) स । इत् । अग्नि । कण्वऽतम । कण्वऽसखा ॥ प० पा०

यह मन्त्र वसिष्ठ के सूक्त का नहीं है, अत यहाँ निपातन से 'विवृत्ति' का लोप होकर 'प्रश्लिष्ट' संधि नहीं हुई।

(घ) स । अस्माकेभि । एतरि । न । शूषै ॥ प० पा०

(ङ) स । इत् । उग्र । अस्तु । मरुत ॥ प० पा०

(च) स । इत् । देवेषु । गच्छति ॥ प० पा०

'इत्' के परे 'उग्र' न होने के कारण 'विवृत्ति' का लोप नहीं हुआ।

(छ) स । इमे इति । मही इति । रोदसी इति । यक्षत् ॥ प० पा०

(ज) स । एना । अनीकेन । सुऽविदत्र ॥ प० पा०

(झ) स । एनम् । सश्चत् । देव । देवम् ॥ प० पा०

(ञ) स । इमम् । न । अध्वरम् । यज ॥ प० पा०

(ट) स । उदञ्चम् । सिन्धुम् । अरिणात् ॥ प० पा०

(ठ) स । इमाम् । अविड्ढि । प्रऽभृतिम् । य । ईशिषे ॥ प० पा०

(ड) स । उषाम् । अविन्दत् । स । स्वरिति स्व । स । अग्निम् ॥ प० पा०

---

१ ऋ० ४।४।७ २ ऋ० ७।१।१४ ३ ऋ० १०।११५।५ ४ ऋ० ६।१२।४
५ ऋ० ७।४०।३ ६ ऋ० १।१।४ ७ ऋ० ९।७४।२ ८ ऋ० २।९।६
९ ऋ० २।२२।१ १० ऋ० १।१४।११ ११ ऋ० ७।१५।६ १२ ऋ० २।२४।१
१३ ऋ० १०।६८।९

सेशे—"न सेसे यस्य रम्बते।"[१-क] सेदीशे—"सेदीशे यस्य रोमशम्।"[२-ख] ईशे इति किम् ? "स इद्देवेषु गच्छति॥"[३-ग]

उ० भा० अ०—······ये (सवियाँ) भी जैसी (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसी (संहिता-पाठ में) मिलती हैं।·· "वसिष्ठ के सूक्तों में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ?·· उग्रः—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ?···ईशे—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ?···।

नू इत्था ते सानो अव्ये
वा अस्मे वासौ वेद्यस्याम् ।
धिष्ण्येमे नू अन्यत्रा चित्
पादादौ नू इन्द्रोत्यर्वाक् ॥७०॥

सू० अ०—(ये पद निपातन से सिद्ध हैं)—'नू इत्था ते', 'सानो अव्ये', 'वो अस्मे', 'वासौ', 'वेद्यस्याम्', 'धिष्ण्येमे', 'नू अन्यत्रा चित्', पाद के आदि में 'नू इन्द्र' (और) 'ऊत्यर्वाक्'।

उ० भा०—यथागृहीतमेतानि पदानि भवन्ति। नू इत्था ते इति दीर्घत्वं निपात्यते, संधिस्तु पदेऽवृष्टस्य न भवति—"नू इत्था ते पूर्वथा च प्रवाच्यम्।"[१] ते इति किम् ? "आरे अघा को न्वित्था ददर्श।"[२] सानो अव्ये—सानावव्य इति प्राप्त ओकारो निपात्यते, संधिस्तु पदेऽवृष्टस्य न भवति—"दश स्वसारो अधि सानो अव्ये।"[३] वो अस्मे—अभिनिहिताभावो निपात्यते—"प्रप्रा वो अस्मे स्वयशोभिः।"[४] वासौ—"अस्य वासा उ अर्चिषा"[५]—वै असौ प्रश्लेषो निपात्यते। वेद्यस्याम्—प्रगृह्यस्यान्तःस्थां निपातयति—"स्तीर्णं राये सुभरं वेद्यस्याम्।"[६] धिष्ण्येमे—इकारलोपो निपातितः, पदान्तपदाद्योरेत्त्व वा—"आविवासन्रोदसी धिष्ण्येमे।"[१०] नू अन्यत्रा चित्—दीर्घत्व निपात्यते—"नू अन्यत्रा चिदद्रिवः।"[११] पादादौ नू इन्द्र—पादादौ वर्तमानस्य दीर्घत्वं निपात्यते—"नू इन्द्र राये वरिवस्कृधी नः।"[१२] पादादौ इति किम् ? "यदिन्न्विन्द्र पृथिवी दशभुजिः।"[१३] ऊत्यर्वाक्—प्रकृतिभावे प्राप्तेऽन्तःस्थापत्तिर्निपात्यते—"बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वाक्॥"[१४]

उ० भा० अ०—ये पद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) मिलते हैं। नू इत्था ते—यहाँ पर ('नु' के उकार का) निपातन से दीर्घत्व हो गया, सधि तो पद

टि० (क) न। स.। ईशे। यस्य। रम्बते॥ प० पा०

(ख) स.। इत्। ईशे। यस्य। रोमशम्॥ प० पा०

(ग) सः। इत्। देवेषु। गच्छति॥ प० पा०

'इत्' के परे 'ईशे' न होने के कारण 'विवृत्ति का लोप नहीं हुआ।

---

[१] ऋ० १०।८६।१६ [२] ऋ० १०।८६।१६ [३] ऋ० ११।४
[४] ऋ० १।१३२।४ [५] ऋ० १०।१०२।१० [६] ऋ० ९।९१।१
[७] ऋ० १।१२९।८ [८] ऋ० ५।१७।३ [९] ऋ० २।३।४
[१०] ऋ० ७।७२।३ [११] ऋ० ८।२४।११ [१२] ऋ० ७।२७।५
[१३] ऋ० १।५२।११ [१४] ऋ० १०।१५।४

(-पाठ) में अदृष्ट की नहीं होती—(उदाहरण) "नू इत्था ते पूर्वथा च प्रवाच्यम् ।"क **ते**—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "आरे अघा को न्वित्था ददर्श ।"ख **सानो अव्ये**—(नियम के अनुसार) 'सानावव्ये' (यह) प्राप्त होने पर निपातन से ओकार हो गया है, पद में अदृष्ट (ओकार) की संधि तो नहीं होती है—(उदाहरण) "दश स्वसारो अधि सानो अव्ये ।"ग **वो अस्मे**—'अभिनिहित' (संधि) का अभाव निपातन से हुआ है— "प्रप्रा वो अस्मे स्वयशोभि ।"घ **वासौ**—"अस्य वासा उ अर्चिषा"ङ—'वै असौ' में निपातन से 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई। **वेद्यस्याम्**—'प्रगृह्य' ('स्वर'-वर्ण) का निपातन से 'अन्तःस्था' हो गया—"स्तीर्णं राये सुभरं वेद्यस्याम् ।"च **धिष्ण्येमे**—इकार का लोप निपातन से हुआ है अथवा पदान्त और पदादि का 'ए' (निपातन से हुआ है)—"आविवासन्रोदसी

टि० (क) नु । इत्था । ते । पूर्वऽथा । च । प्रऽवाच्यम् ॥ प० पा०

२।२१ के अनुसार 'नु' के उकार को संहिता-पाठ में 'क्षैप्र' संधि प्राप्त होती है किंतु ऐसा न होकर उकार निपातन से 'दीर्घ' (ऊकार) हो जाता है। 'दीर्घ' होने के अनन्तर ऊकार की परवर्ती इकार के साथ संधि नहीं होती है क्योंकि ऊकार पद-पाठ में दिखलाई नहीं देता। २।५ के अनुसार संधि तो पद-पाठ में दिखलाई देने वाले वर्ण की ही होती है।

(ख) आरे । अघा । कः । नु । इत्था । ददर्श ॥ प० पा०

इस प्रत्युदाहरण में 'इत्था' के अनन्तर 'ते' नहीं आया है, अतः निपातन से 'नु' का उकार 'दीर्घ' (ऊकार) नहीं हुआ अपितु २।२१ के अनुसार यहाँ 'क्षैप्र' संधि हो गई।

(ग) दश । स्वसारः । अधि । सानौ । अव्ये ॥ प० पा०

२।३१ के अनुसार 'भुग्न' संधि होकर 'सानावव्ये' यह रूप प्राप्त होने पर यहाँ निपातन से औकार का ओकार हो गया है। पद-पाठ में अदृष्ट होने के कारण ओकार की पुनः 'भुग्न' संधि नहीं होती।

(घ) प्रऽप्र । वः । अस्मे इति । स्वयशःऽभिः ॥ प० पा०

२।३८ से 'अभिनिहित' संधि प्राप्त होने पर यहाँ 'अभिनिहित' संधि का अभाव निपातन से हुआ।

(ङ) अस्य । वै । असौ । ऊँ इति । अर्चिषा ॥ प० पा०

२।२५ से 'वै' का 'वा' होता है। इसके अनन्तर 'वा' की 'असौ' के 'अ' के साथ 'प्रश्लिष्ट' संधि नहीं होनी चाहिए क्योंकि 'वा' पद-पाठ में दृष्ट नहीं होता है किंतु निपातन से यहाँ 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई।

(च) स्तीर्णम् । राये । सुऽभरम् । वेदी इति । अस्याम् ॥ प० पा०

'वेदी' का ईकार १।७२ से 'प्रगृह्य' है। २।५२ के अनुसार 'वेदी' के ईकार को 'प्रकृतिभाव' से रहना चाहिए अर्थात् ईकार की परवर्ती अकार के साथ संधि नहीं होनी चाहिए किंतु यहाँ निपातन से इस 'प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण (ई) का २।२१ से 'अन्तःस्था' (य्) हो गया।

धिष्ण्येमे।"[क] **नू अन्यत्रा चित्**—दीर्घत्व निपातन से हुआ है—"नू अन्यत्रा चिदद्रिव.।"[ख] **पाद के आदि में नू इन्द्र**—पाद के आदि में वर्तमान ('नु' का) दीर्घत्व निपातन से हुआ है—"नू इन्द्र राये वरिवस्कृधी न.।"[ग] "पाद के आदि में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "यदिन्न्विन्द्र पृथिवी दशभुजि.।"[घ] **ऊत्यर्वाक्**—'प्रकृतिभाव' प्राप्त होने पर निपातन से 'अन्तःस्था' हो गया—"बर्हिषद पितर ऊत्यर्वाक्।"[ङ]

उदू अयान्रजेषितं धनर्चं
शतर्चसं दशोणये दशोण्ये।
यथोहिषे यथोचिषे दशोणिं
स्वरोदयं पिबा इमं रथोळ्ह ॥७१॥

सू० अ०—(ये भी निपातन से सिद्ध हैं)—'उदू अयान्', 'रजेषितम्', 'धनर्चम्', 'शतर्चसम्', 'दशोणये', 'दशोण्ये', 'यथोहिषे', 'यथोचिषे', 'दशोणिम्' 'स्वर'-वर्ण परे होने पर 'पिबा इमम्' (और) 'रथोळ्ह'।

उ० भा०—एतानि च यथागृहीतं भवन्ति। उदू अयान्—दीर्घत्वं निपात्यते, सन्धिस्तु पदेऽदृष्टस्य न भवति—"उदू अयाँ उपवक्तेव बाहू।"[1] अयान् इति किम्? "उद्वेति सुभगः।"[2] रजेषितम्—विसर्जनीयस्य प्रश्लेषो निपात्यते। "अश्वेषितं रजेषितम्।"[3] धनर्चम्—उत्तरपदादिलोप—"हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम्।"[4] शतर्चसम्—तुल्यं निपातनम्—"वि चक्रमे शतर्चसं महित्वा।"[5] दशोणये—अत्र पञ्चस्वौकारे प्राप्त ओकारो

टि० (क) आऽविवासन्। रोदसी इति। धिष्ण्ये इति। इमे इति॥ प० पा०

'धिष्ण्ये' का एकार २।२७ से 'प्रगृह्य' है। २।५२ के अनुसार 'धिष्ण्ये' के 'एकार' को 'प्रकृतिभाव' से रहना चाहिए किंतु ऐसा न होकर यहाँ निपातन से 'इमे' के इकार का लोप हो गया जिससे 'धिष्ण्ये+मे'='धिष्ण्येमे' रूप सम्पन्न हो गया। अथवा पदान्त (एकार) और पदादि (इकार)—ये दोनों-मिलकर एकार हो गए हैं जिससे 'धिष्ण्ये+इमे'='धिष्ण्येमे' रूप सम्पन्न हो गया है।

(ख) नु। अन्यत्र। चित्। अद्रिऽव.॥ प० पा०

(ग) नु। इन्द्र। राये। वरिव.। कृधि। नः॥ प० पा०

(घ) यत्। इत्। नु। इन्द्र। पृथिवी। दशऽभुजिः॥ प० पा०

पाद के आदि में वर्तमान न होने के कारण 'नु' 'दीर्घ' नहीं हुआ अपितु २।२१ के अनुसार यहाँ 'क्षैप्र' संधि हो गई।

(ङ) बर्हिऽसदः। पितरः। ऊती। अर्वाक्॥ प० पा०

२।५९ के अनुसार यहाँ 'ऊती' को 'प्रकृतिभाव' से रहना चाहिए किंतु 'प्रकृतिभाव' प्राप्त होने पर यहाँ निपातन से 'ई' का २।२१ से 'अन्तःस्था' (य्) हो गया।

---

[1] ऋ० ६।७१।५ [2] ऋ० ७।६३।१ [3] ऋ० ८।४६।२८
[4] ऋ० १०।४६।५ [5] ऋ० ७।१००।३

निपात्यते—"दशोणये कवयेऽर्कसातौ ।"[१] दशोण्ये—"दशशिप्रे दशोण्ये ।"[२] यथोहिषे—"वाचं दूतो यथोहिषे ।"[३] यथोचिषे—"पिबा दधृग्यथोचिषे ।"[४] दशोणिम्—"स वेतसुं दशमायं दशोणिम् ।"[५] स्वरोदयं पिबा इमम्—द्वैपदमेतद्यथागृहीतं भवति—"इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः ।"[६] स्वरोदयम् इति किम् ? "इन्द्र सोम सोमपते पिबेमं माध्यंदिनम् ।"[७] रथोळ्ह—औकारे प्राप्त ओकारो निपात्यते—"एनोत तुभ्यं रथोळ्ह भक्षैः ॥"[८]

उ० भा० अ०—ये भी जैसे (सूत्र म) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) मिलते हैं। उदू अयान्—(उकार का) दीर्घत्व निपातन से होता है, (दीर्घ होने के अनन्तर ऊकार की परवर्ती अकार के साथ 'क्षैप्र') संधि तो नहीं होती (क्योकि ऊकार) पद-पाठ में दिखलाई नहीं देता है (संधि तो पद-पाठ में दिखलाई देने वाले वर्ण की होती है)—(उदाहरण) "उदू अयाँ उपवक्तेव बाहू ।"[क] "अयान्"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "उद्वेति सुभग. ।'[ख] रजेषितम्—विसर्जनीय का 'प्रश्लेष' निपातन से होता है—"अश्वेषित रजेषितम् ।" [ग]धनर्चम्—उत्तर-पद के आदि (वर्ण) का लोप (निपातन से) हुआ है—"हिरिश्मश्रु नार्वाण धनर्चम् ।"[घ] शतर्चसम्—(पूर्ववर्ती के) तुल्य (ही यहाँ भी) निपातन है (अर्थात् 'धनर्चम्' के समान 'शतर्चसम्' में भी उत्तर-पद के आदि वर्ण-अकार-का लोप निपातन से हुआ है—"वि चक्रमे शतर्चस महित्वा ।"[ङ] दशोणये—(इससे प्रारम्भ होने वाले) इन पाँच में (२।११ के अनुसार) औकार प्राप्त होने पर निपातन से ओकार होता है—(जैसे) "दशोणये कवयेऽर्कसातौ ।"[च] दशोण्ये—"दशशिप्रे दशोण्ये ।"[छ] यथोहिषे—' वाच दूतो यथोहिषे ।"[ज] यथोचिषे—"पिबा दधृग्यथोचिषे ।"[झ] दशोणिम्—"स वेतसु दशमाय दशोणिम् ।"[ञ] स्वर-वर्ण बाद में हो तो पिबा इमम्—यह द्वैपद जैसा (सूत्र में) उल्लिखित है वैसा

टि० (क) उत् । ऊँ इति । अयान् । उपवक्ताऽइव । बाहू इति ॥ प० पा०

(ख) उत् । ऊँ इति । एति । सुऽभग. ॥ प० पा०
उकार के बाद में 'अयान्' न होने से उकार 'दीर्घ' न होकर २।२१ से 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त हो गया ।

(ग) अश्वऽइषितम् । रज.ऽइषितम् ॥ प० पा०

(घ) हिरिऽश्मश्रुम् । न । अर्वाणम् । धनऽअर्चम् ॥ प० पा०

(ङ) वि । चक्रमे । शतऽअर्चसम् । महिऽत्वा ॥ प० पा०

(च) दशऽओणये । कवये । अर्कऽसातौ ॥ प० पा०

(छ) दशऽशिप्रे । दशऽओण्ये ॥ प० पा०

(ज) वाचम् । दूत. । यथा । ओहिषे ॥ प० पा०

(झ) पिब । दधृक् । यथा । ओचिषे ॥ प० पा०

(ञ) स. । वेतसुम् । दशऽमायम् । दशऽओणिम् ॥ प० पा०

---

१ ऋ० ६।२०।४ २ ऋ० ८।५२।२ ३ ऋ० ८।५।३
४ ऋ० ८।८२।२ ५ ऋ० ६।२०।८ ६ ऋ० ८।१७।१
७ ऋ० ३।३२।१ ८ ऋ० १०।१४८।२

(सहिता-पाठ में) मिलता है—(जैसे) "इन्द्र सोम पिवा इमम् । एदं बर्हिः ।"[क] " 'स्वर'-वर्ण बाद में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "इन्द्र सोमं सोमपते पिवेमं माध्यदिनम् ।"[ख] रथोळ्ह—(२।१९ के अनुसार) औकार प्राप्त होने पर ओकार निपातन से होता है—(जैसे) "एनोत तुभ्य रथोळ्ह भक्षं. ।"[ग]

वीरास एतन तमू अक्रुण्वं-
स्ततारेव प्रैषयू रोदसी मे ।
धन्वर्णसः सरपसः सचोत
प्रधीव वीळू उत सर्तवाजौ ॥७२॥

सू० अ०—(ये द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं) 'वीरास एतन', 'तमू अक्रुण्वन्', 'ततारेव', 'प्रैषयुः', रोदसीमे', 'धन्वर्णसः', 'सरपसः', सचोत', 'प्रधीव', 'वीळू उत' (और) 'सर्तवाजौ'।

उ० भा०—एतानि द्वैपदानि यथागृहीतं भवन्ति । वीरास एतन—"परा वीरास एतन"[1]—इकारस्य एत्व निपात्यते। तमू अक्रुण्वन्—दीर्घत्व निपात्यते—"तमू अक्रुण्वन्त्रेधा भुवे कम् ।"[2] अक्रुण्वन् इति किम् ? "तम्वभि प्र गायत ।"[3] ततारेव—"एकारौकार-परौ च कण्ठ्यौ"[4] इति सचादिविवृत्तिप्रतिषेध एत्व च— "एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेव ।"[5] प्रैषयुः—एकारे प्राप्त ऐकारः—"प्रैषयुर्न विद्वान् ।"[6] रोदसीमे—प्रगृह्यसधेरपवादः प्रश्लेषः—"अन्तर्मही बृहती रोदसीमे ।"[7] धन्वर्णसः—पद्यादेरकारलोप दीर्घस्य वा ह्रस्वः—"धन्वर्णसो नद्यः खादोअर्णाः ।"[8] सरपसः—पद्यादिलोपो ह्रस्वत्वं वा निपात्यते—"अरमयः सरपसस्तराय कम ।"[9] सचोत—सचादिविवृत्तेः प्रतिषेधः— "स्वस्ति धामहे सचोतैधि ।"[10] प्रधीव—प्रगृह्यस्य प्रश्लेषः—"नभ्येव न उपधीव प्रधीव ।"[11] वीळू उत—दीर्घत्वं निपात्यते—"वीळू उत प्रतिष्कभे ।"[12] सर्तवाजौ—प्रश्लेषो निपात्यते—"अत्यांइव प्रासृजः सर्तवाजौ ॥"[13]

टि० (क) इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् । आ । इदम् । बर्हिः ॥ प० पा०

(ख) इन्द्र । सोमम् । सोमऽपते । पिब । इमम् । माध्यंदिनम् ॥ प० पा०

बाद में 'स्वर'-वर्ण न होने के कारण 'पिब' और 'इमम्' की 'प्रश्लिष्ट' सधि हो गई ।

(ग) एना । उत । तुभ्यम् । रथऽओळ्ह । भक्षं ॥ प० पा०

---

[1] ऋ० ५।६१।४ [2] ऋ० १०।८८।१० [3] ऋ० ८।१५।१
[4] २।६२ [5] ऋ० ७।३३।३ [6] ऋ० १।१२०।५
[7] ऋ० ७।८७।२ [8] ऋ० ५।४५।२ [9] ऋ० २।१३।१२
[10] ऋ० ५।१६।५ [11] ऋ० २।३९।४
[12] ऋ० १।३९।२ [13] ऋ० ३।३२।६

उ० भा० अ०—ये द्रुपद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) मिलते हैं। **वीरास एतन**—"परा वीरास एतन"[क]—इकार का एकार निपातन से हुआ है। **तमू अकृण्वन्**—(उकार का) दीर्घत्व निपातन से हुआ—"तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कम्।"[ख] "अकृण्वन्"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "तम्वभि प्र गायत।"[ग] **ततारेव**—"एकार और ओकार परे हों तो 'कण्ठ्य' (=अकार और आकार) ('प्रकृतिभाव' से रहते हैं)" से प्राप्त 'सचादिविवृत्ति' का प्रतिषेध और (अकार और एकार की 'प्रश्लिष्ट' संधि होने पर) 'ए' हो जाना (ये दोनों निपातन से हुए हैं)—(जैसे) "एवेन्नु क सिन्धुमेभिस्ततारेव।"[घ] **प्रैषयुः**—एकार प्राप्त होने पर ऐकार (निपातन से हो गया)—(जैसे) "प्रैषयुर्न विद्वान्।"[ङ] **रोदसीमे**—निपातन से (यहाँ पर) प्रश्लेष' 'प्रगृह्य' संधि का अपवाद है—(जैसे) "अन्तर्मही बृहती रोदसीमे।"[च] **धन्वर्णसः**—'पद' के आदि अकार का लोप अथवा 'दीर्घ' (आकार) का 'ह्रस्व' (अकार) निपातन से हुआ है—"धन्वर्णसो नद्य खादोअर्णाः।"[छ] **सरपसः**—'पद' के आदि (अकार) का लोप अथवा (आकार का) ह्रस्वत्व निपातन से होता है—"अरमय सरपसस्तराय कम्।"[ज] **सचोत**—(२।६० से प्राप्त) 'सचादिविवृत्ति' का प्रतिषेध (निपातन से हुआ है) ('विवृत्ति' का लोप होने पर 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई)—(जैसे) "स्वस्ति धामहे सचोतैधि।"[झ] **प्रधीव**—'प्रगृह्य' ('स्वर'-वर्ण) का 'प्रश्लेष' (निपातन से हो गया)—(जैसे) "नभ्येव न उपधीव प्रधीव।"[ञ] **वीळू उत**—(उकार का) दीर्घत्व निपातन से होता—(जैसे)

टि० (क) परा। वीरासः। इतन॥ प० पा०

(ख) तम्। ऊँ इति। अकृण्वन्। त्रेधा। भुवे। कम्॥ प० पा०

'तम्' के बाद में विद्यमान उकार 'ह्रस्व' है जो संहिता-पाठ में निपातन से 'दीर्घ' हो जाता है। पद-पाठ में उकार का जो 'दीर्घ' रूप दिखलाई दे रहा है उसके लिए १।७५ को देखिए।

(ग) तम्। ऊँ इति। अभि। प्र। गायत॥ प० पा०

यहाँ उकार के परे 'अकृण्वन्' नहीं है, अतः उकार निपातन से 'दीर्घ' नहीं हुआ। यहाँ २।२१ से 'क्षैप्र' संधि हो गई है।

(घ) एव। इत्। नु। कम्। सिन्धुम्। एभिः। ततार। एव॥ प० पा०

(ङ) प्र। इषऽयुः। न। विद्वान्॥ प० पा०

(च) अन्तः। मही इति। बृहती इति। रोदसी इति। इमे इति॥ प० पा०

(छ) धन्वऽअर्णसः। नद्यः। खादःऽअर्णाः॥ प० पा०

निपातन से या तो उत्तर-'पद' ('अर्णसः') के अकार का लोप होकर या आकार ("धन्व+अर्णसः=धन्वार्णसः") का अकार होकर यह रूप ('धन्वर्णसः') निष्पन्न हुआ है।

(ज) अरमयः। सरःऽअपसः। तराय। कम्॥ प० पा०

(झ) स्वस्ति। धामहे। सचा। उत। एधि॥ प० पा०

(ञ) नभ्याऽइव। न। उपधी इवेत्युपधीऽइव। प्रधी इवेति प्रधीऽइव॥ प० पा०

'प्रधी' का ईकार १।७१ से 'प्रगृह्य' है जिसे २।५२ के अनुसार 'प्रकृतिभाव' से रहना चाहिए किंतु निपातन से यहाँ 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई। 'उपधीव' में जो 'प्रश्लिष्ट' संधि हुई है उसके लिए २।५५ को देखिए।

"वीळू उत प्रतिष्कभे।"[क] सर्तवाजौ—'प्रश्लेष' निपातन से होता है—(जैसे) "अत्यां इव प्रासृजः सर्तवाजौ।"[ख]

अश्विनेव पीवोपवसनानां
महो आदित्याँ उषसामिवेतयः ॥
स्तोतव अम्ब्यं च सृजा इयध्यै
सचेन्द्र सानो अव्यये स्वधामिता ॥७३॥

सू० अ०—(ये पद भी निपातन से सिद्ध हैं)–'अश्विनेव', 'पीवोपवसनानाम्', 'महो आदित्यान्', 'उषसामिवेतयः', 'स्तोतव अम्ब्यम्', 'सृजा इयध्यै', 'सचेन्द्र', 'सानो अव्यये' (और) 'स्वधामिता'।

उ० भा० एतानि च पदानि यथागृहीतं भवन्ति। अश्विनेव—सचादिविवृत्तेः प्रतिषेध एत्वं च—"यद्वा वाणीभिरश्विनेवेत्।"[1] पीवोपवसनानाम्—विसर्जनीयस्य लोप प्रश्लेषश्च निपात्यते—"अग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानाम्।"[2] महो आदित्यान्—अकारस्य ओत्वम्– "महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये।"[3] उषसामिवेतयः—ऐकारे प्राप्त एकारो निपात्यते—"आ ते चिकित्र उषसामिवेतयः।"[4] स्तोतव अम्ब्यं च अभिनिहिताभाव एकारस्य च अत्वम्—"वेति स्तोतव अम्ब्यम्।"[5] सृजा इयध्यै– आकारो निपात्यते– "मातुर्न सीमुप सृजा इयध्यै।"[6] सचेन्द्र–सचादिविवृत्तेः प्रतिषेध—'ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र।"[7] सानो अव्यये-औकारस्य ओत्व निपात्यते—"वृषा पवित्रे अधि सानो अव्यये।"[8] स्वधामिता श्रद्धादिपाठात्प्रकृतिभावे प्राप्ते प्रश्लेषो निपात्यते—"अनु स्वधामिता दस्ममीयते॥"[9]

उ० भा० अ०—ये पद भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) मिलते हैं। अश्विनेव—(२।६२ से प्राप्त) 'सचादिविवृत्ति' का प्रतिषेध और (आकार तथा एकार की संधि होने पर) एकार (होना) (ये दोनों निपातन से होते हैं)—(जैसे) "यद्वा वाणीभिरश्विनेवेत्।"[ग] पीवोपवसनानाम्—विसर्जनीय का लोप और 'प्रश्लेष' निपातन से होता है—(जैसे) "अग्निष्वात्ताना पीवोपवसनानाम्।" महो आदित्यान्—

टि० (क) वीळु। उत। प्रतिऽस्कभे॥ प० पा०
(ख) अत्यान्ऽइव। प्र। असृजः। सर्तवै। आजौ॥ प० पा०
२।२५ के अनुसार 'सर्तवै' का ऐकार आकार हो जाता है। पद-पाठ में अदृष्ट होने के कारण अब इस अकार की परवर्ती आकार के साथ संधि नहीं होनी चाहिए किंतु निपातन से 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई।
(ग) यत्। वा। वाणिभि। अश्विना। एव। इत्॥ प० पा०

[1] ऋ० ८।९।९ [2] वा० सं० २१।४३ [3] ऋ० १०।६३।५
[4] ऋ० १०।९१।४ [5] ऋ० ८।७२।५ [6] ऋ० ६।२०।८
[7] ऋ० १।१०।४ [8] ऋ० ९।८६।३ [9] ऋ० ५।३४।१

अकार का ओकार (निपातन से होता है)—(जैसे) "महो आदित्यां अदितिं स्वस्तये।"क उषसामिवेतयः –ऐकार प्राप्त होने पर निपातन से एकार होना है—(जैसे) "आ ते चिकित्र उषसामिवेतय ।"ख स्तोतव अम्व्यं च—(२।३७ से प्राप्त) 'अभिनिहित' संधि का अभाव और एकार का अकार (ये दोनो कार्य निपातन से होवे हैं)—(जैसे) "वेति स्तोतव अम्व्यम्।"ग सृजा इयध्यै—(अकार का) आकार निपातन से होता है—(जैसे) "मातुर्न सीमुप सृजा इयध्यै।"घ सचेन्द्र –(२।६० से प्राप्त) 'सचादिविवृत्ति' का प्रतिषेध (निपातन से हुआ है)—(जैसे) "ब्रह्मा च नो वसो सचेन्द्र।"ङ सानो अव्यये—औकार का ओकार निपातन से होता है—(जैसे) "वृषा पवित्रे अधि सानो अव्यये।"च स्वधामिता—'श्रद्धा' आदि पदो (२।५९) में पाठ होने से 'प्रकृतिभाव' प्राप्त होने पर निपातन से 'प्रश्लेष' हो जाता है—(जैसे) "अन स्वधामिता दस्ममीयते।"छ

गोओपशागोऋजीकप्रवादौ
मनीषा आ त्वा पृथिवी उत द्यौः ।
मनीषावस्यू रणया इहाव
बृहतीइवेति च यथागृहीतम् ॥७४॥

सू० अ०—(ये भी निपातन से सिद्ध हैं)—'गोओपशा', 'गोऋजीक'—किसी भी लिङ्ग और कारक मे, 'मनीषा आ त्वा', 'पृथिवी उत द्यौः', 'मनीषावस्युः', 'रणया इह', 'आव' (और) 'बृहती इव'।

उ० भा०—इति=एतानि; च पदानि यथागृहीतं भवन्ति। इतिकरणः समाप्तिवचनः। चकारः समुच्चयार्थीय। गोओपशा गोऋजीक इत्युभयोः प्रकृतिभावो निपात्यते। प्रवादवचनाल्लिङ्गविभक्तेरनुपलक्षणम्। गोओपशा—"या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे।"[1] गोऋजीकः—"असावि देवं गोऋजीकमन्धः"[2], "इमा हि वां गोऋजीका मधूनि।"[3] मनीषा आ त्वा—प्रकृतिभावः—"कद्वाहो अर्वागुप आ मनीषा आ त्वा।"[4] पृथिवी उत

टि० (क) मह। आदित्यान्। अदितिम्। स्वस्तये॥ प० पा०
२।२७ से उपधासहित विसर्जनीय अकार को प्राप्त हो जाता है जिससे यह रूप निष्पन्न होता है—'मह आदित्यान्।" अब निपातन से अकार का ओकार हो जाता है जिससे 'महो आदित्यान्" रूप निष्पन्न होता है।

(ख) आ। ते। चिकित्रे। उषसाम्ऽइव। एतय॥ प० पा०
(ग) वेति। स्तोतवे। अम्व्यम्॥ प० पा०
(घ) मातु। न। सीम्। उप। सृज। इयध्यै॥ प० पा०
(ङ) ब्रह्मा। च। न। वसो इति। सचा। इन्द्र॥ प० पा०
(च) वृषा। पवित्रे। अधि। सानौ। अव्यये॥ प० पा०
(छ) अनु। स्वधा। अमिता। दस्मम्। ईयते॥ प० पा०

[1] ऋ० ६।५३।९ [2] ऋ० ७।२१।१ [3] ऋ० ३।५८।४
[4] ऋ० १०।२९।३

द्यौः -प्रकृतिभावः—"अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।"[१] द्यौः इति किम् ? मनीषावस्युः—श्रद्धादिपाठात्प्रकृतिभावे प्राप्ते प्रश्लेषो निपातनात्—"प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे ।"[२] रणया इह—दीर्घत्वं निपात्यते—"उक्थेषु रणया इह ।"[३] आव —सचादिविवृत्तेः प्रतिषेधः -"कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव ।"[४] बृहतीइव—प्रगृह्य-लक्षणतः प्रश्लेषे प्राप्ते प्रकृतिभावः—"बृहतीइव सूनवे रोदसी ।"[५] यथागृहीतग्रहणं च काकाक्षिवदुभयत्र संबध्यतेऽधस्ताच्चोपरिष्टाच्च ॥

उ० भा० अ०—इति=य, च=भी, पद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं (वैसे ही संहिता-पाठ में उपलब्ध होते हैं)। इति-शब्द समाप्ति का वाचक है।[क] च-शब्द समुच्चय अर्थ में है। 'गोओपशा' और 'गोऋजीक' इन दोनो का 'प्रकृतिभाव' निपातन से होना है। प्रवाद-शब्द के प्रयोग से (यह बतलाया गया है कि) लिङ्ग और विभक्ति की ओर ध्यान नही देना है।[ख] गोओपशा—"या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे।"[ग] गोऋजीकः —'असावि देव गोऋजीकमन्ध"[घ]; "इमा हि वा गोऋजीका मधूनि।"[ङ] मनीषा आ त्वा—(निपातन से) 'प्रकृतिभाव' (हुआ है)—"कद्वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा।"[च] पृथिवी उत द्यौः—(निपातन से) 'प्रकृतिभाव' (हुआ है)—'अदिति सिन्धुः पृथिवी उत द्यौ।"[छ] द्यौः—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? ·· ····।[ज] मनीषावस्युः—'श्रद्धा' आदि पदो (२।५९) में पाठ होने के कारण 'प्रकृतिभाव' प्राप्त होने पर 'प्रश्लिष्ट'

टि० (क) इस सूत्र के साथ ही वे स्थल समाप्त हो गये हैं जहाँ निपातन से पद के अन्त में कार्य होता है। अब इस सूत्र के बाद में सूत्रकार उन स्थलो को उद्धृत करेंगे जहाँ निपातन से पद के आदि में कार्य होता है।

(ख) यत 'गोओपशा' पद ऋग्वेद-संहिता में केवल एक बार आया है, अत इसके साथ 'प्रवाद' का सम्बन्ध करना अनावश्यक है।

(ग) या। ते। अष्ट्रा। गोऽओपशा। आघृणे॥ प० पा०

(घ) असावि। देवम्। गोऽऋजीकम्। अन्ध ॥ प० पा०

(ङ) इमा। हि। वाम्। गोऽऋजीका। मधूनि॥ प० पा०

उपर्युक्त तीनों स्थलो पर २।२८ और २।३१ से 'भुग्न' संधि प्राप्त होने पर निपातन से 'प्रकृतिभाव' हो गया।

(च) कत्। वाह॰। अर्वाक्। उप। मा। मनीषा। आ। त्वा॥ प० पा०

(छ) अदिति। सिन्धु.। पृथिवी। उत। द्यौः॥ प० पा०

(ज) 'द्यौ' आदि अनेक पदो के प्रत्युदाहरण भाष्यकार ने प्रस्तुत नही किये है। तब इन पदो को सूत्रो में ग्रहण क्यों किया गया है ? इसका समाधान भाष्यकार ने २।७७ के भाष्य के बाद में दिया है। उनका कहना है कि जिन विशेषण पदो के उदाहरण नही मिलते हैं उनके ग्रहण का प्रयोजन है—छन्द. की पूर्ति करना।

---

[१] ऋ० १।९४।१६ [२] ऋ० ३।३३।५ [३] ऋ० ८।३४।११

[४] ऋ० १०।१०५।१ [५] ऋ० १।५९।४

सधि निपातन से होती है—(जैसे) "प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे।"[क] रणया इह—दीर्घत्व निपातन से होता है - (जैसे) "उक्थेषु रणया इह।"[ख] आव—(२।६१ से प्राप्त) 'सचादिविवृत्ति' का (निपातन से) प्रतिषेध हो जाता है—(जैसे) "कदा वसो स्तोत्र हर्यत आव।"[ग] बृहतीइव—'प्रगृह्य' के नियम से 'प्रश्लिष्ट' सधि प्राप्त होने पर (निपातन से) 'प्रकृतिभाव' हो जाता है—(जैसे) "बृहतीइव सूनवे रोदसी।"[घ] 'यथागृहीत' शब्द काक की अक्षि के समान आगे वाले और पीछे वाले-दोनो ओर के-(सूत्रो) से सम्बद्ध होता है।[ङ]

योनिमारैगगादारैग्दुर्योण आवृणक्।
हन्त्यासद्रुप आरुपितमनायुधास आसता ॥७५॥

सू० अ०—(ये पद भी निपातन से सिद्ध हैं) 'योनिमारैक्', 'अगादारैक्', 'आरैक्', दुर्योण आवृणक्', 'हन्त्यासत्', 'रुप आरुपितम्' (और) 'अनायुधास आसता'।

उ०भा०—योनिमारैक्, अगादारैक्, आरैक्, दुर्योण आवृणक्, हन्त्यासत्, रुप आरुपितम्, अनायुधास आसता—एतानि च पदानि यथागृहीत भवन्ति।

योनिमारैक्—"स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैक्।"[१] योनिग्रहण किम्? अगादारैक्—"रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैक्।"[२] आरैक्—निर्विशेषेणोपादानमर्थवादि-ज्ञापनार्थम्—"आरैक्पन्थां यातवे सूर्याय।"[३] दुर्योण आवृणक्—"नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचम्।"[४] दुर्योण इति किम्? "वज्रेण हत्व्यवृणक्तुविष्वणिः।"[५] हन्त्यासत्—"हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वयन्तम्।"[६] हन्ति इति किम्? "असत्सु मे जरितः।"[७] रुप आरुपितम्—"अग्रे रुप आरुपित जबारु।"[८] रुप इति किम्? अनायुधास आसता—"अनायुधास आसता सचन्ताम्।"[९] अनायुधास इति किम्?

टि० (क) प्र। सिन्धुम्। अच्छ। बृहती। मनीषा। अवस्युः। अह्वे॥ प० पा०

(ख) उक्थेषु। रणय। इह॥ प० पा०

(ग) कदा। वसो इति। स्तोत्रम्। हर्यते। आ। अव॥ प० पा०

(घ) बृहती इवेति बृहतीऽइव। सूनवे। रोदसी इति॥ प० पा०

२।५५ के अनुसार तीन अक्षरो वाले 'प्रगृह्य' पद 'बृहती' का ईकार, 'इव' परे रहते, आर्षी सहिता में 'प्रकृतिभाव' से नही रहना चाहिए किंतु प्रकृत स्थल पर निपातन से यह ईकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है जिससे यहाँ नियमानुसार प्राप्त 'प्रश्लिष्ट' सधि नही होती।

(ङ) जिस प्रकार कौवे की एक ही आँख आवश्यकतानुसार दोनो ओर के पदार्थों को देखती है, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित 'यथागृहीत' पद का सम्बन्ध इस सूत्र से पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक सूत्रो के साथ है।

[१] ऋ० १।१२४।८ [२] ऋ० १।११३।२ [३] ऋ० १।११३।१६
[४] ऋ० ५।३२।८ [५] ऋ० २।११।६ [६] ऋ० ७।१०४।१३
[७] ऋ० १०।२७।१ [८] ऋ० ४।५।७ [९] ऋ० ४।५।१४

उ० भा० अ०—**योनिमारैक्, अगादारैक्, आरैक्, दुर्योण आवृणक्, हन्त्यासत्, रुप आरुपितम्, अनायुधास आसता**—ये भी पद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित है वैसे ही (संहिता-पाठ में) होते है।

योनिमारैक्—"स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैक्।"[क] **योनि**-शब्द को (सूत्र में) क्यो (कहा) ? । **अगादारैक्**—'रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैक्।"[ख] **आरैक्**—विना विशेषण के जो ('आरैक्' पद का) ग्रहण किया गया है वह अर्धर्च के आदि को बतलाने के लिए (किया गया है) (तात्पर्य यह है कि अर्धर्च के आदि मे जो 'अरैक्' पद होता है वह भी 'आरैक्' हो जाता है)—(जैसे) "आरैक्पन्त्या यातवे सूर्याय।"[ग] **दुर्योण आवृणक्**—"नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचम्।"[घ] **दुर्योणे**—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "वज्रेण हत्व्यवृणक्तुविष्वणि।"[ङ] **हन्त्यासत्**—"हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तम्।"[च] **हन्ति**-यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) 'असन्सु मे जरित।"[छ] **रुप आरुपितम्**—"अग्रे रुप आरुपित जवारु।"[ज] **रुपः**—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? . . । **अनायुधास आसता**—"अनायुधास आसता सचन्ताम्।"[झ] **अनायुधासः**—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ?. . . ।

अस्त्वासतो निराविध्यदभ्यादेवं क आसतः ।
न्यावृणङ् नकिरादेवो न्याविध्यदेनमायुनक् ।।७६।।

सू० अ०—(ये पद भी निपातन से सिद्ध हैं) 'अस्त्वासतः', 'निराविध्यत्', 'अभ्यादेवम्', 'क आसतः', 'न्यावृणक्', 'नकिरादेवः', 'न्याविध्यत्' (और) 'एनमायुनक्'।

टि० (क) स्वसा। स्वस्रे। ज्यायस्यै। योनिम्। अरैक्॥ प० पा०

(ख) रुशत्ऽवत्सा। रुशती। श्वेत्या। आ। अगात्। अरैक्॥ प० पा०

(ग) अरैक्। पन्थाम्। यातवे। सूर्याय॥ प० पा०

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में 'अरैक्' निपातन से 'आरैक्' हो गया।

(घ) नि। दुर्योणे। अवृणक्। मृध्रऽवाचम्॥ प० पा०

(ङ) वज्रेण। हत्वी। अवृणक्। तुविऽस्वनि.॥ प० पा०

उदाहरण में 'अवृणक्' पद निपातन से आवृणक्' हो गया। प्रत्युदाहरण में 'अवृणक्' पद 'आवृणक्' नही हुआ क्योकि इसके पूर्व में 'दुर्योणे' पद नही है।

(च) हन्ति। रक्षः। हन्ति। असत्। वदन्तम्॥ प० पा०

(छ) असत्। सु। मे। जरितरिति॥ प० पा०

उदाहरण में 'असत्' पद निपातन से 'आसत्' हो गया। प्रत्युदाहरण में 'असत्' पद 'आसत्' नही हुआ क्योकि इसके पूर्व में 'हन्ति' पद नही है।

(ज) अग्रे। रुप। अरुपितम्। जवारु॥ पा० पा०

'अरुपितम्' पद निपातन से 'आरुपितम्' हो गया।

(झ) अनयुधास। असता। सचन्ताम्॥ प० पा०

'असता' निपातन से 'आसता' हो गया।

उ० भा०—एतानि च पदानि यथागृहीतानि भवन्ति। अस्त्वासतः—"असन्नस्त्वासतः इन्द्र वक्ता।"[१] अस्तु इति किम्? "देवानां पूर्व्ये युगेऽसत."[२], "सतश्च योनिमसतश्च वि वः।"[३] निराविध्यत्—"निराविध्यद्गिरिभ्य आ।"[४] निः इति किम्? अभ्यादेवम्—"भुवद्विश्वमभ्यादेवमोजसा।"[५] अभि इति किम्? 'सनेमि त्वमस्मदा अदेवम्।"[६] क आसतः—"क आसतो वचसः सन्ति गोपा।"[७] के इति किम्? "सतश्च योनिमसतश्च वि वः।"[८] न्यावृणक्—"इन्द्रो यः शुष्णमशुषं न्यावृणक्।"[९] नि इति किम्? "वज्रेण हत्व्यवृणक्।"[१०] नकिरादेवः—"ययो. शत्रुर्नकिरादेव ओहते।"[११] नकिः इति किम्? "अदेवो यदभ्यौहिष्ट।"[१२] न्याविध्यत्—"न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा।"[१३] नि इति किम्? एनमायुनक्—"यमेन दत्तं त्रित एनमायुनक्।[१४] एनम् इति किम्? "अयं रथमयुनक्सप्तरश्मिम्॥"[१५]

उ० भा० अ०—ये भी पद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) मिलते हैं। अस्त्वासतः—"असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता।"[क] अस्तु—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "देवाना पूर्व्ये युगेऽसत"[ख]; "सतश्च योनिमसतश्च वि व।" निराविध्यत्—"निराविध्यद्गिरिभ्य आ।"[ग] निः—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? । अभ्यादेवम्—"भुवद्विश्वमभ्यादेवमोजसा।"[घ] अभि—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "सनेमि त्वमस्मदा अदेवम्।"[ङ] आसतः—"क आसतो वचस सन्ति गोपा।"[च] के—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? "सतश्च योनिमसतश्च वि व।" न्यावृणक्—'इन्द्रो य शुष्णमशुष न्यावृणक्।"[छ] नि—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "वज्रेण हत्व्यवृणक्।"[ज] नकिरादेवः—"ययो शत्रुर्नकिरादेव ओहते।"[झ] नकिः—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)?

टि० (क) असन्। अस्तु। असत। इन्द्र। वक्ता॥ प० पा०

(ख) देवानाम्। पूर्व्ये। युगे। असत॥ प० पा०

उदाहरण में 'असत' पद निपातन से 'आसत' हो गया। प्रत्युदाहरण में 'असत' पद 'आसत' नही हुआ क्योंकि इसके पूर्व में 'अस्तु' नही है।

(ग) नि। अविध्यत्। गिरिऽभ्य। आ॥ प० पा०

(घ) भुवत्। विश्वम्। अभि। अदेवम्। ओजसा॥ प० पा०

(ङ) सनेमि। त्वम्। अस्मत्। आ। अदेवम्॥ प० पा०

(च) के। असत। वचस। सन्ति। गोपा॥ प० पा०

(छ) इन्द्र। य। शुष्णम्। अशुषम्। नि। अवृणक्॥ प० पा०

(ज) वज्रेण। हत्वी। अवृणक्॥ प० पा०

(झ) ययो। शत्रु। नकि। अदेव। ओहते॥ प० पा०

---

१ ऋ० ७।१०४।८ २ ऋ० १०।७२।२ ३ आ० श्रौ० ४।६।३
४ ऋ० ८।७७।६ ५ ऋ० २।२२।४ ६ ऋ० ९।१०५।६
७ ऋ० ५।१२।४ ८ आ० श्रौ० ४।६।३ ९ ऋ० १।१०१।२
१० ऋ० २।१७।६ ११ ऋ० ८।५९।२ १२ ऋ० ६।१७।८
१३ ऋ० १।३३।१२ १४ ऋ० १।१६३।२ १५ ऋ० ६।४४।२४

(उत्तर) "अदेवो यदभ्यौहिष्ट ।"[क] न्याविध्यत्—"न्याविध्यदिलीविशस्य दृळ्हा ।"[ख] नि-यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ?…… ……। एनमायुनक्—"यमेन दत्त त्रित एनमायुनक् ।"[ग] एनम्-यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अयं रथमयुनक्सप्तरश्मिम् ।[घ]

अहिहन्नारिणक्पथ आयुक्षातामुदावता ।
रिक्थमारैग्य आयुक्त कुरु श्रवणमावृणि ॥७७॥

सू० अ०—(ये पद भी निपातन से सिद्ध हैं) 'अहिहन्नारिणक्पथः', 'आयुक्षाताम्', 'उदावता', रिक्थमारैक्', 'य आयुक्त' (और) 'कुरुश्रवणमावृणि'।

उ० भा०—एतानि च पदानि यथागृहीतानि भवन्ति। अहिहन्नारिणक्पथः—"यो धीतीनामहिहन्नारिणक्पथः ।"[१-ङ] अहिहन् इति किम् ? । आयुक्षाताम्—आयुक्षातामश्विना यातवे रथम् ।"[२-च] उदावता—"उदावता त्वक्षसा पन्यसा च ।"[३-छ] रिक्थमारैक्—"न जामय तान्वो रिक्थमारैक् ।"[६-ज] रिक्थम् इति किम् ? य आयुक्त—"य आयुक्त तुजा गिरा"[४-झ] य इति किम् ? "अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः ।"[१-ञ] कुरुश्रवणमावृणि—"कुरुश्रवणमावृणि राजानम् ॥"[७-ट]

उ० भा० अ०—ये भी पद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) मिलते हैं।…………।

उ० भा०—अत्र येषां विशेषणपदानामुदाहरणानि न विद्यन्ते तेषां छन्दःपरिपूर्ति फलम्। योनिमारैगित्यादीनि यानि पदानि तेषु दीर्घत्वमादिस्वरस्य निपात्यते ॥

उ० भा० अ०—यहाँ (अर्थात् पूर्वोक्त सूक्तों में) जिन विशेषण-पदों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं, उनका फल छन्द की पूर्ति करना है (अर्थात् वे पद सूत्रों के छन्द की पूर्ति के

टि० (क) अदेव । यत् । अभि । औहिष्ट ॥ प० पा०
(ख) नि । अविध्यत् । इलीविशस्य । दृळ्हा ॥ प० पा०
(ग) यमेन । दत्तम् । त्रित । एनम् । अयुनक् ॥ प० पा०
(घ) अयम् । रथम् । अयुनक् । सप्तऽरश्मिम् ॥ प० पा०
(ङ) य । धीतीनाम् । अहिऽहन् । अरिणक् । पथः ॥ प० पा०
(च) अयुक्षाताम् । अश्विना । यातवे । रथम् ॥ प० पा०
(छ) उत्ऽअवता । त्वक्षसा । पन्यसा । च ॥ प० पा०
(ज) न । जामये । तान्वः । रिक्थम् । अरैक् । प० पा०
(झ) य । अयुक्त । तुजा । गिरा ॥ प० पा०
(ञ) अयुक्त । सप्त । शुन्ध्युवः ॥ प० पा०
'य' पूर्व में होने के कारण उदाहरण में 'अयुक्त' का 'आयुक्त' हो गया जबकि 'य' पूर्व में न होने के कारण प्रत्युदाहरण में 'अयुक्त' का 'आयुक्त' नहीं हुआ है।
(ट) कुरुऽश्रवणम् । अवृणि । राजानम् ॥ प० पा०

[१] ऋ० २।१३।५ [२] ऋ० ८।१५७।१ [३] ऋ० ६।१८।९ [४] ऋ० ३।३५।२
[५] ऋ० ५।१७।३ [६] ऋ० १।५०।९ [७] ऋ० १०।३३।४

लिए सूत्रों में उल्लिखित है)। "योनिमारैक्" (२।७५) इत्यादि जो पद हैं उनमें (पद के) आदि 'स्वर'-वर्ण का दीर्घत्व निपातन से होता है।

(अनानुपूर्व्यसंहिताः)

शुनश्चिच्छेपं निदितं नरा वा शंसं पूषणम्।
नरा च शंसं दैव्यं ता अनानुपूर्व्यसंहिताः ॥७८॥

(अनानुपूर्व्यसंहिता)

सू० अ०—"शुनश्चिच्छेपं निदितम्", "नरा वा शंसं पूषणम्" (और) "नरा च शंसं दैव्यम्"—ये (पदों की) आनुपूर्वी (=क्रम) से संहितायें नहीं हैं (अर्थात् ऋग्वेद में ये तीन ऐसे स्थल हैं जहाँ पद-पाठ के क्रम से 'संहिता' नहीं हुई है)।

उ० भा०—शुनश्चिच्छेपं निदितम्—"शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्।"[१] नरा वा शंसं पूषणम्—"नरा वा शंसं पूषणमगोह्यम्।"[२] नरा च शंसं दैव्यम्—"नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि।"[३] ता अनानुपूर्व्यसंहिताः; नह्येतेषां त्रयाणां पदानुपूर्व्येण संहितास्ति। "संहिता पदप्रकृतिः"[४]; पदान्तान्पदादिभिः संदधदेति"[५] इत्यस्यापवादः। संज्ञाकरणप्रयोजनम्—"अनानुपूर्व्ये पदसन्ध्यदर्शनात्॥"[६]

उ० भा० अ०—शुनश्चिच्छेपं निदितम्—"शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्।"[क] नरा वा शंसं पूषणम्—'नरा वा शंसं पूषणमगोह्यम्।'[ख] नरा च शंसं दैव्यम्—"नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि।'[ग] ता अनानुपूर्व्यसंहिताः=ये 'अनानुपूर्व्य संहितायें' हैं क्योंकि इन तीनों में पदों की आनुपूर्वी (=क्रम) से 'संहिता' नहीं हुई है। "पद 'संहिता' की प्रकृति है (और) जो पदान्तों का पदादियों के साथ मेल संपादन करती है (वह संहिता' है)"—इस (नियम का) (ये संहितायें) अपवाद हैं। संज्ञा करने का प्रयोजन—"अनानुपूर्व्य 'संहिता' में पदों की संधि दिखलाई न पड़ने से।"

(दीर्घा विवृत्तयः)

यतो दीर्घस्ततो दीर्घा विवृत्तयः ॥७९॥

(दीर्घ विवृत्तियाँ)

सू० अ०—"जहाँ (कम से कम) एक 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) (होता है) (वहाँ) 'दीर्घ विवृत्तियाँ' (होती हैं)

टि० (क) शुनःऽशेपम्। चित्। निऽदितम्। सहस्रात्॥ प० पा०
(ख) नराशंसम्। वा। पूषणम्। अगोह्यम्॥ प० पा०
(ग) नराशंसम्। च। दैव्यम्। च। धर्तरि॥ प० पा०
उपर्युक्त तीनों स्थलों पर पदों के क्रम की अवहेलना करके 'संहिता' हुई है।

[१] ऋ० ५।२।७ [२] ऋ० १०।६४।३ [३] ऋ० ९।८६।४२
[४] २।१ [५] २।२ [६] ११।१३

उ० भा०—"स्वरान्तरं तु विवृत्तिः"[१] इत्युक्तम्। तत्र यतः; (दीर्घः=) दीर्घस्वरः; भवति पुरस्तात्पश्चादुभयतो वा ततो दीर्घा विवृत्तयो वेदितव्याः। "गोषा इन्द्रो नृषा असि"[२]; "य आनयत्परावतः"[३]; "ता आपो देवीरिह मामवन्तु।"[४] विविधान्युदाहरणानि ॥

उ० भा० अ०—"स्वरों का मध्य अवकाश 'विवृत्ति' (कहलाता है)"—यह (२।३ में) कहा जा चुका है। वहाँ (=उस 'विवृत्ति' में); यतः=जहाँ; (दीर्घः=) 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्ण); होता है—पहले या बाद में या दोनों ओर—ततः=वहाँ; दीर्घा विवृत्तयः='दीर्घ विवृत्तियाँ'; जाननी चाहिए (तात्पर्य यह है कि 'विवृत्ति' के एक ओर या दोनो ओर 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण हो तो वह 'दीर्घ विवृत्ति' है और किसी भी ओर 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण न हो तो वह 'ह्रस्व विवृत्ति' है)। (जैसे) "गोषा इन्द्रो नृषा असि"[क]; "य आनयत्परावत."[ख]; "ता आपो देवीरिह मामवन्तु।"[ग] ('विवृत्ति' के) विविध उदाहरण हैं।

(द्विषन्धयो विवृत्तयः)

द्विषंधयस्तूभयतःस्वरस्वराः ॥८०॥

(द्विषंधि-विवृत्तियाँ)

सू० अ०—(वे विवृत्तियाँ जिनमें) एक (मध्यवर्ती) 'स्वर' (-वर्ण) के दोनों ओर 'स्वर' (-वर्ण) हो वे 'द्विषंधि' (-विवृत्तियाँ) (कहलाती हैं)

उ० भा०—द्वौ संधी यासां विवृत्तीनां ता द्विषंधयः। तास्तूभयतःस्वरस्वरा वेदितव्याः। मध्यगतस्वरस्योभयत. स्वरौ यासां विवृत्तीनां ता उभयतःस्वरस्वराः। "अभूदु भा उ अंशवे"[५]; "तस्मा उ अद्य समना सुतं भर।"[६] संज्ञाप्रयोजनम्—"अर्धर्चान्ते कुर्युरथो द्विषंधौ।"[७]

उ० भा० अ०—दो संधियाँ हैं जिन विवृत्तियो की वे द्विषंधियाँ (कहलाती हैं)। उन; (द्विषंधयः=) द्विषंधियों को; उभयतःस्वरस्वर जानना चाहिए। जिन विवृत्तियों के मध्यगत 'स्वर'-वर्ण के दोनो ओर 'स्वर'-वर्ण विद्यमान होते हैं वे उभयतःस्वरस्वर विवृत्तियाँ हैं। (उदाहरण) "अभूदु भा उ अंशवे"; "तस्मा उ अद्य समना सुतं भर।"[घ] संज्ञा का प्रयोजन—"अर्धर्च के अन्त में और द्विषंधि (—'विवृत्ति' में 'अभि' को 'स्थितोपस्थित' करना चाहिए)।"

टि० (क) २।३ से दो स्थलों पर 'विवृत्ति' है। पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण 'दीर्घ' होने के कारण दोनों ही 'दीर्घ विवृत्तियाँ' हैं।

(ख) परवर्ती 'स्वर'-वर्ण 'दीर्घ' होने के कारण 'दीर्घ विवृत्ति' है।

(ग) दोनों ओर 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण होने के कारण 'दीर्घ विवृत्ति' है।

(घ) दोनो उदाहरणों में मध्यवर्ती 'स्वर'-वर्ण ('उ') के दोनों ओर 'स्वर'-वर्ण विद्यमान हैं, अत ये 'द्विषंधि' विवृत्तियाँ हैं।

---

[१] २।३ [२] ऋ० ९।२।१० [३] ऋ० ६।४५।१ [४] ऋ० ७।४९।१
[५] ऋ० १।४६।१० [६] ऋ० ८।६६।७ [७] १५।१८

प्राच्यपञ्चालउपधानिभोदयाः शाकल्यस्य स्थविरस्य ॥८१॥

सू० अ०—वृद्ध शाकल्य के अनुसार प्राच्यपञ्चाल पदवृत्तियों के पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण (=उपधा) के सदृश ही (उनके) परवर्ती (=उदय) 'स्वर'-वर्ण (उच्चारित) होते हैं।

उ० भा०—प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयोऽधस्तात्प्रतिपादिता विवृत्तयः। तासां शाकल्यस्य स्थविरस्य मतेन किञ्चिदुच्यते। प्राच्यपञ्चाललक्षितानां विवृत्तीनामुपधाः=प्राच्यपञ्चाल उपधा ; तन्निभाः=तादृशाः; उदया यासां ताः; तथोक्ता (=प्राच्यपञ्चालउपधानिभोदयाः)। "एष देवो अमर्त्यः।"[1] "आङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।"[2] "नो अह प्र विन्दसि।"[3]

उ० भा० अ०—'प्राच्यपञ्चाल पदवृत्ति' (-सञ्ज्ञक) विवृत्तियों को पहले (२।३३ में) प्रतिपादित किया गया था। उनके विषय में, **शाकल्यस्य स्थविरस्य**=वृद्ध शाकल्य के मत से; कुछ कहते हैं। प्राच्यपञ्चालउपधा ='प्राच्यपञ्चाल'-सञ्ज्ञक विवृत्तियों की उपधा (=अव्यवहित पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण); तन्निभा =उनके समान हैं; उदय (=अव्यवहित परवर्ती 'स्वर'-वर्ण) जिन (विवृत्तियों) के वे तथोक्त (अर्थात् प्राच्यपञ्चालउपधानिभोदय) हैं (तात्पर्य यह है कि वृद्ध शाकल्य के अनुसार प्राच्यपञ्चालपदवृत्तियों के परवर्ती 'स्वर'-वर्ण का उच्चारण उनके पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण के उच्चारण के सदृश होता है)। (उदाहरण) "एष देवो अमर्त्य।"[क] "आङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।"[ख] "नो अह प्र विन्दसि।"[ग]

इतरा स्थितिः ॥८२॥

सू० अ०—(शाकल लोगों की इससे) भिन्न स्थिति है।

उ० भा०—इतरा अस्माकं शाकलानां स्थितिः—प्राकृतोदयत्वं नाम। "एष देवो अमर्त्यः।"[4] "आङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।"[5] "नो अह प्र विन्दसि।"[6]

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ प्रातिशाख्यभाष्ये संहितापटलं द्वितीयम् ॥

उ० भा० अ०—हम शाकल लोगों की स्थिति इससे भिन्न है—(हम) परवर्ती (अकार) को बिना किसी विकार के (ज्यों का त्यों उच्चारण करते हैं)।

आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति प्रातिशाख्य-भाष्य में संहिता-नामक द्वितीय पटल समाप्त हुआ।

टि० (क) वृद्ध शाकल्य के मत से 'अमर्त्य' के 'अ' का उच्चारण 'देवो' के 'ओ' के सदृश होता है। इस प्रकार "देवो अमर्त्य." का उच्चारण इस प्रकार होगा—"देवो ओमर्त्य.।"

(ख) 'अस्मिन्' के 'अ' का उच्चारण 'वाजे' के 'ए' के सदृश होता है। इस प्रकार "वाजे अस्मिन्" का उच्चारण इस प्रकार होगा—"वाजे एस्मिन्।"

(ग) "नो अह" का उच्चारण इस प्रकार होगा—"नो ओह।"

———

[1] ऋ० ९।३।१ [2] ऋ० १०।१४९।५ [3] ऋ० १०।८६।२
[4] ऋ० ९।३।१ [5] ऋ० १०।१४९।५ [6] ऋ० १०।८६।२

---

३ : स्वरपटलम्

स्वराणां संख्या, उच्चारणप्रकारश्च
स्वराक्षरयोर्धर्मधर्मिसंबन्धः
संधौ स्वरितनिष्पत्तिः
स्वरितस्य उच्चारणप्रकारः
पदे उदात्तपूर्वस्वरितम्
पदे जात्यस्वरितम्
पदे प्रचयस्य उच्चारणप्रकारः
उदात्तादिस्वराणां संधिः
विवृत्तिव्यञ्जनव्यवधानेऽपि स्वरितनिष्पत्तिः
संधिजस्वरितानां संज्ञासूत्रम्
संहितायां प्रचयः स्वरः, तस्य उच्चारणप्रकारश्च
परिग्रहे स्वरनिरूपणम्
अवग्रहे स्वरनिरूपणम
उत्तरयोस्त्रिमात्रयोरन्त्यमात्रोच्चारणविषये मतद्वयम्
स्वरोच्चारणे केचिद्दोषाः
स्वरितविशेषेषु कम्पविधानम्

(स्वराणां संख्या, उच्चारणप्रकारश्च)

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः ।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते ॥१॥

(स्वरों की संख्या और उच्चारण-प्रकार)

सू० अ०—'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित'—(ये) तीन—'स्वर' हैं। उच्चारणावयवों के ऊर्ध्वगमन ('आयाम'), अधोगमन ('विश्रम्भ') और तिर्यग्गमन ('आक्षेप') से (क्रमशः) इनका उच्चारण होता है।

उ० भा०—प्रथमपटले संज्ञापरिभाषा अनुक्रम्य द्वितीयेन संहितागतलोपागमवर्णविकारानुक्त्वा अथेदानीं स्वरसंहितामाह। उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च संक्षेपतः स्वरास्त्रयो वेदितव्याः। इदानीं तानुपलक्षयितुमाह—आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्; तेन य उच्यते स उदात्तः—आ, ये। विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्—नः, नौ। आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्—क्वं, न्यंङ्॥

उ० भा० अ०—प्रथम पटल में संज्ञाओं और परिभाषाओं को बतलाकर द्वितीय (पटल) के द्वारा संहितागत लोप, आगम और वर्ण-विकार को कहकर अब स्वर-संहिता को कहते हैं। उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च='उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित'; संक्षेप में; स्वरास्त्रयः=(ये) तीन 'स्वर'; जानने चाहिए।[क] अब उन (तीन स्वरों) को समझाने के लिए (सूत्रकार) कहते हैं—आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते='आयाम',

टि० (क) स्वरों की संख्या के विषय में बहुत मतभेद है। कहीं सात, कहीं पाँच, कहीं चार, कहीं तीन, कहीं दो और कहीं एक ही 'स्वर' माना गया है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य १।२।३३ में स्वरों की संख्या सात बतलाई है—"सप्त स्वरा भवन्ति—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त., अनुदात्ततर., स्वरित., स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुति. सप्तम."—अर्थात् 'स्वर' सात होते हैं—'उदात्त', 'उदात्ततर', 'अनुदात्त', 'अनुदात्ततर', 'स्वरित', 'स्वरित' के पूर्व में स्थित 'उदात्त' और 'एकश्रुति'।

ध्यानपूर्वक विचार करने से विदित हो जाता है कि मुख्य 'स्वर' तीन ही हैं—'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित'। पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित 'उदात्ततर' और 'स्वरित' से पूर्व में स्थित 'उदात्त' 'उदात्त' के ही अन्तर्गत हैं; 'अनुदात्ततर' 'अनुदात्त' के ही अन्तर्गत है। 'एकश्रुति' भी 'उदात्त' और 'अनुदात्त' से भिन्न 'स्वर' नहीं है। 'स्वरित' के बाद में आने पर 'अनुदात्त' ही 'एकश्रुति' हो जाता है और इस 'एकश्रुति' का उच्चारण 'उदात्त' के ही समान होता है।

उपर्युक्त तथ्य को दृष्टि में रखकर ही प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि 'उदात्त' 'अनुदात्त' और 'स्वरित'—ये तीन—'स्वर' है।

'विश्रम्भ' और 'आक्षेप' के द्वारा (क्रमश) ये उच्चारित होते हैं।[क] वायु के कारण उच्चारणावयवों के ऊपर जाने को 'आयाम' (कहते हैं); उस ('आयाम') से जो उच्चारित होता है वह 'उदात्त' है—(जैसे) आ, ये।[ख] वायु के कारण उच्चारणावयवो के नीचे जाने को 'विश्रम्भ' (कहते है) (उस 'विश्रम्भ' से जो उच्चारित होता है वह 'अनुदात्त' है)—(जैसे) नः, नौ। वायु के कारण उच्चारणावयवो के तिरछे जाने को 'आक्षेप' (कहते है) (उस 'विश्रम्भ' से जो उच्चारित होता है वह 'स्वरित' है)—(जैसे) क्व, न्यक्।

(स्वराक्षरयोर्धर्मधर्मिसंबन्धः)

अक्षराश्रयाः ॥२॥

(स्वर और अक्षर का धर्मधर्मिसम्बन्ध)

सू० अ०—(ये 'उदात्त' आदि 'स्वर') 'अक्षर' ('स्वर'-वर्ण) पर आश्रित होते हैं।

उ० भा०—स्वरोऽक्षरमित्युक्तम्। अक्षरमाश्रयीभूत येषां ते तथोक्ता। स्वराणामक्षरैः धर्मधर्मिसबन्धो न तु व्यञ्जनैः॥

उ० भा० अ०—'स्वर'-वर्ण 'अक्षर' है—यह (१।१९ में) कहा जा चुका है। 'अक्षर' है आश्रय जिनका वे उस प्रकार कहे गए (अर्थात् 'उदात्त' आदि 'स्वर') हैं। स्वरो का अक्षरों ('स्वर'-वर्णों) के साथ धर्मधर्मिसम्बन्ध (=गुणगुणिसम्बन्ध) है ['स्वर'-वर्ण धर्मी

टि० (क) 'उदात्त' 'अक्षर' का उच्चारण ध्वनि के आरोह (rising tone) के साथ होता है। इसके उच्चारण में उच्चारणावयव ऊपर की ओर खिंच जाते हैं। 'अनुदात्त' 'अक्षर' का उच्चारण ध्वनि के अवरोह (falling tone) के साथ होता है। इसमें उच्चारणावयव नीचे की ओर शिथिल हो जाते हैं। 'स्वरित' 'अक्षर' का उच्चारण ध्वनि के आरोह और अवरोह (rising-falling tone) से होता है। 'स्वरित' के 'उदात्त' अंश के उच्चारण में उच्चारणावयवो का आरोह होता है और 'अनुदात्त' अंश के उच्चारण में उच्चारणावयवो का अवरोह होता है।

(ख) वैदिक ग्रन्थों में 'उदात्त' आदि स्वरों की पहचान के लिए चिह्न लगे रहते हैं। वे चिह्न सब ग्रन्थो में समान नही हैं। ऋग्वेद में 'उदात्त' पर कोई भी चिह्न नहीं लगाया जाता है। 'अनुदात्त' के नीचे एक पडी रेखा(—)लगाई जाती है और 'स्वरित' के सिर पर एक खडी रेखा (ॆ) लगाई जाती है। 'उदात्त' की भांति 'प्रचय' पर भी कोई चिह्न नही लगाया जाता है। दोनो का कोई चिह्न न होने के कारण 'उदात्त' और 'प्रचय' की पहचान करने में कठिनाई हो सकती है। इनकी पहचान यह है—'स्वरित' के बाद में स्थित बिना चिह्न वाला वर्ण 'प्रचय' होता है जबकि 'अनुदात्त' के बाद में स्थित बिना चिह्न वाला वर्ण 'उदात्त' होता है। यदि किसी बिना चिह्न वाले वर्ण के पूर्व में न 'स्वरित' हो और न 'अनुदात्त' हो वह भी 'उदात्त' होता है।

(=गुणी) है और 'उदात्त' आदि 'स्वर' धर्म (=गुण) हैं], व्यञ्जनों के साथ नहीं।[क]

(संधौ स्वरितनिष्पत्तिः)

एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः ॥३॥

(संधि में स्वरित की निष्पत्ति)

सू० अ०—पूर्व वाले दो (='उदात्त' और 'अनुदात्त') का एक 'अक्षर' में समावेश (=समाहार) होने पर 'स्वरित' 'स्वर' (निष्पन्न होता है)।

उ० भा०—उदात्तानुदात्तौ स्वरौ; तयोः स्वरितः स्वरो निष्पद्यत इत्याह—एकाक्षर-समावेशे सति; पूर्वयोः=उदात्तानुदात्तयोः; स्वरितः स्वरो निष्पद्यते। "तेऽवर्धन्त स्वतवसः।"[१] "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।"[२] स्रुचीव घृतं चम्वीव।"[३] "त्र्यम्बकं यजामहे।"[४] "द्रुवन्नः सर्पिरासुतिः॥"[५]

उ० भा० अ०—'उदात्त' और 'अनुदात्त' दो 'स्वर' हैं; इन दो (स्वरों) का 'स्वरित' 'स्वर' निष्पन्न होता है यह (सूत्रकार) कहते है—एकाक्षरसमावेशे=एक 'अक्षर' में समावेश होने पर; पूर्वयोः=पूर्व वाले दो का='उदात्त' और 'अनुदात्त' का; स्वरितः स्वरः='स्वरित' 'स्वर'; निष्पन्न हो जाता है। (जैसे) "तेऽवर्धन्त स्वतवस"[ख]; ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।"[ग] "स्रुचीव घृत चम्वीव।"[घ] "त्र्यम्बक यजामहे"[ङ]; "द्रुवन्न सर्पिरासुति॥"[च]

(स्वरितस्य उच्चारणप्रकारः)

तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा ॥४॥

(स्वरित का उच्चारणप्रकार)

सू० अ०—उस ('स्वरित') की आधी मात्रा अथवा (सम्पूर्ण 'स्वरित' का) आधा (भाग) 'उदात्त' से उदात्ततर (=उच्चतर) (उच्चारित होता है)।

टि० (क) 'उदात्त' आदि 'स्वर' 'स्वर'-वर्णों के ही धर्म हैं, 'व्यञ्जन'-वर्णों के नहीं; क्योंकि 'स्वर'-वर्णों का ही बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता के उच्चारण हो सकता है। जिन 'व्यञ्जन'-वर्णों का अन्य वर्ण (='स्वर'-वर्ण) की सहायता के उच्चारण भी नहीं हो सकता, उनमें 'उदात्त' आदि उच्चारण-धर्म कैसे रह सकते हैं?

(ख) ते। अवर्धन्त। स्वऽतवसः॥ प० पा०

(ग) ब्राह्मण। अस्य। मुखम्। आसीत्॥ प० पा०

(घ) स्रुचिऽइव। घृतम्। चम्विऽइव॥ प० पा०

(ङ) त्रिऽअम्बकम्। यजामहे॥ प० पा०

(च) द्रुऽअन्न। सर्पिःऽआसुतिः॥ प० पा०

इन सभी उदाहरणों में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' का एक 'अक्षर' म समावेश होने पर 'स्वरित' 'स्वर' निष्पन्न हो गया है।

---

[१] ऋ० १।८५।७ [२] ऋ० १०।९०।१२ [३] ऋ० १०।९१।१५
[४] ऋ० ७।५९।१२ [५] ऋ० २।७।६

उ० भा०—तस्य स्वरितस्य स्वरस्य पृथक्कृत्य द्विस्वरसंभूतस्य व्युत्पाद्य कथनं क्रियते—उदात्तान् सकाशात् उदात्ततरा आदौ अर्धमात्रा वेदितव्या—"त्र्यम्बकम्।"[१] अर्धमेव वा—द्विमात्रस्यस्वरस्यायमुदात्तांशः कथितः। "तेऽवर्धन्त॥"[२]

उ० भा० अ०—दो स्वरो ('उदात्त' और 'अनुदात्त') से निष्पन्न, तस्य=उस, 'स्वरित' 'स्वर' को पृथक् करके उसकी प्रकृति ('उदात्त' और 'अनुदात्त') को दृष्टि में रखकर उसका कथन किया जाता है—('ह्रस्व' 'अक्षर' वाले 'स्वरित' के) आदि में अर्धमात्रा=आधी मात्रा को, उदात्तान्='उदात्त' से; उदात्ततरा=उदात्ततर (=उच्चतर); जानना चाहिए—(जैसे) "त्र्यम्बकम्।"[क] ('दीर्घ' 'अक्षर' वाले 'स्वरित' का प्रथम) अर्धमेव वा=आधा (भ ग) ही (अर्थात् एकमात्रा) ('उदात्त' से उच्चतर उच्चारित होती है)—दो मात्रा वाले (='दीर्घ') स्वर-वर्ण का यह 'उदात्त' अश कहा है। (जैसे) "तेऽवर्धन्त।"[ख]

अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः ॥५॥

सू० अ०—('स्वरित' का) परवर्ती अवशिष्ट 'अनुदात्त' (अंश) 'उदात्त' के समान सुना जाता है।

उ० भा०—स्वरितस्य परः शेषः (अनुदात्तः) यद्यर्धमात्रो यदि मात्रिकः स उदात्तश्रुतिः=उदात्तवच्छ्रूयते। यथा त्रपुताम्रयोः सयोगे सति कांस्यस्य धात्वन्तरस्योत्पत्तिरेवमिहापि द्रष्टव्या॥

उ० भा अ०—स्वरित' का, परः शेषः (अनुदात्तः)=परवर्ती अवशिष्ट ('अनुदात्त' अश) चाहे आधी मात्रा वाला हो और चाहे एक मात्रा वाला हो, स उदात्तश्रुतिः=वह उदात्तश्रुति है='उदात्त' के समान सुनाई पडता है।[ग] जिस प्रकार सीसे (त्रपु) और

टि० (क) त्रिऽअम्बकम्॥ प० पा०

(ख) ते। अवर्धन्त॥ प० पा०

(ग) 'उदात्त' और 'अनुदात्त' के सम्मिश्रण से 'स्वरित' 'स्वर' निष्पन्न होता है। 'उदात्त' और 'अनुदात्त' का यह सम्मिश्रण नीर-क्षीर (दुग्ध-जल) के सम्मिश्रण के सदृश न होकर तिल-तण्डुल अथवा काष्ठ-जतु के सम्मिश्रण के सदृश होता है। तात्पर्य यह है कि स्वरित' में 'उदात्त' तथा 'अनुदात्त' धर्मों का सम्मिश्रण सभी अवयवो में समान रूप से नही होता है। उस ('स्वरित') के आदि भाग में 'उदात्त' धर्म रहता है और बाद वाले आधे भाग में 'अनुदात्त' धर्म रहता है।

३।४ में यह विधान किया गया है कि 'स्वरित' की आधी मात्रा अथवा 'स्वरित' का आधा भाग 'उदात्त' से उच्चतर उच्चारित होता है। यदि 'ह्रस्व' 'अक्षर' 'स्वरित' है तो उस 'स्वरित' की पूर्ववर्ती आधी मात्रा ('उदात्त' अश) 'उदात्त' से उच्चतर उच्चारित होती है और अवशिष्ट आधी मात्रा (अनुदात्त अश) 'उदात्त' के समान उच्चारित होती है। यदि 'दीर्घ' 'अक्षर' 'स्वरित' है तो उस 'स्वरित' का पूर्ववर्ती आधा भाग अर्थात् एक मात्रा ('उदात्त' अश) 'उदात्त' से उच्चतर उच्चारित होती है और अवशिष्ट आधा भाग अर्थात् एक मात्रा ('अनुदात्त' अश) 'उदात्त' के समान उच्चारित होती है।

---

[१] ऋ० ७।५९।१२ [२] ऋ० १।८५।७

ताम्बे (ताम्र) के संयोग से कांसा नाम की अन्य धातु की उत्पत्ति (हो जाती है), उसी प्रकार यहाँ भी देखना चाहिए[क] (अर्थात् उसी प्रकार 'उदात्त' और 'अनुदात्त' के सयोग से 'स्वरित' नाम वाला एक अन्य–तृतीय–'स्वर' निष्पन्न हो जाता है)।

न चेत्।

उदात्तं वोच्यते किंचित्स्वरितं वाक्षरं परम् ॥६॥

सू० अ०—('स्वरित' का 'अनुदात्त' अंश तभी 'उदात्त' के समान सुना जाता है) यदि (उस 'स्वरित' के) बाद में विद्यमान 'अक्षर' ('स्वर'-वर्ण) 'उदात्त' अथवा 'स्वरित' उच्चारित न हो (अर्थात् यदि उस 'स्वरित' के बाद में 'उदात्त' या 'स्वरित' न हो)।

उ० भा०—चेत् शब्दो यद्यर्थे। यदि न भवति उदात्तमक्षरं स्वरितं वा परम्। "तेऽवर्धन्त"[१]; "दिवीव चक्षुः"[२]; "वृषभः सुपरासुतिः।"[३] यदि तूदात्तं स्वरितं वा परं स्यात्तदानुदात्तः पर शेषः स्यात्। स च कम्प इत्युच्यते बह्वृचैः। "न यो युच्छति तिष्यो३ यथा दिवो३स्मे"[४]; "अभी३दमेकमेको अस्मि"[५]; "अहं न्य१न्यं सहसा"[६]—उदात्तपरस्योदाहरणम्। "शतचक्रं यो३ह्यो वर्तनिः"[७]—स्वरितपरस्योदाहरणम्।

एवं च कृत्वोदात्तपूर्वाः सर्व एव कम्पाः स्युः। अनुदात्तपूर्वेषु तु क्रियमाणेषु मात्राधिक्यं स्यात्। स च दोषः—"अयथामात्रं वचनं स्वराणाम्"[८] इति। दर्शयति चोदात्तपूर्वत्वं कम्पानां क्रमहेतौ—"स्वरैकदेशं स्वरितस्य चोत्तरं यदा निहन्यात्"[९] इति ॥

उ० भा० अ०—चेत् शब्द 'यदि' अर्थ में है। यदि; उदात्तमक्षरं स्वरितं वा परम्=बाद वाला 'अक्षर' ('स्वर'-वर्ण) 'उदात्त' अथवा 'स्वरित'; न=नहीं; होता है (तात्पर्य यह है कि 'स्वरित' का 'अनुदात्त' अंश तभी 'उदात्त' के समान उच्चारित होता है

टि० (क) भाष्यकार ने 'उदात्त' और 'अनुदात्त' के सम्मिश्रण से जायमान 'स्वरित' की उत्पत्ति को समझाने के लिये त्रपु और ताम्र के सम्मिश्रण से जायमान काँसा नामक धातु का जो दृष्टान्त दिया है वह ठीक प्रतीत नहीं होता है। काँसे के प्रत्येक अवयव में त्रपु और ताम्र का सम्मिश्रण समान रूप से अविभाज्य होता है। इसके विपरीत 'स्वरित' के प्रत्येक अंश में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' धर्मों का सम्मिश्रण समान रूप से अविभाज्य नहीं होता। 'स्वरित' के आदि भाग में 'उदात्त' अंश होता है और बाद में 'अनुदात्त' अंश होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काँसे में त्रपु और ताम्र का सम्मिश्रण नीर-क्षीर (दुग्ध-जल) के सदृश होता है, जबकि 'स्वरित' में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' धर्मों का सम्मिश्रण तिल-तण्डुल अथवा जतु-काष्ठ के सदृश होता है।

---

[१] ऋ० १।८५।७ [२] ऋ० १।२२।२० [३] ऋ० २।७।६
[४] ऋ० ५।५४।१३ [५] ऋ० १०।४८।७ [६] ऋ० १०।४९।८
[७] ऋ० १०।१४४।४ [८] १४।१० [९] ११।५६

जब उस 'स्वरित' के बाद में 'उदात्त' अथवा 'स्वरित' नहीं होता है)। (उदाहरण) "तेऽवर्धन्त"क, "दि॒वी॑व॒ चक्षुः॑"ख; "द्व॒न्न॒ नु॒पिरा॑सुति ।"ग यदि बाद में 'उदात्त' अथवा 'स्वरित' हो तब ('स्वरित' का) अवशिष्ट ('अनुदात्त' अंश) 'अनुदात्त' (उच्चारित) होगा। और ऋग्वेदी लोग उसे 'कम्प' कहते हैं।घ (उदाहरण) "न यो

टि० (क) ते। अ॒व॒र्ध॒न्त॒ ॥ प० पा०
(ख) दि॒विऽइ॑व। चक्षुः॑. ॥ प० पा०
(ग) द्रुऽअ॑न्न॒. । सु॒पि ऽआ॑सुति. ॥ प० पा०

इन तीनों स्थलों में संहिता-पाठ में 'स्वरित' के बाद में न तो 'उदात्त' है और न स्वरित है, इसलिए इन 'स्वरित' स्वरों के 'अनुदात्त' अंश 'उदात्त' के समान उच्चारित होते हैं।

(घ) ३।३४ में यह विधान किया गया है कि 'उदात्त' और 'स्वरित' ('जात्य स्वरित') बाद में होने पर 'जात्य', 'अभिनिहित', 'क्षैप्र' और 'प्रश्लिष्ट' स्वरितों का उच्चारण 'कम्प' के साथ होता है। ३।४ के अनुसार उक्त 'जात्यादि' चार प्रकार के 'स्वरित' का प्रारम्भ वाला 'उदात्त' अंश उदात्ततर (='उदात्त' से भी उच्चतर) उच्चारित होता है और ३।६ के अनुसार उक्त 'स्वरित' का अवशिष्ट 'अनुदात्त' अंश 'अनुदात्त' उच्चारित होता है। यदि बाद में 'उदात्त' हो तो पहले वाले उदात्ततर और बाद वाले 'उदात्त' उच्चारणों के बीच में 'अनुदात्त' का उच्चारण करने में कठिनाई होना स्वाभाविक है क्योंकि 'स्वरित' के प्रथम ('उदात्त') अंश का उदात्ततर के रूप में उच्चारण करने के तुरन्त बाद ही 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण करने के लिए ध्वनि को नीचे उतरना पड़ता है और परवर्ती 'उदात्त' का उच्चारण करने के लिए ध्वनि को पुनः तुरन्त ही ऊपर चढ़ना पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण झटके के साथ होता है। इस झटके को ही 'कम्प' कहते हैं। इसी प्रकार 'स्वरित' ('जात्य स्वरित') बाद में आने पर भी पूर्ववर्ती 'स्वरित' का 'अनुदात्त' अंश 'कम्प' के सहित उच्चारित होता है क्योंकि 'स्वरित' का प्रारम्भ वाला 'उदात्त' अंश उदात्ततर उच्चारित होता है।

यदि यह 'कम्प' 'ह्रस्व' 'स्वरित' 'अक्षर' के 'अनुदात्त' अंश में होवे तो कम्प को दिखलाने के लिए 'ह्रस्व' 'स्वरित' 'अक्षर' के बाद में एक (१) संख्या को लिखते हैं और उस संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (१̱) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (–) लगाया जाता है। जैसे—"त्य॒१̱न्यम्" में पूर्ववर्ती 'त्य' 'क्षैप्र स्वरित' और परवर्ती 'न्य' 'उदात्त' है, अतः 'त्य' के 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण 'कम्प'-सहित 'अनुदात्त' होता है। यहाँ 'कम्प' 'ह्रस्व' 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश में है, इसलिए 'ह्रस्व' 'स्वरित' 'अक्षर' 'त्य' के बाद में एक (१) संख्या को लिखा गया है और संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (१̱) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (–) लगाया गया है। परन्तु यदि यह 'कम्प' 'दीर्घ' 'स्वरित' 'अक्षर' के 'अनुदात्त' अंश में होवे तो कम्प को दिखलाने के लिए 'दीर्घ' 'स्वरित'

युच्छंति तिष्योऽ यथा दिवोऽस्मे"क; "अभीऽदमेकमेको अस्मि"ख; "अह न्यऽन्य सहंसा"ग— (ये) 'उदात्त'-पर ('कम्प') के उदाहरण हैं। "शतचक्रं योऽह्यो वर्तनि"घ —(यह) 'स्वरित'-पर ('कम्प') का उदाहरण है।

इस प्रकार सभी 'कम्प' ('स्वरित' के) 'उदात्त' (अश) के वाद में (अर्थात् 'अनुदात्त' अंश में) (उच्चारित) होगे। ('स्वरित' के) 'अनुदात्त' अश के वाद में (कम्पों का उच्चारण) करने पर तो मात्रा का आधिक्य हो जायेगा (जैसा कि अधो-लिखित सूत्र में इस दोष को बतलाया गया है)—"('ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत') 'स्वर'-वर्णों का उच्चारण (कभी-कभी उनकी) मात्रा के अनुसार नही (किया जाता)।" क्रम-हेतु (एकादश पटल) में भी (सूत्रकार) ('स्वरित' के) 'उदात्त' (अश) के वाद में कम्पों का स्थान वतलाते हैं—" 'स्वरित' 'स्वर' के परवर्ती एक ('अनुदात्त') अश (देश) को (जव वक्ता) 'अनुदात्त' उच्चारण करता है।"ङ

(२१८घ) 'अक्षर' के वाद में तीन (३) सख्या को लिखते है और उस सख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (।) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (—) लगाया जाता है। 'स्वरित' 'अक्षर' के नीचे भी 'अनुदात्त' का चिह्न (—) लगाया जाता है। जैसे—"अभीऽदम्" में 'भी' 'प्रश्लिष्ट स्वरित' और 'द' 'उदात्त' है' अत 'भी' के 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण कम्प-सहित 'अनुदात्त' होता है। यहाँ 'कम्प' 'दीर्घ' 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अश में है, इसलिए 'दीर्घ' 'स्वरित' 'अक्षर' 'भी' के वाद में तीन (३) सख्या को लिखा गया है और संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (।) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (—) लगाया गया है। 'दीर्घ' 'स्वरित' 'अक्षर' के नीचे भी 'अनुदात्त' का चिह्न (—) लगाया गया है।

टि० (क) न। य.। युच्छंति। तिष्यं.। यथा। दिव.। अस्मे इति॥ प० पा०

(ख) अभि। इदम्। एकम्। एकं। अस्मि॥ प० पा०

(ग) अहम्। नि। अन्यम्। सहंसा॥ प० पा०

इन स्थलों पर संहिता-पाठ में 'स्वरित' के बाद में 'उदात्त' 'स्वर' है जिसके कारण यहाँ 'स्वरित' का 'अनुदात्त' अश 'कम्प' के साथ 'अनुदात्त' ही उच्चारित होता है।

(घ) शतऽचंक्रम्। य। अह्यं। वर्तनि.॥ प० पा०

'स्वरित' के बाद में 'स्वरित' है, इसलिए पूर्ववर्ती 'स्वरित' का 'अनुदात्त' अश 'कम्प' के साथ 'अनुदात्त' ही उच्चारित होता है।

(ङ) इस अनुच्छेद में यह बतलाया गया है कि 'स्वरित' 'स्वर' के 'उदात्त' अश के वाद में विद्यमान जो 'अनुदात्त' अश 'अनुदात्त' उच्चारित होता है उसमें ही 'कम्प' का उच्चारण होता है। यदि 'अनुदात्त' अंश के उच्चारण करने के अनन्तर 'कम्प' का उच्चारण किया जाता है तो ऐसी अवस्था में 'अनुदात्त' 'अक्षर' के उच्चारण में अधिक समय लगेगा क्योंकि उस 'अक्षर' में 'अनुदात्त' का उच्चारण करके तदनन्तर 'कम्प' का उच्चारण करना होगा और

(पदे उदात्तपूर्वस्वरितम्)

उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम् ॥७॥

(पद में उदात्तपूर्वस्वरित)

सू० अ०—(एक ही) पद में 'उदात्त' है पूर्व में जिसके उस 'स्वरित' 'अक्षर' को (स्वभाव से) 'अनुदात्त' (समझना चाहिए)।

उ० भा०—एवमुदात्तानुदात्तसंधौ त्रीन्स्वरितानभिधाय अथेदानीमेकपदप्रभवानाह स्वरितानुदात्तस्वरूपव्याचिख्यासया—सर्वस्मिन्नेव पद एकमक्षरमुदात्तं वा स्वरितं वा भवति, शेषमनुदात्तम्—अय तावदुत्सर्गः। सर्वानुदात्तं त्वल्पम्। तथा ह्युदात्तैर्वा स्वरितैर्वा पदव्यपदेश क्रियते—आद्युदात्तम्—इन्द्रः, होता। मध्योदात्तम्—अग्निना, अग्निभिः। अन्तोदात्तम्—अग्निः, जनिता। उदात्तम्—य., नु, कः। आदिस्वरितम्—स्वर्णरे। मध्यस्वरितम्—हृदय्यया। अन्तस्वरितम्—कन्या। स्वरितमेव—स्वं, स्वः। द्विरुदात्तम्—बृहस्पतिः। त्रिरुदात्तम्—इन्द्राबृहस्पती। सर्वानुदात्तम्—वः, नः। एत एकादश स्वराः पदेषु प्रत्येतव्याः। तत्प्रतिपादनार्थमाह—एकस्मिन्पदे उदात्तपूर्वं स्वरितमक्षरमनुदात्तं प्रत्येतव्यम्। साहितिकस्तस्याय धर्मोऽनुदात्तस्य सत उदात्तपूर्वस्य। इन्द्रः, होता॥

उ० भा० अ०—इस प्रकार 'उदात्त' और 'अनुदात्त' की संधि होने पर जो तीन ('अभिनिहित'-'प्रश्लिष्ट'-और 'क्षैप्र'-) 'स्वरित' (निष्पन्न होते हैं) उनको कहकर इसके बाद में अब, 'स्वरित' और 'अनुदात्त' के स्वरूप को बतलाने की इच्छा से, एक पद में जायमान (स्वरितो) के विषय में कहते है—(एक) सम्पूर्ण पद में एक ही 'अक्षर' 'उदात्त' या 'स्वरित' होता है, शेष ('अक्षर') 'अनुदात्त' (होते है)—यह सामान्य-नियम (उत्सर्ग) है। 'सर्वानुदात्त' (पद) तो अल्प है। इसलिए उदात्तो के द्वारा अथवा स्वरितो के द्वारा पद का कथन किया जाता है। (जैसे) 'आद्युदात्त' (-पद)—'इन्द्रः', 'होता'। 'मध्योदात्त' (पद)—'अग्निना', 'अग्निभिः'। 'अन्तोदात्त' (-पद)—'अग्निः', 'जनिता'। 'उदात्त' (पद)—'य.', 'नु', 'क'। 'आदिस्वरित' (-पद)—'स्वर्णरे'। 'मध्यस्वरित' (पद)—'हृदय्यया'। 'अन्तस्वरित' (पद)—'कन्या'। 'स्वरित' ही (पद)—'स्वं', 'स्वः'। दो उदात्तों वाला (पद)—'बृहस्पतिः'। तीन उदात्तो वाला (पद)—'इन्द्राबृहस्पती'। 'सर्वानुदात्त' (पद)—'वः', 'नः'। पदो में ये ग्यारह 'स्वर' जानने चाहिए। उनके प्रतिपादन के लिए (सूत्रकार ने) कहा है—पदे=एक पद में, उदात्तपूर्वं स्वरितमक्षरम्='उदात्त'

(२१९ङ) किसी 'अक्षर' को उसकी मात्रा से अधिक समय में उच्चारण करना १४।१० में दोष बतलाया गया है। एकादश पटल के ५६ वें सूत्र से भी यही पता चलता है कि 'स्वरित' 'स्वर' के 'उदात्त' अश के उच्चारण के अनन्तर ही 'कम्प' का उच्चारण होता है। इससे यही निश्चय होता है कि 'स्वरित' का 'अनुदात्त' अश 'कम्प' के साथ उच्चारित होता है।

है पूर्व में जिसके उस 'स्वरित' 'अक्षर' को; अनुदात्तम्='अनुदात्त'; जानना चाहिए।[क] 'उदात्त' है पूर्व में जिसके ऐसे 'अनुदात्त' का यह ('स्वरित' हो जाना) धर्म है जो संहिता अर्थात् वर्णों की सन्निधि से होता है। (जैसे) 'इन्द्रं', 'होतां'।

(पदे जात्यस्वरितम्)

अतोऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे ॥८॥

(पद में जात्यस्वरित)

सू० अ०—एक पद में इस (='उदात्तपूर्व स्वरित') से अन्य जो 'स्वरित' 'स्वर' है उसे (व्याळि आदि आचार्य) 'जात्य स्वरित' कहते हैं।

उ० भा०—अतः=प्रकृतादुदात्तपूर्वात्स्वरितात्स्वरात्; यत् अन्यत् एकस्मिन्नेव पदे स्वरितं स्वारं तत् जात्यमाक्षते व्याळिप्रभृतयः। किमन्यत्वम् अत्राभिप्रेतम्? अपूर्वत्व वा नीचपूर्वत्वं वा। अपूर्वोदाहरणम्—स्वः, क्वं, न्यक्। नीचपूर्वस्य—कृन्यां, हृदय्यया। जात्या=स्वरूपेणैव=उदात्तानुदात्तसगतिं विना, जातो जात्यः। यत्तूक्तं स्वरितस्योदात्तानुदात्तसगतिरिष्यते तत्तूदात्तपरस्यैवानुदात्तस्य सफलम्। तस्योदात्तपरस्य स्वरितपरस्य च कम्पः—कृन्या३ वारवायती"[१]; "क्वा३भीशवः कथं शक कथा यय॥"[२]

उ० भा० अ०—पदे=एक पद में; अतः=इससे=प्रकृत 'उदात्तपूर्व स्वरित' 'स्वर' से; जो; अन्यत्=अन्य, स्वरितं स्वारम्='स्वरित' 'स्वर' (होता है); उसे व्याळि आदि (आचार्य); जात्यमाचक्षते='जात्य' कहते हैं (अर्थात् एक पद में विद्यमान जिस 'स्वरित' 'स्वर' के पहले 'उदात्त' स्वर' नही होता है वह 'जात्य स्वरित' कहलाता है)। अन्य से यहाँ क्या अभिप्रेत है? (उत्तर) (या तो वह 'स्वरित') अपूर्व (जिसके पूर्व में कोई 'स्वर' नहीं है) होगा या नीचपूर्व (जिस 'स्वरित' के पूर्व में 'अनुदात्त' है) होगा। अपूर्व ('जात्य स्वरित') का उदाहरण—'स्वः', 'क्वं', 'न्यक्'। नीचपूर्व ('अनुदात्त'-पूर्व) का (उदाहरण)—'कृन्यां'; 'हृदय्यया'। जाति (जन्म) से=स्वरूप (स्वभाव) से ही='उदात्त' और 'अनुदात्त'

टि० (क) मैक्समूलर आदि कतिपय विद्वान् इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं – 'उदात्त' के बाद में आने वाला 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है किंतु भाष्यकार के अनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है—'उदात्त' के बाद में आने वाले 'स्वरित' को, स्वरूप की दृष्टि से, 'अनुदात्त' समझना चाहिए। भाष्यकार का मत ठीक प्रतीत होता है क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में एक पद में विद्यमान 'स्वरित' के स्वरूप के विषय में कहा गया है। यह 'स्वरित' पद-पाठ में इसी रूप में उपलब्ध होता है और इसलिए प्रातिशाख्य में उसके विधान करने की कोई आवश्यकता ही नही है। इस सूत्र में 'उदात्त' के बाद में विद्यमान 'स्वरित' का स्वभाव बतलाया गया है।
'उदात्त' के बाद में विद्यमान 'स्वरित' को 'सामान्य स्वरित' या 'उदात्तपूर्व स्वरित' कहते है। इसे 'परतन्त्र स्वरित' (dependent svarita) भी कह सकते हैं क्योंकि पूर्ववर्ती 'उदात्त' पर ही इस 'स्वरित' की सत्ता निर्भर करती है।

१. ऋ० ८।९१।१ २ ऋ० ५।६१।२

की संगति (सन्निधि) के विना (जो 'स्वरित') उत्पन्न नहीं होता है वह 'जात्य'[क] ('स्वरित' कहलाता है)। यह जो कहा है कि 'स्वरित' में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' की सगति अभीष्ट होती है वह तो 'उदात्त' के परे आने वाले 'अनुदात्त' के विषय में ही सफल है। उस ('जात्य स्वरित') के परे 'उदात्त' या 'स्वरित' होने पर 'कम्प' (होता है)। (जैसे) "कन्या३वार-वायती"[ख]; "क्वा३भीशंव कथ शोंक कथा यंय।"[ग]

(पदे प्रचयस्वरस्य उच्चारणप्रकारः)

उभाभ्यां तु परं विद्यात्ताभ्यामुदात्तमक्षरम्।
अनेकमप्यनुदात्तम् ॥९॥

(पद में प्रचय स्वर का उच्चारणप्रकार)

सू० अ०—उन दोनों ('उदात्तपूर्व स्वरित' और 'जात्य स्वरित') से परवर्ती अनेक भी 'अनुदात्त' अक्षरों को 'उदात्त' (='उदात्तश्रुति'='उदात्त' के समान सुनाई पड़ने वाला) जानना चाहिए।

उ० भा०—तु-शब्दो विशेषणार्थः। (ताभ्याम्) उभाभ्यां तु=जात्योदात्तपूर्वाभ्यां तु; परं विद्यात्=ताभ्यां परं जानीयात्। उदात्तमक्षरम्=उदात्तश्रुति; उदात्तवद्धि प्रचितः श्रूयते। अनुदात्तमनेकमपि बहून्यप्यक्षराणि। अत्राप्येतदेव कथ्यते यथा सर्वस्मिन्नेव पद एकमक्षरमुदात्तं वा स्वरितं वा भवति शेषमनुदात्तमिति। "मादयस्व"[1], "अवंस्मततप्रमतिः॥"[2]

उ० भा० अ०—तुशब्द विशेषण के लिए (अर्थात् एक विशेष बात बतलाने के लिए) (सूत्र में प्रयुक्त किया गया है)। (ताभ्याम्) उभाभ्यां तु=उन दोनों से='जात्य' ('स्वरित') और 'उदात्तपूर्व' ('स्वरित') से, परं विद्यात्=उन दोनों से बाद वाले को जानना चाहिए। उदात्तमक्षरम्='उदात्त' के समान सुनाई पड़ने वाला, 'प्रचय' ('प्रचित') 'उदात्त' के समान सुनाई पड़ता है। अनुदात्तम्='अनुदात्त', अनेकमपि=

टि० (क) 'जात्य स्वरित' को 'स्वतन्त्र स्वरित' (independent svarita) भी कहा जा सकता है क्योंकि अपने अस्तित्व के लिए 'जात्य स्वरित' 'उदात्तपूर्व स्वरित' की भाँति पूर्ववर्ती उदात्त' पर निर्भर नहीं रहता है। यह बात ध्यान में रखने की है कि 'जात्य स्वरित' सर्वदा 'य्' अथवा 'व्' में अन्त होने वाले सयुक्त वर्ण के बाद वाले 'स्वर'-वर्ण पर ही आता है। आधुनिक विद्वानों का यह मत है कि ये स्थल भी मौलिक रूप से सधि के स्थल है यद्यपि अब यहाँ पर सधि नहीं मानी जाती है। उदाहरण के लिए कन्या=कनी+आ, स्वः=सु+अः। इस प्रकार ज्ञात होता है कि 'क्षैप्र स्वरित' की भाँति यहाँ भी 'उदात्त' और 'अनुदात्त' के मिलने से ही 'स्वरित' निष्पन्न होता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि दो पदों के मध्य में होने वाली 'क्षैप्र' सधि से जायमान 'स्वरित' 'क्षैप्र स्वरित' है और एक ही पद में 'क्षैप्र' सधि से जायमान 'स्वरित' 'जात्य स्वरित' है।

(ख) कन्या। वा। अवऽयती॥ प० पा०

(ग) क्वं। अभीशंव। कथम्। शोकं। कथा। यय॥ प० पा०

[1] ऋ० ८।१०३।१४ [2] ऋ० २।९।१

बहुत अक्षरों को भी (तात्पर्य यह है कि एक पद में 'जात्य स्वरित' और 'उदात्तपूर्व स्वरित' के बाद में वर्तमान एक या बहुत 'अनुदात्त' अक्षरों का उच्चारण 'उदात्त' के समान होता है)। यहाँ पर भी यही कहा जा रहा है कि एक सम्पूर्ण पद में एक 'अक्षर' 'उदात्त' या 'स्वरित' होता है शेष ('अक्षर') 'अनुदात्त' होते हैं (अर्थात् 'स्वरित' के बाद में विद्यमान 'प्रचय' 'स्वर' तो स्वरूप की दृष्टि से 'अनुदात्त' ही हैं किंतु वे 'उदात्त' के समान उच्चारित होते हैं)।

न चेत्पूर्वं तथागतात् ॥१०॥

सू० अ०—यदि ('जात्य स्वरित' अथवा 'उदात्तपूर्व स्वरित' के बाद में विद्यमान वह 'अनुदात्त') उस प्रकार (के 'स्वर' को) प्राप्त (अर्थात् स्वरितत्व को प्राप्त और उदात्तत्व को प्राप्त 'अक्षर') से पूर्व में न हो।

उ० भा० -चेत् शब्दो यद्यर्थे। यदि न भवति पूर्वम् तथागतात् अक्षरात्= स्वरितगतादुदात्तगताद्वा=स्वरितत्वं प्राप्तादुदात्तत्वं वा प्राप्तात्। यदि त्वेवंभूतादक्षरात्पूर्वं भवति अथ प्रकृत्यैवावतिष्ठते। "मादयस्व स्वर्णरे।"[1] "अर्दब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठ ॥"[2]

उ० भा० अ०—चेत्-शब्द यदि अर्थ में है (अर्थात् 'चेत्' शब्द का अर्थ यदि है)। तथागतात्=स्वरितगत से अथवा उदात्तगत से=स्वरितत्व को प्राप्त अथवा उदात्तत्व को प्राप्त 'अक्षर' से; **पूर्वम्**=पूर्व में; **न**=नहीं; होना है (तात्पर्य यह है कि 'स्वरित' 'अक्षर' के बाद में वर्तमान 'अनुदात्त' 'अक्षर' तभी 'उदात्त' के समान उच्चारित होता है, जब उस 'अनुदात्त' 'अक्षर' के बाद में 'उदात्त' 'अक्षर' या 'स्वरित' 'अक्षर' न हो)। किंतु यदि ऐसे(='उदात्त' या 'स्वरित') अक्षर से पूर्व में होता है तो प्रकृति-रूप से (अर्थात् 'अनुदात्त') ही रहता है। (उदाहरण)—"मादयस्व स्वर्णरे।"[क] "अर्दब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठ. ॥"[ख]

(उदात्तादिस्वराणां संधिः)

उदात्तवत्येकीभाव उदात्तं संध्यमक्षरम् ॥११॥

(उदात्त आदि स्वरों की संधि)

सू० अ०—(दो स्वरों की) जिस संधि (एकीभाव) में एक (पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती) (भी) 'अक्षर' 'उदात्त' हो, वहाँ संधि के परिणाम स्वरूप (संध्य) 'अक्षर' 'उदात्त' (होता है)।

टि० (क) 'उदात्तपूर्व स्वरित' 'य' से परवर्ती 'अनुदात्त' 'अक्षर' 'स्व' 'उदात्त' के समान उच्चारित न होकर 'अनुदात्त' ही रहता है क्योंकि 'अनुदात्त' 'अक्षर' के बाद में 'जात्य स्वरित' 'स्व' अवस्थित है। 'स्व'-इस 'जात्य स्वरित' से परवर्ती दोनों 'अनुदात्त' 'अक्षर' 'उदात्त' के समान उच्चारित होते हैं क्योंकि इनके बाद में न 'उदात्त' 'अक्षर' है और न 'स्वरित' 'अक्षर'।

(ख) 'उदात्तपूर्व स्वरित' 'द' से परवर्ती पाँच 'अनुदात्त' 'अक्षर' 'उदात्त' के समान उच्चारित होते हैं क्योंकि इनके बाद में न 'उदात्त' 'अक्षर' है और न 'स्वरित' 'अक्षर'। छठा 'अक्षर' 'ति' 'उदात्त' के समान उच्चारित न होकर 'अनुदात्त' के समान ही उच्चारित होता है क्योंकि इसके बाद में 'उदात्त' 'अक्षर' है।

[1] ऋ० ८।१०३।१४ [2] ऋ० २।९।१

उ० भा०—इदानीं पदान्तपदाद्योः सन्धावुदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितानां बलाबलमाह।। यस्मिन्नेकीभावे पूर्वमुत्तरं वोदात्तं भवति इतरस्तु चतुर्णां स्वराणामन्यतमः स उदात्तवानेकीभावः। तस्मिन् उदात्तवत्येकीभावे उदात्तं संध्यमक्षरं जानीयात्। द्वयोरुदात्तयोः—"तानिं नरा जुजुषाणोपं यातम्।"[१] "इन्द्रेहिं मत्स्यन्धंसः"[२]—अत्र मध्यगत आकार उदात्तोऽधस्तनं स्वरितमुपरितन चानुदात्तमुदात्तीकरोति। "शुत यथेमं शुरदो नयातीन्द्रः"[३]—प्रचित उदात्तेन लुप्तः॥

उ० भा० अ०—अब पदान्त और पदादि की सधि होने पर 'उदात्त', 'अनुदात्त', 'स्वरित' और 'प्रचय' के बल (=प्रावल्य) और अबल (=दौर्बल्य) को (सूत्रकार) कहते हैं। जिस एकीभाव (सधि) में पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती ('अक्षर') 'उदात्त' होता है और (दूसरी ओर) अन्य 'अक्षर' चारों ('उदात्त', 'अनुदात्त', 'स्वरित' और 'प्रचय') में से कोई एक होता है वह 'उदात्तवान्' (='उदात्त' वाला) एकीभाव (सधि) है। उस, उदात्तवत्येकीभावे='उदात्तवान्' (='उदात्त' वाले) एकीभाव (सधि) में, उदात्तं संध्यमक्षरम्= सधि में उत्पन्न होने वाले 'अक्षर' को 'उदात्त' जानना चाहिए (तात्पर्य यह है कि 'उदात्त' वाले पदान्त अथवा पदादि 'अक्षर' की किसी भी 'स्वर' वाले 'अक्षर' के साथ सधि हो तो सधिज 'अक्षर' 'उदात्त' होगा)। दो उदात्तो की (सधि का उदाहरण)— "तानिं नरा जुजुषाणोपं यातम्।"[क] ('स्वरित' और 'उदात्त' तथा 'उदात्त' और 'अनुदात्त' की सधि का उदाहरण)—' इन्द्रेहिं मत्स्यन्धंस."[ख]—यहाँ ('इन्द्रेहिं' में) मध्यवर्ती 'उदात्त' आकार पूर्ववर्ती 'स्वरित' को तथा परवर्ती 'अनुदात्त' को 'उदात्त' कर देता है। ('प्रचय' और 'उदात्त' की सधि का उदाहरण)—"शुत यथेम शुरदो नयातीन्द्र"[ग]—'उदात्त' के द्वारा 'प्रचित' ('प्रचय') लुप्त हो गया।

अनुदात्तोदये पुनः स्वरितं स्वरितोपधे ॥१२॥

सू० अ०—किंतु 'अनुदात्त' बाद में होने पर और 'स्वरित' पूर्व में होने पर (संधिज 'अक्षर') 'स्वरित' होता है।

टि० (क) तानिं। नुरा। जुजुषाणा। उपं। यातम्॥ प० पा०
'णा' का 'उदात्त' और 'उ' का 'उदात्त'—ये दोनों—मिलकर 'उदात्त' ('णो') हो गये हैं।

(ख) इन्द्रं। आ। इहि। मत्सिं। अन्धंस॥ प० पा०
'द्र' का 'स्वरित' और 'आ' का 'उदात्त'—ये दोनो–मिलकर 'उदात्त' (द्रा) हो गए हैं। 'इन्द्रा'+'इहि'—यह स्थिति हो जाने पर 'द्रा' का 'उदात्त' और 'इ' का 'अनुदात्त'—ये दोनो—मिलकर एक 'उदात्त' (द्रे) हो गए हैं।

(ग) शुतम्। यथां। इमम्। शुरदं। नयांति। इन्द्रं॥ प० पा०
यहाँ पर 'इन्द्र' के 'उदात्त' 'इ' ने 'नयाति' के 'प्रचय' 'इ' को लुप्त कर दिया अर्थात् 'प्रचय' और 'उदात्त' मिलकर 'उदात्त' (ई) हो गए हैं।

---

[१] ऋ० २।३९।८ [२] ऋ० १।९।१ [३] ऋ० १०।१६१।३

उ० भा०—उदात्तस्तावत्सर्वान्स्वरान् लुम्पति। अथ स्वरितोऽनुदात्तं लुम्पत्येतद्दर्शयति। अनुदात्तोदये पुनरयं विशेषः। स्वरितोपधोऽनुदात्तः स्वरितमापद्यते। क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥[1]

उ० भा० अ०—'उदात्त' तो सब स्वरों को लुप्त कर देता है। अब (सूत्रकार) यह दिखलाते हैं कि 'स्वरित' 'अनुदात्त' को लुप्त कर देता है। किंतु यह विशेष (कार्य) (='स्वरित' के द्वारा 'अनुदात्त' का लोप) 'अनुदात्त' परे होने पर (ही होता है)। 'स्वरित' है उपधा (=अव्यवहित पूर्ववर्ती) जिसकी वह 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है (अर्थात् पूर्ववर्ती 'स्वरित' और परवर्ती 'अनुदात्त'—ये दोनों—मिलकर 'स्वरित' हो जाते हैं)। (जैसे) "क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।"[क]

इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥१२॥

सू० अ०—दो इकारों की 'प्रश्लिष्ट' संधि में, 'क्षैप्र' (संधियों में) और 'अभिनिहित' (संधियों) में, 'उदात्त' पूर्व में होने पर (और 'अनुदात्त' बाद में होने पर), शाकल्य के मत से ऐसा (='स्वरित') करना चाहिए।

उ० भा०—ह्रस्वयोः इकारयोः प्रश्लेषे; (क्षैप्राभिनिहितेषु च=) क्षैप्रसंधिषु चाभिनिहितसंधिषु चाविशेषेण; उदात्तपूर्वरूपेषु अनुदात्तोत्तररूपेषु; (शाकल्यस्य=) शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन; एवमाचरेत्। एवम् इति स्वरितनिर्देशः। "स्रुचीव घृतम्।"[2] "योजा न्विन्द्र ते हरी।"[3] "तेऽवर्धन्त स्वतवसः।"[4] इकारयोः इति किम्? "सुध्यो जनानो वि होमिद्धः।"[5] उदात्तपूर्वरूपेषु इति किम्? "उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।"[6] "स तु वस्त्राण्यध पेशनानि।"[7] "हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः॥"[8]

उ० भा० अ०—इकारयोः प्रश्लेषे=दो 'ह्रस्व' इकारों की 'प्रश्लिष्ट' संधि होने पर; (क्षैप्राभिनिहितेषु च=) 'क्षैप्र' संधियों में और 'अभिनिहित' संधियों में बिना किसी विशेष के (अर्थात् 'क्षैप्र' संधियों और 'अभिनिहित' संधियों में सर्वत्र); उदात्तपूर्वरूपेषु= 'उदात्त' पूर्वरूप (अर्थात् पूर्व में) हो और 'अनुदात्त' उत्तर-रूप (अर्थात् बाद में) हो तो; (शाकल्यस्य=) शाकल्य आचार्य के मत से; एवमाचरेत्=इस प्रकार करना चाहिए। एवम् (=इस प्रकार) के द्वारा 'स्वरित' का निर्देश (किया गया है) (ऐसा करना चाहिए=

टि० (क) क्षीरम्। सर्पिः। मधु। उदकम्॥ प० पा०

यहाँ 'मधु' का 'स्वरित' (धु) पूर्व में है तथा 'उदकम्' का 'अनुदात्त' (उ) बाद में है। ये 'स्वरित' और 'अनुदात्त' मिलकर 'स्वरित' हो गए हैं।

[1] ऋ० ९।६७।३२ [2] ऋ० १०।९१।१५ [3] ऋ० १।८२।१
[4] ऋ० १।८५।७ [5] ऋ० १०।४५।४ [6] ऋ० २।१२।५
[7] ऋ० १०।१।६ [8] ऋ० १।१६३।९

'स्वरित' करना चाहिए)।[क] (जैसे) "स्रुचीव घृतम्।"[ख] "योजा न्विन्द्र ते हरी।"[ग] "तेऽव-र्धन्तु स्वतवसः।"[घ] "दो 'ह्रस्व' इकारो की"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धः।"[ङ] "'उदात्त' पूर्वरूप (=पूर्व में) हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्"[च]; "स तु वस्त्राण्यध पेशनानि"[छ]; "हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः।"[ज]

टि० (क) यह सूत्र ३।११ का अपवाद है। उल्लिखित तीनो सधियों में पूर्ववर्ती 'उदात्त' और परवर्ती 'अनुदात्त' मिलकर 'स्वरित' हो गये हैं।

(ख) स्रुचिऽइव। घृतम्॥ प० पा०

यहाँ २।१५ से दो 'ह्रस्व' इकारो की 'प्रश्लिष्ट' सधि हुई है जिनम पूर्ववर्ती 'इ' 'उदात्त' है और परवर्ती 'इ' 'अनुदात्त' है। 'उदात्त' ('इ') और 'अनुदात्त' ('इ') मिलकर एक 'स्वरित' ('ई') हो गए हैं।

(ग) योज। नु। इन्द्र। ते। हरी इति॥ प० पा०

यहाँ २।२१ से 'क्षैप्र' सधि हुई है। 'नु' ('उ') का 'उदात्त' और 'इन्द्र' ('इ') का 'अनुदात्त' संधि होने पर 'स्वरित' ('वि') हो गए है।

(घ) ते। अवर्धन्तु। स्वऽतवस॥ प० पा०

यहाँ २।४६ से 'अभिनिहित' सधि हुई है। पूर्ववर्ती 'ते' का 'उदात्त' और परवती 'अ' का 'अनुदात्त' मिलकर एक-'स्वरित' ('ते') हो गए है।

(ङ) सद्यः। जज्ञान। वि। हि। ईम्। इद्धः॥ प० पा०

यहाँ पूर्ववर्ती 'हि' का 'उदात्त' और परवर्ती 'ई' का 'अनुदात्त'—ये दोनो—२।१५ से मिलकर 'स्वरित' नही अपितु 'उदात्त' हो गए क्योकि परवर्ती 'ई' 'दीर्घ' है। प्रस्तुत सूत्र दो 'ह्रस्व' इकारो की 'प्रश्लिष्ट' सधि में 'स्वरित' का विधान करता है। यदि एक ओर 'दीर्घ' ईकार हो तो ३।११ से सधिज 'अक्षर' 'उदात्त' ही होगा।

(च) उत। ईम्। आहुः। न। एष। अस्ति। इति। एनम्॥ प० पा०

यहाँ 'उदात्त' ('इ') और 'अनुदात्त' ('ति'='इ') की २।१५से 'प्रश्लिष्ट' सधि होने पर संधिज 'अक्षर' ('ती'='ई') प्रस्तुत सूत्र से 'स्वरित' न होकर ३।११से 'उदात्त' हो गया है 'क्योकि उदात्त' पूर्व में न होकर बाद में है और 'अनुदात्त' पूर्व में है।

(छ) स। तु। वस्त्राणि। अध। पेशनानि॥ प० पा०

यहाँ 'उदात्त' ('अ') और 'अनुदात्त' ('णि'='इ') की २।२१ से 'क्षैप्र' सधि होने पर संधिज 'अक्षर' ('य') प्रस्तुत सूत्र से 'स्वरित' न होकर ३।११ से 'उदात्त' हो गया क्योकि 'उदात्त' पूर्व में न होकर बाद में है और 'अनुदात्त' पूर्व में है।

(ज) हिरण्यऽशृङ्गः। अयः। अस्य। पादाः॥ प० पा०

यहाँ 'उदात्त' और 'अनुदात्त' अक्षरो की सधि होने पर सधिज 'अक्षर' ('ङ्गो') प्रस्तुत सूत्र से 'स्वरित' न होकर ३।११ से 'उदात्त' हो गया है क्योकि 'उदात्त' पूर्व में न होकर बाद में है और 'अनुदात्त' पूर्व में है।

माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत् ॥१४॥

सू० अ०—माण्डूकेय (आचार्य के मत से) सभी 'प्रश्लिष्ट' संधियों में वैसा ('उदात्त' और 'अनुदात्त' के मिलने से 'स्वरित' होना) स्मरण करना चाहिए।

उ० भा०—माण्डूकेयस्य आचार्यस्य मतेन सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु उदात्तपूर्वरूपेषु तथा स्मरेत्, न तु कुर्यात्। "एन्द्र याहि हरिभिः।"[1] "वि हीमिद्धो अत्युदा रोदसी॥"[2]

उ० भा० अ०—माण्डूकेयस्य=माण्डूकेय आचार्य के मत से; सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु= सभी 'प्रश्लिष्ट' संधियों में; 'उदात्त' पूर्व में होने पर (और 'अनुदात्त' बाद में होने पर); तथा स्मरेत्=वैसा (='स्वरित' हो जाना) स्मरण करना चाहिए किंतु ऐसा करना नहीं चाहिए (तात्पर्य यह है कि आचार्य माण्डूकेय के अनुसार सभी 'प्रश्लिष्ट' संधियों में पूर्ववर्ती 'उदात्त' और परवर्ती 'अनुदात्त' मिलकर 'स्वरित' हो जाते हैं) (जैसे) "एन्द्र याहि हरिभि."[क]; "वि हीमिद्धो अत्युदा रोदसी।"[ख]

इत्येकीभाविनां धर्माः ॥१५॥

सू० अ०—ये एक होने वाले (अक्षरों) के धर्म हैं।

उ० भा०—इति=एवंप्रकाराः; एकीभाविनाम् अक्षराणां धर्माः प्रत्येतव्याः— "उदात्तवत्येकीभावे"[3] इत्यत आरभ्य। समाप्त्यर्थो वा इतिशब्दः॥

उ० भा० अ०—"'उदात्तवान्' एकीभाव (संधि) में"—इस (सूत्र) से प्रारम्भ करके (३।१४ तक)—एक हो जाने वाले (अर्थात् संधि को प्राप्त करने वाले) अक्षरों के; इति= इस प्रकार के, धर्माः=धर्मों को; जानना चाहिए। अथवा इति-शब्द समाप्ति (बतलाने) के लिए (सूत्र में प्रयुक्त हुआ है)।

परैः प्रथमभाविनः ॥१६॥

सू० अ०—बाद में आने वाले (उदात्तों) के साथ (जो संधियाँ होती हैं उनमें तो संधिज 'अक्षर') प्रथम (='उदात्त') ही होता है।

उ० भा०—परैस्तूदात्तैर्य एकीभावास्ते प्रथमभाविनः स्युः। द्वयोरप्याचार्ययोर्मतेनो-दात्तभाविन. स्युः। "उदात्तवत्येकीभावे"[4] इत्येतद्धि प्रथममुक्तम्। "आच्या जानु दक्षिणतः।"[5] "प्रास्य पार नवर्ति नाव्यानाम्॥"[6]

टि० (क) आ। इन्द्र। याहि। हरिभि.॥ प० पा०

(ख) वि। हि। ईम्। इद्ध.। अत्यत्। आ। रोदसी इति॥ प० पा०

माण्डूकेय आचार्य के मत से इन स्थलों पर 'उदात्त' और 'अनुदात्त' मिलकर एक 'स्वरित' हो जाते हैं। हमें आचार्य माण्डूकेय के इस मत को केवल स्मरण रखना चाहिए किंतु ऐसा करना नहीं चाहिए। इन दोनों स्थलों पर ३।११ से 'उदात्त' और 'अनुदात्त' मिलकर 'उदात्त' ही होते हैं, 'स्वरित' नहीं।

---

[1] ऋ० ८।३४।१ [2] ऋ० १०।४५।४ [3] ३।११
[4] ३।११ [5] ऋ० १०।१५।६ [6] ऋ० १।१२१।१३

उ० भा० अ०—परवर्ती उदात्तों के साथ जो सधियाँ होती हैं उनमें प्रथम सूत्र (३।११) के अनुसार (सधिज 'अक्षर' 'उदात्त' ही) होता है।[क] दोनो (शाकल्य और माण्डूकेय) ही आचार्यों के मत से (वहाँ सधिज 'अक्षर') 'उदात्त' हो जाता है। " 'उदात्तवान्' एकीभाव (सधि) में"—यह सूत्र ('उदात्त' का विधान) पहले ही कर चुका हैं। (जैसे) "आच्या जानु दक्षिणत"[ख]; "प्रास्य पार नवति नाव्यानाम्।"[ग]

(विवृत्तिव्यञ्जनव्यवधानेऽपि स्वरितनिष्पत्तिः)

उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा।
स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम् ॥१७॥

(विवृत्ति और व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी स्वरित की निष्पत्ति)

सू० अ०—'उदात्त' है पूर्व में जिसके वह 'अनुदात्त' ('अक्षर') (नियत) 'विवृत्ति' या 'व्यञ्जन' से व्यवहित (अन्तर्हित) होने पर भी 'स्वरित' हो जाता है, यदि (उस 'अनुदात्त' 'अक्षर' के) बाद में 'उदात्त' ('अक्षर') अथवा 'स्वरित' ('अक्षर') न हो।

उ० भा०—उदात्तः पूर्वो यस्मादित्युदात्तपूर्वम्। उदात्तपूर्वम्; नियतम्=अनुदात्तम्; विवृत्त्या व्यञ्जनेन वान्तर्हितम् अक्षरं स्वर्यते। "य इन्द्र सोमपातमः।"[1] "अग्निमीळे पुरोहितम्।"[2] न चेदुदात्तस्वरितोदयम् इति किम्? "ज्या इय समने पारयन्ती"[3]; "इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमम्"[4]; "क्व१ वोऽश्वाः क्वा३भीशवः ॥"[5]

उ० भा० अ०—'उदात्त' है पूर्व में जिसके वह उदात्तपूर्व है। उदात्तपूर्वम्= 'उदात्त' ('अक्षर') है पूर्व में जिसके वह; नियतम्='अनुदात्त' ('अक्षर'); विवृत्त्या व्यञ्जनेन वान्तर्हितम्='विवृत्ति' या 'व्यञ्जन' से व्यवहित (अन्तर्हित), स्वर्यते='स्वरित' हो जाता है (तात्पर्य यह है कि मध्य में 'विवृत्ति' अथवा 'व्यञ्जन' का व्यवधान होने पर भी 'उदात्त' ('अक्षर') के बाद में विद्यमान 'अनुदात्त' ('अक्षर') 'स्वरित' हो जाता है)।

टि० (क) तात्पर्य यह है कि यदि बाद में 'उदात्त' 'अक्षर' हो और पूर्व में 'अनुदात्त' 'अक्षर' हो तो सभी प्रकार की सधियो में सधिज 'अक्षर' 'उदात्त' ही होता है, वहाँ 'स्वरित' कभी नही होता।

(ख) आऽअच्य॑। जानु॑। दक्षिणत ॥ प० पा०

(ग) प्रऽअस्य॑। पारम्। नवतिम्। नाव्यानाम्। प० पा०

इन दोनो स्थलों पर पूर्व में 'अनुदात्त' और बाद में 'उदात्त' है, अत ३।१३ से यहाँ 'उदात्त' और 'अनुदात्त' मिलकर एक 'स्वरित' न होकर ३।११ से 'उदात्त' हो गए हैं।

[1] ऋ० ८।१२।१
[2] ऋ० १।१।१
[3] ऋ० ६।७५।३
[4] ऋ० ३।३२।१
[5] ऋ० ५।६१।२

(उदाहरण) "य इन्द्र सोमपातम ।"क अग्निमीळे पुरोहितम् ।"ख "यदि 'उदात्त' ('अक्षर') या 'स्वरित' ('अक्षर') परे न हो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "ज्या इयं समने पारयन्ती"ग; 'इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमम्"घ; "क्व वोऽश्वाः क्वाभीशवः ।"ङ

(संधिजस्वरितानां संज्ञासूत्रम्)

वैवृत्ततैरोव्यञ्जनौ क्षैप्राभिनिहितौ च तान् ।
प्रश्लिष्टं च यथासंधि स्वारानाचक्षते पृथक् ॥१८॥

(संधिज स्वरितों का संज्ञासूत्र)

सू० अ० - संधियों के अनुसार उन ('स्वरित') स्वरों को पृथक् रूप से 'वैवृत्त', 'तैरोव्यञ्जन', 'क्षैप्र', 'अभिनिहित' और 'प्रश्लिष्ट' ('स्वरित') कहते हैं।

उ० भा० – विवृत्तौ भवो वैवृत्तः । "स्वरान्तरं तु विवृत्तिः"[१] इत्युक्तम् । तिरोऽन्तर्धानं व्यञ्जनं यस्येति तैरोव्यञ्जनः । क्षैप्राभिनिहितौ च प्रश्लिष्टं च । तान्=एतान्; यथासंधि—यस्मिन्संधौ=यथासंधि । तद्यथा क्षिप्रसंधौ भवः क्षैप्र इत्यादि । स्वारान्; (आचक्षते=) कथयन्ति; व्यालिप्रभृतयः । पृथक्=नाना । एते चावस्तात्सोदाहरणाः प्रतिपादिता । संज्ञार्थं पुनर्वचनम् ॥

टि० (क) य । इन्द्र । सोमऽपातम ॥ प० पा०

यहाँ पर 'य' तथा 'इ' के मध्य में 'विवृत्ति' का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती 'उदात्त' 'अक्षर' ('य') के कारण परवर्ती 'अनुदात्त' 'अक्षर' ('इ') प्रस्तुत सूत्र से 'स्वरित' हो गया।

(ख) अग्निम् । ईळे । पुरःऽहितम् ॥ प० पा०

मध्य में 'व्यञ्जन' ('म्') का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती 'उदात्त' 'अक्षर' ('इ') के कारण परवर्ती 'अनुदात्त' 'अक्षर' ('ई') 'स्वरित' हो गया है। यहाँ भिन्न पद में अवस्थित 'अनुदात्त' 'अक्षर' 'स्वरित' हुआ है।

(ग) ज्या । इयम् । समने । पारयन्ती ॥ प० पा०

यहाँ पर 'ज्या' के 'उदात्त' 'अक्षर' के कारण 'इयम्' का 'इ' 'स्वरित' नहीं हुआ क्योंकि 'इ' के बाद में 'उदात्त' 'अक्षर' 'य' है।

(घ) इन्द्र । सोमम् । सोमऽपते । पिब । इमम् ॥

'इन्द्र' के 'उदात्त' 'इ' के कारण 'द्र' 'स्वरित' नहीं हुआ क्योंकि बाद में 'उदात्त' 'अक्षर' ('सो') विद्यमान है।

(ङ) क्व । वः । अश्वाः । क्व । अभीशवः ॥ प० पा०

'वो' के 'उदात्त' 'अक्षर' के कारण 'श्वा' का 'अनुदात्त' 'अक्षर' 'स्वरित' नहीं हुआ क्योंकि बाद में 'स्वरित' 'अक्षर' है।

---

(१) २।३

उ० भा० अ०—'विवृत्ति' में होने वाला 'वैवृत्त' ('स्वरित') है।क "दो 'स्वर'-वर्णों के मध्यम अवकाश को 'विवृत्ति' (कहते हैं)"—यह (२।३ में) कहा जा चुका है। तिरः=अन्तर्धान=तिरोहित, हो 'व्यञ्जन' जिसमें उसे 'तैरोव्यञ्जन स्वरित' कहते हैं।ख **क्षैप्राभिनिहितौ च प्रश्लिष्टं च**='क्षैप्र', 'अभिनिहित' और 'प्रश्लिष्ट', **तान्**=इनको, **यथासंधि**=जिस सधि में होवे उसके अनुसार। उदाहरण के लिए 'क्षिप्र' ('क्षैप्र') सधि में होने वाला क्षैप्र' ('स्वरित' कहलाता है) इत्यादि। **स्वारान्**=स्वरो को, (**आचक्षते**=) कहते हैं, व्याळि इत्यादि (आचार्य)। पृथक्=नाना=भिन्न प्रकार से (तात्पर्य यह है कि जिस सधि में जो 'स्वरित' होवे उस सधि के नाम के अनुसार उस 'स्वरित को कहते हैं)। इन ('स्वरित' स्वरो) का प्रतिपादन पहले ही उदाहरणो के साथ कर दिया गया है। सज्ञा के लिए पुन (इस सूत्र में) कहा गया है।

(संहितायां प्रचयः स्वरः, तस्य उच्चारणप्रकारश्च)

स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा ॥१६॥

(संहिता में प्रचय स्वर और उसका उच्चारण-प्रकार)

सू० अ०—'स्वरित' से बाद में आने वाले अनुदात्तो का 'प्रचय' 'स्वर' (हो जाता है)। (ऐसी अवस्था में वे 'अनुदात्त') 'उदात्त' के समान सुनाई पड़ते हैं—चाहे वे एक हो, दो हों अथवा बहुत हों।

उ० भा० स्वरितात्परेषामनुदात्तानां प्रचयः स्वरो भवति। सहितायां प्रचयःस्वरोऽधस्तान्न प्रतिपादित इत्यत आह। उदात्तश्रुतितां यान्ति=उदात्तश्रुतीनि भवन्ति।

टि० (क) २।३ में कहा जा चुका है कि सहिता में दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य में विद्यमान काल के व्यवधान को 'विवृत्ति' कहते है। ऐसे स्थानो में पदान्त 'उदात्त' 'स्वर' से परे जहाँ पदादि 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है, उसे 'वैवृत्त स्वरित' कहते है। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि जहाँ 'विवृत्ति' का व्यवधान होने पर भी पदान्त 'उदात्त' के कारण पदादि 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है उसे 'वैवृत्त स्वरित' कहते हैं।

(ख) जहाँ 'व्यञ्जन' का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती 'उदात्त' के कारण परवर्ती 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जावे उस 'स्वरित' को 'तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं। मध्य में आधी मात्रा वाले 'व्यञ्जन' का व्यवधान होने पर ऐसे स्थलो पर 'स्वरित' की प्राप्ति नही होनी चाहिए किंतु ३।१७ में ऐसे स्थलो पर 'स्वरित' होने का विधान कर दिया गया है। व्याकरण में इस कार्य की सिद्धि इस परिभाषा के द्वारा की गई है—"स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवति" जिसका अर्थ है कि स्वरविधि में 'व्यञ्जन' को अविद्यमानवत् माना जाता है—'व्यञ्जन' का व्यवधान नही माना जाता है। 'तैरोव्यञ्जन स्वरित' को 'व्यञ्जन-व्यवहित स्वरित' भी कहा जा सकता है।

एकम् अक्षरं द्वे वा अक्षरे बहूनि वा अक्षराणि । "अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् ।"[१] "नास॑त्याभ्यां ब॒र्हिरि॑व ।"[२] "इ॒मं मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति ।"[३] "वाजे॑वाजेऽवत वाजिनो नः ॥"[४]

उ० भा० अ०—**स्वरितात्परेषामनुदात्तानाम्**='स्वरित' से परवर्ती अनुदात्तों का; **प्रचयः स्वरः**='प्रचय' 'स्वर'; हो जाता है। संहिता में 'प्रचय' 'स्वर' का पहले प्रतिपादन नहीं किया गया है इसलिए (उसके विषय में सूत्रकार इस सूत्र में) कहते हैं। **उदात्तश्रुतितां यान्ति**='उदात्तश्रुति' हो जाते हैं='उदात्त' के समान सुनाई पड़ते हैं। चाहे; **एकम्**=एक 'अक्षर' हो; **द्वे वा**=या दो 'अक्षर' हों; **बहूनि वा**=या बहुत 'अक्षर' हों (तात्पर्य यह है कि 'स्वरित' के बाद में विद्यमान एक या दो या बहुत 'अनुदात्त' अक्षरों का 'प्रचय' 'स्वर' हो जाता है और 'प्रचय' 'स्वर' 'उदात्त' के समान सुनाई पड़ता है)। (एक 'प्रचय' का उदाहरण)—"अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् ।"[क] (दो प्रचयों का उदाहरण)—"नास॑त्याभ्यां ब॒र्हिरि॑व ।"[ख] (बहुत प्रचयों के उदाहरण)—"इ॒मं गङ्गे यमुने सरस्वति"[ग]; "वाजे॑वाजेऽवत वाजिनो नः ।"[घ]

केचित्त्वेकमनेकं वा नियच्छन्त्यन्ततोऽक्षरम् ।
आ वा शेषात् ॥२०॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) अन्त से (प्रारम्भ करके) एक या एक से अधिक अक्षरों को 'अनुदात्त' कर देते हैं या अन्तिम 'अक्षर' के पूर्व तक (सभी अक्षरों को 'अनुदात्त' कर देते हैं)।

उ० भा०—तुशब्दो विशेषणार्थः। केचित्तु आचार्या एकमक्षरमनेकं वा अक्षरं द्वे वाक्षरे, **नियच्छन्ति**=नीचीकुर्वन्ति; अन्तत आरम्य; निर्निमित्तमेव=उदात्तं स्वरितं विनेत्यर्थः। **आ शेषाद्वा**, यावदेकमक्षरम्, अनेकं वाक्षर=द्वे वाक्षरे; नियच्छन्ति। एकेनापि प्रचितस्वरूप दर्शित भवत्येवेत्यर्थः ॥

उ० भा० अ०—तु-शब्द विशेषण के लिए (सूत्र में प्रयुक्त है) (अर्थात् ३।१९ में प्रतिपादित नियम से सम्बद्ध एक विशेष बात इस प्रस्तुत सूत्र में बतलाई जायेगी—यह बतलाने के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'तु' शब्द प्रयुक्त हुआ है)। **केचित्तु**=कतिपय आचार्य तो, **एकमक्षरम्**=एक 'अक्षर' को; **अनेकं वा**=या अनेक अक्षरों को=दो अक्षरों को; **नियच्छन्ति**=नीचा ('अनुदात्त') कर देते हैं, **अन्ततः**=अन्त से प्रारम्भ करके; बिना किसी निमित्त के ही=(बाद में) 'उदात्त या 'स्वरित' आए बिना ही—यह अर्थ है। **आ शेषाद्वा**=अन्तिम 'अक्षर' के पहले तक (सभी अक्षरों को), 'या एक 'अक्षर' को या

टि० (क) अ॒ग्निम् । ई॒ळे॒ । पु॒रःऽहि॑तम् ॥ प० पा०
(ख) नास॑त्याभ्याम् । ब॒र्हिःऽइ॑व ॥ प० पा०
(ग) इ॒मम् । मे॒ । ग॒ङ्गे॒ । य॒मु॒ने॒ । स॒र॒स्व॒ति॒ ॥ प० पा०
(घ) वाजे॑ऽवाजे । अ॒व॒त॒ । वा॒जि॒नः॒ । नः॒ ॥ प० पा०

[१] ऋ० १।१।१ [२] ऋ० १।११६।१
[३] ऋ० १०।७५।५ [४] ऋ० ७।३८।८

अनेक अक्षरो को=दो अक्षरों को; नीचा ('अनुदात्त') कर देते हैं। एक भी 'अक्षर' से 'प्रचय' का स्वरूप प्रदर्शित हो ही, जाता है—इसलिए (अन्य अक्षरों को 'अनुदात्त' कर दिया जाता है)[क] (इन आचार्यों का मत है कि जब एक ही 'अक्षर' 'प्रचय' के स्वरूप को दिखलाने में पर्याप्त है तब अनेक अक्षरो को 'प्रचय' करने की आवश्यकता नही रह जाती)।

नियुक्तं तूदात्तस्वरितोदयम् ॥२१॥

सू० अ०—बाद में 'उदात्त' या 'स्वरित' हो तो (पूर्ववर्ती 'प्रचय' को) निश्चित रूप से ('अनुदात्त' कर देते हैं)।

उ० भा०—तुशब्दोऽवधारणार्थः। सर्व एवाचार्याः, नियुक्तं=निश्चितमविप्रतिपत्त्या; अनुदात्त कुर्वन्ति; (उदात्तस्वरितोदयम्=) उदात्तोदयं स्वरितोदयम्=उदात्तपरं स्वरितपरं च। "वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु।"[१] "तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यम् ॥"[२]

उ० भा० अ०—तु-शब्द निश्चय (अवधारण) के लिए है। सभी आचार्य, नियुक्तम्=विना किसी मतभेद के निश्चित रूप से, (उदात्तस्वरितोदयम्=) उदात्तोदय तथा स्वरितोदय को='उदात्त' है बाद में जिसके तथा 'स्वरित' है बाद में जिसके उस ('प्रचय') को ('अनुदात्त' कर देते हैं)। (उदाहरण) "वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु"[ख], "तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यम्।"[ग]

नियमं कारणादेके प्रचयस्वरधर्मवत्।
प्रचयस्वर आचारः शाकल्यान्यतरेययोः ॥२२॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) 'प्रचय' के 'अनुदात्त' करने ('नियम') को (इस) कारण से (बतलाते हैं कि ऐसा करने से) 'प्रचय' 'स्वर' के (असाधारण) धर्म (विशेषता) (का ज्ञान हो जाता है)। 'प्रचय' 'स्वर' का यह व्यवहार शाकल्य और अन्यतरेय (आचार्यों के मतानुसार है)।

टि० (क) इस प्रकार यहाँ ये तीन मत हैं—(१) कतिपय आचार्य अन्तिम 'प्रचय' का 'अनुदात्त' उच्चारण करते है (२) कतिपय आचार्य अन्तिम दो 'प्रचयों' का 'अनुदात्त' उच्चारण करते है और (३) कतिपय आचार्य प्रथम एक 'प्रचय' को छोड़कर अन्य सभी प्रचयो का 'अनुदात्त' उच्चारण करते है।

(ख) वाजेऽवाजे। अवत। वाजिनः। नः। धनेषु॥ प० पा०
'उदात्त' ('ध') बाद में आने के कारण पूर्ववर्ती 'प्रचय' ('न'='नो') 'अनुदात्त' हो गया है।

(ग) तम्। एव। ऋषिम्। तम्। ऊँ इति। ब्रह्माणम्। आहु। यज्ञऽन्यम्॥ प० पा०
'स्वरित' ('न्य') बाद में आने के कारण पूर्ववर्ती 'प्रचय' ('ज्ञ') 'अनुदात्त' हो गया है।

---

[१] ऋ० ७।३८।८ [२] ऋ० १०।१०७।६

उ० भा०—नियमम्=नियमनम्=अनुदात्तभावम्; कारणादेके मन्यन्त आचार्याः। किं तत्कारणमिति चेत्, (प्रचयस्वरधर्मवत्=) प्रचयस्वरधर्मयुक्तमध्ययनं यथा स्यादिति। यदि ह्युदात्तस्वरितोदयं प्रचितं नानुदात्तं भवेदथ प्रचितोदात्तयोः को विशेषः स्यादिति? प्रचितो हि स्वरितोदात्तपरोऽनुदात्तो भवति न तूदात्तः। एव च कृत्वा; (प्रचयस्वरे) प्रचितस्वरे; आचारः अयम्; (शाकल्यान्यतरेययोः=) शाकल्यस्यान्यतरेयस्य च मत एतत्कारणको द्रष्टव्यः। उक्तान्येवोदाहरणानि॥

उ० भा० अ०—नियमम्=नियमन='अनुदात्त' करना; कारणादेके=कतिपय आचार्य एक कारण से मानते हैं। यदि पूछो कि वह क्या कारण है (तो सुनो बतलाते हैं)—प्रचयस्वरधर्मवत्=जिससे (हमारा) अध्ययन 'प्रचय' 'स्वर' के धर्म से युक्त हो (अर्थात् 'प्रचय' 'स्वर' की विशेषता को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम 'उदात्त' और 'स्वरित' से अव्यवहित पूर्ववर्ती 'प्रचय' का 'अनुदात्त' उच्चारण करें)। यदि 'उदात्त' और 'स्वरित' बाद में आने पर अव्यवहित पूर्ववर्ती 'प्रचय' का 'अनुदात्त' (उच्चारण) न करें, तब 'प्रचय' और 'उदात्त' में क्या भेद होगा? क्योंकि ('प्रचय' और 'उदात्त' में यही तो भेद है कि) 'स्वरित' और 'उदात्त' परे होने पर 'प्रचय' 'अनुदात्त' हो जाता है, 'उदात्त' ('अनुदात्त') नहीं होता।[क] 'प्रचय' 'स्वर' का इस कारण वाला यह आचार ('अनुदात्त' कर देना) शाकल्य और अन्यतरेय के मत से समझना चाहिए (अर्थात् शाकल्य और अन्यतरेय—ये दो आचार्य—'स्वरित' और उदात्त' परे रहते, 'प्रचय' को 'अनुदात्त' कर देते हैं)। उदाहरण तो पहले ही कहे जा चुके हैं।

टि० (क) 'प्रचय' को ही 'एकश्रुति' तथा 'उदात्तश्रुति' कहते हैं। 'प्रचय' का उच्चारण 'उदात्त' के समान होता है। यदि 'प्रचय' के बाद में 'उदात्त' अथवा 'स्वरित' (जिसका आदि वाला अंश 'उदात्त' होता है) आ जावे तो 'प्रचय' का उच्चारण 'अनुदात्त' के समान करना आवश्यक है क्योंकि ऐसा न करने पर 'प्रचय' और 'उदात्त' का उच्चारण समान रूप से होने के कारण 'प्रचय' और 'उदात्त' के भेद को समझना कठिन हो जायेगा। 'प्रचय' और 'उदात्त' के समान ध्वनि से उच्चारण होने के कारण इन दोनों में उच्चारण-विषयक कोई अन्तर नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर इन दोनों में केवल यही अन्तर है कि 'उदात्त' कभी भी 'अनुदात्त' नहीं हो सकता जबकि 'प्रचय', 'उदात्त' या 'स्वरित' परे रहते, 'अनुदात्त' हो जाता है। यदि इस परिस्थिति में भी 'प्रचय' को 'अनुदात्त' नहीं किया जायेगा तब तो 'प्रचय' और 'उदात्त' में कोई भी अन्तर नहीं होगा। चिह्नों की दृष्टि से भी यही बात है। 'उदात्त' और 'प्रचय' ये दोनों ही अचिह्नित रहते हैं। यदि 'उदात्त' परे होने पर भी 'प्रचय' को 'अनुदात्त' नहीं करते तब तो 'प्रचय' और 'उदात्त' के भेद का पता ही नहीं चलेगा। इसीलिए 'उदात्त' से अव्यवहित पूर्ववर्ती 'प्रचय' को 'अनुदात्त' कर देते हैं।

(परिग्रहे स्वरनिरूपणम्)

परिग्रहे त्वनार्षान्तात्तेन वैकाक्षरीकृतात् ।
परेषां न्यासमाचारं व्यालिस्तौ चेत्स्वरौ परौ ॥२३॥

(परिग्रह में स्वर का निरूपण)

सू० अ०—व्यालि (आचार्य का कहना है कि) 'परिग्रह' में अनार्ष ('इति' शब्द) में अन्त होने वाले (पद) से बाद में आने वाले और उस (पदादि 'अक्षर') से मिलकर जो एक हो गया है उस ('इति') से बाद में आने वाले (अक्षरों) का 'अनुदात्त' करना ('न्यास') आचार है, यदि वे दो 'स्वर' ('उदात्त' और 'स्वरित') बाद में हों ।

उ० भा०—तुशब्दो विशेषणार्थं । एतावानेव विसंवादोऽधस्तनेन स्वरलक्षणेन सह । परिग्रहः=वेष्टक । एतावान्वेष्टके विशेषः । अनार्षान्तात् । अनार्षो य इतिकरण उच्यते स च द्व्यक्षर आद्युदात्तः पदाभ्यासस्य मध्ये वर्तमान पूर्वपदान्तमादिना स्पृशति द्वितीयपदादिमन्तेन स्पृशति । तस्यायं विकारः पदसन्धिरुक्त । स चोत्तरपदादिर् व्यञ्जनादिः स्वरादिर्वा भवति । यदि व्यञ्जनादिस्तदा प्रचये प्राप्तेऽयमपवादः । (अनार्षान्तात्परेषाम्=) अनार्षादितिकरणात्परेषामक्षराणाम्, न्यासम्=अनुदात्तत्वम्; आचारम् मन्यते व्यालिः आचार्यः । यदा तु स्वरादिर्भवति तदा तेन स्वरादिना एकाक्षरीकृतात्परेषां न्यासम् इति तुल्यम् । तौ, (चेत्=) यदि, स्वरौ परौ भवत उदात्तस्वरितौ ।

"सत्यानृते अवपश्यन् । सत्यानृते इति सत्यानृते ।"[1] "सुप्राव्यः इति सुप्रऽअव्यः ।"[2] तेन वैकाक्षरीकृतात्—"अललाभवन्तीरित्यललाऽभवन्ती ।"[3] तौ चेत्स्वरौ परौ इति किम् ? "शतक्रतो इति शतऽक्रतो ।"[4] 'अविहर्यतक्रतो इत्यविहर्यतऽक्रतो ॥"[5]

उ० भा० अ०—तु-शब्द विशेषण के लिए (अर्थात् एक विशेष बात बतलाने के लिए) (सूत्र में प्रयुक्त है)। पहले बतलाये गए 'स्वर' के नियमो से केवल इतना ही भेद है। परिग्रहः=वेष्टक=मध्य मे इति' शब्द रखकर पद का अभ्यास करना।[क] अनार्षान्तात्=अनार्ष ('इति' शब्द) में अन्त होने वाले (पद) से। अनार्ष जो 'इति' शब्द है[ख] वह दो अक्षरो से समन्वित तथा 'आद्युदात्त' (होता है), पद के अभ्यास के मध्य में वर्तमान (वह 'इति' शब्द) पूर्व-पद के अन्त (=अन्तिम वर्ण) को अपने आदि (=प्रथम वर्ण='इ') से स्पर्श करता है और द्वितीय पद के आदि (=प्रथम वर्ण) को अपने अन्त (=अन्तिम वर्ण='ति'='इ') से स्पर्श करता है। (दो पदो के मध्य में आने पर) उस ('इति') में जो विकार होगा वह तो (द्वितीय

टि० (क) 'परिग्रह' के लिए पृ० ४७ पर टि० (ख) देखिए।
(ख) ऋषियो ने संहिता-पाठ का दर्शन किया था, पद-पाठ का नही। इसलिए पद-पाठ में उपलब्ध 'इति' को 'अनार्ष' कहा गया है।

---

[1] ऋ० ऋ० ७।४९।३ [2] ऋ० ऋ० २।१३।९ [3] ऋ० ऋ० ४।१८।६
[4] ऋ० प० १।४।८ [5] ऋ० प० १।६३।२

पटल में) पद-संधियों में कह दिया गया है। और वह उत्तर-पद या तो 'व्यञ्जन'-वर्ण से प्रारम्भ होता है या 'स्वर'-वर्ण से प्रारम्भ होता है। यदि 'व्यञ्जन' से प्रारम्भ होवे तो (३।१९ से) 'प्रचय' प्राप्त होने पर यह (उस 'प्रचय' को इस सूत्र से 'अनुदात्त' करना) अपवाद है। [अनार्षान्तात्परेषाम्=अनार्ष ('इति' शब्द) में अन्त होने वाले (पद) से परवर्ती (अक्षरों) का=] अनार्ष 'इति' शब्द से बाद में आने वाले अक्षरों का; न्यासम्=अनुदात्तत्व ='अनुदात्त' करना, आचारम्=आचार=व्यवहार; मानते हैं; व्याळिः=व्याळि नामक आचार्य (अर्थात् व्याळि आचार्य के मत से 'परिग्रह' में 'इति' के बाद में विद्यमान 'प्रचय' 'स्वर' 'अनुदात्त' हो जाते हैं)। यदि (उत्तर-पद) 'स्वर'-वर्ण से प्रारम्भ होवे तो; तेन= उस पदादि 'स्वर'-वर्ण से; एकाक्षरीकृतात्परेषाम्=मिलकर एक हो जाने वाले (अनार्ष 'इति' शब्द) से बाद में आने वाले (अक्षरों) का; न्यासम्='अनुदात्त' होना; तुल्य है (अर्थात् यदि परवर्ती पद 'स्वर'-वर्ण से प्रारम्भ होने वाला है तो पदादि 'स्वर'-वर्ण से मिलकर एक हो जाने वाले 'इति' पद से बाद में विद्यमान 'प्रचय' 'स्वर' 'अनुदात्त' हो जाते हैं)। (चेत्=) यदि; तौ स्वरौ=वे दोनों 'स्वर'='उदात्त' और 'स्वरित'; परौ=बाद में होते हैं। (उदाहरण) "स॒त्या॒नृ॒ते अ॑व॒पश्य॑न्। स॒त्या॒नृ॒ते इति॑ स॒त्या॒नृ॒ते।"[क] "सु॒प्रा॒व्य॑ इति॑ सु॒प्रऽ॒अ॒व्य॑।"[ख] उस (परवर्ती पद के प्रथम 'स्वर'-वर्ण) से मिलकर जो एक 'अक्षर' हो गया है उस ('इति' शब्द) से (परवर्ती अक्षरों का अनुदात्तत्व)—"अ॒ल॒ला॒भव॑न्ती॒रित्य॑ल॒ला॒ऽभव॑न्ती।"[ग] "वे दो 'स्वर' ('उदात्त' और 'स्वरित') बाद में हों तो"—यह (सूत्र में) क्यों कहा? (उत्तर) श॒त॒क्र॒तो इति॑ श॒त॒ऽक्र॒तो।"[घ] "अ॒वि॒हृ॒र्य॒त॒क्र॒तो इत्य॑विहृर्य॒तऽक्र॒तो॥"[ङ]

टि० (क) 'इति' के 'स्वरित' के बाद में विद्यमान 'स', 'या' और 'नृ' प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'अनुदात्त' हो गए हैं। प्रस्तुत सूत्र ३।१९ का अपवाद है क्योंकि ३।१९ के अनुसार 'प्रचय' हो जाने वाले 'स' और 'या' भी प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'अनुदात्त' हो गए हैं। 'नृ' तो ३।२१ तथा प्रस्तुत सूत्र—इन दोनों—के अनुसार 'अनुदात्त' हो जाता है।

(ख) 'इति' के 'स्वरित' के बाद में विद्यमान 'सु', 'प्र' और 'अ' प्रस्तुत सूत्र से 'अनुदात्त' हो गए हैं। 'अ' का 'अनुदात्त' होना तो ३।२१ से भी सिद्ध हो जाता है।

(ग) यहाँ पर 'अललाभवन्ती' के 'अ' के साथ मिलकर 'इति' एक हो गया है। 'क्षैप्र' संधि से प्राप्त 'स्वरित' 'य' से बाद में विद्यमान 'ल' ३।१९ के अनुसार 'प्रचय' न होकर प्रस्तुत सूत्र से 'अनुदात्त' हो गया है। 'ला' का 'अनुदात्त' होना तो प्रस्तुत सूत्र और ३।२१—इन दोनों—से सिद्ध हो जाता है।

(घ) 'इति' के 'स्वरित' के बाद में विद्यमान 'प्रचय' प्रस्तुत सूत्र से 'अनुदात्त' न होकर ३।१९ से 'प्रचय' ही रह गए हैं क्योंकि बाद में 'उदात्त' या 'स्वरित' नहीं है।

(ङ) 'अविहृर्यतऽक्रतो' के 'अ' के साथ मिले हुए 'इति' शब्द से बाद में आने वाले 'प्रचय' 'अनुदात्त' न होकर 'प्रचय' ही रह गये हैं क्योंकि बाद में न 'उदात्त' है और न 'स्वरित'।

(अवग्रहे स्वरविचारः)

यथा संधीयमानानामनेकीभवतां स्वरः ।
उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे ॥२४॥

(अवग्रह में स्वर का विचार)

सू० अ०—संधि को प्राप्त होकर भी एक न होने वाले अक्षरों का जैसा 'स्वर' उपदिष्ट किया गया है वैसा ही (अक्षरो का 'स्वर') 'अवग्रह' होने पर भी जानना चाहिए।

उ० भा०—इदानीमवग्रहस्वरूपं निरूपयति। यथा=येन प्रकारेण; संधीयमानानाम्=एकीक्रियमाणानाम्; अनेकीभवताम्=प्रश्लेषमप्राप्नुवताम्=विवृत्तिव्यञ्जनतिरस्कृतानाम्; स्वर उपदिष्टः—"उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा। स्वर्यतेऽन्तर्हितम्"[1]; "स्वरितावनुदात्तानाम्"[2]—इत्यादिना च, तथाक्षराणामवग्रहे अपि; (विद्यात्=) जानीयात्। ननु च यो विवृत्तौ स्वर उक्तः स इह भवत्येव। कस्मादयं यत्नः कृतः? मात्राकालव्यवधानत्वान्न प्राप्नोति। उषःऽउषः"[3], "तावाऽइव"[4], "गणऽपतिम्"[5]; "गोऽपते"[6]; "परःऽहितम्।"[7]

उ० भा० अ०—अब (सूत्रकार) 'अवग्रह' के स्वरूप का निरूपण करते है। यथा=जिस प्रकार से; संधीयमानानाम्=एक किये जाने वाले; अनेकीभवताम्=प्रश्लेष को प्राप्त न होने वाले='विवृत्ति' और 'व्यञ्जन' को तिरस्कृत करने वाले, (अक्षरों का) 'स्वर' उपदिष्ट किया गया है—" 'उदात्त' से बाद में आने वाला 'अनुदात्त' 'विवृत्ति' और 'व्यञ्जन' से व्यवहित होने पर 'स्वरित' हो जाता ह", " 'स्वरित' के बाद में आने वाले अनुदात्तों का" इत्यादि के द्वारा; तथाक्षराणामवग्रहे=वैसा (ही) अक्षरो (का 'स्वर') 'अवग्रह' होने पर, (विद्यात्=) जानना चाहिए।[क] (शङ्का) 'विवृत्ति' में जो 'स्वर'

टि० (क) संहिता-पाठ के एक पद को जब पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा दो पद्यो में पृथक् कर दिया जाता है तब उन दो पद्यो के उच्चारणो के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है (दे० १।२८)। एक मात्रा काल का व्यवधान होने के कारण पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'स्वर' का प्रभाव उत्तर-'पद्य' के प्रथम 'स्वर' पर नही पडता किंतु प्रस्तुत सूत्र में यह विधान कर दिया गया है कि मध्य में 'अवग्रह' का व्यवधान होने पर भी पूर्व-'पद्य' का अन्तिम 'स्वर' उत्तर-'पद्य' के प्रथम 'स्वर' पर ३।१७ और ३।१९ के अनुसार प्रभाव डालता है। तात्पर्य यह है कि 'विवृत्ति' और 'व्यञ्जन' के समान 'अवग्रह' को भी 'स्वर' के विषय में अविद्यमानवत् माना जाता है। 'अवग्रह' को अविद्यमानवत् (तिरोहित) मानकर किए गए 'स्वरित' को वाजसनेयी-प्रातिशाख्य १।११८ में तैरोविराम 'स्वरित'

[1] ३।१७
[2] ३।१९
[3] ऋ० प० १०।८।४
[4] ऋ० प० १।९७।७
[5] ऋ० प० २।२३।१
[6] ऋ० प० ८।२१।३
[7] ऋ० प० १।१।१

कहा है वह यहाँ हो ही जाता है। (तब) किस कारण से (इस सूत्र के निर्माण का) परिश्रम किया ? (उत्तर) मात्रा काल का व्यवधान होने से ('विवृत्ति' का 'स्वर') यहाँ प्राप्त नहीं होता है।[क] (उदाहरण) "उ॒ष ऽउ॑षः"; "ना॒वाऽइ॑व"; गृ॒णऽप्र॑तिम्"; "गोऽप॑ते"; "पु॒रःऽहि॑तम्।"[ख]

पद्यादीँस्तु द्व्युदात्तानामसंहितवदुत्तरान् ॥२५॥

सू० अ०– दो उदात्तों वाले पदों के उत्तर वाले पद्यादियों को (अर्थात् उत्तर-पद्यों के आद्य अक्षरों को) असंहितवत् (अर्थात् पूर्व-पद्यों के अन्तिम अक्षरो के साथ न मिले हुए के समान) (जानना चाहिए)।

उ० भा०—पद्यम्=पदार्धम्। द्व्युदात्तानां पदानां पद्यादीनुत्तरानसंहितवत् जानीयात्स्वरविधौ। "ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मन्वे॑तवा उ॑"[१]; "नैषा गव्यू॑ति॒रप॑भर्त॒वा उ॑।"[२] द्व्युदात्तानाम् इति किम् ? अश्व॑पते॒ गोप॑त॒ उर्व॑रापते॥"[३]

उ० भा० अ०—पद्य=पद का आधा (भाग)। द्व्युदात्तानाम्=दो उदात्तों वाले पदों के; पद्यादीनुत्तरानसंहितवत्=उत्तर वाले पद्यादियों (अर्थात् उत्तर-पद्यों के प्रथम अक्षरों) को पूर्व-पद्यो के अन्तिम अक्षरों से न मिले हुए की तरह; जानना चाहिए,

(२३६ क)कहा गया है। किन्तु तैत्तिरीय-सहिता के पद-पाठ में 'अवग्रह' को अविद्यमानवत् नही माना गया है और वहाँ मध्य में 'अवग्रह' का व्यवधान होने पर पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'उदात्त' 'स्वर' के प्रभाव से उत्तर-'पद्य' का प्रथम 'अनुदात्त' 'स्वर' 'स्वरित' नही होता।

टि० (क) शङ्का यह है कि जिस प्रकार 'विवृत्ति'-रूप व्यवधान स्वरो के परस्पर प्रभाव में बाधक नही होता, उसी प्रकार 'अवग्रह'-रूप व्यवधान भी बाधक नही होगा। दोनो व्यवधान ही तो है। ऐसी स्थिति में इस सूत्र के निर्माण की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में भाष्यकार का कथन है कि 'अवग्रह' में एक मात्रा काल का व्यवधान है जबकि 'विवृत्ति' में २।४ के अनुसार चौथाई, आधी अथवा तीन-चौथाई मात्रा का व्यवधान होता है। इस प्रकार अधिक व्यवधान होने से 'विवृत्ति' का 'स्वर' 'अवग्रह' में प्राप्त नही होता है, इसलिए इस सूत्र का निर्माण किया गया है।

(ख) इन सभी उदाहरणो में मध्य में 'अवग्रह'-रूप व्यवधान होने पर भी पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'उदात्त' 'स्वर' के प्रभाव से उत्तर-'पद्य' का प्रथम 'अनुदात्त' 'स्वर' ३।१७ की भाँति 'स्वरित' हो गया है। भाष्यकार को ऐसा भी उदाहरण देना चाहिए था जहाँ पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'स्वरित' 'स्वर' के प्रभाव से उत्तर-'पद्य' का 'अनुदात्त' 'प्रचय' हुआ हो।

---

[१] ऋ० ७।४४।५ [२] ऋ० १०।१४।२

[३] ऋ० ८।२१।३

'स्वर' के विधान में।[क] (उदाहरण) "ऋतस्य पन्थामन्वेतवा उ"[ख], 'नैषा गव्यूति-रपभर्तवा उ।"[ग] "दो उदात्तों वाले (पदों) का" -यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अश्वपते गोपते उर्वरापते।"[घ]

जात्यवद्वा तथा वान्तौ तनू शचीति पूर्वयोः ॥२६॥

सू० अ०—(दो उदात्तों वाले पदों में) 'तनू' और 'शची' जब पूर्व ('पद्य') हों तो इनके अन्तिम अक्षरों ('ऊ' तथा 'ई') को या तो 'जात्य स्वरित' के तुल्य या उसी तरह (जानना चाहिए जिस तरह पूर्ववर्ती दो सूत्रों—३।२४ और ३।२५—में कहा गया है)।

उ० भा०—जात्येन तुल्यं जात्यवत्। यथा जात्यस्यान्तो निहन्यत उदात्ते परभूते, एवम्; (तनू शचीति पूर्वयोः=) तनूशचीपदयोः पूर्वपद्ययोः सतोः; अन्तो निहन्यते। तथा

टि० (क) यह सूत्र पूर्ववर्ती सूत्र ३।२४ का अपवाद है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि दो उदात्तों वाले सावग्रह पदों में उत्तर-'पद्य' के प्रथम 'अक्षर' को पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'अक्षर' से न मिला हुआ समझना चाहिए। इस प्रकार न मिला हुआ समझने से पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'अक्षर' के 'स्वर' का उत्तर-'पद्य' के प्रथम 'अक्षर' के 'स्वर' पर प्रभाव नहीं पड़ता है।

(ख) ऋतस्य। पन्थाम्। अनुऽएतवै। ऊँ इति॥ प० पा०

(ग) न। एषा। गव्यूति। अपऽभर्तवै। ऊँ इति॥ प० पा०

"अनुऽएतवै" तथा "अपऽभर्तवै"—ये दोनों—दो उदात्तों वाले पद हैं। पूर्ववर्ती सूत्र (३।२४) में यह विधान किया गया था कि 'स्वर' के विषय में 'अवग्रह' को अविद्यमानवत् माना जाता है जिससे पूर्व-'पद्य' और उत्तर-'पद्य' -इन दोनों-को मिला हुआ (सहितवत्) समझा जाता है जिसके परिणामस्वरूप पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'अक्षर' के 'स्वर' का प्रभाव उत्तर-'पद्य' के प्रथम 'अक्षर' पर पड़ता है। प्रस्तुत सूत्र ३।२४ का अपवाद है। इसमें कहा गया है कि दो उदात्तों वाले पदों में 'अवग्रह' से पृथक् किए गए पूर्व-'पद्य' तथा उत्तर-'पद्य' को असहित-वत् समझना चाहिए। पूर्ववर्ती सूत्र (३।२४) से 'अनुऽएतवै' तथा 'अपऽभर्तवै' के 'एतवै' का 'ए' और 'भर्तवै' का 'भ'—ये दोनों—'प्रचय' होने चाहिए किंतु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार ये 'ए' और 'भ' 'अनुदात्त' ही रहते हैं।

(घ) अश्वऽपते। गोऽपते। उर्वराऽपते॥ प० पा०

प्रस्तुत तीनों पदों में एक-एक ही 'अक्षर' 'उदात्त' है जिससे प्रस्तुत सूत्र (३।२५) इन स्थलों पर लागू नहीं होगा। इन स्थलों पर तो पूर्ववर्ती सूत्र (३।२४) के अनुसार 'अवग्रह' को अविद्यमानवत् मानकर पूर्व-'पद्य' और उत्तर-'पद्य' को सहितवत् माना जाता है। "अश्वऽपते" में 'स्वरित' 'व' के प्रभाव से 'प' और 'ते' 'प्रचय' हैं। 'गोऽपते" में 'उदात्त' 'गो' के प्रभाव से 'प' स्वरित' हो गया है। 'उर्वराऽपते" में स्वरित' 'व' के प्रभाव से 'प' और 'ते' प्रचय' हो गए हैं।

वान्तौ कुर्याद्यथाधस्तात्प्रतिपादितम्। तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरः।"[१] "इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिम्।"[२] असंहितवद्वा कुर्यात्—"तनूनपादुच्यते"; "इन्द्र कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिम्।" संहितवद्वा कुर्यात्—"तनूनपादुच्यते", "वृत्रहणं शचीपतिम्।"

पृथग्वाशब्दकरणं तुल्ययोगनिवृत्त्यर्थम्। तेनैतत्सिद्धं जात्यवदेवाध्ययनं यथा स्यादितरयोर्मा भूदिति। द्व्युदात्तानामित्येव—"तनूनपात्पथ ऋतस्य"[३]; शचीपते शचीनाम्॥"[४] ननु पदानां लक्षणं न कर्तव्यम्, सिद्धेषु हि पदेषु संहिताप्रवृत्तिः। सत्यमेव। यथा पुष्पाहारस्य फलाहरणं दार्वाहारस्य मध्वाहरणम्, एवमेतत्॥

उ० भा० अ०—जात्यवत्='जात्य' ('स्वरित') के तुल्य। जिस प्रकार, 'उदात्त' परे रहते, 'जात्य' ('स्वरित') का अन्त (=अन्तिम अंश) 'अनुदात्त' (उच्चारित) होता है (जिससे वहाँ 'कम्प' हो जाता है), उसी प्रकार 'तनू' और 'शची'—इन पदों—के पूर्व-'पद्य' होने पर (इनका) अन्त (=अन्तिम अंश) 'अनुदात्त' (उच्चारित) होता है (तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'जात्य स्वरित', 'उदात्त' परे रहते, 'कम्प' के साथ उच्चारित होता है, उसी प्रकार, 'उदात्त' परे रहते, 'तनू' और 'शची' पूर्व-पद्यों के अन्तिम 'अक्षर'='ऊ' तथा 'ई'—भी कम्प के साथ उच्चारित होते हैं)। अथवा ('तनू' और 'शची' के) अन्तों (=अन्तिम अक्षरों) को वैसे (उच्चारित) करना चाहिए जैसा पहले (३।२४ और ३।२५ में) प्रतिपादित किया गया है। (उदाहरण)[क] ('जात्य स्वरित' के समान)—"तनूनपादुच्यते गर्भ आसुर"[ख], "इन्द्र कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिम्।"[ग] अथवा असंहितवत् करना चाहिए—तनूनपादुच्यते"[घ]; "इन्द्र कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिम्।"[ङ] अथवा संहितवत्

टि० (क) यह सूत्र पद-पाठ से सम्बद्ध है और भाष्यकार ने उदाहरण के रूप में संहिता-पाठ को प्रस्तुत किया है जो अयुक्त है। इसी प्रकार भाष्यकार ने पद-पाठ से सम्बद्ध ३।२५ के उदाहरण के रूप में भी संहिता-पाठ को ही प्रस्तुत किया है। इससे प्रतिपाद्य विषय दुरूह हो जाता है।

(ख) तनू इऽनपात्। उच्यते। गर्भः। आसुरः॥ प० पा०

यहाँ, 'उदात्त' परे रहते, पूर्व-'पद्य' 'तनू' का 'ऊ' 'जात्य स्वरित' की तरह 'कम्प' के साथ उच्चारित होता है।

(ग) इन्द्रम्। कुत्सः। वृत्रऽहनम्। शची इऽपतिम्॥ प० पा०

यहाँ, 'उदात्त' परे रहते, पूर्व-'पद्य' 'शची' का 'ई' 'जात्य स्वरित' की तरह 'कम्प' के साथ उच्चारित होता है।

(घ) तनूऽनपात्॥ प० पा०

पूर्व-'पद्य' ('तनू') और उत्तर-'पद्य' ('नपात्') को ३।२५ के समान न मिला हुआ समझने पर उपर्युक्त पद-पाठ होगा।

(ङ) शचीऽपतिम्॥ प० पा०

पूर्व-'पद्य' ('शची') और उत्तर-'पद्य' ('पतिम्') को ३।२५ के समान न मिला हुआ समझने पर उपर्युक्त पद-पाठ होगा।

---

[१] ऋ० ३।२९।११ [२] ऋ० १।१०६।६ [३] ऋ० १०।११०।२ [४] ऋ० १०।२४।२

करना चाहिए—"तनूनपादुच्यते"[क]; "वृत्रहणं शचीपतिम् ।"[ख]

पृथक् रूप से (दो बार) वा-शब्द का (सूत्र में) उल्लेख तुल्य बल (योग) की निवृत्ति के लिए (किया गया है) (तात्पर्य यह है कि जात्यवत् तथा असहितवत्-सहितवत्—ये दो पक्ष—समान बल वाले नही है)। इससे यह सिद्ध होता है कि 'जात्य' ('स्वरित') के तुल्य ही ('तनू' और 'शची' के अन्तिम अक्षरो का) अध्ययन हो, अन्य दो के तुल्य नही।[ग] दो उदात्तों वाले (पदों का) ही (यह विषय है)—(उदाहरण)"तनूनपात्पथ ऋतस्य"[घ]; "शचीपते शचीनाम् ।"[ङ] (शङ्का) पदो का लक्षण नहीं करना चाहिए क्योकि सिद्ध पदो में ही संहिता की प्रवृत्ति (होती है) [तात्पर्य यह है कि जो संहिता साध्य है उसका ही लक्षण करना चाहिए, सिद्ध पदो का लक्षण करना उचित नही है। इस प्रकार पद-पाठ से सम्बद्ध सूत्र (३।२३ से ३।२६ तक] अनावश्यक है]। (समाधान) ठीक कहते हो, किंतु जैसे पुष्प के साथ फल लाने में और लकडी के साथ मधु लाने में (कोई दोष नही है) उसी प्रकार यह है (अर्थात् साध्य संहिता के नियमो को बतलाते समय सिद्ध पदो के भी कतिपय नियम बतलाने में कोई दोष नही है)।

(उत्तरयोस्त्रिमात्रयोरन्त्यमात्रोच्चारणविषये मतद्वयम्)

त्रिमात्रयोरुत्तरयोरन्त्यापि प्रचयस्वरे ।
मात्रा न्यस्ततरैकेषाम् ॥२७॥

(उत्तरवर्ती दो प्लुतों की अन्तिम मात्रा के उच्चारण के विषय में दो मत)

सू० अ०—बाद वाले दो 'प्लुत' (अक्षरो) की अन्तिम (मात्रा) 'प्रचय' स्वर में (विद्यमान होने पर) 'अनुदात्ततर' ('न्यस्ततरा') (उच्चारित होती है)।

टि० (क) तनूऽनपात् ॥ प० पा०

पूर्व-'पद्य' ('तनू') और उत्तर-'पद्य' ('नपात्') को ३।२४ के समान मिला हुआ समझने पर उपर्युक्त पद-पाठ होगा।

(ख) शचीऽपतिम् ॥ प० पा०

पूर्व-'पद्य' ('शची') और उत्तर-'पद्य' ('पतिम्') को ३।२४ के समान मिला हुआ समझने पर उपर्युक्त पद-पाठ होगा।

(ग) तात्पर्य यह है कि ये तीन पक्ष समान बल वाले नही है। प्रथम पक्ष अन्य दो पक्षो से प्रबल है जिससे 'तनू' और 'शची' के अन्तिम अक्षरो को 'जात्य स्वरित' के समान मानकर यहाँ 'कम्प' होता है। ऋग्वेद की एकमात्र मुद्रित शाकल संहिता में इस पक्ष के अनुसार ही पद-पाठ उपलब्ध होता है, अन्य दो पक्षो के अनुसार नही।

(घ) तनूऽनपात् । पथ । ऋतस्य ॥ प० पा०

(ङ) शचीऽपते । शचीनाम् ॥ प० पा०

इन प्रत्युदाहरणो में 'तनूऽनपात्' और 'शचीऽपते' दो उदात्तों वाले पद नही है, अतः इन्होंने 'जात्य स्वरित' के समान कार्य प्राप्त नही किया अर्थात् यहाँ 'कम्प' नही हुआ।

उ० भा०—त्रीणि त्रिमात्राण्युक्तानि । तत्र त्रिमात्रयोरुत्तरयोरन्त्यापि मात्रा प्रचयस्वरे वर्तमाना एकेषाम् आचार्याणा मतेन; न्यस्ततरा=नीचतरा; स्यात् । उपरि स्विदासी३त्"[1]; "न त्वा भीरिव विन्दती३ ॥"[2]

उ० भा० अ०—तीन प्लुतों को (१।३१ में) कहा जा चुका है। उनमें; त्रिमात्रयोरुत्तरयोः=बाद वाले दो प्लुतो की, अन्त्यापि मात्रा=अन्तिम मात्रा; प्रचयस्वरे='प्रचय' 'स्वर' में वर्तमान होने पर; एकेषाम्=कतिपय आचार्यों के मत से, न्यस्ततरा='अनुदात्त' से नीची, (उच्चरित) होती है।[क] (जैसे) "उपरि स्विदासी३त्" "न त्वा भीरिव विन्दती३।"

उभे व्यालिः समस्वरे ॥२८॥

सू० अ०—व्यालि (का मत है कि दोनों प्लुतों की अन्तिम) दो मात्रायें (अन्य मात्राओं के) समान 'स्वर' वाली (होती हैं)।

उ० भा०—व्यालिः त्वाचार्य उभे अन्त्ये मात्रे उभयोस्त्रिमात्रयोरितराभ्यां समस्वरे मन्यते। प्रचितस्वरे इत्यर्थ । उपरि स्विदासी३त्"[3]; "न त्वा भीरिव विन्दती३ ॥"[4]

उ० भा० अ०—व्यालिः=व्यालि आचार्य, तो अन्तिम, उभे=दोनो, (पूर्ववर्ती सूत्र में निर्दिष्ट) मात्राओ को; दोनो (बाद वाले) प्लुतो की अन्य दो मात्राओ के; समस्वरे=समान 'स्वर' वाली, मानते है (तात्पर्य यह है कि दोनो प्लुतों की सभी मात्रायें समान रूप से 'उदात्त' के समान ही उच्चारित होती हैं)। 'प्रचय' 'स्वर' वाली—यह अर्थ है। (जैसे) उपरि स्विदासी३त्", "न त्वा भीरिव विन्दती३।"

(स्वरोच्चारणे केचिद्दोषाः)

असंदिग्धान्स्वरान्ब्रूयात् ॥२९॥

(स्वर के उच्चारण में कतिपय दोष)

सू० अ०—स्वरों का असंदिग्ध (संदेह से रहित) उच्चारण करना चाहिए।

उ० भा०—संदेहो नामास्पष्टता। उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितान् स्वरान्; (असंदिग्धान्=) असंदेहजनकान्, ब्रूयात् ॥

टि० (क) 'प्रचय' का उच्चारण 'उदात्त' के समान होता है। इस नियम के अनुसार इन दोनों निर्दिष्ट स्थलों पर भी 'प्रचय' 'स्वर'-विशिष्ट अक्षरो (प्लुतो) का उच्चारण 'उदात्त' के समान होना चाहिए था किंतु कतिपय आचार्यों का मत है कि इन दो 'प्लुत' अक्षरो की दो-दो मात्राओं का उच्चारण तो 'उदात्त' के ही समान होता है जबकि प्रत्येक (=दोनो) 'प्लुत' 'अक्षर' की अन्तिम (=तीसरी) मात्रा का उच्चारण 'अनुदात्त' से भी नीची ध्वनि से होता है।

---

[1] ऋ० १०।१२९।५
[2] ऋ० १०।१४६।१
[3] ऋ० १०।१२९।५
[4] ऋ० १०।१४६।१

उ० भा० अ०—सदेह का अर्थ है अस्पष्टता। 'उदात्त', 'अनुदात्त', 'स्वरित' और 'प्रचय'; स्वरान्=स्वरों का; (असंदिग्धान्=) (ऐसे उच्चारण करना चाहिए जिससे वे) सदेह को उत्पन्न न करें (तात्पर्य यह है कि 'उदात्त', 'अनुदात्त', 'स्वरित' और 'प्रचय' का इस प्रकार स्पष्ट रूप से उच्चारण करना चाहिए जिससे उनमें परस्पर सदेह न हो। ऐसा न हो कि श्रोता यह न समझ सके कि अमुक 'स्वर' 'उदात्त' है या 'अनुदात्त' आदि)।

अविकृष्टान् ॥३०॥

सू० अ०—(स्वरों को संधि के स्थल पर) पृथक्-पृथक् करके नहीं (उच्चारण करे)।

उ० भा०—विकर्षो नामासुश्लिष्टता स्वराणां स्वरैः सह। स्वरसंधीनुपश्लिष्टान् कुर्यादित्यर्थः॥

उ० भा० अ०—स्वरो का स्वरो के साथ अच्छी प्रकार न मिलना ('असुश्लिष्टता') ही विकर्ष है। स्वरो की सधियो का (ऐसे उच्चारण) करे जिससे सधिज 'स्वर' पृथक्-पृथक् न सुनाई पड़ें—यह अर्थ है।

अकम्पितान् ॥३१॥

सू० अ०—(स्वरों का) कम्प (दोष) से रहित (अकम्पित) (उच्चारण करना चाहिए)।

उ० भा०—कम्पनं नाम स्वराश्रितपाठदोषः, प्रायेण दाक्षिणात्यानां भवति। तमुपलक्ष्य स वर्ज्यः॥

उ० भा० अ०—कम्पन स्वरो का पाठ-दोष है जो प्रायण दक्षिण भारत के वेदज्ञो में होता है। उस दोष को भली-भाँति समझकर उससे बचना चाहिए।

स्वरितं नातिनिर्हण्यात् ॥३२॥

सू० अ०—'स्वरित' को अत्यधिक न खींचे।

उ० भा०—नातिप्रेरयेत्स्वरितमाक्षेपेण॥

उ० भा० अ०—'स्वरित' को तिर्यग्गमन ('आक्षेप') के द्वारा अत्यधिक न खीचे।

पूर्वौ नातिविवर्तयेत् ॥३३॥

सू० अ०—पूर्व वाले दो ('उदात्त' और अनुदात्त') को अत्यधिक दूर (ऊपर या नीचे) न ले जाये।

उ० भा०—पूर्वौ=उदात्तानुदात्तौ; उक्तौ। नातिविवर्तयेत्=आयामविश्रम्भाभ्यां नातिदूरं नयेत्॥

उ० भा० अ०—पूर्वौ=पूर्व के दो (स्वरो)='उदात्त' और 'अनुदात्त' को, कह चुके हैं। नातिविवर्तयेत्=उच्चारणावयवो के ऊर्ध्वगमन ('आयाम') और उच्चारणावयवो के

अधोगमन ('विश्रम्भ') के द्वारा अति दूर न ले जावे (अर्थात् 'उदात्त' और 'अनुदात्त' के उच्चारण के समय उच्चारणावयवों को क्रमशः बहुत ऊपर और बहुत नीचे न ले जावे)।

(स्वरितविशेषेषु कम्पविधानम्)

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ॥३४॥

(स्वरितविशेषों में कम्प का विधान)

सू० अ०—'उदात्त' ('उच्च') या 'स्वरित' बाद में हो तो 'जात्य', 'अभिनिहित', 'क्षैप्र' और 'प्रश्लिष्ट'—ये ('स्वरित') 'स्वर' 'कम्प' को प्राप्त करते हैं अर्थात् ये 'कम्प' के साथ उच्चारित होते हैं।[क]

इति श्रीपार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यसूत्रभाष्ये तृतीयं स्वरपटलम् ॥

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यसूत्रभाष्य में तृतीय स्वर-पटल समाप्त हुआ।

टि० (क) 'कम्प' के लिए पृ० २१८ पर टि० (घ) को देखिए।

४ : संधि-पटलम्

अवशंगम आस्थापितः संधिः

वशंगम आस्थापितः संधिः

परिपन्नः (वशंगमः) संधिः

अन्तःपातसंज्ञाः संधयः

ऊष्म (=विसर्जनीय) संधेरधिकारसूत्रम्

कानिचिन्निपातनानि

विसर्जनीयसंधयः

नियतप्रश्रितसंज्ञौ विसर्जनीयसंधी

रेफसंधयः (=विसर्जनीयस्य रेफः)

अकामनियतसंज्ञौ विसर्जनीयसंधी

व्यापन्नविक्रान्तसंज्ञौ विसर्जनीयसंधी

अन्वक्षरवक्त्रसंज्ञो विसर्जनीयसंधिः

विसर्जनीयस्याव्यापत्तिः

विसर्जनीयसंधिविषये निपातनानि

उपाचरितसंज्ञो विसर्जनीयसंधिः

नकारविकाराः

आन्पदाः पदवृत्तयो नाम संधयः (=नकारस्य लोपः)

विवृत्त्यभिप्रायाः संधयः

स्पर्शरेफसंधयः (=नकारस्य रेफः)

नकारस्य प्रकृतिभावः

स्पर्शोष्मसंधयः (=नकारस्य विसर्जनीयवत्त्वम्)

नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्वरस्यानुनासिकत्वम्

प्रसङ्गादन्यत्रापि अनुनासिकस्वरनिर्देशः

ईमित्यस्यान्तलोपः

शौद्धाक्षराः संधयः (=शकारषकार-सकाररेफागमाः)

पदान्ते आकारस्य अकारः

विसर्जनीयसंधिविषये निपातनानि

अन्यानि निपातनानि (=पदमध्ये पदादौ वा धकारस्य दकारो घकारस्य गकारश्च)

उ० भा०—चत्वारः संधयः । तद्यथा पूर्वे स्वरा व्यञ्जनान्युत्तराण्यनुलोमा अन्वक्षर-संधयः । पूर्वाणि व्यञ्जनान्युत्तरे स्वरा. प्रतिलोमा अन्वक्षरसंधयः । स्वरसंधिस्तु प्रश्लेषाद्यनेक-प्रकार उक्त । इदानीं परिशिष्टो व्यञ्जनसंधिरुच्यते—

उ० भा० अ०—संधियाँ चार (प्रकार की होती हैं) । जैसे पूर्ववर्ती (=पदान्त) 'स्वर' और परवर्ती (=पदादि) 'व्यञ्जन' हों तो 'अनुलोम अन्वक्षर' संधियाँ (होती हैं) । पूर्ववर्ती (=पदान्त) 'व्यञ्जन' हो और परवर्ती (=पदादि) 'स्वर' हों तो 'प्रतिलोम अन्वक्षर' संधियाँ (होती हैं) । 'स्वर'-संधि तो 'प्रश्लिष्ट' आदि भेद से अनेक प्रकार की (द्वितीय पटल में) कही जा चुकी है । अब बची हुई (अर्थात् अनुक्त) 'व्यञ्जन'-संधि को (सूत्रकार) कहते हैं—

(अवशंगम आस्थापितः संधिः)

स्पर्शाः पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तरा—

ण्यास्थापितानामवशंगमं तत् ॥१॥

(अवशंगम आस्थापित संधि)

सू० अ०—'स्पर्श' पूर्ववर्ती (=पदान्त) हों (और) 'व्यञ्जन' परवर्ती (=पदादि) हों तो 'आस्थापित' (संधियों) में वह 'अवशंगम' (संधि कहलाती है) ।

उ० भा०—स्पर्शाः पूर्वे, सर्वाण्येव व्यञ्जनान्युत्तराणि, आस्थापितानां संधीनां मध्ये अवशंगमं नाम तत् संधानं वेदितव्यम् । यत्र द्वयोर्व्यञ्जनयोरविकार सोऽवशंगमः संधि । "आरैक्पन्थां यातवे"[1]; "वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि"[2]; "सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीम्"[3]; "विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्र"[4]; "इमम्मे वरुण श्रुधी हवम् ।"[5]

आस्थापिता व्यञ्जनसंधय उक्ता । ते च द्विविधा । तत्रावशंगमा उक्ता. । वशंग-मार्थ आरम्भ—

उ० भा० अ०—स्पर्शाः पूर्वे='स्पर्श' पूर्ववर्ती (=पदान्त) हो; (और) सभी; व्यञ्जनान्युत्तराणि='व्यञ्जन' परवर्ती (=पदादि) हों तो; आस्थापितानाम्='आस्थापित' संधियो के मध्य में; तत्=उसे; अवशंगमम्='अवशंगम' नामक संधि, जानना चाहिए (अर्थात् 'स्पर्श' पदान्त और 'व्यञ्जन' पदादि हो तो वहाँ 'अवशंगम' संधि होती है । इस संधि म 'स्पर्श' और 'व्यञ्जन' पास-पास में आ जाते हैं, कोई विकार नही होता) । (जैसे) "आरैक्पन्था यातवे"[क], "वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि"[ख]; "सूर्यां यत्पत्ये शसन्तीम्"[ग];

टि० (क) आरैक् । पन्थाम् । यातवे ॥ प० पा०

(ख) वषट् । ते । विष्णो इति । आस । आ । कृणोमि ॥ प० पा०

(ग) सूर्याम् । यत् । पत्ये । शसन्तीम् ॥ प० पा०

---

[1] ऋ०१।११३।१६ [2] ऋ० ७।९९।७ [3] ऋ० १०।८५।९

[4] ऋ० १०।८५।१४ [5] ऋ० १।२५।१९

"विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्र"क; "इमम्मे वरुण श्रुधी हवम् ।"ख

'व्यञ्जन'-संधियों को 'आस्थापित' कहा गया है। वे ('व्यञ्जन'-संधियाँ, 'आस्थापित') दो प्रकार की हैं। उनमें से (प्रथम) 'अवशगम' (४।१ में) कह दी गई है। (द्वितीय) 'वशगम' का विषय आरम्भ (किया जाता है)—

(वशंगम आस्थापितः संधिः)

घोषवत्पराः प्रथमास्तृतीयान्स्वान् ॥२॥

(वशंगम आस्थापितः संधि)

सू० अ०—'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में हो तो (सभी वर्गों के) प्रथम ('स्पर्श') अपने (वर्ग के) तृतीय ('स्पर्श') हो जाते हैं।

उ० भा०—(घोषवत्पराः=) घोषवद्व्यञ्जनपराः; प्रथमाः स्पर्शाः, (स्वान्=) स्ववर्गीयान्, तृतीयान् स्पर्शानापद्यन्ते। "यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि"[1]; "आ चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः"[2], "यद्वा दिवि पार्ये सुष्विमिन्द्र।"[3] स्वान् इत्युत्तरसूत्रार्थं कृतम्। इह तु यथान्तरपरिभाषयापि सिध्यति॥

उ० भा० अ०—(घोषवत्पराः=) 'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में (=पदादि) हों तो; प्रथमाः स्पर्शाः=(वर्गों के) प्रथम स्पर्श' (=पदान्त), (स्वान्=) अपने वर्ग के, तृतीयान्=तृतीय 'स्पर्श', हो जाते हैं (अर्थात् 'सघोष' 'व्यञ्जन' परे होने पर प्रत्येक वर्ग का प्रथम 'स्पर्श' अपने वर्ग का तृतीय 'स्पर्श' हो जाता है)। (जैसे) "यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि"ग, "आ चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः"घ; "यद्वा दिवि पार्ये सुष्विमिन्द्र।"ङ स्वान्—इस (पद का ग्रहण) परवर्ती सूत्र के लिए किया गया है। यहाँ तो यथान्तर-परिभाषा से भी सिद्ध हो जाता है।च

टि० (क) विश्वे। देवा। अनु। तत्। वाम्। अजानन्। पुत्र॥ प० पा०

(ख) इमम्। मे। वरुण। श्रुधि। हवम्॥ प० पा०

इन सभी उदाहरणों में 'स्पर्श' पदान्त और 'व्यञ्जन' पदादि हैं। संधि हो जाने पर 'स्पर्श' और 'व्यञ्जन' केवल पास-पास में आ गए हैं, कोई विकार नहीं हुआ है। अतः 'अवशगम' संधि है।

(ग) यत्। वाक्। वदन्ती। अविऽचेतनानि॥ प० पा०

(घ) आ। चतुःऽभिः। आ। षट्ऽभिः। हूयमानः॥ प० पा०

(ङ) यत्। वा। दिवि। पार्ये। सुस्विम्। इन्द्र॥ प० पा०

(च) तात्पर्य यह है कि "असावमुमिति तद्भावमुक्त यथान्तरम्" (१।५६) इस सूत्र में यह कहा जा चुका है कि कोई भी वर्ण स्थानादि की दृष्टि से अपने सर्वाधिक सन्निकृष्ट वर्ण में ही परिणत होता है। इस परिभाषा के अनुसार 'वर्ग' का प्रथम 'स्पर्श' अपने वर्ग का ही तृतीय 'स्पर्श' होगा। अतः इस सूत्र में 'स्वान्' पद का उल्लेख करना आवश्यक नहीं था तथापि परवर्ती सूत्र (४।३) के लिए 'स्वान्' पद का उल्लेख किया गया है।

---

[1] ऋ० ८।१००।१० [2] ऋ० २।१८।४ [3] ऋ० ६।२३।२

उत्तमानुत्तमेषूदयेषु ॥३॥

सू० अ०—अन्तिम (उत्तम) ('स्पर्श') बाद में हों तो (वर्ग के प्रथम 'स्पर्श' अपने) अन्तिम (उत्तम) ('स्पर्श') (हो जाते है) ।

उ० भा०—प्रथमाः स्पर्शाः स्वान् उत्तमान् आपद्यन्त उत्तमेषूदयेषु सत्सु । "अर्वाङ नरा दैव्येनावसा गतम्"[१]; "वण्महाँ असि सूर्य"[२]; "तन्नो मित्रो वरुणः ।"[३] स्वान् इत्युच्यते परवर्गीयेष्वपि पञ्चमेषूदयेषु सत्सु पदान्तीयपञ्चमो यथा स्यान्न तु परकीयपञ्चमः । स्पष्टार्थं वा ॥

उ० भा० अ०—(वर्गों के) प्रथम 'स्पर्श' अपने 'वर्ग' के; उत्तमान्=अन्तिम ('स्पर्श); हो जाते है, उत्तमेषूदयेषु=(वर्गों के) अन्तिम 'स्पर्श' बाद में हो तो (अर्थात् किसी भी 'वर्ग' का अन्तिम 'स्पर्श' बाद में (=पदादि) हो तो 'वर्ग' का प्रथम 'स्पर्श' (=पदान्त) अपने 'वर्ग' का अन्तिम 'स्पर्श' हो जाता है) । (जैसे) ' अर्वाङ नरा दैव्येनावसा गतम्'[क], "वण्महाँ असि सूर्य '[ख] 'तन्नो मित्रो वरुण ।"[ग] स्वान्—इसलिए कहा है जिससे दूसरे 'वर्ग' का पञ्चम (अन्तिम) 'स्पर्श' भी बाद में (=पदादि) होने पर (प्रथम 'स्पर्श') अपने 'वर्ग' का ही पञ्चम (अन्तिम) होवे, परवर्ती ('स्पर्श') (के 'वर्ग') का पञ्चम नही (अर्थात् प्रथम 'स्पर्श' (पदान्त) अपने 'वर्ग' के पञ्चम 'स्पर्श' मे ही परिणत होता है चाहे बाद में (=पदादि) किसी भी 'वर्ग' का पञ्चम 'स्पर्श' हो) । अथवा ('स्वान्' पद का ग्रहण) स्पष्टता के लिए (किया गया है) ।[घ]

टि० (क) अर्वाक् । नरा । दैव्येन । अवसा । आ । गतम् ॥ प० पा०

(ख) वट् । महान् । असि । सूर्य ॥ प० पा०

(ग) तत् । न. । मित्र । वरुण. ॥ प० पा०

इन तीनो उदाहरणों में (वर्गों के) पञ्चम 'स्पर्श' बाद में (=पदादि) रहते प्रथम 'स्पर्श' (पदान्त) अपने 'वर्ग' के पञ्चम स्पर्श' हो गए हैं ।

(घ) ४।२ में उल्लिखित 'स्वान्' पद की उपयोगिता के विषय में ४।२ के भाष्य में भाष्यकार ने कहा था कि 'स्वान् पद का ग्रहण ४।२ के लिए नही अपितु ४।३ के लिए किया गया है । प्रस्तुत सूत्र (४।३) के भाष्य में सूत्रकार कह रहे हैं कि 'स्वान्' पद के कारण ही यहाँ प्रथम 'स्पर्श' (पदान्त) अपने 'वर्ग' के पञ्चम 'स्पर्श' में ही परिणत होता है यद्यपि बाद में अन्य 'वर्ग' का पञ्चम 'स्पर्श' विद्यमान हो । किंतु यदि कोई कहे कि यहाँ भी प्रथम 'स्पर्श' यथान्तर-परिभाषा से ही अपने 'वर्ग' का पञ्चम 'स्पर्श' होता है तब 'स्वान्' पद का ग्रहण स्पष्टता के लिए किया गया है जिससे कोई व्यक्ति यह न समझ बैठे कि दूसरे वर्ग का पञ्चम 'स्पर्श' बाद में (=पदादि) होने पर प्रथम स्पर्श' (=पदान्त) उस परवर्ती पञ्चम 'स्पर्श' में परिणत हो जाता है । 'स्वान्' पद के कथन से विषय पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है ।

---

[१] ऋ० ७।८२।८ [२] ऋ० ८।१०१।११ [३] ऋ० १।१०९।८

सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानः
शकारः शाकल्यपितुश्छकारम् ॥४॥

सू० अ०—शाकल्य के पिता के मत से सभी प्रथम 'स्पर्श' (वर्णों) से बाद में आने वाला शकार छकार हो जाता है।

उ० भा०—सर्वैः प्रथमैः स्पर्शैः उपधीयमानः शकारः शाकल्यपितुः मतेन छकारम् आपद्यते। "शृङ्गेव नः प्रथमाः गन्तमर्वाक्छफाविव"[१]; "विपाट्छुतुद्री पयसा।"[२] सर्वग्रहणं क्रियते—"ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरैके ककारम्"[३]—इत्येवमाद्यन्तःपातप्राप्त्यर्थम्। "तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ्क्छश्वत्तमम्"[४], "घनेव वज्रिञ्च्छ्नथिहि॥"[५]

उ० भा० अ०—सर्वैः प्रथमैः=सभी प्रथम 'स्पर्श' (वर्णों) से (अर्थात् किसी भी 'वर्ग' के प्रथम 'स्पर्श' से=क् या च् या ट् या त् या प् से), उपधीयमानः=उपहित होने वाला=बाद में आने वाला, शकारः=शकार; शाकल्यपितुः=शाकल्य के पिता के मत से; छकारम्=छकार; हो जाता है (अर्थात् पूर्व में किसी भी 'वर्ग' का प्रथम 'स्पर्श' हो तो परवर्ती शकार छकार में परिणत हो जाता है)। (जैसे) "शृङ्गेव न प्रथमा गन्तमर्वाक्छफाविव"[क]; 'विपाट्छुतुद्री पयसा।'[ख] "ङकार के परे 'अघोष' 'ऊष्मन्' हो तो दोनों के बीच में एक ककार (का आगम हो जाता है)" इत्यादि अन्त पातों की प्राप्ति के लिए 'सर्व' (शब्द) का (सूत्र में) ग्रहण (किया गया है) (अर्थात् शकार चाहे स्वाभाविक ककारादि से बाद में हो और चाहे 'अन्त.पात' वाले ककारादि से बाद में हो दोनों ही अवस्थाओं में वह छकार हो जाता है)। (जैसे) "तवाय सोमस्त्वमेह्यर्वाङ्क्छश्वत्तमम्"[ग], "घनेव वज्रिञ्च्छ्नथिहि।"[घ]

पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतै-
स्तेषां चतुर्थानुदयो हकारः ॥५॥

सू० अ०—(शाकल्य) के पिता के मत से पद के अन्त में विद्यमान (तथा अपने तृतीय ('स्पर्श' वर्णों) में परिणत उन्हीं ('वर्ग' के प्रथम 'स्पर्श' वर्णों) से (उपहित=बाद में आने वाला) परवर्ती (=पदादि) हकार उन ('वर्ग' के प्रथम 'स्पर्श' वर्णों) का चतुर्थ ('स्पर्श') (हो जाता है)।

टि० (क) शृङ्गाऽइव। न। प्रथमा। गन्तम्। अर्वाक्। शफौऽइव॥ प० पा०

(ख) विऽपाट्। शुतुद्री। पयसा॥ प० पा०

इन दोनों ही उदाहरणों में प्रथम स्पर्श' वर्णों (=ककार और टकार) से बाद में स्थित पदादि शकार छकार हो गया है।

(ग) तव। अयम्। सोम। त्वम्। आ। इहि। अर्वाङ्। शश्वत्ऽतमम्॥ प० पा०

(घ) घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि॥ प० पा०

इन दोनों उदाहरणों में 'अन्त पात' मे प्राप्त प्रथम स्पर्श' वर्णों (=ककार और चकार) से बाद में स्थित पदादि शकार छकार हो गया है।

---

[१] ऋ० २।३९।३ [२] ऋ० ३।३३।१ [३] ४।१६
[४] ऋ० ३।३५।६ [५] ऋ० १।६३।५

उ० भा०—(पदान्तैस्तैरेव=) पदस्यान्तभूतैरेव प्रथमै स्पर्शै, न तु—"ङकारेऽघोषोष्मपरे"[1] इत्येवमादिभिरन्त.पातै । (तृतीयभूतैः=) तृतीयत्व प्राप्तै ; उपहितो हकारः तेषाम् एव प्रथमाना चतुर्थान् आपद्यते, (उदयः=) उदयभूत ; शाकल्यपितुर्मतेन । "आ तू न इन्द्र मद्रयग्घुवान"[2]; "अवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।"[3] पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतै. इत्यवाच्यम् । हकारस्य चतुर्थभावं कृत्वा पश्चात्—"घोषवत्परा प्रथमास्तृतीयान्"[4]—इत्यनेन तृतीयभावं करिष्यामः । तथा तावद्रूपं भवति, लघु च सूत्रं स्यात् । नैतदस्ति । परस्य पदादेरदृष्टत्वात्तृतीयभावो दुर्लभः स्यात् । तस्मात्साधूक्तं पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतै. इति ॥

उ० भा० अ० —(पदान्तैस्तैरेव=) पद के अन्त में विद्यमान प्रथम 'स्पर्श' (वर्णों) से ही, "ङकार के परे 'अघोष' 'ऊष्मन्' हो तो (उन दोनो के) बीच में एक ककार का आगम (हो जाता है)" इत्यादि अन्त पातो से नहीं[क], (तृतीयभूतैः=) तृतीयत्व को प्राप्त से, उपहित, हकारः तेषाम्=हकार उन्ही प्रथम ('स्पर्श' वर्णों) का, चतुर्थान्=चतुर्थ ('स्पर्श') हो जाता है; (उदयः=) बाद मे स्थित (=पदादि); शाकल्य के पिता के मत से (अर्थात् पद के अन्त में आने वाले तथा अपने तृतीय स्पर्श' को प्राप्त प्रथम 'स्पर्श' से बाद मे आने वाला पदादि हकार उस पूर्ववर्ती 'स्पर्श' का चतुर्थ हो जाता है) । (जैसे) "आ तू न इन्द्र मद्रयग्घुवान ।"[ख] "अवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।"[ग] (शका) "पद के अन्त में विद्यमान (तथा अपने) तृतीय (स्पर्श वर्णों) में परिणत (प्रथम 'स्पर्श' वर्णों) से (उपहित)". यह नही कहना चाहिए । (इस अश के न होने पर बचे हुए सूत्र से)

टि० (क) भाष्यकार का यह कथन है कि ककारादि जो प्रथम स्पर्श' पदान्त होते है उनके बाद मे आने वाला ही पदादि हकार विहित कार्य को प्राप्त करता है । 'अन्त.पात' के रूप मे प्राप्त ककारादि प्रथम 'स्पर्श' वर्णों के बाद में आने वाला हकार विहित कार्य को प्राप्त नही करता है ।

'अन्त पात'-सज्ञक सधियो (४।१६-१८) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हकार परे रहते कोई भी वर्ण अन्त पात' के रूप में नही आता है । ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भाष्यकार का यह कहना अनावश्यक ही प्रतीत होता है कि 'अन्त.पात' के रूप में आये हुये प्रथम 'स्पर्श'-वर्णों से बाद मे आने वाला हकार चतुर्थ स्पर्श' नही होता ।

(ख) आ । तु । न । इन्द्र । मद्रयक् । हुवान । प० पा०

४।१ के अनुसार 'मद्रयक्' का ककार गकार हो गया है । पद के अन्त में स्थित तथा अपने तृतीय (=गकार) मे परिणत प्रथम 'स्पर्श' (=ककार) से बाद मे स्थित हकार प्रस्तुत सूत्र से प्रथम स्पर्श' (=ककार) के चतुर्थ 'स्पर्श' (=घकार) मे परिणत हो गया है ।

(ग) अवाट् । हव्यानि । सुरभीणि । कृत्वी ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र से हकार ढकार मे परिणत हो गया है ।

---

[1] ४।१६
[2] ऋ० ३।४१।१
[3] ऋ० १०।१५।१२
[4] ४।२

हकार का चतुर्थ 'स्पर्श' करके उसके पश्चात्— ''सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में हो तो ('वर्ग' के) प्रथम 'स्पर्श' (अपने 'वर्ग' के) तृतीय 'स्पर्श' हो जाते हैं"—इस (सूत्र से) (प्रथम 'स्पर्श' को) तृतीय ('स्पर्श') बना लेंगे। ऐसा करने पर वही रूप ("अवाड् ढव्यानि" आदि) सिद्ध हो जाता है और सूत्र भी लघु हो जायेगा। (समाधान) यह (उचित) नहीं है। (हकार के स्थान पर आया हुआ) परवर्ती (चतुर्थ 'स्पर्श') (पद-पाठ में) पद के आदि में दिखलाई नहीं पड़ता है, इसलिए (प्रथम 'स्पर्श' का) तृतीयभाव (=तृतीय 'स्पर्श' में परिवर्तित हो जाना) दुर्लभ होगा। इसलिए यह ठीक कहा गया है कि "पद के अन्त में विद्यमान (तथा अपने) तृतीय ('स्पर्श' वर्णों) में परिणत (प्रथम 'स्पर्श' वर्णों) से (उपहित)।"[क]

विस्थाने स्पर्श उदये मकारः
सर्वेषामेवोदयस्योत्तमं स्वम् ॥६॥

सू० अ०—अन्य स्थान वाला 'स्पर्श' बाद में हो तो मकार सभी (आचार्यों) के (मत से) परवर्ती ('स्पर्श') का अपना पञ्चम (उत्तम) ('स्पर्श') (हो जाता है)।

उ० भा०—विस्थाने=अन्यस्थाने; स्पर्शे; उदये=परभूते; मकारः सर्वेषामेव आचार्याणां मतेन; (उदयस्य=) उदयभूतस्य; उत्तमम्=पञ्चमम्; स्वम् आपद्यते। "यङ्कुमार नव रथम्।"[१] "अहञ्च त्वञ्च वृत्रहन्।"[२] "तन्मे माता परि योषा जनित्री।"[३] विस्थानग्रहणं च वशगमसंधिज्ञापनार्थम्। पवर्गे तु वशगमो न भवति।

उ० भा० अ०—विस्थाने=अन्य स्थान' वाला, स्पर्शे='स्पर्श' (वर्ण), उदये= बाद में होने पर, मकारः=मकार, सर्वेषामेव=सभी, आचार्यों के मत से, (उदयस्य=) परवर्ती (=पदादि) ('स्पर्श') का; स्वम्=अपना, उत्तमम्=पञ्चम ('स्पर्श'); हो जाता है [अर्थात् मकार (पदान्त) के बाद में यदि कोई अन्य 'स्थान' वाला 'स्पर्श' (पदादि) हो तो वह मकार उस बाद वाले 'स्पर्श' का पञ्चम 'स्पर्श' हो जाता है]। (जैसे)

टि० (क) शंकाकार का कथन है कि इस सूत्र मे इतना ही विधान करना पर्याप्त था कि 'वर्ग' के प्रथम 'स्पर्श' (पदान्त) के बाद में आने वाला हकार (पदादि) उस प्रथम 'स्पर्श' के चतुर्थ 'स्पर्श' में परिणत हो जाता है। इसके अनुसार पदादि हकार चतुर्थ 'स्पर्श' मे परिणत हो जाता और इसके पश्चात् ४।२ के अनुसार प्रथम 'स्पर्श' (पदान्त) अपने तृतीय 'स्पर्श' में परिणत हो जाता है। ऐसा करने पर वही रूप सिद्ध हो जाता है और सूत्र भी लघु हो जाता है।

इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि पहले हकार (पदादि) को चतुर्थ 'स्पर्श' में परिणत करके तदनन्तर उस चतुर्थ 'स्पर्श' को निमित्त मानकर पूर्ववर्ती प्रथम 'स्पर्श' तृतीय 'स्पर्श' नही हो सकता क्योंकि यह परवर्ती चतुर्थ 'स्पर्श' पद-पाठ में दिखलाई नही देता है। पद-पाठ मे जो दिखलाई देता है उसी को निमित्त मानकर पूर्ववर्ती प्रथम 'स्पर्श' तृतीय 'स्पर्श' हो सकता है। अतः प्रस्तुत सूत्र ठीक है। इसमें परिवर्तन नही हो सकता।

१ ऋ० १०।१३५।३ २ ऋ० ८।६२।११ ३ ऋ० ३।४८।२

"यङ्कुमार नव रथम्"[क]; "अहञ्च त्वञ्च वृत्रहन्"[ख]; 'तन्मे माता परि योषा जनित्री।'[ग]
(सूत्र में) विस्थान (पद) का ग्रहण 'वशगम' संधि का बतलाने के लिए (किया गया है)। (समान स्थान वाले) पवर्ग (का 'स्पर्श') बाद में हो तो 'वशगम' संधि नही होती है (अर्थात् पवर्ग का कोई 'स्पर्श' बाद में हो तो मकार मे कोई परिवर्तन नही होता. अत 'विस्थाने' का सूत्र में ग्रहण किया है क्योकि 'वशगम' संधि का प्रसङ्ग चल रहा है)।

अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु
तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु ॥७॥

सू० अ०—पद के आदि में विद्यमान रेफव्यतिरिक्त 'अन्तःस्था'(-वर्ण) बाद में हों तो (मकार) उस-उस अनुनासिक ('अन्तःस्था') में (परिणत हो जाता है)।

उ० भा०—स एव मकारः अन्तःस्थासु; (पदादिषु=) पदादिभूतासु; (रेफवर्जम्=) रेफवर्जितासु, परासु सतीषु तां ताम् अन्तःस्थामापद्यते; यदि नाम अनुनासिकाम्। "यँयँयुजं कृणुते।"[1] "भद्रैषाल्ँलक्ष्मीः।"[2] "तव्ँव इन्द्रं न सुक्रतुम्।"[3] पदादिग्रहणं क्रियते पदमध्ये वशंगमसंधिनिवृत्त्यर्थम्। "अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टि."[4]—नात्र मकारस्यान्तःस्थाभावः॥

उ० भा० अ०—वही मकार, अन्तःस्थासु=अन्तःस्था (-वर्ण) परे होने पर; (पदादिषु=) पद के आदि मे विद्यमान, (रेफवर्जम्=) रेफ को छोडकर; परासु=बाद में होने पर; तां ताम्=वह वह; 'अन्तःस्था' हो जाता है; (अनुनासिकाम्=) 'अनुनासिक' ('अन्तःस्था')। (अर्थात् पदादि 'अन्तःस्था' बाद मे हो तो पदान्त मकार 'अनुनासिक' 'अन्तःस्था' में परिणत हो जाता है)। (जैसे) "यँयँयुज कृणुते"[घ]; "भद्रैषाल्ँलक्ष्मी.।"[ङ] "तव्ँव इन्द्र न सुक्रतुम्।"[च] पदादि (शब्द) का (सूत्र में) ग्रहण पद के मध्य में 'वशगम' संधि की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। (जैसे) "अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टि."[छ]—यहाँ पर (मकार पद के मध्य में है इसलिए) मकार 'अन्तःस्था' नही हुआ है।

टि० (क) यम्। कुमार। नवम्। रथम्॥ प० पा०

(ख) अहम्। च। त्वम्। च। वृत्रऽहन्॥ प० पा०

(ग) तम्। ते। माता। परि। योषा। जनित्री॥ प० पा०

(घ) यम्ऽयम्। युजम्। कृणुते॥ प० पा०

पदादि यकार बाद में होने के कारण पदान्त मकार 'अनुनासिक यकार' (यँ) हो गया है।

(ङ) भद्रा। एषाम्। लक्ष्मीः॥ प० पा०

(च) तम्। व। इन्द्रम्। न। सुऽक्रतुम्॥ प० पा०

(छ) अम्यक्। सा। ते। इन्द्र। ऋष्टि॥ प० पा०

---

[1] ऋ० २।२५।१ [2] ऋ० १०।७१।२ [3] ऋ० ६।४८।१४
[4] ऋ० १।१६९।३

तथा नकार उदये लकारे ॥८॥

सू० अ०—उसी प्रकार लकार बाद में हो तो नकार ('अनुनासिक' लकार हो जाता है)।

उ० भा०—(तथा=) तेनैव प्रकारेण; नकारः लकारे; (उदये=) परभूते; लकारमेवानुनासिकमापद्यते। "श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमादत्।"[1]

उ० भा० अ०—(तथा=) उसी प्रकार, नकारः=नकार, लकारे=लकार, (उदये=) बाद में (=पदादि) होने पर, 'अनुनासिक' लकार हो जाता है (अर्थात् नकार पदान्त हो और लकार पदादि हो तो नकार 'अनुनासिक' लकार (लँ) होता है)। (जैसे) "श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमादत्।"क

नकारं शकारचकारवर्गयोः ॥९॥

सू० अ०—शकार और चवर्ग (का कोई वर्ण) बाद में हो तो (नकार) ञकार (हो जाता है)।

उ० भा० स एव नकारः ञकारम् आपद्यते; (शकारचकारवर्गयोः=) शकारे चवर्गे च प्रत्यये। "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि।"[2] "मघवञ्छग्धि तव तन्न।"[3] "आस्माञ्जगम्यादहिशुष्म सत्वा।"[4]

उ० भा० अ०—वही नकार, ञकारम्=ञकार, हो जाता है, (शकारचकारवर्गयोः=) शकार और चवर्ग बाद में होने पर (अर्थात् नकार पदान्त हो और शकार या चवर्ग का कोई वर्ण पदादि हो तो वह पदान्त नकार ञकार हो जाता है)। (जैसे) "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि।"ख "मघवञ्छग्धि तव तन्न।"ग "आस्माञ्जगम्यादहिशुष्म सत्वा।"घ

तकारो जकारलकारयोस्तौ ॥१०॥

सू० अ०—जकार और लकार बाद में हो तो तकार (क्रमशः) उन दोनों (में परिणत हो जाता है)।

उ० भा०—तकारो जकारलकारयोः परभूतयोः तौ एवापद्यते जकारे जकारं लकारे लकारम्। "ऋज्वा ते पादा प्र यज्जिगासि।"[5] "अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नः॥"[6]

उ० भा० अ०—तकारः=तकार, जकारलकारयोः=जकार और लकार बाद में (=पदादि) होने पर, तौ=वे, ही हो जाता है—जकार बाद में (=पदादि) हो तो (तकार) जकार (हो जाता है), लकार बाद में (=पदादि) हो तो (तकार) लकार (हो

टि० (क) श्वघ्नीऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्॥ प० पा०

(ख) घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि॥ प० पा०

(ग) मघऽवन्। शग्धि। तव। तत्। न॥ प० पा०

(घ) आ। अस्मान्। जगम्यात्। अहिऽशुष्म। सत्वा॥ प० पा०

[1] ऋ० २।१२।४ [2] ऋ० १।६३।५ [3] ऋ० ८।२४।११
[4] ऋ० ५।३३।५ [5] ऋ० १०।७३।३ [6] ऋ० १०।१६३।६

जाता है)। (जैसे) "ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगासि"क; "अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्न.।"ख

ताल्व्येऽघोष उदये चकारम् ॥११॥

सू० अ०—'अघोष' 'तालव्य' (=च्, छ, श्) बाद में हो तो (तकार) चकार (हो जाता है)।

उ० भा०—चकारच्छकारशकारा अघोषास्तालव्याश्च। (ताल्व्येऽघोष उदये=) एतेषु; तकार चकारम् आपद्यते। "तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्"[१]; "वरूथमस्ति यच्छर्दि."[२]; "तच्छंयोरा वृणीमहे।"[३] ताल्व्ये इति किम्? "तत्त आ वर्तयामसि।"[४] अघोषे इति किम्? 'यद्यामि तदा भर।"[५] ताल्व्येऽघोषे इति किम्? "यद्वो देवाश्चकृम।।"[६]

उ० भा० अ०—चकार, छकार और शकार 'अघोष' भी है और 'तालव्य' भी। (ताल्व्येऽघोष उदये=) ये 'अघोष' तालव्य' बाद में हों तो, तकार, चकारम्=चकार, हो जाता है (अर्थात् तकार पदान्त हो और चकार या छकार या शकार पदादि हो तो वह तकार चकार हो जाता है)। (जैसे) "तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्।"ग "वरूथमस्ति यच्छर्दि.।"घ "तच्छंयोरा वृणीमहे।"ङ "'तालव्य' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "तत्त आ वर्तयामसि।"च "'अघोष' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर)"यद्यामि तदा भर।"छ "'अघोष' तालव्य' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) 'यद्वो देवाश्चकृम।"ज

टि० (क) ऋष्वा। ते। पादा। प्र। यत्। जिगासि॥ प० पा०

(ख) अङ्गात्ऽअङ्गात्। लोम्नःऽलोम्नः॥ प० पा०

(ग) तत्। चक्षुः। देवऽहितम्। शुक्रम्। उत्ऽचरत्॥ प० पा०

(घ) वरूथम्। अस्ति। यत्। छर्दि॥ प० पा०

इन दो उदाहरणों में क्रमश चकार और छकार बाद मे (=पदादि) है, अत पूर्ववर्ती (=पदान्त) तकार चकार हो गया है।

(ङ) शकार बाद में (=पदादि) होने के कारण पूर्ववर्ती (=पदान्त) तकार चकार हो गया है।

(च) तत्। ते। आ। वर्तयामसि॥ प० पा०

यहाँ तकार (पदान्त) के बाद में तकार (पदादि) है जो 'अघोष' तो है किंतु 'तालव्य' नही है। अत प्रस्तुत सूत्र से यहाँ तकार (पदान्त) चकार नही हुआ है।

(छ) यत्ऽयत्। यामि। तत्। आ। भर॥ प० पा०

यहाँ तकार (पदान्त) के बाद में यकार पदादि है जो 'तालव्य' तो है किन्तु 'अघोष' नही है। अत प्रस्तुत सूत्र से यहाँ तकार चकार नही हुआ है।

(ज) यत्। व। देवा.। चकृम॥ प० पा०

यहाँ पर तकार (पदान्त) के बाद में वकार आया है जो न 'अघोष' है और न 'तालव्य' है। अत प्रस्तुत सूत्र से यहाँ तकार चकार नही हुआ।

---

[१] ऋ० ७।६६।१६ [२] ऋ० ८।६७।६ [३] ऋ० खि० १०।१९१।५

[४] ऋ० १०।५८।४ [५] ऋ० ८।६१।६ [६] ऋ० १०।३७।१२

छकारं तयोरुदयः शकारः ॥१२॥

सू० अ०—उन दोनों (=नकार के स्थान पर आए हुए ञकार तथा तकार के स्थान पर आए हुए चकार) के बाद में विद्यमान शकार छकार हो जाता है।

उ० भा०—तयोः=नकारतकारस्थाननिर्दिष्टयोर्ञकारचकारयोः; (उदयः=) उदयभूतः; शकारः छकारम् आपद्यते। "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि।"[1] "तच्छयोरा वृणीमहे।"[2] ननु—"सर्वैः प्रथमैरुपधीयमान."[3] इत्यनेन सिद्धं चकारादुत्तरस्य शकारस्य छत्वम्। सत्यम्। सिद्धं यदि नाम शाकल्यपितुर्मतेन। तकारस्य च विपरिणामे न। एतत्तु सर्वेषामाचार्याणां मतेन तकारस्य च चकारव्यापत्त्या। तस्मादुभयमपि वक्तव्यम् ॥

उ० भा० अ०—तयोः=नकार और तकार के स्थान पर निर्दिष्ट ञकार और चकार का; (उदयः=) परवर्ती (=पदादि); शकारः=शकार; छकारम्=छकार हो जाता है (अर्थात् क्रमशः ४।९ और ४।११ के अनुसार नकार और तकार के स्थान पर आये हुए ञकार और चकार के बाद में पदादि शकार हो तो वह शकार छकार में परिणत हो जाता है)। (जैसे) "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि।"[क] "तच्छयोरा वृणीमहे।"[ख] (शङ्का) "सभी प्रथम 'स्पर्श' वर्णों से बाद में आने वाला शकार छकार हो जाता है"—इस (सूत्र) से चकार के बाद में आने वाले शकार का छकार होना सिद्ध है।[ग] (समाधान) सच (कहते हो) सिद्ध तो है किन्तु शाकल्य के पिता के मत से। (इसके अतिरिक्त) तकार के स्थान पर विकार-स्वरूप आने वाले (चकार के बाद वाले शकार का छकार) नहीं होगा।[घ] किंतु यहाँ तो

टि० (क) घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि ॥ प० पा०

वज्रिन् का नकार (पदान्त) ४।९ से ञकार हो जाता है। इस ञकार के बाद वाला पदादि शकार प्रस्तुत सूत्र से छकार हो जाता है।

(ख) तत् का तकार (पदान्त) ४।११ से चकार हो जाता है। इस चकार के बाद वाला शकार (पदादि) प्रस्तुत सूत्र से छकार हो जाता है।

(ग) शंका का आशय यह है कि ४।४ में यह विधान किया गया है कि वर्गों के प्रथम 'स्पर्श' वर्णों से बाद में आने वाला शकार छकार में परिणत हो जाता है। इसके अनुसार प्रस्तुत सूत्र के उदाहरणों में भी चकार के बाद में आने वाला शकार छकार में परिणत हो जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर इस सूत्र में ञकार के साथ में चकार का उल्लेख क्यों किया है?

(घ) भाष्यकार का कहना है कि यह कहना तो सच है कि ४।४ से चकार के बाद में आने वाला शकार छकार में परिणत हो जाता है किंतु यह शाकल्य के पिता के मत से ही होता है। ४।४ में तो शाकल्य के पिता का मत बतलाया गया है। सब आचार्यों का तो यह मत नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि ४।११ से तकार के स्थान पर जो चकार आता है उसके बाद में आने वाले शकार का छकार होना ४।४ से प्राप्त नहीं होता। इस चकार को निमित्त मानकर पदादि शकार ४।४ से छकार हो ही नहीं सकता क्योंकि यह चकार पद-पाठ

[1] ऋ० १।६३।५ [2] ऋ० खि० १०।१९१।५ [3] ४।४

सब आचार्यों के मत से और तकार के विकारस्वरूप उसके स्थान पर आने वाले चकार (के बाद का शकार छकार होता है)। इसलिए दोनों (नकार के स्थान पर आने वाले ञकार तथा तकार के स्थान पर आने वाले चकार इन) को ही (सूत्र में) कहना चाहिए।

न शाकल्यस्य ॥१३॥

सू० अ०—शाकल्य के (मत से) (शकार छकार) नहीं (होता है)।

उ० भा० –न तु शाकल्यस्य आचार्यस्य मतेन शकारश्छकारमापद्यते। "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि।"[1] "तच्छंयोरा वृणीमहे॥"[2]

उ० भा० अ०—किंतु, शाकल्यस्य=शाकल्य आचार्य के; मत से शकार छकार; न=नहीं, होता है। (जैसे) "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि।"[क] "तच्छयोरा वृणीमहे।"

ता वशंगमानि ॥१४॥

सू० अ०—(४।२ से लेकर ४।१३ तक प्रतिपादित) ये (संधियाँ) 'वशंगम' (कहलाती हैं)।

उ० भा०—ता–निशब्दलोपो द्रष्टव्यः। छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति। (ता=) तानि; संधानानि वशंगमानि वेदितव्यानि—"घोषवत्परा प्रथमास्तृतीयान्"[3] इत्येवमादीन्यास्थापितानां संधानानां मध्ये। नह्यत्रापरिणतानि व्यञ्जनानि संयोगं गच्छन्ति, अतो वशंगमानीत्युच्यन्ते॥

उ० भा० अ०—ता–('तानि' के) 'नि' शब्द का लोप जानना चाहिए। सूत्र छन्दोभाषा के समान होते हैं (अर्थात् जिस प्रकार वैदिकभाषा में नियम-विरुद्ध लोप, आगम आदि हो जाते हैं उसी प्रकार ये सूत्रों में भी हो जाते हैं)। " 'सघोष' ('व्यञ्जन') बाद में हो तो प्रथम ('स्पर्श') (अपने' वर्ग' के) तृतीय ('स्पर्श') (हो जाते हैं)" इत्यादि; (ता=) ये; संधियाँ 'आस्थापित' संधियों के मध्य में; (वशंगमानि=) 'वशंगम'; जाननी चाहिए। यहाँ (अर्थात् इन संधियों में) अपरिणत (बिना किसी विकार के) 'व्यञ्जन' 'संयोग' को प्राप्त नहीं करते हैं (अर्थात् इन संधियों में वर्णों में कोई न कोई विकार अवश्य होता है), इसलिए इन्हें 'वशंगम' कहते हैं।

(२५६छ) में पदान्त के रूप में दिखलाई नहीं पड़ता है। पद-पाठ में दिखलाई पड़ने वाले पदान्त को निमित्त मानकर ही पदादि में कोई विकार हो सकता है, अन्यथा नहीं। इन्हीं दो कारणों से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में ञकार के साथ-साथ चकार का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार तो सभी आचार्यों के मत से तकार के स्थान पर आए हुए चकार के बाद वाला पदादि शकार छकार में परिणत हो जाता है।

टि० (क) घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि॥ प० पा०।

---

[1] ऋ० १।६३।५ [2] ऋ० खि० १०।१९१।५ [3] ४।२

[परिपन्नः (वशंगमः) संधिः]

रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोऽ-
नुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः ॥१५॥

[परिपन्न (वशंगम) संधि]

सू० अ०—रेफ और 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो मकार 'अनुस्वार' (हो जाता है)। इस (संधि) को 'परिपन्न' कहते हैं।

उ० भा०—(रेफोष्मणोरुदययोः=) रेफे चोष्मणि चोदयभूते; मकारोऽनुस्वारम् आपद्यते। तत् संधानं परिपन्नमाहुः आचार्याः। वशंगमस्यैव द्वितीया संज्ञा कार्यार्था कृता —"सेति चास्य परिपन्नोपधा चेत्"[१], "परिपन्नं प्राकृतमूष्मसधिम्"[२] इत्यादिना। 'वशंगमानि' इत्यस्याप्यत्र योगो युक्तरूप, छन्दोभङ्गभयादधस्तादुक्तः। "होतारं रत्नधातमम्",[३] "त्वां ह त्यदिन्द्रार्णसातौ"[४]; "इन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्"[५]; "वसुं सूनुं सहस ।"[६]

एवमेव वशंगमव्यञ्जनसंध्यनन्तरमागमानाह—

उ० भा० अ०—(रेफोष्मणोरुदययोः=) रेफ और 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में (=पदादि) होने पर; मकारोऽनुस्वारम्=मकार 'अनुस्वार' हो जाता है। तत्=इस, संधि को आचार्य लोग; परिपन्नमाहुः='परिपन्न' कहते हैं। 'वशगम' (संधि) की ही यह दूसरी संज्ञा ('परिपन्न') कार्यविशेष के लिए की गई है—"यदि 'परिपन्न' (मकार के स्थान पर आने वाला 'अनुस्वार') अव्यवहित पूर्ववर्ती (=उपधा) हो तो 'म' इस('अक्षर')का भी (सकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है)"; " 'परिपन्न' (मकार के स्थान पर आए हुए 'अनुस्वार') तथा प्राकृत 'ऊष्मसधि' (की व्याख्या करनी चाहिए)" इत्यादि (सूत्रों में 'परिपन्न' संज्ञा का व्यवहार किया गया है)। 'वशंगमानि' इस (पद) का योग यहाँ (अर्थात् इस सूत्र के साथ) भी युक्त है किंतु छन्दोभङ्ग के भय से (इस सूत्र के) पहले कह दिया गया है।[क] ('परिपन्न' संधि के उदारण) "होतारं रत्नधातमम्,"[ख] 'त्वा ह त्यदिन्द्रार्णसातौ'[ग], "इन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्'[घ]; "वसु सूनं सहस ।"[ङ]

टि० (क) 'परिपन्न' संधि 'वशंगम' संधि ही है किन्तु कार्यवश उसकी यह दूसरी संज्ञा कर दी गई है। अतः 'वशंगमानि' पद का इस सूत्र से भी सबन्ध है। इसलिए यह उचित था कि 'परिपन्न' संधि का प्रतिपादन करने के बाद यह कहते कि ये उपर्युक्त 'वशगम' संधियाँ हैं। किंतु 'वशगमानि' पद को इस सूत्र के अनन्तर रखने से छन्द का भङ्ग हो जाता। अत. छन्दोभङ्ग के भय से इस पद को प्रस्तुत सूत्र से पहले कह दिया गया है।

(ख) होतारम्। रत्नऽधातमम् ॥ प० पा०

(ग) त्वाम्। ह। त्यत्। इन्द्र। अर्णऽसातौ ॥ प० पा०

(घ) इन्द्र। हन्ति। वृषभम्। शण्डिकानाम् ॥ प० पा०

(ङ) वसुम्। सूनुम्। सहस ॥ प० पा०

---

१ ५।२५ २ १५।१२ ३ ऋ० १।१।१
४ ऋ० १।६३।६ ५ ऋ० २।३०।८ ६ ऋ० १।१२७।१

'वशंगम' नामक 'व्यञ्जन' संधियों के अनन्तर अब आगमों को कहते हैं—

(अन्तःपातसंज्ञाः संधयः)

ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरैके ककारम् ॥१६॥

(अन्तःपात-संज्ञक संधियाँ)

सू० अ०—कतिपय (आचार्य कहते हैं कि) यदि ङकार के परे 'अघोष' 'ऊष्मन्' हो तो (उन दोनों के) बीच में ककार (का आगम हो जाता है)।

उ० भा०—ङकारेऽघोषोष्मपरे सति अन्तरा ङकारस्याघोषोष्मणश्च एके आचार्या ककारम् आगममाहु । "तवाय सोमस्त्वमेह्यर्वाङक् छश्वत्तमम्"[१]; "प्रत्यङक् स विश्वा भुवना।" अघोषग्रहणं किम् ? "दध्यङ ह यन्मध्वाथर्वणो वाम्।"[२] ऊष्म-ग्रहण किम् ? "प्रत्यङ चित्रा विभ्रदस्य॥"[३]

उ० भा० अ०—ङकारेऽघोषोष्मपरे=ङकार के बाद में 'अघोष' 'ऊष्मन्' होने पर; ङकार और 'अघोष' 'ऊष्मन्' के, अन्तरा=मध्य में, एके=कतिपय आचार्य; ककारम्=ककार के आगम का; विधान करते हैं (अर्थात् पदान्त ङकार के बाद में पदादि 'अघोष' 'ऊष्मन्' हो तो ङकार और 'अघोष' 'ऊष्मन्' के मध्य में एक ककार का आगम हो जाता है)। (जैसे) "तवाय सोमस्त्वमेह्यर्वाङक् छश्वत्तमम्।"[क] "प्रत्यङक् स विश्वा भुवना।"[ख] "'अघोष' (का सूत्र में) ग्रहण" क्यो (किया) ? (उत्तर) "दध्यङ ह यन्मध्वाथर्वणो वाम्।"[ग] "'ऊष्मन्' (का सूत्र में) ग्रहण" क्यो (किया) ? (उत्तर) "प्रत्यङ चित्रा विभ्रदस्य।"[घ]

टकारनकारयोस्तु । आहुः
सकारोदययोस्तकारम् ॥१७॥

सू० अ०—(वे ही आचार्य) कहते हैं कि यदि टकार और नकार के बाद में सकार हो तो (दोनों के मध्य मे) तकार (का आगम हो जाता है)।

टि० (क) तव । अयम् । सोम । त्वम् । आ । इहि । अर्वाङ । शश्वत्ऽतमम् ॥ प० पा०

(ख) प्रत्यङ । स । विश्वा । भुवना ॥ प० पा०

इन दोनो उदाहरणो में ङकार और 'अघोष' 'ऊष्मन्'—शकार तथा सकार—के मध्य में ककार का आगम हो गया है।

(ग) दध्यङ । ह । यत् । मधु । आथर्वण । वाम् ॥ प० पा०

यहाँ ङकार के बाद में हकार है जो 'ऊष्मन्' तो है पर 'अघोष' नही है। इसलिए ङकार और हकार के मध्य में ककार का आगम नही हुआ है।

(घ) प्रत्यङ । चित्रा । विभ्रत् । अस्य ॥ प० पा०

यहाँ ङकार के बाद में चकार है जो 'अघोप' तो है किंतु 'ऊष्मन्' नही है। इसलिए ङकार और चकार के मध्य में ककार का आगम नही हुआ है।

---

[१] ऋ० ३।३५।६ [२] ऋ० ९।८०।३
[३] ऋ० १।११६।१२ [४] ऋ० १०।१२३।७

उ० भा०—टकारनकारयोः; (तु=)पुन; सकारोदययोः अन्तरा; (तकारम्=) तकारागमम्; आहुः एक आचार्या.। "अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट्त्स प्रैति"[१]; "त्वं तान्त्सं च प्रति चासि मज्मना ॥"[२]

उ० भा० अ०—तु=किंतु; टकारनकारयोः=टकार और नकार के; सकारोदययोः=सकार वाद में होने पर; मध्य में; (तकारम्=) तकार का आगम; आहुः–विधान करते हैं; कतिपय आचार्य (अर्थात् टकार या नकार के वाद में सकार हो तो दोनो के बीच में एक तकार का आगम हो जाता हैं)। (जैसे) "अक्षेत्रवित्क्षेत्रविद ह्यप्राट्त्स प्रैति"[क]; "त्व तान्त्स च प्रति चासि मज्मना।"[ख]

ञकारे शकारपरे चकारम् ॥१८॥

सू० अ०—ञकार के वाद में शकार होने पर (दोनो के मध्य में) चकार (का आगम हो जाता है)।

उ० भा०—नकारस्थानगतञकारग्रहणम्। ञकारे शकारपरे सत्यन्तरा चकारम् आगममाहुरेक आचार्या.। "घनेव वज्रिञ्च्छ्नथिहि ॥"[३]

उ० भा० अ०—(४।९ से) नकार के स्थान पर आये हुए ञकार का ग्रहण (करना चाहिए)। ञकारे शकारपरे=ञकार के वाद में शकार होने पर; मध्य में चकारम्=चकार का आगम; वतलाते हैं कतिपय आचार्य (अर्थात् ञकार के वाद में शकार हो तो दोनों के मध्य में एक चकार आ जाता है)। (जैसे) "घनेव वज्रिञ्च्छ्नथिहि।"[ग]

तेऽन्तःपाताः ॥१९॥

सू० अ०—(४।१६ से ४।१८ तक प्रतिपादित) ये (संधियाँ) 'अन्तःपात' (कहलाती हैं)'

उ० भा०—अन्तः=मध्ये पदयोः; पतन्तीति अन्तःपातः। (ते=) एते; (अन्तःपाताः=) अन्तःपातसंज्ञाः संधयः; वेदितव्याः—"ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरैके"[४] इत्यादयः ॥

टि० (क) अक्षेत्रऽवित्। क्षेत्रऽविदम्। हि। अप्राट्। स। प्र। एति ॥ प० पा०

(ख) त्वम्। तान्। सम्। च। प्रति। च। असि। मज्मना ॥ प० पा०

इन उदाहरणों में क्रमश टकार और नकार के वाद में सकार विद्यमान है, अत टकार और सकार तथा नकार और सकार के मध्य में तकार का आगम हो गया है।

(ग) घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि ॥ प० पा०

'वज्रिन्' का नकार ४।९ से ञकार हो गया है। नकार के स्थान पर आये हुए इस ञकार के बाद में शकार है, अत प्रस्तुत सूत्र से ञकार और शकार के बीच में एक चकार का आगम हो गया है।

---

[१] ऋ० १०।३२।७ [२] ऋ० २।१।१५ [३] ऋ० १।६३।५ [४] ४।१६

उ० भा० अ०—अन्तः=दो पदों के मध्य में, गिरते है (आ जाते हैं), इसलिए; अन्तःपाताः='अन्त पात' (कहे जाते हैं)। 'ङकार के बाद में 'अघोष' 'ऊष्मन्' हो तो (दोनों के बीच में) (एक ककार आ जाता है)" इत्यादि। (ते=) ये; (अन्तःपाताः=) 'अन्त.पात'-सज्ञक सधियाँ; जाननी चाहिए।

[ऊष्म (=विसर्जनीय) संधेरधिकारसूत्रम्]

अकृतसंहितानामूष्मान्तानां पटलेऽस्मिन्विधानम् ॥२०॥

[ऊष्म (=विसर्जनीय) संधि का अधिकार-सूत्र]

सू० अ०—विसर्जनीय ('ऊष्मन्') में अन्त होने वाले जिन (पदों) की संधि का (विधान अब तक) नहीं किया गया है उनका विधान इस पटल मे (करेंगे)।

उ० भा०—येषाम्; ऊष्मान्तानाम्; (अकृतसंहितानाम्=) अधस्तात्संधिर्न विहितस्तेषाम्, (अस्मिन् पटले=) इह पटले; (विधानम्=) संधानमधिकृतं वेदितव्यम्। "ओकारं ह्रस्वपूर्व."[1]—तत्रारेफी घोषवत्पर. प्रत्येतव्यो न तु स्वरपरः। तद्यथा—"एष देवो रथर्यति[2]"; न तु—"एष देवो अमर्त्यः"[3] इति ॥

उ० भा० अ०—जिन; ऊष्मान्तानाम्=विसर्जनीय ('ऊष्मन्') में अन्त होने वाले (पदों) की; (अकृतसंहितानाम्=) सधि का पहले (अर्थात् द्वितीय पटल में) विधान नहीं किया गया है उनकी; (अस्मिन् पटले=) इस (चतुर्थ) पटल में; (विधानम्) सधि अधिकृत जाननी चाहिए (अर्थात् अब उनकी सधियों का विधान होगा; उस विसर्जनीय संधि का यह अधिकार सूत्र[क] है)। "'ह्रस्व' 'स्वर'(-वर्ण) है पूर्व में जिसके (वह विसर्जनीय) ओकार (हो जाता है)"—इस (सूत्र में) 'सघोष'-पर ('सघोष' 'व्यञ्जन' है बाद में जिसके ऐसे) अरिफित (विसर्जनीय) को समझना चाहिए[ख], 'स्वर'-पर (स्वर' है बाद में

टि० (क) यह सूत्र (४।२०) विसर्जनीय सधि का अधिकार-सूत्र है किंतु विसर्जनोय सधि ४।२४ से प्रारम्भ होती है। परवर्ती तीन सूत्रों (४।२१,२२,२३) से इस अधिकार का कोई सबन्ध नही है। इसलिए सूत्रकार को ४।२४ से तुरन्त पहले इस सूत्र को प्रस्तुत करना चाहिए था। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी सूत्रकार ने इस अधिकार-सूत्र को जो यहाँ प्रस्तुत किया है उसका कारण है—छन्दोभङ्ग का भय। यदि इस सूत्र को ४।२४ से पहले रखते तो छन्दोभङ्ग हो जाता। ऐसा ही सूत्रकार ने ४।१४ के विषय में किया है, दे० ४।१५ पर उवट-भाष्य।

(ख) विसर्जनीय-सधि दो अवस्थाओ में होती है (१) विसर्जनीय पदान्त हो तथा कोई 'स्वर'-वर्ण पदादि हो (२) विसर्जनीय पदान्त हो तथा कोई 'व्यञ्जन'-वर्ण पदादि हो। पहले प्रकार की विसर्जनीय सधि का विधान द्वितीय पटल में किया जा चुका है। दूसरे प्रकार की विसर्जनीय संधि का विधान इस पटल में किया जायेगा।

---

[1] ४।२५ [2] ऋ० ९।३।५ [3] ऋ० ९।३।१

जिसके ऐसे) को नही। जैसे—"एष देवो रथर्यति" (ही इस प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण है); "एष देवो अमर्त्यः"[क] (यह इस सूत्र का उदाहरण) नही है।

(कानिचिन्निपातनानि)

चित्कम्भनेनोष्मलोपः ॥२१॥

(कतिपय निपातन)

सू० अ०—'चित्कम्भनेन' में सकार ('ऊष्मन्') का लोप (निपातन से हुआ है)।

उ० भा०—चित्कम्भनेन इत्यत्र, (ऊष्मलोपः=) सकारलोपः निपात्यते। "चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कभीयान्।"[१] चिद्ग्रहणादिह न भवति—"उप द्यां स्कम्भथु स्कम्भनेन॥"[२]

उ० भा० अ०—चित्कम्भनेन='चित्कम्भनेन' में; (ऊष्मलोपः=) सकार का लोप; निपातन से होता है। (जैसे) 'चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कभीयान्।" (सूत्र में) 'चित्' का उल्लेख होने से यहाँ (अर्थात् निम्नलिखित स्थल में) (सकार का लोप) नही होता है—"उप द्या स्कम्भथु स्कम्भनेन।"[ख]

ककुद्मान् ॥२२॥

सू० अ०—'ककुद्मान्' (मे दकार निपातन से आया है)।

उ० भा०—ककुद्मान् इति दकारो निपात्यते—"स्वानुत्तमानुत्तमेषूदयेषु"[३] इति नकारे प्राप्ते। "मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मान्॥"[४]

उ० भा० अ०—"अन्तिम (उत्तम) ('स्पर्श') बाद में (=पदादि) हो तो ('वर्ग' के प्रथम 'स्पर्श') अपने अन्तिम (=उत्तम) ('स्पर्श') (हो जाते हैं)"—(इस सूत्र के अनुसार) नकार प्राप्त होने पर 'ककुद्मान्' में (तकार के स्थान पर) दकार निपातन से आया है (अर्थात् प्रकृत स्थल में ४।३ से 'ककुद्' शब्द के तकार का नकार होना चाहिए था किंतु ऐसा न होकर तकार का निपातन से दकार हो गया है)। (जैसे) "मुमोद गर्भो वृषभ ककुद्मान्।"[ग]

सम्राट्शब्दः परिपन्नापवादः ॥२३॥

सू० अ०—'सम्राट्' शब्द 'परिपन्न' (संधि) का अपवाद है।

टि० (क) इस उदाहरण के लिए २।२७ और २।३३ को देखिए।

(ख) 'स्कम्भनेन' के सकार का लोप तभी होता है जब इसके पूर्व में 'चित्' होता है, जैसा कि उदाहरण में हुआ है। प्रत्युदाहरण में 'चित्' पूर्व में न होने के कारण 'स्कम्भनेन' के सकार का लोप नही हुआ है।

(ग) मुमोद। गर्भ। वृषभ। ककुत्ऽमान्॥ प० पा०

[१] ऋ० १०।१११।५ [२] ऋ० ६।७२।२
[३] ४।२-३ [४] ऋ० १०।८।२

उ० भा०—सम्राट् इत्ययं शब्दः; (परिपन्नापवादः=) परिपन्नस्य वशगमस्य सधेरपवादभूतः; ज्ञातव्यः। "विराट् सम्राट् विम्वी. प्रम्वी.।"[१] शब्दग्रहणं संपूर्वस्य राजतेरेकपदीभूतस्य सर्वप्रत्ययान्तस्य सर्वविभक्तिकस्य सर्वलिङ्गयुक्तस्य च ग्राहकं भवति—"सम्राजन्तमध्वराणाम्"[२]; "सम्राजावस्य भुवनस्य"[३]; "सम्राजोरव आ वृणे"[४]; "सम्राज्ञी श्वशुरे भव।"[५] एकपदार्थं च शब्दग्रहणम्; इह मा भूत्—"सं राजभी रत्नधेयाय देवा॥"[६]

उ० भा० अ०—सम्राट्—यह शब्द; (परिपन्नापवादः=) 'परिपन्न' (नामक) 'वशगम' सधि का अपवाद समझा जाना चाहिए। (जैसे) "विराट् सम्राट् विम्वी. प्रम्वीः।"[क] (सूत्र में) 'शब्द' शब्द का ग्रहण 'सम्' पूर्वक राज् (धातु) के एक पद होने पर सभी (=किसी भी) प्रत्ययो में अन्त होने वाले, सभी विभक्तियो से युक्त और सभी लिङ्गो से युक्त (पद) का ग्राहक होता है[ख]—(जैसे) "सम्राजन्तमध्वराणाम्"[ग]; "सम्राज.वस्य भुवनस्य"[घ], "सम्राजोरव आ वृणे"[ङ], "सम्राज्ञी श्वशुरे भव।"[च] एक पद के लिए भी 'शब्द' शब्द का ग्रहण (किया गया है)[छ]; (जिससे) यहाँ ('परिपन्न' सधि का अपवाद) न हो—"सं राजभी रत्नधेयाय देवाः।"[ज]

टि० (क) विऽराट्। सम्ऽराट्। विऽम्वी.। प्रऽम्वी.॥

'परिपन्न' सधि (४।१५) में बतलाया गया है कि रेफ या 'ऊष्म'-वर्ण बाद में (=पदादि) हो तो पूर्ववर्ती (=पदान्त) मकार 'अनुस्वार' हो जाता है। प्रस्तुत उदाहरण ('सम्राट्') में रेफ बाद में (=पदादि) होने के कारण पूर्ववर्ती मकार का 'अनुस्वार' हो जाना चाहिए था किंतु ऐसा न होकर मकार यहाँ ज्यों का त्यों रह गया है। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि 'सम्राट्' शब्द को 'परिपन्न' सधि का अपवाद जानना चाहिए।

(ख) अर्थात् सूत्र में प्रयुक्त 'शब्द'-शब्द यह बतलाता है कि 'सम्' पूर्वक राज् धातु से जो एक पद निष्पन्न होता है वह चाहे किसी भी प्रत्यय में अन्त होने वाला हो, किसी भी विभक्ति मे प्रयुक्त हो, किसी भी लिङ्ग में हो—सभी रूपों में वह पद 'परिपन्न' सधि का अपवाद होगा अर्थात् मकार 'अनुस्वार' नही होगा।

(ग) सम्ऽराजन्तम्। अध्वराणाम्॥ प० पा०

(घ) सम्ऽराजौ। अस्य। भुवनस्य॥ प० पा०

(ङ) सम्ऽराजो.। अव। आ। वृणे॥ प० पा०

(च) सम्ऽराज्ञी। श्वशुरे। भव॥ प० पा०

(छ) अर्थात् जब 'सम्' उपसर्ग और 'राज' धातु मिलकर एक पद हो जावें तभी 'परिपन्न' सधि का अपवाद होता है—यह बतलाने के लिए भी सूत्र में 'शब्द' शब्द का ग्रहण किया गया है।

(ज) सम्। राजऽभि। रत्नऽधेयाय। देवा॥ प० पा०

यहाँ 'सम्' और 'राजभि.' एक पद नही अपितु भिन्न-भिन्न पद हैं, अत यहाँ ४।१५ के अनुसार 'परिपन्न' सधि हो गई अर्थात् मकार 'अनुस्वार' हो गया।

---

[१] ऋ० १।१८८।५ [२] ऋ० १।२७।१ [३] ऋ० ५।६३।२
[४] ऋ० १।१७।१ [५] ऋ० १०।८५।४६ [६] ऋ० ४।३४।११

(नियतप्रश्रितसंज्ञौ विसर्जनीयसंधी)

विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्परः ॥२४॥

(नियत-संज्ञक और प्रश्रित-संज्ञक संधियाँ)

सू० अ०—'सघोष' ('घोषवत्') ('व्यञ्जन') बाद में हो तो 'अरिफित' विसर्जनीय (उपधा के सहित) आकार (हो जाता है)।

उ० भा०—सहोपधो विसर्जनीय आकारम् आपद्यते, अरेफी=रेफरहित; (घोषवत्परः=) घोषवद्व्यञ्जनपरः। "पुनाना यन्त्यनिविशमाना।"[1] रिफितस्य संधि वक्ष्यति। घोषवत्परः इति किम् ? "तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति ॥"[2]

उ० भा० अ०—अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित; विसर्जनीयः=विसर्जनीय, आकारम्=आकार; हो जाता है; अरेफी=रेफरहित, (घोषवत्परः=) 'सघोष' ('घोषवत्') 'व्यञ्जन' बाद में हो तो [अर्थात् 'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में (=पदादि) हो तो 'अरिफित' विसर्जनीय (पदान्त) अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के साथ आकार हो जाता है]। (जैसे) "पुनाना यन्त्यनिविशमाना।"[क] 'रिफित' (विसर्जनीय) की संधि को (सूत्रकार आगे बतलायेंगे)। "'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में (=पदादि) हो तो"-यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति।"[ख]

ओकारं ह्रस्वपूर्वः ॥२५॥

सू० अ०—'ह्रस्व' ('स्वर') है पूर्व में जिसके वह ('अरिफित' विसर्जनीय उपधा के सहित) ओकार (हो जाता है) (यदि विसर्जनीय के बाद में 'सघोष' 'व्यञ्जन' हो)।

उ० भा० सहोपधो विसर्जनीयो ह्रस्वपूर्व ओकारम् आपद्यते घोषवत्पर सन्। "देवो देवेभिरा गमत्।"[3] अरिफित इत्येव—"प्रातर्जितं भगमुग्रम्।"[4] घोषवत्पर इत्येव—य पञ्च चर्षणीरभि ॥"[5]

उ० भा० अ०—ह्रस्वपूर्वः 'ह्रस्व' स्वर' है पूर्व में जिसके वह; विसर्जनीय अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित; ओकारम्=ओकार; हो जाता है, 'सघोष' ('घोषवत्') ('व्यञ्जन') बाद में (=पदादि) होने पर (अर्थात् 'ह्रस्व' 'स्वर' के बाद में स्थित अरिफित' विसर्जनीय के बाद में पदादि 'सघोष' 'व्यञ्जन' हो तो वह 'अरिफित' विसर्जनीय ओकार हो जाता है)।

टि० (क) पुनाना। यन्ति। अनिऽविशमाना ॥प० पा०

'पुनानाः' का 'अरिफित' विसर्जनीय अव्यवहित पूर्ववर्ती 'अक्षर' (=आकार) के सहित आकार हो गया।

(ख) ताम्। विश्वऽरूपा। पशव। वदन्ति ॥ प० पा०।

यहाँ 'अरिफित' विसर्जनीय के बाद में पदादि पकार विद्यमान है जो 'सघोष' 'व्यञ्जन' नहीं है, अत यहाँ 'अरिफित' विसर्जनीय आकार नहीं हुआ।

---

[1] ऋ० ७।४९।१ [2] ऋ० ८।१००।११ [3] ऋ० १।१।५

[4] ऋ० ७।४१।२ [5] ऋ० ७।१५।२

(जैसे) "देवो देवेभिरा गमत् ।"[क] 'अरिफित' ही (विसर्जनीय ओकार होता है) "प्रातर्जितं भगमुग्रम् ।"[ख] "'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में (=पदादि) होने पर ही ('अरिफित' विसर्जनीय ओकार होता है) "य. पञ्च चर्षणीरभि ।"[ग]

तौ संधी नियतप्रश्रितौ ॥२६॥

सू० अ०—इन दो संधियों को (क्रमशः) 'नियत' और 'प्रश्रित' कहते हैं।

उ० भा०—तौ एतौ संधी; (नियतप्रश्रितौ=) नियतप्रश्रितसंज्ञौ, वेदितव्यौ । पूर्वो नियतः—"विसर्जनीय आकारम्"[1] इति । द्वितीय प्रश्रितः—"ओकारं ह्रस्वपूर्वः"[2] इति ॥

उ० भा० अ०—तौ=इन; दो संधियों को क्रमश ; (नियतप्रश्रितौ=) 'नियत'-संज्ञक और 'प्रश्रित'-संज्ञक जानना चाहिए। "विसर्जनीय आकार (हो जाता है)"—यह पहली 'नियत' (संधि है) । "'ह्रस्व' 'स्वर' के बाद में आने वाला (विसर्जनीय) ओकार (हो जाता है)"—यह दूसरी 'प्रश्रित' (संधि है) ।

(रेफसंधयः=विसर्जनीयस्य रेफः)

सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो
रेफं रेफी ते पुना रेफसंधयः ॥२७॥

(रेफसंधियाँ=विसर्जनीय का रेफ)

सू० अ०—'स्वर' या 'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में हो तो सभी (=किसी भी) उपधाओं वाला 'रिफित' विसर्जनीय रेफ हो जाता है; ये रेफसंधियाँ (कहलाती हैं) ।

उ० भा०—सर्वोपधः=दीर्घोपधो ह्रस्वोपधश्च; (स्वरघोषवत्परः=) स्वरपरो घोषवत्परश्च; रेफी विसर्जनीयो रेफम् आपद्यते । ते पुना रेफसंधय उच्यन्ते । स्वरपरः—"प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे"[3], "वारिन्मण्डूक इच्छति"[4]; "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः"[5]; "श नो देवीरभिष्टये ।"[6] घोषवत्परः—"प्रातर्मित्रावरुणा"[7]; "अग्निर्वीरं श्रुत्यम्"[8]; "अश्वावतीर्गोमतीर्नः ।"[9] स्वरघोषवत्परः इति किम्? "अग्निस्तुविश्रवस्तमम् ।"[10]

टि० (क) देव । देवेभि । आ । गमत् ॥ प० पा०

(ख) प्रात अजितम् । भगम् । उग्रम् ॥ प० पा०

'रिफित' होने के कारण 'प्रात' का विसर्जनीय प्रस्तुत सूत्र से ओकार नही हुआ अपितु ४।२७ से रेफ हो गया ।

(ग) यहाँ बाद में (=पदादि) पकार है जो 'सघोष' 'व्यञ्जन' नही है, अत पूर्ववर्ती (=पदान्त) 'अरिफित' विसर्जनीय ओकार नही हुआ ।

[1] ४।२४ [2] ४।२५ [3] ऋ० ७।४१।१
[4] ऋ० ९।११२।४ [5] ऋ० ३।२६।७ [6] ऋ० १०।९।४
[7] ऋ० ७।४१।१ [8] ऋ० १०।८०।१
[9] ऋ० ७।४१।७ [10] ऋ० ५।२५।५

उ० भा० अ०—**सर्वोपधः**=सभी उपधाओं वाला='दीर्घ' ('स्वर') उपधा वाला और 'ह्रस्व' ('स्वर') उपधा वाला; **(स्वरघोषवत्परः=)** 'स्वर' बाद में (=पदादि) हो या 'सघोष' ('व्यञ्जन') बाद में (=पदादि) हो तो; **रेफी**='रिफित' विसर्जनीय; **रेफम्**=रेफ; हो जाता है (अर्थात् 'रिफित' विसर्जनीय के पूर्व में चाहे 'दीर्घ' 'स्वर' हो और चाहे 'ह्रस्व' 'स्वर' हो, वह रेफ हो जाता है, यदि बाद में पदादि 'स्वर' हो या 'सघोष' 'व्यञ्जन' हो)। इन्हें रेफसंधियाँ कहा जाता है। **स्वरपर** (के उदाहरण)—"प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे"[क]; "वारिन्मण्डूक इच्छति"[ख]; "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा"[ग]; "शं नो देवीरभिष्टये।"[घ] **घोषवत्पर** (के उदाहरण)—"प्रातर्मित्रावरुणा"[ङ], "अग्निर्वीरं श्रुत्यम्"[च]; "अश्वावतीर्गोमतीर्न।"[छ] "'स्वर' या 'सघोष' ('व्यञ्जन') बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अग्निस्तुविश्रवस्तमम्।"[ज]

(अकामनियतसंज्ञौ विसर्जनीयसंधी)

रेफोदयो लुप्यते ॥२८॥

(अकाम-संज्ञक और नियत-संज्ञक विसर्जनीय संधियाँ)

सू० अ०—रेफ बाद में हो तो ('रिफित' विसर्जनीय) का लोप हो जाता है।

उ० भा०—रिफित विसर्जनीयो रेफोदयः सन् लुप्यते। "पुनो रजांसि सुयमासो अश्वा रथः॥"[१]

टि० (क) प्रात.। अग्निम्। प्रात। इन्द्रम्। हवामहे॥ प० पा०

(ख) वा। इत्। मण्डूक। इच्छति॥ प० पा०

(ग) अग्नि'। अस्मि। जन्मना। जातऽवेदा॥ प० पा०

(घ) शम्। न। देवी। अभिष्टये॥ प० पा०

'प्रात' का विसर्जनीय १।८१ से, 'वा' का १।१०३ से और 'अग्नि' तथा 'देवी.' के विसर्जनीय १।७६ से 'रिफित'-संज्ञक है। 'स्वर' बाद में (=पदादि) होने के कारण ये 'रिफित' विसर्जनीय रेफ हो गए हैं।

(ङ) प्रात। मित्रावरुणा॥ प० पा०

(च) अग्नि। वीरम्। श्रुत्यम्॥ प० पा०

(छ) अश्वऽवती'। गोऽमती। न॥ प० पा०

'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में (=पदादि) होने के कारण 'रिफित' विसर्जनीय रेफ हो गए हैं।

(ज) अग्नि। तुविश्रवःऽतमम्॥ प० पा०

यहाँ पर 'अग्नि' के 'रिफित' विसर्जनीय के बाद में पदादि तकार है जो न 'स्वर' है और न 'सघोष' 'व्यञ्जन' है, अत यह 'रिफित' विसर्जनीय रेफ नहीं हुआ।

---

[१] ऋ० १।१८०।१

उ० भा० अ०—'रिफित' विसर्जनीय, रेफोदयः=रेफ बाद में (=पदादि) होने पर; लुप्यते=लुप्त हो जाता है (अर्थात् 'रिफित' विसर्जनीय के बाद मे पदादि रेफ हो तो उस 'रिफित' विसर्जनीय का लोप हो जाता है। (जैसे) "युवो रजांसि सुयमासो अश्वा रथ।"क

द्राघितोपधा ह्रस्वस्य ॥२६॥

सू० अ०—(रेफ बाद में हो तो) 'ह्रस्व' (=ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय) का अव्यवहित पूर्ववर्ती 'अक्षर' (=उपधा) 'दीर्घ' हो जाता है।

उ० भा०—(ह्रस्वस्य=) ह्रस्वपूर्वस्य, रिफितस्य विसर्जनीयस्य रेफोदयस्य लुप्यते विसर्जनीयः, (द्राघितोपधा=) उपधा च दीर्घमापद्यते। "प्राता रत्नं प्रातरित्वा"[१], "अग्नी रक्षांसि सेधति।"[२]

उ० भा० अ०—(ह्रस्वस्य=) 'ह्रस्व' 'स्वर' है पूर्व में जिसके; और रेफ है बाद में जिस 'रिफित' विसर्जनीय के वह विसर्जनीय लुप्त हो जाता है; (द्राघितोपधा=) और अव्यवहित पूर्ववर्ती 'अक्षर' (=उपधा) 'दीर्घ' हो जाता है (तात्पर्य यह है कि 'रिफित' विसर्जनीय के पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर' हो और बाद में पदादि रेफ हो तो वह 'रिफित' विसर्जनीय लुप्त हो जाता है और उसका अव्यवहित पूर्ववर्ती 'ह्रस्व' 'स्वर' 'दीर्घ' हो जाता है)। (जैसे) "प्राता रत्न प्रातरित्वा"ख; "अग्नी रक्षासि सेधति।"ग

अकामनियता उभाविमौ ॥३०॥

सू० अ०—इन दो (संधियों) को (क्रमशः) 'अकाम' और 'नियत' (कहते हैं)।

उ० भा०—(अकामनियतौ=) अकामः नियतश्च; उभाविमौ संधी प्रत्येतव्यौ। पूर्वोऽकामः, द्वितीयो नियतः॥

उ० भा० अ०—उभाविमौ=इन दोनो संधियों को; (अकामनियतौ=) 'अकाम' और 'नियत'; जानना चाहिए। पहली (४।२८) 'अकाम' है, दूसरी (४।२९) 'नियत' है।

टि० (क) युवो.। रजांसि। सुऽयमास। अश्वा। रथ.॥ प० पा०

बाद में पदादि रेफ होने के कारण 'युवो.' के 'रिफित' विसर्जनीय का लोप हो गया है।

(ख) प्रातरिति। रत्नम्। प्रातऽइत्वा॥ प० पा०

(ग) अग्नि.। रक्षांसि। सेधति॥ प० पा०

इन दोनों ही उदाहरणो में 'रिफित' विसर्जनीय के पूर्व म 'ह्रस्व' 'स्वर' है और बाद में रेफ है, इसलिए 'रिफित' विसर्जनीय का लोप हो गया है और अव्यवहित पूर्ववर्ती 'स्वर' 'दीर्घ' हो गया है।

---

[१] ऋ० १।१२५।१ [२] ऋ० ७।१५।१०

(व्यापन्नविक्रान्तसंज्ञौ विसर्जनीयसंधी)

अघोषे रेफ्यरेफी चोष्माणं स्पर्श उत्तरे ।
तत्सस्थानमनूष्मपरे ॥३१॥

(व्यापन्न-संज्ञक और विक्रान्त-संज्ञक विसर्जनीय संधियाँ)

सू० अ०—'ऊष्म'-वर्ण नहीं है बाद में जिसके ऐसा 'अघोष' 'स्पर्श' बाद में हो तो 'रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय उस (बाद वाले 'अघोष' 'स्पर्श') के समान 'स्थान' वाले 'ऊष्म' (-वर्ण) (हो जाते हैं) ।

उ० भा०—अघोषे स्पर्श उत्तरे रेफ्यरेफी च विसर्जनीय ऊष्माणम् आपद्यते, (तत्सस्थानम्=) तस्याघोषस्य परत्रावस्थितस्य समानस्थानम्; अनूष्मपरे स्पर्शे। "ऋषिᳵको विप्र ओहते"[1], "यᳵककुभो निधारय ।"[2] "अग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्"[3]; "यद्बो देवाश्चकृम ।"[4] "अग्निस्तुविश्रवस्तमम्"[5], 'देवास्त सर्वे ।"[6] "वायुᳶपूषा"[7]; "स नᳶपर्षदति द्विषः ।"[8] अनूष्मपरे इति किम् ? "महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय"[9]; "शतक्रतु. त्सरद्गन्धर्वमस्तृतम् ।"[10]

उ० भा० अ०—अघोषे स्पर्श उत्तरे='अघोष' 'स्पर्श' बाद में (=पदादि) हो तो; रेफ्यरेफी च='रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय; ऊष्माणम्='ऊष्म'(-वर्ण), हो जाता है; (तत्सस्थानम्=) बाद में (=पदादि) अवस्थित उस 'अघोष' ('व्यञ्जन') के समान स्थान वाला ('ऊष्म'-वर्ण होता है); अनूष्मपरे—'ऊष्म' (-वर्ण) नहीं है बाद में जिसके (ऐसा 'अघोष') 'स्पर्श' बाद में(=पदादि) हो तो (तात्पर्य यह है कि यदि 'रिफित' या 'अरिफित' विसर्जनीय के बाद में ऐसा पदादि 'अघोष' 'स्पर्श' होवे जिसके बाद में 'ऊष्म'-वर्ण नहीं है. तो वह विसर्जनीय पदादि 'अघोष' 'स्पर्श' के समान स्थान वाला-'ऊष्म'-वर्ण हो जाता है) । (जैसे) "ऋषिᳵको विप्रो ओहते"[क], "यᳵककुभो निधारय.।"[ख]

टि० (क) ऋषि । क. । विप्र । ओहते ॥ प० पा०

(ख) य । ककुभ । निऽधारय ॥ प० पा०

इन उदाहरणों में क्रमश 'रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय पदान्त हैं और ककार पदादि है। इस पदादि ककार के बाद में 'ऊष्म'-वर्ण नहीं है। अत. प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय ककार के समान स्थान वाले षष्ठ 'ऊष्म'-वर्ण (='जिह्वामूलीय') में परिणत हो गए हैं। ककार और षष्ठ 'ऊष्म'-वर्ण (='जिह्वामूलीय')—ये दोनों—१।४१ से समान (जिह्वामूल) 'स्थान' वाले हैं।

---

[1] ऋ० ८।३।१४ [2] ऋ० ८।४।१४ [3] ऋ० १।९३।५
[4] ऋ० १०।३७।१२ [5] ऋ० ५।२५।५ [6] ऋ० ६।७५।१९
[7] ऋ० ७।३९।२ [8] ऋ० १०।१८७।१ [9] ऋ० १।११७।८
[10] ऋ० ८।१।११

'अग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्"क; "यद्वो देवाश्चकृम।"ख "अग्निस्तुविश्रवस्तमम्"ग "देवास्त सर्वे।"घ 'वायु पूषा'"ङ; "स न पर्षदति द्विष।"च "('अघोष' स्पर्श के) बाद में 'ऊष्म'–वर्ण न हो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर)"मह क्षोणस्याश्विना कण्वाय"छ; "शतक्रतु त्सरद्गन्धर्वमस्तृतम्।"ज

तमेवोष्माणमूष्मणि ॥३२॥

सू० अ०—('अघोष') 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो (विसर्जनीय) वही (परवर्ती) 'ऊष्म' (-वर्ण) (हो जाता है)।

टि० (क) अग्निः। च। सोम। सक्रतू इति सऽक्रतू। अधत्तम्॥ प० पा०।

(ख) यत्। वः। देवाः। चकृम॥ प० पा०

इन उदाहरणो में क्रमशः 'रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय पदान्त है और चकार पदादि है। इस पदादि चकार के बाद में 'ऊष्म'–वर्ण नही है। अतः प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय चकार के समान स्थान वाले द्वितीय 'ऊष्म'–वर्ण (=शकार) हो गए है। चकार और द्वितीय 'ऊष्म'-वर्ण (=शकार)—ये दोनों—१।४२ से समान (तालु) 'स्थान' वाले हैं।

(ग) अग्निः। तुविश्रवःऽतमम्॥ प० पा०

(घ) देवाः। तम्। सर्वे॥ प० पा०

इन उदाहरणो में क्रमशः 'रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय पदान्त है और तकार पदादि है। इस पदादि तकार के बाद में 'ऊष्म'-वर्ण नही है। अतः प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय तकार के समान 'स्थान' वाले चतुर्थ 'ऊष्म'-वर्ण (=सकार) हो गए है। तकार और चतुर्थ 'ऊष्म'वर्ण (=सकार)—ये दोनो—१।४४-४५ से समान (दन्तमूल) 'स्थान' वाले है।

(ङ) वायुः। पूषा॥ प० पा०

(च) सः। नः। पर्षत्। अति। द्विषः॥ प० पा०

इन उदाहरणों में क्रमशः 'रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय पदान्त है और पकार पदादि है। इस पकार के बाद में 'ऊष्म'-वर्ण नही है। अतः प्रस्तुत सूत्र से विसर्जनीय पकार के समान स्थान वाले सप्तम 'ऊष्म'-वर्ण (='उपध्मानीय') हो गए है। पकार और सप्तम 'ऊष्म'-वर्ण (='उपध्मानीय')—ये दोनो १।४७ से समान (ओष्ठ) 'स्थान' वाले है।

(छ) महः। क्षोणस्य। अश्विना। कण्वाय॥ प० पा०

यद्यपि पदान्त विसर्जनीय है और पदादि 'अघोष' 'स्पर्श' ककार है तथापि यह पदान्त विसर्जनीय षष्ठ 'ऊष्म'-वर्ण (='जिह्वामूलीय') नही हुआ है क्योंकि पदादि 'अघोष' 'स्पर्श' (=ककार) के बाद में 'ऊष्म'-वर्ण (षकार) है (क्+ष्=क्ष्)।

(ज) शतऽक्रतुः। त्सरत्। गन्धर्वम्। अस्तृतम्॥ प० पा०।

यद्यपि पदान्त विसर्जनीय है और पदादि 'अघोष' 'स्पर्श' तकार है तथापि यह पदान्त विसर्जनीय चतुर्थ 'ऊष्म'-वर्ण (=सकार) नही हुआ है क्योंकि पदादि 'अघोष' 'स्पर्श' (=तकार) के बाद में 'ऊष्म'-वर्ण (सकार) है।

उ० भा० – अघोष ऊष्मणि परत्रावस्थिते तमेवोष्माणम् आपद्यते विसर्जनीयः। "यो वश्शिवतमो रसः"[१]; देवीष्षळुर्वीरुरु नः कृणोत"[२]; "ये नस्सपत्ना अप ते भवन्तु।"[३] अघोषे इति किम्? "अग्निर्होता नो अध्वरे॥"[४]

उ० भा० अ०—'अघोष'; ऊष्मणि='ऊष्म' (-वर्ण) बाद में अवस्थित हो तो; विसर्जनीय; तमेवोष्माणम्=वही 'ऊष्म' (-वर्ण), हो जाता है। (जैसे) "यो वश्शिवतमो रसः"[क]; "देवीष्षळुर्वीरुरु नः कृणोत"[ख], "ये नस्सपत्ना अप ते भवन्तु।"[ग] "'अघोष' ('ऊष्म'-वर्ण) बाद में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अग्निर्होता नो अध्वरे।"[घ]

प्रथमोत्तमवर्गीये स्पर्शे वा ॥३३॥

सू० अ०—प्रथम और अन्तिम (उत्तम) वर्ग का ('अघोष') 'स्पर्श' बाद में हो तो (४।३१ में प्रतिपादित संधि) विकल्प से (होती है)।

उ० भा०—प्रथमोत्तमवर्गीये अघोषे स्पर्शे; वा=विकल्पतः, तत्सस्थानमूष्माणमापद्यते विसर्जनीयो रेफ्यरेफी च। "यᳶककुभो निधारयः"[५]; "यः ककुभो निधारयः।" "यᳶपञ्च चर्षणीरभि"[६]; "यः पञ्च चर्षणीरभि।"

उ० भा० अ०—प्रथमोत्तमवर्गीये=प्रथम और अन्तिम (उत्तम) वर्ग का, स्पर्शे='अघोष' 'स्पर्श' बाद में हो तो; 'रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय उस (बाद में आने वाले 'अघोष' 'स्पर्श') के समान 'स्थान' वाले 'ऊष्म'-वर्ण में, वा=विकल्प से; परिणत होता है (अर्थात् 'रिफित' अथवा 'अरिफित' विसर्जनीय पदान्त हो और कवर्ग अथवा पवर्ग का कोई 'अघोष' 'स्पर्श' पदादि हो तो वह पदान्त विसर्जनीय पदादि के समान 'स्थान' वाले 'ऊष्म'-

टि० (क) य । वः । शिवऽतमः । रसः ॥ प० पा०

(ख) देवीः । षट् । उर्वीः । उरु । नः । कृणोत ॥ प० पा०

(ग) ये । नः । सऽपत्नाः । अप । ते । भवन्तु ॥ प० पा०

इन उदाहरणों में विसर्जनीय पदान्त है और 'अघोष' 'ऊष्म'-वर्ण (अर्थात् शकार, षकार और सकार) पदादि हैं, इसलिए पदान्त विसर्जनीय प्रस्तुत सूत्र के अनुसार उन्हीं 'ऊष्म'-वर्णों (अर्थात् क्रमशः शकार, षकार और सकार) में परिणत हो गया है।

(घ) अग्नि । होता । नः । अध्वरे ॥ प० पा०

यहाँ बाद में (=पदादि) 'अघोष' 'ऊष्म'-वर्ण न होकर 'सघोष' 'ऊष्म'-वर्ण हकार है, अतः पदान्त विसर्जनीय उसी 'ऊष्म'-वर्ण (अर्थात् हकार) में परिणत नहीं हुआ।

---

[१] ऋ० १०।९।२
[२] ऋ० १०।१२८।५
[३] ऋ० १०।१२८।९
[४] ऋ० ४।१५।१
[५] ऋ० ८।४१।४
[६] ऋ० ७।१५।२

वर्ण में विकल्प से परिणत होता है)। (जैसे) "य⁀ककुभो निधारयः"[क]; "य॰ ककुभो निधारयः।" "य⁀पञ्च चर्षणीरभि"[ख]; "य. पञ्च चर्षणीरभि।"

ऊष्मणि चानते ॥३४॥

सू० अ०—'दन्त्य' के स्थान पर न आया हुआ 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो ४।३२ में प्रतिपादित संधि) भी (विकल्प से होती है)।

उ० भा०—अघोष ऊष्मणि चानते। दन्त्यमूर्धन्यापत्तिर्नतिर् इत्युपरिष्टाद्वक्ष्यति। विकल्पतो विसर्जनीयः स्यात्। "यो वश्शिवतमो रसः"; "यो वः शिवतमो रसः।" "देवीष्षळुर्वीः"[२]; "देवीः षळुर्वीः।" "ये नस्सपत्ना अप"[३], "ये नः सपत्ना अप। अनते इति किम्? "निष्षिष्वरीस्ते॥"[४]

उ० भा० अ०—ऊष्मणि चानते='दन्त्य' के स्थान पर न आया हुआ 'अघोष' 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर। 'दन्त्य' के स्थान पर 'मूर्धन्य' होना 'नति' है—यह बाद में (अर्थात् पञ्चम पटल में) (सूत्रकार) कहेंगे। विकल्प से विसर्जनीय रहता है (अर्थात् विसर्जनीय के बाद में ऐसा 'अघोष' 'ऊष्म' -वर्ण हो जो 'दन्त्य' के स्थान पर नहीं आया है तो विसर्जनीय विकल्प से ४।३२ के अनुसार 'ऊष्म'-वर्ण में परिणत हो जायेगा और पक्ष में विना किसी परिवर्तन के ज्यों का त्यो रहेगा)। (जैसे) "यो वश्शिवतमो रस॰"[ग]; 'यो वः शिवतमो रस.।" "देवीष्षळुर्वी"[घ], "देवी षळुर्वी।" "ये नस्सपत्ना अप"[ङ]; "ये न. सपत्ना अप।" "'दन्त्य' के स्थान पर न आया हुआ ('ऊष्म'—वर्ण बाद में हो तो)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "निष्षिष्वरीस्ते।"[च]

टि० (क) य.। ककुभ। निऽधारयः॥ प० पा०

(ख) य। पञ्च। चर्षणी। अभि॥ प० पा०

इन उदाहरणों में ककार और पकार बाद में (=पदादि) होने के कारण पदान्त विसर्जनीय विकल्प से ककार के समान (जिह्वामूल) 'स्थान' वाले 'जिह्वामूलीय और पकार के समान (ओष्ठ) 'स्थान' वाले 'उपध्मानीय' में परिणत हो गये हैं। पक्ष में विसर्जनीय विना किसी विकार के ज्यो के त्यों रह गये हैं।

(ग) य.। व। शिवऽतम। रस॥प० पा०

(घ) देवी.। षट्। उर्वी॥प० पा०

(ङ) ये। न। सऽपत्नाः। अप॥प० पा०

(च) निऽसिष्वरी। ते॥प० पा०

"निऽसिष्वरी" का सकार ५।१ से षकार हो जाता है। अब 'नि.' के विसर्जनीय के बाद में 'दन्त्य' (=सकार) के स्थान पर आया हुआ षकार है जिससे विसर्जनीय पक्ष मे ज्यों का त्यो न रहकर ४।३२ के अनुसार अवश्य ही 'ऊष्म'—वर्ण (=षकार) हो जाता है।

---

[१] ऋ० १०।९।२ [२] ऋ० १०।१२८।५ [३] १०।१२८।९
[४] ऋ० ३।५५।२२

व्यापन्न ऊष्मसंधिः स विक्रान्तः प्राकृतोपधः ॥३५॥

सू० अ०—जहाँ विसर्जनीय 'ऊष्म' (-वर्ण) हो जाता है वह 'व्यापन्न' (—संज्ञक) संधि है और जहाँ विसर्जनीय (=संधि की उपधा) ज्यों का त्यों (प्राकृत) रहता है वह 'विक्रान्त' (—संज्ञक) संधि है।

उ० भा०—व्यापन्न ऊष्मसंधिः स वेदितव्यो नाम्ना यत्र विसर्जनीयो व्यापद्यते। (विक्रान्तः=) विक्रान्तसंधिस्तु, प्राकृतोपधो वेदितव्यो यत्र विसर्जनीयः श्रूयते। उक्तान्येवोदाहरणानि ॥

उ० भा० अ० - व्यापन्न ऊष्मसंधि सः =उसे 'व्यापन्न'—संज्ञक ऊष्मसंधि, जानना चाहिए जिसमें विसर्जनीय ('ऊष्म'-वर्ण में) परिणत हो जाता है। प्राकृतोपधः=ज्यों की त्यों (अर्थात् प्राकृत) है उपधा (अव्यवहित पूर्ववर्ती=विसर्जनीय) जिसकी उसे, (विक्रान्तः=) 'विक्रान्त' संधि, जानना चाहिए जिसमें विसर्जनीय सुनाई पड़ता है। उदाहरण तो कहे ही जा चुके हैं।

(अन्वक्षरवक्त्रसंज्ञो विसर्जनीयसंधिः)

ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते परे नतेऽपि ॥३६॥

(अन्वक्षरवक्त्र-संज्ञक विसर्जनीय संधि)

सू० अ०—'अघोष' ('व्यञ्जन') है बाद में जिसके 'ऐसा' 'नत' (='दन्त्य' के स्थान पर आया हुआ) भी (और 'अनत' भी) 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो (पदान्त विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है।

उ० भा०—ऊष्मणि परे। कथंभूते ? अघोषोदये। लुप्यते विसर्जनीयो नतेऽपि अनतेऽप्यूष्मणि। "समुद्र स्थः कलशः सोमधानः"[1]; "प्र व स्पळक्रन् सुविताय दावने"[2], "कः स्विद् वृक्षो निष्ठितः"[3]; "नि ष्टनिहि दुरिता।"[4] अघोषोदये इति कस्मात् ? "देवी षळुर्वीः"[5]; "त्रिः स्म माह्नः।"[6] किमर्थमिदमुच्यते ? त्रयः सकारा मा भुवन्निति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। प्रतिषिध्यते द्विर्वचनम्—"न तूष्मा स्वरोष्मपर"[7] इति। एवं तर्हि परस्य द्विर्वचनार्थम्—"ऊष्मणो वा"[8] इति ॥

उ० भा० अ०—ऊष्मणि='ऊष्म' (-वर्ण) वाद में हो तो। कैसा ('ऊष्म'-वर्ण वाद में हो) ? (उत्तर) 'अघोष' ('व्यञ्जन') है वाद में जिसके (ऐसा 'ऊष्म'-वर्ण वाद में हो तो)। लुप्यते=विसर्जनीय लुप्त हो जाता है; नतेऽपि ऊष्मणि='नत' ('दन्त्य' के स्थान पर आया हुआ) भी और 'अनत' ('दन्त्य' के स्थान पर न आया हुआ) भी 'ऊष्म' (-वर्ण) वाद में हो तो (अर्थात् पदान्त विसर्जनीय का लोप हो जाता है यदि (१) पदादि 'ऊष्म'-वर्ण हो तथा (२) पदादि 'ऊष्म'-वर्ण के बाद में 'अघोष' 'व्यञ्जन' हो)। (जैसे)

---

[1] ऋ० ६।६९।६ [2] ऋ० ५।५९।१ [3] ऋ० १।१८२।७
[4] ऋ० ६।४७।३० [5] ऋ० १०।१२८।५ [6] ऋ० १०।९५।५
[7] ६।१० [8] ६।६

"समुद्र स्थः कलश सोमधान"[क]; "प्र व स्पळक्रन् सुविताय दावने"[ख]; "क स्विद् वृक्षो निष्ठित."[ग]; "नि ष्टनिहि दुरिता ।"[घ] " 'अघोष' 'व्यञ्जन' है बाद में जिसके"—यह (सूत्र मे) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "देवी षळुर्वी "[ङ]; "त्रि स्म माह्व ।"[च] (पूर्वपक्षी) यह (सूत्र) किस लिए कहा गया है ?[छ] (सिद्धान्ती) (संहिता-पाठ में) तीन सकार न हो जावें (इसलिए यह सूत्र कहा गया है) ।[ज] (पूर्वपक्षी) (सूत्र का) यह प्रयोजन नहीं है

टि० (क) समुद्रः । स्थ. । कलश. । सोमऽधान. ।। प० पा०

(ख) प्र । व. । स्पट् । अक्रन् । सुविताय । दावने ।। प० पा०

(ग) क. । स्वित् । वृक्ष. । नि ऽस्थित. ।। प० पा०

(घ) नि । स्तनिहि । दु ऽइता ।। प० पा०

इन उदाहरणों में विसर्जनीय का लोप प्रस्तुत सूत्र से हो गया है क्योंकि विसर्जनीय के बाद मे ऐसा 'ऊष्म'-वर्ण है जिसके परे 'अघोष' 'व्यञ्जन' अवस्थित है ।

(ङ) देवीः । षट् । उर्वी ।। प० पा०

यहाँ पर 'देवी.' के विसर्जनीय का लोप नही हुआ क्योकि विसर्जनीय के बाद में विद्यमान 'ऊष्म'-वर्ण (=षकार) के बाद में 'अघोप' 'व्यञ्जन' नही, अपितु 'स्वर'-वर्ण (=अकार) है ।

(च) त्रि । स्म । मा । अह्व ।। प० पा०

यहाँ पर 'त्रि ' के विसर्जनीय का लोप नही हुआ क्योकि विसर्जनीय के बाद में विद्यमान 'ऊष्म'-वर्ण (=सकार) के बाद में 'अघोप' 'व्यञ्जन' नही, अपितु 'सघोष' 'व्यञ्जन' (=मकार) है ।

(छ) पूर्वपक्षी का आशय यह है कि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार "समुद्र । स्थ ।" इस उदाहरण में 'समुद्र.' के विसर्जनीय का लोप होता है जिससे संहिता-पाठ में यह रूप बनता है—"समुद्र स्थः ।" अब संहिता-पाठ और पद-पाठ में समान रूप से लागू होने वाले द्वित्व-विधायक सूत्र ६।१ से 'स्थ ' के सकार का द्वित्व हो जाता है जिससे यह रूप निष्पन्न होता है—"समुद्र स्स्थः ।" यदि प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'समुद्र ' के विसर्जनीय का लोप न भी किया जावे तो भी ४।३२ के अनुसार विसर्जनीय की 'व्यापन्न' संधि करके वही रूप ("समुद्रस्स्थ :") निष्पन्न होता है । ऐसी वस्तुस्थिति होने पर विसर्जनीय का लोप करना व्यर्थ है और लोप का विधान करने वाला यह सूत्र भी व्यर्थ है ।

(ज) पूर्वपक्षी की उपर्युक्त शंका के समाधान में सिद्धान्ती का कथन है कि सम्बद्ध स्थलो में संहिता-पाठ में अप्राप्त तीन सकार न हो जावे, इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का प्रणयन किया है । सिद्धान्ती का आशय यह है कि प्रस्तुत सूत्र के द्वारा यदि विसर्जनीय का लोप न किया जावे तो ४।३२ से विसर्जनीय का सकार होकर "समुद्र स्स्थ." रूप बनेगा और तब विसर्जनीय के स्थान पर आने वाले सकार का ६।१ से द्वित्व हो जाएगा जिससे यह रूप निष्पन्न होगा—"समुद्र स्स्स्थः" किंतु यह रूप संहितापाठ में उपलब्ध नही होता है । इस तृतीय सकार की निवृत्ति के लिए ही प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है ।

(क्योंकि) "'स्वर-(वर्ण) या 'ऊष्म'(-वर्ण) बाद में हो तो 'ऊष्म' (-वर्ण) (का द्वित्व) नहीं (होता)"—(इस सूत्र से) द्वित्व (द्विर्वचन) का प्रतिषेध कर दिया गया है।[क] (सिद्धान्ती) ऐसी (बात है) तो—"ऊष्म' (—वर्ण) से बाद में आने वाले 'स्पर्श' (का द्वित्व) विकल्प से (होता है)"—(इस सूत्र से) परवर्ती ('स्पर्श') के द्वित्व (द्विर्वचन) के लिए (यह सूत्र है)।[ख]

सोऽन्वक्षरसंधिर्वक्त्रः ॥३७॥

सू० अ०—यह संधि 'अन्वक्षरवक्त्र' (कहलाती है)।

उ० भा०—स संधिः; (अन्वक्षरवक्त्रः=) अन्वक्षरवक्त्रसंज्ञः, वेदितव्यः। भिन्नक्रमः संधिशब्दो द्रष्टव्यः ॥

उ० भा० अ०—स संधिः=इस संधि को; (अन्वक्षरवक्त्रः=) 'अन्वक्षरवक्त्र' संज्ञक जानना चाहिए। संधिः शब्द को भिन्न क्रम वाला समझना चाहिए।[ग]

(विसर्जनीयस्याव्यापत्तिः)

अव्यापत्तिः कखपफेषु वृत्तिः ॥३८॥

(विसर्जनीय की अव्यापत्तिः)

सू० अ०—क, ख, प और फ बाद में (=पदादि) होने पर विसर्जनीय का ('ऊष्म'-वर्ण में) परिवर्तन न करना ('अव्यापत्ति') व्यवहार है।

टि० (क) पूर्वोक्त समाधान का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी का कहना है कि तृतीय सकार की निवृत्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र नहीं हो सकता क्योंकि विसर्जनीय के स्थान पर आने वाले सकार के द्वित्व होने का प्रतिषेध तो ६।१० के द्वारा ही हो जाता है। जब द्वित्व होता ही नहीं तब उसकी निवृत्ति के लिए यह सूत्र कैसे ?

(ख) पूर्वपक्षी के उपर्युक्त खण्डन को स्वीकार करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि तब तो इस सूत्र का निर्माण परवर्ती 'अघोष' 'स्पर्श' के द्वित्व के लिए किया गया है। सिद्धान्ती का आशय यह है कि संहिता-पाठ में "समुद्रः। स्थ" का विकल्प से यह रूप होता है—"समुद्र स्स्थ।" स्पष्ट है कि यहाँ सकार के परवर्ती थकार का द्वित्व हुआ है और द्वित्व से प्राप्त थकार ६।२ से तकार हो गया है। यदि प्रस्तुत सूत्र न होता तो परवर्ती थकार का द्वित्व नहीं हो सकता था क्योंकि 'स्थ.' का सकार संयोग का प्रथम वर्ण हो और 'स्वर' से बाद में विद्यमान हो तो तभी थकार का द्वित्व ६।६ से हो सकता है, अन्यथा नहीं और 'स्थ.' का सकार तभी संयोग का प्रथम वर्ण और 'स्वर' से बाद में विद्यमान हो सकता है जब विसर्जनीय का लोप हो चुका हो। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'समुद्र' के विसर्जनीय का लोप हो जाता है और तब 'स्वर' से बाद में विद्यमान एवं संयोग के आदिभूत वर्ण (=सकार) का परवर्ती थकार द्वित्व को प्राप्त कर लेता है और संहिता-पाठ में उपलब्ध पाठ सिद्ध हो जाता है। सकार के परवर्ती 'स्पर्श' के द्वित्व के लिए ही सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया है।

(ग) अर्थात् सूत्र में 'संधि.' शब्द को 'वक्त्र' शब्द के बाद में रखना चाहिए था किंतु इसे 'अन्वक्षर' और 'वक्त्र' के मध्य में रख दिया गया है।

उ० भा०—कखपफेषु परत्रावस्थितेषु अव्यापत्तिः एव वृत्तिः। "य कृन्तविद्धि योन्यम्।"[१] अगस्त्य. खनमानः खनित्रैः।"[२] "यः पञ्च चर्षणीरभि।"[३] "याः फलिनीर्या अफलाः।"[४] वृत्तिग्रहणं यथाशाखं तथापाठवृत्त्युपलक्षणार्थम्। तथा हि—"प्रथमोत्तमवर्गीये स्पर्शे वा"[५]; "ऊष्मणि"[६]; "अव्यापत्तिः कखपफेषु वृत्तिः"[७] इत्येवमादयो विकल्पा व्यवतिष्ठन्ते। यत्र चैकः पाठोऽभिमतस्तत्र यत्नं करोति—"संधिर्विक्रान्त एवैषः"[८] इति। तस्मादयमेवार्थः प्रतिपत्तव्यः॥

उ० भा० अ०—कखपफेषु=क, ख, प और फ बाद में स्थित हों तो; अव्यापत्तिः= विसर्जनीय का 'ऊष्म' वर्ण में परिवर्तन न करना ही; वृत्तिः=व्यवहार; है (अर्थात् क, ख, प या फ बाद में हो तो ४।३१ के अनुसार विसर्जनीय 'ऊष्म' वर्ण में परिणत नहीं होता है अपितु विसर्जनीय ज्यों का त्यो रहता है—ऐसा व्यवहार है)। (जैसे) "य कृन्तदिद्धि योन्यम्।"[क] "अगस्त्य. खनमान. खनित्रै.।"[ख] "य. पञ्च चर्षणीरभि।"[ग] "याः फलिनीर्या अफला।"[घ] वृत्ति-शब्द का (सूत्र में) ग्रहण यह सूचित करने के लिए किया गया है कि शाखा में प्राप्त पाठ के अनुसार ही यह पाठ का व्यवहार कहा गया है। उदाहरण के लिए "प्रथम और पञ्चम 'वर्ग' का 'स्पर्श' बाद में हो तो (विसर्जनीय) विकल्प से (उसी 'स्थान' वाले 'ऊष्म'-वर्ण में परिणत होता है)"; "'ऊष्म' ('-वर्ण) बाद में हो तो (विसर्जनीय) विकल्प से ('ऊष्म' वर्ण हो जाता है)"; "क, ख, प या फ बाद में होने पर विसर्जनीय का ('ऊष्म'-वर्ण में परिवर्तन न करना व्यवहार है)" इत्यादि विकल्प व्यवस्थित किये गए हैं।[ङ] जहाँ एक पाठ अभिमत होता है वहाँ (सूत्रकार) (वैसा) यत्न करते है— "यह 'विक्रान्त' संधि ही है।" इसलिए यही अर्थ समझना चाहिए।

(विसर्जनीयस्य रेफः)

रेफं स्वर्धूःपूरघोषेष्वविग्रहे॥३९॥

(विसर्जनीय का रेफ)

सू० अ०—'अघोष' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर 'स्वः' 'धूः' और 'पूः' (का विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है), (यदि 'स्वः', 'धूः' और 'पूः') पृथक् पद नहीं होते हैं।

टि० (क) यः। कृन्तत्। इत्। वि। योन्यम्॥ प० पा०

(ख) अगस्त्यः। खनमानः। खनित्रैः॥ प० पा०

(ग) य.। पञ्च। चर्षणीः। अभि॥ प० पा०

(घ) या.। फलिनीः। या। अफलाः॥ प० पा०

(ङ) तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद की किसी शाखा में विसर्जनीय 'ऊष्म'-वर्ण में परिणत हो जाता है और किसी शाखा में ज्यों का त्यों रहता है। शाखाओं में उपलब्ध पाठों के आधार पर ही यहाँ विकल्पों का विधान किया गया है।

---

[१] ऋ० ८।४५।३० [२] ऋ० १।१७९।६ [३] ऋ० ७।१५।२ [४] ऋ० १०।९७।१५
[५] ४।३३ [६] ४।३४ [७] ४।३८ [८] ४।७८

उ० भा०—रेफम् आपद्यते विसर्जनीयः; स्वः, धूः, पूः; अघोषेषु प्रत्ययेषु; अविग्रहे=अपृथक्पदे सति। स्वः—"विप्रः कविः काव्येना स्वर्चनाः"[१]; "स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।"[२] धूः—"तिष्ठद्रथं न धूर्षदम्।"[३] पूः—"मित्रायुवो न पूर्पतिम्।"[४] अविग्रहे इति किम्? "स्वः सनिष्यवः पृथक्।"[५] "पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी॥"[६]

उ० भा० अ०—स्वः, धूः (और) पूः (इन पदो का) विसर्जनीय; रेफम्=रेफ; हो जाता है, अघोषेषु='अघोष' ('व्यञ्जन') बाद में होने पर, अविग्रहे=पृथक् (स्वतन्त्र) पद न होने पर (अर्थात् 'पद्य' होने पर 'स्व', 'धू' और 'पू' का विसर्जनीय रेफ हो जाता है यदि बाद में 'अघोष' 'व्यञ्जन' हो)। स्वः—"विप्र. कवि. काव्येना स्वर्चना."[क]; "स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।"[ख] धूः—"तिष्ठद्रथ न धूर्षदम्।"[ग] पूः—"मित्रायुवो न पूर्पतिम्।"[घ] "पृथक् (पद) न होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "स्व· सनिष्यव. पृथक्।"[ङ] "पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी।"[च]

(विसर्जनीयसंधिविषये निपातनानि)

नाक्षा इन्दुः स्वधितीवाह एव
भूम्याददेऽह्नोभिरुषर्वसूयवः।
आवर्तमोऽहोरात्राण्यदो पितो
प्रचेता राजन्वर्तनीरहेति च ॥४०॥

(विसर्जनीयसंधि के विषय में निपातन)

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर विसर्जनीय पूर्ववर्ती नियमों के अनुसार) नहीं (होता है) (अर्थात् ये निपातन हैं)—'अक्षा इन्दुः', 'स्वधितीव', 'अह एव'

टि० (क) विप्र। कवि। काव्येन। स्वऽचना॥ प० पा०
(ख) स्वऽसाम्। अप्साम्। वृजनस्य। गोपाम्॥ प० पा०
(ग) तिष्ठत्। रथम्। न। धूऽसदम्॥ प० पा०
(घ) मित्रऽयुव.। न। पूऽपतिम्॥ प० पा०
इन उदाहरणो में 'स्व.', 'धू' और 'पू' पृथक् पद न होकर समास के अङ्ग हैं और इनके परे 'अघोष' 'व्यञ्जन' स्थित है, अत तीनो पदो का विसर्जनीय रेफ हो गया है।
(ङ) स्वरिति स्व। सनिष्यव। पृथक्॥ प० पा०
(च) पू.। च। पृथ्वी। बहुला। न। उर्वी॥ प० पा०
इन उदाहरणो में 'अघोष' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर भी 'स्व' और 'पू' का विसर्जनीय रेफ नहीं हुआ है क्योंकि यहाँ 'स्व' और 'पू.' पृथक् पद हैं।
भाष्यकार ने 'धू' का प्रत्युदाहरण नहीं दिया है।

१ ऋ० ९।८४।५ २ ऋ० १।९१।२१ ३ ऋ० १०।११२।७
४ ऋ० १।१७३।१० ५ ऋ० १।१३१।२ ६ ऋ० १।१८९।२

'भूम्या ददे', 'अहोभिः', 'उषर्वसूयवः', 'आवर्तमः', 'अहोरात्राणि', 'अदो पितो', 'प्रचेता राजन्' और 'वर्तनीरह' ।

उ० भा०—इति च विसर्जनीयो यथाप्राप्तं न भवति, अतो निपात्यते । "परि ष्य सुवानो अक्षा इन्दुः"[१]—अक्षारिन्दुरिति प्राप्ते रेफलोपः । "प्र स्वधितीव रीयते"[२]—स्वधितिरिवेति प्राप्ते । "मोत सूरो अह एवा चन"[३]—अहरेवेति प्राप्ते । "दिवि षद् भूम्या ददे"[४]—भूमिरा दद इति प्राप्ते । ददे इति किम् ? "भूमिरावपन महत् ।"[५] अहोभिरद्भिरक्तुभिः"[६]—अहभिरिति प्राप्ते । "तां त्वामुषर्वसूयवः"[७]—उषो वसूयव इति प्राप्ते । "गावो न व्रज व्युषा आवर्तम."[८]—आवस्तम इति प्राप्ते । "अहोरात्राणि विदधत्"[९]—अहारात्राणीति प्राप्ते । "यददो पितो अजगन्"[१०]—अदः पितो इति प्राप्ते । "क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्"[११]—प्रचेतो राजन्निति प्राप्ते । "अनु श्येनी सचते वर्तनीरह"[१२]—वर्तनिरहेति प्राप्ते ॥

उ० भा० अ०—इति च=इन (स्थलों) पर; विसर्जनीय जैसा (पूर्वोक्त नियमों के अनुसार) प्राप्त होता है (वैसा नहीं होता है), अत. निपातन से इन रूपों को प्राप्त करता है। (जैसे) "परि ष्य सुवानो अक्षा इन्दु."[क]—"अक्षारिन्दु·" प्राप्त होने पर रेफ का लोप (हो गया है) । "प्र स्वधितीव रीयते"[ख]—"स्वधितिरिव" प्राप्त होने पर । "मोत सूरो अह एवा चन"[ग]—"अहरेव" प्राप्त होने पर । 'दिवि षद् भम्या ददे'[घ]—"भूमिरा ददे"

टि० (क) परि । स्यः । सुवान. । अक्षारिति । इन्दुः ॥प० पा०

१।७९ के अनुसार 'अक्षा:' पद 'रिफित'—सज्ञक है । ४।२७ से 'अक्षा.' के विसर्जनीय का रेफ होकर "अक्षारिन्दु."—यह रूप होना चाहिए था किंतु यहाँ निपातन से रेफ का लोप होकर "अक्षा इन्दु"—यह रूप बना ।

(ख) स्वधिति ऽइव । रीयते ॥प० पा०

"स्वधिति ऽइव" में 'स्वधिति.' के विसर्जनीय का ४।२७ से रेफ होकर "स्वधितिरिव' रूप निष्पन्न होना चाहिए था किंतु यहाँ निपातन से रेफ का लोप होकर पुन. 'प्रश्लिष्ट' संधि हो गई ।

(ग) मा । उत । सूर । अहरिति । एव । चन ॥प० पा०

१।१०३ के अनुसार 'अह' पद 'रिफित'—सज्ञक है । ४।२७ से 'अह.' के विसर्जनीय का रेफ होकर "अहरेव" रूप निष्पन्न होना चाहिए था किंतु यहाँ निपातन से रेफ का लोप होकर "अह एव" रूप बना ।

(घ) दिवि । सत् । भूमि. । आ । ददे ॥ प०पा०

'भूमिः' के 'रिफित' विसर्जनीय का ४।२७ से रेफ होकर "भूमिरा ददे" रूप निष्पन्न होना चाहिए था किन्तु यहाँ निपातन से रेफ का लोप होकर और पुन. 'क्षैप्र' संधि होकर "भूम्या ददे" रूप निष्पन्न हो गया ।

---

[१] ऋ० ९।९८।३ [२] ऋ० ५।७।८ [३] ऋ० ६।४८।१७
[४] ऋ० ९।६१।१० [५] आ०श्री० १०।९।२ [६] ऋ० १०।१४।९
[७] ऋ० १।४९।४ [८] ऋ० १।९२।४ [९] ऋ० १०।१९०।२
[१०] ऋ० १।११८।७ [११] ऋ० १।२४।१४ [१२] ऋ० १।१४०।९

प्राप्त होने पर। ददे—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "भूमिरावपन महत्।"[क] "अहोभिरद्भिरक्तुभि"[ख]—"अर्हभि." प्राप्त होने पर। "ता त्वामुपर्वसूयव"[ग]—"उपो वसूयवः" प्राप्त होने पर। "गावो न व्रज व्युपा आवर्तम."[घ]—"आवस्तम" प्राप्त होने पर। "अहोरात्राणि विदधत्"[ङ]—"अहारात्राणि" प्राप्त होने पर। "यददो पितो अजगन्"[च] "अद. पितो" प्राप्त होने पर। "क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्"[छ]—"प्रचेतो

टि० (क) "भूमि । आ" के बाद में जब 'ददे' पद होता है तभी निपातन से कार्य होता है। बाद में 'ददे' पद न हो तो ४।२७ से 'रिफित'-संधि होती है।

(ख) अह.ऽभि । अत्ऽभि. । अक्तुऽभि ॥ प०पा०

१।१०३ के अनुसार 'अह.' पद 'रिफित'-संज्ञक है जिससे 'भि' के साथ मिलकर यहाँ "अर्हभि" रूप निष्पन्न होना चाहिए था किन्तु यहाँ 'अह' का विसर्जनीय निपातन से 'अरिफित' माना गया है जिसके परिणामस्वरूप यह विसर्जनीय रेफ न होकर ४।२५ से 'ओ' हो गया और "अहोभि." रूप निष्पन्न हो गया।

(ग) ताम् । त्वाम् । उप । वसुऽयव. ॥ प०पा०

'उप.' पद के 'अरिफित' विसर्जनीय को निपातन से 'रिफित' माना गया है जिसके परिणामस्वरूप यह विसर्जनीय ४।२५ से 'ओ' न होकर ४।२७ से रेफ हो गया और "उपर्वसूयव." रूप निष्पन्न हो गया।

(घ) गाव. । न । व्रजम् । वि । उषा । आवरित्यावः । तम ॥ प०पा०

१।९९ के अनुसार 'आव' पद 'रिफित'-संज्ञक है। यत इस 'रिफित' विसर्जनीय के बाद में यहाँ 'अघोष' 'व्यञ्जन' (=तकार) है, अत. ४।३१ के अनुसार यह 'रिफित' विसर्जनीय 'ऊष्म'-वर्ण (=सकार) में परिणत होता है जिससे "आवस्तम" रूप निष्पन्न होना चाहिए था किन्तु यहाँ विसर्जनीय निपातन से रेफ हो जाता है जिससे "आवर्तम." रूप निष्पन्न होता है।

(ङ) अहोरात्राणि (अह + रात्राणि) । विऽदधत् ॥ प० पा०

१।१०३ से 'रिफित'-संज्ञक पद 'अह' के विसर्जनीय का ४।२८ से लोप होकर और उसकी उपधा ४।२९ से 'दीर्घ' होकर "अहारात्राणि" रूप निष्पन्न होना चाहिए था किंतु यहाँ 'अह' का 'रिफित' विसर्जनीय निपातन से 'अरिफित' माना जाता है जिससे ४।२५ के अनुसार यह 'ओ' में परिणत हो जाता है और "अहोरात्राणि" रूप निष्पन्न होता है।

(च) यत् । अद । पितो इति । अजगन् ॥ प० पा०

'अद.' पद के बाद में पञ्चम 'वर्ग' का 'अघोष' 'व्यञ्जन' (=पकार) है, इसलिए विसर्जनीय को ४।३३ से विसर्जनीय ही रहना चाहिए था किंतु निपातन से परवर्ती पकार को 'सघोष' 'व्यञ्जन' के समान मानकर पूर्ववर्ती विसर्जनीय ४।२५ से 'ओ' हो गया है।

(छ) क्षयन् । अस्मभ्यम् । असुर । प्रचेत इति प्रऽचेत । राजन् ॥ प० पा०

'प्रचेत' पद के 'अरिफित' विसर्जनीय को ४।२५ से 'ओ' होना चाहिए था

राजन्" प्राप्त होने पर। "अनु श्येनी सचते वर्तनीरह"[क]—"वर्तनिरह" प्राप्त होन पर।

(उपाचरितसंज्ञो विसर्जनीयसंधिः)

यथादिष्टं नामिपूर्वः षकारं
सकारमन्योऽरिफितः ककारे।
पकारे च प्रत्ययेऽन्तःपदं तु
सर्वत्रैवोपाचरितः स संधिः ॥४१॥

(उपाचरित-संज्ञक विसर्जनीय संधि)

सू० अ०—जैसा (आगे वाले सूत्रों में) बतलाया गया है, 'मूर्धन्यभाव' करने वाला 'स्वर' ('नामिन्') है पूर्व में जिसके वह (विसर्जनीय) षकार (हो जाता है) और अन्य (=जिसके पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला 'स्वर' नहीं है वह) 'अरिफित' विसर्जनीय सकार (हो जाता है), यदि बाद में ककार या पकार विद्यमान हो। पद के मध्य में तो सर्वत्र ही (ऐसा होता है)। यह संधि 'उपाचरित' (कहलाती है)।

उ० भा०—यथादिष्टम्=यथोक्तम्; आपद्यते। वक्ष्यमाणे सर्वो नामिपूर्वो विसर्जनीयः षकारम् आपद्यते। सकारम्; अन्यः=अनामिपूर्वः; अरिफितः च। ककारे पकारे च प्रत्यये। अन्तःपदं तु सर्वत्रैव। एतदधिकृत वेदितव्यम्। (उपाचरितः=) उपाचरितसंज्ञः; स संधिः वेदितव्य.। "अथो यूय स्य निष्कृतीः"[१]; "यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा।"[२] "नि काव्या वेधसः शश्वतस्कः"[३]; "यस्पतिर्वार्याणाम्।"[४] यथादिष्टम् इति किम्? "यः पञ्च चर्षणीरभिः।"[५] अरिफितः इति किम्? "भोजा जिग्युरन्तःपेयम्।"[६] उपाचरितसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"प्लुतोपाचरिते नतिः॥"[७]

उ० भा० अ०—यथादिष्टम्=जैसा (परवर्ती सूत्रों में) कहा गया है वैसा; होता है। आगे बतलाई जाने वाली संधि में; नामिपूर्वः='मूर्धन्यभाव' करने वाला 'स्वर'

(२७८छ) और तब "प्रचेतो राजन्" रूप निष्पन्न होना चाहिए था किंतु 'अरिफित' विसर्जनीय यहाँ निपातन से 'रिफित' माना गया है जिससे ४।२८ से इस विसर्जनीय का लोप हो गया है और ४।२९ से इसकी उपधा 'दीर्घ' हो गई है जिससे "प्रचेता राजन्" रूप निष्पन्न हो गया है।

टि० (क) अनु। श्येनी। सचते। वर्तनि.। अह॥ प० पा०
४।२७ से विसर्जनीय का रेफ होकर "वर्तनिरह" रूप निष्पन्न होना चाहिए था किंतु निपातन से 'नि' का इकार ईकार हो गया जिससे "वर्तनीरह" रूप निष्पन्न हो गया।

---

[१] ऋ० १०।९७।९ [२] ऋ० ८।९।११ [३] ऋ० १।७२।१
[४] ऋ० १०।२४।३ [५] ऋ० ७।१५।२ [६] ऋ० १०।१०७।९
[७] १०।२०

('नामिन्') है पूर्व में जिसके वह; (पदान्त) विसर्जनीय: षकारम्=षकार; हो जाता है। अन्य:='मूर्धन्यभाव' करने वाला 'स्वर' ('नामिन्') पूर्व में नही है जिसके वह, अरिफित:='अरिफित' होने पर, सकारम्=सकार (हो जाता है)। ककारे पकारे च प्रत्यये=ककार या पकार बाद में होने पर (अर्थात् पदान्त विसर्जनीय से ठीक पहले अ या आ से भिन्न 'स्वर' हो और बाद में पदादि ककार या पकार होवे तो वह पदान्त विसर्जनीय षकार हो जाता है; किंतु यदि पदान्त विसर्जनीय से ठीक पहले अ या आ हो और बाद में पदादि ककार या पकार हो तो विसर्जनीय सकार हो जाता है)। अन्त:पदं तु सर्वत्रैव=पद के मध्य में तो सर्वत्र ही (पूर्वोक्त 'सकारभाव') होता है)। इस (सूत्र) को अधिकार जानना चाहिए।[क] स संधि:—यह सधि, (उपाचरित:=) 'उपाचरित'-संज्ञक; जाननी चाहिए। (जैसे) "अथो यूय स्थ निष्कृती"[ख], "यात छर्दिष्पा उत न परस्पा।"[ग] "नि काव्या वेधस. शश्वतस्क"[घ]; "यस्पतिर्वार्याणाम्।"[ङ] "जैसा (आगे वाले सूत्रों में) कहा गया है"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "य पञ्च चर्षणीरभि।"[च] "अरिफित' (विसर्जनीय)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर)

टि० (क) "अन्त पदं तु सर्वत्रैव" को अधिकार-सूत्र का अश नही समझना चाहिए। यह तो स्वतन्त्र सूत्र के समान है जैसा कि ४।५० के उवट-भाष्य में माना गया है। दो पदों के मध्य में 'उपाचरित' सधि उन्ही-उन्ही परिस्थितियो में होती है जिनका कथन आगे वाले सूत्रो में किया गया है। इसी तथ्य को बतलाने के लिए आलोच्यमान सूत्र में "यथादिष्टम्" पद रखा गया है। पद के मध्य में तो सर्वत्र ही 'उपाचरित' सधि होती है। इसके लिए किसी भी प्रकार की परिस्थिति का कथन नहीं किया गया है और इसलिए "यथादिष्टम्" का सबन्ध "अन्त पद तु सर्वत्रैव" के साथ नही है।

(ख) अथो इति। यूयम्। स्थ। निःकृती॥ प० पा०

(ग) यातम्। छर्दिःपा। उत। न। परःपा॥ प० पा०

'निःकृती' और 'छर्दिःपा' में पद के मध्य में अवस्थित विसर्जनीय के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला ('नामिन्') 'स्वर' है और बाद में क्रमश ककार और पकार हैं, अत दोनों ही स्थलो पर विसर्जनीय षकार हो गया है।

(घ) नि। काव्या। वेधस। शश्वत.। क॥ प० पा०

विसर्जनीय के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला (='नामिन्') 'स्वर' न होकर अकार है तथा बाद में ककार है, अत ४।४२ के अनुसार विसर्जनीय सकार हो गया।

(ङ) य। पति। वार्याणाम्॥ प० पा०

विसर्जनीय के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला (='नामिन्') 'स्वर' न होकर अकार है तथा बाद में पकार है, अत ४।४२ के अनुसार विसर्जनीय सकार हो गया।

(च) य। पञ्च। चर्षणी। अभि॥ प० पा०

यहाँ पर विसर्जनीय के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला (='नामिन्)

"भोजा जिग्यु रन्त.पेयम् ।"[क] उपाचरित–संज्ञा का प्रयोजन—" 'प्लुत', 'उपाचरित' और 'नति' ('प्रकृतिभाव' से रहते हैं) ।"

अन्तःपादं निग्रहेऽकारपूर्वः
पतिशब्दे द्व्यक्षरे पुंस्प्रवादे ॥४२॥

सू०अ०—पाद के मध्य में, विग्रह में (समास में नहीं), अकार के बाद में आने वाला (विसर्जनीय) (सकार हो जाता है), यदि बाद में दो अक्षरों वाला पुंलिङ्गवाची 'पति' शब्द हो ।

उ० भा०—अन्तःपादम् इत्यधिकारवचनम् । विग्रहे इत्यन्तःपदं तु सर्वत्रैवेत्यस्य निवृत्त्यर्थम् । अकारपूर्वो विसर्जनीयः सकारमापद्यते पतिशब्दे प्रत्यये द्व्यक्षरे; पुंस्प्रवादे= पुंशब्दवाचिनि । "उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते"[१]; "वाचस्पतिं विश्वकर्माणम् ।"[२] अन्तःपादम् इति किम् ? "तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिः ।"[३] अकारपूर्वः इति किम् ? "आघीष-माणायाः पतिः ।"[४] द्व्यक्षरे इति किम् ? "ऋतस्य नः पतयो मृळयन्तु ।"[५] पुंस्प्रवादे इति किम् ? "अतः पत्नीर्दशस्यत ।"[६] शब्दग्रहणं पुंस्प्रवादग्रहणं चोक्तोत्तरम् ॥

उ० भा० अ०—अन्तःपादम्–यह अधिकार का वाचक है ।[ख] विग्रहे–यह पद "पद के मध्य में तो सर्वत्र ही"–इसकी निवृत्ति के लिए (सूत्र में प्रयुक्त हुआ है) । अकार-पूर्वः=अकार है पूर्व में जिसके वह (अर्थात् अकार के बाद में स्थित) विसर्जनीय सकार हो जाता है, द्व्यक्षरे=दो अक्षरो वाला; पुंस्प्रवादे=पुलिङ्गवाची; पतिशब्दे='पति' शब्द बाद में हो तो (अर्थात् पाद के मध्य में अकार से बाद मे स्थित विसर्जनीय सकार हो जाता है यदि उस विसर्जनीय के बाद में दो अक्षरों वाला पुलिङ्गवाची 'पति' शब्द हो) ।

(२८०च) 'स्वर' न होकर अकार है तथा बाद में पकार है तथापि विसर्जनीय सकार नही हुआ है क्योंकि आगे कोई भी ऐसा सूत्र नही है जिसके अनुसार प्रस्तुत विसर्जनीय सकार हो जावे । दो पदो के मध्य में जो 'सकारभाव' ('उपाचरित') होता है उसके लिए प्रस्तुत सूत्र केवल अधिकार-सूत्र है । दो पदों के मध्य में होने वाले 'सकारभाव' ('उपाचरित') के विधायक सूत्र तो आगे बतलाये जायेंगे ।

टि० (क) भोजा. । जिग्युः । अन्त ऽपेयम् ॥ प० पा०

'अन्त ऽपेयम्' पद के मध्य में वर्तमान विसर्जनीय के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला ('नामिन्') 'स्वर' न होकर अकार है तथा बाद में पकार है तथापि यह विसर्जनीय सकार नही हुआ क्योंकि 'अन्त' पद १।७९ तथा १।९५ के अनुसार 'रिफित'-संज्ञक है । 'अरिफित' विसर्जनीय ही सकार होता है, रिफित नही ।

(ख) विपरीत उल्लेख न होने पर 'अन्त पादम्' के अधिकार को सामान्यत ४।४२ से लेकर ४।६५ के सभी सूत्रों में समझना चाहिए ।

---

१ ऋ० १।४०।१ २ ऋ० १०।८१।७ ३ ऋ० ३।३१।४
४ ऋ० १०।२६।६ ५ ऋ० ४।५७।२ ६ ऋ० ५।५०।३

(जैसे) 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते''क; ''वाचस्पति विश्वकर्माणम्''ख। ''पाद के मध्य में''—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) ''त जानती प्रत्युदायन्नुषास. पति ।''ग ''अकार है पूर्व में जिसके वह (विसर्जनीय)''—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) ''आधीप-माणाया. पति ।''घ ''दो अक्षरो वाला''—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) ''ऋतस्य न. पतयो मृळयन्तु ।''ङ ''पुलिङ्गवाची''—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) ''अत पत्नीर्दशस्यत ।''च 'शब्द' तथा 'परप्रवाद'—इन (शब्दो) के ग्रहण करने का उत्तर (४।२३ में) दे चुके है ।

करं कृतं कृधि करत्करित्यपि परेषु ॥४३॥

सू० अ०—'करम्', 'कृतम्', 'कृधि', 'करत्' (और) 'कः'—ये भी (पद) बाद में हों तो (अकार से बाद में विद्यमान विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ० भा०—करम्, कृतम्, कृधि, करत्, कः; (इति=) एतेषु; अपि परेषु अकारपूर्वो विसर्जनीयः सकारमापद्यते। करम्—''अहं न्यन्यं सहसा सहस्करम् ।''१-छ

टि० (क) उत् । तिष्ठ । ब्रह्मण । पते ॥ प० पा०

(ख) वाच. । पतिम् । विश्वऽकर्माणम् ॥ प० पा०

इन दोनो उदाहरणो में पाद के मध्य में अवस्थित तथा अकार के बाद में आने वाले विसर्जनीय के बाद में दो अक्षरों वाला तथा पुलिङ्गवाची 'पति' शब्द है, इसलिए यह विसर्जनीय सकार हो गया है ।

(ग) तम् । जानती । प्रति । उत् । आयन् । उषस ।
पति ।··· · ······ ·· · · ····· ॥ प० पा०

यहाँ पर विसर्जनीय पाद के मध्य में नही है अपितु पाद के अन्त में है, अत. 'पति' शब्द परे रहते भी, विसर्जनीय सकार नहीं हुआ ।

(घ) आऽधीषमाणाया । पति ॥ प० पा०

यहाँ विसर्जनीय के पूर्व में अकार नही अपितु आकार है, इसलिए, दो अक्षरो वाला तथा पुलिङ्गवाची 'पति' शब्द परे रहते भी, विसर्जनीय सकार नही हुआ ।

(ङ) ऋतस्य । न । पतयः । मृळयन्तु ॥ प० पा०

यहाँ पर तीन अक्षरो वाला 'पति' शब्द बाद में है, इसलिए पूववर्ती विसर्जनीय सकार नही हुआ ।

(च) 'अत ' का विसर्जनीय सकार नही हुआ क्योकि बाद में पुलिङ्गवाची 'पति' शब्द नही अपितु स्त्रीलिङ्गवाची 'पति' शब्द (पत्नी) है । 'पति' शब्द में नकार का आदेश होकर तथा 'ङीप्' प्रत्यय लगकर 'पत्नी' शब्द निष्पन्न होता है ।

(छ) अहम् । नि । अन्यम् । सहसा । सह । करम् ॥ प० पा०

---

१ ऋ० १०।४९।८

कृतम्—"सोमं न चारु मघवत्सु नस्कृतम् ।"[१-क] कृधि—"उरुकृदुरु णस्कृधि ।"[२-ख] करत्—"कुविन्नो वस्यसस्करत् ।"[३-ग] कः—"नि काव्या वेधसः शश्वतस्कः ॥"[४-घ]

उ० भा० अ०—करम्, कृतम्, कृधि, करत् (और) कः; (इति=) ये; अपि=भी; परेषु=बाद मे हो तो; अकार से बाद में आने वाला विसर्जनीय सकार हो जाता है।············।

पादान्तगते परीति च ॥४४॥

सू० अ०—पाद के अन्त में स्थित 'परि' यह (पद) भी बाद में हो तो (अकार से बाद में विद्यमान विसर्जनीय सकार हो जाता है) ।

उ० भा०—(पादान्तगते=)पादान्तप्राप्ते; परि; इति=अस्मिन्, पदे परभूतेऽकारपूर्वो विसर्जनीयः सकारमापद्यते । "तदुत्तानपदस्परि ।"[५] पादान्तगते इति किम् ? "यदोषधीभ्यः परि जायते विषम् ।"[६] अकारपूर्वः इति किम् ? "दक्षाद्वदिति परि ॥"[७]

उ० भा० अ०—(पादान्तगते=) पाद के अन्त में स्थित, परि='परि'; इति= यह, पद बाद में हो तो अकार से बाद में विद्यमान विसर्जनीय सकार हो जाता है (अर्थात् यदि विसर्जनीय पदान्त हो और पाद के अन्त में स्थित 'परि' पद परवर्ती हो तो वह विसर्जनीय सकार हो जाता है) । (जैसे) "तदुत्तानपदस्परि ।"[ङ] 'पाद के अन्त में स्थित"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "यदोपधीभ्य. परि जायते विषम् ।"[च] "अकार से बाद में स्थित"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "दक्षाद्वदिति. परि ।"[छ]

असोऽन्तोऽरेफवतः पारशब्दे
परि कृतानि करतीति चैषु ।
अपादान्तीयेष्वपि प्रत्ययेषु ॥४५॥

सू० अ०—पाद के अन्त में न आने वाले भी 'पार' शब्द तथा 'परि', 'कृतानि' और 'करति'—ये (पद) बाद में हों तो रेफरहित तथा 'असः' (में अन्त होने वाले पद का) अन्त (=विसर्जनीय) (सकार हो जाता है) ।

टि० (क) सोमम् । न । चारुम् । मघवत्ऽसु । न. । कृतम् ॥ प० पा०
(ख) उरुऽकृत् । उरु । न. । कृधि ॥ प० पा०
(ग) कुवित् । न. । वस्यस । करत् ॥ प० पा०
(घ) नि । काव्या । वेधस. । शश्वत. । कः ॥ प० पा०

इन सभी उदाहरणो में सूत्रोक्त ककारादि पद बाद में होने के कारण अकार से बाद में विद्यमान विसर्जनीय सकार हो गया है ।

(ङ) तत् । उत्तानऽपद. । परि ॥ प० पा०
(च) यत् । ओषधीभ्यः । परि । जायते । विषम् ॥ प० पा०

यहाँ पर 'परि' पद पाद के अन्त में नही अपितु पाद के मध्य में स्थित है, इसलिए अकार से बाद में विद्यमान भी पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार नही हुआ है ।

[१] ऋ० १०।३९।२ [२] ऋ० ८।७५।११ [३] ऋ० ८।९१।४ [४] ऋ० १।७२।१
[५] ऋ० १०।७२।३ [६] ऋ० ७।५०।३ [७] ऋ० १०।७२।४

उ० भा०—अरेफवतः=रेफरहितस्य; (असोऽन्तः=) असः इत्यस्य योऽन्तः, स सकारमापद्यते; पारशब्दे परभूते। परि, कृतानि, करति—इत्येषु परभूतेषु अपादान्तीयेष्वपि सकारमापद्यते। "अतारिष्म तमसस्पारमस्य"[१], "इन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य।"[२] "अविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया।"[३] कृतानि—"इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि।"[४] करति—"सुपेशस्करति जोषिषद्धि।"[५] असोऽन्तः इति किम्? "सुजातास परि चरन्ति वीराः"; "सद्यो अस्याध्वनः पारमश्नुथ"[७]; "यदोषधीभ्यः परि जायते विषम्।"[८] अरेफवतः इति किम्? "रजसः पार ईङ्खितम्।"[९] पादान्ताधिकारनिवृत्त्यर्थमपादान्तीयग्रहणम्॥

उ० भा० अ०—अरेफवतः=रेफरहित का; (असोऽन्तः=) 'अस' इस (में अन्त होने वाले पद) का जो अन्त (=अन्त में स्थित विसर्जनीय); वह सकार हो जाता है, पारशब्दे='पार' शब्द का कोई भी रूप बाद में हो तो। अपादान्तीयेष्वपि=पाद के अन्त में न आने वाले भी; परि, कृतानि, करति—इत्येषु=ये (पद) बाद में हो तो, (विसर्जनीय) सकार हो जाता है (तात्पर्य यह है कि रेफरहित एव 'अस' में अन्त होने वाले पद के अन्त मे विद्यमान विसर्जनीय सकार हो जाता है यदि उस विसर्जनीय के बाद मे पाद के अन्त में न आने वाले भी ये हों—'पार' शब्द का कोई भी रूप, 'परि', 'कृतानि' और 'करति')। (जैसे) "अतारिष्म तमसस्पारमस्य"[क]; "इन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य।"[ख] "अविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया।"[ग] कृतानि—"इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि।"[घ] करति—"सुपेशसस्करति जोषिषद्धि।"[ङ] "'अस' (में अन्त होने वाले पद) का अन्त (=अन्त में स्थित विसर्जनीय)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "सुजातास परि चरन्ति

(२८३ छ) दक्षात्। ऊँ इति। अदिति। परि॥ प० पा०

यद्यपि यहाँ 'परि' पद पाद के अन्त में विद्यमान है तथापि पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार नही हुआ क्योकि विसर्जनीय के पूर्व में अकार नही अपितु इकार है।

टि० (क) अतारिष्म। तमस। पारम्। अस्य॥ प० पा०

(ख) इन्द्राविष्णू इति। अपस.। पारे। अस्य॥ प० पा०

(ग) अविऽह्वरन्तम्। मनसः। परि। ध्यया॥ प० पा०

(घ) इन्द्रस्यऽइव। प्र। तवस। कृतानि।। प० पा०

(ङ) सुऽपेशस। करति। जोषिषत्। हि॥ प० पा०

इन पाँच उदाहरणो में 'अस' में समाप्त होने वाले पदो का विसर्जनीय सकार हो गया है क्योकि विसर्जनीय के बाद में निर्दिष्ट पदों में से कोई एक पद स्थित है।

---

१ ऋ० १।९२।६ २ ऋ० ६।६९।१ ३ ऋ० ४।३६।२
४ ऋ० ७।६।१ ५ ऋ० २।३५।१ ६ ऋ० ७।१।१५
७ ऋ० ५।५४।१० ८ ऋ० ७।५०।३ ९ ऋ० १०।१४३।५

वीराः"क; "सद्यो अस्याध्वनः पारमश्नुथ"ख; "यदोषधीभ्यः परि जायते विषम् ।"ग "रेफरहित (पद) का"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "रजसः पारे ईङ्खितम्"घ 'पादान्त' के अधिकार की निवृत्ति के लिए 'अपादान्तीय' का ग्रहण (किया गया है) ।

वास्तोरित्येतत्पतिशब्द उत्तरे ॥४६॥

सू० अ०—'पति' शब्द बाद में हो तो 'वास्तोः' इस (पद का) विसर्जनीय सकार हो जाता है) ।

उ० भा०—वास्तोः इत्येतत्पतिशब्द उत्तरे यथाप्राप्तमुपाचरति । शब्दग्रहणं लिङ्गविभक्तिवचनग्रहणार्थम् । "वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा"[१]; "वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥"[२]

उ० भा० अ०—**पतिशब्द उत्तरे**='पति' शब्द बाद में हो तो; **वास्तोः इत्येतत्**= 'वास्तोः' यह (शब्द); 'सकारभाव' ('उपाचरित') को प्राप्त होता है जैसा कि (संहिता-पाठ) में प्राप्त है (अर्थात् 'वास्तोः' शब्द का विसर्जनीय सकार हो जाता है) । (सूत्र में) 'शब्द' शब्द का ग्रहण लिङ्ग, विभक्ति और वचन के ग्रहण के लिए है (अर्थात् 'पति' शब्द किसी भी लिङ्ग, विभक्ति या वचन में हो प्रत्येक अवस्था में उसके पूर्ववर्ती 'वास्तोः' पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है) । (जैसे) "वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा"ङ, "वास्तोष्पतिं व्रतपा निरतक्षन् ।"च

आविर्हविर्ज्योतिरित्युत्तरश्चेत्ककारः ॥४७॥

सू० अ०—यदि बाद में ककार हो तो 'आविः', 'हविः', (और) 'ज्योतिः'—इन (पदों का विसर्जनीय षकार हो जाता है) ।

टि० (क) सुजातासः । परि । चरन्ति । वीराः ॥ प० पा०

(ख) सद्यः । अस्य । अध्वनः । पारम् । अश्नुथ ॥ प० पा०

(ग) यत् । ओषधीभ्यः । परि । जायते । विषम् ॥ प० पा०

इन तीनों प्रत्युदाहरणों में विसर्जनीय के बाद में निर्दिष्ट पदों म से कोई एक पद स्थित है तथापि विसर्जनीय सकार नही हुआ है क्योंकि यह विसर्जनीय ऐसे पदों के अन्त में आया है जो 'असः' में समाप्त नही होते हैं । 'सुजातासः' पद भी 'असः' में नहीं अपितु 'आसः' में समाप्त है ।

(घ) रजसः । पारे । ईङ्खितम् ॥ प० पा०

'असः' में समाप्त होने वाले 'रजसः' पद का विसर्जनीय, 'पारे' बाद में होने पर भी, सकार नही हुआ क्योंकि 'रजसः' पद रेफरहित न होकर रेफ-सहित है ।

(ङ) वास्तोः । पते । ध्रुवा । स्थूणा ॥ प० पा०

(च) वास्तोः । पतिम् । व्रतपाम् । निः । अतक्षन् ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ८।१७।१४ [२] ऋ० १०।६१।७

उ० भा०—आविः, हविः, ज्योतिः—एतेषां विसर्जनीयः षकारमापद्यते उत्तरः; (चेत्=) यदि; ककारः स्यात्। आविः—"आविष्कर्तं महित्वना।"[१-क] हविः—"हविष्कृणुध्वमा गमत्।"[२-ख] ज्योतिः—"ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥"[१-ग]

उ० भा० अ०—आविः, हविः (और) ज्योतिः—इनका विसर्जनीय षकार हो जाता है; उत्तरः=बाद में; (चेत्=) यदि; ककारः=ककार, होवे। .. ।

अथो पान्तपश्यन्तिशब्दौ ॥४८॥

सू० अ०—यदि 'पान्त' और 'पश्यन्ति' शब्द भी (बाद में हों तो तब भी ४।४७ में निर्दिष्ट पदों का विसर्जनीय षकार हो जाता है)।

उ० भा०—अथो=अपि च; पान्तपश्यन्तिशब्दौ यद्युत्तरौ भवत एतेषामेव शब्दानाम् अथ विसर्जनीयः षकारमापद्यते। पान्तम्—"हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि।"[४] पश्यन्ति—"ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्।"[५] शब्दग्रहणमुक्तार्थम्॥

उ० भा० अ०—(अथो) पान्तपश्यन्तिशब्दौ='पान्त' और 'पश्यन्ति' शब्द भी; यदि बाद में हों तो तब इन्ही (४।४७ में निर्दिष्ट) शब्दो का विसर्जनीय षकार हो जाता है। (जैसे) पान्तम्—"हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि।"[घ] पश्यन्ति—"ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्।"[ङ] (सूत्र में) 'शब्द' के ग्रहण करने का प्रयोजन (४।२३ में) बतलाया जा चुका है।

इळाया गा नमसो देवयुर्द्रुहो
मातुरिळस्तानि पदप्रवादे ॥४९॥

सू० अ०—'पद' शब्द का कोई भी रूप बाद में हो तो 'इळायाः', 'गाः', 'नमसः', 'देवयुः', 'द्रुहः', 'मातुः' (और) 'इळः'—ये (पद) ('सकारभाव') को प्राप्त होते हैं)।

उ० भा०—इळायाः, गाः, नमसः, देवयुः, द्रुहः, मातुः, इळः; तानि=एतानि; (पदप्रवादे=) पदशब्दप्रवादे; उपाचारितं लभन्ते। इळायाः—"इळायास्पदे सुदिनत्वे

टि० (क) आविः। कर्त। महिऽत्वना॥ प० पा०

(ख) हविः। कृणुध्वम्। आ। गमत्॥ प० पा०

(ग) ज्योतिः। कर्ता। यत्। उश्मसि॥ प० पा०

(घ) हविः। पान्तम्। अजरम्। स्वःऽविदि॥ प० पा०

(ङ) ज्योतिः। पश्यन्ति। वासरम्॥ प० पा०

भाष्यकार ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नही किया है जहाँ 'पान्त' अथवा 'पश्यन्ति' शब्द के पूर्व में 'आविः' के विसर्जनीय का षकार हुआ हो।

---

१ ऋ० १।८६।९ २ ऋ० ८।७२।१ ३ ऋ० १।८६।१०

४ ऋ० १०।८८।१ ५ ऋ० ८।६।३०

अह्लाम् ।"[१-क] गाः—"य ऋते चिद् गाष्पदेभ्यो दात् ।"[२-ख] नमसः—"उपो एनं जुजुषुर्नमसस्पदे ।"[३-ग] देवयुः—"प्र वोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदम् ।"[४-घ] द्रुहः—"मा न स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे ।"[५-ङ] मातुः—"मातुष्पदे परमे अन्ति षद्गोः ।"[६-च] इळः—इळस्पदे समिध्यसे ॥"[७-छ]

उ० भा० अ०—इळायाः, गाः, नमसः, देवयुः, द्रुहः, मातुः इळः; तानि=ये; (पदप्रवादे=) 'पद' शब्द का कोई भी रूप बाद में हो तो, 'सकारभाव' ('उपाचरित') को प्राप्त होते है ।………… ………।

पूर्वः पुरः पूरिति पूर्वपद्यान्
पदानि चापोह्य नवैतदेवम् ॥५०॥

सू० अ०—'पूर्वः', 'पुरः' (और) 'पूः' जब पूर्व-'पद्य' हों तो इनको और (४।५१ में उल्लिखित) नौ पदों को छोड़कर यह (विसर्जनीय का सकार होना) इसी प्रकार (होता है) ।

उ० भा०—पूर्वः, पुरः, पूः—इति=एतान्; पूर्वपद्यान्; अपोह्य=परित्यज्य=वर्जयित्वा; पदानि नव च वक्ष्यमाणानि वर्जयित्वा; एतत् उपाचारप्रकरण विहितम् एवम् प्रत्येतव्यम् । अपवादविधिरयं सामान्यविधेः प्रभवितुमर्हति । "अन्तःपदं तु सर्वत्रैव"[८] अस्य विधेस्तावदयमपवादः । पूर्वः—"पूर्व पूर्वो यजमानो वनीयान् ।"[९] पुरः—"पुर प्रस्रवणा बलिम् ।"[१०] पूः—"मित्रायुवो न पूर्पतिं सुशिष्टौ ।"[११]

ननु—"रेफं स्वर्धूःपूरघोषेष्वविग्रहे"[१२] इत्यनेनैव सिद्धत्वादतिरिक्तमेतदिति यश्चोदयेत्तं प्रति ब्रूमः । प्रतिकण्ठ तावन्न भवति येन सर्वापवादक स्यात् । सर्वापवादक हि तत्पठितम्—"सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम्"[१३] इति । अपवादस्तु विसर्जनीयस्य भवति, रेफमापद्यते

टि० (क) इळाया । पदे । सुदिनऽत्वे । अह्लाम् ॥ प० पा०
(ख) य. । ऋते । चित् । गा । पदेभ्यः । दात् ॥ प० पा०
(ग) उपो इति । एनम् । जुजुषुः । नमस । पदे ॥ प० पा०
(घ) प्र । व । अच्छ । रिरिचे । देवऽयु. । पदम् ॥ प० पा०
(ङ) मा । न । स्तेनेभ्य । ये । अभि । द्रुह । पदे ॥ प० पा०
(च) मातु । पदे । परमे । अन्ति । सत् । गो ॥ प० पा०
(छ) इळ । पदे । सम् । इध्यसे ॥ प० पा०
सूत्र में उल्लिखित पदो का विसर्जनीय सकार या षकार हो गया है क्याकि बाद में 'पद' शब्द का कोई एक रूप विद्यमान है ।

---

[१] ऋ० ३।२३।४ [२] ऋ० ८।२।३९ [३] ऋ० ८।२३।१९
[४] ऋ० १०।३२।५ [५] ऋ० २।२३।१६ [६] ऋ० ४।५।१०
[७] ऋ० १०।१९१।१ [८] ४।४१ [९] ऋ० ५।७७।२
[१०] ऋ० ८।१००।९ [११] ऋ० १।१७३।१० [१२] ४।३९ [१३] १।५४

विसर्जनीय स्वर्धू:पूरघोषेष्विति । अयमप्युपाचरितापवाद एव—"अन्तःपदं तु सर्वत्रैव"[1] इत्यस्योत्सर्गस्य । अतो द्वयोरुत्सर्गयोर्द्वावपवादौ युक्तरूपाविति नातिरिक्तम् ॥

इदानीं नव पदान्युच्यन्ते—

उ० भा० अ०—पूर्वः, पुरः, पूः—इति=इन; पूर्वपद्यान्=पूर्व पद्यो को, अपोद्य=परित्यज्य=छोडकर, आगे बतलाये जाने वाले, पदानि नव च=नौ पदों को भी, छोड़कर; एतत्=यह, 'सकारभाव' ('उपाचार') का प्रकरण, (जैसा) विहित है, एवम्=वैसा ही, समझना चाहिए। यह अपवाद-विधि सामान्य-विधि को दबा लेने में समर्थ है। "पद के मध्य में तो सर्वत्र ही (विसर्जनीय सकार होता है)"—इस विधि का यह अपवाद है। पूर्वः—"पूर्वं पूर्वो यजमानो वनीयान्"[क] पुरः—"पुर प्रस्रवणा बलिम्।"[ख] पूः—"मित्रायुवो न पूर्पतिं सुशिष्टौ।"[ग]

"जब 'स्व', 'धू' और 'पू' पृथक् (पद) नहीं होते हैं तब इनका विसर्जनीय रेफ हो जाता है, यदि 'अघोष' 'व्यञ्जन' बाद में हों"—इस (सूत्र) से ही सिद्ध हो जाने से यह (=सूत्र में 'पू' का ग्रहण) व्यर्थ है[घ]—जो इस प्रकार शङ्का करेगा उसको बतलाते हैं—यह (४।३९) निपातन-सूत्र ('प्रतिकण्ठ') तो है नहीं जिससे वह सब (सूत्रों) का अपवाद होवे। वह (निपातन-सूत्र ही) सब (सूत्रों) का अपवाद बतलाया गया है—"सम्पूर्ण के शास्त्र-(अपवाद) के लिए निपातन-सूत्रों ('प्रतिकण्ठ') को (कहा गया है)। " 'अघोष' ('व्यञ्जन') बाद में हों तो 'स्व' 'धू' और 'पू' का विसर्जनीय रेफ हो जाता है"—यह तो विसर्जनीय का अपवाद है।[ङ] "पद के मध्य में तो सर्वत्र ही ('सकारभाव' हो जाता है)"—इस

टि० (क) पूर्वं ऽपूर्वं । यजमानः । वनीयान् ॥ प० पा०

(ख) पुरः ऽप्रस्रवणा । बलिम् ॥ प० पा०

(ग) मित्रऽयुव । न । पूः ऽपतिम् ॥ प० पा०

इन तीनों उदाहरणों में पद के मध्य में स्थित भी विसर्जनीय सकार नहीं हुआ है।

(घ) शङ्का का आशय यह है कि ४।३९ में 'पू' के विसर्जनीय के रेफ होने का विधान कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में पू' के विसर्जनीय के सकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए प्रस्तुत सूत्र में इसका निषेध करना व्यर्थ है।

(ङ) 'पू' का विसर्जनीय ४।३८ के अनुसार विसर्जनीय न रहकर ४।३९ के अनुसार रेफ हो जाता है, इसलिए ४।३९ अपवाद है ४।३८ का। किंतु ४।३९ केवल ४।३८ का ही अपवाद है। वह ४।३८ में विहित विसर्जनीय के कार्य का ही निषेध करता है, अन्य सूत्रों में विहित विसर्जनीय के कार्यों का वह निषेध नहीं कर सकता है क्योंकि ४।३९ अपवाद-विधि है, निपातन-विधि नहीं। इसलिए 'पू' के विसर्जनीय के सकार होने का निषेध प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। इस सूत्र में यह निषेध न किया जाता तो 'पू' का विसर्जनीय, पद के मध्य में स्थित होने के कारण, ४।४१ से सकार हो जाता।

---

[1] ४।३१

सामान्य-नियम ('उत्सर्ग') से विहित 'सकारभाव' ('उपाचरित') का यह (=प्रस्तुत सूत्र में विहित 'पू.' के विसर्जनीय का रेफ होना) अपवाद है। इसलिए दो सामान्य-नियमों के दो अपवाद होने ठीक हैं; (अत एव 'पू' का प्रस्तुत सूत्र में ग्रहण) व्यर्थ नही है।

अब नौ पदों को कहते है—

अस्या यः सोमो बृहतोऽस्य पूर्व्य
उरु ज्योतिर्जात इमो वृधोऽन्यः ॥५१॥

सू० अ०—(नौ पद ये हैं) 'अस्या यः', 'सोमः', 'बृहतः', 'अस्य पूर्व्यः', 'उरु ज्योतिः','जातः','इमः','वृधः' (और) 'अन्यः'। (इनमें 'सकारभाव' नहीं होता है)।

उ० भा०—अस्या य., सोमः, बृहतः, अस्य पूर्व्यः, उरु ज्योतिः, जातः, इमः, वृधः, अन्यः। अस्या यः—"दीर्घायुरस्या यः पतिः।"[१-क] अस्याः इति किम्? "यस्पतिर्वार्याणाम्।"[२-ख] सोमः—"सोम. पती रयीणाम्।"[३-ग] बृहतः—"ऋज्ववीरस्य बृहत. पतिर्भूः।"[४-घ] अस्य पूर्व्यः—"उतो नो अस्य पूर्व्य पतिर्दन्।"[५-ङ] अस्य इति किम्? "अह भुव वसुन. पूर्व्यस्पति।"[६-च] उरु ज्योतिः—"उरु ज्योति कृणुहि मत्सि देवान्।"[७-छ]

टि० (क) दीर्घायुः। अस्या। य। पति॥ प० पा०

४।४२ का अपवाद। 'पति' शब्द बाद में होने पर भी 'ह्रस्व' 'स्वर' के बाद में विद्यमान विसर्जनीय सकार नहीं हुआ है।

(ख) य.। पति.। वार्याणाम्॥ प० पा०

यहाँ पर 'य.' का विसर्जनीय ४।४२ से सकार हो गया है क्योकि 'यः' के पूर्व में 'अस्या.' पद नही है। 'पति' शब्द बाद में होने पर 'य.' का विसर्जनीय तभी सकार नही होता जब इसके पूर्व में 'अस्या' पद होता है।

(ग) सोम। पति.। रयीणाम्॥ प० पा०

(घ) ऋज्वऽवीरस्य। बृहत.। पति.। भू॥ प० पा०

(ङ) उतो इति। न। अस्य। पूर्व्य.। पति। दन्॥ प० पा०

उपर्युक्त तीनो स्थल ४।४२ के अपवाद हैं।

(च) अहम्। भुवम्। वसुन.। पूर्व्य। पति.॥ प० पा०

'पूर्व्य.' का विसर्जनीय ४।४२ से सकार हो गया है क्योंकि 'पूर्व्य.' के पूर्व में 'अस्य' पद नही है। 'पति' शब्द बाद में होने पर 'पूर्व्य' का विसर्जनीय तभी सकार नही होता जब इसके पूर्व में 'अस्य' पद होता है।

(छ) उरु। ज्योति। कृणुहि। मत्सि। देवान्॥ प० पा०

४।४७ का अपवाद। ककार बाद में होने पर 'ज्योति' का विसर्जनीय षकार नही हुआ है।

---

[१] ऋ० १०।८५।३९ [२] ऋ० १०।२४।३ [३] ऋ० ९।१०१।६
[४] ऋ० १।५२।१३ [५] ऋ० १।१५३।४ [६] ऋ० १०।४८।१
[७] ऋ० ९।९४।५

उरु इति किम् ? "ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ।"[१-क] जातः—"भूतस्य जात पतिरेक आसीत् ।"[२-ख] इमः—"उप त्वेम कृधि नो भागधेयम् ।"[३-ग] वृधः—"इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिव ।"[४-घ] अन्यः—"स्विष्टमद्यान्य करदिषा ॥"[५-ङ]

ब्रह्मणो द्वे त्रातर्ऋतो विदुर्वसुः
पशुरेतानि कविशब्द उत्तरे ॥५२॥

सू० अ०—'कवि' शब्द बाद में हो तो 'ब्रह्मणः', 'त्रातर्ऋतः' ये दो पद, 'विदुः', 'वसुः', (और) 'पशुः'—ये ('सकारभाव' को प्राप्त होते हैं) ।

उ० भा०—ब्रह्मणः, त्रातर्ऋतः इति द्वे पदे, विदुः, वसुः, पशुः—एतानि उपाचार लभन्ते कविशब्दे; (उत्तरे=) परभूते । ब्रह्मणः—"रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे ।"[६-च] द्वे त्रातर्ऋतः—"अग्ने त्रातर्ऋतस्कवि ।"[७-छ] द्वे इति किम् ? "पवमान ऋतः कविः ।"[८-ज]

टि० (क) ज्योति । कर्त । यत् । उश्मसि ॥ प० पा०
'ज्योति' का विसर्जनीय ४।४७ से षकार हो गया है क्योंकि 'ज्योति' के पूर्व में 'उरु' पद नही है । ककार बाद में होने पर 'ज्योति' का विसर्जनीय तभी षकार नही होता जब इसके पूर्व में 'उरु' पद होता है ।

(ख) भूतस्य । जात. । पति । एक । आसीत् ॥ प० पा०
४।४२ का अपवाद ।

(ग) उप । त्वा । आ । इम । कृधि । न. । भागऽधेयम् ॥ प० पा०
४।४३ का अपवाद । 'कृधि' बाद में होने पर अकार के बाद में विद्यमान विसर्जनीय सकार नही हुआ है ।

(घ) इन्द्र । असि । सुन्वत. । वृधः । पति । दिव ॥ प० पा०
४।४२ का अपवाद ।

(ङ) ४।४३ का अपवाद । 'करत्' बाद में होने पर अकार के बाद में विद्यमान विसर्जनीय सकार नही हुआ है ।

(च) रक्ष । नः । ब्रह्मण । कवे ॥ प० पा०

(छ) अग्ने । त्रात । ऋत । कवि ॥ प० पा०

(ज) पवमान । ऋत । कवि ॥ प० पा०
यहाँ 'ऋत' का विसर्जनीय सकार नही हुआ क्योंकि यहाँ एक ही पद 'ऋत' है । जब 'त्रातर्ऋत'—ये दोनो पद एक ही साथ प्रयुक्त होते हैं तभी 'ऋत.' का विसर्जनीय सकार होता है ।

---

१ ऋ० १।८६।१० २ ऋ० १०।१२१।१ ३ ऋ० ८।९६।८
४ ऋ० ८।९८।५ ५ ग्रं० पृ० १४२ ६ ऋ० ६।१६।३०
७ ऋ० ८।६०।५ ८ ऋ० ९।६२।३०

विदुः—"प्र मंषिष्ठा अभि विदुष्कविः सन् ।"[१-क] वसुः—"स इधानो वसुष्कवि. ।"[२-ख] पशुः—"पशुष्कविरशयच्चायमानः ।"[३-ग] शब्दग्रहणात्प्रातिपदिकमात्रं गृह्यते ॥

उ० भा० अ० ब्रह्मणः, त्रातऋतः—ये, द्वे=दो पद; विदुः, वसुः पशुः—एतानि=ये, 'सकारभाव' ('उपाचार') को प्राप्त होते हैं; कविशब्दे='कवि' शब्द; उत्तरे=बाद में हो ता (अर्थात् 'कवि' शब्द बाद में होने पर सूत्रोक्त पदो का विसर्जनीय सकार हो जाता है) । ' " " (सूत्र मे) 'शब्द' (शब्द) के ग्रहण से प्रातिपदिक मात्र का ग्रहण होता है (अर्थात् 'कवि' शब्द का कोई भी रूप बाद में हो तो सूत्रोक्त पदो का विसर्जनीय सकार हो जाता है) ।

पथिशब्दे जिन्वथश्चेतथो महः ॥५३॥

सू० अ०—'पथि' शब्द बाद में हो तो 'जिन्वथः', 'चेतथः' (और) 'महः' (ये पद 'सकारभाव' को प्राप्त होते है) ।

उ० भा०—पथिशब्दे प्रत्यये जिन्वथः, चेतथः, महः—इत्येतानि पदान्युपाचारं लभन्ते । शब्दग्रहणात्प्रातिपदिकमुक्तार्थम् । जिन्वथः—"आ वर्तनिं मधुना जिन्वथस्पथः ।"[४-घ] चेतथः—"विश्वां अनु स्वधया चेतथस्पथः ।"[५-ङ] महः—"कदर्यम्णो महस्पथा ॥"[६-च]

उ० भा० अ०—पथिशब्दे='पथि' शब्द बाद में होने पर; जिन्वथः, चेतथः (और) महः—ये पद 'सकारभाव' ('उपाचार') को प्राप्त होते हैं । (सूत्र में) 'शब्द' (शब्द) के ग्रहण से प्रातिपदिक (का ग्रहण होता है जिस) प्रयोजन को (४।५२ में) कहा जा चुका है ।"········ ···· · ।

पृथुशब्दे विश्वतो वीळितो रजः ॥५४॥

सू० अ०—'पृथु' शब्द बाद में होने पर 'विश्वतः', 'वीळितः' (और) 'रजः' ('सकारभाव' को प्राप्त होते हैं) ।

उ० भा०—पृथुशब्दे परभूते विश्वतः, वीळितः, रजः—इत्येतेषां पदानां विसर्जनीयः सकारमापद्यते । विश्वतः—"गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिव ।"[७-छ] वीळितः—"रथश्चोदः

टि० (क) प्र । मंषिष्ठा । अभि । विदु । कवि । सन् ॥ प० पा०
(ख) स । इधान । वसु । कवि ॥ प० पा०
(ग) पशु । कवि । अशयत् । चायमान ॥ प० पा०
(घ) आ । वर्तनिम् । मधुना । जिन्वथ । पथ. ॥ प० पा०
(ङ) विश्वान् । अनु । स्वधया । चेतथ. । पथ ॥ प० पा०
(च) कत् । अर्यम्ण । मह. । पथा ॥ प० पा०
(छ) गिरि । न । विश्वत । पृथु. । पति । दिव ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १।७१।१० [२] ऋ० १।७९।५ [३] ऋ० ७।१८।८
[४] ऋ० ४।४५।३ [५] ऋ० ४।४५।६ [६] ऋ० १।१०५।६
[७] ऋ० ८।९८।४

श्नथनो वीळितस्पृथु ।"१-क रजः—"वि द्यामेषि रजस्पृथु ॥"२-ख

उ० भा० अ०—पृथुशब्दे='पृथु' शब्द बाद में होने पर; 'विश्वत' 'वीळित' (और) 'रजः'—इन पदो का विसर्जनीय सकार हो जाता है। ....।

कामपोषपूर्धिशब्देषु रायः ॥५५॥

सू० अ०—'काम', 'पोष' (और) 'पूर्धि' शब्द बाद में होने पर 'रायः' (पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ० भा०—काम, पोष, पूर्धि—इत्येतेषु (शब्देषु) परभूतेषु रायः इत्येतत्पदमुपाचरति। कामः—"रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणम्।"३-ग पोषम्—"रायस्पोषं यजमानेषु धारय।"४-घ पूर्धि—"रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति हि ते॥"५-ङ

उ० भा० अ०—काम, पोष (और) पूर्धि—ये, (शब्देषु=शब्द) बाद में होने पर; रायः—यह पद 'सकारभाव' ('उपाचार') को प्राप्त होता है (अर्थात् 'राय' का विसर्जनीय सकार होता है)। . . . . ।

पादादिरन्तश्च दिवस्परीति च ॥५६॥

सू० अ०—पाद के आदि और अन्त में 'दिवस्परि' (यह द्वैपद मिलता है)।

उ० भा०—दिवस्परि इत्येतद् द्वैपदं निपात्यते; (पादादिरन्तश्च=) पादादौ पादान्ते च वर्तमानम्। "दिवस्परि सुप्रथितं तदादः।"६ "अय स यो दिवस्परि"७; पादादिरन्तश्च इति किम्? "वृष्टिं दिवः परि स्रव।"८ नन्वकारपूर्वविसर्जनीयानुवृत्तौ

टि० (क) रथ्रऽचोद। श्नथन। वीळित.। पृथु.॥ प० पा०

(ख) वि। द्याम्। एषि। रज.। पृथु॥ प० पा०

(ग) राय ऽकाम। वज्रऽहस्तम्। सुऽदक्षिणम्॥ प० पा०

सभी हस्तलेखों में यह उदाहरण मिलता है परन्तु इस सूत्र का यह शुद्ध उदाहरण नहीं है क्योंकि यह समस्त पद है और इसमें 'सकारभाव' "अन्त पद तु सर्वत्रैवोपाचरित." (४।४१) से ही हो जाता है। एक हस्तलेख में इस उदाहरण को प्रस्तुत करके इसे इन शब्दों में अशुद्ध ठहराया गया है—"अन्त पद तु सर्वत्रैवेत्यनेनैव सिद्धत्वान्नेमुदाहरणम्। किंतु "रायस्कामो जरितार त आगन्निति।" (ऋ० ७।२०।९)।

राय। काम। जरितारम्। ते। आ। अगन्॥ प० पा०

(घ) राय। पोषम्। यजमानेषु। धारय॥ प० पा०

(ङ) राय.। पूर्धि। स्वधाऽव। अस्ति। हि। ते॥ प० पा०

---

१ ऋ० २।२।१४ २ ऋ० १।५०।७ ३ ऋ० ७।३२।३
४ ऋ० १०।१२२।८ ५ ऋ० १।३६।१२ ६ ऋ० १।१२।११०
७ ऋ० ९।३९।४ ८ ऋ० ९।८।८

सत्याम्—"पादान्तगते परि"[१] इत्यनेनैव सिद्धत्वाद्यदिह अन्तश्च दिवस्परि इत्युच्यते तदतिरिक्तमिति । नातिरिक्तम् । तस्यावकाशः—"दिवो अन्तेभ्यस्परि"[२] इत्यादिष्वेव । इहान्तग्रहणेऽक्रियमाणे पादादिग्रहणेनैवैतद् द्वैपद निपातित स्यात्पादादावेव, न त्वन्ते । तस्मान्नातिरिक्तम् ॥

उ० भा० अ०—(पादादिरन्तश्च=) पाद के आदि तथा पाद के अन्त में वर्तमान होने पर, दिवस्परि—यह द्वैपद; निपातन से सिद्ध है । "दिवस्परि सुग्रथितं तदाद."[क]; "अय स यो दिवस्परि ।"[ख] "पाद के आदि और अन्त में (वर्तमान होने पर)"- यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "वृष्टि दिव. परि स्रव ।"[ग] (शङ्का) (४।४२ से) अकारपूर्व विसर्जनीय की अनुवृत्ति होने पर 'पाद के अन्त में वर्तमान 'परि' बाद में आवे तो (अकार पूर्व विसर्जनीय सकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से ही सिद्ध हो जाने से यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) जो अन्तश्च दिवस्परि कहा गया है वह व्यर्थ (अतिरिक्त) है ।[घ] (समाधान) व्यर्थ (अतिरिक्त) नही है । उस सूत्र (४।४४) का अवकाश—"दिवो अन्तेभ्यस्परि" इत्यादि (स्थलों) पर ही है । इस (सूत्र) में अन्त का ग्रहण न करके यदि पादादि का ही ग्रहण करते तो यह द्वैपद पाद के आदि में ही निपातन से होता, (पाद के) अन्त में न होता । इसलिए व्यर्थ (अतिरिक्त) नही है ।[ङ]

टि० (क) दिवः । परि । सुऽग्रथितम् । तत् । आ । अदरित्यद. ॥ प० पा०

(ख) अयम् । स. । यः । दिव. । परि ॥ पा० पा०

(ग) वृष्टिम् । दिवः । परि । स्रव ॥ प० पा०

यहाँ "दिव. परि" न तो पाद के आदि में स्थित है और न पाद के अन्त में, अत. यहाँ 'दिव.' का विसर्जनीय सकार नही हुआ है ।

(घ) शकाकार का कहना है कि "अयं स यो दिवस्परि" उदाहरण तो ४।४४ से ही सिद्ध हो जाता है क्योकि ४।४४ में यह बतलाया गया है कि पाद के अन्त में स्थित 'परि' बाद में हो तो अकार के बाद में आने वाला विसर्जनीय सकार हो जाता है । ऐसी वस्तुस्थिति होने पर प्रस्तुत सूत्र में केवल इतना ही कहना चाहिए था कि पाद के आदि में "दिवस्परि" प्राप्त होता है । पाद के अन्त का ग्रहण करना व्यर्थ है । जो पहले ही से ज्ञात है उसका पुन. विधान करना व्यर्थ ही है ।

(ङ) उपर्युक्त शका का निवारण करते हुए भाष्यकार का कहना है कि यद्यपि यह सत्य है कि ४।४४ से ही "अयं स यो दिवस्परि" मे विसर्जनीय के सकार होने की सिद्धि हो जाती है तथापि प्रस्तुत सूत्र में "पाद के अन्त में" का ग्रहण करना अत्यावश्यक है । यदि इस सूत्र में पाद के अन्त का ग्रहण न करके पाद के आदि का ही ग्रहण करते तो यह द्वैपद (="दिवस्परि") पाद के आदि में ही होता, पाद के अन्त में नही । "पाद के अन्त में" का ग्रहण न करने पर प्रस्तुत सूत्र का अर्थ यह होता—"दिवस्परि"—यह द्वैपद पाद

[१] ४।४४ [२] ऋ० १।४९।३

दिवस्पृथिव्या अघमस्पदीष्ट पूर्वं पादादौ यदि ॥५७॥

सू० अ०—"दिवस्पृथिव्याः" (और) "अघमस्पदीष्ट" (ये दो निपातन से 'सकारभाव' को प्राप्त होते हैं); पहला (="दिवस्पृथिव्याः") यदि पाद के आदि में (हो तो 'सकारभाव' को प्राप्त होता है)।

उ० भा०—दिवस्पृथिव्याः; अघमस्पदीष्ट—एतद् द्वैपदद्वय निपात्यते। अत्र पूर्वं द्वैपद पादादौ यदि स्यात्। "दिवस्पृथिव्या. पर्योज उद्भृतम्।"[१] "विश्वस्य जन्तोरघमस्पदीष्ट।"[२] पूर्वं पादादौ इति किम्? "प्र ये दिव. पृथिव्या न बर्हणा॥"[३]

उ० भा० अ०—दिवस्पृथिव्याः (और) अघमस्पदीष्ट—ये दो द्वैपद निपातन से ('सकारभाव' को प्राप्त होते) हैं। इनमें; पूर्वम्=पहला द्वैपद (="दिवस्पृथिव्या"); यदि पाद के आदि में हो (तभी 'सकारभाव' को प्राप्त होता है।) (जैसे) "दिवस्पृथिव्या पर्योज उद्भृतम्।"[क] "विश्वस्य जन्तोरघमस्पदीष्ट।"[ख] "पहला (द्वैपद) पाद के आदि में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "प्र ये दिव पृथिव्या न बर्हणा।"[ग]

सस्पदीष्ट ॥५८॥

सू० अ०—'सस्पदीष्ट' (इस पद मे भी निपातन से 'सकारभाव' होता है)।

उ० भा०—एतद् द्वैपद निपात्यते। "यो नो द्वेष्टयधरः सस्पदीष्ट॥"[४]

उ० भा० अ०—यह द्वैपद निपातन से होता है। "यो नो द्वेष्टयधर सस्पदीष्ट।"[घ]

(२९३इ) के आदि में (ही) होता है। इससे स्वभावत. यह भाव निकलता कि पाद के मध्य मे तथा पाद के अन्त में यह द्वैपद नही होता है। अत ४।४४ के होते हुए भी पाद के अन्त में "दिवस्परि" द्वैपद सिद्ध न होता। इसकी सिद्धि के लिए ही सूत्र में "अन्तश्च" रखा गया है। यह व्यर्थ नही है। यह कहना भी युक्त नही है कि ऐसी स्थिति मे ४।४४ चरितार्थ ही नही होगा क्योकि ४।४४ का अवकाश तो "दिवो अन्तेभ्यस्परि" इत्यादि स्थलो पर है जहाँ पाद के अन्त में स्थित 'परि' पद के पूर्व में 'दिव' को छोड़कर अन्य ऐसे अकारान्त पद हो जिनके बाद में विसर्जनीय हो।

टि० (क) दिव । पृथिव्या । परि । ओज । उत्ऽभृतम् ॥ प० पा०

(ख) विश्वस्य । जन्तो । अघम । पदीष्ट ॥ प० पा०

(ग) प्र । ये । दिव. । पृथिव्या । न । बर्हणा ॥ प० पा०
पाद के आदि में स्थित न होने से 'दिव' का विसर्जनीय सकार नही हुआ है।

(घ) य । न । द्वेष्टि । अधर । स । पदीष्ट ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ६।४७।२७
[२] ऋ० १०।७७।३
[३] ऋ० ७।१०४।१६
[४] ऋ० ३।५३।२१

शवसो महः सहस इळायाः पात्वित्येकं पुत्रशब्दे पराणि ॥५९॥

सू० अ०--'शवसः', 'महः', 'सहसः' (और) 'इळायाः' (इन पदों में से) एक (='शवसः'), 'पातु' (शब्द बाद में होने पर), ('सकारभाव' को प्राप्त होता है), अन्य (='महः', 'सहसः' और 'इळायाः'), 'पुत्र' शब्द बाद में होने पर, ('सकारभाव' को प्राप्त होते हैं)।

उ० भा०—शवसः, महः, सहसः, इळायाः—इत्येतानि पदान्युपाचरन्ति। किमविशेषेण। नेत्याह–पातु इत्येतस्मिन्पदे परभूते एकं प्रथम पदमुपाचरति पुत्रशब्दे पराणि उपाचरन्ति। शवसः—"वाजो नु ते शवसस्पात्वन्तम्।"[१-क] महः—महस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।"[२-ख] सहसः—"सहसस्पुत्रो अद्भुतः।"[३-ग] इळायाः—"इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट॥"[४-घ]

उ० भा० अ०—शवसः, महः, सहसः (और) इळायाः—ये पद 'सकारभाव' ('उपाचार') को प्राप्त होते हैं (अर्थात् इन पदों का विसर्जनीय सकार हो जाता है)। क्या विना किसी विशेष के? (उत्तर) नही, (सूत्रकार ने) कहा है- पातु–यह पद बाद में हो तो; एकम्=पहला एक, पद 'सकारभाव' ('उपाचार') को प्राप्त होता है। पुत्रशब्दे='पुत्र' शब्द बाद में होने पर; पराणि=अन्य='मह', 'सहस' (और) 'इळाया.'; 'सकारभाव' ('उपाचार') को प्राप्त होते ह।·········।

रायस्खां महस्करथो महस्परं निष्क्रव्यादं निष्कृथ निष्पिपर्तन ॥६०॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों में निपातन से 'सकारभाव' होता है)—'रायस्खाम्', 'महस्करथः', 'महस्परम्', 'निष्क्रव्यादम्', 'निष्कृथ'(और)'निष्पिपर्तन'।

उ० भा०—इत्येतानि द्वैपदानि निपात्यन्ते। रायस्खाम्—"स रायस्खामुप सृजा गृणानः।"[५-ङ] महस्करथः—"महस्करथो वरिवो यथा नः।"[६-च] महस्परम्—"त्व

टि० (क) वाज.। नु। ते। शवस.। पातु। अन्तम् ॥ प० पा०

(ख) मह। पुत्रास। असुरस्य। वीरा ॥ प० पा०

(ग) सहस। पुत्र। अद्भुत ॥ प० पा०

(घ) इळाया। पुत्र। वयुने। अजनिष्ट ॥ प० पा०

(ङ) स। राय। खाम्। उप। सृज। गृणान.॥ प० पा०

(च) मह। करथ। वरिव.। यथा। न ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ५।१५।५ [२] ऋ० १०।१०।२
[३] ऋ० २।७।६ [४] ऋ० ३।२९।३
[५] ऋ० ६।३६।४ [६] ऋ० ६।५०।३

स्विदस्य रजसो महस्परम् ।"[१-क] निष्क्रव्यादम्—"निष्क्रव्यादमनीनशत् ।"[२-ख] निष्कृथ—"यदामयति निष्कृथ ।"[३-ग] निष्पिपर्तन—"विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥"[४-घ]

उ० भा० अ०—ये द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं ।..............।

कबन्धं पृथु कण्वासः पुत्रः पातु पथा पयः ।
पायुः पृष्ठं पदं तेषां प्रवादा उदये दिवः ॥६१॥

सू० अ०—'कबन्धम्', 'पृथु', 'कण्वासः', 'पुत्रः', 'पातु', 'पथा', 'पयः', 'पायुः', 'पृष्ठम्' (और) 'पदम्'—इन (पदों) का कोई भी रूप बाद में होने पर 'दिवः' (का विसर्जनीय सकार हो जाता है) ।

उ० भा०—कबन्धम्, पृथु, कण्वासः, पुत्रः, पातु, पथा, पयः, पायुः, पृष्ठम्, पदम्—(तेषाम्=) इत्येतेषां पदानाम्, प्रवादा उदये वर्तमाना दिवः इत्येतस्य पदस्योपाचार जनयन्ति । कबन्धम्—"दिवस्कबन्धमव दर्षदुद्रिणम् ।"[५-ङ] पृथु—"अरित्रं वां दिवस्पृथु ।"[६-च] कण्वासः—"दिवस्कण्वास इन्दवः ।"[७-छ] पुत्रः—"दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेम ।"[८-ज] पातु—"सूर्यो नो दिवस्पातु ।"[९-झ] पथा —"दिवस्पथा वव्वो यन्त्यच्छ ।"[१०-ञ] पयः—"दिवस्पयो दिधिषाणा अवेषन् ।"[११-ट] पायुः—"दिवस्पायुर्दुरोणयु ।"[१२-ठ] पृष्ठम्—

टि० (क) क्व । स्वित् । अस्य । रजस. । मह । परम् ॥ प० पा०
(ख) नि । क्रव्यऽअदम् । अनीनशत् ॥ प० पा०
(ग) यत् । आमयति । नि । कृथ ॥ प० पा०
(घ) विश्वस्मात् । न । अहस । नि । पिपर्तन ॥ प० पा०
(ङ) दिव । कबन्धम् । अव । दर्षत् । उद्रिणम् ॥ प० पा०
(च) अरित्रम् । वाम् । दिव । पृथु ॥ प० पा०
(छ) दिव । कण्वास । इन्दव ॥ प० पा०
(ज) दिव । पुत्रा । अङ्गिरस । भवेम ॥ प० पा०
(झ) सूर्य. । न । दिव । पातु ॥ प० पा०
(ञ) दिव । पथा । वव्व । यन्ति । अच्छ ॥ प० पा०
(ट) दिव । पय । दिधिषाणा । अवेषन् ॥ प० पा०
(ठ) दिव । पायु । दुरोणऽयु ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १।१६८।६
[२] ऋ० १०।१६२।२
[३] ऋ० १०।९७।९
[४] ऋ० १।१०६।१
[५] ऋ० ९।७४।७
[६] ऋ० १।४६।८
[७] ऋ० १।४६।९
[८] ऋ० ४।२।१५
[९] ऋ० १०।१५८।१
[१०] ऋ० ५।४७।६
[११] ऋ० १।१११।१
[१२] ऋ० ८।६०।१९

"दिवस्पृष्ठं भन्दमानः सुमन्मभिः ।"[१-क] पदम्—"अभि प्रिया दिवस्पदम्"[२-ख]; "अभि प्रिया दिवस्पदा ॥"[३-ग]

उ० भा० अ०—कबन्धम्, पृथु, कण्वासः, पुत्रः, पातु, पथा, पयः, पायुः पृष्ठम्, (और) पदम्—(तेषाम्=) इन पदो के; प्रवादाः=सभी रूप; उदये=बाद में विद्यमान होने पर, द्विचः—इस पद के 'सकारभाव' ('उपाचार') को उत्पन्न कर देते हैं।.......।

रजसस्पात्यन्तस्पथाः कस्काव्या चतुरस्कर ।
स्वादुष्किल निदस्पातु द्यौष्पितर्वसतिष्कृता ॥६२॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर विसर्जनीय निपातन से 'सकारभाव' को प्राप्त होता है)—'रजसस्पाति', 'अन्तस्पथाः', 'कस्काव्या', 'चतुरस्कर', 'स्वादुष्किल', 'निदस्पातु', 'द्यौष्पितः', 'वसतिष्कृता'।

उ० भा०—रजसस्पाति, अन्तस्पथाः, कस्काव्या, चतुरस्कर, स्वादुष्किल, निदस्पातु, द्यौष्पितः, वसतिष्कृता—एतानि पदानि यथागृहीतं निपात्यन्ते। रजसस्पाति—"वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ"[४-घ] अन्तस्पथाः—अरिफितस्य विसर्जनीयस्य यदुक्तम्—"अन्तःपदं तु सर्वत्रैव"[५] इति तदिह रिफितस्य दृश्यते, अतो निपात्यते—"अन्तस्पथा अनुपथाः।"[६-ङ] कस्काव्या—"कस्काव्या मरुतः को ह पौंस्या।"[७-च] चतुरस्कर—'कनिष्ठ आह चतुरस्करेति।"[८-छ] स्वादुष्किल—"स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायम्।"[९-ज] निदस्पातु—"सरस्वती

-टि० (क) दिव । पृष्ठम् । भन्दमान । सुमन्मऽभि ॥ प० पा०

(ख) अभि । प्रिया । दिवः । पदम् ॥ प० पा०

(ग) अभि । प्रिया । दिवः । पदा ॥ प० पा०

(घ) वि । चक्रमे । रजस । पाति । अन्तौ ॥ प० पा०

(ङ) अन्तःऽपथा । अनुऽपथा ॥ प० पा०

'अन्त' पद का विसर्जनीय १।७८ तथा १।९५ के अनुसार 'रिफित' है। इसलिए पद के मध्य में होने पर भी इस 'रिफित' विसर्जनीय का सकार नहीं होना चाहिए था किंतु निपातन से यह 'रिफित' विसर्जनीय 'अरिफित' विसर्जनीय के समान सकार हो गया है।

(च) क । काव्या । मरुत । कः । ह । पौंस्या ॥ प० पा०

(छ) कनिष्ठ । आह । चतुर । कर । इति ॥ प० पा०

(ज) स्वादु । किल । अयम् । मधुऽमान । उत । अयम् ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ३।२।१२ [२] ऋ० ९।१०।९ [३] ऋ० ९।१२।८
[४] ऋ० ५।४७।३ [५] ४।४१ [६] ऋ० ५।५२।१०
[७] ऋ० ५।५९।४ [८] ऋ० ४।३३।५ [९] ऋ० ६।४७।१

निदस्पातु ।"[१-क] द्यौष्पितः—"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुक् ।"[२-ख] वसतिष्कृता—"पर्णे वो वसतिष्कृता ॥"[३-ग]

उ० भा० अ०—रजसस्पति, अन्तस्पथाः, कस्काव्या, चतुरस्कर, स्वादुष्किल, निदस्पातु, द्यौष्पितः, वसतिष्कृता—ये पद जैसे (प्रस्तुत सूत्र में) ग्रहण किए गए हैं (वैसे ही संहिता-पाठ में) निपातन से होते हैं । अन्तस्पथाः—'अरिफित' विसर्जनीय के विषय में जो कहा गया है—"पद के मध्य में तो सर्वत्र ही ('अरिफित' विसर्जनीय सकार हो जाता है)"—वह (कार्य) यहाँ 'रिफित' (विसर्जनीय) का दिखलाई पड रहा है, अत ('रिफित' का 'अरिफित' के समान कार्य यहाँ) निपातन से हुआ है ।

तपोष्पवित्रं त्रिष्पूत्वी धीष्पीपाय विभिष्पतात् ।
द्यौष्पिता रजसस्पृष्टो दद्रुष्पज्राय नस्करः ॥६३॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर विसर्जनीय निपातन से 'सकारभाव' को प्राप्त होता है)—'तपोष्पवित्रम्', 'त्रिष्पूत्वी' 'धीष्पीपाय', विभिष्पतात्', 'द्यौष्पिता', 'रजसस्पृष्टः', 'दद्रुष्पज्राय' (और) 'नस्करः' ।

उ० भा०—एतानि पदानि निपात्यन्ते । तपोष्पवित्रम् तपोष्पवित्र विततं दिवस्पदे ।"[४-घ] त्रिष्पूत्वी—'अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वी ।"[५-ङ] धीष्पीपाय—"धीष्पीपाय बृहद्दिवेषु मानुषा ।"[६-च] विभिष्पतात्—"यद्वा रथो विभिष्पतात् ।"[७-छ] द्यौष्पिता—"द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन् ।"[८-ज] रजसस्पृष्टः—"धर्ता दिवो रजसस्पृष्ट ऊर्ध्वः ।"[९-झ] दद्रुष्पज्राय—"दद्रुष्पज्राय साम्ने ।"[१०-ञ] नस्करः—"अधा त्व हि नस्कर ॥"[११-ट]

उ० भा० अ०—ये पद निपातन से सिद्ध हैं ।

टि० (क) सरस्वती । निद । पातु ॥ प० पा०
(ख) द्यौ । पितरिति । पृथिवि । मात । अध्रुक् ॥ प० पा०
(ग) पर्णे । व । वमति । कृता ॥ प० पा०
(घ) तपो । पवित्रम् । विऽततम् । दिव । पदे ॥ प० पा०
(ङ) अपालाम् । इन्द्र । त्रि । पूत्वी ॥ प० पा०
(च) धी । पीपाय । बृहत्ऽदिवेषु । मानुषा ॥ प० पा०
(छ) यत् । वाम् । रथ । विऽभि । पतात् ॥ प० पा०
(ज) द्यौ । पिता । जनिता । सत्यम् । उक्षन् ॥ प० पा०
(झ) धर्ता । दिव । रजस । पृष्ट । ऊर्ध्व ॥ प० पा०
(ञ) दद्रु । पज्राय । साम्ने ॥ प० पा०
(ट) अव । त्वम् । हि । न । कर ॥ प० पा०

[१] ऋ० ६।६१।११ [२] ऋ० ६।५१।५ [३] ऋ० १०।९७।५
[४] ऋ० ९।८३।२ [५] ऋ० ८।९१।७ [६] ऋ० २।२।९
[७] ऋ० १।४६।३ [८] ऋ० ४।१।१० [९] ऋ० ३।४९।४
[१०] ऋ० ८।६।४७ [११] ऋ० ८।८४।६

वसुष्कुविन्मनुष्पिता पितुष्पिता पितुष्परि ।
प्र णस्पुरो मयस्करन्नभस्पयस्त्रयस्परः ॥६४॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर विसर्जनीय निपातन से सकार होता है) 'वसुष्कुवित्', 'मनुष्पिता', 'पितुष्पिता', 'पितुष्परि', 'प्र णस्पुरः', 'मयस्करन्', 'नभस्पयः' (और) 'त्रयस्परः' ।

उ० भा०—एते चोपाचारा यथागृहीतं भवन्ति । वसुष्कुविन् "वसुष्कुविद्वसुभिः काममावरत् ।"[१-क] मनुष्पिता "यामथर्वा मनुष्पिता ।"[२-ख] पितुष्पिता - "गर्भे मातुः पितुष्पिता ।"[३-ग] पितुष्परि "अहमिद्धि पितुष्परि ।"[४-घ] प्र णस्पुरः "सख्वा देव प्र णस्पुर. ।"[५-ङ] प्र इति किम् ? "भद्रं भवाति नः पुरः ।"[६-च] मयस्करन् "मयस्करत्पर-तरे वनाहन् ।"[७-छ] नभस्पयः "हरिरोपशं कृणुते नभस्पयः ।"[८-ज] त्रयस्परः "ये त्रिंशति त्रयस्पर ॥"[९-झ]

उ० भा० अ० -ये 'सकारभाव' ('उपाचार') जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं (वैसे ही संहिता-पाठ में उपलब्ध) होते हैं ।· ····· ······ · ।

टि० (क) वसु. । कुवित् । वसुऽभि । कामम् । आऽवरत् ॥ प० पा०
(ख) याम् । अथर्वा । मनु· । पिता ॥ प० पा०
(ग) गर्भे । मातु । पितुः । पिता ॥ प० पा०
(घ) अहम् । इत् । हि । पितुः । परि ॥ प० पा०
(ङ) सख्व । देव । प्र । न । पुर ॥ प० पा०
(च) भद्रम् । भवाति । न. । पुर ॥ प० पा०
'प्र' पूर्व में न होने के कारण 'न' का विसर्जनीय सकार नहीं हुआ है यद्यपि 'न.' के बाद में पुर' है ।
(छ) मय । करन् । परऽतरे । वन । अहन् ॥ प० पा०
(ज) हरि· । ओपशम् । कृणुते । नभः । पय. ॥ प० पा०
(झ) ये । त्रिंशति । त्रय । पर ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १।१४३।६ [२] ऋ० १।८०।१६
[३] ऋ० ६।१६।३५ [४] ऋ० ८।६।१०
[५] ऋ० १।४२।१ [६] ऋ० २।४१।११
[७] ऋ० १०।९५।१ [८] ऋ० ९।७१।१
[९] ऋ० ८।२८।१

(नकारविकाराः)

(आन्पदाः पदवृत्तयो नाम संधयः=नकारस्य लोपः)

नकार आकारोपधः पद्यान्तोऽपि स्वरोदयः । लुप्यते ॥६५॥

(नकार के विकार)

(आन्पद-पदवृत्ति-संज्ञक संधियाँ=नकार का लोप)

सू० अ०—आकार है पूर्व में जिसके वह नकार 'पद्य' के अन्त में होने पर भी (और 'पद्य' के अन्त में न होने पर भी अर्थात् पद के अन्त में होने पर भी) लुप्त हो जाता है, यदि 'स्वर'-वर्ण बाद मे हो ।

उ० भा०—इत उत्तरं नकारविकारा उच्यन्ते "ईमित्यन्तलोप एषूदयेषु"[१]—अस्मान्नकारलोपादा । आकारोपधः नकारः पद्यान्तः (अपि) अपद्यान्तोऽपि च । विग्रहाधिकारनिवृत्त्यर्थं पद्यान्तग्रहणम्, अन्त पादाधिकारानुवृत्त्यर्थं च । स्वरोदयः सर्वं लुप्यते । "सर्गाँ इव सृजतं सुष्टुतीरुप"[२]; "महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्राः ।"[३] आकारोपधः इति किम् ? "केतुं कृण्वन्नकेतवे ।"[४] स्वरोदयः इति किम् ? "अयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून् ।"[५] अन्तःपादाधिकारानुवृत्ति किम् ? "तयेह विश्वाँ अवसे यजत्राना सादय ॥"[६]

उ० भा० अ०—इसके आगे—"ये (सूत्रोक्त पद) बाद में होने पर 'ईम्' के अन्त (=अन्तिम वर्ण=मकार) का लोप हो जाता है"—इस मकार-लोप (४।८३) से पूर्व तक नकार के विकारों को कहते हैं। आकारोपधः=आकार है पूर्व में जिसके वह; नकारः=नकार; पद्यान्तः (अपि)='पद्य' के अन्त में होने पर भी और 'पद्य' के अन्त में न होने पर भी । 'विग्रह' के अधिकार की निवृत्ति के लिए और 'अन्त.पाद' के अधिकार की अनुवृत्ति के लिए पद्यान्त का ग्रहण (सूत्र) में किया गया है ।[क] स्वरोदयः=बाद में (पदादि) 'स्वर'-(वर्ण) हो तो (पूर्वोक्त नकार); लुप्यते=लुप्त हो जाता है (तात्पर्य यह है कि पूर्वपद्यान्त या पदान्त नकार का लोप हो जाता है यदि (१) नकार के पूर्व में आकार हो (२) नकार के बाद में पदादि 'स्वर'-वर्ण हो और (३) पदादि नकार पाद के मध्य में हो) (जैसे) "सर्गाँ इव सृजत सुष्टुतीरुप"[ख], "महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा ।"[ग]

टि० (क) ४।४२ से प्राप्त 'विग्रहे' अधिकार की निवृत्ति तथा ४।४२ से ही प्राप्त 'अन्त पाद' अधिकार की अनुवृत्ति के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'पद्यान्त' शब्द का ग्रहण किया गया है ।

(ख) सर्गान्ऽइव । सृजतम् । सुऽस्तुती । उप ॥ प० पा०

(ग) महान् । इन्द्र. । नृऽवत् । आ । चर्षणिऽप्रा. ॥ प० पा०

इन उदाहरणों में क्रमश पूर्वपद्यान्त तथा पदान्त नकार के पूर्व में आकार है और बाद में पदादि 'स्वर'—वर्ण है, अत नकार का लोप हो गया ।

---

[१] ४।८३ [२] ऋ० ८।३५।२० [३] ऋ० ६।१९।१
[४] ऋ० १।६।३ [५] ऋ० १।८८।५ [६] ऋ० ३।५७।५

"आकार है पूर्व में जिसके वह (नकार)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "केतु कृण्वन्नकेतवे।"[क] "'स्वर' (-वर्ण) बाद में (=पदादि) हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "अयोदष्ट्रान्विधावतो वराहून्।"[ख] "'अन्त.पाद' के अधिकार की निवृत्ति के लिए"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "तयेह विश्वाँ अवसे यजत्राना सादय।"[ग]

अञ्जाञ्जग्रसानाञ्जघन्वान्देवहूतमान् । बद्वधानाँ इन्द्र
सोमाँस्तृषाणान्नो देव देवान् । हन्त देवाँ इति च ॥६६॥

सू० अ०—(पाद के अन्त में आने पर भी अधोलिखित पदों के नकार लुप्त हो जाते है) 'अञ्जान्', 'जग्रसानान्', 'जघन्वान्', 'देवहूतमान्', 'बद्वधानान्', 'इन्द्र सोमान्', 'तृषाणान्', 'नो देव देवान्' और 'हन्त देवान्'।

उ० भा०—पादान्त एतेषु पदेषु नकारा लुप्यन्ते। पादान्तीयार्थ आरम्भः। अञ्जान्—"आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु।"[१-घ] जग्रसानान्—"सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानाँ आत्।"[२-ङ] जघन्वान्—"त्वमपो यद्ध वृत्रं जघन्वाँ अत्याँइव।"[३-च] देवहूतमान्—"युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वान्।"[४-छ] बद्वधानान्—"त्वमुत्साँ ऋतुभिर्बद्बधानाँ

टि० (क) केतुम्। कृण्वन्। अकेतवे॥ प० पा०
'कृण्वन्' के नकार का लोप नही हुआ है क्योंकि 'कृण्वन्' के पूर्व में आकार नहीं अपितु अकार है।

(ख) अय ऽदंष्ट्रान्। विऽधावत। वराहून्॥ प० पा०
'दंष्ट्रान्' के नकार का लोप नही हुआ क्योकि 'दंष्ट्रान्' के बाद में 'स्वर' नही अपितु 'व्यञ्जन' है।

(ग) तया। इह। विश्वान्। अवसे। यजत्रान्।
आ। सादय। ... ... ॥ प० पा०
'यजत्रान्' का नकार पाद के मध्य में नहीं अपितु पाद के अन्त में है, अत: नकार का लोप नही हुआ है। पाद के मध्य में होने के कारण 'विश्वान्' के नकार का लोप हो गया है।

(घ) आ। सूर्यः। बृहत.। तिष्ठत्। अञ्जान्।
ऋजु। .... ॥ प० पा०

(ङ) सृज। सिन्धून्। अहिना। जग्रसानान्।
आत्। .... ॥ प० पा०

(च) त्वम्। अप.। यत्। ह। वृत्रम्। जघन्वान्।
अत्यान्ऽइव। .... ॥ प० पा०
'जघन्वान्' के नकार का लोप प्रस्तुत सूत्र से और 'अत्यान्' के नकार का लोप ४।६५ से हुआ है।

(छ) युक्ष्व। हि। देवऽहूतमान्।
अश्वान्। ... . ॥ प० पा०

---

१ ऋ० ४।१।१७ २ ऋ० १०।१११।९ ३ ऋ० ३।३२।६ ४ ऋ० ८।७५।१

अरंहः।"१-क इन्द्र सोमान्—"यथापिबः पूर्व्याँ इन्द्र सोमाँ एव।"२-ख इन्द्र इति किम्?ग-तृषाणान्—"धन्वान्यज्राँ अपृणक्तृषाणाँ अधोक्।"३-घ नो देव देवान्—"उत नो देव देवाँ अच्छ।"४-ङ नः इति किम्? "अच्छा नो मित्रमहो देव देवानग्ने।"५-च हन्त देवान्—"यजामहे यज्ञियान्हन्त देवाँ ईळामहे।"६-छ हन्त इति किम्? "यथायज ऋतुभिर्देव देवानेव।"७-ज इति च॥

उ० भा० अ०—पाद के अन्त में (आने पर भी) इन पदो में नकार लुप्त हो जाते हैं। पाद के अन्त में आने वाले (नकार के लोप के लिए) आरम्भ किया है। ....।

टि० (क) त्वम्। उत्सान। ऋतुऽभि। बद्वधानान्।
अरह।... ... ... ॥ प० पा०
'वद्वधानान्' के नकार का लोप प्रस्तुत सूत्र से हुआ है और 'उत्सान्' के नकार का लोप ४।६५ से हुआ है।

(ख) यथा। अपिब.। पूर्व्यान्। इन्द्र। सोमान्।
एव। .... ॥ प० पा०
'सोमान्' के नकार का लोप प्रस्तुत सूत्र से हुआ है और 'पूर्व्यान्' के नकार का लोप ४।६५ से हुआ है।

(ग) भाष्यकर ने प्रत्युदाहरण प्रस्तुत नही किया है।

(घ) धन्वानि। अज्रान्। अपृणक्। तृषाणान्।
अधोक्। .. . ॥ प०पा०
'तृषाणान्' के नकार का लोप प्रस्तुत सूत्र से हुआ है और 'अज्रान्' के नकार का लोप ४।६५ से हुआ है।

(ङ) उत। न। देव। देवान्।
अच्छ।.... ....॥ प० पा०

(च) अच्छ। न। मित्रऽमह। देव। देवान्।
अग्ने।. . .. .॥प० पा०
'देवान्' के नकार का लोप नही हुआ क्योकि 'देवान्' के पूर्व में स्थित 'देव' पद के पूर्व में 'न' पद नही है।

(छ) यजामहे। यज्ञियान्। हन्त। देवान्।
ईळामहे।. ... . ॥ प० पा०

(ज) यथा। अयज। ऋतुऽभि। देव। देवान्।
एव।...... .. .. ॥ प० पा०
'देवान्' के नकार का लोप नही हुआ क्योकि 'देवान्' के पूर्व म 'हन्त' नही है।

---

१ ऋ० ५।३२।२ २ ऋ० ३।३६।३ ३ ऋ० ४।१९।७
४ ऋ० ८।७५।२ ५ ऋ० ६।२।११ ६ ऋ० १०।५३।२
७ ऋ० १०।७।६

एता आन्पदाः पदवृत्तयः ॥६७॥

सू० अ०—ये 'आन्पद-पदवृत्तियाँ' हैं।

उ० भा०—एताः च—"अञ्चान्"[1] इत्यादिका अधस्तनाश्च—"नकार आकारोपधः"[2] इत्यादिका आन्पदाः पदवृत्तय उच्यन्ते ॥

उ० भा० अ०—एताः=ये; "अञ्चान्" इत्यादि भी और "आकार पूर्व में हो तो नकार" इत्यादि ये पूर्ववर्ती भी 'आन्पद-पदवृत्तियाँ' कहलाती हैं।

(विवृत्त्यभिप्रायाः संधयः)

विवृत्त्यभिप्रायेषु च पीवोअन्नाँ रयिवृधः ।
दधन्वाँ यो जुजुर्वाँ यः स्ववाँ यातु दद्वाँ वेति ॥६८॥

(विवृत्त्यभिप्राय-संज्ञक संधियाँ)

सू० अ०—'विवृत्त्यभिप्राय' (नामक संधियों) में भी (नकार का लोप हो जाता है)—'पीवोअन्नाँ रयिवृधः', 'दधन्वाँ यः', 'जुजुर्वाँ यः', 'स्ववाँ यातु' (और) 'दद्वाँ वा'।

उ० भा०—विवृत्त्यभिप्रायेषु च संधिषु नकार आकारोपधो लुप्यतेऽन्तःस्थाव्यञ्जनोदय इत्येतेषु द्वैपदेषु। "पीवोअन्नाँ रयिवृधः सुमेधाः"[3-क]; "दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वन्तरा"[4-ख]; "जुजुर्वाँ यो मुहुरा युवा भूत्"[5-ग]; "सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्"[6-घ]; "दद्वाँ वा यत्पुष्यति रेक्णः।"[7-ङ]

उ० भा० अ०—'विवृत्त्यभिप्राय' संधियों में भी आकार के बाद में आने वाला नकार, 'अन्तःस्था'-रूप 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, लुप्त हो जाता है—इन द्वैपदों में (अर्थात् इन द्वैपदों में 'अन्तःस्था' बाद में होने पर आकार के बाद में आने वाला नकार लुप्त हो गया है)।............।

टि० (क) पीव ऽअन्नान्। रयिऽवृधः। सुऽमेधा ॥ प० पा०
(ख) दधन्वान्। य। नर्य। अप्ऽसु। अन्त। आ॥ प० पा०
(ग) जुजुर्वान्। य। मुहु। आ। युवा। भूत्॥ प० पा०
(घ) सुऽमृळीक। स्वऽवान्। यातु। अर्वाङ्॥ प० पा०
(ङ) दद्वान्। वा। यत्। पुष्यति। रेक्ण॥ प० पा०

---

[1] ४।६६
[2] ४।६५
[3] ऋ० ७।९१।३
[4] ऋ० ९।१०७।१
[5] ऋ० २।४।५
[6] ऋ० १।११८।१
[7] ऋ० १०।१३२।३

(स्पर्शरेफसंधयः=नकारस्य रेफः)

हतं योनौ वचोभिर्यान्युवन्यूँर्वनिषीष्टेति ।
ईकारोकारोपहितो रेफमेषु ॥६९॥

(स्पर्शरेफ-संज्ञक संधियाँ=नकार का रेफ होना)

सू० अ०—'हतम्', 'योनौ', 'वचोभिः', 'यान्', 'युवन्यून्', 'वनिषीष्ट'—ये (पद) बाद में हों तो ईकार और ऊकार से बाद में आने वाला (नकार) रेफ (हो जाता है)।

उ० भा०—हतम्, योनौ, वचोभिः, यान्, युवन्यून्, वनिषीष्ट—(एषु=) एतेषु पदेषु प्रत्ययभूतेषु; (ईकारोकारोपहितः=) ईकारोपहित ऊकारोपहितश्च; नकारो रेफम् आपद्यते। हतम्—"उत्पणीँर्हतमूर्म्या मदन्ता।"[१-क] योनौ—वि दस्यूँर्योनावकृतः।"[२-ख] वचोभिः—"पणीँर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः।"[३-ग] यान्—"सखीँर्याँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या।"[४-घ] युवन्यून्—"रुद्रस्य सूनूँर्युवन्यूँरुदश्या.।"[५-ङ] वनिषीष्ट—"प्रियाँ अपिवीँर्वनिषीष्ट॥"[६-च]

उ० भा० अ०—हतम्, योनौ, वचोभिः, यान्, युवन्यून्, वनिषीष्ट—(एषु=) ये पद वाद में हों तो; (ईकारोकारोपहितः=) ईकार से उपहित और ऊकार से उपहित (=ईकार से वाद में स्थित और ऊकार से वाद में स्थित); नकार, रेफम्=रेफ; हो जाता है (अर्थात् निर्दिष्ट पदो में से कोई भी पद वाद में हो तो ईकार या ऊकार के पश्चात् आने वाला नकार रेफ हो जाता है)। • •• ।

स्वरेषु च ॥७०॥

सू० अ०—'स्वर' (-वर्ण) वाद में होने पर भी (ईकार और ऊकार से बाद में स्थित नकार रेफ हो जाता है)।

टि० (क) उत्। पणीन्। हतम्। ऊर्म्या। मदन्ता॥ प० पा०
(ख) वि। दस्यून्। योनौ। अकृत.॥ प० पा०
(ग) पणीन्। वचःऽभि। अभि। योधत्। इन्द्र॥ प० पा०
(घ) सखीन्। यान्। इन्द्र। चकृषे। सुऽकृत्या॥ प० पा०
(ङ) रुद्रस्य। सूनून्। युवन्यून्। उत्। अश्या.॥ प० पा०
(च) प्रियान्। अपिऽवीन्। वनिषीष्ट॥ प० पा०
इन सभी उदाहरणो में ईकार तथा ऊकार के वाद में स्थित नकार का लोप हो गया है।

१ ऋ० १।१८४।२
२ ऋ० १।६३।४
३ ऋ० ६।३९।२
४ ऋ० ४।३५।७
५ ऋ० ५।४२।१५
६ ऋ० १।१२७।७

उ० भा०—स्वरेषु च प्रत्ययेष्वीकारोकारोपहितो नकारो रेफमापद्यते। "रश्मीँरिव यच्छतम्।"[१-क] अभीशूँरिव सारथि।"[२-ख] परिधीँरति ताँ इहि।"[३-ग] "बन्धूँरिमाँ अवरान्।"[४-घ] अन्त.पादाधिकारानुवृत्तेरिह न भवति—"अतो न आ नृनतिथीनतः॥"

उ० भा० अ०—स्वरेषु च='स्वर' (-वर्ण) बाद में (=पदादि) होने पर भी; ईकार और ऊकार से बाद में स्थित नकार रेफ हो जाता है। · ····। 'अन्त पाद' के अधिकार की अनुवृत्ति होने से यहाँ (अर्थात् इस उदाहरण में) (नकार रेफ) नहीं होता है—"अतो न आ नृनतिथीनत।"[५-ङ]

दस्यूँरेको नॄँरभि च ॥७१॥

सू० अ०—'दस्यूँरेकः' और 'नॄँरभि' (इन द्वैपदों में) भी (नकार रेफ हो गया है)।

उ० भा०—दस्यूँरेकः, नॄँरभि—अनयोः च द्वैपदयोर्नकारो रेफमापद्यते। "त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः।"[६] पादान्तार्थं आरम्भः। नॄँरभि—येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि।"[७] ऋकारोपधत्वान्नकारस्य रेफविधानमेतत्॥

उ० भा० अ०—दस्यूँरेकः, नॄँरभि—इन दो द्वैपदो का; च=भी; नकार रेफ हो जाता है। (जैसे) "त्व ह नु त्यददमायो दस्यूँरेक।"[च] पादान्त के लिए आरम्भ

टि० (क) रश्मीन्ऽइव। यच्छतम्॥ प० पा०

(ख) अभीशून्ऽइव। सारथि.॥ प० पा०

(ग) परिऽधीन्। अति। तान्। इहि॥ प० पा०

(घ) बन्धून्। इमान्। अवरान्॥ प० पा०

इन उदाहरणों में पदादि 'स्वर'-वर्ण बाद में होने पर ईकार और ऊकार के बाद में विद्यमान नकार रेफ हो गया है।

(ङ) अत। न। आ। नॄन्। अतिथीन्।

अत'। ··· · ···॥ प० पा०

यद्यपि 'अतिथीन्' पद के नकार के पूर्व मे ईकार तथा बाद में 'स्वर'-वर्ण है तथापि नकार रेफ नही हुआ है क्योकि यह पद पाद के अन्त में विद्यमान है। इस सूत्र में ४।४२ से 'अन्त पादम्' की अनुवृत्ति हो रही है जिसके अनुसार प्रस्तुत सूत्र में विहित कार्य (नकार का रेफ होना) तभी होता है जब नकार पाद के मध्य में हो। दूसरे शब्दो में हम कह सकते है कि ईकार या ऊकार से बाद में आने वाला नकार तभी रेफ होता है जब पदादि 'स्वर'-वर्ण उसी पाद में स्थित हो जिस पाद में नकार स्थित है।

(च) त्वम्। ह। नु। त्यत्। अदमय। दस्यून्।

एक.। · ····॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ८।३५।२१ [२] ऋ० ६।५७।६ [३] ऋ० १।१०७।१९
[४] ऋ० १।९७।१७ [५] ऋ० ५।५०।३ [६] ऋ० ६।१८।३
[७] ऋ० ५।५४।१५

(किया है)।[क] नॄँरभि—"येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि।"[ख] ऋकार पूर्व में होने से यह नकार का रेफ-विधान (किया गया है)।[ग]

ते स्पर्शरेफसंधयः ॥७२॥

सू० अ०—ये 'स्पर्शरेफ' (—संज्ञक) संधियाँ हैं।

उ० भा०—ते=एते—"हत योनौ"[१] इत्याद्यारभ्य स्पर्शरेफसंधयो वेदितव्याः "स्पर्शोष्मसंधीन्स्पर्शरेफसंधीनभिप्रायांश्च परिपादयन्ति"[२] इत्यादिभिः संज्ञाव्यवहारः॥

उ० भा० अ०—"हतं योनौ" इत्यादि से लेकर; ते=ये; स्पर्शरेफसंधयः='स्पर्शरेफ' (-संज्ञक) संधियाँ जाननी चाहिए। "'स्पर्शोष्म' संधियों का, 'स्पर्शरेफ' संधियों का और 'विवृत्त्यभिप्राय' संधियों का सानुस्वार उच्चारण करते हैं" इत्यादि (सूत्रों) में ('स्पर्शरेफ' आदि) संज्ञाओं का व्यवहार हुआ है।

(नकारस्य प्रकृतिभावः)

नास्मानुपैतावान्स्फुरान्गच्छान्देवानयाड् वहान्।
हिरण्यचक्रान्मायावान्घोषाँस्तानश्विनाविद्वान्।
पयस्वान्पुत्राना वेह्यायजीयान्पतीनुरोः ॥७३॥

(नकार का प्रकृतिभाव)

सू० अ०—(अधोलिखित स्थल ४।६५ और ४।७० के अपवाद हैं। इन स्थलों पर नकार में विकार) नहीं (होता है)—'अस्मानुप', 'एतावान्', 'स्फुरान्', 'गच्छान्', 'देवानयाट्', 'वहान्', 'हिरण्यचक्रान्', 'मायावान्', 'घोषान्', 'तानश्विना', 'अविद्वान्', 'पयस्वान्', 'पुत्राना वेहि', 'आ यजीयान्' (और) 'पतीनुरोः'।

टि० (क) पूर्ववर्ती सूत्र (४।७०) में यह विधान किया गया था कि यदि पदान्त नकार के पूर्व में ईकार या ऊकार हो और बाद में पदादि 'स्वर'-वर्ण हो तो पदान्त नकार रेफ हो जाता है। 'दस्यून्' के पदान्त नकार के पूर्व में भी ऊकार है और बाद में 'स्वर'-वर्ण है तथापि पूर्ववर्ती सूत्र (४।७०) से 'दस्यून्' का नकार रेफ नहीं होता है क्योंकि उस सूत्र के अनुसार पाद के मध्य में विद्यमान नकार ही रेफ होता है। "दस्यूँरेक" को पृथक् सूत्र में रखने का कारण यह है कि 'दस्यून्' का नकार पाद के अन्त में स्थित है।

(ख) येन। स्व.। न। ततनाम। नॄन्। अभि॥ प० पा०

(ग) "नॄँरभि" को पृथक् सूत्र में रखने का यह कारण है कि पूर्ववर्ती सूत्र (४।७०) के अनुसार केवल वही नकार रेफ होता है जिसके पहले ईकार अथवा ऊकार हो। यहाँ तो नकार के पहले ऋकार है। ऋग्वेद में ऋकार के बाद में आने वाले नकार के रेफ होने का केवल यही एक उदाहरण उपलब्ध होता है। अन्य स्थलों पर तो ऋकार के बाद में आने वाला नकार, 'स्वर'-वर्ण परे रहते, रेफ में परिणत न होकर अविकृत रहता है।

---

१ ४।६९ २ १४।३७

उ० भा०—अस्मानुप, एतावान्, स्फुरान्, गच्छान्, देवानयाट्, वहान्, हिरण्यचक्रान्, मायावान्, घोषान्, तानश्विना, अविद्वान्, पयस्वान्, पुत्राना धेहि, आयजीयान्, पतीनुरोः—एते नकाराः प्रकृत्या भवन्ति। अस्मानुप—"धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।"[१-क] उप इति किम्? "प्रास्माँ अव पृतनासु प्र विक्षु।"[२-ख] एतावान्—"एतावानस्य महिमा।"[३-ग] स्फुरान्—"अनु यद् गावः स्फुरानृजिप्यम्।"[४-घ] गच्छान्—"गच्छानिद्ददुषो रातिम्।"[५-ङ] देवानयाट्—"देवानयाड्याँ अपिप्रेयें ते होत्रे।"[६] अयाट् इति किम्? "देवाँ आ वीतये वह।"[७-च] वहान्—"कस्मै देवा आ वहानाशु होम।"[८-छ] हिरण्यचक्रान्—"पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्।"[९-ज] मायावान्—"नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त।"[१०-झ] घोषान्—"आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि।"[११-ञ] तानश्विना—"तानश्विना सरस्वतीमिन्द्रं सुत्रामाणम्।"[ट] अश्विना इति किम्? "ताँ इन्द्र

टि० (क) धेनुः। वाक्। अस्मान्। उप। सुऽस्तुता। आ। एतु॥ प० पा०

(ख) प्र। अस्मान्। अव। पृतनासु। प्र। विक्षु॥ प० पा०।

'अस्मान्' के नकार का लोप ४।६५ के अनुसार हो गया है क्योंकि यहाँ 'अस्मान्' के बाद में 'उप' पद नही है। 'उप' पद बाद में होने पर ही 'अस्मान्' के नकार का लोप नही होता है।

(ग) एतावान्। अस्य। महिमा॥ प० पा०

(घ) अनु। यत्। गाव.। स्फुरान्। ऋजिप्यम्॥ प० पा०

(ङ) गच्छान्। इत्। ददुषः। रातिम्॥ प० पा०

(च) देवान्। आ। वीतये। वह॥ प० पा०

'देवान्' के नकार का लोप ४।६५ के अनुसार हो गया है क्योंकि यहाँ 'देवान्' के बाद में 'अयाट्' पद नही है। 'अयाट्' पद बाद में होने पर ही 'देवान्' के नकार का लोप नही होता है।

(छ) कस्मै। देवाः। आ। वहान्। आशु। होम॥ प० पा०

(ज) पश्यन्। हिरण्यऽचक्रान्। अयःऽदंष्ट्रान्॥ प० पा०

(झ) नि। मायाऽवान्। अब्रह्मा। दस्यु.। अर्त॥ प० पा०

(ञ) आ। यत्। ते। घोषान्। उत्ऽतरा। युगानि॥ प० पा०

(ट) यह उद्धरण वाजसनेयी-संहिता (२१।४२) और मैत्रायणी-संहिता (३।११।४) में मिलता है किंतु ऋग्वेद-संहिता में नही मिलता। कतिपय हस्तलेखों में यहाँ "प्रैषोऽनुमेय." ये शब्द मिलते हैं।

---

[१] ऋ० ८।१००।११
[२] ऋ० ६।४१।५
[३] ऋ० १०।९०।३
[४] ऋ० ६।६७।११
[५] ऋ० ८।७९।५
[६] प्रै० पृ० १४५
[७] ऋ० ५।२६।२
[८] ऋ० १।८४।१८
[९] ऋ० १।८८।५
[१०] ऋ० ४।१६।९
[११] ऋ० ३।३३।८

सहसे पिब ।"[१-क] अविद्वान्—"अविद्वानित्थापरो अचेताः ।"[२-ख] पयस्वान्—"पयस्वानग्न आ गहि ।"[३-ग] पुत्राना धेहि—"दशास्यां पुत्राना धेहि ।"[४-घ] आ धेहि इति किम् ? "पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम् ।"[५-ङ] धेहि इति किम् ? मृग्यं प्रत्युदाहरणम् ।[च] आयजीयान्—"होता होतुर्होतुरायजीयानग्ने यान् ।"[६-छ] पतीनुरोः—"प्रियधाम्न प्रियव्रतान्महः स्वसरस्य पतीनुरोः ।"[७-ज] उरोः इति किम् ? 'रिशादस. सत्पतीँरदब्धान् ।"[८-झ]

टि० (क) तान् । इन्द्र । सहसे । पिब ॥ प० पा०

यहाँ पर 'तान्' के नकार का लोप ४।६५ से हो गया है क्योकि बाद में 'अश्विना' पद नही है । 'अश्विना' पद बाद में होने पर ही 'तान्' के नकार का लोप नही होता है ।

(ख) अविद्वान् । इत्था । अपर । अचेता ॥ प० पा०

(ग) पयस्वान् । अग्ने । आ । गहि ॥ प० पा०

(घ) दश । अस्याम् । पुत्रान् । आ । धेहि ॥ प० पा०

(ङ) पुंस. । पुत्रान् । उत । विश्वऽपुषम् । रयिम् ॥ प० पा०

यहाँ 'पुत्रान्' के नकार का लोप ४।६५ से हो गया है क्योकि बाद में "आ धेहि" नही है । 'आ धेहि" बाद में होने पर ही 'पुत्रान्' के नकार का लोप नही होता है ।

(च) यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'पुत्रान्' के बाद में 'आ' और 'धेहि' ये दो पद सूत्र में क्यो रखे गए है ? 'धेहि' पद की उपयोगिता दिखलाने के लिए भाष्यकार को ऐसा प्रत्युदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए था जहाँ 'पुत्रान्' के बाद में 'आ' हो और 'धहि' न हो तथा जहाँ नकार का लोप हुआ हो । ऐसा प्रत्युदाहरण हो तो तब यह कहा जा सकता है कि 'पुत्रान्' के नकार का लोप तभी नही होता है जब 'पुत्रान्' के बाद में 'आ' और 'धेहि' ये दो पद हो । भाष्यकार ने ऐसा प्रत्युदाहरण प्रस्तुत न करके कहा है कि ऐसा प्रत्युदाहरण खोजना चाहिए । यदि ऐसा प्रत्युदाहरण न मिले तो यही कहना होगा कि छन्द की परिपूर्ति के लिए ही सूत्र में 'धेहि' पद का ग्रहण किया गया है । देखिए २।७७ पर उवट-भाष्य ।

(छ) ४।६५ का अपवाद । 'स्वर'-वर्ण परे रहते पदान्त नकार का लोप नही हुआ है ।

(ज) यह ४।७० का अपवाद है । ४।७० में यह विधान किया गया था कि पदान्त नकार के पूर्व में ईकार या ऊकार हो और बाद में पदादि 'स्वर'-वर्ण हो तो नकार रेफ हो जाता है । किंतु प्रस्तुत उदाहरण में नकार रेफ नही हुआ है ।

(झ) रिशादस । सत्ऽपतीन् । अदब्धान् ॥ प० पा०

४।७० से नकार रेफ हो गया है क्योकि 'पतीन्' पद के बाद में 'उरो' पद नही है । 'उरो.' पद बाद में होने पर ही 'पतीन्' का नकार रेफ नहीं होता है ।

---

१ ऋ० १।१६।६
२ ऋ० १।१२०।२
३ ऋ० १।२३।२३
४ ऋ० १०।८५।४५
५ ऋ० १।१६२।२२
६ प्रे० पृ० १४५
७ प्रे० पृ० १४६
८ ऋ० ६।५१।४

उ० भा० अ० — अस्मानुप, एतावान्, स्फुरान्, गच्छान्, देवानयाट्, बेहान्;
हिरण्यचक्रान्, मायावान्, घोषान्, तानश्विना, अविद्वान्, पयस्वान्, पुत्राना धेहि, आयजीयान्, पतीनुरोः — ये (अर्थात् इन स्थलों पर) नकार 'प्रकृतिभाव' से (अर्थात् अविकृत) रहते हैं।[क] . . ।

(स्पर्शोष्मसंधयः=नकारस्य विसर्जनीयवत्त्वम्)

चरति चक्रे चमसाँश्च चो चिच्
चरसि च्यौत्नश्चतुरश्चिकित्वान् ।
एतेषु सर्वत्र विसर्जनीयवद्दीर्घोपधः ॥७४॥

(स्पर्शोष्म संधियाँ=नकार का विसर्जनीय के समान होना)

सू० अ० — 'चरति', 'चक्रे', 'चमसान्', 'च', 'चो', 'चित्', 'चरसि', 'च्यौत्नः', 'चतुरः' (और) 'चिकित्वान्' — ये (पद) बाद में हों तो 'दीर्घ' 'स्वर' के बाद में आने वाला (नकार)सर्वत्र विसर्जनीय के समान (कार्य प्राप्त करता है) ।

उ० भा० — चरति, चक्रे, चमसान्, च, चो, चित्, चरसि, च्यौत्नः, चतुरः, चिकित्वान् — एतेषु पदेषु परभूतेषु; सर्वत्र = अन्तःपादं पादान्ते च वर्तमानः; दीर्घोपधो नकारो विसर्जनीयवत्प्रत्येतव्यः = विसर्जनीयधर्मान् लभते नकारः — इत्यर्थः । कतमे त इति चेत् ? "अघोषे रेफ्यरेफी चोष्माण स्पर्श उत्तरे तत्तस्थानम् ।"[१] इति ।

चरति — "अन्तर्महाँश्चरति रोचनेन ।"[२-ख] चक्रे — "पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यान् ।"[३-ग] चमसान् — "विभ्राजमानाँश्चमसाँ अहेव ।"[४-घ] च — "अस्माँश्च ताँश्च प्र हि नेषि वस्य आ ।"[५-ङ] चो — "याँश्चो नु दाधृविर्भरध्यै ।"[६-च] चित् — "ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ।"[७-छ]

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र मे निर्दिष्ट १५ स्थलो में से १४ स्थल ४।६५ के अपवाद है । इन स्थलो पर आकार के बाद में आने वाला पदान्त नकार पदादि 'स्वर'-वर्ण के पूर्व में होने पर भी रेफ नही होता है अपितु अविकृत रहता है । पदादि 'स्वर' वर्ण से पूर्व में पदान्त नकार को अविकृत रखने की यह प्रवृत्ति परवर्ती वैदिक साहित्य में निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती रही और लौकिक सस्कृत में तो 'स्वर'-वर्ण से पूर्व में आने वाला पदान्त नकार कभी भी रेफ में परिणत नहीं होता है अपितु सर्वत्र अविकृत रहता है ।

(ख) अन्त । महान् । चरति । रोचनेन ॥ प० पा०

(ग) पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ॥ प० पा०

(घ) विऽभ्राजमानान् । चमसान् । अहाऽइव ॥ प० पा०

(ङ) अस्मान् । च । तान् । च । प्र । हि । नेषि । वस्य. । आ ॥ प० पा०

(च) यान् । चो इति । नु । दाधृवि । भरध्यै ॥ प० पा०

(छ) तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् ॥ प० पा०

---

[१] ४।३१ [२] ऋ० ३।५५।९ [३] ऋ० १०।९०।८

[४] ऋ० ४।३३।६ [५] ऋ० २।१।१६ [६] ऋ० ६।६६।३ [७] ऋ० १०।१५४।१

चरसि—"अन्तर्महांश्चरसि रोचनेन।"[१-क] च्यौत्नः—"भुवो नूँश्च्यौत्नो विश्वस्मिन्भरे।"[२-ख] चतुरः—"रायः समुद्रांश्चतुरः।"[१-ग] चिकित्वान्—"विद्वांश्चिकित्वान्हर्यश्व वर्धसे।"[४-घ] दीर्घोपधः इति किम्? "अहन्च वृत्रं नमुचिमुताहन्।"[५-ङ]

उ० भा० अ०—चरति, चक्रे, चमसान्, च, चो, चित्, चरसि, च्यौत्नः, चतुरः, चिकित्वान्—एतेषु=ये पद बाद में हों तो; सर्वत्र=पाद के मध्य में और पाद के अन्त में भी वर्तमान; दीर्घोपधः='दीर्घ' 'स्वर' के बाद में विद्यमान; नकार; विसर्जनीयवत्=विसर्जनीय के समान; समझा जाना चाहिए=नकार विसर्जनीय के धर्मों को प्राप्त कर लेता है—यह अर्थ है (तात्पर्य यह है कि पदान्त नकार के पूर्व में 'दीर्घ' 'स्वर' हो और बाद में चकार से प्रारम्भ होने वाले निर्दिष्ट पदों में से कोई भी एक हो तो वह नकार पाद के मध्य में अथवा पाद के अन्त में होने पर भी विसर्जनीय के समान कार्य को प्राप्त करता है)। यदि (पूछो कि) वे (धर्म) कौन हैं? (उत्तर देते हैं) "'अघोष' 'स्पर्श' परे (=पदादि) हो तो 'रिफित' और 'अरिफित' विसर्जनीय उस (पदादि 'अघोष' 'स्पर्श') के समान स्थान वाले 'ऊष्म' (-वर्ण) (हो जाते हैं)"—(इस सूत्र में प्रतिपादित विसर्जनीय के धर्मों को नकार प्राप्त कर लेता है)। .... ।

अस्माञ्चमसान्पशून्न ॥७५॥

सू० अ०—'अस्मान्' 'चमसान्' (और) 'पशून्' (का नकार विसर्जनीय के कार्य को प्राप्त) नहीं (करता है)।

उ० भा०—अस्मान्, चमसान्, पशून्—न अत्र नकारो विसर्जनीयवत्कार्यं लभते। अस्मान्—"अस्माञ्च तांश्च प्र हि।"[६-च] चमसान्—"यदावाख्यच्चमसाञ्चतुरः।"[७-छ]

टि० (क) अन्त.। महान्। चरसि। रोचनेन॥ प० पा०

(ख) भुव.। नून्। च्यौत्नः। विश्वस्मिन्। भरे॥ प० पा०

(ग) रायः। समुद्रान्। चतुर॥ प० पा०

(घ) विद्वान्। चिकित्वान्। हरिऽअश्व। वर्धसे॥ प० पा०

४।३१ के अनुसार चकार बाद में (=पदादि) हो तो पदान्त विसर्जनीय शकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार, चकारादि निर्दिष्ट पद परे रहते, नकार भी विसर्जनीय के समान कार्य प्राप्त करता है, अत वह भी शकार हो जाता है। इस सूत्र के सभी उदाहरणों में नकार शकार हो गया है।

(ङ) अहन्। च। वृत्रम्। नमुचिम्। उत। अहन्॥ प० पा०

'अहन्' के नकार के पूर्व में 'दीर्घ' 'स्वर' नहीं है, अत., 'च' पद परे होने पर भी, नकार प्रस्तुत सूत्र से शकार नहीं हुआ अपितु ४।९ से ञकार हो गया है।

(च) अस्मान्। च। तान्। च। प्र। हि॥ प० पा०

(छ) यदा। अवऽअख्यत्। चमसान्। चतुर.॥ प० पा०

१ ऋ० १०।४।२ — २ ऋ० १०।५०।४ — ३ ऋ० ९।३३।६ — ४ ऋ० ३।४४।२ — ५ ऋ० ७।१९।५ — ६ ऋ० २।१।१६ — ७ ऋ० १।१६१।४

पशून्—"पशूञ्च स्यातृञ्चरथं च पाहि ॥"[१-क]

उ० भा० अ०—अस्मान्, चमसान् (और) पशून्—यहाँ पर नकार विसर्जनीय के समान कार्य ; न=नहीं ; प्राप्त करता है (अर्थात् इन पदों का नकार ४।७४ से शकार नहीं होता है) । ···· ········· ।

ताँस्ते सर्वाँस्ताल्देवाँस्त्वं ताँस्त्रायस्वावदँस्त्वं च ॥७६॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों में नकार विसर्जनीय के समान कार्य प्राप्त करता है) 'ताँस्ते', 'सर्वाँस्तान्', देवाँस्त्वम्', 'ताँस्त्रायस्व' और 'आवदँस्त्वम्' ।

उ० भा० अ०—एतेषां द्वैपदानां नकारो विसर्जनीयवद्भवति । ताँस्ते—"ताँस्ते अश्याम पुरुकृत्पुरुक्षो ।"[२-ख] सर्वाँस्तान्—"सर्वांस्तां इन्द्र गच्छसि ।"[३-ग] देवाँस्त्वम्—"देवांस्त्वं परिभूरसि ।"[४-घ] ताँस्त्रायस्व—"तांस्त्रायस्व सहस्य ।"[५-ङ] आवदँस्त्वम्—"आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद ॥"[६-च]

उ० भा० अ०—इन द्वैपदों का नकार विसर्जनीय के समान होता है ।·········।

विसर्जनीयं परेष्विति ते स्पर्शोष्मसंधयः ॥७७॥

सू० अ०—आगे आने वाली (जिन संधियों) में (नकार) विसर्जनीय (हो जाता है) वे (तथा ४।७४-७५-७६ में जिनका प्रतिपादन किया गया है वे) 'स्पर्शोष्म' संधियाँ (कहलाती हैं) ।

उ० भा०—येषु परेषु संधिषु विसर्जनीयं वयं वक्ष्यामः; ये चैते—"चरति चक्रे"[७] इत्यादयः—त उभयेऽपि स्पर्शोष्मसंधयो वेदितव्या । एकत्र स्पर्श एकत्रोष्मेत्यन्वर्थसंज्ञा । एवमधस्तना अपि संज्ञा वेदितव्या । दिङ्मात्रं त्वेतत्प्रदर्शितम् ॥

टि० (क) पशून् । च । स्यातृन् । चरथम् । च । पाहि ॥ प० पा०

प्रस्तुत सूत्र ४।७४ का अपवाद है । ४।७४ के अनुसार 'च' तथा 'चतुर्' बाद में होने पर 'दीर्घ' 'स्वर' के बाद में आने वाला पदान्त नकार शकार हो जाता है किन्तु प्रस्तुत सूत्र ने इन तीन स्थलों पर नकार के शकार होने का निषेध कर दिया है । यहाँ ४।९ के अनुसार नकार ञकार हो गया है ।

(ख) तान् । ते । अश्याम । पुरुऽकृत् । पुरुक्षो इति पुरुऽक्षो ॥ प० पा०

(ग) सर्वान् । तान् । इन्द्र । गच्छसि ॥ प० पा०

(घ) देवान् । त्वम् । परिऽभूः । असि ॥ प० पा०

(ङ) तान् । त्रायस्व । सहस्य ॥ प० पा०

(च) आऽवदन् । त्वम् । शकुने । भद्रम् । आ । वद ॥ प० पा०

४।३१ के अनुसार तकार बाद में हो तो पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है । प्रस्तुत सूत्र के अनुसार इन द्वैपदों में नकार भी विसर्जनीय के समान कार्य प्राप्त करता है, अतः इन सभी द्वैपदों में नकार सकार हो गया है ।

---

[१] ऋ० १।७२।६ [२] ऋ० ९।९१।५ [३] ऋ० ८।९३।६ [४] ऋ० ५।१३।६

[५] ऋ० ७।१६।८ [६] ऋ० २।४३।३ [७] ४।७४

उ० भा० अ०—जिन; परेषु=परवर्ती, सन्धियों में हम (नकार के); विसर्जनीयम्=विसर्जनीय (होने) को, कहेंगे और जो ये "चरति चक्रे" इत्यादि (सन्धियाँ हैं)—ते=वे दोनों ही; 'स्पर्शोष्म' (-संज्ञक) सन्धियाँ जाननी चाहिए। एक स्थान (=पद-पाठ) में जो 'स्पर्श' है वही एक स्थान (=संहिता-पाठ) में 'ऊष्मन्' हो जाता है—इस प्रकार यह संज्ञा अर्थानुसारिणी है। इसी प्रकार पूर्ववर्ती संज्ञाओं को भी समझ लेना चाहिए। यह तो केवल दिग्दर्शन कराया है।

नॄँः पतिभ्यो नॄँः प्रणेत्रं नॄँः पात्रं स्वतवाँः पायुः।
संधिर्विक्रान्त एवैषः ॥७८॥

सू० अ०—'नॄँः पतिभ्यः', 'नॄँःप्रणेत्रम्', 'नॄँः पात्रम्' (और) 'स्वतवाँ पायुः'—यह 'विक्रान्त' संधि ही है।

उ० भा०—एव इत्यवधारणवचनम्; नात्र द्वितीय पक्ष। नॄँः पतिभ्यः—"नॄँः पतिभ्यो योनिं कृण्वाने।"[१] नॄँः प्रणेत्रम्—"नराशंस नृशस्तं नॄँः प्रणेत्रम्।"[२] नॄँः पात्रम्—"कविंत्था नॄँः पात्रं देवयताम्।"[३ क] स्वतवाँः पायुः—"भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने॥"[४-ख]

उ० भा० अ०—एव-यह निश्चय (अवधारण) का वाचक है, इस विषय में दूसरा पक्ष नहीं है (अर्थात् नकार के स्थान पर आया हुआ विसर्जनीय अविकृत ही रहता है, वह ४।३३ के अनुसार विकल्प से 'ऊष्म'-वर्ण में परिणत नहीं होता है)।

नॄँः पाहि शृणुधीति च ॥७९॥

सू० अ०—'नॄः पाहि शृणुधि' यह भी ('विक्रान्त' संधि ही है)।

उ० भा०—"नॄँः पाहि शृणुधी गिरः"[५] —इत्ययं च विक्रान्तसंधिरेव। शृणुधि इति किम्? "रक्षा णून्पाह्यसुर त्वमस्मान्॥"[६]

उ० भा० अ०—"नॄँ पाहि शृणुधी गिर"[ग]—यह भी 'विक्रान्त' संधि ही है (अर्थात् यहाँ भी नकार के स्थान पर आए हुए विसर्जनीय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है)।

टि० (क) कत्। इत्था। नॄन्। पात्रम्। देवऽयताम्॥ प० पा०
(ख) भुव। तस्य। स्वऽतवान्। पायु। अग्ने॥ प० पा०
सभी स्थलों पर नकार विसर्जनीय हो गया है। इसके बाद विसर्जनीय में कोई विकार नहीं हुआ है। वह ४।३३ के अनुसार विकल्प से 'ऊष्म'-वर्ण में परिणत नहीं हुआ है।

टि० (ग) नॄन्। पाहि। शृणुधि। गिर॥ प० पा०
यहाँ नकार विसर्जनीय में परिणत हो गया है। इसके बाद वह विसर्जनीय ४।३३ के अनुसार विकल्प से 'ऊष्म'-वर्ण में परिणत नहीं हुआ है।

---

१ प्रै० पृ० १४२ २ प्रै० पृ० १४२ ३ ऋ० १।१२१।१
४ ऋ० ४।२।६ ५ ऋ० ८।८४।३। ६ ऋ० १।१७४।१

शृणुधि—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा) (उत्तर) "रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान् ।"क

(नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्वरस्यानुनासिकत्वम्)

नकारस्य लोपरेफोष्मभावे
पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिकः स्वरः ॥८०॥

(नकार का लोप, रेफ और ऊष्मन् होने पर पूर्ववर्ती स्वर का अनुनासिक होना)

सू० अ०—जहाँ नकार का लोप होता है या रेफ होता है या 'ऊष्मन्' होता है वहाँ उस (नकार) के स्थान से पूर्व वाला 'स्वर'-वर्ण 'अनुनासिक' हो जाता है ।

उ० भा०—नकारविकारानुक्त्वा अथेदानीं नकारसहचरितान्स्वरविकारानाह । (नकारस्य लोपरेफोष्मभावे=) यत्र यत्र नकारस्य लोपभाव उक्तो रेफभाव ऊष्मभावश्च तत्र तत्र; पूर्वः; (तत्स्थानात्=) नकारस्थानात्; अनुनासिकः स्वरो वेदितव्य. । स्वरग्रहण व्यञ्जनानुनासिक्यपरिहारार्थम् । लोपभावे नकारस्य—"सर्गाँ इव सृजतम्"[१]; "महाँ इन्द्रो नृवत्"[२]; "पीवोअन्नाँ रयिवृधः ।"[३] रेफभावः—"रश्मीँरिव यच्छतम्"[४]; "रुद्रस्य सूनूँर्युवन्यूँरुदश्याः ।"[५] ऊष्मभावः—"महाँश्चरस्योजसा"[६]; "ताँस्ते अश्याम"[७]; "नृँः पतिभ्यो योनिम् ॥"[८]

उ० भा० अ०—नकार के विकारों को कहकर अब नकार (के विकार) के साथ होने वाले 'स्वर' (-वर्ण) के विकारों को कहते हैं । **(नकारस्य लोपरेफोष्मभावे=)** जहाँ-जहाँ नकार का लोप होना, रेफ होना और 'ऊष्मन्' होना कहा गया है वहाँ-वहाँ; **(तत्स्थानात्=)** नकार के स्थान से, **पूर्वः**=पूर्ववर्ती; **स्वरः**='स्वर'-वर्ण को, **अनुनासिकः**='अनुनासिक'; जानना चाहिए । [तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती सूत्रों (४।६५-७९) के अनुसार जहाँ-जहाँ पदान्त नकार का लोप, रेफ अथवा ऊष्मन्' होता है वहाँ-वहाँ उस नकार के स्थान से पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण 'अनुनासिक' हो जाता है] । (सूत्र में) 'स्वर' शब्द का ग्रहण 'व्यञ्जन' के आनुनासिक्य के परिहार के लिए किया गया है । नकार का लोप होने पर—"सर्गाँ इव सृजतम्"ख; "महाँ इन्द्रो नृवत्"ग, "पीवोअन्नाँ रयिवृध. ।"घ रेफ होने पर—'रश्मीँरिव

टि० (क) रक्ष । नृन् । पाहि । असुर । त्वम् । अस्मान् ॥ प० पा०

यहाँ "नृन्' का नकार विसर्जनीय नही हुआ क्योकि इसके बाद में 'पाहि' और 'शृणुधि' ये दो पद नही है, केवल 'पाहि' पद है । 'नृन्' का नकार तभी विसर्जनीय होता है जब उसके बाद में 'पाहि' और 'शृणुधि' ये दोनो पद होते है ।

(ख) सर्गान्ऽइव । सृजतम् ॥ प० पा०

(ग) महान् । इन्द्र । नृऽवत् ॥ प० पा०

(घ) पीव ऽअन्नान् । रयिऽवृध. ॥ प० पा०

इन उदाहरणो में ४।६५ तथा ४।६८ से नकार का लोप हो गया है । प्रस्तुत सूत्र से नकार के पूर्ववर्ती 'स्वर' 'अनुनासिक' हो गये है ।

[१] ऋ० ८।३५।२० [२] ऋ० ६।१९।१ [३] ऋ० ७।९१।३ [४] ऋ० ८।३५।२१
[५] ऋ० ५।४२।१५ [६] ऋ० ८।३३।८ [७] ऋ० ९।९१।५ [८] प्रै० पृ० १४२

यच्छतम्"क; "रुद्रस्य सूनूँयुँवन्यूँरुदस्था. ।"ख ऊष्म होने पर—"महाँश्चरस्योजसा"ग; "ताँस्ते अश्याम"घ; "नूँः पतिभ्यो योनिम् ।"ङ

(प्रसङ्गादन्यत्रापि अनुनासिकस्वरनिर्देशः)

आदिस्वरश्चोत्तरेषां पदेऽपि ॥८१॥

(प्रसङ्ग से अन्यत्र भी अनुनासिक स्वर का निर्देश)

सू० अ०—आगे कहे जाने वाले (पदों) का प्रथम 'स्वर' (-वर्ण) पद-पाठ में भी ('अनुनासिक') हो जाता है।

उ० भा०—उत्तरेषां पदानामादिस्वरोऽनुनासिको वेदितव्यः। पदेऽपि इत्यपिशब्दप्रयोगः संहितायामेतद्विधानमिति द्योतनार्थः ॥

उ० भा० अ०—उत्तरेषाम्=परवर्ती (अर्थात् ४।८२ में उल्लिखित) पदों का; आदिस्वरः=प्रथम 'स्वर'-वर्ण, 'अनुनासिक' समझा जाना चाहिए। पदेऽपि में अपि शब्द का प्रयोग यह बतलाने के लिए हुआ है कि संहिता में यह विधान नहीं किया गया है।च

माँस्पचन्या माँश्चत्वे मँश्चतोश्च ॥८२॥

सू० अ०—(४।८१ में निर्दिष्ट पद ये हैं) 'माँस्पचन्याः', 'माँश्चत्वे' (और) 'मँश्चतोः'।

उ० भा०—माँस्पचन्याः, माँश्चत्वे, मँश्चतोः—एतानि पदानि। माँस्पचन्याः—

टि० (क) रश्मीन्ऽइव । यच्छतम् ॥ प० पा०

(ख) रुद्रस्य । सूनून् । युवन्यून् । उत् । अश्या ॥ प० पा०
इन उदाहरणों में ४।६९ तथा ४।७० के अनुसार नकार रेफ हो गया है। प्रस्तुत सूत्र से नकार के पूर्ववर्ती 'स्वर' 'अनुनासिक' हो गए हैं।

(ग) महान् । चरसि । ओजसा ॥ प० पा०

(घ) तान् । ते । अश्याम । प० पा०

(ङ) इन उदाहरणों में ४।७४, ४।७६ और ४।७८ के अनुसार नकार 'ऊष्मन्' (क्रमशः शकार, सकार और विसर्जनीय) हो गया है। प्रस्तुत सूत्र से नकार के पूर्ववर्ती 'स्वर' 'अनुनासिक' हो गए हैं।

(च) तात्पर्य यह है कि जब पद-पाठ में ही इन पदों का प्रथम 'स्वर' 'अनुनासिक' होता है तब संहिता-पाठ में तो वह स्वयं ही 'अनुनासिक' हो जायेगा। जो स्वयं प्राप्त है उसका विधान नहीं किया जाता है। यतः पद-पाठ में इन पदों के प्रथम 'स्वर' का 'अनुनासिक' होना प्राप्त नहीं था, अतः वहाँ उनके 'अनुनासिक' होने का विधान इस सूत्र में कर दिया गया है।

"यन्नीक्षणं माँस्पचन्या उखायाः ।"[१-क] माँश्चत्वे—"माँश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे ।"[२-ख] मँश्चतोः—"ब्रघ्नं मँश्चतोर्वरुणस्य बभ्रुम् ॥"[३-ग]

उ० भा० अ०—माँस्पचन्याः, माँश्चत्वे (और) मँश्चतोः—ये पद हैं (जो ४।८१ में निर्दिष्ट किए गए हैं) । ··· ····।

(ईमित्यस्यान्तलोपः)

ईमित्यन्तलोप एषूदयेषु
गर्भं गावो वत्सं मृजन्ति पृच्यते ।
सखायो विव्याच पुना रिणन्ति
रथमित्यन्वक्षरसंधिरेव सः ॥८३॥

(ईम् के अन्तिम वर्ण का लोप)

सू० अ०—'ईम्' (निपात) के अन्त (=अन्तिम वर्ण=मकार) का लोप हो जाता है यदि ये (पद) बाद में हों—'गर्भम्', 'गावः', 'वत्सम्', 'मृजन्ति', 'पृच्यते' 'सखायः', 'विव्याच', 'पुनः', 'रिणन्ति' (और) 'रथम्'। यह 'अन्वक्षर' संधि ही है।

उ० भा०—इदानीं वर्णलोप उच्यते। ईम् इत्यस्य अन्तलोपो भवति एषूदयेषु सत्सु—गर्भम्, गावः, वत्सम्, मृजन्ति, पृच्यते, सखायः, विव्याच, पुनः, रिणन्ति, रथम्। इतिकरणः समाप्तिवचनः। अन्वक्षरसंधिरेव सः अयं वेदितव्यः, योऽधस्तात्प्रतिपादितः—"एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे"[४] इत्यादिकः।

गर्भम्—"यमी गर्भमृतावृधः ।"[५-घ] गावः—"समी गावो मतयो यन्ति संयतः ।"[६-ङ] वत्सम् "समी वत्सं न मातृभिः ।"[७-च] मृजन्ति—"तमी मृजन्त्यायवः ।"[८-छ] पृच्यते—"समी पृच्यते समनेव केतुः ।"[९-ज] सखायः —"समी सखायो अस्वरन् ।"[१०-झ] विव्याच—

टि० (क) यत् । निऽईक्षणम् । माँस्पचन्या. । उखाया ॥ प० पा०
(ख) माँश्चत्वे । वा । पृशने । वा । वधत्रे इति ॥ प० पा०
(ग) ब्रघ्नम् । मँश्चतो । वरुणस्य । बभ्रुम् ॥ प० पा०
(घ) यम् । ईमिति । गर्भम् । ऋतऽवृध. ।।प० पा०
(ङ) सम् । ईमिति । गाव. । मतय. । यन्ति । सम्ऽयतः ॥ प० पा०
(च) सम् । ईमिति । वत्सम् । न । मातृऽभि ॥ प० पा०
(छ) तम् । ईमिति । मृजन्ति । आयवः ॥ प० पा०
(ज) सम् । ईमिति । पृच्यते । समनाऽइव । केतु. ॥ प० पा०
(झ) सम् । ईमिति । सखाय । अस्वरन् ॥ प० पा०

[१] ऋ० १।१६२।१३ [२] ऋ० ९।९७।५४ [३] ऋ० ७।४४।३
[४] ३।८ [५] ऋ० ९।१०२।६ [६] ऋ० ९।७२।६
[७] ऋ० ९।१०४।२ [८] ऋ० ९।६३।१७ [९] ऋ० १।१०३।१
[१०] ऋ० ९।४५।५

"समी विव्याच सवना पुरूणि ।"[१-क] पुनः—"संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः ।"[२-ख] रिणन्ति—"ए रिणन्ति बर्हिषि प्रियं गिरा ।"[३-ग] रथम्—"समी रथ न भुरिजोरहेषत ॥"[४-घ]

उ० भा० अ०—अब वर्ण-लोप को बतलाते हैं। ईम्=इस निपात का, अन्त-लोपः=अन्तिम वर्ण (=मकार) का लोप, हो जाता है, एपूदयेपु=ये पद बाद में हों तो—गर्भम्, गावः, वत्सम्, मृजन्ति, पृच्यते, सखायः, विव्याच, पुनः, रिणन्ति (और) रथम् (तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट पदों में से कोई भी पद बाद में हो तो 'ईम्' पद के मकार का लोप हो जाता है)। इति-शब्द समाप्ति का वाचक है। अन्वक्षरसंधिरेव सः=इसे 'अन्वक्षर' संधि ही जानना चाहिए जिसे—" 'एष', 'स्य', 'सः' और 'स्वर' (—वर्ण) पूर्व में हों" इत्यादि (सूत्र) में पहले ही (२।८) में प्रतिपादित कर दिया गया है।

(शौद्धाक्षराः संधयः)

पुरु पृथ्वधि पूर्वेषु शकार उपजायते।
ह्रस्वे च पूर्वपद्यान्ते चन्द्रशब्दे परेऽन्तरा ॥८४॥

(शौद्धाक्षर संधियाँ)

सू० अ०—जब 'पुरु' 'पृथु' या 'अधि' पूर्व में हों और 'चन्द्र' शब्द बाद में हो तो (दोनों के) बीच मे शकार का आगम हो जाता है। (समास के) पूर्व-'पद्य' का अन्तिम ('अक्षर') यदि 'ह्रस्व' हो तब भी ('चन्द्र' शब्द बाद में होने पर बीच में शकार का आगम हो जाता है)।

उ० भा०—पुरु, पृथु, अधि—एतेषु; (पूर्वेषु=) पूर्वपदेषु सत्सु; ह्रस्वे च; (पूर्वपद्यान्ते=) पूर्वपद्यस्यान्ते सति चन्द्रशब्दे च परेऽन्तरा; (शकारः=) शकारागमः; उपजायते। पुरु—"महि क्षेत्र पुरु श्चन्द्रं विविद्वान् ।"[५] पृथु—"पृथु श्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः ।"[६] अधि "अधि श्चन्द्र बृहत्पृथु ।"[७] ह्रस्वे च पूर्वपद्यान्ते—"हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः ।"[८] ह्रस्वग्रहणं विस्पष्टार्थं दीर्घात्परस्य पद्यस्य चन्द्रशब्दस्याभावात्। पूर्वपद्यान्ते इति कस्मात्? "अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्या ॥"[९]

उ० भा० अ०—पुरु, पृथु, अधि—ये, (पूर्वेषु=) पूर्व-पद हों, ह्रस्वे च=और 'ह्रस्व' 'स्वर' (-वर्ण), (पूर्वपद्यान्ते=) पूर्व-'पद्य' का अन्तिम ('अक्षर') हो तो, चन्द्रशब्दे च परे=और 'चन्द्र' शब्द बाद में हो तो, अन्तरा=(दोनों के) मध्य में;

टि० (क) सम् । ईमिति । विव्याच । सवना । पुरूणि ॥ प० पा०
(ख) संवत्सरे । ववृधे । जग्धम् । ईमिति । पुनरिति ॥ प० पा०
(ग) आ । ईमिति । रिणन्ति । बर्हिषि । प्रियम् । गिरा ॥ प० पा०
(घ) सम् । ईमिति । रथम् । न । भुरिजो । अहेषत ॥ प० पा०

---

१ ऋ० ३।३६।८ | २ ऋ० १।१४०।२ | ३ ऋ० ९।७१।६
४ ऋ० ९।७३।५ | ५ ऋ० ३।३१।१५ | ६ ऋ० ४।२।१३
७ ऋ० ८।६५।११ | ८ ऋ० ९।६६।२६ | ९ ऋ० ९।९७।५०

शकार उपजायते=शकार का आगम हो जाता है (अर्थात् यदि पूर्व में 'पुरु' हो या 'पृथु' हो या 'अधि' हो या पूर्व-'पद्य' का अन्तिम ('अक्षर') 'ह्रस्व' हो और बाद में 'चन्द्र' शब्द हो तो दोनों के मध्य में एक शकार आ जाता है)। पुरु—"महि क्षेत्रं पुरु श्चन्द्रं विविद्वान्।"[क] पृथु—"पृथु श्चन्द्रमवसे चर्षणिप्रा.।"[ख] अधि—"अधि श्चन्द्रं बृहत्पृथु।"[ग] पूर्व-'पद्य' के अन्तिम ('अक्षर') के 'ह्रस्व' होने पर—"हरिश्चन्द्रो मरुद्गण।"[घ] 'ह्रस्व' (शब्द) का (सूत्र में) ग्रहण स्पष्टता के लिए (किया गया है) क्योंकि 'दीर्घ' 'अक्षर' के बाद में 'चन्द्र' शब्द रूप 'पद्य' का अभाव है।[ङ] "पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'अक्षर' (के 'ह्रस्व' होने पर)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्या।"[च]

परीति पद्ये कृपरे षकारः ॥८५॥

सू० अ०—यदि 'परि' 'पद्य' के बाद में 'कृ' हो तो (दोनों के बीच में) षकार (का आगम होता है)।

उ० भा०—परि इत्येतस्मिन्, (पद्ये=) पूर्वपद्ये; कृपरे सत्यन्तरा, (षकारः=) षकारागमः; उपजायते। "परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्॥"[1]

उ० भा० अ०—परि—यह; (पद्ये=) पूर्व-'पद्य'; कृपरे='कृ' है बाद में जिसके ऐसा हो तो, मध्य में; (षकारः=) षकार का आगम; हो जाता है (तात्पर्य यह है कि यदि

टि० (क) महि। क्षेत्रम्। पुरु। चन्द्रम्। विविद्वान्॥ प० पा०

(ख) पृथु। चन्द्रम्। अवसे। चर्षणिऽप्रा॥ प० पा०

(ग) अधि। चन्द्रम्। बृहत्। पृथु॥ प० पा०

(घ) हरिऽचन्द्र। मरुत्ऽगण॥ प० पा०

यहाँ पर पूर्व-'पद्य' 'हरि' का अन्तिम 'अक्षर' (=इकार) 'ह्रस्व' है और इसके बाद में दूसरा 'पद्य' 'चन्द्रः' है। प्रस्तुत सूत्र से दोनों के मध्य में शकार का आगम हो गया है जिससे 'हरिश्चन्द्र.' रूप सम्पन्न हो गया है।

(ङ) तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पूर्व-'पद्य' के अन्त में 'दीर्घ' 'अक्षर' हो और उसके बाद में दूसरा 'पद्य' 'चन्द्र' शब्द हो। अतएव सूत्र में 'ह्रस्व' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक नहीं था तथापि स्पष्टता के लिए उसका प्रयोग कर दिया गया है। उपलब्ध उदाहरणों में पूर्व-'पद्य' के अन्तिम 'अक्षर' के 'ह्रस्व' होने पर ही बाद में 'चन्द्र' शब्द आया है और दोनों के बीच में शकार का आगम हो गया है।

(च) अभि। चन्द्रा। भर्तवे। न। हिरण्या॥ प० पा०

यहाँ 'अभि' और 'चन्द्रा' के मध्य में शकार का आगम नहीं हुआ है क्योंकि 'चन्द्रा' के पूर्व में पूर्व-'पद्य' का 'ह्रस्व' 'अक्षर' न होकर पूर्व-पद का 'ह्रस्व' 'अक्षर' है।

---

[1] ऋ० ९।३९।२

'परि' पूर्व-'पद' हो और उसके बाद में 'कृ' से आरम्भ होने वाला उत्तर-'पद' हो तो दोनों के बीच में षकार का आगम हो जाता है)। (जैसे) "परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्।"[क]

वनेति रेफः सदशब्द उत्तरे ॥८६॥

सू० अ०—'वन' (इस पूर्व-'पद') के बाद में 'सद्' शब्द हो तो (दोनों के बीच में) रेफ (का आगम हो जाता है)।

उ० भा०— वन इत्येतस्मिन्पूर्वपदे सदशब्द उत्तरेऽन्तरा रेफो जायते। "तिष्ठद्रथं न धूर्षदं वनर्षदम्॥"[१]

उ० भा० अ०—वन—यह पूर्व-'पद' हो; सदशब्द उत्तरे='सद' शब्द बाद में हो तो; मध्य में रेफ का आगम हो जाता है (अर्थात् पूर्व-'पद' 'वन' के बाद में 'सद' शब्द हो तो दोनों के बीच में रेफ आ जाता है)। (जैसे) "तिष्ठद्रथ न धूर्षद वनर्षदम्।"[ख]

परिष्कृण्वन्ति वेधसः ॥८७॥

सू० अ०—"परिष्कृण्वन्ति वेधसः" (इस स्थल पर निपातन से षकार का आगम हो गया है)।

उ० भा०—परिष्कृण्वन्ति इति निपात्यते षकारागमः। "तं त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति वेधसः।"[२] अपदार्थं वचनम्। वेधसः इति किम्? मृग्य प्रत्युदाहरणम्॥

उ० भा० अ०—परिष्कृण्वन्ति में षकार का आगम निपातन से हुआ है। (जैसे) "तं त्वा विप्रा वचोविद परिष्कृण्वन्ति वेधस।"[ग] 'पद' न होने के कारण (पुन.) कथन (किया गया है)।[घ] वेधसः—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) प्रत्युदाहरण खोजना चाहिए।

अस्कृतोषसम् ॥८८॥

सू० अ०—"अस्कृतोषसम्" (में सकार का आगम निपातन से हो गया है)।

उ० भा०—अस्कृत इति निपात्यते सकारोपजनः। "निरु स्वसारमस्कृतोषसम्।"[३] उषसम् इति किम्? "युज ह्यन्यमकृत प्रवेपनी॥"[४]

टि० (क) परिऽकृण्वन्। अनिःऽकृतम्॥ प० पा०

(ख) तिष्ठत्। रथम्। न। धूःऽसदम्। वनऽसदम्॥ प० पा०

(ग) तम्। त्वा। विप्रा। वचःऽविद। परि। कृण्वन्ति। वेधसः॥ प० पा०

(घ) तात्पर्य यह है कि 'परि' के अनन्तर 'कृ' होने पर षकार के आगम का विधान तो ४।८५ में किया गया है किंतु वह सूत्र 'परि' के पूर्व 'पद' होने पर ही लगता है। प्रस्तुत स्थल में 'परि' पूर्व-'पद' नही है, अत उस सूत्र से प्रस्तुत में षकार का आगम सिद्ध नही होता है, जिससे यहाँ उसका पुन कथन किया गया है।

---

[१] ऋ० १०।१३२।७

[२] ऋ० ९।६४।२३

[३] ऋ० १०।१२७।३

[४] ऋ० ५।३४।८

उ० भा० अ०—अस्कृत में सकार का आगम निपातन से हुआ है। "निरु स्वसार-मस्कृतोषसम्।"[क] उषसम्—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "युज ह्यन्यमकृत प्रवेपनी।"[ख]

शौद्धाक्षराः संधयः एत उक्ताः ॥८९॥

सू० अ०—(४।८४ से ४।८८ तक) ये 'शौद्धाक्षर' (-संज्ञक) संधियाँ कही गई हैं।

उ० भा०—य एते पुरुपृथ्वादयः संधयस्ते; (शौद्धाक्षराः=) शौद्धाक्षरसंज्ञाः; वेदितव्याः। "शौद्धाक्षरागमोऽपैति"[१] इत्यादि संज्ञाप्रयोजनम् ॥

उ० भा० अ०—"पुरुपृथु" (४।८४) से प्रारम्भ करके (४।८८ तक) जो; एते= ये; संधयः=सधियाँ है, ते=उन्हें, (शौद्धाक्षराः=) 'शौद्धाक्षर'—संज्ञक; जानना चाहिए। "'शौद्धाक्षर' (—संज्ञक) आगम का लोप हो जाता है" इत्यादि संज्ञा का प्रयोजन है।

(पदान्ते आकारस्य अकारः)

मेधातिथौ वरुणान्तव्रतान्तौ
स्पर्शान्तस्थाप्रत्ययौ निर्हसेते ॥९०॥

(पदान्त में आकार का अकार होना)

सू० अ०—मेधातिथि (ऋषि के सूक्तों) में 'वरुणान्त' ('वरुण' शब्द में अन्त होने वाले) और 'व्रतान्त' ('व्रत' शब्द में अन्त होने वाले) (समास) 'ह्रस्व' हो जाते हैं, यदि बाद में 'स्पर्श' या 'अन्तःस्था' हो।

उ० भा०—मेधातिथौ ऋषौ। "अग्निं दूतं वृणीमहे"[२]—इत्यारभ्य—"कस्य नूनम्"[३]—इति यावन्मेधातिथिः। वरुणोऽन्ते यस्य समासस्य स वरुणान्तः। एवमेव व्रतान्तोऽपि गृह्यते। (स्पर्शान्तस्थाप्रत्ययौ=) स्पर्शप्रत्ययेऽन्तःस्थाप्रत्यये; (वरुणान्तव्रतान्तौ) निर्हसेते=ह्रस्वौ भवतः। वरुणान्तः—"इन्द्रावरुण नू नु वाम्।"[४] "इन्द्रावरुण यां हुवे।"[५] व्रतान्तः—"युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरुण दूळभम्।"[६] मेधातिथौ इति किम्? "इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिनः"[७]; "इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नः।"[८] स्पर्शान्तःस्थाप्रत्ययौ इति किम्? "ता मित्रावरुणा हुवे॥"[९]

उ० भा० अ०—मेधातिथौ=मेधातिथि ऋषि (के सूक्तों में)। "अग्निं दूतं वृणीमहे"—इससे लेकर—"कस्य नूनम्"—इस (मन्त्र से पहले) तक मेधातिथि (के सूक्त

टि० (क) निः। ऊँ इति। स्वसारम्। अकृत। उषसम्॥ प० पा०
(ख) युजम्। हि। अन्यम्। अकृत। प्रऽवेपनी॥ प० पा०
बाद में 'उषसम्' न होने से यहाँ सकार का आगम नहीं हुआ है।

---

[१] १०।२१ [२] ऋ० १।१२।१ [३] ऋ० १।२४।१
[४] ऋ० १।१७।८ [५] ऋ० १।१७।९ [६] ऋ० १।१५।६
[७] ऋ० ७।८२।३ [८] ऋ० ७।८२।१ [९] ऋ० १।२३।५

है)। 'वरुण' (शब्द) है अन्त में जिस समास के वह वरुणान्त है। उसी प्रकार व्रतान्त का भी ग्रहण होता है (अर्थात् 'व्रत' शब्द है अन्त में जिस समास के वह व्रतान्त है)। (स्पर्शान्तःस्थाप्रत्ययौ=) 'स्पर्श' बाद में होने पर और 'अन्त स्था' बाद में होने पर; (वरुणान्तव्रतान्तौ='वरुणान्त' और 'व्रतान्त' समास) निर्ह्रसेते='ह्रस्व' हो जाते हैं (अर्थात् 'स्पर्श' या 'अन्त स्था' बाद में होने पर 'वरुणान्त' और 'व्रतान्त' समासों का अन्तिम 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण 'ह्रस्व' हो जाता है)। वरुणान्त (समासो के उदाहरण)—"इन्द्रावरुण नू नु वाम्"[क]; "इन्द्रावरुण या हुवे।"[ख]; व्रतान्त (का उदाहरण)—"युव दक्ष धृतव्रत मित्रावरुण दूळभम्।[ग] "मेधातिथि (के सूक्तो) में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिन"[घ], "इन्द्रावरुणा युवमध्वराय न.।"[ङ] " 'स्पर्श' और 'अन्त स्था' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "ता मित्रावरुणा हुवे।"[च]

आदित्या देवा वरुणासुरेति येत्यादिषु ॥९१॥

सू० अ०—(४।९३ में उल्लिखित) 'या' इत्यादि (शब्द) बाद में हों तो 'आदित्या', 'देवा', 'वरुणा' और 'असुरा' (ये पद 'ह्रस्व' हो जाते हैं)।

उ० भा०—आदित्या, देवा, वरुणा, असुरा—एतानि पदानि ह्रस्वानि भवन्ति या इत्यादिषु पदेषु परभूतेषु। तानि तूपरिष्टाद्वक्ष्यति; अत उपरिष्टादेवोदाहरिष्यामः॥

उ० भा० अ०—आदित्या, देवा, वरुणा और असुरा—ये पद 'ह्रस्व' हो जाते है, या इत्यादिषु='या' इत्यादि पद बाद में होने पर (अर्थात् ४।९३ में निर्दिष्ट पदों में से कोई भी पद बाद में हो तो प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट पदो का अन्तिम 'स्वर'-वर्ण 'ह्रस्व' हो जाता है)। (सूत्रकार) उन (पदो) को आगे (४।९३ में) कहेंगे; इसलिए हम आगे (अर्थात् ४।९३ के भाष्य में) ही उदाहरण देंगे।

वयमित्यत्र मित्रा ॥९२॥

सू० अ०—'वयम्' यह पद बाद में हो तो 'मित्रा' (का अन्तिम 'स्वर'-वर्ण) ('ह्रस्व' हो जाता है)।

टि० (क) इन्द्रावरुणा। नु। नु। वाम्॥ प० पा०

(ख) इन्द्रावरुणा। याम्। हुवे॥ प० पा०

इन दोनो उदाहरणो में 'इन्द्रावरुणा' प्रस्तुत सूत्र से 'इन्द्रावरुण' हो गया है।

(ग) युवम्। दक्षम्। धृतऽव्रता। मित्रावरुणा। दुःऽदभम्॥ प० पा०

यहाँ 'धृतव्रता' प्रस्तुत सूत्र से 'धृतव्रत' हो गया है।

(घ) इन्द्रावरुणा। मदे। अस्य। मायिन॥ प० पा०

(ङ) इन्द्रावरुणा। युवम्। अध्वराय। न॥ प० पा०

ये दोनों ही मन्त्र मेधातिथि के नही है, अत 'इन्द्रावरुणा' का 'इन्द्रावरुण' नही हुआ है। भाष्यकार ने 'धृतव्रता' का प्रत्युदाहरण प्रस्तुत नही किया है।

(च) ता। मित्रावरुणा। हुवे॥ प० पा०

यद्यपि यह मन्त्र मेधातिथि ऋषि का है तथापि 'इन्द्रावरुणा' का 'इन्द्रावरुण' नही हुआ है क्योकि 'मित्रवरुणा' के बाद में हकार है जो न 'स्पर्श' है और न 'अन्त स्था' है।

उ० भा०—वयम् इति; अत्र=एतस्मिन् पदे परभूते; मित्रा इत्येतत्पदं ह्रस्वीभवति। "मित्र वयं च सूरयः ॥"[१]

उ० भा० अ०—वयम्; अत्र=यह पद बाद में हो तो; मित्रा—यह पद 'ह्रस्व' हो जाता है (अर्थात् 'वयम्' पद बाद में होने पर 'मित्रा' पद का अन्तिम 'स्वर'-वर्ण 'ह्रस्व' हो जाता है)। (जैसे) "मित्र वय च सूरय.।"[क]

या सुप्रतीकं निष्कृतं पुरोहितिः
क्षत्रं दाशति शवसा भिषज्यथः ॥९३॥

सू० अ०—(४।९१ में सूचित 'या' आदि पद ये हैं)—'या', 'सुप्रतीकम्', निष्कृतम्', 'पुरोहितिः', 'क्षत्रम्', 'दाशति', 'शवसा' (और) 'भिषज्यथः'।

उ० भा०—या, सुप्रतीकम्, निष्कृतम्, पुरोहितिः, क्षत्रम्, दाशति, शवसा, भिषज्यथः—एते ते यादयो येऽधस्तादुपदिष्टाः। या—"प्र सा क्षितिरसुर या महि प्रिया।"[२-ख] सुप्रतीकम्—"उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकम्।"[३-ग] निष्कृतम्—"बळित्था देव निष्कृतमादित्या।"[४-घ] पुरोहितिः—"इयं देव पुरोहितिर्युवभ्याम्।"[५-ङ] क्षत्रम्—"युवं नो येषु वरुण क्षत्रम्।"[६-च] दाशति—"इन्द्रा यो वां वरुण दाशति त्मन्।"[७-छ] शवसा—"य आदित्य शवसा वां नमस्वान्।"[८-ज] भिषज्यथः—"यद्वा देव भिषज्यथः॥"[९-झ]

उ० भा० अ०—या, सुप्रतीकम्, निष्कृतम्, पुरोहितिः, क्षत्रम्, दाशति, शवसा, भिषज्यथः—ये वे 'या' आदि पद हैं जिनका पहले (४।९१) में संकेत किया गया है।....।

(विसर्जनीयसंधिविषये निपातनानि)

सो चिन्न्वगस्त्ये दशमे च मण्डले ॥९४॥

(विसर्जनीय संधि के विषय में निपातन)

सू० अ०—अगस्त्य (ऋषि के सूक्तों) में और दशम मण्डल में 'सो चिन्नु' (यह निपातन से होता है)।

टि० (क) मित्रा। वयम्। च। सूरय.॥ प० पा०
(ख) प्र। सा। क्षिति.। असुरा। या। महि। प्रिया॥ प० पा०
(ग) उत्। वाम्। चक्षु। वरुणा। सुऽप्रतीकम्॥ प० पा०
(घ) वट्। इत्था। देवा। निऽकृतम्। आदित्या॥ प० पा०
(ङ) इयम्। देवा। पुरःऽहिति। युवऽभ्याम्॥ प० पा०
(च) युवम्। नः। येषु। वरुणा। क्षत्रम्॥ प० पा०
(छ) इन्द्रा। य.। वाम्। वरुणा। दाशति। त्मन्॥ प० पा०
(ज) य। आदित्या। शवसा। वाम्। नमस्वान्॥ प० पा०
(झ) यत्। वा। देवा। भिषज्यथ॥ प०-पा०

---

[१] ऋ० ५।६६।६ [२] ऋ० १।१५१।४ [३] ऋ० ७।६१।१
[४] ऋ० ५।६७।१ [५] ऋ० ७।६०।१२ [६] ऋ० ५।६४।६
[७] ऋ० ६।६८।५ [८] ऋ० ७।८५।४ [९] ऋ० ८।९।६

उ० भा० - सो चित् इति निपात्यत ओत्वं विसर्जनीयस्य; (अगस्त्ये=) अगस्त्य ऋषौ, दशमे मण्डले च। "सो चिन्नु न मराति नो वयम्।"[1] "सो चिन्नु सख्या नर्य इन स्तुतः।"[2] अगस्त्ये दशमे च मण्डले इति किम्? "स चिन्वासां पती रयीणाम्"[3]; "स चिद्विवेद निहितम्॥"[4]

उ० भा० अ०—सो चित्—(यहाँ पर) विसर्जनीय का ओकार निपातन से होता है; (अगस्त्ये=) अगस्त्य ऋषि (के सूक्तों) में); दशमे मण्डले च=और दशम मण्डल में (अर्थात् अगस्त्य ऋषि के सूक्तों में और दशम मण्डल में 'सो चित्' इस स्थल पर विसर्जनीय निपातन से ओकार होता है)। (जैसे) "सो चिन्नु न मराति नो वयम्।"[क] "सो चिन्नु सख्या नर्य इन स्तुतः।"[ख] "अगस्त्य (ऋषि के सूक्तों) में और दशम मण्डल में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "स चिन्वासां पती रयीणाम्"[ग]; "स चिद्विवेद निहितम्।"[घ]

सा न्वीयते ॥६५॥

सू० अ०—'सा न्वीयते' (में 'सः' का विसर्जनीय निपातन से आकार हो गया है)।

उ० भा०—सा न्वीयते इति विसर्जनीयस्य आत्वं निपात्यते- "स चिकित्वाँ ईयते सा न्वीयते।"[5] ईयते इति किम्? प्रत्युदाहरणं प्रत्येष्यम्॥

टि० (क) स। चित्। नु। न। मराति। नो इति। वयम्॥ प० पा०

२।११ के अनुसार 'स' के विसर्जनीय का लोप होकर "स चिन्नु" रूप होना चाहिए था किंतु अगस्त्य ऋषि के सूक्त में होने के कारण प्रकृत सूत्र से विसर्जनीय का ओकार हो गया जिससे "सो चिन्नु" रूप निष्पन्न हो गया है।

(ख) स। चित्। नु। सख्या। नर्य। इनः। स्तुत॥ प० पा०

दशम मण्डल में होने के कारण निपातन से 'सो चिन्नु' रूप निष्पन्न हो गया है।

(ग) सः। चित्। नु। आसाम्। पति। रयीणाम्॥ प० पा०

यह मन्त्र न तो अगस्त्य ऋषि (ऋ० १।१६५–१९१) का है और न दशम मण्डल का है, इसलिए 'सः' के विसर्जनीय का लोप २।११ से हो गया है।

(घ) स। चित्। विवेद। निऽहितम्॥ प० पा०

यह मन्त्र न तो अगस्त्य ऋषि का है और न दशम मण्डल का है, इसलिए 'स' के विसर्जनीय का लोप २।११ से हो गया है। वास्तव में यह प्रत्युदाहरण पूर्णतया ठीक नहीं है क्योंकि 'चित्' के बाद में यहाँ 'नु' नहीं है। 'स' का विसर्जनीय निपातन से तभी ओकार होना है जब 'सः' के बाद में 'चित्' और 'नु' ये दो पद हों। अगस्त्य ऋषि के सूक्तों में और दशम मण्डल में होने पर भी प्रस्तुत प्रत्युदाहरण में 'सः' के विसर्जनीय का ओकार न होना।

[1] ऋ० १।१९१।१० [2] ऋ० १०।५०।२ [3] ऋ० १।६८।४
[4] ऋ० १।८७।३ [5] ऋ० १।१४५।१

उ० भा० अ०—सा न्वीयते में विसर्जनीय का आकार निपातन से हो गया है। (जैसे) "स चिकित्वाँ ईयते सा न्वीयते।"[क] ईयते—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) प्रत्युदाहरण खोजना चाहिए।

सः पलिक्नीः ॥९६॥

सू० अ०—"सः पलिक्नीः" (यहाँ 'सः' के विसर्जनीय का लोप न होना निपातन से सिद्ध है)।

उ० भा०—(सः पलिक्नीः) विसर्जनीयस्यालोपो निपातितः। "न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः पलिक्नीः॥"[१]

उ० भा० अ०—(सः पलिक्नीः—यहाँ पर) विसर्जनीय का अलोप निपातन से हुआ है। (जैसे) "न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि ष पलिक्नी।"[ख]

हि षस्तव ॥९७॥

सू० अ०—"हि षस्तव" (में विसर्जनीय का लोप न होना निपातन से सिद्ध है)।

उ० भा०—(हि षस्तव) अत्र विसर्जनीयस्यालोपो निपात्यते। "नहि षस्तव नो मम।"[२] हि इति किम् ? "स तवोती गोषु गन्ता।"[३] नहीत्येतत्पदे हीति यत्पदावयवग्रहणं तच्छन्दोभङ्गभयात्॥

उ० भा० अ०—(हि षस्तव) यहाँ निपातन से विसर्जनीय का अलोप हुआ है। (जैसे) "नहि षस्तव नो मम।"[ग] हि—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "स तवोती गोषु गन्ता।"[घ] 'नहि' इस पद में से जो पद के अवयव 'हि' का (सूत्र में) ग्रहण किया गया है वह छन्दः के भङ्ग के भय से (किया गया है)।[ङ]

टि० (क) स। चिकित्वान्। ईयते। स.। नु। ईयते॥ प० पा०

(ख) न। ता। अगृभ्रन्। अजनिष्ट। हि। सः। पलिक्नी.॥ प० पा०

२।११ के अनुसार 'स.' के विसर्जनीय का लोप प्राप्त होता है किंतु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'स.' के विसर्जनीय का लोप नही हुआ है।

(ग) नहि। स.। तव। नो इति। मम॥ प० पा०

२।११ से 'स.' के विसर्जनीय का लोप प्राप्त होता है किंतु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार निपातन से विसर्जनीय का लोप नही हुआ और तब वह विसर्जनीय ४।३१ से सकार हो गया है।

(घ) सः। तव। ऊती। गोषु। गन्ता॥ प० पा०

यहाँ 'स.' के पूर्व में 'हि' नही है अत २।११ के अनुसार विसर्जनीय का लोप हो गया है। 'हि' पूर्व में होने पर ही 'स' के विसर्जनीय का लोप नही होता है।

(ङ) तात्पर्य यह है कि 'नहि' पूर्व मे होने पर ही 'स' के विसर्जनीय का लोप नही होता है जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी सूत्र में 'नहि' के स्थान पर 'हि' का सनिवेश छन्दोभङ्ग के भय से किया गया है। सूत्र में 'नहि' पद रखने पर छन्द का भङ्ग हो जाता है।

---

[१] ऋ० ५।२।४ [२] ऋ० ८।३३।१६ [३] ऋ० ८।७१।५

(अन्यानि निपातनानि=धकारस्य दकारो घकारस्य गकारश्च)

जुगुक्षतो दुदुक्षन्गा अदुक्षद्
दुक्षन्वृधेऽस्य दुक्षतानु दृक्षि ।
दक्षन्न पत्मन्दक्षुषोऽभि दक्षत्
कृष्णासो दृक्षि ह्रियानस्य दक्षोः ॥६८॥

(अन्य निपातन=धकार का दकार और घकार का गकार)

सू० अ०—(अधोलिखित पद जैसे सूत्र मे उल्लिखित है वैसे ही निपातन से संहिता-पाठ में उपलब्ध होते हैं) 'जुगुक्षतः', 'दुदुक्षन्', 'गा अदुक्षत्', 'दुक्षन्वृधे', 'अस्य दुक्षत', 'अनु दृक्षि', 'दक्षन्न', 'पत्मन्दक्षुषः', 'अभि दक्षत्', 'कृष्णासो दृक्षि' (और) 'ह्रियानस्य दक्षोः' ।

उ० भा०—यथापठितान्येतानि निपातितानि । जुगुक्षतः "सुमतिं न जुगुक्षत. ।"[१-क] दुदुक्षन्—"सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन् ।"[२-ख] गा अदुक्षत्—"निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् ।"[३-ग] गा इति किम् ? "अघुक्षत्पिप्युषीमिषम् ।"[४-घ] दुक्षन्वृधे—"हरिं यत्ते मन्दिनं दुक्षन्वृधे ।"[५-ङ] वृधे इति किम् ? "निर्धुक्षन्वक्षणाभ्यः ।"[६-च] अस्य दुक्षत-"विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत ।"[७-छ] अस्य इति किम् ? "भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता ।"[८-ज] अनु दृक्षि—"त्वं वि भास्यनु दक्षि दावने ।"[९-झ] अनु इति किम् ? "नीचा त धक्ष्यतस न शुष्कम् ।"[१०-ञ] दक्षन्न-"दक्षन्न विश्व ततृषाणमोषति ।"[११-ट] न इति किम् ? "द्रविनं

टि० (क) सुऽमतिम्. । न । जुघुक्षत. ॥ प० पा०
(ख) सहस्रऽधाराम् । बृहतीम् । दुघुक्षन् ॥ प० पा०
(ग) निः । ज्योतिषा । तमसः । गाः । अधुक्षत् ॥ प० पा०
(घ) अघुक्षत् । पिप्युषीम् । इषम् ॥ प० पा०
(ङ) हरिम् । यत् । ते । मन्दिनम् । धुक्षन् । वृधे ॥ प० पा०
(च) निः । धुक्षन् । वक्षणाभ्यः ॥ प० पा०
(छ) विश्वाहा । शुक्रम् । पयः । अस्य । धुक्षत् ॥ प० पा०
(ज) भरत्ऽवाजाय । अव । धुक्षत । द्विता ॥ प० पा०
(झ) त्वम् । वि । भासि । अनु । धक्षि । दावने ॥ प० पा०
(ञ) नीचा । तम् । धक्षि । अतसम् । न । शुष्कम् ॥ प० पा०
(ट) धक्षत् । न । विश्वम् । ततृषाणम् । ओपति ॥ प० पा०

१ ऋ० ८।३१।७
२ ऋ० १०।७४।४
३ ऋ० १।३३।१०
४ ऋ० ८।७२।१६
५ ऋ० १।१२१।८
६ ऋ० ८।१।१७
७ ऋ० १।१६०।३
८ ऋ० ६।४८।१३
९ ऋ० २।१।१०
१० ऋ० ४।४।४
११ ऋ० १।१३०।८

द्रावयति दारु धक्षत् ।"[१-क] पत्मन्दृक्षुषः—"तस्य पत्मन्दक्षुषः ।"[२-ख] पत्मन् इति किम् ? प्रत्युदाहरणं मृग्यम् । अभि दृक्षत्—"स यो व्यस्यादभि दक्षदुर्वीम् ।"[३-ग] अभि इति किम् ? "द्रविर्न द्रावयति दारु धक्षत् ।"[४-घ] कृष्णासो दृक्षि—"आदस्य ते कृष्णासो दक्षि सूरय ।"[५-ङ] कृष्णास इति किम् ? "नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ।"[६-च] हियानस्य दृक्षोः—"संदृष्टिरस्य हियानस्य दक्षोः ।"[७-छ] हियानस्य इति किम् ? "धक्षोर्न वाताः परि सन्त्यच्युताः ॥"[८-ज]

इति श्रीपार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये चतुर्थपटलम् ।

उ० भा० अ०—ये (पद) जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे निपातन से (संहिता-पाठ में उपलब्ध) होते हैं । ··· ·· ।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यभाष्य में चतुर्थ पटल समाप्त हुआ ।

टि० (क) द्रविः । न । द्रवयति । दारु । धक्षत् ॥ प० पा०

(ख) तस्य । पत्मन् । धक्षुषः ॥ प० पा०

(ग) सः । यः । वि । अस्यात् । अभि । धक्षत् । उर्वीम् ॥ प० पा०

(घ) द्रविः । न । द्रवयति । दारु । धक्षत् ॥ प० पा०

(ङ) आत् । अस्य । ते । कृष्णासः । धक्षि । सूरयः ॥ प० पा०

(च) नीचा । तम् । धक्षि । अतसम् । न शुष्कम् ॥ प० पा०

(छ) सम्ऽदृष्टिः । अस्य । हियानस्य । धक्षोः ॥ प० पा०

(ज) धक्षोः । न । वाताः । परि । सन्ति । अच्युताः ॥ प० पा०

इस सूत्र के ग्यारह स्थलों में से प्रथम स्थल में धकार गकार हो गया है। अन्य दस स्थलो में धकार दकार हो गया है। सभी प्रत्युदाहरणों में धकार दकार न होकर धकार ही रहा है।

---

[१] ऋ० ६।३।४ [२] ऋ० १।१४१।७ [३] ऋ० २।४।७
[४] ऋ० ६।३।४ [५] ऋ० १।१४१।८ [६] ऋ० ४।४।४
[७] ऋ० २।४।४ [८] ऋ० १०।११५।४

५ : नति-पटलम्

नतिसंधेरधिकारसूत्रम्

नतिव्यापत्त्योः पौर्वापर्यम्

नतिसंधिः (=सकारस्य षकारः)

नतिसंधिः (=षकारपूर्वस्य तवर्गस्य टवर्गः)

नतिसंधिः (=सकारस्य षकारः) (पूर्वानुवृत्तः)

नतिसंधिः (=नकारस्य णकारः)

नतिसंधिविषयकनिपातनानि

नतिसंधिः (=नकारस्य णकारः) (पूर्वानुवृत्तः)

नतिसंज्ञा

(नतिसंधेरधिकारसूत्रम्)

अन्तःपादं नाम्युपधः सकारः षकारमप्यूष्म-परैर्यथोक्तम् । अन्यैरेकारात् ॥१॥

(नतिसंधि का अधिकारसूत्र)

सू० अ०—पाद के मध्य में, एकार से अन्य 'नामि' (–'स्वर'–वर्णों) से बाद में स्थित सकार षकार (हो जाता है) जैसा (परवर्ती सूत्रों में) कहा गया है, चाहे (उन पूर्ववर्ती 'नामि'–'स्वर'–वर्णों से) बाद मे विसर्जनीय ('ऊष्मन्') भी हो ।

उ० भा०—अन्तःपादम्=पादस्य मध्ये । (नाम्युपधः सकारः)=नामिनो यस्योपधाभूताः स तथोक्तः सकारः । "ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः"[1] इत्युक्तम् । सकारः षकारम् आपद्यत इत्येतदधिकृत वेदितव्यम् । ऊष्मपरैः नामिभिरुपहितः । अप्यनूष्मपरैरिति अपिशब्दः । यथोक्तम् इत्यधिकारोपसहारवचनम् । अन्यैरेकारात् इति नामिसामान्यप्रसक्तावस्य निवृत्तिवचनम् ।

"यच्च गोषु दुष्ष्वप्न्यम् ।"[2] अन्तःपादम् इति किम् ? "तत्र इन्द्रस्तद्वरुणस्त-दग्निस्तत् ।"[3] नाम्युपधः इति किम् ? "परः सोऽस्तु तन्वा तना च ।"[4] यथोक्तग्रहण किम् ? "ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ।"[5] अन्यैरेकारात् इति किम् ? "ये स्या मनोर्य-ज्ञियाः ॥"[6]

उ० भा० अ०- अन्तःपादम्=पाद के मध्य में । (नाम्युपधः सकारः) = 'नामि' ('स्वर'-वर्ण) जिसकी उपधा (=अव्यवहित पूर्ववर्ती) है वह इस प्रकार का सकार । "ऋकार से प्रारम्भ करके दस स्वर (-वर्ण) 'नामिन्' है"—यह (१।६५ में) कहा जा चुका है । सकारः षकारम्=सकार पकार हो जाता है—इसे अधिकार जानना चाहिए । ऊष्मपरैः=विसर्जनीय ('ऊष्मन्') है बाद में जिनके ऐसे 'नामि'-'स्वर' (-वर्णों) से; बाद में स्थित । अपि शब्द (यह बतलाने के लिए सूत्र में प्रयुक्त है कि) विसर्जनीय ('ऊष्मन्') जिनके बाद में नही है ऐसे 'नामि' (-'स्वर'-वर्णों) से बाद में स्थित तो (सकार षकार हो ही जाता है) (अर्थात् सकार षकार हो जाता है यदि (१) सकार के अव्यवहित पूर्व मे 'नामि' 'स्वर' हो अथवा (२) पूर्ववर्ती 'नामि'-स्वर' और सकार के मध्य में विसर्जनीय का व्यवधान हो) । यथोक्तम्=जैसे (परवर्ती सूत्रों में) कहा गया है - यह अधिकार के उपसहार का वाचक है ।[क] अन्यैरेकारात्=एकार से अन्य ('नामि'-'स्वर'-वर्णों)

टि० (क) सकार के षकार होने का जो अधिकार है वह उन्ही स्थलों तक सीमित है जिन्हें आगे वाले सूत्रों में प्रतिपादित किया गया है । 'नामि'–'स्वर'–वर्ण के बाद में आने पर भी सकार सर्वदा सामान्य रूप से षकार नही हो जाता है । यह विकार (सकार का षकार होना) केवल वहीं-वहीं होता है जहाँ-जहाँ परवर्ती सूत्रों में कहा गया है । तुलना कीजिए—७।१ पर उवट-भाष्य ।

---

[1] १।६५ [2] ऋ० ८।४७।१४ [3] ऋ० १।१०७।३
[4] ऋ० ७।१०४।११ [5] ऋ० १।५०।९ [6] ऋ० १०।३६।१०

से (बाद में)—इसके द्वारा 'नामि'-सामान्य से प्राप्त (एकार की) निवृत्ति की गई है।[क]

(उदाहरण) "यच्च गोषु दुष्ष्वप्न्यम्"[ख] "पाद के मध्य में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "तत्र इन्द्रस्तद्वरुणस्तदग्निस्तत्।"[ग] " 'नामि' (–'स्वर'–वर्ण) के बाद में विद्यमान"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "पर सो अस्तु तन्वा तना च।"[घ] " 'यथोक्त' (शब्द) का ग्रहण" (सूत्र में) क्यो (किया) ? (उत्तर) "ताभि-र्याति स्वयुक्तिभि.।"[ङ] "एकार से अन्य ('नामि'–'स्वर'–वर्णों से)"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "ये स्था मनोर्यज्ञिया।"[च]

टि० (क) एकार भी 'नामि'–'स्वर' है। अत' 'नामि'–'स्वर' कहने से उसकी भी प्राप्ति हो रही थी। "अन्यैरेकारात्" के द्वारा एकार की निवृत्ति हो गई जिससे ज्ञात हुआ कि एकार से बाद में आने वाला सकार षकार नही होता है। यदि "अन्यैरेकारात्" का सूत्र में ग्रहण न किया जाता तो एकार के बाद में स्थित सकार भी षकार हो जाता।

(ख) यत् । च । गोषु । दु ऽस्वप्न्यम् ॥ प० पा०

यहाँ पर 'स्वप्न्यम्' के सकार और पूर्ववर्ती 'नामि'-'स्वर' (=उकार) के मध्य में विसर्जनीय का व्यवधान होने पर भी 'स्वप्न्यम्' का सकार ५।२१ से षकार हो गया है।

(ग) तत् । न. । इन्द्र. । तत् । वरुण । तत् । अग्नि. ।
तत् । ··· · · · · ॥ प० पा०

यहाँ 'अग्निस्' का सकार ५।३३ के अनुसार षकार होना चाहिए किंतु यह सकार षकार नही होता है क्योकि यह पाद के मध्य में न होकर पाद के अन्त में है।

(घ) पर । स' । अस्तु । तन्वा । तना । च ॥ प० पा०

यहाँ 'स'' तथा अस्तु' का सकार षकार नही हुआ है क्योकि सकार के पूर्व में 'नामि' 'स्वर'-वर्ण नही है।

(ङ) ताभि । याति । स्वयुक्तिऽभि. ॥ प० पा०

'यथोक्त' के द्वारा यह बतलाया गया है कि 'नामि'-'स्वर'-वर्ण के बाद में आने पर भी सकार सर्वदा षकार नही होता है। यह सकार केवल वहाँ षकार होता है जहाँ परवर्ती सूत्रो में कह दिया गया है। बाद वाले सूत्रों में से किसी भी सूत्र के द्वारा 'स्वयुक्तिभि' का सकार षकार नही होता है।

(च) ये । स्थ । मनो' । यज्ञिया. ॥ प० पा०

'स्थ' का सकार षकार नही हुआ है क्योकि इसके पूर्व में एकार से अन्य 'नामि'-'स्वर'-वर्ण न होकर एकार ही है। यदि पूर्व में एकार से अन्य कोई 'नामि'-'स्वर'-वर्ण होता तो ५।१२ के अनुसार 'स्थ' का सकार षकार हो जाता। एकार पूर्व में होने पर सकार षकार नही होता ह।

(नतिव्यापत्त्योः पौर्वापर्यम्)

नतिरत्र पूर्वा ततो व्यापत्तिर्भवतीति विद्यात् ॥२॥

(नति और व्यापत्ति का पौर्वापर्य)

सू० अ०—(यहाँ पर अर्थात् जब 'नामि'–'स्वर'–वर्ण के बाद में विसर्जनीय हो) यह जान लेना चाहिए कि 'नति' (=सकार का षकार होना='मूर्धन्यभाव') पहले होती है और 'व्यापत्ति' (=विसर्जनीय का 'ऊष्मन्' होना='ऊष्मभाव') तदनन्तर होती है।

उ० भा०—एकस्मिन् विषये यत्र कार्यद्वय प्रवर्त्तते तत्रावश्यभावी क्रमः। तत्र यथायोग कार्यक्रमो भवतीत्येतद्दर्शनायाह–नतिरत्र पूर्वा (ततो व्यापत्तिर्भवति) इति। यदि हि व्यापत्तिः पूर्वं क्रियेत पश्चान्नतिस्तदा—"तमेवोष्माणमूष्मणि"[1] इति सकारो नम्यस्य सकारस्य व्यवधायकः स्यान्नामिभिः सह ततो न प्रवर्तेत नतिः। अतः पूर्वमेव नतिः क्रियते पश्चात्—"तमेवोष्माणमूष्मणि"[2] इति ॥

उ० भा० अ०—एक स्थल में जहाँ दो कार्य प्रवृत्त होते है वहाँ क्रम निश्चित करना आवश्यक होता है। वहाँ पर परिस्थिति के अनुसार (यथायोगम्) (दोनों) कार्यों का क्रम होता है—यह दिखलाने के लिए (सूत्रकार ने) कहा है—नतिरत्र पूर्वा (ततो व्यापत्तिर्भवति)=यहाँ 'नति' ('मूर्धन्यभाव') पहले होती है (और 'व्यापत्ति' बाद में)। क्योंकि यदि 'व्यापत्ति' (='विसर्जनीय' का 'ऊष्मन्' होना) पहले की जावे और 'नति' (=मूर्धन्यभाव') बाद में तब—" 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर विसर्जनीय वही 'ऊष्म' (-वर्ण) (हो जाता है)"—(इस सूत्र के अनुसार विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला सकार 'नामि'–'स्वर'-वर्णों के साथ 'नम्य' ('मूर्धन्यभाव' से प्रभावित होने वाले) सकार का व्यवधायक हो जायेगा, जिससे 'मूर्धन्यभाव' ('नति') प्रवृत्त नही होगा।[क] इसलिए 'मूर्धन्यभाव' ('नति') पहले ही कर लिया जाता है और (इसके) पश्चात्—" 'ऊष्म' (—वर्ण) बाद में होने पर विसर्जनीय वही 'ऊष्म' (—वर्ण) हो जाता है" (यह सूत्र प्रवृत्त होता है)।

टि० (क) तात्पर्य यह है कि विसर्जनीय के स्थान पर सकार ('व्यापत्ति') पहले कर लेने पर 'नामि'-'स्वर'-वर्ण और 'नम्य' सकार के मध्य में विसर्जनीय के स्थान पर आने वाले सकार का व्यवधान हो जायेगा जिससे 'नामि'-स्वर'-वर्ण 'नम्य' सकार को षकार नही कर सकेगा क्योंकि प्रस्तुत सूत्र के अनुसार केवल विसर्जनीय का व्यवधान ही 'मूर्धन्यभाव' में बाधक नही होता है। इसलिए सकार के षकार-भाव और विसर्जनीय के 'ऊष्मभाव' इन दोनों को उपपन्न करने के लिए पहले सकार का षकारभाव कर लिया जाता है और तब विसर्जनीय का 'ऊष्मभाव' किया जाता है।

---

[1] ४।३२ [2] ४।३२

(नतिसंधिः = सकारस्य षकारः)

सुती नकिः स्वैर्व्युरु नह्यभि त्री नि हीति सः ॥३॥

(नतिसंधि = सकार का षकार होना)

सू० अ०—'सु', 'ऊती', 'नकिः' 'स्वैः', 'वि', 'उरु', 'नहि', 'अभि', 'त्री', 'नि' (और) 'हि'—(इन शब्दों में से कोई भी पूर्व में हो तो) 'सः' ('मूर्धन्यभाव' को प्राप्त हो जाता है अर्थात् 'सः' का सकार षकार हो जाता है)।

उ० भा०—सु, ऊती, नकिः, स्वैः, वि, उरु नहि, अभि, त्री, नि, हि—इत्येतैर्नामिभिरुपहितः सः इति सकारः षकारमापद्यते। सु—"प्र सु ष विभ्यो मरुत।"[१-क] ऊती—"ऊती ष बृहतो दिवः।"[२-ख] नकिः—"नकिष्टो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्।"[३-ग] स्वैः—"स्वैष्ट एवै रिरिषीष्ट युर्जनः।"[४-घ] वि—"ओभे अप्रा रोदसी वि ष आवः।"[५-ङ] उरु—"उरु ष सरथं सारथये कः।"[६-च] नहि—"नहि षस्तव नो मम।"[७-छ] अभि—"अभि ष द्युम्नैरुत।"[८-ज] त्री—"त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे।"[९-झ] नि—"नि ष हीयतां तन्वा तना च।"[१०-ञ] हि—"यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः॥"[११-ट]

उ० भा० अ०—सु, ऊती, नकिः, स्वैः, वि, उरु, नहि, अभि, त्री, नि (और) हि—इन 'नामि' (-पदों) (अर्थात् 'नामि'-'स्वर'-वर्णान्त इन पदों में से किसी भी पद) से बाद में आने वाले 'स' इस (पद) का सकार षकार हो जाता है। ।

टि० (क) प्र। सु। स। विऽभ्य। मरुत ॥ प० पा०

'सु' से बाद में आने के कारण 'सः' का सकार संहिता-पाठ में षकार हो गया है। आगे के सभी उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ख) ऊती। स। बृहत। दिव ॥ प० पा०

(ग) नकि। स। अस्ति। अरण। जहु। हि। तम् ॥ प० पा०

(घ) स्वै। स। एवै। रिरिषीष्ट। यु। जन ॥ प० पा०

(ङ) आ। उभे इति। अप्रा। रोदसी इति। वि। स। आवरित्याव ॥ प० पा०

(च) उरु। स.। सऽरथम्। सारथये। क ॥ प० पा०

(छ) नहि। स। तव। नो इति। मम ॥ प० पा०

(ज) अभि। स.। द्युम्नै। उत ॥ प० पा०

(झ) त्री। स.। पवित्रा। हृदि। अन्त। आ। दधे ॥ प० पा०

(ञ) नि। स। हीयताम्। तन्वा। तना। च ॥ प० पा०

(ट) यूपात्। अमुञ्च.। अशमिष्ट। हि। स ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ४।२६।४ [२] ऋ० ६।२।४ [३] ऋ० २।२४।७
[४] ऋ० ८।१८।१३ [५] ऋ० ९।९७।३८ [६] ऋ० ६।२०।५
[७] ऋ० ८।३३।१६ [८] ऋ० ८।२०।१६ [९] ऋ० ९।७३।८
[१०] ऋ० ७।१०४।१० [११] ऋ० ५।२।७

द्व्यक्षरेणैव सत्स्थः ॥४॥

सू० अ०—दो अक्षरों वाले ही (पद) से (बाद में आने वाले) 'सत्' और 'स्थः' (का सकार षकार होता है)।

उ० भा०—द्व्यक्षरेणैव पदेन नाम्यन्तेनोपहितः सत् स्थः इत्येतयोः सकारः षकारमापद्यते। सत्—"दिवि षद् भूम्या ददे।"[1] स्थः—"यदिन्द्राग्नी दिवि ष्ठो यत्पृथिव्याम।"[2] द्व्यक्षरेणैव इति किम्? "युवं हि स्थः स्वर्पती॥"[3]

उ० भा० अ०—'नामि'-'स्वर'-वर्णान्त, द्व्यक्षरेणैव=दो अक्षरों वाले ही पद से; बाद में आने वाले सत् और स्थः—इन दोनों (पदों) का सकार षकार हो जाता है। सत्—"दिवि षद् भूम्या ददे।"[क] स्थः—"यदिन्द्राग्नी दिवि ष्ठो यत्पृथिव्याम्।"[ख] "दो अक्षरों वाले ही (पद) से"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "युवं हि स्थः स्वर्पती।"[ग]

स्वबह्वक्षरेण ॥५॥

सू० अ०—अबह्वक्षर (बहु 'अक्षर' नहीं है जिसमें ऐसे पद) से (बाद में विद्यमान) 'सु' ('मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है अर्थात् 'सु' का सकार षकार हो जाता है)।

उ० भा०—सु इत्येतत्पदं नम्यते अबह्वक्षरेण नामिनोपहितं चेत्। "मो ष्वद्य दुर्हणावान्"[4], "अभी ष्वर्यः पौंस्यैर्भवेम।"[5] अबह्वक्षरेण इति किम्? "सुदीतिभिः स वीदिहि॥"[6]

उ० भा० अ०—यदि अबह्वक्षर 'नामिन्' (='मूर्धन्यभाव' करने वाले 'स्वर'-वर्ण में अन्त होने वाले पद) से बाद में आवे तो सु—यह पद 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है (अर्थात् इस पद का सकार षकार हो जाता है)। (उदाहरण) "मो ष्वद्य दुर्हणावान्"[घ];

टि० (क) दिवि। सत्। भूमि। आ। ददे॥ प० पा०

(ख) यत्। इन्द्राग्नी इति। दिवि। स्थ। यत्। पृथिव्याम्॥ प० पा०
दो अक्षरों वाले 'दिवि' पद से बाद में विद्यमान 'सत्' और 'स्थः' का सकार षकार हो गया है।

(ग) युवम्। हि। स्थ। स्व पती इति स्वःपती॥ प० पा०
यहाँ 'स्थः' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि पूर्व में दो अक्षरों वाला पद नहीं, अपितु एक 'अक्षर' वाला ('हि') पद है।

(घ) मो इति। सु। अद्य। दुःहनावान्॥ प० पा०

---

[1] ऋ० ९।६१।१०
[2] ऋ० १।१०८।११
[3] ऋ० ९।१९।२
[4] ऋ० ८।२।२०
[5] ऋ० १०।५९।३
[6] ऋ० ६।४८।३

"अभी ष्वर्य पौंस्यैर्भवेम ।"क "अवह्वक्षर (पद) से"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सुदीतिभि सु दीदिहि ।"ख

पदादयश्च स्यिति स्किति स्निति ॥६॥

सू० अ०—पद के आदि में विद्यमान 'स्य्', 'स्क्' और 'स्न्' भी ('मूर्धन्य-भाव' को प्राप्त होते हैं यदि इनके पूर्व में अवह्वक्षर 'नामि'-पद हो)।

उ० भा०—पदानामादिभूताः सकाराः षकारमापद्यन्ते यकारककारनकारपराः सन्तः। इतिकरणः प्रकारार्थः। स्यिति—"गोभिष्ष्याम सधमादः।"[१] स्किति—"यजु ष्कन्नं प्रथमं देवयानम्।"[२] स्निति—"अधि ष्णुना धन्व सानो अव्ये।"[३] अवह्वक्षरेणैवेत्येव—"तव प्रियासः सूरिषु स्याम"[४]; "उप द्यां स्कम्भथु स्कम्भनेन॥"[५]

उ० भा० अ०—पदों के आदि में विद्यमान सकार षकार हो जाते हैं यदि (सकार के) बाद में यकार ककार अथवा नकार स्थित हो। ('स्य्', 'स्क्' और 'स्न्' के बाद में लगा हुआ) 'इति' शब्द प्रकार के लिए है (अर्थात् 'स्यिति' का अर्थ है 'स्य्' से प्रारम्भ होने वाला कोई भी पद)। स्य्—"गोभिष्ष्याम सधमाद ।"ग स्क्—"यजु ष्कन्न प्रथम देवयानम् ।"घ स्न्—"अधि ष्णुना धन्व सानो अव्ये।"ङ अवह्वक्षर ('नामि'-पद) से ही (बाद में आने पर सकार षकार होता है)—"तव प्रियासः सूरिषु स्याम", च"उप द्या स्कम्भथु स्कम्भनेन।"छ

अरेफस्य च स्मिति ॥७॥

सू० अ०—रेफरहित (पद) के (आदि में विद्यमान) 'स्म्' (भी 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है यदि इसके पूर्व में अवह्वक्षर 'नामि'-पद हो)।

टि० (क) अभि । सु । अर्य । पौंस्यै । भवेम ॥ प० पा०

(ख) सुदीतिऽभि । सु । दीदिहि ॥ प० पा०

यहाँ 'सु' का सकार षकार नही हुआ है क्योंकि इसके पूर्व में अवह्वक्षर (एक या दो अक्षरो वाला) पद न होकर बह्वक्षर पद है।

(ग) गोभि । स्याम । सधऽमाद ॥ प० पा०

(घ) यजु । स्कन्नम् । प्रथमम् । देवऽयानम् ॥ प० पा०

(ङ) अधि । स्नुना । धन्व । सानौ । अव्ये ॥ प० पा०

(च) तव । प्रियास । सूरिषु । स्याम ॥ प० पा०

(छ) उप । द्याम् । स्कम्भथु । स्कम्भनेन ॥ प० पा०

'स्याम' और 'स्कम्भनेन' का सकार षकार नही हुआ है क्योंकि पूर्व में अवह्वक्षर (एक या दो अक्षरो वाला) पद नही अपितु बह्वक्षर पद है।

---

[१] ऋ० ५।२०।४ [२] ऋ० १०।१८१।३ [३] ऋ० ९।९७।१६

[४] ऋ० ७।१९।७ [५] ऋ० ६।७२।२

उ० भा०—अरेफस्य च पदस्य स्मिति पदादिर्नम्यते। "नहि ष्मा ते शतं चन।"[१] अरेफस्य इति किम्? "प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैः।"[२] अबह्वक्षरेणैवेत्येव—"वहामि स्म पूषणमन्तरेण॥"[३]

उ० भा० अ०—अरेफस्य च स्मिति=रेफरहित (पद) का 'स्म्' भी, पद के आदि में विद्यमान होने पर, 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है। (उदाहरण) "नहि ष्मा ते शत चन।"[क] "रेफरहित (पद) का"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "प्रति स्मरेथा तुजयद्भिरेवै.।"[ख] अवह्वक्षर (एक या दो अक्षरों वाले) ('नामि'-पद) से ही (वाद में होने पर सकार षकार होता है)—"वहामि स्म पूषणमन्तरेण।"[ग]

एकारेणापि स्विति नःपरं चेत् ॥८॥

सू० अ०—यदि 'नः' बाद में हो तो 'सु' ('मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है, चाहे वह 'सु') एकार से भी (बाद में विद्यमान हो)।

उ० भा०—(एकारेणापि=) एकारान्तेनापि, नामिनोपहितं सु इति एतत्पदं नम्यते, (नःपरम्=) न.पद परम्; चेत् भवति। "ते षु णो मरुतो मृळयन्तु।"[४] नःपरम् इति किम्? "त्वे सु पुत्र शवसः।"[५] अप्राप्तप्राप्तिवचनो अपि शब्दः॥

उ० भा० अ०—(एकारेणापि=) एकार मे अन्त होने वाले भी, 'नामि'-पद से वाद में विद्यमान, सु इति='सु'-यह पद, 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है, चेत्=यदि; नःपरम्='न' पद ('सु' के) बाद में होता है (अर्थात् एकार के बाद मे विद्यमान 'सु' का सकार षकार हो जाता है यदि बाद में 'न' पद हो)। (उदाहरण) 'ते षु णो मरुतो मृळयन्तु।"[घ] "'न' बाद मे हो तो"—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा)? (उत्तर) 'त्वे सु पुत्र शवस।"[ङ] अपि शब्द अप्राप्त (एकार) की प्राप्ति का वाचक है।[च]

टि० (क) नहि। स्म। ते। शतम्। चन॥ प० पा०

(ख) प्रति। स्मरेथाम्। तुजयत्ऽभि। एवैः॥ प० पा०
'स्मरेथाम्' का सकार षकार नही हुआ है क्योंकि यह पद रेफरहित नही है।

(ग) वहामि। स्म। पूषणम्। अन्तरेण॥ प० पा०
यहाँ 'स्म्' का सकार षकार नही हुआ है क्योकि पूर्व में अवह्वक्षर (एक या दो अक्षरो वाला) पद नहीं अपितु बह्वक्षर पद है।

(घ) ते। सु। न। मरुत। मृळयन्तु॥ प० पा०
पूर्व मे एकार तथा बाद में 'न' होने के कारण 'सु' का सकार षकार हो गया है।

(ङ) त्वे इति। सु। पुत्र। शवस॥ प० पा०
'सु' पद का सकार षकार नही हुआ है क्योकि 'सु' के वाद में 'न' पद नही है।

(च) तात्पर्य यह है कि ५।१ में यह वतलाया गया था कि एकार के वाद में आने पर सकार षकार नही होता है। इस प्रकार एकार के वाद में अप्राप्त ('मूर्धन्यभाव', 'षत्व') की प्राप्ति के लिए ही इस सूत्र में 'अपि' शब्द का ग्रहण किया गया है। यहाँ पर एकार के वाद में विद्यमान भी सकार षकार हो जाता है।

---

[१] ऋ० ४।३१।९ [२] ऋ० ७।१०४।७ [३] ऋ० १०।३३।१
[४] ऋ० १।१६९।५ [५] ऋ० ८।९२।१४

दीर्घो न स्यिति ॥९॥

सू० अ०—(पूर्ववर्ती) 'दीर्घ' ('स्वर') 'स्य्' को ('मूर्धन्य') नहीं (बनाता है)।

उ० भा०—दीर्घो नाम्युपधाभूतोऽपि स्यिति पदादि न नमयति। "वीरैः स्याम सधमादः।"[1] दीर्घग्रहणं किम्? "गोभिष् ष्याम सधमादः॥"[2]

उ० भा० अ०—दीर्घः='दीर्घ' 'नामि' (-'स्वर'-वर्ण), पूर्व में होने पर भी, पद के आदि में विद्यमान, स्यिति='स्य्' को, न=नहीं, 'मूर्धन्य' बनाता है (अर्थात् 'दीर्घ' 'नामि'-'स्वर'-वर्ण पूर्व में हो तो 'स्य्' का सकार षकार नहीं होता है)। (उदाहरण) "वीरै स्याम सधमाद।"क "'दीर्घ' शब्द का (सूत्र में) ग्रहण क्यों किया? (उत्तर) "गोभिष् ष्याम सधमाद.।"ख

उ च नास्पर्शपूर्वम् ॥१०॥

सू० अ०—यदि 'स्पर्श' (-'व्यञ्जन') पूर्व में न हो तो 'उ' भी (परवर्ती पद के आदि में विद्यमान 'स्य्' को 'मूर्धन्य' नहीं बनाता है)।

उ० भा०—उ-इत्येतत्पदं पूर्वं स्यिति पदादिं न नमयति; (अस्पर्शपूर्वम्=) स्पर्शपूर्वं यदि न भवति। "एष उ स्य पुरुव्रत.।"[3] अस्पर्शपूर्वम् इति किम्? "उदु ष्य शरणे दिवः॥"[4]

उ० भा० अ०—उ-यह पद, पूर्व में स्थित होने पर, (परवर्ती) पद के आदि में विद्यमान 'स्य्' को, न=नहीं, 'मूर्धन्य' बनाता है, (अस्पर्शपूर्वम्=) यदि (उस 'उ' के) पूर्व में 'स्पर्श' (-'व्यञ्जन') नहीं होता है (अर्थात् 'स्पर्श' पूर्व में न हो तो 'उ' भी पद के आदि में विद्यमान 'स्य्' के सकार को षकार नहीं बनाता है)। (उदाहरण) "एष उ स्य पुरुव्रत.।"ग "'स्पर्श' पूर्व में न हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "उदु ष्य शरणे दिव.।"घ

टि० (क) वीरैं। स्याम। सधऽमाद.॥ प० पा०

यह सूत्र ५।६ का अपवाद है। यहाँ 'स्याम' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'स्याम' के पूर्व में 'दीर्घ' 'स्वर' ऐकार है।

(ख) गोभि.। स्याम। सधमाद॥ प० पा०

यहाँ 'स्याम' का सकार ५।६ से षकार हो गया है क्योंकि 'स्याम' के पूर्व में 'दीर्घ' 'स्वर' नहीं अपितु 'ह्रस्व' 'स्वर' इकार है।

(ग) एष। ऊँ इति। स्य। पुरुऽव्रत॥ प० पा०

यह सूत्र ५।६ का अपवाद है। यहाँ 'स्य' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'स्य' के पूर्व में स्थित 'नामि-पद' 'उ' के पूर्व में 'स्पर्श'-'व्यञ्जन' नहीं अपितु 'ऊष्म'-'व्यञ्जन' षकार है।

(घ) उत्। ऊँ इति। स्य.। शरणे। दिव.॥ प० पा०

यहाँ पूर्ववर्ती 'उ' ने परवर्ती 'स्य' के सकार को ५।६ के अनुसार षकार बना दिया है क्योंकि 'उ' के पूर्व में 'स्पर्श'—'व्यञ्जन' दकार है।

---

१ ऋ० ५।२०।४
२ ऋ० १।३।१०
३ ऋ० ५।२०।४
४ ऋ० ८।२५।१९

(नतिसंधिः=षकारपूर्वस्य तवर्गस्य टवर्गः)

तकारवर्गस्तु टकारवर्ग-
मन्तःपदस्थोऽपि षकारपूर्वः ॥११॥

(नतिसंधि=षकारपूर्व तवर्ग का टवर्ग होना)

सू० अ०—एक पद के मध्य में विद्यमान भी (और भिन्न पद में विद्यमान भी) तकारवर्ग टकारवर्ग हो जाता है, यदि षकार पूर्व में हो।

उ० भा०—तकारवर्गस्तु पुनः टकारवर्गम् आपद्यते यथासंख्यम्। अन्तःपदस्थोऽपि नानापदस्थोपि षकारपूर्वः चेत्। "कः स्विद्वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसः।"[1] "आपो हि ष्ठा मयोभुवः।"[2] "नकिष्टं घ्नन्त्यन्तितो न दूरात्।"[3] षकारपूर्वः इति किम्? "युवं हि स्थः स्वर्पती॥"[4]

उ० भा० अ०—तकारवर्गस्तु=तकारवर्ग तो पुन, टकारवर्गम्=टकारवर्ग; हो जाता है क्रम से (अर्थात् तवर्ग का प्रथम वर्ण टवर्ग के प्रथम वर्ण में परिणत हो जाता है, द्वितीय वर्ण द्वितीय वर्ण में, इत्यादि)। अन्तःपदस्थोऽपि=पद के मध्य में (अर्थात् एक पद में) स्थित होने पर भी, भिन्न पद मे स्थित होने पर भीक, षकारपूर्वः=यदि षकार (तकारवर्ण के) पूर्व में विद्यमान हो। (उदाहरण) 'क. स्विद्वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णस "[ख], "आपो हि ष्ठा मयोभुव।"[ग] "नकिष्ट घ्नन्त्यन्तितो न दूरात्।"[घ] "षकार पूर्व में विद्यमान हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "युव हि स्थः स्वर्पती।"[ङ]

टि० (क) इस सूत्र में यह विधान किया गया है कि पूर्ववर्ती षकार के प्रभाव से परवर्ती तवर्गीय वर्ण इन दो परिस्थितियो में टवर्गीय वर्ण हो जाता है—(१) जब षकार और तवर्गीय वर्ण—ये दोनो— एक ही पद में विद्यमान हों अथवा (२) जब षकार और तवर्गीय वर्ण—ये दोनो—भिन्न-भिन्न पदो में विद्यमान हों। दूसरी परिस्थिति में षकार पदान्त होता है और तवर्गीय वर्ण पदादि होता है।

(ख) कः। स्वित्। वृक्ष। नि ऽस्थित। मध्ये। अर्णस.॥ प० पा०

(ग) आप। हि। स्थ। मय ऽभुव॥ प० पा०

इन दोनों उदाहरणो में षकार ने उसी पद में स्थित थकार को ठकार बना दिया है।

(घ) नकि। तम्। घ्नन्ति। अन्तित। न। दूरात्॥ प० पा०

यहाँ पदान्त षकार ने पदादि तकार को टकार बना दिया है।

(ङ) युवम्। हि। स्थ। स्व.पती इति स्वःऽपती॥ प० पा०

यहाँ थकार ठकार नही हुआ है क्योकि थकार के पूर्व में षकार न होकर सकार है।

---

[1] ऋ० ११६८२।७ [2] ऋ० १०।९।१ [3] २।२७।१३ [4] ऋ० ९।१९।२

(नतिसंधिः=नकारस्य णकारः) (पूर्वानुवृत्तः)

सितां सधस्थात्स्तनिहि स्तवाम
स्तवे स्तुवन्ति स्तुहि सीं स्तुत स्थ ।
साहि स्त स्तुप्सत्सि सत्सत्स्वनीति
स्तोमेत्यादिश्चापि बह्वक्षरान्त्यैः ॥१२॥

(नतिसंधि=नकार का णकार) (पूर्वानुवृत्त)

सू० अ०—'सिताम्', 'सधस्थात्', 'स्तनिहि', 'स्तवाम', 'स्तवे', 'स्तुवन्ति', 'स्तुहि', 'सीम्', 'स्तुवः', 'स्थ', 'साहि', 'स्तः', 'स्तुप्', 'सत्सि', सत्सत्', 'स्वनि'—इनका और 'स्तोभ' इस (के सभी रूपों) का आदि (=प्रथम वर्ण अर्थात् सकार) ('मूर्धन्यभाव' को प्राप्त हो जाता है अर्थात् षकार हो जाता है), चाहे (वह सकार) बहुत अक्षरों वाले (पद) के अन्त में विद्यमान ('नामि'-'स्वर') से भी (बाद में हो)।

उ० भा०—सिताम्, सधस्थात्, स्तनिहि, स्तवाम, स्तवे, स्तुवन्ति, स्तुहि, सीम्, स्तुतः, स्थ, साहि, स्तः, स्तुप्, सत्सि, सत्सत्, स्वनि—इत्येतेषां पदानाम् आदिः, स्तोभ इत्येतस्य च पदस्य सप्रत्ययस्य आदिः नम्यते। अपि बह्वक्षरान्त्यैः नामिभिरुपहितः। अप्यबह्वक्षरान्त्यैरिति अपिशब्दः।

सिताम्—"पदि षितामसुञ्चता यजत्राः।"[१-क] सधस्थात्—"निष्षीमद्भ्यो धमथो निष्षधस्थात्।"[२-ख] स्तनिहि—"नि ष्टनिहि दुरिता बाधमानः॥"[३-ग] स्तवाम—"तमु ष्टवाम यं गिरः।"[४-घ] स्तवे—'विश्वा यद्वामनु ष्टवे।"[५-ङ] स्तुवन्ति—"अनु ष्टुवन्ति पूर्वथा।"[६-च] स्तुहि—"तमु ष्टुहीन्द्रं यो ह सत्वा।"[७-छ] सीम्—"निष्षीमद्भ्यो धमथो निष् षधस्थात्।"[८-ज] स्तुतः—"नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः।"[९-झ] स्थ—"आपो हि ष्ठा

टि० (क) पदि। सिताम्। अमुञ्चत। यजत्रा॥ प० पा०
(ख) नि.। सीम्। अत्ऽभ्य.। धमथः। नि। सधऽस्थात्॥ प० पा०
(ग) नि। स्तनिहि। दुःऽइता। बाधमान॥ प० पा०
(घ) तम्। ॐ इति। स्तवाम। यम्। गिर॥ प० पा०
(ङ) विश्वा। यत्। वाम्। अनु। स्तवे॥ प० पा०
(च) अनु। स्तुवन्ति। पूर्वऽथा॥ प० पा०
(छ) तम्। ॐ इति। स्तुहि। इन्द्रम्। य। ह। सत्वा॥ प० पा०
(ज) नि। सीम्। अत्ऽभ्य। धमथ। नि। सधऽस्थात्॥ प० पा०
(झ) नु। स्तुत.। इन्द्र। नु। गृणान॥ प० पा०

---

१ ऋ० ४।१२।६ २ ऋ० ५।३।१९ ३ ऋ० ६।४७।३०
४ ऋ० ८।९५।६ ५ ऋ० ५।७३।४ ६ ऋ० ८।३।१८
७ ऋ० १।१७३।५ ८ ऋ० ५।३।१९ ९ ऋ० ४।१६।२१

मयोभुव.।"[१-क] साहि—"वि षाह्यग्ने गृणते मनीषाम्।"[२-ख] स्तः—"नास्य ते महिमानं परि ष्टः।"[३-ग] स्तुप्—"सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्।"[८-घ] सत्सि—"अग्ने नि षत्सि नमसाधि बर्हिषि।"[४-ङ] सत्सत्—"नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत्।"[६-च] स्वनि—"यदि क्लोशमनु ष्वणि।"[७-छ] स्तोभेत्यादिः—"परि ष्टोभत विंशतिः"[८-ज]; "परि ष्टोभन्तु नो गिरः॥"[९-झ]

उ० भा० अ०—**सिताम्, सधस्थात्, स्तनिहि, स्तवाम, स्तवे, स्तुवन्ति, स्तुहि, सीम्, स्तुतः, स्थ, साहि, स्तः, स्तुप्, सत्सि, सत्सत्** (और) **स्वनि**—इन पदों का; **आदिः**=प्रथम वर्ण=सकार और **स्तोभ**—इस पद के किसी भी रूप का; **आदिः**=प्रथम वर्ण=सकार; 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् षकार हो जाता है)। **अपि बह्वक्षरान्त्यैः**=बहुत अक्षरों वाले (पदों) के अन्त में विद्यमान 'नामि' (—'स्वर'—वर्णों) से; बाद में स्थित भी। **अपि**—शब्द (यह बतलाने के लिए सूत्र में प्रयुक्त है कि) अबह्वक्षर (पदों) के अन्त में विद्यमान ('नामि'—स्वर—वर्णों) से भी (बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है) (तात्पर्य यह है कि सूत्रोक्त पदों के आदि में विद्यमान सकार षकार हो जाता है चाहे इस सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'—'स्वर'—वर्ण हो जो बह्वक्षर पद के अन्त में स्थित है और चाहे ऐसा 'नामि'—'स्वर'—वर्ण हो जो अबह्वक्षर पद के अन्त में स्थित है)।········।

नि परीति स्व सीत्यादी चकारवर्गीयोदयौ ॥१३॥

सू० अ०—'नि' (और) 'परि' (ये दो 'नामि'-पद) (पद के) आदि में विद्यमान 'स्व' और 'सि' को ('मूर्धन्य' बना देते हैं), यदि ('स्व' और 'सि' के) बाद में चवर्ग का कोई वर्ण हो।

उ० भा०—**नि परि** इत्येतौ नामिनौ **स्व सिः** (**इत्यादी**=) इत्थंभूतौ पदादी; नमयतः। किमविशेषेण? नेत्याह **चकारवर्गीयोदयौ** चेत्स्याताम्=चकारवर्गवर्ण-

टि० (क) आप। हि। स्थ। मयःऽभुव.॥ प० पा०

(ख) वि। साहि। अग्ने। गृणते। मनीषाम्॥ प० पा०

(ग) न। अस्य। ते इति। महिमानम्। परि। स्त इति स्तः॥ प० पा०

(घ) सोम। विऽराजम्। अनु। राजति। स्तुप्॥ प० पा०

(ङ) अग्ने। नि। सत्सि। नमसा। अधि। बर्हिषि॥ प० पा०

(च) नि। हि। सत्सत्। अन्तर। पूर्वः। अस्मत्॥ प० पा०

(छ) यदि। क्लोशम्। अनु। स्वनि॥ प० पा०

(ज) परि। स्तोभत। विंशति.॥ प० पा०

(झ) परि। स्तोभन्तु। न.। गिर॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १०।९।१ [२] ऋ० ४।११।२ [३] ऋ० १।६१।८
[४] ऋ० ९।९६।१८ [५] ऋ० ८।२३।२६ [६] ऋ० १०।५३।१
[७] ऋ० ६।४६।१४ [८] ऋ० ९।८०।९ [९] ऋ० ८।९२।१९

परानित्यर्थः। नि—"महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च।"[१-क] परि—"सहस्रधारः परि षिच्यते हरिः।"[२-ख] "परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिः"[३-ग]; "परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिम्।"[४-घ] चकारवर्गीयोदयौ इति किम्? "व्युच्छन्ती परि स्वसुः॥"[५]

उ० भा० अ०—नि (और) परि—ये दो 'नामि' (-पद); स्व सिः (इत्यादी=) इस प्रकार के पदादियो को; 'मूर्धन्य' बना देते हैं। क्या बिना किसी विशेष के? (उत्तर) नहीं, (सूत्रकार) ने कहा है—चकारवर्गीयोदयौ=यदि ('स्व' और 'सि' के) बाद में चकारवर्गीय हो=बाद में चकारवर्ग (=चवर्ग) का कोई वर्ण हो तो—यह कार्य है (तात्पर्य यह है कि 'सि' और 'स्व' का सकार षकार हो जाता है यदि(?) 'सि' और 'स्व' के पूर्व में 'नि' या 'परि' हो और बाद में चवर्ग का कोई भी वर्ण हो)। ....। "बाद में चवर्ग का (कोई वर्ण) हो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "व्युच्छन्ती परि स्वसु.।"[ङ]

दकारे चोत्तरे परान्से स सीति स्वरोदये ॥१४॥

सू० अ०—('नि' और 'परि') परवर्ती (=पदादियों)—'से', 'स' (और) 'सी' (को 'मूर्धन्य' बना देते हैं), यदि ('से', 'स' और 'सी' के) बाद में ऐसा दकार हो जिसके बाद में 'स्वर' (-वर्ण) है।

उ० भा०—दकारे चोत्तरे। चकारः समुच्चयार्थीयो निपरी समुच्चिनोति। परान्=पदादीन्; नमयतः। कथं भूतान्पदादीन्? अत आह—से, स, सी। इतिकरणः प्रकारार्थः। स्वरोदये—दकारस्य विशेषणमेतत्। से, स, सी—इति पदादीन्दकारे स्वरपरे निपरी नमत इत्यर्थः।

से—"परि यज्ञं नि षेदथुः।"[६] स—"नि षदा पीतये मधु"[७]; "द्युम्नं नरः परि षदन्नुषासम्।"[८] सी—"नि षीद होत्रमृतुया यजस्व।"[९] निपरी इति किम्? "इमं मम प्रस्तरमा हि सीद।"[१०] दकारे इति किम्? "नि समना भूमिः।" स्वरोदये इति किम्? "विष्वक्चरन्ति परि सद्य अन्तान्॥"[११]

टि० (क) महान्तम्। कोशम्। उत्। अच। नि। सिञ्च॥ प० पा०
(ख) सहस्रऽधार। परि। सिच्यते। हरि॥ प० पा०
(ग) परि। स्वजध्वम्। दश। कक्ष्याभि॥ प० पा०
(घ) परि। स्वजन्ते। जनय.। यथा। पतिम्॥ प० पा०
(ङ) विऽउच्छन्ती। परि। स्वसु॥ प० पा०
'परि' के बाद में आने पर भी 'स्व' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'स्व' के बाद में चवर्ग का कोई वर्ण न होकर सकार है।

---

१ ऋ० ५।८३।८
२ ऋ० ९।८६।३३
३ ऋ० १०।१०१।१०
४ ऋ० १०।४३।१
५ ऋ० ४।५२।१
६ ऋ० ४।५६।७
७ ऋ० ८।९७।८
८ ऋ० ४।३।११
९ ऋ० १०।९८।४
१० ऋ० १०।१४।४
११ ऋ० ५।४७।४

उ० भा० अ०—दकारे चोत्तरे=दकार बाद में होने पर भी। समुच्चयार्थीय चकार 'नि' और 'परि' का समुच्चय करता है। परान्=बाद में आने वालों को=पदादियों को; 'मूर्धन्य' बना देते हैं। किस प्रकार के पदादियों को (यह प्रश्न उठता है)? इसलिए (सूत्रकार) ने कहा है—से, स, सी को। इति—शब्द (सूत्र में) प्रकार के लिए (प्रयुक्त है) (अर्थात् 'से', 'स' अथवा 'सी' से प्रारम्भ होने वाले किसी भी पद के सकार को पूर्ववर्ती 'नि' और 'परि' 'मूर्धन्य' बना देते हैं)। स्वरोदये='स्वर' (-वर्ण) बाद में होने पर—यह दकार का विशेषण है। पद के आदि में विद्यमान 'से', 'स' (और) 'सी' को (पूर्ववर्ती) 'नि' और 'परि' 'मूर्धन्य' बना देते हैं, यदि ('से', 'स' और 'सी' के) बाद में ऐसा दकार हो जिसके बाद में 'स्वर' (-वर्ण) हो—यह अर्थ है।

से—"परि यज्ञं नि षेदथु।"[क] स—"नि षदा पीतये मधु"[ख] "शुनं नरः परि षदन्नुषासम्।"[ग] सी—नि षीद होत्रमृतुथा यजस्व।"[घ] "'नि' और 'परि'"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "इमं यम प्रस्तरमा हि सीद।"[ङ] "दकार बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "नि समना भूमि"।"[च] "'स्वर' (-वर्ण) बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्।"[छ]

टि० (क) परि। यज्ञम्। नि। सेदथुः॥ प० पा०

(ख) नि। सद। पीतये। मधु॥ प० पा०

(ग) शुनम्। नरः। परि। सदन्। उषसम्॥ प० पा०

(घ) नि। सीद। होत्रम्। ऋतुऽथा। यजस्व॥ प० पा०

इन चारों उदाहरणों में पूर्ववर्ती 'नि' और 'परि' ने परवर्ती पदों के आदि सकार को षकार बना दिया है।

(ङ) इमम्। यम। प्रऽस्तरम्। आ। हि। सीद॥ प० पा०

यहाँ 'सीद' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि इसके पूर्व में न 'नि' है और न 'परि' अपितु 'हि' है।

(च) यद्यपि पूर्व में 'नि' विद्यमान है तथापि 'समना' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'स' के बाद में दकार न होकर मकार है।

"नि समना भूमि" यह उद्धरण न तो ऋग्वेद में उपलब्ध होता है और न किसी अन्य ग्रन्थ में। "वि समना भूमि"—यह उद्धरण तो ऋग्वेद (२।११।१७) में उपलब्ध होता है किंतु यह स्थल प्रकृत सूत्र का उदाहरण नहीं बन सकता है क्योंकि 'स' के पूर्व में 'नि' होना चाहिए, 'वि' नहीं। हो सकता है कि भाष्यकार ने भ्रान्ति से 'वि' को 'नि' समझ कर यह उद्धरण प्रस्तुत किया हो। किसी-किसी हस्तलेख में 'नि' के स्थान पर 'वि' लिखा है और किसी-किसी हस्तलेख में इस प्रत्युदाहरण के स्थान पर "मृग्य प्रत्युदाहरणम्"—ये शब्द लिखे हुए मिलते हैं।

(छ) दिवः। चरन्ति। परि। सद्य। अन्तान्॥ प० पा०

यहाँ पर यद्यपि 'सद्य' के सकार के पूर्व में 'परि' है और बाद में दकार है तथापि सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि दकार के बाद में 'स्वर'-वर्ण नहीं अपितु यकार है।

सेध स्वापय सस्वजे सस्वजाते ससाद च ॥१५॥

सू० अ०—'सेध', 'स्वापय', 'सस्वजे', 'सस्वजाते' और 'ससाद' (इन पदों के आदि में विद्यमान सकार को भी 'नि' और 'परि' 'मूर्धन्य' बना देते हैं)।

उ० भा०—सेध स्वापय, सस्वजे, सस्वजाते, ससाद—चकारोच्चारणादेता-न्पदादीन्निपरी नमयतः। सेध—"वाचस्पते नि षेधेमान्।"[१-क] स्वापय—"नि ष्वापया मिथूदृशा।"[२-ख] सस्वजे—"तमिन्दुः परि षस्वजे।"[३-ग] सस्वजाते—"समानं वृक्षं परि षस्वजाते।"[४-घ] ससाद—"नि षसाद धृतव्रत॥"[५-ङ]

उ० भा० अ०—सेध, स्वापय, सस्वजे, सस्वजाते, ससाद—(सूत्र में) चकार के उच्चारण से (यह अर्थ हुआ कि) इन पदों के आदियों (=सकार) को 'नि' और 'परि' 'मूर्धन्य' बना देते है। . . ।

सन्तं सन्तः सन्ति पूर्वीः स्थु स्था स्थादिति चोत्तरः ॥१६॥

सू० अ०—(इन 'नि' और 'परि' में से) बाद वाला (अर्थात् 'परि') 'सन्तम्', 'सन्तः', 'सन्ति पूर्वीः', 'स्थुः', 'स्थाः' और 'स्थात्'—इन (पदों के सकार को षकार बना देता है)।

उ० भा० - सन्तम्, सन्तः, सन्ति पूर्वीः, स्थुः, स्थाः, स्थात् इति च पदादिसकारान् उत्तरो नामी नमयति। कश्चोत्तरः? पाठक्रमेण परीति। सन्तम्—"अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्दन्।"[६-च] सन्तः—"नाद्रयः परि षन्तो वरन्त।"[७-छ] सन्ति पूर्वीः—"ता ईं विश्वतः परि षन्ति पूर्वीः।"[८-ज] पूर्वीः इति किम्? "पक्षो न वाताः परि सन्त्यच्युताः।"[९-झ] स्थुः—

टि० (क) वाच। पते। नि। सेध। इमान्॥ प० पा०

(ख) नि। स्वापय। मिथुऽदृशा॥ प० पा०

(ग) तम्। इन्दुः। परि। सस्वजे॥ प० पा०

(घ) समानम्। वृक्षम्। परि। सस्वजाते इति॥ प० पा०

(ङ) नि। ससाद। धृतऽव्रत॥ प० पा०

पूर्ववर्ती 'नि' और 'परि' ने सूत्रोक्त पदों के आदि सकार को षकार बना दिया है।

(च) अस्मे इति। वत्सम्। परि। सन्तम्। न। विन्दन्॥ प० पा०

(छ) न। अद्रयः। परि। सन्तः। वरन्त॥ प० पा०

(ज) ताः। ईम्। विश्वतः। परि। सन्ति। पूर्वीः॥ प० पा०

(झ) पक्षो। न। वाताः। परि। सन्ति। अच्युताः॥ प० पा०

उदाहरण में 'पूर्वी' बाद में होने के कारण 'सन्ति' का सकार षकार हो गया है जब कि प्रत्युदाहरण में 'पूर्वी' बाद में न होने के कारण 'सन्ति' का सकार षकार नहीं हुआ है।

१ ऋ० १०।१६६।३ २ ऋ० १।२९।३ ३ ऋ० ९।१२।५
४ ऋ० १।१६४।२० ५ ऋ० १।२५।१० ६ ऋ० १।७२।२
७ ऋ० ३।३२।१६ ८ ऋ० १।८९।५ ९ ऋ० १०।११५।८

"अर्णो न द्वेषो धृषता परि ष्ठुः।"[१-क] स्थाः—"परि ष्ठा इन्द्र मायया।"[२-ख] स्थात्—"मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परि ष्ठात् ॥"[३-ग]

उ० भा० अ० -सन्तम्, सन्तः, सन्ति पूर्वीः, स्थुः, स्थाः, स्थात्—इति च=इन पदों के भी, आदि सकारों को, उत्तरः—बाद वाला; 'नामि'—पद 'मूर्धन्य' बना देता है। बाद वाला कौन है ? (उत्तर)पाठ-क्रम से(जो बाद मे स्थित है अर्थात्) 'परि'; (तात्पर्य यह है कि 'परि' यह 'नामि'-पद सूत्रोक्त पदो के सकार को षकार बना देता है)। ···· ।

हि षिञ्च तू षिञ्च रजःसु षीद-
न्नितो षिञ्चताभि षतः किमु ष्वित्।
सूरिभिष्ष्याम दिवि षन्तु के ष्ठ
प्रति ष्फुर त्री षधस्था कमु ष्वित् ॥१७॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर सकार निपातन से षकार हुआ है) 'हि षिञ्च', 'तू षिञ्च', 'रजःसु षीदन्', 'इतो षिञ्चत', 'अभि षतः', किमु ष्वित्', 'सूरिभिष्ष्याम', 'दिवि षन्तु', 'के ष्ठ' 'प्रति ष्फुर्' 'त्री षधस्था' (और) 'किमु ष्वित्'।

उ० भा०—हि षिञ्च, तू षिञ्च, रजःसु षीदन्, इतो षिञ्चत, अभि षतः, किमु ष्वित्, सूरभिष्ष्याम दिवि षन्तु, के ष्ठ, प्रति ष्फुर, त्री षधस्था, कमु ष्वित्—एतानि यथागृहीतानि निपात्यन्ते। हि षिञ्च—"अध्वर्यवा तु हि षिञ्च।"[४-घ] तू षिञ्च—"आ तु षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे।"[५-ङ] रजःसु षीदन्—"बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्।"[६-च] इतो षिञ्चत—"परीतो षिञ्चता सुतम्"[७-छ]-ओत्वं षत्वं च निपात्यते।

टि० (क) अर्ण । न । द्वप । धृषता । परि । स्थु ॥ प० पा०
(ख) परि । स्था । इन्द्र । मायया ॥ प० पा०
(ग) मा । न । मर्तस्य । दुःमति । परि । स्थात् ॥ प० पा०
(घ) अध्वर्यो इति । आ । तु । हि । सिञ्च ॥ प० पा०
(ङ) आ । तु । सिञ्च । हरिम् । ईम् । द्रो । उपऽस्थे ॥ प० पा०
(च) वुध्ने । नदीनाम् । रज सु । सीदन् ॥ प० पा०
(छ) परि । इत. । सिञ्चत । सुतम् ॥ प० पा०

४।३४ के अनुसार 'इतः' का विसर्जनीय अविकृत रहता है जिससे संहिता-पाठ में "इत सिञ्चत' रूप होना चाहिए किंतु यहाँ निपातन से 'इतः' का विसर्जनीय ओकार हो गया है और सिञ्चत' का सकार षकार हो गया है जिससे संहिता-पाठ में उपलब्ध "इतो षिञ्चत" रूप सम्पन्न हो गया है।

---

[१] ऋ० १।१६७।९ [२] ऋ० ४।३०।१२ [३] ऋ० ३।१५।६
[४] ऋ० ८।३२।२४ [५] ऋ० १०।१०१।१० [६] ऋ० ७।३४।१६
[७] ऋ० ९।१०७।१

अभि षतः—"महो विश्वाँ अभि षतः"[१-क], अभी षतस्तदाभर।"[२-ख]

उ० भा० अ०—हि षिञ्च, तू षिञ्च, रजःसु षीदन्, इतो षिञ्चत, अभि षतः, किमु ष्वित्, सूरिभिष्ष्याम, दिवि षन्तु, के ष्ठ, प्रति ष्फुर, त्री षधस्था (और) कमु ष्वित्—ये (द्विपद या त्रैपद) जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) निपातन से उपलब्ध होते हैं।··· ·· ··। (विसर्जनीय का) ओकार तथा (सकार का) षकार—ये दोनों निपातन से होते हैं। अभि षतः—"महो विश्वाँ अभि षतः"; "अभी षतस्तदा भर।"

नन्वभि षत इति निपातनं च यथाश्रुतमेव ग्रहीतुं न्याय्यम्। अतः—"अभी षतस्तदा भर"[३]—इत्यत्र षत्वं न प्राप्नोत्यभिशब्दस्य दीर्घत्वात्। सत्यमेवमेतत् यदि नामाधस्तादेव परिभावितं यथा सामवशाः संधयो नियतविषयापवादका भवन्ति, न तु सर्वत्र। सामवशा इति चैवापवादाञ्जानीयादनुलोमानामन्वक्षरसंधीनां नान्येषां केषाञ्चिदिति। तथा च ज्ञापकं भवति—"नु ष प्र"[४] इति। "मसन्नु ष प्र पूर्व्य"[५] इत्युदाहरणम्। अत्र प्रेति यद्विशेषणं तत्—"प्र नू स मर्तः शवसा"[६]—इत्यस्य निर्धारणार्थम्। यदि नुशब्दो दीर्घोऽपि विधातं षत्वस्य न कुर्यात्तदा प्रशब्दग्रहणं सार्थकं स्यादिति। तस्मात्सामवशाः संधयोऽपवादका अनुलोमानामन्वक्षरसंधीनां नान्यत्रेति सिद्धम्।

(शङ्का) "अभि षतः"—इस निपातन को वैसे ही ग्रहण करना उचित है जैसे कि (सूत्र में) उल्लिखित है। इसलिए "अभी षतस्तदा भर" में (प्रस्तुत सूत्र से) 'षत्व' प्राप्त नहीं होता है क्योंकि यहाँ 'अभि' शब्द 'दीर्घ' है।[ग] (समाधान) यह बात तो सच है किन्तु पहले ही (१।६० के भाष्य में) यह बतला दिया गया है कि 'सामवश' संधियाँ निश्चित विषय का ही अपवादक होती हैं, सर्वत्र नहीं। 'सामवश' संधियों को 'अनुलोमान्वक्षर' संधियों का ही अपवाद जानना चाहिए, अन्य किन्हीं का नहीं।[घ] वैसा (अर्थात्

टि० (क) महः। विश्वान्। अभि। सतः॥ प० पा०

(ख) अभि। सतः। तत्। आ। भर॥ प० पा०

७।४३ के अनुसार 'अभि' का इकार 'दीर्घ' हो गया है। इस दीर्घत्व के अनन्तर भी 'अभि' के बाद में आने के कारण 'सतः' का सकार प्रकृत सूत्र से षकार हो गया है।

(ग) शङ्काकार का आशय यह है कि प्रकृत सूत्र में "अभि षतः" का ग्रहण किया गया है, "अभी षतः" का नहीं, इसलिए—"अभी षतस्तदा भर" में जो 'षत्व' हुआ है वह प्रकृत सूत्र से नहीं हो सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भाष्यकार ने "अभी षतस्तदा भर" को जो इस सूत्र के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है वह युक्त नहीं है।

(घ) उपर्युक्त शङ्का के उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि "अभी षतः" पद-पाठ में "अभि। सतः" के रूप में है। संधि करने पर यहाँ २।८ के अनुसार 'अनुलोमान्वक्षर' संधि हुई जिनके अनुसार 'अभि' के इकार में कोई विकार नहीं

[१] ऋ० ८।२३।२६ [२] ऋ० ७।३२।२४ [३] ऋ० ७।३२।२४
[४] ५।१८ [५] ऋ० ६।१४।१ [६] ऋ० १।६४।१३

इस तथ्य का) ज्ञापक[क] (सूचक) भी (परवर्ती सूत्र ५।१८) है—"नु ष प्र।" "भसन्नु ष प्र पूर्व्य."—यह ५।१८ का उदाहरण है। यहाँ (=५।१८ में) जो 'प्र' विशेषण है वह "प्र नू स मर्त. शवसा"—इसके (='स.' के 'षत्व' के) निवारण के लिए है। यदि 'दीर्घ' भी नु शब्द (सकार के) 'षत्व' का विघात न करे तब ही (५।१८ में) 'प्र' शब्द का ग्रहण सार्थक होगा। इसलिए यह सिद्ध हो गया कि 'सामवश' सधियाँ 'अनुलोमान्वक्षर' सधियो का ही अपवादक होती ह, अन्यत्र नही।

किमु ष्विवत्—"किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्त।"[१-ख] किम् इति किम्? "इन्द्रं

(३४४घ) होता है किंतु ७।४३ के अनुसार यहाँ 'सामवश' संधि हो गई है जिससे 'अभि' का इकार 'दीर्घ' हो गया है। यहाँ 'सामवश' सधि (७।४३) ने 'अनुलोमान्वक्षर' सधि (२।८) का बाध कर दिया है क्योकि पहले ही १।६० में यह कह दिया गया है कि 'सामवश' संधियो को 'अनुलोमान्वक्षर' सधियों का अपवाद समझना चाहिए। इस प्रकार 'सामवश' सधियाँ 'अनुलोमान्वक्षर' सधियो का ही अपवाद होती है, अन्य किसी का नही। प्रकृत स्थल में जो 'सामवश' सधि हुई है उसने 'अनुलोमान्वक्षर' सधि का तो बाध कर दिया है किंतु यह 'सामवश' सधि 'मूर्धन्यभाव' ('नति'='षत्व') में बाधा उत्पन्न नही कर सकती है। अतएव ७।४३ के अनुसार 'अभि' के इकार के 'दीर्घ' होने के उपरान्त भी 'अभि' के कारण 'सत.' का सकार प्रकृत सूत्र से षकार हो गया है।

टि० (क) 'सामवश' सधि 'मूर्धन्यभाव' ('नति') में बाधक नही होती है—इस तथ्य की पुष्टि के लिए भाष्यकार एक ज्ञापक प्रमाण देते है। ५।१८ में यह विधान किया गया है कि यदि (१) 'स' के पूर्व में 'नु' हो और (२) बाद में 'प्र' हो तो 'स.' का सकार षकार हो जाता है। इसका उदाहरण यह है—"भसन्नु ष प्र पूर्व्य।" सूत्र में उल्लिखित 'प्र' पद की उपयोगिता दिखलाने के लिए प्रत्युदाहरण यह है— "प्र नू स मर्त शवसा।" इस प्रत्युदाहरण में 'नु' ('नू') के बाद में विद्यमान 'स.' का सकार षकार नही हुआ है क्योंकि 'स.' के बाद में 'प्र' नही है। प्रत्युदाहरण में 'नु' ७।२६ के अनुसार 'नू' हो गया है जो 'सामवश' सधि है। यदि 'सामवश' सधि से प्राप्त 'नू' 'मूर्धन्यभाव' ('षत्व') में बाधक होता तो सूत्र मे 'प्र' को विशेषण के रूप में ग्रहण करना अनर्थक होता क्योकि तब तो 'नू' ही प्रत्युदाहरण में 'षत्व' का बाध कर देता। यदि 'नु' शब्द 'दीर्घ' ('नू') होने पर भी 'षत्व' का विघात (बाध) न करे तभी ५।१८ में 'प्र' शब्द का ग्रहण सार्थक होगा और तथ्य यही है कि ५।१८ में 'प्र' का ग्रहण प्रत्युदाहरण में 'षत्व' का बाध करने के लिए किया गया है। इससे सिद्ध हो गया कि 'सामवश' सधि से प्राप्त 'नू' 'षत्व' मे बाधक नही होता है और "अभी षतस्तदा भर" को जो इस प्रकृत सूत्र का उदाहरण दिया गया है वह युक्त है।

(ख) किम्। ऊँ इति। स्वित्। अस्मै। निऽविद। भनन्त॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ४।१८।७

कं उ स्विदा चके ।"१-क सूरिभिष्ष्याम—"घ्नन्तो वृत्राणि सूरिभिष्ष्याम ।"२-ख दिवि षन्तु—"उत स्वानासो दिवि षन्त्वग्नेः ।"३-ग के ष्ठ—"के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमाः ।"४-घ प्रति ष्फुर—"प्रति ष्फुर वि रुज वीड्वंहः ।"५-ङ त्री षधस्था—"त्री षधस्था सिन्धवस्त्रिः ।"६-च कमु ष्वित्—"कमु ष्विदस्य सेनया ।"७-छ कम् इति किम् ? "उक्थे क उ स्विदन्तमः ॥"८-ज

उ षुवाणो दिवि षन्सूरिभिष्ष्या-
मृच्छन्ति ष्म नू ष्ठिरं वंसु षीदति ।
नु ष प्र हि ष्ठो यशसा मही षा
वि षा भूयामो षु यति ष्ठनेति च ॥१८॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर सकार निपातन से षकार होता है) 'उ षुवाणः', 'दिवि षन्', 'सूरिभिष्ष्याम्', 'ऋच्छन्ति ष्म', 'नू ष्ठिरम्', 'वंसु षीदति', 'नु ष प्र', 'हि ष्ठो यशसा', 'मही षा', 'वि षा', 'भूयामो षु' (और) 'यति ष्ठन' ।

टि० (क) इन्द्रम् । कं । ऊँ इति । स्वित् । आ । चके ॥ प० पा०

उकार के बाद में स्थित 'स्वित्' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि उकार के पहले 'किम्' नहीं है ।

(ख) घ्नन्त । वृत्राणि । सूरिऽभि । स्याम ॥ प० पा०

(ग) उत । स्वानास । दिवि । सन्तु । अग्ने ॥ प० पा०

(घ) के । स्थ । नरः । श्रेष्ठऽतमा ॥ प० पा०

यद्यपि ५।१२ के अनुसार भी 'स्थ' का सकार षकार हो जाता है किंतु "के ष्ठ" में ५।१२ के अनुसार सकार षकार नहीं होता है क्योंकि यहाँ सकार के पूर्व में एकार है जो सकार को षकार में परिणत नहीं करता है, क्योंकि ५।१ में कह दिया गया था कि एकार को छोडकर अन्य 'नामि'-स्वर'-वर्ण ही सकार को षकार में परिणत करते हैं । अतः 'के ष्ठ' में सकार प्रकृत सूत्र के अनुसार निपातन से षकार होता है ।

(ङ) प्रति । स्फुर । वि । रुज । वीळु । अह ॥ प० पा०

(च) त्री । सधऽस्था । सिन्धव । त्रि ॥ प० पा०

(छ) कम् । ऊँ इति । स्वित् । अस्य । सेनया ॥ प० पा०

(ज) उक्थे । क । ऊँ इति । स्वित् । अन्तम ॥ प० पा०

उदाहरण में उकार के बाद में स्थित 'स्वित्' का सकार षकार हो गया है, क्योंकि 'उकार के पूर्व में 'कम्' है । प्रत्युदाहरण में उकार के बाद में स्थित 'स्वित्' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि उकार के पूर्व में 'कम्' नहीं है ।

---

१ ऋ० ८।६४।८ २ ऋ० ७।९२।४ ३ ऋ० ५।२।१०
४ ऋ० ५।६१।१ ५ ऋ० ४।३।१४ ६ ऋ० ३।५६।५
७ ऋ० ८।७५।७ ८ ऋ० ८।६४।९

उ० भा०—उ षुवाणः, दिवि षन्, सूरिभिष्ष्याम्, ऋच्छन्ति ष्म, नू ष्ठिरम्, वंसु षीदति, नु ष प्र, हि ष्ठो यशसा, मही षा, वि षा, भूयामो षु, यति ष्ठन—इति च यथागृहीतानि पदानि भवन्ति। उ षुवाणः—'सोम उ षुवाणः सोतृभिः।'[1-क] दिवि षन्—"दिवि षञ्छुक्र आततः।"[2-ख] सूरिभिष्ष्याम्—"आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिष्ष्याम्।"[3-ग] ऋच्छन्ति ष्म—'ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।"[4-घ] नू ष्ठिरम्—'नू ष्ठिर मरुतो वीरवन्तम्।"[5-ङ] वंसु षीदति—"श्येनो न वंसु षीदति।"[6-च] नु ष प्र—"भसन्नु ष प्र पूर्व्यः।"[7-छ] प्र इति किम्? "प्र नू स मर्तः शवसा।"[8-ज] हि ष्ठो यशसा—'दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु।"[9-झ] यशसा इति किम्? "युवं हि स्थः स्वर्पती।"[10-ञ] मही षा "विदे हि माता महो मही षा।"[11-ट] वि षा—"वि षा होत्रा विश्वमश्नोति।"[12-ठ] भूयामो षु—"भूयामो षु त्वावतः।"[13-ड] यति ष्ठन—"विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन॥"[14-ढ]

उ० भा० अ०—उ षुवाणः, दिवि षन्, सूरिभिष्ष्याम्, ऋच्छन्ति ष्म, नू ष्ठिरम्, वंसु षीदति, नु ष प्र, हि ष्ठो यशसा, मही षा, वि षा, भूयामो षु, यति ष्ठन—इति च=ये पद भी, जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे (संहिता-पाठ में) उपलब्ध होते हैं।..... ....।

टि० (क) सोमः। ऊँ इति। सुवानः। सोतृऽभिः॥ प० पा०

(ख) दिवि। सन्। शुक्रः। आऽततः॥ प० पा०

(ग) आ। वाम्। सुम्ने। वरिमन्। सूरिऽभिः। स्याम्॥ प० पा०

(घ) ऋच्छन्ति। स्म। निऽपदः। मुद्गलानीम्॥ प० पा०

(ङ) नु। स्थिरम्। मरुतः। वीरऽवन्तम्॥ प० पा०

(च) श्येनः। न। वंसु। सीदति॥ प० पा०

(छ) भसत्। नु। स। प्र। पूर्व्यः॥ प० पा०

(ज) प्र। नु। सः। मर्तः। शवसा॥ प० पा०

'नू' ('नु') के बाद में विद्यमान सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'सः' के बाद में 'प्र' नहीं है।

(झ) दूताऽइव हि। स्थ। यशसा। जनेषु॥ प० पा०

(ञ) युवम्। हि। स्थः। स्वःपती इति स्वःऽपती॥ प० पा०

'स्थ' का सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'स्थः' के बाद में यशसा' नहीं है।

(ट) विदे। हि। माता। महः। मही। सा॥ प० पा०

(ठ) वि। सा। होत्रा। विश्वम्। अश्नोति॥ प० पा०

(ड) भूयामो इति। सु। त्वाऽवतः॥ प० पा०

(ढ) विश्वे। देवासः। मनुषः। यति। स्थन॥ प० पा०

---

[1] ऋ० ९।१०७।८ [2] ऋ० ६।२।६ [3] ऋ० ६।६३।११

[4] ऋ० १०।१०२।६ [5] ऋ० १।६४।१५ [6] ऋ० ९।५७।३

[7] ऋ० ६।१४।१ [8] ऋ० १।६४।१३ [9] ऋ० १०।१०६।२

[10] ऋ० ९।१९।२ [11] ऋ० ६।६६।३ [12] ऋ० १०।६४।१५

[13] ऋ० ४।३२।६ [14] ऋ० १०।६३।६

वाजी स्तुतो वहन्ति सीं पतिः स्यां दित्ससि स्तुतः ।
अपो सु म्यक्ष श्रुधि सु त्रिः स्म स्तुहि स्तुहीति न ॥१९॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर सकार षकार) नहीं (होता है)—'वाजी स्तुतः', 'वहन्ति सीम्', 'पतिः स्याम्', 'दित्ससि स्तुतः' 'अपो सु म्यक्ष', 'श्रुधि सु', 'त्रिः स्म' (और) 'स्तुहि स्तुहि' ।

उ० भा०—वाजी स्तुतः, वहन्ति सीम्, पतिः स्याम्, दित्ससि स्तुतः, अपो सु म्यक्ष, श्रुधि सु, त्रिः स्म, स्तुहि स्तुहि—इत्येतेषु पदेषु यथाप्राप्तं षत्वं प्रतिषिध्यते। वाजी स्तुतः—"वाजी स्तुतो विदथे दाति वाजम् ।"[१-क] वहन्ति सीम्—"वहन्ति सीमरुणासो रुशन्तः ।[२-ख] पतिः स्याम्—"अस्य पति स्यां सुगव सुवीरः ।"[३-ग] दित्ससि स्तुतः—"यद्दित्ससि स्तुतो मघम् ।" [-घ] अपो सु म्यक्ष—"अपो सु म्यक्ष वरुण ।"[५-ङ] म्यक्ष इति किम् ? "अपो षु ण इय शरुः ।"[६-च] श्रुधि सु—"इन्द्र श्रुधि सु मे हवम् ।"[७-छ] त्रिः स्म—"त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन ।"[८-ज] स्तुहि स्तुहि—"स्तुहि स्तुहीदेते घा ते ॥"[९-झ]

टि० (क) वाजा । स्तुत । विदथे । दाति । वाजम् ॥ प० पा०

(ख) वहन्ति । सीम् । अरुणास । रुशन्त ॥ प० पा०

उपर्युक्त दोनों स्थल ५।१२ के अपवाद हैं ।

(ग) अस्य । पतिः । स्याम् । सुऽगव । सुऽवीर ॥ प० पा०

५।६ का अपवाद ।

(घ) यत् । दित्ससि । स्तुत । मघम् ॥ प० पा०

५।१२ का अपवाद ।

(ङ) अपो इति । सु । म्यक्ष । वरुण ॥ प० पा०

५।५ का अपवाद ।

(च) अपो इति । सु । न । इयम् । शरु ॥ प० पा०

'सु' का सकार ५।५ से षकार हो गया है क्योंकि 'सु' के बाद में 'म्यक्ष' नही है ।

(छ) इन्द्र । श्रुधि । सु । मे । हवम् ॥ प० पा०

५।५ का अपवाद ।

(ज) त्रि । स्म । मा । अह्नः । श्नथय. । वैतसेन ॥ प० पा०

५।७ का अपवाद ।

(झ) स्तुहि । स्तुहि । इत् । एते । घ । ते ॥ प० पा०

५।१२ का अपवाद ।

---

[१] ऋ० ६।२४।२ [२] ऋ० ६।६४।३ [३] ऋ० १।११६।२५
[४] ऋ० ८।१४।४ [५] ऋ० २।२८।६ [६] ऋ० ८।६७।१५
[७] ऋ० ८।८२।६ [८] ऋ० १०।९५।५ [९] ऋ० ८।१।३०

उ० भा० अ०—वाजी स्तुतः, वहन्ति सीम्, पतिः स्याम्, दित्ससि स्तुतः, अपो सु म्यक्ष, श्रुधि सु, त्रिः स्म (और) स्तुहि स्तुहि—इन पदों में नियम से प्राप्त 'षत्व' नही होता है। ·· ······· ··········।

युग्मान्तस्थादन्तमूलीयपूर्वै-
रन्तःपदं नम्यतेऽन्तःपदस्थैः ॥२०॥

सू० अ०—समसंख्यक (युग्म, even) 'अन्तःस्था' (='र्' और 'व्') अथवा 'दन्तमूलीय' (=स्, त्, थ्, द्, ध्, न्) हैं पूर्व में जिनके तथा जो पद के मध्य में स्थित हैं (ऐसे 'नामि'-'स्वर'-वर्णों से वाद में आने वाला) सकार, (उसी) पद के मध्य में स्थित होने पर, 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् षकार हो जाता है)।

उ० भा०—युग्मान्तःस्थापूर्वैर्नामिभिरुपहित सकार =रेफवकारपूर्वैः—इत्यर्थः। दन्तमूलीयपूर्वैश्च नामिभिरुपहितः सकारो नम्यते। दन्तमूलीयाः=सकारस्तवर्गश्च। अन्तःपदम्=एकस्मिन्पदे। अन्तःपदस्थैः=पदान्तर्वर्तिभिः। युग्मान्तःस्थापूर्वैः—"त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत"[1]; "विषितस्तुका रोदसी नृमणाः।"[2] दन्तमूलीयपूर्वैः—"सुषाव सोममद्रिभिः"[3]; "सुषुवुषो मनीषाम्।"[4] "दुष्टरस्तरन्नरातीः।"[5] युग्मान्तःस्थादन्तमूलीयपूर्वैः इति किम्? "इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्।"[6] अन्तःपदम् इति किम्? "सना ज्योतिः सना स्वः।"[7] अन्तःपदस्थैः इति किम्? "पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः॥"[8]

उ० भा० अ०—युग्मान्तःस्थापूर्वैः=समसंख्यक (युग्म, even) 'अन्तःस्था' हैं पूर्व में जिनके ऐसे, 'नामि' (-'स्वर'-वर्णो) से वाद में आने वाला सकार=रेफ और वकार हैं है पूर्व में जिनके ऐसे ('नामि'-'स्वर'-वर्णो) से वाद में आने वाला सकार—यह अर्थ है। दन्तमूलीयपूर्वैः='दन्तमूलीय' हैं पूर्व में जिनके ऐसे; 'नामि' (-'स्वर'-वर्णो) से वाद में आने वाला भी सकार; नम्यते='मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है। दन्तमूलीय=सकार और तवर्ग[क]। अन्तःपदम्=एक पद (के मध्य) में। अन्तःपदस्थैः=पद के मध्य में वर्तमान (अर्थात् 'नामि'-'स्वर'-वर्ण के वाद में स्थित सकार षकार हो जाता है यदि (१) 'नामि'–'स्वर'–वर्ण के पूर्व में र्, व्, स्, त्, थ्, द्, ध्, न्—इनमें से कोई भी एक वर्ण हो, (२) 'नामि'–'स्वर'–वर्ण पद के मध्य में विद्यमान हो और (३) 'नम्य' सकार

टि० (क) यद्यपि 'सकाररेफलकाराश्च' (१।४५) के अनुसार रेफ और लकार भी 'दन्तमूलीय' है तथापि भाष्यकार ने 'दन्तमूलीय' की व्याख्या में इनका अन्तर्भाव नही किया है क्योकि इस सूत्र में 'अन्तःस्था' का पृथक् उल्लेख किया गया है।

---

[1] ऋ० १।१६४।२३ [2] ऋ० १।१६७।५ [3] ऋ० ९।१०७।१
[4] ऋ० १०।९४।१४ [5] ऋ० ३।२४।१ [6] ऋ० ६।६१।२
[7] ऋ० ९।४।२ [8] ऋ० ६।२२।४

भी उसी पद के मध्य में स्थित हो) । समसंख्यक (युग्म, even) अन्तःस्था है पूर्व में जिनके—"त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभ निरतक्षत"क, 'विषितस्तुका रोदसी नृमणाः ।"ख दन्तमूलीय है पूर्व में जिनके—"सुषाव सोममद्रिभि"ग "सुषुवुषो मनीषाम्"घ, 'दुष्टरस्तरन्नराती ।"ङ "समसंख्यक ('अन्तःस्था') और 'दन्तमूलीय' है पूर्व में जिनके"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "इय शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्"च "पद के मध्य में (स्थित सकार)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सना ज्योतिः सना स्व ।"छ "पद के मध्य में स्थित ('नामि' 'स्वर'-वर्णों) से (बाद में आने वाला)"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्न ।"ज

टि० (क) त्रैस्तुभात् । वा । त्रैस्तुभम् । निः अतक्षत ॥ प० पा०

पद के मध्य में वर्तमान सकार षकार हो गया है क्योकि (१) इस सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'-'स्वर'-वर्ण ऐकार है (२) जिसके पूर्व में रेफ है तथा (३) जो उसी पद के मध्य में वर्तमान है ।

(ख) विसितऽस्तुका । रोदसी । नृऽमना ॥ प० पा०

पद के मध्य में वर्तमान सकार षकार हो गया है क्योकि (१) इस सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'-'स्वर'-वर्ण इकार है (२) जिसके पूर्व में वकार है तथा (३) जो उसी पद के मध्य में वर्तमान है ।

(ग) सुसाव । सोमम् । अद्रिऽभि. ॥ प० पा०

(घ) सुसुऽवुष । मनीषाम् ॥ प० पा०

(ङ) दुस्तर । तरन् । अराती ॥ प० पा०

उपर्युक्त तीनो उदाहरणो में पद के मध्य में वर्तमान सकार षकार हो गया है क्योकि (१) सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'-'स्वर'-वर्ण उकार है (२) जिसके पूर्व में 'दन्तमूलीय' (क्रमश स्, स् और द्) है तथा (३) जो उसी पद के मध्य में वर्तमान है।

(च) इयम् । शुष्मेभि । बिसखाऽइव । अरुजत् ॥ प० पा०

'बिसखा' का सकार पद के मध्य में है। पूर्ववर्ती 'नामि'-'स्वर'-वर्ण (इकार) भी उसी पद के मध्य में वर्तमान है तथापि सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'नामि'-'स्वर'-वर्ण के पूर्व में बकार है जो न तो समसंख्यक (युग्म, even) 'अन्त स्था' है और न 'दन्तमूलीय' है ।

(छ) सन । ज्योति. । सन । स्व ॥ प० पा०

'सन' के सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'-'स्वर'-वर्ण (इकार) विद्यमान है जिसके पूर्व में 'दन्तमूलीय' (तकार) है, तथापि यह सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि यह पद के मध्य में नही अपितु पद के आदि में विद्यमान है ।

(ज) पुरुऽहूत । पुरुवसो इति पुरुऽवसो । असुरऽघ्न ॥ प० पा०

सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'-'स्वर'-वर्ण ओकार विद्यमान है जिसके पूर्व में 'दन्तमूलीय' (सकार) वर्तमान है तथापि यह सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि 'नामि'-'स्वर'-वर्ण ओकार पद के मध्य में नहीं, अपितु पद के अन्त में विद्यमान है ।

अन्यपूर्वैरपि पद्यादिभाक्सन् ॥२१॥

सू० अ०—(युग्म 'अन्तःस्था' और 'दन्तमूलीय' से) अन्य भी (वर्ण) हैं पूर्व में जिनके ऐसे ('नामि'-'स्वर'-वर्णों से बाद में स्थित सकार) 'पद्य' के आदि में होने पर (षकार हो जाता है)।

उ० भा०—अन्यपूर्वैरपि नामिभिरुपहितः सकारो नम्यते। युग्मान्तःस्थादन्तमूलीयपूर्वैरित्यपिशब्दः। (पद्यादिभाक्सन्=) पद्यादिं भजते यदि। अन्यपूर्वैः—"चमूषच्छ्येनः शकुनः"[1]; "ये त्वा मृजन्त्यृषिषाण वेधसः।"[2] युग्मान्तःस्थादन्तमूलीयपूर्वैः—"इन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः"[3]; "स संस्तिरो विष्टिरः सं गृभायति"[4]; "वेदिषदे प्रियधामाय॥"[5]

उ० भा० अ०—अन्यपूर्वैरपि=(युग्म 'अन्त स्था' और 'दन्तमूलीय' से) अन्य भी (वर्ण) है पूर्व में जिनके ऐसे; 'नामि' (-'स्वर'-वर्णों) से बाद मे स्थित सकार षकार हो जाता है। (सूत्र में उल्लिखित) अपि—शब्द (यह बतलाता है कि) युग्म 'अन्त स्था' और 'दन्तमूलीय' है पूर्व में जिनके ऐसे भी ('नामि'-'स्वर'-वर्णों से बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है)। (पद्यादिभाक्सन्=) यदि (सकार) 'पद्य' के आदि मे होवे। (अर्थात् 'पद्य' के आदि में स्थित सकार षकार हो जाता है चाहे पूर्ववर्ती 'नामि'-'स्वर' के पूर्व में कोई भी 'व्यञ्जन' हो) अन्य पूर्व में होने पर—"चमूषच्छ्येन. शकुन."[क]; "ये त्वा मृजन्त्यृषिाण वेधस ।"[ख] युग्म 'अन्तःस्था' और 'दन्तमूलीय' पूर्व में होने पर —"इन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्न"[ग]; "स सस्तिरो विष्टिर. स गृभायति"[घ], "वेदिषदे प्रियधामाय।"[ङ]

टि० (क) चमूऽसत्। श्येनः। शकुन ॥ प० पा०

'पद्य' के आदि में वर्तमान सकार षकार हो गया है यद्यपि सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि' 'स्वर'—वर्ण (ऊकार) है जिसके पूर्व में मकार है जो न तो युग्म 'अन्त स्था' है और न 'दन्तमूलीय' है।

(ख) ये। त्वा। मृजन्ति। ऋषिऽसान। वेधस ॥ प० पा०

'पद्य' के आदि में वर्तमान सकार षकार हो गया है यद्यपि सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'—'स्वर'—वर्ण (इकार) है जिसके पूर्व में षकार है जो न तो युग्म 'अन्त स्था' है और न 'दन्तमूलीय' है।

(ग) इन्द्रस्य। त्रिऽस्तुप्। इह। भाग। अह्न. ॥ प० पा०

(घ) स.। सम्ऽस्तिर। विऽस्तिर। सम्। गृभायति ॥ प० पा०

(ङ) वेदिऽसदे। प्रियऽधामाय ॥ प० पा०

उपर्युक्त तीनो उदाहरणों में 'पद्य' के आदि में वर्तमान सकार षकार हो गया है क्योकि सकार के पूर्व में ऐसा 'नामि'—'स्वर'—वर्ण (इकार) है जिसके पूर्व में यथाक्रम युग्म 'अन्त स्था' (रेफ, वकार) और 'दन्तमूलीय' (दकार) है।

---

[1] ऋ० ९।९६।१९ [2] ऋ० ९।८६।४ [3] ऋ० १०।१३०।५

[4] ऋ० ११४०।७ [5] ऋ० ११४०।१

एकाररेफपृतनोपधश्च ॥२२॥

सू० अ०—एकार, रेफ अथवा 'पृतना' (शब्द) पूर्व में हो तो ('पद्य' के आदि में वर्तमान सकार षकार हो जाता है)।

उ० भा०—(एकाररेफपृतनोपधः=) एकारोपधो रेफोपधः पृतनोपधः। चशब्दादम्यते पद्यादि सकारः। एकारोपधः—"धियो रयेष्ठामजरं नवीयः।"[१-क] रेफोपधः—"स्वर्षामप्सां वृजनस्य।"[२-ख] पृतनोपधः—"पृतनाषाह्याय च॥[३-ग]

उ० भा० अ०—(एकाररेफपृतनोपधः=) एकार पूर्व में हो, (अथवा) रेफ पूर्व में हो, (अथवा) पृतना' (शब्द) पूर्व में हो तो। (सूत्र में उल्लिखित) च-शब्द से (प्राप्त होता है कि) 'पद्य' के आदि में वर्तमान सकार षकार हो जाता है (अर्थात् सकार षकार हो जाता है यदि (१) सकार 'पद्य' के आदि में हो और (२) सकार के पूर्व में एकार, रेफ या 'पृतना' शब्द वर्तमान हो)। ···· ।

रेफर्कारर्कारपरः प्रकृत्या ॥२३॥

सू० अ०—रेफ, ऋकार या ॠकार बाद में हो तो (सकार) 'प्रकृतिभाव' से (=अविकृत) (रहता है)।

उ० भा०—इदानीमपवादः। (रेफर्कारर्कारपरः=) रेफपर ऋकारपर ॠकारपरश्च; सकारः प्रकृत्या भवति। रेफपरः—"पुनाति ते परिस्रुतम्।"[४-घ] ऋकारपरः—"इन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः।"[५-ङ] ॠकारपरः—"तिसृणां सप्ततीनाम्॥[६-च]

उ० भा० अ०—अब अपवाद (कहे जाते हैं)। (रेफर्कारर्कारपरः=) रेफ बाद में हो, ऋकार बाद में हो अथवा ॠकार बाद में हो तो; सकारः प्रकृत्या='प्रकृतिभाव' से (=अविकृत); रहता है (अर्थात् रेफ, ऋकार या ॠकार बाद में हो तो सकार षकार नहीं होता है)।

टि० (क) धियः। रयेऽस्थाम्। अजरम्। नवीयः॥ प० पा०

(ख) स्वःऽसाम्। अप्ऽसाम्। वृजनस्य॥ प० पा०

(ग) पृतनाऽसह्याय। च॥ प० पा०

(घ) पुनाति। ते। परिऽस्रुतम्॥ प० पा०

(ङ) इन्द्रस्य। यन्तु। प्रऽसवे। विऽसृष्टाः॥ प० पा०
ये दोनो उदाहरण ५।२१ के अपवाद हैं।

(च) तिसृणाम्। सप्ततीनाम्॥ प० पा०
५।२० का अपवाद।

---

१ ऋ० ६।२१।१ २ ऋ० १।९१।२१ ३ ऋ० ३।३७।१
४ ऋ० ९।१।६ ५ ऋ० ८।१००।१२ ६ ऋ० ८।१९।३७

संस्पृक्स्वृ सर्स्वरिति चाक्षराणाम् ॥२४॥

सू० अ०—'सम्', 'स्पृक्', 'स्वृ', 'सर्' और 'स्वर्'—इन अक्षरों (=एकाक्षर-घटित पदों) का भी (सकार 'प्रकृतिभाव' से रहता है)।

उ० भा०—सम्, स्पृक्, सर्, स्वर्—एतेषां चाक्षाराणां सकाराः प्रकृत्या भवन्ति पद्यादावपद्यादौ च सताम्। सम्—"सुसमिद्धो न आ वह।"[१] स्पृक्—"दिविस्पृग्यात्यरुणानि।"[२] स्वृ—"ते देवाः परिस्वृतेष्वेषु लोकेषु।"[३] शाङ्खायनब्राह्मणमेतत्। ननु नैवैतदुदाहरणम्, ब्राह्मणं ह्येतत्। न च ब्राह्मणस्याप्युदाहरणं श्रुतं प्लुतत्रयविधानात्। एवं तर्हि यथोदकाहारस्य मत्स्याहरणं पुष्पाहारस्य फलाहरणमविरुद्धमेवमेतदपि। सर्—"विसर्माणं कृणुहि।"[४] स्वर्—"मेधं विप्रा अभिस्वरा॥"[५]

उ० भा० अ०—सम्, स्पृक्, स्वृ, सर्—चाक्षराणाम्=इन अक्षरों के भी; सकार 'प्रकृतिभाव' से (=अविकृत) रहते हैं, चाहे वे (सकार) 'पद्य' के आदि में हों या 'पद्य' के आदि में न हों। सम्—"सुसमिद्धो न आ वह।"[क] स्पृक्—"दिविस्पृग्यात्यरुणानि।"[ख] स्वृ—"ते देवाः परिस्वृतेष्वेषु लोकेषु।"[ग] यह शाङ्खायन-ब्राह्मण (का उदाहरण है)। (शङ्का) यह उदाहरण नहीं हो सकता है, क्योंकि यह ब्राह्मण है। और ब्राह्मण का उदाहरण नहीं दिया जा सकता है क्योंकि तीन प्लुतों का विधान हुआ है।[घ] (समाधान) ठीक है किंतु जल लाने के साथ-साथ मछली लाने में और पुष्प लाने के साथ-साथ फल लाने में जिस प्रकार कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार यहाँ भी (संहिता के

टि० (क) सुऽसमिद्धः। न। आ। वह॥ प० पा०

(ख) दिविऽस्पृक्। याति। अरुणानि॥ प० पा०

उपर्युक्त दोनों उदाहरण ५।२१ के अपवाद हैं।

(ग) ५।२१ का अपवाद

(घ) इस प्रातिशाख्य-ग्रन्थ में केवल ऋग्वेद-संहिता को ही दृष्टि में रखा गया है, ब्राह्मण-ग्रन्थों को नहीं। उदाहरण के लिए १।३१ में यह कहा गया है कि केवल तीन ही 'प्लुत' हैं। प्लुतों की यह संख्या ऋग्वेद-संहिता को ही दृष्टि में रखकर कही गई है क्योंकि ऋग्वेद-संहिता में ही तीन 'प्लुत' हैं। यदि सूत्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों को दृष्टि में रखते तो प्लुतों की संख्या तीन न बतलाते क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो प्लुतों की संख्या बहुत अधिक है। इससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार ने ऋग्वेद-संहिता को ही दृष्टि में रखकर प्रातिशाख्य के सूत्रों की रचना की है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भाष्यकार ने जो ब्राह्मण-ग्रन्थ का उदाहरण दिया है वह युक्त नहीं है। भाष्यकार ने इस शङ्का का समाधान भाष्य में कर दिया है।

---

[१] ऋ० १।१३।१ [२] ऋ० १०।१६८।१ [३] कौ० ब्रा० ८।८
[४] ऋ० ५।४२।९ [५] ऋ० ८।९७।१२

साथ-साथ कहीं ब्राह्मण का उदाहरण देने में भी कोई विरोध नहीं है)। सर्—"विसर्माण कृणुहि।"[क] स्वर्—"मेष विप्रा अभिस्वरा।"[ख]

सेति चास्य परिपन्नोपधा चेत् ॥२५॥

सू० अ०—मकार के स्थान पर आने वाले 'अनुस्वार' ('परिपन्न'; देखिए ४।१५) के अव्यवहित पूर्व में स्थित 'स' इस ('अक्षर') का (सकार अविकृत रहता है)।

उ० भा०—स; इति=इत्थंभूतस्य; (चास्य=) चाक्षरस्य; आदिसकारः प्रकृत्या भवति। (चेत्=) यदि; तदक्षरं सकारादि, (परिपन्नोपधा=) अनुस्वारस्योपधाभूतम्; स्यात्। "सुसंसन्मित्रो अतिथिः शिवो न."[१] परिपन्नोपधा चेत् इति किम्? "नि षदा पीतये मधु॥"[२]

उ० भा० अ०—स इति='स' इस प्रकार के, (चास्य=) 'अक्षर' का भी; आदिभूत सकार 'प्रकृतिभाव' से (=अविकृत) रहता है। (चेत्=) यदि, सकार से प्रारम्भ होने वाला वह 'अक्षर', (परिपन्नोपधा=) 'अनुस्वार' के पूर्व में होवे (अर्थात् 'अनुस्वार' के अव्यवहित पूर्व में स्थित सकार षकार नहीं होता है)। (उदाहरण) "सुससन्मित्रो अतिथि शिवो न।"[ग] "यदि 'अनुस्वार' ('परिपन्न') के पूर्व में हो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "नि षदा पीतये मधु।"[घ]

संयोगस्य चाप्यनुनासिकादेः ॥२६॥

सू० अ०—'अनुनासिक' (-वर्ण) से प्रारम्भ होने वाले संयुक्त 'व्यञ्जन' (='संयोग') के भी (पूर्व में स्थित 'स' 'अक्षर' सकार अविकृत रहता है)।

उ० भा०—संयोगस्य चापि। कथंभूतस्य? (अनुनासिकादेः=) अनुनासिको वर्ण आदिभूतो यस्य तस्य। यः सकारलक्षणोऽक्षरविशेष उपधाभूतः स प्रकृत्या भवति। "सुसन्दृशं सुप्रतीकम्।"[३] "सुसङ्काशा मातृमृष्टेव।"[४] संयोगस्य इति किम्? "अभिस्वरा निषदा गाः।"[५] अनुनासिकादेः इति किम्? "यच्च गोषु दुष्वप्न्यम्॥"[६]

टि० (क) वि॒ऽसर्माणम्। कृणुहि॥ प० पा०

(ख) मेषम्। विप्रा.। अभिऽस्वरा॥ प० पा०

ये दोनों उदाहरण ५।२१ के अपवाद हैं।

(ग) सुऽससत्। मित्र.। अतिथि.। शिव। न.॥ प० पा०

यह ५।२१ का अपवाद है। 'सु' के बाद में विद्यमान सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि इस सकार के बाद में मकार के स्थान पर आने वाला 'अनुस्वार' विद्यमान है।

(घ) नि। सद। पीतये। मधु॥ प० पा०

यहाँ सकार ५।१४ से षकार हो गया है क्योंकि सकार के बाद में 'अनुस्वार' न होकर दकार है।

---

१ ऋ० ७।९।३ २ ऋ० ८।९७।८ ३ ऋ० ७।१०।३
४ ऋ० १।१२३।११ ५ ऋ० २।२१।५ ६ ऋ० ८।४७।१४

उ० भा० अ०—**संयोगस्य चापि**=सयुक्त 'व्यञ्जन' ('सयोग') का भी। कैसे ('संयोग') का? (**अनुनासिकादेः**=) 'अनुनासिक' (-वर्ण) हैं आदि में जिसके उस ('सयोग') का; अव्यवहित पूर्ववर्ती (उपधाभूत) जो सकाररूप 'अक्षर'-विशेष है वह 'प्रकृतिभाव' से (=अविकृत) रहता है (अर्थात् 'अनुनासिक' से प्रारम्भ होने वाले संयुक्त 'व्यञ्जन' के पूर्व में स्थित 'स' का सकार षकार नही होता है)। (उदाहरण) "सुसन्दृशं सुप्रतीकम्"[क]; "सुसङ्काशा मातृमृष्टेव।"[ख] "संयुक्त 'व्यञ्जन' (='सयोग') के (पूर्व में स्थित"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "अभिस्वरा निषदा गा.।"[ग] "'अनुनासिक' (-वर्ण) से प्रारम्भ होने वाले ('सयोग' के)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "यच्च गोषु दुष्ष्वप्न्यम्।[घ]

टि० (क) सुऽसन्दृशम्। सुऽप्रतीकम्॥ प० पा०

यह ५।२१ का अपवाद है। यहाँ 'सु' के बाद में स्थित सकार षकार नही हुआ है क्योकि इस सकार के बाद में 'अनुनासिक'-वर्ण (=नकार) से प्रारम्भ होने वाला सयुक्त 'व्यञ्जन' ('सयोग') है।

(ख) सुऽसङ्काशा। मातृमृष्टाऽइव॥ प० पा०

यह भी ५।२१ का अपवाद है। यहाँ 'सु' के बाद में स्थित सकार षकार नही हुआ है क्योकि इस सकार के बाद में 'अनुनासिक'-वर्ण (=ङकार) से प्रारम्भ होने वाला सयुक्त 'व्यञ्जन' ('सयोग') है।

(ग) अभिऽस्वरा। निऽसदा। गा.॥ प० पा०

भाष्यकार का यह प्रत्युदाहरण ठीक नही है क्योंकि यहाँ 'स' के बाद में 'अनुनासिक'-वर्ण है ही नही। यही कारण है कि एक हस्तलेख में इस प्रत्युदाहरण को अशुद्ध ठहराकर किनारे पर यह शुद्ध प्रत्युदाहरण दिया गया है—"उत नो गोषणि वियम्।" (ऋ० ६।५३।१०)

उत। नः। गोऽसनिम्। वियम्॥ प० पा०

यहाँ सकार ५।२१ से षकार हो गया है क्योकि बाद में स्थित 'अनुनासिक' वर्ण (=नकार) सयुक्त 'व्यञ्जन' (सयोग) के आदि में विद्यमान नहीं है। यहाँ संयुक्त 'व्यञ्जन' ('सयोग') है ही नही।

(घ) यत्। च। गोषु। दुःऽस्वप्न्यम्॥ प० पा०

भाष्यकार का यह प्रत्युदाहरण भी ठीक नही है क्योकि यहाँ 'स' 'अक्षर' ही नही है। यही कारण है कि उपर्युक्त हस्तलेख में इस प्रत्युदाहरण को अशुद्ध ठहराकर किनारे पर यह शुद्ध प्रत्युदाहरण दिया गया है—"परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः।" (ऋ० ७।४।७)

परिऽसद्यम्। हि। अरणस्य। रेक्ण.॥ प० पा०

यहाँ सकार ५।२१ से षकार हो गया है क्योंकि सकार के बाद में विद्यमान सयुक्त 'व्यञ्जन' ('सयोग') 'अनुनासिक' वर्ण से प्रारम्भ नही होता है।

सहस्रं सनिता स्थात्रां सावित्रं सूवरी स्नुषे ।
समुद्रं सदृशा सारे सायकः साधनी सह ॥
सनित स्पष्टः सदृशः सखायं
सप्तैरेते सानुशब्दश्च पद्याः ॥२७॥

सू० अ०—'सहस्रम्', 'सनिता', 'स्थात्राम्', 'सावित्रम्', 'सूवरी', 'स्नुषे', 'समुद्रम्', 'सदृशा', 'सारे', 'सायकः', 'साधनी,' 'सह', 'सनितः', 'स्पष्टः', 'सदृशः', 'सखायम्', 'सप्तैः'—ये (पद) और 'सानु' शब्द (ये सब) 'पद्य' होने पर ('प्रकृति-भाव' से रहते हैं अर्थात् इनका सकार षकार नहीं होता है) ।

उ० भा०—सहस्रम्, सनिता, स्थात्राम्, सावित्रम्, सूवरी, स्नुषे, समुद्रम्, सदृशा, सारे, सायकः, साधनी, सह, सनितः, स्पष्टः, सदृशः, सखायम्, सप्तैः—एते पद्याः सानुशब्दश्च सप्रवादः प्रकृत्या भवन्ति । सहस्रम्—"चतुःसहस्रं गव्यस्य ॥"[१-क] सनिता—"सनेम तत्सुसनिता सनित्वभिः ।"[२-ख] स्थात्राम्—"भूरिस्थात्रा भूर्यावेशयन्तीम् ।"[३-ग] सावित्रम्—"सुसावित्रमसाविषत्"[४-घ] इति प्रैषकवेशः । सूवरी—"सुषूमा बहुसूवरी ।"[५-ङ] स्नुषे—"सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।"[६-च] समुद्रम्—"चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम् ।"[७-छ] सदृशा—"विसदृशा जीविताभिप्रचक्षे ।"[८-ज] सारे—"हिरण्यकेशो रजसो विसारे ।"[९-झ] सायकः—"धृष्णी सुशिप्रो हरिमन्यु सायकः ।"[१०-ञ] साधनी—

टि० (क) चतु ऽसहस्रम् । गव्यस्य ॥ प० पा०

(ख) सनेम । तत् । सुऽसनिता । सनित्वऽभि ॥ प० पा०

(ग) भूरिऽस्थात्राम् । भूरि । आऽवेशयन्तीम् ॥ प० पा०

(घ) यह प्रैष का एक भाग है । पूरा प्रैष यह है—"होता यक्षद्देव सवितार परामीवा साविषत् परावशस सुसावित्रमसाविषत्तदस्मै सुन्वते यजमानाय करदेव देव, सविता जुषता मन्दता वेतु पिबतु सोम होतर्यज ।"

(ङ) सुऽसूमा । बहुऽसूवरी ॥ प पा०

(च) सुऽपुत्रे । आत् । ऊँ इति । सुऽस्नुषे ॥ प० पा०

(छ) चतु ऽसमुद्रम् । धरुणम् । रयीणाम् ॥ प० पा०

(ज) विऽसदृशा । जीविता । अभिऽप्रचक्षे ॥ प० पा०

(झ) हिरण्यऽकेशः । रजस । विऽसारे ॥ प० पा०

(ञ) धृष्णी । सुऽशिप्र । हरिमन्युऽसायक ॥ प० पा०

---

१ ऋ० ५।३०।१५
२ ऋ० १०।३६।९
३ ऋ० १०।१२५।३
४ प्रै० पृ० १४७
५ ऋ० २।३२।७
६ ऋ० १०।८६।१३
७ ऋ० १०।४७।२
८ ऋ० १।११३।६
९ ऋ० १।७९।१
१० ऋ० १०।९६।३

"आघृणे पशुसाधनी।"[१-क] सह—"यथा वः सुसहासति।"[२-ख] सनितः—"सनितः सुसनितरुग्र।"[३-ग] स्पष्टः—"अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य।"[४-घ] सदृशः—"यमाइव सुसदृशः सुपेशसः।"[५-ङ] सखायम्—"तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्।"[६-च] सप्तैः—"त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः।"[७-छ] सानुशब्दः—"पृदाकुसानुर्यजतो गवेषणः।"[८-ज] "इदा हि त उषो अद्रिसानो।"[९-झ]

उ० भा० अ०—सहस्रम्, सनिता, स्थात्राम्, सावित्रम्, सूवरी, स्तुषे, समुद्रम्, सदृशा, सारे, सायकः, साधनी, सह, सनितः, स्पष्टः, सदृशः सखायम्, सप्तैः—एते पद्याः=ये 'पद्य' होने पर, सानुशब्दश्च=और 'सानु' शब्द के सभी रूप, 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं (अर्थात् इनका सकार षकार नहीं होता है)। .... ।

सुते सोमे वक्षणेऽप्रामि चर्षणि
स्वभिष्टीत्येवमुपधाश्च सर्वे ॥२८॥

सू० अ०—'सुते', 'सोमे', 'वक्षणे', 'अप्रामि', 'चर्षणि', 'स्वभिष्टि'–इनके बाद में वर्तमान सभी (सकार अविकृत रहते हैं, यदि वे 'पद्य' के आदि में हों)।

उ० भा० –सुते, सोमे, वक्षणे, अप्रामि, चर्षणि, स्वभिष्टि (इत्येवमुपधाः) इत्येवं-शब्दोपधाभूताः; सर्वे एव पद्यादिसकाराः प्रकृत्या भवन्ति। सुते—"सुतेसुते न्योकसे।"[१०-ञ]

टि० (क) आघृणे। पशुऽसाधनी ॥ प० पा०

(ख) यथा। व। सुऽसह। असति ॥ प० पा०

(ग) सनितरिति। सुऽसनित। उग्र ॥ प० पा०

(घ) अनुऽस्पष्ट। भवति। एष। अस्य ॥ प० पा०

(ङ) यमाऽइव। सुऽसदृश.। सुऽपेशस ॥ प० पा०

(च) तीव्रम्। सोमम्। पिबति। गोऽसखायम् ॥ प० पा०

(छ) त्रिऽसप्तै। शूर। सत्वऽभि. ॥ प० पा०

(ज) पृदाकुऽसानु। यजत। गोऽएषण. ॥ प० पा०

(झ) इदा। हि। ते। उष। अद्रिसानो इत्यद्रिऽसानो ॥ प० पा०

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में 'पद्य' के आदि में स्थित सकार षकार नहीं हुआ है। ये सभी स्थल ५।२१ के अपवाद हैं।

(ञ) सुतेऽसुते। निऽओकसे ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ६।५३।९
[२] ऋ० १०।१९१।४
[३] ऋ० ८।४६।२०
[४] ऋ० १०।१६०।४
[५] ऋ० ५।५७।४
[६] ऋ० ५।३७।४
[७] ऋ० १।१३३।६
[८] ऋ० ८।१७।१५
[९] ऋ० ६।६५।५
[१०] ऋ० १।९।१०

सोमे —"पत्सोमेसोम आभवः ।"[१-क] वक्षणे—"सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः ।"[२-ख] अप्रामि—"अप्रामिसत्य मघवन् ।"[३-ग] चर्षणि "हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहम् ।"[४-घ] स्वभिष्टि—"तूतुजिमिन्द्रः स्वभिष्टिसुम्न ॥"[५-ङ]

उ० भा० अ०—सुते, सोमे, अप्रामि, चर्षणि, स्वभिष्टि—(इत्येवनुपधाः=) ये शब्द पूर्व में हो तो; सर्वे=सभी; 'पद्य' के आदि में वर्तमान सकार 'प्रकृतिभाव' से (=अविकृत) रहते हैं (अर्थात् सकार षकार हो जाता है यदि वह (१) सूत्रोक्त पदों के बाद में हो और (२) 'पद्य' का आदि हो) ।......... ।

अभिसत्वा रयिस्थानो यासिसीष्ठाः सिसक्षि च ।
तिस्तिरे तिस्तिराणा च सिसिचे सिसिचुश्च न ॥२६॥

सू० अ०—अभिसत्वा', रयिस्थानः', 'यासिसीष्ठाः', 'सिसक्षि'. 'तिस्तिरे', 'तिस्तिराणा', 'सिसिचे' और 'सिसिचुः'—(इन पदों में मूर्धन्यभाव') नहीं (होता है) ।

उ० भा०—चकार समुच्चयार्थीयः । एतेषु यथाप्राप्तं षत्वं प्रतिषिध्यते । अभिसत्वा—"अभिवीरो अभिसत्वा सहोजाः ।"[६-च] रयिस्थानः—"रयिस्थानो रयिमस्मासु धेहि ।"[७-छ] यासिसीष्ठाः—"देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः ।"[८-ज] सिसक्षि—"छायेव विश्वं भुवनं सिसक्षि ।"[९-झ] तिस्तिरे—"तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।"[१०-ञ] तिस्तिराणा—"स्तनुषा

टि० (क) यत् । सोमेऽसोमे । आ । अभवः ॥ प० पा०
(ख) सुऽसंशिताः । वक्ष्य. । वक्षणेऽस्थाः ॥ प० पा०
उपर्युक्त तीनों स्थल ५।२२ के अपवाद हैं ।
(ग) अप्रामिऽसत्य । मघऽवन् ॥ प० पा०
(घ) हरिऽअश्वम् । सत्ऽपतिम् । चर्षणिऽसहम् ॥ प० पा०
(ङ) तूतुजिम् । इन्द्र. । स्वभिष्टिऽसुम्नः ॥ प० पा०
उपर्युक्त तीनो स्थल ५।२१ के अपवाद हैं ।
(च) अभिऽवीर. । अभिऽसत्वा । सहःऽजा. ॥ प० पा०
(छ) रयिऽस्थान. । रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ प० पा०
उपर्युक्त दोनो स्थल ५।२१ के अपवाद हैं ।
(ज) देवस्य । हेळ । अव । यासिसीष्ठाः ॥ प० पा०
(झ) छायाऽइव । विश्वम् । भुवनम् । सिसक्षि ॥ प० पा०
(ञ) तिस्तिरे । बर्हि. । आनुषक् ॥ प० पा०

१ ऋ० ८।९३।१७
२ ऋ० ८।६१।४
३ ऋ० ६।२०।८
४ ऋ० ३।४३।३
५ ऋ० १।५३।८
६ ऋ० ५।१९।५
७ ऋ० ८।२१।१०
८ ऋ० १०।१०३।५
९ ऋ० ४।१।४
१० ऋ० ३।४१।२

बर्हिरु तिस्तिराणा ।"[१-क] सिसिचे—"सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ।"[२-ख] सिसिचुः—"बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥"[३-ग]

उ० भा० अ०—(सूत्र में उल्लिखित) चकार समुच्चय के लिए है। इन (पदों में) साधारण नियम से प्राप्त 'षत्व' का निषेध किया जाता है।··· · ··· ·····।

गोष्ठादिव गोषतमा उपष्टुत्सप्रवादो नार्षदः पर्यषस्वजत् ।
स्वादुषंसदः पुरुषन्तिशब्दः सुषंसदं सुषमिधानुसेषिधत् ॥२०॥

सू० अ०—(अधोलिखित पदों में सकार निपातन से षकार होता है) 'गोष्ठादिव', 'गोषतमाः', 'उपष्टुत्', 'नार्षद्' शब्द के सभी रूप, 'पर्यषस्वजत्', स्वादुषंसदः', 'पुरुषन्ति' शब्द के सभी रूप, 'सुषमिधा' (और) 'अनुसेषिधत्' ।

उ० भा०—एतेषु पदेषु षत्वं निपात्यते। गोष्ठादिव—"गावो गोष्ठादिवेरते ।"[४] गोषतमाः—"दिवि ष्याम पार्ये गोषतमा ।"[५] उपष्टुत्—"शिक्षा शचीवस्तव ता उपष्टुत् ।"[६] सप्रवादो नार्षदः=सर्वविभक्त्यन्तः—"यज्ञार्षदाय श्रव."[७]; "पुरू सदन्तो नार्षदम् ॥"[८] पर्यषस्वजत्—"यं तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत् ।"[९] स्वादुषंसदः—"स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः"[१०]—"सेति चास्य परिपन्नोपधा चेत्"[११]—इत्यस्य निषेधस्य प्रतिप्रसवः। पुरुषन्ति-शब्दः सर्वविभक्त्यन्तः—"याभिर्ध्वसन्ति पुरुषन्तिमावतम्"[१२]; "ध्वस्रयोः पुरुषन्त्यो"[१३]—"संयोगस्य चाप्यननुनासिकादेः"[१४]—इत्यस्य निषेधस्य प्रतिप्रसवः। सुषंसदम्—"परिप्रयन्तं वय्यं सुषंसदम्[१५]—"सेति चास्य परिपन्नोपधा चेत्"[१६]—इत्यस्य निषेधस्य प्रतिप्रसवः। सुषमिधा—"अग्ने भव सुषमिधा"[१७]—"समित्यक्षरनिषेधस्य प्रतिप्रसवः।" अनुसेषिधत्—पद्मादेः सकारस्य षत्वे प्राप्ते परस्य षत्वं निपात्यते—"षड् युक्तां अनुसेषिधत् ।"[१८] गोष्ठादिवेत्यादिषञ्चस्वप्राप्ते षत्वे वचनम् ॥

उ० भा० अ०—इन पदों में 'षत्व' निपातन से होता है। गोष्ठादिव—'गावो

टि० (क) यतऽस्रुचा । बर्हिः । ऊँ इति । तिस्तिराणा ॥ प० पा०
(ख) सेक्ताऽइव । कोशम् । सिसिचे । पिबध्यै ॥ प० पा०
(ग) बहु । साकम् । सिसिचुः । उत्सम् । उद्रिणम् ॥ प० पा०
उपर्युक्त सभी स्थल ५।२० के अपवाद हैं।

---

[१] ऋ० १।१०८।४
[२] ऋ० ३।३२।१५
[३] ऋ० २।२४।४
[४] ऋ० १०।९७।८
[५] ऋ० ६।३३।५
[६] ऋ० ९।८७।९
[७] ऋ० १।११७।८
[८] ऋ० १०।६१।१३
[९] ऋ० १।१८२।७
[१०] ऋ० ६।७५।९
[११] ५।२५
[१२] ऋ० १।११२।२३
[१३] ऋ० ९।५८।३
[१४] ५।२६
[१५] ऋ० ९।६८।८
[१६] ५।२५
[१७] ऋ० ७।१७।१
[१८] ऋ० १।२३।१५

गोष्ठादिवेरते।"[क] **गोषतमाः**—"दिवि श्याम पार्ये गोषतमा।"[ख] **उपष्टुत्**—"शिक्षा शचीवस्तव ता उपष्टुत्।"[ग] **प्रवाहसहित नार्षद**=सभी विभक्तियों में अन्त होने वाला ('नार्षद') - 'यन्नार्षदाय श्रव"[घ], "पुरू सदन्तो नार्षदम्।"[ङ] **पर्यषस्वजत्**—"य तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत्।"[च] **स्वादुषंसदः**—"स्वादुषसद. पितरो वयोधा"[छ]—"मकार के स्थान पर आने वाले 'अनुस्वार' के अव्यवहित पूर्व में स्थित 'स' ('अक्षर') का (सकार षकार नहीं होता है"—इस अपवाद (निषेध) का यह अपवाद (=पुनर्विधान) है।[ज] सब विभक्तियों में अन्त होने वाला **पुरुषन्ति**–'याभिर्ध्वसन्ति पुरुषन्तिमावतम्'[झ], 'ध्वस्रयो पुरुषन्त्यो."[ञ]—" 'अनुनासिक' वर्ण से प्रारम्भ होने वाले संयुक्त व्यञ्जन' ('संयोग') के भी पूर्व में स्थित (सकार षकार नहीं होता है)"— इस अपवाद (निषेध) का यह अपवाद (पुनर्विधान) है।[ट] **सुषसदम्**—'परिप्रयन्त वय्य सुषसदम्"[ठ]—'मकार के स्थान पर आने वाले 'अनुस्वार' के अव्यवहित पूर्व में स्थित 'स' -('अक्षर') का (सकार षकार नहीं

टि० (क) गाव.। गोस्थात्ऽइव। ईरते॥ प० पा०

(ख) दिवि। श्याम। पार्ये। गसऽतमा॥ प० पा०

इन दोनों उदाहरणों में 'नामि'-'स्वर'-वर्ण के पूर्व में न तो युग्म 'अन्तःस्था' (=र् या व्) विद्यमान हैं और न 'दन्तमूलीय' (सकार या तवर्ग), इसलिए यहाँ ५।२० से 'षत्व' प्राप्त नहीं होता है। नियम से अप्राप्त 'षत्व' यहाँ निपातन से सिद्ध होता है।

(ग) शिक्ष। शचीऽव। तव। ता। उपऽस्तुत्॥ प० पा०

(घ) यत्। नार्सदाय। श्रव॥ प० पा०

(ङ) पुरु। सदन्त। नार्सदम्॥ प० पा०

(च) यम्। तौग्र्य। नाधित। परिऽअसस्वजत्॥ प० पा०

इन चारों उदाहरणों में सकार के पूर्व में 'नामि'-'स्वर'-वर्ण विद्यमान नहीं है, इसलिए सकार का षकार होना नियम से अप्राप्त है किंतु निपातन से यहाँ 'षत्व' हो जाता है।

(छ) स्वादुऽससद। पितर। वयःऽधा॥ प० पा०

(ज) ५।२१ से प्रकृत में प्राप्त 'षत्व' का निषेध ५।२५ के द्वारा किया गया है। यह प्रस्तुत सूत्र प्रकृत में 'षत्व' का पुनर्विधान कर देता है। इस प्रकार यह अपवाद का अपवाद है। 'प्रतिप्रसव' का अर्थ है पुनर्विधान अर्थात् अपवाद का अपवाद।

(झ) याभि। ध्वसन्तिम्। पुरुऽसन्तिम्। आवतम्॥ प० पा०

(ञ) ध्वस्रयो। पुरुऽसन्त्यो॥ प० पा०

(ट) ५।२१ से 'पुरुषन्ति' के सकार का षकार होना प्राप्त था किंतु इसका निषेध ५।२६ में किया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र ने पुनः सकार के षकार होने का विधान कर दिया। इस प्रकार यह अपवाद का अपवाद है।

(ठ) परिऽप्रयन्तम्। वय्यम्। सुऽसदम्॥ प० पा०

होता है)"—इस अपवाद (निषेध) का यह अपवाद (पुनर्विधान) है।[क] सुषमिधा – "अग्ने भव सुषमिधा"[ख]—'सम्' इस 'अक्षर' में (षकार के) अपवाद (निषेध) का यह अपवाद (पुनर्विधान) है।[ग] अनुसेषिधत्–'पद्य' के आदि सकार का 'षत्व' प्राप्त होने पर परवर्ती (सकार) का 'षत्व' निपातन से होता है।[घ]—(जैसे) "षड् युक्ताँ अनुसेषिधत्।"[ङ] "गोष्ठादिव" इत्यादि (प्रथम) पाँच में 'षत्व' प्राप्त न होने पर (प्रस्तुत सूत्र में 'षत्व' का) विधान हुआ है।

तकारे पूर्वपद्यान्तो व्यापन्नोऽरेफसंहिते।
नामिपूर्वः ॥३१॥

सू० अ०—विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार ('व्यापन्न'), पूर्व-'पद्य' के अन्त में स्थित होने पर, षकार हो जाता है, यदि उस (सकार) के पूर्व में 'नामि'-'स्वर'-वर्ण हो और बाद में ऐसा तकार हो जो रेफ से मिला हुआ न हो।

उ० भा०—तकारे परत्रावस्थिते; (पूर्वपद्यान्तः=) पूर्वपद्यस्यान्तः। कथंभूतः? व्यापन्नः=सत्वं प्राप्तः। (अरेफसंहिते=) अरेफसंलग्ने तकारे। नामिपूर्व इति पूर्वपद्यान्तव्यापन्नविशेषणम्। षकारमापद्यते। "प्र पाकं शास्ति प्र दिशो विदुष्टर"[1]; "आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु।"[2] तकारे इति किम्? "सक्षन्त इन्द्र निस्सृजः।"[3] पूर्व-पद्यान्तः किम्? "त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नः।"[4] व्यापन्नोच्चारणं पदेऽदृष्टस्य सकारस्य षत्वं यथा स्यात्। अरेफसंहिते इति किम्? "चतुस्त्रिशद्वाजिनो देवबन्धोः।"[5] नामिपूर्वग्रहणं पुनः क्रियमाणमेकारस्य सग्रहं करोति। "अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि॥"[6]

उ० भा० अ०—तकारे=तकार बाद में स्थित होने पर; (पूर्वपद्यान्तः=) पूर्व-'पद्य' का अन्त (=अन्तिम वर्ण)। कैसा? (उत्तर) व्यापन्नः='सत्व' को प्राप्त (विसर्जनीय)। (अरेफसंहिते=) रेफ से न मिला हुआ तकार बाद में होने पर। "'नामि'-स्वर-वर्ण है पूर्व में जिसके"—यह पूर्व-'पद्य' के अन्त में स्थित 'व्यापन्न'

टि० (क) ५।२१ से प्रकृत में प्राप्त 'षत्व' का निषेध ५।२५ से हुआ है। यह प्रस्तुत सूत्र 'षत्व' का पुनर्विधान कर देता है। इस प्रकार यह अपवाद का अपवाद है।

(ख) अग्ने। भव। सुऽसमिधा॥ प० पा०

(ग) ५।२१ से प्राप्त 'षत्व' का ५।२४ के द्वारा 'सम्' 'अक्षर' (=एकाक्षरघटित शब्द) में निषेध कर दिया गया था। इस निषिद्ध 'षत्व' का यहाँ पुनर्विधान किया गया है। इस प्रकार यह अपवाद का अपवाद है।

(घ) तात्पर्य यह है कि ५।२१ से 'अनुसेषिधत्' के प्रथम सकार का षकार होना चाहिए किंतु निपातन से उस सकार का षकार नहीं हुआ अपितु द्वितीय सकार का षकार हो गया है।

(ङ) षट्। युक्तान्। अनुऽसेसिधत्॥ प० पा०

[1] ऋ० १।३१।१४ [2] ऋ० १।९५।५ [3] ऋ० १।१३३।३
[4] ऋ० १।३१।१० [5] ऋ० १।१६२।१८ [6] कौ० ब्रा० ६।१४

(विसर्जनीय के स्थान पर आये हुए सकार) का विशेषण है। षकार हो जाता है; (अर्थात् विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार षकार हो जाता है यदि (१) वह सकार पूर्व-'पद्य' के अन्त में स्थित हो, (२) उस सकार के पूर्व में कोई भी 'नामि'-'स्वर'-वर्ण हो और (३) उस सकार के बाद में रेफ से न मिला हुआ तकार हो)। (उदाहरण) 'प्र पाकं शास्सि प्र दिशो विदुष्टर.";[क] "आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु।"[ख] "तकार बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "सक्षन्त इन्द्र निस्सृज.।"[ग] "पूर्व-'पद्य' का अन्त"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "त्वमग्ने प्रमतिस्त्व पितासि न।"[घ] 'व्यापन्न' का उल्लेख (उच्चारण) इसलिए किया है जिससे पद-पाठ में अदृष्ट सकार का 'षत्व' हो जावे।[ङ] 'रेफ से न मिला हुआ (तकार) बाद में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धो।"[च] "नामिपूर्व" का जो (सूत्र में) दोबारा ग्रहण किया गया है वह एकार का सग्रह करता है।[छ] (जैसे) "अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि।"[ज]

टि० (क) प्र। पाकम्। शास्सि। प्र। दिश। विदुऽतर ॥ प० पा०

(ख) आविऽत्य। वर्धते। चारु। आसु ॥ प० पा०

इन दोनो उदाहरणो में विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार षकार हो गया है क्योंकि (१) सकार पूर्व-'पद्य' के अन्त में स्थित है (२) सकार के पूर्व में 'नामि'-'स्वर'-वर्ण है और (३) सकार के बाद में ऐसा तकार है जो रेफ से मिला हुआ नही है।

(ग) सक्षन्त। इन्द्र। निऽसृज ॥ प० पा०

यहाँ विसर्जनीय के स्थान पर आए हुए सकार के बाद में तकार नही अपितु सकार विद्यमान है, अत यह सकार षकार नही हुआ है।

(घ) त्वम्। अग्ने। प्रऽमति। त्वम्। पिता। असि। न ॥ प० पा०

यहाँ सकार पूर्व-'पद्य' के अन्त में नही अपितु उत्तर-'पद्य' के अन्त में स्थित है अत यह सकार षकार नही हुआ है।

(ङ) प्रकृत 'व्यापन्न' सकार पद-पाठ में दिखलाई नहीं देता है अत वह 'षत्व' को प्राप्त नही कर सकता क्योकि २।५ में यह बतलाया गया है कि पद-पाठ में दिखलाई देने वाले पदान्तों और पदादियो में ही विकार हो सकता है। पद-पाठ में दिखलाई न देने वाले सकार के 'षत्व'-विधान के लिए ही सूत्र में 'व्यापन्न'-शब्द का ग्रहण किया गया है जिससे वह सकार भी 'षत्व' को प्राप्त हो जाता है जो पद-पाठ में विसर्जनीय के रूप में अवस्थित होता है।

(च) चतुःऽत्रिंशत्। वाजिन। देवऽबन्धो ॥ प० पा०

यहाँ पूर्व-'पद्य' के अन्त में स्थित सकार षकार नही हुआ है क्योकि बाद में रेफ से मिला हुआ तकार स्थित है।

(छ) 'नामिपूर्व' का अधिकार तो ५।१ से ही चला आ रहा था अत. उसका इस सूत्र में पुन ग्रहण करना आवश्यक नही था, तथापि इसका पुन ग्रहण यहाँ एकार के सग्रह के लिए किया गया है। पूर्ववर्ती सूत्रो में एकार पूर्व में स्थित होने पर

विग्रहे तु त्वा त इत्यनुदात्तयोः ॥३२॥

सू० अ०—'अनुदात्त' 'त्वा' या 'ते' वाद में हो तो असमस्त (पद) के वाद में होने पर (विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार षकार हो जाता है)।

उ० भा०—विग्रहे; तु=पुनः; त्वा ते इत्येतयोः पदयोः परत्रावस्थितयोः अनुदात्तयोः व्यापन्नः षत्वमापद्यते। त्वा—"हुविष्ट्वा सन्तं हुविषा यजाम।"[1] ते—"अभिष्टे अद्य गीर्भिगृणन्तः।"[2] अनुदात्तयोः इति किम्? "य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वम्॥"[3]

उ० भा० अ०—विग्रहे=असमस्त (पद) होने पर; तु=पुन (=किंतु); त्वा ते इति='त्वा' और 'ते'—ये दो पद, अनुदात्तयोः='अनुदात्त' होते हुए; वाद में स्थित हो तो, विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ ('व्यापन्न') सकार 'षत्व' को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार षकार हो जाता है यदि (१) वह पूर्व-'पद' का अन्तिम वर्ण न भी हो और (२) उस सकार के वाद में 'अनुदात्त' 'त्वा' या 'ते' हो)। (उदाहरण) त्वा—"हुविष्ट्वा सन्त हुविषा यजाम।"[क] ते—"अभिष्टे अद्य गीर्भिगृणन्तः।"[ख] "'अनुदात्त' ('त्वा') या 'ते') वाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वम्॥"[ग]

अग्निरेकाक्षरस्यादौ ॥३३॥

सू० अ०—'अग्निः' (के विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला सकार षकार हो जाता है यदि यह सकार तकार से आरम्भ होने वाले) एकाक्षर (पद) के आदि में (वर्तमान हो)।

उ० भा०—अग्निः इत्ययं विसर्जनीयो व्यापन्नस्तकारादे एकाक्षरस्य पदस्य आदौ वर्तमानो नम्यते। "अग्निष्ट ब्रह्मणा सह।"[4] एकाक्षरस्यादौ इति किम्? "अग्निस्तुविश्रवस्तमम्॥"[5]

(३६२छ) 'मूर्धन्यभाव' नहीं हुआ है क्योंकि एकार के वाद में 'मूर्धन्यभाव' का निषेध ५।१ में ही कर दिया गया था। इस सूत्र में "नामिपूर्व." का पुन ग्रहण करके सूत्रकार ने यह वतलाया है कि यहाँ एकार पूर्व में स्थित होने पर भी 'मूर्धन्य-भाव' होता है।

(ज) विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार, एकार के वाद में आने पर भी, षकार हो गया है।

टि० (क) हुवि । त्वा । सन्तम् । हुविषा । युजाम् ॥ प० पा०।

(ख) अभि । ते । अद्य । गीःऽभि. । गृणन्तः ।। प० पा०

(ग) ये । इत् । तत् । विदु । ते । अमृतऽत्वम् ॥ प० पा०

यहाँ विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला सकार षकार नहीं हुआ है क्योंकि वाद मे स्थित 'ते' 'अनुदात्त' नहीं अपितु 'उदात्त' है।

[1] ऋ० १०।१२४।६ [2] ऋ० ४।१०।४ [3] ऋ० १।१६४।२३
[4] ऋ० १०।१६२।२ [5] ऋ० ५।२५।५

उ० भा० अ०—अग्निः (पद) का विसर्जनीय, सकार में परिणत होने पर; और तकार से प्रारम्भ होने वाले; एकाक्षरस्य=एक 'अक्षर' वाले पद के, आदौ=पूर्व में; वर्तमान होने पर 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है। (उदाहरण) "अग्निष्ट ब्रह्मणा सह।"क "एक 'अक्षर' वाले (पद के) आदि में" यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अग्निस्तुविश्रवस्तमम्।"ख

नकिश्च ॥३४॥

सू० अ०—'नकिः' ('नकिस्' का सकार) भी (षकार हो जाता है)।

उ० भा०—नकिः इत्ययं विसर्जनीयो नम्यते। चकाराद्व्यापन्नस्तकारादावेकाक्षरे पदे परभूते। "नकिष्ट कर्मणा नशत्॥"[1]

उ० भा० अ०—नकिः (पद) का विसर्जनीय 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त हो जाता है। (सूत्र में प्रयुक्त) चकार ('च') से (यह अर्थ निकलता है कि) विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला सकार ('व्यापन्न') (षकार हो जाता है यदि) तकार से प्रारम्भ होने वाला एकाक्षर पद बाद में हो (अर्थात् तकार से प्रारम्भ होने वाला एकाक्षर पद बाद में हो तो 'नकिस्' का सकार षकार हो जाता है)। (उदाहरण) "नकिष्ट कर्मणा नशत्।"ग

अथो तनूष्विति ॥३५॥

सू० अ०—'तनूषु' (पद) भी बाद में हो तो ('नकिः'='नकिस्' का सकार षकार हो जाता है)।

उ० भा०—(अथो=) अपि च; तनूषु इत्येतस्मिन्पदे परभूते नकिः इत्ययं विसर्जनीयो व्यापन्नो नम्यते। "नकिष्टनूषु येतिरे।"[2]

उ० भा० अ०—अथो=इसके अतिरिक्त, तनूषु='तनूषु' यह, पद भी बाद में हो तो 'नकि' (पद) का विसर्जनीय, सकार में परिणत होकर, 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है। (उदाहरण) "नकिष्टनूषु येतिरे।"घ

टि० (क) अग्नि। तम्। ब्रह्मणा। सह॥ प० पा०

यहाँ पर (१) 'अग्नि' का विसर्जनीय सकार हुआ है और (२) उस सकार के बाद में तकार से प्रारम्भ होने वाला एकाक्षर पद 'तम्' है। अत यह सकार षकार हो गया है।

(ख) अग्नि.। तुविश्रवःतमम्॥ प० पा०

यहाँ 'अग्नि' (अग्निस्) के बाद में एक 'अक्षर' वाला पद नहीं अपितु अनेक अक्षरों वाला पद है। अत सकार षकार नहीं हुआ है।

(ग) नकि। तम्। कर्मणा। नशत्॥ प० पा०

(घ) नकि.। तनूषु। येतिरे॥ प० पा०

---

[1] ऋ० ८।३१।१७ [2] ऋ० ८।२०।१२

तत्ततन्युस्ततक्षुस्तं तौग्र्यमित्युत्तरेषु निः ॥३६॥

सू० अ०—'तत्', 'ततन्युः', 'ततक्षुः' 'तम्' (और) 'तौग्र्यम्'—ये (पद) बाद में हों तो 'निः' (='निस्') (का सकार षकार हो जाता है)।

उ० भा०—तत्, ततन्युः, ततक्षुः, तम्, तौग्र्यम्—इत्येतेषु; (उत्तरेषु=) उत्तर-पदेषु सत्सु; निः इत्ययं विसर्जनीयो व्यापन्नो नम्यते। तत्—"निष्टज्जभार चमसं न वृक्षात्।"[१-क] ततन्युः—"सिहं न सूरो अति निष्टतन्युः।"[२-ख] ततक्षुः—"वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः।"[३-ग] तम्—"निष्टमूहथुः सुयुजा रथेन।"[४-घ] तौग्र्यम्—"निष्टौग्र्य पारयथः समुद्रात्॥"[५-ङ]

उ० भा० अ०—तत्, ततन्युः, ततक्षुः, तम् (और) तौग्र्यम्—ये; उत्तरेषु= उत्तरपद (अर्थात् परवर्ती पद) हों तो; निः (पद) का विसर्जनीय, सकार में परिणत होकर, 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है।········ · ····॥

पायुभिः पर्तृभिस्त्रिभिर्ददिर्वेरस्मयुः शुचिः। उत्तरे त्वमिति ॥३७॥

सू० अ०—'त्वम्' (पद) बाद में हो तो 'पायुभिः', 'पर्तृभिः', 'त्रिभिः', 'ददिः', 'वेः', 'अस्मयुः' (और) 'शुचिः' (पदों के विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार षकार हो जाता है)।

उ० भा०—इत्येतेषां पदानां विसर्जनीयो व्यापन्नः त्वम् इत्येतस्मिन्पद उत्तरे नम्यते। पायुभिः—"अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वम्।"[६-च] पर्तृभिः—'पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वम्।'[७-छ] त्रिभिः—'त्रिभिष्ट्वं देव सवितः।'[८-ज] ददिः—"ददिष्ट्वमिन्द्रापांसि वाजान्"[९-झ]; "सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वम्।"[१०-ञ] वेः—"पावकशोचे

टि० (क) निः। तत्। जभार। चमसम्। न। वृक्षात्॥ प० पा०
(ख) सिहम्। न। सूरः। अति। निः। ततन्युः॥ प० पा०
(ग) वेनात्। एकम्। स्वधया। निः। ततक्षुः॥ प० पा०
(घ) निः। तम्। ऊहथुः। सुऽयुजा। रथेन॥ प० पा०
(ङ) निः। तौग्र्यम्। पारयथः। समुद्रात्॥ प० पा०
(च) अदब्धेभिः। सवितरिति। पायुऽभिः। त्वम्॥ प० पा०
(छ) पर्षि। तोकम्। तनयम्। पर्तृऽभिः। त्वम्॥ प० पा०
(ज) त्रिऽभिः। त्वम्। देव। सवितः॥ प० पा०
(झ) ददिः। त्वम्। इन्द्र। अपांसि। वाजान्॥ प० पा०
(ञ) सन्ति। कामासः। हरिऽवः। ददिः। त्वम्॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १०।६८।८ [२] ऋ० १।१४१।१३ [३] ऋ० ४।५८।४
[४] ऋ० १।११७।१५ [५] ऋ० १।११८।६ [६] ऋ० ६।७१।३
[७] ऋ० ६।४८।१० [८] ऋ० ९।६७।२६ [९] ऋ० २।१७।८
[१०] ऋ० ८।२१।६

वेष्ट्वम् ।"[१-क] अस्मयुः—'एतं शसमिन्द्रास्मयुष्ट्वम् ।"[२-ख] शुचि —"शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रः ॥"[३-ग]

उ० भा० अ०—इन पदों का विसर्जनीय, सकार में परिणत होकर, (तव) 'मूर्धन्य-भाव' को प्राप्त हो जाता है, यदि 'त्वम्'—यह पद वाद में हो तो । · · · ·· ।

ईयुष्टे वावृधुष्टे सधिष्टव । गोभिष्टरेम क्रतुष्टम् ॥३८॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों में सकार निपातन से षकार हो जाता है) 'ईयुष्टे', 'वावृधुष्टे', 'सधिष्टव', 'गोभिष्टरेम' (और) 'क्रतुष्टम्' ।

उ० भा०—एते च द्वैपदा व्यापन्नोष्मकृतषत्वा निपात्यन्ते । ईयुष्टे—"ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन् ।"[४-घ] वावृधुष्टे—"पुरू शंसेन वावृधुष्ट इन्द्रम् ।"[५-ङ] सधिष्टव—"अप्स्वग्ने सधिष्टव ।"[६-च] गोभिष्टरेम—"गोभिष्टरेमामतिं दुरेवाम् ।"[७-छ] क्रतुष्टम्—"इन्द्र क्रतुष्टमा भर ॥"[८-ज]

उ० भा० अ०—इन द्वैपदो में विसर्जनीय सकार होकर पुन. निपातन से षकार हो गया है । · · ·· · ।

नाहुर्निष्षिष्वरीः प्रभोः ।
वन्दारुः षष्टिराविस्त्रिर्बाह्वोरित्यनुदात्तयोः ॥३९॥

सू० अ०—'अनुदात्त' ('त्वा' और 'ते') वाद में स्थित हो तो 'आहुः', 'निष्षिष्वरीः', 'प्रभोः', 'वन्दारुः', 'षष्टिः', 'आविः', 'त्रिः' (और) 'बाह्वोः' (इन पदों के विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला सकार षकार) नहीं (होता है) ।

उ० भा०—यदुक्तम् "त्वा ते इत्यनुदात्तयो." तदेतेषां पदानां सम्बन्धिनो विसर्जनीयस्य न भवति । आहुः—"आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ।"[९-झ] निष्षिष्वरीः—"निष्षिष्व-

टि० (क) पावकऽशोचे । वे । त्वम् ॥ प० पा०
(ख) एतम् । शसम् । इन्द्र । अस्मऽयु । त्वम् ॥ प० पा०
(ग) शुचि. । त्वम् । असि । प्रिय । न । मित्र ॥ प० पा०
(घ) ईयु. । ते । ये । पूर्वऽतराम् । अपश्यन् ॥प० पा०
(ङ) पुरु । शसेन । ववृधु. । ते । इन्द्रम् ॥ प० पा०
(च) अप्ऽसु । अग्ने । सधि. । तव ॥ प० पा०
(छ) गोभि. । तरेम । अमतिम् । दुःऽएवाम् ॥ प० पा०
(ज) इन्द्र । क्रतु । तम् । आ । भर ॥ प० पा०
(झ) आहु । ते । त्रीणि । दिवि । बन्धनानि ॥ प० पा०
५।३२ का अपवाद । यहाँ ५।३२ के अनुसार 'आहु' ('आहुस्') के सकार का षकार होना चाहिए क्योंकि वाद में 'अनुदात्त' 'ते' स्थित है किंतु प्रस्तुत सूत्र से 'षत्व' का वाव हो गया है । इस सूत्र के सभी उदाहरण ५।३२ के अपवाद है ।

[१] ऋ० ६।१५।१४ [२] ऋ० १०।९३।११ [३] ऋ० १।९१।३
[४] ऋ० १।११३।११ [५] ऋ० १०।७३।२ [६] ऋ० ८।४३।९
[७] ऋ० १०।४२।१० [८] ऋ० ५।३५।१ [९] ऋ० १।१६३।३

रीरस्तु ओषधी ।"[१-क] प्रभोः—"प्रभोस्ते सुतः परि यन्ति केतवः ।"[२-ख] वन्दारुः—वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने ।"[३-ग] पृष्टिः—"त्रिः पृष्टिस्त्वा मरुतो वावृधानाः ।"[४-घ] आविः—"आविस्ते शुष्मो भवतु ।"[५-ङ] त्रिः—"त्रिस्ते अन्नं कृणवत्सस्मिन्नहन् ।"[६-च] बाह्वो—"बाह्वोस्ते बलं हितम् ॥"[७-छ]

उ० भा० अ०—(५।३२ में) जो यह कहा गया था कि "'अनुदात्त' 'त्वा' और 'ते' बाद में हों तो (विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार षकार हो जाता है)"—वह इन पदों के विसर्जनीय का नहीं होता है । .... ।

(नतिसंधिः=नकारस्य णकारः)

ऋकाररेफषकारा नकारं समानपदेऽवगृह्ये नमन्ति ।
अन्तःपदस्थमककारपूर्वा अपि संध्याः ॥४०॥

(नतिसंधि=नकार का णकार)

सू० अ०—ककार जिनके पूर्व में नहीं है ऐसे संधि में उत्पन्न होने वाले (और संधि में न उत्पन्न होने वाले भी) ऋकार, रेफ और षकार पद के मध्य में वर्तमान नकार को 'मूर्धन्य' (=णकार) बना देते हैं, यदि वे (ऋकार, रेफ और षकार) उसी सावग्रह पद में विद्यमान हों (जिसमें नकार स्थित है) ।

उ० भा०—ऋकारश्च रेफश्च षकारश्च=ऋकाररेफषकाराः, नकारं नमन्ति । समानपदे=एकस्मिन्पदे वर्तमाना नकारेण सह । कथंभूते पदे ? अवगृह्ये=द्विखण्डे । कथंभूत नकारम् ? अन्तःपदस्थम्=पदमध्ये वर्तमानम् । अककारपूर्वा इति ऋकारादीनां विशेषणम् । अपि संध्याः; अप्यसंध्याः=प्राकृताः ।

ऋकारस्य—"पन्थामनु प्रविद्वान्पितृयाणम् ।"[८] रेफस्य—"प्रयाणे जातवेदसः"[९] "तदा रभस्व दुर्हणो ।"[१०] षकारस्य—"विदुर्विषाण परिपानम् ।"[११] समानपदे इति

टि० (क) नि असिष्वरी । ते । ओषधी ॥ प० पा०

(ख) प्रऽभो । ते । सुत । परि । यन्ति । केतवः ॥ प० पा०

(ग) वन्दारु । ते । तन्वम् । वन्दे । अग्ने ॥ प० पा०

(घ) त्रिः । पृष्टि । त्वा । मरुतः । ववृधाना ॥ प० पा०

(ङ) आवि । ते । शुष्म । भवतु ॥ प० पा०

(च) त्रि । ते । अन्नम् । कृणवत् । सस्मिन् । अहन् ॥ प० पा०

(छ) बाह्वो । ते । बलम् । हितम् ॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ३।५५।२२ [२] ऋ० ९।८६।५ [३] ऋ० १।१४७।२
[४] ऋ० ८।९६।८ [५] ऋ० ९।७९।५ [६] ऋ० ४।१२।१
[७] ऋ० १।८०।८ [८] ऋ० १०।२।७ [९] ऋ० ८।४३।६
[१०] ऋ० १०।१५५।३ [११] ऋ० ५।४४।११

किम् ? "त्रिरनुव्रते जने।"[1] अवगृह्ये इति किम् ? "उष्ट्रानां विंशतिं शता।"[2] अंतः-पदस्थम् इति किम् ? "जुहुराणश्चिन्मनसा परियन्।"[3] अककारपूर्वाः इति किम् ? "यमासा कृपनीळम्"[4]; "यो अग्निः क्रव्यवाहनः"[5]; "अक्षानहो नह्यतनोत सोम्याः।"[6] "अनुव्रते जने"[7] इत्यत्र प्राप्नोति—"पूर्वो नन्ता नतिषु नम्यमुत्तरम्"[8] इति वचनान्न भवति ॥

उ० भा० अ०—ऋकाररेफषकाराः=ऋकार, रेफ और षकार। नकारं नमन्ति=नकार को 'मूर्धन्य' (=णकार) बना देते हैं। समानपदे=नकार के साथ समान पद अर्थात् एक पद में वर्तमान होने पर। कैसे पद में ? (उत्तर) अवगृह्ये=(पद-पाठ में) 'अवग्रह' के द्वारा दो खण्डो में विभक्त (पद) में। किस प्रकार के नकार को ? (उत्तर) अन्तःपदस्थम्=पद के मध्य में स्थित (नकार) को। अककारपूर्वाः=ककार जिनके पूर्व में नही है—यह ऋकार आदि का विशेषण है। अपि संध्याः=चाहे वे (ऋकार, रेफ और षकार) सधि में उत्पन्न हों और चाहे सधि में उत्पन्न न हों अर्थात् प्राकृत हों (अर्थात् ऋकार, रेफ और षकार नकार को णकार बना देते है यदि (१) ऋकार रेफ और षकार उसी पद में स्थित हों जिसमें नकार है, (२) वह पद पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक् किया गया हो, (३) नकार पद के मध्य में स्थित हो और (४) ऋकार, रेफ और षकार के पूर्व में ककार न हो)।

ऋकार का (उदाहरण)—"पन्यामनु प्रविद्वान्पितृयाणम्।"[क] रेफ का (उदाहरण)—"प्रयाणे जातवेदस."[ख]; "तदा रभस्व दुर्हणो।"[ग] षकार का (उदाहरण)—"विदुर्विषाण परिपानम्।"[घ] "एक ही पद में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "त्रिरनुव्रते

टि० (क) पन्याम्। अनु। प्रऽविद्वान्। पितृऽयानम् ॥ प० पा०

यहाँ ऋकार ने नकार को णकार बना दिया है क्योकि (१) ऋकार उसी पद में स्थित है जिसमें नकार है, (२) 'पितृयाणम्' पद पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक् किया गया है, (३) नकार पद के मध्य में स्थित है और (४) ऋकार के पूर्व में ककार नही है।

(ख) प्रऽयाने। जातऽवेदस ॥ प० पा०

(ग) तत्। आ। रभस्व। दुर्हनो इति दुःऽहनो ॥ प० पा०

दोनों ही उदाहरणो में रेफ न नकार को णकार बना दिया है क्योकि (१) रेफ उसी पद में स्थित है जिसमें नकार है, (२) 'प्रयाणे' और 'दुर्हणो' पद पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक् किए गए हैं, (३) नकार पद के मध्य में स्थित है और (४) रेफ के पूर्व में ककार नही है।

(घ) विदु। विऽपानम्। परिऽपानम् ॥ प० पा०

सूत्रोक्त सभी शर्तें पूरी होने के कारण षकार ने नकार को णकार बना दिया है।

---

[1] ऋ० १।३४।४ [2] ऋ० ८।४६।२२ [3] ऋ० १।१७३।११
[4] ऋ० १०।२०।३ [5] ऋ० १०।१६।११ [6] ऋ० १०।५३।७
[7] ऋ० १।३४।४ [8] १।६६

जने ।"क "'अवग्रह' से पृथक् किए गए (पद) में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "उष्ट्राना विंशति शता ।"ख "पद के मध्य में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "जुहुराणश्चिन्मनसा परियन् ।"ग "ककार जिनके पूर्व में नही है"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "यमासा कृपनीळम्"घ; "यो अग्निः क्रव्यवाहन."ङ; "अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या. ।"च "अनुव्रते जने" यहाँ पर (नकार का 'णत्व') प्राप्त होता है किंतु "'मूर्धन्यभाव' में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला वर्ण पूर्व में होता है और 'मूर्धन्यभाव' से प्रभावित होने वाला वर्ण बाद में होता है"—इस विधान से ('णत्व') नही होता है ।छ

संध्य उष्माण्यनिङ्ग्ये ॥४१॥

सू० अ०—संधि में उत्पन्न ('संध्य') 'ऊष्म' (-वर्ण) (नकार को णकार बना देता है) चाहे वह ('ऊष्म'-वर्ण), 'अवग्रह'-रहित (पद) में भी (विद्यमान हो) ।

टि० (क) त्रि॰ । अनुऽव्रते । जने ॥ प० पा०

रेफ ने नकार को णकार नही बनाया है क्योंकि रेफ उसी पद ('अनु') में स्थित नही है जिसमें नकार है ।

(ख) उष्ट्रानाम् । विंशतिम् । शता ॥ प० पा०

रेफ ने नकार को णकार नही बनाया है क्योकि 'उष्ट्रानाम्' पद पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक् नहीं किया गया है ।

(ग) जुहुराण । चित् । मनसा । परिऽयन् ॥ प० पा०

रेफ ने नकार को णकार नही बनाया है क्योंकि नकार पद के मध्य में स्थित न होकर पद के अन्त में स्थित है ।

(घ) यम् । आसा । कृपऽनीळम् ॥ प० पा०

(ङ) य । अग्नि । क्रव्यऽवाहन ॥ प० पा०

(च) अक्षऽनह । नह्यतन । उत । सोम्या ॥ प० पा०

तीनो प्रत्युदाहरणो में ऋकार, रेफ और षकार ने नकार को णकार नही बनाया है क्योकि ककार पूर्व में है ।

(छ) अनुऽव्रते । जने ॥ प० पा०

"अनुव्रते" में (१) रेफ उसी पद में स्थित है जिसमें नकार है, (२) "अनुव्रते" पद पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक् किया गया है, (३) नकार पद के मध्य में स्थित है और (४) रेफ के पूर्व में ककार नही है ।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित सभी शर्तें इस प्रत्युदाहरण में उपलब्ध हैं, इसलिए इस सूत्र के अनुसार नकार का णकार हो जाना चाहिए किंतु ऐसा नही होता है क्योकि १।६६ में यह विधान किया गया है कि 'मूर्धन्यभाव' में 'मूर्धन्यभाव' करने वाला वर्ण पूर्व में होता है और 'मूर्धन्यभाव' से प्रभावित होने वाला वर्ण बाद में होता है । इस विधान के अनुसार पूर्ववर्ती ही ऋकार, रेफ या षकार परवर्ती नकार को णकार कर सकता है । "अनुव्रते" में नकार णकार नही होता है क्योकि रेफ नकारके पूर्व में न होकर बाद में स्थित है ।

उ० भा०—संधौ भवः=संध्यः=संधिजः, ऊष्माप्यनिङ्ग्ये पदे वर्तमानो नकारं णमयति । "यदि क्लोशमनु ष्वणि ।"[१] संध्यः इति किम् ? "महीमे अस्य वृषनाम शूषे ॥"[२]

उ० भा० अ०—संध्यः=संधि में होने वाला=संधिज; 'ऊष्मा='ऊष्म'-वर्ण (=षकार); अप्यनिङ्ग्ये =अवग्रह'-रहित पद में भी; वर्तमान होने पर नकार को 'मूर्धन्य' बना देता है; (अर्थात् पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा विभक्त न किए गए पद में भी वर्तमान षकार नकार को णकार बना देता है)। (उदाहरण) "यदि क्लोशमनु ष्वणि ।"[क] "संधि में उत्पन्न ('ऊष्म'-वर्ण)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "महीमे अस्य वृषनाम शूषे ।"[ख]

न मध्यमैः स्पर्शवर्गैर्व्यवेतम् ॥४२॥

सू० अ०—'स्पर्श' (-व्यञ्जनों) के मध्यम वर्गों (=चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग) से व्यवहित (नकार) को (ऋकार, रेफ और षकार 'मूर्धन्य') नहीं (बनाते हैं)।

उ० भा०—न णमयन्ति नकारमृकाररेफषकारा मध्यमैः स्पर्शवर्गैः; (व्यवेतम्=) व्यवहितम् । चवर्गटवर्गतवर्गा मध्यमाः । "ऋजुनीती नो वरुण ।"[३] "आ निवर्तन वर्तय ।"[४] "अभिष्टने ते अद्रिवः ॥"[५]

उ० भा० अ०—मध्यमैः स्पर्शवर्गैः=मध्यम 'स्पर्श-वर्गों से; (व्यवेतम्=) व्यवहित; नकार को ऋकार, रेफ और षकार, न=नहीं, 'मूर्धन्य' बनाते हैं। चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग मध्यम ('स्पर्श'-वर्ग हैं), (अर्थात् रेफ या षकार तथा नकार के मध्य में चवर्ग, टवर्ग अथवा तवर्ग का कोई वर्ण हो तो नकार णकार नहीं होता है)। (उदाहरण) "ऋजुनीती नो वरुण ।"[ग] "आ निवर्तन वर्तय ।"[घ] 'अभिष्टने ते अद्रिव ॥"[ङ]

टि० (क) यदि । क्लोशम् । अनु । स्वनि ॥ प० पा०
सकार के स्थान पर आए हुए (="संध्य") 'ऊष्म'-वर्ण (=षकार) ने परवर्ती नकार को णकार बना दिया है यद्यपि 'ष्वणि' पद पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक् नहीं किया गया है।

(ख) महि । इमे इति । अस्य । वृषनाम । शूषे इति ॥ प० पा०
यहाँ षकार संधि में उत्पन्न नहीं है अर्थात् सकार के स्थान पर नहीं आया है, अत यह षकार नकार को णकार नहीं बनाता है।

(ग) ऋजुऽनीती । न । वरुण ॥ प० पा०
ऋकार ने नकार को णकार नहीं बनाया है क्योंकि ऋकार और नकार के मध्य में जकार का व्यवधान है।

(घ) आ । निऽवर्तन । वर्तय ॥ प० पा०
रेफ ने नकार को णकार नहीं बनाया है क्योंकि रेफ और नकार के मध्य में तकार का व्यवधान है।

(ङ) अभिऽस्तने । ते । अद्रिऽव ॥ प० पा०
षकार ने नकार को णकार नहीं बनाया है क्योंकि षकार और नकार के मध्य में टकार का व्यवधान है।

१ ऋ० ६।८६।१६ २ ऋ० ०।९७।५४ ३ ऋ० १।९०।१
४ ऋ० १०।१९।८ ५ ऋ० ११८०।१४

परिप्रऋषीन्द्रादिषु चोत्तमेन ॥४३॥

सू० अ०—'परि', 'प्र', 'ऋषि' और 'इन्द्र' से प्रारम्भ होने वाले (सावग्रह पदों) में अन्तिम ('स्पर्श'-वर्ग के वर्णों) से भी (व्यवहित नकार को ऋकार, रेफ या षकार 'मूर्धन्य' नहीं बनाते हैं)।

उ० भा०—परि, प्र, ऋषि, इन्द्र—इत्येवम् आदिषु पदेषु उत्तमेन अपि स्पर्शवर्गेण पकारादिना व्यवहितं नकारमृकाररेफषकारा न नमयन्ति। परि—"परिपानमन्ति ते"[१]; यमस्य माता पर्युह्यमाना।"[२] प्र—"प्रमिनती मनुष्या युगानि।"[३] ऋषि—"ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः।"[४] इन्द्र—"इदं त्यत्पात्रमिन्द्रपानम्।"[५] आदिग्रहणादिह न भवति निषेधः—"सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः॥"[६]

उ० भा० अ०—परि, प्र, ऋषि (और) इन्द्र—इनसे; आदिषु=प्रारम्भ होने वाले पदो में, उत्तमेन=पकार से प्रारम्भ होने वाले अन्तिम भी स्पर्श-वर्ग से; व्यवहित नकार को ऋकार, रेफ और षकार 'मूर्धन्य' (=णकार) नही बनाते है, (अर्थात् ऋकार, रेफ या षकार तथा नकार के मध्य में पवर्ग का कोई भी वर्ण हो तो सूत्रोक्त 'परि' इत्यादि से प्रारम्भ होने वाले पदो में नकार का णकार नही होता है)। परि—"परिपानमन्ति ते"[क]; "यमस्य माता पर्युह्यमाना।"[ख] प्र—'प्रमिनती मनुष्या युगानि।"[ग] ऋषि—"ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षा।"[घ] इन्द्र—"इद त्यत्पात्रमिन्द्रपानम्।"[ङ] (सूत्र में) आदि का ग्रहण होने से यहाँ ('मूर्धन्यभाव') का निषेध नही होता है—'सुप्रपाण भवत्वघ्न्याभ्यः।"[च]

टि० (क) परिऽपानम्। अन्ति। ते॥ प० पा०

(ख) यमस्य। माता। परिऽउह्यमाना॥ प० पा०

(ग) प्रऽमिनती। मनुष्या। युगानि॥ प० पा०

(घ) ऋषिऽमना.। य.। ऋषिऽकृत्। स्व ऽसा.॥ प० पा०

(ङ) इदम्। त्यत्। पात्रम्। इन्द्रऽपानम्॥ प० पा०

इन सभी उदाहरणो में मूर्धन्यभाव' करने वाले वर्ण (ऋकार, रेफ या षकार) और 'मूर्धन्यभाव' से प्रभावित होने वाले वर्ण (नकार) के मध्य में पवर्ग का वर्ण है, अतः 'मूर्धन्यभाव' नही हुआ है। सूत्रोक्त 'परि' इत्यादि से प्रारम्भ होने वाले पदो को छोडकर अन्यत्र पवर्ग का व्यवधान 'मूर्धन्यभाव' में बाधक नही होता है। इसी प्रकार स्वर'-वर्णों, कवर्ग, 'अनुस्वार' तथा य्, र्, व् और ह् का व्यवधान भी 'मूर्धन्यभाव' में बाधक नही होता है।

(च) सुऽप्रपानम्। भवतु। अघ्न्याभ्य॥ प० पा०

यद्यपि यहा पर भी मूर्धन्यभाव करने वाले वर्ण (रेफ) और मूर्धन्यभाव' से प्रभावित होने वाले वर्ण (नकार) के मध्य में पकार का व्यवधान है तथापि यहाँ मूर्धन्यभाव' हो गया है क्योकि 'सुप्रपाणम्' पद 'प्र' से प्रारम्भ न होकर 'सु' से प्रारम्भ होता है। 'परि' 'प्र' 'ऋषि' और इन्द्र से प्रारम्भ होने वाले पदो में ही प्रस्तुत सूत्र से मूर्धन्यभाव' का निषेध किया गया है।

---

[१] ऋ० ५।४४।११ [२] ऋ० १०।१७।१ [३] ऋ० १।१२४।२
[४] ऋ० ९।९६।१८ [५] ऋ० ६।४४।१६ [६] ऋ० ५।८३।८

तथा शकारसकारव्यवेतं सर्वादिषु ॥४४॥

सू० अ०—उसी प्रकार सभी (अर्थात् किसी भी) (शब्दों) से प्रारम्भ होने वाले (सावग्रह पदों) में शकार और सकार से व्यवहित (नकार) को (ऋकार, रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं)।

उ० भा०—यथाधस्तनयोर्मध्यमोत्तमवर्गव्यवेतं नकारमृकाररेफषकारा न नमयन्ति तथा शकारसकारव्यवेतं नकारमृकाररेफषकारा न नमयन्ति सर्वादिषु पदेषु। "अहन्नहिं परिशयानमर्णः।"[1] "इदा हि त उषो अद्रिसानो।"[2] सर्वादिग्रहणं परिप्रऋषीन्द्रादिष्वेवेति निवृत्त्यर्थम् ॥

उ० भा० अ०—जिस प्रकार पूर्ववर्ती दो (सूत्रों—५।४२ और ५।४३) में मध्यम और अन्तिम ('स्पर्श'-) वर्गों से व्यवहित नकार को ऋकार, रेफ और षकार 'मूर्धन्यभाव' (=णकार) नही बनाते हैं; तथा शकारसकारव्यवेतम्=उसी प्रकार शकार और सकार से व्यवहित; नकार को ऋकार, रेफ और षकार 'मूर्धन्य' (=णकार) नही बनाते हैं; सर्वादिषु=सभी (अर्थात् किसी भी) शब्दो से प्रारम्भ होने वाले पदो में, (अर्थात् ऋकार, रेफ या षकार तथा नकार के मध्य में शकार या सकार का व्यवधान हो तो नकार णकार नही होता है)। (उदाहरण) "अहन्नहिं परिशयानमर्णः"[क]; "इदा हि त उषो अद्रिसानो।"[ख] "'परि', 'प्र', 'ऋषि' और 'इन्द्र' से प्रारम्भ होने वाले (पदो) में ही (नकार को णकार नही बनाते)"—इसकी निवृत्ति के लिए (सूत्र में) सर्वादि का ग्रहण किया गया है।

पूर्वपदान्तगं च ॥४५॥

सू० अ०—(सावग्रह पद के) पूर्व-पद (=पूर्व-'पद') के अन्त में विद्यमा (नकार) को भी (ऋकार, रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं)।

उ० भा०—(पूर्वपदान्तगं च=) पूर्वपदस्य चान्तगतम्, नकारमृकाररेफषकारा न नमयन्ति। "कर्मन्कर्मञ्छतमूतिः ॥"[3]

उ० भा० अ०—(पूर्वपदान्तगं च=) पूर्व-पद (=पूर्व-'पद') के अन्त में विद्यमान भी, नकार को ऋकार, रेफ और षकार 'मूर्धन्य'(=णकार) नही बनाते है। (उदाहरण) 'कर्मन्कर्मञ्छतमूति।'[ग]

टि० (क) अहन्। अहिम्। परिऽशयानम्। अर्णः॥ प० पा०

(ख) इदा। हि। ते। उप। अद्रिसानो इत्यद्रिऽसानो॥ प० पा०
दोनो ही उदाहरणो में सावग्रह पदो में नकार णकार नही हुआ है क्योंकि 'मूर्धन्यभाव' करने वाले वर्ण (रेफ) और 'मूर्धन्यभाव' से प्रभावित होने वाले वर्ण (नकार) के मध्य में क्रमशः शकार और सकार का व्यवधान है।

(ग) कर्मन्ऽकर्मन्। शतम्ऽऊति॥ प० पा०

---

[1] ऋ० ३।३२।११ [2] ऋ० ६।६५।५ [3] ऋ० १।१०२।६

नाभिनिर्णिक्प्रवादादी ॥४६॥

सू० अ०—'नाभि' और 'निर्णिक्' के किसी भी रूप के आदि में स्थित (नकार) को (भी ऋकार, रेफ और षकार णकार नहीं बनाते है) ।

उ० भा०—(नाभिनिर्णिक्प्रवादादी—) नाभिनिर्णिक्शब्दयोरादिभूतम्; नकार-मृकाररेफषकारा न नमयन्ति । नाभि—"रथेन वृषनाभिना ।"[1] निर्णिक्—"अत सहस्र-निर्णिजा"[2]; "पतरेव चचरा चन्द्रनिर्णिक् ।"[3] आदिशब्दोच्चारणं परस्य णत्वं साधयति ॥

उ० भा० अ०—(नाभिनिर्णिक्प्रवादादी—) 'नाभि' और 'निर्णिक्' शब्दों के किसी भी रूप के आदि में स्थित; नकार को ऋकार, रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं। (उदाहरण) नाभि—"रथेन वृषनाभिना ।"[क] निर्णिक्—"अत सहस्रनिर्णिजा"[ख]; "पतरेव चचरा चन्द्रनिर्णिक् ।"[ग] (सूत्र में) आदि-शब्द का उच्चारण दूसरे (नकार) के 'णत्व' का साधक है ।[घ]

यकारस्पर्शसंहितम् ॥४७॥

सू० अ०—यकार और 'स्पर्श' से मिले हुए (नकार) को (णकार नहीं बनाते हैं)

उ० भा०—(यकारस्पर्शसंहितम्—) यकारसंलग्नं स्पर्शसंलग्नम् ; नकारमृकार-रेफषकारा न नमयन्ति । यकारसंहितम्—"द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायकः ।"[4] स्पर्शसंहितम्—"वृत्रघ्ने परि षिच्यसे"[5]; "सुषुम्नेषितत्वता ।"[6] यकारस्पर्शसंहितम् इति किम ? "प्रात-र्यावाणः सहस्कृत ॥"[7]

उ० भा० अ०—(यकारस्पर्शसंहितम्—) यकार से मिले हुए या 'स्पर्श' से मिले हुए; नकार को ऋकार, रेफ और षकार णकार नहीं बनाते है। यकार से मिले हुए को—"द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक. ।"[ङ] स्पर्श से मिले हुए को—"वृत्रघ्ने परि

टि० (क) रथेन । वृषऽनाभिना ॥ प० पा०

(ख) अत: । सहस्रऽनिर्निजा ॥ प० पा०

(ग) पतराऽइव । चचरा । चन्द्रऽनिर्निक् ॥ प० पा०

(घ) अर्थात् सूत्र में आदि शब्द के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि 'निर्णिक्' के प्रथम नकार के 'णत्व' का ही यहाँ निषेध किया गया है। इसीलिए तो 'निर्णिक्' का दूसरा नकार णकार हो गया है ।

(ङ) द्युम्नी। सुऽशिप्र. । हरिमन्युऽसायक ॥ प० पा०

रेफ ने नकार को णकार नही बनाया है क्योंकि नकार यकार से मिला हुआ है ।

---

[1] ऋ० ८।२०।१०   [2] ऋ० ८।८।११   [3] ऋ० १०।१०६।८
[4] ऋ० १०।९६।३   [5] ऋ० ९।९८।१०   [6] ऋ० १०।१३२।२
[7] ऋ० १।४५।९

विच्यसे"[क]; "सुषुम्नेषितत्वता ।"[ख] "यकार और 'स्पर्श' से मिले हुए को"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "प्रातर्याण्णि सहस्कृत ।"[ग]

कर्मनिष्ठां दीर्घनीथे ॥४८॥

सू० अ०—'कर्मनिष्ठाम्' (और) 'दीर्घनीथे' (के नकार को ऋकार, रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं) ।

उ० भा०—इत्येतयोः पदयोर्नकारमृकाररेफषकारा न नमयन्ति । कर्मनिष्ठाम्—"अग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम् ।"[१] दीर्घनीथे—"दीर्घनीथे दमूनसि ॥"[२]

उ० भा० अ०—इन दो पदो के नकार को ऋकार, रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं । कर्मनिष्ठाम्—"अग्निर्वीरं श्रुत्य कर्मनिष्ठाम् ।"[घ] दीर्घनीथे—"दीर्घनीथे दमूनसि ।"[ङ]

भानुशब्दे ॥४९॥

सू० अ०—'भानु' शब्द में (वर्तमान नकार को णकार नहीं बनाते हैं) ।

उ०भा०—(भानुशब्दे=)भानुशब्दस्य नकारम्; ऋकारादयो यथासंभवं न नमयन्ति । "स्वर्भानोरध॥"[३]

उ० भा० अ०—(भानुशब्दे=) 'भानु' शब्द के नकार को; ऋकार आदि णकार नही बनाते हैं, यद्यपि वहाँ नियम से ('णत्व') प्राप्त होता है—"स्वर्भानोरध ।"[च]

हिनोमि च ॥५०॥

सू० अ०—'हिनोमि' (के नकार को) भी (णकार नहीं बनाते हैं) ।

टि० (क) वृत्रऽघ्ने । परि । सिच्यसे ॥ प० पा०

ऋकार ने नकार को णकार नही बनाया है क्योंकि नकार 'स्पर्श' (घकार) से मिला हुआ है ।

(ख) सुऽसुम्ना । इषितत्वता ॥ प० पा०

षकार ने नकार को णकार नही बनाया है क्योंकि नकार 'स्पर्श' (मकार) से मिला हुआ है ।

(ग) प्रात ऽयाव्न. । सह ऽकृत ॥ प० पा०

रेफ ने ५।४० से नकार को णकार बना दिया है क्योंकि यहाँ नकार न तो यकार से मिला हुआ है और न 'स्पर्श' से ।

(घ) अग्नि. । वीरम् । श्रुत्यम् । कर्मनि ऽस्थाम् ॥ प० पा०

(ङ) दीर्घऽनीथे । दमूनसि ॥ प० पा०

(च) स्व ऽभानो. । अध ॥ प०पा०

---

१ ऋ० १०।८०।१ २ ऋ० ८।५०।१० ३ ऋ० ५।४०।६

उ० भा०—हिनोमि इति च नकारमृकाराद्यो न नमयन्ति। "यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधया॥"[१]

उ० भा० अ०—हिनोमि के नकार को भी ऋकार आदि णकार नहीं बनाते हैं। (उदाहरण) "यां वा होत्रां परिहिनोमि मेधया।"[क]

ह्रस्वोदयं त्वेषपुर्वेवमादिषु ॥५१॥

सू० अ०—'त्वेष' और 'पुरु' से प्रारम्भ होने वाले (सावग्रह पदों) में (वर्तमान नकार को रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं)।

उ० भा०—ह्रस्व उदयो यस्य नकारस्य स तयोक्तः। तं ह्रस्वोदयं त्वेष पुरु इति एवमादिषु पदेषु वर्तमानं नकारं रेफषकारौ न नमयतः। त्वेष—"यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।"[२] पुरु—"पुरुनृम्णाय सत्वने।"[३] ह्रस्वोदयम् इति किम् ?" "पुरुणीथा जातवेदो जरस्व॥"[४]

उ० भा० अ०—'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) है बाद में जिसके वह उस प्रकार का (अर्थात् ह्रस्वोदय) है। उस; ह्रस्वोदयम्='ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) है बाद में जिसके उसको; (तथा) त्वेष पुरु एवमादिषु=त्वेष (या) पुरु—इनसे प्रारम्भ होने वाले (पदों) में; वर्तमान नकार को रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं, (अर्थात् रेफ और षकार उस नकार को णकार नहीं बनाते हैं जो (१) 'त्वेष' या 'पुरु' से प्रारम्भ होने वाले सावग्रह पद में वर्तमान है और (२) जिसके बाद में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण विद्यमान है)। त्वेष—"यतो यज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।"[ख] पुरु—"पुरुनृम्णाय सत्वने।"[ग] "'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) है बाद में जिसके"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "पुरुणीथा जातवेदो जरस्व।"[घ]

त्रिशुभ्रयुष्मादिषु चोभयोदयम् ॥५२॥

सू० अ०—'त्रि', 'शुभ्र' (और) 'युष्मा' से प्रारम्भ होने वाले (सावग्रह पदों) में (वर्तमान नकार को भी (रेफ और षकार णकार नहीं बनाते हैं), चाहे (उस नकार के) बाद में दोनों (अर्थात् 'ह्रस्व' 'स्वर' और 'दीर्घ' 'स्वर') हों।

टि० (क) याम्। वाम्। होत्राम्। परिऽहिनोमि। मेधया॥ प०पा०

(ख) यतः। जज्ञे। उग्रः। त्वेषऽनृम्णः॥ प० पा०

(ग) पुरुऽनृम्णाय। सत्वने॥ प० पा०

(घ) पुरुऽनीथा। जातऽवेदः। जरस्व॥ प० पा०

यद्यपि नकार 'पुरु' से प्रारम्भ होने वाले सावग्रह पद में विद्यमान है तथापि रेफ ने ५।४० से नकार को णकार बना दिया है क्योंकि नकार के बाद में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण नहीं, अपितु 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है।

---

[१] ऋ० ७।१०४।६ [२] ऋ० १०।१२०।१

[३] ऋ० ८।४५।२१ [४] ऋ० ७।९।६

उ० भा०—त्रि, शुभ्र, युष्मा—इत्येवम् आदिषु पदेषु। उभयोदयम्=ह्रस्वोदयं दीर्घोदय च। नकारं रेफषकारौ न नमयतः। त्रि—"त्रिनाके त्रिदिवे दिवः"[१]; "त्रिनाभि चक्रमजरम्"[२]—इत्यस्य तु "नाभिर्निर्णिक्प्रवादादौ"[३]—इत्यनेनापि सिद्धो नतिप्रतिषेधः। शुभ्र—"वहेथे शुभ्रयावाना।"[४] युष्मा—"युष्मानीतो अभयम्॥"[५]

उ० भा० अ०—त्रि, शुभ्र, युष्मा—इनसे, आदिषु=प्रारम्भ होने वाले पदो में। उभयोदयम्=दोनो बाद में होने पर='ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण बाद में होने पर या 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण बाद में होने पर। नकार को रेफ और षकार णकार नही बनाते हैं, (अर्थात् 'त्रि', 'शुभ्र' और 'युष्मा' से प्रारम्भ होने वाले पदो में रेफ और षकार नकार को णकार नही बनाते है, चाहे उस नकार के बाद में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण हो और चाहे 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण हो)। त्रि—"त्रिनाके त्रिदिवे दिव।"[क] "त्रिनाभि चक्रमजरम्"[ख]–इस ('त्रिनाभि') का 'णत्व'-प्रतिषेध तो "नाभि' और 'निर्णिक्' शब्दो के आदि में स्थित (नकार को ऋकार, रेफ और षकार णकार नही बनाते हैं" से भी सिद्ध है (और प्रस्तुत सूत्र से भी सिद्ध है)। शुभ्र—"वहेथे शुभ्रयावाना।"[ग] युष्मा—"युष्मानीतो अभयम्।"[घ]

अहकारेष्वधिकत्र्यक्षरेषु च
पुरःपुनर्दुश्चतुर्ज्योतिरादिषु ॥५३॥

सू० अ०—जिन (सावग्रह पदो) में हकार नहीं है तथा तीन से अधिक 'अक्षर' हैं और जो 'पुरः', 'पुनः', 'दुः', तथा 'ज्योतिः' से प्रारम्भ होते हैं, उन (पदों) में (वर्तमान नकार णकार नहीं होता है)।

उ० भा०—(अहकारेषु=) हकारवर्जितेषु। अधिकत्र्यक्षरेषु च पदेषु=चतुरक्षरादिषु चेत्यर्थः। उभयविशेषणविशिष्टानि पदानि गृह्यन्ते। पुरः, पुनः, दुः, चतुः, ज्योतिः—इति आदिषु च नकारो वर्तमानो नतिं न लभते। पुरः—"पुरोयावानमाजिषु।"[६-ङ] पुनः—"पुनरागाः पुनर्नव।"[७-च] दुः—"दुर्नियन्तुः परिप्रीतो न मित्रः।"[८-छ]

टि० (क) त्रिऽनाके। त्रिऽदिवे। दिव.॥ प० पा०

(ख) त्रिऽनाभि। चक्रम्। अजरम्॥ प० पा०

(ग) वहेथे इति। शुभ्रऽयावाना॥ प० पा०

(घ) युष्माऽनीत.। अभयम्॥ पा० पा०

(ङ) पुरःऽयावानम्। आजिषु॥ प० पा०

(च) पुन.। आ। अगा.। पुनःऽनव॥ प० पा०

(छ) दुःऽनियन्तुः। परिऽप्रीत न। मित्र॥ प० पा०

१ ऋ० ९।११३।९ २ ऋ० १।१६४।२ ३ ऋ० १५।४६
४ ऋ० ८।२६।१९ ५ ऋ० २।२७।११ ६ ऋ० ८।८४।८
७ ऋ० १०।१६१।५ ८ ऋ० १।१९०।६

चतुः—"स जिह्वया चतुरनीकः ।"[१-क] ज्योतिः—"शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु ।"[२-ख] अहकारेषु इति किम् ? "कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणः ।"[३] अधिकत्र्यक्षरेषु इति किम् ? "दुर्णामा योनिमाशये ॥"[४]

उ० भा० अ०—अहकारेषु=हकार से रहित (पदों) में। अधिकत्र्यक्षरेषु च=एव तीन से अधिक अक्षरो वाले (पदो) में=चार इत्यादि (अर्थात् चार या चार से अधिक) अक्षरो वाले (पदो) में—यह अर्थ है। दोनो विशेषणो से विशिष्ट पदो का ग्रहण किया जाता है। दुः, चतुः, ज्योतिः इनसे; आदिषु=प्रारम्भ होने वाले (पदों) में; वर्तमान नकार 'मूर्धन्यभाव'('नति')को प्राप्त नही होता है, (अर्थात् उन सावग्रह पदो में नकार णकार नही होता है जिनमें (१) हकार नही होता है (२) तीन से अधिक 'अक्षर' होते हैं और जो (३) 'पुर', 'पुन.', 'दु', 'चतु' या 'ज्योति' से प्रारम्भ होते हैं)। · · · ·· । "हकार-रहित' (पदों) में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हण ।"[ग] "तीन से अधिक अक्षरो वाले (पदो) में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "दुर्णामा योनिमाशये ।"[घ]

उस्रयाम्णेऽनुस्रयाम्णे सुषाम्णे
वृषमण्यवोऽधिषवण्या प्रण्यः ॥५४॥

सू० अ०—(अधोलिखित पदो में नकार निपातन से णकार हो जाता है) 'उस्रयाम्णे', 'अनुस्रयाम्णे', 'सुषाम्णे', 'वृषमण्यवः', 'अधिषवण्या' (और) 'प्रण्यः'।

टि० (क) स. । जिह्वया । चतुऽअनीक. ॥ प० पा०

(ख) शम् । न । अग्नि. । ज्योतिऽअनीकः । अस्तु ॥ प० पा०

उपर्युक्त पाँचो उदाहरणों में ऐसे सावग्रह पद हैं जिनमें (१) हकार नही है (२) तीन से अधिक 'अक्षर' है और जो (३) 'पुर.', 'पुन.', 'दु', 'चतु', अथवा 'ज्योति.' से प्रारम्भ होते हैं। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार इन पदो का नकार णकार नही हुआ है।

(ग) कुमारऽदेष्णा । जयत । पुनऽहन. ॥ प० पा०

'पुनर्हण.' में नकार ५।४० से णकार हो गया है क्योकि इस पद में हकार विद्यमान है।

(घ) दुऽनामा । योनिम् । आऽशये ॥ प० पा०

'दुर्णामा' में नकार ५।४० से णकार हो गया है क्योकि इस पद में तीन से अधिक 'अक्षर' नही, अपितु तीन ही 'अक्षर' है।

---

[१] ऋ० ५।४८।५ [२] ऋ० ७।३५।४ [३] ऋ० १०।३४।७
[४] ऋ० १०।१६२।१

उ० भा० - एतेषु षट्सु पदेषु णत्वं निपात्यते—"यकारस्पर्शसंहितम्"[1] इत्यनेन निषिद्धं सत्। उरुयाम्णो —"अरं म उरुयाम्णे।"[२-क] अनुरुयाम्णे—"अरमनुरुयाम्णे।"[१-ख] सुषाम्णो—युवं वरो सुषाम्णे"[३-ग]—स्पर्शसंहितानि त्रीण्युदाहरणानि। वृषमण्यवः— "समानमेकं वृषमण्यवः पृथक्।"[४-घ] अधिषवण्या—"यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता।"[६-ङ] प्रण्यः – "इमा उ ते प्रण्यो वर्धमानाः"[७-च]—एतानि त्रीणि य[illegible]संहितानि॥

उ० भा० अ०—यकार और 'स्पर्श' से मिले हुए (नकार) को (णकार नहीं बनाते)"– इस (सूत्र) से निषिद्ध होने पर 'णत्व' इन छ पदों में निपातन से हो जाता है।····· ··। 'स्पर्श' से मिले हुए (नकार के) ये तीन उदाहरण हैं।··· · । यकार से मिले हुए (नकार के) ये तीन उदाहरण हैं।

(नतिसंधिविषयकनिपातनानि)

दूळ्यदूणाशदूळभप्रवादा
दुर्दूभूतमक्षरं तेषु नन्तृ ॥५५॥

(नतिसंधिविषयक निपातन)

सू० अ०—'दूळ्य', 'दूणाश' (और) 'दूळभ' के सभी रूपों (में 'दन्त्य' 'मूर्धन्य' हो गया है)। 'दुर्' 'अक्षर' 'दू' होकर इन (पदों) में 'मूर्धन्य' करने वाला ('नन्तृ') है।

उ० भा०— दूळ्य, दूणाश, दूळभ—एते प्रवादाः कृतदन्त्यमूर्धन्यभावा निपातिताः। न चाप्यत्र ऋकाररेफषकाराणामन्यतमोऽपि विद्यते, अतः कारणमपि दर्शयति। दुरित्येतदक्षर मात्रिकं दूभूतं द्विमात्रिकं सदेतेषु नन्तृ दकारनकारवकारेषु।

दूळ्य "न दूळ्ये अनु ददासि वामम्"[८-छ]; "मन्युं जनस्य दूळ्यः।"[९-ज] दूणाश–

टि० (क) अरम्। मे। उरुऽयाम्ने॥ प० पा०

(ख) अरम्। अनुरुऽयाम्ने॥ प० पा०

(ग) युवम्। वरो इति। सुऽसाम्ने॥ प० पा०

(घ) समानम्। एकम्। वृषऽमन्यव। पृथक्॥ प० पा०

(ङ) यत्र। द्वौऽइव। जघना। अधिऽसवन्या। कृता॥ प० पा०

(च) इमा। ऊँ इति। ते। प्रऽन्य.। वर्धमाना॥ प० पा०

५।४७ में 'मूर्धन्यभाव' ('नति') का जो निषेध किया गया था उसका बाध करके इन उदाहरणों में नकार णकार (प्रतिप्रसव) हो गया है।

(छ) न। दुःऽव्ये। अनु। ददासि। वामम्॥ प० पा०

(ज) मन्युम्। जनस्य। दुःऽध्यः॥ प० पा०

---

१ ५।४७	२ ऋ० ४।३२।२४	३ ऋ० ४।३२।२४
४ ऋ० ८।२६।२	५ ऋ० १।१३१।२	६ ऋ० १।२८।२
७ ऋ० ३।३८।२	८ ऋ० १।१९०।५	९ ऋ० ८।१९।१५

"दूणाश सख्यं तव"[१-क]; "त्रिरुत्तमा दूणशा।"[२-ख] दूळभ—"इमे मित्रो वरुणो दूळभासः"[३-ग], "परि ते दूळभो रथः॥"[४-घ]

उ० भा० म०—दूळ्य, दूणाश और दूळभ—इनके सभी रूपों में 'दन्त्य' (वर्ण) निपातन से 'मूर्धन्य' हो गए हैं। यहाँ (अर्थात् इन पदों में) ऋकार, रेफ और षकार में से कोई एक भी विद्यमान नहीं है, इसलिए (सूत्रकार 'मूर्धन्यभाव' का) कारण दिखलाते हैं—एक मात्रा वाला 'दुर्' 'अक्षर' दो मात्रा वाला 'दू' ('अक्षर') होकर इन यकार, नकार और दकार में 'मूर्धन्य' करने वाला ('नन्तृ') है (अर्थात् 'दू' ही यकार को ढकार, नकार को णकार और दकार को ळकार बनाता है)। .... ।

(नतिसंधिः=नकारस्य णकारः) (पूर्वानुवृत्तः)

अव्यवेतं विग्रहे विघ्नकृद्भी
रेफोष्माणौ सर्वपूर्वौ यथोक्तम् ॥५६॥

(नतिसंधि=नकार का णकार) (पूर्वानुवृत्त)

सू० अ०—सब (अर्थात् कोई भी वर्ण) पूर्व में हो तो रेफ और षकार ('ऊष्मन्') भिन्न पद में (स्थित) तथा ('मूर्धन्यभाव' में) विघ्न (बाधा) करने वाले (तीन मध्यम वर्गों) के द्वारा अव्यवहित (नकार) को (णकार बना देते हैं), जैसा (बाद वाले सूत्रों में) कहा गया है।

उ० भा०—अव्यवेतम्=अव्यवहितम्; नकारम्। विग्रहे=नानापदे; वर्तमानं नकारमेव। विघ्नकृद्भिः=विघ्नकर्तारस्त्रयो मध्यमा वर्गास्तैः, अव्यवेतं नकारमेव। रेफोष्माणौ=रेफषकारौ, नकारं नमयतः। सर्वपूर्वौ=ककारपूर्वावपि। यथोक्तम्=येन प्रकारेणोक्तम् एतदधिकृतं वेदितव्यम्।

वक्ष्यति—"नयत्यर्थं च प्र परीति पूर्वौ"[५] इति—"अध्वरेषु प्र णीयते"[६]; "वाजी सम्परि णीयते।"[७] अव्यवेतम् इति किम्? "इह श्रवो वीरवत्तक्षता नः।"[८] "प्लुताकारान्तं सवकारम्"[९] इति प्राप्तिः। सर्वपूर्वौ इति किम्? "शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत।"[१०] विग्रहग्रहणं समानपदाधिकारनिवृत्त्यर्थम्। रेफोष्मग्रहणमृकारनिवृत्त्यर्थम्। यथोक्तग्रहणादिह न भवति—"बलं धेहि तनूषु नः॥"[११]

टि० (क) दुःऽनशम्। सख्यम्। तव॥ प० पा०
(ख) त्रिः। उत्ऽतमा। दुःऽनशा॥ प० पा०
(ग) इमे। मित्र। वरुण.। दुःऽदभास.॥ प० पा०
(घ) परि। ते। दुःऽदभ.। रथः॥ प० पा०

---

१ ऋ० ६।४५।२६ — २ ऋ० ३।५६।८ — ३ ऋ० ७।६०।६
४ ऋ० ४।९।८ — ५ ५।५७ — ६ ऋ० ३।२७।८
७ ऋ० ४।१५।१ — ८ ऋ० ४।३६।९ — ९ ५।५८
१० ऋ० ७।३२।२६ — ११ ऋ० ३।५३।१८

उ० भा० अ०—अव्यवेतम्=अव्यहित, नकार को। विग्रहे=पृथक् पद में; वर्तमान नकार को भी। विघ्नकृद्भिः=('मूर्धन्यभाव' में) विघ्न करने वाले (जो) तीन मध्यम 'वर्ग' (=चवर्ग, टवर्ग तथा तवर्ग) हैं उनके द्वारा, अव्यवहित नकार को ही; रेफोष्माणौ=रेफ और षकार, नकार को णकार, बना देते हैं। सर्वपूर्वौ=सब (वर्ण) पूर्व में होने पर=ककार पूर्व में होने पर भी। यथोक्तम्=जैसा (बाद वाले सूत्रों में) कहा गया है—इसे अधिकार जानना चाहिए, (अर्थात् किसी भी वर्ण के बाद में स्थित रेफ और षकार भिन्न पद में वर्तमान नकार को भी णकार बना देते हैं यदि रेफ या षकार तथा नकार के मध्य में चवर्ग, टवर्ग तथा तवर्ग का कोई भी वर्ण न हो)।

(५।५७ में सूत्रकार) बतलायेंगे—"पूर्व में अवस्थित 'प्र' और 'परि' 'नयति' धातु से उत्पन्न सभी शब्दों को ('मूर्धन्य' बना देते हैं)" (जिसके उदाहरण ये हैं)—'अध्वरेषु प्र णीयते"[क], "वाजी सन्परि णीयते।"[ख] 'अव्यवहित (नकार) को"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "इह श्रवो वीरवत्तक्षता न"[ग]—'दीर्घत्व को प्राप्त अकार में अन्त होने वाले तथा षकारसहित (पद से बाद में स्थित 'न' 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त करता है)"—इससे ('णत्व' की) प्राप्ति थी।[घ] "सब (अर्थात् कोई भी) पूर्व में हो तो"=यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत।"[ङ] (सूत्र में) विग्रहे (पद) का ग्रहण (५।४० से प्राप्त) 'समानपद' के अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। (सूत्र में) रेफ और ऊष्मन् का ग्रहण (५।४० से प्राप्त) ऋकार की निवृत्ति के लिए किया

टि० (क) अध्वरेषु। प्र। नीयते॥ प० पा०

(ख) वाजी। सन्। परि। नीयते॥ प० पा०

५।५७ में यह विधान किया गया है कि पूर्ववर्ती 'प्र' और 'परि' 'नयति' धातु से उत्पन्न सभी शब्दों को 'मूर्धन्य' कर देते हैं जिसके अनुसार उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'नीयते' का 'णीयते' हो गया है।

(ग) इह। श्रवः। वीरऽवत्। तक्षत। नः॥ प० पा०

(घ) यहाँ ५।५८ से 'नः' के नकार को णकार होना चाहिए किंतु षकार और नकार के मध्य में मध्यम वर्ग के वर्ण (=तकार) का व्यवधान होने से नकार णकार नहीं होता है।

(ङ) शिक्ष। न। अस्मिन्। पुरुऽहूत॥ प० पा०

५।४० में यह कहा गया था कि यदि पूर्व में ककार न हो तो ऋकार, रेफ और षकार नकार को णकार बनाते हैं जिससे 'शिक्षा ण" में नकार को णकार नहीं होना चाहिए था क्योंकि षकार के पूर्व में ककार है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में "सर्वपूर्वौ" शब्द का ग्रहण करके यह बतला दिया है कि रेफ और षकार के पूर्व में ककार होने पर भी प्रकृत स्थलों में नकार का णकार हो जायेगा जिससे "शिक्षा ण" में 'णत्व' की प्राप्ति हो गई है। यहाँ ५।५८ से नकार णकार हुआ है।

गया है। (सूत्र में) यथोक्त का ग्रहण होने से यहाँ (नकार णकार) नही होता है— "बल धेहि तनूषु न.।"[क]

आनीन्नु त्यं नोनुवुर्नोनुमश्च नयत्यर्थे च प्र परीति पूर्वौ ॥५७॥

सू० अ०—पूर्व में अवस्थित 'प्र' और 'परि' (इन पदों को 'मूर्धन्य' बना देते हैं)—'आनीत्', 'नु त्यम्', 'नोनुवुः', 'नोनुमः' और 'नयति' धातु का अर्थ रखने वाले (शब्दों को) (='नयति' धातु से उत्पन्न सभी शब्दों को)।

उ०भा०—आनीत्, नु त्यम्, नोनुवुः, नोनुमः—इत्येतानि च पदानि नयत्यर्थे च। अर्थग्रहणान्नयतेः सर्वाणि रूपाणि गृह्यन्ते। प्र परि इति एतौ पूर्वौ सन्तौ नमयतः। आनीत्—"अथेदु प्राणीदममन्।"[१-ख] नु त्यम्—"प्र णु त्य विप्रमध्वरेषु।"[२-ग] त्यम् इति किम्? "प्र नू स मर्तः।"[३-घ] नोनुवुः—"अभि प्र णोनुवुर्गिरः।"[४-ङ] नोनुमः—"इमा अभि प्र णोनुमः।"[५-च] नयत्यर्थे च—"वाजी सन्परि णीयते"[६-छ]; "अध्वरेषु प्र णीयते।"[७-ज] पूर्वौ इति वचनाद्व्यवहितस्य न भवति "प्र यं राये निनीषसि॥"[८]

उ० भा० अ०—आनीत् नु त्यम्, नोनुवुः, नोनुमः—ये पद, नयत्यर्थे च= और 'नयति' (धातु) से उत्पन्न सभी शब्द। (सूत्र में) अर्थ का ग्रहण होने से 'नयति'

टि० (क) बलम्। धेहि। तनूषु। नः॥ प० पा०

यद्यपि यहाँ पर (१) षकार और नकार भिन्न-भिन्न पदों में वर्तमान है और (२) दोनो के मध्य में विघ्न करने वाले मध्यम वर्गों (चवर्ग, टवर्ग तथा तवर्ग) का कोई भी वर्ण नही है तथापि षकार ने नकार को णकार नही बनाया है। इसका कारण यह है कि सूत्र में "यथोक्त" पद का ग्रहण किया गया है। सूत्र में उल्लिखित सभी शर्तें पूरी होने पर भी सर्वत्र 'मूर्धन्यभाव' नही होता है, अपितु केवल वही होता है जहाँ बाद वाले सूत्रों में विहित है। बाद वाले किसी भी सूत्र से 'तनूषु नः" में 'मूर्धन्यभाव' नही होता है।

(ख) अथ। इत्। ऊँ इति। प्र। आनीत्। अममन्॥ प० पा०

(ग) प्र। नु। त्यम्। विप्रम्। अध्वरेषु॥ प० पा०

(घ) प्र। नु। स। मर्तः॥ प० पा०

यहाँ 'नु' के बाद में 'त्यम्' नही है, अत नकार णकार नही हुआ है।

(ङ) अभि। प्र। नोनुवुः। गिरः॥ प० पा०

(च) इमाः। अभि। प्र। नोनुमः॥ प० पा०

(छ) वाजी। सन्। परि। नीयते॥ प० पा०

(ज) अध्वरेषु। प्र। नीयते॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १०।३२।८ [२] ऋ० ५।१।७ [३] ऋ० १।६४।१३
[४] ऋ० ६।४५।२५ [५] ऋ० ८।६।७ [६] ऋ० ४।१५।१
[७] ऋ० ३।२७।८ [८] ऋ० ८।१०३।४

(धातु) के सभी रूपों का ग्रहण होता है। प्र और परि—ये; पूर्वौ=पूर्व में स्थित होने पर; (उपर्युक्त पदों को) 'मूर्धन्य' बना देते हैं। ·· ·· । (सूत्र में) पूर्वौ का उल्लेख होने से व्यवहित का ('मूर्धन्यभाव') नहीं होता है—"प्र य राये निनीषसि।"क

पुरुप्रिया ब्रह्म सुतेषु नेषि
प्लुताकारान्तं सषकारमिन्द्र
नते सु स्मेति सवनेषु पर्षि
स्वरर्यमा प्रोरु परीति तैर्नः ॥५८॥

सू० अ०—'पुरुप्रिया', 'ब्रह्म', 'सुतेषु', 'नेषि', दीर्घत्व को प्राप्त ('प्लुत') अकार में अन्त होने वाला तथा षकारसहित (सषकार) (पद), 'इन्द्र', 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त ('नत') 'सु' (और) 'स्म' ये (दो पद), 'सवनेषु', 'पर्षि', 'स्वः', 'अर्यमा', 'प्र', 'उरु', 'परि'—इन (पदों) से बाद में आने वाला 'नः' ('मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है)।

उ० भा०—पुरुप्रिया, ब्रह्म, सुतेषु, नेषि, प्लुताकारान्तं सषकारम्—मात्रिकोऽकारः स लक्षणवशाद् द्विमात्रिकः सन्प्लुत उच्यते। प्लुतोऽकारोऽन्ते यस्य पदस्य तत्तथोक्तम्। सह षकारेण वर्तत इति सषकारं पदम्। इन्द्र, नते सु स्मेति=नति प्राप्ते सु स्म इत्येते पदे, सवनेषु, पर्षि, स्वः, अर्यमा, प्र, उरु, परि इति—(तैः=) एतैः, पदैरुपहितं सत् नः इत्येतत्पदं नम्यते।

पुरुप्रिया—"पुरुप्रिया ण ऊतये।"१-ख ब्रह्म—"ब्रह्मा ण इन्द्रोप याहि विद्वान्।"२-ग सुतेषु—"शक्रो यथा सुतेषु णः।"३-घ नेषि—"नेषि णो यथा पुरा।"४-ङ प्लुताकारान्तं सषकारम्—"क्षरा णो अभि वार्यम्"५-च; "अर्षा णः सोम शं गवे।"६-छ प्लुताकारान्तम्

टि० (क) प्र। यम्। राये। निनीषसि॥ प० पा०

सूत्र में 'पूर्वौ' पद का उल्लेख यह बतलाने के लिए किया गया है कि अव्यवहित पूर्व में होने पर ही 'प्र' और 'परि' निर्दिष्ट पदों में 'मूर्धन्यभाव' करते हैं। यदि 'प्र' या 'परि' तथा निर्दिष्ट पदों के मध्य में कोई व्यवधान हो तो 'मूर्धन्यभाव' नहीं होता है, जैसा कि इस प्रत्युदाहरण से स्पष्ट है।

(ख) पुरुऽप्रिया। न। ऊतये॥ प० पा०
(ग) ब्रह्म। न। इन्द्र। उप। याहि। विद्वान्॥ प० पा०
(घ) शक्र। यथा। सुतेषु। न॥ प० पा०
(ङ) नेषि। न। यथा। पुरा॥ प० पा०
(च) क्षर। न। अभि। वार्यम्॥ प० पा०
(छ) अर्ष। न। सोम। शम्। गवे॥ प० पा०

---

१ ऋ० ८।५।४ २ ऋ० ७।२८।१ ३ ऋ० ११।०।५
४ ऋ० १।१२९।५ ५ ऋ० ९।३५।२ ६ ऋ० ९।६१।१५

इति किम् ? "तेन सोमाभि रक्ष न."[१-क]; "पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे।"[२-ख] सषकारम् इति किम् ? "यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।"[३-ग] इन्द्र—"समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः।"[४-घ] नते सु स्मेति—"अभी षु णः सखीनाम्"[५-ङ]; "मो षु णः परापरा"[६-च]; "त ऊ षु णो महो यजत्राः"[७-छ]; आषु ष्मा णो मघवन्निन्द्र पृत्सु।"[८-ज] नते इति किम् ? "प्र सु न आयुर्जीवसे तिरेतन"[९-झ]; "इन्द्र सूरीन्कृणुहि स्मा नो अर्धम्।"[१०-ञ] सवनेषु—"ररन्धि सवनेषु णः।"[११-ट] पर्षि—"पर्षि ण पारमंहसः

(३८२छ) 'क्षरा' (='क्षर') और 'अर्षा' (=अर्ष)—ये दोनों पद (१) 'प्लुत' (दीर्घत्व को प्राप्त) अकार में अन्त होते हैं तथा (२) इनमें षकार भी विद्यमान है, अत इन पदों के बाद में वर्तमान 'नः' 'ण' हो गया है।

टि० (क) तेन। सोम। अभि। रक्ष। न.॥ प० पा०

यद्यपि 'रक्ष' षकार-सहित पद है तथापि इसके बाद में वर्तमान 'नः' 'ण.' नही हुआ है क्योकि 'रक्ष' पद 'प्लुत' (दीर्घत्व को प्राप्त) अकार में अन्त नही होता है अर्थात् 'रक्ष' का 'अ' संहिता-पाठ में 'आ' नही होता है।

(ख) पूषा। नः। यथा। वेदसाम्। असत्। वृधे॥ प० पा०

'पूषा' पद में षकार भी विद्यमान है और इसका अन्त भी आकार में होता है तथापि इसके बाद में वर्तमान 'न.' 'ण.' नही हुआ क्योकि 'पूषा' का आकार अकार के स्थान पर दीर्घत्व ('प्लुति') के परिणामस्वरूप नही आया है, अपितु यह स्वाभाविक है जैसा कि पद-पाठ से स्पष्ट है।

(ग) यत्र। न.। चक्र। जरसम्। तनूनाम्॥ प० पा०

यहाँ 'न' 'ण.' नही हुआ है क्योकि 'न' के पूर्व में विद्यमान 'यत्रा' (=यत्र) पद 'प्लुत' अकार (=आ) में अन्त होने वाला तो है किंतु उसमें षकार नही है।

(घ) सम्। इन्द्र। न.। मनसा। नेषि। गोभि.॥ प० पा०

(ङ) अभि। सु। नः। सखीनाम्॥ प० पा०

(च) मो इति। सु। नः। पराऽपरा॥ प० पा०

(छ) ते। ऊँ इति। सु। न.। मह.। यजत्रा॥ प० पा०

(ज) आसु। स्म। नः। मघऽवन्। इन्द्र। पृत्ऽसु॥ प० पा०

(झ) प्र। सु। न.। आयु। जीवसे। तिरेतन॥ प० पा०

(ञ) इन्द्र। सूरीन्। कृणुहि। स्म। न। अर्धम्॥ प० पा०

इन दोनो प्रत्युदाहरणो में 'न' 'ण.' नही हुआ है क्योकि 'न.' के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त 'सु' ('षु') और 'स्म' ('ष्म') वर्तमान नही हैं।

(ट) ररन्धि। सवनेषु। न.॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ९।११४।४ [२] ऋ० १।८९।५ [३] ऋ० १।८९।९
[४] ऋ० ५।४२।४ [५] ऋ० ४।३१।३ [६] ऋ० १।३८।६
[७] ऋ० १०।६१।२७ [८] ऋ० ६।४४।१८ [९] ऋ० ८।१८।२२
[१०] ऋ० ६।४४।१८ [११] ऋ० ३।४१।४

स्वस्ति ।"१-क स्वः—"ईशानासो ये दधते स्वर्ण. ।"२-ख अर्यमा—"अर्यमा णो अदितिः ।"३-ग प्र—"प्र ण स्पार्हाभिरूतिभिः ।"४-घ उरु—"उरु णो वाजसातये ।"५-ङ परि—"परि णः शर्मयन्त्या ॥"६-च

उ० भा० अ०—पुरुप्रिया, ऋहः सुतेषु, नेषि; प्लुताकारान्तं सषकारम्= दीर्घत्व को प्राप्त ('प्लुत') अकार में अन्त होने वाला तथा षकारसहित (सषकार) (पद)—अकार एक मात्रा वाला है वह (अकार) नियम से दो मात्राओं वाला होने पर 'प्लुत' कहा जाता है। 'प्लुत' अकार है अन्त में जिस पद के वह उस प्रकार कहा गया (अर्थात् प्लुताकारान्त) (पद) है। षकार के साथ (अर्थात् षकार से युक्त) होता है इसलिए सषकार पद (कहा गया है)। इन्द्र; नते सु स्तोति='मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त 'सु' (और) 'स्त'—ये दो पद; सवनेषु, पर्षि, स्वः, अर्यमा, प्र. उरु, परि—(तैः=) इन; पदों के बाद में वर्तमान होने पर नः—यह पद 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है (अर्थात् 'णः' हो जाता है)।

हेळो मुञ्चतं मित्राय राया पूषा गध्यविषच्छकारवत् ।
नव्येभिस्त्मने वाजान्कृणोत द्वे नय प्रतरं परेषु न ॥४९॥

सू० अ०—'हेळः', 'मुञ्चतम्', 'मित्राय', 'राया', 'पूषा', 'गधि', 'अविषन्', 'छकार वाला (पद)', 'नव्येभिः'. 'त्मने', 'वाजान्', 'कृणोत', और 'नय प्रतरम्' ये दो (पद)—यदि ये (अर्थात् इनमें से कोई भी) बाद में हों तो 'नः' (५।४८ में उल्लिखित पदों के बाद में वर्तमान होने पर 'मूर्धन्य') नहीं (होता है)।

उ० भा०—हेळः, मुञ्चतम्. मित्राय, राया, पूषा, गधि, अविषन्, छकारवत्= छकारसयुक्तं पदम्, नव्येभिः, त्मने, वाजान्, कृणोत, द्वे पदे नय प्रतरम्—इत्येतेषु पदेषु; (परेषु=) परभूतेषु; नः इत्येतस्य पदस्य यदुक्तं पुरुप्रियादिभिरुपपदैर्णत्वं तत् न भवति।

हेळः "परि नो हेळो वरुणस्य ।"७-छ मुञ्चतम्—"प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशात् ।"८-ज मित्राय—"प्र नो मित्राय वरुणाय वोचः ।"९-झ राया—"प्र नो राया

टि० (क) पर्षि । नः । पारम् । अंहसः । स्वस्ति ॥ प० पा०
(ख) ईशानासः । ये । दधते । स्वः । नः ॥ प० पा०
(ग) अर्यमा । नः ।अदितिः ॥ प० पा०
(घ) प्र । नः । स्पार्हाभिः । ऊतिऽभिः ॥ प० पा०
(ङ) उरु । नः । वाजऽसातये ॥ प० पा०
(च) परि । नः । शर्मऽयन्त्या ॥ प० पा०
(छ) परि । नः । हेळः । वरुणस्य ॥ प० पा०
(ज) प्र । नः । मुञ्चतम् । वरुणस्य । पाशात् ॥ प० पा०
(झ) प्र । नः । मित्राय । वरुणाय । वोचः ॥ प० पा०

१ ऋ० २।३३।३ २ ऋ० ७।९०।६ ३ ऋ० ३।५४।१८
४ ऋ० ७।५८।३ ५ ऋ० ५।६४।६ ६ ऋ० ९।४१।६
७ ऋ० ७।८४।२ ८ ऋ० ६।७४।४ ९ ऋ० ७।६२।२

परीणसा।"[१-क] पूषा—"प्र नः पूषाः चरथम्।"[२-ख] गधि—"एन्द्र नो गधि प्रियः।"[३-ग] अविषत्—"स वाजेषु प्र नोऽविषत्।"[४-घ] छकारवत्—"प्र नो यच्छत्वर्यमा।"[५-ङ] नव्येभिः—"प्र नो नव्येभिस्तिरतम्।"[६-च] त्मने—"नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने।"[७-छ] वाजान्—"प्र नो वाजान्रथ्यो अश्वबुध्यान्।"[८-ज] कृणोत—"देवी षळुर्वीरुरु नः कृणोत।"[९-झ] उर्विति णत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः। द्वे नय प्रतरम्—"प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ।"[१०-ञ] द्वे इति किम्? "प्र णो नय वस्यो अच्छ॥"[११-ट]

उ० भा० अ०—हेळः, मुळतम्, मित्राय, राया, पूषा, गधि, अविषत्, छकारवत्=छकार से युक्त पद, नव्येभिः, त्मने, वाजान्, कृणोत, द्वे पदे नय प्रतरम्='नय प्रतरम्' ये दो पद—ये पद बाद में हों तो नः—इस पद के विषय में जो (५।५८ में) कहा गया है कि 'पुरुप्रिया' आदि उपपदों से (बाद में होने पर) 'णत्व' हो जाता है वह; न=नहीं; होता है; (अर्थात् इन पदो में से कोई भी पद 'नः' के बाद में हो तो ५।५८ में उल्लिखित पदों के बाद में आने पर भी 'नः' 'णः' नहीं होगा)।........................। 'उरु' के कारण 'णत्व' प्राप्त होने पर (प्रस्तुत सूत्र से) निषेध हो गया है।............ ...।

टि० (क) प्र। नः। राया। परीणसा॥ प० पा०

(ख) प्र। नः। पूषा। चरथम्॥ प० पा०

(ग) आ। इन्द्र। नः। गधि। प्रियः॥ प० पा०

(घ) सः। वाजेषु। प्र। नः। अविषत्॥ प० पा०

(ङ) प्र। नः। यच्छतु। अर्यमा॥ प० पा०

(च) प्र। नः। नव्येभिः। तिरतम्॥ प० पा०

(छ) नु। मित्रः। वरुणः। अर्यमा। नः। त्मने॥ प० पा०

(ज) प्र। नः। वाजान्। रथ्यः। अश्वऽबुध्यान्॥ प० पा०

(झ) देवी। षट्। उर्वीः। उरु। नः। कृणोत॥ प० पा०

(ञ) प्र। नः। नय। प्रऽतरम्। वस्यः। अच्छ॥ प० पा०

(ट) प्र। नः। नय। वस्यः। अच्छ॥ प० पा०

यहाँ 'प्र' के बाद में वर्तमान 'नः' ५।५८ से 'णः' हो गया है क्योंकि 'नः' के बाद में 'नय प्रतरम्' ये दो पद नहीं हैं, अपितु एक ही पद 'नय' है।

---

१ ऋ० ५।१०।१ २ ऋ० १०।९२।१३ ३ ऋ० ८।९८।४
४ ऋ० १।८१।१ ५ ऋ० १०।१४१।२ ६ ऋ० ७।९३।४
७ ऋ० ७।६२।६ ८ ऋ० १।१२१।१४ ९ ऋ० १०।१२८।५
१० ऋ० ६।४७।७ ११ ऋ० ८।७१।६

गोरोहेण निर्गमाणीन्द्र एणा इन्द्र एणं स्वर्ण परा णुदस्व अग्नेरवेण वार्ण शक्र एणम् ।।६०।।

सू० अ०—(इन स्थलों पर नकार णकार हो जाता है)—'गोरोहेण', 'निर्गमाणि', 'इन्द्र एणाः', 'इन्द्र एणम्', 'स्वर्ण', 'परा णुदस्व', 'अग्नेरवेण', 'वार्ण' और 'शक्र एणम्'।

उ० भा०—इत्येतेषु नकारः संधिजैरपि पूर्वपदस्थैर्निमित्तैर्नम्यते । गोरोहेण—"गोरोहेण तौग्र्यो न जिव्रिः ।"[१-क] निर्गमाणि—"तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि ।"[२-ख] इन्द्र एणाः—"इन्द्र एणा नि यच्छतु ।"[३-ग] इन्द्र एणम्—"इन्द्र एण प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।"[४-घ] स्वर्ण—"स्वर्ण वस्तोरुषसामरोचि ।"[५-ङ] परा णुदस्व—"परा णुदस्व मघवन्नमित्रान् ।"[६-च] अग्नेरवेण—"अग्नेरवेण मरुताम् ।"[७-छ] वार्ण—"वार्ण पथा रथ्येव ।"[८-ज] शक्र एणम्—"शक्र एणं पीपयत् ।।"[९-झ]

उ० भा० अ०—पूर्ववर्ती पद में स्थित संधिज भी (और असंधिज भी) निमित्तों से इन (पदों) में नकार 'मूर्धन्यभाव' (='नति') को प्राप्त होता है (अर्थात् णकार हो जाता है)। .... ।

टि० (क) गो । ओहेन । तौग्र्य । न । जिव्रि ।। प० पा०

(ख) तिरश्चता । पार्श्वात् । नि । गमानि ।। प० पा०

दोनो उदाहरणो में ४।२७ से विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला तथा पूर्ववर्ती पद में स्थित रेफ दूसरे पद के नकार के 'णत्व' का निमित्त है।

(ग) इन्द्र. । एना । नि । यच्छतु ।। प० पा०

(घ) इन्द्र । एनम् । प्रथम । अधि । अतिष्ठत् ।। प० पा०

पूर्ववर्ती पद ('इन्द्र') में स्थित रेफ दूसरे पद के नकार के 'णत्व' का निमित्त है।

(ङ) स्व । न । वस्तोः । उषसाम् । अरोचि ।। प० पा०

(च) परा । नुदस्व । मघऽवन् । अमित्रान् ।। प० पा०

(छ) अग्ने । अवेन । मरुताम् ।। प० पा०

(ज) वा । न । पथा । रथ्याऽइव ।। प० पा०

(झ) शक्र । एनम् । पीपयत् ।। प० पा०

---

१ ऋ० १।१८०।५ २ ऋ० ४।१८।२ ३ ऋ० १०।१९।२
४ ऋ० १।१६३।२ ५ ऋ० ७।१०।२ ६ ऋ० ७।३२।२५
७ ऋ० १।१२८।५ ८ ऋ० २।४।६ ९ ऋ० ८।१।१९

(नतिसंज्ञा)

एषा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभावः ॥६१॥

(नति-संज्ञा)

सू० अ०—यह 'नति' है जिसमें 'दन्त्य' 'मूर्धन्य' हो जाता है।

उ० भा०—"अन्तःपादं नाम्युपधः सकारः"[1] इत्येवमादि यदुक्तम्, (एषा नतिः=) तन्नतिः इति वेदितव्यम्। (दन्त्यमूर्धन्यभावः=) दन्त्यानां वर्णानां मूर्धन्यभावः; नतिरित्यभिधीयते। नतिसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"नतिं प्लुतोपाचरिते"[2] इति ॥

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये पञ्चमं पटलम् ॥

उ० भा० अ०—"पाद के मध्य में 'नामि'-'स्वर'-वर्ण से बाद में आने वाला सकार (षकार हो जाता है)"—इस (सूत्र) से प्रारम्भ करके जो कहा गया है; (एषानतिः=) यह 'नति' है—यह जानना चाहिए। (दन्त्यमूर्धन्यभावः=) 'दन्त्य' वर्णों का 'मूर्धन्य' होना 'नति' कहलाता है। नति-संज्ञा का प्रयोजन—"'नति', 'प्लुति' और 'उपाचरित' को (प्रकृति-रूप में ले आवे)।"

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यभाष्य में पञ्चम पटल समाप्त हुआ।

---

[1] ५।१ [2] ११।३७-३८

६ : ध्वन्यागम-पटलम्

क्रमः (=वर्णद्विर्वचनम्)

नियमानां सर्वत्र संगतिः

अभिनिधानम्

यमः

स्वरभक्तिः

ध्रुवसंज्ञो नादः

अभिनिधानलोपे मतद्वयम्

प्रथमस्पर्शस्य द्वितीयस्पर्शभावः

'क्शा'-स्थाने 'ल्या'ऽऽदेशः

(क्रमः=वर्णद्विर्वचनम्)

स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादिः स क्रमोऽविक्रमे सन् ॥१॥

(क्रम=वर्ण का द्विरुच्चारण)

सू० अ०—संयुक्त वर्ण ('सयोग') का आदि (=प्रथम 'व्यञ्जन') दो बार उच्चारित होता है (=प्रथम 'व्यञ्जन' द्वित्व को प्राप्त होता है) यदि (इसके) पूर्व में 'स्वर' अथवा 'अनुस्वार' हो। अपरिवर्तित विसर्जनीय पर लागू न होता हुआ यह (विधान) 'क्रम' (कहलाता है)।

उ० भा०—(स्वरानुस्वारोपहितः=) स्वरेणानुस्वारेण चोपहितः, संयोगादिः वर्णः अविक्रमे वर्तमानः सन्; द्विरुच्यते; सः=एषः विधिः; (क्रमः=) क्रमसंज्ञः; वेदितव्यः। "आ त्वा रथं यथोतये"[१]; "सोमान स्स्वरणम्।"[२] स्वरानुस्वारोपहितः इति कस्मात्? "त्वावतः पुरूवसो।"[३] संयोगादिः इति कस्मात्? "आ ते पितर्मरुताम्"[४]; "अयं स यस्य शर्मन्।"[५] अविक्रमे इति कस्मात्? "यः प्राणतो निमिषतः॥"[६]

उ० भा० अ०—(स्वरानुस्वारोपहितः=) 'स्वर' और 'अनुस्वार' से बाद में विद्यमान; संयोगादिः=संयुक्त वर्ण ('सयोग') का आदि (=प्रथम 'व्यञ्जन'); द्विरुच्यते= दो बार उच्चारित होता है (=द्वित्व को प्राप्त होता है), (अर्थात् 'व्यञ्जन' का द्वित्व हो जाता है यदि वह (१) 'स्वर' अथवा 'अनुस्वार' के बाद में स्थित हो और (२) सयुक्त वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन' हो)। अविक्रमे सन्=अपरिवर्तित विसर्जनीय ('विक्रम') पर लागू न होते हुए, सः=इस विधान को; (क्रमः=) 'क्रम'-सज्ञक, जानना चाहिए। (उदाहरण)—"आ त्वा रथ यथोतये।" "सोमान स्स्वरणम्।" "'स्वर' और 'अनुस्वार' से बाद में विद्यमान"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "त्वावत पुरूवसो।"[क] "सयुक्त वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन'" यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "आ ते पितर्मरुताम्"[ख]; "अय स यस्य शर्मन्।"[ग] "अपरिवर्तित विसर्जनीय

टि० (क) यहाँ सयुक्त वर्ण ('सयोग') के प्रथम 'व्यञ्जन' (=तकार) का द्वित्व नही हुआ है क्योकि इस (तकार) के पूर्व मे न 'स्वर' है और न 'अनुस्वार'।

(ख) 'स्वर' (आ) के भी बाद में विद्यमान तकार का द्वित्व नही हुआ है क्योकि यह तकार सयुक्त वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन' नही है।

(ग) अनुस्वार के भी बाद में विद्यमान सकार का द्वित्व नही हुआ है क्योकि यह सकार सयुक्त वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन' नही है।

---

[१] ऋ० ८।६८।१ [२] ऋ० १।१८।१ [३] ऋ० ८।४६।१
[४] ऋ० २।३३।१ [५] ऋ० १०।६।१ [६] ऋ० १०।१२१।३

पर लागू न होता हुआ"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "य· प्राणतो निमिषतः ।"क

सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते सकृत्स्वेन ॥२॥

सू० अ०—'महाप्राण' ('सोष्म'-वर्ण) तो अपने पूर्ववर्ती (='अल्पप्राण' 'व्यञ्जन') के साथ एक बार उच्चारित होता है।

उ०भा०—सोष्मा तु वर्णः; स्वेन पूर्व्येण=स्ववर्गीयेण पूर्व्येण; सहोच्यते सकृत्। "वि ह्यख्य मनसा"[१]; "अभ्रातेव पुंसः ॥"[२]

उ० भा० अ०—सोष्मा तु='महाप्राण' वर्ण ('सोष्म'-वर्ण) तो; स्वेन पूर्व्येण सह=अपने 'वर्ग' के पूर्ववर्ती ('अल्पप्राण' वर्ण) के साथ, उच्यते सकृत्=एक बार उच्चारित होता है।ख (उदाहरण)—"वि ह्यख्य मनसा"ग, "अभ्रातेव पुंस. ।"घ

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र से 'य' के विसर्जनीय का द्वित्व प्राप्त होता है क्योंकि (१) इस विसर्जनीय ('व्यञ्जन') के पूर्व में 'स्वर' (अकार) है और (२) यह सयुक्त (:प्र) वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन' है। किंतु इस विसर्जनीय का द्वित्व नही होता है। इसीलिये सूत्रकार ने सूत्र में कह दिया है कि 'क्रम' का यह विधान अपरिवर्तित विसर्जनीय पर लागू नही होता है। वास्तव में यह उपलक्षण है। ४।३१ से विसर्जनीय के परिणामात्मक जिह्वामूलीय और उपध्मानीय (परिवर्तित विसर्जनीय) का भी द्वित्व नही होता है। हाँ, ४।३१ से विसर्जनीय के परिणामात्मक शकार, षकार और सकार (परिवर्तित विसर्जनीय) का तो द्वित्व होता है जैसे—श्श्चोतन्ति, वष्ष्यान् और स्स्यन्त्ताम्।

(ख) जब ६।१ के अनुसार 'महाप्राण' ('सोष्म'-वर्ण) का द्वित्व होता है तो वर्गों के द्वितीय (='महाप्राण') 'व्यञ्जन' का द्वित्व उसी वर्ग के प्रथम (=अल्पप्राण) 'व्यञ्जन' से और चतुर्थ ('महाप्राण') 'व्यञ्जन' का द्वित्व उसी वर्ग के तृतीय ('अल्पप्राण') 'व्यञ्जन' से दिखलाया जाता है। इस नियम के मूल में यही तथ्य विद्यमान है कि दो 'महाप्राण' वर्णों का साथ-साथ उच्चारण करने में असुविधा होती है जिससे बचने के लिए प्रथम 'महाप्राण' वर्ण को 'अल्पप्राण' कर दिया जाता है। भाषा-विज्ञान में इस नियम को 'अल्पप्राणीकरण' (deaspiration) कहते हैं। इसी नियम के आधार पर ग्रासमैन ने ग्रिम नियम के विध्वसक अनेक अपवादो का समाधान किया था।

(ग) ६।१ के अनुसार एक खकार के स्थान पर दो खकार प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत सूत्र से इनमें से प्रथम खकार को ककार कर दिया गया है।

(घ) ६।१ के अनुसार एक भकार के स्थान पर दो भकार प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत सूत्र से इनमें से प्रथम भकार को बकार कर दिया गया है।

---

१ ऋ० १।१०९।१   २ ऋ० १।१२४।७

असंयोगादिरपि च्छकारः ॥३॥

सू० अ०—संयुक्त वर्ण ('संयोग') का आदि (=प्रथम 'व्यञ्जन') न होने पर भी छकार (द्वित्व को प्राप्त हो जाता है)।

उ० भा०—(असंयोगादिरपि च्छकारः) क्रामति। "उप च्छायामिव घृणेः"[1]; "तुच्छ्येनाम्वपिहित यदासीत् ॥"[2]

उ० भा० अ०—[असंयोगादिरपि च्छकारः=सयुक्त वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन' न होने पर भी छकार] द्वित्व को प्राप्त हो जाता है। (उदाहरण)—"उप च्छायामिव घृणेः"[क], "तुच्छ्येनाम्वपिहित यदासीत्।"[ख]

परं रेफात् ॥४॥

सू० अ०—रेफ से परवर्ती ('व्यञ्जन') (द्वित्व को प्राप्त हो जाता है)।

उ० भा०—रेफात्परं क्रामति—"अर्द्धं वीरस्य।"[3] "परं रेफात्" इत्यविशेषेणोक्तत्वाद् "राजा" इत्यत्र आकारस्य प्राप्नोति। स्वरोपहिताधिकारान्न। एवमपि "पुरोहितम्" इत्योकारस्य प्राप्नोति। संयोगाद्यधिकारान्न। तत्सिद्ध स्वरोपहितात् सयोगादे रेफात्परमिति ॥

उ० भा० अ०—रेफात्परम्=रेफ से बाद में आने वाला ('व्यञ्जन'), द्वित्व को प्राप्त हो जाता है—(जैसे) "अर्द्धं वीरस्य।"[ग] "रेफ से बाद में आने वाला"—इसे विशेषण-रहित कहने से 'राजा' के आकार का (द्वित्व) प्राप्त होता है। "'स्वर'-वर्ण से बाद में आने पर"—इस अधिकार से नही होता है।[घ] इसी प्रकार 'पुरोहितम्' में ओकार का

टि० (क) यद्यपि 'छकार' संयुक्त वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन' नही है तथापि 'स्वर' के बाद में आने के कारण ही प्रस्तुत सूत्र से उसका द्वित्व हो गया है। ६।२ से प्रथम छकार चकार हो गया है।

(ख) सयुक्त वर्ण ('सयोग') के प्रथम 'व्यञ्जन' (छकार) का द्वित्व हो गया है। ६।२ से प्रथम छकार चकार हो गया है।

(ग) 'स्वर'-वर्ण (अकार) से बाद में विद्यमान संयोगादि रेफ का ६।१ के अनुसार द्वित्व प्राप्त होता है जिसका निषेध ६।८ अथवा ६।११ के द्वारा हो गया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार रेफ के बाद में आने वाले धकार का द्वित्व होता है। द्वित्व से आया हुआ प्रथम धकार ६।२ के अनुसार दकार हो गया है।

(घ) यदि केवल यह विधान किया जाये कि रेफ से परवर्ती वर्ण का द्वित्व होता है तो 'राजा' पद के रेफ के बाद में विद्यमान आकार का भी द्वित्व हो जायेगा जो किसी भी पाठ में उपलब्ध नही है। ६।१ से प्राप्त "'स्वर'-वर्ण से बाद में आने वाला"—इस अधिकार से आकार का द्वित्व नही होता है क्योंकि 'राजा' के आकार के पूर्व में 'स्वर'-वर्ण नही है किंतु 'व्यञ्जन'-वर्ण (ज्) है।

---

[1] ऋ० ६।१६।३८ [2] ऋ० १०।१२९।३ [3] ऋ० ७।१८।१६

(द्वित्व) प्राप्त होता है। "सयुक्त वर्ण ('सयोग') का आदि"—इस अधिकार से नही होता है।[क] इसलिए सिद्ध हुआ कि 'स्वर'-वर्ण से वाद में आने वाले और सयुक्त वर्ण ('सयोग') के आदि रेफ से वाद में आने वाले ('व्यञ्जन' का द्वित्व होता है)।[ख]

स्पर्शा एवं लकारात् ॥५॥

सू० अ०—उसी प्रकार लकार से (बाद में आने वाला) 'स्पर्श' (-वर्ण) (द्वित्व को प्राप्त होता है)।

उ० भा०—यथा रेफात्परं व्यञ्जन क्रामति एवं लकारात् परः स्पर्शः क्रामति। "महत्तद्धुल्वं स्थविरम्।"[1] स्वरोपहितात्सयोगादेरित्येव—"अल्लाभवन्ती." ।[2] स्पर्शः इति किम्? "शतवल्श" ॥[3]

उ० भा० अ०—जिस प्रकार रेफ से बाद में आने वाला 'व्यञ्जन' द्वित्व को प्राप्त होता है; एवं लकारात्=उसी प्रकार लकार से बाद में आने वाला, स्पर्शः='स्पर्श'-वर्ण, द्वित्व को प्राप्त होता है। (उदाहरण)—"महत्तदुल्ब स्थविरम्।" "'स्वर'-वर्ण से बाद में आन वाले तथा सयुक्त वर्ण ('सयोग') के आदि ही (लकार से बाद में आने वाले 'स्पर्श' का द्वित्व होता है)—"अल्लाभवन्ती"।[ग] "स्पर्श"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "शतवल्श"।[घ]

ऊष्मणो वा ॥६॥

सू० अ०—'ऊष्म' (-वर्ण) से (बाद में आने वाला 'स्पर्श'-वर्ण) विकल्प से (द्वित्व को प्राप्त होता है)।

टि० (क) यदि यही विधान किया जाये कि रेफ से परवर्ती वर्ण का द्वित्व हो जाता है तब 'पुरोहितम्' पद के रेफ के बाद में विद्यमान 'ओकार' का भी द्वित्व हो जायेगा जो कही भी उपलब्ध नही है। ६।१ से प्राप्त "'सयुक्त वर्ण ('सयोग') का आदि"—इस अधिकार से ओकार का द्वित्व नही होता है क्योकि ओकार ('सयोग') का आदि वर्ण नही है।

(ख) इस पटल में ६।१ से ६।१४ तक "स्वरानुस्वारोपहित" "सयोगादि" और "अविक्रमे सन्"—ये अधिकार लागू रहते है। जहाँ स्पष्ट रूप से कोई विपरीत उल्लेख हो तभी इन अधिकारो की निवृत्ति होती है। ये अधिकार कभी तो द्वित्व को प्राप्त होने वाले वर्ण के विशेषण होते है जैसे ६।२ में और कभी परवर्ती वर्ण के द्वित्व को करने वाले वर्ण के विशेषण होते है जैसे ६।४-६ में।

(ग) यहाँ भकार का द्वित्व नही हुआ है क्योकि इसके पूर्व में विद्यमान लकार यद्यपि 'स्वर'-वर्ण के वाद में विद्यमान है, तथापि वह लकार सयुक्त वर्ण ('सयोग') का आदि नही है।

(घ) यद्यपि लकार (१) 'स्वर'-वर्ण के वाद म स्थित है और (२) सयुक्त वर्ण का प्रथम 'व्यञ्जन' है, तथापि लकार के वाद में स्थित शकार का द्वित्व नही हुआ है क्योकि शकार 'स्पर्श' वर्ण नही है अपितु 'ऊष्म'-वर्ण है।

[1] ऋ० १०।५१।१ [2] ऋ० ४।१८।६ [3] ऋ० ३।८।११

उ० भा०—ऊष्मणः पर. स्पर्शो वा क्रामति। "प्रास्त्तौदृष्ण्वोजा ऋष्वेभि"[१]; "आपो हि ष्ठा मयोभुवः"[२]; "प्र व स्पळक्रन्सुविताय"[३]; "अङ्गिरसां सामभि स्तूयमाना.।"[४] ऊष्मणः परेषां प्रथमद्वितीयानामेव स्पर्शानां द्विर्वचनमिष्यते, न सर्वेषाम्। तस्मात् "अस्मे" इत्यूष्मणः एव द्विर्वचनं भवति, न परस्य। दशानामिष्टमिति कथमेतदध्यवसीयत इति चेत्। "ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते"[५] इत्यत्र लघुना स्पर्शग्रहणेन सिद्धेऽघोषस्पर्शोदय इति—"त्रिः स्म माह्नः"[६] इत्यत्र मकारस्य द्विर्वचनप्रतिषेधार्थं यदघोषग्रहणं करोति तज्ज्ञापयति न सर्वेषां स्पर्शानां द्विर्वचनं भवतीति। शास्त्रान्तरेष्वपि तथा दृश्यते। "शरः खयः"[७] इति शरः परेषां खयां द्विर्वचनं भवतीति ॥

हकारात्सर्वेषां विभाषा द्विर्वचनमिष्यते। ब्रह्म, ब्रह्म्म, अह्ना,[८] अह्न्ना। स्पर्श इति कस्मात्? अह्वः; बह्व्ह्वः; अह्ह्यः[९]; प्रस्स्वः; कृणुष्व ॥

उ० भा० अ०—ऊष्मणः='ऊष्म' (-वर्ण) से; बाद में आने वाला 'स्पर्श' (-वर्ण); वा=विकल्प से; द्वित्व को प्राप्त होता है। (उदाहरण)—"प्रास्त्तौदृष्ण्वोजा ऋष्वेभि."; "आपो हि ष्ठा मयोभुव"; "प्र व स्पळक्रन्सुविताय"; "अङ्गिरसा सामभि स्तूयमाना।" 'ऊष्म' (-वर्ण) से बाद में आने वाले ('वर्ग' के) प्रथम और द्वितीय ही 'स्पर्श' (-वर्णों) का द्विरुच्चारण अभीष्ट है, सभी ('स्पर्श'-वर्णों) का नही। इसलिए 'अस्मे' (अस्स्मे) में 'ऊष्म' (-वर्ण) का ही द्विरुच्चारण होता है, परवर्ती (मकार) का नही। यदि कोई पूछे कि यह निश्चय कैसे किया गया है कि दस 'स्पर्श' (-वर्णों—क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ) का ही ('ऊष्म'-वर्ण के बाद में द्वित्व होना) अभीष्ट है (तो उत्तर देते है)—" 'अघोष' ('स्पर्श') है बाद में जिसके ऐसा 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद म हो तो (विसर्जनीय) का लोप हो जाता है" —यहाँ लघु 'स्पर्श' ग्रहण से सिद्ध हो जाने पर—"त्रि स्म माह्न"—यहाँ पर मकार के द्विरुच्चारण के प्रतिषेध के लिए " 'अघोष' 'स्पर्श' बाद में होने पर" में जो 'अघोष' का ग्रहण (सूत्रकार) करते है वह यह बतलाता है कि सभी 'स्पर्श' (-वर्णों) का द्विरुच्चारण नही होता है।[क] अन्य शास्त्रों में भी वैसा दिखलाई पडता है—(जैसे) "शर खय." (इस सूत्र में पाणिनि ने यह विधान किया है कि) 'शर्' (श, ष, स) के बाद में आने वाले 'खय्' (ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प) का द्विरुच्चारण होता है।

टि० (क) ४।३६ के भाष्य में यह बतलाया गया है कि उस सूत्र (४।३६) का निर्माण 'ऊष्म'-वर्ण के बाद म विद्यमान 'अघोष' 'स्पर्श' के द्वित्व के लिए किया गया है। इस तथ्य का स्पष्ट व्याख्यान पृ० २७३-२७४ पर किया गया है। यदि सूत्रकार को 'ऊष्म' वर्णो के बाद मे आने वाले सभी 'स्पर्श'-वर्णो का द्वित्व अभीष्ट होता तो वे ४।३६ में 'अघोष' शब्द का उल्लेख न करते। इस ज्ञापक से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ऊष्म'-वर्ण के बाद में आने पर सभी 'स्पर्श'-वर्णो का द्वित्व नही होता, अपितु केवल प्रथम और द्वितीय 'स्पर्श'-वर्णो का द्वित्व होता है।

---

[१] ऋ० १०।१०५।६ [२] ऋ० १०।९।१ [३] ऋ० ५।५९।१
[४] ऋ० १।१०७।२ [५] ४।३६ [६] ऋ० १०।९५।५
[७] पा० वा० ८।४।४७ [८] ऋ० ४।१६।३ [९] ऋ० ९।७७।३

हकार से परे सभी (स्पर्श-वर्णों) का द्विरुच्चारण विकल्प से अभीष्ट है—ब्रह्म, ब्रह्म्म; अह्ना, अह्न्ना। "'स्पर्श' (-वर्ण)" यह क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अह्व", "बह्व:", "अह्य.", "प्रस्व.", "कृणुष्व" ।[क]

नावसितम् ॥७॥

सू० अ०—(रेफ से बाद में आने वाला 'व्यञ्जन' पद के) अन्त में विद्यमान (होने पर द्वित्व को प्राप्त) (होता है)।

उ० भा०—न खलु; (अवसितम्=) पदावसाने वर्तमानम्; रेफात्परं व्यञ्जनं क्रामति। "दर्त्"[1]; "वर्क्"[2] ॥

उ० भा० अ०—रेफ से बाद में स्थित 'व्यञ्जन'; (अवसितम्=) पद के अन्त में वर्तमान होने पर; न=नहीं; द्वित्व को प्राप्त होता है। (उदाहरण) "दर्त्", "वर्क्" ।[ख]

न रेफः ॥८॥

सू० अ०—रेफ (द्वित्व को प्राप्त) नहीं (होता है)।

उ० भा० - रेफः च न क्रामति। "अर्द्ध वीरस्य।"[3] नैतदुदाहरणं युक्तम्—'न परक्रमोपधा'[4] इत्यनेनैव सिद्धत्वात्। इदं तर्हि युक्तं यत्र परक्रमः प्रतिषिध्यते। "दर्त्"[5]; "वर्क्"[6]—इत्यप्राप्तप्राप्त्यर्थम् ॥

उ० भा० अ०—रेफ=रेफ, भी, न=नहीं, द्वित्व को प्राप्त होता है। (उदाहरण) "अर्द्ध वीरस्य।" यह उदाहरण युक्त नहीं है क्योंकि "परवर्ती द्विरुक्त ('व्यञ्जन') का पूर्ववर्ती ('व्यञ्जन') (द्वित्व को प्राप्त) नहीं (होता है)"—इस (सूत्र) से ही यह सिद्ध हो जाता है। तब यह (उदाहरण) युक्त है जहाँ (रेफ के) परवर्ती ('व्यञ्जन') के द्वित्व का निषेध हो गया है। "दर्त्"; "वर्क्" ।[ग] यह (सूत्र) अप्राप्त की प्राप्ति के लिए है।[घ]

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'ऊष्म'-वर्ण के बाद में आने पर 'स्पर्श'-वर्ण का ही द्वित्व होता है। यही कारण है कि इन चारो प्रत्युदाहरणो में 'ऊष्म'-वर्णों के बाद में आने पर भी 'अन्तःस्था'-वर्णों (वकार और यकार) का द्वित्व नहीं हुआ है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र ६।४ का अपवाद है। ६।४ के अनुसार रेफ से बाद में आने वाले 'व्यञ्जन' का द्वित्व होता है किन्तु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार रेफ से बाद में आने वाला 'व्यञ्जन' यदि पद के अन्त में विद्यमान हो तो उसका द्वित्व नहीं होता है।

(ग) प्रस्तुत सूत्र ६।१ का अपवाद है। इन दोनो उदाहरणों में ६।१ के अनुसार रेफ का द्वित्व होना चाहिए किंतु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा रेफ के द्वित्व का निषेध कर दिया गया है।

(घ) रेफ के द्वित्व का निषेध अप्राप्त था। उस अप्राप्त निषेध की प्राप्ति के लिए यह सूत्र है। इस सूत्र के अभाव में ६।१ के अनुसार रेफ का द्वित्व हो जाता।

---

1 ऋ० १।१७४।२ 2 ऋ० १०।८।९ 3 ऋ० ७।१८।१६
4 ६।११ 5 ऋ० १।१७४।२ 6 ऋ० १०।८।९

वोष्मा संयुक्तोऽनुपधः ॥९॥

सू० अ०—पूर्व में कोई (वर्ण) न हो तो संयुक्त 'ऊष्म' (-वर्ण) विकल्प से (द्वित्व को प्राप्त होता है)।

उ० भा०—अनुपधः संयुक्त ऊष्मा वा क्रामति। "ह्‌ह्वयाम्यग्निम्"[१] "श्च्चोतन्ति कोशा"[२]; "स्स्यन्दन्तां कुल्याः।"[३] ऊष्मा संयुक्तः इति किम्? "सोमः"। अनपधः इति कस्मात्? "मुहुरा ह्‌ह्वादुनीवृतः॥"[४]

उ० भा० अ०—अनुपधः=जिसके पूर्व में कोई (वर्ण) नही है वह; संयुक्तः ऊष्मा=अन्य 'व्यञ्जन' से मिला हुआ 'ऊष्म' (-वर्ण); वा=विकल्प से; द्वित्व को प्राप्त होता है। (उदाहरण) "ह्‌ह्वयाम्यग्निम्"; "श्च्चोतन्ति कोशा", "स्स्यन्दन्तां कुल्याः।" "सयुक्त 'ऊष्म' (-वर्ण)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "सोम"।[क] जिसके पूर्व में कोई (वर्ण) न हो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "मुहुरा ह्‌ह्वादुनीवृत.।"[ख]

न तूष्मा स्वरोष्मपरः ॥१०॥

सू० अ०—'स्वर' (-वर्ण) और 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो 'ऊष्म' (-वर्ण) (द्वित्व को प्राप्त) नहीं (होता है)।

उ० भा०—न तु खलु ऊष्मा; (स्वरोष्मपरः=) स्वरोपरो वा ऊष्मपरो वा; क्रामति। स्वरपरः—"प्रत्यु अदर्शि"[५] "पर्षि"।[६] ऊष्मपरः—"यस्सोम सख्ये तव।"[७] किमर्थमिदमुच्यते? त्रयः सकारा मा भूवन्निति। स्वरोष्मपरः इति कस्मात्? "अदश्र्यायती"[८]; "आविर्दूतान्कृणुते वर्ष्यां अह॥"[९]

उ० भा० अ०—तु=किंतु; (स्वरोष्मपरः=) 'स्वर' (-वर्ण) और 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर; ऊष्मा='ऊष्म' (-वर्ण); न=नही, द्वित्व को प्राप्त होता है। स्वरपर (का उदाहरण) "प्रत्यु अदर्शि"; 'पर्षि"। ऊष्मपर (का उदाहरण) "यस्सोम सख्ये तव।" यह किस लिए कहा गया है? (उत्तर) तीन सकार न हो जायें (इसलिए कहा है)।[ग] "'स्वर' (-वर्ण) और 'ऊष्म' (-वर्ण) वाद में न होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों

टि० (क) यहाँ 'ऊष्म'-वर्ण (सकार) का द्वित्व नही हुआ है क्योंकि यह सकार सयुक्त अर्थात् किसी अन्य 'व्यञ्जन' से मिला हुआ नही है।

(ख) पूर्व में 'स्वर' वर्ण (आकार) होने के कारण सयुक्त 'ऊष्म' वर्ण (=हकार) का प्रस्तुत सूत्र के अनुसार विकल्प से द्वित्व नही होता है अपितु ६।१ के अनुसार अवश्य ही द्वित्व होता है।

(ग) यदि 'ऊष्म'-वर्ण वाद में होने पर भी पूर्ववर्ती 'ऊष्म'-वर्ण का द्वित्व हो जावे तो वहाँ तीन सकार हो जायेंगे जो अभीष्ट नही है।

---

[१] ऋ० १।३५।१ [२] ऋ० १।८७।२ [३] ऋ० ५।८३।८
[४] ऋ० ५।५४।३ [५] ऋ० ७।८१।१ [६] ऋ० ८।६७।११
[७] ऋ० १।९१।१४ [८] ऋ० ७।८१।१ [९] ऋ० ५।८३।३

(कहा) ? (उत्तर) ' अदस्रर्यायती''; "आविर्दूतान्कृणुते वर्ष्यां अह ।"क

न परक्रमोपधा ॥११॥

सू० अ०—परवर्ती द्विरुक्त ('व्यञ्जन') का पूर्ववर्ती ('व्यञ्जन') (द्वित्व को प्राप्त) नहीं (होता है)।

उ० भा०—न तु खलु; (परक्रमोपधा=) परक्रमस्योपधा; कामति। "महत्तदुल्ब्वम् ।"[१] "प्रास्त्तौदृष्वौजाः ॥"[२]

उ० भा० अ०—(परक्रमोपधा=) परवर्ती द्विरुक्त ('व्यञ्जन') का पूर्ववर्ती ('व्यञ्जन'), न=नहीं, द्वित्व को प्राप्त होता है, (अर्थात् द्विरुक्त 'व्यञ्जन' के पूर्व में विद्यमान 'व्यञ्जन' का द्वित्व नही होता है) । (उदाहरण) "महत्तदुल्ब्वम्"; "प्रास्त्तौदृष्वौजा ।"ख

सहातिहाय पवमान यस्य द्वे तने चेत्युपहितः पदादिः । छकारः ॥१२॥

सू०अ०—'सह', 'अतिहाय', 'पवमान', 'यस्य' (और) 'तने च'—ये दो (पद)—इनसे बाद में आने वाला पदादि छकार (द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है)।

उ० भा०—सह, अतिहाय, पवमान, यस्य, द्वे तने च—इत्येतं उपहितः पदादिश्छकारो न कामति। सह—"सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः ।"[१] अतिहाय—"अतिहाय छिद्रा गात्राणि ।"[२] पवमान—"यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्याम् ।"[३] यस्य—"यस्य छायामृतम् ।"[४] द्वे तने च—"अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिः ।"[५] पदादिग्रहणमुत्तरार्थम् । द्वे इति कस्मात् ? "उतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात् ॥"[६]

उ० भा० अ०—सह, अतिहाय, पवमान, यस्य; द्वे तने च=तने च—(ये) दो (पद), इत्युपहितः=इनसे बाद में विद्यमान, पदादिश्छकारः=पद के आदि में स्थित छकार, द्वित्व को प्राप्त नही होता है। । पदादि का (सूत्र में) ग्रहण परवर्ती

टि० (क) इन दो उदाहरणो में 'ऊष्म'-वर्णों (=शकार और षकार) का ६।१ से द्वित्व हो गया है क्योकि इनके बाद में न तो स्वर'-वर्ण है और न 'ऊष्म'-वर्ण है।

(ख) ६।१ का अपवाद। ६।१ के अनुसार लकार और सकार का द्वित्व होना चाहिए किंतु यहाँ लकार और सकार के बाद में (६।५ से प्राप्त) द्विरुक्त बकार (ब्ब) तथा द्विरुक्त तकार (त्त) है। इसलिए लकार और सकार का द्वित्व नही हुआ है।

---

[१] ऋ० १०।५१।१ [२] ऋ० १०।१०५।६

[१] ऋ० १०।१३०।७ [२] ऋ० १।१६२।२०

[३] ऋ० ९।११३।६ [४] ऋ० १०।१२१।२

[५] ऋ० ६।४६।१२ [६] ऋ० १०।७३।९

(सूत्र) के लिए (किया गया है)। दो ('तने च') यह (सूत्र मे) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "उतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।"[क]

दीर्घेण च मेतिवर्जम् ॥१३॥

सू० अ०—'मा' को छोड़कर (अन्य किसी) 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से भी (बाद में विद्यमान छकार द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है)।

उ० भा०—दीर्घेण च उपहित पदादिश्छकारो न क्रामति; (मेतिवर्जम्=) मा इत्येतद्दीर्घं वर्जयित्वा। "मर्माणि ते वर्मणा छादयामि।"[१] दीघण इति कस्मात्? "उप च्छायामिव घृणेः।"[२] मेतिवर्जम् इति कस्मात्? "मा च्छेद्म रश्मीँरिति।"[३] पदादिः इति किम्?" ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः॥"[४]

उ० भा० अ०—दीर्घेण च='दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से भी, बाद में विद्यमान पदादि छकार द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है, मेतिवर्जम्='मा'—इस दीर्घ' ('दीर्घ'-'स्वर'-वर्ण-घटित पद) को छोडकर (अर्थात् 'मा' के अतिरिक्त अन्य कोई भी 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण पूर्व में हो तो पदादि छकार का द्वित्व नही होता है)। (उदाहरण) 'मर्माणि ते वर्मणा छादयामि।"[ख] "'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) 'उप च्छायामिव घृणेः।"[ग] "'मा' को छोडकर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "मा च्छेद्म रश्मीँरिति।"[घ] "पद का आदि"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "एच्छाम त्वा बहुधा जातवेद।"[ङ]

टि० (क) छकार का द्वित्व ६।३ से हो गया है क्योकि इसके पूर्व में 'तने च' ये दो शब्द नही हैं अपितु एक ही शब्द 'च' है। यहाँ छकार पद का आदि नही है, इसलिए यदि 'पदादि' को इस प्रस्तुत सूत्र के लिए समझा जायेगा तो पद के आदि में न होने के कारण ही छकार का द्वित्व हो जावेगा और छकार के पूर्व में 'तने च' इन दो पदो के होने की आवश्यकता नहीं रहेगी। किंतु भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि प्रस्तुत सूत्र में पदादि का ग्रहण परवर्ती सूत्र के लिए किया गया है। ऐसा मानने पर इन दोनो पदों की सार्थकता बन जाती है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र ६।३ का अपवाद है। प्रस्तुत सूत्र से 'छादयामि' के छकार का द्वित्व नही होता है।

(ग) ६।३ से छकार का द्वित्व हो गया है क्योंकि छकार के पूर्व मे 'दीर्घ 'स्वर'-वर्ण न होकर ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण है।

(घ) ६।३ से छकार का द्वित्व हो गया है क्योकि छकार के पूर्व में मा' है।

(ङ) 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण ('ऐ') पूर्व में होने पर भी 'ऐच्छाम' के छकार का ६।३ से द्वित्व हो गया है क्योकि यहाँ छकार पदादि नही है। 'दीर्घ' स्वर'-वर्ण पूर्व में होने पर पदादि ही छकार के द्वित्व का निषेध प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

---

[१] ऋ० ६।७५।१८ [२] ऋ० ६।१६।३८

[३] ऋ० १।१०९।३ [४] ऋ० १०।५१।३

संयुक्तं तु व्यञ्जनं शाकलेन ॥१४॥

सू० अ०—('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण से बाद में विद्यमान) संयुक्त वर्ण (का प्रथम 'व्यञ्जन') शाकल के मत से (द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है)।

उ० भ०—संयुक्तं व्यञ्जनं दीर्घात्परं न क्रामति शाकलेन विधानेन। व्यञ्जनग्रहणं छकाराधिकारनिवृत्त्यर्थम्। "आ त्वा रथं यथोतये।"[१] शाकलेन इति कस्मात्? "आ त्वा रथम्।" पदादिरित्येवानुवर्तते—"रात्र्याश्चिदन्ध्रो अति देव।"[२] संयुक्तम् इति कस्मात्? "मा च्छेद्य।"[३] एवमेके।

अपरे दीर्घग्रहणं पदादिग्रहणं च नानुवर्तयन्ति। अविशेषेण सर्वत्र शाकलमिच्छन्ति। "आ त्वा रथम्।" "रात्र्याश्चिदन्धः।" "तव त्यत्।"[४] "धज्जायया अपूर्व्यं।"[५]

उ० भा० अ०—संयुक्तं व्यञ्जनम्=संयुक्त 'व्यञ्जन'; 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से बाद में आने पर द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है; शाकलेन=शाकल के विधान से (अर्थात् 'दीर्घ' स्वर'-वर्ण से बाद में स्थित संयुक्त वर्ण के प्रथम 'व्यञ्जन' का द्वित्व नहीं होता है)। (सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण (६।१२ से प्राप्त) छकार के अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। (उदाहरण) "आ त्वा रथं यथोतये।" "शाकल के मत से"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "आ त्वा रथम्।"[क] (६।१२ से) पदादि की अनुवृत्ति (इस (इस सूत्र में भी) हो रही है— रात्र्याश्चिदन्धो अति देव।"[ख] "संयुक्त ('व्यञ्जन')"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "मा च्छेद्य।"[ग] इस प्रकार कतिपय (आचार्य इस सूत्र की व्याख्या करते हैं)।

दूसरे (आचार्य इस सूत्र में) दीर्घग्रहण और पदादिग्रहण की अनुवृत्ति नहीं करते हैं। बिना किसी विशेष के शाकल के मत को अभीष्ट मानते हैं। (इन आचार्यों के अनुसार शाकल के मत से इन सभी उदाहरणों में द्वित्व नहीं होगा) "आ त्वा रथम्"; "रात्र्याश्चिदन्धः"; "तव त्यत्"; "धज्जायया अपूर्व्यं।"

पदान्तीयो ह्रस्वपूर्वो ङकारो नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे ॥१५॥

सू० अ०—'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) पूर्व में हो तो पद के अन्त में विद्यमान ङकार और नकार द्वित्व को प्राप्त होते हैं, यदि बाद में 'स्वर' (-वर्ण) ('ह्रस्व' या 'दीर्घ') हो।

टि० (क) दूसरे आचार्यों के मत से यहाँ द्वित्व हो गया है।
(ख) 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण (आकार) के बाद में विद्यमान संयुक्त 'व्यञ्जन' तकार का ६।१ से द्वित्व हो गया है क्योंकि यह तकार पद के आदि में विद्यमान नहीं है।
(ग) 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण ('मा') के बाद में विद्यमान छकार का द्वित्व ६।१ से हो गया है क्योंकि यहाँ छकार संयुक्त 'व्यञ्जन' नहीं है।

---

१ ऋ० ८।६८।१ २ ऋ० १।९४।७ ३ ऋ० १।१०९।३
४ ऋ० ८।१५।७ ५ ऋ० ८।८३।५

उ० भा०—पदान्तीयो ह्रस्वपूर्वो ङकारो नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे सति। "कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे"[1]; "अहन्नहिं परिशयानम्।"[2] ह्रस्वपूर्वः इति कस्मात्? "अर्वाङेहि सोमकाम त्वाहुः"[3]; "पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्।"[4] पदान्तीयः इति किम्? "सिनीवालि॥"[5]

उ० भा० अ०—ह्रस्वपूर्वः='ह्रस्व' (स्वर'-वर्ण) हो पूर्व में जिसके वह; पदान्तीयो ङकारो नकारश्च=पद के अन्त में विद्यमान ङकार और नकार; क्रामतः=द्वित्व को प्राप्त होते हैं; उत्तरे स्वरे=बाद में 'स्वर'वर्ण ('ह्रस्व' या 'दीर्घ') होने पर, (अर्थात् ङकार और नकार का द्वित्व हो जाता है यदि (१) इनके पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण हो (२) बाद में 'ह्रस्व' या 'दीर्घ' कोई भी 'स्वर'-वर्ण हो और (३) ये ङकार और नकार पद के अन्त में विद्यमान हो)। (उदाहरण) "कीदृङ्ङिन्द्र. सरमे"; "अहन्नहिं परिशयानम्।" "ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) पूर्व में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) 'अर्वाङेहि सोमकाम त्वाहु.", पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्।"[क] "पद के अन्त में विद्यमान"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "सिनीवालि।"[ख]

(नियमानां सर्वत्र संगतिः)

अनादेशे पटलेऽस्मिन्विधानं सर्वत्र विद्यादपि वैकृतानाम् ॥१६॥

(नियमो की सर्वत्र संगति)

सू० अ०—(पदान्त और पदादि का स्पष्ट) उल्लेख न होने पर इस पटल में (उल्लिखित) विधानों को सर्वत्र (अर्थात् केवल पदान्त और पदादि में ही नहीं अपितु पद के मध्य में भी) जानना चाहिए। वैकृत (वर्णों) पर भी (ये विधान लागू होते हैं)।

उ० भा०—अनादेशे। कस्य? पदान्तपदाद्योः। अस्मिन्पटले द्विर्वचनादि यत् विधानं तत्—"पदान्तादिष्वेव विकारशास्त्रं पदे दृष्टेषु"[6] इत्येतां परिभाषामुपमर्द्य सर्वत्र भवतीति विद्यात्। अपि वैकृतानां वर्णानां किं पुन प्राकृतानाम्। के पुनर्वैकृता? ये पदेऽदृष्टा.। यथा—प्रथमास्तृतीयभूता अन्त.पाताऽद्धेत्येवमादय॥

उ० भा० अ०—अनादेशे=उल्लेख न होने पर। किसका (उल्लेख न होने पर)? (उत्तर) पदान्त और पदादि का। अस्मिन्पटले=इस (छठे) पटल में; द्विर्वचन (द्वित्व)

टि० (क) इन दोनो प्रत्युदाहरणों में 'स्वर'-वर्ण बाद में होने पर भी ङकार और नकार का द्वित्व नही हुआ है क्योंकि इनके पहले 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण न होकर 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है।

(ख) पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण और बाद में 'स्वर'-वर्ण होने पर भी नकार का द्वित्व नही हुआ है क्योकि यह नकार पद के अन्त में विद्यमान नही है।

[1] ऋ० १०।१०८।३ [2] ऋ० ३।३२।११ [3] ऋ० १।१०४।९
[4] ऋ० १०।९०।८ [5] ऋ० २।३२।६ [6] २।५

आदि जो; विधानम्=विधान है वह—"पद-पाठ में दिखलाई देने वाले पदान्तों और पदादियों में विकार-शास्त्र (लागू होता है)"—इस परिभाषा का उल्लंघन करके, सर्वत्र= सब स्थानों पर (=पदान्त, पदादि और पदमध्य में) लागू होता है; विद्यात्=यह जानना चाहिए। अपि वैकृतानाम्=वैकृत वर्णों में भी; प्राकृत (वर्णों) का तो कहना ही क्या? वैकृत कौन है? (उत्तर) जो पद-पाठ में दिखलाई नहीं देते हैं। जैसे—तृतीय को प्राप्त, प्रथम (वर्ण)[क] और 'अन्त पात'[ख] इत्यादि।

(अभिनिधानम्)

अभिनिधानं कृतसंहितानां
स्पर्शान्तस्थानामपवाद्य रेफम्।
संधारणं संवरणं श्रुतेश्च
स्पर्शोदयानाम् ॥१७॥

(अभिनिधान)

सू० अ०—'स्पर्श' (-वर्णों) का और रेफ को छोड़कर (अन्य) 'अन्तःस्था' (-वर्णों) का, संहिता करने के पश्चात्, 'अभिनिधान' (होता है), यदि (इनके) बाद में 'स्पर्श' (-वर्ण) हों। (वर्ण का) अवरोध (संधारण) और (वर्ण की) ध्वनि (श्रुति) का दबाना (संवरण) ('अभिनिधान' कहलाता है)।

उ० भा०—अभिनिधानमित्यधिकारः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, कृतसंहितानाम्= (वर्णानाम्) संहिताकार्येषु कृतेषु, पश्चाद्भवतीत्यर्थः। केषामभिनिधानम्? (स्पर्शान्तस्थानाम्=) स्पर्शानां च अन्तस्थानां च; अपवाद्य रेफं स्पर्शोदयानां तद्भवति। किं पुनस्तदभिनिधानं नाम? संधारणं च वर्णस्य, संवरणं च; (श्रुतेः=) वर्णश्रुतेः-एतदभिनिधानमिति वेदितव्यम्। "अर्वाग् देवा अस्य"[१]; "उप मा षड् द्वाद्वा"[२]; 'यद् देवा अदः सलिले"[३]; "पुरू यो दग्धासि वना"[४]; "अबृदया चित्।"[५] "उल्कामिव"[६]; "दधिक्राव्णः।"[७]

कृतसंहिताग्रहणम्—"यद्‌यद् यासि"[८]—इत्यसंयुक्तेऽभिनिधाने तृतीयश्रवणार्थम्। "स्पर्शान्तःस्थानाम् इति कस्मात्? ब्रह्म; विष्णुः; स्म; पृश्निः। अपवाद्य रेफम् इति कस्मात्? "अर्चन्त्यर्कमर्किण।"[९] स्पर्शोदयानाम् इति कस्मात्? "अश्वाद्या इवाःश्वः"[१०]; "अध्वानयद्दुरिता।"[११] "सिनीवाल्यै जुहोतन"[१२]; "वव्रिवांसं महीरप॥"[१३]

टि० (क) देखिए ४।२
(ख) देखिए ४।१६-१८

---

[१] ऋ० १०।१२९।६ [२] ऋ० ८।६८।१४ [३] ऋ० १०।७२।६
[४] ऋ० ५।९।४ [५] ऋ० ५।५४।३ [६] ऋ० १०।६८।४
[७] ऋ० ४।३९।२ [८] ऋ० ८।६१।६ [९] ऋ० १।१०।१
[१०] ऋ० ८।६१।१७ [११] ऋ० ६।१८।१० [१२] ऋ० २।३२।७
[१३] ऋ० ९।६१।२२

उ० भा० अ०—'अभिनिधान'—यह अधिकार है। इसके आगे जो कहेंगे वह; **कृतसंहितानाम्**=(वर्णों के) सहिताकार्यो को कर लेने पर; बाद में होता है—यह अर्थ है (अर्थात् वर्णों की सहिता निष्पन्न हो जाने के उपरान्त 'अभिनिधान' होता है)। (प्रश्न) किन (वर्णों) का ('अभिनिधान' होता है)? (उत्तर) (**स्पर्शान्तस्थानाम्**=) 'स्पर्श' (-वर्णों) का और 'अन्त.स्था' (-वर्णों) का, **अपवाद्य रेफम्**=रेफ को छोडकर, **स्पर्शोदयानाम्**='स्पर्श' (-वर्ण) बाद में होने पर; वह ('अभिनिधान') होता है, (अर्थात् 'स्पर्श' वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती 'स्पर्श' वर्णों का, और रेफ को छोड़कर अन्य 'अन्त स्था' वर्णो का 'अभिनिधान' होता है)। (प्रश्न) किंतु वह 'अभिनिधान' है क्या (वस्तु)? (उत्तर) **संधारणम्**=वर्ण को अवरुद्ध करना और, (**श्रुतेः**=) वर्ण की ध्वनि (श्रुति) का, **संवरणम्**=दबाना (=अपूर्ण उच्चारण करना)—इसे 'अभिनिधान' जानना चाहिए; (अर्थात् दो समीपवर्ती व्यञ्जनों में से प्रथम 'व्यञ्जन' को द्वितीय 'व्यञ्जन' से कुछ पृथक् करके और तब उसकी ध्वनि को कुछ दबाकर उसका अपूर्ण उच्चारण करना 'अभिनिधान' कहलाता है)। (उदाहरण)—"अर्वाग् देवा अस्य"[क], "उप मा षड् द्वाद्वा", "यद् देवा अद· सलिले", "पुरू यो दग्धासि वना", 'अब्दया चित्।" "उल्कामिव", "दधिक्राव्ण।"

"सहिता करने के अनन्तर" का (सूत्र में) ग्रहण—"यद्यद् यामि"—इस 'असयुक्त अभिनिधान' में तृतीय ('व्यञ्जन') के श्रवण के लिए (किया गया है)।[ख] "'स्पर्श' (-वर्णों) का और 'अन्त स्था' (-वर्णों) का"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) 'ब्रह्म'; 'विष्णु', 'स्म' (और) 'पृश्नि'।[ग] "रेफ को छोडकर"—यह (सूत्र में) क्यों

टि० (क) यहाँ 'अर्वाक्' के ककार और 'देवा·' के दकार की सहिता करने पर "अर्वाग्देवा" रूप निष्पन्न होता है। अब 'स्पर्श' (गकार) के बाद में 'स्पर्श' (दकार) विद्यमान है, अत प्रस्तुत सूत्र के अनुसार गकार का उच्चारण 'अभिनिधान' को प्राप्त होता है। गकार के तुरन्त बाद में दकार है जिससे गकार के उच्चारण के तुरन्त बाद में दकार का उच्चारण करना चाहिए किंतु प्रस्तुत सूत्र के अनुसार ऐसा न करके गकार को दकार से थोडा पृथक् करके तथा गकार की ध्वनि को कुछ दबाकर उच्चारण किया जाता है। यही अपूर्ण उच्चारण (incomplete articulation) 'अभिनिधान' है। अन्य उदाहरणो में भी 'अभिनिधान' को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ख) 'अभिनिधान' में सम्बद्ध व्यञ्जनो के मध्य में इतना विच्छेद हो जाता है कि 'अभिनिधान' के अनन्तर वे व्यञ्जन एक दूसरे पर प्रभाव नही डालते और एक के कारण दूसरे में विकार नही होता है। "यत्ऽयत्। यामि" (प०पा०) जैसे स्थलों पर यदि सहिता करने से पहले 'अभिनिधान' कर लिया जाय तो फिर ४।२ के अनुसार तकार दकार नहीं होगा किन्तु सहिता में दकार उपलब्ध होता है। इसलिए पहले वर्णों की सहिता कर लेते हैं और तब 'अभिनिधान' करते हैं।

(ग) इन चारों स्थलो पर स्पर्श बाद में होने पर भी हकार, षकार, सकार और शकार का 'अभिनिधान' नहीं हुआ है क्योकि ये न तो 'स्पर्श' है और न 'अन्त स्था' है अपितु 'ऊष्मन्' है।

(कहा) ? (उत्तर) "अर्चन्त्यर्कमर्किण ।"क " 'स्पर्श' (वर्ण) बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अयाद्या स्व स्व."; "अव्वानयद्दुरिता ।" "सिनी-वाल्यै जुहोतन"; 'वव्रिवास महीरप: ।"ख

अपि चावसाने ॥१८॥

सू० अ०—अन्त (अवसान) में (वर्तमान होने पर) भी (इन वर्णों का 'अभिनिधान' होता है)।

उ० भा०—अवसानेऽपि च वर्तमानानामेतेषां वर्णानामभिनिधानं वेदितव्यम् । वाक्; विट्; यत्; त्रिष्टुप् ॥

उ० भा० अ०—अवसानेऽपि च=अन्त में भी, वर्तमान इन वर्णों का 'अभि-निधान' जानना चाहिए। (उदाहरण) वाक्, विट्, यत्, त्रिष्टुप्।ग

अन्तस्थाः स्वे स्वे च परेऽपि रक्ताः ॥१९॥

सू० अ०—अपना-अपना (वर्ण) बाद में रहने पर 'अनुनासिक' ('रक्त') भी 'अन्तःस्था' (वर्ण) ('अभिनिधान') को प्राप्त होते हैं।

उ० भा०—अन्तःस्था अभिनिधीयन्ते स्वे स्वे च प्रत्यये, अरक्ता अपि रक्ता अपि। "यर्ँ यर्ँ युजम्"[१]; "इमलँ लोगम्"[२]; 'अङ्गादङ्गाल् लोम्नोलोम्नः[३], "तवँ वो वस्म-मृतीषहम्"[४]; "तमर्वँवन्तम् ।"[५] स्वे स्वे च इति किम् ? "सिनीवाल्यै ॥"

उ० भा० अ०—स्वे स्वे च=अपना-अपना (वर्ण) बाद में होने पर भी; अन्तः-स्थाः='अन्तःस्था' (वर्ण), 'अभिनिधान' को प्राप्त होते हैं, रक्ता अपि='अनुनासिक' भी और 'अननुनासिक' भी। (अर्थात् 'अनुनासिक' और 'अननुनासिक' 'अन्तःस्था' वर्ण 'अभिनिधान' को प्राप्त होते है, यदि बाद में वही-वही 'अन्तःस्था' वर्ण हो)। (उदाहरण) "यर्ँ यर्ँ युजम्", 'इमलँ लोगम्", "अङ्गादङ्गाल् लोम्नोलोम्न", "तवँ वो वस्म-मृतीषहम्", "तमर्वँवन्तम् ।" "अपना-अपना वर्ण परे होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सिनीवाल्यै" ।घ

टि० (क) 'स्पर्श' परे होने पर भी रेफ का 'अभिनिधान' नहीं हुआ है क्योंकि सूत्र में यह विधान किया गया है कि रेफ को छोड़कर अन्य 'अन्तःस्था' वर्णों का 'अभिनिधान' होना है, रेफ का नहीं।

(ख) इन चारों उदाहरणों में 'स्पर्श'–वर्णों और 'अन्तःस्था'–वर्णों का 'अभिनिधान' नहीं हुआ है क्योंकि बाद में 'स्पर्श'–वर्ण नहीं हैं।

(ग) इन स्थलों पर क्रमशः ककार, टकार, तकार और पकार का 'अभिनिधान' होता है।

(घ) लकार का 'अभिनिधान' नहीं हुआ है क्योंकि उसके बाद में वही 'अन्तःस्था' (=लकार) न होकर अन्य 'अन्तःस्था' (=यकार) है।

१ ऋ० ३।२५।२
२ ऋ० १०।१८।१३
३ ऋ० १०।१६३।६
४ ऋ० ८।८८।१
५ ऋ० ८।२५।१६
६ ऋ० ३।३२।७

ळकार ऊष्मस्वपि शाकलेन ॥२०॥

सू० अ०—शाकल के मत से 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर भी ळकार ('अभिनिधान' को प्राप्त हो जाता है) ।

उ० भा०—ळकारः अभिनिधीयत ऊष्मस्वपि प्रत्ययेषु शाकलेन विधानेन । "नारायासो न जळ्हवः"[१]; "वनस्पते शतवळ्श. ।"[२] शाकलेन इति कस्मात् ? "न जळ्हवः"; "शतवळ्शः" ॥

उ० भा० अ०—**ऊष्मस्वपि**='ऊष्म' (वर्ण) बाद में रहने पर भी; **ळकारः**=ळकार; 'अभिनिधान' को प्राप्त होता है; **शाकलेन**=शाकल के विधान से । (उदाहरण) 'नारायासो न जळ्हव"; "वनस्पते शतवळ्श ।" "शाकल के मत से"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "न जळ्हव", "शतवळ्श" ।[क]

खकारे चैवमुदये ककारः ख्यातेर्धातोः ॥२१॥

सू० अ०—उसी प्रकार खकार बाद में होने पर 'ख्या' धातु का ककार भी ('अभिनिधान' को प्राप्त होता है) ।

उ० भा०—खकारे चोदये ख्यातेर्धातोः ककार एवम् । कथम् ? शाकलेनाभिधीयते । "अक्ख्यद्देवः ।"[३] शाकलेन इति कस्मात् ? "अक्ख्यद्देवः ॥"

उ० भा० अ०—**खकारे चोदये**=और खकार बाद में होने पर; **ख्यातेर्धातोः ककारः**='ख्या' धातु का ककार; **एवम्**=उसी प्रकार (होता है) । (प्रश्न) किस प्रकार ? (उत्तर) शाकल के मत से 'अभिनिधान' को प्राप्त होता है । (उदाहरण) "अक्ख्यद्देव ।" "शाकल के मत से"—यह क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अक्ख्यद्देव ।"[ख]

रप्शतेर्वा पकारः ॥२२॥

सू० अ०—'रप्श्' (-धातु) का पकार भी ('अभिनिधान') को प्राप्त होता है) ।

उ० भा०—रप्शतेः; (वा=) च; पकारः शकार एवम् । कथम् ? शाकलेनाभिनिधीयते । "विरप्शी गोमती मही ।"[४] शाकलेनेति कस्मात् ? "विरप्शी गोमती मही ।"

उ० भा० अ०—**रप्शतेः**='रप्श्' (धातु) का, **पकारः**=पकार; (**वा**=) भी; शकार बाद में रहने पर, उसी प्रकार (होता है) । (प्रश्न) किस प्रकार ? (उत्तर) शाकल

टि० (क) अन्य आचार्यों के मत से इन दोनों स्थलों पर 'अभिनिधान' नहीं होता है । केवल शाकल के मत से 'ऊष्म'-वर्ण बाद में रहने पर भी ळकार 'अभिनिधान' को प्राप्त होता है ।

(ख) अन्य आचार्यों के मत से खकार परे होने पर 'ख्या' धातु का ककार 'अभिनिधान' को प्राप्त नहीं होता है ।

---

[१] ऋ० ८।६१।११ [२] ऋ० ३।८।११ [३] ऋ० ४।१४।१ [४] ऋ० १।८।८

के मत मे 'अभिनिधान' को प्राप्त होता है। (उदाहरण) "विरप्शी गोमती मही।" "शाकल के मत से"—यह क्यो (कहा) ? (उत्तर) "विरप्शी गोमती मही।"[क]

पदान्तीया यरवोष्मोदयाश्च
स्पर्शाः पदादिष्ववरे मकारात् ॥२३॥

सू० अ०—मकार से पूर्व वाले (अर्थात् क् से लेकर म् तक) 'स्पर्श', पद के अन्त मे आने पर, (शाकल के मत से 'अभिनिधान' को प्राप्त होते हैं), यदि पद के आदि में वर्तमान य, र, व और 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो।

उ० भा०—पदान्तीयाः स्पर्शाः; (अवरे मकारात्=) मकारं वर्जयित्वा; (यरवोष्मोदयाश्च पदादिषु=) य, र, व, ऊष्मा—इत्येतेषु च पदादिषु वर्तमानेपूदयेषु, शाकलेनाभिनिधीयन्ते। "यद्यद्यामि तदा भर।"[1] "तद् रासभो नासत्या।"[2] "यान् वो नरो देवयन्त.।"[3] "दध्यङ्ह मे"[4]; "अर्वाक् शफाविव"[5]; "शर्मन् स्याम।"[6]

स्पर्शग्रहणमन्तःस्थाधिकारनिवृत्त्यर्थम्। पदान्तीयाः इति कस्मात् ? "त्व तान्त्स च"[7]—इत्यत्रान्तःपातलक्षणस्य तकारस्य न भवत्यपदान्तत्वात्। पदादिषु इति कस्मात् ? "उद्वेति सुभग"[8]—इत्यत्र उकारस्य पदादित्वात्पूर्वस्य न भवति। अवरे मकारात् इति कस्मात् ? "सम्राज्ञी श्वशुरे भव॥"[9]

उ० भा० अ०—पदान्तीयाः स्पर्शाः=पद के अन्त में विद्यमान 'स्पर्श' (-वर्ण), (अवरे मकारात्=) मकार को छोडकर, शाकल के मत से 'अभिनिधान' को प्राप्त होते है, (यरवोष्मोदयाश्च पदादिषु=) पद के आदि में विद्यमान य, र, व और 'ऊष्म' (-वर्ण)—ये बाद में हो तो, (अर्थात् 'क्' से लेकर 'भ्' तक का कोई भी 'स्पर्श' 'अभिनिधान' को प्राप्त हो जाता है, यदि वह (१) पद के अन्त में विद्यमान हो और (२) पद के आदि में वर्तमान य, र, व या 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो)। (उदाहरण) "यद्यद् यामि तदा भर।"[ख] "तद् रासभो नासत्या।" "यान् वो नरो देवयन्त।" "दध्यङ् ह मे", "अर्वाक् शफाविव", "शर्मन् स्याम।"

(सूत्र में) 'स्पर्श' का ग्रहण (६।१७ से प्राप्त) 'अन्तःस्था' के अधिकार की निवृत्ति के लिये (किया गया है)। "पद के अन्त में विद्यमान (स्पर्श)"—यह (सूत्र में) क्यो

टि० (क) अन्य आचार्यों के मत मे शकार बाद में होने पर 'रप्श्' धातु का पकार 'अभिनिधान' को प्राप्त नही होता है।

(ख) यहाँ द्वितीय 'यद्'-पद के दकार का 'अभिनिधान' हो गया क्योंकि यह दकार (१) पद के अन्त में विद्यमान है और (२) इसके बाद में पद के आदि में विद्यमान यकार है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणो को भी समझना चाहिये।

---

[1] ऋ० ८।६९।६
[2] ऋ० १।११६।२
[3] ऋ० ३।८।६
[4] ऋ० १।१३९।९
[5] ऋ० २।३९।३
[6] ऋ० ७।३४।२५
[7] ऋ० २।१।१५
[8] ऋ० ७।६३।१
[9] ऋ० १०।८५।४६

(कहा) ? (उत्तर) "त्वं तान्त्सं च"—यहाँ पर पद के अन्त में न आने से 'अन्त.पात' रूप तकार का 'अभिनिधान' नही होता है।[क] "पद के आदि में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "उद्वेति सुभग"—यहाँ उकार के पदादि होने से पूर्ववर्ती (अर्थात् दकार) का ('अभिनिधान') नही होता है।[ख] "मकार से पूव वाले"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "सम्राज्ञी श्वसुरे भव।"[ग]

असंयुक्तं शाकलम् ॥२४॥

सू० अ०—शाकल के मत (से निष्पन्न 'अभिनिधान') असंयुक्त है (अर्थात् सम्बद्ध व्यञ्जनों का संयुक्त उच्चारण नहीं होता है)।

उ० भा०—"लकार ऊष्मस्वपि शाकलेन"[१] इत्येवमादि यदनुक्रान्तं शाकलं तत् असंयुक्तं भवतीति वेदितव्यम्। उक्तान्येवोदाहरणानि ॥

उ० भा० अ०—"शाकल के मत से 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर भी लकार ('अभिनिधान' को प्राप्त होता है)"—इस (सूत्र) से प्रारम्भ करके (६।२३ तक) जो शाकलम्= शाकल का मत, कहा गया है वह, असंयुक्तम्=असयुक्त ('अभिनिधान'); होता है[घ]—यह जानना चाहिये। उदाहरण कहे ही जा चुके है।

तन्न पद्ये स्विस्युत्तरे ॥२५॥

सू० अ०—'सु' 'पद्य' बाद में हो तो वह (=शाकल का मत) नहीं (लागू होता है)।

टि० (क) त्वम्। तान्। सम्। च ॥ प० पा०

संहिता-पाठ में तकार ४।१७ के अनुसार 'अन्त पात' के रूप में आया है। यहाँ पदान्त नकार है, तकार नहीं। पद के अन्त में न होने के कारण तकार 'अभिनिधान' को प्राप्त नही होता है।

(ख) उत्। ऊँ इति। एति। सुऽभग ॥ प० पा०

पद के अन्त में विद्यमान होने पर भी (तकार के स्थान पर आने वाला) दकार 'अभिनिधान' को प्राप्त नही होता है क्योकि इसके बाद में वकार तो है परन्तु वह वकार पदादि नही है। यहाँ पदादि उकार है।

(ग) सम्ऽराज्ञी। श्वसुरे। भव ॥ प० पा०

पदादि रेफ परे होने पर भी पदान्तीय मकार 'अभिनिधान' को प्राप्त नही हुआ है क्योकि प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि मकार को छोडकर अन्य स्पर्शो का 'अभिनिधान' होता है मकार का नही।

(घ) इन स्थलो पर सयुक्त व्यञ्जनो का सहोच्चारण नही होता है। यद्यपि सभी आचार्यो के अनुसार जहाँ-जहाँ 'अभिनिधान' होता है वहाँ-वहाँ प्रथम 'व्यञ्जन' का अवरोध करके ही उच्चारण होता है तथापि दोनो व्यञ्जनो के मध्य में अधिक व्यवधान नही होता है। शाकल के मत मे व्यवधान अधिक होता है।

[१] ६।२०

उ० भा०—न खलु; (तत्=) शाकलम्; वेदितव्यं सु इति एतस्मिन् उत्तरे पद्ये। "अप्स्वग्ने सधिष्टव ।"[१] स्वित्युत्तरे इति कस्मात् ? "यद्यद् यामि तदा भर ॥"[२]

उ० भा० अ०—सु इति='सु' यह, उत्तरे पद्ये='पद्य' बाद में हो तो, तत्= वह=शाकल का मत; न=नही, जानना चाहिये; (अर्थात् 'सु' 'पद्य' बाद में हो तो शाकल के द्वारा प्रतिपादित 'अभिनिधान' नहीं होता है) । (उदाहरण) "अप्स्वग्ने सधिष्टव ।"[क] " 'सु' बाद में हो तो"–यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "यद्यद् यामि तदा भर ।"

वा त्वनेकाक्षरान्त्याः ॥२६॥

सू० अ०—अनेक अक्षरों वाले पद के अन्त में विद्यमान ('स्पर्श') ('सु' 'पद्य' बाद में होने पर) विकल्प से ('अभिनिधान' को प्राप्त होते हैं) ।

उ० भा०—अनेकाक्षरान्त्याः तु स्पर्शा वा शाकलमापद्यन्ते पद्ये स्वित्युत्तरे। "वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ।"[३] अनेकाक्षरान्त्याः इति कस्मात् ? "हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निम्"[४] इति ॥

उ० भा० अ०—अनेकाक्षरान्त्याः तु=किंतु अनेक अक्षरो वाले (पद) के अन्त में आने वाले, 'स्पर्श' तो; वा=विकल्प से; शाकल के द्वारा प्रतिपादित ('अभिनिधान') को प्राप्त होते हैं, यदि 'सु' 'पद्य' बाद में हो । (उदाहरण) "वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु"[ग] ("वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु") । "अनेक अक्षरो वाले (पद) के अन्तिम 'स्पर्श' "—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) 'हृत्सु क्रतु वरुणो अप्स्वग्निम् ।"[घ]

सर्वत्रैके करणस्थानभेदे वा शाकलम् ॥२७॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) शाकल के मत को सर्वत्र विकल्प से (मानते हैं), यदि (दोनो सम्बद्ध व्यञ्जनों में) 'करण' (आभ्यन्तर प्रयत्न) अथवा (उच्चारण-) 'स्थान' (अथवा दोनों) का भेद हो ।

टि० (क) अप्ऽसु । अग्ने । सधि । तव ॥ प० पा०
यह सूत्र ६।२३ का अपवाद है । 'ऊष्म'-वर्ण (=सकार) बाद में होने पर पकार का अभिनिधान' नही हुआ है ।

(ख) दकार का 'अभिनिधान' हो गया है क्योकि बाद में 'सु 'पद्य' नही है ।

(ग) वाजम् । अर्वत्ऽसु । पयः । उस्रियासु ॥ प० पा०

(घ) हृत्ऽसु । क्रतुम् । वरुण । अप्ऽसु । अग्निम् ॥ प० पा०
'हृत्सु' और 'अप्सु' में 'अभिनिधान' नही हुआ है क्योकि तकार और पकार अनेकाक्षर पदो (पद्यो) के अन्त में नही, अपितु एकाक्षर पदो (पद्यो) के अन्त में वर्तमान है ।

१ ऋ० ८।४३।९
२ ऋ० ८।६१।६
३ ऋ० ५।८५।२
४ ऋ० ५।८५।२

उ० भा०—सर्वत्र=पद्ये चापद्ये च। एके आचार्याः; (करणस्थानभेदे=) करणभेदे च स्थानभेदे च; वा=विभाषा; शाकलम् इच्छन्ति। करणभेदे। क्रियत इति करणं प्रयत्नो वर्णात्मगुणतत्त्वता। तस्य भेदे—"सकृत् सु न।"[१] स्थानभेदे—"अव्जाः"[२]; "यद् वंहिष्ठम्।"[३] उभयोर्भेदे—"अप्स्वग्ने"[४], "नृषद् वरसत्।"[५] करण-स्थानभेदे इति कस्मात्? 'ततृतदग्निः"[६]; "यत् ते यमम्।"[७] "वा त्वनेकाक्षरान्त्याः"[८] इति प्रकृते वाग्रहणे पुनर्वाग्रहणमनेकाक्षराधिकारनिवृत्त्यर्थम् ॥

उ० भा० अ०—सर्वत्र='पद्य' में और अपद्य' में; एके=कतिपय आचार्य; करणस्थानभेदे='करण' का भेद होने पर और 'स्थान' का भेद होने पर; वा=विभाषा= विकल्प से, शाकलम्=शाकल के मत को, अभीष्ट मानते हैं; (अर्थात् दोनो सम्बद्ध व्यञ्जनो में आभ्यतर 'प्रयत्न' अथवा उच्चारण-'स्थान' अथवा दोनो का भेद हो तो शाकल के मत को विकल्प से मानते हैं)। करण का भेद होने पर—"क्रियत इति करणम्" (इस निर्वचन से (आभ्यतर) 'प्रयत्न' को 'करण' (कहते हैं) जो ('करण') वर्णो का गुण-तत्त्व है। उस ('करण')का भेद होने पर—"सकृत् सु न।"[क] 'स्थान' का भेद होने पर —"अव्जा.[ख]"; "यद् वहिष्ठम्।"[ग] दोनों (आभ्यतर 'प्रयत्न' और उच्चारण 'स्थान')का भेद होने पर— "अप्स्वग्ने", 'नृषद् वरसत्।" "आभ्यतर 'प्रयत्न' और उच्चारण-'स्थान' का भेद होने पर"—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा)? (उत्तर) "ततृतदग्नि", "यत् ते यमम्।"[घ] "अनेक अक्षरों वाले पद के अन्त में विद्यमान ('स्पर्श') ('सु' 'पद्य' परे होने पर) विकल्प से ('अभिनिधान' को प्राप्त होते है)"—इस (सूत्र) से वा का ग्रहण प्रस्तुत होने पर भी (इस सूत्र में) जो पुन वा का ग्रहण किया गया है वह (६।२६ से प्राप्त) 'अनेकाक्षर' के अधिकार की निवृत्ति के लिये (किया गया है)।

टि० (क) तकार और सकार—ये दोनों—समान 'स्थान' वाले अर्थात् 'दन्त्य' है तथापि इनमें आभ्यतर 'प्रयत्न' का भेद है। तकार का आभ्यतर 'स्पृष्ट' है जबकि सकार का आभ्यतर 'प्रयत्न' 'विवृत्त' है।

(ख) वकार और जकार—इन दोनो का आभ्यतर 'प्रयत्न' समान अर्थात् 'स्पृष्ट' है किंतु उच्चारण 'स्थान' की दृष्टि से दोनों में भेद है। वकार 'ओष्ठ्य' है जबकि जकार 'तालव्य' है।

(ग) दकार और वकार—इन दोनो का आभ्यंतर 'प्रयत्न' समान अर्थात् 'स्पृष्ट' है किंतु उच्चारण–'स्थान' की दृष्टि से दोनों में भेद है। दकार 'दन्त्य' है जबकि वकार 'ओष्ठ्य' है।

(घ) दोनों उदाहरणो में तकार और तकार इन दोनों मे न तो आभ्यतर 'प्रयत्न' का भेद है और न उच्चारण-'स्थान' का।

---

[१] ऋ० १०।३३।३ [२] ऋ० ४।४०।५ [३] ऋ० ५।६२।९
[४] ऋ० ८।४३।९ [५] ऋ० ४।४०।५ [६] ऋ० ८।३९।४
[७] ऋ० १०।५८।१ [८] ६।२६

प्रथमे स्पर्शवर्गे ॥२८॥

सू० अ०—प्रथम 'स्पर्श'-वर्ग में (कतिपय आचार्य शाकल-मत को मानते हैं)।

उ० भा०—(प्रथमे स्पर्शवर्गे=) प्रथमस्पर्शवर्गस्य, एके आचार्या शाकलमिच्छन्ति। "सम्यक् स्रवन्ति"[1]; "अर्वाग् रथं विश्ववारम्"[2]; "प्रत्यङ् विश्वं स्वः ॥"[3]

उ० भा० अ०—(प्रथमे स्पर्शवर्गे=) प्रथम 'स्पर्श'-वर्ग (=कवर्ग) के विषय में, कतिपय आचार्य शाकल के मत को अभीष्ट मानते हैं। (उदाहरण) "सम्यक् स्रवन्ति", "अर्वाग् रथ विश्ववारम्", "प्रत्यङ् विश्व स्व ।"

(यमः)

स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वा-
न्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु ॥२९॥

(यम)

सू० अ०—'अननुनासिक' 'स्पर्श' अपने यमों को प्राप्त हो जाते हैं, यदि बाद में 'अनुनासिक' 'स्पर्श' हों।

उ० भा०—अननुनासिकाः स्पर्शाः स्वान्यमान् आपद्यन्ते अनुनासिकेषु स्पर्शेषु परेषु। "पलिक्नीरित्"[4]; "चक्नथुः", "परि ग्मन्"[5], "वृत्रघ्ने परि"[6]; "निवो यत्र मुमुच्महे"[7]; "परिज्मानमिव"[8]; "आत्मा ते वातः"[9], "असम्नादन्यम्"[10], "वव्मा सूनो"[11]; "आ ते दारूणि दध्मसि"[12], "आप्नानं तीर्थम्"[13], "वृष्णानि ते।"[14] स्पर्शाः इति कस्मात्? "स्त्री हि ब्रह्मा"[15], "दधिक्राव्णः।"[16] अननुनासिकाः इति कस्मात्? "अर्वाङ् नरा"[17] "समन्या यन्ति।"[18] स्वान् इति किमर्थमुच्यते? संज्ञाप्रकरणे—"चतस्रोऽन्तस्थाः"[19], "अष्टा ऊष्माणः"[20] इति वर्णाः कृतसंख्या निर्दिश्यन्ते, न तथा यमाः। तस्मादिह स्पर्शा यमाननुनासिका इत्युच्यमाने विंशतित्वात्स्थानिनामादेशानामपि यमानां विंशतित्वप्रसङ्गः। स मा भूत्। चतुर्णामेव यमानां प्रथमाः प्रथम द्वितीया द्वितीयमेवमा पञ्चमादापद्येरन्नित्युच्यते। स्पर्शेषु इति कस्मात्? "उपस्थां एका।"[21] अनुनासिकेषु इति कस्मात्? "यद्ववहिष्ठम् ॥"[22]

उ० भा० अ०—अननुनासिकाः स्पर्शाः='अननुनासिक' स्पर्श', स्वान् यमान्= अपने 'यम', हो जाते हैं, अनुनासिकेषु स्पर्शेषु परेषु='अनुनासिक' 'स्पर्श' बाद में हो तो,

---

[1] ऋ० ४।५८।६
[2] ऋ० ६।३७।१
[3] ऋ० १।५०।५
[4] ऋ० ५।२।४
[5] ऋ० ४।४३।६
[6] ऋ० ९।९८।१०
[7] ऋ० ९।२९।५
[8] ऋ० १।१२७।२
[9] ऋ० ७।८७।२
[10] ऋ० १।१३३।६
[11] ऋ० ६।११।६
[12] ऋ० ८।१०२।२०
[13] ऋ० १०।११४।७
[14] ऋ० १०।८५।३६
[15] ऋ० ८।३३।१९
[16] ऋ० ४।४०।१
[17] ऋ० ७।८२।८
[18] ऋ० २।३५।३
[19] ऋ० १।९
[20] ऋ० १।१०
[21] ऋ० १।३५।६
[22] ऋ० ५।६२।९

(अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अपने-अपने 'यम' हो जाते है, यदि बाद में वर्गों के पञ्चम वर्ण हो)।[क] (उदाहरण) "पलिक्नीरित्"; "चक्नथु"[ख]; "परि ग्मन्", "वृत्रघ्ने परि"; "निदो यत्र मुमुच्महे", "परिज्मानमिव"; "आत्मा ते वात", "अमथ्नादन्यम्"; "वद्‌मा सूनो"; "आ ते दारूणि दध्मसि"; "आप्नान तीर्थम्", "गृभ्णामि ते।" "स्पर्श"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "स्त्री हि ब्रह्मा"; "दधिक्राव्ण.।"[ग] "अननुनासिक"—यह (सूत्र मे) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अर्वाङ् नरा"; "समन्या यन्ति।"[घ]

"अपने ('यम')"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) संज्ञा-प्रकरण में—"चार 'अन्तस्था' है", "आठ 'ऊष्मन्' हैं"— इस प्रकार वर्णो की सख्या बतलाकर उनका निर्देश किया गया है; उस प्रकार यमों (का सख्या के साथ निर्देश नही किया गया है)। इसलिये यहाँ " 'अननुनासिक' 'स्पर्श' 'यम' (हो जाते है)"—यह कहे जाने पर 'स्थानी' के बीस होने से आदेशरूप यमो के भी वीस होने का प्रसङ्ग (उपस्थित हो जाता है); वह न होवे। यमो के चार ही होने से प्रथम ('स्पर्श') प्रथम ('यम'), द्वितीय ('स्पर्श') द्वितीय ('यम')—इस प्रकार पाँच से पहले (अर्थात् चार) तक होते है—इसलिये (सूत्र में) "अपने 'यम'" कहा गया है।[ङ] " 'स्पर्श' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों

टि० (क) तै० प्रा० (२१।१२), अ० प्रा० (१।९९), ना० शि० (२।२।८-९) इत्यादि ग्रन्थो के अनुसार 'अननुनासिक' 'स्पर्श' वर्ण के बाद में 'अनुनासिक' स्पर्श' हो तो उन दोनो के मध्य में 'अनुनासिक' 'स्पर्श' से अतिरिक्त एक 'नासिक्य' वर्ण का आगम हो जाता है जिसे 'यम' कहते है किंतु ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार 'यम' आगम नही है। इसके अनुसार 'अनुनासिक' 'स्पर्श' बाद मे होने पर 'अननुनासिक' 'स्पर्श ही 'यम'-सज्ञक 'नासिक्य' वर्ण हो जाता है।

(ख) यह पद ऋग्वेद में नही मिलता है इसलिये अनेक हस्तलेखो में इस पद का ग्रहण नही किया गया है।

(ग) 'अनुनासिक' 'स्पर्श' (मकार और णकार) बाद में होने पर भी हकार और वकार 'यम' नही हुए है क्योकि हकार और वकार 'स्पर्श' नही है।

(घ) 'अनुनासिक' 'स्पर्श' (नकार) बाद मे होने पर भी ङकार और नकार 'यम' नही हुए हैं क्योंकि ङकार और नकार 'अननुनासिक' न होकर 'अनुनासिक' हैं।

(ङ) यमो की सख्या के विषय में मतभेद है। कतिपय आचार्यो का मत है कि प्रत्येक 'अननुनासिक' 'स्पर्श' के लिए एक 'यम' है जिससे 'अननुनासिक' स्पर्शों ('स्थानी') के बीस होने के कारण 'यम' भी बीस है। सूत्रकार ने यमो की सख्या के विषय में कुछ नही कहा है किंतु भाष्यकार के अनुसार 'यम' चार है जिन्हें इस प्रकार दिखलाया जा सकता है—

(१) 'अघोष' 'अल्पप्राण' 'यम'—क्ँ, चँ, टँ, तँ, पँ।

(२) 'अघोष' 'महाप्राण' 'यम'—खँ, छँ, ठँ, थँ, फँ।

(३) 'सघोष' 'अल्पप्राण' 'यम'—गँ, जँ, डँ, दँ, बँ।

(४) 'सघोष' 'महाप्राण' 'यम'—घँ, झँ, ढँ, धँ, भँ।

(कहा) ? (उत्तर) "उपस्थां एका।"क " 'अनुनासिक' 'स्पर्श' बाद में होने पर"— यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "यद्‌बहिष्ठम्।"ख

न स्पर्शस्योष्मप्रकृतेः प्रतीयाद्यमापत्तिम् ॥३०॥

सू० अ०—यह जानना चाहिये कि 'ऊष्मन्' से उत्पन्न होने वाला 'स्पर्श' 'यम' नहीं होता है।

उ० भा०—न खलु स्पर्शस्योष्मप्रकृतेर्यमापत्तिम्; (प्रतीयात्=) जानीयात्। "प्रदोघुवच्छ्मश्रुषु॥"[1]

उ० भा० अ०—ऊष्मप्रकृतेः='ऊष्मन्' से उत्पन्न होने वाले, स्पर्शस्य='स्पर्श' को, यमापत्तिम्='यम' की प्राप्ति, न=नही (होती है), (प्रतीयात्=) यह जानना चाहिये; (अर्थात् 'ऊष्मन्' से उत्पन्न 'स्पर्श' 'यम' नही होता है)। (उदाहरण) "प्रदोघुवच्छ्मश्रुषु।"ग

नाभिनिधानभावम् ॥३१॥

सू० अ०—('ऊष्मन्' से उत्पन्न 'स्पर्श' का) 'अभिनिधान' नहीं होता है।

उ० भा०—अभिनिधानभावं चोष्मप्रकृतेः स्पर्शस्य न प्रतीयात्। "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि॥"[2]

उ० भा० अ०—'ऊष्मन्' से उत्पन्न होने वाले 'स्पर्श' के, अभिनिधानभावम्='अभिनिधान' होने को, न=नही, जानना चाहिये (अर्थात् 'ऊष्मन्' से उत्पन्न होने वाले 'स्पर्श' का 'अभिनिधान' नही होता है)। (उदाहरण) "घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि।"घ

यमः प्रकृत्यैव सदृक् ॥३२॥

सू० अ०—'यम' (अपनी) प्रकृति (=अपने मूलभूत 'व्यञ्जन') के सदृश होता है।

उ० भा०—यमः प्रकृत्यैव सदृग्भवति। यस्य यमापत्तिरुच्यते तत्स्वरूपो भवतीत्यर्थः। "पलिक्नीः"[3] इत्यत्र ककाररूपो यमो वेदितव्यः, "अग्मन्"[4] इति गकाररूपः;

टि० (क) थकार 'यम' नही हुआ है क्योकि बाद में 'अनुनासिक' 'स्पर्श' 'व्यञ्जन' नही अपितु 'अनुनासिक' 'स्वर' है।

(ख) 'अननुनासिक' स्पर्श (दकार) 'यम' नही हुआ है क्योकि बाद में 'अनुनासिक' 'स्पर्श' न होकर 'अननुनासिक' 'स्पर्श' (बकार) है।

(ग) प्रऽदोघुवत्। श्मश्रुषु॥ प० पा०
यहाँ छकार 'यम' नहीं हुआ है क्योंकि यह छकार ४।१२ के अनुसार शकार (ऊष्मन्) के स्थान पर आया है।

(घ) घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि॥ प० पा०

---

[1] ऋ० २।११।१७
[2] ऋ० १।६३।५
[3] ऋ० ५।२।४
[4] ऋ० १।१२२।७

"जघ्नथुः"[१] इति घकाररूपः; "परिज्मानम्"[२] इति जकाररूपः; "अप्नस्वतीम्"[३] इति पकाररूपः ॥

उ० भा० अ०—यमः प्रकृत्यैव सदृक् ='यम' अपने मूलभूत 'व्यञ्जन' के ही सदृश; होता है। जिस (मूलभूत 'व्यञ्जन') की 'यम'-प्राप्ति कही जाती है (अर्थात् जो मूलभूत 'व्यञ्जन' 'यम' होता है) उस (मूल-भूत व्यञ्जन') के समान ही (वह 'यम') होता है—यह अर्थ है। (जैसे) "पलिक्नी" में 'यम' को ककाररूप जानना चाहिये; "अग्मन्" में ('यम' को) गकाररूप (जानना चाहिये); 'जघ्नथु" में ('यम' को) घकाररूप (जानना चाहिये), "परिज्मानम्" में ('यम' को) जकाररूप (जानना चाहिये); "अप्नस्वतीम्" में ('यम' को) पकाररूप (जानना चाहिये)।

श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला ॥३३॥

सू० अ०—अथवा 'यम' के उच्चारण के काल में ही मुख में एक (स्पर्शात्मक) ध्वनि (=उच्चारण) होती है।

उ० भा०—(वा=) अथवा; (यमेन=) यमोच्चारणेन; समानकाला; (मुख्या=) मुखे भवा; श्रुतिः अस्ति यया यमस्तद्रूपो लक्ष्यते। "पलिक्नीः"[४]; "यज्ञस्य"[५]; "गृभ्णामि ते।"[६] यस्माद्यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्तो विंशतिस्थानिनां सरूपा लक्ष्यन्ते; तस्मादिदमुच्यते ॥

उ० भा० अ०—(वा=) अथवा; (यमेन) समानकाला='यम' के उच्चारण के समय में ही, (मुख्या=) मुख मे होने वाली, श्रुतिः=ध्वनि (=उच्चारण); होती है जिससे 'यम' उसके (=मूलभूत 'व्यञ्जन' के) रूप वाला दिखलाई पडता है (अर्थात् 'यम' वर्ण के 'नासिक्य' उच्चारण के साथ ही साथ मुख में मूलभूत 'व्यञ्जन' के अनुरूप स्पर्शात्मक उच्चारण भी होता है)। गत नासिका स्थान वाले 'यम' चार होते हुए भी बीस 'स्थानी' ('स्पर्श' व्यञ्जनो) के रूप वाले है— अतः यह कहा गया है।

अनन्यस्तु प्रकृतेः प्रत्ययार्थे ॥३४॥

सू० अ०—बाद में आने वाले (='यम') के कार्य के विषय में तो ('यम') मूलभूत 'व्यञ्जन' (प्रकृति) से अभिन्न है।

उ० भा०—अनन्यस्तु प्रकृतेः प्रत्ययार्थे वेदितव्यः। प्रत्ययार्थे किमुक्तं भवति ? यमः प्रकृत्याश्रयाणि कार्याणि लभते—इत्यर्थः। तस्मात्—"उपद्ध्मातेव धमति"[७] इत्यत्र—"सोष्मा तु पूर्वेण सहोच्यते सकृत्"[८] इति दकारेण सहोच्यते यमः ॥

उ० भा० अ०—प्रत्ययार्थे=बाद में आने वाले (='यम') के कार्य के विषय में (अर्थात् जहाँ तक 'यम' के कार्य का सम्बन्ध है वहाँ तो), अनन्यस्तु प्रकृतेः=('यम') मलभूत 'व्यञ्जन' से अभिन्न होता है। बाद में आने वाले (='यम') के कार्य के विषय

---

[१] ऋ० ७।९९।४ [२] ऋ० १।२०।३ [३] ऋ० १।११२।२४
[४] ऋ० ५।२।४ [५] ऋ० १।१।१ [६] ऋ० १०।८५।३६
[७] ऋ० ५।९।५ [८] ६।२

में क्या कहा गया है ? (उत्तर) 'यम' मूलभूत 'व्यञ्जन' (प्रकृति) के ही कार्यों को प्राप्त करता है—यह अर्थ है। इसलिए—"उप द्ध्मातेव धमति"—यहाँ पर—" 'सोष्म' (-वर्ण) तो अपने पूर्ववर्ती ('अल्पप्राण' 'व्यञ्जन') के साथ एक बार उच्चारित होता है"—इस (सूत्र) से 'यम' दकार के साथ (एक वार) उच्चारित होता है।

न संयोगं स्वरभक्तिर्विहन्ति ॥३५॥

सू० अ० —'स्वरभक्ति' संयुक्त वर्ण ('संयोग') का विच्छेद नहीं करती है।

उ० भा०—न खलु; संयोगम् संयोगकार्याणि, स्वरभक्तिर्विहन्ति। "या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्लदेचक्षुः"[1]—स्वरभक्तिव्यवायेऽपि "परं रेफात्"[2]—इति क्रामति॥

उ० भा० अ०—**स्वरभक्तिः**=स्वरभक्ति'[क], **संयोगम्**=सयुक्त वर्ण ('सयोग') के कार्यो का; **न**=नही, **विहन्ति**=विच्छेद करती है। (उदाहरण) "या सुजूर्णि श्रेणि सुम्नआपिर्ह्लदेचक्षु."—'स्वरभक्ति' का व्यवधान होने पर भी—"रेफ से परवर्ती (वर्ण का द्वित्व होता है)"—इससे (णकार) द्वित्व को प्राप्त होता है।

यमान्नासिक्या स्वरभक्तिरुत्तरा गार्ग्यस्य ॥३६॥

सू० अ०—गार्ग्य के मत से 'यम' के बाद में नासिका 'स्थान' वाली 'स्वरभक्ति' होती है।

उ० भा०—यमादुत्तरा; (नासिक्या=) नासिकास्थाना; स्वरभक्तिः आगमो भवति गार्ग्यस्य भगवतोऽभिप्रायेण। "पलिक्नीरित्"[3], "परिज्मानमिव॥"[4]

उ० भा० अ०—**यमादुत्तरा**='यम' से बाद में, **(नासिक्या=)** नासिका 'स्थान' वाली, **स्वरभक्तिः**='स्वरभक्ति'-रूप आगम, होता है, **गार्ग्यस्य**=भगवान् गार्ग्य के अभिप्राय से (अर्थात् गार्ग्य के मत से 'यम' के बाद में नासिका 'स्थान' वाली 'स्वरभक्ति' का आगम होता है)। (उदाहरण) "पलिक्नीरित्", "परिज्मानमिव।"

ऊष्मा सोष्मणः ॥३७॥

सू० अ०—(गार्ग्य के मत से) 'सोष्म' (–'यम') से बाद में (नासिका 'स्थान' वाले) 'ऊष्मन्' का (आगम होता है)।

उ० भा०—तस्यैवाभिप्रायेण सोष्मणो यमादुत्तरो नासिकास्थान.; (ऊष्मा=) ऊष्मागमः, भवति। "अमस्नादन्यम्॥"[5]

उ० भा० अ०—उन्ही गार्ग्य आचार्य के अभिप्राय से, **सोष्मणः**='सोष्मन्', 'यम' से बाद में नासिका 'स्थान' वाला, **(ऊष्मा=)** 'ऊष्म'-रूप आगम, होता है। (उदाहरण) "अमस्नादन्यम्।"

टि० (क) 'स्वरभक्ति' के लिये पृ० ६५ पर टि० (क) तथा ६।४६ को देखिए।

---

[1] ऋ० १०।९५।६ [2] ६।४ [3] ऋ० ५।२।४
[4] ऋ० १।१२७।२ [5] ऋ० १।९३।६

वर्जयेत्तम् ॥२८॥

सू० अ०—उस (आगम) का परित्याग करना चाहिए।

उ० भा०—तम् ऊष्माणं वर्जयेत्। "अमभ्नादन्यम्॥"[१]

उ० भा अ०—तम्=उस, 'ऊष्म' (–रूप आगम) का, वर्जयेत्=परित्याग करना चाहिए (अर्थात् पूर्ववर्ती सूत्र में निर्दिष्ट 'ऊष्म'–रूप आगम का उच्चारण नहीं करना चाहिए)।

(ध्रुवसंज्ञो नादः)

नादः परोऽभिनिधानाद् ध्रुवं तत्तत्कालस्थानम् ॥२९॥

(ध्रुव-संज्ञक नाद)

सू० अ०—('सघोष' 'व्यञ्जन' के) 'अभिनिधान' से बाद में उसी ('अभिनिधान') के (उच्चारण) के काल तक रहने वाले नाद का आगम होता है जिसे 'ध्रुव' कहते हैं।

उ० भा०—घोषवत अभिनिधानात्परो नाद आगमो भवति; (ध्रुवम्=) ध्रुवसंज्ञम्; च तत् भवति। तत्कालस्थानम्=अभिनिधानकालस्थानम्—इत्यर्थः। "अर्वाग् देवा"[२]; "यद् देवा अदः।"[३] तत्रैक आहुः—

ध्रुवकालमनिर्देश्यमल्पत्वात्कवयो विदुः।
यद्धि प्रागणुमात्राया. कालभेदेऽपि तत्समम्।
नादो ह्यभिनिधानेन पीड्यमानो न नश्यति।
तस्मादुच्चार्यते तस्य यावद्वर्णात्मन. परम्।
एकान्तलोपं कवयो वर्णयन्ति ध्रुवस्य च।
नासिकास्थानं रक्तस्य तथा रूपेण निर्दिशेत्।
सप्तमीकालनिर्दिष्टे पूर्वस्य विधिरिष्यते।
पञ्चम्यास्तूत्तरस्याहुस्तस्मात्क्रुद्धस्त्वणुर्भवेत्॥ इति।

ध्रुवसंज्ञायाः प्रयोजनम् "सवर्णपूर्वस्य सहध्रुवस्य"[४] इति॥

उ० भा० अ०—'सघोष', अभिनिधानात्परः='अभिनिधान' से बाद में, तत्कालस्थानम्=उस ('अभिनिधान') के (उच्चारण) के काल तक रहने वाले, नादः=नाद का; आगम होता है, तत् ध्रुवम्=इसे 'ध्रुव' (कहते है) (अर्थात् 'सघोष' 'व्यञ्जन' का जब 'अभिनिधान' होता है तब उस 'अभिनिधान' के बाद मे 'ध्रुव'-संज्ञक नाद का आगम होता है। इस नाद का काल 'अभिनिधान' के काल के बराबर होता है—जब तक

[१] ऋ० १।९३।६ [२] ऋ० १०।१२९।६
[३] ऋ० १०।७२।६ [४] ६।४५

'अभिनिधान' रहता है तब तक यह नाद भी होती रहती है)। (उदाहरण) "अर्वाग् देवा.", "यद् देवा अद ।"क इसके विषय में कतिपय आचार्य कहते हैं—

विद्वान् लोगों का कहना है कि अल्प होने के कारण 'ध्रुव' के काल का निर्देश नही किया जा सकता है। यदि काल का भेद (विवेक) किया जाये तो वह ('ध्रुव') अणुमात्रा (सबसे छोटे सभव काल) के आरम्भ भाग (अर्थात् एक अश) के बराबर होगा। अभिनिधान' के द्वारा दबाया जाने पर भी यह ('ध्रुव'-सज्ञक) नाद विनष्ट नही होता है। इसलिए (अभिनिधीयमान) वर्ण के काल के बाद में उस ('ध्रुव') का उच्चारण होता है। कतिपय विद्वान् 'ध्रुव' का पूर्णतया लोप बतलाते है। 'अनुनासिक' ('रक्त') ('अभिनिधान') से बाद में विद्यमान ('ध्रुव') नासिका 'स्थान' वाला होता है, इसलिए उसका वैसा ही (=नासिक्य ही) उच्चारण करना चाहिए। सप्तमी के द्वारा निर्दिष्ट होने पर पूर्ववर्ती का विधान अभीष्ट होता है। किन्तु पञ्चमी के द्वारा निर्दिष्ट होने पर परवर्ती का विधान अभीष्ट होता है इसलिए ('अभिनिधान' के बाद में 'ध्रुव' का उच्चारण होता है) चाहे वह काल कितना ही अल्प हो। ध्रुव-सज्ञा का प्रयोजन—"सवर्गपूर्व तथा ध्रुव-सहित ('अभिनिधान') का।"

अश्रुति त्वघोषात् ॥४०॥

सू० अ०—किंतु 'अघोष' ('अभिनिधान') से (बाद में आने वाला 'ध्रुव') सुनाई नही पड़ता है।

उ० भा०—अघोषात् अभिनिधानात् तु ध्रुवम् अश्रुति भवति। "वाक् पतङ्गाय"[1], "यत् ते यमम् ।"[2]

उ० भा० अ०—तु=किन्तु, अघोषात्='अघोष' 'अभिनिधान' से, बाद में आने वाला 'ध्रुव', अश्रुति=न सुनाई पडने वाला, होता है (अर्थात् 'अघोष' 'अभिनिधान' से बाद में स्थित 'ध्रुव'-सज्ञक नाद का श्रवण नही होता है)। (उदाहरण) "वाक् पतङ्गाय", "यत ते यमम् ।"

नासिकास्थानमनुनासिकाच्चेत् ॥४१॥

सू० अ०—यदि 'अनुनासिक' ('अभिनिधान') से (बाद में हो तो 'ध्रुव') नासिका 'स्थान' वाला होता है।

उ० भा०—नासिकास्थानं ध्रुव वेदितव्यम् अनुनासिकात् अभिनिधानात्; (चेत्=) यदि; पर भवति। "अर्वाङ नरा";[3] "तन् मे जुषस्व ॥"[4]

टि० (क) इन दोनों स्थलो पर ६।१७ के अनुसार गकार और दकार का 'अभिनिधान' होता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार इन 'सघोष' व्यञ्जनो (गकार और दकार) के 'अभिनिधान' के बाद में 'ध्रुव'-सज्ञक नाद का आगम होता है।

[1] ऋ० १०।१८९।३ [2] ऋ० १०।५८।१ [3] ऋ० ७।८२।८
[4] ऋ० ७।९९।७

उ० भा० अ०—(चेत्=) यदि; अनुनासिकात्='अनुनासिक' 'अभिनिधान' से; बाद में हो तो 'ध्रुव' को; नासिकास्थानम्=नासिका 'स्थान' वाला; जानना चाहिए; (अर्थात् 'अनुनासिक' 'व्यञ्जन' में होने वाले 'अभिनिधान' से बाद में स्थित 'ध्रुव' का उच्चारण नासिका से होता है)। (उदाहरण) "अर्वाङ् नरा", "तन् मे जुपस्व।"

अन्तस्थायाः पूर्वस्वरूपमेव ॥४२॥

सू० अ०—'अन्तःस्था' से (बाद मे आने वाला 'ध्रुव') पूर्व (='अन्तःस्था') के स्वरूप का ही (होता है)।

उ० भा०—अन्तःस्थाया ध्रुव पूर्वस्वरूपमेव भवति। "यय्ँ यय्ँ युजम्"[१]; "वयव्ँ वयं ते"[२]; "तव्ँ वो दस्मम्"[३]; "पर्व्ँवतश्चित्"[४]; "इमल्ँ लोगम्॥"[५]

उ० भा० अ०—अन्तःस्थायाः='अन्तःस्था' से; बाद में हो तो 'ध्रुव'; पूर्वस्वरूपमेव=पूर्ववर्ती के स्वरूप का ही; होता है, (अर्थात् 'अन्तःस्था'–सञ्ज्ञक व्यञ्जन का 'अभिनिधान' हो तो 'अन्तःस्था' के स्वरूप का ही 'ध्रुव' होता है)। (उदाहरण) "यय्ँ यय्ँ युजम्"; "वयव्ँ वय ते", "तव्ँ वो दस्मम्"; "पर्व्ँवतश्चित्"; "इमल्ँ लोगम्।"

(अभिनिधानलोपे मतद्वयम्)

व्यालेः सर्वत्राभिनिधानलोपः ॥४३॥

(अभिनिधान के लोप के विषय में दो मत)

सू० अ०—व्यालि के मत से सर्वत्र "अभिनिधान' का लोप होता है।

उ० भा०—(व्यालेः=) व्यालेराचार्यस्य; सर्वत्र; (अभिनिधानलोपः=) अभिनिधानस्य लोपः; भवति। "उप दूप्मातेव"[६] "अर्वाग्ग्देवाः"[७] सर्वत्रग्रहणमन्तःस्थाधिकारनिवृत्त्यर्थम्॥

उ० भा० अ०—(व्यालेः=) व्यालि आचार्य के मत से; सर्वत्र=सभी स्थलों पर; (अभिनिधानलोपः=) 'अभिनिधान' का लोप, होता है। (उदाहरण) "उप दूप्मातेव"; "अर्वाग्ग्देवा।" (सूत्र में) सर्वत्र का ग्रहण (६।४२ से प्राप्त) 'अन्तःस्था' के अधिकार की निवृत्ति के लिये (किया गया है)।

परक्रमस्वररेफोपधे न ॥४४॥

सू० अ०—जब परवर्ती ('व्यञ्जन') का द्वित्व हुआ हो अथवा पूर्व में 'स्वर' या रेफ हो तो ('अभिनिधान' का लोप) नहीं (होता है)।

उ० भा०—व्यालेराचार्यस्य; परक्रमस्वररेफोपधे=परक्रमे च स्वरोपधे च रेफोपधे च; न लोपो भवत्यभिनिधानस्य। परक्रमे–"महत्तदुल्ब्बम्।"[८] स्वरोपधे–"अर्वाग्ग्देवाः।"[९]

---

[१] ऋ० २।२५।२ [२] ऋ० १०।२२।१२ [३] ऋ० ८।८८।१
[४] ऋ० ५।६०।३ [५] ऋ० १०।१८।१३ [६] ऋ० ५।९।५
[७] ऋ० १०।१२९।६ [८] ऋ० १०।५१।१ [९] ऋ० १०।१२९।६

कथमिदमुभयत्रोदाह्रियते लोपे चालोपे च ? द्वयोगकारयोरुत्तरस्मिन्नभिनिधानलोपः, पूर्वस्मिन्नलोपः। तस्मादुभयत्रोदाह्रियते। रेफोपधे "परा वर्क् ॥"[१]

उ० भा० अ०—व्याळि आचार्य के मत से; (परक्रमस्वररेफोपधे=) परवर्ती ('व्यञ्जन') का द्वित्व होने पर अथवा स्वर' पूर्व में होने पर अथवा रेफ पूर्व में होने पर, 'अभिनिधान' का लोप, न=नहीं; होता है।[क] परवर्ती का द्वित्व होने पर—"महत्तदुल्बम्।" स्वर पूर्व में होने पर—"अर्वाग्देवा।" लोपपक्ष और अलोपपक्ष–इन दोनों में इस (अर्वाग्देवा) का उदाहरण कैसे दे रहे हो ? (उत्तर) दो गकारों में से बाद वाले में 'अभिनिधान' का लोप होता है तथा पहले वाले में ('अभिनिधान' का) लोप नहीं होता है (अर्थात् "अर्वाग्देवा" का द्वितीय गकार ६।४३ का उदाहरण है और प्रथम गकार ६।४४ का उदाहरण है)। इसलिए दोनों (=लोपपक्ष और अलोपपक्ष) में उदाहरण दिया गया है। रेफ पूर्व में होने पर—"परा वर्क्।"

सवर्णपूर्वस्य सहध्रुवस्य विपर्ययो ध्रुवशिष्टेऽपरेषाम् ॥४५॥

सू० अ०—दूसरे आचार्यों के अनुसार 'ध्रुव' के विधान में (यह ज्ञातव्य है कि) 'सवर्ण' ('व्यञ्जन') से पूर्व में विद्यमान तथा 'ध्रुव'-सहित ('अभिनिधान') का विपर्यय (=लोप) (होता है)।

उ० भा० एतस्मिन्, ध्रुवशिष्टे=ध्रुवविधाने, अपरेषाम् आचार्याणां सवर्णपूर्वस्य; सहध्रुवस्य=ध्रुवसहितस्य, अभिनिधानस्य विपर्ययो वेदितव्यः। कश्च विपर्ययः ? अलोप इति प्रकृतस्तस्य, विपर्ययः=लोपः। "यद्देवा अदः।"[४] "व्याळेः सर्वत्राभिनिधानलोपः"[३] इत्येवं सिद्धे नियमार्थमिदमुच्यते। सवर्णपूर्वस्यैव स्यात्, इह मा भूत्—"अर्वाग् देवा"[४] इति। "परक्रमस्वररेफोपधे न" इत्येवानुवर्तते। सहध्रुवस्य इति कस्मात् ? "यत् ते यमम् ॥[५]

उ० भा० अ०—अपरेषाम्=दूसरे आचार्यों के मत से, इस, ध्रुवशिष्टे='ध्रुव' के विधान में; सवर्णपूर्वस्य= सवर्ण' ('व्यञ्जन') से पूर्व में विद्यमान, तथा, (सहध्रुवस्य=) 'ध्रुव'-सहित, 'अभिनिधान' का, विपर्ययः=लोप, जानना चाहिए। विपर्यय क्या है ? (उत्तर) अलोप (पूर्ववर्ती सूत्र से) अनुवृत्त है, उसका, विपर्यय=लोप, (अर्थात् इन आचार्यों के अनुसार 'अभिनिधान' का लोप हो जाता है यदि (१) वह 'अभिनिधान' 'सयोग' 'व्यञ्जन' का हो और (२) उस 'अभिनिधान' के बाद मे 'सवर्ण' 'व्यञ्जन' हो)। (उदाहरण) "यद्देवा अदः।" "व्याळि के मत से अभिनिधान' का सर्वत्र लोप हो

टि० (क) व्याळि के मत से 'अभिनिधान' के केवल ये तीन स्थल हैं—(१) जब संयुक्त वर्ण ('संयोग') के द्वितीय 'व्यञ्जन' का द्वित्व होता है तो द्वित्व के परिणामस्वरूप आने वाले 'व्यञ्जन' का, अथवा (२) 'स्वर' के बाद में विद्यमान 'व्यञ्जन' का अथवा (३) रेफ के बाद में विद्यमान 'व्यञ्जन' का 'अभिनिधान' होता है।

---

[१] ऋ० ८।७५।१२ [२] ऋ० १०।७२।६ [३] ६।४३
[४] ऋ० १०।१२३।६ [५] ऋ० १०।५८।१

जाता है"—इससे ही (लोप) सिद्ध होने पर यह सूत्र नियम के लिए कहा गया है। 'सवर्ण' ('व्यञ्जन') से पूर्ववर्ती ('अभिनिधान' का ही लोप) होवे, यहाँ (लोप) न होवे—"अर्वाग् देवा.।"क "('संयोग' के) परवर्ती ('व्यञ्जन') का द्वित्व होने पर तथा 'स्वर' या रेफ पूर्व में होने पर"—इसकी (६।४४ से) अनुवृत्ति हो रही है। 'ध्रुव'-सहित ('अभिनिधान') का"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "यत् ते यमम।"ख

(स्वरभक्तिः)

रेफात्स्वरोपहिताद्व्यञ्जनोदयादृकारवर्णा
स्वरभक्तिरुत्तरा ॥४६॥

(स्वरभक्ति)

सू० अ०—'स्वर' (वर्ण) पूर्व में और 'व्यञ्जन' (वर्ण) बाद में हो जिसके ऐसे रेफ से बाद में ऋवर्णात्मक 'स्वरभक्ति' (उत्पन्न होती है)।

उ० भा०—रेफात्स्वरोपहिताद्व्यञ्जनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा उपजायते। "यदद्य कर्हि कर्हि चित्"[1]; "अर्चन्त्यर्कमर्किणः।"[2] स्वरोपहितात् इति कस्मात् ? "आष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने।"[3] व्यञ्जनोदयात् इति कस्मात् ? "पुरुपकृत्तुम्॥"[4]

उ० भा० अ०—स्वरोपहितात्='स्वर' (-वर्ण) है पूर्व में जिसके ऐसे, व्यञ्जनोदयात्='व्यञ्जन' (-वर्ण) है बाद में जिसके ऐसे, रेफात्=रेफ से, उत्तरा=बाद में; ऋकारवर्णा स्वरभक्तिः=ऋवर्णात्मक 'स्वरभक्ति'ग, उत्पन्न होती है, (अर्थात् यदि (१) रेफ के पूर्व में 'स्वर'-वर्ण हो और (२) बाद में 'व्यञ्जन' वर्ण हो तो रेफ और परवर्ती 'व्यञ्जन' के मध्य में एक अति 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण का उच्चारण किया जाता है जिसे 'स्वरभक्ति' कहते हैं)। (उदाहरण) "यदद्य कर्हि कर्हि चित्"घ; "अर्चन्त्यर्कमर्किण।"ङ

टि० (क) यहाँ गकार के 'अभिनिधान' का लोप नहीं हुआ है क्योंकि इस 'अभिनिधान' के बाद में गकार का 'सवर्ण' 'व्यञ्जन' नहीं अपितु 'असवर्ण' 'व्यञ्जन' (दकार) है।

(ख) यहाँ तकार के 'सवर्ण' 'व्यञ्जन' के पूर्व में होने पर भी तकार के 'अभिनिधान' का लोप नहीं हुआ है क्योंकि ६।४० के अनुसार तकार ('अघोष' 'व्यञ्जन') के 'अभिनिधान' के बाद में 'ध्रुव'-संज्ञक नाद का आगम नहीं होता है।

(ग) स्वरभक्ति' के लिए पृष्ठ ६५ पर टि० (क) को देखिए।

(घ) 'स्वर'-वर्ण (अकार) पूर्व में और 'व्यञ्जन'-वर्ण (हकार) बाद में होने के कारण रेफ के बाद में ऋवर्णात्मक 'स्वरभक्ति' का उच्चारण होता है। इस प्रकार 'कर्हि' का उच्चारण 'कर्ऋहि' होगा।

(ङ) इस उदाहरण में 'स्वरभक्ति' के तीन स्थल हैं। पूर्व में स्वर'-वर्ण (अकार) और बाद में 'व्यञ्जन वर्ण (चकार और ककार) होने के कारण रेफ के बाद में ऋवर्णात्मक 'स्वरभक्ति' का उच्चारण होता है। इस उदाहरण का उच्चारण इस प्रकार होगा—"अर्ऋचन्त्यर्ऋकमर्ऋकिण ."

[1] ऋ० ८।७३।५ [2] ऋ० १।१०।१ [3] ऋ० १०।१६५।३ [4] ऋ० १।४।१

"'स्वर' पूर्व में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "आष्ट्र्या पद कृर्णु अग्निधाने ।"क "'व्यञ्जन' वाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सुरूपकृत्नुम् ।"ख

विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराच्च घोषिणः ॥४७॥

सू० अ०—'सघोष' 'अभिनिधान' ('विच्छेद') से (वाद में भी 'स्वरभक्ति' उत्पन्न होती है), यदि वाद में 'स्पर्श' (-वर्ण) अथवा 'ऊष्म' (-वर्ण) हो ।

उ० भा०—(घोषिणः) विच्छेदात्=घोषिणोऽभिनिधानात्, (स्पर्शोष्मपराच्च) स्पर्शपरादूष्मपराच्च, स्वरभक्तिरुत्तरोपजायते । "अर्वाग् देवा ।"[1] "शतवल्शः ।"[2] "विच्छेदात् इति कस्मात् ? "अर्वाग्देवाः", "शतवल्शः ।" स्पर्शोष्मपरात् इति कस्मात् ? "यद्यद् यामि तदा भर ।"[3] घोषिणः इति कस्मात् ? "सम्यक् स्रवन्ति ॥"[4]

उ० भा० अ०—(स्पर्शोष्मपराच्च=) 'स्पर्श' (-वर्ण) या 'ऊष्म' (-वर्ण) हैं वाद में जिसके ऐसे, घोषिणः विच्छेदात्='सघोष' 'अभिनिधान' से; वाद में 'स्वरभक्ति' उत्पन्न होती है; (अर्थात् 'सघोष' 'अभिनिधान' से वाद में 'स्पर्श' अथवा 'ऊष्मन्' हो तो दोनो के मध्य में एक अति 'ह्रस्व' 'स्वर' का आगम होता है) । (उदाहरण) "अर्वाग् देवा ।" "शतवल्श ।" "'अभिनिधान' ('विच्छेद') से वाद में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अर्वाग्देवा ।" "शतवल्श" ।ग "'स्पर्श' (-वर्ण) या 'ऊष्म' (-वर्ण) वाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "यद्यद् यामि तदा भर" ।घ "'सघोष' ('अभिनिधान') से"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "सम्यक् स्रवन्ति ।"ङ

द्राघीयसी तूष्मपरा ॥४८॥

सू० अ०—'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो (वह 'स्वरभक्ति') 'दीर्घ' (होती है) ।

टि० (क) यहाँ रेफ के वाद में 'स्वरभक्ति' का उच्चारण नही होता है क्योकि रेफ के पूर्व में 'स्वर'-वर्ण नही है ।

(ख) यहाँ रेफ के वाद में 'स्वरभक्ति' का उच्चारण नही होता है क्योकि रेफ के वाद में 'व्यञ्जन'—वर्ण नही अपितु 'स्वर'-वर्ण है ।

(ग) इन दो प्रत्युदाहरणो में क्रमश 'स्पर्श'-वर्ण और 'ऊष्म'-वर्ण वाद में होने पर भी गकार और लकार के वाद में 'स्वरभक्ति' का आगम नही होता है क्योकि यहाँ गकार और लकार का 'अभिनिधान' ही नही हुआ है ।

(घ) यहाँ 'सघोष' 'अभिनिधान' (द्) से वाद में 'स्वरभक्ति' का आगम नही हुआ है क्योकि वाद में न 'स्पर्श'-वर्ण है और न 'ऊष्म'-वर्ण है अपितु 'अन्तःस्था'-वर्ण (यकार) है ।

(ङ) यहाँ 'अभिनिधान' से वाद में 'स्वरभक्ति' का आगम नही हुआ है क्योकि यह 'अभिनिधान' 'सघोष' नही अपितु 'अघोष' है ।

---

१ ऋ० १०।१२९।६
२ ऋ० ३।८।११
३ ऋ० ८।६१।६
४ ऋ० ४।५८।६

उ० भा०—ऊष्मपरा तु स्वरभक्तिर्द्राघीयसी वेदितव्या। "यदद्य कर्हि कर्हि चित्।"[1] ऊष्मपरा इति कस्मात्? "अर्चन्त्यर्कमर्किणः॥"[2]

उ० भा० अ०—ऊष्मपरा तु='ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो; 'स्वरभक्ति'; द्राघीयसी=दीर्घ; जाननी चाहिये। (उदाहरण) "यदद्य कर्हि कर्हि चित्।"[क] "'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अर्चन्त्यर्कमर्किण."।[ख]

इतरा क्रमे ॥४९॥

सू० अ०—द्वित्व ('क्रम') को प्राप्त ('ऊष्म'-वर्ण) बाद में हो तो (वह 'स्वरभक्ति') अन्य (='ह्रस्व') (होती है)।

उ० भा०—इतरा एव स्वरभक्तिरूष्मणः क्रमे वेदितव्या। इतरा कतरा? योष्मपरा सा तु द्राघीयसी तस्या अपेक्षयेतरा ह्रस्वा। "बर्ष्ष्यान्"[3]; "अदर्श्शर्यायती"॥[4]

उ० भा० अ०—क्रमे='ऊष्म' (-वर्ण) का द्वित्व होने पर, (अर्थात् द्वित्व को प्राप्त 'ऊष्म'—वर्ण बाद में हो तो); इतरा=अन्य, ही 'स्वरभक्ति' जाननी चाहिये। अन्य कौन सी? जो 'ऊष्म'-पर होती है वह तो (६।४८ के अनुसार) दीर्घ होती है), उसकी अपेक्षा अन्य ह्रस्व है। (उदाहरण) "बर्ष्ष्यान्"; "अदर्श्शर्यायती।"[ग]

सर्वत्रैके स्वरभक्तेरभावम् ॥५०॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) सर्वत्र 'स्वरभक्ति' का अभाव मानते हैं।

उ० भा०—सर्वत्र=अन्तःपदं च नानापदे च रेफाच्च विच्छेदाच्च; स्वरभक्तेरभावम् एके आचार्या मन्यन्ते। "बर्ष्ष्यान्"[5]; "अग्निर्हृत्यम्"[6]; "अर्वाग् देवाः॥"[7]

उ० भा० अ०—एके=कतिपय आचार्य; सर्वत्र=पद के मध्य में और भिन्न-भिन्न पदों में; रेफ से बाद में और 'अभिनिधान' ('विच्छेद') से बाद में; स्वरभक्तेरभावम्='स्वरभक्ति' का अभाव, मानते है, (अर्थात् इन आचार्यों के अनुसार 'स्वरभक्ति' का आगम कही भी नहीं होता है)। (उदाहरण) 'बर्ष्ष्यान्'; "अग्निर्हृत्यम्", 'अर्वाग् देवा.।"

टि० (क) स्वरभक्ति' के बाद में 'ऊष्म'-वर्ण (हकार) है इसलिये यह दीर्घ स्वरभक्ति' है।

(ख) इस प्रत्युदाहरण में तीन स्थलो पर ह्रस्व स्वरभक्ति' है 'दीर्घ स्वरभक्ति' नही क्योकि तीनो स्थलो पर 'स्वरभक्ति' के बाद में 'ऊष्म'-वर्ण न होकर स्पर्श'-वर्ण (क्रमश चकार, ककार और ककार) है।

(ग) 'स्वरभक्ति' के बाद में ६।४ से द्वित्व को प्राप्त 'ऊष्म'-वर्ण (षकार तथा शकार) हैं, इसलिये दोनो उदाहरणो में 'स्वरभक्ति' ह्रस्व है।

---

[1] ऋ० ८।७३।५ [2] ऋ० १।१०।१ [3] ऋ० ५।८३।३
[4] ऋ० ७।८१।१ [5] ऋ० ५।८३।३ [6] ऋ० १०।८०।३
[7] ऋ० १०।१२९।६

रेफोपधामपरे विद्यमानाम् ॥५१॥

सू० अ०—अन्य आचार्य रेफपूर्व (रेफ है पूर्व में जिसके उस) 'स्वरभक्ति' को विद्यमान मानते हैं।

उ० भा०—रेफोपधां स्वरभक्तिम् अपरे आचार्या विद्यमानां मन्यन्ते। "कर्हि अर्चन्ति।" रेफोपधाम् इति कस्मात्? "अर्वाग् देवा.॥"[1]

उ० भा० अ०—अपरे=दूसरे आचार्य; रेफोपधाम्=रेफ है पूर्व में जिसके ऐसी 'स्वरभक्ति' को; विद्यमानाम्=विद्यमान; मानते हैं; (अर्थात् इन आचार्यों के अनुसार रेफ के बाद में 'स्वरभक्ति' का आगम होता है)। (उदाहरण) "कर्हि अर्चन्ति।" "रेफ पूर्व में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) 'अर्वाग् देवा।'[क]

अक्रान्तोष्मप्रत्ययाभावमेके ॥५२॥

सू० अ० कतिपय आचार्य अद्विरुक्त (अक्रान्त) 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में होने पर ('स्वरभक्ति' की) सत्ता को (मानते हैं)।

उ० भा०- (अक्रान्तोष्मप्रत्ययाभावम्=) अक्रान्त ऊष्मा प्रत्ययो यस्या स्वरभक्तेस्तस्या भावम्; एके आचार्या मन्यन्ते। "वर्षन्"[2]; "कर्हि"[3]; "अर्शि"[4]; "जल्हव.।"[5] अक्रान्त इति कस्मात्? "वर्ष्यान्"[6]; "अदर्श्यायती॥"[7]

उ० भा० अ०—(अक्रान्तोष्मप्रत्ययाभावम्=) अद्विरुक्त (अक्रान्त) 'ऊष्म' (-वर्ण) है बाद में जिसके उस 'स्वरभक्ति' की सत्ता को; एके=कतिपय आचार्य, मानते हैं; (अर्थात् बाद में अद्विरुक्त ऊष्म'-वर्ण हो तो पूर्व-प्रतिपादित 'स्वरभक्ति' होती है)। (उदाहरण) 'कर्हि"; 'अर्शि"; "जल्हव"। "अद्विरुक्त (अक्रान्त)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) 'वर्ष्यान्"; 'अदर्श्यायती।"[ख]

पूर्वोत्तरस्वरसरूपतां च ॥५३॥

सू० अ०—(कतिपय आचार्य) ('स्वरभक्ति' की) पूर्ववर्ती 'स्वर' और उत्तरवर्ती 'स्वर' से समानता को भी मानते हैं।

टि० (क) इन आचार्यों के अनुसार यहाँ रेफ के बाद में 'स्वरभक्ति' का आगम होता है किंतु 'घोष' 'अभिनिधान' (ग्) के बाद में 'स्वरभक्ति' का आगम नहीं होता है।

(ख) इन आचार्यों के अनुसार इन दोनों उदाहरणों में रेफ के बाद में 'स्वरभक्ति' का आगम नहीं हुआ है क्योंकि रेफ के बाद में द्विरुक्त (द्वित्व को प्राप्त) 'ऊष्म'-वर्ण (षकार तथा शकार) विद्यमान हैं।

---

१ ऋ० १०।१२२।६ २ ऋ० ५।५८।७ ३ ऋ० ५।७४।१०
४ ऋ० १।६८।११ ५ ऋ० ८।६९।११ ६ ऋ० ५।८३।३
७ ऋ० ७।८१।१

उ० भा०—(पूर्वोत्तरस्वरसरूपतां च=) पूर्वस्वरसरूपतां चोत्तरस्वरसरूपतां च स्वरभक्तेरेक आचार्या मन्यन्ते। न केवलमृकाररूपा स्वरभक्तिर्भवतीत्यर्थः। "धूर्षदम्"[१]—इत्यूकाररूपा स्वरभक्तिः। "बर्हिषदः"[२]—इति इकाररूपा स्वरभक्तिः॥

उ० भा० अ०—कतिपय आचार्य 'स्वरभक्ति' की, (पूर्वोत्तरस्वरसरूपतां च=) पूर्ववर्ती 'स्वर' (–वर्ण) से समानता को और परवर्ती 'स्वर' (–वर्ण) से समानता को, मानते हैं। 'स्वरभक्ति' केवल ऋकार-रूप ही नही होती—यह अर्थ है, (अर्थात् 'स्वरभक्ति' केवल ऋकाररूप ही नही अपितु पूर्ववर्ती 'स्वर' अथवा परवर्ती 'स्वर' के रूप वाली भी होती है)। (उदाहरण) "धूर्षदम्" मे 'स्वरभक्ति' ऊकार-रूप है। "बर्हिषद" में 'स्वर-भक्ति' इकार-रूप है।[क]

(प्रथमस्पर्शस्य द्वितीयस्पर्शभावः)

ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके
द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम् ॥५४॥

(प्रथम स्पर्श का द्वितीय स्पर्श होना)

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) कहते है कि पद के अन्त में न आने वाला प्रथम 'स्पर्श' द्वितीय ('स्पर्श') हो जाता है यदि (उस प्रथम 'स्पर्श' के) बाद मे 'ऊष्म'–वर्ण हो।

उ० भा०—ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमपदान्तभाजमेक आचार्या द्वितीयमाहुः। "शशः क्षुरं प्रत्यञ्चं जगार"[३]; "प्रत्यङ्ङ् स्वमसु यन्"[४], शतक्रतुः त्सरत्"[५]; विरप्शी गोमती मही।"[६] अपदान्तभाजम् इति कस्मात्? "ऋक्सामाभ्याम्"[७]; विराट् सम्राट्"; "यत्सोम"[९]; अप्स्वग्ने॥"[१०]

उ० भा० अ०—एके=कतिपय आचार्य, ऊष्मोदयम्=ऊष्म'–वर्ण है बाद में जिसके ऐसे; प्रथमं स्पर्शम्=प्रथम 'स्पर्श'-वर्ण को, अपदान्तभाजम्=पद के अन्त में न आने पर, द्वितीयमाहुः=द्वितीय 'स्पर्श' कहते हैं, (अर्थात् इन आचार्यो का यह मत है कि 'ऊष्म'-वर्ण बाद में होने पर प्रत्येक वर्ग का प्रथम वर्ण उसी 'वर्ग' का द्वितीय हो जाता है)। (उदाहरण) 'शश क्षुर प्रत्यञ्च जगार', "प्रत्यङङ् स्वमसु यन्", 'शतक्रतु त्सरत्", 'विरप्शी गोमती मही'। "पद के अन्त में न आने पर"—यह (सूत्र में)

टि० (क) इन आचार्यों के अनुसार 'धूर्षदम्' का उच्चारण "धूरूषदम्" तथा "बर्हिषद" का उच्चारण "बरिहिषद" होगा।

---

[१] ऋ० १।१४३।७ [२] ऋ० १।६८।१ [३] ऋ० १०।२८।९
[४] ऋ० १०।१२।१ [५] ऋ० ८।१।११ [६] ऋ० १।८।८
[७] ऋ० १०।८५।११ [८] ऋ० १।१८८।५ [९] ऋ० ९।१९।१
[१०] ऋ० ८।४३।९

क्यो (कहा) ? (उत्तर) "ऋक्सामाभ्याम्"; "विराट् सम्राट्"; "यत्सोम"; "अप्स्वग्ने ।"[क]

('क्शा'-स्थाने 'ख्या'ऽऽदेशः)

क्शातौ खकारयकारा उ एके ॥५५॥

('क्शा' के स्थान पर 'ख्या'ऽऽदेश)

सू० अ०—कतिपय (आचार्य कहते हैं कि) 'क्शा' धातु में (ककार और शकार के स्थान पर) खकार और यकार (का उच्चारण करना चाहिये)।

उ० भा०—(क्शातौ=) क्शातेर्धातोः; ककारशकारयोः स्थाने खकारयकारौ कर्तव्यौ मन्यन्त एक आचार्या । "अख्यद्देवः ॥"[१]

उ० भा० अ० -कतिपय आचार्य मानते है कि, (क्शातौ=) 'क्शा' धातु के, ककार और शकार के स्थान पर, खकारयकारौ=खकार और यकार का (उच्चारण) करना चाहिए। (उदाहरण) "अख्यद्देव ।"

तावेव ख्यातिसदृशेषु नामसु ॥५६॥

सू० अ०—'ख्याति' धातु के सदृश नामों में उन्हीं दो (अर्थात् खकार और यकार का) (उच्चारण करना चाहिये)।

उ० भा०—तावेव=खकारयकारौ; ख्यातिसदृशेषु नामसु कर्तव्यौ मन्यन्त एक आचार्याः। "सख्ये सखायस्तन्वे तनूभिः"[२] इति ॥

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये षष्ठं पटलम् ॥

प्रथमोऽध्यायः ॥

उ० भा० अ०—कतिपय आचार्य मानते हैं कि, ख्यातिसदृशेषु नामसु='ख्याति' के सदृश नामो में, तावेव=उन्ही दो=खकार और यकार का; (उच्चारण) करना चाहिये। (उदाहरण) "सख्ये सखायस्तन्वे तनूभि ।"

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यभाष्य में षष्ठ पटल समाप्त हुआ।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

टि० (क) इन चारो प्रत्युदाहरणो में प्रथम 'स्पर्श' द्वितीय 'स्पर्श' नहीं हुए है क्योंकि ये प्रथम 'स्पर्श' पद के अन्त में विद्यमान है।

---

१ ऋ० ४।१४।१

२ ऋ० १।१६५।११

७ : प्लुति-पटलम्

सामवशसंधेरधिकारसूत्रम्

प्लुतिसंज्ञा

पदान्ते मक्षौ च ह्रस्वस्य दीर्घभावः

अपादान्ते पदान्तह्रस्वस्य दीर्घभावः

पादादौ पदान्तह्रस्वस्य दीर्घभावः

दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जनेऽन्यस्त्वृकाराद्
यथादिष्टं सामवशः स संधिः ॥१॥

सू० अ०—ऋकार से अन्य 'ह्रस्व' ('स्वर'), 'व्यञ्जन' बाद में होने पर, 'दीर्घ' ('स्वर') (हो जाता है) जैसा कि (बाद वाले सूत्रों में) विधान किया गया है। इस संधि को 'सामवश' कहते हैं।

उ० भा०—ऋकारादन्यो ह्रस्वः; (दीर्घम्=) दीर्घत्वमापद्यते; व्यञ्जने प्रत्यये—इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यत्र यत्र वक्ष्यामस्तत्र तत्रोदाहरिष्यामः। सामवशो नाम स संधिर्वेदितव्य। व्यञ्जनग्रहणं स्वरे दीर्घत्वप्रतिषेधार्थम्। नैतदस्ति प्रयोजनम्; स्वरेषु हि सर्वेषु सधयो विधीयन्ते, तेऽस्य बाधका भविष्यन्ति। लृकारेऽकारस्य न किञ्चिद्विधीयते, तत्र स्यात्। नैव लृकारादिपदमस्ति, तस्मादन्तरेणापि व्यञ्जनग्रहणं व्यञ्जन एव भविष्यति। न सिध्यति। कथम? 'मक्षित्वा'[1] इत्यत्र प्रतिपदविधानाद्दीर्घत्वं प्रसज्येत। अस्तु कृतेऽपि दीर्घत्वे समानाक्षरत्वस्याविघातादन्तःस्थापत्तिर्भविष्यति। तथा सति—"पदे वृष्टेषु"[2] इति वचनान्न प्राप्नोति। तस्माद्व्यञ्जनग्रहण क्रियते।

उ० भा० अ०—ऋकारादन्यो ह्रस्वः=ऋकार से अन्य 'ह्रस्व' ('स्वर'), [दीर्घम्='दीर्घ' (हो जाता है)=] दीर्घत्व को प्राप्त हो जाता है; व्यञ्जने='व्यञ्जन' बाद में होने पर—इसे अधिकार जानना चाहिए। इसके बाद जहाँ-जहाँ (दीर्घत्व के विषय में) कहेंगे वहाँ-वहाँ उदाहरण देंगे। सामवशः='सामवश' नाम वाली, स संधिः=वह सधि, जाननी चाहिए। 'व्यञ्जन' का ग्रहण, 'स्वर' बाद में होने पर, दीर्घत्व के प्रतिषेध के लिए (किया गया है)।[क] (पू०) यह प्रयोजन नही है; क्योकि सभी 'स्वर' परे रहते सधियो का विधान किया जा चुका है, वे (सधियाँ) इसकी (='स्वर' परे रहते 'सामवश' सधि की) बाधक होगी।[ख] (सि०) पदादि लृकार परे रहते पदान्त अकार की (सधि का) कोई विधान नही किया गया है, वहाँ ('अ'+'लृ' में) (अकार 'दीर्घ') हो जायेगा (अर्थात् 'अ'+'लृ' में अकार के दीर्घत्व के निषेध के लिए ही सूत्र में 'व्यञ्जने' पद का ग्रहण किया गया है)। (पू०) लृकार से प्रारम्भ होने वाला पद ही नही है (इसलिए उपर्युक्त कथन युक्त नही है), अत एव (सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण किये विना भी (वस्तुगत्या) 'व्यञ्जन'

टि० (क) सूत्रकार ने सूत्र मे 'व्यञ्जने' पद का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया है कि पदान्त ह्रस्व 'स्वर' तभी 'दीर्घ' होगा जब उसके बाद में पदादि 'व्यञ्जन' होगा। इसलिये यदि पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' के बाद में पदादि 'स्वर' हो तो 'ह्रस्व' 'स्वर' 'दीर्घ' नही होगा।

(ख) यदि पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' के बाद में कोई भी पदादि 'स्वर' हो तो वहाँ उन स्वरों को 'प्रश्लिष्ट' आदि सधि हो जायेगी—यह पहले ही द्वितीय पटल में बतलाया जा चुका है। इसलिए, पदादि 'स्वर' परे रहते, पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' के दीर्घत्व की प्राप्ति ही नही होती, तब उसका निषेध करना अनर्थक है।

[1] ऋ० १।२।६ [2] २।५

परे होने पर ही (पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' का दीर्घत्व) होगा। (सि०) ('व्यञ्जन' का ग्रहण किए बिना 'व्यञ्जन' ही परे रहते 'ह्रस्व' 'स्वर' का 'दीर्घ' होना) सिद्ध नहीं होता है। (पू०) क्यों (सिद्ध नहीं होता है) ? (सि०) (७।५ में) प्रतिपद-विधान होने से "मक्षित्वत्या" (मक्षु। इत्या॥ प० पा०) में दीर्घत्व की प्राप्ति हो जायेगी।[क] (पू०) (दीर्घत्व) होने दीजिए, ('मक्षु' के उकार के) 'दीर्घ' होने पर भी उसके ('क्षैप्र' संधि के निर्वाहक) 'समानाक्षर' होने में तो कोई बाधा नहीं होती है, (इसलिए) 'अन्तःस्था' (वकार) की प्राप्ति हो जायेगी।[ख] (सि०) वैसा (='दीर्घ') होने पर—"पद-पाठ में दिखलाई देने वाले (पदान्तों और पदादियों में ही)"—इस विधान से ('अन्तःस्था') प्राप्त नहीं होता है।[ग] इसलिए (प्रस्तुत सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण किया गया है।

एवमपि न कर्तव्यम्। प्रतिपदविधानस्य व्यञ्जने सावकाशत्वादिह—"मक्ष्वित्या" इत्यत्रोभयप्रसङ्गे "शास्त्रानुपूर्व्येण संधयो भवन्ति" इति पूर्वमेवान्तःस्थापत्तौ कृतायामुकाराभावादेव न दीर्घत्वं भविष्यति। तस्मान्नार्थो व्यञ्जनग्रहणेन। इह तर्हि - "अच्छ ऋषे मारुतम्"[1] इत्यत्र—"ऋकार उदये कण्ठ्यावकारम्"[2] इति कृतेऽपि पदे दृष्टो ह्रस्वोऽपि विद्यत इति दीर्घत्वं प्राप्नोति; तत्प्रतिषेधार्थं व्यञ्जनग्रहणं क्रियते।

(पू०) फिर भी (सूत्र में 'व्यञ्जन' का ग्रहण) नहीं करना चाहिए। (७।५ में 'मक्षु' के 'दीर्घ' होने का) जो प्रतिपद विधान किया गया है उसके, 'व्यञ्जन' परे रहते, सावकाश होने पर यहाँ "मक्ष्वित्या" में दोनों ('क्षैप्र" संधि और दीर्घत्व) की प्राप्ति (प्रसक्ति) होने पर "शास्त्र की आनुपूर्वी से संधियाँ होती हैं"—इस (नियम) से 'अन्तःस्था' की

टि० (क) ७।५ में 'मक्षु' पद का ग्रहण करके यह विधान किया गया है कि 'मक्षु' पद सर्वत्र ही 'दीर्घ' हो जाता है। इस विधान से मक्षु+इत्या में 'मक्षु' का उकार 'दीर्घ' हो जायेगा जिससे यहाँ 'क्षैप्र' संधि नहीं होगी। ऐसा होने पर संहिता पाठ में अनुपलब्ध ("मक्षू इत्या") पाठ की प्राप्ति होगी। "मक्षु। इत्या" (प० पा०)—इस स्थल पर 'मक्षु' में दीर्घत्व के प्रतिषेध के लिए ही प्रस्तुत सूत्र में 'व्यञ्जन' पद का ग्रहण किया गया है।

(ख) 'मक्षु' के 'मक्षू' हो जाने पर भी 'मक्षू'+'इत्या' में 'क्षैप्र' संधि होकर "मक्ष्वित्या"—इस प्रकार अभीष्ट रूप सम्पन्न हो जायेगा क्योंकि २।२१ में यह विधान किया गया है कि 'स्वर' परे रहते 'समानाक्षर' अपना 'अन्तःस्था' हो जाता है। 'मक्षु' का उकार 'दीर्घ' (=ऊकार) होने पर भी 'समानाक्षर' तो रहता ही है।

(ग) २।५ में यह विधान किया गया है कि पद-पाठ में दृष्ट पदान्तों और पदादियों में ही विकार हो सकता है। इस विधान के अनुसार 'दीर्घ' होने के बाद 'मक्षू' का 'ऊ' 'अन्तःस्था' नहीं होगा क्योंकि 'ऊ' पद-पाठ में दृष्ट नहीं है, पद-पाठ में तो 'उ' है।

---

१ ऋ० ५।५२।१४ २ २।३२

प्राप्ति पहले ही कर लेने पर उकार का अभाव होने से ही दीर्घत्व न होगा।[क] इसलिए (सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण करना व्यर्थ है। (सि०) तब यहाँ—"ऋकार परे हो तो 'कण्ठ्य' (='अ' और 'आ') अकार हो जाते हैं"—इस (सूत्र) से— "अच्छ ऋषे मारुतम्" में ('अच्छ' के अकार के स्थान पर अकार) कर लेने पर भी पद-पाठ में दृष्ट 'ह्रस्व' 'स्वर' भी विद्यमान रहता है—अत दीर्घत्व प्राप्त होता है। उस (दीर्घत्व) के प्रतिषेध के लिए (सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण किया गया है।[ख]

नैकमुदाहरणं व्यञ्जनग्रहणं प्रयोजयति। यद्येतावत्प्रयोजनं स्यात्—"नास्येति व्यञ्जनोपधः"[१] इत्येतस्मिन्प्रतिषेधप्रकरण एवास्य निपातनं कुर्यात्—"अच्छ ऋषि" इति। तस्मात्सर्वस्मिन्दीर्घभावे व्यञ्जन एव प्लुतिः स्यात्स्वरे मा भूदित्येवमर्थं व्यञ्जनग्रहणं कृतं द्रष्टव्यम्। यदुक्तमधस्तात्प्रतिपदविधानस्य व्यञ्जने सावकाशत्वान्मक्षिवत्येत्यत्रोभयप्रसङ्गे शास्त्रानुपूर्व्येणैव पूर्वमेवान्तःस्थापत्तौ कृतायामुकाराभावादेव प्लुतेरप्राप्तेर्व्यञ्जनग्रहणानर्थक्यमिति; तदेतदसम्यगुक्तम्। कथम्? यत्रैकस्मिन्नुभे कार्ये तुल्यबले युगपत्प्राप्नुतस्तत्र शास्त्रानुपूर्व्येण संधिर्भवति। यथा "तवेमे" इत्यत्र व इत्येतस्य पदावस्थायामेव—"उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तम्"[२] इत्यनुदात्तत्वे कृत उत्तरेण संधौ क्रियमाणे—'उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा स्वर्यतेऽन्तर्हितम्"[३] इति स्वरितश्च प्राप्नोति; "इकारोदय एकारमकारः"[४]

टि० (क) 'मक्षु' के 'दीर्घ' होने का जो पद-ग्रहण करके विधान किया गया है वह (दीर्घत्व) निर्विवाद रूप से हो जाता है यदि 'व्यञ्जन' बाद में हो। इस प्रकार, 'व्यञ्जन' परे रहते, 'मक्षु' का 'दीर्घ' होना सावकाश है—दीर्घत्व के लिए स्थान प्राप्त है। 'स्वर'-वर्ण परे होने पर तो यहाँ 'क्षैप्र' संधि और 'सामवश' संधि (=दीर्घत्व)—इन दोनो—की प्राप्ति होती है। यत. ग्रन्थ मे 'क्षैप्र'-संधि का पूर्व (२।२१) में विधान किया गया है, अत. यहाँ 'क्षैप्र' संधि होती है जिससे यह रूप निष्पन्न होता है—"मक्षित्वत्या"। 'क्षैप्र' संधि होने पर 'मक्षु' का उकार नही रहता है; तब उसके 'दीर्घ' होने का प्रसङ्ग ही नही रहता है। इसलिए यह कहना उचित नही है कि 'मक्षु' में दीर्घत्व के निषेध के लिए सूत्र में 'व्यञ्जन' का ग्रहण किया गया है।

(ख) यदि सूत्र में यह न कहा जाये कि पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण, पदादि 'व्यञ्जन'-वर्ण परे होने पर, 'दीर्घ' होता है तो "अच्छ ऋषे" में 'अच्छ' का अकार भी 'दीर्घ' हो जायेगा जिससे "अच्छा ऋषे" पाठ निष्पन्न होगा जो संहिता-पाठ मे उपलब्ध नही है। 'मक्षित्वत्या' स्थल में तो 'क्षैप्र' संधि होने के पश्चात् दीर्घत्व का प्रसङ्ग ही नही रहता किंतु "अच्छ ऋषे" में २।३२ के अनुसार 'उद्ग्राहवत्' संधि होने के पश्चात् भी 'अच्छ' के अकार के 'दीर्घ' होने का प्रसङ्ग ज्यो का त्यो बना रहता है क्योंकि संधि होने के पश्चात् भी 'अच्छ' रहता है जो पद-पाठ में दिखलाई पडता है। 'अच्छ' के अकार के दीर्घत्व के प्रतिषेध के लिए ही सूत्र में 'व्यञ्जन' पद का ग्रहण किया गया है।

[१] ७।८ [२] ३।७ [३] ३।१७ [४] [illegible]

इति च संधिः। तयोः शास्त्रानुपूर्व्येण पूर्वः सन्धिर्भवति। अतोऽन्यत्र पूर्वानुत्सर्गान्बाधित्वा तदुत्तरेऽपवादा भवन्ति। यथा—"भूतं देवानामवमे अवोभिः"[1] इत्यत्र—"अवीरतेऽवास्य-योऽरयाः"[2] इति प्रतिपदविहितमप्यभिनिहितं बाधित्वापवादान्तरम्—"प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः। स्वरेषु चार्ष्याम्"[3] इति प्रकृतिभावो भवति। एवं मक्ष्वित्थेत्येवमादिष्वप्यपवादाद् दीर्घत्वं प्रसज्येत। तस्माद्व्यञ्जनग्रहणं क्रियते।

(पू०) एक उदाहरण (सूत्र में) 'व्यञ्जन' के ग्रहण का प्रयोजन नहीं हो सकता है। यदि (व्यञ्जन' के ग्रहण का) इतना ही प्रयोजन होता तो " व्यञ्जन' पूर्व में होने पर 'अस्य' (का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ') नहीं (होता है)"- इस प्रतिषेध-प्रकरण में ही इसका निपातन कर लिया जाता—(जैसे) "अच्छ ऋषि" (अर्थात् 'ऋषि' पद परे होने पर 'अच्छ' का अन्तिम अकार 'दीर्घ' नहीं होता है)। (सि०) (आपका यह कहना ठीक है कि एक उदाहरण सूत्र में व्यञ्जन' पद के ग्रहण का प्रयोजन नहीं हो सकता है)। इसलिए सभी (अर्थात् 'स्वर' और 'व्यञ्जन') परे होने पर (पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' का) दीर्घत्व प्राप्त होने पर—" व्यञ्जन' परे होने पर ही दीर्घत्व ('प्लुति') हो, 'स्वर' परे होने पर नहीं"—इसी प्रयोजन के लिए (सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण किया गया है—यह समझना चाहिए। जो (आपने) पहले यह कहा है कि 'व्यञ्जन' परे होने पर प्रतिपद विधान के सावकाश होने से "मक्ष्वित्था" में दोनों की प्रसक्ति होने पर शास्त्र की आनुपूर्वी से पहले ही 'अन्तःस्था' की प्राप्ति हो जाने पर उकार का अभाव हो जाने से ही दीर्घत्व ('प्लुति') की प्राप्ति नहीं होगी—इसलिए (सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण अनर्थक है—यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। (पू०) क्यों? (सि०) जहाँ एक (स्थल) में तुल्य बल वाले दो कार्य एक साथ ही प्राप्त होते हैं वहाँ शास्त्र की आनुपूर्वी से सधि होती है। जैसे—"तवेमे" (तव। इमे॥ प० पा०) में "'उदात्त' से बाद में विद्यमान 'स्वरित' को 'अनुदात्त' (समझना चाहिए)"—इसके अनुसार पद की अवस्था में 'व' को 'अनुदात्त' कर लेन पर (तदनन्तर) परवर्ती ('इमे' के 'इ') के साथ सधि करने पर—" 'उदात्त' के बाद में विद्यमान 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है चाहे मध्य में 'विवृत्ति' और 'व्यञ्जन' का भी व्यवधान हो"— इससे (व) का 'स्वरित' होना प्राप्त होता है और "इकार बाद में हो तो अकार (इकार के साथ) एकार (हो जाता है)"—इससे ('प्रश्लिष्ट') सधि (प्राप्त होती है)। इन दोनों में से शास्त्र की आनुपूर्वी से पहले पूर्ववर्ती (३।१६ में विहित) ('प्रश्लिष्ट') सधि होता है (और तत्पश्चात् ३।१७ से 'तवेम' का 'वे' 'स्वरित' होता है जो पुनः परवर्ती उदात्त' के कारण 'अनुदात्त' हो जाता है)। इससे अन्यत्र (अर्थात् ऐसे स्थलों से अन्य स्थलों पर) पूर्ववर्ती सामान्य-नियमों (=उत्सर्गों) का बाध करके उसके बाद वाले अपवाद होते हैं। जैसे—"भूत दवानामवमे अवोभि"—यहाँ पर—" अवीरते', 'अवासि', 'अव.' (और) 'अरया' (का अकार पूर्ववर्ती एकार और ओकार के साथ अभिनिहित' सधि को प्राप्त होता है)"— इससे प्रतिपद विहित भी (पूर्ववर्ती) 'अभिनिहित' (सधि) को बाधकर—"(पद-पाठ मे) 'इति' शब्द परे हो तो और आर्षीसंहिता में 'स्वर' परे हो तो 'प्रगृह्य' ('स्वर') 'प्रकृतिभाव' से रहते हैं"—इस (परवर्ती) दूसरे अपवाद से

[1] ऋ० १।१८५।११ [2] २।४० [3] २।५१-५२

यहाँ 'प्रकृतिभाव' होता है। इस प्रकार "भक्षित्वथा" इत्यादि में भी अपवाद से दीर्घत्व की प्राप्ति होती है (क्योंकि वाद में विहित 'सामवश' संधि द्वितीय पटल मे विहित सधियो का अपवाद है)। इसलिए (इस दीर्घत्व के प्रतिषेध के लिए ही सूत्र में) 'व्यञ्जन' का ग्रहण किया गया है।

अन्यस्त्वृकारादित्यनर्थकम्। कथम्? पदान्तादिष्वेव विकारशास्त्रं विधीयते। नहि ऋकारान्त पदमस्ति। क्व वा प्रयोजयति? "सर्वत्र पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वसुमघयोः परयोः"[१] इत्यत्र प्रयोजयति यद्यस्ति पितृवसुः, मातृवसुः इति वा। यथादिष्टग्रहणमनादिष्टानाम्—"यज्ञस्य देवम्"[२] आदीनां प्रतिषेधार्थम्। यदि सर्वेषां ह्रस्वानां सामान्येनैव दीर्घत्वं स्यादुत्तरेषामनुक्रमणमनर्थकं स्यात्; नानर्थकम्, नियमार्थमेव स्यात्—अमुष्यामुष्मिन्नेवेति॥

(पू०) (सूत्र में) "ऋकार से अन्य" (जो कहा गया है वह) अनर्थक है। (सि०) क्यो? (पू०) पदान्तो और पदादियों मे ही विकारशास्त्र का विधान (२।५ में) किया गया है और ऋकार मे अन्त होने वाला पद नही है। (तव वतलाइये कि सूत्र में ऋकार के ग्रहण का) क्या प्रयोजन है? (सि०) "'वसु' और 'मघ' वाद मे हो तो पूर्व-पद के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाते है"—यह (सूत्र) प्रयोजन है क्योकि यदि 'पितृवसु' और 'मातृवसु' (पद किसी शाखा में) हो।[क] (सूत्र म) 'यथादिष्ट' का ग्रहण अनादिष्ट "यज्ञस्य देवम्" आदि (में दीर्घत्व) के प्रतिपेध के लिए (किया गया है) (अर्थात् वाद वाले सूत्रो में जहाँ-जहाँ दीर्घत्व का विधान किया गया है वहीं दीर्घत्व होगा, अन्यत्र नही)। यदि सभी 'ह्रस्व' स्वरो का सामान्य रूप से दीर्घत्व हो जावे तो परवर्ती पदो का अनुक्रमण अनर्थक हो जायेगा, किंतु वह अनर्थक नही है, नियम के लिए है—(नियम इस प्रकार है)—"यह परे रहते इसका (दीर्घत्व होता है)।"

(प्लुति-संज्ञा)

सैव प्लुतिः ॥२॥

(प्लुति-संज्ञा)

सू० अ०—यही 'प्लुति' (=दीर्घता) है।

उ० भा०—सैव प्लुतिः इति वेदितव्या या ह्रस्वस्य दीर्घता। प्लुतिसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"प्लुतोपाचारिते नतिः॥[३]"

उ० भा० अ०—'ह्रस्व' 'स्वर' की जो दीर्घता (='दीर्घ' होना) है, सैव प्लुतिः=इसे ही 'प्लुति'; जानना चाहिए। 'प्लुति'—सज्ञा का प्रयोजन—"प्लुत, 'उपाचरित' और 'नति' (प्रकृति-रूप में होते है)।"

टि० (क) अर्थात् यद्यपि ऋग्वेद की उपलब्ध शाखा में ऋकारान्त पद नहीं है तथापि किसी अन्य शाखा में 'पितृवसु' और 'मातृवसु' पद हो सकते है और वहाँ ९।१ के अनुसार ऋकार 'दीर्घ' हो जायेगा। उस दीर्घत्व के वाध के लिए ही सूत्र में 'ऋकार से अन्य'—यह ग्रहण किया गया है।

[१] ९।१ [२] ऋ० १।१।१ [३] [illegible]

या स्वरेषूपदिष्टा ॥३॥

सू० अ०—स्वरों में (अर्थात् स्वर-संधियों में) जिसका उपदेश किया गया है (वह भी 'प्लुति' है)।

उ० भा०—या च; (स्वरेषु=) स्वरसंधिषु, उपदिष्टा "एवाँ अग्निमत्रिषु सा प्लुतोपधा"[1] इति सा च प्लुतिर्ह्रस्वस्य दीर्घता वेदितव्या ॥

उ० भा० अ०— (स्वरेषु=स्वरों में=) स्वर-संधियो में—"अत्रिमण्डल में "एवाँ अग्निम्' (ह्रैपद मिलता है)वह 'प्लुतोपध' (—संज्ञक है)"—के द्वारा; या उपदिष्टा=जिसका उपदेश किया गया है, 'ह्रस्व' 'स्वर' के उस 'दीर्घ' होने को भी 'प्लुति' जानना चाहिए।

योनिमारैगादिषु चोदयादेः ॥४॥

सू० अ०—"योनिमारैक्" इत्यादि (संधियो) में परवर्ती (पद) के आदि ('स्वर'-वर्ण) का (जो 'दीर्घ' होना है वह) भी ('प्लुति' है)।

उ० भा०—"योनिमारैक्"[2]; (आदिषु=) इत्येवमादिषु, चोदयादेः ह्रस्वस्य या दीर्घता निपातिता सा च प्लुतिरित्यत्र वेदितव्या। तस्मात्—"प्लुतादीनि"[3] इत्युच्यन्ते ॥

उ० भा० अ०—"योनिमारैक्"; (आदिषु=) इत्यादि (संधियो) में, चोदयादेः=परवर्ती(पद)के आदि 'ह्रस्व' ('स्वर'–वर्ण) की, जो दीर्घता निपातन से होती है उसे भी 'प्लुति' जानना चाहिए। इसलिए ('आरैक्' इत्यादि पदों को) "'प्लुत' (दीर्घत्व को प्राप्त) आदि वाला (='दीर्घ' हो गया है आदि वर्ण जिनका ऐसा)" कहा गया है।

(पदान्ते मक्षौ च ह्रस्वस्य दीर्घभावः)

मक्ष्वित्युकारः प्लवते सर्वत्राप्यपदान्तभाक् ॥५॥

(पदान्त में और मक्षु में ह्रस्व का दीर्घ होना)

सू० अ०—'मक्षु' (पद) का उकार सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाता है, चाहे वह पद के अन्त में विद्यमान न भी हो।

उ० भा०—मक्षु इत्यत्र उकारः प्लवते सर्वत्र; अप्यपदान्तभाक् किं पुनः पदान्तभाक्। "मक्षू देववतो रथः"[4]; "मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो नः"[5]; "मक्षूयुभिर्नरा हयेभिः।"[6] उकारग्रहणमकारस्याप्रसङ्गार्थम्। नैतत्प्रयोजनं पदान्तादिष्वेव विकारशास्त्रविधेः। अप्यपदान्तभाक् इति प्राप्नोति, तन्निवृत्त्यर्थमुकारग्रहणम्।

सर्वत्रग्रहणं क्रियते —"सर्वत्र पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वसुमघयो."[7] इति नियमात्—"मक्षूमक्षू कृणुहि"[8]—इत्यत्र पूर्वपदस्य दीर्घत्वं न स्यादिति। अन्त.पादाधिकारनिवृत्तिख्यापनार्थं वा। तस्मात्—"प्र नव्यसा सहस. सूनुमच्छा यज्ञेन"[9]; "वैश्वानर मनसाग्नि निचाय्या हविष्मन्त."[10]—इत्येवमादिषु दीर्घत्वं सिद्धं भवति।

---

[1] २।६६ [2] २।७५ [3] १०।३ [4] ऋ० ८।३१।१५
[5] ऋ० ३।३१।२० [6] ऋ० ७।७४।४ [7] ९।१
[8] ऋ० ३।३१।२० [9] ऋ० ६।६।१ [10] ऋ० ३।२६।१

उ० भा० अ०—मक्षु—इस (पद) का, उकारः=उ-वर्ण ('उ'); सर्वत्र प्लवते= सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाता है, अप्यपदान्तभाक्=पद के अन्त में विद्यमान न होने पर भी; पद के अन्त में विद्यमान ('मक्षु' के उकार) का तो कहना ही क्या (अर्थात् वह तो 'दीर्घ' हो ही जायेगा)। (उदाहरण)—"मक्षू देववतो रथ"[क], "मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो न"[ख]; "मक्षूयुभिर्नरा हयेभि।"[ग] (सूत्र में) उकार का ग्रहण अकार की अप्रसक्ति के लिए (किया गया है); (अर्थात् सूत्र में उकार का ग्रहण यह वतलाने के लिए किया गया है कि 'मक्षु' का उकार ही 'दीर्घ' होता है, अकार नही)। (पू०) (सूत्र मे उकार के ग्रहण करने का) यह प्रयोजन नही हो सकता है क्योकि पदान्तों और पदादियो मे ही विकारशास्त्र का विधान किया गया है।[घ] (सि०) "पद के अन्त मे न होने पर भी"—इससे (अकार का दीर्घत्व) प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति के लिए (सूत्र में) उकार का ग्रहण (किया गया है)।[ङ]

"'वसु' और मघ' (पद) वाद में हो तो पूर्व-पद के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाते हैं"—इस नियम से मक्षूमक्षू कृणुहि" मे पूर्व-पद (मक्षु) का दीर्घत्व न होता—इसलिए (सूत्र मे) सर्वत्र' (शब्द) का ग्रहण किया गया है।[च] और 'अन्त पाद' के अधिकार की निवृत्ति वतलाने के लिए भी (सूत्र मे 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है)। इसी कारण से—"प्र नव्यसा सहस सूनुमच्छा यज्ञेन"[छ], "वैश्वानर मनसाग्निं निचाय्या हविष्मन्त"[ज] इत्यादि मे दीर्घत्व सिद्ध होता है।[झ]

टि० (क) मक्षु। देवऽवत। रथ॥ प० पा०

(ख) मक्षुऽमक्षु। कृणुहि। गोऽजित। न.॥ प० पा०

(ग) मक्षुयुऽभिः। नरा। हयेभि.॥ प० पा०

(घ) आशय यह है कि 'मक्षु' के अकार के 'दीर्घ' होने का प्रश्न ही नही उठता है क्योकि नियम यह है कि विकार या तो पद के अन्तिम वर्ण में होता है और या पद के प्रथम (आदि) वर्ण में। किंतु 'मक्षु' का अकार न तो 'मक्षु' का अन्तिम वर्ण है और न प्रथम वर्ण। इसलिए अकार के दीर्घत्व के निपेव के लिए सूत्र में उकार-ग्रहण का जो प्रयोजन वतलाया गया है वह युक्त नही है।

(ङ) यदि प्रस्तुत सूत्र में उकार का ग्रहण न किया जाता तो 'मक्षु' के अकार और उकार—इन दोनो—का दीर्घ' होना प्राप्त था क्योकि प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि पद के अन्त में विद्यमान न होने पर भी दीर्घ' हो जाता है।

(च) ९।१ मे यह विधान किया गया है कि 'वसु' और 'मघ' बाद मे हो तो पूर्व-पद के अन्तिम 'स्वर' सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाते है। इस विधान से "मक्षुऽमक्षु" में पूर्व-पद के उकार को दीर्घत्व की प्राप्ति नही होती क्योकि इसके बाद मे न तो 'वसु' है और न 'मघ'। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया जिससे पूर्व-पद 'मक्षु' के उकार को भी दीर्घत्व की प्राप्ति हो गई।

(छ) प्र। नव्यसा। सहस। सूनुम्। अच्छ। यज्ञेन॥ प० पा०

(ज) वैश्वानरम्। मनसा। अग्निम्। निऽचाय्य। हविष्मन्त॥ प० पा०

(झ) 'अच्छ' और 'निचाय्य'—ये दोनो—पाद के अन्त में विद्यमान हैं। यदि अन्त पाद (=पाद के मध्य मे) की अनुवृत्ति यहाँ होती तो ये दोनो पद 'दीर्घ' न होते। 'सर्वत्र' पद से 'अन्त पाद' की निवृत्ति हो गई जिससे पाद के अन्त में विद्यमान इन दोनो पदो के अन्तिम 'स्वर'-वर्ण 'दीर्घ' हो गए हैं।

सुता याहीत्यतोऽन्येषु पदेष्वच्छेति विग्रहे ॥६॥

सू० अ०—'सुताः' (और) 'याहि'—इनसे अन्य पद वाद मे हों तो 'अच्छ'-यह (पद) ('दीर्घ' हो जाता है), यदि (वह 'अच्छ' पद) असमस्त हो (अर्थात् किसी दूसरे शब्द के साथ मिला हुआ न हो)।

उ० भा०—सुता याहि; (इत्यतः=) इत्येताभ्याम्, अन्येषु अच्छ इत्येतत्पदं विग्रहे वर्तमानं प्लवते। "अच्छा वद तवसम्।"[१] सुता याहीत्यतोऽन्येषु इति कस्मात्? "इन्द्रमच्छ सुता इमे।"[२] "अच्छ याह्या वह।"[३] विग्रहग्रहणमपदान्तभाग्ग्रहणादिनिवृत्त्यर्थम्, अधिकारार्थं च। निवृत्त्यर्थत्वात्—"गोकामा मे अच्छदयन्"[४] इति न प्लवते। अधिकारार्थत्वात्—"पुरुहुत पुरुष्टुतम्"[५] इत्यत्र—"सार्धमद्यादिभिः प्लुतैः पादादौ"[६] इति न भवति। तथा—"यद्वा पुरु पुरुभुजा"[७] इति—"षष्ठ चाष्टाक्षरेऽक्षरम्"[८] इति न भवति। यद्ययं विग्रहाधिकारस्तत्राप्यनुवर्तते—"अन्तःपादं विग्रह एष्वपृक्त"[९] इति किमर्थम्? तस्य प्रयोजनं तत्रैव वक्ष्यामः॥

उ० भा० अ०—सुताः (और) याहि; (इत्यतः=) इन दो (पदो) से; अन्येषु= अन्य (पद) वाद में हो तो, अच्छ—यह पद, विग्रहे=पृथक् रूप से वर्तमान होने पर= असमस्त होने पर, 'दीर्घ' हो जाता है, (अर्थात् 'अच्छ' पद का अन्तिम अकार 'दीर्घ' हो जाता है यदि (१) 'अच्छ' पद के वाद में 'सुता' और 'याहि' को छोडकर कोई भी अन्य पद हो और (२) 'अच्छ' पद किसी पद से न मिला हुआ हो)। (उदाहरण)— "अच्छा वद तवसम्।"[क] " 'सुता' (और) 'याहि' से अन्य (पद) वाद मे हो तो"— यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "इन्द्रमच्छ सुता इमे"[ख], "अच्छ याह्या वह।"[ग] (सूत्र में) विग्रह का ग्रहण (७।५ से प्राप्त) 'अपदान्तभाक्' (=पद के अन्त में न होने पर) के ग्रहण आदि की निवृत्ति के लिए (किया गया है) और अधिकार के लिए। ('अपदान्तभाक्' की) निवृत्ति के लिए होने से—"गोकामा मे अच्छदयन्"[घ]—यहां ('अच्छ'

टि० (क) अच्छ। वद। तवसम्॥ प० पा०

(ख) इन्द्रम्। अच्छ। सुता। इमे॥ प० पा०

'सुता' वाद में होने के कारण 'अच्छ' का अन्तिम अकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) अच्छ। याहि। आ। वह॥ प० पा०

'याहि' वाद में होने के कारण 'अच्छ' 'दीर्घ' नही हुआ है।

(घ) गोऽकामा। मे। अच्छदयन्॥ प० पा०

'अच्छ' पद का अन्तिम अकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि यह अकार पद के अन्त मे नही अपितु पद के मध्य मे है। यदि सूत्र मे 'विग्रह' पद का ग्रहण करके ७।५ मे प्राप्त 'अपदान्तभाक्' की निवृत्ति न की जाती तो प्रकृत स्थल पर 'अच्छ'

---

१ ऋ० ५।८३।१
२ ऋ० ९।१०६।१
३ ऋ० १।३१।१७
४ ऋ० १०।१०८।१०
५ ऋ० ८।१५।१
६ ७।३३
७ ऋ० ५।७३।१
८ ८।२९
९ ८।१

का अकार) 'दीर्घ' नही होता है। अधिकार के लिए होने से—"पुरुहुतं पुरुष्टुतम्"क में—"दीर्घत्व ('प्लुति') को प्राप्त (='प्लुत') 'अच' आदि (शब्दो) के साथ पाद के आदि में ('दीर्घ' हो जाते है)"—से ('पुरु' 'दीर्घ') नही होता है। उसी प्रकार—'यद्वा पुरु पुरुभुजा"ख में—"आठ अक्षरो वाले पाद में छठा 'अक्षर' ('दीर्घ' हो जाता है)"—से ('पुरु' का अन्तिम उकार 'दीर्घ') नही होता है। (पू०) यदि 'विग्रहे' का यह अधिकार वहाँ (८।३९) में भी अनुवृत्त हो रहा है तब—"ये वाद में हों तो पाद के मध्य में और असमस्त (पद) होने पर ('विग्रहे') 'अपृक्त' (उकार 'दीर्घ' हो जाता है")—यह ('विग्रहे' पद का पुनः ग्रहण) किस लिए (किया गया है) ? (सि०) उसका प्रयोजन वहाँ पर ही कहेंगे।

अनाकारोपधश्चान्त्यो येत्युत्तरपदस्य यः।
उदात्तादेर्द्व्यक्षरस्य ॥७॥

सू० अ०—'उदात्त' है आदि (=प्रथम 'अक्षर') जिसका ऐसे दो अक्षरों वाले उत्तर-पद का जो अन्तिम ('अक्षर') 'य' है (वह 'दीर्घ' हो जाता है), यदि (उस 'य' का) अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) आकार न हो।

उ० भा०—अनाकारोपधो य इत्युदात्तादेर्द्व्यक्षरस्योत्तरपदस्य योऽन्त्यः स च प्लवते। "आयूया घृष्णो अभिगूर्या त्वम्।"[1] अनाकारोपधः इति कस्मात् ? "परिदाय रसं दुहे।"[2] अनाकारोपधो येति कस्मात् ? वैश्वानर मनसाग्निं निचाय्या हविष्मन्तः।"[3] इत्यत्रान्त्यो यकार आकारोपधो न भवति। य इति किम् ? "इमां समेत पश्यत।"[4] उत्तरपदस्य इति कस्मात् ? "मर्यश्री स्पृहयद्वर्ण.।"[5] उदात्तादेः इति कस्मात् ? "अप्रामिसत्य मघवन्।"[6] द्व्यक्षरस्य इति कस्मात् ? "सुवीर्यस्य पतयः स्याम"[7] नैतदुदाहरणं युक्त—"नास्येति व्यञ्जनोपधः"[8] इत्येवं सिद्धत्वात्, "अतिथिग्वस्य वीरान्"[9] इति यथा। तस्मात्—"आमूरज प्रत्यावर्तय"[10] इत्येवंविधमन्यद्व्यञ्जनोदम मृग्यम् ॥

(३३४घ) पद का अन्तिम अकार, पद के मध्य में होने पर भी 'मक्षु' के उकार की भाँति, 'दीर्घ' हो जाता जिससे संहिता-पाठ में अनुपलब्ध पाठ प्रसक्त होता। ऐसे पाठ के निवारण के लिए ही सूत्र में 'विग्रहे' पद का ग्रहण किया गया है।

टि० (क) पुरुऽहुतम्। पुरुऽस्तुतम् ॥ प० पा०

'पुरुहुतम्' के 'पुरु' के अन्तिम उकार को ८।३३ के अनुसार 'दीर्घ' हो जाना चाहिए था किन्तु असमस्त पद ('विग्रहे') न होने के कारण यहा 'पुरु' का उकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ख) यत्। वा। पुरु। पुरुऽभुजा ॥ प० पा०

'पुरुभुजा' के 'पुरु' के अन्तिम उकार को ८।३९ के अनुसार 'दीर्घ' हो जाना चाहिए था किन्तु असमस्त पद न होने के कारण यहा 'पुरु' का उकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

---

[1] ऋ० २।३७।३ [2] ऋ० १।१०५।२ [3] ऋ० ३।२६।१
[4] ऋ० १०।८५।३३ [5] ऋ० २।१०।५ [6] ऋ० ८।६१।४
[7] ऋ० ६।४७।१२ [8] ५।८ [9] ऋ० ७।१९।३
[10] ऋ० ६।४७।३१

उ० भा० अ०=उदात्तादेः='उदात्त' है आदि (=प्रथम 'अक्षर') जिसका (अर्थात् 'आद्युदात्त'); द्व्यक्षरस्योत्तरपदस्य=दो, अक्षरो वाले उत्तर-पद का; योऽन्त्यः य इति=जो अन्तिम 'य' यह ('अक्षर') है वह, च=भी, 'दीर्घ' हो जाता है; अनाकारोपधः=आकार अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण न हो तो, (अर्थात् 'य' 'अक्षर' का अकार 'दीर्घ' हो जाता है यदि (१) उस 'य' के पूर्व में 'आ' न हो और (२) वह 'य' ऐसे उत्तर-पद का अन्तिम 'अक्षर' हो (I) जिसका प्रथम 'अक्षर' 'उदात्त' हो और (II) जिसमें दो 'अक्षर' हो)। (उदाहरण) "आयूया घृष्णो अभिगूर्या त्वम् ॥"[क] "आकार पूर्व में न हो जिसके—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "परिदाय रस दुहे।"[ख] "आकार जिसके पूर्व में न हो वह 'य' "—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "वैश्वानरं मनसाग्नि निचाय्या हविष्मन्त."[ग]—यहाँ पर अन्तिम यकार के पूर्व में आकार नही है। "'य' ('दीर्घ' हो जाता है)"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "इमा समेत पश्यंत।"[घ] "उत्तर-पद का"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "मर्यश्री स्पृहयद्वर्ण।"[ङ] "'उदात्त' है आदि (=प्रथम 'अक्षर') जिस (उत्तर-पद) का"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अप्रामिसत्य मघवन्।"[च] "दो अक्षरो वाले (उत्तर-पद) का"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर)

टि० (क) आऽयूय । घृष्णो इति । अभिऽगूर्य । त्वम् ॥ प० पा०

'आऽयय' और 'अभिऽगूर्य'—इन दोनो—के 'य' का अकार 'दीर्घ' हो गया है क्योकि (१) 'य' के पूर्व में 'आ' नही है और (२) 'य' ऐसे उत्तर-पदो (क्रमश 'यूय' और 'गूर्य') का अन्तिम 'अक्षर' है (I) जिनके प्रथम 'अक्षर' (क्रमश 'यू' और 'गू') 'उदात्त' है और (II) जिनमे दो-दो 'अक्षर' है।

(ख) परिऽदाय । रसम् । दुहे ॥ प० पा०

यहाँ आकार पूर्व में है अत उत्तर-पद 'दाय' के 'य' का अकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) वैश्वानरम् । मनसा । अग्निम् । निऽचाय्य । हविष्मन्त ॥ प० पा०

यहाँ उत्तर-पद 'चाय्य' के उपान्त्य 'य्' के अव्यवहित पूर्व में आकार है, अन्त्य य' के नही। अत. अन्त्य 'य' का अकार 'दीर्घ' हो गया है।

(घ) इमाम् । सम्ऽएत । पश्यत ॥ प० पा०

यहाँ पर 'एत' उत्तर-पद है जिसके (१) अन्तिम 'अक्षर के पूर्व में आकार नही है, (२) जिसका प्रथम 'अक्षर' (=ए) उदात्त' है और (३) जिसमें दो 'अक्षर' है। ऐसी स्थिति होने पर भी 'एत' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योकि वह 'त' है, 'य' नही।

(ङ) मर्यऽश्री । स्पृहयत्ऽवर्ण ॥ प० पा०

'मर्य' के 'य' का अकार 'दीघ' नही हुआ है क्योकि 'मर्य' उत्तर-पद नही अपितु पूर्व-पद है।

(च) अप्रामिऽसत्य । मघऽवन् ॥ प० पा०

उत्तर-पद 'सत्य' का 'य' दीर्घ नही हुआ है क्योकि सत्य का प्रथम 'अक्षर' ('स') 'उदात्त नहीं है।

"सुवीर्यस्य पतय स्याम।"[क] (पू०) यह उदाहरण युक्त नहीं है क्योंकि "अतिथिग्वस्य वीरान्"[ख] की तरह यह भी—" 'व्यञ्जन' पूर्व में हो तो 'अस्य' का अन्तिम 'अक्षर' ('दीर्घ') नहीं (होता है)"—इससे ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए "आमूरज प्रत्यावर्तय"[ग] इस प्रकार का कोई अन्य उदाहरण खोजना चाहिए।[घ]

नास्येति व्यञ्जनोपधः ॥८॥

सू० अ०—'अस्य' (का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ') नहीं (होता है), यदि ('अस्य' के) पूर्व में 'व्यञ्जन' हो।

उ० भा०—न खलु अस्य इत्ययमन्तः प्लवते व्यञ्जनोपधः सन्। "राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः"[1]; "तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी।"[2] व्यञ्जनोपधः इति कस्मात्? "अवास्या शिशुमतीरदीदेः॥"[3]

उ० भा० अ०—अस्य का अन्त (=अन्तिम 'अक्षर'), न=नहीं, 'दीर्घ' होता है; व्यञ्जनोपधः='व्यञ्जन' पूर्व में होने पर। (उदाहरण) "राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रे"[ङ]; "तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी।"[च] " 'व्यञ्जन' पूर्व में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों

टि० (क) सुऽवीर्यस्य। पतय। स्याम॥ प० पा०

उत्तर-पद 'वीर्यस्य' दो अक्षरों वाला नहीं अपितु तीन अक्षरों वाला है, अतः 'य' 'दीर्घ' नहीं हुआ है।

(ख) अतिथिऽग्वस्य। वीरान्॥ प० पा०

यहाँ 'य' के अकार के 'दीर्घ' होने का निषेध ७/८ से हुआ है।

(ग) आ। अमू। अज। प्रतिऽआवर्तय। (इमा.)॥ प० पा०

(घ) 'आमूरज प्रत्यावर्तय' भी प्रत्युदाहरण नहीं हो सकता है क्योंकि इसके बाद में 'स्वर'-वर्ण ('इमा.' का इकार) है और 'स्वर'-वर्ण परे रहते तो पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण 'दीर्घ' होता ही नहीं। इसलिए कोई ऐसा प्रत्युदाहरण खोज लेना चाहिए (१) जिसके 'य' के पूर्व में 'आ' न हो, (२) वह 'य' ऐसे उत्तर-पद का अन्तिम 'अक्षर' हो (i) जिसका प्रथम 'अक्षर' 'उदात्त' हो तथा (ii) जिसमें दो से अधिक 'अक्षर' हों, (३) जिसमें दीर्घत्व का निषेध ७/८ से ही सिद्ध न हो जावे और (४) जिसके 'य' के बाद में 'व्यञ्जन' हो। उद्धृत 'प्रत्यावर्तय' पद अन्य तो सभी शर्तों को पूरी करता है किन्तु उसके बाद में 'व्यञ्जन'-वर्ण न होकर 'स्वर'-वर्ण है। इसलिये यह प्रत्युदाहरण नहीं बन सकता है।

(ङ) राजामि। कृष्टेः। उपमस्य। वव्रे.॥ प० पा०

(च) तेजिष्ठया। अतिथिऽग्वस्य। वर्तनी॥ प० पा०

दोनों उदाहरणों में 'व्यञ्जन' (क्रमश मकार और वकार) पूर्व में होने के कारण 'अस्य' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं हुआ है। प्रस्तुत सूत्र ७/७ का अपवाद है।

---

[1] ऋ० ४/४२/१ [2] ऋ० १/५३/८ [3] ऋ० १/१४०/१०

(कहा) ? (उत्तर) 'अवास्या शिशुमतीरदीदे ।।[क]

निर्यूय पिष्टतमयाभिपद्य प्रास्य संगत्यानुदृश्याभिवृत्य ।
आरभ्य संमील्य मक्षुंगमाभिरभिव्लग्य यत्र निषद्य वीति च ।।६।।

सू० अ०—'नियूय पिष्टतमया', 'अभिपद्य', 'प्रास्य', 'संगत्य', 'अनुदृश्य', 'अभिवृत्य', 'आरभ्य', 'संमील्य', 'मक्षुंगमाभिः', 'अभिव्लग्य यत्र' और 'निषद्य वि'—इनमें भी (७१५ और ७१७ से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है)।

उ० भा०—इत्येतानि च पूर्वलक्षणप्राप्तानि न प्लवन्ते। निर्यूय पिष्टतमया—"वनस्पते रशनया नियूय[ख] पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्"[१] पिष्टतमया इति कस्मात् ? "वनस्पते रशनया नियूया देवानाम्।"[२-ग] अभिपद्य—"त एते वाचमभिपद्य[ख] पापया।"[३] प्रास्य—"प्रास्य[ख] पारं नवतिम्।"[४] संगत्य—"सर्वाः संगत्य[ख] वीरुधः।"[५] अनुदृश्य—"पूर्वेषा पन्थामनुदृश्य[ख] धीरा.।"[६] अभिवृत्य—"अभिवृत्य[ख] सपत्नान्।"[७] आरभ्य—"ये त्वारभ्य[ख] चरामसि।"[८] संमील्य—'समील्य[ख] यद्भुवना।'[९-घ] मक्षुंगमाभिः—"मक्षुगमाभिरूतिभिः।"[१०] अभिव्लग्य यत्र—"अभिव्लग्य[ख] यत्र हता अमित्राः।"[११] यत्र इति कस्मात् ? "अभिव्लग्या चिदद्रिवः।"[१२-घ] निषद्य वि- "पिबा निषद्य[ख] वि मुचा हरी इह।"[१३] वि इति कस्मात् ? "ताविन्द्राग्नी सध्र्यञ्चा निषद्या वृष्णः।"[१४-ङ] चकार एकैकस्य समुच्चयार्थः ।।

उ० भा० अ०—ये भी पूर्ववर्ती नियमो (७१५ और ७१७ से प्राप्त दीर्घत्व ('प्लुति') को प्राप्त नही होते है।[च] । चकार एक-एक के समुच्चय के लिए है।

टि० (क) अव्ऽअस्य । शिशुऽमती । अदीदे ।। प० पा०
पूर्व में 'व्यञ्जन'-वर्ण न होकर 'स्वर' (अकार) है, अत 'अस्य' का अन्तिम 'अक्षर' ७१७ से 'दीर्घ' हो गया है।

(ख) निऽयूय । अभिऽपद्य । प्रऽअस्य । सम्ऽगत्य । । अनुऽदृश्य । अभिऽवृत्य । आऽरभ्य । सम्ऽमील्य । अभिऽव्लग्य । निऽसद्य ।। प० पा०

(ग) वनस्पते । रशनया । निऽयूय । देवानाम् ।। प० पा०
'निऽयूय' के 'य' का अकार ७१७ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि बाद में 'पिष्टतमया' नही है।

(घ) अभिऽव्लग्य । चित् । अद्रिऽवः ।। प० पा०
बाद में यत्र' न होने से 'अभिव्लग्य' के 'य' का अकार ७१७ से 'दीर्घ' हो गया है।

(ङ) तौ । इन्द्राग्नी इति । सध्र्यञ्चा । निऽसद्य । वृष्णः ।। प० पा०
बाद में 'वि' न होने से 'निषद्य' के 'य' का अकार ७१७ से 'दीर्घ' हो गया है।

(च) मक्षुगमाभि' ७१५ का अपवाद है। अन्य सभी स्थल ७१७ के अपवाद हैं।

---

१ ग्रं० पृ० १४४ २ ऋ० १०।७०।१० ३ ऋ० १०।७१।९
४ ऋ० १।१२१।१३ ५ ऋ० १०।९७।२१ ६ ऋ० १०।१३०।७
७ ऋ० १०।१३४।८ ८ ऋ० १।५७।४ ९ ऋ० १।१६१।१२
१० ऋ० ८।२२।१६ ११ ऋ० १।१३३।१ १२ ऋ० १।१३३।२
१३ ऋ० १।१७७।४ १४ ऋ० १।१०८।३

नहि जह्यभि वीर्येण कृधीति कृणुथेति च
एतान्येकाक्षरे पदे क्षैप्रीभाव्ये ॥१०॥

सू० अ०—'नहि', 'जहि', 'अभि', 'वीर्येण', 'कृधि' और 'कृणुथ'—ये (पद) भी ('दीर्घ' हो जाते है), यदि 'क्षैप्र' (संधि) को प्राप्त एकाक्षर पद बाद में हो।

उ०भा०—नहि, जहि, अभि, वीर्येण, कृधि, कृणुथ—इत्येतानि च पदानि प्लवन्त एकाक्षरे पदे परे, (क्षैप्रीभाव्ये=) क्षैप्रसंधिभूते प्रत्यये। नहि—"नही न्वस्य प्रतिमानम्"[१-क] जहि—"जही न्यत्रिणम्।"[२] अभि—"अभी ष्वर्यः पौंस्यैर्भवेम।"[३] वीर्येण—"इन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्।"[४] कृधि—"कृधी ष्वस्मा अदिते।"[५] कृणुथ—"अत्रे चिदस्मै कृणुथा न्यञ्चनम्।"[६] एतानि इति कस्मात्? "उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्यर्कस्य।"[७-ख] एकाक्षरे इति कस्मात्? "तमयंमाभि रक्षत्यृजूयन्तम्।"[८-ग] क्षैप्रीभाव्ये इति कस्मात्? "नहि नु ते महिमनः समस्य॥"[९-घ]

उ० भा० अ०—नहि, जहि, अभि, वीर्येण, कृधि, (और) कृणुथ—इत्येतानि च=ये पद भी, 'दीर्घ' हो जाते हैं, (क्षैप्रीभाव्ये=) 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त; एकाक्षरे पदे=एक 'अक्षर' वाला पद बाद में हो तो, (अर्थात् सूत्रोक्त पदो का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है यदि वाद में कोई ऐसा एकाक्षर पद हो जिसका 'स्वर' 'अन्त स्था' में परिणत हो गया हो)।··· ·।

पराणि च ॥११॥

सू० अ०—परवर्ती (अर्थात् ७।१२ से ७।१८ तक उल्लिखित पद) भी ('दीर्घ' हो जाते हैं यदि बाद में एक 'अक्षर' वाला ऐसा पद हो जिसका 'स्वर' 'अन्तःस्था' हो गया हो)।

टि० (क) 'नहि' का इकार 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि इसके बाद में एक 'अक्षर' वाला पद 'नि' है जो 'अन्त स्था' (=न्य्) हो गया है। आगे के सभी उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ख) 'ह्य्' ('हि') परे रहते भी 'जुषेत' का अकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि सूत्रोक्त पदो में 'जुषेत' का उल्लेख नही है।

(ग) 'रक्षति' पद का इकार 'अन्त स्था' हो गया है तथापि पूर्ववर्ती 'अभि' पद का इकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'रक्षति' एक 'अक्षर' वाला पद नही है।

(घ) 'अभि' पद का इकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि परवर्ती एकाक्षर पद ('नु') का 'स्वर'-वर्ण (='उ') 'अन्त स्या' नही हुआ है।

---

[१] ऋ० ४।१८।४ [२] ऋ० ६।५१।१४ [३] ऋ० १०।५९।३
[४] ऋ० ४।१८।५ [५] ऋ० ४।१२।४ [६] ऋ० ८।२७।१८
[७] ऋ० १।१३१।६ [८] ऋ० १।१३६।५ [९] ऋ० ६।२७।३

उ० भा०—पराणि च यानि वक्ष्यामस्तानि च प्लवन्ते क्षैप्रीभाव्ये। तान्युत्तरत्रोदाहरिष्याम.। क्षैप्रीभाव्ये इति कस्मात्? "मनोवाता अध नु धर्मणि ग्मन्॥"[१]

उ० भा० अ०—पराणि च=परवर्ती (पद) भी, जिनको (७।१२ से ७।१८ तक) कहेंगे वे भी 'दीर्घ' हो जाते हैं, यदि 'क्षैप्र' (सधि) को प्राप्त (एकाक्षर पद) वाद में हो। उनके उदाहरण आगे देंगे। "'क्षैप्र' को प्राप्त" यह क्यो (कहा)? (उत्तर) 'मनोवाता अध नु धर्मणि ग्मन्।"[क]

युक्ष्व मन्दस्व विद्मेति हीति ॥१२॥

सू० अ०—'हि' वाद में हो तो 'युक्ष्व', 'मन्दस्व', (और) 'विद्म' ('दीर्घ' हो जाते है)।

उ०भा० –युक्ष्व, मन्दस्व, विद्म—इत्येतानि प्लवन्ते हि इत्येतस्मिन्प्रत्यये। युक्ष्व–"युक्ष्वा ह्यरुषी रथे।"[२] "सार्धमद्यादिभि प्लुतैः"[३] इति सिद्धे सयोगपरार्थं ग्रहणम्। मन्दस्व—"स मन्दस्वा ह्यन्धसः।"[४] विद्म—"विद्मा ह्यस्य वीरस्य।"[५] सयोगपरार्थं ग्रहणम्॥

उ० भा० अ०–युक्ष्व, मन्दस्व (और) विद्म—ये 'दीर्घ' हो जाते हैं, हि—यह (एकाक्षर पद) वाद में हो तो। युक्ष्व—'युक्ष्वा ह्यरुपी रथे।" "दीर्घत्व को प्राप्त 'अद्य' आदि के साथ" इससे ही सिद्ध होने पर सयोग'-पर के लिए ग्रहण (किया गया है)।[ख] मन्दस्व—"स मन्दस्वा ह्यन्धस।" विद्म—"विद्मा ह्यस्य वीरस्य।" 'सयोग'-पर के लिए ग्रहण (किया गया है)।[ग]

टि० (क) 'अध' के अकार को ७।१५ के अनुसार दीर्घ हो जाना चाहिए किंतु परवर्ती एकाक्षर पद 'नु' का उकार 'अन्तःस्था' नही हुआ है, इसलिए 'अध' का अकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ख) 'युक्ष्व' का अकार, 'व्यञ्जन' परे रहते, ७।३३ से ही 'दीर्घ' हो जाता है किंतु सयुक्त वर्ण ('सयोग') परे रहते ७।३३ से 'युक्ष्व' का अकार 'दीर्घ' नही होता है। 'सयुक्त वर्ण परे होने पर 'युक्ष्व' का अकार 'दीर्घ' होता है"-यह विधान करने के लिए ही 'युक्ष्व' पद का प्रस्तुत सूत्र में ग्रहण किया गया है।

(ग) 'विद्म' के अकार का 'दीर्घ' होना तो ७।३३ से भी सिद्ध होता है। "सयुक्त वर्ण परे होने पर 'विद्म' का अकार 'दीर्घ' हो जाता है"—यही विधान करने के लिए 'विद्म' का प्रस्तुत सूत्र में ग्रहण किया गया है। परवर्ती सूत्रों के भाष्य में जहाँ-जहाँ यह कहा गया है कि 'सयोग'-पर के लिये ग्रहण किया गया है वहाँ यही वात समझनी चाहिए।

---

१ ऋ० ३।३८।२ २ ऋ० १।१४।१२ ३ ७।३३
४ ऋ० ३।४१।६ ५ ऋ० ८।२।२१

विद्धि पिब त्विति ॥१३॥

सू० अ०—'तु' बाद में हो तो 'विद्धि' और 'पिब' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—विद्धि पिब—इत्येते प्लवेते तु इत्येतस्मिन्प्रत्यये। विद्धि—"विद्धी त्वस्य नो वसो।"[1] पिब—"पिबा त्वस्य गिर्वणः।"[2] सयोगपरार्थं ग्रहणम् ॥

उ० भा० अ०—विद्धि (और) पिब—ये 'दीर्घ' हो जाते हैं, तु इति='तु'—यह (एकाक्षर पद) बाद में हो तो। विद्धि—"विद्धी त्वस्य नो वसो।" पिब—"पिबा त्वस्य गिर्वण।" सयोग-पर के लिए (इस सूत्र में 'पिब' का) ग्रहण किया गया है।

जुहोत यज धासथ शिशीत भरेति स्विति ॥१४॥

सू० अ०—'सु' बाद में हो तो 'जुहोत', 'यज', 'धासथ', 'शिशीत' और 'भर' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—जुहोत, यज, धासथ, शिशीत, भर—इत्येतानि सु इत्येतस्मिन्प्रत्यये प्लवन्ते। जुहोत—"आ जुहोता स्वध्वरम्।"[3] यज—"यजा स्वध्वरं जनम्।"[4] संयोग-परार्थं ग्रहणम्। धासथ—"तन्नः शर्धाय धासथा स्विन्द्रियम्।"[5] शिशीत—"तं शिशीता स्वध्वरम्।"[6] "ययोवयानि"[7] इति सिद्धे सयोगपरार्थं ग्रहणम्। भर—"त्वं पुरूण्या भरा स्वश्व्या ॥"[8]

उ० भा० अ०—जुहोत, यज, धासथ, शिशीत (और) भर—ये 'दीर्घ' हो जाते हैं, सु—यह (पद) बाद में हो तो।··· · · । 'सयोग'-पर के लिए (इस सूत्र मे 'यज' पद का) ग्रहण (किया गया है)। · · । "चाहे बाद मे कोई भी (पद) हो"—इससे ही (दीर्घत्व) सिद्ध हो जाने पर 'सयोग'-पर के लिए (इस सूत्र में 'शिशीत' पद का) ग्रहण (किया गया है)। ········।

सु तु हीत्येतेषु परेऽघेति ॥१५॥

सू० अ०—'सु', 'नु' (और) 'हि'—ये बाद में हों तो 'अघ' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—सु, नु, हि—इत्येतेषु परेषु अघ इत्येतत्प्लवते। सु—"रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः।"[9] नु—"अधा न्वस्य संदृशम्।"[10] हि—"अधा ह्यग्ने क्रतोः।"[11] संयोग-परार्थं ग्रहणम् ॥

उ० भा० अ०—सु, नु (और) हि—इत्येतेषु परेषु=ये बाद में हो तो; अघ इति='अघ'—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है। · ·· । 'सयोग'-पर के लिए ग्रहण किया गया है।

---

[1] ऋ० ७।३२।४ [2] ऋ० ८।१।२६ [3] ऋ० ३।९।८
[4] ऋ० १।४५।१ [5] ऋ० १।१११।२ [6] ऋ० ८।४०।११
[7] ८।१५ [8] ऋ० १०।११३।१० [9] ऋ० ७।५६।१
[10] ऋ० ७।८८।२ [11] ऋ० ४।१०।२

तृम्पर्तेन मुञ्चताद्येति वीति ॥१६॥

सू० अ०—'वि' बाद मे हो तो 'तृम्प', 'ऋतेन', 'मुञ्चत' (और) 'अद्य' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—तृम्प, ऋतेन, मुञ्चत, अद्य—इत्येतानि वि इत्येतस्मिन्प्रत्यये प्लवन्ते। तृम्प—"तृम्पा व्यश्नुही मदम्।"[1] ऋतेन—"ददृशुषीस्तदृतेना व्यायन्।"[2] मुञ्चत—"एवो ष्वस्मन्मुञ्चता व्यंहः।"[3] अद्य—"संवत्सर इदमद्या व्यख्यत्॥"[4]

उ० भा० अ०—तृम्प ऋतेन, मुञ्चत (और) अद्य—ये 'दीर्घ' हो जाते हैं; वि इति=वि—यह (पद) बाद में होने पर। . . . ।

सु न्वित्यनर्यपरयोरुकारः पदम् ॥१७॥

सू० अ०—'अर्य' बाद मे नहीं है जिनके ऐसे 'सु' और 'नु' बाद में हो तो उकार पद ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—सु नु इत्येतयोः अनर्यपरयोरुकारः पदं प्लवते। सु—"इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य।"[5] नु—"कदू न्वस्याकृतम्।"[6] अनर्यपरयोः इति कस्मात्? "यस्मा इरस्यतीदु न्वर्यः।"[7] संयोगपरार्थं ग्रहणम्। पदम् इति कस्मात्? "वहस्वा सु स्वश्व्यम्॥"[8]

उ० भा० अ०—अनर्यपरयोः='अर्य' (शब्द) बाद मे नही है जिनके ऐसे; सु नु इति='सु' और 'नु'—ये (पद) बाद में होने पर; उकारः पदम्=उकार पद; 'दीर्घ' हो जाता है, (अर्थात् 'उ' 'दीर्घ' हो जाता है यदि (१) 'उ' के बाद में 'सु' या 'नु' हो, (२) उक्त 'सु' या 'नु' के बाद में 'अर्य' शब्द न हो और (३) 'उ' स्वयं पद हो)। नु—"कदू न्वस्याकृतम्।" "'अर्य' बाद में नही है जिनके"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "यस्मा इरस्यतीदु न्वर्य।"[क] 'संयोग'-पर के लिए ग्रहण (किया गया है)। "पद"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "वहस्वा सु स्वश्व्यम्।"[ख]

तयोरुत्तरे योज घेति ॥ १८ ॥

सू० अ०—उन (७।१७ मे उल्लिखित 'सु' और 'नु') में से बाद वाला (='नु') बाद में हो तो (पूर्ववर्ती) 'योज' (और) 'घ' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

टि० (क) 'नु' बाद में होने पर भी उकार पद 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि 'नु' के बाद में 'अर्य' शब्द वर्तमान है।

(ख) बाद में 'सु' होने पर भी 'सु' का उकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि यहाँ उकार स्वयं पद नही, पद तो 'सु' है।

---

[1] ऋ० ८।४५।२२ [2] ऋ० १०।१३९।४ [3] ऋ० ४।१२।६ [4] ऋ० ८।६६।९
[5] ऋ० १।१६१।१३ [6] ऋ० ५।८५।५
[7] ऋ० १०।८६।३ [8] ऋ० ८।२६।२३

उ० भा०— तयोः=सु, नु इत्येतयोः, उत्तरे=नु इत्येतस्मिन्प्रत्यये; योज, घ इत्येते प्लवेते। योज—"योजा न्विन्द्र ते हरी।"[1] घ—"प्र घा न्वस्य महतः।"[2] "यथोदये" सिद्धे सयोगपरार्थं ग्रहणम् ॥

इति क्षैप्रीभाव्याधिकारः ॥

उ० भा० अ०—तयोः=उन दोनो में से='सु' और 'नु'—इन दो मे से; उत्तरे=बाद वाला बाद मे हो तो='नु'—यह बाद मे हो तो, योज (और) घ—ये 'दीर्घ' हो जाते है, (अर्थात् 'नु' बाद मे होने पर पूर्ववर्ती 'योज' और 'घ' का अकार 'दीर्घ' हो जाता है)। योज—"योजा न्विन्द्र ते हरी।" घ—"प्र घा न्वस्य महत।" "चाहे बाद में कोई भी (पद) हो" से सिद्ध होने पर 'सयोग'-पर के लिए ग्रहण (किया गया है)।

क्षैप्रीभाव्य का अधिकार समाप्त हुआ ॥

मृळयद्भ्यां वसुवित्तमं यत्सोमं जातवेदसम् । भरतेत्येतेषु ॥ १९ ॥

सू० अ०—'मृळयद्भ्याम्', 'वसुवित्तमम्', 'यत्', 'सोमम्' (और) 'जातवेदसम्'—ये बाद में हों तो 'भरत' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—मृळयद्भ्याम्, वसुवित्तमम्, यत्, सोमम्, जातवेदसम्—इत्येतेषु भरत इत्येतत्प्लवते। मृळयद्भ्याम्—"हव्य मति भरता मृळयद्भ्यां स्वादिष्ठम्।"[3] वसुवित्तमम्—"प्र देव देववीतये भरता वसुवित्तमम्।"[4] यत्—"भरता यज्जुजोषति।"[5] सोमम्—"अपावपद्भरता सोममस्मै।"[6] जातवेदसम्—"प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम्॥"[7]

उ० भा० अ०—मृळयद्भ्याम्, वसुवित्तमम्, यत्, सोमम्, जातवेदसम्—इत्येतेषु=ये (पद) बाद में हो तो; भरत—यह 'दीर्घ' हो जाता है। ... ... ।

(अपादान्ते पदान्तह्रस्वस्य दीर्घभावः)

अपादान्तः ॥२०॥

(पाद के अन्त में न स्थित पदान्त ह्रस्व का दीर्घ होना)

सू० अ०—(७।२१ से लेकर ७।३२ तक में उल्लिखित कोई शब्द तभी 'दीर्घ' होता है जब वह पाद के अन्त में न हो।

उ० भा०—अपादान्त इत्येतदधिकृत वेदितव्यमित उत्तरं यद्वक्ष्यामः। वक्ष्यति—"चिन्महित्वगीर्गृणान.सतेपर न्विति।"[8] इति। "प्र नू महित्व वृषभस्य वोचम्।"[9] अपादान्तः इति कस्मात्? "महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वम्॥"[10]

---

[1] ऋ० १।८२।१ [2] ऋ० २।१५।१ [3] ऋ० १।१३६।१
[4] ऋ० ६।१६।४१ [5] ऋ० ८।६२।१ [6] ऋ० २।१४।६
[7] ऋ० १०।१७६।२ [8] ७।२६ [9] ऋ० १।५९।६
[10] ऋ० १।८।५

उ० भा० अ०—इसके बाद में जो कहेंगे वहाँ 'पाद के अन्त में न हो तो"—यह अधिकार जानना चाहिए।[क] (सूत्रकार ७।२६ में) कहेंगे—"'चित्', 'महित्वम्', 'गी', 'गृणान', 'स' और 'ते' बाद में हो तो 'नु' ('दीर्घ' हो जाता है)"—जिसका उदाहरण यह है)—"प्र नू महित्व वृषभस्य वोचम्।"[ख] "पाद के अन्त मे न हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "महाँइन्द्र परश्च नु महित्वम्।"[ग]

अद्येतिकरणादिषु ॥२१॥

सू० अ०—(७।२२ मे उल्लिखित) 'करण' आदि (पद) बाद में हो तो 'अद्य' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—अद्य इत्येतत्प्लवते करणादिषु प्रत्ययेषु। करणादीनुत्तरत्रोदाहरिष्याम ॥

उ० भा० अ०—अद्य—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है; करणादिषु=(७।२२ में उल्लिखित) 'करण' आदि (पद) बाद में हो तो। 'करण' आदि के उदाहरणो को आगे कहेंगे।

करणं च चित्करते वृणीमहे
भवतं कृणोतु भवत स्वस्तये ॥२२॥

सू० अ०—(पूर्ववर्ती सूत्र मे सूचित 'करण' आदि पद ये हैं)—'करणम्', 'च', 'चित्', 'करते', 'वृणीमहे', 'भवतम्', 'कृणोतु', 'भवत' (और) 'स्वस्तये'।

उ० भा०—त इमे करणादयो ये पूर्वसूत्रे निर्दिष्टा.। करणम्, च, चित्, करते, वृणीमहे, भवतम्, कृणोतु, भवत, स्वस्तये—इत्येतेषु अद्य इत्येतत्प्लवते। करणम्—"प्र तत्ते अद्या करणम्।"[१] च—"अद्या च नो मृळयत।"[२-घ] नैतदुदाहरणम्—"सार्धमद्यादिभि. प्लुतं पादादौ"[३] इति सिद्धत्वात्। इदं तर्हि—"हवमद्या च मृळय।"[४] एवमन्यान्यपि पादमध्यस्थान्युदाहरणानि। चित्—"तदद्या चित्त उक्थिन।"[५] करते—"को वामद्या करते।"[६] वृणीमहे—"सूक्तैरद्या वृणीमहे।"[७] भवतम्—"त्रिश्चिन्नो

टि० (क) 'अपादान्त' का अधिकार ७।२० से लेकर ७।३२ तक चालू रहेगा।

(ख) 'नु' दीर्घ' हो गया है क्योंकि (१) 'नू' के बाद मे 'महित्वम्' पद है और (२) 'नु' पाद के अन्त में नही है।

(ग) बाद में 'महित्वम्' होने पर भी 'नू' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि यहाँ नु' पाद के अन्त में है।

(घ) यहाँ 'अद्य' पाद के आदि में स्थित है, अत इस 'अद्य' का अन्तिम अकार ७।३३ से ही 'दीर्घ' हो जाता है। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र का यह युक्त उदाहरण नही है।

---

[१] ऋ० ६।१८।१३ [२] ऋ० २।२९।२ [३] ७।३३

[४] ऋ० १।२५।१० [५] ऋ० ८।१०।६ [६] ऋ० ८।४४।३

[७] ऋ० ५।८२।७

अद्या भवतम् ।"[1] कृणोतु—"भद्र सोम सुवानो अद्या कृणोतु नः ।"[2] भवत—"अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्राः ।"[3] स्वस्तये—"विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये ॥"[4]

उ० भा० अ०—वे 'करण' आदि (पद) ये हैं जो पूर्ववर्ती सूत्र (७।२१) में सूचित है। करणम्, च, चित्, करते, वृणीमहे, भवतम्, कृणोतु, भवत (और) स्वस्तये—ये (पद) बाद में हो तो 'अद्य' 'दीर्घ' हो जाता है। ·· । (पू०) यह उदाहरण (युक्त) नहीं है क्योंकि (पाद के आदि में होने के कारण) यह—"पाद के आदि में विद्यमान तथा दीर्घत्व को प्राप्त 'अद्य' आदि (पदो) के साथ"—इससे सिद्ध हो जाता है। (सि०) तब यह (उदाहरण) है—"हवमद्या च मृळय ।" इस प्रकार अन्य भी उदाहरण हैं जिनमें ('अद्य') पाद के मध्य में स्थित है। ।

पुविति चित्पुरुहूतो नृषूतः सहस्राणि पुरुभुजा धियायते ॥२३॥

सू० अ०—'चित्', 'पुरुहूतः', 'नृषूतः', 'सहस्राणि', 'पुरुभुजा' (और) 'धियायते' बाद में हो तो 'पुरु' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—पुरु इत्येतत्प्लवते चित्, पुरुहूतः, नृषूतः, सहस्राणि पुरुभुजा, धियायते—इत्येतेषु प्रत्ययेषु। चित्—"तिर पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।"[5] पुरुहूतः—"इन्द्र पुरू पुरुहूतः ।"[6] नृषूतः—"सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवे ।"[7] सहस्राणि—"त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च ।"[8] पुरुभुजा—"यद्वा पुरू पुरुभुजा ।[9] धियायते—"एव पुरू धियायते ॥"[10]

उ० भा० अ०—पुरु 'दीर्घ' हो जाता है (यदि) चित्, पुरुहूतः, नृषूतः, सहस्राणि, पुरुभुजा (और) धियायते -ये (पद) बाद में हो। ···· ।

वहेति त्वं दुहितर्दैव्यमुत्तरम् ॥२४॥

सू० अ०—'त्वम्', 'दुहितः' (और) 'दैव्यम्' बाद में हों तो 'वह' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—वह इत्येतत्प्लवते त्वम्, दुहितः, दैव्यम् - इत्येवम् उत्तरम्। त्वम्—"आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वम् ।"[11] दुहितः—"आ वहा दुहितर्दिव ।"[12] दैव्यम्—"आ वहा दैव्यं जनम् ॥"[13]

उ० भा० अ०—वह 'दीर्घ' हो जाता है (यदि) त्वम्, दुहितः (और) दैव्यम्—ये; उत्तरम्=बाद में हो। · · ।

---

[1] ऋ० १।३४।१ [2] ऋ० १०।३५।२ [3] ऋ० २।२९।६
[4] ऋ० ५।५१।१३ [5] ऋ० १०।१०।१ [6] ऋ० ८।२।३२
[7] ऋ० ८।४।१ [8] ऋ० ८।६१।८ [9] ऋ० ५।७३।१
[10] ऋ० ९।१५।२ [11] ऋ० १।४४।१ [12] ऋ० ५।७९।८
[13] ऋ० १।३१।१७

द्युम्नं रुद्रं नव्यमेतेषु वर्धय ॥२५॥

सू० अ०—'द्युम्नम्', 'रुद्रम्' (और) 'नव्यम्'—ये बाद में हों तो 'वर्धय' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—द्युम्नम्, रुद्रम्, नव्यम्—इत्येतेषु प्रत्ययेषु वर्धय—इत्येतत्प्लवते। द्युम्नम्—"आयं सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र।"[१] रुद्रम्—"रुद्र दिवा वर्धया रुद्रम्।"[२] नव्यम्—"बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः॥"[३]

उ० भा० अ०—द्युम्नम्, रुद्रम् (और) नव्यम्—एतेषु=ये बाद में हों तो; वर्धय—यह 'दीर्घ' हो जाता है।...... ...।

चिन्महित्वंगीर्गृणानःसतेपरं
न्वित्यन्त्ये चेन्मर्तशब्दाद्रिवःपरे ॥२६॥

सू० अ०—'चित्', 'महित्वम्', 'गीः', 'गृणानः', 'सः' (और) 'ते' बाद में हों तो 'नु' ('दीर्घ' हो जाता है)। अन्तिम दो ('सः' और 'ते') के बाद में यदि 'मर्तशब्द' या 'अद्रिवः' हो (तभी इनके पूर्व में स्थित 'नु' 'दीर्घ' होता है)।

उ० भा०—चित्, महित्वम्, गीः, गृणानः, सः, ते इत्येवपरं नु इत्येतत्प्लवते। अन्त्ये चेत् पदे; मर्तशब्दाद्रिवः परे=मर्तशब्दपरे अद्रिवःपरे वा, भवतः। चित्—"अद्या चिन्नू चित्।"[४] महित्वम्—"प्र नू महित्वं वृषभस्य।"[५] गीः—"इन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः।"[६] गृणानः—"नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान।"[७] सः—"प्र नू स मर्तः।"[८] ते—"ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते मर्ताः"[९], "ऊती अभूम नहि नू ते अद्रिवः।"[१०] अन्त्ये चेन्मर्तशब्दाद्रिवःपरे इति कस्मात्? "भसन्नु व प्र पूर्व्य."[११], "नहि नु ते महिमनः॥"[१२-क]

उ० भा० अ०—चित्, महित्वम्, गीः, गृणानः, सः (और) ते—ये, परम्=बाद में, हों तो नु—यह 'दीर्घ' हो जाता है। अन्त्ये चेत् (मर्तशब्दाद्रिवः परे)=अन्तिम दो पदों (='स' और 'ते') के बाद में यदि 'मर्त' शब्द का कोई रूप हो अथवा 'अद्रिव.' हो; (अर्थात् सूत्रोक्त पदों में से कोई भी पद बाद में हो तो 'नु' 'दीर्घ' हो जाता है किंतु अन्तिम दो पदो—'स' और 'ते' के पूर्व में स्थित 'नु' तभी 'दीर्घ' होता है जब इन दो पदो

टि० (क) इन दोनो प्रत्युदाहरणो में 'नु' का उकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'नु' के बाद में स्थित 'स' और 'ते' के बाद में न तो 'मर्त' शब्द का कोई रूप है और न 'अद्रिव' है।

---

१ ऋ० १।१०३।३ २ ऋ० ६।४९।१० ३ ऋ० १।१९०।१
४ ऋ० ६।३०।३ ५ ऋ० १।५९।६ ६ ऋ० ६।२२।५
७ ऋ० ४।१६।२१ ८ ऋ० १।६४।१३ ९ ऋ० ५।३१।१३
१० ऋ० ८।२१।७ ११ ऋ० ६।१४।१ १२ ऋ० ६।२७।३

–'स.' और 'ते'– के बाद में 'मर्त' शब्द का कोई रूप हो अथवा 'अद्रिव.' पद हो)।........।

तूतुजानो मतिभिर्भोजनानि नो दद्धि स्तोमं भूरि योनिं त्वमेषु । भरेत्येतत् ॥२७॥

सू० अ०—'तूतुजानः', 'मतिभिः', 'भोजनानि', 'नः', दद्धि', 'स्तोमम्', 'भूरि', योनिम्' (और) 'त्वम्'—ये बाद में हों तो 'भर'—यह ('दीर्घ' हो जाता है) ।

उ० भा०—तू तुजानः, मतिभिः, भोजनानि, नः, दद्धि, स्तोमम्, भूरि, योनिम्, त्वम् इति—(एषु=) एतेषु प्रत्ययेषु, भर—इत्येतत्प्लवते । तू तुजानः—"अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानः ।"[१] मतिभिः—"भूतिं न भरा मतिभिः ।"[२] भोजनानि -"शत्रूयतामा भरा भोजनानि ।"[३] नः—"सुपेशसं वाजमा भरा नः ।"[४] दद्धि—"मा नो मर्धीरा भरा दद्धि तन्नः ।"[५] स्तोमम्—"भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।"[६] भूरि—"संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः ।"[७] योनिम्—"वासिमिव प्र भरा योनिम् ।"[८] त्वम्—"विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥"[९]

उ० भा० अ०—तूतुजानः, मतिभिः, भोजनानि, नः, दद्धि, स्तोमम्, भूरि, योनिम् (और) त्वम् -(एषु=) ये बाद में हों तो; भर इत्येतत्='भर'—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है ।........।

न नु चिद्यः ॥२८॥

सू० अ०—'चिद्यः' बाद में हो तो 'नु' ('दीर्घ') नहीं (होता है) ।

उ० भा०—नु इत्येतत् चिद्यः इत्येवमुत्तरं न प्लवते । "उतो नु चिद्य ओजसा ।"[१०] यः इति कस्मात् ? "अद्या चिन्नू चित् ॥"[११]

उ० भा० अ०—चिद्यः='चिद्य'; बाद में हो तो, नु—यह (पद) 'दीर्घ'; न=नहीं; होता है ।[क] (उदाहरण)—"उतो न चिद्य ओजसा ।" 'य.' (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अद्या चिन्नू चित् ।"[ख]

भवेति स्तोतृभ्यो द्युम्नी शत मे परेषु ॥२९॥

सू० अ०—'स्तोतृभ्यः', 'द्युम्नी', 'शत' (और) 'मे' बाद में हों तो 'भव' ('दीर्घ' हो जाता है) ।

टि० (क) यह सूत्र ७।२६ का अपवाद है ।

(ख) यहाँ 'नु' ७।२६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'नु' के बाद में 'चिद्य.' न होकर केवल 'चित्' है ।

---

[१] ऋ० १।६१।१२ [२] ऋ० ९।१०३।१ [३] ऋ० ५।४।५
[४] ऋ० १।६३।९ [५] ऋ० ४।२०।१० [६] ऋ० १०।४२।१
[७] ऋ० ३।५४।१५ [८] ऋ० १।१४०।१ [९] ऋ० १०।८३।३
[१०] ऋ० ८।४०।१० [११] ऋ० ६।३०।३

उ० भा०—भव इत्येतत्प्लवते स्तोतृभ्यः, द्युम्नी, शत, मे—इत्येतेषु परेषु। स्तोतृभ्यः—"भवा स्तोतृभ्यो अन्तमः स्वस्तये।"[1] द्युम्नी—"भवा द्युम्नी वाध्र्यश्व।"[2] शत—"पूर्भवा शतभुजिः।"[3] मे—"अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा मे।"[4]

उ० भा० अ०—भव—यह 'दीर्घ' हो जाता है (यदि) स्तोतृभ्यः, द्युम्नी, शत (और) मे—ये, परेषु=बाद में हो। ।

शोचा यविष्ठ्यैवा यथा कर्ता यत्सादया सप्त।
अर्चा मरुद्भ्यस्तिष्ठा नः सना स्वः पारया नव्यः ॥३०॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'शोचा यविष्ठ्य', 'एवा यथा', 'कर्ता यत्', 'सादया सप्त', 'अर्चा मरुद्भ्यः', 'तिष्ठा नः', 'सना स्वः' (और) 'पारया नव्यः'।

उ० भा०—शोचा यविष्ठ्य, एवा यथा, कर्ता यत्, सादया सप्त, अर्चा मरुद्भ्यः, तिष्ठा नः, सना स्वः, पारया नव्यः—इत्येतेषां द्वैपदानां पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। शोचा यविष्ठ्य—"बृहच्छोचा यविष्ठ्य।"[5] एवा यथा—"नकिरेवा यथा त्वम्।"[6] कर्ता यत्—"ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि।"[7] सादया सप्त—"देवाँ ईळे सादया सप्त होतॄन्।"[8] अर्चा मरुद्भ्यः—"दिवो अर्चा मरुद्भ्यः।"[9] तिष्ठा नः—"ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतये।"[10] सना स्वः—"सना ज्योतिः सना स्वः।"[11] पारया नव्यः—"अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्॥"[12]

उ० भा० अ०—शोचा यविष्ठ्य, एवा यथा, कर्ता यत्, सादया सप्त, अर्चा मरुद्भ्यः, तिष्ठा नः, सना स्वः, पारया नव्यः—इन द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। • • ।

बोधा स्तोत्रे चकृमा ब्रह्मवाहः
शंसा गोषूच्छा दुहितर्वदा तना।
अजा नष्टं जम्भया ता अधा महो
गन्ता मा युक्ष्वा हि सृजा वनस्पते ॥३१॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'बोधा स्तोत्रे', 'चकृमा ब्रह्मवाहः', 'शंसा गोषु', 'उच्छा दुहितः', 'वदा तना', 'अजा नष्टम्', 'जम्भया ताः', 'अधा महः', 'गन्ता मा', 'युक्ष्वा हि' (और) 'सृजा वनस्पते'।

---

[1] ऋ० ३।१०।८ [2] ऋ० १०।६९।५ [3] ऋ० ७।१५।१४
[4] ऋ० १०।८३।७ [5] ऋ० ६।१६।११ [6] ऋ० ४।३०।१
[7] ऋ० १।८६।१० [8] ऋ० १०।३५।१० [9] ऋ० ५।५२।५
[10] ऋ० १।३०।६ [11] ऋ० ९।४।२ [12] ऋ० १।१८९।२

उ० भा०—बोधा स्तोत्रे, चक्रमा ब्रह्मवाहः, शंसा गोषु, उच्छा दुहितः, वदा तना, अजा नष्टम्, जम्भया ताः, अधा महः, गन्ता मा, युक्ष्वा हि, सृजा वनस्पते—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। बोधा स्तोत्रे—"बोधा स्तोत्रे वयो दधत्।"[1] चक्रमा ब्रह्मवाहः—"त्वाया हविश्चक्रमा ब्रह्मवाहः।"[2] शंसा गोषु—"प्र शंसा गोष्वघ्न्यम्।"[3] उच्छा दुहितः—"व्युच्छा दुहितर्दिवः।"[4] वदा तना—"अच्छा वदा तना गिरा।"[5] अजा नष्टम्—"आजा नष्टं यथा पशुम्।"[6] जम्भया ताः—"अभि सन्ति जम्भया ता।"[7] अधा महः—"मरुतामधा महो दिवि।"[8] गन्ता मा—"आ गन्ता मा रिषण्यत।"[9] युक्ष्वा हि—"अग्ने युक्ष्वा हि ये तव।"[10] सृजा वनस्पते—"अव सृजा वनस्पते॥"[11]

उ० भा० अ०—बोधा स्तोत्रे, चक्रमा ब्रह्मवाहः, शंसा गोषु, उच्छा दुहितः, वदा तना, अजा नष्टम्, जम्भया ताः, अधा महः, गन्ता मा, युक्ष्वा हि (और) सृजा वनस्पते—इन (द्वैपदों) के प्रथम पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं।

अग्ने रक्षा णस्तिष्ठा हिरण्ययं
सोता वरेण्यं शोचा मरुद्वृधः।
शिक्षा स्तोतृभ्यो भूमा त्रिवन्धुरः
पिबा मधूनां सोता परीति च॥३२॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)— '(अग्ने) रक्षा णः', 'तिष्ठा हिरण्ययम्', 'सोता वरेण्यम्', 'शोचा मरुद्वृधः', 'शिक्षा स्तोतृभ्यः', 'भूमा त्रिवन्धुरः', 'पिबा मधूनाम्' (और) 'सोता परि'।

उ० भा०—अग्ने रक्षा णः, तिष्ठा हिरण्ययम्, सोता वरेण्यम्, शोचा मरुद्वृधः, शिक्षा स्तोतृभ्यः, भूमा त्रिवन्धुरः, पिबा मधूनाम्, सोता परि—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। अग्ने रक्षा णः—"अग्ने रक्षा णो अंहसः।"[12] अग्ने इति कस्मात्? "तेन सोमाभि रक्ष नः।"[क-१३] तिष्ठा हिरण्ययम्—"रथं तिष्ठा हिरण्ययम्।"[14] सोता वरेण्यम्—"सोमं सोता वरेण्यम्।"[15] शोचा मरुद्वृधः—"शं नः शोचा मरुद्वृधः।"[16] शिक्षा स्तोतृभ्यः—"शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धक्।"[17] भूमा त्रिवन्धुरः—"स पप्रथानो

टि० (क) 'न' का नकार ५।४० से णकार नहीं हुआ है तथा 'रक्ष' का अन्तिम 'अक्षर' (=अकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'न' के पूर्व में स्थित 'रक्ष' के पूर्व में 'अग्ने' पद नहीं है।

[1] ऋ० १०।१५६।५ [2] ऋ० १।१०।१९ [3] ऋ० १।३७।५
[4] ऋ० ५।७९।९ [5] ऋ० १।३८।१३ [6] ऋ० १।२३।१३
[7] ऋ० २।२३।९ [8] ऋ० ५।५२।३ [9] ऋ० ८।२०।१
[10] ऋ० ६।१६।४३ [11] ऋ० १।१३।११ [12] ऋ० ७।१५।१३
[13] ऋ० ९।११४।४ [14] ऋ० ८।६९।१६ [15] ऋ० ८।१।१९
[16] ऋ० ३।१३।६ [17] ऋ० २।११।२१

अभि पञ्च भूमा त्रिवन्धुर. ।"[१] "आव्य भूम"—इति सिद्धे संयोगपरार्थं ग्रहणम्। पिबा मधूनाम्—"अत्र पिबा मधूनाम् ।"[३] सोता परि—"आ सोता परि षिञ्चत ॥"[४]

उ० भा० अ०—(अग्ने) रक्षा णः, तिष्ठा हिरण्ययम् , सोता वरेण्यम् , शोचा मरुद्वृधः, शिक्षा स्तोतृभ्यः, भूमा त्रिवन्धुरः, पिबा मधूनाम् (और) सोता परि— इन (द्विपदो) के भी प्रथम पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। । "('व्यञ्जन' परे रहते पाद के अन्त में विद्यमान) 'आव्य' (और) 'भूम' (दीर्घ हो जाते हैं)" से सिद्ध हो जाने पर 'संयोग'-पर के लिए (सूत्र में 'भूम' पद का) ग्रहण किया गया है। ।

(पादादौ पदान्त ह्रस्वस्य दीर्घभावः)

सच्च मिमिक्ष्व दधिष्व वसिष्व
श्रोत सुनोत हिनोत पुनात ।
विद्म जगृम्भ ररम्भ ववन्म
क्षाम सुपप्तनि मन्थत मत्स्व ॥
सर रद रण जिन्व धारयार्य
क्षर यज यच्छ दशस्य साध सेध ।
तप रुज मूळ वर्ध यावयात्र
श्रवय नमस्य विदाष्ट कृण्व जोष ॥
शृणुधि शृणुत यन्त यच्छत
स्तव मिम गृह्णत कुत्र मोषथ ।
दिधृत पचत वृश्च विध्यताथ
मदथात्त यदीत पाथन ॥
उपागत्याऽऽखलीकृत्य वत्राजाविष्टनोरुष्य ।
दुष्कर्तळिष्व ममृ न बिभयेयर्त तच्छतम् ॥
सार्धमघादिभिः प्लुतैः पादादौ व्यञ्जनोदयम् ।
स्वेवत्रजं न संयोगे शेपे चापठिते मति ॥३३॥

(पाद के आदि में पदान्त ह्रस्व का दीर्घ होना)

सू० अ०—(१) सच्च (२) मिमिक्ष्व (३) दधिष्व (४) वसिष्व (५) श्रोत (६) सुनोत (७) हिनोत (८) पुनात (९) विद्म (१०) जगृम्भ (११) ररम्भ (१२) ववन्म (१३) क्षाम (१४) सुपप्तनि (१५) मन्थत (१६) मत्स्व (१७) सर (१८) रद (१९) रण (२०) जिन्व (२१) धारय (२२) अर्य (२३) क्षर (२४) यज (२५) यच्छ (२६) दशस्य (२७) साध (२८) सेध (२९) तप (३०) रुज (३१) मूळ (३२) वर्ध (३३)

१ ऋ० ८।६९।२ २ ९।११ ३ ऋ० ८।६६।१ ४ ऋ० ९।१०७।१

यावय (३४) अत्र (३५) श्रवय (३६) नमस्य (३७) विद (३८) अष्ट (३९) कृष्व (४०) जोष (४१) शृणुधि (४२) शृणुत (४३) यन्त (४४) यच्छत (४५) स्तव (४६) सिम (४७) गूहत (४८) कुत्र (४९) मोषथ (५०) दिधृत (५१) पचत (५२) वृश्च (५३) विध्यत (५४) अथ (५५) मदथ (५६) अत्त (५७) यदि (५८) इत (५९) पाथन (६०) उपागत्य (६१) अख्खलीकृत्य (६२) वभ्राज (६३) अविष्टन (६४) उरुष्य (६५) इष्कर्त (६६) ईळिष्व (६७) मर्मृज्म (६८) बिभय (और) (६९) इयर्त—(ये ६९ पद) दीर्घत्व ('प्लुति') को प्राप्त ('प्लुत') 'अद्य' आदि (७।२१ से लेकर ७।३२ मे उल्लिखित ३१ पदो) के साथ मिलकर सौ (हो जाते हैं); (ये सौ पद) पाद के आदि मे [वर्तमान होने पर दीर्घत्व ('प्लुति') को प्राप्त होते हैं], यदि इनके परे 'व्यञ्जन' हो। 'नु' और 'एव' को छोड़कर (अन्य ९८ शब्द) संयुक्त वर्ण ('संयोग') परे होने पर ('दीर्घ') नहीं (होते हैं) ('नु' और 'एव' तो संयुक्त वर्ण परे होने पर भी 'दीर्घ' हो जाते हैं)। परवर्ती (सूत्रो) में भी (परवर्ती संयोगादि पद का) पाठ न होने पर [संयुक्त वर्ण ('संयोग') परे होने पर सम्बद्ध 'स्वर' का दीर्घत्व नहीं होता है]।

उ० भा०—सक्ष्व सिसिक्ष्व, दधिष्व, वसिष्व, श्रोत, सुनोत, हिनोत, पुनात, विद्म, जगृम्भ, ररम्भ, ववन्म, क्षाम, सुपप्तनि, मन्थत, मत्स्व, सर, रद, रण, जिन्व, धारय, अर्ष, क्षर, यज, यच्छ, दशस्य, साध, सेध, तप, रुज, मृळ, वर्ध, यावय, अत्र, श्रवय, नमस्य, विद, अष्ट, कृष्व, जोष, शृणुधि, शृणुत यन्त, यच्छत, स्तव, सिम, गूहत, कुत्र, मोषथ, दिधृत, पचत, वृश्च, विध्यत, अथ, मदथ, अत्त, यदि, इत, पाथन, उपागत्य अख्खलीकृत्य, वभ्राज अविष्टन उरुष्य, इष्कर्त, ईळिष्व, मर्मृज्म, बिभय, इयर्त—इत्यन्तमेकोनसप्ततिसख्य पद यदनुक्रान्तम् अद्य इत्येवमादिभि प्लुतैरपादाद्यर्थमनुक्रान्तं पादादौ च सयोगपरार्थं शोच तिष्ठ सोत इत्येतैस्त्रिभि पुनरुक्तैर्विनैकत्रिंशता सार्धं तच्छत पादादौ प्लवते व्यञ्जने प्रत्यये। व्यञ्जनाधिकारे तु पुनर्व्यञ्जनग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तम्—"नू ष्टुत इन्द्र'[1], रक्षा णो ब्रह्मणस्पते'[2] इत्येवमादिषु षत्वणत्वयो. कृतयो. पदेऽवृष्टेऽपि व्यञ्जनमात्रे स्यादिति।

उ० भा० अ०—(१) सक्ष्व ... (६९) इयर्त-तक जिन उनहत्तर पदो को (सूत्र में) गिनाया गया है वे, अपादादि के लिए तथा पादादि में 'सयोग'-पर के लिए गिनाये गये तथा 'शोच', तिष्ठ' और 'सोत'-इन तीन पुनरुक्तो को छोडकर इकतीस[क] 'अद्य'

टि० (क) ७।२१ से लेकर ७।३१ तक जिन इकतीस पदो के दीर्घत्व का विधान किया है वे ये हैं—(१) अद्य (२) पुरु (३) वह (४) वर्धय (५) नु (६) भर (७) भव (८) शोच (९) एव (१०) कर्त (११) मादय (१२) अर्च (१३) तिष्ठ (१४) सन (१५) पारय (१६) बोध (१७) चक्रम (१८) शस (१९) उच्छ (२०) वद (२१) अज (२२) जम्भय (२३) अध (२४) गन्त (२५) युक्ष्व (२६) सृज (२७) रक्ष (२८) सोत (२९) शिक्ष (३०) भूम और (३१) पिब।

[1] ऋ० ४।१६।२१ [2] ऋ० १।१८।३

आदि दीर्घत्व को प्राप्त ('प्लुत') पदों के साथ मिलकर सौ[क] (हो जाते हैं); (ये सौ पद) पाद के आदि में[ख] वर्तमान होने पर 'दीर्घ' हो जाते हैं, यदि इनके परे 'व्यञ्जन' हो। (७।१ से प्राप्त) 'व्यञ्जन' के अधिकार में पुनः 'व्यञ्जन' के ग्रहण करने का प्रयोजन यह बतलाना है कि—"नू प्लुत इन्द्र" (और) "रक्षा णो ब्रह्मणस्पते" इत्यादि में पकार और णकार के पद-पाठ में अदृष्ट होने पर भी कोई भी 'व्यञ्जन' बाद में होने पर (पूर्ववर्ती 'ह्रस्व'-'स्वर'-वर्ण 'दीर्घ') हो जाता है।[ग]

टि० (क) इस सूत्र में सौ पदों के दीर्घत्व का विधान किया गया है। इनमें से उनहत्तर पदों को प्रस्तुत सूत्र में गिनाया गया है। ७।२१ से लेकर ७।३२ तक चौंतीस पदों के दीर्घत्व का विधान किया गया है। इन चौंतीस पदों में से 'शोच' 'तिष्ठ' और 'मोत'—ये तीन पद दो-दो बार उल्लिखित हैं ('शोच' ७।३० और ७।३२ में, 'तिष्ठ' ७।३० और ७।३२ में और 'मोत' ७।३२ में ही)। पुनरुक्त तीन को छोड़कर ये इकतीस रह जाते हैं। उनहत्तर और इकतीस मिलकर कुल सौ पद हो जाते हैं।

इस प्रसङ्ग में प्रश्न हो सकता है कि 'शोच' इत्यादि तीन पदों के दीर्घत्व का दो-दो बार विधान क्यों किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि ७।३० में 'यविष्ठय' पद परे रहने 'शोच' के दीर्घत्व का विधान किया गया है जबकि ७।३२ में 'मरद्वृध' पद परे रहने 'शोच' के दीर्घत्व का विधान किया गया है। इसी प्रकार अन्य दो पदों के दो बार किये गए विधान को समझना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह हो सकता है इकतीस पदों के दीर्घत्व का विधान पूर्ववर्ती सूत्रों (७।२१ से ७।३२ तक) और प्रस्तुत सूत्र में दो बार क्यों किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि इन दो स्थानों पर इन पदों के 'दीर्घ' होने की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। पूर्ववर्ती सूत्रों में इन पदों के दीर्घत्व का विधान तभी किया गया है जब (i) ये पद पाद के आदि में विद्यमान न हों अथवा (ii) पाद के आदि में विद्यमान तो हों किंतु इनके परे संयुक्त वर्ण ('संयोग') हो। इसके विपरीत प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि सूत्रोक्त उनहत्तर पदों के साथ-साथ ये इकतीस पद भी पाद के आदि में विद्यमान होने पर 'दीर्घ' हो जाते हैं, यदि बाद में 'व्यञ्जन' हो। ये पद उस समय 'दीर्घ' नहीं होते हैं जब इनके परे संयुक्त वर्ण ('संयोग') हो। इनमें केवल दो पद—'नु' और 'एव',—संयुक्त वर्ण ('संयोग') परे होने पर भी 'दीर्घ' हो जाते हैं।

(ख) "पादादौ" का अधिकार इस पटल के सभी परवर्ती सूत्रों में लागू होता है।

(ग) अर्थात् ७।१ से 'व्यञ्जन' का अधिकार प्राप्त होने पर भी इस सूत्र में 'व्यञ्जन' का पुनः ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि बाद में प्राकृत (पद-पाठ में दृष्ट) या वैकृत (संहिता-पाठ में दृष्ट किंतु पद-पाठ में अदृष्ट) कैसा ही 'व्यञ्जन' हो, प्रत्येक अवस्था में वह 'व्यञ्जन' ही है, अतः पूर्ववर्ती 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण 'दीर्घ' हो जाता है।

उ० भा०—सक्ष्व—"सक्ष्वा देव प्र णस्पुर.।"[१] मिमिक्ष्व—"मिमिक्ष्वा समिळाशिरा।"[२] दधिष्व—"दधिष्वा जठरे सुतम्।"[३] वसिष्व—"वसिष्वा हि मियेध्य।"[४] श्रोत—"श्रोता हवं जरितुरेवयामरुद।"[५] सुनोत—"सुनोता सोमपाव्ने।"[६] हिनोत—"हिनोता नो अध्वरम्।"[७] पुनात—"पुनाता दक्षसाधनम्।"[८] विद्म—"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि।"[९] जगृम्भ—"जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्।"[१०] ररम्भ—"ररम्भा शवसस्पते।"[११] ववन्म—"ववन्मा नु ते युज्याभिः।"[१२] क्षाम—"क्षामा ये विश्वधायसः।"[१३] सुपप्तनि—"सुपप्तनी पेतथु. क्षोदसो महः।"[१४] मन्यत—"मन्यता नर कविमद्वयन्तम्।"[१५] मत्स्व—"मत्स्वा सुशिप्रमन्दिभि।"[१६]

सर—"सरा रसेव विष्टपम्।"[१७] रद—"रदा पूषेव नः सनिम्।"[१८] रण—"रणा यो अस्य धर्मभि।"[१९] जिन्व—"जिन्वा धियो वसुविदः।"[२०] धारय—"धारया चमसाँ इव।"[२१] अर्ष—"अर्षा सोम द्युमत्तमः।"[२२] क्षर—"क्षरा णो अभि वार्यम्।"[२३] यज—"यजा नो मित्रावरुणा।"[२४] यच्छ—"यच्छा न. शर्म सप्रय.।"[२५] दशस्य—"दशस्या नः पूर्वणीक।"[२६] साध—"साधा दिवो जातवेदः।"[२७] सेध—"द्युमत्तमं दक्षं धेह्यस्मे सेधा जनानाम्।"[२८] तप—"तपा तपिष्ठ तपसा।"[२९] रुज—"रुजा दृळ्हा चिद्रक्षसः।"[३०] मृळ—"मृळा नो रुद्रोत न।"[३१] वर्ध—"वर्धा नो अमवच्छवः।"[३२] यावय—"यावया वृक्य वृकम्।"[३३] अत्र—"अत्रा ते रूपमुत्तमम्।"[३४] अवय—"आवया वाच कुविदङ्ग वेवत्।"[३५] नमस्य—नमस्या कल्मलीकिनम्।"[३६] विद—"विदा चिन्नु महान्त।"[३७] अष्ट—"अष्टा परः सहस्रा।"[३८] कृण्व—"कृण्वा कृत्नो अकृतम्।"[३९] जोष—"जोषा 'सवितर्यस्य ते॥"[४०]

शृणुधि—"शृणुधी जरितुर्हवम्।"[४१] शृणुत—"शृणुता म इमं हवम्।"[४२] यन्त—"यन्ता नोऽवृकं छर्दि.।"[४३] यच्छत—"यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म।"[४४] स्तव—"स्तवा

---

१ ऋ० १।४२।१	२ ऋ० १।४८।१६	३ ऋ० ३।४०।५
४ ऋ० १।२६।१	५ ऋ० ५।८७।८	६ ऋ० ७।३२।८
७ ऋ० १०।३०।११	८ ऋ० ९।१०४।३	९ ऋ० १०।४५।२
१० ऋ० १०।४७।१	११ ऋ० ८।४५।२०	१२ ऋ० ७।३७।५
१३ ऋ० १०।१७६।१	१४ ऋ० १।१८२।५	१५ ऋ० ३।२९।५
१६ ऋ० १।९।३	१७ ऋ० ९।४१।६	१८ ऋ० ६।६१।६
१९ ऋ० ९।७।७	२० ऋ० ८।६०।१२	२१ ऋ० १०।२५।४
२२ ऋ० ९।६५।१९	२३ ऋ० ९।३५।३	२४ ऋ० १।७५।५
२५ ऋ० १।२२।१५	२६ ऋ० ६।११।६	२७ ऋ० ४।३।८
२८ ऋ० ६।४४।९	२९ ऋ० ६।५।४	३० ऋ० ९।९१।४
३१ ऋ० १।११४।२	३२ ऋ० ८।७५।१३	३३ ऋ० १०।१२७।६
३४ ऋ० १।१६३।७	३५ ऋ० ८।९६।१२	३६ ऋ० २।३३।८
३७ ऋ० ५।४१।१३	३८ ऋ० ८।२।४१	३९ ऋ० ६।१८।१५
४० ऋ० १०।१५८।२	४१ ऋ० ८।१३।७	४२ ऋ० २।४१।१३
४३ ऋ० ८।२७।४	४४ ऋ० २।२७।६	

नु त इन्द्र पूर्व्या ।"[१] सिम—"सिमा पुरु नृषूत ।"[२] गूहत—"गूहता गुह्यं तमः ।"[३] कृत्र—"कृत्रा चिदस्य समृतौ ।"[४] मोषथ—"मोषथा वृक्षं कपनेव वेधस ।"[५] दिधृत—"दिधृता यच्च दुष्टरम् ।"[६] पचत—"पचता पक्तीरवसे ।"[७] वृश्च—"वृश्चा मध्य प्रत्यग्रम् ।"[८] विध्यत—"विध्यता विद्युता रक्षः ।"[९] अथ—"अथा ते अन्तमानाम् ।"[१०] मदथ—"मदथा वृक्तबर्हिषः ।"[११] अत्त—"अत्ता हवींषि प्रयतानि ।"[१२] यदि—"यदी मन्थन्ति बाहुभि ।"[१३] इत—"इता मरुतो अश्विना ।"[१४] पाथन—"पाथना शंसात्तनयस्य ।"[१५]

उपागत्य—उपागत्येति संहितायां न दृश्यते । वृत्ताविदमुदाहरणं दृष्टम्—"उपागत्या सोम्यासः" इति । तस्माल्लिखितम् । अख्खलीकृत्य—"अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रः ।"[१६] वव्राज—"वव्राजा सीमनदती. ।"[१७] अविष्टन—"अविष्टना पैजवनस्य केतम् ।"[१८] उरुष्य —"उरुष्या णो अघायत. ।"[१९] इष्कर्त—"इष्कर्ता विह्रुतं पुन ।"[२०] ईळिष्व—"ईळिष्वा हि प्रतीव्यम् ।"[२१] ममृड्ढ्—'ममृड्ढा ते तन्वम् ।"[२२] बिभय—"बिभया हि त्वावत ।"[२३] इयर्त—"इयर्ता मरुतो दिवः ।"[२४] इमे सख्वादय उदाहृताः ।

उ० भा० अ० — उपागत्य—'उपागत्य' 'संहिता' में दिखलाई नहीं देता है। (पार्षद -) वृत्ति में यह उदाहरण दिखलाई पड़ा है—"उपागत्या सोम्यास" । इसलिए लिख दिया गया है। .. । 'सख्व' आदि इन (सूत्रोक्त उनहत्तर पदों) के उदाहरण दे दिये गए हैं) ।

उ० भा०—अद्यादीनिदानीमुदाहरिष्यामः । अद्य—"अद्या देवासः पिपृत ।"[२५] पुरु—"पुरू च वृत्रा हनति ।"[२६] वह—"वहा नो हव्यं प्रथम ।"[२७] वर्धय—"वर्धया वाचं जनया पुरंधिम् ।"[२८] नु—'नू च पुरा च सदनम् "[२९] भर—"भरा पिबन्नर्याय ।"[३०] भव—"भवा मित्रो न शेव्यः ।"[३१] शोच —"शोचा शोचिष्ठ दीदिहि ।"[३२] एव—"एवा हि ते विभूतयः ।"[३३] कर्त—"कर्ता नः स्वस्तिमतः ।"[३४] सादय—"सादया योनिषु त्रिषु ।"[३५]

१ ऋ० २।११।६
२ ऋ० ८।४।१
३ ऋ० १।८६।१०
४ ऋ० ५।७।२
५ ऋ० ५।५४।६
६ ऋ० १।१३९।८
७ ऋ० ७।३२।८
८ ऋ० ३।३०।१७
९ ऋ० १।८६।९
१० ऋ० १।४।३
११ ऋ० ८।७।२०
१२ ऋ० १०।१५।११
१३ ऋ० ३।२९।६
१४ ऋ० ८।८३।७
१५ ऋ० १।१६६।८
१६ ऋ० ७।१०३।३
१७ ऋ० ३।१।६
१८ ऋ० ७।१८।२५
१९ ऋ० ५।२४।३
२० ऋ० ८।१।१२
२१ ऋ० ८।२३।१
२२ ऋ० ३।१८।४
२३ ऋ० ८।४५।३५
२४ ऋ० ८।७।१३
२५ ऋ० १०।६३।८
२६ ऋ० ६।२९।६
२७ ऋ० १०।१२।२
२८ ऋ० ९।९७।३६
२९ ऋ० १।९६।७
३० ऋ० ८।२।२३
३१ ऋ० १।१५६।१
३२ ऋ० ८।६०।६
३३ ऋ० १।८।९
३४ ऋ० १।९०।५
३५ ऋ० १।१५।४

अर्च—"अर्चा देवायाग्नये।"[1] तिष्ठ—"तिष्ठा हरी रथ आ युज्यमाना।"[2] सन—"सना च सोम जेषि च।"[3] पारय—"पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति।"[4] बोध—"बोधा सु मे मघवन्।"[5] चक्रम—"चक्रमा सत्यराधसे।"[6] शंस—"शंसा महामिन्द्रं यस्मिन्।"[7] उच्छ—"उच्छा दिवो दुहितः।"[8] वद मृग्यमुदाहरणम्। अज—"अजा वृत इन्द्र शूरपत्नी।"[9] जम्भय—"जम्भया कृकदाश्वम्।"[10] अध—"अधा ते विष्णो विदुषा।"[11] गन्त—"गन्ता नो यज्ञं यज्ञियाः।"[12] युक्ष्व—"युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः।"[13] सृज—"सृजा वत्सं न दाम्नः।"[14] रक्ष—"रक्षा णो ब्रह्मणस्पते।"[15] सोत—"सोता हि सोममद्रिभिः।"[16] शिक्ष—"शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत।"[17] भूम—"भूमा पृष्ठेव रुरुहुः।"[18] पिब—"पिबा सोममिन्द्र मन्दतु॥"[19]

उ० भा०—पादादौ इति कस्मात्? "द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसः"[20]; "अत्रैव वोऽपि नह्यामि"[21], "नू चिद्दधिष्व मे गिरः।"[22] न्वेववर्जं न संयोग इति—नु एव इत्येते पदे वर्जयित्वा यच्छतं तत्संयोगे न प्लवते—"अद्य त्वा वन्वन्त्सुरेक्णाः"[23] "पुरु त्वा दाश्वान्वोचे"[24]; "अध त्वमिन्द्र विद्ध्यस्मान्"[25]; "पिब स्वधैनवानाम्।"[26] न्वेववर्जम् इति कस्मात्? "नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः"[27], "एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्।"[28]

उ० भा० अ० - "पाद के आदि में" यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागस", "अत्रैव वोऽपि नह्यामि", "नू चिद्दधिष्व मे गिर।"[क] न्वेववर्जं न संयोगे=ये जो सौ पद है उनमें से 'नु' और 'एव'—इन दो पदों को छोड़कर (शेष अट्ठानवें पद), संयुक्त वर्ण ('संयोग') परे होने पर, 'दीर्घ' नहीं होते हैं। (जैसे)—"अद्य त्वा वन्वन्त्सुरेक्णा", "पुरु त्वा दाश्वान्वोचे", "अध त्वमिन्द्र विद्ध्यस्मान्"; "पिब स्वधैनवानाम्।"[ख] "'नु' और 'एव' को छोड़कर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान", "एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्"।[ग]

टि० (क) 'अद्य', 'एव' तथा दधिष्व' 'दीर्घ' नहीं हुए हैं क्योंकि ये पद पाद के आदि में स्थित नहीं हैं।

(ख) 'अद्य', 'पुरु', 'अध' तथा 'पिब' 'दीर्घ' नहीं हुए हैं क्योंकि इनके बाद में संयुक्त वर्ण वर्तमान हैं।

(ग) संयुक्त 'वर्ण' परे होने पर भी 'नु' और 'एव' 'दीर्घ' हो गये हैं।

---

[1] ऋ० ५।१६।१ [2] ऋ० ३।३५।१ [3] ऋ० ९।४।१
[4] ऋ० १।१७४।९ [5] ऋ० ७।२२।३ [6] ऋ० ७।३१।२
[7] ऋ० ३।४९।१ [8] ऋ० ६।६५।६ [9] ऋ० १।१७४।३
[10] ऋ० १।२९।७ [11] ऋ० १।१५६।१ [12] ऋ० ५।८७।९
[13] ऋ० १०।४।६ [14] ऋ० ७।८६।५ [15] ऋ० १।१८।३
[16] ऋ० ८।१।१७ [17] ऋ० ७।३२।२६ [18] ऋ० ५।७।५
[19] ऋ० ७।२२।१ [20] ऋ० १०।३५।३ [21] ऋ० १०।१६६।३
[22] ऋ० १।१०।९ [23] ऋ० ६।१६।२६ [24] ऋ० १।१५०।१
[25] ऋ० १०।६१।२२ [26] ऋ० ८।३२।२० [27] ऋ० ४।१६।२१
[28] ऋ० ४।१९।१

उ० भा०—शेषे चापठिते सति=शेषे च दीर्घभावविधाने न संयोगे इत्यधिकृतं वेदितव्यम्। न्वेववर्जम् इति च निवृत्त वेदितव्यम्। किमविशेषेणासयोगाधिकार ? नेत्याह—अपठिते सति—"स्वस्तय उत्तराणि"[1], "घा त्वद्रिक्।"[2] इत्येव यत्र पाठो नास्ति तत्राधिकारो द्रष्टव्यः। वक्ष्यति -"यथोदयानि"[3] इति तत्सयोगे न भवति। "स पित्स्पृशति तन्वि श्रुतस्य"[4], "प्र तु द्रव परि।"[5] यथा वा वक्ष्यति—"एकदशिद्वादशिनोर्लघौ"[6] इति—तत्संयोगे न भवति। 'व्रता देवानामुप नु प्रभूषन्'[7]; "तिर पवित्र परियन्नुरु त्रयः:"[8]; "इहेन्द्राग्नी उप ह्वये।"[9] अपठिते इति कस्मात्? "त्य मु सेष मह्या स्वर्विदम्"[10]; "तां आदित्यां अनु मदा स्वस्तये"[11], "न घा त्वद्रिगप वेति"[12]; 'त्व हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि।"[13]

उ० भा० अ०—शेषे चापठिते सति=शेष (यहाँ से लेकर नवम पटल के अन्त तक) दीर्घत्व-विधान में 'सयुक्त वर्ण ('सयोग') परे होने पर (पूर्ववर्ती 'ह्रस्व 'स्वर -वर्ण 'दीर्घ') नही (होता है)"–इसे अधिकार जानना चाहिए। "'नु' और 'एव' को छोड़कर"–इसको (प्रस्तुत सूत्र से आगे) निवृत्त जानना चाहिए। (प्रश्न) क्या बिना किसी विशेष के (अर्थात् सर्वत्र) 'असयोग' ('सयोग' परे होने पर 'दीर्घ' न होने) का अधिकार है ? (उत्तर) नही, (सूत्रकार ने) कहा है—अपठिते सति=विधान न होने पर। " 'स्वस्तये' बाद में होने पर ('मद' आदि पद 'दीर्घ' हो जाते है)", " 'घा त्वद्रिक' (इस द्वैपद में पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है"—इस तरह जहाँ विधान नही होता है वहाँ अधिकार समझना चाहिए।[क] (सूत्रकार) कहेंगे—"('दधिम' आदि पद 'दीर्घ' हो जाते है) चाहे बाद में ('व्यञ्जन' से प्रारम्भ होने वाला) कोई भी (पद) हो"। वह (दीर्घत्व) सयुक्त वर्ण ('सयोग') परे होने पर नही होता है। (जैसे)—"स पित्स्पृशति तन्वि श्रुतस्य", 'प्र तु द्रव परि।"[ख] अथवा जैसे (सूत्रकार) कहेंगे—"ग्यारह और बारह (अक्षरो वाले

टि० (क) यहाँ से लेकर नवम पटल के अन्त तक पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' उस स्थल पर 'दीर्घ' नही होगा जहाँ बाद में सयुक्त वर्ण वर्तमान हो। किंतु यदि सयुक्त वर्ण से प्रारम्भ होने वाले पद का पाठ करके उसके पूर्ववर्ती पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' के दीर्घत्व का विधान सूत्रकार करेंगे तो वहाँ पर उपर्युक्त शर्त लागू नहीं होगी। वहाँ तो सयुक्त वर्ण परे रहते भी पूर्ववर्ती पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' 'दीर्घ' हो जायेगा।

(ख) ८।१५ तथा ८।१६ में क्रमश 'तन्वि' और 'तु' के 'दीर्घ' होने का विधान किया है किंतु यहाँ 'तन्वि' और 'तु' 'दीर्घ' नही होते है क्योंकि (१) 'तन्वि' और 'तु' के बाद में सयुक्त वर्ण है और (२) सूत्रकार ने ऐसा कही विधान नही किया है कि 'श्रुतस्य' और द्रव' परे रहते पूर्ववर्ती पदान्त 'ह्रस्व' 'स्वर' 'दीर्घ' हो जाते है।

[1] ८।१४ [2] ८।२८ [3] ८।१५
[4] ऋ० ६।४९।१२ [5] ऋ० ९।८७।१ [6] ८।३६
[7] ऋ० ३।५५।१ [8] ऋ० ९।६८।२ [9] ऋ० १।२१।१
[10] ऋ० १।५२।१ [11] ऋ० १०।६३।३ [12] ऋ० १०।४३।२
[13] ऋ० ३।३०।४

पादो) का (आठवाँ 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है), यदि 'लघु' ('अक्षर') परे हो'' । वह (दीर्घत्व) सयुक्त वर्ण ('सयोग') परे होने पर नही होता है । जैसे ''व्रता देवानामुप नु प्रभूषन्''[क]; ''तिर पवित्रं परियन्नुरु ज्रय''[ख]; ''इहेन्द्राग्नी उप ह्वये।''[ग] ''विधान न होने पर''—यह(सूत्र में)क्यों (कहा)? (उत्तर) 'त्य सु मेष महया स्वर्विदम्''[घ], ''ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये''[ङ], ''न घा त्वद्रिगप वेति''[च], ''त्व हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि।''[छ]

वर्ष शुभ्रे रुज यः सेध राजन्
वह हव्यानि यदि मेऽध यामनि।
विप्र दातारमध धारयाध य-
दध ते विश्वं पुरु वाचं गाय॥
वह वायो पिब मध्वः पुरु विद्वान्
पुरु विश्वान्यध वायुं पुरु शस्त।
यदि मृत्योरघ जिह्वा पुरु विश्वा
पिब शुद्धं पिब राये वह कुत्सम्।
भरद्वाजेऽर्चं देवाय यदि वा पुरु दाशुषे।
वह शुष्णायाध वह्वध यत्पुरु हीति न॥३४॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदो के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ') नहीं (होते हैं)—'वर्ष शुभ्रे', 'रुज यः', 'सेध राजन्', 'वह हव्यानि', 'यदि मे',

टि० (क) ग्यारह अक्षरो के पाद के आठवें 'अक्षर' ('नु' के उकार) को ८।३६के अनुसार 'दीर्घ' हो जाना चाहिए था किंतु सयुक्त वर्ण परे होने के कारण नु का उकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ख) बारह अक्षरों के पाद के दसवें 'अक्षर' ('पुरु' के दूसरे उकार) को ८।३८ के अनुसार 'दीर्घ' हो जाना चाहिए था किंतु सयुक्त वर्ण परे होने के कारण 'पुरु' का दूसरा उकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) आठ अक्षरो के पाद के छठे 'अक्षर' ('उप' के अकार) को ८।३९ के अनुसार 'दीर्घ' हो जाना चाहिए था किंतु सयुक्त वर्ण परे होने के कारण 'उप' का अकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(घ) संयुक्त वर्ण परे होने पर भी 'महय' का अन्तिम अकार ८।१३ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि ८।१३ में यह विधान किया गया है कि 'स्व.' पद परे रहते 'महय' का अन्तिम अकार 'दीर्घ' हो जाता है।

(ङ) सयुक्त वर्ण परे होने पर भी 'मद' का द्वितीय अकार ८।१४ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि ८।१४ में यह विधान किया गया है कि 'स्वस्तये' पद परे रहते 'मद' का द्वितीय अकार 'दीर्घ' हो जाता है।

(च) सयुक्त वर्ण परे होने पर भी 'घ' का अकार ८।२८ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि ८।२८ में यह विधान किया गया है कि 'त्वद्रिक्' परे होने पर 'घ' का अकार 'दीर्घ' हो जाता है।

(छ) संयुक्त वर्ण परे होने पर भी 'स्म' का अकार 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि ८।३० में यह विधान किया गया है कि 'च्यावयन्' परे रहते स्म' का अकार 'दीर्घ' हो जाता है।

'अध यामनि', 'विद्म दातारम्', 'अध धारया', 'अध यत्', 'अध ते विश्वम्', 'पुरु वा', 'अर्च गाय', 'वह वायो', 'पिब मध्वः', 'पुरु विद्वान्', 'पुरु विश्वानि', 'अध वायुम्', 'पुरु शस्त', 'यदि मृत्योः', 'अध जिह्वा', 'पुरु विश्वा', 'पिब शुद्धम्', 'पिब राये', 'वह कुत्सम्', भरद्वाज के सूक्तों में 'अर्च देवाय', 'यदि वा', 'पुरु दाशुषे', 'वह शुष्णाय', 'अध वह्नु', 'अध यत्' (और) 'पुरु हि'।

उ० भा०—वर्ध शुभ्रे, रुज यः, सेध राजन्, वह हव्यानि, यदि मे, अध यामनि, विद्म दातारम्, अध धारया, अध यत्, अध ते विश्वम्, पुरु वा, अर्च गाय, वह वायो, पिब मध्वः, पुरु विद्वान्, पुरु विश्वानि, अध वायुम्, पुरु शस्त, यदि मृत्योः, अध जिह्वा, पुरु विश्वा, पिब शुद्धम्, पिब राये, वह कुत्सम्, भरद्वाजे अर्च देवाय, यदि वा, पुरु दाशुषे, वह शुष्णाय, अध वह्नु, अध यत्, पुरु हि—इति न = इत्येतेषु यथाप्राप्ता प्लुतिर्न भवति।

उ० भा० अ०—वर्ध शुभ्रे ... पुरु हि—इनमें नियम से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है।[क] ... ।

वर्ध शुभ्रे—"वर्ध शुभ्रे स्तुवते।"[1] रुज यः—"रुज यस्त्वा पृतन्यति।"[2] सेध राजन्—"सेध राजन्नप स्रिधः।"[3] वह हव्यानि—"वह हव्यानि सुमनस्यमानः।"[4] यदि मे—"यदि मे सख्यमावरः।"[5] अध यामनि—"अध यामनि प्रसितस्य तद्वेः।"[6] विद्म दातारम्—"विद्म दातारमिषाम्।"[7] अध धारया—"अध धारया मध्वा पृचानः।"[8] अध यत्—"अध यद्राजाना गविष्टौ।"[9] अध ते विश्वम्—"अध ते विश्वमनु हासदिष्टये।"[10] विश्वम् इति कस्मात्? "अधा ते विष्णो विदुषा।"[11-ख] पुरु वा—"पुरु वारं पुरु त्मना।"[12] अर्च गाय—"अर्च गाय च वेधसे।"[13]

वह वायो—"वह वायो नियुतो याहि।"[14] पिब मध्वः—"पिब मध्वस्तृपदिन्द्रा वृषस्व।"[15] पुरु विद्वान्—"पुरु विद्वां ऋचीषम।"[16] पुरु विश्वानि—"पुरु विश्वानि जूर्वन्।"[17] अध वायुम्—"अध वायुं नियुतः शश्चत स्वाः।"[18] पुरु शस्त—"पुरु शस्त मघत्तये।"[19] यदि मृत्योः—"यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।"[20] अध जिह्वा—"अध जिह्वा

टि० (क) यह सूत्र ८।३३ का अपवाद है। इस सूत्र में "अध यत्" का जो दो बार ग्रहण किया गया है वह युक्त नहीं है।

(ख) 'अध' ७।३३ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'ते' के बाद में 'विश्वम्' नहीं है।

[1] ऋ० ७।९५।६ [2] ऋ० ९।५३।२ [3] ऋ० १०।२५।७
[4] ऋ० १०।५१।५ [5] ऋ० ८।१३।२१ [6] ऋ० ४।२७।४
[7] ऋ० ८।४६।२ [8] ऋ० ९।९७।११ [9] ऋ० १०।६१।२३
[10] ऋ० १।५७।२ [11] ऋ० १।१५६।१ [12] ऋ० १।१४२।१०
[13] ऋ० ६।१६।२२ [14] ऋ० ७।९०।१ [15] ऋ० १०।११६।१
[16] ऋ० ८।९२।९ [17] ऋ० १।१९१।९ [18] ऋ० ७।९०।३
[19] ऋ० ४।३७।८ [20] ऋ० १०।१६१।२

पापतीति ।"[१] पुरु विश्वा—"पुरु विश्वा जनिम मानुषाणम् ।"[२] पिब शुद्धम्—"पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ।"[३] पिब राये—पिब राये शवसे हूयमान. ।"[४] वह कुत्सम्—"वह कुत्समिन्द्र यस्मिन् ।"[५]

भरद्वाजे अर्च देवाय "अर्च देवाय वरुणाय सप्रथः ।"[६] भरद्वाजे इति कस्मात् ? "अर्चा देवायाग्नये ।"[७-क] यदि वा—"यदि वा दधे यदि वा न ।"[८] पुरु दाशुषे—"पुरु दाशुषे विचयिष्ठो अंहः ।"[९] वह शुष्णाय—"वह शुष्णाय वधं कुत्सम् ।"[१०] अध बहु—"अध बहु चित्तमः ।"[११] अध यत्—"अध यदेषा नियुत ।"[१२] पुरु हि—"पुरु हि वां पुरुभुजा देष्णम् ॥"[१३]

कृधीति परेषु सहस्रसां धियं जरित्रे न इति ॥३५॥

सू० अ०—'सहस्राम्', 'धियम्' 'जरित्रे' (और) 'नः' परे हों तो 'कृधि' ('दीर्घ' हो जाता है) ।

उ० भा०—कृधि इत्येतत्पदं प्लवते सहस्रसाम्, धियम्, जरित्रे, नः—इत्येतेषु परेषु । सहस्रसाम्—"कृधी सहस्रसामृषिम् ।"[१४] धियम्—"कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ।"[१५] जरित्रे—"कृधी जरित्रे मघवन् ।"[१६] नः—"कृधि न ऊर्ध्वाञ्चरथाय ॥"[१७]

उ० भा० अ०—कृधि—यह पद 'दीर्घ' हो जाता है (यदि) सहस्राम्, धियम्, जरित्रे (और) नः—इति परेषु=ये बाद में हों ।" ।

तत्रेति चान्त्ये ॥३६॥

सू० अ०—(यदि ७।३५ में निर्दिष्ट पदों में से) अन्तिम (='नः') बाद में हो तो 'तत्र' भी ('दीर्घ' हो जाता है) ।

उ० भा०—इत्येतेषां प्रत्ययानाम्; अन्त्ये=न इत्येतस्मिन्प्रत्यये; तत्र इत्येतत्पदं प्लवते । "तत्रा नो ब्रह्मणस्पतिः ॥[१८]

उ० भा० अ०—बाद में आने वाले इन (पदों) में से; अन्त्ये=अन्तिम बाद में हो तो='न' यह (पद) बाद में हो तो; तत्र इति='तत्र' यह पद, 'दीर्घ' हो जाता है । (उदाहरण)—"तत्रा नो ब्रह्मणस्पति ।"

टि० (क) उदाहरण में 'अर्च' ७।३३ से दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि यह मन्त्र भरद्वाज का है । प्रत्युदाहरण में 'अर्च' 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि यह मन्त्र भरद्वाज का नहीं है अपितु अत्रि का है ।

---

[१] ऋ० ६।६।५	[२] ऋ० ७।६२।१	[३] ऋ० १।१६४।४०
[४] ऋ० १०।११६।१	[५] ऋ० १।१७४।५	[६] ऋ० ६।६८।९
[७] ऋ० ५।१६।१	[८] ऋ० १०।१२९।७	[९] ऋ० ४।२०।९
[१०] ऋ० १।१७५।४	[११] ऋ० ६।१०।४	[१२] ऋ० १।१६७।२
[१३] ऋ० ६।६३।८	[१४] ऋ० १।१०।११	[१५] ऋ० १०।४२।७
[१६] ऋ० ८।९७।८	[१७] ऋ० १।३६।१४	[१८] ऋ० ६।७५।१७

सहस्येन सुश्रवसं पवस्व द्वे नो अधीत्येषु परेषु तेन ॥३७॥

सू० अ०—'सहस्येन', 'सुश्रवसम्', 'पवस्व', 'नो अधि' ये दो (पद)—ये बाद में हों तो 'तेन' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—सहस्येन, सुश्रवसम्, पवस्व, द्वे नो अधि इति; (एषु)=एतेषु; परेषु तेन इत्येतत्प्लवते। सहस्येन—"तेना सहस्येना वयम्।"[1] सुश्रवसम्—"तेना सुश्रवसं जनम्।"[2] पवस्व—"तेना पवस्वान्धसा।"[3] द्वे नो अधि—"तेना नो अधि वोचत।"[4] द्वे इति कस्मात्? "तेन नो मृळ जीवसे॥"[4-क]

उ० भा० अ०—सहस्येन, सुश्रवसम्, पवस्व, नो अधि—ये दो (पद); इति (एषु)=ये (पद), परेषु=बाद में होने पर, तेन—यह 'दीर्घ' हो जाता है। ।

देवं वेनं केतमित्युत्तरेषु दधातेति ॥३८॥

सू० अ०—'देवम्', 'वेनम्', 'केतम्' बाद में हों तो 'दधात' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—देवम्, वेनम्, केतम्; (इत्युत्तरेषु=) इत्येतेषु, दधात इति प्लवते। देवम्—"दधाता देवमृत्विजम्।"[6] वेनम्—"दधाता वेनमादिशे।"[7] केतम्—"दधाता केतमादिशे॥"[8]

उ० भा० अ०—देवम्, वेनम्, केतम्; (इत्युत्तरेषु=) ये बाद में हो तो; दधात 'दीर्घ' हो जाता है। ' '।

श्रुधि वंस्वेति नःपरे ॥३९॥

सू० अ०—'नः' बाद में हो तो 'श्रुधि' और 'वंस्व' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—श्रुधि, वंस्व-इत्येते, (नःपरे=) न प्रत्यये; प्लवेते। श्रुधि—"श्रुधी न इन्द्र ह्वयामसि त्वा।"[9] वंस्व—"वंस्वा नो वार्या पुरु॥"[10]

उ० भा० अ०—(नःपरे=) 'न' बाद में होने पर, श्रुधि (और) वंस्व—ये दो (पद) 'दीर्घ' हो जाते हैं। ' '।

वेदेति विश्वस्यभृमंमउत्तरम् ॥४०॥

सू० अ०—'विश्वस्य', 'भृमम्' (और) 'मे' बाद मे हों तो 'वेद' ('दीर्घ' हो जाता है)।

टि० (क) 'तेन' का अकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि इसके बाद में 'नो अधि' ये दो पद नही अपितु एक ही पद 'नो' है।

---

[1] ऋ० ७।५५।७ [2] ऋ० १।४९।२ [3] ऋ० ९।६१।१९
[4] ऋ० ८।२०।२६ [5] ऋ० ९।६६।३० [6] ऋ० ५।२२।२
[7] ऋ० ९।२१।५ [8] ऋ० ९।२१।६ [9] ऋ० ६।२६।१
[10] ऋ० ८।२३।२७

उ० भा०—वेद इत्येतत्प्लवते विश्वस्य, भूमम्, मे—इत्येवम् उत्तरम्। विश्वस्य—"वेदा विश्वस्य मेधिर ।"[1] भूमम्—"वेदा भूमं चित् ।"[2] मे—"वेदा मे देव ऋतुपा ऋतूनाम् ॥"[3]

उ० भा० अ०—वेद—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है (यदि) विश्वस्य, भूमम्, मे ये, उत्तरम्=बाद मे हो ।

शुनःशेपे च प्लवते यकारे ॥४१॥

सू० अ०—शुनःशेप (ऋषि के सूक्तो) में भी ('वेद') 'दीर्घ' हो जाता है, (यदि) यकार बाद में हो ।

उ० भा०—शुनःशेपे च ऋषौ वेद इत्येतत्प्लवते यकारे प्रत्यये। "वेदा यो वीनां पदम् ।"[4] शुनःशेपे इति कस्मात्? "वेद यस्त्रीणि विदथानि ।"[5] यकारे इति कस्मात्? "वेद नावः समुद्रियः ॥"[6]

उ० भा० अ०—शुनःशेपे च=शुनःशेप ऋषि (के सूक्तो) में भी 'वेद' यह (पद); प्लवते='दीर्घ' हो जाता है; यकारे=यकार बाद में होने पर, (अर्थात् शुनःशेप के सूक्तो मे यकार परे रहते 'वेद' पद का अकार 'दीर्घ' हो जाता है)। (उदाहरण)—"वेदा यो वीना पदम् ।" "शुनःशेप (ऋषि के सूक्तो में)"—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा)? (उत्तर) "वेद यस्त्रीणि विदथानि ।"[क] "यकार बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "वेद नाव समुद्रिय ।"[ख]

ब्रह्मेति नो द्वे च गिरः कृणोति ते कृणोत तूतोदिति चोत्तरेषु ॥४२॥

सू० अ०—'नः', 'च गिरः'—ये दो (पद), 'कृणोति', 'ते', 'कृणोत' (और) 'तूतोत्' बाद में हो तो 'ब्रह्म' ('दीर्घ') हो जाता है)।

उ० भा०—ब्रह्म इत्येतत्प्लवते। नः, द्वे च गिरः, कृणोति, ते, कृणोत, तूतोत्; (इति उत्तरेषु=) इत्येतेषु। नः—"ब्रह्मा ण इन्द्रोप याहि ।"[7] द्वे च गिरः—"ब्रह्मा च गिरो दधिरे ।"[8] द्वे इति कस्मात्? "ब्रह्म च ते जातवेदः ।"[ग] कृणोति—"ब्रह्मा

टि० (क) यहाँ यकार बाद में होने पर भी 'वेद' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि यह मन्त्र शुनःशेप ऋषि द्वारा दृष्ट नही है। शुनःशेप ऋ० १।२४-३० के द्रष्टा है।

(ख) यद्यपि यह मन्त्र शुनःशेप ऋषि द्वारा दृष्ट है तथापि यहाँ पर 'वेद' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'वेद' के बाद में यकार नहीं अपितु नकार है।

(ग) यहाँ 'ब्रह्म' का द्वितीय अकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'ब्रह्म' के बाद में 'च गिर'—ये दो पद नही अपितु एक ही पद 'च' है।

---

[1] ऋ० ६।४२।२ [2] ऋ० ८।६१।१२ [3] ऋ० ५।१२।३
[4] ऋ० १।२५।७ [5] ऋ० ६।५१।२ [6] ऋ० १।२५।७
[7] ऋ० ७।२८।१ [8] ऋ० ६।३८।३ [ग] ऋ० १०।४।७

कृणोति वरुण ।"[1] ते—"ब्रह्मा त इन्द्र गिर्वणः ।"[2] कृणोत—ब्रह्मा कृणोत पन्य इत् ।"[3] तूतोत्—"ब्रह्मा तूतोदिन्द्रो गातुम् ॥"[4]

उ० भा० अ०—ब्रह्म—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है, (यदि) नः, च गिरः—ये दो (पद), कृणोति, ते, कृणोत, तूतोत्; (इति उत्तरेषु=) ये (पद) बाद में हों। ।

अभीति नो नु नवन्ते सतो नरं द्वा सत्स्विति ॥४३॥

सू० अ०—'नः', 'नु', 'नवन्ते', 'सतः', 'नरम्', 'द्वा' 'सत्' (और) 'सु' बाद में हों तो 'अभि' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा० - अभि इत्येतत्प्लवते नः, नु, नवन्ते, सतः, नरम्, द्वा, सत्, सु-इत्येतेषु। नः—' अभि न आ ववृत्स्व।"[5] नु—"अभी नु मा वृषभ चक्षमीया।" नवन्ते—' अभी नवन्ते अद्रुहः।"[7] सतः—"अभी षतस्तदा भर।"[8] नरम् "अभी नरं धीजवनम्।"[9] द्वा—"अभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।"[10] सत्—"अभी षदप चुच्यवत्।"[11] सु—"अभी षु णः सखीनाम् ॥"[12]

उ० भा० अ०—अभि—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है, (यदि) नः, नु, नवन्ते, सतः, नरम्, द्वा, सत् (और) सु—ये पद बाद में हो। ।

आग्नेऽर्षपरे तु मुख्ये ॥४४॥

सू० अ०—'आ', 'अग्ने' (और) 'अर्ष' है बाद में जिसके ऐसा मुख्य (=प्रथम='नः') बाद में हो तो ('अभि' 'दीर्घ' होता है)।

उ० भा०--इत्येतेषां प्रत्ययानां; मुख्ये=नः इत्येतस्मिन्प्रत्यये; आ, अग्ने, अर्ष—इत्येवंपरे एव अभि पद प्लवते। आ—"अभी न आ ववृत्स्व।"[13] अग्ने—"अभी नो अग्न उक्थमित्।"[14] अर्ष—"अभी नो अर्ष दिव्या।"[15] आग्नेऽर्षपरे इति कस्मात्? "अभि नो वाजसातमम् ॥"[16-क]

उ० भा० अ०—आ, अग्ने (और) अर्ष—ये है, परे=बाद में जिसके ऐसा ही, बाद में आने वाले इन ('न', 'नु' 'नवन्ते', 'सत', 'नरम्', 'द्वा', 'सत् और 'सु') में से, मुख्ये=प्रथम परे हो तो='न'—यह (पद) परे हो तो, 'अभि' पद 'दीर्घ' हो जाता है, (अर्थात् 'न' के पूर्व मे वर्तमान 'अभि' तभी 'दीर्घ' होता है जब 'न' के बाद में 'आ' हो या 'अग्ने' हो या 'अर्ष' हो)। ।

टि० (क) यहाँ 'अभि' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि अभि' के बाद में विद्यमान 'न' के बाद में न 'आ' है, न 'अग्ने' और न 'अर्ष'।

---

१ ऋ० १।१०५।१५ २ ऋ० ८।९०।३ ३ ऋ० ८।३२।१७
४ ऋ २।२०।५ ५ ऋ० ४।३१।४ ६ ऋ० २।३३।७
७ ऋ० ९।१००।१ ८ ऋ० ७।३२।२४ ९ ऋ० ९।९७।४९
१० ऋ० १०।४८।७ ११ ऋ० २।४१।१० १२ ऋ० ४।३१।३
१३ ऋ० ४।३१।४ १४ ऋ० १।१४०।१३ १५ ऋ० ९।९७।५१
१६ ऋ० ९।९८।१

चक्रुर्वदेते दशस्यन्त्समुद्रो
रथेन नः सप्तऋषीन्मदन्ति ।
ते वो भयन्ते नियुद्भिः कृपीटं
रथस्य सोमस्य मती रणन्ति ॥४८॥

सू० अ०—'चक्रुः', 'वदेते', 'दशस्यन्', 'समुद्रः', 'रथेन', 'नः', 'सप्तऋषीन्', 'मदन्ति', 'ते', 'वः', 'भयन्ते', 'नियुद्भिः', 'कृपीटम्' 'रथस्य', 'सोमस्य', 'मतिः' (और) 'रणन्ति'—(ये 'चक्रुरादि' हैं जिनका निर्देश ७।४७ मे किया गया है) ।

उ० भा०—चक्रुः, वदेते, दशस्यन्, समुद्रः, रथेन, नः, सप्तऋषीन्, मदन्ति, ते, वः, भयन्ते, नियुद्भिः, कृपीटम्, रथस्य, सोमस्य, मतिः, रणन्ति—इत्येते चक्रुरादयः । वक्ष्यति—'यत्रेति चक्रुरादिषु नरः सुपर्णा इति च'[1] इति=यत्र इत्येतत्प्लवते चक्रुरादिषु नर सुपर्णा. इत्येतयोश्च ।

चक्रुः—"यत्रा चक्रुरमृता गातुम् ।"[2] वदेते—"यत्रा वदेते अवरः परश्च ।"[3] दशस्यन्—"यत्रा दशस्यन्नुषसः ।"[4] समुद्रः "यत्रा समुद्र स्कभितः ।"[5] रथेन—"यत्रा रथेन गच्छथः ।"[6] न 'यत्रा नश्चक्रा जरस तनूनाम् ।"[7] सप्तऋषीन्—"यत्रा सप्तऋषीन्पर. ।"[8] मदन्ति "यत्रा मदन्ति धूतय. ।"[9] ते—"यत्रा त आहुः परमम् ।"[10] व.—"यत्रा वो विद्युद्वदति ।"[11] भयन्ते—"यत्रा भयन्ते भुवना ।"[12] यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।"[13] कृपीटम्—"यत्रा कृपीटमनु तत् ।"[14] रथस्य—"यत्रा रथस्य बृहतः ।"[15] सोमस्य—"यत्रा सोमस्य तृम्पसि ।"[16] मतिः—"यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी ।"[17] रणन्ति—"यत्रा रणन्ति धीतयः ।"[18] नरः—"यत्रा नर. सं च वि च द्रवन्ति ।"[19] सुपर्णाः—यत्रा सुपर्णा अमृतस्य ॥"[20]

उ० भा० अ० चक्रुः, वदेते, दशस्यन्, समुद्रः, रथेन, नः, सप्तऋषीन्, मदन्ति, ते, वः, भयन्ते, नियुद्भिः, कृपीटम्, रथस्य, सोमस्य, मतिः, रणन्ति—ये 'चक्रु' आदि है। (सूत्रकार ७।४७ मे) कहेंगे- "यत्रेति चक्रुरादिषु नर सुपर्णा इति च"='यत्र'-यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है यदि बाद में 'चक्रु' आदि हो या 'नरः' (और) 'सुपर्णा'—ये (पद) हों । ... ।

---

[1] ७।४७ [2] ऋ० ७।६३।५ [3] ऋ० १०।८८।१७
[4] ऋ० १०।१३८।१ [5] ऋ० १०।१४९।२ [6] ऋ० १।२२।४
[7] ऋ० १।८९।९ [8] ऋ० १०।८२।२ [9] ऋ० ५।६१।१४
[10] ऋ० १।१६३।४ [11] ऋ० १।१६६।६ [12] ऋ० ७।८३।२
[13] ऋ० १०।८।६ [14] ऋ० १०।२८।८ [15] ऋ० ३।५३।५
[16] ऋ० ८।४।१२ [17] ऋ० ५।४४।९ [18] ऋ० ९।११।२
[19] ऋ० ६।७५।११ [20] ऋ० १।१६४।२१

समुद्रं द्वे स्वर्ण नवग्वशब्दो
दशग्वं दंसिष्ठ वसूनि नो वसु ।
वृत्रं निर्द्वे नु यतिभ्यः सहन्तः
पृथिव्यां निर्हंसि समत्सु पावक ॥४६॥

सू० अ०—'समुद्रम्', 'स्वर्ण'—ये दो (पद), 'नवग्व' शब्द, 'दशग्वम्', 'दंसिष्ठ', 'वसूनि', 'नः', 'वसु', 'वृत्रं निर्'—ये दो (पद), 'नु', 'यतिभ्यः', 'सहन्तः', 'पृथिव्याम्', 'निः', 'हंसि', 'समत्सु' (और) 'पावक' (ये 'समुद्रादि' पद हैं जिनका निर्देश ७।४८ में किया गया है)।

उ० भा०—समुद्रम्, द्वे स्वर्ण, नवग्वशब्दः, दशग्वम्, दंसिष्ठ, वसूनि, नः, वसु, वृत्रं निर्द्वे, नु, यतिभ्यः, सहन्तः, पृथिव्याम्, निः, हंसि, समत्सु, पावक- इत्येते समुद्रादयः। वक्ष्यति "समुद्रादिषु येनेति"[1]=येन इत्येतत्प्लवते समुद्रादिषु प्रत्ययेषु ।

समुद्रम्—"येना समुद्रमसृजः।"[2] द्वे स्वर्ण - "येना स्वर्ण ततनाम्।"[3] द्वे इति कस्मात्? "येन स्व स्तभित येन।"[४-क] नवग्वशब्दः—"येना नवग्वो दध्यङ्"[4], "येना नवग्वे अङ्गिरे।"[5] दशग्वम्—"येना दशग्वमध्रिगुम्।"[6] दंसिष्ठ—"येना दंसिष्ठ कृत्वने।"[7] वसूनि—"येना वसून्याभृता।"[8] नः "येना नः पूर्वे पितरः।"[9] वसु—"येना वसु प्रयच्छसि।"[10] वृत्रं निर्द्वे—"येना वृत्रं निरद्भ्यः।"[11] द्वे इति कस्मात्? "येन वृत्र चिकेतथ।"[११-ख] नु—"येना नु सद्य ओजसा।"[12] यतिभ्यः—"येना यतिभ्यो भृगवे।"[13] सहन्तः "येना सहन्त ऋञ्जत।"[14] पृथिव्याम्—"येना पृथिव्यां नि क्रिविम्।"[15] निः—"येना निरंहसो यूयम्।"[16] हंसि—"येना हंसि न्यत्रिणम्।"[17] समत्सु—"येना समत्सु सासहः।"[18] पावक—"येना पावक चक्षसा॥"[19]

टि० (क) यहाँ 'येन' 'दीर्घ' नहीं हुआ क्योंकि इसके बाद में 'स्वर्ण' (='स्व' और 'न') ये दो पद नहीं, अपितु अकेला 'स्व' पद है।

(ख) यहाँ 'येन' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि इसके बाद में 'वृत्र निर्' ये दो पद नहीं, अपितु अकेला 'वृत्रम्' पद है।

---

[1] ७।४८ [2] ऋ० ८।३।१० [3] ऋ० ५।५४।१५
[4] ऋ० १०।१२।१५ [5] ऋ० ९।१०८।४ [6] ऋ० ४।५१।४
[7] ऋ० ८।१२।२ [8] ऋ० ८।२४।२५ [9] ऋ० ६।१६।४८
[10] ऋ० १।६२।२ [11] ऋ० ८।१७।१० [12] ऋ० १।८०।२
[13] ऋ० ८।९।४ [14] ऋ० ८।१२।४ [15] ऋ० ८।३।९
[16] ऋ० ५।८७।५ [17] ऋ० २।१७।६ [18] ऋ० १०।१२६।२
[19] ऋ० ८।१२।१ [20] ऋ० ८।१९।२० [21] ऋ० १।५०।६

उ० भा० अ०—समुद्रम्, स्वर्ण—ये दो (पद), नवग्व के सभी रूप, दृशग्वम्, दंसिष्ठ, वसूनि, नः, वसु, वृत्रं निर्—ये दो (पद), नु, यतिभ्यः, सहन्तः, पृथिव्याम्, निः, हंसि, समत्सु (और) पावक—ये 'समुद्र' आदि हैं। (सूत्रकार ७।४८ में) कहेंगे—"समुद्रादिषु येनेति"—'येन'—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है यदि बाद में 'समुद्र' आदि हों।..........।

यत्रेति चक्रुरादिषु नरः सुपर्णा इति च ॥४७॥

सू० अ०—'चक्रुः' आदि अथवा 'नरः' और 'सुपर्णाः'—ये बाद में हों तो 'यत्र' ('दीर्घ' हो जाता है)।

समुद्रादिषु येनेति ॥४८॥

सू० अ०—'समुद्र' आदि (पद) बाद में हों तो 'येन' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—इत्युक्तम् ॥

उ० भा० अ०—इन्हें कहा जा चुका है।

तत्रेति मे सदो रथम् ॥४९॥

सू० अ०—'मे', 'सदः' (और) 'रथम्' बाद में हों तो 'तत्र' 'दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—तत्र इत्येतत्प्लवते मे, सदः, रथम्—इत्येतेषु परेषु। मे—"तत्रा मे नाभिराततः।"[1] सदः—"तत्रा सदः कृणवसे।"[2] रथम्—"तत्रा रथमुप शग्मं सदेम॥"[3]

उ० भा० अ०—तत्र—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है (यदि) मे, सदः (और) रथम्—ये (पद) बाद में हों।... ...।

अवेति नो नु कल्पेषु नूनम् वाजेषु पृत्सुषु ॥५०॥

सू० अ०—'नः', 'नु', 'कल्पेषु', 'नूनम्', 'वाजेषु' (और) 'पृत्सुषु' बाद में हों तो 'अव' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—अव इत्येतत्प्लवते नः, नु, कल्पेषु, नूनम्, वाजेषु, पृत्सुषु-इत्येतेषु। नः—"अवा नो वाजयुं रथम्।"[4] नु—"अवा नु कं ज्यायान्।"[5] कल्पेषु—"अवा कल्पेषु नः पुमः।"[6] नूनम्—"अवा नूनं यथा पुरा।"[7] वाजेषु—"अवा वाजेषु वाजिनि।"[8] पृत्सुषु—"अवा पृत्सुषु कासु चित्॥"[9]

उ० भा० अ०—अव—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है (यदि) नः, नु, कल्पेषु, नूनम्, वाजेषु (और) पृत्सुषु—ये (पद) बाद में हों। .. ..।

---

[1] ऋ० १।१०५।९ [2] ऋ० ६।१६।१७ [3] ऋ० ६।७५।८
[4] ऋ० ८।८०।६ [5] ऋ० १०।५०।५ [6] ऋ० ९।९।७
[7] ऋ० ६।४८।१९ [8] ऋ० ६।६१।६ [9] ऋ० १।१२९।४

आद्ये चेद्वाजयुंपार्येकमग्नेमघवन्परे ॥५१॥

सू० अ०—'वाजयुम्', 'पार्ये', 'कम्', 'अग्ने' (और) 'मघवन्' हैं बाद में जिनके वे (७।५० में उल्लिखित) आदि वाले दो ('नः' और 'नु' पद) बाद में हों तो ('अव' 'दीर्घ' होता है)।

उ० भा०—एषां प्रत्ययानाम्; आद्ये=नः नु इत्येते; वाजयुम्, पार्ये, कम्, अग्ने, मघवन्—इत्येवपरे यदि भवतः अव इति प्लवते। वाजयुम्—"अवा नो वाजयुं रथम्।"[1] पार्ये—"अवा नः पार्ये धने।"[2] कम्—"अवा नु कं ज्यायान्।"[3] अग्ने—"अवा नो अग्ने ऊतिभिः।"[4] मघवन्—"अवा नो मघवन्वाजसातौ।"[5] आद्ये चेद्वाजयुंपार्येकमग्नेमघवन्परे इति कस्मात्? "अव नो वृजिना शिशीहि॥"[6-क]

उ० भा० अ०—वाजयुम्, पार्ये, कम्, अग्ने, मघवन्—ये; परे=यदि बाद में होते हैं तो; बाद में आने वाले इन ('नः', 'नु', 'कल्पेषु', 'नूनम्' 'वाजेषु' और 'पृत्सुषु') में से; आद्ये=आदि वाले दो='नः' और 'नु'—ये (बाद में हों तो) 'अव' 'दीर्घ' हो जाता है; (अर्थात् 'नः' और 'नु' के बाद में 'वाजयुम्' इत्यादि पाँच उपर्युक्त पदों में से कोई एक हो तो 'नः' और 'नु' के पूर्व में विद्यमान 'अव' का अन्तिम अकार 'दीर्घ' होता है)। ।

रास्वा पितः शतेना नो वर्धस्वा सु श्रुधी हवम्।
मन्दस्वा सु वहस्वा सु वनेमा ते नही नु वः ॥५२॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'रास्वा पितः', 'शतेना नः', 'वर्धस्वा सु', 'श्रुधी हवम्', 'मन्दस्वा सु', 'वहस्वा सु', 'वनेमा ते' (और) 'नही नु वः'।

उ० भा०—इत्येतेषां पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। रास्वा पितः—"रास्वा पितर्मरुताम्।"[7] शतेना नः—"शतेना नो अभिष्टिभिः।"[8] वर्धस्वा सु—"वर्धस्वा सु पुरुष्टुत।"[9] श्रुधी हवम्—"श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्य।"[10] मन्दस्वा सु—"मन्दस्वा सु स्वर्णरे।"[11] वहस्वा सु—"वहस्वा सु स्वश्व्यम्।"[12] वनेमा ते—"वनेमा ते अभिष्टिभिः।"[13] नही नु वः—"नही नु वो मरुतो अन्ति।"[14] वः इति कस्मात्? "नहि नु ते महिमनः॥"[15-ख]

टि० (क) 'अव' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि इसके बाद में विद्यमान 'नः' के बाद में 'वाजयुम्' इत्यादि निर्दिष्ट पदों में से कोई भी नहीं है।
(ख) 'नहि' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'नहि' के बाद में स्थित 'नु' के बाद में 'वः' नहीं है।

---

[1] ऋ० ८।८०।६ [2] ऋ० ८।९२।९ [3] ऋ० १०।५०।५
[4] ऋ० १।७९।७ [5] ऋ० ६।१५।१५ [6] ऋ० १०।१०५।८
[7] ऋ० १।११४।९ [8] ऋ० ४।४६।२ [9] ऋ० ८।१३।२५
[10] ऋ० २।११।१ [11] ऋ० ८।६।३९ [12] ऋ० ८।२६।२३
[13] ऋ० ८।१९।२० [14] ऋ० १।१६७।९ [15] ऋ० ६।२७।३

उ० भा० अ०—इनके प्रथम पदों के (अन्त=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। ······· ।

पाथा दिवो धाता रयिं सृजता गयसाधनम् ।
रास्वा चोरू न शग्धी नः सृजता मधुमत्तमम् ॥५३॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर', 'दीर्घ' हो जाते हैं) ।—'पाथा दिवः', 'धाता रयिम्', 'सृजता गयसाधनम्', 'रास्वा च', 'उरू नः', 'शग्धी नः' (और) 'सृजता मधुमत्तमम्' ।

उ० भा०—पाथा दिवः—इत्येवमादीनां पूर्वपदान्ता प्लवन्ते। पाथा दिवः—"पाथा दिवो विमहसः ।"[१] धाता रयिम्—"धाता रयिं सहवीर तुरासः ।"[२] सृजता गयसाधनम्—"समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।"[३] रास्वा च—"रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनम् ।"[४] उरू न—"ऊरू न राधः सवना ।"[५] शग्धी नः—"शग्धी न इन्द्र यत्वा ।"[६] सृजता मधुमत्तमम्—"आ नः सोमं पवित्र आ सृजता मधुमत्तमम् ॥"[७]

उ० भा० अ०—पाथा, दिवः इत्यादि के प्रथम पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। ····· ।

जही चिकित्वो वेत्था हि रक्षथा न हता मखम् ।
युयोता शरुं स्वेना हि वनेमा ररिमा वयम् ॥५४॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'जही चिकित्वः', 'वेत्था हि', 'रक्षथा न', 'हता मखम्', 'युयोता शरुम्', 'स्वेना हि', 'वनेमा ररिमा वयम्' ।

उ० भा०—जही चिकित्वः, वेत्था हि, रक्षथा न, हता मखम्, युयोता शरुम्, स्वेना हि, वनेमा ररिमा वयम्—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। जही चिकित्वः—"जही चिकित्वो अभिशस्तिम् ।"[८] वेत्था हि—"वेत्था हि वेधो अध्वनः ।"[९] रक्षथा न—"रक्षथा नेमघं नशत् ।"[१०] हता मखम्—"हता मख न भृगवः ।"[११] युयोता शरुम्—"युयोता शरुमस्मदा ।"[१२] स्वेना हि—"स्वेना हि वृत्रं शवसा ।"[१३] वनेमा ररिमा वयम्—"स्तोमं यज्ञं चादरं वनेमा ररिमा वयम् ।"[१४] वयम् इति कस्मात् ? मृग्यम् ॥

उ० भा० अ०—जही चिकित्वः, वेत्था हि, रक्षथा न, हता मखम्, युयोता शरुम्, स्वेना हि (और) वनेमा ररिमा वयम्—इनके भी प्रथम पदो के अन्त (=अन्तिम

---

[१] ऋ० १।८६।१ [२] ऋ० ३।५४।१३ [३] ऋ० ९।१०४।२
[४] ऋ० १।१९४।६ [५] ऋ० ६।४७।१४ [६] ऋ० ८।३।११
[७] ऋ० ९।६२।२१ [८] ऋ० ५।३।७ [९] ऋ० ६।१६।३
[१०] ऋ० ८।४७।१ [११] ऋ० ९।१०१।१३ [१२] ऋ० ८।१८।११
[१३] ऋ० ७।२१।६ [१४] ऋ० २।५।७

'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं।… ……। "वयम्"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) (प्रत्युदाहरण) खोजना चाहिए।

प्रप्रा वो अस्मे धामा ह सना ज्योतिरपा वृधि।
ऋध्यामा ते वामदेवे जुहोता मधुमत्तमम् ॥५५॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'प्रप्रा वो अस्मे', 'धामा ह', 'सना ज्योतिः', 'अपा वृधि', 'ऋध्यामा ते' वामदेव (के सूक्तों) में (और) 'जुहोता मधुमत्तमम्'।

उ० भा०—प्रप्रा वो अस्मे, धामा ह, सना ज्योतिः अपा वृधि, ऋध्यामा ते वामदेवे, जुहोता मधुमत्तमम्—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। प्रप्रा वो अस्मे—"प्रप्रा वो अस्मे स्वयशोभिरूती।"[१] अस्मे इति किम्? "प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषम्।"[२-क] धामा ह—"धामा ह यत्ते अजर।"[३] सना ज्योतिः—"सना ज्योतिः सना स्वः।"[४] अपा वृधि—"अपा वृधि परिवृतं न राधः।"[५] ऋध्यामा ते वामदेवे ऋषौ—"ऋध्यामा त ओहैः।"[६] वामदेवे इति कस्मात्? "ऋध्याम ते वरुण खाम्।"[७-ख] जुहोता मधुमत्तमम्—"तस्मा इवास्ये हविर्जुहोता मधुमत्तमम्॥"[८]

उ० भा० अ०—प्रप्रा वो अस्मे, धामा ह, सना ज्योतिः, अपा वृधि, ऋध्यामा ते—वामदेव के सूक्तों में (और) जुहोता मधुमत्तमम्—इनके भी प्रथम पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। … ।

यक्ष्वा महे धिष्वा शवो जनिष्वा देववीतये।
अधा त्वं ह्ययाया श्वःश्वः सचस्वा नः स्वस्तये ॥५६॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों पर प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'यक्ष्वा महे', 'धिष्वा शवः', 'जनिष्वा देववीतये', 'अधा त्वं हि', 'अयाया श्वःश्वः' (और) 'सचस्वा नः स्वस्तये'।

उ० भा०—यक्ष्वा महे, धिष्वा शवः, जनिष्वा देववीतये, अधा त्वं हि, अयाया श्वःश्वः, सचस्वा नः स्वस्तये—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। यक्ष्वा महे—"यक्ष्वा महे सौमनसाय।"[९] धिष्वा शवः—"धिष्वा शव शूर येन।"[१०] जनिष्वा देववीतये—

टि० (क) 'प्रप्र' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'प्रप्र' के बाद में स्थित 'व' के बाद में 'अस्मे' नहीं है।

(ख) 'ऋध्याम' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि यह मन्त्र वामदेव ऋषि द्वारा दृष्ट नहीं है। वामदेव ऋ० चतुर्थ मण्डल के द्रष्टा हैं।

१ ऋ० १।१२९।८ २ ऋ० ८।६९।१ ३ ऋ० ६।२।९
४ ऋ० ९।४।२ ५ ऋ० ७।२७।२ ६ ऋ० ४।१०।१
७ ऋ० २।२८।५ ८ ऋ० ७।१०२।३ ९ ऋ० ५।४३।११
१० ऋ० २।११।१८

"जनिष्वा देववीतये सर्वताता स्वस्तये।"[1] अघा त्वं हि—"अघा त्वं हि नस्करः।"[2] हि इति कस्मात्? "अघ त्वमिन्द्र विद्धि।"[३-क] अद्याद्या श्वःश्वः—"अद्याद्या श्वःश्वः इन्द्र।"[4] सचस्वा नः स्वस्तये—"अग्ने सूपायनो भव सचस्वा न स्वस्तये।"[5] स्वस्तये इति कस्मात्? "सचस्व नः पराक आ॥"[६-ख]

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये सप्तमं पटलम्॥

उ० भा० अ०—यक्ष्वा महे, धिष्वा शवः, जनिष्वा देववीतये, अघा त्वं हि, अद्याद्या श्वःश्वः, सचस्वा नः स्वस्तये—इनके भी प्रथम पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। · ······ ·।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यभाष्य में सप्तम पटल समाप्त हुआ।

टि० (क) 'अघ' का द्वितीय अकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'अघ' के बाद में स्थित 'त्वम्' के बाद में 'हि' नहीं है।

(ख) 'सचस्व' का अन्तिम अकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि बाद में स्थित 'नः' के बाद में 'स्वस्तये' नहीं है।

---

[1] ऋ० ६।१५।१८ [2] ऋ० ८।८४।६ [3] ऋ० १०।६१।२२
[4] ऋ० ८।६१।१७ [5] ऋ० १।१।९ [6] ऋ० १।१२९।९

---

८ : प्लुति-पटलम् (२)

अन्तःपादं पदान्तह्रस्वस्य दीर्घभावः

एकादशाक्षरद्वादशाक्षरयोः पादयोरष्टमाक्षरस्य

दशमाक्षरस्य च दीर्घभावः

अष्टाक्षरे पादे षष्ठाक्षरस्य दीर्घभावः

ऊने पादे क्षैप्रवर्ण-प्रश्लिष्टादीनाम् अन्तर्विभागेन पादपूरणम्

षष्ठाष्टमदशमाक्षराणां दीर्घभावेऽपवादाः

पादान्ते ह्रस्वस्य दीर्घभावः

(अन्तःपादं पदान्तह्रस्वस्य दीर्घभावः)

अन्तःपादं विग्रह एष्वपृक्त
उकारो व्रजस्य सु धा नमोभिः
शुचिं पवित्रं तु महीर्नु चाप्लुतं
सुतस्येति ॥१॥

(पाद के मध्य में पदान्त ह्रस्व का दीर्घ होना)

सू० अ०—पाद के मध्य में विद्यमान तथा 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ ('अपृक्त') उकार ('दीर्घ' हो जाता है), यदि असमस्त ये (पद) बाद में हों—'व्रजस्य', 'सु', धाः', 'नमोभिः', 'शुचिम्', 'पवित्रम्', 'तु', 'महीः', दीर्घत्व को अप्राप्त ('अप्लुत') 'नु' और 'सुतस्य'।

उ० भा०—अन्तःपादं विधिर्भविष्यति यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः विग्रहे च भविष्यति। अपृक्तः=अव्यञ्जनः; उकारः प्लवते व्रजस्य, सु, धाः, नमोभिः, शुचिम्, पवित्रम्, तु, महीः, नु चाप्लुतम्, सुतस्य—इत्येतेषु परेषु। व्रजस्य—"व्यू व्रजस्य तमसः।"[१] सु—"अस्या ऊ षु ण उप सातये।"[२] धाः—"शंसात्युक्थं यजते व्यू धाः।"[३] नमोभिः—"होता तमू नमोभि।"[४] शुचिम्—"तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसम्।"[५] पवित्रम्—"अत्यू पवित्रमक्रमीत्।"[६] तु—"मायामू तु यज्ञियानामेताम्।"[७] महीः—"कदू महीरधृष्टा अस्य।"[८] नु चाप्लुतम्—"समू नु पत्नीर्वृषभिः।"[९-क] अप्लुतम् इति कस्मात्? "किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये।"[१०-ख] सुतस्य—"त ऊ सुतस्य सोम्यस्य।"[११] अन्तःपादम् इति कस्मात्? "किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ"[१२-ग], "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्याम्॥"[१३-घ]

टि० (क) सूत्र में उक्त सभी शर्तें पूरी होने के कारण उपर्युक्त सभी उदाहरणों में उकार 'दीर्घ' हो गया है।

(ख) यहाँ 'उ' पद 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'उ' पद के बाद में 'नु' ('ह्रस्व') के स्थान पर आया हुआ 'नू' ('दीर्घ') (='प्लुत') विद्यमान है।

(ग) किम्। न। उत्ऽउत्। ॐ इति। हर्षसे। दातवै। ॐ इति॥ प० पा०
यद्यपि प्रथम उकार पाद के मध्य में विद्यमान है तथापि यह उकार संहिता-पाठ में 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि इसके बाद में सूत्र में उक्त कोई भी पद

---

[१] ऋ० ४।५१।२ [२] ऋ० १।१३८।४ [३] ऋ० ४।६।११
[४] ऋ० १।७७।२ [५] ऋ० २।३५।३ [६] ऋ० ९।४५।४
[७] ऋ० १०।८८।६ [८] ऋ० ८।६६।१० [९] ऋ० १।१७९।२
[१०] ऋ० ६।९।६ [११] ऋ० १०।९४।८ [१२] ऋ० ४।२१।९
[१३] ऋ० १।१३९।११

उ० भा० अ०—इसके बाद में जो कहेंगे वह विधान; अन्तःपादम्[क]=पाद के मध्य में; होगा और; विग्रहे=असमस्त पद होने पर; होगा। अपृक्तः='व्यञ्जन' से न मिला हुआ; उकारः=उकार; 'दीर्घ' हो जाता है, यदि ये बाद में हो—व्रजस्य, सु, धाः, नमोभिः शुचिम्, पवित्रम्, तु, मही; नु चाप्लुतम्=दीर्घत्व ('प्लुति') को अप्राप्त (अर्थात् 'ह्रस्व' से 'दीर्घ' न बना हुआ) नु और सुतस्य; (अर्थात् उकार 'दीर्घ' हो जाता है यदि (१) उकार पाद के मध्य में विद्यमान हो, (२) सूत्र में उक्त पदो में से कोई भी एक पद इस उकार के बाद में असमस्त रूप से स्थित हो और (३) यह उकार 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ अर्थात् स्वतन्त्र पद हो)।

उ० भा०—"अच्छेति विग्रहे"[1] इति प्रकृते विग्रहाधिकारे पुनर्विग्रहग्रहणमुदयविशेषणार्थं क्रियते। तस्मात्—"सुपुत्र आदु सुस्नुषे"[2]—इत्यत्रोकारस्य दीर्घत्वं न भवति। यद्युदयविशेषणार्थं विग्रहग्रहणम्—"त्वं सु मेषं महया स्वर्विदम्"[3] इत्येवमादिषु न सिद्धयति। अत्रापि वचनप्रामाण्यात्सिद्धम्। अथापि क्वचिदपि वचनस्यावकाशान्न सिद्धमिति तथापि न दोषः। उदयविशेषणार्थमिह निवृत्तमिति व्याख्यास्यामः। एषु इति कस्मात्? "अस्मा इदु सप्तिमिव।"[4] अपृक्तः इति कस्मात्? "सहो न सोम पृत्सु धाः॥"[5]

उ० भा० अ०—"विग्रह में वर्तमान होने पर (अर्थात् असमस्त पद होने पर) 'अच्छ' 'दीर्घ' हो जाता है"—इस (सूत्र) से विग्रह का अधिकार प्रस्तुत होने पर भी (इस सूत्र में) पुन. विग्रह का ग्रहण परवर्ती (पद) के विशेषण के लिए किया गया है।[ख] इसलिए—"सुपुत्र

(४७३ ग) नही है। द्वितीय उकार भी संहिता-पाठ में 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि (१) यह पाद के मध्य में न होकर पाद के अन्त में विद्यमान है और (२) इसके बाद में सूत्र में उक्त कोई पद भी नही है।

(घ) ये। देवास। दिवि। एकादश। स्थ।
पृथिव्याम्।··· ···· ··· ॥ प० पा०

'स्थ' के अकार में ८।१५ से प्रसक्त दीर्घत्व नही हुआ ह क्योंकि यह पाद के अन्त में विद्यमान है।

टि० (क) ७।३३ से अनुवृत्त 'पादादौ' के अधिकार की यहाँ निवृत्ति हो गई है। इस सूत्र (८।१) से 'अन्त.पादम्' का अधिकार चलता है जो ८।४७ तक प्रवृत्त रहेगा।

(ख) ७।६ में 'विग्रह' पद का ग्रहण 'दीर्घ' होने वाले पद के विशेषण के लिए किया गया था जिससे असमस्त ही 'अच्छ' इत्यादि पद 'दीर्घ' होते हैं। प्रस्तुत सूत्र (८।१) में 'दीर्घ' होने वाले पद के परवर्ती पद के विशेषण के लिए 'विग्रह' पद का ग्रहण किया गया है। अत प्रस्तुत सूत्र से 'उ' इत्यादि कोई पद तभी 'दीर्घ' होता है जब उसके बाद में असमस्त 'व्रजस्य' आदि कोई पद विद्यमान होवे।

---

[1] ७।६ [2] ऋ० १०।८६।१३ [3] ऋ० १।५२।१
[4] ऋ० १।६१।५ [5] ऋ० ९।८।८

आदु सुस्तुषे"—यहाँ पर उकार का दीर्घत्व नहीं होता है।[क] (पू०) यदि परवर्ती (पद) के विशेषण के लिए विग्रह का ग्रहण (किया गया है) तो—"त्यं सु मेष महया स्वर्विदम्"[ख] इत्यादि में (दीर्घत्व) सिद्ध नहीं होता है। (सि०) यहाँ भी वचन के प्रामाण्य से (अर्थात् सूत्र के द्वारा विधान किये जाने से) 'दीर्घत्व' सिद्ध है। इसके अतिरिक्त यदि कहीं वचन (=विधान) के अभाव में (दीर्घत्व) सिद्ध भी न हो तो कोई दोष नहीं। (ऐसे स्थलों पर) हम यह व्याख्या करेंगे कि यहाँ पर "परवर्ती (पद) के विशेषण के लिए"—यह अधिकार निवृत्त हो गया है।[ग] "ये (पद) बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "अस्मा इदु सप्तिमिव।"[घ] "'व्यञ्जन' से न मिला हुआ (अर्थात् स्वतन्त्र पद के रूप में अवस्थित) (उकार)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "सहो न. सोम पृत्सु धाः।"[ङ]

यद्युदयोदया न।

सोमसुतिं चर्किराम स्तवाम

स्तवाना गृभाय रथं श्रुधीति ॥२॥

सू० अ०—(८।१ से उकार केवल तभी 'दीर्घ' होता है यदि (उकार) के बाद में आने वाले ('प्रजस्य' आदि पदों) के बाद में ये (पद) न हों—'सोमसुतिम्', 'चर्किराम', 'स्तवाम', 'स्तवाना', 'गृभाय', 'रथम्' (और) 'श्रुधि'।

टि० (क) सुऽपुत्रे। जात्। ऊँ इति। सुऽस्तुषे॥ प० पा०

यहाँ ८।१ से उकार संहिता-पाठ में 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि उकार के बाद में 'सु' पद 'स्तुषे' के साथ समस्त है।

(ख) त्यम्। सु। मेषम्। महय। स्वःऽविदम्॥ प० पा०

पूर्वपक्षी का कहना है कि यहाँ 'महय' को ८।१३ से 'दीर्घ' नहीं होना चाहिए था क्योंकि 'महय' के बाद में ऐसा 'स्व.' पद विद्यमान है जो 'विदम्' के साथ समस्त है।

(ग) भाष्यकार का कहना है कि यद्यपि 'महय' के बाद में असमस्त 'स्वः' पद विद्यमान नहीं है तथापि 'महय' पद 'दीर्घ' हो जाता है क्योंकि ८।१३ में यह विशेष विधान किया गया है कि 'स्व' (समस्त या असमस्त) बाद में होने पर 'महय' 'दीर्घ' हो जाता है। यदि कोई ऐसा उदाहरण भी हो जिसमें समस्त पद बाद में होने पर भी पूर्ववर्ती पद का 'दीर्घत्व' प्रस्तुत सूत्र से ही प्राप्त हुआ हो तब भी यह व्याख्या करेंगे कि "परवर्ती पद के विशेषण के लिए"—यह अधिकार इस स्थल पर निवृत्त हो गया है। इस स्थल को छोड़कर अन्यत्र यह अधिकार लगता है।

(घ) अस्मै। इत्। ऊँ इति। सप्तिम्ऽइव॥ प० पा०

उकार संहिता-पाठ में 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि इसके बाद में प्रस्तुत सूत्र उक्त कोई भी पद नहीं है।

(ङ) सह.। न। सोम। पृत्ऽसु। धा.॥ प० पा०

'धा' बाद में होने पर भी उकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि यहाँ उकार 'व्यञ्जन' (=सकार) से मिला हुआ है अर्थात् उकार स्वतन्त्र पद नहीं है।

उ० भा० —यदि (उद्योदया:) व्रजस्य इत्येवमादीनामेत उदयाः न भवन्त्यथ उकारः प्लवते—सोमसुतिम्, चर्किराम, स्तवाना, गृभाय, रथम्, श्रुधि इति। सोमसुतिम्—"इमामु षु सोमसुतिम्।"[१-क] चर्किराम—"दधिक्राव्ण इदु नु चर्किराम।"[२] स्तवाम—"आशुं दधिक्रां तमु नु ष्टवाम।"[३] स्तवाना—"इन्द्राविष्णू नृवदु षु स्तवाना।"[४] गृभाय—"अवर्वीर्वर्षमुदु षू गृभाय।"[५] रथम्—"युवोरु षू रथं हुवे।"[६] श्रुधि—"इमा उ षु श्रुधी गिरः॥"[७]

उ० भा० अ० - यदि; (उदयोदया:=बाद म आने वाले के बाद में=) 'व्रजस्य' इत्यादि के बाद में ये, न=नहीं; होते हैं तब उकार 'दीर्घ' होता है—सोमसुतिम्, चर्किराम स्तवाना, गृभाय, रथम् (और) श्रुधि; (अर्थात् ८।१ में उक्त 'व्रजस्य' इत्यादि कोई पद बाद में होने पर 'उ' पद तभी 'दीर्घ' होता है जब 'व्रजस्य' इत्यादि के बाद में प्रस्तुत सूत्र में उक्त 'सोमसुतिम्' इत्यादि पदों में से कोई भी न हो)। ।

ते अस्ति ते महिमनः प्र वोचत
प्र वोचं नः सुमना द्वैपदाश्च ॥३॥

सू० अ०—(उसी प्रकार ८।१ से उकार तभी 'दीर्घ' होता है यदि उकार के बाद में आने वाले 'व्रजस्य' इत्यादि पदों के बाद में) 'ते अस्ति', 'ते महिमनः', 'प्र वोचत', 'प्र वोचम्' और 'नः सुमनाः'—ये द्वैपद भी (न हों)।

उ० भा० ते अस्ति, ते महिमनः, प्र वोचत, प्र वोचम्, नः सुमनाः—इमे द्वैपदा उदयोदया यदि चेन्न भवन्त्यथ उकारः प्लवते। ते अस्ति —"इन्द्र य उ नु ते अस्ति।"[८-ख] अस्ति इति कस्मात्? "आदू नु ते अनु क्रतुम्।"[९-ग] ते महिमनः—"क उ नु ते महिमनः समस्य।"[१०] महिमनः इति कस्मात्? "आदू नु ते अनु क्रतुम्"[११] प्र वोचत—"न तस्य

टि० (क) इमाम्। ऊँ इति। सु। सोमऽसुतिम्॥ प० पा०
यहाँ ८।१ में उक्त 'सु' पद बाद में होने पर भी उकार ८।१ के अनुसार 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि परवर्ती 'सु' के बाद में ८।२ में उक्त 'सोमसुतिम्' पद विद्यमान है। सभी उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।
(ख) ८।१ में उक्त 'नु' पद बाद में होने पर भी उकार ८।१ से 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि परवर्ती 'नु' के बाद में ८।३ में उक्त 'ते अस्ति' द्वैपद विद्यमान है। सभी उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।
(ग) 'नु' पद बाद में होने पर उकार ८।१ के अनुसार 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि परवर्ती 'नु' के बाद में 'ते अस्ति' ये दो पद नहीं अपितु एक ही पद 'ते' विद्यमान है। सभी प्रत्युदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

---

१ ऋ० ७।९३।६ २ ऋ० ४।४०।१ ३ ऋ० ४।३९।१
४ ऋ० ४।५५।४ ५ ऋ० ५।८३।१० ६ ऋ० ८।२६।१
७ ऋ० १।२६।५ ८ ऋ० ८।८१।८ ९ ऋ० ८।६३।५
१० ऋ० १०।५४।३ ११ ऋ० ८।६३।५

विप्र तदु षु प्र वोचत ।"[१] वोचत इति कस्मात्? "पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये ।"[२] प्र वोचम्—"अभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम् ।"[३] वोचम् इति कस्मात्? पर्यू षु प्र धन्व ।"[४] नः सुमनाः—"उशन्तु षू णः सुमनाः ।"[५] सुमनाः इति कस्मात्? "अस्या ऊ षु ण उप ॥"[६]

उ० भा० अ०—ते अस्ति, ते महिमनः, प्र वोचत, प्र वोचम् और नः सुमनाः—ये, द्वैपदाः (च)=द्वैपद (भी); यदि (उकार के) बाद में आने वाले ('व्रजस्य' इत्यादि) के बाद में नहीं होते तो उकार 'दीर्घ' होता है, (अर्थात् ८।१ में उक्त 'व्रजस्य' इत्यादि कोई पद बाद में होने पर उकार तभी 'दीर्घ' होता है जब ८।१ में 'व्रजस्य' इत्यादि के बाद में प्रस्तुत सूत्र में उक्त 'ते अस्ति' इत्यादि द्वैपदों में से कोई भी न हो) । ··· ··· ।

महे दधिध्वं तिर मुञ्च नो मृध-
श्चर नमध्वं नम ते नयन्त ।
स्वित्येतेषु ॥४॥

सू० अ०—'महे', 'दधिध्वम्', 'तिर', 'मुञ्च', 'नः', 'मृधः', 'चर', 'नमध्वम्', 'नम', 'ते' (और) 'नयन्त'—ये बाद में हों तो 'सु' ('दीर्घ' हो जाता है) ।

उ० भा०—महे, दधिध्वम्, तिर, मुञ्च, नः, चर, नमध्वम्, नम, ते, नयन्त—इत्येतेषु प्रत्ययेषु सु इत्येतत्प्लवते। महे—"प्र सू महे सुशरणाय ।"[७] दधिध्वम्—"नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम् ।"[८] तिर—"प्र सू तिरा शचीभिर्ये त उक्थिनः ।"[९] मुञ्च—"वि षू मुञ्चा सुषुवुषः ।"[१०] नः—"अध प्र सू न उप यन्तु ।"[११] मृधः—"वि षू मृधः शिश्रथः ।"[१२] चर—"वि षू चर स्वधा अनु ।"[१३] नमध्वम् "नि षू नमध्वं भवता सुपाराः ।"[१४] नम—"नि षू नमातिमतिं कयस्य ।"[१५] ते—"प्र सू त इन्द्र प्रवता ।"[१६] नयन्त—"प्र सू नयन्त गृभयन्त इष्टौ ॥"[१७]

उ० भा० अ०—महे, दधिध्वम्, तिर, मुञ्च, नः, मृधः, चर, नमध्वम्, नम, ते, नयन्त—इत्येतेषु=ये (पद) बाद में हो तो; सु—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है । ।

एकाक्षरयोः पराणि चे-
दुपेन्द्राग्नेऽत्राध्वरमायुरेत्विति ॥५॥

सू० अ०—(८।४ में उक्त पदों में) एक अक्षर वाले दो (पदों) (='नः' और 'ते') के बाद में यदि—'उप', 'इन्द्र', 'अग्ने', 'अत्र', 'अध्वरम्' 'आयुः' (और) 'एतु' हो तो (तभी 'सु' 'दीर्घ' होता है) ।

---

[१] ऋ० १०।४०।११ [२] ऋ० ९।११०।१ [३] ऋ० १।१६४।२६
[४] ऋ० ९।११०।१ [५] ऋ० ४।२०।४ [६] ऋ० १।१३८।४
[७] ऋ० ५।४२।१३ [८] ऋ० १०।१०१।११ [९] ऋ० ८।५३।६
[१०] ऋ० १०।९४।१४ [११] ऋ० १।१३९।१ [१२] ऋ० २।२८।७
[१३] ऋ० ८।३२।१९ [१४] ऋ० ३।३३।९ [१५] ऋ० १।१२९।५
[१६] ऋ० ३।३०।६ [१७] ऋ० १।१४८।३

उ० भा० – एषु प्रत्ययेषु यावेकाक्षरौ नः ते इति तयोः (एकाक्षरयोः=) पराणि उप, इन्द्र, अग्ने, अत्र, अध्वरम्, आयुः, एतु—इति (चेत्=) यदीमानि, भवन्त्यथ सु प्लवते। उप —"अध प्र सू न उप यन्तु।"[१] इन्द्र—"मो षू ण इन्द्रात्र"[२], "प्र सू त इन्द्र प्रवता।"[३] अग्ने—"ओ षू णो अग्ने शृणुहि।"[४] अत्र—"मो षू णो अत्र जुहुरन्त।"[५] अध्वरम्—"जुषस्व सू नो अध्वरम्।"[६] आयुः —'प्र सू न आयुर्जीवसे।"[७] एतु—"प्र सू न एत्वधरः।"[८] एकाक्षरयोः पराणि चेत् इति कस्मात्? "मो षु णः परापरा"[९], "तां सु ते कीर्त्तिम्॥"[१०-क]

उ० भा० अ०—('सु' को) बाद में आने वाले (८।४ में उक्त) इन ('महे' इत्यादि) में जो एक 'अक्षर' वाले दो पद 'न' और 'ते' है (एकाक्षरयोः=एक 'अक्षर' वाले) इन दो के; पराणि=बाद में; उप, इन्द्र, अग्ने, अत्र, अध्वरम्, आयुः, (और) एतु-इति (चेत्=) यदि ये, होते हैं तो 'सु' 'दीर्घ' हो जाता है; (अर्थात् 'सु' तभी 'दीर्घ' होता है जब (१) 'न' और 'ते' पद बाद में हों और (२) 'न' और 'ते' के बाद में प्रस्तुत सूत्र में उक्त कोई पद हो)। ... ...।

सदेत्येतद्योनिषुपीतयेपरम् ॥६॥

सू० अ०—'योनिषु' (और) 'पीतये' बाद में हों तो 'सद' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—सद इत्येतत्प्लवते योनिषु पीतये इत्येवपरं सत्। योनिषु—"उशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।"[११] पीतये— नि षदा पीतये मधु॥"[१२]

उ० भा० अ०—सद—यह 'दीर्घ' हो जाता है, योनिषु, पीतये—ये, परम्= बाद में हो तो। .. ।

धन्वेत्येतत्सोम राट् पूयमानः ॥७॥

सू० अ०—'सोम', 'राट्' (और) 'पूयमानः' बाद में हों तो 'धन्व'—यह ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—धन्व इत्येतत् प्लवते सोम, राट्, पूयमानः—इत्येतेषु परेषु। सोम— "प्र धन्वा सोम जागृविः।"[१३] राट्—"ऋणो न तायुरति धन्वा राट्।"[१४] पूयमानः— "अभि स्वर धन्वा पूयमानः॥"[१५]

टि० (क) इन दोनो प्रत्युदाहरणो में 'सु' का उकार ८।४ से 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि परवर्ती 'न' और 'ते' के बाद में ८।५ में उक्त कोई भी पद नहीं है।

---

१ ऋ० १।१३९।१
२ ऋ० १।१७३।१२
३ ऋ० ३।३०।६
४ ऋ० १।१३९।७
५ ऋ० ३।५५।२
६ ऋ० ३।२४।२
७ ऋ० ८।१८।२२
८ ऋ० ८।२७।३
९ ऋ० १।३८।६
१० ऋ० १०।५४।१
११ ऋ० २।३६।४
१२ ऋ० ८।९७।८
१३ ऋ० ९।१०६।४
१४ ऋ० ६।१२।५
१५ ऋ० ९।९७।३

उ० भा० अ०—धन्व; इत्येतत्=यह; 'दीर्घ' हो जाता है; सोम, राट्, पूयमानः—ये बाद में हों तो। ... ।

यदीति कृथो मनसः कवीनां
सबन्धवो गोः सरमेति तेषु ॥८॥

सू० अ०—'कृथः', 'मनसः', 'कवीनाम्', 'सबन्धवः', 'गोः' (और) 'सरमा'—ये बाद में हों तो 'यदि' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—यदि इत्येतत्प्लवते कृथः, मनसः, कवीनाम्, सबन्धवः, गोः, सरमा—(इति तेषु=) इत्येतेषु प्रत्ययेषु। कृथः—"युवा यदी कृथः पुनः।"[1] मनसः—"तक्षद्यदी मनसः।"[2] कवीनाम्—"गुहा यदी कवीनाम्।"[3] सबन्धवः—"गिरा यदी सबन्धवः।"[4] गोः—"स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोः।"[5] सरमा—"विदद्यदी सरमा॥"[6]

उ० भा० अ०—यदि—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है; कृथः, मनसः, कवीनाम्, सबन्धवः, गोः, सरमा—(इति तेषु=) ये (पद) बाद में हों तो। ... . ।

चरेति पुष्टिं सोम चर्षणिप्राः ॥९॥

सू० अ०—'पुष्टिम्', 'सोम' (और) 'चर्षणिप्राः' बाद में हों तो 'चर' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—चर इत्येतत्प्लवते पुष्टिम्, सोम, चर्षणिप्राः—इत्येतेषु परेषु। पुष्टिम्—"रेवां इव प्र चरा पुष्टिमच्छ।"[7] सोम—"अवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान्।"[8] चर्षणिप्राः—"विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः॥"[9]

उ० भा० अ०—चर—यह 'दीर्घ' हो जाता है; पुष्टिम्, सोम, चर्षणिप्राः—ये बाद में हों तो। . ..।

जनिमेति हन्ति सं जातवेदाः ॥१०॥

सू० अ०—'हन्ति', 'सम्' (और) 'जातवेदाः' बाद में हों तो 'जनिम' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—जनिम इत्येतत्प्लवते हन्ति, सम्, जातवेदा—इत्येतेषु परेषु। हन्ति—"विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम्।"[10] सम्—"विश्वेदेते जनिमा सं विविक्तः।"[11] जातवेदाः—"विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः॥"[12]

उ० भा० अ०—जनिम—यह ('दीर्घ' हो जाता है), हन्ति, सम् (और) जातवेदाः—ये बाद में हों तो। . ।

---

[1] ऋ० ५।७४।५ [2] ऋ० ९।९७।२२ [3] ऋ० १०।२२।१०
[4] ऋ० ९।१४।२ [5] ऋ० १०।१२।३ [6] ऋ० ३।३१।६
[7] ऋ० ८।४८।६ [8] ऋ० १।९१।१९ [9] ऋ० ७।३१।१०
[10] ऋ० ३।३१।८ [11] ऋ० ३।५४।८ [12] ऋ० ६।१५।१३

रन्धयेति येषुकंशासदुत्तरम् ॥११॥

सू० अ०—'येषु', 'कम्', (और) 'शासत्' बाद में हों तो 'रन्धय' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—रन्धय इत्येतत्प्लवते येषु, कम्, शासत् इत्येवम् उत्तरम्। येषु—"एभ्यो नृभ्यो रन्धया येष्वस्मि।"[१] कम्—"मुन्वद्रुधो रन्धया कं चिदव्रतम्।"[२] शासत्—"बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्॥"[३]

उ० भा० अ०—रन्धय—यह 'दीर्घ' हो जाता है; येषु, कम् (और) शासत्—ये; उत्तरम्=बाद में हो तो।

न नःकारे स्विन्त्युपसातयेपरे ॥१२॥

सू० अ०—'उप सातये' है बाद में जिसके ऐसा 'नः' बाद में हो तो 'सु' ('दीर्घ') नहीं होता है।

उ० भा०—न खलु सु इत्येतत्प्लवते नःकारे प्रत्यये उपसातये इत्येवंपरे सति। उप सातये—"अस्मा ऊ षु ण उप सातये।"[४-क] सातये इति किम्? "अध प्र सू न उप यन्तु॥"[५-ख]

उ० भा० अ०—उपसातये='उप सातये' यह, परे=बाद में है जिसके ऐसा; नःकारे='नः' बाद में हो तो, सु—यह, न=नहीं, 'दीर्घ' होता है, (अर्थात् 'न' पद बाद में होने पर 'सु'—यह पद ८।४ के अनुसार 'दीर्घ' होता है किंतु यदि परवर्ती 'न' पद के बाद मे 'उप सातये' होवे तो 'सु' 'दीर्घ' नही होगा)।

महयात्र जय काव्येन गृर्धय
भरेति स्वरिति प्रत्यये षट् ॥१३॥

सू० अ०—'स्वः'—यह बाद मे हो तो 'महय', 'जय', 'काव्येन', 'गृर्धय' (और) 'भर'—ये छः (पद 'दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—महय, अत्र, जय, काव्येन, गृर्धय, भर—इत्येतानि षट् प्लवन्ते स्वः इत्येतस्मिन् प्रत्यये। महय—"त्य मु मेष महया स्वर्विदम्।"[६] अत्र—"अस्माकेभिर्नृभिरत्रा स्वर्जय।"[७] जय—"हनो वृत्र जया स्वः।"[८] काव्येन—"विप्रः कवि

टि० (क) यह सूत्र ८।४ का अपवाद है। परवर्ती 'नः' (णः) के बाद में 'उप सातये' होने के कारण 'सु' का उकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है।

(ख) 'सु' का उकार ८।४ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि परवर्ती 'न' के बाद में 'उप सातये'—ये दो पद—न होकर केवल 'उप' पद विद्यमान है।

---

[१] ऋ० ६।१९।१२ [२] ऋ० १।१३२।४ [३] ऋ० १।५१।८
[४] ऋ० १।१३८।४ [५] ऋ० १।१३९।१ [६] ऋ० १।५२।१
[७] ऋ० ८।१५।१२ [८] ऋ० ८।८९।४

काव्येना स्वर्वनाः ।"[१] गूर्धय—"तं गूर्धया स्वर्णरम् ।"[२] भर—"द्युमन्तं शुष्ममा भरा स्वर्विदम् ॥"[३]

उ० भा० अ०—मह्य, अत्र, जय, काव्येन, गूर्धय (और) भर—ये; षट्=छः; 'दीर्घ' हो जाते हैं; स्वः—यह (पद); प्रत्यये=बाद में होने पर।................ ।

मद पर्ष पिपृत धन्व यच्छत ।
रुहेमेति स्वस्तयउत्तराणि ॥१४॥

सू० अ०—'स्वस्तये' बाद में हो तो 'मद', 'पर्ष', 'पिपृत', 'धन्व', 'यच्छत' (और) 'रुहेम' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—मद, पर्ष, पिपृत, धन्व, यच्छत, रुहेम—इत्येतानि प्लवन्ते स्वस्तये इत्येवम्—उत्तराणि। मद—"तां आदित्यां अनु मदा स्वस्तये।"[४] पर्ष—"अति पर्षा स्वस्तये।"[५] पिपृत—"अद्या देवास पिपृता स्वस्तये।"[६] धन्व—"परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये।"[७] यच्छत—"उरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये।"[८] रुहेम "अरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये॥"[९]

उ० भा० अ०—मद, पर्ष, पिपृत, धन्व, यच्छत, रुहेम—ये 'दीर्घ' हो जाते हैं; स्वस्तये—यह; उत्तराणि=बाद में हो तो। ....

दधिम मदत तन्वि सिञ्चत
स्तव वदतानज रक्षतोक्षत ।
पिपृत पृणत पृच्छत प्रुष
स्थ घ हिनवाय जुहोत पश्यत ॥
चक्रमाकुत्र भूम स्म शिशीत स्तोत पप्तत ।
यथोदयानि सर्वाणि ॥१५॥

सू० अ०—'दधिम', 'मदत', 'तन्वि', 'सिञ्चत', 'स्तव', 'वदत', 'अनज', 'रक्षत', 'उक्षत', 'पिपृत', 'पृणत', 'पृच्छत', 'प्रुष' 'स्थ' 'घ' 'हिनव', 'अय', 'जुहोत', 'पश्यत', 'चक्रम', 'अकुत्र' 'भूम', 'स्म', 'शिशीत' 'स्तोत' (और) 'पप्तत'—ये शब्द ('दीर्घ' हो जाते हैं), चाहे (इनके) बाद मे कोई भी शब्द हो।

उ० भा० दधिम, मदत, तन्वि, सिञ्चत, स्तव, वदत, अनज, रक्षत, उक्षत, पिपृत, पृणत, पृच्छत, प्रुष, स्थ, घ, हिनव अय जुहोत, पश्यत, चक्रम, अकुत्र, भूम, स्म, शिशीत, स्तोत, पप्तत—इत्येतानि सर्वाणि यथोदयानि प्लवन्ते।

---

१ ऋ० ९।८४।५ २ ऋ० ८।१९।१ ३ ऋ० ९।१०६।४
४ ऋ० १०।६३।३ ५ ऋ० १।९७।८ ६ ऋ० १०।६३।८
७ ऋ० ९।७५।५ ८ ऋ० १०।६३।१२ ९ ऋ० १०।६३।१४

दृधिम —"यस्मिन्वयं दधिमा शसम् ।"[१] मदत—"इन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वः ।"[२] तन्वि—"न ध्वस्मानस्तन्वी रेपः ।"[३] सिञ्चत—"आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः ।"[४] स्तव—"इन्द्रं स्तवा नृतमम् ।"[५] वदत "रोदसी आ वदता गणश्रिय ।"[६] अनज—"इन्द्रं वाचमनजा पर्वतच्युते ।"[७] रक्षत "पूर्भी रक्षता मरुतः ।"[८] उक्षत—"घृतमुक्षता मधुवर्णम् ।"[९] पिपृत—"निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।"[१०] पृणत—"सोमेभिरीं पृणता भोजमिन्द्रम् ।"[११] पृच्छत—"तं पृच्छता स जगाम ।"[१२] प्रुष—"अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु ।"[१३] स्थ—"के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमाः ।"[१४] घ—"न घा स मामप जोषत् ।"[१५] हिनव—"प्र तत्ते हिनवा यत्ते ।"[१६] अय "नांहसतो निरया दुर्गहैतत् ।"[१७] जुहोत—"आ जुहोता दुवस्यत ।"[१८] पश्यत "तदस्येदं पश्यता भूरि ।"[१९]

चकृम— 'वयं हि ते चकृमा भूरि ।"[२०] अकुत्र—"माकुत्रा नो गृहेभ्य ।"[२१] भूम—"द्यावा च भूमा जनुषः ।"[२२] स्म—'उत स्मा सद्य इत्परि ।"[२३] शिशीत—"तं शिशीता सुवृक्तिभि ।"[२४] स्तोत—"इन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भि. ।"[२५] पप्तत—"वयो न पप्तता सुमायाः ॥"[२६]

उ० भा० अ०—दृधिम पप्तत—ये, सर्वाणि=सब, 'दीर्घ' हो जाते हैं, यथोदयानि=चाहे (इनके) बाद में कोई भी शब्द हो । ।

त्विति चैकाक्षरोपधम् ॥१६॥

सू० अ०—एक 'अक्षर' वाला (पद) पूर्व मे हो तो 'तु' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—तु इत्येतद् चैकाक्षरोपधं प्लवते । "आ तू न उप गन्तन ।"[२७] एकाक्षरोपधमिति किमर्थम् ? "पिबा तु सोम गोऋजीकम् ॥"[२८]

उ० भा० अ०—एकाक्षरोपधम्=एक अक्षर' वाला (पद) पूर्व मे हो तो, तु—यह, च=भी, 'दीर्घ' हो जाता है । (उदाहरण) 'आ तू न उप गन्तन ।" 'एक 'अक्षर' वाला (पद) पूर्व में हो तो"—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "पिबा तु सोम गोऋजीकम् ।"[क]

टि० (क) 'तु' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि इसके पूर्व में एक 'अक्षर' वाला पद न होकर दो अक्षरो वाला पद (पिब) है।

---

१ ऋ० १०।४७।६ — ऋ० १।५३।१ — ३ ऋ० ८।६।६
[illegible] ऋ० २।१४।१ — [illegible] ऋ० १०।८०।१ — ६ ऋ० १।६४।९
[illegible] ऋ० ५।५८।१ — [illegible] ऋ० १।१६६।८ — ९ ऋ० १।८७।२
१० ऋ० १।११५।६ — [illegible] ऋ० २।१४।१० — १२ ऋ० १।१४५।१
[illegible] ऋ० १०।७७।[illegible] — [illegible] ऋ० ५।६३।१ — १५ ऋ० ४।२७।२
१६ ऋ० १०।९५।१३ — १७ ऋ० ४।१८।२ — १८ ऋ० ५।२८।६
१७ ऋ० १।१०३।५ — २० ऋ० ८।८६।२५ — २२ ऋ० १।१२०।८
२ ऋ० १।६१।१४ — २३ ऋ० ८।३३।८ — २६ ऋ० ८।८०।१०
२४ ऋ० ८।१६।१ — २७ ऋ० १।८८।१
[illegible] ऋ० [illegible]।७।११ — २८ ऋ० ६।२३।७

कदा हरिवो वरुणस्य चक्रतुः

सूर्य्यस्य निष्ट्या इव भूम तेषु न ॥१७॥

सू० अ०—'कदा' 'हरिवः', 'वरुणस्य', 'चक्रतुः', 'सूर्य्यस्य' (और) 'निष्ट्या इव'—ये बाद में हों तो 'भूम' ('दीर्घ') नहीं (होता है)।

उ० भा०—कदा, हरिवः, वरुणस्य चक्रतुः सूर्यस्य, निष्ट्या इव—इति (तेषु=) एतेषु प्रत्ययेषु; भूम इत्येतन्न प्लवते। कदा—"सूने भूम कदा चन।"[1] हरिवः—"अघाय भूम हरिव।"[2] वरुणस्य—"मा हेळे भूम वरुणस्य।"[3] चक्रतुः—"सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुः।"[4] सूर्यस्य—"मा सूने भूम सूर्यस्य संदृशि।"[5] निष्ट्या इव—"मा भूम निष्ट्या इव॥"[6]

उ० भा० अ० कदा हरिव वरुणस्य, चक्रतुः, सूर्यस्य, निष्ट्या इव; (तेषु=) ये बाद में हो तो, भूम—यह, न=नहीं, दीर्घ होता है।[क] ....।

वस्त्राणि हि वावधे यज्ञियानां

ते दंसो द्वे नः स च शक्र तेषु तु ॥१८॥

सू० अ०—'वस्त्राणि' 'हि', 'वावधे' 'यज्ञियानाम्', 'ते दंसः' (ये) दो (पद) और 'नः सः' (ये दो पद) और 'शक्र'—ये बाद में हो तो 'तु' ('दीर्घ' नहीं होता है)।

उ० भा०—वस्त्राणि हि वावधे, यज्ञियानाम्, ते दंसो द्वे, नः स च, शक्र इति, (तेषु=) एतेषु प्रत्ययेषु; तु इत्येतन्न प्लवते। वस्त्राणि—"स तु वस्त्राण्यध पेशनानि।"[७-ख] हि—"अध्वर्यवा तु हि पिञ्च।"[8] वावधे—"वि तु वावधे रोदसी।"[9] यज्ञियानाम्—"मायाम् तु यज्ञियानाम्।"[10] ते दंसो द्वे—"तत्तु ते दंसो यदहन्।"[11] द्वे इति कस्मात्? 'ता तू ते सत्या तुविनृम्ण।"[१०-ग] नः स च—"आ तु नः स वयति गव्यम्।"[13] सः इति कस्मात्? आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।"[14] शक्र—"स्तीर्णं वर्हिरा तु शक्र प्र याहि॥"[15]

टि० (क) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है। ८।१५ से प्राप्त 'भूम' के 'दीर्घ' होने का प्रस्तुत सूत्र में निषेध कर दिया गया है।

(ख) यह सूत्र ८।१६ का अपवाद है।

(ग) यहाँ 'तु' ८।१६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि इसके बाद में 'ते दंसः'—ये दो पद—न होकर एक ही पद 'ते' है।

---

[1] ऋ० १।१०५।३ [2] ऋ० ७।१९।७ [3] ऋ० ७।६२।४
[4] ऋ० १।१५९।२ [5] ऋ० १०।३७।६ [6] ऋ० ८।१।१३
[7] ऋ० १०।१।६ [8] ऋ० ८।३२।२४ [9] ऋ० ६।२९।५
[10] ऋ० १०।८८।६ [11] ऋ० १।६९।४ [12] ऋ० ४।२२।६
[13] ऋ० ८।२१।१० [14] ऋ० ४।३२।१ [15] ऋ० १।१७७।४

उ० भा० अ०—वस्त्राणि, हि, वायधे, यज्ञियानाम्; ते दंसो द्वे='ते दस' (ये) दो (पद); नः स प=' न स.' (ये दो पद) और शक्र—ये (पद) वाद में हों तो; तु—यह 'दीर्घ' नही होता है।···· '··।

चक्रमेति द्वैपदे भूरि दुष्कृतं
वर्धतां विप्रवचसो जिह्वयेति ॥१९॥

सू० अ०—'भूरि दुष्कृतम्' यह द्वैपद, 'वर्धताम्', 'विप्रवचसः' (और) 'जिह्वया' बाद में हों तो 'चक्रम' ('दीर्घ' नहीं होता है)।

उ० भा०—चक्रम इत्येतन्न प्लवते। द्वैपदे भूरि दुष्कृतम्, वर्धताम्, विप्रवचसः, जिह्वया—इत्येतेषु परेषु। भूरि दुष्कृतम्—"न वो गुहा चक्रम भूरि दुष्कृतम्।"[1]-क दुष्कृतम् इति कस्मात्? "वयं हि ते चक्रमा भूरि दावने।"[2]-ख वर्धताम्—"प्राञ्चं यज्ञं चक्रम वर्धताम्।"[3] विप्रवचसः—"आ पुरंदर चक्रम विप्रवचसः।"[4] जिह्वया—"यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु॥"[5]

उ० भा० अ० द्वैपदे भूरि दुष्कृतम्='भूरि दुष्कृतम्'—यह द्वैपद, वर्धताम्, विप्रवचसः, जिह्वया—ये बाद में हों तो चक्रम -यह (पद) 'दीर्घ' नही होता है।'''' ।

काण्वायना निष्कृतीरेतयो स्थ ॥२०॥

सू० अ०—'काण्वायनाः' (और) 'निष्कृतीः'—ये दो वाद में हों तो 'स्थ' ('दीर्घ' नहीं होता है)।

उ० भा०—काण्वायनाः, निष्कृतीः इति एतयोः स्थ इत्येतत्पदं न प्लवते। काण्वायनाः—"सुदेवा स्थ काण्वायनाः।"[1] निष्कृतीः—"अयो यूयं स्थ निष्कृतीः॥"[2]

उ० भा० अ०—काण्वायनाः (और) निष्कृतीः—एतयोः=ये दो वाद में हो तो, स्थ—यह पद 'दीर्घ' नही होता है।[ग]

जाताः सुरथा हवनश्रुतश्च ॥२१॥

सू० अ०—'जाताः', 'सुरथाः,' और 'हवनश्रुतः' भी बाद में हो तो ('स्थ' 'दीर्घ' नहीं होता है)।

टि० (क) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है। ८।१५ से प्राप्त 'चक्रम' के 'दीर्घ' होने का प्रस्तुत सूत्र में निषेध कर दिया गया है।

(ख) यहाँ 'चक्रम' का अन्तिम अकार ८।१५ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'चक्रम' के बाद में स्थित 'भूरि' पद के बाद में 'दुष्कृतम्' पद नही है।

(ग) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है। ८।१५ से प्राप्त 'स्थ' के 'दीर्घ' होने का प्रस्तुत सूत्र में निषेध कर दिया गया है।

---

[1] ऋ० १०।१००।७ [2] ऋ० ८।४६।२५ [3] ऋ० ३।१।२
[4] ऋ० ८।६६।८ [5] ऋ० १०।३७।१२ [6] ऋ० ८।५५।४
[7] ऋ० १०।९७।९

उ० भा०—जाताः, सुरथाः, हवनश्रुतः—इत्येतेषु च प्रत्ययेषु स्थ इत्येतन्न प्लवते। जाताः—"ये स्थ जाता अदिते।"[१] सुरथाः—"स्वश्वा स्थ सुरथा।"[२] हवनश्रुतः—"कद्ध स्थ हवनश्रुतः॥"[३]

उ० भा० अ०—जाताः, सुरथाः (और) हवनश्रुतः—ये; च=भी, बाद में हों तो 'स्थ'—यह 'दीर्घ' नहीं होता है।[क] · ·· ।

सवापरं घेति न कौत्सवैमदम् ॥२२॥

सू० अ०—कुत्स और विमद (ऋषि के सूक्तों) में 'सः' और 'वा' बाद में होने पर 'घ' ('दीर्घ') नहीं (होता है)।

उ० भा०—सः वा इत्येवंपरं घ इत्येतत्पदम्; (कौत्सवैमदम्=) कुत्सस्य विमदस्य वार्षे वर्तमानम्; न प्लवते। सः—"अयं घ स तुरो मदः।"[४-ख] वा—"आ घ वा याभिरश्विनः।"[५] कौत्सवैमदम् इति कस्मात्? "सुनीथो घा स मर्त्यः।"[६-ग] प्रकृतेऽपि प्रतिषेधे नकारः श्लोकपूरणार्थो द्रष्टव्यः॥

उ० भा० अ०—सः (और) वा—ये; परम्=बाद में हों तो; घ—यह पद (कौत्सवैमदम्=) कुत्स के अथवा विमद के सूक्तों में वर्तमान होने पर; न=नहीं; 'दीर्घ' होता है।······ ····। प्रतिषेध के प्रकृत होने पर भी श्लोक की पूर्ति के लिए नकार को समझना चाहिए।[घ]

स्म राशिमित्यादिषु न ॥२३॥

सू० अ०—'राशिम्' इत्यादि (पद) बाद में हों तो 'स्म' ('दीर्घ') नहीं (होता है)।

उ० भा०—स्म इत्येतन्न प्लवते राशिम्; (इत्यादिषु=) इत्येवमादिषु प्रत्ययेषु। राशिमादीनुत्तरत्रोदाहरिष्यामः॥

टि० (क) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है।

(ख) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है।

(ग) यहाँ 'घ' का अकार ८।१५ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि प्रस्तुत मन्त्र न तो कुत्स ऋषि का है और न विमद ऋषि का है। कुत्स ऋ० १।९४-११५ के तथा विमद ऋ० १०।२०-२६ के द्रष्टा हैं।

(घ) अर्थात् निषेध का प्रकरण होने से पुनः इस सूत्र में नकार का ग्रहण करना अनावश्यक था तथापि श्लोक के अक्षरों की पूर्ति के लिए यहाँ नकार का ग्रहण किया गया है।

---

[१] ऋ० १०।६३।२ [२] ऋ० ५।५७।२ [३] ऋ० ८।६७।५
[४] ऋ० १०।२५।१ [५] ऋ० १।११२।१९ [६] ऋ० ८।४६।४

उ० भा० अ०—स्म—यह (पद) 'दीर्घ' नही होता है, राशिम् (इत्यादिपु=) 'राशिम्' इत्यादि बाद में होने पर।[क] 'राशिम्' इत्यादि के उदाहरण बाद में देंगे।

प्रति ष्म च ॥२४॥

सू० अ०—'प्रति' (पूर्व में हो तो तब) भी 'स्म' ('दीर्घ' नहीं होता है)।

उ० भा०—प्रतिपूर्वं च सत् स्म इत्येतन्न प्लवते।[ख] प्रति ष्म—"प्रति ष्म रिषतो दह।"[१] प्रति इति कस्मात्? "नहि ष्मा ते शतम्।"[२-ग]

उ० भा० अ० प्रति पूर्व मे होने पर भी स्म—यह 'दीर्घ' नही होता है। ।

स्म ते परेषु व्रजनं वनस्पते शुभे परुष्ण्याम् ॥२५॥

सू० अ०—'व्रजनम्', 'वनस्पते', 'शुभे' (और) 'परुष्ण्याम्' बाद में हों तो 'स्म ते' (इस द्वैपद में 'स्म' 'दीर्घ' नहीं होता है)।

उ० भा०—स्म ते इत्येतस्मिन्द्वैपदे पूर्वं न प्लवते व्रजनम्, वनस्पते, शुभे, परुष्ण्याम् - इत्येतेषु परेषु।[घ] व्रजनम्—"अध स्म ते व्रजनं कृष्णम्।"[३] वनस्पते—"उत स्म ते वनस्पते।"[४] शुभे—"उत स्म ते शुभे नरः।"[५] परुष्ण्याम् - "उत स्म ते परुष्ण्याम्।"[६] व्रजनम् इत्यादि कस्मात् "नहि ष्मा ते शतं चन॥"[७-ङ]

उ० भा० अ०—स्म ते—इस द्वैपद में पूर्व वाला (='स्म') 'दीर्घ' नही होता है' व्रजनम्, वनस्पते, शुभे, परुष्ण्याम्—ये, परेषु=बाद में होने पर। ।

स्म पुरा वृषाकपौ ॥२६॥

सू० अ०—वृषाकपि (के सूक्तों) में 'स्म पुरा' (इस द्वैपद मे 'स्म' 'दीर्घ नहीं होता है')।

उ० भा०—स्म पुरा इत्येतन्न प्लवते वृषाकपौ।[च] स्म पुरा—"संहोत्रं स्म पुरा नारी।"[८] वृषाकपौ इति कस्मात्? "ये स्मा पुरा गातूयन्तीव॥"[९-छ]

टि० (क) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है।

(ख) यह सूत्र भी ८।१५ का अपवाद है।

(ग) 'स्म' ८।१५ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि पूर्व में 'प्रति' नही अपितु 'नहि' है।

(घ) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है।

(ङ) ८।१५ से 'स्म' का आकार 'दीर्घ' हो गया है क्योकि 'स्म ते' के बाद में सूत्र में उक्त कोई भी पद नही है।

(च) यह सूत्र ८।१५ का अपवाद है।

(छ) 'स्म' का अकार ८।१५ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि यह मन्त्र वृषाकपि का नहीं है। वृषाकपि १०।८६ के द्रष्टा हैं।

---

१ ऋ० १।१२।५ २ ऋ० ४।३१।९ ३ ऋ० ७।३।२
४ ऋ० १।२८।६ ५ ऋ० ५।५२।८ ६ ऋ० ५।५२।९
७ ऋ० ४।३१।९ ८ ऋ० १०।८६।१० ९ ऋ० १।१६९।५

उ० भा० अ०—वृषाकपौ=वृषाकपि (के सूक्तो) मे; स्म पुरा—यह (अर्थात् 'स्म' का मकार) 'दीर्घ' नही होता है।··· ····।

राशिं वाजेषु मे सद्म पूषणं
तं तृंहद्धायि मा दुर्हणायतः ।
यस्मै यद् वृत्रहत्येषु मावते
वातो यं यस्य मद् दुर्गृभीयसे ॥२७॥

सू० अ०—(८।२३ में निर्दिष्ट 'राशिम्' आदि शब्द ये है)—'राशिम्', 'वाजेषु', 'मे', 'सद्म', पूषणम्', 'तम्', 'तृंहत्', 'धायि' 'मा', 'दुर्हणायतः' 'यस्मै', 'यत्', 'वृत्रहत्येषु', 'मावते', 'वातः', 'यम्' 'यस्य', 'मत्' (और) दुर्गृभीयसे'।

उ० भा०—त इमे राशिमादयो ये पूर्वसूत्रे निर्दिष्टाः। राशिम्, वाजेषु मे, सद्म, पूषणम्, तम्, तृंहत, धायि, मा, दुर्हणायतः, यस्मै, यत वृत्रहत्येषु, मावते, वातः, यम्, यस्य, मत्, दुर्गृभीयसे।[क] राशिम्—"उत स्म राशिं परि यासि।"[1] वाजेषु—"प्र स्म वाजेषु नोऽव।"[2] मे—"उत स्म मेऽव्यत्यै।"[3] सद्म "उत स्म सद्म हर्यतस्य।"[4] पूषणम्—"वहासि स्म पूषणमन्तरेण।"[5] तम्—"अप स्म तं पथो जहि।"[6] तृंहत्—"कूटं स्म तृंहदभिमातिम्।"[7] धायि—"इह स्म धायि दर्शतः।"[8] मा—"त्रि स्म माह्नः श्नथयः।"[9] दुर्हणायतः—"अव स्म दुर्हणायतः।"[10] यस्मै—"शुचि ष्म यस्मा अत्रिवत।"[11] यत्—"नहि ष्म यद्ध वः पुरा।"[12] वृत्रहत्येषु—"मघोनः स्म वृत्रहत्येषु।"[13] मावते—"नि ष्म मावते वहथ।"[14] वातः—"उत स्म वातो वहति।"[15] यम्—"उत स्म यं शिशुम्।"[16] यस्य—"अध स्म यस्यार्चय।"[17] मत्—"अप स्म मत्तरसन्ती।"[18] दुर्गृभीयसे—"उत स्म दुर्गृभीयसे॥"[19]

अत ऊर्ध्वम्—"एकादशिद्वादशिनो."[20] इत्येतत्पर्यन्त द्वैपदग्रहण कृतं द्रष्टव्यम्। तेषां द्वैपदानां पूर्वपदान्ता. प्लवन्ते॥

उ० भा० अ०—ये है वे 'राशिम्' आदि (शब्द) जो पूर्व-सूत्र (८।२३) मे निर्दिष्ट है—राशिम् वाजेषु, मे, सद्म, पूषणम्, तम्, तृंहत्, धायि, मा, दुर्हणायतः, यस्मै, यत्, वृत्रहत्येषु, मावते, वातः, यम्, यस्य, मत् (और) दुर्गृभीयसे। · ।

टि० (क) इस सूत्र में उन पदो को गिनाया गया है जिनके परे रहते पूर्ववर्ती 'स्म' के दीर्घत्व का निषेध ८।२३ में किया गया है।

---

[1] ऋ० ९।८७।९ [2] ऋ० ८।६०।१० [3] ऋ० १०।९५।५
[4] ऋ० १०।९६।१० [5] ऋ० १०।३३।१ [6] ऋ० १।४२।२
[7] ऋ० १०।१०२।४ [8] ऋ० ५।५६।७
[9] ऋ० १०।९५।५ [10] ऋ० १०।१३४।२ [11] ऋ० ५।७।८
[12] ऋ० ८।७।२१ [13] ऋ० ७।३२।१५ [14] ऋ० ६।६५।४
[15] ऋ० १०।१०२।२ [16] ऋ० ५।९।३ [17] ऋ० ५।९।५
[18] ऋ० १०।९५।८ [19] ऋ० ५।९।४ [20] ८।३६

यहाँ से बाद में—"ग्यारह और बारह (अक्षरों) वाले (पादों) में"—इस (सूत्र) तक द्विपद का ग्रहण किया गया समझना चाहिए। इन द्विपदों के प्रथम पदो के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते है।

पृच्छा विपश्चितमवा पुरंध्या
घा त्वद्रिग्वीरान्वनुयामा त्वोताः।
जनया दैव्यं भुजेमा तनूभि-
र्हा वहतो वासया मन्मना च ॥२८॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्विपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर', 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'पृच्छा विपश्चितम्', 'अवा पुरंध्या', 'घा त्वद्रिक्', 'वनुयामा त्वोताः' यदि 'वीरान्' पूर्व में हो, 'जनया दैव्यम्', 'भुजेमा तनुभिः', 'हा वहतः' (और) 'वासया मन्मना'।

उ० भा०—इत्येतेषां पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। पृच्छा विपश्चितम्—"इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।"[1] अवा पुरंध्या—"रयमवा पुरंध्या।"[2] घा त्वद्रिक्—"न घा त्वद्रिगप वेति।"[3] वीरान्वनुयामा त्वोताः—"वीरैर्वीरान्वनुयामा त्वोताः।"[4] वीरान् इति कस्मात्? "वयमग्ने वनुयाम त्वोताः।"[5-क] जनया दैव्यम्—"मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।"[6] भुजेमा तनूभिः—"यक्षं भुजेमा तनूभिः।"[7] हा वहतः—"आ हा वहतो मर्त्याय।"[8] वासया मन्मना—"वस्त्रेणेव वासया मन्मना शुचिम्॥"[9]

उ० भा० अ०—इनके प्रथम पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं।..............।

वेद्या वसुधितिं रोमा पृथिव्या
वोचा सुतेषु धावता सुहस्त्यः।
मुञ्चा सुषुवुषः स्वाद्मा पितूना-
मिहा वृणीष्व बोधया पुरंधिम् ॥२९॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्विपदो के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'वेदा वसुधितिम्', 'रोमा पृथिव्याः', 'वोचा सुतेषु', 'धावता सुहस्त्यः', 'मुञ्चा सुषुवुषः', स्वाद्मा पितूनाम्', 'इहा वृणीष्व' (और) 'बोधया पुरंधिम्'।

टि० (क) 'वनुयाम' का अन्तिम अकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि 'वनुयाम' के पूर्व में 'वीरान्' नही है।

---

[1] ऋ० १।४।४ [2] ऋ० ५।३५।८ [3] ऋ० १०।४३।२
[4] ऋ० १।७३।९ [5] ऋ० ५।३।६ [6] ऋ० १०।५३।६
[7] ऋ० ५।७०।४ [8] ऋ० ५।४१।७ [9] ऋ० १।१४०।१

उ० भा०—इत्येतेषां पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। वेदा वसुधितिम्—"स हि वेदा वसुधितिम्।"[१] रोमा पृथिव्याः—'अग्निर्हं दाति रोमा पृथिव्याः।"[२] वोचा सुतेषु—"प्र नु वोचा सुतेषु वाम्।"[३] धावता सुहस्त्यः—"आ धावता सुहस्त्यः।"[४] मुञ्चा सुषुवुषः—"वि षू मुञ्चा सुषुवुष।"[५] स्वाद्मा पितूनाम्—' कधर्न गोनां स्वाद्मा पितूनाम्।"[६] इहा वृणीष्व—"अस्मां इहा वृणीष्व।"[७] बोधया पुरंधिम्—"प्र बोधया पुरंधिम्।"[८]

उ० भा० अ०—इनके पूर्व-पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर')दीर्घ हो जाते हैं।......।

अवथा स कृणुथा सुप्रतीकं
तिरा शचीभिः कृणुता सुरत्नान्।
ग्मन्ता नहुषोऽनयता वियन्तः
स्मा च्यावयन्नीरया वृष्टिमन्तम् ॥३०॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदो के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'अवथा सः', 'कृणुथा सुप्रतीकम्', तिरा शचीभिः', 'कृणुता सुरत्नान्', 'ग्मन्ता नहुषः', 'अनयता वियन्तः' 'स्मा च्यावयन्' (और) 'ईरया वृष्टिमन्तम्'।

उ० भा०—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ता प्लवन्ते। अवथा सः—"यं देवासोऽवथा स विचर्षणिः।"[९] कृणुथा सुप्रतीकम् "अक्षीर चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।"[१०] तिरा शचीभिः—"प्र सू तिरा शचीभिर्ये त उक्थिनः।"[११] कृणुता सुरत्नान्—"सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नान्।"[१२] ग्मन्ता नहुषः—' अध ग्मन्ता नहुषः।"[१३] अनयता वियन्तः—' ये वाजां अनयता वियन्तः।"[१४] स्मा च्यावयन्—"त्वं हि स्मा च्यावयन्नच्युतानि।"[१५] ईरया वृष्टिमन्तम्—"प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम्॥"[१६]

उ० भा० अ०—इनके भी प्रथम पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं।...... ।

असृजता मातरं सू रथं हुवे
नयता बद्धं स्नापया मिथूदृशा।
इता जयता गता सर्वतातय
ईरयथा मरुतो नेपथा सुगम् ॥३१॥

सू० अ० (अधोलिखित द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'असृजता मातरम्', सू रथम्' यदि 'हुवे' बाद में हो, 'नयता बद्धम्',

[१] ऋ० ४।८।२ [२] ऋ० १।६५।४ [३] ऋ० ६।५९।१
[४] ऋ० ९।४६।४ [५] ऋ० १०।९४।१४ [६] ऋ० १।६९।२
[७] ऋ० ४।३१।११ [८] ऋ० १।१३४।३ [९] ऋ० ४।३६।५
[१०] ऋ० ६।२८।६ [११] ऋ० ८।५३।६ [१२] ऋ० १०।७८।८
[१३] ऋ० १।१२२।११ [१४] ऋ० १०।६१।२७ [१५] ऋ० ३।३०।४
[१६] ऋ० १०।९८।८

'स्वापया मियूद्दशा', 'इता जयत', 'गता सर्वतातये' यदि पूर्व मे 'आ' हो, 'ईरयथा मरुतः' (और) 'नेपथा सुगम्'।

उ० भा०—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ता प्लवन्ते। अस्टजवा मातरम्—"सं वत्सेनासृजता मातरम्।"[1] सू रथं हुवे—'युवोरु पू रथं हुवे।"[2] हुवे इति कस्मात्? "अस्माक सु रथं पुरः।"[3-क] नयता बद्धम्—"न जानीमो नयता बद्धमेतम्।"[4] स्वापया मियूदशा "नि ष्वापया मिथूदृशा।"[5] इता जयत—"प्रेता जयता नर.।"[6] आ गता सर्वतातये—'त आदित्या आ गता सर्वतातये।"[7] आ गता इति कस्मात्? ईरयथा मरुतः—'उदीरयथा मरुत· समुद्रतः।"[8] नेपथा सुगम्—'चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्॥"[9]

उ० भा० आ०—इनके भी प्रथम पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। ..   ।

> अन्यत्रा चित्पिवता मुञ्जनेजनं
>
> घा स्या वोचेमा विदथेष्विता धियम्।
>
> इता नि यत्रा वि दशस्यथा क्रिविं
>
> चा वोधाति द्रावया त्वं किरा वसु॥२२॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते है)—'अन्यत्रा चित्', 'पिवता मुञ्जनेजनम्', 'घा स्याः', 'वोचेमा विदथेषु', 'इता धियम्', 'इता नि', 'यत्रा वि', 'दशस्यथा क्रिविम्', 'चा वोधाति', 'द्रावया त्वम्' (और) 'किरा वसु'।

उ० भा०—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ता. प्लवन्ते। अन्यत्रा चित्—"नू अन्यत्रा चिदद्रिवः।"[10] पिवता मुञ्जनेजनम्—'इद वा घा पिवता मुञ्जनेजनम्।"[11] घा स्या—"त्वं त्व वा घा स्या अहम्।"[12] वोचेमा विदथेषु—"तमिद्वोचेमा विदथेषु शभुवम्।"[13] इता धियम्—"एता धिय कृणवामा सखाय।"[14] इता नि "आ त्वेता नि षीदत।"[15] यत्रा वि—"मनो यत्रा वि तद्दधुर्विचेतस।"[16] दशस्यथा क्रिविम्—याभिर्दशस्यथा क्रिविम्।"[17] चा वोधाति—स चा वोधाति मनसा यजाति।[18] द्रावया त्वम्—अध्वर्यो द्रावया त्वम्।'[19] किरा वसु—आ नः सोम पवमान किरा वसु॥[20]

टि० (क) 'सु' दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि परवर्ती 'रथम्' के बाद में 'हुवे' नहीं है।

१ ऋ० १।११०।८ — २ ऋ० ८।२६।१ — ३ ऋ० ८।४५।९
४ ऋ० १०।३४।४ — ५ ऋ० १।२९।३ — ६ ऋ० १०।१०३।१३
७ ऋ० १।१०६।२ — ८ ऋ० ५।५५।५ — ९ ऋ० ५।५४।६
१० ऋ० ८।२४।११ — ११ ऋ० १।२९।१८ — १२ ऋ० ८।९२।३२
१३ ऋ० १।४०।६ — १४ ऋ० ५।४५।६ — १५ ऋ० १।५।१
१६ ऋ० ८।१३।२० — १७ ऋ० ८।२०।२४ — १८ ऋ० १।७७।२
१९ ऋ० ८।४।११ — २० ऋ० ३।८१।२

उ० भा० अ०—इनके भी प्रथम पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। ....।

हा पदेव कर्तना श्रुष्टिं
योधया च जग्रभा वाचम् ।
पायया च तर्पया कामं
गातुया च मन्दया गोभिः ॥२३॥

सू० अ०—(इन द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'हा पदेव', 'कर्तना श्रुष्टिम्', 'योधया च', 'जग्रभा वाचम्', 'पायया च', 'तर्पया कामम्', 'गातुया च' (और) 'मन्दया गोभिः'।

उ० भा०—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ता प्लवन्ते। हा पदेव—"आ हा पदेव गच्छसि।"[1] कर्तना श्रुष्टिम्—"अध्वर्यवः कर्तना श्रुष्टिमस्मै।"[2] योधया च—"स योधया च क्षयया च।"[3] जग्रभा वाचम्—"प्रतीचीं जग्रभा वाचम्।"[4] पायया च—"आ सावय पायया चा मधूनि।"[5] तर्पया कामम्—"व्यश्नुहि तर्पया काममेषाम्।"[6] गातुया च—"वशस्या च गातुया च।"[7] मन्दया गोभिः—'इम कानं मन्दया गोभिरश्वैः॥'[8]

उ० भा० अ०—इन (द्वैपदों) के भी प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं। .. ..।

घा स्यालादेना सुमतिं
वोचा नु व्यथया मन्युम् ।
नेथा च चक्रा जरसं
भवता मृळयन्तश्च ॥२४॥

सू० अ० (इन द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)—'घा स्यालात्', 'एना सुमतिम्', 'वोचा नु', 'व्यथया मन्युम्', 'नेथा च', 'चक्रा जरसम्' (और) 'भवता मृळयन्तः'।

उ० भा०—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ता प्लवन्ते। घा स्यालात्—"विजामातुरुत वा घा स्यालात्।"[9] एना सुमतिम्—"विद्वाँ एना सुमतिं यात्यच्छ।"[10] वोचा नु—"अधि वोचा नु सुन्वते।"[11] व्यथया मन्युम्—"अमित्रस्य व्यथया मन्युमिन्द्र।"[12] नेथा च—'पाय नेथा च मर्त्यम्।'[13] चक्रा जरसम्—'यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।"[14] भवता मृळयन्तः—"आदित्यासो भवता मृळयन्तः॥"[15]

---

[1] ऋ० ४।३१।५ [2] ऋ० २।१४।९ [3] ऋ० ३।४६।२
[4] ऋ० १०।१८।१४ [5] ऋ० ३।५७।५ [6] ऋ० १।५४।९
[7] ऋ० ८।१६।१२ [8] ऋ० ३।३०।२० [9] ऋ० १।१०९।२
[10] ऋ० ९।९६।२ [11] ऋ० १।१३२।१ [12] ऋ० ६।२५।२
[13] ऋ० १०।१२६।२ [14] ऋ० १।८९।९ [15] ऋ० १।१०७।१

उ० भा० अ० – इन (द्वैपदो) के भी प्रथम पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं।··· ·· ··।

एवा चन भजा राये ररिमा ते भजा भूरि।
श्रुधी न उभयत्रा ते भजा त्वं मृळया नश्च ॥३५॥

सू० अ०—(इन द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)- 'एवा चन', 'भजा राये', 'ररिमा ते', 'भजा भूरि', 'श्रुधी नः', 'उभयत्रा ते', 'भजा त्वम्' (और) 'मृळया नः'।

उ० भा०—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। एवा चन 'मोत सूरो अह एवा चन।"[1] भजा राये—"अभक्ते चिदा भजा राये अस्मान्।"[2] ररिमा ते –"पिबा सोमं ररिमा ते मदाय।"[3] भजा भूरि—"वि भजा भूरि ते वसु।"[4] श्रुधि नः— "अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधि नः।"[5] उभयत्रा ते—"इन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्।"[6] गुरूदयार्थं ग्रहणम्। भजा त्वम्—"आ गोमति व्रजे भजा त्वं न।"[7] मृळया नः "सोम राजन्मृळया नः स्वस्ति॥"[8]

उ० भा० अ० – इन (द्वैपदो) के भी प्रथम पदो के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं।······ । 'गुरु' परवर्ती अक्षर' (उदय) के लिए ग्रहण (किया गया है)।[क] ।

(एकादशाक्षरद्वादशाक्षरयोः पादयोरष्टमाक्षरस्य दशमाक्षरस्य च दीर्घभावः)

एकादशिद्वादशिनोर्लघावष्टममक्षरम्।
उदये संहिताकाले ॥३६॥

(ग्यारह अक्षरों और बारह अक्षरो के पादो में अष्टम अक्षर और दशम अक्षर का दीर्घ होना)

सू० अ०—ग्यारह और बारह (अक्षरों) वाले (पादों) में अष्टम अक्षर' (दीर्घ हो जाता है), यदि बाद में ऐसा 'अक्षर' हो जो संहिता-पाठ में 'लघु' हो।

उ० भा०—(एकादशिद्वादशिनो =) एकादशाक्षरद्वादशाक्षरयोः पादयो, अष्टमममक्षरं प्लवते संहिताकाले लघावुदये सति। एकादशिनः—"तादीत्ना शत्रुं न किला

टि० (क) 'भज' का अन्तिम अकार ग्यारह अक्षरो के पाद का अष्टम 'अक्षर' है। यद्यपि ८।३६ से ग्यारह अक्षरो के पाद का अष्टम 'अक्षर' 'दीर्घ' होता है तथापि 'भज' का अन्तिम अकार ८।३६ से दीर्घ' नही होता है। कारण, 'लघु' 'अक्षर' बाद में होने पर ही ८।३६ से अष्टम 'अक्षर' 'दीर्घ' होता है। यहाँ 'भज' के अन्तिम अकार के बाद में 'गुरु' 'अक्षर' (त्व') है। बाद में गुरु 'अक्षर' होने के कारण 'भजा त्वम्' में ८।३६ से दीर्घत्व नही होता है। अत प्रस्तुत सूत्र (८।३५) से इसमें दीर्घत्व का विशेष विधान किया गया है।

[1] ऋ० ६।४८।१७ [2] ऋ० १०।११२।१० [3] ऋ० ३।३२।२ [4] ऋ० १।८१।६ [5] ऋ० १।१३३।६ [6] ऋ० ३।५३।५ [7] ऋ० ७।२७।१ [8] ऋ० ८।४८।८

विवित्से ।"[1] द्वादशिनः—"अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।"[2] एकादशिद्वादशिनोः इति कस्मात् ? "भद्रं नो अपि वातय मनः ।"[3] लघौ इति कस्मात् ? "वृषा समत्सु दासस्य नाम चित् ।"[4] "प्र ऋतुभ्यो दूतमिव वाचमिष्ये ।"[5] संहिताकाले इति कस्मात् ? 'आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः ।"[6] "इदं त एकं पर ऊ त एकम् ॥"[7]

उ० भा० अ०—एकादशिद्वादशिनो = ग्यारह और बारह अक्षरो वाले पादो में; अष्टममक्षरम्=अष्टम 'अक्षर', 'दीर्घ' हो जाता है; संहिताकाले लघावुदये = सहिता-पाठ में 'लघु' 'अक्षर' बाद में होने पर। ग्यारह अक्षरों के (पाद) में—"तादीत्ना शत्रु न किला विवित्से।" बारह अक्षरों के (पाद) में—"अग्ने सख्ये मा रिषामा वय तव।" 'ग्यारह और बारह (अक्षरो) के (पादो) में"—यह (सूत्र में) क्यों कहा ? (उत्तर) "भद्र नो अपि वातय मन. ।"[क] "'लघु' ('अक्षर') बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "वृषा समत्सु दासस्य नाम चित् ।"[ख] "प्र ऋतुभ्यो दूतमिव वाचमिष्ये ।"[ग] "सहिता-पाठ में ('लघु')" - यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधु. ।"[घ] इद त एक पर ऊ त एकम् ।"[ङ]

नःकारे च गुरावपि ॥३७॥

सू० अ०—'गुरु' भी 'नः' पद बाद में होने पर (ग्यारह और बारह अक्षरों के पादों में अष्टम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है)।

टि० (क) यहाँ पर अष्टम 'अक्षर' ('वातय' का अन्तिम अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि यह पाद न ग्यारह अक्षरो का है और न बारह अक्षरों का, अपितु दस अक्षरो का है।

(ख) ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('दासस्य' का अन्तिम अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि अष्टम अक्षर' के बाद में 'लघु' 'अक्षर' न होकर 'गुरु' 'अक्षर' ('ना') है।

(ग) बारह अक्षरों के पाद का अष्टम 'अक्षर' ('इव' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि अष्टम 'अक्षर' के बाद में 'लघु' 'अक्षर' न होकर 'गुरु' 'अक्षर ('वा') है।

(घ) ग्यारह अक्षरो के पाद का अष्टम 'अक्षर' ('न' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि इस ('न') के बाद में ऐसा 'अक्षर' ('वा') है जो पद-पाठ मे 'लघु' होने पर भी सहिता-पाठ मे 'गुरु' है।

(ङ) ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('उ') 'दीर्घ') हो गया है क्योकि इस ('उ') के बाद में ऐसा अक्षर' ('न') है जो पद-पाठ में 'गुरु' होने पर भी सहिता-पाठ में 'लघु' है।

[1] ऋ० १।३२।४ [2] ऋ० १।९४।१ [3] ऋ० १०।२०।१
[4] ऋ० ५।३३।४ [5] ऋ० ४।३३।१ [6] ऋ० १०।७७।२
[7] ऋ० १०।५६।१

उ० भा०—नःकारे उदये गुरावपि च एकादशिद्वादशिनोरष्टममक्षरं प्लवते। "द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु ॥"[१]

उ० भा० अ०—गुरावपि च=और गुरु' भी, नःकारे='न' पद बाद में होने पर; ग्यारह और बारह अक्षरो वाले (पादो) में अष्टम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है। (उदाहरण) "द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु।

दशमं चैतयोरेवम् ॥३८॥

सू० अ०—उसी प्रकार इन (ग्यारह और बारह अक्षरो वाले पादों) मे दशम ('अक्षर') भी ('दीर्घ' हो जाता है यदि संहिता-पाठ में 'लघु' 'अक्षर' बाद में हो अथवा 'नः' बाद में हो)।

उ० भा०—दशमं च अक्षरं प्लवते; एतयोः=एकादशिद्वादशिनोः; लघावुदये संहिताकाले नःकारे च गुरावपि। "अहा विश्वा सुमना दीदिही नः।"[२] "अव रुद्रा अशसो हन्तना वधः।"[३] एकादशिद्वादशिनोः इति कस्मात्? "प्र सुवानासो बृहद्दिवेषु हरयः।"[४] लघौ इति कस्मात्? "राय एषेऽवसे दधीत धीः।"[५] "तन्म ऋतमिन्द्र शूर चित्र पातु।"[६] नःकारे च गुरौ—"नू देवासो वरिवः कर्तना नो भूत नः ॥"[७]

उ० भा० अ० - एतयोः=इनमें=ग्यारह और बारह (अक्षरो) वाले (पादो) में, दशमं च अक्षरम्=दशम 'अक्षर' भी, 'दीर्घ' हो जाता है, संहिता-पाठ में 'लघु' 'अक्षर' अथवा 'गुरु' भी नकार बाद मे होने पर, (अर्थात् संहिता-पाठ में 'लघु 'अक्षर' अथवा 'न' बाद में होने पर, ग्यारह और बारह अक्षरो वाले पादो मे दशम 'अक्षर' भी 'दीर्घ हो जाता है)। (उदाहरण) 'अहा विश्वा सुमना दीदिही नः।' अव रुद्रा अशसो हन्तना वध।' "ग्यारह और बारह (अक्षरो) वाले (पादो) में'—यह क्यों (कहा)? (उत्तर) "प्र सुवानासो बृहद्दिवेषु हरय।"क "'लघु' ('अक्षर) बाद में होने पर"—यह (क्यो) कहा? (उत्तर) राय एषेऽवसे दधीत धी।ख 'तन्म ऋतमिन्द्र शूर चित्र पातु।"ग गुरु नःकार भी बाद मे होने पर—'नू देवासो वरिव कर्तना नो भूत न।"

टि० (क) दशम अक्षर' ('दिवेषु' का उकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि यह पाद ग्यारह अथवा बारह अक्षरों का न होकर तेरह अक्षरो का है।

(ख) ग्यारह अक्षरो के पाद में दशम अक्षर' ('दधीत' का अन्तिम अकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योकि दशम 'अक्षर' के बाद में लघु' 'अक्षर' न होकर गुरु' अक्षर' ('धी') है।

(ग) बारह अक्षरो के पाद में दशम 'अक्षर' ('चित्र' का अकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि दशम 'अक्षर' के बाद में 'लघु' 'अक्षर' न होकर 'गुरु' अक्षर' ('पा') है।

[१] ऋ० १०।५९।४ [२] ऋ० ३।५४।२२ [३] ऋ० ७।३४।१९
[४] ऋ० ३।७३।१ [५] ऋ० ५।८१।५ [६] ऋ० ८।९७।१५
[७] ऋ० ७।४८।४

(अष्टाक्षरे पादे षष्ठाक्षरस्य दीर्घभावः)

षष्ठं चाष्टाक्षरेऽक्षरम् ॥३९॥

(आठ अक्षरों के पाद मे छठे अक्षर का दीर्घ होना)

सू० अ०—आठ अक्षरों वाले (पाद) में छठा 'अक्षर' भी ('दीर्घ' हो जाता है, यदि बाद मे संहिता-पाठ में 'लघु' 'अक्षर' हो)।

उ० भा०—अष्टाक्षरे च पादे षष्ठमक्षरं प्लवत एवम्। कथम्? यथैकादशि-द्वादशिनोरष्टममक्षरं दशमं च। "ईशानो यवया वधम्।[१]" अष्टाक्षरे इति कस्मात्? "पिबा सोममभि यमुग्र तर्दः।"[२] लघौ इति कस्मात्? "आ पवस्व देव सोम।"[३] संहिताकाले इति कस्मात्? "नेमिं तष्टेव सुद्रवम्॥"[४]

उ० भा० अ०—अष्टाक्षरे च=आठ अक्षरो वाले भी, पाद में, षष्ठमक्षरम्=छठा अक्षर, उसी प्रकार 'दीर्घ' हो जाता है। किस प्रकार? (उत्तर) जिस प्रकार ग्यारह और बारह (अक्षरो) वाले (पादो) में अष्टम और दशम ('अक्षर') ('दीर्घ' हो जाता है) (उदाहरण) "ईशानो यवया वधम्।" "आठ अक्षरो वाले (पाद) मे"—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा)? (उत्तर) 'पिबा सोममभि यमुग्र तर्द।"[क] 'लघु ('अक्षर') बाद मे होने पर"—यह क्यो (कहा)? (उत्तर) "आ पवस्व देव सोम।[ख] "संहिता-पाठ मे ('लघु')"—यह क्यो (कहा)? (उत्तर) "नेमिं तष्टेव सुद्रवम्।"[ग]

(ऊने पादे क्षैप्रवर्ण-प्रश्लिष्टादीनाम् अन्तर्विभागेन पादपूरणम्)

व्यूहेः संपत्समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम् ॥४०॥

(न्यूनाक्षर पाद से क्षैप्रवर्ण तथा प्रश्लिष्ट आदि के अन्तर्विभाग के द्वारा पादपूर्ति)

सू० अ०—न्यून अक्षरो वाले (पाद) मे 'क्षैप्र'-वर्णो ('अन्तःस्था'-वर्णो) और

टि० (क) छठा 'अक्षर' ('अभि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि यह आठ अक्षरो का पाद न होकर ग्यारह अक्षरों का पाद है।

(ख) आठ अक्षरों के पाद में छठा 'अक्षर' ('देव' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि छठे 'अक्षर' के बाद मे 'लघु' 'अक्षर' न होकर 'गुरु' 'अक्षर' ('सो') है।

(ग) नेमिम्। तष्टाऽइव। सुद्रवम्॥ प० पा०

आठ अक्षरो वाले पाद मे छठा 'अक्षर' ('तष्टेव' का अन्तिम अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि संहिता-पाठ मे छठे 'अक्षर' के बाद में 'गुरु' 'अक्षर' ('सु') है। 'सु' 'गुरु' है क्योकि 'सु' के बाद में संयुक्त वर्ण ('संयोग') है। पद-पाठ में 'सु' 'गुरु' न होकर 'लघु' है क्योकि 'सु' के बाद में 'अवग्रह' है, संयुक्त वर्ण ('संयोग') नही।

---

[१] ऋ० १।५।१० [२] ऋ० ६।१७।१ [३] ऋ० ९।६७।३०
[४] ऋ० ७।३२।२०

मिलकर एक हो जाने वाले (अक्षरों) के पृथक्करण ('व्यूह') के द्वारा (पाद के अक्षरों की) पूर्णता (=अपेक्षित संख्या) संपादित करनी चाहिए।

उ० भा०—ऊने पादे (क्षैप्रवर्णैकभाविनाम्=) क्षैप्रवर्णानां च संधीनामेकीभाविनां च; व्यूहैः पादस्य संपत्, (समीक्ष्या=) समीक्षितव्या। "उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणम्"[१]—इति क्षैप्रसंधिव्यूहाद् द्वादशाक्षरस्य पादस्य दशममक्षरं प्लवते। "क्षैप्रैकभाविनाम्" इत्येव सिद्धे वर्णग्रहणसामर्थ्यात्—"गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चा"[२] इति वर्णव्यूहादेकादशाक्षरस्याष्टममक्षरं प्लवते। "प्रेता जयता नरः"[३] इत्येकीभावव्यूहादष्टाक्षरस्य षष्ठमक्षरं प्लवते। एवं संपत्सर्वत्र समीक्ष्या। ऊने इति वचनात्पूर्णे व्यूहो न भवति—"प्रत्यप्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्॥"[४]

उ० भा० अ०—ऊने=न्यून अक्षरों वाले पाद में; (क्षैप्रवर्णैकभाविनाम्=) 'क्षैप्र'-वर्णों (='अन्तःस्था'-वर्णों) के और संधि होने पर एक हो जाने वाले (वर्णों) के, व्यूहैः[क]=पृथक्करण के द्वारा; पाद की पूर्णता (संपत्); (समीक्ष्या=) संपादित करनी चाहिए; (अर्थात् जहाँ पाद में अक्षरों की अपेक्षित संख्या पूरी न हो, वहाँ उस पाद में विद्यमान 'अन्तःस्था'-वर्ण तथा संधि से मिलकर एक बने हुए ('प्रश्लिष्ट' आदि) वर्ण को पृथक् करके पाद के अक्षरों की संख्या पूरी करनी चाहिए)। (जैसे) "उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणम्" में 'क्षैप्र' संधि को पृथक् करने से बारह अक्षरों वाले पाद का दशम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है।[ख] "क्षैप्रैकीभाविनाम्" इससे ही सिद्ध हो जाने पर जो (सूत्र में) 'वर्ण' का ग्रहण किया गया है उसकी सामर्थ्य से—"गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चा" में ('क्षैप्र') वर्ण (व) को पृथक् करने से ग्यारह अक्षरों वाले (पाद) का अष्टम 'अक्षर' (८।३६ से) 'दीर्घ' हो जाता है।[ग] "प्रेता जयता नरः" में मिलकर एक बने हुए ('ए' 'अक्षर') को पृथक् करने से

टि० (क) 'व्यूह' के लिए पृ० ३९ पर टि० (क) और (ख) तथा १७।२२ और १७।३३ को देखिए।

(ख) उद्वत्ऽसु। अस्मै। अकृणोतन। तृणम्॥ प० पा०

यह 'जगती' छन्द का एक पाद है जिसमें बारह 'अक्षर' होने चाहिए किंतु इसमें ग्यारह ही 'अक्षर' है। पाद के अक्षरों की संख्या पूरी न होने के कारण हम 'क्षैप्र' संधि से निष्पन्न 'स्वस्मै' के वकार को पृथक् करके 'सु+अस्मै' बना लेते हैं जिससे अक्षरों की संख्या पूर्ण (=बारह) हो जाती है। अब बारह अक्षरों के इस जगती पाद का दशम 'अक्षर' ('अकृणोतन' का अन्तिम अकार) ८।३८ से 'दीर्घ' हो जाता है।

(ग) गोः। न। पर्व। वि। रद। तिरश्चा॥ प० पा०

'त्रिष्टुप्' छन्द के इस पाद में ग्यारह 'अक्षर' न होकर दस 'अक्षर' हैं जिससे यह पाद एक 'अक्षर' से न्यून है। इस न्यूनता की पूर्ति 'पर्व' के वकार के पृथक्करण (परु+अ=पर्व) से की जाती है। यह 'अन्तःस्था'-वर्ण (वकार) संधिज नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि पाद के अक्षरों की पूर्ति

१ ऋ० १।१६१।११ २ ऋ० १।६१।१२ ३ ऋ० १०।१०३।१३ ४ ऋ० ५।३०।१२

आठ अक्षरों वाले (पाद) का छठा 'अक्षर' ('जयत' का अन्तिम अकार) 'दीर्घ' हो जाता है।[क] इस प्रकार सर्वत्र पूर्णता (सपत्) का सपादन करना चाहिए। "न्यून अक्षरों वाला (पाद) होने पर"—इस विधान से पूर्ण (अक्षरों वाले पाद) में (वर्णों का) पृथक्करण ('व्यूह') नही होता है। (जैसे) "प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्।"[ख]

(षष्ठाष्टमदशमाक्षराणां दीर्घभावेऽपवादाः)

न वावृधन्त वातस्यावद्यानि जिघांससि।
सासह्याम वव्रृत्याम दीदिह्यष्टममूर्णुहि ॥४१॥

(षष्ठ, अष्टम और दशम अक्षरों के दीर्घत्व मे अपवाद)

सू० अ०—(अधोलिखित में ८।३६-३९ से प्राप्त दीर्घत्व) नहीं (होता है)—'वावृधन्त', 'वातस्य', 'अवद्यानि'. 'जिघांससि', 'सासह्याम', 'ववृत्याम', 'दीदिहि' में अष्टम (अर्थात् 'दीदिहि' का अन्तिम इकार यदि वह पाद का अष्टम 'अक्षर' हो) और 'ऊर्णुहि'।

उ० भा०—न तु खल्वेकादशिद्वादशिनोरष्टाक्षरे चैवमादीनि प्लवन्ते यानि वक्ष्याम—वावृधन्त, वातस्य, अवद्यानि. जिघांससि सासह्याम, ववृत्याम, दीदिहि अष्टमम्, ऊर्णुहि इति। वावृधन्त—"द्युतद्यामानं वावृधन्त नृणाम्।"[१—ग] वातस्य—"युजानो अश्वा वातस्य धुनी।"[२]

प्रतिषेधाधिकारे वातस्येति ग्रहणमनर्थकं दशाक्षरत्वात्पादस्य। नानर्थकम्। व्यूहेन द्वादशाक्षरं लिङ्गं भवति। नास्य व्यूह इष्यते। कस्मात्? सर्वानुक्रमण्यामनुष्टुभस्ताः

(४९६ग) करने के लिए 'अन्त स्था'-वर्ण को पृथक् किया जाता है चाहे वह 'अन्त स्था'-वर्ण 'क्षैप्र' सधि से उत्पन्न हो (दे० टि० ख) और चाहे 'क्षैप्र'-सधि से उत्पन्न न होकर स्वाभाविक ही हो। इसी तथ्य को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में 'वर्ण' शब्द का सनिवेश किया है।

टि० (क) प्र। इत। जयत। नरः॥ प० पा०

यह 'अनुष्टुप्' छन्द का पाद है जिसमें आठ 'अक्षर' होने चाहिए किंतु इसमें सात ही 'अक्षर' हैं। पाद के अक्षरों की सख्या पूरी न होने के कारण हम 'प्रश्लिष्ट' सधि से निष्पन्न 'प्रेत' के एकार को पृथक् करके "प्र+इत" बना लेते हैं जिससे अक्षरो की सख्या पूर्ण (आठ) हो जाती है। अब आठ अक्षरो के इस 'गायत्र' पाद का छठा 'अक्षर' ८।३९ से 'दीर्घ' हो जाता है।

(ख) प्रति। अग्रभीष्म। नृऽतमस्य। नृणाम्॥ प० पा०

यह 'त्रिष्टुप्' छन्द का एक पाद है जिसमें अक्षरो की सख्या ग्यारह है। इस पाद म अक्षरो की सख्या पूर्ण (ग्यारह) है जिससे यहाँ 'अन्त स्था'-वर्ण ('प्रत्यग्रभीष्म' के यकार) का पृथक्करण ('व्यूह') नही किया जाता है।

(ग) ८।३८ का अपवाद। बारह अक्षरों के पाद में दशम अक्षर 'दीर्घ' नही हुआ है।

[१] ऋ० १०।९३।१२ [२] ऋ० १०।२२।४

स्वराजो बृहत्यो वा विराजोऽव्यूह इत्यनूहः । तस्मादुभयोरपि दशाक्षर एवायं पादो भवति । अत एव वातस्येति ग्रहणमनर्थकं भवतीति । मर्तस्येति तस्य स्थाने पठन्ति—'यन्तं मर्तस्य रिपोः ।"[१]

उ० भा० अ०—ग्यारह, बारह और आठ अक्षरों के पादों में ये 'दीर्घ' नहीं होते हैं जिन्हें हम कहने............।

(पू०) प्रतिषेध के अधिकार में 'वातस्य' का ग्रहण अनर्थक है क्योंकि (प्रस्तुत) पाद दस अक्षरों का है (और दस अक्षरों के पाद में तो दीर्घत्व की प्रसक्ति ही नहीं है)। (सि०) ('वातस्य' का ग्रहण) अनर्थक नहीं है। पृथक्करण ('व्यूह') के द्वारा बारह अक्षरों का (पाद हो जायेगा और तब) दीर्घत्व की प्रसक्ति हो जायेगी।[क] (पू०) इस (पाद) में पृथक्करण ('व्यूह') अभीष्ट नहीं है। (सि०) क्यों? (पू०) सर्वानुक्रमणी में ऐसे स्थलों पर पृथक्करण ('व्यूह') न करके उन्हें 'स्वराट् अनुष्टुप्' अथवा 'विराट् बृहती' कहा गया है—इस प्रकार (प्रकृत पाद में 'व्यूह' के द्वारा बारह अक्षरों की) कल्पना करना युक्त नहीं है। इसलिए दोनों ही (पक्षों) में (अर्थात् चाहे इसे 'स्वराट् अनुष्टुप्' माना जाये और चाहे विराट् बृहती' दोनों ही तरह) यह दस अक्षरों का ही पाद है। अत एव (प्रतिषेध के अधिकार में) 'वातस्य' का ग्रहण अनर्थक है। (सि०) इस कारण से इस (='वातस्य') के स्थान पर (सूत्र में) 'मर्तस्य' का पाठ करते हैं।[ख] (जिसका उदाहरण यह है)—'यन्तं मर्तस्य रिपोः।'[ग]

उ० भा०—अवद्यानि—"अन्तः सन्तोऽवद्यानि पुनानाः ।"[२]—घ जिघांससि—'यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।"[३]—घ सासह्याम—"इन्द्रत्वोता सासह्याम पृतन्यतः ।"[४]—घ ववृत्याम—"आ ते मनो ववृत्याम मदाय ।"[५]—घ दीदिहि अष्टमम्—"शोचा शोचिष्ठ दीदिहि विशे मयः ।"[६]—घ अष्टमम् इति कस्मात्? "अहा विश्वा सुमना

टि० (क) सिद्धान्ती का कहना है कि प्रस्तुत पाद में विद्यमान वकार तथा यकार का विभाग करने पर यह पाद बारह अक्षरों का हो जाता है। तब 'वातस्य' का अन्तिम अकार इस पाद का दशम 'अक्षर' होता है जो ८।३८ से 'दीर्घ' नहीं होता है क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में इसके 'दीर्घ' होने का निषेध कर दिया गया है।

(ख) पूर्वपक्षी का कहना है कि वकार तथा यकार का विभाग करके बारह अक्षरों का पाद बनाना अनावश्यक है। यह पाद दस अक्षरों का है जो सर्वानुक्रमणी के अनुसार 'स्वराट् अनुष्टुप्' अथवा विराट् बृहती' का पाद है। (सि०) तब सूत्र में 'वातस्य' के स्थान पर 'मर्तस्य' का पाठ करना चाहिए।

(ग) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरों के पाद में छठा 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं हुआ है।

(घ) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह और बारह अक्षरों के पादों में अष्टम 'अक्षर' (अवद्यानि', 'जिघांससि' तथा 'दीदिहि' के अन्तिम इकार और 'सासह्याम' तथा 'ववृत्याम' के अन्तिम अकार) 'दीर्घ' नहीं हुए हैं।

१ ऋ० ८।१९।१८ २ ऋ० ६।६६।८ ३ ऋ० ७।८६।४
४ ऋ० १।१३२।१ ५ ऋ० ७।२३।५ ६ ऋ० ८।६०।६

दीदिही नः ।"[१-क] ऊर्णुहि—"पुनान इन्द्र ऊर्णुहि वि वाजान् ॥"[२-ख]

पुरुप्रजातस्याभि नः
कृणुहि द्व्यक्षरोपधम् ।
हर्यश्वोत भवन्त्विन्द्र
सदनायास्ति नाम चित् ॥४२॥

सू० अ०—(अधोलिखित में ८।३६-३८ से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है)—'पुरुप्रजातस्य', 'नः' हो बाद में जिसके ऐसा 'अभि', द्व्यक्षर (पद) से बाद मे स्थित 'कृणुहि', 'हर्यश्व', 'उत', 'भवन्तु', 'इन्द्र', 'सदनाय', 'अस्ति', 'चित्' हो बाद में जिसके ऐसा 'नाम'।

उ० भा०—इत्येतानि चैकादशिद्वादशिनोरष्टाक्षरे च न प्लवन्ते। पुरुप्रजातस्य—"विदत्पुरुप्रजातस्य गुहा यत्।"[३-ग] अभि नः—'पतिरिव जायामभि नो न्येतु।"[४-ग] नः इति कस्मात्? "तं दुरोषमभी नरः।"[५-घ] कृणुहि द्व्यक्षरोपधम्—"वर्षीयो वयः कृणुहि शचीभिः।"[६-ङ] द्व्यक्षरोपधम् इति कस्मात्? "जहि वृष्ण्यानि कृणुहि पराचः।"[७-च] हर्यश्व—"स नः प्रजायै हर्यश्व मृळय।"[८-छ] उत—"अदिते मित्र

टि० (क) ग्यारह अक्षरों के पाद में दशम 'अक्षर' ('दीदिहि' का इकार) ८।३८ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'दीदिहि' का इकार यहाँ अष्टम 'अक्षर' नहीं है। पाद का अष्टम 'अक्षर' होने पर ही 'दीदिहि' का इकार 'दीर्घ' नहीं होता है।

(ख) ८।३६ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद मे अष्टम 'अक्षर' ('ऊर्णुहि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पादो में अष्टम अक्षर' ('पुरुप्रजातस्य' का अकार और 'अभि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुए है।

(घ) आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('अभि' का इकार) ८।३९ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'अभि' के बाद में 'न' नही है।

(ङ) ८।३६ का अपवाद। ग्यारह अक्षरों के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('कृणुहि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(च) ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('कृणुहि' का इकार) ८।३६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'कृणुहि' के पूर्व में दो अक्षरो वाला पद न होकर बहुत अक्षरो वाला पद है।

(छ) ८।३६ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम अक्षर ('हर्यश्व' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

[१] ऋ० ३।५४।२२ [२] ऋ० ९।९१।४ [३] ऋ० १०।६१।१२
[४] ऋ० १०।१४९।४ [५] ऋ० ९।१०।१२ [६] ऋ० ६।४४।९
[७] ऋ० ६।२५।३ [८] ऋ० १०।१२८।८

वरुणोत मृळ ।"[१-क] भवन्तु—"स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ।"[२-क] इन्द्र—"यथा त्रिते छन्द इन्द्र जुजोषसि ।"[३-ख] सदनाय—"सूर्यामासा सदनाय सधन्या ।"[४-ख] अस्ति—"रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति हि ते ।"[५-ग] नाम चित्—"वृथा समत्सु दासस्य नाम चित् ।"[६-ग] चित् इति कस्मात् ? "दिवेदिवे अधि नामा दधाना ॥"[७-घ]

उ० भा० अ०—ग्यारह, बारह और आठ अक्षरो वाले (पादो) में ये भी 'दीर्घ' नही होते है । .. .।

चमसाँइवात्रि वसवान
द्वादशिनः सृजास्य विमदस्य ।
सुमखाय धारय ददातु
रक्ष धिया दधातु दिधिषेय ॥४३॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी ८।३६-३९ से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है)—'चमसाँइव', 'अत्रि', 'वसवान', बारह (अक्षरो के पाद) का 'सृज', 'अस्य', 'विमदस्य', 'सुमखाय', 'धारय', 'ददातु', 'धिया' है बाद में जिसके ऐसा 'रक्ष', 'दधातु' (और) 'दिधिषेय' ।

उ० भा०—इत्येतानि चैकादशिद्वादशिनोरष्टाचक्षरे च न प्लवन्ते । चमसाँइव—"धारया चमसाँइव विवक्षसे ।"[८-ङ] अत्रि—"देवस्य त्रातुरत्रि भगस्य ।"[९-ङ] वसवान—"मा रिषण्यो वसवान वसु सन् ।"[१०-ङ] द्वादशिनः सृज—"सं राया भूयसा सृज मयोभुना ।"[११-ङ] द्वादशिनः इति कस्मात् ? "स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा सम् ।"[१२-च]

टि० (क) ८।३८ के अपवाद । बारह और ग्यारह अक्षरो के पादो में दशम 'अक्षर' ('उत' का अकार और 'भवन्तु' का उकार) 'दीर्घ' नही हुए है ।
(ख) ८।३६ के अपवाद । बारह और ग्यारह अक्षरों के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('इन्द्र' का अकार और 'सदनाय' का अकार) 'दीर्घ' नही हुए हैं ।
(ग) ८।३८ के अपवाद । बारह और ग्यारह अक्षरो के पादो में दशम 'अक्षर' ('अस्ति' का इकार और 'नाम' का अकार) 'दीर्घ' नही हुए है ।
(घ) ग्यारह अक्षरों के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('नाम' का अकार) ८।३६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि 'नाम' के वाद में 'चित्' नही है ।
(ङ) ८।३६ के अपवाद । बारह और ग्यारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('इव', 'वसवान' तथा 'सृज' के अकार तथा 'अत्रि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुए है ।
(च) यहाँ 'सृज' का अकार (पाद का दशम 'अक्षर') ८।३८ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि यह पाद बारह अक्षरो का न होकर ग्यारह अक्षरो का है ।

---

[१] ऋ० २।२७।१४ [२] ऋ० ५।५१।१२ [३] ऋ० ८।५२।१
[४] ऋ० १०।९३।५ [५] ऋ० १।३६।१२ [६] ऋ० ५।३३।४
[७] ऋ० १।१२३।४ [८] ऋ० १०।२५।४ [९] ऋ० ४।५५।५
[१०] ऋ० १०।२२।१५ [११] ऋ० ३।१६।६ [१२] ऋ० १०।१२०।३

अस्य—"सम्वारन्नकिरस्य मघानि।"[१-क] विमदस्य—"तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः।"[२-क] सुमखाय—"कद्रुद्राय सुमखाय हविर्दे।"[३-क] धारय—"अस्मे रयिं नि धारय वि वो मदे।"[४-क] ददातु—"अग्निरिषां सख्ये ददातु नः।"[५-ख] रक्ष धिया—"ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।"[६-ग] धिया इति कस्मात्? ·········। दधातु—"स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः।"[७-घ] दिधिषेय—"स्तोतारमिद्दिधिषेय रदावसो॥"[८-ङ]

अङ्ग सरस्वति पञ्च चरन्ति
ग्नाभिरिहेन्वसि रण्यसि धाव।
विद्धि षु णोऽभि षतः सुविताय
त्वा समिधान दधीमहि देव॥४४॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी ८।३६-३९ से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है)—'अङ्ग', 'सरस्वति', 'पञ्च', 'चरन्ति', 'ग्नाभिः' पूर्व में हो तो 'इह', 'इन्वसि', 'रण्यसि', 'धाव', विद्धि षु णः' (में 'षु'), 'अभि षतः' (में 'अभि'), 'सुविताय', 'त्वा समिधान', दधीमहि' (और) देव'।

उ० भा०—इत्येतानि च षष्ठमष्टमं दशममष्टाक्षर एकादशे द्वादशे च न प्लवन्ते। अङ्ग—'इन्द्रासोमा युवमङ्ग तरुत्रम्।"[९-च] सरस्वति—"अयमु ते सरस्वति वसिष्ठः।"[१०-च]

उ० भा० अ०—ग्यारह, बारह और आठ अक्षरों वाले (पादों) में ये भी 'दीर्घ' नही होते है। ··· · ।

टि० (क) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह और बारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('अस्य', 'विमदस्य', 'सुमखाय' और 'धारय' के अन्तिम अकार) 'दीर्घ' नही हुए है।
(ख) ८।३८ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद में दशम 'अक्षर' ('ददातु' का उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।
(ग) ८।३६ का अपवाद। बारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('रक्ष' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।
(घ) ८।३८ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद में दशम 'अक्षर' ('दधातु' का उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।
(ङ) ८।३६ का अपवाद। बारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('दिधिषेय' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।
(च) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('अङ्ग' का अकार तथा 'सरस्वति' का इकार) 'दीर्घ' नही हुए है।

---

[१] ऋ० १०।१३२।३ [२] ऋ० १०।२३।७ [३] ऋ० ४।३।७
[४] ऋ० १०।२४।१ [५] ऋ० ८।७१।१३ [६] ऋ० १०।५३।६
[७] ऋ० ५।५१।११ [८] ऋ० ७।३२।१८ [९] ऋ० ६।७२।५
[१०] ऋ० ७।९५।६

पञ्च—"विश्वे देवाः अदितिः पञ्च जनाः।"[१-क] वृत्तात्प्रायबलीयस्त्वान्नैतदुदाहरणम्। इदं तर्ह्युदाहरणम् "ये युक्त्वाय पञ्च शता।"[२-ख] चरन्ति—"समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरः।"[३-ग] ग्नाभिरिह—"शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु।"[४-ग] ग्नाभिः इति कस्मात्?

टि० (क) प्रस्तुत पाद ग्यारह अक्षरो का है। किन्तु 'विश्वे' पद के वकार का पृथक्करण ('व्यूह'=विशु+ए) करके इसको बारह अक्षरो का पाद (='जागत' पाद) माना गया है। इसका कारण यह है कि इस पाद का उपोत्तम 'अक्षर' (='ज' का अकार) 'लघु' है। बारह अक्षरो के ही पाद का उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' होता है। ग्यारह अक्षरो के पाद का उपोत्तम 'अक्षर' 'गुरु' होता है। उपोत्तम 'अक्षर' के इस 'लघु' 'गुरु' होने को ही पाद का 'वृत्त' कहते हैं (देखिए १७।३९)। बारह अक्षरो के इस पाद में 'पञ्च' पद का अन्तिम अकार इस पाद का दशम 'अक्षर' है। दशम 'अक्षर' होने के कारण इसे ८।३८ से 'दीर्घ' हो जाना चाहिए। किंतु 'पञ्च' पद के अन्तिम अकार के 'दीर्घ' होने का निषेध प्रस्तुत सूत्र में कर दिया गया है।

यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि 'पञ्च' पद के अन्तिम 'अक्षर' के दीर्घत्व के निषेध के लिए यह उदाहरण प्रस्तुत नही किया जा सकता है क्योकि इस पाद को 'वृत्त' के कारण बारह अक्षरो का मानना ठीक नही है। 'वृत्त' की अपेक्षा अधिकार ('प्राय') अधिक बलवान् होता है ('वृत्त', 'प्राय' और उनके बलाबल के लिए १७।२५-२६ और १७।३९ को देखिए)। यह पाद 'त्रिष्टुप्' छन्द का है क्योकि प्रस्तुत मन्त्र 'त्रिष्टुप्' छन्द के अधिकार में आया है। इस मन्त्र से पूर्ववर्ती दो मन्त्र 'त्रिष्टुप्' छन्द के है। इस प्रकार यह पाद ग्यारह अक्षरो का है और 'पञ्च' पद का अन्तिम अकार इस पाद का दशम 'अक्षर' न होकर नवम 'अक्षर' है। दशम 'अक्षर' न होने के कारण इसमें ८।३६ से दीर्घत्व प्रसक्त नही है। जब दीर्घत्व प्रसक्त ही नही है तब उसके निषेध करने का प्रश्न ही नही उठता। इसलिए 'पञ्च' पद के अन्तिम अकार के दीर्घत्व के निषेध के लिए इस उदाहरण को जो प्रस्तुत किया है वह ठीक नही है। इस बात को स्वीकार करके भाष्यकार ने 'पञ्च' के दीर्घत्व के निषेध के लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया है।

(ख) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('पञ्च' का अन्तिम अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('चरन्ति' का इकार तथा 'इह' का अकार) 'दीर्घ' नही हुए हैं।

---

१ ऋ० १।८९।१०
२ ऋ० १०।९३।१४
३ ऋ० ६।४७।३१
४ ऋ० ७।३५।६

"अधा ते अग्ने किमिहा वदन्ति ।"[१-क] इन्वसि—' वृषा यज्ञो यमिन्वसि वृषा हवः ।"[२-ख] रण्यसि —"उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ।"[३-ख] धाव—"अव्यो वारे परि धाव मधु प्रियम् ।"[४-ख] विद्धि षु णः—"वयं ते वय इन्द्र विद्धि षु णः ।"[५-ग] विद्धि इति कस्मात् ? ' द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु ।"[६-घ] अभि षतः—'महो विश्वाँ अभि षतः ।"[७-ङ] सतः इति कस्मात् ? "तं दुरोषमभी नरः ।"[८-च] सुविताय—"इन्द्रा याहि सुविताय महे नः ।"[९-छ] त्वा समिधान—' मर्तासस्त्वा समिधान हवामहे ।"[१०-छ] दधीमहि—' प्रति स्तोमं दधीमहि तुराणाम् ।"[११-छ] देव—"कृधि नो अह्रयो देव सवितः ॥[१२-छ]

उ० भा० अ० —ये (अर्थात् अधोलिखित पदों के अन्तिम 'अक्षर') भी षष्ठ, अष्टम और दशम ('अक्षर' होने पर') आठ, ग्यारह और बारह (अक्षरो वाले पादो) में 'दीर्घ' नही होते हैं । · · । 'वृत्त' की अपेक्षा 'प्राय.' के अधिक बलवान् होने से यह उदाहरण नही है । तब यह उदाहरण है । · · · ।

जामिषु जासु चिकेत किरासि
स्मस्युप पात्यसि सोम शतस्य ।
आयुषि चेतति विष्टपि मास्व
प्रोश्मसि मूर्धनि सद्म वरन्त ॥४५॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी ८।३६-२९ से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है)— 'जामिषु', 'जासु', 'चिकेत', 'किरासि', स्मसि', 'उप', 'पाति', 'असि', 'सोम',

टि० (क) ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('इह' का अकार) ८।३६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि 'इह' के पूर्व में ग्नाभि.' नही है ।

(ख) ८।३६ के अपवाद । बारह अक्षरो के पादों में अष्टम 'अक्षर' ('इन्वसि' और 'रण्यसि' के इकार तथा 'धाव' का अकार) 'दीर्घ' नही हुए हैं ।

(ग) ८।३८ का अपवाद । ग्यारह अक्षरो के पाद में दशम 'अक्षर' ('षु' का उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(घ) ग्यारह अक्षरों के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('सु' का उकार) ८।३६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि 'सु' के पहले 'विद्धि' नही है ।

(ङ) ८।३९ का अपवाद । आठ अक्षरों के पाद में छठा 'अक्षर' ('अभि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(च) आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('अभि' का इकार) ८।३९ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि 'अभि' के बाद मे 'सत' नही है ।

(छ) ८।३६ के अपवाद । ग्यारह और बारह अक्षरों के पादों में अष्टम 'अक्षर' ('सुविताय', 'समिधान' और 'देव' के अकार तथा 'दधीमहि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुए हैं ।

---

[१] ऋ० ४।५।१४ [२] ऋ० ८।१३।३२ [३] ऋ० ८।१२।१८ [४] ऋ० ९।८६।४८
[५] ऋ० २।२०।१ [६] ऋ० १०।५९।४ [७] ऋ० ८।२३।२६ [८] ऋ० ९।१०।१३
[९] ऋ० ६।४०।३ [१०] ऋ० १०।१५०।२ [११] ऋ० ७।४०।१ [१२] ऋ० १०।९३।९

'शतस्य', 'आयुषि', 'चेतति', 'विष्टपि', 'मास्व', 'प्र', 'उश्मसि', 'मूर्धनि', 'सद्म' (और) 'वरन्त' ।

उ० भा०—जामिषु, जासु, चिकेत, किरासि, स्मसि, उप, पाति, असि, सोम, शतस्य, आयुषि, चेतति, विष्टपि, मास्व, प्र, उश्मसि, मूर्धनि, सद्म, वरन्त—इत्येतानि चैकादशिद्वादशिनोरष्टाक्षरे च न प्लवन्ते । जामिषु—"गर्भं दधासि जामिषु विवक्षसे ।"[१-क] जासु—"अनमीवो रुद्र जासु नो भव ।"[२-क] चिकेत—"अय ध्रुवो रयीणां चिकेत यत् ।"[३-ख] किरासि—"आ यथा मन्दसान किरासि न ।"[४-ख] स्मसि—"युष्मे इद्धो अपि ष्मसि सजात्ये ।"[८-ग] उप—"इमामु षु सोमसुतिमुप नः ।"[६-घ] पाति—"जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम् ।"[७-ङ] असि—"पुरू यो दग्धासि वना ।"[८-च] सोम—"अनु हि त्वा सुत सोम मदामसि ।"[९-छ] शतस्य—"नि धेहि शतस्य नृणाम् ।"[१०-ज] आयुषि—"मिम्रीषति त्व आयुषि दुरोणे ।"[११-झ] चेतति—"सोमो अंत्रस्य चेतति यथा विदे ।"[१२-झ] विष्टपि—"समुद्रस्याधि विष्टपि मनीषिणः ।"[१३-झ] मास्व—"नू नो रयिमुप मास्व नृवन्तम् ।"[१४-झ]

टि० (क) ८।३६ के अपवाद । बारह और ग्यारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('जामिषु' और 'जासु' के उकार) 'दीर्घ' नही हुए है ।

(ख) ८।३८ के अपवाद । ग्यारह अक्षरो के पाद में दशम 'अक्षर' ('चिकेत' का अकार तथा 'किरासि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुए है ।

(ग) ८।३६ का अपवाद । ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('स्मसि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(घ) ८।३८ का अपवाद । ग्यारह अक्षरो के पाद में दशम 'अक्षर' ('उप' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(ङ) ८।३६ का अपवाद । ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('पाति' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(च) ८।३९ का अपवाद । आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('असि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(छ) ८।३६ का अपवाद । बारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('सोम' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(ज) ८।३९ का अपवाद । आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('शतस्य' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(झ) ८।३६ के अपवाद । ग्यारह और बारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('आयुषि', 'चेतति', तथा 'विष्टपि' के इकार और 'मास्व' का अकार) 'दीर्घ' नही हुए है ।

---

१ ऋ० ९।१०७।१४ २ ऋ० ९।९३।५ ३ ऋ० १०।२३।८ ४ ऋ० ७।४६।२
५ ऋ० ९।१०२।४ ६ ऋ० ८।४९।४ ७ ऋ० ८।१८।१९ ८ ऋ० ७।९३।६
९ ऋ० १०।१।३ १० ऋ० ५।९।४ ११ ऋ० ९।११०।२ १२ ऋ० १।४३।७
१३ ऋ० ४।४।७ १४ ऋ० १०।१०६।२

प्र—"अभि सव्येन प्र मृश।"[१-क] उरुमसि—"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै।"[२-ख] मूर्धनि—"नि पर्वतस्य मूर्धनि सदन्ता।"[३-ख] सद्म—"नक्षद्धोता परि सद्म मिता यन्।"[४-ख] वरन्त—"माद्भि: शरद्भिर्दुरो वरन्त वः॥"[५-ग]

उ० भा० अ०—जामिषु ∙ वरन्त—ये (अर्थात् इनके अन्तिम 'अक्षर') भी ग्यारह, बारह और आठ अक्षरो के (पादो) मे 'दीर्घ' नही होते हैं।····· ∙ ∙ ····।

प्रदिवि वरुण तमसि तिरसि
घृतमिव दिवि मम हि नु विशः।
उषसि पृथिवि रजसि वहसि
हनति पितरि वि विहि नि मधु॥४६॥

सू० अ०—(अधोलिखित मे भी ८।३६-३९ से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है)—'प्रदिवि', 'वरुण', 'तमसि', 'तिरसि', 'घृतमिव', 'दिवि', 'मम', 'हि', 'विशः' है पूर्व में जिसके ऐसा 'नु', 'उषसि', 'पृथिवि', 'रजसि', 'वहसि', 'हनति', 'पितरि', 'वि', 'विहि', 'नि' और 'मधु'।

उ० भा०—प्रदिवि, वरुण, तमसि, तिरसि, घृतमिव, दिवि, मम, हि, नु विशः, उषसि, पृथिवि, रजसि, वहसि, हनति, पितरि, वि, विहि, नि, मधु—इत्येतानि चैकादशिद्वादशिनोरष्टाक्षरे च न प्लवन्ते। प्रदिवि—"इन्द्र सोमासः प्रदिवि सुतासः।"[६-घ] वरुण—"अव ते हेळो वरुण नमोभिः।"[७-घ] तमसि—"यो अपाचीने तमसि मदन्तीः।"[८-घ] तिरसि—"प्र वेधसश्चित्तिरसि मनीषाम्।"[९-घ] घृतमिव—"मधुश्चुत घृतमिव सुपूतम्।"[१०-घ] दिवि "श्येनाइवेदधि दिवि निषेद।"[११-घ] मम—"अधा कामा इमे

टि० (क) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('प्र' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ख) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('उश्मसि' तथा 'मूर्धनि' का इकार और 'सद्म' का अकार) 'दीर्घ' नही हुए है।

(ग) ८।३८ का अपवाद। ग्यारह अक्षरों के पाद मे दशम 'अक्षर' ('वरन्त' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(घ) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह और बारह अक्षरो के पादों में अष्टम 'अक्षर' ('प्रदिवि', 'तमसि', 'तिरसि' तथा 'दिवि' के इकार और 'वरुण' तथा 'घृतमिव' के अकार) 'दीर्घ' नही हुए हैं।

---

[१] ऋ० ८।८१।६ [२] ऋ० १।१५४।६ [३] ऋ० ७।७०।३
[४] ऋ० १।१७३।३ [५] ऋ० २।२४।५ [६] ऋ० ३।४६।४
[७] ऋ० १।२४।१४ [८] ऋ० ७।६।४ [९] ऋ० ४।६।१
[१०] ऋ० ४।५७।२ [११] ऋ० ४।३५।८

मम वि वो मदे।"[१]-क हि—"यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि ष।"[२]-ख नु विशः—"तृणस्कन्दस्य नु विशः।"[३]-ग विशः इति कस्मात्? "तुर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रणे।"[४]-घ उषसि—"तमिद्दोषा तमुषसि यविष्ठम्।"[५]-ङ पृथिवि—"तद्वृत पृथिवि बृहत्।"[६]-च रजसि—"असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते।"[७]-छ वहसि—"अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृतः।"[८]-छ हनति—"पुरु च वृत्रा हनति नि दस्यून्।"[९]-छ पितरि—"काम कृण्वाने पितरि युवत्याम्।"[१०]-छ वि—"ओभे अप्रा रोदसी वि ष आव.।"[११]-छ विहि—"यजस्व वीर प्र विहि मनायत.।"[१२]-छ नि—"पराजितासो अप नि लयन्ताम्।"[१३]-छ मधु—"आन्नो वायो मधु पिव॥"[१४]-ज

उ० भा०—प्रदिवि ··· मधु—ये भी ग्यारह, वारह और आठ अक्षरो वाले (पादो) में 'दीर्घ' नही होते है।

टि० (क) ८।३६ का अपवाद। वारह अक्षरो के पाद मे अष्टम अक्षर' ('मम' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ख) ८।३८ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद मे दशम 'अक्षर' ('हि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('नु' का उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(घ) वारह अक्षरो के पाद में दशम 'अक्षर' ('नु' का उकार) ८।३८ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'नु' के वाद में 'विश' नही है।

(ङ) ८।३६ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम अक्षर' ('उषसि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(च) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('पृथिवि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(छ) ८।३६ के अपवाद। ग्यारह और वारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर' ('रजसि', 'वहसि', 'हनति', पितरि', 'वि', 'विहि' और 'नि' के इकार) 'दीर्घ' नही हुए है।

(ज) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरो के पाद मे छठा 'अक्षर' ('मधु' का उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

---

[१] ऋ० १०।२५।२ [२] ऋ० ५।२।७ [३] ऋ० १।१७२।३
[४] ऋ० ६।१५।५ [५] ऋ० ७।३।५ [६] ऋ० ५।६६।५
[७] ऋ० १०।८२।४ [८] ऋ० ८।६०।१५ [९] ऋ० ६।२९।६
[१०] ऋ० १०।६१।६ [११] ऋ० १।९७।३८ [१२] ऋ० २।२६।२
[१३] ऋ० १०।८४।७ [१४] ऋ० ८।२६।२०

सहस्राणि श्रोमतेनासनाम
च्छायामिवेषण्यसि सस्तु पाहि ।
गोपीथ्याय पवमानो वसन्ता-
न्सख्याय वोचेमहि मानुषस्य ॥४७॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी ८।३६-३९ से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है)—'सहस्राणि', 'श्रोमतेन', 'असनाम', 'छायामिव', 'इषण्यसि', 'सस्तु', 'पाहि', 'गोपीथ्याय', 'पवमान', 'वसन्तान्' हो बाद में जिसके ऐसा उकार, 'सख्याय', 'वोचेमहि' (और) 'मानुषस्य'।

उ० भा०- सहस्राणि, श्रोमतेन, असनाम, छायामिव, इषण्यसि, सस्तु, पाहि, गोपीथ्याय, पवमान, उ वसन्तान्, सख्याय, वोचेमहि, मानुषस्य—इत्येतानि चैकादशिद्वादशिनोरष्टाक्षरे च न प्लवन्ते ।

सहस्राणि—"त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च ।"[१-क] श्रोमतेन—"केनो नु क श्रोमतेन न शुश्रुवे ।"[२-क] असनाम—"रथं युक्तमसनाम सुषामणि ।"[३-क] छायामिव—"उप च्छायामिव घृणेः ।"[४-ख] इषण्यसि—'क नश्चित्रमिषण्यसि चिकित्वान् ।"[५-ग] सस्तु—"सस्तु माता सस्तु पिता ।"[६-घ] पाहि—"इन्द्र त्वं रथिरः पाहि नो रिषः ।"[७-ङ] गोपीथ्याय—"जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि ।"[८-च] पवमान—'सोम जहि पवमान दुराध्यः ।"[९-छ] उ वसन्तान्—"शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।"[१०-छ] वसन्तान् इति

टि० (क) ८।३६ के अपवाद। बारह अक्षरो के पादो में अष्टम अक्षर' ('सहस्राणि' का इकार और 'श्रोमतेन' तथा असनाम' के अकार) 'दीर्घ' नही हुए हैं ।

(ख) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरों के पाद में छठा 'अक्षर' ('छायामिव' का अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(ग) ८।३६ का अपवाद। ग्यारह अक्षरों के पाद में अष्टम 'अक्षर' (इषण्यसि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(घ) ८।३९ का अपवाद। आठ अक्षरो के पाद में छठा 'अक्षर' ('सस्तु' का उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(ङ) ८।३६ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद मे अष्टम 'अक्षर' ('पाहि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(च) ८।३८ का अपवाद। ग्यारह अक्षरो के पाद मे दशम 'अक्षर' ('गोपीथ्याय' का अकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है ।

(छ) ८।३६ के अपवाद। बारह और ग्यारह अक्षरो के पादो मे अष्टम 'अक्षर' ('पवमान' का अकार तथा 'उ') 'दीर्घ' नही हुए हैं ।

---

[१] ऋ० ८।६१।८ [२] ऋ० ८।६६।९ [३] ऋ० ८।२५।२२
[४] ऋ० ६।१६।३८ [५] ऋ० १०।९९।१ [६] ऋ० ७।५५।५
[७] ऋ० ३।२१।२० [८] ऋ० १०।९५।११ [९] ऋ० ९।७९।३
[१०] ऋ० १०।१६१।४

कस्मात् ? 'इदं त एकं पर ऊ त एकम् ।"[१-क] सख्याय—"मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।"[२-ख] वोचेमहि -'वयं श्वो वोचेमहि समर्ये ।"[३-ख] मानुषस्य—"अप द्रुहो मानुषस्य दुरो वः ॥"[४-ख]

उ० भा० अ०—सहस्राणि ° मानुषस्य—ये (अर्थात् इनके अन्तिम 'अक्षर') भी ग्यारह, बारह और आठ अक्षरों (के पादों) में 'दीर्घ' नहीं होते हैं। '' ।

(पादान्ते ह्रस्वस्य दीर्घभावः)

आव्य भूमेति पादान्तौ व्यञ्जनेषु ॥४८॥

(पाद के अन्त में ह्रस्व का दीर्घ होना)

सू० अ०—पाद के अन्त में विद्यमान 'आव्य' और 'भूम' ('दीर्घ' हो जाते हैं), यदि बाद में 'व्यञ्जन' हों।

उ० भा०—आव्य, भूम—इत्येतौ पादान्तौ व्यञ्जनेषु प्लवेते। आव्य—"अया धिया मनवे श्रुष्टिमाव्या साकम् ।"[५-ग] भूम—"न विव्य इन्द्रो वृजन न भूमा भर्ति" [६-घ], "तपन्ति शत्रुं स्वर्ण भूमा महासेनास ।"[७-ङ] व्यञ्जनाधिकारे पुनर्व्यञ्जनग्रहणं लघावित्यधिकारनिवृत्त्यर्थम् । पादान्तौ इति कस्मात् ? "शूने भूम कदा चन ॥"[८]

उ० भा० अ०—आव्य (और) भूम—ये दो, पादान्तौ=पाद के अन्त में विद्यमान होने पर; व्यञ्जनेषु=व्यञ्जन' बाद मे होने पर, 'दीर्घ' हो जाते हैं, (अर्थात् 'आव्य' और 'भूम' 'दीर्घ' हो जाते हैं यदि (१) ये पाद के अन्त में वर्तमान हो और (२) इनके बाद में 'व्यञ्जन' हों)। (७।१ से प्राप्त) 'व्यञ्जन के अधिकार में पुन. 'व्यञ्जन' का ग्रहण (८।३६ से प्राप्त) लघौ' के अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। "पाद के अन्त में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "शूने भूम कदा चन ।"[च]

टि० (क) ग्यारह अक्षरो के पाद में अष्टम 'अक्षर' ('उ') ८।३६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'उ' के बाद में वसन्तान्' पद नहीं है।

(ख) ८।३६ के अपवाद। बारह और ग्यारह अक्षरो के पादो में अष्टम 'अक्षर'('सख्याय' तथा 'मानुषस्य' के अकार और 'वोचेमहि' का इकार) 'दीर्घ' नही हुए हैं।

(ग) अया। धिया। मनवे। श्रुष्टिम्। आव्य। साकम् ॥ प० पा०

(घ) सम्। विव्ये। इन्द्र। वृजनम्। न। भूम। भर्ति। ॥ प० पा०

(ङ) तपन्ति। शत्रुम्। स्व। न। भूम। महाऽसेनास। ॥ प० पा०

(च) 'भूम' का अकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि 'भूम' पाद के अन्त में स्थित नहीं है।

---

[१] ऋ० १०।५६।१ [२] ऋ० १।१०१।१ [३] ऋ० १।१६७।१० [४] ऋ० १।१२१।४ [५] ऋ० १।१६६।१३ [६] ऋ० १।१७३।६ [७] ऋ० ७।३४।१९ [८] ऋ० १।१०५।३

श्रुधी हवम् ॥४९॥

सू० अ०—(पाद के अन्त में स्थित) 'श्रुधि' ('दीर्घ' हो जाता है), यदि 'हवम्' (बाद में हो)।

उ० भा०—श्रुधि इत्ययं पादान्तो हवम् इत्येतस्मिन्प्लवते। श्रुधी हवम्—"इमं मे वरुण श्रुधी हवम्।"[१] हवम् इति कस्मात्? उत्तरेष्वप्येवं योजना॥

उ० भा० अ०—हवम्—यह (पद) बाद में हो तो पाद के अन्त में स्थित श्रुधि—यह (पद) 'दीर्घ' हो जाता है। श्रुधि हवम्—"इम मे वरुण श्रुधी हवम्।"[क] हवम्—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? आगे वाले (अर्थात् ८।५० में निर्दिष्ट स्थलों) के विषय में भी इस प्रकार की योजना है (अर्थात् वहाँ भी ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं)।

सद्मा होता स्मा सनेमि धर्मा सं भूषता रथः ॥५०॥

सू० अ०—(पाद के अन्त में स्थित) 'सद्म', 'स्म', 'धर्म' (और) 'भूषत' ('दीर्घ' हो जाते हैं) यदि (बाद में क्रमशः) 'होता', 'सनेमि', 'सम्' (और) 'रथः' हो।

उ० भा०—इत्येते च पादान्ता यथागृहीतं प्लवन्ते। सद्मा होता—"स दूतो विश्वेदभि वष्टि सद्मा होता।"[२-ख] स्मा सनेमि—"कृतं चिद्धि ष्मा सनेमि।"[३-ग] धर्मा सम्—"समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा सम्।"[४-घ] भूषता रथः—"अभूदिदं वयुनमो षु भूषता रथः॥"[५-ङ]

टि० (क) इमम्। मे। वरुण। श्रुधि।
हवम्। ॥ प० पा०

(ख) स। दूत। विश्वा। इत्। अभि। वष्टि। सद्म।
होता। ॥ प० पा०
'होता' बाद में होने पर 'सद्म' 'दीर्घ' हो गया है।

(ग) कृतम्। चित्। हि। स्म।
सनेमि। ॥ प० पा०
'सनेमि' बाद में होने पर 'स्म' दीर्घ हो गया है।

(घ) सम्ऽइध्यमान। प्रथमा। अनु। धर्म।
सम्। ॥ प० पा०
'सम्' बाद में होने पर 'धर्म' 'दीर्घ' हो गया है।

(ङ) अभूत्। इदम्। वयुनम्। ओ इति। सु। भूषत।
रथ। ॥ प० पा०
'रथ' बाद में होने पर 'भूषत' 'दीर्घ' हो गया है।

---

[१] ऋ० १।२५।१९ [२] ऋ० ४।१।८ [३] ऋ० ४।१०।७
[४] ऋ० ३।१७।१ [५] ऋ० १।१८२।१

इति श्रीपार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्येऽष्टमं पटलम् ॥

उ० मा० अ०—पाद के अन्त में स्थित ये भी (संहिता-पाठ में) वैसे ही 'दीर्घ' हो जाते हैं जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं।..............।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यभाष्य में अष्टम पटल समाप्त हुआ।

---

९ : प्लुति-पटलम् (२)

पूर्वपदान्ते ह्रस्वस्य दीर्घभावः

अवग्रहरहितेषु पदेषु पद्येषु चान्तर्ह्रस्वस्य दीर्घभावः

(पूर्वपदान्ते ह्रस्वस्य दीर्घभावः)

सर्वत्र पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वसुमघयोः परयोः ॥१॥

(पूर्व-पद के अन्त में ह्रस्व का दीर्घ होना)

सू० अ०—'वसु' और 'मघ' वाद में हो तो पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाते हैं।

उ० भा०—पूर्वपदान्ताः सर्वत्र प्लवन्ते; (वसुमघयोः=) वसुमघ इत्येतयोः: परयोः सतोः। वसु—"पुरूवसुर्हि मघवन्"[१]; "विश्वावसुं सोम गन्धर्वमापः।"[२] मघ—"अश्वामघा गोमघा वां हुवेम"[३]; "तुविदेष्ण तुवीमघम्।"[४]

उ० भा० अ०—पूर्वपदान्ताः=पूर्व-पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर'); सर्वत्र प्लवन्ते=सभी स्थलों पर 'दीर्घ' हो जाते हैं, (वसुमघयोः=) 'वसु' और 'मघ'—ये (शब्द); परयोः=वाद में हो तो। वसु—"पुरूवसु[क]-र्हि मघवन्"; "विश्वावसु[क] सोम गन्धर्वमाप।" मघ—"अश्वामघा[क] गोमघा वा हुवेम", "तुविदेष्ण तुवीमघम्[क]।"

उ० भा०—सर्वत्रग्रहणं पादान्ताधिकारनिवृत्यर्थम्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। पूर्वपदान्ता इत्येव सिद्धम्। नहि पूर्वपदान्तस्य पादान्ते संभवोऽस्ति। वक्ष्यति हि—"पदाभेदेन पादानां विभागः"[५] इति। तस्मान्नार्थ सर्वत्रग्रहणेन। यदि न क्रियेत पादान्ते वर्तमानयोरेव वसुमघयोः पूर्वपदान्ताः प्लवन्त इति विज्ञायेत। तदेहैव स्यात्—"त्वावत पुरूवसो"[६] "तुविदेष्णं तुवीमघम्"[७] इति। इह न स्यात्—"पुरूवसुर्हि मघवन्"[८]; "अश्वामघा गोमघा"[९] इति। नैष दोषः। नैवं हि शक्य विज्ञातुं प्रथमानिर्दिष्टत्वात्पादान्तग्रहणस्य।

उ० भा० अ०—(सूत्र मे) सर्वत्र का ग्रहण पादान्त के अधिकार की निवृत्ति के के लिए किया गया है।[ख] (पू०) (सूत्र में 'सर्वत्र' के ग्रहण का) यह प्रयोजन नही है। (सूत्र में जो यह कहा गया है कि) पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' ('दीर्घ' हो जाते हैं)—उससे ही यह सिद्ध (हो जाता है) क्योकि पूर्व-पद के अन्तिम 'अक्षर' का पाद के अन्त में स्थित होना सभव नही है। (सूत्रकार) वतलायेंगे—"पदों का विभाग किए विना पादो

टि० (क) पुरुऽवसु। विश्वऽवसुम्। अश्वऽमघा। तुविऽमघम्॥ प० पा०

(ख) सिद्धान्ती का कहना है कि प्रस्तुत सूत्र में 'सर्वत्र' पद के ग्रहण करने का प्रयोजन है ८।४८ से प्राप्त 'पादान्तौ' के अधिकार की निवृत्ति। 'सर्वत्र' का ग्रहण करके 'पादान्तौ' की निवृत्ति न की जाती तो पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर', पाद के अन्त में वर्तमान होने पर ही, 'दीर्घ' होते।

---

[१] ऋ० ७।३२।२४ [२] ऋ० १०।१३९।४ [३] ऋ० ७।७१।१
[४] ऋ० ८।८१।२ [५] १७।२४ [६] ऋ० ८।४६।१
[७] ऋ० ८।८१।२ [८] ऋ० ७।३२।२४ [९] ऋ० ७।७१।१

का विभाग (करना चाहिए)।"क इसलिए (सूत्र में) सर्वत्र का ग्रहण करना निष्प्रयोजन है। (सि०) यदि (सूत्र में सर्वत्र का ग्रहण करके 'पादान्त' अधिकार की निवृत्ति) न की जावे तो यह समझ लिया जायेगा कि "पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' तभी 'दीर्घ' होते है जब 'वसु' और 'मघ' पाद के अन्त में वर्तमान होवे।" तब यही पर (दीर्घत्व) होगा—"त्वावत पूरूवसो"; "तुविदेष्ण तुवीमघम्।" (किंतु) यहाँ पर (दीर्घत्व) नही होगा—"पुरूवसुर्हि मघवन्"; "अश्वामघा गोमघा।" (पू०) यह दोष नही है।ख यह कोई भी नही समझ सकता है क्योकि (८।४८ में) 'पादान्त' शब्द को प्रथमा (विभक्ति) में निर्दिष्ट किया गया है।ग

उ० भा०—अन्तःपादाधिकारनिवृत्त्यर्थं तर्हि सर्वत्रग्रहणं क्रियते। ननु चैतदपि पूर्वपदान्ता इत्येव सिद्धम्। नहि पूर्वपदान्ता अनन्त पादं संभवन्ति। न सिध्यति। नहि पादादिस्यस्यान्तःपादकार्याणीष्यन्ते। कस्मात्? यदयं वधिमादिषु यथोदयेषु त्तवशब्दस्य

टि० (क) पूर्वपक्षी का कहना है कि पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' पाद के अन्त में वर्तमान नही हो सकते है। १७।२४ में यह विधान किया गया है कि पादो का विभाग करते समय पद का विभाग नही करना चाहिए। इस विधान के अनुसार ऐसी स्थिति कभी नही हो सकती है कि किसी समस्त-पद का पूर्व-पद किसी पाद के अन्त में हो और उत्तर-पद दूसरे पाद के प्रारम्भ में हो। इसलिए सूत्र में 'सर्वत्र' पद का ग्रहण करके 'पादान्तौ' के अधिकार को निवृत्त करने की आवश्यकता ही नही है।

(ख) सिद्धान्ती का कहना है कि यदि सूत्र में 'सर्वत्र' पद का ग्रहण करके 'पादान्तौ' के अधिकार की निवृत्ति न की जावे तो 'पादान्तौ' को 'वसु' और 'मघ' के साथ सम्बद्ध माना जा सकता है जिससे पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' तभी 'दीर्घ' होगे जब 'वसु' और 'मघ' पाद के अन्त में विद्यमान होवे। ऐसी स्थिति में पाद के अन्त में वर्तमान भाष्योक्त 'पुरूवसो' (पुरूवसो इति पुरुऽवसो॥ प० पा०) और 'तुवीमघम्' (तुविऽमघम्॥ प० पा०) आदि स्थलो में ही पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' होगे। भाष्योक्त 'पुरूवसु' (पुरुऽवसु॥ प० पा०) और 'अश्वामघा' (अश्वऽमघा॥ प० पा०) आदि स्थलो पर पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही होगे क्योकि यहाँ 'वसु' और 'मघ' पाद के अन्त में वर्तमान नही है। किंतु सहिता-पाठ में इन स्थलो पर भी पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' होते है। इसलिए 'पादान्तौ' के अधिकार की निवृत्ति करना आवश्यक है।

(ग) पूर्वपक्षी का कहना है कि 'पादान्तौ' 'वसु' और 'मघ' के साथ सम्बद्ध नही हो सकता है क्योकि 'पादान्तौ' प्रथमा विभक्ति में है और 'वसुमघयो' षष्ठी विभक्ति में है। इन दोनो का अन्वय नही हो सकता है। इसलिए कोई भी यह नही समझ सकता है कि पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' तभी 'दीर्घ' होगे जब पाद के अन्त में वर्तमान 'वसु' और 'मघ' बाद में होवे। इसलिए सूत्र में 'सर्वत्र' का ग्रहण निष्प्रयोजन है।

पाठे सति—"भृणुधि भृणुत यन्त यच्छत स्तव इति"[१] पादादिप्लुत्यर्थं शते च पठति तज्ज्ञापयति न पादादिस्थस्यान्तःपादकार्याणि भवन्तीति ।

उ० भा० अ०—(सि०) तब (सूत्र में) सर्वत्र का ग्रहण अन्तःपाद (पाद के मध्य में) के अधिकार की निवृत्ति के लिए किया गया है।[क] (पू०) (सूत्र में जो यह कहा गया है कि) पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' ('दीर्घ' हो जाते हैं)—उससे ही यह भी सिद्ध हो जाता है। (क्योकि) पाद के मध्य को छोड़ कर अन्यत्र पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' नही आ सकते है।[ख] (सि०) सिद्ध नही होता है। पाद के मध्य में स्थित (वर्ण अथवा पद) के लिए विहित कार्य पाद के आदि में स्थित (वर्ण अथवा पद) के विषय में (सूत्रकार को) अभीष्ट नही है। (पू०) क्यो ? (सि०) यथादय 'दविम' आदि में 'स्तव' शब्द का पाठ होने पर (भी) जो ये (सूत्रकार) पाद के आदि में स्थित (स्तव) के दीर्घत्व के लिए सौ (शब्दो) में 'स्तव' (शब्द) का पाठ "भृणुधि भृणुत यन्त यच्छत स्तव" करते है उससे यह बतलाते है कि पाद के मध्य मे स्थित (वर्ण अथवा पद) के लिए विहित कार्य पाद के आदि मे स्थित (वर्ण अथवा पद) पर लागू नही होते है .[ग]

टि० (क) सिद्धान्ती का कहना कि ८।१ से प्राप्त 'अन्त.पाद' (पाद के मध्य में) की निवृत्ति के लिए सूत्र में 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है। यदि 'सर्वत्र' पद का ग्रहण करके 'अन्त पाद' (पाद के अध्य में) के अधिकार को निवृत्त नही किया जावे तो पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर', पाद के मध्य मे स्थित होने पर ही, 'दीर्घ' होगे। पाद के आदि में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस अधिकार की निवृत्ति होने पर तो पाद के आदि में स्थित होने पर भी पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जायेंगे।

(ख) पूर्वपक्षी का कहना है कि पाद के आदि में सूत्र की प्रवृत्ति करने के लिए अन्त.-पाद' (पाद के मध्य में) के अधिकार की निवृत्ति करना अनावश्यक है। पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' सर्वदा पाद के मध्य में ही स्थित होते हैं। जब पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' पाद के आदि में स्थित ही नही हो सकते तब पूर्व-पदो के अन्तिम अक्षरो के दीर्घत्व के विधायक इस सूत्र की पादादि में प्रवृत्ति कराना अनावश्यक है। पाद के आदि में स्थित पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' भी तो पाद के मध्य में ही स्थित है, इसलिए इनके अन्तिम अक्षरो का 'दीर्घ' होना भी इसी सूत्र से सिद्ध हो जायेगा।

(ग) सिद्धान्ती का कहना है कि 'अन्त पाद' (पाद के मध्य में) के अधिकार की निवृत्ति न करने पर तो इस सूत्र से पाद के आदि में स्थित पूर्व-पदो के अन्तिम अक्षरो का 'दीर्घ' होना सिद्ध नही होता है। ८।१५ में पाद के मध्य में स्थित 'दविम' पद के अन्तिम 'अक्षर' के 'दीर्घ' होने का विधान किया गया है और ७।३३ में पाद के आदि में स्थित 'दविम' पद के अन्तिम 'अक्षर' के दीर्घत्व का विधान किया गया है। 'दविम' का अन्तिम 'अक्षर' तो पाद के मध्य में

[१] ७।३३

यद्येतज्ज्ञाप्यते पूर्वस्मिन्नन्तःपादाधिकारे—"महाँ इन्द्र परश्च"[1] इति नकारस्य लोपो न प्राप्नोति। नैष दोष। नात्र पद गृहीत्वा कार्यमुच्यते। किं तर्हि? नकारम्। नकारः पुनरन्तःपादं भवति। यत्र तर्हि पद गृहीत्वा कार्यमुच्यते तत्र दोषो भवत्येव। यथा—"वास्तोरित्येतत्पतिशब्द उत्तरे"[2] इति—"वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्"[3] इति पादादिस्थस्य न स्यात्; "अमीवहा वास्तोष्पते"[4] इत्येतत्पादान्तःस्थस्यैव स्यात्। तथा—शवसो महः सहस इळायाः पात्वित्येक पुत्रशब्दे पराणि"[5] इतीहैव स्यात्—"पिपर्षि यत्सहसस्पुत्र देवान्"[6] इति; इह न स्यात्—"सहसस्पुत्रो अद्भुतः"[7] इति। एव तर्हि दीर्घभाव एवैतज्ज्ञापकं भविष्यतीति प्रकरणात्। अन्यत्र त्वन्त.पादाधिकारे वर्तमाने षत्वसत्वयोर्वर्णविशेषणत्वात्—"वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्"[8]; "सहसस्पुत्रो अद्भुतः"[9] इति सिद्धं भवति।

उ० भा० अ०—(पू०) यदि यह ज्ञापक है तो अन्तःपाद का अधिकार पहले से लागू होने से—"महाँ इन्द्र. परश्च"—यहाँ नकार का लोप प्राप्त नही होता है।[क] (सि०) यह दोष नही है। यहाँ पद का ग्रहण करके कार्य (लोप) का विधान नही किया गया है। (पू०) तब किसको? (सि०) नकार को। नकार तो पाद के मध्य में ही स्थित होता है।[ख] (पू०) तब तो (अर्थात् ऐसी वस्तुस्थिति होने पर तो) जहाँ पद का ग्रहण करके कार्य का विधान किया जाता है वहाँ दोष होता ही है। जैसे—"'पति' शब्द बाद में हो तो 'वास्तो' यह (पद) ('षत्व' को प्राप्त होगा)"—इस (सूत्र) से—

(५१५ग) ही विद्यमान होता है चाहे 'दधिम' पद पाद के आदि में हो और चाहे पाद के मध्य में स्थित हो। एसी स्थिति होने पर भी पाद के आदि में स्थित 'दधिम' के अन्तिम 'अक्षर' के दीर्घत्व का विधान सूत्रकार ने पृथक् सूत्र में किया है। इससे यह ज्ञापक सिद्ध हो गया है—पाद के मध्य में स्थित वर्ण अथवा पद के लिए विहित कार्य पाद के आदि में स्थित वर्ण अथवा पद पर लागू नही होते हैं।

टि० (क) इकार बाद में होने पर 'महान्' के नकार का लोप ४।६५ से होता है। ४।६५ में 'अन्त पादम्' (पाद के मध्य में) का अधिकार ४।४२ से अनुवृत्त है। पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि पाद के मध्य में स्थित वर्ण अथवा पद के विषय में विहित कार्य पाद के आदि में स्थित वर्ण अथवा पद मे नही होता है तो 'महान्' के नकार का लोप ४।६५ से नही होना चाहिए क्योकि 'महान्' पद पाद के [illegible] में स्थित है।

(ख) सिद्धान्ती का कहना है कि ४।६५ में पद का ग्रहण करके कार्य का विधान नहीं किया गया है। वहाँ तो यह विधान है कि 'स्वर'-वर्ण बाद में होने पर आकार के बाद में स्थित नकार का लोप हो जाता है। नकार तो पाद के मध्य में ही स्थित है, अत उसके लोप होने में कोई बाधा नही है।

---

[1] ऋ० १।८।५ [2] ४।८६ [3] ऋ० ७।५४।१
[4] ऋ० ७।५५।१ [5] ४।५९ [6] ऋ० ५।४।६
[7] ऋ० २।७।६ [8] ऋ० ७।५४।१ [9] ऋ० २।७।६

"वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्"—यहाँ पाद के आदि में स्थित ('वास्तो.' का) ('षत्व') नहीं होगा; "अमीवहा वास्तोष्पते"—यहाँ पाद के मध्य में स्थित ('वास्तो' का) ही ('षत्व') होगा।[क] उसी प्रकार—"'शवस', 'मह.', 'सहस.' (और) 'इळाया.' (इन पदों में से) एक (='शवस.'), 'पातु' (शब्द बाद में होने पर), ('सत्व' को प्राप्त होता है), अन्य (='मह.', 'सहस.' और 'इळाया'), 'पुत्र' शब्द बाद में होने पर, ('सत्व' को प्राप्त होते है)"—इस (सूत्र) से यही ('सत्व') होगा—"पिपर्षि यत्सहसस्पुत्र देवान्", यहाँ ('सत्व') नहीं होगा—"सहस्पुत्रो अद्भुत ।" (सि०) इस प्रकार तो (अर्थात् ऐसी वस्तुस्थिति होने पर तो) 'दीर्घभाव' में ही यह ज्ञापक होगा क्योंकि दीर्घभाव के प्रकरण में ही यह ज्ञापक स्थापित हुआ है। किंतु अन्यत्र तो (जहाँ विसर्जनीय का) षत्व' तथा 'सत्व' हुआ है वहाँ (पाद के मध्य में स्थित पद के लिए विहित कार्य पाद के आदि में स्थित पद में) सिद्ध होता है क्योंकि (४।४२ में अन्त.पाद अधिकार) वर्ण का विशेषण है—"वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्"; "सहसस्पुत्रो अद्भुत ।"[ख]

तज्ज्ञापकादिहैव स्यात्—"वाजेषु प्रासहं युजम्"[1] इत्येवमादिषु, इह न स्यात्—प्रासहा सम्राट्"[2] इत्येवमादिषु। तस्मात्सर्वत्रग्रहणं क्रियते। वसुसघयोः इति कस्मात्? "हरी विपक्षसा रथे"[3]

उ० भा० अ०—इस ज्ञापक से यहीं पर (दीर्घत्व) होगा—"वाजेषु प्रासह[ग] युजम्" इत्यादि में; यहाँ पर (दीर्घत्व) नहीं होगा—"प्रासहा[ग] सम्राट्" इत्यादि में।

टि० (क) भाष्योक्त दोनों ही उदाहरणों में 'वास्तोष्पते' (वास्तोः। पते ॥ प० पा०) में 'वास्तो' के विसर्जनीय का 'षत्व' ४।४६ से हुआ है। ४।४६ में 'अन्त पादम्' का अधिकार ४।४२ से अनुवृत्त है। पूर्वपक्षी का कहना है कि उपर्युक्त ज्ञापक के प्रकाश में प्रथम उदाहरण में 'वास्तोः' के विसर्जनीय का षत्व' नहीं होना चाहिए क्योंकि (१) वास्तो.' पद पाद के आदि में वर्तमान है और (२) ४।४६ में 'वास्तो.' पद का ग्रहण करके ही 'षत्व' का विधान किया गया है। ठीक उसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में 'सहस.' के विसर्जनीय का 'सत्व' भी ४।५९ से नहीं होगा क्योंकि (१) ४।५९ में भी 'अन्त.पाद' का अधिकार ४।४२ से प्राप्त है, (२) 'सहस.' पाद के आदि में वर्तमान है और (३) ४।५९ मे 'सहस पद का ग्रहण करके ही 'सत्व' का विधान है।

(ख) सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के आरोप को स्वीकार कर लिया है और उपर्युक्त ज्ञापक को दीर्घभाव तक ही सीमित कर दिया है जिससे यह निश्चित हो गया है कि पाद के मध्य में स्थित वर्ण अथवा पद के लिए विहित कार्य पाद के आदि में स्थित वर्ण अथवा पद पर दीर्घभाव के प्रसङ्ग मे लागू नहीं होते है अन्यत्र तो लागू होते है।

(ग) प्रऽसहम्। प्रऽसहा ॥ प० पा०

इन दोनों स्थलों पर ९।४ से 'प्र' का अकार 'दीर्घ होता है। यदि ९।१ में 'सर्वत्र' पद का ग्रहण न करके 'अन्त पादम्' (पाद के मध्य मे) के अधिकार को निवृत्त न किया जाता तो 'अन्त पादम्' का अधिकार ९।४ मे भी अनुवृत्त

[1] ऋ० १।१२९।४ [2] ऋ० ८।४६।२० [3] ऋ० १।६।२

इसलिए (सूत्र में) सर्वत्र का ग्रहण किया गया है। "'वसु' और 'मघ' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "हरी विपक्षसा रथे।"[क]

रवे तुवि ॥२॥

सू० अ०—'रव' बाद में हो तो 'तुवि' ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—रवे प्रत्यये तुवि इत्ययं पूर्वपदान्त प्लवते। "स इद्दासं तुवीरवम्[ख]"[१]; "कया कविस्तुवीरवान्[ख]।"[२] रवे इति कस्मात् ? "तुविदेष्ण तुवीमघम्॥"[३-ग]

उ० भा० अ० –रवे='रव' बाद में हो तो; तुवि—इस पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है। ·· ······· ।

विश्व विभ्व धन्व रथर्ति
शत्रु द्युम्न यज्ञेति सहतौ ॥३॥

सू० अ०—'सह' धातु बाद मे हो तो 'विश्व', 'विभ्व', 'धन्व', 'रथ', 'ऋति', 'शत्रु', 'द्युम्न' (और) 'यज्ञ'–ये (अर्थात् इन पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर') ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—विश्व, विभ्व, धन्व, रथ, ऋति, शत्रु, द्युम्न, यज्ञ—इत्येते पूर्वपदान्ताः सहतौ प्रत्यये प्लवन्ते। विश्व—"विश्वासाह[घ]-मवसे।"[४] विभ्व—"होर्तविभ्वासह[घ] रयिम्।"[५] धन्व—"धन्वासहा[घ] नायते।"[६] रथ—"युक्वा हि त्वं रथासहा[घ]।"[७] ऋति—"त वो वस्मम्तीषहम्[घ]।"[८] शत्रु—"शत्रूषाहः[घ] स्वग्नयः।"[९] द्युम्न—"द्युम्नासाहमभि[घ] योधान उत्सम्।"[१०] यज्ञ—"यज्ञासाह[घ] दुव इषे।"[११]

(५१७ ग) होता। इससे 'प्रासहा' में दीर्घत्व न होता क्योकि 'प्रासहा' पाद के आदि में विद्यमान है और पाद के आदि में विद्यमान पर ९।४ लागू न होता। ९।१ में 'सर्वत्र' का ग्रहण होने से यहाँ भी दीर्घत्व सिद्ध होता है।

टि० (क) हरी इति। विऽपक्षसा। रथे॥ प० पा०
पूर्व-पद 'वि' का इकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'वि' के बाद में न 'वसु' है और न 'मघ'।

(ख) तुविऽरवम्। तुविऽरवान्॥ प० पा०

(ग) तुविऽदेष्णम्। तुविऽमघम्॥ प० पा०
'तुवि' का अन्तिम 'अक्षर' (इकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'तुवि' के बाद में 'रव' न होकर 'देष्णम्' है। 'मघम्' बाद में होने पर 'तुवि' का अन्तिम 'अक्षर' (इकार) ९।१ से 'दीर्घ' हुआ है।

(घ) विश्वऽसहम्। विभ्वऽसहम्। धन्वऽसहा। रथऽसहा। ऋतिऽसहम्। शत्रुऽसह। द्युम्नऽसहम्। यज्ञऽसहम्॥ प० पा०

---

[१] ऋ० १०।९९।६ [२] ऋ० १०।६४।४ [३] ऋ० ८।८१।२
[४] ऋ० ३।४७।५ [५] ऋ० ५।१०।७ [६] ऋ० १।११२।३
[७] ऋ० ८।२६।२० [८] ऋ० ८।८८।१ [९] ऋ० ८।६०।६
[१०] ऋ० १।१२१।८ [११] ऋ० १०।२०।७

उ० भा० अ०—विश्व··· · यज्ञ—इन पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम अक्षर'); सहतौ='सह' धातु बाद में होने पर; 'दीर्घ' हो जाते हैं। ·········· · ।

प्र चाप्लुते ॥४॥

सू० अ०—दीर्घत्व को न प्राप्त ('अप्लुत') ('सह' धातु) बाद में हो तो 'प्र' भी ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—प्र इत्ययं च पूर्वपदान्तः प्लवते अप्लुते सहतौ प्रत्यये। "अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्।"[१-क] अप्लुते इति कस्मात्? "मत्सरासो जर्हृषन्त प्रसाहम्।"[२-ख]

उ० भा० अ०—प्र-इस पूर्व-पद का, च=भी; अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाता है; अप्लुते=दीर्घत्व को न प्राप्त; 'सह' धातु बाद में होने पर, (अर्थात् पूर्व-पद 'प्र' का अकार आकार हो जाता है यदि इसके बाद में ऐसी 'सह' धातु होवे जिसका अकार आकार न हुआ हो)। ·· ···· ··।

सहप्रवादा उदयास्तमान्ताः ॥५॥

सू० अ०—(पूर्व-पदों के) बाद में आने वाले 'तम' पर्यन्त (शब्दों) को सभी रूपों ('प्रवाद') के सहित (समझना चाहिए)।

उ० भा०—वसु, मघ, रव, सहति, वृति, वर्त, यवस, तम—इत्येते च तमान्ता उदयाः सहप्रवादा वेदितव्याः। एतेषामाद्यानां चतुर्णां सहप्रवादानामुक्तान्युदाहरणानि। अवशिष्टानामुत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥

उ० भा० अ०—वसु, मघ, रव, सहति, वृत्ति, वर्त, यवस (और) तम—इन तमान्ताः=('वसु' से लेकर) 'तम' पर्यन्त; उदयाः=(पूर्व-पदों के) बाद में आने वालों को; सहप्रवादाः=सभी रूपों के सहित; जानना चाहिए; (अर्थात् ९।१ में निर्दिष्ट 'वसु' शब्द से लेकर ९।७ में निर्दिष्ट 'तम' शब्द तक उल्लिखित पदों का कोई भी रूप बाद में होने पर पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है)। इनमें से पहले वाले चार ('वसु', 'मघ', 'रव' और 'सहति') के उदाहरण सभी रूपों में दिये जा चुके हैं। अवशिष्ट ('वृति', 'वर्त', 'यवस' और 'तम') के उदाहरणों को आगे देंगे।

पर्यभ्यपापीति वृतावृवर्णे ॥६॥

सू० अ०—'ऋ' वर्ण वाली 'वृत' (धातु) बाद में हो तो 'परि', 'अभि', 'अप' (और) 'अपि'—ये (अर्थात् इनके अन्तिम 'अक्षर') ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—परि, अभि, अप, अपि—इत्येते च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वृतौ तु

टि० (क) अचेति। प्रऽसह। पति। तुविष्मान्॥ प० पा०
(ख) मत्सरासः। जर्हृषन्त। प्रऽसहम्॥ प० पा०
'प्र' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि संहिता-पाठ में 'प्र' के बाद में दीर्घत्व' को न प्राप्त 'सह' धातु न होकर, दीर्घत्व को प्राप्त 'सह' धातु (=साहम्) है।

[१] ऋ० १०।७४।६ [२] ऋ० ६।१७।४

ऋवर्णे प्रत्यये। परि—"अपो विव्रतं तमसा परीवृतम्[क]।"[१] अभि—"घृतेन द्यावापृथिवी अभीवृते[क]"[२]; "अभीवृतं[क] कृशनैर्विश्वरूपम्।"[३] अप—"राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्[क]।"[४] अपि—"अपीवृतो[क] अशयन्मातुरूधः।"[५] ऋवर्णे इति कस्मात्? "उत व्रजमपवर्तासि गोनाम्॥"[६-ख]

उ० भा० अ०—परि, अभि, अप (और) अपि—इन पूर्व-पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') भी 'दीर्घ' हो जाते हैं, ऋवर्णे वृतौ='ऋ' वर्ण वाली 'वृत' (धातु) बाद मे होने पर।

अभीवर्तः सूयवसो रथीतमः
पुरूतमोऽनन्तरर्धर्चे उत्तमः ॥७॥

सू० अ०—'अभीवर्तः', 'सूयवसः', 'रथीतमः'(और) पुरूतमः' (के पूर्व-पदो के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)। अन्तिम (अर्थात् 'पुरूतमः') अर्धर्च के मध्य मे न हो (तो तभी इसके पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' होता है)।

उ० भा०—अभीवर्तः, सूयवसः, रथीतमः, पुरूतमः—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ता प्लवन्ते। उत्तमः=पुरूतम इति तु, (अनन्तरर्धर्चे=) अर्धर्चस्यादावन्ते वा वर्तमानः, प्लवते। अभीवर्तः—"अभीवर्तेन[ग] हविषा।"[७], "अभीवर्तो[ग] यथासति।"[८] सूयवसः—"प्रजावतीः सूयवसं[ग] रिशन्तीः"[९]; "धेनुं न त्वा सूयवसे[ग]।"[१०] रथीतमः—"रथीतमं[ग] रथीनाम्"[११]; "पवमानो रथीतमः[ग]।"[१२] पुरूतमः—"पुरूतमं[ग] पुरूणाम्"[१३], "अध्वराणां पुरूतमम्[क]।"[१४] अनन्तरर्धर्चे इति कस्मात्? "मरुतां पुरुतममपूर्व्यम्॥"[१५-घ]

उ० भा० अ०—अभीवर्तः, सूयवसः, रथीतमः (और) पुरूतमः—इन पूर्व-पदो के भी अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। उत्तमः=अन्तिम='पुरूतम'-यह (पद), तो, (अनन्तरर्धर्चे=अर्धर्च के मध्य में न होने पर=) अर्धर्च के आदि में अथवा अन्त में वर्तमान होने पर, 'दीर्घ' होता है।

टि० (क) परिऽवृतम्। अभिवृते इत्यभिऽवृते। अभिऽवृतम्। अपऽवृतम्। अपिऽवृत॥ प० पा०

(ख) उत। व्रजम्। अपऽवर्ता। असि। गोनाम्॥ प० पा०

'अप' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि 'अप' के बाद मे 'वर्ता' है जिसमें 'ऋ' वर्ण नही है।

(ग) अभिऽवर्तन। अभिऽवर्त। सुऽयवसम्। सुऽयवसे। रथिऽतमम्। रथिऽतम। पुरुऽतमम्॥ प० पा०

(घ) मरुताम्। पुरुऽतमम्। अपूर्व्यम्॥ प० पा०

'पुरु' का अन्तिम 'अक्षर' (उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि यहाँ 'पुरुतमम' अर्धर्च के मध्य मे है।

---

[१] ऋ० १०।११३।६ [२] ऋ० ६।७०।४ [३] ऋ० १।३५।४ [४] ऋ० १।५७।१
[५] ऋ० १०।३२।४ [६] ऋ० ४।२०।८ [७] ऋ० १०।१७४।१ [८] ऋ० १०।१७४।३
[९] ऋ० ६।२८।७ [१०] ऋ० ७।१८।४ [११] ऋ० १।११।१ [१२] ऋ० ९।६६।२६
[१३] ऋ० ६।४५।२९ [१४] ऋ० ८।१०२।७ [१५] ऋ० ५।५६।५

कवद्दु धान्य मिथु चर्षणि स्तन पिबेति सर्वत्र यथोदयं च ॥८॥

सू० अ०—'कव', 'ऋद्दु', 'धान्य', 'मिथु', 'चर्षणि', 'स्तन' (और) 'पिब'—ये (अर्थात् इनके अन्तिम 'अक्षर') सर्वत्र ('दीर्घ' हो जाते हैं), चाहे इनके बाद में कोई भी (पद) हो।

उ० भा० कव, ऋद्दु, धान्य, मिथु, चर्षणि, स्तन, पिब—इत्येते च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। यथोदयं च=यस्मिन्कस्मिन् वा प्रत्यये। कव—"तनूशुभ्र मघवा य. कवासख.[क]।"[१] ऋद्दु —"ऋद्दूपे[क] चिद्दूवृधा[क]।"[२] धान्य—"वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः[क]।"[३] मिथु ."निष्वापया मिथूदृशा[क]।"[४] चर्षणि—"गां न चर्षणीसहम्[क]", "चर्षणीधृत[क] मघवानमुक्थ्यम्।"[५] स्तन—"स्तनाभुजो[क] अशिश्वी।"[७] पिब—"पिबापिबे[क]-दिन्द्र शूर सोमम्।"[८] सर्वत्रग्रहणमनन्तरर्धर्चे इत्यधिकारनिवृत्त्यर्थम्॥

उ० भा० अ०—कव पिब—इन पूर्व-पदों के भी अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। यथोदयं च=जो कोई भी (पद) बाद में होने पर। . . . । (सूत्र में) 'सर्वत्र' का ग्रहण 'अर्धर्च के मध्य में न होने पर" इस अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)।

त्विष्युक्थेत्येता उदये मकारे ॥९॥

सू० अ० -मकार बाद में होने पर 'त्विषि' (और) 'उक्थ'—ये दो (पद 'दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—त्विषि, उक्थ–इत्येतौ पूर्वपदान्तौ प्लवेते मकारे उदये। त्विषि—"त्विषीमन्तो अध्वरस्येव।"[९-ख] उक्थ –"बृहस्पतिरुक्थामदानि शंसिषत्।"[१०] मकारे इति कस्मात्? "उक्थभृतं सामभृतम्॥"[११-ग]

उ० भा० अ०—त्विषि (और) उक्थ—इन दो पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं, मकारे उदये=मकार बाद मे होने पर। ··· ·· ···।

टि० (क) कवऽसख। ऋद्दुऽपे। ऋद्दुऽवृधा। धान्यऽकृत। मिथुऽदृशा। चर्षणिऽसहम्। चर्षणिऽधृतम्। स्तनऽभुज.। पिबऽपिब॥ प० पा०

(ख) त्विषिऽमन्त। अध्वरस्यऽइव॥ प० पा०

(ग) उक्थऽभृतम्। सामऽभृतम्॥ प० पा०

यहाँ 'उक्थ' 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योकि 'उक्थ' के बाद में मकार न होकर भकार है।

---

[१] ऋ० ५।३४।३ [२] ऋ० ८।७७।११ [३] ऋ० १०।९४।१३

[४] ऋ० १।२९।३ [५] ऋ० ८।१।२ [६] ऋ० ३।५१।१

[७] ऋ० १।१२०।८ [८] ऋ० २।११।११ [९] ऋ० ६।६६।१०

[१०] ऐ० ब्रा० २।३८।९ [११] ऋ० ७।३३।१४

पर्युर्वक्षेत्यमकारेऽनुनासिके ॥१०॥

सू० अ०—मकार के अतिरिक्त अन्य कोई 'अनुनासिक' ('व्यञ्जन') बाद में हो तो 'परि', 'उरु' और 'अक्ष' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—परि, उरु, अक्ष—इत्येते पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते अनुनासिके प्रत्यये, (अमकारे=) मकारं वर्जयित्वा। परि—"चक्राणासः परीणहं[क] पृथिव्याः।"[1] उरु—"उरूणसा-वसुतृपौ।"[2][क] अक्ष—"अक्षानहो[क] नह्यतनोत सोम्याः।"[3] अमकारे इति कस्मात्? "विप्रासः परिमामृशुः॥"[ख]

उ० भा० अ० - परि, उरु, अक्ष —इन पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') दीर्घ हो जाते हैं; (अमकारे=) मकार को छोड़कर; अनुनासिके='अनुनासिक' ('व्यञ्जन') बाद में होने पर; (अर्थात् मकार को छोड़कर अन्य कोई भी 'अनुनासिक' 'व्यञ्जन' बाद में हो तो 'परि', 'उरु' और 'अक्ष'—इन पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं)। .... ।

पित्र्य माहिनाकपि भङ्गुराश्व
विश्वदेव्य भेषज तुग्रय पस्त्य।
सुम्नर्तारातीत्युदये वकारे ॥११॥

सू० अ०—वकार बाद में हो तो 'पित्र्य', 'माहिन', 'अकपि', 'भङ्गुर', 'अश्व', 'विश्वदेव्य', 'भेषज', 'तुग्रय', 'पस्त्य', 'सुम्न', 'ऋत' (और) 'अराति' ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—पित्र्य, माहिन, अकपि, भङ्गुर, अश्व, विश्वदेव्य, भेषज, तुग्रय, पस्त्य, सुम्न, ऋत, अराति—इत्येते च पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वकारे; (उदये=) प्रत्यये। पित्र्य—"योषेव पित्र्यावती[ग]।"[4] माहिन—"व्यनीक पस्त्यते माहिनावान्[ग]।"[5] अकपि—"बहुन्नामकपीवलाम्[ग]।"[6] भङ्गुर—"अप हत रक्षसो भङ्गुरावतः[ग]।"[7] अश्व—"अश्वावतीं[ग] सोमावतीम्[घ]।"[8] विश्वदेव्य—"विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता[ग]।"[9][10] भेषज—"भेष-

टि० (क) परिऽनहम्। उरुऽनसौ। अक्षऽनहः॥ प० पा०

(ख) विप्रासः। परिऽमनृशुः॥ प० पा०

यहाँ 'परि' का अन्तिम 'अक्षर' (इकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'परि' के बाद में मकार है, कोई अन्य 'अनुनासिक' 'व्यञ्जन' नहीं।

(ग) पित्र्यऽवती। माहिनऽवान्। अकपिऽवलाम्। भङ्गुरऽवतः। अश्वऽवतीम्। विश्वदेव्यऽवता॥ प० पा०

(घ) 'सोमवतीम्' (सोमऽवतीम् ॥ प० पा०) के दीर्घत्व के लिए ९।२३ को देखिए।

---

[1] ऋ० १।३३।८ [2] ऋ० १०।१४।१२ [3] ऋ० १०।५३।७

[4] ऋ० ८।९।३ [5] ऋ० ९।४६।२ [6] ऋ० ३।५६।३

[7] ऋ० १०।१४६।६ [8] ऋ० १०।७६।४ [9] ऋ० १०।९७।७

[10] ऋ० १०।१७०।४

जावान्।" तुग्रय—मन्दन्तु तुग्रयावृध[क]।"[१] पस्त्य—"शर्यो देव धन्व पस्त्यावान्[क]।"[२] सुम्न—"सुम्नावरी[क] सूनृता ईरयन्ती।"[३] ऋत—"ऋतावा[क] यस्य रोदसी।"[४] अराति—"अरातीवा[क] मा नस्तारीत्।"[५] वकारे इति कस्मात्? "ये अश्वदा उत॥[६-ख]

उ० भा० अ०—**वकारे** (उदये)=वकार बाद में होने पर; **पित्र्य** .... **अराति**—इन पूर्व-पदों के भी अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। ....।

वैभ्वादयश्च ॥१२॥

सू० अ०—(वकार बाद में होने पर) (९।१७ में उल्लिखित) 'वैभु' आदि भी ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—**वैभ्वादयश्च** पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वकारे प्रत्यये। वैभ्वादीनुत्तरत्रोदाहरिष्यामः॥

उ० भा० अ०—**वैभ्वादयश्च**=(९।१७ मे उल्लिखित) 'वैभु' आदि भी; पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते है, वकार बाद में होने पर। 'वैभु' आदि के उदाहरणों को आगे (९।१७ के भाष्य में) प्रस्तुत करेंगे।

पृशनादयस्तु यकारे ॥१३॥

सू० अ०—यकार बाद में होने पर तो (९।१६ में उल्लिखित) 'पृशन' आदि ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

उ० भा०—**पृशनादयस्तु** पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते यकारे प्रत्यये। पृशनादींश्चोत्तरत्रोदाहरिष्यामः॥

उ० भा० अ०—**पृशनादयस्तु**=(९।१६ में उल्लिखित) 'पृशन' आदि पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर'); 'दीर्घ' हो जाते हैं; **यकारे**=यकार बाद में होने पर। 'पृशन' आदि के उदाहरणों को (९।१६ के भाष्य में) प्रस्तुत करेंगे।

अराति कवि सुक्रतु श्रुधि
पितु सुम्न रय्यृताश्वेति चैते ॥१४॥

सू० अ०—(यकार बाद में होने पर) 'अराति', 'कवि', 'सुक्रतु', 'श्रुधि', 'पितु', 'सुम्न', 'रयि', 'ऋत' (और) 'अश्व'—ये भी ('दीर्घ' हो जाते हैं)।

टि० (क) तुग्रयऽवृध। पस्त्यऽवान्। सुम्नऽवरी। ऋतऽवा। अरातिऽवा॥ पा० पा०

(ख) ये। अश्वऽदा.। उत॥ प० पा०

'अश्व' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योकि 'अश्व' के बाद में वकार न होकर दकार है। वकार बाद में होने पर ही सूत्र में उक्त शब्दों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' होते हैं।

---

[१] ऋ० ८।१।१५ [२] ऋ० ९।९७।१८ [३] ऋ० १।११३।१२
[४] ऋ० ३।१३।२ [५] ऋ० ९।११४।४ [६] ऋ० ५।४२।८

उ० भा०—इत्येते च पूर्वपदान्ता प्लवन्ते यकारे प्रत्यये। अराति—"अरातीयतो[क] नि दहाति वेदः।"[१] कवि—"कवीयमानः[क] क इह प्र वोचत।"[२] सुक्रतु—"वि यो ममे रजसी सुक्रतूयया[क]।"[३] श्रुधि—श्रुधीयत[क]-दिचद्यतथः।" पितु—"प्रवत्ते अग्ने जनिमा पितूयतः[क]।"[४] सुम्न—"सुम्नायव[क] ईमहे देवयन्तः।"[५] रयि—"अयमु वा पुरतमो रयीयन्[क]।"[७] ऋत—"ऋतायिनी[क] मायिनी।"[८] अश्व—"अश्वायन्तो[क] गव्यन्तः।"[९] यकारे इति कस्मात्? "ये अश्वदा उत॥"[१०-ख]

उ० भा० अ०—इन पूर्व-पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') भी 'दीर्घ' हो जाते हैं, यदि यकार बाद में हो। ... ... ।

न त्वश्व सुम्नर्त वृषेति पद्या
एकाक्षरादा उदये यकारे॥१५॥

सू० अ०—किंतु 'अश्व', 'सुम्न', 'ऋत' (और) 'वृष'—ये (पूर्व-) 'पद्य' होने पर ('दीर्घ') नहीं (होते हैं), यदि इनके बाद में एकाक्षर (शब्द) के आदि में स्थित यकार हो।

उ० भा० न तु खलु प्लवन्ते अश्व, सुम्न, ऋत, वृष—इत्येते पद्या एकाक्षरादौ यकारे; (उदये=) प्रत्यये। अश्व—"अश्वयु[ग]-र्गव्यू रथयुः।"[११] सुम्न—"त वः शर्धं मारुतं सुम्नयु[ग]।"[१२] ऋत—"त्व न इन्द्र ऋतयुः[ग]।"[१३] वृष—"अत्यो न यूथे वृषयु।"[१४-घ]

टि० (क) अरातिऽयत'। कविऽयमान। सुक्रतुऽयया। श्रुधिऽयत। पितुऽयतः। सुम्नऽयव। रयिऽयन्। ऋतयिनी इत्यृतऽयिनी। अश्वऽयन्तः॥ प० पा०

(ख) ये। अश्वऽदा। उत॥ प० पा०
'अश्व' का अन्तिम 'अक्षर' (उकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि इस बाद में यकार न होकर दकार है।

(ग) अश्वऽयु। सुम्नऽयु। ऋतऽयु॥ प० पा०
९।१४ के अपवाद। 'अश्व', 'सुम्न' और 'ऋत' के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुए हैं क्योंकि बाद में एकाक्षर शब्द ('यु')के आदि में विद्यमान यकार स्थित है।

(घ) अत्य.। न। यूथे। वृषऽयु॥ प० पा०
९।१३ का अपवाद। ९।१६ में उल्लिखित 'वृष' का अंतिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि बाद में एकाक्षर शब्द ('यु') के आदि में विद्यमान यकार स्थित है।

---

१ ऋ० १।९९।१
२ ऋ० १।१६४।१८
३ ऋ० १।१६०।४
४ ऋ० ६।६७।३
५ ऋ० १०।१४२।२
६ ऋ० ६।१।७
७ ऋ० ३।६२।२
८ ऋ० १०।५।३
९ ऋ० १०।१६०।५
१० ऋ० ५।४२।८
११ ऋ० १।५१।१४
१२ ऋ० २।३०।११
१३ ऋ० ८।७०।१०
१४ ऋ० ९।७७।५

एकाक्षरादौ इति कस्मात् ? "अश्वायन्तो[क] गव्यन्तः"[१]; "सुम्नायव[क] ईमहे[२]"; "ऋतायिनी[क] मायिनी"[३]; "वृषायमाणोऽवृणीत।"-ख यकारे इति कस्मात् ? "ऋतावा यस्य रोदसी ॥"[५]-ग

उ० भा० अ०—तु=किंतु, अश्व, सुम्न, ऋत, (और) वृष—ये, पद्याः=(पूर्व-) 'पद्य' होने पर, न=नहीं, 'दीर्घ' होते हैं, एकाक्षरादौ यकारे=एक 'अक्षर' वाले (शब्द) के आदि में स्थित यकार; (उदये=) बाद में होने पर, (अर्थात् प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित शब्द 'दीर्घ' नहीं होते हैं यदि (१) ये पूर्व-पद्य' हों और (२) इन पदों के बाद में ऐसा यकार हो जो एकाक्षर पद के आदि में स्थित हो)। ।

पृशनाजिरर्जु मधु पुत्रि जनि
क्रतु वल्गु वन्धुर वृकाङ्कु दम।
वृजिनाध्वरीषु वृष मध्य सखि
स्तभु दुच्छुनाघ यवि शत्रु वसु ॥१६॥

सू० अ०—(९।१३ में निर्दिष्ट 'पृशन' आदि शब्द ये हैं) –'पृशन', 'अजिर', 'ऋजु', 'मधु', 'पुत्रि', 'जनि', 'क्रतु', 'वल्गु', 'वन्धुर', 'वृक', 'अङ्कु', 'दम', 'वृजिन' 'अध्वरि' 'इषु', 'वृष', 'मध्य', 'सखि', 'स्तभु', 'दुच्छुन', 'अघ', 'यवि', 'शत्रु' (और) 'वसु'।

उ० भा०—पृशन, अजिर, ऋजु, मधु, पुत्रि, जनि, क्रतु, वल्गु, वन्धुर वृक, अङ्कु, दम, वृजिन, अध्वरि, इषु, वृष, मध्य, सखि, स्तभु, दुच्छुन, अघ यवि,

टि० (क) अश्वऽयन्त । सुम्नऽयव । ऋतऽिनी इत्यृतऽयिनी ॥ प० पा०

९।१४ से 'अश्व', सुम्न' और 'ऋत' के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गए हैं क्योंकि इनके बाद में विद्यमान यकार एक 'अक्षर' वाले शब्द के आदि में स्थित न होकर एक से अधिक अक्षरों वाले शब्दों के आदि में स्थित है।

(ख) वृषऽमाण । अवृणीत ॥ प० पा०

९।१३ से 'वृष' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि इसके बाद में विद्यमान यकार एक 'अक्षर' वाले शब्द के आदि में स्थित न होकर एक से अधिक अक्षरों वाले शब्दों के आदि मे स्थित है।

(ग) ऋतऽवा । यस्य । रोदसी इति ॥ प० पा०

९।११ से 'ऋत' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि इसके बाद में यकार से प्रारम्भ होने वाला एकाक्षर शब्द न होकर वकार से प्रारम्भ होने वाला एकाक्षर शब्द है।

---

[१] ऋ० १०।१६०।५ [२] ऋ० ६।१।७ [३] ऋ० १०।५।३
[४] ऋ० १।३२।३ [५] ऋ० ३।१३।२

शत्रु, वसु –इतीमे पृशनादयो ये पूर्वसूत्रे निर्दिष्टा । पृशन—"ता अस्य पृशनायुवः[क]।"[१] अजिर—"स्तोम इन्द्राजिरायते[क]।"[२] ऋजु—'ऋजूयन्तमनु[क] व्रतम्।"[३] मधु—"शमू षु वां मधूयुवा[क]।"[४] पुत्रि—"पुत्रीयन्तः[क] सुदानवः।"[५] जनि—"जनीयन्तो[क] न्वग्रवः।"[६] क्रतु—क्रतूयन्ति[क] क्रतवः।"[७] वल्गु—"वल्गूयति[क] वन्दते।"[८] वन्धुर—"यः सूर्यां वहति वन्धुरायुः[क]।"[९] वृक—"वृकायु[क]-राददिशति।"[१०] अङ्कु—"यमङ्कूयन्त[क]-मानयन्।"[११] दम—"भृण्वे वीर उग्रमुग्र दमायन्[क]।"[१२]

वृजिन—"सत्यध्वृत वृजिनायन्तम्[क]।"[१३] अध्वरि—"जामयो अध्वरीयताम्[क]।"[१४] इषु—"क्त्वा वेधा इषूयते[क]।"[१५] वृष—"वृषायमाण[क] उप।"[१६] मध्य—"मध्यायुव[क] उप शिक्षन्ति।"[१७] सखि—'विश्वश्रुष्टिः सखीयते[क]।"[१८] स्तभु—"स्तभूयमानं[क] वहतो वहन्ति।"[१९] दुच्छुन—"किमस्मान्दुच्छुनायसे[क]।"[२०] अघ—"अघायते[क] जातवेदः।"[२१] यवि—"स धर्ता जज्ञे सहसा यवीयुत्[क]।"[२२] शत्रु—"शत्रूयन्तो[क] अभि।"[२३] वसु—"अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुः[क]॥"[२४]

उ० भा० अ०—पृशन ' वसु—ये हैं वे 'पृशन' आदि (शब्द) जो पूर्व-सूत्र (९।१३) में निर्दिष्ट हैं।······· ·।[ख]

वैभु हादुनि पुष्ट पर्वताहुति

शुभ्र हृदयामति सह वृष्ण्य शक्ति।

सप्ति स्वधिति कृशन वयुनर्ण

घृणि हित धित विषु सुतर्त्विय नीथ ॥१७॥

सू० अ० (९।१२ में निर्दिष्ट 'वैभु' आदि शब्द ये है) "वैभु', 'ह्रादुनि', 'पुष्ट', 'पर्वत', 'आहुति', 'शुभ्र', हृदय', अमति', 'सह', 'वृष्ण्य', 'शक्ति', 'सप्ति',

टि० (क) पृशनऽयुव । अजिरऽयते । ऋजुऽयन्तम् । मधुऽयुवा । पुत्रिऽयन्त । जनिऽयन्त । क्रतुऽयन्ति । वल्गुऽयति । वन्धुरऽयु । वृकऽयु । अङ्कुऽयन्तम् । दमऽयन् । वृजिनऽयन्तम् । अध्वरिऽयताम् । इषुऽयते । वृषऽयमाण । मध्यऽयुव । सखिऽयते । स्तभुऽयमानम् । दुच्छुनऽयसे । अघऽयते । यविऽयुत् । शत्रुऽयन्त । वसुऽयु ।

(ख) इस सूत्र में उन शब्दो को गिनाया गया है जिनके दीर्घत्व का विधान ९।१३ में किया गया है।

---

१ ऋ० १।८४।११
२ ऋ० ८।१४।१०
३ ऋ० १।१३६।५
४ ऋ० ५।७४।९
५ ऋ० ७।९६।४
६ ऋ० ७।९६।४
७ ऋ० १०।६४।२
८ ऋ० ४।५०।७
९ ऋ० ४।४४।१
१० ऋ० १०।१३३।४
११ ऋ० ६।१५।१७
१२ ऋ० ६।४७।१६
१३ ऋ० १०।२७।१
१४ ऋ० १।१२३।२६
१५ ऋ० १।१२८।४
१६ ऋ० ३।५२।५
१७ ऋ० १।१७३।१०
१८ ऋ० १।१२८।१
१९ ऋ० ३।७।४
२० ऋ० ७।५५।३
२१ ऋ० ८।७१।७
२२ ऋ० १०।६१।९
२३ ऋ० १०।८९।१५
२४ ऋ० १।५१।१४

'स्वधिति', 'कृशन', 'वयुन', 'ऋण', 'घृणि', 'हित', 'धित', 'विषु', 'सुत', 'ऋत्विय' (और) 'नीथ' ।

उ० भा०—वैभु, ह्रादुनि, पुष्ट, पर्वत, आहुति, शुभ्र, हृदय, अमति, सह, वृष्ण्य, शक्ति, सप्ति, स्वधिति, कृशन, वयुन, ऋण, घृणि, हित, धित, विषु सुत ऋत्विय, नीथ—इतीमे वैभ्वादयो ये पूर्वसूत्रे निर्दिष्टाः । वैभु—"वैभूवसो(क) मूर्धन्यघ्न्यायाः ।"[1] ह्रादुनि—"अन्दया चिन्मुहुरा ह्रादुनीवृत(क) ।"[2] पुष्ट "पुष्टावन्तो(क) यथा पशुम् ।"[3] पर्वत "क्षरन्तः पर्वतावृधः(क) ।"[4] आहुति "युवानमाहुतीवृधम्(क) ।"[5] शुभ्र—"अन्तः शुभ्रावता(क) पथा ।"[6] हृदय -"उतापवक्ता हृदयाविध(क)-श्चित ।"[7] अमति—"न मे स्तोतामतीवा(क) न ।"[8] सह "सहावा(क) इन्द्र सानसिः ।"[9] वृष्ण्य—"यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्(क) ।"[10] शक्ति—"शक्तीवो(क) यद्विभरा रोदसी ।"[11]

सप्ति—"सप्तीवन्ता(क) सपर्यवः ॥[12] स्वधिति—"रुक्मो न चित्र स्वधितीवान्(क) ।"[13] कृशन -"मदच्युतः कृशनावतः(क) ।"[14] वयुन—"वि होत्रा दधे वयुनावि(क)-देक इत् ।"[15] ऋण—"ऋणावा(क) बिभ्यद्धनमिच्छ- मानः ।"[16] घृणि—"घृणीवा(क)-ञ्चेततित्मना ।"[17] हित—"विपन्यामहे वि पर्णिहितावान्(क) ।"[18] धित—श्रुष्टीवानं धितावानम्(क) ।"[19] विषु "विषूवृ(क)-दिन्द्रो अमतेः ।"[20] सुत—'सुतावन्त(क)-स्त्वा वयम् ।"[21] ऋत्विय—'इय त ऋत्वियावती(क) ।"[22] नीथ—"नीथाविदो(क) जरितारः ॥"[23]

उ० भा० अ०—वैभु · नीथ—ये हैं वे 'वैभु' आदि(शब्द) जो पूर्व-सूत्र(९।१२) में निर्दिष्ट हैं । · · · · · · ·।ख

टि० (क) वैभुऽवसः । ह्रादुनिऽवृत । पुष्टऽवन्त । पर्वतऽवृधः । आहुतिऽवृधम् । शुभ्रऽवता । हृदयऽविध । अमतिऽवा । सहऽवान् । वृष्ण्यऽवान् । शक्तिऽव. । सप्तिऽवन्ता । स्वधितिऽवान् । कृशनऽवत । वयुनऽवित् । ऋणऽवा । घृणिऽवान् । हितऽवान् । धितऽवानम् । विषुऽवृत । सुतऽवन्तः । ऋत्वियऽवती । नीथऽविदः ॥ प० पा०

(ख) इस सूत्र में उन शब्दों को गिनाया गया है जिनके दीर्घत्व का विधान ९।१२ म किया गया है ।

[1] ऋ० १०।४६।३ [2] ऋ० ५।५४।३ [3] ऋ० ८।४५।१६
[4] ऋ० ९।४६।१ [5] ऋ० ९।६७।२९ [6] ऋ० ९।१५।३
[7] ऋ० १।२४।८ [8] ऋ० ८।१९।२६ [9] ऋ० १।१७५।२
[10] ऋ० ६।२२।१ [11] ऋ० ५।३१।६ [12] ऋ० ७।९४।१०
[13] ऋ० १।८८।२ [14] ऋ० १।१२६।४ [15] ऋ० ५।८१।१
[16] ऋ० १०।३४।१० [17] ऋ० १०।१७६।३ [18] ऋ० १।१८०।७
[19] ऋ० ३।२७।२ [20] ऋ० १०।४३।३ [21] ऋ० ८।६५।६
[22] ऋ० ८।१२।१० [23] ऋ० ३।१२।५

नर्तवाकेनाश्ववित्सुम्नयन्ता
वसुवसु प्रसहानोऽभिवावृते ।
परिवृतं नाभिवृत्य ॥१८॥

सू० अ०—(अधोलिखित समस्त-पदों के पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' दीर्घ') नहीं (होते हैं) - 'ऋतवाकेन', 'अश्ववित्', 'सुम्नयन्ता', 'वसुवसु', 'प्रसहानः', 'अभिवावृते', नकार बाद में हो तो 'परिवृतम् (और) अभिवृत्य'।

उ० भा० ऋतवाकेन, अश्ववित् सुम्नयन्ता, वसुवसु, प्रसहानः अभिवावृते, परिवृतं न अभिवृत्य —इत्येते पूर्वपदान्ताः पूर्वलक्षणप्राप्ता न प्लवन्ते। ऋतवाकेन— "ऋतवाकेन(क) सत्येन।"[१] अश्ववित् —"परि णो अश्वमश्ववित्(क)।"[२] सुम्नयन्ता— "गीर्भिर्मित्रावरुणा सुम्नयन्ता।"[३-ख] वसुवसु—"वसुवसु वः पार्थिवाय।"[४-ग] प्रसहानः— 'स सनीळेभिः प्रसहानो अस्य।"[५-घ] "प्र चाप्लुते"[६] इति प्राप्ते। अभिवावृते—"येनेन्द्रो अभिवावृते।"[७] "पर्यभ्यपापीति वृतावृवर्णे"[८] इति प्राप्ते। अत्रोच्यते—वकारेण व्यवधानात्प्राप्तिरेव नास्ति। तस्मात्ज्ञार्थः प्रतिषेधनिपातनेन। एवं सिद्धे सति यन्निपातनं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः व्यवहितेऽपि निमित्ते क्वचित्कार्यं भविष्यतीति। किमेतस्य ज्ञापनेन प्रयोजनम्? "उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्"[९] इति इन्द्रः इत्यत्र नकारवकाररेफ-व्यवहितस्यापि स्वरितस्याकारस्यानुदात्तत्वं भवतीति। स्यान्मतं वचनाद्भविष्यतीति। अस्ति वचनस्यावकाशः—"प्रउगम्"[१०] इति। परिवृतं न —"अपा वृधि परिवृतं न राधः।"[११] न इति कस्मात्—"अपो बिभृतं तमसा परीवृतम्।"[१२] अभिवृत्य —"अभिवृत्य सपत्नान्।"[१३]

टि० (क) ऋतऽवाकेन। अश्वऽवित्॥ प० पा०
९।११ के अपवाद। वकार बाद में होने पर भी 'ऋत' और 'अश्व' के अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नहीं हुए हैं।

(ख) गीःऽभिः। मित्रावरुणा। सुम्नऽयन्ता॥ प० पा०
९।१४ का अपवाद। यकार बाद में होने पर भी 'सुम्न' का अन्तिम अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है।

(ग) वसुऽवसु। व। पार्थिवाय। सुन्वते॥ प० पा०
९।१ का अपवाद। 'वसु' बाद में होने पर भी पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर' (उकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है।

(घ) स। सऽनीळेभि। प्रऽसहान। अस्य॥ प० पा०
९।४ का अपवाद। दीर्घत्व को न प्राप्त 'सह' धातु बाद में होने पर भी 'प्र' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नहीं हुआ है।

---

[१] ऋ० ९।११३।२ [२] ऋ० ९।६१।३ [३] ऋ० ६।४९।१
[४] ऋ० १०।७६।८ [५] ऋ० १०।९९।२ [६] ९।४
[७] ऋ० १०।१७४।१ [८] ९।६ [९] ३।७
[१०] ऋ० १०।१३०।३ [११] ऋ० ७।२७।२ [१२] ऋ० १०।११३।६
[१३] ऋ० १०।१७४।२

उ० भा० अ०—**ऋतवाकेन, अश्ववित्, सुम्नयन्ता, वसुवसु, प्रसहानः, अभिवावृते, परिवृतं न**=नकार बाद में हो तो 'परिवृतम्' (और) अभिवृत्य–इन (समस्त-पदो) में पूर्व-पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') पूर्व-नियमो के अनुसार 'दीर्घ' नही होते है।.... । **अभिवावृते**—"येनेन्द्रो अभिवावृते"[क]—" 'ऋ' वर्ण वाली 'वृत' (धातु) बाद में हो तो 'परि', 'अभि', 'अप' (और) 'अपि' (के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते है)"—इससे ('अभि' के इकार का दीर्घत्व) प्राप्त होने पर (प्रस्तुत सूत्र से निषेध किया गया है)। (पू०) यहाँ हमारा कहना है कि वकार का व्यवधान होने से (दीर्घत्व की) प्राप्ति ही नही होती है। इसलिए प्रतिषेध का निपातन करने का कोई प्रयोजन ही नही है।[ख] (सि०) इस प्रकार (वकार के व्यवधान के कारण प्रतिषेध) सिद्ध होने पर जो (प्रतिषेध का) निपातन करते है उससे आचार्य बतलाते है कि कही-कही निमित्त के व्यवहित होने पर भी विकार होता है। (पू०) यह बतलाने का क्या प्रयोजन है ? (सि०) "एक पद में 'उदात्त' है पूर्व में जिसके ऐसे 'स्वरित' 'अक्षर' को 'अनुदात्त' (जानना चाहिए)"–इस (सूत्र) से 'इन्द्र' मे नकार, दकार और रेफ से व्यवहित 'स्वरित' अकार 'अनुदात्त' होता है।[ग] (पू०) मै मानता हूँ कि ('स्वरित' का यह अनुदात्तत्व) इस सूत्र से होता है।[घ] (सि०) सूत्र का अवकाश है—"प्रउगम्"।[ङ] **परिवृतं न**—"अपा वृधि परिवृत न राध।"[च] न–

टि० (क) येन। इन्द्र। अभिऽववृते॥ प० पा०

९।६ का अपवाद। 'ऋ' वर्ण वाली वृत' धातु बाद मे होने पर भी 'अभि' का इकार 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ख) पू०—'अभि' और 'वृत' धातु के मध्य मे वकार का व्यवधान है जिससे 'वृत' (विकार का निमित्त) के कारण 'अभि' के इकार के 'दीर्घ' होने का प्रश्न ही नही उठता। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर 'अभि' के इकार के 'दीर्घ' होने का निषेध करना व्यर्थ है।

(ग) सि०—यद्यपि 'अभि' के इकार का 'दीर्घ' न होना इस प्रस्तुत निषेध के बिना भी सिद्ध है तथापि आचार्य ने इसका निषेध प्रस्तुत सूत्र में किया है। इससे सूचित होता है कि कही-कही विकार करने वाले और विकृत होने वाले के मध्य में व्यवधान होने पर भी विकार होता है। उदाहरण के लिए 'इन्द्र' पद को लेते है। 'उदात्त' इकार तथा 'स्वरित' अकार के मध्य में नकार, दकार तथा रेफ का व्यवधान होने पर भी 'उदात्त' के कारण 'स्वरित' को ३।७ के अनुसार 'अनुदात्त' समझा जाता है।

(घ) पू०—३।७ के जितने भी उदाहरण है उन सब में 'उदात्त' और 'स्वरित' के मध्य में 'व्यञ्जन' का व्यवधान होता है। अत ३।७ को चरितार्थ करने के लिए व्यवधान होने पर भी स्वरित' को 'अनुदात्त' समझा जाता है।

(ङ) सि०—'प्रउगम्' ऐसा स्थल है जहाँ 'उदात्त' और 'स्वरित' के मध्य में 'व्यञ्जन' का व्यवधान नही है। इस स्थल पर ३।७ चरितार्थ हो जाता है। अत यह कहना ठीक नही है कि ३।७ को चरितार्थ करने के लिए ही व्यवधान

यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अपो बिभ्रतं तमसा परीवृतम् ।"[क] अभिवृत्य—"अभिवृत्य सपत्नान् ।"[ख]

अश्ववच्च पादान्ते ॥१६॥

सू० अ०—पाद के अन्त में विद्यमान 'अश्ववत्' में भी (पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं होता है) ॥

उ० भा०—अश्ववत् इत्येतस्मिन्पूर्वपदान्तः पादान्ते न तु प्लवते । अश्ववत्—"दधानो गोमदश्ववत् ।"[१] पादान्ते इति कस्मात् ? "अश्वावद्गोमद्यवमत् ॥"[२]

उ० भा० अ०—अश्ववत्—इस (समस्त-पद) में पूर्व-पद का अन्त (=अन्तिम 'अक्षर'); पादान्ते=पाद के अन्त में विद्यमान होने पर, 'दीर्घ' नहीं होता है। अश्ववत्—"दधानो गोमदश्ववत् ।"[ग] "पाद के अन्त में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अश्वावद्गोमद्यवमत् ।"[घ]

सर्वत्र परे मघस्य ॥२०॥

सू० अ०—'मघस्य' बाद में हो तो (पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर') सर्वत्र (अर्थात् कहीं भी) ('दीर्घ' नहीं होता) है।

उ० भा०—मघस्य इति षष्ठ्यन्ते परे सति वसुमघयोरिति प्राप्ते पूर्वपदान्तो न प्लवते । मघस्य—'प्रायं स्तुषे तुविमघस्य दानम् ।"[३] षष्ठ्यन्तादन्यत्र प्लवते—"धुषि चित्रामघे हवम् ।"[४] सर्वत्रग्रहणं पादान्ताधिकारनिवृत्त्यर्थम् ॥

(५२९ ङ) रहते हुए भी यहाँ विकार होता है। अत 'इन्द्र.' इन उदाहरण से सूचित होता है कि कहीं-कहीं विकार करने वाले और विकृत होने वाले के मध्य में व्यवधान रहते हुए भी विकार हो जाता है। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने 'अभि' के दीर्घत्व का निषेध किया है।

(च) परिऽवृतम् ॥ प० पा० ॥ ९।६ का अपवाद । 'वृत' धातु बाद में होने पर भी 'परि' का इकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है ।

टि० (क) 'परि' का इकार ९।६ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'परीवृतम्' ('परिऽवृतम्' ॥ प० पा०) के बाद में 'त' नहीं है ।

(ख) अभिऽवृत्य ॥ प० पा० ॥ ९।६ का अपवाद ।

(ग) दधान । गोऽमत् । अश्वऽवत् ॥ प० पा० ॥ ९।११ का अपवाद । वकार बाद में होने पर 'अश्व' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं हुआ है ।

(घ) अश्वऽवत् । गोऽमत् । यवऽमत् ॥ प० पा० ॥ यहाँ 'अश्व' का अन्तिम 'अक्षर' ९।११ से दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'अश्ववत्' पाद के अन्त में नहीं है ।

---

१ ऋ० ८।४६।५
२ ऋ० ८।९३।३
३ ऋ० ५।३३।६
४ ऋ० १।४८।१०

उ० भा० अ०—**मघस्य**—यह षष्ठ्यन्त (पद); **परे**=वाद में होने पर "'वसु' और 'मघ' वाद में होने पर"—इस (९।१) के अनुसार (दीर्घत्व) प्राप्त होने पर पूर्व-पद का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही होता है। मघस्य—'प्रार्य स्तुषे तुविमघस्य दानम्।' षष्ठ्यन्त से अन्यत्र दीर्घत्व होता है—'श्रुधि चित्रामघे हवम्।'[क] (सूत्र में) **सर्वत्र** का ग्रहण (९।१९ से प्राप्त) 'पादान्त' के अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)।

अश्वयूपायाश्वयुजोऽश्वयोगाः
सहवाहः सुम्नयन्तर्तयन्त।
सहवसुं सहवत्सर्तयुक्ति
सहवीरं वयुनवच्चकार ॥२१॥

सू० अ०—(**अधोलिखित समस्त-पदों के पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं होते हैं**) 'अश्वयूपाय', अश्वयुजः', 'अश्वयोगाः', 'सहवाहः', 'सुम्नयन्ता', 'ऋतयन्त', 'सहवसुम्', 'सहवत्सा', 'ऋतयुक्तिम्', 'सहवीरम्' (और) वयुनवत्'—**जब इसके वाद में चकार हो।**

उ० भा०—इत्येतेषां च पूर्वपदान्ताः पूर्वलक्षणप्राप्ताः न प्लवन्ते। **अश्वयूपाय**—"चषाल ये अश्वयूपाय[ख] तक्षति।"[१] **अश्वयुजः**—"वयोवृधो अश्वयुजः[ख] परिज्रयः।"[२] **अश्वयोगाः**—'उत न ईं मतयोऽश्वयोगाः[ख]।"[३] **सहवाहः**—"बृहस्पतिं सहवाहो[ग] वहन्ति।"[४] **सुम्नयन्ता**—"गीर्भिर्मित्रावरुणा सुम्नयन्ता[घ]।"[५] **ऋतयन्त**—"कद्रु स्तुवन्त ऋतयन्त।"[६]

टि० (क) यह सूत्र ९।१ का अपवाद है। 'तुविमघस्य' (तुविऽमघस्य ॥ प० पा०) में 'तुवि' का इकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'तुवि' के वाद में 'मघस्य' विद्यमान है। 'चित्रामघे' (चित्रऽमघे॥ प० पा०) में 'चित्र' का अकार ९।१ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि चित्र' के वाद में 'मघस्य' नही अपितु 'मघे' है।

(ख) अश्वऽयूपाय। अश्वऽयुज। अश्वऽयोगा ॥ प० पा० ॥ ९।१४ के अपवाद। यकार वाद में होने पर अश्व' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) सहऽवाह ॥ प० पा० ॥ ९।१२ का अपवाद। वकार वाद में होने पर ९।१७ में उल्लिखित सह' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(घ) सुम्नऽयन्ता। ऋतऽयन्त ॥ प० पा०॥ ९।१४ के अपवाद। यकार वाद में होने पर 'सुम्न' और ऋत' के अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुए है। 'सुम्नयन्ता' में 'सुम्न' के दीर्घत्व का निषेध दो वार (९।१८ और ९।२१ में) किया गया है। यह पुनरुक्ति चिन्त्य है।

---

[१] ऋ० १।१६२।६ [२] ऋ० ५।५४।२ [३] ऋ० १।१८६।७
[४] ऋ० ७।९७।६ [५] ऋ० ६।४९।१ [६] ऋ० ८।३।१४

सह्वसुम्—"यो नार्मरं सहवसुम्[क] ।"[१] सहवत्सा—' दानु शये सहवत्सा न[ख] ।"[२] ऋतयुक्तिम्—"ऋत ववन्त ऋतयुक्ति[ख]-मग्मन् ।"[३] सहवीरम्—"धाता रयिं सहवीर[ग] तुरासः ।"[४] वयुनवच्चकार—"सूर्येण वयुनव[ग]-च्चकार ।"[५] चकार इति कस्मात्? "ज्योतिस्तमसो वयुनाव[घ]-दस्थात् ॥"[६]

उ० भा० अ०—इन (समस्त-पदो) के पूर्व-पदो के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') पूर्व-नियमो से प्राप्त दीर्घत्व को प्राप्त नही होते है। ·· ·· ।

सुम्नायुर्जुह्व ऋतायन्नृतायु-
मुग्रादेवं दक्षिणावानृतायोः ।
वृषारवाय सूमयं शताव-
न्नपीजुवापरीवृतोऽनपावृत् ॥२२॥

सू० अ०—(अधोलिखित समस्त-पदो के पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं) 'जुह्वे' बाद में हो तो 'सुम्नायुः', 'ऋतायन्', 'ऋतायुम्', 'उग्रादेवम्', 'दक्षिणावान्', 'ऋतायोः', 'वृषारवाय', 'सूमयम्', 'शतावन्', 'अपीजुवा', 'अपरीवृतः' (और) 'अनपावृत्'।

उ० भा०—सुम्नायुर्जुह्वे, ऋतायन्, ऋतायुम्, उग्रादेवम् दक्षिणावान्, ऋतायोः, वृषारवाय, सूमयम्, शतावन्, अपीजुवा, अपरीवृतः, अनपावृत्—

टि० (क) सहऽवसुम् । सहऽवत्सा ॥ प० पा० ॥ ९।१२ के अपवाद। वकार बाद में होने पर ९।१७ में उल्लिखित 'सह' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ख) ऋतऽयुक्तिम् ॥ प० पा० ॥ ९।१४ का अपवाद। यकार बाद में होने पर 'ऋत' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है।

(ग) सहऽवीरम् । वयुनऽवत् ॥ प० पा० ॥ ९।१२ के अपवाद। वकार बाद में होने पर ९।१७ में उल्लिखित 'सह' और 'वयुन' के अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुए है।

(घ) वयुनऽवत् ॥प० पा०॥ ९।१७ में उल्लिखित 'वयुन' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) ९।१२ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'वयुनवत्' के बाद में चकार नही है।

---

१ ऋ० २।१३।८ २ ऋ० ९।३२।९ ३ ऋ० १०।६१।१०
४ ऋ० ३।५४।१३ ५ ऋ० ६।२१।३ ६ ऋ० ४।५१।१

इत्येतेषां पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। सुम्नायुर्जुह्वे—"सुम्नायु[क]-र्जुह्वे अध्वरे।"[१] जुह्वे इति कस्मात् ? "देवाञ्जिगाति सुम्नयुः[ख]"[२]—ऋतायन्—"सर्गो न सृष्टो अर्वतीर्ऋतायन्[क]।"[३] ऋतायुम्—"उदीमृतायु[क]-मीरयत्"[४]—एतेषां त्रयाणाम्—"एकाक्षरादा उदये यकारे"[५] इति प्रतिषेधे प्राप्ते निपातनम्। उग्रादेवम्—"उग्रादेव[ग] हवामहे।"[६] दक्षिणावान्—"हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान्[ग]।"[७] ऋतायोः—"प्रणेतारः कस्य चिदृतायोः[घ]"—अस्यापि प्रतिषेधे प्राप्ते निपातनम्। वृषारवाय—"वृषारवाय[ङ] वदते।"[९] सूमयम्—"तुविक्ष ते सुकृतं सूमयं[ङ] धनुः।"[१०] शतावन्—"वहिष्ठयोः शताव[ङ]-न्नश्वयोरा।"[११] अपीजुवा—"उषासानक्ता जगतामपीजुवा[ङ]।"[१२] अपरीवृतः—"अपरीवृतो[ङ] वसति प्रचेताः।"[१३] अनपावृत्—"इत्था सुजाता अनपावृ[ङ]-दर्थम्॥"[१४]

उ० भा० अ०—सुम्नायुर्जुह्वे = 'जुह्वे' बाद में होने पर 'सुम्नायु' ... अनपावृत्—इनके पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं। ... ... ।

इन्द्रावतः सोमावतीमवायती
दीर्घाधियोऽमित्रायुधो रथीतरः।
अन्नावृधं विश्वायुषं वसूजुवं
विश्वाभुवे यज्ञायते घृतावृधा ॥२३॥

सू० अ०—(अधोलिखित समस्त-पदों के पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं) 'इन्द्रावतः', सोमावतीम्', 'अवायती', 'दीर्घाधियः', 'अमित्रायुधः',

टि० (क) सुम्नऽयु। ऋतऽयन्। ऋतऽयुम्॥ प० पा०

यकार बाद में होने पर पूर्ववर्ती 'सुम्न' और 'ऋत' के 'दीर्घत्व' का विधान ९।१४ में किया गया है। ९।१५ में यह विधान किया गया है कि परवर्ती यकार यदि एकाक्षर पद के प्रारम्भ में विद्यमान हो तो सुम्न' और 'ऋत' 'दीर्घ' नही होते है। इस प्रतिषेध के कारण प्रस्तुत तीनों उदाहरणों ('सुम्नायुर्जुह्वे', 'ऋतायन्' और 'ऋतायुम्') में 'सुम्न' और 'ऋत' के अन्तिम अक्षरो को 'दीर्घ' नही होना चाहिए था किंतु प्रस्तुत सूत्र में इनके दीर्घत्व का पुनः विधान ('प्रति-प्रसव') कर दिया गया है जिससे इन पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गए हैं।

(ख) सुम्नऽयुः॥ प० पा०॥ 'सुम्न' का अकार ९।१४ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि बाद में 'जुह्वे' नही है।

(ग) उग्रऽदेवम्। दक्षिणऽवान्॥ प० पा०

(घ) ऋतऽयो॥ प० पा०॥ ९।१४ में विहित 'ऋत के दीर्घत्व का ९।१५ के द्वारा निषेध हो जाने पर इस सूत्र में पुन विधान ('प्रतिप्रसव') किया गया है।

(ङ) वृषऽरवाय। सुऽमयम्। शतऽवन्। अपिऽजुवा। अपरिऽवृत। अनपऽवृत्॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ६।२।३ [२] ऋ० ३।२७।१ [३] ऋ० ७।८७।१ [४] ऋ० ८।७९।६
[५] ९।१५ [६] ऋ० १।३६।१८ [७] ऋ० ३।३९।६ [८] ऋ० १।१६९।५
[९] ऋ० १०।१४६।२ [१०] ऋ० ८।७७।११ [११] ऋ० ६।४७।९ [१२] ऋ० २।३१।५
[१३] ऋ० २।१०।३ [१४] ऋ० ६।३२।५

'रथीतर:', अन्नावृध:' 'विश्वापुषम्', वसूजुवम्', 'विश्वाभुवे', 'यज्ञायते' (और) 'घृतावृधा'।

उ० भा०—इन्द्रावत:, सोमावतीम्, अवायती, दीर्घाधिय:, अमित्रायुध:, रथीतर:, अन्नावृधम्, विश्वापुषम्, वसूजुवम्, विश्वाभुवे, यज्ञायते, घृतावृधा—इत्येतेषां पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। इन्द्रावत: —"ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो[क] न भुज्युम्।"[१] सोमावतीम्—"अश्वावतीं सोमावतीम्[क]।"[२] अवायती—"कन्या वारवायती[क]।"[३] दीर्घाधिय —"दीर्घाधियो[क] रक्षमाणा असुर्यम्।"[४] अमित्रायुध:—'अमित्रायुधो[क] मरुतामिव प्रयाः।"[५] रथीतर:—"नकिष्ट्वद्रथीतर[क]।"[६] अन्नावृधम्—"अन्नावृधं[क] प्रतिचरन्त्यन्नैः।"[७] विश्वापुषम्—"पुंस पुत्रां उत विश्वापुषं[क] रयिम्।"[८] वसूजुवम्—"वसवानं वसूजुवम्[क]।"[९] विश्वाभुवे—"अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे[क]।"[१०] यज्ञायते—'यज्ञायते[क] वा पशुषः।"[११] घृतावृधा—"घृतश्रिया घृतपृचा घृतावृधा[क]।"[१२]

उ० भा० अ०—इन्द्रावत: ... घृतावृधा—इन (समस्त-पदों)के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाते हैं।

सुम्नायन्निन्मित्रायुव ऋषीवो देवावान्दिवः।
एवावदस्य क्षेत्रासामृताव्ने सदनासदे ॥२४॥

सू० अ०—(अधोलिखित समस्त-पदों के पूर्व-पदों के अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाते हैं) 'इत्' बाद में होने पर 'सुम्नायन्', 'मित्रायुव:', 'ऋषीव:', 'दिव:' बाद में होने पर 'देवावान्', 'एवावदस्य', 'क्षेत्रासाम्', 'ऋताव्ने' (और) 'सदनासदे'।

उ० भा०—सुम्नायन्नित् मित्रायुव: ऋषीव:, देवावान्दिव:, एवावदस्य, क्षेत्रासाम्, ऋताव्ने, सदनासदे—इत्येतेषां पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते। सुम्नायन्नित्—"सुम्नाय[ख]न्निद्विशो अस्माकम्।"[१३] इत् इति कस्मात्? 'अर्चामि सुम्नय[ग]न्नहम्।"[१४]

टि० (क) इन्द्रऽवत:। सोमऽवतीम्। अवऽयती। दीर्घऽधिय। अमित्रऽयुध। रथिऽतर, अन्नऽवृधम्। विश्वऽपुषम्। वसुऽजुवम्। विश्वऽभुवे। यज्ञऽयते। घृतऽवृधा॥ प० पा०

(ख) सुम्नऽयन्॥ प० पा०॥ 'सुम्न' के अन्तिम 'अक्षर' के दीर्घत्व का पुनः विधान ('प्रतिप्रसव') किया गया है; दे० पृ० ५३३ पर टि० (क)।

(ग) सुम्नऽयन्॥ प० पा०॥ 'सुम्न' का अकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'सुम्नयन्' के बाद में 'इत्' नहीं है।

---

१ ऋ० ४।२७।४ २ ऋ० १०।९७।७ ३ ऋ० ८।९१।१
४ ऋ० २।२७।४ ५ ऋ० ३।२९।१५ ६ ऋ० १।८४।६
७ ऋ० १०।१।४ ८ ऋ० १।१६२।२२ ९ ऋ० ८।९९।८
१० ऋ० १०।५०।१ ११ ऋ० ५।४१।१ १२ ऋ० ६।७०।४
१३ ऋ० १।११४।३ १४ ऋ० १।१३८।१

मित्रायुवः—"मित्रायुवो[क] न पूर्पतिम् ।"[१] ऋषीवः—"शिप्रिन्नृषीवः[क] शचीवः ।"[२] देवावान्दिवः—"सोमं भरद्वाद्‌दृहाणो देवावा[क]-न्दिवः ।"[३] दिव इति कस्मात् ? "स गृणानो अद्भिर्देववा[ख]-निति ।"[४] एवावदस्य—"एवावदस्य[क] यजतस्य ।"[५] क्षेत्रासाम्—"क्षेत्रासां[क] ददथुरुर्वरासाम् ।"[६] ऋताव्ने—"ऋताव्ने[क] बृहते शुक्रशोचिषे ।"[७] सदनासदे—"देवाय सवनासदे[क] ॥"[८]

उ० भा० अ०—सुम्नायन्नित्—'इत्' बाद में होने पर सुम्नायन्'...... सदनासदे—इन (समस्त-पदो) के पूर्व-पदों के अन्त (=अन्तिम 'अक्षर') दीर्घ हो जाते हैं।.. ... . ।

(अवग्रहरहितेषु पदेषु पद्येषु चान्तर्ह्रस्वस्य दीर्घभावः)

पदेष्वन्तरनिङ्ग्येषु प्लुतिः पद्येषु चोत्तरा ॥२५॥

(अवग्रहरहित पदों और पद्यों के मध्य में ह्रस्व का दीर्घ होना)

सू० अ०—परवर्ती (सूत्रों में विहित) दीर्घत्व ('प्लुति') पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् न किए गए ('अनिङ्ग्य') पदों के मध्य में और पद्यों (के मध्य में) भी (होती है) ।

उ० भा०—अनिङ्ग्येषु पदेषु चान्तः पद्येषु च अन्त उत्तरा प्लुतिः भविष्यति भवित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः । उत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥

उ० भा० अ०—उत्तरा प्लुतिः=परवर्ती दीर्घत्व; अनिङ्ग्येषु पदेषु चान्तः=पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् न किए गए ('अनिङ्ग्य') पदो के मध्य में भी; पद्येषु च=और पद्यों के मध्य में भी; होगा जिसका प्रतिपादन इस (सूत्र) के आगे करेंगे। आगे (ही) उदाहरण प्रस्तुत करेंगे ।

वृषस्व वन्थ वृद्ध्वांसं वाता वातुर्वनो वृतुः ॥
वृते वृषाणा वृषाणो वृजे वन्धि मृजुर्मृशुः ।
मृजे मृजीत वानैषां वमेति सद्दशादिषु ॥२६॥

सू० अ०—'व' और 'म' ('दीर्घ' हो जाते हैं) यदि—'वृषस्व', 'वन्थ', 'वृद्ध्वांसम्', 'वाता', 'वातुः', 'वनः', 'वृतुः', 'वृते', 'वृषाणाः', 'वृषाणः', 'वृजे',

टि० (क) मित्रऽयुव. । ऋषिऽव. । देवऽवान् । एवऽवदस्य । क्षेत्रऽसाम् । ऋतऽव्ने । सदनऽसदे ॥ प० पा०

(ख) देवऽवान् ॥ प० पा० ॥ 'देव' का अकार 'दीर्घ' नहीं हुआ है क्योंकि 'देववान्' के बाद में 'दिव' नहीं है ।

---

[१] ऋ० १।१७३।१० [२] ऋ० ८।२।२८ [३] ऋ० ४।२६।६
[४] ऋ० १०।६१।२६ [५] ऋ० ५।४४।१० [६] ऋ० ४।३८।१
[७] ऋ० ८।१०३।८ [८] ऋ० ९।९८।१०

'वन्धि', 'मृजुः', 'मृशुः', 'मृजे', 'मृजीत' और 'वान'–इनमें से सदृश (वर्ण) से प्रारम्भ होने वाला (कोई) शब्द बाद में हो।

उ० भा०—वृषस्व, वन्थ, वृद्ध्वांसम्, वाता, वातु:, वनः, वृतु:, वृतेः, वृषाणाः, वृषाणः, वृजे, वन्धि, मृजुः मृशुः मृजे, मृजीत, वान—इति, (एषाम्=) एतेषामुदयानाम्; सदृशादिषु उदयेषु; (वमेति=) वकारमकारौ; प्लवेते। वृषस्व—"उद्वावृषस्व[क] मघवन्।"[१] वन्थ—"यद्वावन्थ[क] पुरुष्टुत।"[२] वृद्ध्वांसम्—इति ग्रहणमनर्थकं क्षावयादिषु 'वावृध' इति पाठात्। नानर्थकम्–क्षावयादिषु 'वावृध' इति धकारान्तस्य ग्रहणम्। इह तु दकारान्तग्रहणम्—'सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते सकृत्स्वेन'[३] इति दकारभावात्। वृद्ध्वांसम्—"वावृद्ध्वांसं[क] चिदद्रिवः।"[४] वाता—"उप ब्रह्मं वावाता[क] वृषणा।"[५] वातु:—"वावातु[क] सख्युरा गहि।"[६] वनः—"विश्वेभिर्यद्वावनः[क] शुक्र।"[७] वृतु:—"विश्वा चक्रेव वावृतुः।"[८]

वृते—"येनेन्द्रो अभिवावृते[क]।"[९] वृषाणाः—"महो वाजस्य सातौ वावृषाणा[क]।"[१०] वृषाणः–"उद्वावृषाणो[क] राधसे।"[११] वृजे—"प्र वावृजे[क] सुप्रया बर्हिः।"[१२] वन्धि–"वावन्धि[क] यज्यूंरुत तेषु धेहि।"[१३] मृजुः—'वशा देवासस्तन्वी नि मामृजुः[क]।"[१४] मृशुः—"विप्रासः परिमामृशुः[क]।"[१५] मृजे—"नि मामृजे[क] पुर इन्द्रः सु सर्वा।"[१६] मृजीत–"वि सातये तन्व मामृजीत[क]।"[१७] वान—"यद्वावान[क] पुरुतमं पुराषाट्।"[१८]

पदेष्वन्तः इति पूर्वपदान्ताधिकारनिवृत्त्यर्थम्। अन्तरनिङ्ग्येषु इति कस्मात्? "सं ते शस्तिर्देववाता जरेत।"[१९] सदृशादिषु इति कस्मात्? वकारस्य मकारादिषु मा भूत्, मकारस्य वकारादिषु॥

उ० भा० अ०—वृषस्व ... 'वान—(एषाम्=) बाद में आने वाले इनमें से, सदृशादिषु=सदृश वर्ण से प्रारम्भ होने वाले (शब्द) बाद में होने पर, (वमेति=) वकार और मकार, 'दीर्घ' हो जाते हैं, (अर्थात् पूर्ववर्ती 'व' का अकार 'दीर्घ' हो जाता है यदि सूत्रोक्त शब्दों में से वकार से प्रारम्भ होने वाला कोई शब्द बाद में होवे। उसी प्रकार पूर्ववर्ती 'म' का अकार 'दीर्घ' हो जाता है यदि सूत्रोक्त शब्दों में से मकार से प्रारम्भ होने वाला कोई शब्द बाद में होवे)। ...। (पू०) (सूत्र में) वृद्ध्वांसम् का ग्रहण

टि० (क) ववृषस्व। ववन्थ। ववृद्ध्वांसम्। ववाता। ववातु। ववन। ववृतु। अभिऽववृते। ववृषाणा। उत्ऽववृषाण। ववृजे। ववन्धि। ममृजु। परिऽममृशु। ममृजे। ममृजीत। ववान॥ प० पा०

१ ऋ० ८।६१।७
२ ऋ० ८।६६।५
३ ऋ० ६।२
४ ऋ० ८।९८।८
५ ऋ० ८।४।१४
६ ऋ० ८।१।१६
७ ऋ० ४।११।२
८ ऋ० ४।३०।२
९ ऋ० १०।१७४।१
१० ऋ० ६।२६।१
११ ऋ० ४।२९।३
१२ ऋ० ७।३९।२
१३ ऋ० ५।३१।१३
१४ ऋ० १०।६६।९
१५ ऋ० ८।९।३
१६ ऋ० ७।२६।३
१७ ऋ० ७।९५।३
१८ ऋ० १०।७४।६
१९ ऋ० ४।३।१५

अनर्थक है क्योकि 'श्रावय' आदि में 'वावृध' का पाठ हुआ है। (सि०) अनर्थक नही है। 'श्रावय' आदि में 'वावृध' इस धकारान्त का ग्रहण हुआ है। किन्तु यहाँ (अर्थात् प्रस्तुत सूत्र मे) तो दकारान्त ('वृद्ध्वासम्) का ग्रहण हुआ है—" 'सोष्म' (-वर्ण) तो अपने पूर्ववर्ती (वर्ण)के साथ एक वार उच्चारित होता है"—इस (सूत्र)से ('वृद्ध्वासम्')में दकार हुआ है।[क] "पदो के मध्य में" का (९।२५ में) ग्रहण (९।१ से प्राप्त) "पूर्वपदान्त" के अधिकार की निवृत्ति के लिए (किया गया है)। " 'अवग्रह'-रहित (पदो) के मध्य में"—यह (९।२५ में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "स ते शस्तिर्देववाता जरेत।"[ख] "सदृश (वर्ण) से प्रारम्भ होने वाले (शब्द) वाद में हों तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) (यह इसलिए कहा है जिससे) मकार से प्रारम्भ होने वाला (शब्द) वाद में होने पर वकार ('दीर्घ') न हो, वकार से प्रारम्भ होने वाला (शब्द) वाद में होने पर मकार ('दीर्घ') न हो।

सहेत्यादिः पूर्वपदोपधः स-
न्नेकाक्षरचर्षणिधन्ववर्जम् ॥२७॥

सू० अ०—(i) एकाक्षर (पद), (ii) 'चर्षणि' और (iii) 'धन्व' को छोड़कर अन्य किसी पूर्व-पद के बाद में विद्यमान 'सह्' (धातु) का आदि (=प्रथम 'अक्षर') ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—सह इत्यादिः पूर्वपदोपधः सन् प्लवते; (एकाक्षरचर्षणिधन्ववर्जम्=) एकाक्षरं च पूर्वपद चर्षणि धन्व इत्येते च वर्जयित्वा। 'विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रम्"[१] "शत्रूषाहः स्वन्नयः।"[२] पूर्वपदोपधः सन् इति कस्मात् ? "अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे।"[३] एकाक्षरचर्षणिधन्ववर्जम् इति कस्मात् ? एकाक्षरम्—"प्रासहा सम्राट् सहुरिम्।"[४] चर्षणि -"गां न चर्षणीसहम्।"[५] धन्व—'धन्वासहा नायते।"[६] सहेत्यादिः इति धातुग्रहणात्—'चतुःसहस्रम्"[७] इत्यत्र न भवति॥

टि० (क) 'वृध्वासम्' के धकार का ६।१ से द्वित्व होता है। इनमें से प्रथम धकार ६।२ से दकार हो जाता है जिससे 'वृद्ध्वासम्' रूप निष्पन्न होता है। 'वृद्ध्वासम्' के पूर्व में स्थित 'व' के अकार का 'दीर्घ' होना ९।३२ से सिद्ध नही होता है। वकार, ऋकार और धकार—ये तीन वर्ण वाद में हो तो तभी 'व' का अकार ९।३२ से 'दीर्घ' होता है। यहाँ तो वाद में वकार, ऋकार और दकार है। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में 'वृद्ध्वासम्', का ग्रहण किया गया है।

(ख) यहाँ 'देव' का अन्तिम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'देववाता' (देवऽवाता॥ प० पा०) को पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् किया जाता है।

---

[१] ऋ० ३।४७।५ [२] ऋ० ८।६०।६ [३] ऋ० २।२१।२
[४] ऋ० ८।४६।२० [५] ऋ० ८।१।२ [६] ऋ० १।१२७।३
[७] ऋ० ५।३०।१५

उ० भा० अ०—**पूर्वपदोपध सन्**=(किसी समस्त-पद का) पूर्व-पद पूर्व में हो तो; **सह इत्यादिः**=सह (धातु) का आदि (=प्रथम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो जाता है, (**एकाक्षरचर्षणिधन्ववर्जम्**=) एक 'अक्षर' वाले पूर्व-पद को और 'चर्षणि' तथा 'धन्व'—इन दो-को छोड़कर; (अर्थात् 'सह'-धातु-घटित उत्तर-पद का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो जाता है यदि, 'सह' के पूर्व में एकाक्षर पद, 'चर्षणि' और 'धन्व' को छोड़कर अन्य कोई भी पूर्व-पद हो)। (जैसे) "विश्वासाह[क]-मवसे नूतनायोग्रम्"; "शत्रूषाह[क] स्वगमय ।" "पूर्व में कोई पूर्व-पद हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अषाळ्हाय सहमानाय[ख] वेधसे ।" "एकाक्षर (पद), 'चर्षणि' और 'धन्व' को छोडकर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) एकाक्षर (पद)—"प्रासहा[ग] सम्राट् सहुरिम् ।" चर्षणि—"गा न चर्षणीसहम्[ग] ।" धन्व—"धन्वासहा[ग] नायते ।" सहेत्यादिः के द्वारा धातु का ग्रहण होने से—"चतु सहस्रम्"[घ]—यहाँ ('सह' का अन्तिम 'अक्षर' 'दीर्घ') नही होता है।

न तु पादस्याष्टिनोऽन्तं गतस्य ॥२८॥

सू० अ०—किंतु आठ (अक्षरों) वाले (पाद) के अन्त में विद्यमान ('सह' धातु का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ') नहीं (होता है)।

उ० भा०—न तु खलु, (अष्टिनः=) अष्टाक्षरस्य; पादस्य अन्तं गतस्य सह इत्यादिः प्लवते । "तं वो दस्ममृतीषहम् ।"[1] अष्टिनः इति कस्मात् ? "सहस्रवाजमभिमातिषाहम् ।"[2] अन्तं गतस्य इति कस्मात् ? "यज्ञासाहं दुव इषे ।"[3]

उ० भा० अ०—**तु**=किन्तु, **अष्टिनः**=आठ अक्षरो वाले, **पादस्य**=पाद के; **अन्तं गतस्य**=अन्त में विद्यमान, 'सह' (धातु) का आदि (=प्रथम 'अक्षर'), **न**=नही, 'दीर्घ' होता है; (अर्थात् आठ अक्षरो वाले पाद के अन्त में विद्यमान 'सह' का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही होता है)। (जैसे) "त वो दस्ममृतीषहम् ।"[ङ] "आठ (अक्षरो) वाले (पाद

टि० (क) विश्वऽसहम् । शत्रुऽसह ॥ प० पा०

(ख) सहमानाय ॥ प० पा० ॥ 'सह' धातु का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'सह' धातु के पूर्व में कोई पूर्व-पद नही है।

(ग) प्रऽसहा । चर्षणिऽसहम् । धन्वऽसहा ॥ प० पा०
'सह' के प्रथम 'अक्षर' (अकार) 'दीर्घ' नही हुए है क्योंकि 'सह' धातु-घटित उत्तर-पदो के पूर्व में एकाक्षर पद ('प्र'), 'चर्षणि' और 'धन्व' विद्यमान हैं।

(घ) चतुःऽसहस्रम् ॥ प० पा० ॥ 'सह' का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि यहाँ 'सह' धातु नही है।

(ङ) ऋतिऽसहम् ॥ प० पा० ॥ ९।२७ का अपवाद । पूर्व-पद के बाद में आने वाली 'सह' धातु का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि 'सह' आठ अक्षरों के पाद के अन्त में विद्यमान है।

---

[1] ऋ० ८।८८।१ [2] ऋ० १०।१०४।७ [3] ऋ० १०।२०।७

का)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "सहस्रवाजमभिमातिषाहम्[क] ।" "अन्त में विद्यमान का"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "यज्ञासाह[ख] दुव इषे ।"

न द्वादशिनोऽनभिमातिपूर्वः ॥२९॥

सू० अ०—बारह अक्षरों वाले (पाद) के (अन्त में विद्यमान भी 'सह' धातु का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नहीं होता है, यदि ('सह' के) पूर्व में 'अभिमाति' न हो।

उ० भा०—न तु खलु; (द्वादशिनः=) द्वादशाक्षरस्य; पादस्य; अन्ते वर्तमानस्योत्तरपदस्य सहतेरादिः अनभिमातिपूर्वः सन् प्लवते। "सत्रासाहो जनभक्षो जनंसहः।"[१] द्वादशिनः इति कस्मात् ? "सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः।"[२] अन्तं गतस्य इति कस्मात् ? "सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत।"[३] अनभिमातिपूर्वः इति कस्मात् ? "श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहम् ॥[४]

उ० भा० अ०—अनभिमातिपूर्वः='अभिमाति' पूर्व में न होने पर, द्वादशिनः= बारह अक्षरों वाले; पाद के; अन्त में वर्तमान उत्तर-पद 'सह' धातु का आदि (=प्रथम 'अक्षर'); न=नही; 'दीर्घ' होता है; (अर्थात् 'सह'-धातु-घटित उत्तर-पद का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही होता है यदि वह उत्तर-पद (१) बारह अक्षरो वाले पाद के अन्त में विद्यमान हो और (२) उसके पूर्व में 'अभिमाति' न हो। (जैसे) "सत्रासाहो जनभक्षो जनंसह[ग]।" "बारह (अक्षरो) के (पाद) का"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "सतोवीरा उरवो व्रातसाहा[घ]।" "अन्त में विद्यमान"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "सत्रासाहे[ङ] नम इन्द्राय वोचत।" "'अभिमाति' पूर्व में न होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहम्[च]।"

टि० (क) अभिमातिऽसहम् ॥ प० पा० ॥ 'सह' का प्रथम 'अक्षर' ९।२७ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि 'सह' आठ अक्षरो के पाद के अन्त में न होकर ग्यारह अक्षरो के पाद के अन्त में विद्यमान है।

(ख) यज्ञऽसहम् ॥ प० पा० ॥ 'सह' का प्रथम 'अक्षर' ९।२७ 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'सह' आठ अक्षरो के पाद के अन्त में नही अपितु मध्य में विद्यमान है।

(ग) जनम्ऽसह ॥ प० पा० ॥ ९।२७ का अपवाद। उत्तर-पद के रूप में स्थित 'सह' का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योंकि (१) यह बारह अक्षरों के पाद के अन्त में विद्यमान है और (२) इसके पूर्व में 'अभिमाति' नही है।

(घ) व्रातऽसहाः ॥ प० पा० ॥ 'सह' का प्रथम 'अक्षर' ९।२७ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि 'सह' बारह अक्षरो वाले पाद के अन्त में नही, अपितु ग्यारह अक्षरो वाले पाद के अन्त में विद्यमान है।

(ङ) सत्राऽसहे ॥ प० पा० ॥ 'सह' का प्रथम 'अक्षर' ९।२७ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि 'सह' बारह अक्षरों वाले पाद के अन्त में नही अपितु मध्य में विद्यमान है।

(च) अभिमातिऽसहम् ॥ प० पा० ॥ 'सह' का प्रथम 'अक्षर' ९।२७ से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि पूर्व में 'अभिमाति' पद विद्यमान है।

[१] ऋ० २।२१।३ [२] ऋ० ६।७५।९ [३] ऋ० २।२१।२ [४] ऋ० १०।४७।३

अभिमातिनृपृतनोपधस्तु सर्वत्र
परे प्लवते यकारे ॥३०॥

सू० अ०—किंतु 'अभिमाति', 'नृ' या 'पृतना' पूर्व में हो तो ('सह' धातु का प्रथम 'अक्षर') सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाता है, यदि बाद में यकार होवे।

उ० भा०—(अभिमातिनृपृतनोपधस्तु=) अभिमाति, नृ, पृतना इत्येवमुपधस्तु; सहतेरादिः सर्वत्र यकारे परे प्लवते। अभिमाति—"इन्द्राभिमातिषाह्ये।"[१] नृ—"नृषाह्ये सासह्वाँ अमित्रान्"[२]; "अस्मभ्यं तद्रिरोहि सं नृषाह्ये।"[३] पृतना—"पृतनाषाह्याय च।"[४] किमर्थं सहतेर्यकारे परे पुनरेव विधीयते ननु पूर्वेणैव सिद्धम्? न सिध्यति। कथम्? "शेषे चापठिते सति"[५] इत्यधिकारात्—पूर्वेण संयोगे न प्राप्नोति—तस्मात् संयोगपरार्थं पुनर्वि धीयते। यकारे इति कस्मात्—"तमग्ने पृतनाषहम्।"[६] सर्वत्र इति कस्मात्? अष्टि-द्वादशिनोः पादान्तगतस्येत्यधिकारात्—"नृषाह्ये सासह्वाँ अमित्रान्"[७], "पृतनाषाह्याय च"[८] इत्यत्र न स्यादिति तस्मात्सर्वत्रग्रहणम्॥

उ० भा० अ०—(अभिमातिनृपृतनोपधस्तु=) अभिमाति', 'नृ' या 'पृतना' पूर्व में हो तो; 'सह' (धातु) का आदि (=प्रथम 'अक्षर'), सर्वत्र=सभी स्थलों पर, यकारे परे=यकार बाद में होने पर, प्लवते='दीर्घ' हो जाता है, (अर्थात् 'सह' धातु का प्रथम 'अक्षर' सर्वत्र 'दीर्घ' हो जाता है यदि (१) 'सह' के पूर्व में 'अभिमाति' या 'नृ' या 'पृतना' हो और (२) 'सह' के बाद में यकार हो)। अभिमाति—"इन्द्राभिमातिषाह्ये[क]।" नृ—"नृषाह्ये[क] सासह्वाँ अमित्रान्"; "अस्मभ्य तद्रिरोहि स नृषाह्ये[क]।" पृतना—"पृतनाषाह्याय[क] च।" (पू०) यकार बाद में होने पर 'सह' (धातु) का (दीर्घत्व) किसलिए विधान किया जा रहा है क्योकि (यकार बाद में होने पर भी 'सह' धातु का दीर्घत्व) पूर्व वाले ही (सूत्र) से सिद्ध हो जाता है? (सि०) सिद्ध नही होता है। (पू०) क्यो? (उत्तर) "(परवर्ती संयोगादि पद का) पाठ न होने पर परवर्ती (सूत्रो) में (विहित) भी (दीर्घत्व सयुक्त वर्ण परे होने पर नही होता है)"—इस अधिकार से—पूर्व वाले (सूत्र) से 'सयोग' (सयुक्त वर्ण) बाद में होने पर ('सह' धातु का दीर्घत्व) प्राप्त नही होता है—इसलिए 'सयोग'-पर (सयुक्त वर्ण है बाद में जिसके) के लिए पुन विधान किया गया है।[ख] "यकार बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर)

टि० (क) अभिमातिऽसह्ये। नृऽसह्ये। नृऽसह्ये। पृतनाऽसह्याय॥ प० पा०

(ख) पू०—यकार बाद में होने पर भी 'सह' धातु के प्रथम 'अक्षर' का दीर्घत्व ९।२७ से ही सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'सह' के प्रथम 'अक्षर' के दीर्घत्व का इस सूत्र में पुन विधान क्यो किया गया है?

---

१ ऋ० ३।३७।३ २ ऋ० ११।१००।५ ३ ऋ० ६।४६।८
४ ऋ० ३।३७।१ ५ ७।३३ ६ ऋ० ५।२३।२
७ ऋ० ११।१००।५ ८ ऋ० ३।३७।१

"तमग्ने पृतनाषहम्[क]।" "सभी स्थलो पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "आठ अक्षरों और बारह अक्षरो के पाद के अन्त में विद्यमान का"- इस अधिकार से "नृषाह्ये[ख] सासह्वाँ अमित्रान्" (और) "पृतनाषाह्याय[ख] च"—यहाँ पर (दीर्घत्व) न होता, इसलिए (सूत्र में) **सर्वत्र** (पद) का ग्रहण किया गया है।

श्रावयादीनामुदयास्त्रिवर्णाः
पदैकदेशा इति तान्प्रतीयात् ॥३१॥

सू० अ०—'श्रावय' आदि (शब्दों) का (दीर्घत्व को प्राप्त 'अक्षर' से) बाद वाला (भाग) तीन वर्णों से समन्वित होता है। उन ('श्रावय' आदि) को पदों का एक भाग (देश) जानना चाहिए।

उ० भा०—(**श्रावयादीनाम्**=) श्रावय इत्येवमादीनाम्; प्लुतानाम् उदयास्त्रिवर्णा एव वेदितव्याः। अकार उच्चारणार्थो द्रष्टव्यः। (**पदैकदेशाः**=) पदानामेकदेशा इति; तान् श्रावयादीन्प्रतीयात्। तस्माच्छ्रावयेति गृहीते—"आश्रावयन्तइव"[१] इत्यत्रापि भवति। तानुत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥

उ० भा० अ०—(**श्रावयादीनाम्**=) 'श्रावय' इत्यादि के; दीर्घत्व को प्राप्त (प्रथम अक्षरों) के, **उदयाः**=बाद वाले (भागों) को; **त्रिवर्णाः**=तीन वर्णों से समन्वित; जानना

(५४०ख) सि०—९।२७ मे ७।३३ से "यदि सयोगादि पद का पाठ न किया गया हो तो सयुक्त वर्ण परे रहते परवर्ती सूत्रो में विहित भी दीर्घत्व नही होता है"—इस अधिकार की अनुवृत्ति हो रही है। इस अनुवृत्ति के कारण सयुक्त वर्ण बाद में होने पर 'सह' धातु के प्रथम 'अक्षर' का दीर्घत्व ९।२७ से सिद्ध नही होता है। सयुक्त वर्ण बाद में रहते 'सह' धातु के प्रथम 'अक्षर' के दीर्घत्व के विधान के लिए प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है।

टि० (क) पृतनाऽसहम् ॥ प० पा० ॥ यद्यपि 'पृतना' पूर्व में है तथापि 'सह' का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि बाद में यकार नही है।

(ख) यदि प्रस्तुत सूत्र में 'सर्वत्र' पद का ग्रहण न किया जाता तो ९।२८ और ९।२९ से "आठ अक्षरो वाले और बारह अक्षरो वाले पादो के अन्त में विद्यमान"—इस अधिकार की प्राप्ति प्रस्तुत सूत्र में भी हो जाती जिससे उपर्युक्त दोनों उदाहरणो (नृषाह्ये=नृऽसह्ये ॥ प० पा० और पृतनाषाह्याय=पृतनाऽसह्याय ॥ प० पा०) में 'सह' धातु का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' न होता क्योकि इन दोनो उदाहरणो में 'सह' धातु आठ अक्षरो अथवा बारह अक्षरों के पाद के अन्त में विद्यमान नही है। ऐसे स्थलो पर दीर्घत्व के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है।

[१] ऋ० १।१३९।३

चाहिए। अकार को उच्चारण के लिए समझना चाहिए।[क] तान्=उन ('श्रावय' आदि) को; (पदैकदेशाः=) पदो का एक भाग; प्रतीयात्=जानना चाहिए, (अर्थात् ९।३२ में उल्लिखित 'श्रावय' आदि शब्द सम्पूर्ण पद न होकर पदो के भाग है)। इसलिए (सूत्र में) 'श्रावय' का ग्रहण होने पर—"आश्रावयन्तइव" में भी (दीर्घत्व) (९।३२ से ही) होता है। उन ('श्रावय' आदि के) उदाहरणो को आगे (अर्थात् ९।३२ के भाष्य में) प्रस्तुत करेंगे।

श्रावय यावय च्यावय
यामय रामय मामह वावस
द्रावय दादह वावृध
तातृष सासह रारप।
आद्यक्षरं प्लुतं तेषाम् ॥३२॥

सू० अ०—'श्रावय', 'यावय', 'च्यावय', 'यामय', 'रामय', 'मामह', 'वावस', 'द्रावय', 'दादह', 'वावृध', 'तातृष' 'सासह', (और) 'रारप'—इनका प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गया है।

उ० भा०—श्रावय, यावय, च्यावय, यामय, रामय, मामह, वावस, द्रावय, दादह, वावृध, तातृष, सासह, रारप—इत्येते श्रावयादयः। तेषामाद्यक्षरं प्लुतं भवति। श्रावय—"श्रावया[ख] वाचम्"[१], "आश्रावयन्तइव[ख] श्लोकम्।"[२] यावय—"यावया[ख] वृक्य वृकम्।"[३] च्यावय—"आ च्यावय[ख]—स्यूतये।"[४] यामय—"आ नः सुम्नेषु यामय[ख]।"[५] रामय—"नि रामय[ख] जरितः सोमे।"[६] मामह—"तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम्[ख]"[७];

टि० (क) 'श्रावय' इत्यादि शब्दो के प्रथम 'स्वर'-वर्णो के 'दीर्घ' होने का विधान ९।३२ में किया गया है। यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि ९।३२ से 'दीर्घ' बने हुए प्रथम अक्षरो से बाद वाले भाग तीन अक्षरो से समन्वित हैं किन्तु यह तभी हो सकता है जब इन बाद वाले भागो के अन्तिम अकारो को न गिना जाये। इसीलिए भाष्यकार कह रहे है कि अन्तिम अकार को तो केवल उच्चारण के लिए समझना चाहिए, तीन वर्णो में उसकी गणना नही करनी चाहिए। इन पदो के अन्त में यदि अकार न रखते तो इन पदो के अन्तिम व्यञ्जनो का उच्चारण कठिन होता क्योकि 'व्यञ्जन' का उच्चारण 'स्वर' की सहायता से ही होता है। इस प्रकार 'श्रावय' शब्द के बाद वाले भाग के तीन वर्ण ये हैं – वकार, अकार और यकार।

(ख) श्रवय। आश्रवयन्त ऽइव। यवय। च्यवयसि। यमय। रमय। ममहन्ताम्॥ प० पा०

[१] ऋ० ८।९६।१२ [२] ऋ० १।१३९।३ [३] ऋ० १०।१२७।६
[४] ऋ० ८।९२।७ [५] ऋ० ८।३।२ [६] ऋ० १०।४२।१
[७] ऋ० १।९४।१६

"को न्वत्र मरुतो मामहे[क] वः ।"[१] वावस—"वावसाना[क] विवस्वति"[२]; "सख्यामनु स्फिग्यं वावसे[क] ।"[३] द्रावय—"अध्वर्यो द्रावया[क] त्वम्"[४]; "सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवः[क]"[५] दादृह—"दादृहाणो[क] वज्रमिन्द्रो गभस्त्योः ।"[६] वावृध—"वावृधाना[क] शुभस्पती"[७]; "वावृधीथाः[क] अहोभिरिव द्यौः ।"[८] तातृष—"तीर्थे नाच्छा तातृषाण[क]-मोकः"[९], "यस्तातृषाण[क] उभयाय ।"[१०] सासह—"येना समत्सु सासह[क]"[११]; "सुप्रकेतेभिः सासहि[क]-र्दधानः ।"[१२] रारप—"शोचिषा रारपीति[क] मित्रमहाः ॥"[१३]

उ० भा० अ०—श्रावय ··· ··· रारप—ये 'श्रावय' आदि हैं। तेषामाद्यक्षरम्=इनका प्रथम 'अक्षर'; प्लुतम्='दीर्घ', हो जाता है। ······ ।

अनन्वित्यस्य मध्यमम् ॥३३॥

सू० अ०—'अनानु' इस (शब्द) का मध्यम ('अक्षर') ('दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—अनानु इति; (अस्य=) एतस्य; मध्यमम् अक्षरं प्लुतं भवति। अनानु—"अनानुदो वृषभो जग्मिः ॥"[१४]

उ० भा० अ०—अनानु; (अस्य=) इस (शब्द) का; मध्यमम्=मध्यम 'अक्षर'; 'दीर्घ' हो जाता है। अनानु—"अनानुदो वृषभो जग्मि ।"

द्विवर्णः प्रत्ययोऽन्त्यस्य ॥३४॥

सू० अ०—(९।३२ में उल्लिखित शब्दों में) अन्तिम (='रारप') का बाद वाला (भाग) दो वर्णों से समन्वित (होता है)।

उ० भा०—तेषां श्रावयादीनाम्, अन्त्यस्य=रारप इत्येतस्य; द्विवर्ण एव प्रत्ययो वेदितव्यः। "सोम रारन्धि नो हृदि ॥"[१५]

उ० भा० अ०—उन 'श्रावय' आदि में से, अन्त्यस्य=अन्तिम का='रारप' का; प्रत्ययः=('दीर्घत्व' को प्राप्त प्रथम 'अक्षर' से) बाद वाला (भाग); द्विवर्णः=दो वर्णों वाला ही; जानना चाहिए। (जैसे) "रारन्धि नो हृदि ।"[ख]

टि० (क) ममहे । ववसाना । ववसे । द्रवय । द्रवयित्नव । ददृहाण । ववृधाना । ववृधीथाः । ततृषाणम् । ततृषाण । ससह । ससहि । ररपीति ॥ प० पा०

(ख) ९।३२ में उल्लिखित 'रारप' शब्द के 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण (=आकार) से बाद वाले दो वर्णों (=रेफ और अकार) को ही बाद वाले भाग के अन्तर्गत जानना चाहिए अर्थात् रेफ और अकार बाद में होने पर ही 'र' का अकार 'दीर्घ' हो

---

[१] ऋ० १।१६५।१३ [२] ऋ० १।४६।१३ [३] ऋ० ८।४।८
[४] ऋ० ८।४।११ [५] ऋ० ९।६९।६ [६] ऋ० १।१३०।४
[७] ऋ० ८।५।११ [८] ऋ० १।१३०।१० [९] ऋ० १।१७३।११
[१०] ऋ० १।३१।७ [११] ऋ० ८।१९।२० [१२] ऋ० १।१७।१६
[१३] ऋ० ६।३।६ [१४] ऋ० २।२३।११ [१५] ऋ० १।९१।१३

प्रवादाः षळितः परे ॥३५॥

सू० अ०—यहाँ से आगे वाले छः (पदों) के सभी रूप (प्रवाद) ('दीर्घ' होते हैं)।

उ० भा०—(इतः) परे ये वक्ष्यन्ते ते प्रवादा इति षट् एवेति च वेदितव्याः तानुत्तरत्रोदाहरिष्यामः ॥

उ० भा० अ०—(यहाँ से) आगे जिन्हें कहेंगे उनके सब रूपों (प्रवाद) को समझना चाहिए और वे छ ही हैं—यह भी समझना चाहिए, (अर्थात् आगे वाले सात सूत्रों में छ ही पदों के दीर्घत्व का विधान किया गया है। उन छः पदों के सभी रूप 'दीर्घ' होते हैं)। उनके उदाहरणों को आगे प्रस्तुत करेंगे।

दूणाशः ॥३६॥

सू० अ०—'दूणश' (में दीर्घत्व होता है)

उ० भा०—दूणाशः इत्ययं प्लवते। दूणाशः—"दूणाश[क] सख्यं तव"[१] "दूणाशेयं[क] दक्षिणा ॥"[२]

उ० भा० अ०—दूणश में दीर्घत्व हो जाता है।······ · · · ।

उक्थशासश्च ॥३७॥

सू० अ०—'उक्थशस' में भी (दीर्घत्व होता है)।

उ० भा०—उक्थशास इत्ययं प्लवते। उक्थशासः—"असुतृप उक्थशास[ख]श्चरन्ति"[३]; "यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्[ख] ॥"[४]

उ० भा० अ०—उक्थशस में दीर्घत्व होता है। · · ·· ।

इकारान्तश्च दाधृषिः ॥३८॥

सू० अ०—इकार में अन्त होने वाले 'दधृषि' में भी (दीर्घत्व होता है)।

उ० भा०—दाधृषिः इत्ययं प्लवत इकारान्तः सन्। दाधृषिः—"ब्रह्मणा यामि

(५४३ख) जाता है। तृतीय वर्ण (=पकार) को बाद वाले भाग में नही समझना चाहिए। यदि पकार को भी बाद वाले भाग का अङ्ग माना जायेगा तो 'रारन्धि' में प्रथम 'अक्षर' का 'दीर्घ' होना सिद्ध नही होगा। इस दीर्घत्व की सिद्धि के लिए ही सूत्रकार ने कहा है कि 'रा' के बाद वाले दो वर्णों ही से रारप' का बाद वाला भाग युक्त होता है। 'रारप' के अतिरिक्त अन्य सभी शब्दो में तो बाद वाला भाग ९।३१ के अनुसार तीन वर्णों से समन्वित होता है।

टि० (क) दुऽनशम्। दुऽनशा ॥ प० पा०
(ख) उक्थऽशासः। उक्थऽशासम् ॥ प० पा०

---

१ ऋ० ६।४५।२६
२ ऋ० ६।२७।८
३ ऋ० १०।८२।७
४ ऋ० १०।१०७।६

सवनेषु दाधृषिः[क]"[१] "सत्राहणं दाधृषिं[क] तुम्रमिन्द्रम् ।"[२] इकारान्तः इति कस्मात् ? "वाजेषु दधृषं[ख] कवे ॥[३]"

उ० भा० अ०—(इकारान्तः=) इकार में अन्त होने वाले, दधृषि—इस (शब्द) में भी (दीर्घत्व होता है) ।···· ··· · ।

पादान्तेऽपद्यः सादनम् ॥३९॥

सू० अ०—'सदन' में (दीर्घत्व होता है) यदि यह पाद के अन्त में विद्यमान हो और 'पद्य' न हो ।

उ० भा०—पादान्ते वर्तमानो अपद्यः सन् सादनम् इत्यय प्लवते । सादनम्— "धारा ऋतस्य सादने"[४]; "ध्रुक्षं मित्रस्य सादनम् ।"[५] पादान्ते इति कस्मात् ? "योनिष्ट इन्द्र सदने[ग] अकारि ।"[६] अपद्यः इति कस्मात् ? "रण्वा नरो नृषदने[घ] ॥"[७]

उ० भा० अ०—पादान्ते=पाद के अन्त में वर्तमान होने पर, अपद्यः='पद्य' न होने पर; सदन—इस (पद) मे दीर्घत्व होता है; (अर्थात् 'सदन' में दीर्घत्व होता है यदि यह (१) पाद के अन्त में स्थित हो और (२) 'पद्य' न हो) । ·· ··· ··· ।

अर्धर्चान्ते तु पूरुषः ॥४०॥

सू० अ०—'पुरुष' में तो अर्धर्च के अन्त में होने पर (दीर्घत्व होता है) ।

उ० भा०—पूरुषः इत्ययं त्वर्धर्चान्ते वर्तमानः प्लवते । पूरुषः—"विराजो अधि-पूरुषः"[८]; "आत्मानं तव पूरुष ।"[९] अर्धर्चान्ते इति कस्मात् ? "सहस्रशीर्षा पुरुषः[ङ] ॥"[१०]

उ० भा० अ०—पुरुष—इस (पद)में, तु=तो, अर्धर्चान्ते=अर्धर्च के अन्त में वर्तमान होने पर; दीर्घत्व होता है । ·· ।

दोषामस्मै राजतोऽक्रन्वनस्पतीन्
महीयमानां कति तुभ्यमेभ्यः ।
उषासमित्युत्तरं सर्वदेश्यम् ॥४१॥

सू० अ०—'दोषाम्', 'अस्मै', 'राजतः', 'अक्रन्', 'वनस्पतीन्', 'महीयमानाम्', कति' (और) 'तुभ्यम्'—इनसे वाद में विद्यमान 'उषस्' में सर्वत्र (दीर्घत्व हो जाता है) ।

टि० (क) दधृषि । दधृषिम् ॥ प० पा०

(ख) इकार में अन्त न होने के कारण 'दधृषम्' में दीर्घत्व नही हुआ है ।

(ग) 'सदने' में दीर्घत्व नही हुआ है क्योंकि यह पाद के अन्त में स्थित नही है ।

(घ) नृऽसदने ॥ प० पा० ॥ 'सदने' में दीर्घत्व नही हुआ है क्योंकि यह 'पद्य' है ।

(ङ) अर्धर्च के अन्त में न होने के कारण 'पुरुष' में दीर्घत्व नही हुआ है ।

---

[१] ऋ० २।१६।७ [२] ऋ० ४।१७।८ [३] ऋ० ३।४२।६ [४] ऋ० १।८४।४
[५] ऋ० १।१३६।२ [६] ऋ० ७।२४।१ [७] ऋ० ५।७।२ [८] ऋ० १०।९०।५
[९] ऋ० १०।९७।८ [१०] ऋ० १०।९०।१

उ० भा०—दोषाम्, अस्मै, राजतः, अक्रन्, वनस्पतीन्, महीयमानाम्, कति, तुभ्यम्—एभ्य उत्तरमुपासमिति प्लवते, सर्वदेश्यम्=सर्वत्र इत्यर्थः। दोषाम्—"दोषामुषासमीमहे।"[१] अस्मै—"अस्मा उषास आतिरन्त यामम्।"[२] राजतः—"अधि श्रिया विराजतः। उषासावेह सीदताम्"[३-क] अक्रन्—"अक्रन्नुषासो वयुनानि।"[४] वनस्पतीन्—"आ पशुं गासि पृथिवीं वनस्पतीनुषासा।"[५] महीयमानाम्—"महान् महीयमानाम्। उषासमिन्द्र सं पिणक्।"[६-ख] कति—"कत्युषासः कत्यु स्विदापः।"[७] तुभ्यम्—"तुभ्यमुषासः शुचयः परावति।"[८] सर्वदेश्यग्रहणमर्धर्चान्ताधिकारनिवृत्त्यर्थम्। सर्वत्रेति सिद्धे सर्वदेश्यग्रहणं नानार्धर्चस्थादपि निमित्तात्प्राप्त्यर्थम् ॥

उ० भा० अ०—दोषाम् ' तुभ्यम्—एभ्य उत्तरम्=इन (पदों) से बाद में विद्यमान, उषासमिति='उषस्'—इस (पद) में, दीर्घत्व हो जाता है, सर्वदेश्यम्=सर्वत्र—यह अर्थ है; (अर्थात् सूत्रोक्त पदो में से किसी भी पद के बाद में विद्यमान 'उषसम्' पद 'उषासम्' हो जाता है)। । (सूत्र में) सर्वदेश्य का ग्रहण (९।४० से प्राप्त) 'अर्धर्चान्त' के अधिकार की निवृत्ति के लिए किया गया है। 'सर्वत्र' से सिद्ध हो जाने पर सर्वदेश्य का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि पृथक् अर्धर्च में स्थित निमित्त से भी (दीर्घत्व) की प्राप्ति (यहाँ) हो जाती है।

पादस्य चैकादशिनो यदन्ते ॥४२॥

सू० अ०—ग्यारह (अक्षरों) के (पाद) के अन्त में जो ('उषस्' होता है वह भी 'दीर्घ' हो जाता है)।

उ० भा०—(एकादशिनः=) एकादशाक्षरस्य; पादस्यान्ते वर्तमानं यत् उषासमिति सत् च प्लवते। "रेवदुच्छन्तु सुदिना उषास।"[९] एकादशिनः इति कस्मात्? "अग्ने विवस्वदुषसः।"[१०] अन्ते इति कस्मात्? "अग्ने बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थात्॥"[११]

इति षट्प्रवादाः समाप्ताः ॥

उ० भा० अ०—(एकादशिनः=) ग्यारह अक्षरों के, पादस्यान्ते=पाद के अन्त में वर्तमान; यत्=जो; 'उषस्' (पद होता) है वह; च=भी, 'दीर्घ' हो जाता है।

टि० (क) अधि। श्रिया। विऽराजतः। उषसौ। आ। इह। सीदताम्॥ प० पा०
प्रथम अर्धर्च में विद्यमान 'राजत' के कारण द्वितीय अर्धर्च का 'उषसौ' पद 'उषासौ' हो गया है।

(ख) महान्। महीयमानाम्। उषसम्। इन्द्र। सम्। पिणक्॥ प० पा०
प्रथम अर्धर्च में विद्यमान 'महीयमानाम्' के कारण द्वितीय अर्धर्च का 'उषसम्' पद 'उषासम्' हो गया है।

---

१ ऋ० ५।५।६ २ ऋ० ८।९६।१ ३ ऋ० १।१८८।६
४ ऋ० १।९२।२ ५ ऋ० ८।२७।२ ६ ऋ० ४।३०।९
७ ऋ० १०।८८।१८ ८ ऋ० १।१३४।४ ९ ऋ० १।१२४।९
१० ऋ० १।४४।१ ११ ऋ० १०।१।१

(जैसे) "रेवदुच्छन्तु सुदिना उषास.।" "ग्यारह (अक्षरो) के (पाद) के"—यह (सूत्र) में क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अग्ने विवस्वदुषस"[क] "अन्त में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थात् ।"[ख]

छः प्रवाद समाप्त हुए।

यवयुररमयः ससाहिषे
वत्रृधन्तो रमया गिरा ररम्भ ।
यवयसि ततृषाणमोषति
श्रवयन्तोऽदद्दहन्त ते नृषह्ये ॥४३॥

सू० अ०—(अधोलिखित में दीर्घत्व नही होता है)—'यवयुः', 'अरमयः', 'ससाहिषे', 'वत्रृधन्तः', 'रमया गिरा', 'ररम्भ', 'यवयसि', 'ततृषाणमोषति', 'श्रवयन्तः', 'अदद्दहन्त' (और) 'ते नृषह्ये'।

उ० भा०—यवयुः, अरमयः, ससाहिषे, वत्रृधन्तः, रमया गिरा, ररम्भ, यवयसि, ततृषाणमोषति, श्रवयन्तः, अदद्दहन्त, ते नृषह्ये—इत्येतानि च पूर्वलक्षण-प्राप्तानि न प्लवन्ते।[ग] यवयुः—"त्वामिद्यवयुर्मम।"[१] अरमयः—"अरमयः सरप-सस्तराय कम्।"[२] ससाहिषे—"प्र ससाहिषे पुरुहूत।"[३] वत्रृधन्तः—"शुचन्तो अग्नि ववृधन्तः।"[४] रमया गिरा—"नमस्या रमया गिरा।"[५] गिरा इति कस्मात्? "नि रामय[घ] जरितः सोमे।"[६] ररम्भ—"ररम्भा शवसस्पते।"[७] यवयसि—"त्वस्थावाना यवयसि।"[८] ततृषाणमोषति—"दक्षन्न विश्वं ततृषाणमोषति।"[९] ओषति इति कस्मात्? "तीर्थे नाच्छा तातृषाण[ङ]-मोक।"[१०] श्रवयन्तः—"अगोह्यं यच्छ्रवयन्त ऐतन।"[११]

टि० (क) 'उषस.' में दीर्घत्व नही हुआ है क्योकि यह ग्यारह अक्षरों के पाद के अन्त में न होकर आठ अक्षरो के पाद के अन्त में विद्यमान है।

(ख) 'उषसाम्' में दीर्घत्व नही हुआ है क्योकि यह ग्यारह अक्षरों के पाद के अन्त में न होकर मध्य में विद्यमान है।

(ग) प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित सभी स्थल ९।३२ के अपवाद हैं। केवल एक स्थल 'ते नृषह्ये' ९।३० का अपवाद है।

(घ) 'रामय' में प्रथम 'अक्षर' (अकार) ९।३२ से दीर्घ हो गया है क्योंकि इसके वाद में 'गिरा' नही है।

(ङ) 'तातृषाणम्' में प्रथम 'अक्षर' (अकार) ९।३२ से 'दीर्घ' हो गया है क्योंकि इसके वाद में 'ओषति' नही है।

---

१ ऋ० ८।७८।९ २ ऋ० २।१३।१२ ३ ऋ० १०।१८०।१
४ ऋ० ४।२।१७ ५ ऋ० ५।५२।१३ ६ ऋ० १०।४२।१
७ ऋ० ८।४५।२० ८ ऋ० ८।३७।४ ९ ऋ० १।१३०।८
१० ऋ० १।१७३।११ ११ ऋ० १।११०।३

अदूदहन्त—"यदेदन्ता अददूहन्त ।"[१] ते नृषह्य इति—"अभिमातिनृपतनोपधस्तु"[२] इति प्राप्ते । ते नृषह्ये—"इन्द्र देवेभिरनु ते नृषह्येक ।"[३] ते इति कस्मात्—"नृषाह्येख सासह्वां अमित्रान् ॥"[४]

उ० भा० अ०—यवयु:··· ·ते नृषह्ये—इनमें पूर्व-नियमों (लक्षणो) से प्राप्त दीर्घत्व नही होता है । · ·· ·· ·।

श्रवयतं वाजसातौ नृषह्ये
विभ्वासहं दूणशा रोचनानि ।
न ततृषाणो यमयो ररप्शे
पुरुषीणां यवयन्त्विन्दवश्च ॥४४॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी दीर्घत्व नहीं होता है)—'श्रवयतम्', 'वाजसातौ नृषह्ये', 'विभ्वासहम्', 'दूणशा रोचनानि', 'न ततृषाण:', 'यमयो:', 'ररप्शे', 'पुरुषीणा'म् (और) 'यवयन्त्विन्दव:' ।

उ० भा०—श्रवयतम्, वाजसातौ नृषह्ये, विभ्वासहम्, दूणशा रोचनानि, न ततृषाण:, यमयो:, ररप्शे, पुरुषीणाम्, यवयन्त्विन्दव:—इत्येतानि पूर्वलक्षणप्राप्तानि न प्लवन्ते । श्रवयतम्—"आ नो जने श्रवयतं युवाना ।"[५] वाजसातौ नृषह्ये इति—"अभिमातिनृपतनोपधस्तु"[६] इति प्राप्ते । "परि स्रव वाजसातौ नृषह्ये ।"[७] वाजसातौ इति कस्मात् ? "नृषाह्य सासह्वाँ अमित्रान् ।"[८] विभ्वासहम् इति—"सहेत्यादि:"[९] इति प्राप्ते । "होतर्विभ्वासहं रयिम् ।"[१०] दूणशा रोचनानि इति—'प्रवादा. षळित परे"[११] इति प्राप्ते । "त्रितस्मा दूणशा रोचनानि ।"[१२] रोचनानि इति कस्मात् ? "दूणाशेयं दक्षिणा ।"[१३] न ततृषाण:—"आ यो घृणे न ततृषाणो अजर ।"[१४] न इति कस्मात् ? "यस्तातृपाण उभयाय ।"[१५] यमयो:—"यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ।"[१६] ररप्शे—"वि यो ररप्श ऋषिभि: ।"[१७] पुरुषीणाम् इति "अर्धर्चान्ते तु पूरुष:"[१८] इति प्राप्तौ । "पर्जन्य पुरुषीणाम् ।"[१९] यवयन्त्विन्दव:—"उत मा त्रामाद्यवयन्त्विन्दव: ।"[२०] इन्दव: इति कस्मात् ? "ते विश्वास्मदुरिता यावयन्तु ॥"[२१]

टि० (क) ९।३० का अपवाद । 'नृ' के बाद में विद्यमान 'सह्' धातु का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' नही हुआ है ।

(ख) 'नृषाह्ये' (नृऽसह्ये ॥ प० पा०) मे 'सह्' धातु का प्रथम 'अक्षर' (अकार) ९।३० से 'दीर्घ' हो गया है क्योकि इसके पहले 'ते' नही है ।

---

[१] ऋ० १०।८२।१
[२] ९।३०
[३] ऋ० ६।२५।८
[४] ऋ० १।१००।५
[५] ऋ० ७।६२।५
[६] ९।३०
[७] ऋ० ९।९७।१९
[८] ऋ० १।१००।५
[९] ९।२७
[१०] ऋ० ५।१०।७
[११] ९।३५
[१२] ऋ० ३।५६।८
[१३] ऋ० ६।२७।८
[१४] ऋ० ६।१५।५
[१५] ऋ० १।३१।७
[१६] ऋ० १०।११७।९
[१७] ऋ० ४।२०।५
[१८] ९।४०
[१९] ऋ० ७।१०२।२
[२०] ऋ० ८।४८।५
[२१] ऋ० ७।४४।३

उ० भा० अ०—अवयतम्······यवयन्त्विन्दवः—इनमें पूर्व-नियमों (लक्षणों) से प्राप्त दीर्घत्व नहीं होता है। अवयतम्—"आ नो जने श्रवयत[क] युवाना।" वाजसातौ नृषह्ये में "'अभिमाति', 'नृ' और 'पृतना' से बाद में विद्यमान"—इससे (दीर्घत्व) प्राप्त होने पर (यहाँ दीर्घत्व का निषेध किया गया है)—"परि स्व वाजसातौ नृषह्ये।" वाजसातौ—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "नृषाह्ये[ख] सासह्वाँ अमित्रान्।" विभ्वासहम् में "'सह' (धातु) का प्रथम ('अक्षर')"—इससे (दीर्घत्व) प्राप्त होने पर (यहाँ दीर्घत्व का निषेध किया गया है)—"होतर्विभ्वासह रयिम्।" दूणशा रोचनानि में "यहाँ से आगे वाले छ. (पदो) के सभी रूप ('दीर्घ' होते हैं)"—इससे (दीर्घत्व) प्राप्त होने पर (यहाँ दीर्घत्व का निषेध किया गया है)—"त्रिरुत्तमा दूणशा[ग] रोचनानि।" रोचनानि—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "दूणाशेय[घ] दक्षिणा।" न ततृषाणः—"आ यो घृणे न ततृषाणो[ङ] अजरः।" न—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) 'यस्तातृषाण[ङ] उभयाय।" यमयोः—"यमयो[क]-श्चिन्न समा वीर्याणि।" ररप्शे—"वि यो ररप्श[क] ऋषिभिः।" पुरुषीणाम् में 'अर्धर्च के अन्त मे पुरुष"—इससे (दीर्घत्व) प्राप्त होने पर (यहाँ दीर्घत्व का निषेध किया गया है)—' पर्जन्य. पुरुषीणाम्।" यवयन्त्विन्दवः—"उत मा सामाद्यवय[क]-न्त्विन्दव।" इन्दवः—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर)—'ते विश्वास्मद्दुरिता यावयन्तु[च]।"

ररक्ष यवय स्तेनं ससाहे यवया वधम्।
परमया द्रवयन्त श्रवयन्नरते च न ॥४५॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी दीर्घत्व) नहीं (होता है)—'ररक्ष', 'यवय-स्तेनम्', 'ससाहे', 'यवया वधम्', 'परमया', 'द्रवयन्त', 'श्रवयन्' और 'ररते'।

उ० भा०—ररक्ष, यवय स्तेनम्, ससाहे, यवया वधम्, परमया, द्रवयन्त, श्रवयन्, ररते—इत्येतानि पूर्वलक्षणप्राप्तानि न प्लवन्ते।[छ] ररक्ष—"ररक्ष तान्सुकृतो विश्ववेदाः।"[१] यवय स्तेनम्—"यवय स्तेनमूर्म्ये।"[२] स्तेनम् इति कस्मात्?

टि० (क) ९।३२ के अपवाद।

(ख) 'नृषाह्ये' (नृऽसह्ये ॥ प० पा०) में ९।३० से दीर्घत्व हो गया है क्योंकि इसके पूर्व में 'वाजसातौ' नहीं है।

(ग) वास्तव में यह ९।३६ का अपवाद है।

(घ) दूणाशा' (दुःऽनशा ॥ प० पा०) में ९।३६ से दीर्घत्व हो गया है क्योंकि इसके बाद में रोचनानि' नहीं है।

(ङ) 'तातृषाण.' (ततृपाण ॥ प० पा०) में ९।३२ से दीर्घत्व हो गया है क्योंकि इसके पूर्व में 'न' नहीं है।

(च) 'यावयन्तु' (यवयन्तु ॥ प० पा०) मे ९।३२ से दीर्घत्व हो गया है क्योंकि बाद में 'इन्दव' नहीं है।

(छ) इस सूत्र के सभी स्थल ९।३२ के अपवाद हैं।

[१] ऋ० १।१४७।३ [२] ऋ० १०।१२७।६

"यावया^क वृकयं वृकम् ।"[१] ससाहे—"बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे"[२]; "ससाहे शत्रूः पृतनाः ।"[३] यवया वधम्—"वरीयो यवया वधम् ।"[४] वधम् इति किम् ? "यावया^ख दिद्युमेभ्यः ।"[५] परमया—"त् वो धिया परमया ।"[६] द्रवयन्त—"ऊर्मिनं निम्नैर्द्रवयन्त वक्वाः ।"[७] श्रवयन्—"प्रान्ध श्रोण श्रवयन् ।"[८] ररते—चनिष्ठं पित्वो ररते विभागे ॥"[९]

उ० भा० अ०—ररक्ष…… "ररते—इनमें पूर्व-नियम (९।३२) से प्राप्त दीर्घत्व नही होता है। …… .. . . ।

साह्वांसो वः सत्रासाहं सादन्यं सत्यं तातान ।
नानाम श्रूयाः शुश्रूया रीषन्तं गातूयन्तीव ॥४६॥

सू० अ०—(अधोलिखित में दीर्घत्व हुआ है)—'साह्वांसः', 'वः सत्रासाहम्', 'सादन्यम्', 'सत्यं तातान', 'नानाम', 'श्रूयाः', 'शुश्रूयाः', 'रीषन्तम्' (और) 'गातूयन्तीव'।

उ० भा०—साह्वांसः, वः सत्रासाहम् , सादन्यम् , सत्यं तातान, नानाम, श्रूयाः, शुश्रूयाः, रीषन्तम् , गातूयन्तीव—इत्येतानि प्लवन्ते। साह्वांसः—"साह्वांसो^ग दस्युमव्रतम् ।"[१०] वः सत्रासाहम् इति-"न तु पादस्यान्तिके"[११] इति निषेधप्राप्तौ। वः सत्रासाहम्—"त्वम् वः सत्रासाहम्^ग ।"[१२] वः इति कस्मात् ? सादन्यम्—"सादन्य^ग विदथ्यम् ।"[१३] सत्यं तातान—'सत्य तातान^ग सूर्यः ।"[१४] सत्यम् इति कस्मात् ? "आ यस्ततान^घ रोदसी ।"[१५] नानाम—'प्रति नानाम^ग रुद्रोपयन्तम् ।"[१६] श्रूयाः—"श्रूया^ग अग्निश्चित्रभानुः ।"[१७] शुश्रूयाः—"यच्छुश्रूया^ग इमं हवम् ।"[१८] रीषन्तम्—'दुहे रीषन्तं^ग परि धेहि राजन् ।'[१९] गातूयन्तीव—"ये स्मा पुरा गातूयन्तीव^ग देवाः ॥"[२०]

टि० (क) 'यावय' (यवय ॥ प० पा०) में ९।३२ से दीर्घत्व हो गया है क्योकि इसके बाद में 'स्तेनम्' नही है।
(ख) 'यावय' (यवय ॥ प० पा०) में ९।३२ से दीर्घत्व हो गया है क्योकि इसके बाद में 'वधम्' नही है।
(ग) सह्वाम । सत्राऽसहम् । सदन्यम् । ततान । ननाम । श्रुया । शुश्रुया । रिषन्तम् । गातुयन्तिऽइव ॥ प० पा०
(घ) 'ततान' में दीर्घत्व नही हुआ है क्योकि इसके पूर्व में 'सत्यम्' नही है।

१ ऋ० १०।१२७।६
२ ऋ० ८।९६।१५
३ ऋ० १०।१०४।१०
४ ऋ० १०।१५२।५
५ ऋ० ६।४६।१२
६ ऋ० ६।३८।३
७ ऋ० १०।१४८।५
८ ऋ० ७।१३।१२
९ ऋ० ५।७७।४
१० ऋ० ९।४१।२
११ ९।२८
१२ ऋ० ८।९२।७
१३ ऋ० १।९१।२०
१४ ऋ० १।१०५।१२
१५ ऋ० ५।१।७
१६ ऋ० २।३३।१२
१७ ऋ० २।१०।२
१८ ऋ० ८।४५।१८
१९ ऋ० २।३०।९
२० ऋ० १।१६९।५

उ० भा० अ०—साह्वांसः·········गातुयन्तीव—इनमें दीर्घत्व हुआ है।·· ·· ··। वः सत्रासाहम् में "आठ (अक्षरों) वाले पाद के (अन्त में स्थित 'सह' धातु का प्रथम 'अक्षर' नहीं)"—इससे निषेध प्राप्त होने पर।[क]····· ·· ·····।

वावर्त येषां रीषतोऽदकारे
सान्त्यभि नृषाहमपूरुषघ्नः।
सान्ति गुहा तन्वं रीरिषीष्ट
जानि पूर्व्योऽभीवृतेव श्रथाय ॥४७॥

सू० अ०—(अधोलिखित में दीर्घत्व हुआ है)—'वावर्त येषाम्', दकार बाद में न हो तो 'रीषतः', 'सान्त्यभि', 'नृषाहम्', 'अपूरुषघ्नः', 'सान्ति गुहा', 'तन्वं रीरिषीष्ट', 'जानि पूर्व्यः', 'अभिवृतेव' (और) 'श्रथाय'।

उ० भा०—वावर्त येषाम्, रीषतोऽदकारे, सान्त्यभि, नृषाहम्, अपूरुषघ्नः, सान्ति गुहा, तन्वं रीरिषीष्ट, जानि पूर्व्यः, अभीवृतेव, श्रथाय—इत्येतानि प्लवन्ते। वावर्त येषाम्—"वावर्त[ख] येषां राया।"[1] येषाम् इति कस्मात्? "को अध्वरे मरुत आ ववर्त[ग]।"[2] रीषतोऽदकारे—"पाहि रीषत[घ] उत वा।"[3] अदकारे इति कस्मात्? "प्रति ष्म रिषतो[घ] दह।"[4] सान्त्यभि—"विश्वानि सान्त्य[ङ]-भ्यस्तु मह्ना।"[5] अभि इति कस्मात्? "सन्ति[ङ] कामासो हरिवः।"[6] नृषाहम् इति—"एकाक्षरचर्षणिवन्त्ववर्जम्"[7] इति निषेधप्राप्तौ। नृषाहम्—"नरं नृषाह[च] मंहिष्ठम्।"[8] अपूरुषघ्नः—"अपूरुषघ्नो[ख] अप्रतीत।"[9] सान्ति गुहा—"आविः सान्ति[ख] गुहा परः।"[10] गुहा इति कस्मात्? "सन्ति[छ] कामासो हरिवः।"[11] तन्वं रीरिषीष्ट—"स्वयं रिपुस्तन्व रीरिषीष्ट[ख]।"[12] तन्वम्

टि० (क) 'सत्रासाहम्' में ९।२७ से दीर्घत्व प्राप्त था। इसका निषेध ९।२८ में कर दिया गया था। इस सूत्र के द्वारा 'सत्रासाहम्' में दीर्घत्व का पुनर्विधान ('प्रतिप्रसव') किया गया है।

(ख) ववर्त। रिषत। सन्ति। अपुरुषऽघ्न। सन्ति। रिरिषीष्ट॥ प० पा०

(ग) 'ववर्त' में दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि बाद में 'येषाम्' नहीं है।

(घ) 'रिषत' में दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि बाद में दकार है।

(ङ) 'सन्ति' में दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि बाद में 'अभि' नहीं है।

(च) नृऽसहम्॥ प० पा०॥ ९।२७ का अपवाद। एकाक्षर पद 'नृ' पूर्व में होने पर भी 'सह' का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गया है।

(छ) 'सन्ति' में दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि बाद में 'गुहा' नहीं है।

---

[1] ऋ० १०।९३।१३ [2] ऋ० १।१६५।२ [3] ऋ० १।३६।१५
[4] ऋ० १।१२।५ [5] ऋ० २।२८।१ [6] ऋ० ८।२१।६
[7] ९।२७ [8] ऋ० ८।१६।१ [9] ऋ० १।१३३।६
[10] ऋ० ८।८।२३ [11] ऋ० ८।२१।६ [12] ऋ० ६।५१।७

इति कस्मात् ? "स्वैः ष एवै रिरिषीष्ट[क] ।"[१] जानि पूर्व्यः—"अग्निर्हि जानि[ख] पूर्व्यः ।"[२] पूर्व्यः इति कस्मात् ? "देवस्य भर्गः सहसो यतो जनि[ग] ।"[३] अभीवृतेव—"अभीवृतेव[ख] ता महापदेन ।"[४] श्रथाय—"वि मच्छ्रथाय[ख] रशनामिवाग ॥"[५]

उ० भा० अ०—वावर्त येषाम् · · "श्रथाय—इनमें दीर्घत्व हुआ है। ....।

साहन्साहा जर्हृषन्त प्रसाहं
नक्तोषासा सूर्यमुषासमग्निम् ।
परिरापः सूनृते जारयन्ती
शुश्रूयातं यूयुविः सादना ते ॥४८॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी दीर्घत्व हुआ है)—'साहन्', 'साहाः', 'जर्हृषन्त प्रसाहम्', 'नक्तोषासा', 'सूर्यमुषासमग्निम्', 'परिरापः', 'सूनृते जारयन्ती', 'शुश्रूयातम्', 'यूयुविः' (और) 'सादना ते' ।

उ० भा०—साहन्, साहाः, जर्हृषन्त प्रसाहम्, नक्तोषासा, सूर्यमुषासमग्निम्, परिरापः, सूनृते जारयन्ती, शुश्रूयातम्, यूयुविः, सादना ते—इत्येतानि च प्लवन्ते। साहन्—"जयञ्छत्रूँरमित्रान्पृत्सु साहन्[घ] ।"[६] साहाः—"साहा[घ] ये सन्ति मुष्टिहेव ।"[७] जर्हृषन्त प्रसाहम् इति—"एकाक्षरचर्षणिधन्ववर्जम्"[८] इति निषेधप्राप्तिः। "मत्सरासो जर्हृषन्त प्रसाहम्[ङ] ।"[९] जर्हृषन्त इति कस्मात् ? "वाजेषु प्रासहं[च] युजम् ।"[१०] नक्तोषासा—"नक्तोषासा[घ] सुपेशसा ।"[११] सूर्यमुषासमग्निम्—"जनयन्ता सूर्यमुषास[घ]-मग्निम् ।"[१२] सूर्यम् इति कस्मात् ? "बधिकां वः प्रथममश्विनोषस[छ]-मग्निम् ।"[१३] अग्निम्

टि० (क) 'रिरिषीष्ट' में दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि इसके पूर्व में 'तन्वम्' नहीं है।

(ख) जनि । अभिवृताऽइव । श्रथय ॥ प० पा०

(ग) 'जनि' में दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि बाद में 'पूर्व्य' नहीं है।

(घ) सहन् । सहा । नक्तोषसा । उषसम् ॥ प० पा०

(ङ) प्रऽसहम् ॥ प० पा० ॥ ९।२७ का अपवाद । एकाक्षर पद 'प्र' पूर्व में होने पर भी 'सह' का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गया है।

(च) 'प्रासहम्' (प्रऽसहम् ॥ प० पा०) मे दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि इसके पूर्व में 'जर्हृषन्त' नहीं है।

(छ) 'उषसम्' में दीर्घत्व नहीं हुआ है क्योंकि इसके पूर्व में 'सूर्यम्' नहीं है।

१ ऋ० ८।१८।१३ २ ऋ० ८।७।३६ ३ ऋ० ११४।११
४ ऋ० १०।७३।१२ ५ ऋ० २।२८।५ ६ ऋ० ६।७३।२
७ ऋ० ८।२०।२० ८ ९।२७ ९ ऋ० ६।१७।४
१० ऋ० ११२९।१४ ११ ऋ० ११४२।७ १२ ऋ० ७।९९।४
१३ ऋ० ७।४४।१

इति कस्मात् ? "येभिः सूर्यमुषसं[क] मन्दसानः।"[१] परिरापः—"बृहस्पते वि परिरापो[ख] अर्दय।"[२] सूनृते जारयन्ती—"रेवत्स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती[ख]।"[३] सूनृते इति कस्मात् ? "जरयन्ती[ग] वृजनं पद्वत्।"[४] शुश्रूयातम्—"शुश्रयात[ख]-मिमं हवम्।"[५] यू युविः—"द्विषो युयोतु यूयुवि[ख]।"[६] सादना ते—"तेऽत्रा यमः सादना[ख] ते मिनोतु।"[७] ते इति कस्मात् ? "पितृभ्य आ सदने[घ] जोहुवाना॥"[८]

उ० भा० अ०—साहन् ...सादना ते—इनमे भी दीर्घत्व हुआ है। .... ।

करन्सुषाहा घृतवान्ति साह्वा-
नृजूयेव सूयवसाद् वृषाय।
उषासानक्ता पृथुजाघने च
राथ्येभी रीरिषत ग्लापयन्ति ॥४९॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी दीर्घत्व हुआ है)—'करन् सुषाहा', 'घृतवान्ति', 'साह्वान्', 'ऋजूयेव', 'सूयवसात्', 'वृषाय', 'उषासानक्ता', 'पृथुजाघने', 'राथ्येभिः', 'रीरिषत' (और) 'ग्लापयन्ति'।

उ० भा०—करन्सुषाहा, घृतवान्ति, साह्वान्, ऋजूयेव, सूयवसात्, वृषाय, उषासानक्ता, पृथुजाघने च, राथ्येभिः, रीरिषत, ग्लापयन्ति—इत्येते च प्लवन्ते। करन्सुषाहा इति—"एकाक्षरचर्षणिधन्ववर्जम्" इति निषेधे प्राप्ते। करन्सुषाहा—"करन्सुषाहा[ङ] विथुरं न शवः।"[९] करन् इति कस्मात् ? "सुषहा[च] सोम तानि ते।"[१०] घृतवान्ति—"अव द्रोणानि घृतवान्ति[छ] सीद।"[११] साह्वान्—'साह्वा[छ]-न्विश्वा अभियुजः।"[१२] ऋजूयेव—"दिशं न दिष्टामृजूयेव[छ] यन्ता।"[१३] सूयवसात्—"सूयवसा[छ]-द्भगवती हि भूयाः।"[१४] वृषाय—

टि० (क) 'उषसम्' मे दीर्घत्व नही हुआ है क्योकि इसके बाद मे 'अग्निम्' नही है।

(ख) परिऽरप.। जरयन्ती। शुश्रुयातम्। युयुवि। सदना॥ प० पा०

(ग) 'जरयन्ती' में दीर्घत्व नही हुआ है क्योकि इसके पूर्व में 'सूनृते' नही है।

(घ) 'सदने' में दीर्घत्व नही हुआ है क्योकि बाद में 'ते' नही है।

(ङ) सुऽसहा॥ प० पा०॥ ९।२७ का अपवाद। एकाक्षर पद 'सु' पूर्व में होने पर भी 'सह्' का प्रथम 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गया है।

(च) 'सह' मे दीर्घत्व नही हुआ है क्योकि इसके पूर्व में 'करन्' नही है।

(छ) घृतऽवन्ति। सह्वान्। ऋजुयाऽइव। सुयवसऽअत्॥ प० पा०

---

[१] ऋ० ६।१७।५ [२] ऋ० २।२३।१४ [३] ऋ० १।११३।१०
[४] ऋ० १।४८।५ [५] ऋ० ५।७४।१० [६] ऋ० ५।५०।३
[७] ऋ० १०।१८।१३ [८] ऋ० ५।४७।१ [९] ऋ० १।१८६।२
[१०] ऋ० ९।२९।३ [११] ऋ० ९।९६।१३ [१२] ऋ० ३।११।६
[१३] ऋ० १।१८३।५ [१४] ऋ० १।१६४।४०

"स पर्जन्य शंतनवे वृषाय[क] ।"[१] उषासानक्ता—"उषासानक्ता[क] बृहती सुपेशसा ।"[२] पृथुजाघने च—"पृथुष्टो पृथुजाघने[क] ।"[३] चकारः समुच्चयार्थः । राथ्येभिः—"अयो ह स्यो रथ्या राथ्येभिः[क] ।"[४] रीरिषत—"मा नो मध्या रीरिषता[क]-युर्गन्तोः ।"[५] ग्लापयन्ति—"ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति[क] ॥"[६]

उ० भा० अ०—करन्नुपाह्य'' ग्लापयन्ति—इनमें भी दीर्घत्व हुआ है। ।

अध्वानयद्रीरिषत्प्रावणेभी
रथीयन्तीवादमायः ससाहे ।
सासाह यूयुधिरिवाश्रथायः
पूरुषघ्नं रीरिषः पूरुषादः ॥५०॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी दीर्घत्व हुआ है)—'अध्वानयत्', रीरिषत्', 'प्रावणेभिः', 'रथीयन्तीव', 'अदमायः', 'ससाहे', 'सासाह', यूयुधिरिव', 'अश्रथायः', 'पूरुषघ्नम्', 'रीरिषः' (और) 'पूरुषादः'।

उ० भा०—अध्वानयत्, रीरिषत्, प्रावणेभिः, रथीयन्तीव अदमायः, ससाहे, सासाह, यूयुधिरिव, अश्रथायः, पूरुषघ्नम् रीरिषः, पूरुषादः—इत्येतानि प्लवन्ते । अध्वानयत्—"अध्वानयद्[ख] दुरिता दम्भयच्च ।"[७] रीरिषत्—"मा च हा मा च रीरिषत्[ख] ।"[८] प्रावणेभिः—'प्रावणेभिः[ख] सजोषस. ।"[९] रथीयन्तीव—"रथीयन्तीव[ख] प्र जिहीत ओषधिः ।"[१०] अदमायः—'त्वं ह नु त्यददमायो[ख] दस्यून्' '[११] ससाहे इतीह च—"ससाहे यवया वधम्"[१२] इत्यत्र च द्विः कस्मान्निपात्यते ? श्रावयादिप्लुतेः प्रतिषेधार्थं तत्र । द्वितीयस्य प्लुतिविधानार्थमिह[ग]। ससाहे—"ससाहे[ख] शत्रः पृतना अभिष्टि.।"[१३] सासाह—'सासाह[ख] यो युधा नृभिः ।"[१४] यूयुधिरिव—"गावइव ग्राम यूयुधिरिवा[ख]-श्वान् ।"[१५] अश्रथायः—"सतीनमन्युरश्रथाय.[ख] ।"[१६] पूरुषघ्नम्—'आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम्[ख] ।"[१७] रीरिषः—"मा नो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः[ख] ।"[१८] पूरुषादः—"ततो वय प्र पतान्पूरुषादः[ख] ॥"[१९]

टि० (क) वृषय । उषसानक्ता । पृथुऽजघने । रथ्येभिरिति रथ्येभि । रिरिषत । ग्लपयन्ति ॥ प० पा०

(ख) अध्वनयत् । रिरिषत् । प्रवणेभिः । रथियन्तिऽइव । अदमय. । ससहे । ससाह । युयुधिःऽइव । अश्रथय । पुरुषऽघ्नम् । रिरिष । पुरुषऽअद ॥ प० पा०

[१] ऋ० १०।९८।१ [२] ऋ० १०।३६।१ [३] ऋ० १०।८६।८ [४] ऋ० १।१६७।६
[५] ऋ० १।८९।९ [६] ऋ० १।१६४।१० [७] ऋ० ६।१८।१०
[८] ऋ० ३।५३।२० [९] ऋ० ३।२२।४ [१०] ऋ० १।१६६।५
[११] ऋ० ६।१८।३ [१२] ९।४५ [१३] ऋ० १०।१०४।१०
[१४] ऋ० ५।२५.६ [१५] ऋ० १०।१४९।४ [१६] ऋ० १०।११२।८
[१७] ऋ० १।११४।१० [१८] ऋ० १।११४।८ [१९] ऋ० १०।२७।२२

उ० भा० अ०—अध्वानयत् ...... पूरुषादः—इनमें दीर्घत्व हुआ है। ।
(पू०) 'ससाहे' इस (पद) का यहाँ (=प्रस्तुत सूत्र में) भी और "ससाहे यवया वधम्"—(९।४५) यहाँ पर भी—दो बार निपातन किसलिए किया गया है? (सि०) (९।३२ में विहित) श्रावयादि दीर्घत्व के प्रतिषेध के लिए वहाँ (९।४५ में) (निपातन किया गया है)। द्वितीय ('अक्षर') के दीर्घत्व के विधान के लिए यहाँ (निपातन किया गया है)। ।

अपूरुषं जाहृषाणेन रीषत
ऋतायुभी रथीनां साहिषीमहि।
पवीतारः कियात्ये पूरुषत्वत
ऋतावरीरिव हव्यानि गामय ॥५१॥

सू० अ०—(अधोलिखित मे भी दीर्घत्व हुआ है)—'अपूरुषम्' 'जाहृषाणेन', 'रीषते' ऋतायुभिः', 'रथीनाम्', 'साहिषीमहि', 'पवीतारः', 'कियात्या', ई पूरुषत्वता'. 'ऋतावरीरिव' (और) 'हव्यानि गामय'।

उ० भा० - अपूरुषम्, जाहृषाणेन, रीषते, ऋतायुभिः, रथीनाम्, साहिषीमहि, पवीतारः, कियात्या, ई पूरुषत्वता, ऋतावरीरिव, हव्यानि, गामय—इत्येतानि च प्लवन्ते। अपूरुषम्—'सिन्धो पारे अपूरुषम्[क]।"[१] जाहृषाणेन—'यो व्यंसं जाहृषाणेन[क]।"[२] रीषते—"मा रीषते[क] सहसावन्।"[३] ऋतायुभिः—"पवमान ऋतायुभिः[क]।"[४] रथीनाम्—"रथीतमं रथीनाम्[क]।"[५] साहिषीमहि—"वीळु चित्साहिषीमहि[क]।[६] पवीतारः—"पवीतारः[क] पुनीतन।"[७] कियात्या—"अहरहर्यात्यक्तुरपां किया[क]-त्या।"[८] एष आकारः प्रत्युदाहरणार्थो यदन्यदस्ति कियतीति ह्रस्वान्तम्। अथ नास्ति ततो विशेषणार्थः। "कियती योषा"[९] इत्येतदप्याकारेऽक्रियमाणे सांशयिकं स्यात्। ईकारादि हि परत प्रतिकण्ठग्रहणं भवति। ई पूरुषत्वता—"दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता[क]।"[१०] ईकारोपधग्रहण

(५५४ग) 'ससाहे' पद का ग्रहण ९।४५ में और प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। इस पद का दो बार ग्रहण क्यो किया गया है? भाष्यकार का उत्तर है कि इस पद के दो बार ग्रहण करने के उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। ९।३२ के अनुसार 'ससाहे' के प्रथम 'अक्षर' को 'दीर्घ' होना चाहिए किंतु ९।४५ 'ससाहे' के प्रथम 'अक्षर' के 'दीर्घ' होने का निषेध करता है। प्रस्तुत सूत्र 'ससाहे' के द्वितीय सकार के बाद में विद्यमान 'अकार' के दीर्घत्व का विधान करता है। अत इस पद के दो बार ग्रहण करने में कोई दोष नही है।

(क) अपुरुषम्। जहृषाणेन। रिषते। ऋतयुभि। रथिनाम्। सहिषीमहि। पवितारः। कियति। पुरुषत्वता ॥ प० पा०

[१] ऋ० १०।१५५।३ [२] ऋ० १।१०१।२ [३] ऋ० १।१८९।५
[४] ऋ० ९।३।३ [५] ऋ० १।११।१ [६] ऋ० ८।४०।१
[७] ऋ० ९।४।४ [८] ऋ० २।३०।१ [९] ऋ० १०।२७।१२
[१०] ऋ० ४।५४।३

किमर्थम् ? "न तस्य विद्म पुरुषत्वता[क] वयम् ।"[१] ऋतावरीरिव—"ऋतावरीरिव[ख] संक्रोशमानाः ।"[२] हव्यानि गामय—"तत्र हव्यानि गामय[ग] ।"[३] हव्यानि इति कस्मात ? "अधर गमया[ग] तम ॥"[४]

उ० भा० अ०—अपूरुषम् ' गामय—इनमें भी दीर्घत्व हुआ है । ' '। ('कियात्या' मे) यह आकार प्रत्युदाहरण के लिए है जो 'ह्रस्व' (इकार) में अन्त होने वाला अन्य 'कियति' है । यदि (ऐसा अन्य 'कियति' संहिता में) न हो तो (यह आकार) ('कियति' के) विशेषण के लिए है । यदि (सूत्र में 'कियति' के बाद में) आकार का ग्रहण न किया जाता तो "कियती योषा"—यह भी सशय से युक्त हो जाता क्योंकि (सूत्र में) परवर्ती निपातन का ग्रहण ईकार से प्रारम्भ करके किया गया है ।[घ] ' '।

वृषायस्व प्रसवीता ससाहिषे
तातृपाणा तातृपिं सादनस्पृशः ।
साह्यामेयान्ति पशुमान्ति जागृधुः
पवीतारं सूर्य्यमुषासमीमहे ॥५२॥

सू० अ०—(अधोलिखित में भी दीर्घत्व हुआ है)—'वृषायस्व', 'प्रसवीता', 'ससाहिषे', 'तातृपाणा', 'तातृपिम्', 'सादनस्पृशः', 'साह्याम', 'इयान्ति', 'पशुमान्ति', 'जागृधुः', 'पवीतारम्', और 'सूर्यमुषासमीमहे' (='सूर्यम्' पूर्व में और 'ईमहे' बाद में हो तो 'उषासम्') ।

टि० (क) 'पुरुषत्वता' का प्रथम उकार दीर्घ नही हुआ है क्योंकि पूर्व में 'ई' नहीं है ।

(ख) ऋतवरी ऽइव । गमय ॥ प० पा०

(ग) 'गमय' का प्रथम अकार 'दीर्घ' नही हुआ है क्योकि पूर्व में 'हव्यानि' नही है ।

(घ) सूत्र में 'कियति' के बाद में 'आ' का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि बाद मे 'आ' न हो तो 'कियति' में दीर्घत्व नहीं होता है । यदि कोई ऐसा स्थल संहिता में न मिले जहाँ 'कियति' के बाद में 'आ' न हो तब सूत्र में 'आ' का ग्रहण इस वस्तु-स्थिति को बतलाता है—'आ' बाद में होने पर ही 'कियति' में दीर्घत्व होता है । यदि सूत्र मे 'कियति' के बाद में 'आ' न रखा जाता तो सूत्र में उल्लिखित परवर्ती 'ई' के साथ मिलकर 'कियति' का 'कियती' ('कियाती') हो जाता । तब यह जानना कठिन हो जाता कि सूत्रोक्त पद 'कियति' है या 'कियती' । इससे 'कियती योषा'' जैसे स्थलो मे भी 'कियती' (के 'य') के 'दीर्घ' होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता । इस सशय की निवृत्ति के लिए ही सूत्र में 'कियति' के बाद में 'आ' रखा गया है । (प्रश्न) इस सूत्र में 'कियति' के बाद आकार लगाने पर सधि में 'कियात्या' होगा । फिर भी सशय हो सकता है कि यह 'कियात्या'='कियति+आ' है अथवा 'कियती+आ' है । यदि 'कियती+आ' हो तो यहाँ भी 'कियाती' होगा या नही ? (उत्तर) संहिता में 'कियती+आ' नही मिलता है । अत 'कियती+आ' में दीर्घत्व का सशय नही होता है ।

१ ऋ० ५।४८।५ २ ऋ० ४।१८।६ ३ ऋ० ५।५।१० ४ ऋ० १०।१५२।४

उ० भा०—वृषायस्व, प्रसवीता, ससाहिषे, तातृपाणा, तातृपिम्, सादनस्पृशः, साह्याम, इयान्ति, पशुमान्ति, जागृधुः, पवीतारम्, सूर्यमुषासमीमहे—इत्येतानि च प्लवन्ते। वृषायस्व —"वृषायस्वायूया वाहुभ्याम्।"[१] प्रसवीता —'उद्वेति प्रसवीता[क] जनानाम्।"[२] ससाहिषे इत्यस्याप्युभयत्र निपातने प्रयोजनं पूर्ववद् द्रष्टव्यम्। ससाहिषे —"प्र ससाहिषे[क] पुरुहूत।"[३] तातृपाणा -"तादेवेद तातृपाणा[क]।"[४] तातृपिम् "पिबा वृषस्व तातृपिम्[क]।"[५] सादनस्पृशः—"मा नो निर्भाग्वसुनः सादनस्पृशः[क]।"[६] साह्याम—"साह्याम[क] दासमार्यम्।"[७] इयान्ति —"गन्तेयान्ति[क] सवना हरिभ्याम्।"[८] पशुमान्ति -"परि सद्मेव पशुमान्ति[क] होता।"[९] जागृधुः—"निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः[क]।"[१०] पवीतारम्—"अवन्त्यस्य पवीतार[क]-माशवः।"[११] सूर्यमुषासमीमहे—"अनागास्त्वं सूर्यमुषा[क]-समीमहे।"[१२] सूर्यम् इति किम्? "दधिक्रां वः प्रथममश्विनोषसम्[ख]।"[१३] ईमहे इति किम्? 'येभिः सूर्यमुषसं[ख] मन्दसानः।।"[१४]

इति श्रीपार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये नवमं पटलम्॥
॥ प्रातिशाख्यार्धम्॥

उ० भा० अ०—वृषायस्व ' ' सूर्यमुषासमीमहे—इनमें भी दीर्घत्व हुआ है। ······। ससाहिषे—इसके भी दो बार निपातन में प्रयोजन पूर्ववत (अर्थात् ९।४५ तथा ९।५० में उल्लिखित 'ससाहे' की भाँति) समझना चाहिए।[ग] ·····।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यभाष्य में नवम पटल समाप्त हुआ।
आधा प्रातिशाख्य समाप्त हुआ।

टि० (क) प्रऽसविता। ससहिषे। ततृपाणा। ततृपिम्। सदनऽस्पृशः। सह्याम। इयन्ति। पशुऽमन्ति। जगृधुः। पवितारम्। उपसम्॥ प० पा०

(ख) 'उपसम्' में दीर्घत्व तभी होता है जब इसके पूर्व में 'सूर्यम्' हो और बाद में 'ईमहे' हो। यह शर्त पूरी न होने के कारण इन दोनो स्थलो पर 'उपसम्' में दीर्घत्व नही हुआ है।

(ग) 'ससाहिषे' पद का ग्रहण दो सूत्रों (९।४३ और ९।५२) में भिन्न-भिन्न उद्देश्य से किया गया है। दोनो स्थलो पर ९।३२ के अनुसार 'ससाहिषे' के प्रथम 'अक्षर' को 'दीर्घ' होना चाहिए किंतु ९।४३ में 'ससाहिषे' के प्रथम 'अक्षर' के 'दीर्घ' होने का निषेध कर दिया गया है। प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध 'ससाहिषे' के प्रथम 'अक्षर' के साथ नही है। यह सूत्र तो द्वितीय सकार के बाद में विद्यमान अकार के दीर्घत्व का विधान करता है। इस प्रकार इस पद के दो बार ग्रहण करने में कोई दोष नही है।

---

[१] प्रै० पृ० १४६ [२] ऋ० ७।६३।२ [३] ऋ० १०।१८०।१ [४] ऋ० १०।९५।१६
[५] ऋ० ३।४०।२ [६] ऋ० ९।७२।८ [७] ऋ० १०।८३।१ [८] ऋ० ६।२३।४
[९] ऋ० ९।९२।६ [१०] ऋ० २।२३।१६ [११] ऋ० ९।८३।२ [१२] ऋ० १०।३५।२
[१३] ऋ० ७।४४।१ [१४] ऋ० ६।१७।५

१० : क्रम-पटलम्

क्रमपाठस्य अधिकारसूत्रम्

क्रमपाठस्य सामान्यनियमः

क्रमपाठेऽनवसानीयपदानि

क्रमपाठे विकृतरूपविषयकनियमौ

क्रमपाठे पदविशेषाणां परिग्रहः

उपस्थितसंज्ञा

स्थितसंज्ञा

स्थितोपस्थितसंज्ञा

परिग्रहविषयेऽन्ये नियमाः

क्रमपाठेऽर्धर्चयोः संधिनिषेधः

क्रमपाठे समयैः सह संधेः प्रकारः

परिग्रहे संधिविशेषाणां प्रकृतिभावः

(क्रमपाठस्य अधिकारसूत्रम्)

क्रमः ॥१॥

(क्रम-पाठ का अधिकार-सूत्र)

सू० अ०—(अब) क्रम-पाठ (प्रारम्भ किया जाता है) ।

उ० भा०—क्रमःइत्यधिकारो वेदितव्यो यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः ॥

उ० भा० अ०—यहाँ से आगे जो कहेंगे वहाँ क्रम-पाठ का अधिकार जानना चाहिए ।[क]

(क्रमपाठस्य सामान्यनियमः)

(पद्भ्यां) द्वाभ्यामभिक्रम्य प्रत्यादायोत्तरं तयोः ।
उत्तरेणोपसंदध्यात्तथार्धर्चं समापयेत् ॥२॥

(क्रम-पाठ का सामान्य नियम)

सू० अ०—दो (पदों) से प्रारम्भ करके; उन दो (पदों) में से बाद वाले (पद अर्थात् द्वितीय पद) का पुनः ग्रहण करके (इसकी) बाद वाले (पद अर्थात् तृतीय पद) के साथ संधि (मेल) करे। इस प्रक्रिया से आधी ऋचा को समाप्त करे।

उ० भा०—द्वाभ्यां (पद्भ्यां)=पदाभ्याम्; अभिक्रम्य=आरम्य—इत्यर्थः। तयोः द्वयोरभिक्रान्तयोः उत्तरं पदम्, प्रत्यादाय=पुनर्गृहीत्वा; ताभ्याम् उत्तरेण पदेन उपसंदध्यात्। तथा=एतेन कल्पेन; अर्धर्चं समापयेत्। 'पर्जन्याय प्र। प्र गायत। गायत दिवः। दिवस्पुत्राय। पुत्राय मीळ्हुषे। मीळ्हुष इति मीळ्हुषे ॥"[1]

उ० भा० अ०—द्वाभ्याम्=दो पदो से, अभिक्रम्य=अभिक्रमण करके=आरम्भ करके–यह अर्थ है। तयोः=जिन दो पदो से प्रारम्भ किया था उनमें से; उत्तरम्=बाद वाले पद का (को), प्रत्यादाय=पुनः ग्रहण करके, (उसकी) उन दोनो से, उत्तरेण=बाद वाले पद के साथ, उपसंदध्यात्=संधि (मेल) करे। तथा=इस प्रक्रिया से; अर्धर्चं समापयेत्=आधी ऋचा को समाप्त करे।[ख] (जैसे) "पर्जन्याय प्र। प्र गायत। गायत दिवः। दिवस्पुत्राय। पुत्राय मीळ्हुषे। मीळ्हुष इति मीळ्हुषे।"[ग]

टि० (क) क्रम-पाठ का अधिकार दशम और एकादश पटलो के सभी सूत्रो में लागू होता है।

(ख) क्रम-पाठ में दो-दो पदो की संधि (मेल) होती है। अर्धर्च के प्रारम्भ वाले दो पदो का पहला वर्ग बनाया जाता है। तत्पश्चात् उस पहले वर्ग के द्वितीय पद और अर्धर्च के तृतीय पद को मिलाकर द्वितीय वर्ग बनाया जाता है। इस प्रक्रिया से आधी ऋचा को पूरा किया जाता है। फिर दूसरी आधी ऋचा के उसी प्रकार वर्ग बनाये जाते है।

(ग) पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे ॥ सं० पा०
पर्जन्याय। प्र। गायत। दिवः। पुत्राय। मीळ्हुषे ॥ प० पा०
पर्जन्याय प्र। प्र गायत। गायत दिवः। दिवस्पुत्राय। पुत्राय मीळ्हुषे। मीळ्हुष इति मीळ्हुषे ॥ क्र० पा०

---

[1] ऋ० ७।१०२।१

(क्रमपाठेऽनवसानीयपदानि)

एकवर्णमनोकारं नते सु स्मेति नःपरे ।
पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च ॥
ईं लुप्तान्तं प्लुतादीनि स्कम्भनेनेति लुप्तवत् ।
इतो पिब्बतावर्तमः पूर्वे द्वेपदयोर्द्वयोः ॥
स्वसारमस्कृतेत्युभे परं वीरास एतन ।
अतीत्यैतान्यवस्यन्ति ॥३॥

(क्रम-पाठ में अवसान में न आने वाले पद)

सू० अ०—(आचार्य लोग) इन (अधोलिखित) का अतिक्रमण करके (इनसे बाद वाले पदों से क्रम-वर्गों का) अवसान करते हैं—(१) ओकार के अतिरिक्त एक वर्ण ('अक्षर') वाला (पद); (२) 'मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त 'सु' और 'स्म' (ये दो पद) यदि (इनके) बाद में 'नः' (पद) हो; (३) (किसी अन्य) पद के द्वारा पृथक् किया गया जो पद है वह भी और पृथक् करने वाला (पद) भी; (४) 'ईम्' जब इसका अन्त (=अन्तिम वर्ण=मकार) लुप्त हो जाता है; (५) (वे पद) जिनके आदि (=प्रथम 'अक्षर') दीर्घत्व ('प्लुति') को प्राप्त हो जाते हैं; (६) 'स्कम्भनेन' जब (इसका सकार) लुप्त हो जाता है; (७) 'इतो पिब्बत' और 'आवर्तमः'—इन दो द्वेपदों के प्रथम (पद); (८) 'स्वसारमस्कृत'—ये दोनो पद और (९) 'वीरास एतन' में बाद वाला (पद) ।[क]

उ० भा०—एकवर्णम्=पदमेकाक्षरम्—इत्यर्थः । (अनोकारम्=) ओकारं वर्जयित्वा=आ ॐ इति इत्येते पदे; अतीत्यावस्यन्ति । "आ मन्द्रम् । मन्द्रसा वरेण्यम् ।"[१] "उद्वेति ।"[२] "उदु स्यम् । ॐ इत्यूं । स्यं जातवेदसम् ।"[३] अनोकारम् इति कस्मात् ? "अभूवो ।"[४]

उ० भा० अ०—(अनोकारम्=) ओकार को छोडकर, एकवर्णम्=एक वर्ण वाले (पद) का (को)=एक 'अक्षर' वाले पद का (को)='आ' (और) 'ॐ'—इन दो पदों[ख] का (को), अतीत्यावस्यन्ति=अतिक्रमण करके (इनसे बाद वाले पद से क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं; (अर्थात् 'आ' और 'ॐ' को क्रम-वर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है) ।

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र (१०।३) पूर्ववर्ती सूत्र (१०।२) का अपवाद है । इस सूत्र में उन पदो को बतलाया गया है जो क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित नही हो सकते हैं । इन पदो को पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदो के मध्य में रखा जाता है । इन सभी स्थलो पर दो से अधिक पदो का एक क्रम-वर्ग बनता है ।

(ख) ऋग्वेद में एकाक्षर पद तीन हैं—आ, ॐ और ओ । प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'ओ' क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित हो सकता है किंतु 'आ' और 'ॐ' क्रम-वर्ग के अन्त मे स्थित नहीं हो सकते हैं ।

१ ऋ०क्र० ९।६५।२९ २ ऋ०क्र० ७।६३।२ ३ ऋ०क्र० १।५०।१ ४ ऋ०क्र० १।११३।११

(उदाहरण) "आ मन्द्रम् । मन्द्रमा वरेण्यम् ।"[क] "उद्वेति ।"[ख] "उदु त्यम् । ॐ इत्यूँ । त्यं जातवेदसम् ।"[ग] "ओकार को छोडकर"— यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अभूदो ।"[घ]

उ० भा०—**नते सु स्मेति नःपरे**—नते=षत्वभूते; सु स्म इत्येते नःपरे, अतीत्यावस्यन्ति। 'मो षु णः ।"[१] "आसु ष्मा णः ।"[२] नते इति कस्मात् ? "प्र सू न आयुर्जीवसे ।"[३] "इन्द्र सूरीन्कृणुहि स्मा नो अर्धम् ।"[४] नःपरे इति कस्मात् ? "मो षु त्वा वाघतश्चन ।"[५] "त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि ।"

उ० भा० अ०—**नते सु स्मेति नःपरे**—नते='मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त='षत्व' को प्राप्त; 'सु' और 'स्म' के बाद में 'न.' होने पर इनका (अर्थात् 'सु' और 'स्म' का), **अतीत्यावस्यन्ति**=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं, (अर्थात् 'सु' और 'स्म' को क्रम-वर्ग के अन्त में नही रखा जाता है यदि (१) 'सु' और 'स्म' का सकार 'मूर्धन्य' (=षकार) हो गया हो और (२) 'सु' और 'स्म' के बाद में 'न.' हो)। (उदाहरण) "मो षु ण ।"[ङ] "आसु ष्मा ण ।"[च] "'मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त"—

टि० (क) आ मन्द्रमा वरेण्यम् ॥ सं० पा० ॥ आ । मन्द्रम् । आ । वरेण्यम् ॥ प० पा०
आ मन्द्रम् । **मन्द्रमा वरेण्यम्** ॥ क्र० पा०
१०१२ के अनुसार "मन्द्रमा"—यह क्रम-वर्ग होना चाहिए था किंतु १०१३ के अनुसार 'आ' क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित नही हो सकता है। अत. दो पदों के क्रम-वर्ग के स्थान पर तीन पदो का क्रम-वर्ग बना है।

(ख) उद्वेति ॥ स० पा० ॥ उत् । ॐ इति । एति ॥ प० पा० ॥ **उद्वेत्ति** ॥ क्र० पा०

(ग) उदु त्य जातवेदसम् ॥ सं०पा० ॥ उत् । ॐ इति । त्यम् । जातऽवेदसम् ॥ प०पा०
उदु त्यम् । ॐ इत्यूँ । त्य जातवेदसम् ॥ क्र० पा०
'ॐ' क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित नही हो सकता है। अत. दोनो ही स्थलों पर तीन-तीन पदो के क्रम-वर्ग वने हैं।

(घ) अभूदो ॥ सं० पा० ॥ अभूत् । ओ इति ॥ प० पा० ॥ **अभूदो** ॥ क्र० पा०
१०१३ के अनुसार एकाक्षर पद 'ओ' क्रम-वर्ग के अन्त मे स्थित हो सकता है। अत यहाँ दो पदों का ही क्रम-वर्ग बना है।

(ङ) मो षु ण ॥ सं० पा० ॥ मो इति । सु । न ॥ प० पा०
मो षु णः ॥ क्र० पा०

(च) आसु ष्मा ण ॥ सं० पा० ॥ आसु । स्म । नः ॥ प० पा०
आसु ष्मा णः ॥ क्र० पा०
इन दोनो उदाहरणो में 'षत्व' को प्राप्त 'सु' ('षु') और 'स्म' ('ष्म') के बाद में 'न' विद्यमान है। अत १०१३ से 'षु' और 'ष्म' क्रम-वर्गों के अन्त में स्थित नही हो सकते हैं। इससे दोनो स्थलो पर तीन-तीन पदो के क्रम-वर्ग वने है।

---

[१] ऋ० क्र० ११३८।६ [२] ऋ० क्र० ६।४४।१८ [३] ऋ० ८।१८।२२
[४] ऋ० ६।४४।१८ [५] ऋ० ७।३२।१ [६] ऋ० ३।३०।४

यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "प्र सू न आयुर्जीवसे ।"[क] "इन्द्र सूरीन्कृणुहि स्मा नो अर्धम् ।"[ख] " 'न' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "मो षु त्वा वाघतश्चन ।"[ग] "त्व हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि ।"[घ]

उ० भा०—पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च=पदेन च व्यवेत यत्पदं यच्च व्यवैति ते उभे, अतीत्यावस्यन्ति । "ईयते नरा च शंसं दैव्यम् ।"[१]

ई लुप्तान्तम्=ईमित्येतत्पदं लुप्तान्तम्, अतीत्यावस्यन्ति । "यमी गर्भम् ।"[२] लुप्तान्तम् इति कस्मात् ? "समीं रेभासः ।"[३]

उ० भा० अ०—पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च=(किसी अन्य) पद के द्वारा पृथक् किया गया जो पद है वह और जो पृथक् करने वाला (पद) है—इन दोनों का (को); अतीत्यावस्यन्ति=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते है, (अर्थात् जो पद किसी अन्य पद के द्वारा दो भागो में पृथक् किया गया है वह पद तथा पृथक् करने वाला पद—इन दोनो में से कोई भी क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) "ईयते नरा च शस दैव्यम् ।"[ङ]

टि० (क) प्र सू न आयुर्जीवसे ॥ स० पा० ॥ प्र । सु । न । आयु । जीवसे ॥ प० पा०
प्र सु । सू न । न आयु. । आयुर्जीवसे ॥ क्र० पा०

(ख) इन्द्र सूरीन्कृणुहि स्मा नो अर्धम् ॥ स० पा०
इन्द्र । सूरीन् । कृणुहि । स्म । न । अर्धम् ॥ प० पा०
इन्द्र सूरीन् । सूरीन् कृणुहि । कृणुहि स्म । स्मा न । नो अर्धम् ॥ क्र० पा०

उपर्युक्त दोनो प्रत्युदाहरणो में 'सु' और 'स्म' के बाद में 'न' तो विद्यमान है किंतु 'सु' और 'स्म' के सकार 'मूर्धन्य' (षकार) नही हुए है। अत 'सु' और 'स्म' के द्वारा क्रम-वर्गों का अवसान किया गया है । इससे यहाँ दो-दो पदों के ही क्रम-वर्ग बने है ।

(ग) मो षु त्वा वाघतश्चन ॥ स०पा० ॥ मो इति । सु । त्वा । वाघत । चन ॥ प०पा०
मो षु । मो इति मो । सु त्वा । त्वा वाघत । वाघतश्चन ॥ क्र० पा०

(घ) त्व हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि ॥ स० पा०
त्वम् । हि । स्म । च्यवयन् । अच्युतानि ॥ प० पा०
त्व हि । हि ष्म । स्मा च्यावयन् । च्यावयन्नच्युतानि ॥ क्र० पा०

उपर्युक्त दोनो प्रत्युदाहरणो में 'सु' और 'स्म' के सकार 'मूर्धन्य' (षकार) तो हो गए है किंतु 'सु' और 'स्म' के बाद में 'न' नही है। अत 'सु' और 'स्म' के द्वारा क्रम-वर्गों का अवसान किया गया है। इससे यहाँ दो-दो पदो के ही क्रम-वर्ग बने है ।

(ङ) ईयते नरा च शस दैव्यम् ॥ स०पा० ॥ ईयते । नराशसम् । च । दैव्यम् ॥ प० पा०
ईयते नरा च शंसं दैव्यम् ॥ क्र० पा०

---

[१] ऋ० क्र० ९।४६।४२ [२] ऋ० क्र० ९।१०२।६ [३] ऋ० ८।९७।११

ई लुप्तान्तम्=लुप्त हो गया है अन्त (=अन्तिम वर्ण=मकार) जिसका ऐसे 'ईम्' पद का (को); **अतीत्यावस्यन्ति**=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं; (अर्थात् जिस 'ईम्' पद के मकार का लोप हुआ हो उसे क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) 'यमी गर्भम्।'[क] "लुप्त हो गया है अन्त (=मकार) जिसका"–यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "समी रेभासः।"[ख]

उ० भा० – **प्लुतादीनि**=प्लुतादीनि पदानि चातीत्यावस्यन्ति। 'योनिमारैगप।'[१] "कुरुश्रवणमावृणि राजानम्।"[२]

स्कम्भनेनेति लुप्तवत्=स्कम्भनेनेत्येतत्पदं लुप्तवत् अतीत्यावस्यन्ति। "चित्कम्भनेन स्कभीयान्।"[३] **लुप्तवत् इति कस्मात्?** 'अयं महान्महता स्कम्भनेन।'[४]

उ० भा० अ० – **प्लुतादीनि**=दीर्घत्व ('प्लुति') को प्राप्त हो गया है आदि (=प्रथम 'अक्षर') जिनका ऐसे पदो का (को); **अतीत्यावस्यन्ति**=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं; (अर्थात् जिन पदो का प्रथम 'ह्रस्व' 'अक्षर' 'दीर्घ' हो गया हो उन पदो को क्रम-वर्गों के अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) "योनिमारैगप"[ग]; "कुरुश्रवणमावृणि राजानम्।"[घ]

(५६४क) संहिता-पाठ में 'नराशसम्' पद २।७८ के अनुसार 'च' पद के द्वारा पृथक् किया गया है। अत नराशसम्' (पृथक् किया गया पद) और 'च' (पृथक् करने वाला पद) - इन दोनों में किसी से क्रम-वर्ग का अवसान नही किया गया है। इससे यहाँ चार पदों का एक क्रम-वर्ग बना है।

टि० (क) यमी गर्भम् ॥ सं० पा० ॥ यम्। ईमिति। गर्भम् ॥ प० पा०

यमी गर्भम् ॥ क्र० पा०

यहाँ पर 'ईम्' के मकार का लोप ४।८३ से हो गया है। यह पद अब क्रम-वर्ग के अवसान में स्थित नही हो सकता है, जिससे यहाँ तीन पदों का क्रम-वर्ग बना है।

(ख) समी रेभास. ॥ सं० पा० ॥ सम्। ईम्। रेभास ॥ प० पा०

समीम्। ई रेभास. ॥ क्र० पा०

यहाँ 'ईम्' के मकार का लोप नही हुआ है। अत. 'ईम्' से क्रम-वर्ग का अवसान हो गया है जिससे यहाँ पर दो पदों का ही क्रम-वर्ग बना है।

(ग) योनिमारैगप ॥ सं० पा० ॥ योनिम्। अरैक्। अप ॥ प० पा०

योनिमारैगप ॥ क्र० पा०

(घ) कुरुश्रवणमावृणि राजानम् ॥सं०पा०॥ कुरुऽश्रवणम्। अवृणि। राजानम् ॥ प०पा०

कुरुश्रवणमावृणि राजानम् ॥ क्र० पा०

'अरैक्' और 'अवृणि' – इन दो पदों के प्रथम 'अक्षर' क्रमश. २।७५ और २।७७ से 'दीर्घ' हो गये हैं। अत. इन पदों से क्रम-वर्गों का अवसान नही हुआ है जिससे तीन-तीन पदो के क्रम-वर्ग बने हैं।

---

[१] ऋ० क्र० १।१२४।८ [२] ऋ० क्र० १०।३३।४

[३] ऋ० क्र० १०।१११।५ [४] ऋ० ६।४७।५

स्कम्भनेनेति लुप्तवत्=लुप्त हो गया है (सकार) जिसका ऐसे 'स्कम्भनेन' पद को (को), **अतीत्यावस्यन्ति**=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं, (अर्थात् जिस 'स्कम्भनेन' पद के सकार का लोप हो गया हो वह 'स्कम्भनेन' पद क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) "चित्कम्भनेन" स्कभीयान्।"[क] "लुप्त हो गया है (सकार) जिसका"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "अय महान्महता स्कम्भनेन।"[ख]

उ०भा०—इतो षिञ्चतावर्तमः पूर्वे द्वैपदयोर्द्वयोः=इतो षिञ्चत, आवर्तम—इत्येतयोर्द्वैपदयोः पूर्वे पदे; अतीत्यावस्यन्ति। इतो षिञ्चत—"परीतो षिञ्चत।"[1] आवर्तमः—"उषा आवर्तमः।"[2]

स्वसारमस्कृतेत्युभे=स्वसारमस्कृत उभे इत्येते पदे, अतीत्यावस्यन्ति। "नितु स्वसारमस्कृतोषसम्।"[3]

परं वीरास एतन=वीरास एतन—इत्येतस्य द्वैपदस्य परं पदम्, अतीत्यावस्यन्ति। वीरास एतन—"परा वीरासः। वीरास एतन मर्यासः॥"[4]

उ० भा० अ०—**इतो षिञ्चतावर्तमः पूर्वे द्वैपदयोर्द्वयोः**="इतो षिञ्चत" और "आवर्तम."—इन दो द्वैपदों के प्रथम पदो का (को); **अतीत्यावस्यन्ति**=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते है; [अर्थात् 'इतो षिञ्चत" और "आवर्तम." में से प्रत्येक के प्रथम पद (='इतो' तथा 'आवर्') को क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है]। **इतो षिञ्चत**—'परीतो षिञ्चत।"[ग] **आवर्तमः**—"उषा आवर्तम।"[घ]

टि० (क) चित्कम्भनेन स्कभीयान्॥ स० पा०

चित्। स्कम्भनेन। स्कभीयान्॥ प० पा०

चित्कम्भनेन स्कभीयान्॥ क्र० पा०

'चित्कम्भनेन' में 'स्कम्भनेन' के सकार का ४।२१ से लोप हो गया है। अत. 'स्कम्भनेन' से क्रम-वर्ग का अवसान नही हुआ है जिससे यहाँ तीन पदो का एक क्रम-वर्ग बना है।

(ख) अय महान्महता स्कम्भनेन॥ स० पा०

अयम्। महान्। महता। स्कम्भनेन॥ प० पा०

अय महान्। महान्महता। महता स्कम्भनेन॥ क्र० पा०

यहाँ पर 'स्कम्भनेन' के सकार का लोप नही हुआ है। अत दो पदों का एक क्रम-वर्ग बना है।

(ग) परीतो षिञ्चत॥ स० पा०॥ परि। इत। सिञ्चत॥ प० पा०

परीतो षिञ्चत॥ क्र० पा०

(घ) उषा आवर्तम॥ सं० पा०॥ उषा। आवरित्याव। तम.॥ प० पा०

उषा आवर्तमः॥ क्र० पा०

---

[1] ऋ० क्र० ९।१०७।१ [2] ऋ० क्र० १।९२।४ [3] ऋ० क्र० १०।१२७।३

[4] ऋ० क्र० ५।६१।४

स्वसारमस्कृतेत्युभे="स्वसारमस्कृत"—इन दोनो पदों का (को); **अतीत्यावस्यन्ति**=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं; [अर्थात् "स्वसारमस्कृत" के दोनों पदो ('स्वसारम्' और 'अस्कृत') को क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है]। (उदाहरण) "निरु स्वसारमस्कृतोषसम्।"[क]

परं वीरास एतन="वीरास एतन"—इस द्वैपद के बाद वाले पद का (को); **अतीत्यावस्यन्ति**=अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं; [अर्थात् "वीरास एतन" का द्वितीय पद ('एतन') क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है]। **वीरास एतन**—"परा वीरास। वीरास एतन मर्यास।"[ख]

प्लुतादिप्रभृतीनि च ॥४॥

सू० अ०—दीर्घत्व ('प्लुति') को प्राप्त हो जाते हैं आदि (=प्रथम 'स्वर' वर्ण) जिनके (२।७५-७७ में उल्लिखित) उन पदों से आगे आने वाले (अर्थात् २।७८ में उल्लिखित पदो) का (को) भी (अतिक्रमण करके क्रम-वर्ग का अवसान किया जाता है)।

उ० भा०—(**प्लुतादिप्रभृतीनि**=) तानि, **अतीत्यावस्यन्ति**। "शुनश्चिच्छेपं निदितम्"[१]; "नरा वा शंस पूषणम्।"[२] किमर्थमिदमुच्यते? ननु—"पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च"[३]—इत्येव सिद्धम्। न सिध्यति। कथम्? 'क्रमो द्वाभ्यामभिक्रम्य'[४]—इति प्राप्तावसानानि हि—'एकवर्णमनोकारम्'[५]—इत्येवमादीन्यवसानादपोह्यन्ते। तस्माद्यत्रोभे व्यवायिव्यवेते पदे प्राप्तावसाने तत्रैव स्यात्—"ईयते नरा च शंसं दैव्यम्"[६] इति। अन्यत्र न स्यात्—एवमर्थमिदमुच्यते। एवमेके वर्णयन्ति।

(५६७घ) "इतो चिज्वत" और "आवर्तम"—इन दोनो द्वैपदों के पूर्व-पद ('इत.' और 'आव.') क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित नही हो सकते हैं। अत दोनों हीं स्थलों पर तीन-तीन पदो के क्रम-वर्ग बने है।

टि० (क) निरु स्वरसारमस्कृतोषसम् ॥ स० पा०

नि। ॐ इति। स्वसारम्। अकृत। उपसम् ॥ प० पा०

निरु स्वसारमस्कृतोषसम् ॥ क्र० पा०

"स्वसारमस्कृत"—ये दोनों ही क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित नही हो सकते है। एकाक्षर पद 'उ' (ॐ) भी क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित नही हो सकता है। अत यहाँ पाँच पदो का एक क्रम-वर्ग वना है।

(ख) परा वीरास एतन ॥ स० पा० ॥ परा। वीरास। इतन ॥ प० पा०

परा वीरास.। **वीरास एतन मर्यासः** ॥ क्र० पा०

"वीरास एतन" का द्वितीय पद ('एतन') क्रम-वर्ग के अन्त में स्थित नही हो सकता है। अत. यहा तीन पदों का एक क्रम-वर्ग बना है।

---

[१] ऋ० क्र० ५।२।७ [२] ऋ० क्र० १०।६४।३ [३] १०।३
[४] १०।२ [५] १०।३ [६] ऋ० क्र० ९।८६।४२

उ० मा० अ०—(प्लुतादिप्रभृतीनि=दीर्घत्व को प्राप्त हो गये हैं प्रथम 'स्वर'-वर्ण जिनके उनसे बाद वाले पदो को=) उनका (उनको), अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं; (अर्थात् २।७८ में उल्लिखित पदो को क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) "शुनश्चिच्छेप निदितम्"क, "नरा वा शस पूषणम्।"ख (पू०) यह (सूत्र) किसलिये कहा गया है ? ये (उदाहरण) तो "(किसी अन्य) पद के द्वारा पृथक् किया गया जो पद है वह और जो पृथक् करने वाला (पद) है"—इस (सूत्र) से ही सिद्ध है।"ग (सि०) (इससे) सिद्ध नही होता है। (पू०) क्यों (सिद्ध नही होता है) ? (सि०) ' दो (पदो) से प्रारम्भ करके"—इसके अनुसार प्राप्त है अवसान जिनमें उन ओकार से अतिरिक्त एकाक्षर (पदो) आदि को अवसान से हटाया गया है। इसलिये जहाँ पृथक् करने वाले और पृथक् होने वाले—इन दोनो में अवसान प्राप्त हो वहाँ पर ही (१०।३ से कार्य सिद्ध) होगा।घ (जैसे) "ईयते नरा च शस दैव्यम्।"ङ अन्यत्र नही होगा।

टि० (क) शुनश्चिच्छेप निदितम् ॥ स० पा० ॥ शुनऽशेपम्। चित्। निऽदितम् ॥ प० पा०

शुनश्चिच्छेपं निदितम् ॥ ऋ० पा०

(ख) नरा वा शस पूषणम् ॥ स० पा० ॥ नराशसम्। वा। पूषणम् ॥ प० पा०

नरा वा शंसं पूषणम् ॥ ऋ० पा०

२।७८ में उल्लिखित 'शुन शेपम्' और 'नराशसम्' पदो को क्रम-वर्गों के अवसान में नही रखा जाता है। अत तीन-तीन पदो का एक-एक क्रम-वर्ग बना है।

(ग) पू०—१०।३ में यह विधान किया गया है कि किसी अन्य पद के द्वारा पृथक् किया गया पद और पृथक् करने वाला पद—इन दोनो के द्वारा क्रम-वर्ग का अवसान नही किया जाता है। प्रस्तुत उदाहरणो में भी 'शुन शेपम्' पद को 'चित्' और 'नराशसम्' पद को 'वा' पद के द्वारा पृथक् किया गया है। अत शुन शेपम्' और 'नराशसम्' के द्वारा क्रम-वर्ग का अवसान न होना तो १०।३ से ही सिद्ध हो जाता है। तो फिर प्रस्तुत सूत्र के द्वारा इन पदो के क्रम-वर्ग के अवसान में न होने का जो पुन. विधान किया गया है वह व्यर्थ है।

(घ) सि०—१०।३ के द्वारा किया गया निषेध वही लागू होता है जहाँ पृथक् होने वाला पद और पृथक् करने वाला पद—इन दोनो की क्रम-वर्ग के अवसान में प्राप्ति हो। पृथक् होने वाले 'शुन शेपम्' और 'नराशसम्' (ऋ० १०।६४।३) पद अर्धर्च के प्रथम पद हैं। इससे उनकी क्रम-वर्ग के अवसान में प्राप्ति ही नही हो सकती। अत इन दोनों स्थलों पर १०।३ से निषेध नही होता है। इन स्थलो पर निषेध करने के लिये ही प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है।

(ङ) ईयते नरा च शस दैव्यम् ॥स०पा०॥ ईयते। नराशसम्। च। दैव्यम् ॥ प०

ईयते नरा च शंसं दैव्यम् ॥ ऋ० पा०

'नराशसम्' पद यहाँ अर्धर्च का प्रथम पद नही है जिससे 'नराशसम्' 'वा'—इन दोनो की अवसान में प्राप्ति होती है। अत. यहाँ १०।३ से निषेध हो गया है।

इसलिये यह (सूत्र) कहा गया है। इस प्रकार कतिपय आचार्य (इस सूत्र की) व्याख्या करते हैं।

उ०भा०—अपरे पुन—"पदेन च व्यवेतं यत्पदम्"[१] इत्येव सर्वेषु सिद्धमिति मन्यमाना अन्यथा वर्णयन्ति। "प्लुतादिप्रभृतीनि च" इति चकार वाशब्दस्यार्थे वर्णयन्ति। प्लुतादिप्रभृतीनि वातीत्यावस्यन्ति—"योनिमारैक्"[२]; "चित्कम्भनेन"[३]; "वीरास एतन"[४]; "परीतः।"[५] "प्लुतादिप्रभृतीनि" इति प्रभृतिशब्दः प्रकारार्थो द्रष्टव्यः। प्लुतादिप्रकाराणीति। किं कृतं भवति ? वक्ष्यति हेतावनवसानीयेषु केषु केषुचित्- "द्वयभिक्रमं पूर्वनिमित्तमानिनः"[६] इति। तदिहापि दर्शितं भवति॥

उ० भा० अ०—किन्तु दूसरे आचार्य—"(किसी अन्य) पद के द्वारा पृथक् किया गया जो पद है"—इस (सूत्र) को ही सब (उदाहरणों) में सिद्ध मानते हुए (इस सूत्र की) अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं। "प्लुतादिप्रभृतीनि च" के 'च' शब्द की व्याख्या 'वा' शब्द के अर्थ में करते हैं; (अर्थात् इन आचार्यों के अनुसार विकल्प को बतलाने के लिये 'च' शब्द सूत्र में प्रयुक्त है)। (इससे सूत्र का यह अर्थ हुआ) - प्लुतादि ('दीर्घ' हो गये हैं आदि 'स्वर'-वर्ण जिनके) प्रभृति का विकल्प से अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं। (उदाहरण) "योनिमारैक्" ("अथवा योनिमारैगप्"); "चित्कम्भनेन" (अथवा "चित्कम्भनेन स्कभीनान्") "वीरास एतन" (अथवा "वीरास एतन मर्यासः"); "परीतः" (अथवा "परीतो पिन्वत")।[क] "प्लुतादिप्रभृतीनि" में 'प्रभृति' शब्द को प्रकार के अर्थ में समझना चाहिए। (इससे यह अर्थ होगा) प्लुतादि ('दीर्घ' हो गए हैं आदि 'स्वर'-वर्ण जिनके) के प्रकार के स्थलों का) (को) (विकल्प से अतिक्रमण करके क्रम-वर्गों का अवसान करते हैं)। इससे क्या लाभ होगा ? (उत्तर) हेतु-पटल (एकादश पटल) में अवसान में न आने वाले किन्हीं-किन्हीं स्थलों के विषय में (सूत्रकार) कहेंगे—"पूर्ववर्ती (पद) को (विकार का) निमित्त मानने वाले (आचार्य) दो पदों का क्रम-वर्ग (बनाते हैं)।" (इस दूसरी व्याख्या के अनुसार) वह (दो-दो पदों के क्रम-वर्गों का निर्माण) यहाँ भी दिखलाई पड़ जाता है।[ख]

(क्रमे विकृतरूपविषयकनियमौ)

पूर्वोत्तरकृतं रूपं प्रत्यादानावसानयोः न ब्रूयात् ॥५॥

(क्रम-पाठ में विकृत-रूप-विषयक नियम)

सू० अ०—पूर्ववर्ती (पद) तथा परवर्ती (पद) से किये गये (विकृत) रूप का (को) (क्रमशः) पुनः कथन ('प्रत्यादान') और अन्त ('अवसान') में उच्चारण न करे।

टि० (क) उपर्युक्त सभी स्थलों के लिए १०।३ से सम्बद्ध टिप्पणियों को देखिए।

(ख) दशम पटल में विहित क्रम-पाठ के हेतुओं का प्रतिपादन - एकादश पटल में किया गया है। ११।११ इत्यादि कतिपय ऐसे स्थल हैं जिनसे सम्बद्ध विषय का विधान दशम पटल में किया गया प्रतीत नहीं होता है। इस दूसरी व्याख्या के अनुसार ११।११ इत्यादि स्थलों का सम्बन्ध प्रस्तुत सूत्र के साथ सिद्ध हो जाता है।

---

[१] १०।३ [२] ऋ० क० १।१२४।८ [३] ऋ० क० १०।१११।५
[४] ऋ० क० ५।६१।४ [५] ऋ० क० ९।१०७।१ [६] ११।११

उ० भा०—पूर्वकृतं रूपं प्रत्यादाने न ब्रूयात्, उत्तरकृतं रूपमवसाने न ब्रूयात्। पूर्वकृतं रूपम्—"यच्छक्वरीषु बृहता।"[1] "मो षु। मो इति मो। सु त्वा।"[2] "प्र णः। न इन्द्रो।"[3] उत्तरकृतं रूपम्—"घनेव वज्रिन्। घनेवेति घनाऽइव। वज्रिञ्छ्नथिहि।"[4] "अग्ने अच्छ। अच्छा वद॥"[5]

उ० भा० अ०—पूर्ववर्ती (पद) से किये गये (विकृत) रूप का (को) पुन कथन ('प्रत्यादान') में उच्चारण न करे, परवर्ती पद से किये गये (विकृत) रूप का (को) (क्रम-वर्ग के) अन्त (=अवसान) में उच्चारण न करे। पूर्वकृत रूप (के उदाहरण) "यच्छक्वरीषु। शक्वरीषु बृहता।"[क] "मो षु। मो इति मो। सु त्वा।"[ख] "प्र ण'। न इन्द्रो।"[ग] उत्तरकृत रूप (के उदाहरण) "घनेव वज्रिन्। घनेवेति घनाऽइव। वज्रिञ्छ्नथिहि।"[घ] "अग्ने अच्छ। अच्छा वद।"[ङ]

टि० (क) यच्छक्वरीषु बृहता॥ स० पा०॥ यत्। शक्वरीषु। बृहता॥ प० पा०
यच्छक्वरीषु। शक्वरीषु बृहता॥ क्र० पा०
४।११ से 'यत्' का तकार चकार हो गया है। इस चकार के कारण परवर्ती (=पदादि) शकार ४।१२ से छकार हो गया है। पूर्ववर्ती चकार से किये गये विकृत छकार का प्रस्तुत सूत्र से पुन कथन में उच्चारण नहीं किया जाता है, प्राकृत शकार का ही उच्चारण किया जाता है।

(ख) मो षु त्वा॥ स० पा०॥ मो इति। सु। त्वा॥ प० पा०
मो षु। मो इति मो। सु त्वा॥ क्र० पा०
५।५ से 'मो' के ओकार के कारण 'सु' का सकार षकार हो गया है। पूर्ववर्ती 'मो' के ओकार से किये गये विकृत षकार का पुन कथन में उच्चारण नहीं किया जाता है, प्राकृत सकार का ही उच्चारण किया जाता है।

(ग) प्र ण इन्द्रो॥ स० पा०॥ प्र। न। इन्द्रो इति॥ प० पा०
प्र ण'। न इन्द्रो॥ क्र० पा०
५।५६ से पूर्ववर्ती रेफ के कारण 'न' का 'ण' हो गया है। पूर्ववर्ती रेफ से किये गये विकृत णकार का पुन कथन में उच्चारण नही किया जाता है, प्राकृत नकार का ही उच्चारण किया जाता है।

(घ) घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि॥ स० पा०॥ घनाऽइव। वज्रिन्। श्नथिहि॥ प० पा०
घनेव वज्रिन्। घनेवेति घनाऽइव। वज्रिञ्छ्नथिहि॥ क्र० पा०
४।८ से परवर्ती (=पदादि) शकार के कारण पूर्ववर्ती (=पदान्त) नकार ञकार हो गया है। परवर्ती (=पदादि) शकार से किये गये विकृत ञकार का प्रस्तुत सूत्र के अनुसार क्रम-वर्ग के अवसान में उच्चारण नही किया जाता है; प्राकृत नकार का ही उच्चारण किया जाता है।

(ङ) अग्ने अच्छा वद॥ स० पा०॥ अग्ने। अच्छ। वद॥ प० पा०
अग्ने अच्छ। अच्छा वद॥ क्र० पा०

[1] ऋ० क्र० ७।३३।४
[2] ऋ० क्र० ७।३२।१
[3] ऋ० क्र० ९।४४।१
[4] ऋ० क्र० १।६३।५
[5] ऋ० क्र० १०।१४१।१

सर्वमेवान्ययथासंहितमाचरेत् ॥६॥

सू० अ०—अन्य सभी (विकार) को संहिता-पाठ के अनुसार करे।

उ० भा० –पूर्वकृताद्रूपादुत्तरकृताच्च यत् अन्यत् सर्वम् यथासंहितमाचरेत्= यथा सहिताविधाने विहितं तथैवाचरेत्—इत्यर्थः। "वाजेषु सासहि । सासहिर्भव ॥"[१]

उ० भा० अ०—पूर्ववर्ती (पद) से किये गये (विकृत) रूप और उत्तरवर्ती (पद) से किये गये (विकृत) रूप से; अन्यत् सर्वम्=अन्य जो सभी (विकृत रूप) है, उसे यथासंहितमाचरेत्=सहिता-पाठ के अनुसार करे=जैसा सहिता-विधान में विहित है वैसा ही करे—यह अर्थ है। (उदाहरण) "वाजेषु सासहिः। मासहिर्भव।"[क]

(क्रमपाठे पदविशेषाणां परिग्रहः)

अवगृह्याण्यतिक्रम्य सहेतिकरणानि च।
धक्षिधुक्षिप्रवादौ च विकृतादी प्लुतादि च ॥
अन्तःपदं च येषां स्याद्विकारोऽनन्यकारितः।
एतानि परिगृह्णीयात् ॥७॥

(क्रम-पाठ में पदविशेषों का परिग्रह)

सू० अ० - (१) वे पद जो पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् किये जाते हैं; (२) जिन पदों के साथ पद-पाठ में 'इति' लगाते हैं; (३) 'धक्षि' और '-धुक्षि' धातुओं का कोई भी रूप जिसका प्रथम 'अक्षर' विकृत हुआ हो; (४) दीर्घत्व को प्राप्त हुआ है प्रथम 'अक्षर' जिसका ऐसा कोई पद; (५) जिन (पदों) के मध्य में ऐसा विकार हुआ हो जो अन्य (पद) के द्वारा नहीं किया गया है—इन (उपर्युक्त) का (को) अतिक्रमण करके (अर्थात् इनके द्वारा क्रम-वर्गों को पूरा करके) (तदनन्तर) इनका 'परिग्रह' करे (अर्थात् मध्य में 'इति' रखकर इन पदों का दो बार उच्चारण करे)।

उ० भा०—अवगृह्याणि=द्विखण्डानि=पूर्वोत्तरपदभूतानि पदानि; (अतिक्रम्य=) अतीत्य; (एतानि) परिगृह्णीयात्—"ऋषिभिरीड्यः। ऋषिभिरित्यृषिऽभिः।"[२]

(५७०ड) ७।६ से परवर्ती (=पदादि) वकार के कारण पूर्ववर्ती 'अच्छ' पद 'अच्छा' हो गया है। परवर्ती (=पदादि) वकार से किये गये विकृत 'अच्छा' पद का प्रस्तुत सूत्र के अनुसार क्रम-वर्ग के अवसान में उच्चारण नहीं किया जाता है; 'अच्छ' पद का ही उच्चारण किया जाता है।

टि० (क) वाजेषु सासहिर्भव ॥ स० पा० ॥ वाजेषु। ससहि। भव ॥ प० पा०
वाजेषु सासहिः। सासहिर्भव ॥ क्र० पा०

'सासहि' पद का प्रथम 'अक्षर' ९।३२ के अनुसार 'दीर्घ' हुआ है। यह दीर्घत्व न तो पूर्ववर्ती पद के कारण हुआ है और न परवर्ती पद के कारण। अतः अवसान तथा पुन कथन—इन दोनो स्थलो पर सहिता-पाठ मे प्राप्त 'सासहि.' पद का ही उच्चारण किया जाता है।

---

[१] ऋ० क्र० ३।३७।६   [२] ऋ० क्र० १।१।२

सहेतिकरणानि च=इतिकरणसहितानि च; पदानि अतिक्रम्य (एतानि) परिगृह्णीयात्—"इन्द्राग्नी अपात् । इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी ।"[१]

उ० भा० अ०—अवगृह्याणि=दो खण्डो वाले (अर्थात् पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा दो खण्डो में विभक्त)=पूर्व और उत्तर पदो के रूप में अवस्थित पदों का (को); (अतिक्रम्य=) अतिक्रमण करके, (एतानि) परिगृह्णीयात्=(इनको=इनका) 'परिग्रह'[क] करे; (अर्थात् पद-पाठ म 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् किये गये पदो से सम्बद्ध 'क्रम'-वर्गों को पूरा करके उन पदो का पुन दो वार उच्चारण किया जाता है और उन पदों के दो उच्चारणो के मध्य में 'इति' का उच्चारण किया जाता है)। (उदाहरण) "ऋषिभिरीड्य । ऋषिभिरित्यृषिऽभि ।"[ख]

सहेतिकरणानि च= इति' शब्द सहित भी; पदो से (को), अतिक्रम्य=क्रम-वर्गों को पूरा करके, (एतानि) परिगृह्णीयात्=(इनको=इनका) 'परिग्रह' करे, (अर्थात् पद-पाठ में जिन पदो के साथ 'इति' जोडा जाता है उन पदो के द्वारा सम्बद्ध क्रम-वर्गों को पूरा करके उन पदो का पुन दो वार उच्चारण किया जाता है और उन पदों के दो उच्चारणो के मध्य में 'इति' का उच्चारण किया जाता है)। (उदाहरण) "इन्द्राग्नी अपात् । इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी ।"[ग]

उ० भा०—(घक्षिघुक्षिप्रवादौ च=) घक्षि घुक्षि इत्येतौ च प्रवादौ; विकृतादी सन्तौ अतिक्रम्य (एतानि) परिगृह्णीयात्। "अनु दक्षि । दक्षि दावने । धक्षीति धक्षि ।"[२] "मन्विन धुक्षन् । धुक्षन्वृषे । धुक्षन्निति धुक्षन् ।"[३] विकृतादी इति किम् ? "नीचा तम् । त धक्षि । धक्ष्यतसम् ।"[४] "निर्धुक्षन् । धुक्षन्वक्षणाभ्यः ।"[५]

प्लुतादि च पदम् अतिक्रम्य परिगृह्णीयात्। "आरैक्पन्थाम् । अरैगित्यरैक् ।"[६] "आयुक्षातामश्विना । अयुक्षातामित्ययुक्षाताम् ।"[७]

उ० भा० अ०—विकृतादी=जिनके आदि (=प्रथम वर्ण) विकृत हो गय है उन, (घक्षिघुक्षिप्रवादौ च=) 'घक्षि' और 'घुक्षि'—के सभी रूपो से (को), अतिक्रम्य

टि० (क) 'परिग्रह' के लिए पृ० ४७ पर टि० (ख) को देखिए।

(ख) ऋषिभिरीड्य ॥ स० पा० ॥ ऋषिऽभि । ईड्य ॥ प० पा०
ऋषिभिरीड्च । ऋषिभिरित्यषिऽभिः ॥ क्र० पा०
'ऋषिभि.' पद को पद-पाठ में 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् किया गया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'ऋषिभि' पद से क्रम-वर्ग को पूरा करके इसका 'परिग्रह' किया गया है।

(ग) इन्द्राग्नी अपात् ॥ स० पा० ॥ इन्द्राग्नी इति । अपात् ॥ प० पा०
इन्द्राग्नी अपात् । इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी ॥ क्र० पा०
प्रगृह्य-सज्ञक 'इन्द्राग्नी' पद के साथ पद-पाठ में 'इति' लगाया जाता है अत 'इन्द्राग्नी' पद का प्रस्तुत सूत्र से 'परिग्रह' किया गया है।

१ ऋ० क्र० ६।५९।६ २ ऋ० क्र० २।१।१० ३ ऋ० क्र० १।१२१।८
४ ऋ० क्र० ४।४।४ ५ ऋ० क्र० ८।१।१७ ६ ऋ० क्र० १।११३।१६
७ ऋ० क्र० १।१५७।१

(एतानि) परिगृह्णीयात्=क्रम-वर्गों को पूरा करके (इनका) 'परिग्रह' करे; (अर्थात् जहाँ पर 'धक्षि' और 'धुक्षि' पदों के किसी भी रूप के आदि वर्ण में विकार हुआ हो वहाँ उसका 'परिग्रह' किया जाता है)। (उदाहरण) "अनु दक्षि। दक्षि दावने। धक्षीति धक्षि।"[क] "मन्दिन दुक्षन्। दुक्षन्वृधे। धुक्षन्निति धुक्षन्।"[ख] "विकृत हो गया है आदि (=प्रथम वर्ण) जिनका"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "नीचा तम्। त धक्षि। धक्ष्यतसम्।"[ग] "निर्धुक्षन्। धुक्षन्वक्षणाभ्यः।"[घ]

प्लुतादि च='दीर्घ' हो गया है आदि (=प्रथम 'स्वर'-वर्ण) जिसका उस पद से (को); **अतिक्रम्य परिगृह्णीयात्**=क्रम-वर्ग को पूरा करके (तदनन्तर उसका) 'परिग्रह' करे। (उदाहरण) "आरैक्पन्थाम्। अरैगित्यरैक्।"[ङ] "आयुक्षातामश्विना। अयुक्षाता-मित्ययुक्षाताम्।"[च]

उ० भा०—(अन्तःपदं च येषाम्=) अन्तः=मध्ये. येषां पदानाम्; **विकारः**; **अनन्यकारितः**=आत्मकारितः (स्यात्)-इत्यर्थः। तानि च अतिक्रम्य परिगृह्णीयात्। "सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम।"[1] "वावृधाना शुभः। ववृधानेति ववृधाना।"[2] **अनन्यकारितः इति किम्?** "शक्र एणम्। एन पीपयत्॥"[3]

टि० (क) अनु दक्षि दावने॥ स० पा०॥ अनु। धक्षि। दावने॥ प० पा०
अनु दक्षि। दक्षि दावने। **धक्षीति धक्षि**॥ क्र० पा०
४।९८ से प्रथम वर्ण (=धकार) सहिता-पाठ मे दकार हो गया है। अत 'धक्षि' का 'परिग्रह' किया गया है।

(ख) मन्दिन दुक्षन्वृधे॥ स० पा०॥ मन्दिनम्। धुक्षन्। वृधे॥ प० पा०
मन्दिन दुक्षन्। दुक्षन्वृधे। **धुक्षन्निति धुक्षन्**॥ क्र० पा०
४।९८ से 'धुक्षन्' का प्रथम वर्ण (=धकार) सहिता-पाठ में दकार हो गया है। अत. 'धुक्षन्' का 'परिग्रह' किया गया है।

(ग) नीचा त धक्ष्यतसम्॥ स० पा०॥ नीचा। तम्। धक्षि। अतसम्॥ प० पा०
नीचा तम्। त धक्षि। धक्ष्यतसम्॥ क्र० पा०

(घ) निर्धुक्षन्वक्षणाभ्य.॥ स० पा०॥ नि। धुक्षन्। वक्षणाभ्यः॥ प० पा०
निर्धुक्षन्। धुक्षन्वक्षणाभ्य॥ क्र० पा०
'धक्षि' तथा 'धुक्षन्' के प्रथम वर्ण (=धकार) सहिता-पाठ में विकार को प्राप्त नही हुए है। अत. इन पदो का 'परिग्रह' नही किया गया है।

(ङ) आरैक्पन्थाम्॥ स० पा०॥ अरैक्। पन्थाम्॥ प० पा०
आरैक्पन्थाम्। **अरैगित्यरैक्**॥ क्र० पा०

(च) आयुक्षातामश्विना॥ स० पा०॥ अयुक्षाताम्। अश्विना॥ प० पा०
आयुक्षातामश्विना। **अयुक्षातामित्ययुक्षाताम्**॥ क्र० पा०
२।७५ और २।७७ से क्रमश. 'अरैक्' तथा 'अयुक्षाताम्' के प्रथम 'स्वर'-वर्ण (अकार) 'दीर्घ' हो गए है। अत. इन पदो का 'परिग्रह' किया गया है।

---

[1] ऋ० क्र० १।१३७।१ [2] ऋ० क्र० ८।५।११ [3] ऋ० क्र० ८।११।१९

उ० भा० अ०—(अन्तःपदं च येषाम्=) जिन पदो के, अन्त = मध्य में; अनन्यकारितः = अन्य (पद) के द्वारा न किया गया = अपने ही द्वारा किया गया–यह अर्थ है, विकारः (स्यात्) = विकार (होवे)। उनसे भी; अतिक्रम्य परिगृह्णीयात् = क्रम-वर्गो को पूरा करके (तदनन्तर) उनका 'परिग्रह' करे; (अर्थात् उन पदो का भी 'परिग्रह' किया जाता है जिनके मध्य में ऐसा कोई विकार हुआ हो जो पूर्ववर्ती पद अथवा उत्तरवर्ती पद के प्रभाव से नही हुआ है)। (उदाहरण) "सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम।"[क] "वावृधाना शुभः। ववृधानेति ववृधाना।"[ख] "अन्य के द्वारा न किया गया (विकार)"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "शक्र एणम्। एन पीपयत्।"[ग]

बहुमध्यगतानि च ॥८॥

सू० अ०—बहुत पदों वाले (क्रम-वर्ग) के मध्य में स्थित (पदों) का (को) भी ('परिग्रह' करे)।

उ० भा०—(बहुमध्यगतानि च=) बहूनां पदानां मध्यगतानि च यानि पदानि तानि, चातिक्रम्य परिगृह्णीयात्। "ईयते नरा च शंसं दैव्यम्। नराशंसमिति नराशंसम्। चेति च।"[१] "शुनश्चिच्छेपं निदितम्। शुनःशेपमिति शुनःऽशेपम्। चिदिति चित्।"[२] "नरा वा शंसं पूषणम्। नराशसमिति नराशंसम्। वेति वा।"[३] "मो षु ण। मो इति मो। स्विति सु।"[४]

उ० भा० अ०—(बहुमध्यगतानि च=) बहुत पदो वाले (क्रम-वर्ग) के मध्य में स्थित जो पद है उनसे (-को) भी क्रम-वर्गों को पूरा करके उनका 'परिग्रह' करे। (उदाहरण)

टि० (क) सुषुमा यातम् ॥ स० पा० ॥ सुसुम। आ। यातम् ॥ प० पा०
सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम ॥ क्र० पा०
'सुसुम' के द्वितीय 'सु' के सकार का षकार अन्य पद के प्रभाव से न होकर ५।२० से पूर्ववर्ती उकार के कारण हुआ है। अत इसका 'परिग्रह' किया गया है।

(ख) वावृधाना शुभ ॥ स० पा० ॥ ववृधाना। शुभ ॥ प० पा०
वावृधाना शुभ। ववृधानेति ववृधाना ॥ क्र० पा०
'ववृधाना' का प्रथम अक्षर (='स्वर'-वर्ण) किसी अन्य पद के प्रभाव से 'दीर्घ' न होकर ९।३२ के अनुसार अपने ही द्वारा हुआ है। अत इसका 'परिग्रह' किया गया है।

(ग) शक्र एण पीपयत् ॥ स० पा० ॥ शक्र। एनम्। पीपयत् ॥ प० पा०
शक्र एणम्। एन पीपयत् ॥ क्र० पा०
'एनम्' का नकार ५।६० से अन्य (पूर्ववर्ती 'शक्र' के रेफ) के कारण णकार हुआ है। अत यहाँ 'परिग्रह' नही किया गया है।

---

१ ऋ० क्र० ९।८६।४२
२ ऋ० क्र० ५।२।७
३ ऋ० क्र० १०।६४।३
४ ऋ० क्र० १।३८।६

"ईयते नरा च शसं दैव्यम् । नराशंसमिति नराशंसम् । चेति च ।"[क] "शुनश्चिच्छेपं निदितम् । शुन शेपमिति शुन ऽशेपम् । चिदिति चित् ।"[ख] "नरा वा शस पूषणम् । नरा-शसमिति नराशसम् । वेति वा ।"[ग] "मो षु ण । मो इति मो । स्विति सु ।"[घ]

अर्धर्चान्त्यं च ॥९॥

सू० अ०—अर्धर्च के अन्त में स्थित (पद) का (को) भी ('परिग्रह' करे) ।

उ० भा०—(अर्धर्चान्त्यम्=) अर्धर्चान्ते वर्तमानम्; च अतीत्य परिगृह्णीयात् । "पुत्राय मीळ्हुषे । मीळ्हुष इति मीळ्हुषे ॥"[१]

उ० भा० अ०—(अर्धर्चान्त्यम् च=) अर्धर्च के अन्त में वर्तमान (पद) से (को) भी; क्रम-वर्ग को पूरा करके (उसका) 'परिग्रह' करे । (उदाहरण) "पुत्राय मीळ्हुषे । मीळ्हुष इति मीळ्हुषे ।"[ङ]

नाकारं प्रागतोऽननुनासिकम् ॥१०॥

सू० अ०—इस (अर्थात् अर्धर्च के अन्त में वर्तमान पद) से पहले आने वाले 'अननुनासिक' आकार (को) का ('परिग्रह' न करे) ।

उ० भा०—अननुनासिकमाकारम्; (अतः=) अर्धर्चान्त्यात्; प्राङ् न परिगृह्णीयात् । "मन्द्रमा वरेण्यम् ।" प्रागत इति किम् ? "तनूष्वा । एत्या ।"[२] अननुनासिकम् इति किम् ? 'गम्भीर आँ उग्रपुत्रे । एत्या ॥'[३]

टि० (क) ईयते नरा च शस दैव्यम् ॥ स० पा०॥ ईयते । नराशसम् । च । दैव्यम् ॥ प० पा० ईयते नरा च शस दैव्यम् । नराशंसमिति नराशंसम् । चेति च ॥ क्र० पा०
१०।२ के अनुसार बहुत (=चार) पदों का एक क्रम-वर्ग बना है । इस क्रम-वर्ग के मध्यवर्ती दो पदों (= नराशसम्' तथा 'च') का प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' किया गया है ।

(ख) शुनश्चिच्छेप निदितम् ॥ स० पा० ॥ शुन ऽशेपम् । चित् । निऽदितम् ॥ प० पा० शुनश्चिच्छेप निदितम् । शुनःशेपमिति शुनःऽशेपम् । चिदिति चित् ॥ क्र० पा०

(ग) नरा वा शस पूषणम् ॥ स० पा० ॥ नराशसम् । वा । पूषणम् ॥ प० पा० नरा वा शस पूषणम् । नराशंसमिति नराशंसम् । वेति वा ॥ क्र० पा०

(घ) मो षु ण ॥ स० पा० ॥ मो इति । सु । न ॥ प० पा० मो षु ण. । मो इति मो । स्विति सु ॥ क्र० पा०

(ङ) पुत्राय मीळ्हुषे ॥ स० पा० ॥ पुत्राय मीळ्हुषे ॥ प० पा० पुत्राय मीळ्हुषे । मीळ्हुष इति मीळ्हुषे ॥ क्र० पा०
'मीळ्हुषे' पद अर्धर्च के अन्त में वर्तमान है । अत. इसका 'परिग्रह' किया गया है ।

---

[१] ऋ० क्र० ७।१०२।१ [२] ऋ० क्र० ९।६५।२९
[३] ऋ० क्र० ९।६५।३० [४] ऋ० क्र० ८।६७।११

उ० भा० अ०—(अतः=इससे=) अर्धर्च के अन्तिम (पद) से; प्राक्=पहले वाले; अननुनासिकमाकारम्='अननुनासिक' आकार (को) का, न=नही; 'परिग्रह' करे, (अर्थात् अर्धर्च के अन्तिम पद से पहले अर्थात् अर्धर्च के मध्य में कहीं भी स्थित 'अननुनासिक' आकार का 'परिग्रह' नहीं किया जाता है)। (उदाहरण) "मन्द्रमा वरेण्यम्।"क "इस (अर्थात् अर्धर्च के अन्तिम पद) से पहले वाला" --यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "तनूष्वा। एत्या।"ख "अननुनासिक' (आकार)"--यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "गभीर आँ उग्रपुत्रे। एत्या।"ग

प्रत्यादायैव तं ब्रूयादुत्तरेण पुनः सह ॥११॥

सू० अ०—उस ('अननुनासिक' आकार) का (को) दोबारा ग्रहण करके (उसका) बाद वाले (पद) के साथ पुनः उच्चारण करे।

उ० भा०—प्रत्यादाय; तम्=अननुनासिकमाकारम्, पुनरुत्तरेणैव सह ब्रूयात्। "मन्द्रमा वरेण्यम्। आ वरेण्यम्॥"[1]

उ० भा० अ०—तम्=उसको='अननुनासिक' आकार को; प्रत्यादाय=दोबारा ग्रहण करके, पुनरुत्तरेणैव सह=फिर बाद वाले पद के ही साथ; ब्रूयात्=उच्चारण करे; (अर्थात् 'अननुनासिक' आकार को सम्बद्ध क्रम-वर्ग के मध्य में रखकर तदनन्तर उसका बाद

टि० (क) मन्द्रमा वरेण्यम् ॥ स० पा० ॥ मन्द्रम्। आ। वरेण्यम् ॥ प० पा०
मन्द्रमा वरेण्यम् ॥ क्र० पा०

१०।८ का अपवाद। बहुत (=तीन) पदो के मध्य में स्थित 'अननुनासिक' आकार का प्रस्तुत सूत्र से 'परिग्रह' नही किया गया है क्योंकि यह आकार अर्धर्च के अन्तिम पद से पहले विद्यमान है। यह 'अननुनासिक' आकार अर्धर्च के अन्तिम पद से पहले अर्धर्च के मध्य में कहीं भी हो सकता है। यहाँ अव्यवहित पहले होने का प्रश्न नही है। सम्बद्ध अर्धर्च इस प्रकार है—

आ मन्द्रमा-वरेण्यमा विप्रमा मनीषिणम् ॥ स० पा०

(ख) तनूष्वा ॥ स० पा० ॥ तनूषु। आ ॥ प० पा० ॥ तनूष्वा। एत्या ॥ क्र० पा०

यहाँ 'अननुनासिक' आकार अर्धर्च के अन्त में विद्यमान है। अत इस आकार का 'परिग्रह' १०।९ से किया गया है।

(ग) गभीर आँ उग्रपुत्रे ॥ स० पा० ॥ गभीरे। आ। उग्रऽपुत्रे ॥ प० पा०
गभीर आँ उग्रपुत्रे। एत्या ॥ क्र० पा०

यहाँ अर्धर्च के अन्तिम पद से पहले आने वाले भी आकार का 'परिग्रह' १०।८ से हो गया है क्योकि यह आकार 'अननुनासिक' न होकर 'अनुनासिक' है। सम्बद्ध अर्धर्च इस प्रकार है—

पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघासत ॥ स० पा०

[1] ऋ० ऋ० ९।६५।२९

वाले पद के साथ दोबारा उच्चारण किया जाता है)। (उदाहरण) "मन्द्रमा वरेण्यम्। आ वरेण्यम्।"[क]

(उपस्थितसंज्ञा)

उपस्थितं सेतिकरणम् ॥१२॥

सू० अ०—'इति' शब्द सहित पद को 'उपस्थित' कहते हैं।

उ० भा०—(सेतिकरणम्=) इतिकरणयुक्तम् पदम्; तत्; (उपस्थितम्=) उपस्थितसंज्ञम्; वेदितव्यम्। "बाहू इति।"[1] उपस्थितसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"व्ययवद्‌ध्युपस्थिते"[2] इति ॥

उ० भा० अ०—(सेतिकरणम्=) इति 'शब्द' से युक्त (=जिस पद के बाद में 'इति' जोड़ा गया है) उस पद को, (उपस्थितम्=) 'उपस्थित'-संज्ञक; जानना चाहिये। (उदाहरण) "बाहू इति।" उपस्थित-संज्ञा का प्रयोजन--"उपस्थित में (पद) विकृत (होता है)।"

(स्थितसंज्ञा)

केवलं तु पदं स्थितम् ॥१३॥

सू० अ०—केवल (पद) को तो 'स्थित' कहते हैं।

उ० भा०—केवलं तु पदम्=इतिकरणरहितम्; (स्थितम्=) स्थितसंज्ञम्; वेदितव्यम्। "अग्निम्।" स्थितसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"स्थितिस्थितोपस्थितयोश्च दृश्यते पदं यथावत्"[3] इति ॥

उ० भा० अ०—केवलं तु पदम्='इति' शब्दरहित (पद) को (=जिस पद के बाद में 'इति' नहीं जोड़ा गया है उसको); (स्थितम्=) 'स्थित'-संज्ञक; जानना चाहिये। (उदाहरण) 'अग्निम्।" स्थित-संज्ञा का प्रयोजन—" 'स्थित' और 'स्थितोपस्थित' अवस्थाओं में पद ठीक रूप में दिखलाई पड़ता है।

(स्थितोपस्थितसंज्ञा)

तत्स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते ॥१४॥

सू० अ०—जहाँ (वक्ता) दोनों (='स्थित' और 'उपस्थित') का साथ-साथ उच्चारण करे वह 'स्थितोपस्थित' कहा जाता है।

उ० भा०—तत् पदं नाम स्थितोपस्थितं वेदितव्यम्। कतरत्तत्? उभे=स्थितोपस्थिते; यत्राह संहिते वक्ता—"विभावसो इति विभाऽवसो।"[4] स्थितोपस्थितसंज्ञायाः प्रयोजनम्— 'स्थितिस्थितोपस्थितयोश्च दृश्यते पदं यथावत्"[5] इति ॥

टि० (क) मन्द्रमा वरेण्यम् ॥ सं० पा० ॥ मन्द्रम्। आ। वरेण्यम् ॥ प० पा०
मन्द्रमा वरेण्यम्। आ वरेण्यम् ॥ क्र० पा०
दो पदों के मध्य में उच्चारण करने के अनन्तर 'आ' का परवर्ती पद के साथ दोबारा उच्चारण प्रस्तुत सूत्र से किया गया है।

---

[1] ऋ० प० १।९५।७ [2] ११।६१ [3] ११।६१ [4] ऋ० प० १।४४।१० [5] ११।६१

उ० भा० अ०—तत्=उस पद को; स्थितोपस्थितम्='स्थितोपस्थित'-संज्ञक; जानना चाहिये। उसे किसको ? उभे=दोनों को='स्थित' और 'उपस्थित' को; वक्ता; यत्राह संहिते=जहाँ पर साथ-साथ उच्चारण करता है; (अर्थात् जहाँ पर 'उपस्थित' तथा 'स्थित' इन दोनो को मिलाकर उच्चारण किया जाता है उस पद को 'स्थितोपस्थित' कहते हैं)। (उदाहरण) "विभावसो इति विभाऽवसो।" स्थितोपस्थित-सज्ञा का प्रयोजन—" 'स्थित' और 'स्थितोपस्थित' अवस्थाओं में पद ठीक रूप में दिखलाई पडता है।"

(परिग्रहविषयेऽन्ये नियमाः)

अदृष्टवर्णे प्रथमे चोदकः स्यात्प्रदर्शकः । एतदिष्टम् ॥१५॥

(परिग्रह के विषय में अन्य नियम)

सू० अ०—यदि प्रथम (क्रम-वर्ग) में (प्रथम पद के अन्त में कोई ऐसा) वर्ण हो जो दिखलाई नहीं देता है तो यह अभीष्ट है कि परिग्रह' (चोदक) (इस वर्ण को) दिखलावे।

उ० भा०—प्रथमे द्वंपदे; (अदृष्टवर्णे=) पूर्वपदस्यान्ते वर्णेऽदृष्टे; तस्य प्रदर्शकश्चोदकः स्यात्। चोदकः=परिग्रहः—इत्यनर्थान्तरम्। 'तन्नः। तदिति तत्'[1] "त नः। तमिति तम्।"[2] "तां त्वाम्। तामिति ताम्।"[3] एतत्प्रदर्शनमिष्टम्। कस्मादिति ? न पठ्यते। इष्टवचनादेवास्यानित्यत्वं गम्यते॥

उ० भा० अ०—प्रथमे=(अर्धर्च के) प्रथम द्वंपद में; (अदृष्टवर्णे=) प्रथम पद के अन्त वाले वर्ण के दिखलाई न पडने पर, उसका, प्रदर्शकश्चोदकः स्यात्=दिखलाने वाला 'परिग्रह' होवे, (अर्थात् अर्धर्च के प्रथम क्रम-वर्ग के प्रथम पद का अन्तिम वर्ण दिखलाई न पडे तो उसको दिखलाने के लिए प्रथम पद का 'परिग्रह' किया जाता है)। चोदकः='परिग्रह'—ये दोनो भिन्नार्थक नही है (अर्थात् ये समानार्थक हैं)। (उदाहरण) "तन्न। तदिति तत्।"[क] "त न। तमिति तम्।"[ख] ता त्वाम्। तामिति ताम्।"[ग] एतत्प्रदर्शनमिष्टम्=('परिग्रह' के द्वारा प्रथम पद के अन्तिम वर्ण का) यह प्रदर्शन अभीष्ट है। (पू०) क्यो (अभीष्ट है) ? (सि०) (इस वर्ण के मूलरूप का) पाठ नही होता है (और इस प्रकार इसके मूलरूप के विषय में सन्देह हो सकता है)। (सूत्र में प्रयुक्त) इष्ट शब्द से ही इस (विधान की) अनित्यता ज्ञात होती है।[घ]

टि० (क) तन्न ॥ म० पा० ॥ तत्। न ॥ प० पा० ॥ तन्न । तदिति तत् ॥ क्र० पा०

(ख) त न ॥ म० पा० ॥ तम्। न ॥ प० पा० ॥ त न । तमिति तम् ॥ क्र० पा०

(ग) ता त्वाम् ॥ स० पा० ॥ ताम्। त्वाम् ॥ प० पा०
ता त्वाम्। तामिति ताम् ॥ क्र० पा०

(घ) अर्थात् अर्धर्च के प्रथम द्वंपद के प्रथम पद के अन्तिम वर्ण के दिखलाई न देने पर उसको परिग्रह' के द्वारा दिखलाना अनिवार्य नही है। तथापि स्पष्टता के लिए इसको दिखलाया जावे तो अच्छा है।

[1] ऋ० क्र० १।१०७।३ [2] ऋ० क्र० २।३४।७ [3] ऋ० क्र० १।४९।४

समासाँस्तु पुनर्वचन इङ्ग्येत् ॥१६॥

सू० अ०—समासों को तो ('परिग्रह' के) द्वितीय वचन में 'अवग्रह' के द्वारा .क् करे।

उ० भा०—समासास्तु=अवगृह्याणि पदानि। तानि च; पुनर्वचने=परिग्रहस्य .तीये वचने, इङ्ग्येत्=अवगृह्णीयात्। "पुरोजिती व । पुरोजितीति पुरःऽजिती ॥"[१]

उ० भा० अ०—समासास्तु=अवगृह्य पद (=पद-पाठ में 'अवग्रह' से पृथक किए .ने वाले पद), उनको भी, पुनर्वचने='परिग्रह' के द्वितीय वचन[क] में; इङ्ग्येत्='अव- ह' के द्वारा पृथक् करे।[ख] (उदाहरण) "पुरोजिती व । पुरोजितीति पुर ऽजिती।"[ग]

इतिपूर्वेषु संधानं पूर्वैः स्वः स्यादसंहितम् ।
तदवग्रहवद् ब्रूयात् ॥१७॥

सू० अ०—प्राचीन (आचार्यों) ने 'इति' से बाद में आने वाले पदों में संधि ो (अभीष्ट माना है)। किंतु 'स्वः' की (पूर्ववर्ती 'इति' के साथ) संधि नहीं ोती है। इसको 'अवग्रह' के समान उच्चारण किया जाता है।

उ० भा०—इतिपूर्वेषु पदेषु=परिग्रहे क्रियमाणे य इतिपूर्वास् तेषु; इतिना संधानं ूर्वैः आचार्यैरिष्टम्। अस्माकमपि। स्वः इतीदं पदम् असंहितं स्यात्। आचार्यग्रहण जार्थम्। असंहितमिति यथेतिकरणान्तो निघातं न प्राप्नुयात्स्वरिति प्रत्यये। तदवग्रहवद् ्रूयात्=अवग्रहवदिति यथा मात्राकालोऽन्तरं स्यात्– 'स्वरिति स्वः'' ॥[२]

उ० भा० अ०—इतिपूर्वेषु='इति' है पूर्व में जिनके ऐसे पदो में='परिग्रह' करने र जो 'इति' के बाद मे पद हो उनमे, 'इति' के साथ, संधानम्=संधि, पूर्वैः=प्राचीन; ाचार्यों के द्वारा मानी गयी है, (अर्थात् प्राचीन आचार्यों का मत है कि 'परिग्रह' में ्रयुक्त 'इति' पद की परवर्ती पद के साथ संधि हो जाती है)। हमारा भी (यही मत है)। वः='स्व' यह पद; असंहितं स्यात्=संधि को प्राप्त नही होता है; (अर्थात् 'स्व.' पद की ूर्ववर्ती 'इति' के साथ संधि नही होती है)। 'आचार्य' (शब्द) का ग्रहण सम्मान प्रकट करने के लिए किया गया है। (सूत्र में) 'असंहितम्' (संधि को प्राप्त नही होता है) (इसलिए कहा ाया है) जिससे 'इति' शब्द का अन्त (=अन्तिम 'अक्षर'='इ'), 'स्वः' (पद) परे रहते,

टि० (क) 'परिग्रह' के द्वितीय वचन के लिए पृ० ४७ पर टि० (ख) देखिए।
(ख) पद-पाठ में जिन पदो को 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् किया जाता है उनका 'परिग्रह' १०।७ से किया जाता है। ऐसे पदो के 'परिग्रह' करने की यह पद्धति है कि 'इति' से पूर्व में अवगृह्य पद का संहिता-रूप दिया जाता है और 'इति' के बाद में उच्चारित होने वाले रूप को 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् किया जाता है।
(ग) पुरोजिती व ॥ स० पा० ॥ पुर ऽजिती। व ॥ प० पा०
पुरोजिती व । पुरोजितीति पुरःऽजिती ॥ क्र० पा०

[१] ऋ० क्र० ९।१०।१ [२] ऋ० प० १।५२।१२

'अनुदात्त' ('निघात') न होवे। तद्वग्रहवद् ब्रूयात्—उसका 'अवग्रह' के समान उच्चारण करना चाहिए। (सूत्र में) " 'अवग्रह' की तरह" (कहा गया है) जिससे ('इति' और 'स्व.' के मध्य में) मात्राकाल ('अवग्रह' का काल) का व्यवधान होवे—"स्व१ रिति स्व।"[क]

(क्रमपाठेऽर्धर्चयोः संधिनिषेधः)

संधिर्नार्धर्चयोर्भवेत् ॥१८॥

(क्रम-पाठ में अर्धर्चों की संधि का निषेध)

सू० अ०—दो अर्धर्चों की संधि न होवे।

उ० भा०—अस्मिन्क्रमविधाने अर्धर्चयोः संधिर्न भवेत्। केन प्राप्तावयं प्रतिषेध आरभ्यते। "दृष्टक्रमत्वात्समयान् संदध्यात्सर्वशः क्रमे"[१] इति प्राप्ते॥

उ० भा० अ०—इस क्रम-विधान में, अर्धर्चयोः संधिर्न भवेत्—दो अर्धर्चों की संधि न होवे। किससे प्राप्त होने पर यह प्रतिषेध किया जा रहा है? (उत्तर) "क्रम-पाठ के (पहले ही) दिखलाई पड़ने से 'समय'-संज्ञक पदों को क्रम-पाठ में पूर्णतया एक साथ मिलावे" इससे प्राप्त होने पर।

(क्रमपाठे समयैः सह संधेः प्रकारः)

दृष्टक्रमत्वात्समयान्संदध्यात्सर्वशः क्रमे।
पदेन च पदाभ्यां च प्रागवस्येदतीत्य च ॥१९॥

(क्रम-पाठ में समय के साथ संधि का प्रकार)

सू० अ०—'समय'-संज्ञक पदों को क्रम-पाठ में पूर्णतया एक साथ मिला देना चाहिए क्योंकि उनका क्रम-पाठ (पहले ही) दिखाई पड़ता है। ('समय' से) पहले (क्रम-वर्ग का) ('समय' के) एक पद से (अवसान करे) और ('समय' का) अतिक्रमण करके (परवर्ती) दो पदों से (क्रम-वर्ग का) अवसान करे।

उ० भा०—दृष्टक्रमत्वात् हेतोः समयान् संदध्यात्सर्वशः क्रमे। पदेन च (प्राक्)=समयं प्राप्य पदेनावस्येत्। समयम् अतीत्य पदाभ्यामवस्येत्। "प्रप्र वः। प्रप्रेति प्रऽप्र। वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दवीरायेन्दवे।"[२] "घोनिष्ट इन्द्र सदने अकारि। अकारि तमा नृभिः पुरुहूत।"[३] दृष्टक्रमत्वात् इति हेतुसामान्ये सत्यपि—' अग्नेर्वयं प्रथमस्या-

टि० (क) यदि पूर्ववर्ती 'इति' के साथ 'स्व' की संधि होती तो 'इति' का 'ति', 'स्वरित' से पूर्व में होने के कारण, ३।२१ से 'अनुदात्त' हो जाता जिससे यह रूप सम्पन्न होता—"स्व१ रिति स्वं" किंतु यह रूप संहिता-पाठ में उपलब्ध नहीं है। अतः प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि 'स्व' की पूर्ववर्ती 'इति' के साथ संधि नहीं होती है।

---

१ १०।१९ २ ऋ० ऋ० ८।६९।१ ३ ऋ० ऋ० ७।२४।१

पूर्णतया एक साथ मिला देना चाहिए"—यह लागू नहीं होता है। (पू०) क्यों ? (सि०) समय-संज्ञा का अभाव होने से।[क]

(परिग्रहे संधिविशेषाणां प्रकृतिभावः)

नकारस्योष्मवद्वृत्तं प्लुतोपाचरिते नतिः।
प्रश्लेषश्च प्रगृह्यस्य प्रकृत्या स्युः परिग्रहे ॥२०॥

(परिग्रह में संधिविशेषों का प्रकृतिभाव)

सू० अ०– (१) नकार का विसर्जनीय ('ऊष्मन्') की तरह वर्तन (व्यवहार), (२) 'ह्रस्व' 'स्वर' का 'दीर्घ' होना ('प्लुत'), (३) विसर्जनीय का सकार होना ('उपाचरित'), (४) 'दन्त्य' वर्ण का 'मूर्धन्य' होना ('नति') और (५) 'प्रगृह्य' (स्वरों) का 'प्रश्लेष'—ये (उपर्युक्त) 'परिग्रह' में 'प्रकृतिभाव' से (अर्थात् मूल-रूप में) रहते हैं।

उ० भा०—नकारस्य यत् ऊष्मवद्वृत्तम्; (प्लुतोपाचरिते) प्लुतश्चोपाचरितश्च; नतिः च प्रश्लेषश्च प्रगृह्यस्य यः—एतानि सर्वाणि प्रकृत्या; (स्युः) भवन्ति; परिग्रहे क्रियमाणे।

नकारस्योष्मवद्वृत्तम्—"अस्माँ अस्माँ इत्। अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽअस्मान्।"[1] "अभीशूँरिव सारथिः। अभीशूनिवेत्यभीशून्ऽइव।"[2] "विभ्राजमानाँश्चमसान्। विभ्राजमानानिति विऽभ्राजमानान्।"[3] "आवदँस्त्वम्। आवदन्नित्याऽवदन्।"[4] "स्वतवाँः पायु। स्वतवानिति स्वऽतवान्॥"[5]

उ० भा० अ०—नकारस्योष्मवद्वृत्तम्=नकार का विसर्जनीय ('ऊष्मन्') के समान जो वर्तन (व्यवहार) है वह, (प्लुतोपाचरिते=) 'ह्रस्व' 'स्वर' का 'दीर्घ' होना ('प्लुत') और विसर्जनीय का सकार होना ('उपाचरित'), नति='दन्त्य' वर्ण का 'मूर्धन्य' होना, प्रश्लेषश्च प्रगृह्यस्य='प्रगृह्य' का जो 'प्रश्लेष' है—ये सब, परिग्रहे='परिग्रह' करने पर (='परिग्रह' में), प्रकृत्या(स्युः)='प्रकृति भाव' से रहते हैं (अर्थात् 'परिग्रह' में इन सबका मूल-रूप दिखलाया जाता है)।

टि० (क) तीन अथवा तीन से अधिक पद पुनरुक्त होने पर भी सर्वदा 'समय'-संज्ञक नहीं होते हैं। कौन पुनरुक्त पद-समूह 'समय'-संज्ञक है और कौन नहीं—इसमें केवल परम्परा ही नियामक है। ऋग्वेद के 'समय'-संज्ञक पदों का उल्लेख लक्ष्मीधरसूरिविरचित 'गलितप्रदीप' नामक ग्रन्थ में किया गया है। "अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम्" यह पद-समूह 'समय'-संज्ञक नहीं है। अतः यहाँ सामान्य-नियम के अनुसार दो-दो पदों से क्रम-वर्ग इस प्रकार होंगे—

अग्नेर्वयम्। वयं प्रथमस्य। प्रथमस्यामृतानाम्॥

---

[1] ऋ० क्र० ४।३२।४ [2] ऋ० क्र० ६।५७।६ [3] ऋ० क्र० ४।३३।६
[4] ऋ० क्र० २।४३।२ [5] ऋ० क्र० ४।२।६

नकार का विसर्जनीय ('ऊष्मन्') के समान वर्तन (व्यवहार) होना[क]—
"अस्माँअस्माँ इत् । अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽअस्मान् ।"[ख] "अभीशूँरिव सारथिः । अभीशूनिवेत्यभीशून्ऽइव ।"[ग] "विभ्राजमानाँश्चमसान् । विभ्राजमानानिति विऽभ्राजमानान् ।"[घ] "आवदँस्त्वम् । आवदन्नित्याऽवदन् ।"[ङ] "स्वतवाँ पायुः । स्वतवानिति स्वऽतवान् ।"[च]

उ० भा०—प्लुतः—"मक्षूमक्षू कृणुहि । मक्षुमक्ष्विति मक्षुऽमक्षु ।"[१]

उपाचरितः—"ज्योतिष्कृदसि । ज्योतिकृदिति ज्योतिःऽकृत् ।"[२]

नतिः—"सुषुमा यातम् । सुसुमेति सुसुम ।"[३] "पितृयाणं द्युमत् ।" "पितृयानमिति पितृऽयानम् ।"[४]

प्रगृह्यस्य प्रश्लेषः—"दम्पतीव क्रतुविदा । दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव ।"[५] प्रगृह्यस्य—इति किम् ? "इवघ्नीव यः । इवघ्नीवेति इवघ्नीऽइव ॥"[६]

टि० (क) चतुर्थ पटल (४।६५-४।८०) में विहित नकार-विकारो के प्रसङ्ग मे नकार के तीन प्रकार के विकार बतलाये गये हैं—(१) नकार का लोप होना (४।६५-४।६७) (२) नकार का रेफ होना (४।६९-४।७२) (३) नकार का विसर्जनीय ('ऊष्मन्') के समान होना (४।७४-४।८०)। इससे स्पष्ट होता है कि चतुर्थ पटल में ये तीनों स्थल पृथक्-पृथक् हैं किंतु प्रस्तुत सूत्र मे विहित 'नकार का विसर्जनीय ('ऊष्मन्') के समान होना" मे इन तीनो का अन्तर्भाव होता है जैसा कि उदाहरणों से भी स्पष्ट है।

(ख) अस्माँअस्माँ इत् ॥ सं० पा० ॥ अस्मान्ऽअस्मान् । इत् ॥ प० पा०
अस्माँअस्माँ इत् । अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽस्मान् ॥ क्र० पा०

(ग) अभीशूँरिव सारथि । सं० पा० ॥ अभीशून्ऽइव सारथिः ॥ प० पा०
अभीशूँरिव सारथिः । अभीशूनिवेत्यभीशून्ऽइव ॥ क्र० पा०

(घ) विभ्राजमानाँश्चमसान् ॥ सं० पा० ॥ विऽभ्राजमानान् । चमसान् ॥ प० पा०
विभ्राजमानाँश्चमसान् । विभ्राजमानानिति विऽभ्राजमानान् ॥ क्र० पा०

(ङ) आवदँस्त्वम् ॥ सं० पा० ॥ आऽवदन् । त्वम् ॥ प० पा०
आवदँस्त्वम् । आवदन्नित्याऽवदन् ॥ क्र० पा०

(च) स्वतवाँ पायु ॥ सं० पा० ॥ स्वऽतवान् । पायुः ॥ प० पा०
स्वतवाँ पायुः । स्वतवानिति स्वऽतवान् ॥ क्र० पा०

'अस्मान्', 'अभीशून्, 'विभ्राजमानान्', 'आवदन्' और 'स्वतवान्' के नकार वर्ण का क्रमशः लोप, रेफ, शकार, सकार और विसर्जनीय क्रमशः ४।६५, ४।७०, ४।७४, ४।७६ और ४।७८ से हो गया है। सर्वत्र 'परिग्रह' में मूल-रूप (नकार) को दिखलाया गया है।

[१] ऋ० क्र० ३।३१।२० [२] ऋ० क्र० १।५०।४ [३] ऋ० क्र० १।१३७।१
[४] ऋ० क्र० १०।२।७ [५] ऋ० क्र० २।३९।२ [६] ऋ० क्र० २।१२।४

उ० भा० अ०—प्लुत—"मक्षूमक्षू कृणुहि । मक्षुमक्ष्विति मक्षुऽमक्षु ।"[क]

उपाचरित—"ज्योतिष्कृदसि । ज्योति कृदिति ज्योति ऽकृत ।[ख]

नति—"सुषुमा यातम् । सुसुमेति सुसुम ।"[ग] "पितृयाण द्युमत् । पितृयानमिति पितृऽयानम् ।"[घ]

प्रगृह्य ('स्वर') का प्रश्लेष—"दम्पतीव क्रतुविदा । दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव ।"[ङ] "प्रगृह्य(='स्वर') का प्रश्लेष"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "श्वघ्नीव य । श्वघ्नीवेति श्वघ्नीऽइव ।"[च]

टि० (क) मक्षूमक्षू कृणुहि ॥ स० पा० ॥ मक्षुऽमक्षु । कृणुहि ॥ प० पा०
मक्षूमक्षू कृणुहि । **मक्षुमक्ष्विति मक्षुऽमक्षु** ॥ क्र० पा०
'मक्षु' का उकार ७।५ से 'दीर्घ' हो गया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' में मूल-रूप (=उकार) को ही दिखलाया गया है।

(ख) ज्योतिष्कृदसि ॥ स० पा० ॥ ज्योतिःऽकृत् । असि ॥ प० पा०
ज्योतिष्कृदसि । **ज्योतिःकृदिति ज्योतिःऽकृत्** ॥ क्र० पा०
'ज्योतिः' का विसर्जनीय ४।४७ से षकार हो गया है। 'परिग्रह' में मूल-रूप (=विसर्जनीय) को ही दिखलाया गया है।

(ग) सुषुमा यातम् ॥ सं० पा० ॥ सुसुम । आ । यातम् ॥ प० पा०
सुषुमा यातम् । **सुसुमेति सुसुम** ॥ क्र० पा०
'सुसुम' का द्वितीय सकार ५।२० से षकार हो गया है। 'परिग्रह' में मूल-रूप (=सकार) को ही दिखलाया गया है।

(घ) पितृयाण द्युमत् ॥ स० पा० ॥ पितृऽयानम् । द्युऽमत् ॥ प० पा०
पितृयाण द्युमत् । **पितृयानमिति पितृऽयानम्** ॥ क्र० पा०
'पितृयानम्' का नकार ५।४० से णकार हो गया है। 'परिग्रह' में मूल-रूप (=नकार) को ही दिखलाया गया है।

(ङ) दम्पतीव क्रतुविदा ॥ स० पा० ॥ दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव । क्रतुऽविदा ॥ प० पा०
दम्पतीव क्रतुविदा । **दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव** ॥ क्र० पा०
यहाँ पर 'दम्पती' के 'प्रगृह्य' ईकार का २।५५ से परवर्ती इकार के साथ 'प्रश्लेष' हो गया है। 'परिग्रह' में मूल-रूप (=ईकार) को ही दिखलाया गया है।

(च) श्वघ्नीव य. ॥ स० पा० ॥ श्वघ्नीऽइव । यः ॥ प० पा०
श्वघ्नीव य । **श्वघ्नीवेति श्वघ्नीऽइव** ॥ क्र० पा०
'श्वघ्नी' का ईकार 'प्रगृह्य'-सज्ञक नही है। अत परवर्ती इकार के साथ 'प्रश्लेष' होने पर भी इसके मूल-रूप को 'परिग्रह' में नही दिखलाया गया है।

शौद्धाक्षरागमोऽपैति ॥२१॥

सू० अ०—'शौद्धाक्षर'(-संज्ञक) आगम ('परिग्रह' में) लुप्त हो जाता है।

उ० भा०—(शौद्धाक्षरागमः=) शौद्धाक्षराणां संधीनामागमः; य उक्तः सः अपैति परिग्रहे क्रियमाणे। "पुरुश्चन्द्र यजतम्। पुरुचन्द्रमिति पुरुऽचन्द्रम्।"[१] "वनर्षदो वायवः। वनसद इति वनऽसदः॥"[२]

उ० भा० अ०—(शौद्धाक्षरागमः=) 'शौद्धाक्षर'-संधियों का आगम, जो (४।८४-८९ में) कहा गया था वह; अपैति=लुप्त हो जाता है; 'परिग्रह' करने पर। (उदाहरण) "पुरुश्चन्द्र यजतम्। पुरुचन्द्रमिति पुरुऽचन्द्रम्।"[क] "वनर्षदो वायवः। वनसद इति वनऽसदः।"[ख]

न्यायं यान्त्युत्तरे त्रयः।
रिफितान्यूष्मणोऽघोषे दूभावः स्वधितीव च ॥२२॥

सू० अ०—ये आगे (बतलाई जाने) वाली तीन (संधियाँ भी) अपने मूल-रूप (प्रकृति) को प्राप्त होती हैं—(१) 'अघोष' ('व्यञ्जन') बाद में होने पर 'ऊष्मन्' के स्थान पर आने वाले रिफित, (२) 'दू' में परिवर्तन और (३) 'स्वधितीव' पद।

उ० भा०—न्यायं यान्ति=प्रकृतिं गच्छन्ति-इत्यर्थः। उत्तरे त्रयः संधयः परिग्रहे क्रियमाणे—रिफितानि च ऊष्मणो यानि अघोषे प्रत्यये; दूभावः च; स्वधितीव इति च पदम्। अघोषे रिफितानि—"स्वर्चक्षा रथिरः। स्वश्चक्षा इति स्वःऽचक्षाः।"[३] "धूर्षदं वनर्षदम्। धूःसदमिति धूःऽसदम्।"[४] "स्वर्पति यत्। स्वःपतिमिति स्वःऽपतिम्।"[५] दूभावः—"दूणाशं सख्यम्। दुर्नशमिति दुःऽनशम्।"[६] "जनस्य दूढ्यः। दुर्ध्य इति दुःऽध्यः।"[७] "दूळभो रथ.। दुर्दभ इति दुःऽदभः।"[८] स्वधितीव—"स्वधितीव रीयते। स्वधितिरिवेति

टि० (क) पुरुश्चन्द्र यजतम् ॥ स० पा० ॥ पुरुऽचन्द्रम्। यजतम् ॥ प० पा०
पुरुश्चन्द्र यजतम्। पुरुचन्द्रमिति पुरुऽचन्द्रम् ॥ क्र० पा०
४।८४ से 'पुरु' और 'चन्द्रम्' के मध्य में 'शौद्धाक्षर'-संज्ञक शकार का आगम हो गया है। 'परिग्रह' में इस शकार का लोप करके मूल रूप को ही दिखलाया जाता है।

(ख) वनर्षदो वायव ॥ स० पा० ॥ वनऽसद। वायव ॥ प० पा०
वनर्षदो वायव.। वनसद इति वनऽसदः ॥ क्र० पा०
४।८६ से 'वन' और 'सद' के मध्य में 'शौद्धाक्षर'-संज्ञक रेफ का आगम हो गया है। 'परिग्रह' में इस रेफ का लोप करके मूल-रूप को ही दिखलाया जाता है।

---

[१] ऋ० क्र० ५।८।१ [२] ऋ० क्र० १०।४६।७ [३] ऋ० क्र० ९।९७।४६
[४] ऋ० क्र० १०।१३२।७ [५] ऋ० क्र० ८।९७।११ [६] ऋ० क्र० ६।४५।२६
[७] ऋ० क्र० ८।१९।१५ [८] ऋ० क्र० ४।९।८

स्वधिति ऽइव ।"[1] अघोषे इति किम् ? "स्वर्जितं महि । स्वर्जितमिति स्वःऽजितम् ।"[2] अपर इद सूत्रं योगविभागेन वर्णयन्ति ॥

उ० भा० अ०—उत्तरे त्रयः=आगे बतलाई जाने वाली तीन सन्धियाँ; 'परिग्रह' करने पर; न्याय्यं यान्ति=प्रकृति (=मूल-रूप) को प्राप्त होती हैं—यह अर्थ है। अघोषे='अघोष' ('व्यञ्जन') बाद में होने पर; ऊष्मणो रिफितानि=विसर्जनीय ('ऊष्मन्') के स्थान पर आनेवाले जो रिफित हैं वे, दूभावः='दू' में परिवर्तन; स्वधितीव च=और 'स्वधितीव' पद। 'अघोष' ('व्यञ्जन') बाद में होने पर रिफित—"स्वर्चक्षा रथिर । स्वश्चक्षा इति स्वऽचक्षाः"[क]; "धूर्षद वनर्षदम् । धू सदमिति धूऽसदम् ।"[ख] "स्वर्पति यत् । स्व पतिमिति स्वऽपतिम् ।"[ग] 'दू' में परिवर्तन—"दूणाश सख्यम् । दुर्नशमिति दु ऽनशम्"[घ]; "जनस्य दूढ्य. । दुर्ध्य इति दुऽध्य "[ङ]; "दूळभो रथ. । दुर्दभ इति दु ऽदभ ।"[च] स्वधितीव—"स्वधितीव रीयते । स्वधितिरिवेति स्वधिति ऽइव ।"[छ] ' 'अघोष' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) ' स्वर्जित महि । स्वर्जितमिति स्वऽजितम् ।'[ज]

टि० (क) स्वर्चक्षा रथिर. ॥ सं० पा० ॥ स्वऽचक्षा. । रथिरः ॥ प० पा०
स्वर्चक्षा रथिर. । स्वश्चक्षा इति स्वःऽचक्षाः ॥ क्र० पा०

(ख) धूर्षद वनर्षदम् ॥ सं० पा० ॥ धूःऽसदम् । वनऽसदम् ॥ प० पा०
धूर्षदं वनर्षदम् । धूःसदमिति धूःऽसदम् ॥ क्र० पा०

(ग) स्वर्पति यत् ॥ सं० पा० ॥ स्वःऽपतिम् । यत् ॥ प० पा०
स्वर्पति यत् । स्वःपतिमिति स्वःऽपतिम् ॥ क्र० पा०

उपर्युक्त तीनो उदाहरणो में 'अघोष' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर विसर्जनीय सहिता-पाठ में रेफ हो गया है। अत प्रस्तुत सूत्र से 'परिग्रह' में तीनो स्थलों के मूल-रूप को दिखलाया गया है।

(घ) दूणाशं सख्यम् ॥ सं० पा० ॥ दुःऽनशम् । सख्यम् ॥ प० पा०
दूणाश सख्यम् । दुर्नशमिति दुःऽनशम् ॥ क्र० पा०

(ङ) जनस्य दूढ्य ॥ सं० पा० ॥ जनस्य । दुःऽध्य. ॥ प० पा०
जनस्य दूढ्य. । दुर्ध्य इति दुःऽध्यः ॥ क्र० पा०

(च) दूळभो रथ ॥ सं० पा० ॥ दुःऽदभ । रथः ॥ प० पा०
दूळभो रथ । दुर्दभ इति दुःऽदभः ॥ क्र० पा०

उपर्युक्त तीनो स्थलो पर 'दुर्' सहिता-पाठ में 'दू' हो गया है। अतः 'परिग्रह' में तीनों स्थलो के मूल-रूप को दिखलाया गया है।

(छ) स्वधितीव रीयते ॥ सं० पा० ॥ स्वधिति ऽइव । रीयते ॥ प० पा०
स्वधितीव रीयते । स्वधितिरिवेति स्वधितिःऽइव ॥ क्र० पा०

४।४० के अनुसार 'स्वधिति-ऽइव' निपातन से 'स्वधितीव' हो गया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार परिग्रह' में 'स्वधितीव' के मूल-रूप को ही दिखलाया गया है।

(ज) स्वर्जितं महि ॥सं० पा०॥ स्वऽजितम् । महि ॥ प० पा०

---

[1] ऋ० ऋ० ५।७८ [2] ऋ० ऋ० १०।१६७।२

दूसरे इस सूत्र की व्याख्या योग-विभाग करके इस प्रकार करते हैं—

न्यायं यान्त्युत्तरे त्रयः ॥

सू० अ०—परवर्ती तीन (संधियाँ) अपने मूल-रूप (न्याय) को प्राप्त कर लेती हैं।

उ० भा०—शौद्धाक्षरागमात् **उत्तरे त्रयः** संचयः, (**न्यायम्**=) प्रकृतिम्; **यान्ति** परिग्रहे क्रियमाणे। कतरे त्रयः ? जुघुक्षत इति घक्षिघुक्षिप्रवादौ च। "न जुगुक्षतः। जुघुक्षत इति जुघुक्षतः।"[१] "अनु दक्षि। दक्षि दावने। घक्षीति घक्षि।"[२] "दुक्षन्वृधे। घुक्षन्निति घुक्षन्।"[३] योगविभागादृते परिग्रह एतेषां प्रकृतिभावो न सिध्यति। योगविभागे ह्यसत्युत्तरे त्रय इति ग्रहणमनर्थकं भवति ॥

उ० भा० अ०—'शौद्धाक्षर' (-संज्ञक) आगम (४।८९) से, **उत्तरे**=बाद वाली; **त्रयः**=तीन संधियाँ, (**न्यायम्**=) मूल-रूप (प्रकृति) को; **यान्ति**=प्राप्त हो जाती हैं; 'परिग्रह' करने पर। कौन सी तीन? (उत्तर) 'जुघुक्षत' और 'घक्षि' तथा 'घुक्षि' के सभी रूप। "न जुगुक्षत। जुघुक्षत इति जुघुक्षत।"[क] "अनु दक्षि। दक्षि दावने। घक्षीति घक्षि।"[ख] "दुक्षन्वृधे। घुक्षन्निति घुक्षन्।"[ग] (सूत्र के) योग का विभाग किये बिना 'परिग्रह' में इन (तीन) का प्रकृति-रूप में होना सिद्ध नहीं होता है। योग-विभाग न किया जाये तो (सूत्र में) "बाद वाली तीन (संधियाँ)"—यह ग्रहण करना अनर्थक होगा।

(५८६ज) स्वर्जित महि। **स्वर्जितमिति स्वःऽजितम्** ॥ क्र० पा०

यहाँ पर विसर्जनीय का रेफ में परिवर्तन 'अघोष' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर नहीं अपितु 'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में होने पर हुआ है। अत 'परिग्रह' मे 'स्वर्जितम्' का मूल-रूप नहीं दिखलाया गया है।

टि० (क) न जुगुक्षत ॥स० पा०॥ न। जुघुक्षत. ॥ प० पा०

न जुगुक्षत। **जुघुक्षत इति जुघुक्षतः** ॥ क्र० पा०

४।९८ से 'जुघुक्षत' का घकार संहिता-पाठ में गकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' में मूल-रूप (=जुघुक्षत) को ही दिखलाया गया है।

(ख) अनु दक्षि दावने ॥स० पा०॥ अनु। घक्षि। दावने ॥ प० पा०

अनु दक्षि। दक्षि दावने। **घक्षीति घक्षि** ॥ क्र० पा०

(ग) दुक्षन्वृधे ॥स० पा०॥ घुक्षन्। वृधे ॥ प० पा०

दुक्षन्वृधे। **घुक्षन्निति घुक्षन्** ॥ क्र० पा०

४।८९ के अनुसार 'घक्षि' और 'घुक्षन्' का घकार दकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' में मूल-रूप (='घक्षि' और 'घुक्षन्') को ही दिखलाया जाता है।

---

[१] ऋ० क्र० ८।३१।७ [२] ऋ० क्र० २।१।१० [३] ऋ० क्र० १।१२१।८

रिफितान्यूष्मणोऽघोषे दूभावः स्वधितीव च ।

सू० अ०—'अघोष' ('व्यञ्जन') बाद में होने पर 'ऊष्मन्' के स्थान पर आने वाले रिफित, 'दू' में परिवर्तन और 'स्वधितीव' पद [ये 'परिग्रह' में अपने मूल-रूप (प्रकृति) को प्राप्त होते हैं] ।

उ० भा०—इति यथोक्तमेवेति ॥

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये क्रमपटलं दशमम् ॥

उ० भा० अ०—जैसा पहले कहा गया है वैसा ही होता है ।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य-
भाष्य में क्रम-पटल नामक दशम (पटल) समाप्त हुआ ॥

११ : क्रम-हेतु-पटलम्

(क्रमपाठस्य सामान्यस्वरूपम्)

अथार्ष्यलोपेन यदाह स क्रमः
समानकालं पदसंहितं द्वयोः ॥१॥

(क्रमपाठ का सामान्य स्वरूप)

सू० अ०—आर्षी संहिता का लोप किये बिना जब (वक्ता) दो पदों और उनकी संहिता (मेल) का (को) समान काल में उच्चारण करता है तो वह क्रम-पाठ कहलाता है।

उ० भा०—अथ; (आर्ष्यलोपेन=) आर्ष्याः संहिताया अलोपेन; द्वयोः पद-संहितम्=ते च पदे तयोश्च संहिताम्, समानकालम्=तुल्यकालम्; यदाह वक्ता स क्रमोऽधिकृतो वेदितव्यः। "अग्निमीळे। ईळे पुरोहितम्।"[1] समानकालं पदसंहितं द्वयोः इति किम्? "स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादिः स क्रमः"[2] इति मा भूत्॥

उ० भा० अ०—(आर्ष्यलोपेन=) आर्षी संहिता का लोप न करके; द्वयोः पदसंहितम्=दो पदो को और उनकी संहिता (मेल) का (को); समानकालम्=तुल्य काल में, यदाह=जब वक्ता उच्चारण करता है; स क्रमः=वह क्रम-पाठ है—यह अधिकार जानना चाहिए। (उदाहरण) "अग्निमीळे। ईळे पुरोहितम्।"[क] "दो पदो और उनकी संहिता (मेल) को समान काल में"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "संयुक्त वर्ण के आदि (=प्रथम 'व्यञ्जन') का द्वित्व हो जाता है यदि उसके पूर्व में 'स्वर' अथवा 'अनुस्वार' हो"—यह (यहाँ) न होवे।[ख]

(क्रमपाठे पदविशेषाणामतिक्रमणे कारणानि, अतिक्रमणे मतभेदाश्च)

अथो बहूनामविलोपकारणः
परैरवस्यन्त्यतिगम्य कानिचित् ॥२॥

(क्रमपाठ मे पदविशेषों के अतिक्रमण में कारण और अतिक्रमण के विषय में मतभेद)

सू० अ०—(आर्षी संहिता का) लोप न हो इस कारण (उद्देश्य) से (कभी-कभी) बहुत (=दो से अधिक) (पदो) का भी (एक क्रम-वर्ग बनाया जाता है)।

टि० (क) अग्निमीळे पुरोहितम्॥ सं० पा०॥ अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्॥ प० पा० अग्निमीळे। ईळे पुरोहितम्॥ क्र० पा०

(ख) ६।१ में जिस 'क्रम' का विधान किया गया है उसे वर्ण-क्रम कहा जा सकता है। उसमें वर्ण का द्वित्व (द्विरुच्चारण) होता है। प्रस्तुत सूत्र में विहित 'क्रम' पदों का क्रम है। इसमें एक पद का दो बार उच्चारण होता है। इसके अतिरिक्त एक वर्ग में दो पदों और उनकी संहिता का एक ही समय में उच्चारण होता है।

[1] ऋ० ऋ० १।१।१ [2] ६।१

(उस अवस्था में) कतिपय (पदों) का (को) अतिक्रमण करके परवर्ती (पदों) से (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं।

उ० भा०—(अथो=) अपि; बहूनां पदानाम्; (अविलोपकारणः=) आर्ष्या अविलोपार्थम्; क्रमो भवतीति वेदितव्यम्। तत्र परैः पदैः अवस्यन्त्यतिगम्य कानिचित् पदानि। तानि पदान्युत्तरत्रोदाहरिष्यामः॥

उ० भा० अ०—(अविलोपकारणः=) आर्षी संहिता के अलोप के लिये; बहूनाम्=बहुत (=दो से अधिक) पदों का, अथो=भी; क्रम (-वर्ग) होता है—यह जानना चाहिये। वहाँ (=उस अवस्था में); कानिचित् अतिगम्य=कतिपय पदों का (को) अतिक्रमण करके, परैः=परवर्ती पदों से; अवस्यन्ति=(क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं, (अर्थात् आर्षी संहिता का लोप न हो इसलिये अवस्था-विशेष में दो से अधिक पदों का एक क्रम-वर्ग बनाया जाता है)। (क्रम-वर्गों के अवसान में न आने वाले) उन पदों के उदाहरणों को आगे (११।३ इत्यादि में) देंगे।

अपृक्तमेकाक्षरमद्वियोनि यत्
तदानुनासिक्यभयादतीयते ॥३॥

सू० अ०—एक 'अक्षर' वाला जो (पद) (१) 'व्यञ्जन'-रहित (अपृक्त) होता है तथा (२) 'संध्यक्षर' (द्वियोनि) नहीं होता है, उस (एकाक्षर पद) का (को) आनुनासिक्य के भय से अतिक्रमण कर दिया जाता है।

उ० भा०—अपृक्तम्=अव्यञ्जनम्, एकाक्षरम्; अद्वियोनि=असंध्यक्षरम्; यत् तत् पदम् आनुनासिक्यभयादतीयते। "अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान्"[1] इति तस्मा भूदिति। "सन्नया वरेण्यम्।"[2] "उद्वेति।"[3] अपृक्तम् इति किम्? "बुहितुरा।"[4] एकाक्षरग्रहणं पदविशेषणम्। अपृक्तमेकाक्षरं पदमनवसानीयमिति। इतरथा ह्यक्षरं विशेष्येत। अपृक्तमद्वियोनि यदक्षरं तदन्तमनवसानीयमिति। अत्र को दोषः? "शमीष्वमशिगा३उ"[5]—इत्यवसानं न स्यात्। अद्वियोनि इति किम्? "असूदौ॥"[6]

उ० भा० अ०—अपृक्तम्='व्यञ्जन'-रहित (='व्यञ्जन' से न मिला हुआ), अद्वियोनि=असंध्यक्षर(='संध्यक्षर' न होने पर); यत्=जो, एकाक्षरम्=एक 'अक्षर' वाला पद, तत्=उस पद का (वह पद); आनुनासिक्यभयादतीयते=आनुनासिक्य के भय से अतिक्रमण कर दिया जाता है[क]; (अर्थात् 'अनुनासिक' न हो जाये इसलिये एक

टि० (क) देखिये १०।३। एकाक्षर-पद आदि क्रम-वर्ग के अवसान में नहीं आते हैं—इसका विधान तो दशम पटल में ही किया जा चुका है। इन पदों को क्रम-वर्ग के अवसान में क्यों नहीं रखा जाता है—इसका कारण यहाँ बतलाया जा रहा है। यही कारण है कि प्रस्तुत पटल का नाम क्रम-हेतु-पटल है।

[1] १।६३ [2] ऋ० क० १।६५।२९ [3] ऋ० क० ७।६३।२ [4] ऋ० क० १०।६१।५
[5] मै० सं० ४।१३।४ (ऐ० ब्रा० २।७।११) [6] ऋ० क० १।११३।११

'अक्षर' वाले पद को क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है यदि वह (१) 'व्यञ्जन' से मिला हुआ न हो और (२) 'सध्यक्षर' न हो)। "आचार्य लोग प्रथम आठ 'स्वर' (-वर्णों) का (को) 'अनुनासिक' उच्चारण करते हैं (जब वे आठ 'स्वर'-वर्ण) 'प्रगृह्य' नही होते और अवसान में आते है"—इससे आनुनासिक्य न हो जाये। (उदाहरण) "मन्द्रमा वरेण्यम्।"[क] 'उद्वेति।"[ख] 'व्यञ्जन'-रहित"— यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "दुहितुरा।"[ग] (सूत्र में) एकाक्षर का ग्रहण पद के विशेषण के रूप में किया गया है (जिससे यह अर्थ होता है)—'व्यञ्जन'-रहित एकाक्षर पद (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही आता है। अन्यथा (अर्थात् यदि 'एकाक्षर' को 'पद' का विशेषण न माना जाये तो) ('अपृक्त' और अद्वियोनि') ये 'अक्षर' के विशेषण होते (जिससे यह अर्थ होगा)—'व्यञ्जन' से न मिले हुए ('अपृक्त') तथा असध्यक्षर ('अद्वियोनि') 'अक्षर' में अन्त होने वाला पद (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही आता है। (पू०) इस (अर्थ में) क्या दोष है ? (सि०) "शमीध्वमध्रिगा३उ"—यहाँ अवसान नही होगा।[घ] "असध्यक्षर"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अभूदो"।[ङ]

नतं च पूर्वेण परस्य कारणं
नतेः परस्योभयहेतुसंग्रहात् ॥४॥

सू० अ०—(१) पूर्ववर्ती (पद) के कारण जिसने 'मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त किया है तथा (२) जो परवर्ती (पद के) 'मूर्धन्यभाव' ('नति') का कारण है, परवर्ती (पद) के ('मूर्धन्यभाव'='नति') के दोनों हेतुओं के संग्रह के लिये, वह (पद) (क्रम-वर्ग के अवसान में नहीं रखा जाता है)।

उ० भा०—नतं च पूर्वेण पदेन परस्य च नतेर्यत्कारणं तत्पदमनवसानीय भवति। किं कारणम् ? परस्य पदस्य (उभयहेतुसंग्रहात्=) उभयहेतुसंग्रहार्थम्। "मो षु णः"[१]

टि० (क) मन्द्रमा वरेण्यम् ॥ स० पा० ॥ मन्द्रम्। आ। वरेण्यम् ॥ प० पा० मन्द्रमा वरेण्यम् ॥ क्र० पा०

(ख) उद्वेति ॥ स० पा० ॥ उत्। ऊँ इति। एति ॥ प० पा० ॥ उद्वेति ॥ क्र० पा० यदि आकार तथा उकार को क्रम-वर्ग के अवसान में रखा जाये तो ये १।६३ से अनुनासिक हो जायेंगे। इससे आर्षी सहिता का लोप हो जायेगा क्योकि आर्षी सहिता में ये 'अनुनासिक' नही हैं।

(ग) दुहितुरा ॥ स० पा० ॥ दुहितु। आ ॥ प० पा० ॥ दुहितुराः ॥ क्र० पा० यहाँ एकाक्षर पद 'आ' को क्रम-वर्ग के अवसान में रखा गया है क्योकि यह आकार 'व्यञ्जन' (=विसर्जनीय) से युक्त है।

(घ) यहाँ 'उ' पद नही अपितु 'अक्षर' है। अतः 'उ' में अन्त होने वाले 'अध्रिगा३उ' पद को अवसान में रखा गया है।

(ङ) अभूदो ॥ स० पा० ॥ अभूत्। ओ इति ॥ प० पा० ॥ अभूदो ॥ क्र० पा० 'ओ' को क्रम-वर्ग के अवसान में रखा गया है क्योंकि यह 'सध्यक्षर' है।

---

[१] ऋ० क्र० १।३८।६

इत्यत्र—"स्वबह्वक्षरेण"[१]—इति नामिनिमित्तं षत्वम्। "षु ण."—इत्यत्र—"नते सु स्म"[२]—इति षत्वनिमित्त णत्वम्। नाम्यभावे षत्वं न स्यात्। षत्वाभावे णत्वं न स्यात्। स विलोपः। अत उभयहेतुसंग्रहार्थमतीयते। "मो षु णः।"[३] "आसु ष्मा णः॥"[४]

उ० भा० अ०—नतं च पूर्वेण=पूर्ववर्ती पद के द्वारा जिसने 'मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त किया है, और जो, परस्य नतेः कारणम्=परवर्ती (पद) के 'मूर्धन्यभाव' ('नति') का कारण है, वह पद (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही रखा जाता है। (इसका) क्या कारण है ? (उत्तर) परस्य=परवर्ती (पद) के ('मूर्धन्यभाव' के); उभयहेतुसंग्रहात्=दोनो हेतुओ के सग्रह के लिये।[क] (जैसे) "मो षु णः" में—"अबह्वक्षर (एक या दो अक्षरो वाले) पद से बाद में आने वाला 'सु' 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त होता है"—इस (सूत्र) से 'नामि' ('-स्वर') के कारण 'षत्व' हुआ है। "षु ण." में "'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त 'सु' और 'स्म' (के बाद में आने वाला 'न' पद 'मूर्धन्यभाव' को प्राप्त हो जाता है"—इस (सूत्र) से 'षत्व' के कारण 'णत्व' हुआ है। 'नामि'-स्वर' के अभाव में 'षत्व' नही होगा और 'षत्व' के अभाव में 'णत्व' नही होगा। (इस प्रकार यदि ऐसे पद को क्रम-वर्ग के अवसान में रखा जायेगा तो) वह आर्षी संहिता का लोप होगा। इसलिये (परवर्ती पद की 'नति' के) दोनो कारणो के सग्रह के लिये उस 'षु' पद का अतिक्रमण कर दिया जाता है। (उदाहरण) "मो षु ण।"[ख] "आसु ष्मा ण।"[ग]

टि० (क) इस सूत्र से उस पद का भी क्रम-वर्ग के अन्त में नही रखा जाता है जिसमें (१) पूर्ववर्ती पद के कारण 'मूर्धन्यभाव' हुआ हो और जो (२) परवर्ती पद के 'मूर्धन्यभाव' का कारण हो। ऐसा करने से परवर्ती पद के 'मूर्धन्यभाव' के दोनो कारणो का सग्रह हो जाता है।

(ख) मो षु ण ॥ स० पा० ॥ मो इति। सु। न ॥ प० पा० ॥ मो षु ण. ॥क्र० पा०

(ग) आसु ष्मा ण ॥ स० पा० ॥ आसु। स्म। न. ॥ प० पा०
आसु ष्मा ण ॥ क्र० पा०

उपर्युक्त दोनो स्थलो पर पूर्ववर्ती 'नामि'-'स्वर' के कारण ५।५ से 'षत्व' हुआ है तथा इस 'षत्व' के कारण ५।५८ से 'णत्व' हुआ है। यहाँ पर 'णत्व' के दो कारण हैं (१) पूर्ववर्ती षकार 'णत्व' का साक्षात् कारण है और षकार से पूर्ववर्ती 'नामि'-'स्वर' 'णत्व' का असाक्षात् कारण है। यदि 'षु' और 'ष्म' को क्रम-वर्ग के अवसान में रखा जाये तो दूसरे क्रम-वर्ग के प्रारम्भ में ये 'सु' और 'स्म' के रूप में आयेंगे। इससे 'न' के नकार का 'णत्व' नही होगा। इसलिये 'णत्व' की सिद्धि के लिये 'षु' और 'ष्म' को क्रम-वर्ग के अवसान में नहीं रखा जाता है।

[१] ५।५
[२] ५।५८
[३] ऋ० क्र० १।३८।६
[४] ऋ० क्र० ६।४४।१८

परीत इत्युत्तरमेतयोर्द्वयोः परंहि पूर्वं नमतीत्यतीयते ॥५॥

सू० अ०—'परि' और 'इतः'—इन दो में से दूसरे (पद) (=इतः) का (को) अतिक्रमण कर दिया जाता है क्योंकि (इसका) पूर्ववर्ती (पद) (=परि) (इसके) परवर्ती (पद) (='सिञ्चत' पद) को 'मूर्धन्य' बनाता है।

उ० भा०—**परि इतः** इत्येतयोर्द्वयोः पदयोः; (उत्तरम्=) परम्; पदम्, (अतीयते=) अनवसानीयं भवति। किं कारणम्? अनवसानीयात्परं सिञ्चतेति पदं व्यवहितमपि पूर्वं परीति पदं नमतीति। "परीतो षिञ्चत"[१] इति॥

उ० भा० अ०—**परि इतः इत्येतयोर्द्वयोः**='परि' और 'इत' इन दो पदो में; (**उत्तरम्**=) परवर्ती पद (=इत), (**अतीयते**=अतिक्रमण कर दिया जाता है=) (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही रखा जाता है। (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) अवसान में न आने वाले ('इत' पद) से, **परम्**=परवर्ती='सिञ्चत'–इस पद को, **पूर्वम्**=पूर्ववर्ती='परि' यह पद, व्यवहित होने पर भी, **नमति**='मूर्धन्य' बना देता है। (उदाहरण) "परीतो षिञ्चत।"[क]

ततोऽपरे संध्यमवेक्ष्य कारणं
तदर्थजं द्विक्रममत्र कुर्वते ॥६॥

सू० अ०—इनसे अन्य (आचार्य) संधि से उत्पन्न (ओकार) को ('सिञ्चत' के षत्व' का) कारण देखकर (=मानकर) और (इस ओकार को) उस ('षत्व') के लिये उत्पन्न (मानकर) यहाँ पर दो पदो का क्रम-वर्ग बनाते हैं।

उ० भा०—**ततः**=तेभ्यः, **अपरे** आचार्या अस्यामवस्थायाम्, **संध्यम्**=संधिजम्; **कारणमवेक्ष्य**। किं कारणम्? "इतो षिञ्चत"[२] इत्योत्वनिपातनम्। **तदर्थजम् एव**=षत्वार्थमेव; ओत्वं मन्यमाना **द्विक्रममत्र कुर्वते**। "परीत। इतो षिञ्चत॥"[३]

उ० भा० अ०—**ततोऽपरे**=(पूर्ववर्ती सूत्र में निर्दिष्ट मत को मानने वाले) इन आचार्यों से दूसरे आचार्य, इस अवस्था में, **संध्यम्**=संधि से उत्पन्न को; **कारणमवेक्ष्य**=कारण देखकर (मानकर)। क्या कारण है? (उत्तर) 'इतो षिञ्चत"

टि० (क) परीतो षिञ्चत॥ स० पा॥ परि। इत। सिञ्चत॥ प० पा०
परीतो षिञ्चत॥ क्र० पा०
'षिञ्चत' में जो 'मूर्धन्यभाव' हुआ है उसका निमित्त 'परि' का रेफ है। यदि 'इत' के द्वारा क्रम-वर्ग का अवसान कर दिया जाये तो निमित्त से पृथक् हो जाने के कारण 'षिञ्चत' में 'मूर्धन्यभाव' नहीं होगा। किन्तु आर्षी संहिता में 'मूर्धन्यभाव' दृष्ट है। आर्षी संहिता में दृष्ट मूर्धन्यभाव' की सिद्धि (रक्षा) के लिए 'इत' को क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है।

---

[१] ऋ० क्र० ९।१०७।१ [२] ५।१७ [३] ऋ० क्र० ९।१०७।१

में औत्व का निपातन। तदर्थजम्=उसके लिय उत्पन्न='षत्व' के लिये ही उत्पन्न; औत्व को मानते हुये; द्विक्रममत्र कुर्वते=यहाँ पर दो पदो का क्रम-वर्ग बनाते हैं।[क] "परीत। इतो षिञ्चत।"[ख]

तमःपरं रेफनिमित्तसंशयात्
तथावरित्येतदपोह्यते पदम् ॥७॥

सू० अ०—रेफ के कारण के विषय मे संशय होने से, 'तमः' है बाद में जिसके ऐसे 'आवः' पद का (को) उसी प्रकार अतिक्रमण कर दिया जाता है (=क्रम-वर्ग के अवसान मे नहीं रखा जाता है)।

उ० भा०—**तमःपरम् आवरित्येतत्पदं तथा**। यथा पूर्वोक्तम्। अवसानात्; **अपोह्यते**=अपनीयते। किं कारणम्? **रेफनिमित्तसंशयात्**—नहि विज्ञायते पूर्वेण पदान्तेनोत्तरेण वा पदादिना रेफो भवतीति। अत उभयहेतुसंग्रहार्थमपनीयते। "उषा आवर्तमः॥"[1]

उ० भा० अ०—जिस प्रकार पूर्वोक्त ('इत' पद को) (क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है); **तमःपरम् आवरित्येत्पदं तथा**=उसी प्रकार 'तम' है बाद में जिसके ऐसे 'आव' पद को; अवसान से, **अपोह्यते**=हटा दिया जाता है (अर्थात् क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है)। (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) रेफ के कारण के विषय में संशय होने से – क्योकि यह ज्ञात नही होता है कि पूर्ववर्ती पदान्त ('आव' के विसर्जनीय) के कारण रेफ होना है अथवा परवर्ती पदादि ('तम' के तकार) के कारण। इसलिये (रेफ के) दोनो हेतुओ के संग्रह के लिये ('आव' अवसान से) हटा दिया जाता है। (उदाहरण) "उषा आवर्तम।"[ग]

टि० (क) पूर्ववर्ती सूत्र के अनुसार 'परि' के रेफ के कारण 'सिञ्चत' का सकार षकार होता है। अत निमित्त और नैमित्तिक को साथ रखने के लिये यहाँ तीन पदो का क्रम-वर्ग बनाया जाता है। अन्य आचार्यों का यह मत है कि (१) 'सिञ्चत' का सकार 'इतो' के ओकार के कारण षकार होता है और (२) सिञ्चत' के सकार को षकार बनाने के लिये ही 'इत' का विसर्जनीय ५।१७ के अनुसार निपातन से ओकार होना है।

(ख) परीतो षिञ्चत ॥सं० पा०॥ परि। इत। सिञ्चत ॥ प० पा०
परीत। इतो षिञ्चत ॥ क्र० पा०

(ग) उषा आवर्तम ॥ सं० पा० ॥ उषा। आवरित्यावः। तम ॥ प० पा०
उषा आवर्तम ॥ क्र० पा० ॥
रेफ के निमित्त के विषय में संशय होने के कारण यहाँ तीन पदो का क्रम-वर्ग बना है जिसमे निमित्त और नैमित्तिक साथ-साथ रह सकें।

१ ऋ० सं० १।९२।४

अदो पितो सो चिदुपर्वसूयवो
न घक्षि घुक्षीत्यपि चातियन्ति किम् ॥८॥

सू० अ०—(यदि ऐसी बात है तो) 'अदो पितो', 'सो चित्', 'उपर्वसूयवः' (इन द्वैपदों के प्रथम पदों) का और 'घक्षि' तथा 'घुक्षि' का भी अतिक्रमण क्यों नहीं करते हैं ?

उ० भा०—यद्यावरित्येतत्पदं रेफनिमित्तसंशयादनवसानीयं भवति, सांशयिकनिमित्तानि अदो पितो सो चित् उपर्वसूयवः इतीमानि पदानि घक्षि घुक्षि; इत्यपि=इत्येतौ च प्रवादौ; किं कारणं नातियन्ति ? इमान्यपि हि तेन तुल्यानि। सत्यम्। क्रमशास्त्रेऽनवसानीयेऽननुगृहीतानीमानि। तस्मान्नातियन्ति। तत्र गृहीतानामिह हेतुरुच्यते ॥

उ० भा० अ०—(पू०) यदि 'आव' यह पद रेफ के कारण के विषय में संशय होने से (क्रम-वर्ग के) अवसान में नहीं रखा जाता है तो संशय से युक्त कारण वाले 'अदो पितो', 'सो चित्' और 'उपर्वसूयवः' इन पदों को=इन द्वैपदों के (पूर्ववर्ती पदों का) तथा 'घक्षि' और 'घुक्षि', इत्यपि=इनके (=इन धातुओं के) सभी रूपों का (को), किम्=किस कारण से, नातियन्ति=अतिक्रमण नहीं करते हैं।[क] ये भी उसी (आवर्तम) के तुल्य हैं। (सि०) सच कहते हो (कि आवर्तम' के समान इनके निमित्त के विषय में भी संशय है) किंतु क्रम-शास्त्र (=दशम पटल) में अवसान में न आने वालों में (इन 'अदो पितो' आदि स्थलों का) ग्रहण नहीं किया गया है। वहाँ (=दशम पटल में) जिनका ग्रहण किया गया है उनका ही यहाँ हेतु (=कारण) बतलाया गया है।

स्वसारमित्येतदपोद्यते पदं
परः सकारोपजनोऽस्कृतेति च।
निरस्कृतेति ह्युपसर्गकारित-
स्तदन्वयादाचरितं तु पञ्चभिः ॥९॥

सू० अ०—'स्वसारम्' यह पद (क्रम-वर्ग के अवसान से) हटा दिया जाता है और 'अस्कृत' यह (परवर्ती पद) भी (हटा दिया जाता है)। यत 'निरस्कृत' में सकार का आगम ('निर') उपसर्ग के कारण हुआ है, अतः उस (उपसर्ग) के सम्बन्ध (अन्वय) के कारण पाँच (पदों) से (क्रम-वर्ग) बनाया गया है।

उ० भा० स्वसारमित्येतत्पदम् अवसानात् अपोद्यते। अकृतेति च परं पदमपोद्यते। किं कारणम् ? परः सकारोपजनः=सकारागमः—इत्यर्थः। निरस्कृतेत्युपसर्गकारितः। तदन्वयात्=उपसर्गान्वयात्; पञ्चभिः एव पदैः आचरितं क्रमं विद्यात्। आचार्यः। 'निरु स्वसारमस्कृतोषसम्'॥[१]

टि० (क) "अदो पितो" के लिए ४।४०, "सो चित्' के लिए ४।९४, "उपर्वसूयवः" के लिए ४।४० और 'घक्षि' तथा घुक्षि' के लिए ४।९८ को देखिए।

[१] ऋ० क्र० १०।१२७।३

उ० भा० अ०—**स्वसारमित्येतत्पदम्**='स्वसारम्'—यह पद, (क्रम-वर्ग के) अवसान में (से) **अपोह्यते**=नही रहने दिया जाता है। **अकृतेति च**='अकृत'—यह परवर्ती पद भी (क्रम-वर्ग के) अवसान में (से) नही रहने दिया जाता है। (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) **परः सकारोपजनः**=सकार का आगम—यह अर्थ है। **निरस्कृतेत्युपसर्गकारितः**='अस्कृत' में सकार का आगम 'निर्' उपसर्ग के कारण हुआ है। **तदन्वयात्**=उसके सवन्ध के कारण से=उपसर्ग के सवन्ध के कारण से, **पञ्चभिः**=पाँच पदो से, **आचरितम्**=वनाया गया, क्रम(-वर्ग) जानना चाहिये। आचार्यों के द्वारा। (उदाहरण) "निष्ट स्वसारमस्कृतोषसम्।"[क]

सहेति चेमेति च रक्तसंहितं
गुणागमादेतनभावि चेतन।
पदं च चास्कम्भ चिदित्यतः परं
प्लुतादि चैतानि निमित्तसंशयात् ॥१०॥

सू० अ०—(१) 'इति' के साथ 'ईम्', (२) आनुनासिक्य से युक्त 'आ' (३) गुण स्वर (ए) के आ जाने से 'एतन' हो जाने वाला 'इतन', (४) 'चास्कम्भ चित्'—इससे वाद वाला पद और (५) 'दीर्घ' हो गया है आदि (=प्रथम 'अक्षर') जिसका वह (पद)—ये भी (क्रम-वर्ग के अवसान में नहीं आते हैं) क्योंकि इनके (विकारों) के कारण (निमित्त) के विषय में संशय है।

उ० भा०—सहेति चेम्—इतिकरणयुक्तमीमित्येतत्पदं लुप्तमकारमनवसानीयं भवति। किं कारणम्? निमित्तसंशयात्—न हि विज्ञायते पूर्वेण वा पदान्तेनोत्तरेण वा पदादिना मकारस्य लोपो भवतीति। अत उभयहेतुसंग्रहार्थमतीयते। "यमी गर्भम्।"[1]

उ० भा० अ०—**सहेति चेम्**='इति' शब्द से युक्त 'ईम्' - (संहिता पाठ में) जब 'ईम्' का मकार लुप्त हो जाता है तभी वह (पद-पाठ मे) 'इति' शब्द से युक्त होता है; (ऐसा 'ईम्' पद क्रम-वर्ग के) अवसान में नही रखा जाता है। इसका क्या कारण है? (उत्तर) **निमित्तसंशयात्**=कारण के विषय में संशय होने से—क्योकि यह ज्ञात नही होता है कि पूर्ववर्ती पदान्त के द्वारा अथवा परवर्ती पदादि के द्वारा मकार का लोप होता है।

टि० (क) निष्ट स्वसारमस्कृतोषसम्॥ सं० पा०॥
नि। ऊँ इति। स्वसारम्। अकृत। उषसम्॥ प० पा०
निष्ट स्वसारमस्कृतोषसम्॥ क्र० पा०
'निर्' उपसर्ग के कारण 'अकृतम्' में सकार का आगम होकर 'अस्कृतम्' रूप वना है। निमित्त (निर्) और नैमित्तिक ('अस्कृतम्' के सकार) को साथ-साथ रखने के लिये यहाँ पाँच पदो का एक क्रम-वर्ग वनाया गया है।

१ ऋ० क्र० ९।१०२।६

इसलिये दोनो हेतुओं के सग्रह के लिय अतिक्रमण किया जाता है। (उदाहरण) "यमी गर्भम् ।"[क]

उ० भा०—एति च रक्तसंहितम्—आ इत्येतत्पदं रक्तसंहितं यत्तदनवसानीयं भवति। किं कारणम्? निमित्तसंशयात्—न ज्ञायते पूर्वेण वा पदान्तेनोत्तरेण वा पदादिना आकारस्य रागो भवतीति। अत उभयहेतुसग्रहार्थम्। "अभ्र आँ अपः।"[१]

उ० भा० अ०—एति च रक्तसंहितम्—अनुनासिकता से युक्त (अर्थात् 'अनुनासिक') 'आँ' यह पद भी (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही रखा जाता है। (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) कारण के विजय में सशय होने से—यह ज्ञात नही होता है कि पूर्ववर्ती पदान्त के द्वारा अथवा परवर्ती पदादि के द्वारा आकार की अनुनासिकता होती है। इसलिये दोनो (साशयिक) हेतुओ के सग्रह के लिये ('अनुनासिक' आकार=आँ अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) "अभ्र आँ अप ।"[ख]

उ० भा०—गुणागमादेतनभावि चेतन—गुणागमात्=एकारागमात्; एतनभूतम् इतन इत्येतत्पदमनवसानीयं भवति। किं कारणम्? न ज्ञायते पूर्वेण वा पदान्तेनोत्तरेण वा पदादिना एकारो गुणागमो भवतीति। अत उभयगतः संशयः—"वीरास एतन मर्यासः।"[२]

उ० भा० अ०—गुणागमादेतनभावि चेतन—गुणागमात्=गुण का आगम होने से=एकार का आगम होने से, एतन' को प्राप्त 'इतन'- यह पद क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है। (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) यह ज्ञात नही होता है कि पूर्ववर्ती पदान्त के द्वारा अथवा परवर्ती पदादि के द्वारा एकाररूप गुणागम होता है। इसलिये दोनो के विषय में सशय है (इससे दोनो साशयिक हेतुओ के सग्रह के लिये 'एतन' को अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) "वीरास एतन मर्यास ।"[ग]

टि० (क) यमी गर्भम् ॥ स० पा० ॥ यम्। ईमिति। गर्भम् ॥ प० पा०
यमी गर्भम् ॥ क्र० पा०

यहाँ 'ईम्' के मकार का लोप ४।८३ से हुआ है। पद-पाठ में इस 'ईम्' के साथ 'इति' का प्रयोग हुआ है। मकार के लोप का कारण पूर्ववर्ती पदान्त ('यम्' का मकार) है अथवा परवर्ती पदादि (='गर्भम्' का गकार) है—यह निश्चय न होने से यहाँ तीन पदों का क्रम-वर्ग बनाया जाता है। इससे निमित्त और नैमित्तिक साथ-साथ रहते है।

(ख) अभ्र आँ अप ॥ स० पा० ॥ अभ्रे। आ। अप ॥ प० पा० ॥
अभ्र आँ अप. ॥ क्र० पा०

आँ के अनुनासिक्य के निमित्त के विषय में सशय होने से यहाँ तीन पदो का एक क्रम-वर्ग बनता है जिससे निमित्त और नैमित्तिक साथ-साथ रह सकें।

(ग) वीरास एतन मर्यास ॥ स० पा० ॥ वीरास.। इतन। मर्यासः ॥ प० पा०
वीरास एतन मर्यास ॥ क्र० पा०

---

[१] ऋ० क्र० ५।४८।१ [२] ऋ० क्र० ५।६१।४

उ० भा०—पदं च चास्कम्भ चिदित्यतः परम्—चास्कम्भ चित् इत्यस्माद् द्वैपदात्परं स्कम्भनेन इति च पदमनवसानीयम्। किं कारणम्? केन निमित्तेन सकारस्य लोपो भवतीत्युभयगतः संशयः। "चित्कम्भनेन स्कभीयान्।"[1]

प्लुतादि च—प्लुतादि च पदं योनिमारैक् इत्येवमाद्यनवसानीयं भवति। "प्लुतादिप्रभृतीनि च"[2] इत्यत्र गतम्। "योनिमारैगप।"[3] अत्र आकारागमः पूर्ववत्संशयित॥

उ० भा० अ०—पदं च चास्कम्भ चिदित्यतः परम्="चास्कम्भ चित्"—इस द्वैपद से परवर्ती 'स्कम्भनेन' यह पद, (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही रखा जाता है। (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) (पूर्ववर्ती पदान्त तथा परवर्ती पदादि—इनमें से) किस कारण से सकार का लोप होता है—यह दोनो के विषय में संशय है (इसलिये दोनो सांशयिक हेतुओं के संग्रह के लिये 'स्कम्भनेन' पद को क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है)। (उदाहरण) "चित्कम्भनेन स्कभीयान्।"[क]

प्लुतादि च='दीर्घ' हो गया है प्रथम 'अक्षर' जिसका वह, "योनिमारैक्" इत्यादि पद भी (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही रखा जाता है: "प्लुतादि (='दीर्घ' हो गये हैं आदि 'स्वर'-वर्ण जिनके) प्रभृति का अतिक्रमण करके (क्रम-वर्ग का) अवसान करते हैं" इससे कहा जा चुका है। (उदाहरण) "योनिमारैगप"[ख]—यहाँ आकार रूप आगम के विषय में पूर्ववत् संशय है (इसलिये दोनो सांशयिक हेतुओं के संग्रह के लिये 'आरैक्' क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है)।

द्व्यभिक्रमं पूर्वनिमित्तमानिनस्
त्रिषूत्तमेष्वाहुरनन्तरं हि तत् ॥११॥

सू० अ०—पूर्वपद को (विकार का) निमित्त मानने वाले लोग कहते हैं कि अन्तिम तीन स्थलों पर दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाने चाहिये क्योंकि वह (पूर्वपद) तुरन्त पूर्व में है।

उ० भा०—(द्व्यभिक्रमम्=) द्वाभ्यां पदाभ्यामभिक्रमम्; इच्छन्ति उत्तमेषु त्रिषु निमित्तसंशयेषु। (पूर्वनिमित्तमानिनः=) अनवसानीयात्पूर्वं पदं निमित्तं मन्यन्ते। किं कारणम्? अनन्तरं हि तत् पूर्वं पदं गुणागमः सकारलोपश्च दीर्घत्वं चैषां यथाणा भवतीति। "धीरास एतन।"[4] "चित्कम्भनेन।"[5] "योनिमारैक्।"[6]

टि० (क) (चास्कम्भ) चित्कम्भनेन स्कभीयान्॥ म० पा०॥ चित्। स्कम्भनेन। स्कभीयान्॥ प० पा०॥ चित्कम्भनेन स्कभीयान्॥ क्र० पा०
सकार का लोप ४।२१ के अनुसार निपातन से हुआ है।
(ख) योनिमारैगप॥ स० पा०॥ योनिम्। अरैक्। अप॥ प० पा०
योनिमारैगप॥ क्र० पा०
'अरैक्' का अकार २।७५ के अनुसार निपातन से आकार हुआ है।

[1] ऋ० क्र० १०।१११।५ [2] १०।४ [3] ऋ० क्र० १।१२४।८
[4] ऋ० क्र० ५।६१।४ [5] ऋ० क्र० १०।१११।५ [6] ऋ० क्र० १।१२४।८

उ० भा० अ० –सशय से युक्त है निमित्त जिनके ऐसे; **उत्तमेषु त्रिषु**=अन्तिम तीन (="वीरास एतन मर्यास" "चित्कम्भनेन स्कभीयान्". "योनिमारंगप") में; **(द्वयभिक्रमम्=)** दो-दो पदो से क्रम-वर्ग बनाना; अभीष्ट मानते है। **(पूर्वनिमित्त-मानिनः=)** अवसान में न आने वाले पद से पूर्ववर्ती पद को निमित्त मानते है। (इसका) क्या कारण है ? (उत्तर) गुणागम, सकारलोप और दीर्घत्व—इन तीनो का जो पूर्ववर्ती पद है, **अनन्तरं हि तत्**=वह (इन तीनो के) तुरन्त समीप में है=मध्य में कोई व्यवधान नही है।[क] (उदाहरण) "वीरास एतन।"[ख] "चित्कम्भनेन।"[ग] 'योनिमारैक्।"[घ]

अनन्तरं त्वेव चतुर्थषष्ठयोः
परं कथं तत्र च न द्वयभिक्रमम् ॥१२॥

सू० अ०—चतुथ और षष्ठ (स्थलों) में तो परवर्ती (पद) निश्चय ही तुरन्त समीप में है—वहाँ पर दो-दो पदो के क्रम-वर्ग क्यो नहीं बनाते है ?

उ० भा०—अनन्तरम्; तु = पुन, चतुर्थषष्ठयोः अनवसानीययोः—' उषा आवर्तमः'[1]; "यमी गर्भम्"[2]—इत्येतयोः परं पद निमित्तं भवितुमर्हति। पूर्वनिमित्तमानिनां हेतुसामान्यात् कथं तत्र च ते पूर्वनिमित्तमानिनो द्वयभिक्रमं न कुर्वन्त्येवं स्थितेऽपि। यदि चतुर्थषष्ठयोर्द्वयभिक्रमं न कुर्वन्ति त्रिषूत्तमेष्वपि न कर्तव्यम्। अथोत्तमेषु कुर्वन्ति चतुर्थषष्ठयोरपि कर्तव्यम्, उभयत्रापि हि विकारहेतुरानन्तर्यमेव ॥

उ० भा० अ०—"उषा आवर्तम." और 'यमी गर्भम्"—इन दो, **चतुर्थषष्ठयोः**= चतुर्थ (देखिये ११।७) और षष्ठ (देखिये ११।१०) स्थलो पर, अवसान में न आने वाले ('आव' और 'ईम्') के, **परम्**=परवर्ती, पद ('तम.' और 'गर्भम्'), **अनन्तरं तु**=तुरन्त समीप में है, (अत ये परवर्ती पद विकार का) निमित्त होने में सर्वथा समर्थ है क्योकि पूर्ववर्ती पद को निमित्त मानने वालो के हेतु के यह समान है। ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर भी पूर्ववर्ती (पद) को निमित्त मानने वाले लोग, **तत्र**—वहाँ पर (=चतुर्थ और षष्ठ स्थलो में) **द्वयभिक्रमम्**=दो-दो पदो के क्रम-वर्ग, **कथम् न**=क्यो नही बनाते है ? यदि चतुर्थ

टि० (क) इन आचार्यो का मत है कि "वीरास एतन", 'चित्कम्भनेन" और योनिमारैक्" में जो क्रमश गुणागम, सकारलोप और दीर्घत्व हुआ है उसके निमित्त के विषय में कोई सशय नही है। अव्यवहित पूर्ववर्ती पदो के कारण ही इन स्थलो पर (क्रमश २।७२, ४।२१ और २।७५ से) निर्दिष्ट विकार हुए है। निमित्त के विषय में सशय न होने से यहां दो-दो पदो का एक-एक क्रम-वर्ग बनाना ही उचित है।

(ख) वीरास एतन ॥ स० पा० ॥ वीरास । इतन ॥ प० पा० ॥ वीरास एतन ॥ क्र० पा०

(ग) चित्कम्भनेन ॥ स० पा० ॥ चित् । स्कम्भनेन ॥ प० पा० ॥ चित्कम्भनेन ॥ क्र० पा०

(घ) योनिमारैक् ॥ स० पा० ॥ योनिम् । अरैक् ॥ प० पा० ॥ योनिमारैक् ॥ क्र० पा०

[1] ऋ० क्र० १।९२।४ [2] ऋ० क्र० ९।१०२।६

और षष्ठ (स्थलो) में दो-दो पदों के क्रम-वर्ग नही बनाते है तो अन्तिम तीन में भी (दो-दो पदो के क्रम-वर्ग) नही बनाने चाहिये। यदि अन्तिम (तीन) में (दो-दो पदो के क्रम-वर्ग) बनाते है तो चतुर्थ और षष्ठ मे भी (दो-दो पदो के क्रम-वर्ग) बनाने चाहिये क्योकि दोनो ही स्थलो पर विकार का हेतु आनन्तर्य ही है।

अनानुपूर्व्ये पदसंध्यदर्शनात्
पदव्यवेतं च पदं व्यवायि च ॥१३॥

सू० अ०—अनानुपूर्वी संहिता में (अन्य) पद के द्वारा पृथक् किया गया (पद) और पृथक् करने वाला (पद) (ये दोनों पद क्रम-वर्ग के अवसान में नहीं रखे जाते हैं) क्योंकि (ऐसा न करने पर) इन दोनों पदो की संधि दिखलाई नहीं देगी।

उ० भा०—(अनानुपूर्व्ये=) अनानुपूर्व्यसंहिते; क्रमे क्रियमाणे; (पदव्यवेतम्=) पदेन यद्व्यवेतम्; यत् च (पदम्) (व्यवायि=) व्यवैति—ते उभे अनवसानीये भवतः। किं कारणम् ? पदसंध्यदर्शनात्। शुनःशेपम् चित् इत्येतयोः पदयोरन्योन्येन सह सन्धिरदृष्टो भवति। "शुनश्चिच्छेप निदितम् ॥"[1]

उ० भा० अ०—(अनानुपूर्व्ये=) अनानुपूर्वी संहिता[क] में, क्रम-वर्ग बनाते समय, (पदव्यवेतम्=) (अन्य) पद के द्वारा जो पृथक् किया जाता है और जो (पदम्=पद) (व्यवायि=) पृथक् करता है—वे दोनो (क्रम-वर्ग के) अवसान में नही रखे जाते हैं। (इसका) क्या कारण है ? (उत्तर) पदसंध्यदर्शनात्= पदों की संधि दिखलाई न पडने से। 'शुनःशेपम्' और 'चित्'—इन दोनो की एक दूसरे के साथ संधि—दिखलाई नही पड़ती है। (उदाहरण) "शुनश्चिच्छेप निदितम्।"[ख]

ततोऽपरे द्विक्रममाहुराश्रयात्
कृताविलुप्तात्र हि वर्णसंहिता ॥१४॥

सू० अ०—इनसे अन्य (आचार्य) दो-दो (पदो) के क्रम-वर्गों को मानते हैं क्योंकि यहाँ नियम के अनुसार वर्णो की संहिता होती है जिससे (संहिता) लुप्त नहीं होती है।

टि० (क) अनानुपूर्वी संहिता के लिये २।७८ को देखिये।

(ख) शुनश्चिच्छेप निदितम् ॥ सं० पा० ॥ शुनःशेपम्। चित्। निदितम् ॥ प० पा० शुनश्चिच्छेप निदितम् ॥ क्र० पा०

यदि दो-दो पदो के क्रम-वर्ग बनाये जावें तो संहिता-पाठ में दिखलाई पडने वाली संधि (मेल) क्रम-पाठ में दिखलाई नही देगी। इससे आर्षी संहिता का लोप हो जायेगा।

---

१ ऋ० क्र० ५।२।७

उ० भा०—ततोऽपरे आचार्या अस्यामवस्थायां द्विक्रमम् ; (आहुः=) इच्छन्ति । किं कारणम् ? आश्रयात्=लक्षणात्; कृता हि अत्र, (अविलुप्ता=) अविलोपेन; (वर्ण-संहिता=) वर्णानां वर्णै. सह संहिता; भवतीति । शुन इत्यत्र विसर्जनीयश्चिदिति प्रत्यये—"अघोषे रेफ्यरेफी चोष्माणं स्पर्श उत्तरे"[1] इति शकारमापन्नः । चिदित्यत्र तकारः शेप-प्रत्यये—"तालव्येऽघोष उदये चकारम्"[2] इति चकारमापन्नः । "सर्वे प्रथमैरुपधीयमान. शकारः शाकल्यपितुश्छकारम्"[3] इति शकारश् छकारमापन्न । शेपमित्यत्र मकारः पदान्ते वर्तमानो नकारे प्रत्यये— 'विस्थाने स्पर्श उदये मकारः सर्वेषामेवोदयस्योत्तमं स्वम्"[4] इति नकारमापन्नः । "शुनश्चित् । चिच्छेपम् । शेपन्निदितम् ।"[5]

उ० भा० अ० – ततोऽपरे=इनसे अन्य आचार्य, इस अवस्था में; द्विक्रमम्=दो-दो पदों के क्रम-वर्गों को; (आहुः=कहते हैं=) अभीष्ट मानते हैं । (इसका) क्या कारण है ? (उत्तर) क्योकि; अत्र=यहाँ पर (वर्ण-संहिता=) वर्णों की वर्णों के साथ संहिता, आश्रयात्=लक्षण के अनुसार; कृता=की जाने पर; (अविलुप्ता=) बिना किसी लोप के; हो जाती है ।[क] जैसे—'शुन'—इसका विसर्जनीय, 'चित्' बाद में होने पर. "'अघोष' ('स्पर्श') बाद में हो तो रिफित या अरिफित विसर्जनीय (उस बाद वाले 'अघोष' 'स्पर्श' के समान स्थान वाला) 'ऊष्म'-वर्ण हो जाता है"—इस सूत्र से शकार हो जाता है । 'चित्' का तकार 'शेप' बाद में होने पर, "'अघोष' 'तालव्य' बाद में हो तो (तकार) चकार हो जाता है"—इस (सूत्र) से चकार हो जाता है । "शाकल्य के पिता के मत से सभी प्रथम 'स्पर्श'-वर्णों से बाद में आने वाला शकार छकार हो जाता है"— इस (सूत्र) के अनुसार शकार छकार हो जाता है । पद के अन्त में विद्यमान 'शेपम्' का मकार, नकार बाद में होने पर, "अन्य 'स्थान' वाला 'स्पर्श' बाद मे हो तो मकार सभी (आचार्यों) के (मत से) परवर्ती ('स्पर्श') का अपना पञ्चम 'स्पर्श' (हो जाता है)" इस (सूत्र) से नकार हो जाता है । (उदाहरण) "शुनश्चित् । चिच्छेपम् । शेपन्निदितम् ।"[ख]

पदानुपूर्व्येण सपूर्व आ ततस्
ततो व्यवेतं च सह व्यवायि च ॥१५॥

सू० अ०—पूर्वसहित ('अनानुपूर्वी संहिता') में उस ('अनानुपूर्वी संहिता') तक ('क्रम' पूर्ववर्ती) पदो के आनुपूर्व्य से (साधारण नियम के अनुसार होता है) । तदनन्तर पृथक् किया गया पद और पृथक् करने वाला पद - ये दोनों (अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती पदो के साथ) साथ-साथ (एक क्रम-वर्ग में रखे जाते हैं) ।

टि० (क) इन आचार्यों का मत है कि यहाँ दो-दो पदो के क्रम-वर्ग बनाने पर भी वर्णों की वर्णों के साथ संहिता नियमो के अनुसार हो जाती है । इससे आर्षी संहिता का लोप नही होता है ।

(ख) शुनश्चिच्छेप निदितम् ॥ सं० पा० ॥ शुनःऽशेपम् । चित् । निदितम् ॥ प० पा० शुनश्चित् । चिच्छेपम् । शेपन्निदितम् ॥ क्र० पा०

---

[1] ४।३१ [2] ४।११ [3] ४।४
[4] ४।६ [5] ऋ० क्र० ५।२।७

उ० भा०—(पदानुपूर्व्येण=) पदानामानुपूर्व्येण, सपूर्वे=विद्यमानपूर्वे, अनानुपूर्व्यसंहितेऽर्धर्चस्य पूर्वे द्वैपदश क्रमो वक्तव्य, आ ततः=अनानुपूर्व्यसंहितायाः। "द्वा जना। जना यातयन्। यातयन्नन्तः। अन्तरीयते।"[१] किमर्थमिदमुच्यते? ननु—"क्रमो द्वाभ्यामभिक्रम्य"[२] इत्येव सिद्धम्। न सिद्धयति। ईयत इत्येतस्य नरा इत्येतेन पदैकदेशेन सह संधिर्दृष्टः। नराशंसमित्येतेन पदेन सह सधिरदृष्टः। तदा पदसध्यदर्शनादीयत इत्येतस्यापि पदस्यानवसानीयता प्राप्नोति। सा मा भूदित्युच्यते।

ततो व्यवेतं च पदम्, (व्यवायि च=) यच्च व्यवैति ते उभे सह वक्तव्ये। केन सह? ईयते दैव्यम् इत्येताभ्यां सह। "ईयते नरा च शस दैव्यम्।"[३] एवमेके।

उ० भा० अ०—सपूर्व=जिसके पूर्व में कोई पद विद्यमान हैं, ऐसी उस 'अनानुपूर्वी सहिता' में, अर्धर्च के पूर्व (पाद) में; आ ततः=उस तक='अनानुपूर्वी सहिता' तक, (पदानुपूर्व्येण=) (क्रम-पाठके सामान्य नियम के अनुसार) पदो के आनुपूर्व्य से, क्रम को कहना चाहिए। (उदाहरण) "द्वा जना। जना यातयन्। यातयन्नन्त। अन्तरीयते।" (पू०) यह किसलिए कहते हो? क्योकि "दो पदो से प्रारम्भ करके (इसके आगे दो-दो पदो से) क्रम (-पाठ) (का सपादन करना चाहिए)"—इसमे ही यह सिद्ध है। (सि०) सिद्ध नही होता है। 'ईयते'—इस (पद) की ('नराशसम्' पद के) के एक भाग (देश) 'नरा' इसके साथ सधि दृष्ट है, (किंतु) 'नराशसम्'—इस पद के साथ सधि अदृष्ट है। इस अवस्था में पदो की सधि दिखलाई न पडने से ईयते' पद का क्रम-वर्ग के अन्त में न आना प्राप्त होता है। वह मत होवे—इसलिए यह कहा गया है।

ततो व्यवेतं च=तदनन्तर पृथक् किया गया पद, (व्यवायि च=) और पृथक् करने वाला (पद)—इन दोनो का (को), सह=साथ में, उच्चारण करना चाहिए। किसके साथ मे? (उत्तर) 'ईयते' और 'दैव्यम्' इन दो-(पदो) के साथ में।[क] (उदाहरण) "ईयते नरा च शस दैव्यम्।"[ख] इस प्रकार कतिपय आचार्य (व्याख्या) करते हैं।

उ० भा० अपरे पुनरन्यथा। ईयत इत्येतस्यानवसानीयता नैव प्राप्नोति। कथम्? पदैकदेशेन वा कृत्स्नेन वा पदसधिर्दृष्टो भवतीति। किमर्थं तर्हीदमुच्यते? "ततो व्यवेत च सह व्यवायि च" इत्येवमाद्यपूर्वविधि। स चानुक्तः पुनरुच्यते॥

टि० (क) जिस 'अनानुपूर्वी सहिता' के पूर्व में कोई पद विद्यमान हो उसमें (१) उस 'अनानुपूर्वी सहिता' के पहले तक पदो के क्रम से दो-दो पदो के क्रम-वर्ग बनाने चाहिए। इसके बाद (२) अन्य पद के द्वारा पृथक् किये गये पद और पृथक् करने वाले पद—इन दोनो को इनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदो के साथ एक ही क्रम-वर्ग में रख देना चाहिए। इस प्रकार यहाँ पर चार पदो का एक क्रम-वर्ग बनता है।

(ख) द्वा जना यातयन्नन्तरीयते नरा च शस दैव्यम्॥ स० पा०
द्वा। जना। यातयन्। अन्त। ईयते। नराशसम्। च। दैव्यम्॥ प० पा०
द्वा जना। जना यातयन्। यातयन्नन्त। अन्तरीयते। ईयते नरा च शस दैव्यम्॥ क्र० पा०

---

१ ऋ० क्र० ९।८६।४२ २ १०।१-२ ३ ऋ० क्र० ९।८६।४२

उ० भा० अ०—दूसरे (आचार्य) अन्य प्रकार से (व्याख्या) करते हैं। (उनका कहना है कि) 'ईयते' का क्रम-वर्ग के अवसान मे न आना प्राप्त नही होता है। कैसे (प्राप्त नही होता है) ? (उत्तर) पद के एक भाग (देश) के साथ अथवा सम्पूर्ण (पद) के साथ पद-सधि दिखलाई देती है। तब यह (सूत्र) किस लिए कहा गया है ? (उत्तर) "तदनन्तर पृथक् होने वाला (पद) और पृथक् करने वाला (पद)--इन दोनो का साथ में"—इत्यादि अपूर्व विधि है। वह (विधि) कही नही गई है, इसलिए पुन कथन किया गया है।

ततो निराहेतरयोश्च ते पदे
ततोऽव्यवेतेन परस्य संहिता ॥१६॥

सू० अ०—तदनन्तर (क्रम-वक्ता) इन दोनो (पृथक्-भूत और पृथक् करने वाले) पदों का पुनः उच्चारण करता है (अर्थात् इनका 'परिग्रह' करता है); अन्य दो (स्थलों=जहाँ पर 'अनानुपूर्वी संहिता' के पूर्व मे कोई पद नहीं होता है) पर भी (ऐसा ही किया जाता है)। तब पृथक् न किये गये (पद) के साथ परवर्ती पद की संहिता (करनी चाहिये)।

उ० भा०—ततोऽस्यामवस्थायाम्, निराह वक्ता=परिग्रहेण योजयति इत्यर्थः। ते पदे। कतरे ? व्यवेत च यच्च व्यवैति। 'नराशसमिति नराशमम्। चेति च।"[१] इतरयोश्च। कतरयोः ? अविद्यमानपूर्वयोस्ते पदे निराह। "शुनश्चिच्छेप निदितम्। शुनःशेपमिति शुनःशेपम्। चिदिति चित्।"[२] 'नरा वा शंस पूषणम्। नराशसमिति नराशसम्। वेति वा।'[३] ततोऽव्यवेतेन पदेन परस्य संहिता कर्तव्या—"दैव्यं च।"[४] "निदित सहस्रात्।"[५] 'पूषणमगोह्यम्।'[६] असदिग्धार्थमिदमाचार्येण विस्तरेणोक्तम् ॥

उ० भा० अ०—ततः=इसके बाद मे; ऐसा हो जाने पर (=पूर्व सूत्र के अनुसार पृथक् किए गए और पृथक् करने वाले पदो का उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदो के साथ एक क्रम-वर्ग में सहोच्चारण हो जाने पर), (क्रम-) पाठी, ते पदे=उन दो पदो का (को), निराह=पुन उच्चारण करता है='परिग्रह' से युक्त कर देता है -यह अर्थ है। किन दो (पदो) को ? (उत्तर) पृथक् किये गये (पद) को और पृथक् करने वाले पद को। (उदाहरण) 'नराशसमिति नराशसम्। चेति च।"[क] इतरयोश्च=अन्य दो में भी। किन दो मे ? (उत्तर) जिनके पूर्व मे (कोई पद) विद्यमान नही है उन दो (अनानुपूर्वी संहिताओं में) भी -उन दो पदो का पुन उच्चारण करता है। (उदाहरण) 'शुनश्चिच्छेप निदितम्। शुन शेपमिति शुन शेपम्। चिदिति चित्।"[ख] "नरा वा शस पूषणम्। नरा-

टि० (क) ईयते नरा च शस दैव्य च ॥ स० पा०
ईयते। नराशसम्। च। दैव्यम्। च ॥ प० पा०
ईयते नरा च शस दैव्यम्। नराशसमिति नराशसम्। चेति च। दैव्य च ॥ क्र० पा०

---

[१] ऋ० क्र० ९।८६।४२ [२] ऋ० क्र० ५।२।७ [३] ऋ० क्र० १०।६४।३
[४] ऋ० क्र० ९।८६।४२ [५] ऋ० क्र० ५।२।७ [६] ऋ० क्र० १०।६४।३

शसमिति नराशसम् । वेति वा ।"[क] ततोऽव्यवेतेन=तदनन्तर पृथक् न हुए पद के साथ, **परस्य संहिता**=परवर्ती पद की संहिता; करनी चाहिए। (उदाहरण) "दैव्य च ।" "निदित सहस्रात् ।" "पूषणमगोह्यम् ।" सदेह न रहे—इसलिये आचार्य (शौनक) ने इसको विस्तार में कहा है।

अनन्तरे त्रिक्रमकारणे यदि
त्रिभिश्च गार्ग्यः पुनरेव च त्रिभिः ॥१७॥

सू० अ०—यदि (ऐसे दो पद) अव्यवहित रूप से आ जावें, जिन (दो पदों) में से प्रत्येक पद तीन पदों के एक क्रम-वर्ग का कारण हो, (वहाँ) गार्ग्य तीन (पदों) से (एक क्रम-वर्ग को बनाते हैं) और फिर तीन (पदों) से (दूसरा क्रम-वर्ग बनाते हैं)।

उ० भा० – **अनन्तरे**=अव्यवहिते; **त्रिक्रमकारणे** द्वे यदि भवतः त्रिभिः पदैरवसानमिच्छत्याचार्यो गार्ग्यः। तेषामेव त्रयाणां मध्यमं पदं प्रत्यादाय **पुनरेव च त्रिभिः**। किं कारणम् ? एवमपि निमित्तनिमित्तिनामविलोपो भवतीति। "उदू षु। ऊ षु णः॥"[1]

उ० भा० अ०—**यदि**=यदि, **त्रिक्रमकारणे**=तीन (पदो) के क्रम-वर्ग के कारणभूत, दो (पद), **अनन्तरे**= अव्यवहित रूप से आ जावें तो, **गार्ग्यः**=गार्ग्य आचार्य; **त्रिभिः**=तीन (पदो) से, (एक क्रम-वर्ग का) अवसान करना चाहते है। उन्ही तीन (पदो) के (क्रम-वर्ग के) मध्यम पद को, **पुनरेव**=पुन, लेकर, **त्रिभिः**=तीन ही (पदो से अवसान करते है)। क्या कारण है ? (उत्तर) इस प्रकार भी निमित्त और नैमित्तिक का विलोप नही होता है। (उदाहरण) "उदू षु। ऊ षु ण।"[ख]

(६०५ख) शुनश्चिच्छेप निदित सहस्रात ॥ स० पा०
शुन ऽशेपम् । चित् । निऽदितम् । सहस्रात् ॥ प० पा०
शुनश्चिच्छेप निदितम् । शुन शेपमिति शुन ऽशेपम् । चिदिति चित् । निदित सहस्रात् ॥ क्र० पा०

टि० (क) नरा वा शस पूषणमगोह्यम् ॥ स० पा०
नराशसम् । वा । पूषणम् । अगोह्यम् ॥ प० पा०
नरा वा शस पूषणम् । नराशसमिति नराशसम् । वेति वा ।
पूषणमगोह्यम् ॥ क्र० पा०

(ख) उदू षु ण ॥ स० पा० ॥ उत् । ऊँ इति । सु । न ॥ प० पा०
उदू षु । ऊ षु ण ॥ क्र० पा०

उकार के कारण 'सु' का सकार ५।५ से षकार होता है और 'षु' के षकार के कारण 'न' का नकार ५।५८ से णकार होता है। निमित्त और नैमित्तिक को साथ-साथ रखने के लिए गार्ग्य पहले तीन पदो का एक क्रम-वर्ग बनाते है। इसके बाद इस क्रम-वर्ग के मध्यम पद से प्रारम्भ करके तीन पदों का दूसरा क्रम-वर्ग बनाते है।

[1] ऋ० क्र० ८।७०।९

त्रिसंगमे पञ्चभिरार्ष्यनुग्रहः ॥१८॥

सू० अ०—यदि तीन (निमित्त और नैमित्तिक) साथ-साथ आवें तो पाँच पदों के क्रम-वर्ग को बनाकर आर्षी संहिता का परिपालन होता है।

उ० भा०—(त्रिसंगमे) अस्मिन्निमित्तनिमित्तिनां त्रयाणां नामिषत्वणत्वानां संगमे; (पञ्चभिः=) पञ्चक्रमेण, (आर्ष्यनुग्रहः=) आर्ष्या अविलोपः; भवतीति मन्यन्त एक आचार्याः। किं कारणम्? उक्तं हि—"उदू षु णः"[1]—इत्यत्र नामिनिमित्तं षत्वम्। षत्वनिमित्तं णत्वम्। नाम्यभावे षत्व न स्यात्। षत्वाभावे णत्व न स्यात्। स विलोप इति। न इत्येतस्यानवसानीयत्वं कस्मात्? नकारस्योत्तरेण पदेन सह प्रत्यादाने णो वसो इति सह सन्धिरदृष्टो भवतीति—"उदू षु णो वसो॥"[2]

उ० भा० अ०—(त्रिसंगमे=) तीन निमित्त और नैमित्तिक अर्थात् 'नामि'-'स्वर' (-वर्ण), 'षत्व' और 'णत्व' के इस संगम में; (पञ्चभिः=) पाँच (पदों) के क्रम-वर्ग से; (आर्ष्यनुग्रहः=) आर्षी संहिता का अविलोप होता है—यह कतिपय आचार्य मानते हैं। (इसका) क्या कारण है? यह कह ही चुके हैं कि "उदू षु ण" में 'षत्व' का निमित्त 'नामि'-'स्वर' (-वर्ण) है। 'णत्व' का निमित्त 'षत्व' है। 'नामि'-'स्वर' का अभाव होने पर 'षत्व' नहीं होगा और 'षत्व' का अभाव होने पर 'णत्व' नहीं होगा। वह (संहिता का) विलोप हो जायेगा। (पू०) 'न' (क्रम-वर्ग के) अवसान में किस कारण से नहीं आता है? (सि०) (यदि 'न' को क्रम-वर्ग के अवसान में रख दिया जाये तो) 'न' का परवर्ती पद के साथ पुनरुच्चारण (प्रत्यादान) करने में 'णो वसो'—इनकी साथ-साथ सन्धि अदृष्ट होती है। (इसलिए यहाँ पर पाँच पदों का एक क्रम-वर्ग बनाया जाता है)। (उदाहरण) "उदू षु णो वसो।"[क]

चतुःक्रमस्त्वाचरितोऽत्र शाकलैः ॥१९॥

सू० अ०—किंतु शाकल के अनुयायी यहाँ चार (पदों) का एक क्रम-वर्ग बनाते हैं।

उ० भा०—एव पक्षान्तरगमनेऽपि, (अत्र=) अस्मिन्त्रिसङ्गमे; (चतुःक्रम आचरितः शाकलैः=) शाकलाश्चतुःक्रममाचरन्ति। तुशब्द पक्षान्तरनिवृत्त्यर्थं "उदू षु णः॥"[3]

टि० (क) उदू षु णो वसो॥ सं० पा०॥ उत्। ऊँ इति। सु। न.। वसो इति॥ प० पा० उदू षु णो वसो॥ क्र० पा०

यहाँ पर 'ऊ', 'षु' और 'ण'—ये तीन निमित्त और नैमित्तिक एक साथ आये हैं: आर्षी संहिता का लोप न हो इसलिए यहाँ पाँच पदों का एक क्रम-वर्ग बनाया जाता है। पू०—सम्बद्ध स्थल में चार पदों का क्रम-वर्ग (उदू षु ण) बनाने से भी निमित्त और नैमित्तिक एक साथ आ जाते हैं। ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर पाँच पदों का क्रम-वर्ग बनाना अनावश्यक है। सि०—तब तो 'ण' का प्रत्यादान करने पर 'नो वसो' रूप होगा जो संहिता-पाठ में उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार आर्षी संहिता का लोप हो जायेगा।

---

[1] ऋ० ऋ० ८।७०।९ [2] ऋ० ऋ० ८।७०।९ [3] ऋ० ऋ० ८।७०।९

उ० भा० अ० –अन्य पक्ष का इस प्रकार का मत होने पर भी; (अत्र=) नेन (निमित्तो और नैमित्तिको) के इस संगम में; (चतुष्क्रम आचरित: शाकलै:=) शाकल के अनुयायी चार (पदो) का एक क्रम-वर्ग बनाते हैं। (सूत्र में उल्लिखित) तु-शब्द पक्षान्तर की निवृत्ति के लिये है। (उदाहरण) "उद्व पृ पः।"[क]

अलोपभावादपरे बहुक्रमं
प्रतिस्वमार्षीति न कुर्वते क्वचित् ॥२०॥

सू० अ०—दूसरे (आचार्य) कहीं पर भी बहुत (=दो से अधिक) (पदों) का क्रम-वर्ग नहीं बनाते है क्योंकि प्रत्येक शब्द में आर्षी संहिता (दिखलाई पड़ने से) (उस आर्षी संहिता का) लोप नहीं होता है।

उ० भा०—अलोपभावात्=आर्ष्या लोपस्याभावात्; अपरे आचार्या बहुक्रमं क्वचित् अपि न कुर्वते। यदि बहुक्रमो न क्रियते निमित्तनैमित्तिकविप्रयोगे कथमार्ष्या अलोपो भवति? प्रतिस्वमार्षी भवतीति—पदान्तस्य पदादिना संधौ क्रियमाणे लोपागमविकाराः प्रतिस्वं भवन्ति। एव द्वयोर्द्वयोः पदयोरार्ष्या अलोपो भवति। "मो षु। सु नः।"[१]

उ० भा० अ० –अपरे=दूसरे आचार्य; अलोपभावात्=आर्षी संहिता का अलोप होने से;[ख] बहुक्रमम्=बहुत (=दो से अधिक) (पदो) का एक क्रम-वर्ग; क्वचित् न कुर्वते=कहीं पर भी नहीं बनाते हैं। (पू०) यदि बहुत पदों का क्रम-वर्ग नहीं बनाया जाता है तो निमित्त और नैमित्तिक का विप्रयोग होने पर किस प्रकार आर्षी संहिता का अलोप होता है? (सि०) प्रतिस्वमार्षी=प्रति शब्द आर्षी संहिता; होती है—(दो-दो पदो का क्रम-वर्ग बनाने पर भी) पदान्त की पदादि के साथ संधि किये जाने पर प्रतिशब्द लोप आगम और विकार होते हैं। इस प्रकार दो-दो पदों के (क्रम-वर्ग बनाने पर) आर्षी संहिता का अलोप होता है। (उदाहरण) "मो षु। सु नः।"[ग]

असर्वशस्त्रिप्रभृतिष्वनेकशः
स्मरन्ति संख्यानियमेन शाकलम् ॥२१॥

सू० अ०—(पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त नियम के) पूर्णतया (ठीक न होने के कारण) अनेक आचार्य (पदों की) संख्या के नियम के अनुसार तीन अथवा अधिक (पदों) के बने हुए (क्रम-वर्गों के) विषय मे शाकल के विधान को मानते हैं।

उ० भा० प्रतिस्वमार्षीति यदुक्तं तत् असर्वशः=न सर्वत्र युज्यते इत्यर्थः। कथम्? यत्र पदान्तपदाद्योरन्योन्यं प्रति निमित्तत्वं तत्र युक्तम्। 'तन्न'। नो निः' इत्यादौ। यत्र तु ताभ्यां पूर्वं पद विकारस्य निमित्तं भवति न तत्र युक्तम्। त्रिप्रभृतिषु

टि० (क) उद्व पु पः॥ सं० पा० ॥ उत्। ऊँ इति। सु। नः॥ प० पा० ॥ उद्व पु नः ॥ क्र० पा०
(ख) इन आचार्यों का मत है कि दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाने पर भी आर्षी संहिता का कहीं लोप नहीं होता है।
(ग) मो षु णः ॥ सं० पा० ॥ मो इति। सु। नः ॥ प० पा० । मो षु ॥ सु नः । क्र० पा०

१ ऋ० सं० १।३८।६   २ ऋ० सं० १।१६०।३

पदेषु। "मो षु णः"[1]—इत्यत्र नामिनिमित्तं षत्वम्। षत्वनिमित्तं णत्वम्। नाम्यभावे षत्वं न स्यात्। षत्वाभावे णत्वं न स्यात्। "यथापदं सन्धिमपेतहेतुषु"[2] इति वक्ष्यमाणत्वात्। स विलोप इत्युक्तम्। तस्मात्; अनेकशः=बहवः; स्मरन्ति=इच्छन्ति आचार्याः; संख्यानियमेन=त्रिक्रमश्चतुक्रम पञ्चक्रम इत्येतेन संख्यानियमेन; (शाकलम्=) शाकलविधानम्। "मो षु ण।"[3] "उदू षु णः।"[4] "निरु स्वसारमस्कृतोषसम्॥"[5]

उ० भा० अ०—प्रतिपद आर्षी संहिता होती है—जो यह कहा गया है वह; असर्वशः=सर्वत्र युक्त नहीं है—यह अर्थ है। कैसे? जहाँ पदान्त और पदादि का एक दूसरे के प्रति निमित्तत्व है वहाँ यह (नियम) युक्त है। (जैसे) "तन्न.। नो मित्रः"—इत्यादि में। किंतु जहाँ उन दोनो से पूर्व वाला पद विकार का निमित्त होता है वहाँ यह (नियम) युक्त नहीं है। त्रिप्रभृतिषु=तीन इत्यादि=तीन या अधिक (पदों के क्रम-वर्ग) में—"मो षु ण"—यहाँ पर 'षत्व' का निमित्त 'नामि'–'स्वर' है। 'णत्व' का निमित्त 'षत्व' है। 'नामि'-'स्वर' के अभाव में 'षत्व' नहीं होगा। 'षत्व' के अभाव में 'णत्व' नहीं होगा—जैसा कि "(जो पद अपने विकार के) हेतुओ से पृथक् (प्रयुक्त होते हैं), उनमें मूल-पद के अनुसार संधि करे" में कहा जाने वाला है। वह (आर्षी संहिता का) विलोप होगा—यह कहा जा चुका है। इसलिए; अनेकशः=बहुत से आचार्य; संख्यानियमेन=तीन पदों का क्रम-वर्ग, चार पदों का क्रम-वर्ग, पाँच पदों का क्रम-वर्ग—इस संख्या के नियम के विषय में, शाकलम्=शाकल के विधान को; स्मरन्ति=अभीष्ट मानते हैं। (उदाहरण) "मो षु ण."[क], "उदू षु ण"[ख]; "निरु स्वसारमस्कृतोषसम्।"[ग]

अयावने पूर्वविधानमाचरेत् ॥२२॥

सू० अ०—यदि (कोई) मिश्रण नहीं है (अर्थात् क्रम-वर्ग के पदों के साथ उनके पूर्ववर्ती पद का निमित्त के रूप में सम्बन्ध नहीं है) तो (क्रम-वर्ग बनाने में) पूर्व विधान को मानना चाहिये।

उ० भा०—अयावने=अमिश्रणे। किमुक्तं भवति? यत्र क्रमे वचनप्राप्ताभ्यां पदाभ्यां पूर्वपदं निमित्तं न भवति तत्रेत्युक्तं भवति। पूर्वविधानमाचरेत् इति=द्वाभ्यां क्रममाचरेत्-इत्यर्थः। "अग्निमीळे। ईळे पुरोहितम्।"[6] यत्र यत्र यावनं तत्र तत्र बहुक्रममाचरेत्—"मो षु ण." इति॥[7]

टि० (क) मो षु ण. ॥ सं० पा० ॥ मो इति। सु। न ॥ प० पा० ॥ मो षु ण. ॥ क्र० पा०

(ख) उदू षु ण ॥ सं० पा० ॥ उत्। ऊँ इति। सु। न ॥ प० पा०
उदू षु ण. ॥ क्र० पा०

(ग) निरु स्वसारमस्कृतोषसम् ॥ सं० पा०
नि। ऊँ इति। स्वसारम्। अकृत। उषसम् ॥ प० पा०
निरु स्वसारमस्कृतोषसम् ॥ क्र० पा०

---

[1] ऋ० क्र० १।३८।६ [2] ११।२३ [3] ऋ० क्र० १।३८।६
[4] ऋ० क्र० ८।७०।९ [5] ऋ० क्र० १०।१२७।३ [6] ऋ० क्र० १।१।१
[7] ऋ० क्र० १।३८।६

उ० भा० अ० —अप्रत्यादाने=मिश्रण न होने पर। यह कहने का क्या तात्पर्य है? (उत्तर) जहाँ 'क्रम' में नियम (वचन) से प्राप्त दो पदों से पूर्ववर्ती पद (किसी विकार का) निमित्त नहीं होता है वहाँ यह कहने का तात्पर्य है। (ऐसे स्थलों पर) पूर्वविधानमाचरेत्= पूर्व-विधान के अनुसार कार्य करे=दो-दो पदों से 'क्रम'-वर्गों का निर्माण करे-यह अर्थ है। (उदाहरण) "अग्निमीळे। ईळे पुरोहितम्।" जहाँ-जहाँ मिश्रण हो वहाँ-वहाँ बहुत (पदों) के क्रम-वर्ग बनावे। (उदाहरण) "मो षु ण.।"[क]

(क्रमपाठे विकृतरूपविषयकनियमः)

यथापदं संधिमपेतहेतुषु ॥२३॥

(क्रमपाठ में विकृतरूपविषयक नियम)

सू० अ०—(जो पद अपने विकार के) हेतुओं से पृथक् (प्रयुक्त होते हैं), उनमें मूल-पद के अनुसार संधि करे।

उ० भा०—यथापदं संधिं कुर्यात् अपेतहेतुषु पदेषु। "प्र णः। न इन्द्रो"[१]— प्रशब्दो णत्वहेतुस्तस्यापाय उत्तरेण सह प्रत्यादाने क्रियमाणे नत्वम्। विलोपसंशयनिवृत्त्यर्थं ग्रहणम्। "न इन्द्रो॥"

उ० भा० अ०—अपेतहेतुषु=(विकार के) हेतु पृथक् हो गये हैं जिनके ऐसे पदों में; यथापदम्=मूल-पद के अनुसार; संधिम्=संधि को. करे। (जैसे) "प्र णः। न इन्द्रो"—यहाँ 'प्र' शब्द 'णत्व' का हेतु है। उस 'प्र' के पृथक् हो जाने पर जब ('न' का) परवर्ती पद के साथ 'प्रत्यादान' होता है तब नकार ही रहता है। विलोप के संशय की निवृत्ति के लिये ग्रहण किया है।[ख] (उदाहरण) "न इन्द्रो।"[ग]

(क्रमपाठे समयैः सह संधेः प्रकारः)

अथो पदाभ्यां समयं पदेन च
क्रमेष्ववस्येदतिगम्य संदधत् ॥२४॥

(क्रम-पाठ में समय के साथ संधि का प्रकार)

सू० अ०—क्रम-पाठ में 'समय' का अतिक्रमण करके ('समय' से परवर्ती) दो पदों के द्वारा क्रम-वर्ग का अवसान करे और (पूर्ववर्ती पद के साथ 'समय' की)

टि० (क) मो षु ण ॥ सं० पा० ॥ मो इति। सु। न ॥ प० पा० ॥ मो षु णः ॥ क्र० पा०

(ख) यद्यपि पुनर्वचन ('प्रत्यादान') में 'न' का उच्चारण करने पर आर्षी संहिता का लोप होता है तथापि यह आचार्य को अभीष्ट है।

(ग) प्र ण इन्द्रो ॥ सं० पा० ॥ प्र। न। इन्द्रो इति ॥ प० पा० प्र णः। न इन्द्रो ॥ क्र० पा०

'ण' के 'णत्व' के हेतुभूत रेफ के पृथक् हो जाने पर पुनर्वचन में 'न' का उच्चारण किया जाता है।

१ ऋ० क्र० ९।४४।१

संधि करता हुआ ('समय' के) एक पद के द्वारा (पूर्ववर्ती क्रम-वर्ग का अवसान करे)।

उ० भा०— अथो पदाभ्यां समयम्; (अतिगम्य=) अतिक्रम्य; अवस्येत् संदधत् तथा समयं पदेन। किं पुनः कारणं समयातिक्रमणे? "दृष्टक्रमत्वात्"[1]—इत्युक्तं क्रमशास्त्र एव। किमर्थं पुनर्द्वाभ्यामतिक्रम्यावसानम्? अदृष्टक्रमत्वादिति वक्तव्यम्। एकेन कस्मात्संदधदवस्यति। सन्ध्यर्थमिति वक्तव्यम्। "त्वां ह। ह त्यदिन्द्रार्णसातौ स्वर्मीळ्हे।"[2]

क्रमेषु इति ग्रहणात्पादव्यवस्थायां समयोत्तरपदद्वयान्तेऽवसानं न स्यात्—"त्वां ह त्यदिन्द्रार्णसातौ"[3] इत्यादिषु। "यच्चिद्धि सत्य सोमपाः"[4] इत्यादिषु तु समयोत्तरपदद्वयान्तेऽवसानं स्यादेव पादलक्षणवशात्॥

उ० भा० अ० —समयम् (अतिगम्य)='समय' का अतिक्रमण करके; ('समय' से) परवर्ती दो पदों के द्वारा (क्रम-वर्ग का) अवसान करे। उसी प्रकार, समयं संदधत्=(पूर्ववर्ती पद के साथ) 'समय' की सन्धि (मेल) करता हुआ (पूर्ववर्ती क्रम-वर्ग का अवसान 'समय' के प्रथम) पद के द्वारा (करे)।[क] 'समय' का अतिक्रमण करने में क्या कारण है? (उत्तर) "क्रम-पाठ के (पहले ही) दिखलाई देने से"—यह क्रम-शास्त्र (१०।१९) में ही कहा जा चुका है। ('समय' का) अतिक्रमण करके (परवर्ती) दो (पदों) से (क्रम-वर्ग का) अवसान किस लिए किया जाता है? (उत्तर) "क्रम-पाठ दिखलाई न पड़ने से"—यह कहना चाहिए। ('समय' की) सन्धि करता हुआ एक (पद) से अवसान किस कारण से करे? (उत्तर) "संधि (मेल) के लिए"—यह कहना चाहिए। (उदाहरण) "त्वा ह। ह त्यदिन्द्रार्णसातौ स्वर्मीळ्हे।"[ख]

(सूत्र में) "क्रम-पाठ में" का ग्रहण होने से पादों की व्यवस्था में 'समय' से बाद

टि० (क) 'समय' के लिए १०।१९ तथा पृ० ५८१ पर टि० (क) देखिए।

(ख) त्वां ह त्यदिन्द्रार्णसातौ स्वर्मीळ्हे॥ सं० पा०

त्वाम्। ह। त्यत्। इन्द्र। अर्णऽसातौ। स्वःऽमीळ्हे॥ प० पा०

त्वाम्। ह त्यदिन्द्र। अर्णऽसातौ। स्वःऽमीळ्हे॥ प० पा०॥ परम्परा के अनुसार

त्वा ह। ह त्यदिन्द्रार्णसातौ स्वर्मीळ्हे॥ क्र० पा०

'ह त्यदिन्द्र"—यह 'समय' (पुनरुक्त पदसमूह) है। (१) क्रम-पाठ में "ह त्यदिन्द्र" का अतिक्रमण किया गया है क्योंकि इसका क्रम-पाठ तो पहले ही १।६३।४ में किया जा चुका है। 'समय' से पूर्ववर्ती क्रम-वर्ग का अवसान 'समय' के प्रथम पद 'ह' के साथ किया गया है। इससे 'समय' की पूर्ववर्ती पद के साथ सन्धि (मेल) निष्पन्न हो जाती है। (३) जिस क्रम-वर्ग में 'समय' को रखा गया है उसका अवसान समय' से परवर्ती दो पदों ('अर्णसातौ' तथा 'स्वर्मीळ्हे') के द्वारा हुआ है। इससे इन दो पदों का क्रम-पाठ निष्पन्न हो जाता है।

[1] १०।१९ [2] ऋ० क्र० १।६३।६ [3] ऋ० १।६३।६ [4] ऋ० १।२९।१

वाले दो पदों के अन्त में अवसान नहीं होगा—"त्वा ह त्यदिन्द्राणंसातौ"[क] इत्यादि में। "युञ्चिद्धि सत्य सोमपाः"[ख] इत्यादि में तो पाद के लक्षण के अनुसार 'समय' से बाद वाले दो पदों के अन्त में अवसान होगा ही।

(क्रमपाठे पदविशेषाणां परिग्रहः)

सहेतिकाराणि समासमन्तभाग्
बहुक्रमे मध्यगतानि यानि च ।
तृतीयतां गच्छति यस्य चोष्मवा-
ननन्ययोगं विकृतं प्लुतादि च ।
अतीत्य तेषां पदतां प्रदर्शयेत् ॥२५॥

(क्रम-पाठ में पदविशेषों का परिग्रह)

सू० अ०—(१) 'इति' शब्द से युक्त पद, (२) सावग्रह पद, (३) (अर्धर्च के) अन्त में विद्यमान पद, (४) बहुत (=दो से अधिक) (पदों) के क्रम-वर्गों के मध्य में जो स्थित होते हैं वे पद, (५) जिस (पद) का ('सघोष') 'महाप्राण' (ऊष्म-वान्='सोष्मन्') (अपने 'वर्ग' का) तृतीय ('व्यञ्जन') हो जाता है वह (पद), (६) जिस (पद) में विकार अन्य (पद) के द्वारा नहीं किया गया है वह (पद) और (७) जिस (पद) का प्रथम ('अक्षर') 'दीर्घ' हो गया है वह (पद) - इन (पदों) का अतिक्रमण करके (अर्थात् इनके द्वारा क्रम-वर्गों को पूरा करके) इनके पद-रूप (मूल-रूप) को दिखलावे।

उ० भा०—सहेतिकाराणि=इतिकरणयुक्तानि। समासम्=अवगृह्याणि। अन्त-भाक्=अर्धर्चान्तं यत्पदं भजते। बहुक्रमे मध्यगतानि यानि च=त्रिक्रमप्रभृतिषु बहु-क्रमेषु यानि मध्यगतानि पदानि। तृतीयतां गच्छति यस्य चोष्मवान्=जुगुक्षतो बुबुक्षन्नि-त्येवमादि—तेषु सोष्मा घकारादिः चतुर्थः स्ववर्गतृतीयं गकारादिमापद्यते, तत्। अनन्ययोगं विकृतम्=अनन्यकृतो यस्य विकारः=आत्मकारितः—इत्यर्थः। प्लुतादि च=प्लुतादीनि

टि० (क) त्वा ह त्यदिन्द्राणंसातौ स्वर्मीळ्हे नर आजा हवन्ते ॥
यह त्रिष्टुप् छन्द का प्रथम अर्धर्च है। इसके प्रथम पाद का अवसान 'अर्णसातौ' पर ही हो जाता है क्योंकि यहाँ पाद की अपेक्षित 'अक्षर'-सख्या पूरी हो जाती है। पादों के अवसान के विषय में यह नियम लागू नहीं होता है कि 'समय' से परवर्ती दो पदों के बाद में ही अवसान होवे। सूत्र में 'क्रमेषु' पद का ग्रहण करके यही सूचित किया गया है कि यह नियम क्रम-पाठ तक ही सीमित है।

(ख) यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि ।
यह पंक्ति छन्द का प्रथम अर्धर्च है। इसके प्रथम पाद का अवसान "यच्चिद्धि" इस 'समय' से परवर्ती दो पदों ('सत्य' और 'सोमपा') के बाद में ही होता है क्योंकि यहीं पर पाद की अपेक्षित 'अक्षर'—सख्या पूरी होती है। क्रम-वर्ग का अवसान भी 'सोमपा.' के बाद में ही होगा।

च पदानि—"योनिमारैक्"[१]—इत्येवमादीनि। तेषां पदानामुत्तरेण सह प्रत्यादानं कृत्वा या पदे प्रकृतिर्दृष्टा तां प्रदर्शयेत्। केन? परिग्रहेण। किं कारणम्? "स्विति सु"[२]; "स्त इति स्तः"[३]—इत्यत्र—"युग्मान्तस्यादन्तमूलीयपूर्वः"[४]—इति परिग्रहस्य द्वितीये वचने षत्वप्रसङ्गः, स मा भूदिति। समास इति—"दुर्हनो इति दुःऽहनो"[५] इत्यत्र—"ऋकाररेफषकारा नकारम्"[६] इति परिग्रहस्य पूर्ववचने णत्वप्रसङ्गः, स मा भूदिति।

उ० भा० अ०—(१) सहेतिकाराणि=(पद-पाठ में) 'इति' शब्द से युक्त (पद); (२) समासम्=(पद-पाठ में) 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् किये जाने वाले (पद); (३) अन्तभाक्=अर्धर्च के अन्त में जो पद आता है उसको; (४) बहुक्रमे मध्यगतानि यानि च=तीन या तीन से अधिक (पदों) के क्रम-वर्गों के मध्य में जो पद होते हैं उनको; (५) तृतीयतां गच्छति यस्य चोष्मवान्='जुगुक्षत' और 'दुदुक्षन्' इत्यादि—इन (पदों) में घकारादि चतुर्थ 'सोष्म'-वर्ण अपने वर्ग का तृतीय गकारादि हो जाता है वह (पद); (६) अनन्ययोगं विकृतम्=जिस (पद) का विकार अन्य (पद) के द्वारा नहीं किया गया है=अपने द्वारा ही किया गया है—यह अर्थ है, (७) प्लुतादि च='दीर्घ' हो गये हैं आदि. (=प्रथम 'अक्षर') जिनके वे ('वरैक्' इत्यादि पद जिन्हें) "योनिमारैक्" इत्यादि (सूत्रों में प्रतिपादित किया गया है)। इन पदों का परवर्ती (पद) के साथ 'प्रत्यादान' करके इनका जो मूल-रूप (प्रकृति) पद-पाठ में दिखलाई पड़ता है उसको दिखलावे। किसके द्वारा? (उत्तर) 'परिग्रह' के द्वारा। (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) "स्विति सु"क; "स्त इति स्त"ख—यहाँ पर "समसंख्यक (युग्म) 'अन्तस्था' अथवा 'दन्तमूलीय' से बाद में विद्यमान (तथा पद के मध्य में स्थित 'नामि'-'स्वर'-वर्णों) से (बाद में स्थित

टि० (क) मो षु ण.॥ सं० पा०॥ मो इति। सु। नः॥ प० पा०
मो षु णः। स्विति सु॥ क्र० पा०
तीन पदों के क्रम-वर्ग (मो षु ण.) के मध्य में स्थित 'षु' पद के पद-रूप को 'परिग्रह' के द्वारा दिखलाया गया है। यदि प्रस्तुत सूत्र में पद-रूप दिखलाने का विधान न किया जाता तो 'परिग्रह' के द्वितीय वचन में 'सु' का सकार षकार हो जाता। किंतु यह उपलब्ध पाठ नहीं है।

(ख) परि ष्ट.॥ सं० पा०॥ परि। स्त इति स्त॥ प० पा०
परि ष्ट.। स्त इति स्तः॥ क्र० पा०
पद-पाठ में 'स्त' पद के साथ 'इति' शब्द लगाया जाता है। इसलिये प्रस्तुत सूत्र से 'स्त.' पद के मूल-रूप को 'परिग्रह' के द्वारा दिखलाया गया है। यह 'सहेतिकाराणि' का उदाहरण है। भाष्यकार ने 'सहेतिकाराणि' प्रतीक देकर उदाहरण को प्रस्तुत नहीं किया है जैसा कि उन्होंने अन्य स्थलों के विषय में किया है।

[१] २।७५ [२] ऋ० क्र० १।३८।६ [३] ऋ० क्र० १।६१।८
[४] ५।२० [५] ऋ० क्र० १०।१५५।३ [६] ५।४०

सकार षकार हो जाता है"—के अनुसार[क] 'परिग्रह' के द्वितीय वचन में 'षत्व' का प्रसङ्ग उपस्थित होता है—वह न होवे (इसलिए पद-रूप दिखलाने के लिए कहा है)। समास (का उदाहरण) "दुर्हनो इति दुःऽहनो"[ख]—यहाँ पर—' ऋकार, रेफ और षकार नकार को"—इस (सूत्र) के अनुसार 'परिग्रह' के पूर्व-वचन मे 'णत्व' का प्रसङ्ग उपस्थित होता है—वह न होवे (इसलिये पद-रूप दिखलाने के लिए कहा है)।

उ० भा०—अन्तभाक्—"महान्हि ष। स इति सः"[१] इत्यत्र—"युष्मान्तस्था"[२] इति पूर्ववत्। बहुक्रमे मध्यगतान्नि—"मो षु णः (स्विति सु)"[३] इत्यत्र पूर्ववत्। तृतीयतां गच्छति यस्य चोष्मवान् -"जुघुक्षत इति जुघुक्षतः"[४]—इत्यत्र परिग्रहस्य संहितावत्पूर्वं-वचनं पदवदुत्तरमिति परिग्रहस्य पूर्वे वचने तृतीयत्वप्रसङ्गः—स मा भूदिति। अनन्त्ययोगं विकृतम्— 'सुसुमेति सुषुम'"[५]—इत्यत्र परिग्रहस्य संहितावत्पूर्ववचनं पदवदुत्तरमिति परिग्रहस्य पूर्ववचने षत्वप्रसङ्गः स मा भूदिति। प्लुतादि— 'योनिमारैक्'"[६]—इत्येवमादिषु। "अरैगित्यरैक्"[७] इत्यत्र पूर्ववचने दीर्घत्वप्रसङ्गः—स मा भूदिति।

उ० भा० अ०—(अर्धर्च के) अन्त में आने वाला (पद) —"महान्हि ष। स इति स."[ग] में "समसंख्यक अन्त स्था" के अनुसार पूर्व को तरह। बहुत (पदो) के क्रम-वर्ग के मध्य में आने वाले (पद)—"मो षु ण (स्विति सु)" पूर्व की तरह।[घ] जिसका 'सोष्म' (-वर्ण) तृतीय हो गया हो—"जुघुक्षत इति जुघुक्षत"[ङ]—में " 'परिग्रह' का पूर्ववचन संहिता-पाठ के समान होता है और उत्तरवचन पद-पाठ के समान होता है"—इससे 'परिग्रह' के पूर्ववचन में तृतीयत्व(=गकार होने) का प्रसङ्ग (उपस्थित होता है) -

टि० (क) भाष्यकार का यह कथन ठीक नहीं है कि "स्विति सु" और "स्त इति स्न" म सकार का 'मूर्धन्यभाव' ५।२० से प्राप्त होना है। पूर्ववर्ती 'नामि'-'स्वर' पद के अन्त में स्थित है। अत इन दोनों स्थलो पर ५।२० की प्रवृत्ति नहीं होती है। यहाँ 'मूर्धन्यभाव' की प्रवृत्ति क्रमश ५।५ और ५।१२ से होती है।

(ख) रभस्व दुर्हणो ॥ स० पा० ॥ रभस्व। दुर्हनो इति दुःऽहनो ॥ प० पा०
रभस्व दुर्हणो। दुर्हनो इति दुःऽहनो ॥ क्र० पा०

(ग) महान्हि ष ॥ स० पा० ॥ महान्। हि। स ॥ प० पा०
महान्हि ष। स इति सः ॥ क्र० पा०
'मूर्धन्यभाव' के लिए टि० (क) देखिए।

(घ) पृ० ६१३ पर टि० (क) देखिये।

(ङ) न जुगुक्षन ॥ स० पा० ॥ न। जुघुक्षन ॥ प० पा०
न जुगुक्षत। जुघुक्षत इति जुघुक्षतः ॥ क्र० पा०
'जुघुक्षत' का घकार ४।१८ से संहिता-पाठ मे गकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' में मूल-रूप (घकार) को दिखलाया गया है।

---

१ ऋ० क्र० ८।१३।१
२ ५।२०
३ ऋ० क्र० ८।३१।७
४ ऋ० क्र० १।१३७।१
५ ऋ० क्र० १।१२४।८
६ ऋ० क्र० १।३८।६
७ २।७५

वह न होवे (इसलिये पद-रूप दिखलाने के लिये कहा है)। अन्य (पद) के सम्बन्ध से विकृत न किया गया (पद)—"सुसुमेति सुसुम"[क]—में "'परिग्रह' का पूर्ववचन संहिता-पाठ के समान होता है और उत्तरवचन पद-पाठ के समान होता है"—इससे 'परिग्रह' के पूर्ववचन में 'षत्व' का प्रसङ्ग (उपस्थित होता है)—वह न होवे (इसलिये पद-रूप दिखलाने के लिये कहा है)। जिस (पद) का आदि (=प्रथम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो गया है—"योनिमारैक्" इत्यादि सूत्रों में (उल्लिखित पद)—"अरैगित्यरैक्"—यहाँ पर पूर्ववचन में दीर्घत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

उ० भा०—अस्यैवापरा योजना। अतीत्य तेषां पदतां प्रदर्शयेत् इति=सहेतिकाराणीत्येवमादीन्यतिक्रम्य परिग्रहेण तेषां पदानां पदतां प्रदर्शयेत्। किं कारणम्? नहि परिग्रहादृते तेषां पदता दृश्यते। सहेतिकारेषूपस्थितान्तप्रदर्शनार्थं च—"इन्द्राग्नी तपन्ति। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी।"[1] प्रगृह्यत्वप्रदर्शनार्थं च। "प्रातः सोमम्। प्रातरिति प्रातः"[2]—रेफप्रदर्शनार्थं च। समासेष्ववग्रहप्रदर्शनार्थं च—"पुरोहित यज्ञस्य। पुरोहितमिति पुरःऽहितम्।"[3] अन्तभागुक्स्वर्यचान्तस्यापनार्थम्—"अर्णाचित्ररथावधीः। अवधीरित्यवधीः।"[4] पदाविप्रदर्शनार्थं च। बहुक्रमे मध्यगतेषु पदवद्भावप्रदर्शनार्थम्—"निरु स्वसारमस्कृतोषसम्। ऊँ इत्यूँ। स्वसारमिति स्वसारम्। अकृतेत्यकृत।"[5]

उ० भा० अ०—इसी की दूसरी योजना है।[ख] अतीत्य तेषां पदतां प्रदर्शयेत्= 'इति' शब्द सहित आदि (पदों) के द्वारा सम्बद्ध क्रम-वर्गों को पूरा करके 'परिग्रह' के द्वारा उन पदों के पद-रूप (मूल-रूप) को दिखलावे। (इसका) क्या कारण है? 'परिग्रह' के बिना उनका पद-रूप दिखलाई नहीं पड़ता है। 'इति' शब्द सहित (पदों) में उपस्थितान्त को दिखलाने के लिए भी ('परिग्रह' किया जाता है)। (उदाहरण) "इन्द्राग्नी तपन्ति। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी।"[ग] प्रगृह्यत्व दिखलाने के लिए भी ('परिग्रह' किया

टि० (क) सुषमा यातम्॥ सं० पा०॥ सुसुम। आ। यातम्॥ प० पा०
सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम॥ क्र० पा०
'सुसुम' का द्वितीय सकार ५।२० से संहिता-पाठ में षकार हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' में मूल-रूप (सकार) को दिखलाया गया है।

(ख) पहली योजना के अनुसार प्रतिपाद्य विषय यह है—"पद-पाठ में इन पदों का जो मूल-रूप है उसको दिखलाना चाहिये।" "किसके द्वारा मूल-रूप को दिखलावे?" इस प्रश्न के उत्तर के रूप में 'परिग्रह' की उपस्थिति होती है। दूसरी योजना के अनुसार 'परिग्रह' ही प्रतिपाद्य विषय है क्योंकि 'परिग्रह' के बिना इन पदों का मूल-रूप नहीं दिखलाया जा सकता है। इसी योजना के अनुसार प्रस्तुत सूत्र १०।७-९ से सम्बद्ध है।

(ग) इन्द्राग्नी तपन्ति॥ सं० पा०॥ इन्द्राग्नी इति। तपन्ति॥ प० पा०
इन्द्राग्नी तपन्ति। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी॥ क्र० पा०

---

[1] ऋ० क्र० ६।५९।८ [2] ऋ० क्र० ७।४१।१ [3] ऋ० क्र० १।१।१
[4] ऋ० क्र० ४।३०।१८ [5] ऋ० क्र० १०।१२७।३

जाता है)। 'प्रात सोमम्। प्रातरिति प्रात"क—यहाँ पर रेफ-प्रदर्शन के लिए भी[ख] ('परिग्रह' किया जाता है)। समासो में 'अवग्रह' दिखलाने के लिए भी ('परिग्रह' किया जाता है)। (जैसे) "पुरोहित यज्ञस्य। पुरोहितमिति पुर:ऽहितम्"[ग]। (अर्धर्च के) अन्त में विद्यमान (पद) का ('परिग्रह') ऋचाओ में अर्धर्च के अन्त को बतलाने के लिए भी (किया जाता है)। (जैसे) "अर्णाचित्ररथावधी। अवधीरित्यवधी"।"[घ] पद के आदि को दिखलाने के लिए भी[ङ] ('परिग्रह' किया जाता है)। बहुत (पदों) के क्रम' मे मध्य में स्थित (पदो) में पदवद्भाव को दिखलाने के लिए भी ('परिग्रह' किया जाता है)। (उदाहरण) "निरु स्वसारमस्कृतोऽमम्। ऊँ इत्यूँ। स्वसारमिति स्वसारम्। अकृतेत्यकृत।"[च]

टि० (क) प्रात सोमम् ॥ स० पा० ॥ प्रातरिति। सोमम् ॥ प० पा०
प्रात सोमम्। प्रातरिति प्रातः ॥ क्र० पा०

(ख) इस प्रकार 'इति' शब्द सहित पदो का 'परिग्रह' करने के ये प्रयोजन हैं—(१) 'पत्व' का निवारण जैसे "स्त इति स्त" में, (२) उपस्थितान्त ('इति' सहित पद के अन्तिम वर्ण) को दिखलाना जैसे "इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी" में, (३) प्रगृह्यत्व को दिखलाना जैसे "इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी" में और (४) रिफित विसर्जनीय के रेफ मूलत्व को दिखलाना जैसे "प्रातरिति प्रात।" में।

(ग) पुरोहित यज्ञस्य ॥ स० पा० ॥ पुरऽहितम्। यज्ञस्य ॥ प० पा०
पुरोहितम् यज्ञस्य। पुरोहितमिति पुर:ऽहितम् ॥ क्र० पा०

समासो का 'परिग्रह' करने के ये दो प्रयोजन बतलाये गये है—(१) 'णत्व' का निवारण जैसे—"दुर्हनो इति दुऽहनो" में और (२) 'अवग्रह' दिखलाना जैसे—"पुरोहितमिति पुरऽहितम्।" में।

(घ) अर्णाचित्ररथावधी ॥ स० पा० ॥ अर्णाचित्ररथा। अवधी ॥ प० पा०
अर्णाचित्ररथावधी। अवधीरित्यवधीः ॥ क्र० पा०

(ङ) अर्धर्च के अन्तिम पद का 'परिग्रह' करने के ये प्रयोजन बतलाये गये है (१) 'मूर्धन्य-भाव' का निवारण जैसे "स इति स" में (२) ऋचाओ के अर्धर्चों के अन्त को बतलाना और (३) पदादि को दिखलाना। अर्धर्च के अन्तिम पद का 'प्रत्यादान' नही किया जाता है। अत 'परिग्रह' न किया जाता तो अनेक स्थलो पर अर्धर्च के अन्तिम पद के प्रथम वर्ण का ज्ञान करना कठिन हो जाता।

(च) निरु स्वसारमस्कृतोपसम् ॥ स० पा०
नि। ऊँ इति। स्वसारम्। अकृत। उपसम् ॥ प० पा०
निरु स्वसारमस्कृतोपसम्। ऊँ इत्यूँ। स्वसारमिति स्वसारम्।
अकृतेत्यकृत ॥ क्र० पा०

बहुत पदो के क्रम-वर्ग के मध्य में स्थित पदो का 'परिग्रह' करने के ये दो प्रयोजन बतलाये गये है—(१) 'पत्व' का निवारण जैसे—"स इति स" में और (२) यह सूचित करना कि क्रम-वर्ग के मध्य में स्थित ये पद भी अन्य पदो के समान ही है भले ही ये क्रम-वर्ग के अन्त और आदि में नही आते है।

उ० भा०—तृतीयतां गच्छति यस्य चोष्मवान् इति पृथग्ग्रहणमनर्थकम्। अनन्ययोगं विकृतम् इत्येव सिद्धत्वात्। नानर्थकम्। परिग्रहस्योभयोरपि वचनयो पदत्वप्रदर्शनार्थम्। "दक्षुषः कृष्णजंहसः। घक्षुष इति घक्षुषः।"[1] किमुच्यत उभयोरपि वचनयोः पदत्वप्रदर्शनार्थं पृथग्ग्रहणमिति? अन्येष्वप्यनन्ययोगविकृतेषूभयोरपि वचनयोः प्रदर्श्यते। सत्यम्। "नकारलोपोष्मरभावमानयेत्"[2] इत्येवमादिवचनात्। यत्र यत्र तु वचनं नास्ति तत्र तत्र परिग्रहस्य पूर्ववचने विकारो भवत्येव। यथा—रजेषितमिति रजःऽइषितम्।[3] अनन्ययोगविकृतेषु पदत्वप्रदर्शनार्थमेव। सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम॥"[4] प्लुतादिषु पदत्वप्रदर्शनार्थमेव। 'आरैक्पन्त्याम्। अरैगित्यरैक्॥"[5]

उ० भा० अ०—(पू०) जिस (पद) का 'सोष्म' (-वर्ण) तृतीय हो जाता है"—इसका (सूत्र में) पृथक् ग्रहण अनर्थक है क्योकि यह तो "किसी अन्य के द्वारा जिस (पद) में विकार नही हुआ है"—इससे ही सिद्ध है। (सि०) अनर्थक नही है। 'परिग्रह' के दोनो ही वचनो में पदत्व (पद-रूप) के प्रदर्शन के लिये (पृथक् ग्रहण किया गया है)। जैसे "दक्षुष कृष्णजहस। घक्षुष इति घक्षुष।"[क] (पू०) क्या कह रहे हो कि दोनो ही वचनो में पदत्व (पद-रूप) के प्रदर्शन के लिये पृथक् ग्रहण किया गया है। जहाँ पर अन्य (पद) के सम्बन्ध से विकार नही हुआ है ऐसे अन्य भी स्थलों पर दोनो ही वचनों में पदत्व (पद-रूप) दिखलाया जाता है। (सि०) यह तो सच है—"नकार के लोपभाव, ऊष्मभाव और रेफभाव को 'परिग्रह' में इसके आनुनासिक्य-विहीन मूल-रूप में दिखलावे"—इत्यादि वचन (नियम) से (वहाँ) दोनो वचनो में पदत्व (पद-रूप) दिखलाया जाता है। किंतु जहाँ-जहाँ वचन (नियम) नही है वहाँ-वहाँ 'परिग्रह' के पूर्व-वचन में विकार होता ही है। जैसे—"रजेषितमिति रजऽइषितम्।"[ख] जिन (पदों) में अन्य (पदो) से विकार नही हुआ है उनमें पदत्व (पद-रूप) के प्रदर्शन के लिये ही ('परिग्रह' किया जाता है—"सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम।"[ग] जिन पदो का आदि (=प्रथम 'अक्षर') 'दीर्घ' हो गया है उनमें पदत्व (पद-रूप) के प्रदर्शन के लिए ही ('परिग्रह' किया जाता है)—"आरैक्पन्त्याम्। अरैगित्यरैक्।"[घ]

टि० (क) दक्षुषः कृष्णजहस ॥ स० पा० ॥ घक्षुष.। कृष्णऽजहस. ॥ प० पा०
दक्षुष. कृष्णजहस। घक्षुष इति घक्षुषः॥ क्र० पा०

(ख) अश्वेषित रजेषितम् ॥ स० पा० ॥ अश्वऽइषितम्। रजऽइषितम् ॥ प० पा०
अश्वेषित रजेषितम्। रजेषितमिति रजःऽइषितम्॥ क्र० पा०

(ग) सुषुमा यातम् ॥ स० पा० ॥ सुसुम। आ। यातम् ॥ प० पा०
सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम॥ क्र० पा०

(घ) आरैक्पन्त्याम् ॥ स० पा० ॥ अरैक्। पन्त्याम् ॥ प० पा०
आरैक्पन्त्याम्। अरैगित्यरैक्॥ क्र० पा०

---

[1] ऋ० क्र० १।१४१।७ [2] ११।३६ [3] ऋ० क्र० ८।४६।२८
[4] ऋ० क्र० १।१३७।१ [5] ऋ० क्र० १।११३।१६

कृते तु गार्ग्यस्य पुनस्त्र्यभिक्रमे ॥२६॥

सू० अ०—किंतु गार्ग्य के पक्ष (तीन पदों के क्रम-वर्ग के विषय) में तीन पदों के क्रम-वर्ग के दोबारा कर लेने पर ही (पदों के मूल-रूप को दिखलाना चाहिये)।

उ० भा०—गार्ग्यस्य आचार्यस्य पक्षे—"त्रिभिश्च गार्ग्यः पुनरेव च त्रिभिः"[१] इति पुनस्त्र्यभिक्रमे कृते एव पदतां प्रदर्शयेत्। "उदू षु। ऊ षु णः। ऊँ इत्यूँ। स्विति सु॥"[२]

उ० भा० अ०—"गार्ग्य तीन (पदों) से (एक क्रम-वर्ग को बनाते हैं) और फिर तीन (पदों) से (दूसरा क्रम-वर्ग बनाते हैं)"—गार्ग्यस्य= गार्ग्य आचार्य के इस पक्ष में, पुनस्त्र्यभिक्रमे कृते=तीन (पदों) के दूसरे क्रम-वर्ग के कर लेने पर ही, ('परिग्रह' के द्वारा पदों के) मूल-रूप को दिखलाना चाहिये। (उदाहरण) "उदू षु। ऊ षु ण। ऊँ इत्यूँ। स्विति सु।"[क]

अदृष्टवर्णे प्रथमे प्रदर्शनं
स्मरन्ति तत्त्वत्र निराह चोदकः ॥२७॥

सू० अ०—(अर्धर्च के) प्रथम (द्विपद) में यदि (प्रथम पद का अन्तिम) वर्ण अदृष्ट हो तो (आचार्य) इसका प्रदर्शन करना अभीष्ट मानते हैं। 'परिग्रह' ('चोदक') इसका प्रदर्शन करता है।

उ० भा०—प्रथमे द्विपदे; (अदृष्टवर्णे=) पूर्वपदस्यान्त्यवर्णेऽदृष्टे, तस्य प्रदर्शनम् आचार्याः; स्मरन्ति=इच्छन्ति। तत्तु प्रदर्शनम्, निराहेति=प्रवदति; चोदकः=परिग्रहः। किं कारणम्? पदान्तसंशयनिवृत्त्यर्थम्। तान्त्वाम्"[३]—इत्यत्रार्धर्चाद्ये द्विपदे न ज्ञायते नकारान्तं वा पदं मकारान्तं वा। तस्मात्परिगृह्णाति—तामिति ताम्॥[४]

उ० भा० अ०—प्रथमे (अर्धर्च के) प्रथम द्विपद में; (अदृष्टवर्णे=) प्रथम पद का अन्तिम वर्ण दिखलाई न देता हो तो; उसका; प्रदर्शनम्=प्रदर्शन (दिखलाना), आचार्य लोग; स्मरन्ति=अभीष्ट मानते हैं। चोदकः='परिग्रह'; इस प्रदर्शन को, निराह= निष्पन्न करता है।[ख] (इसका) क्या कारण है? (उत्तर) पदान्त के संशय की निवृत्ति के लिये। (जैसे)"तान्त्वाम्"—इस अर्धर्च के प्रथम द्विपद में ज्ञात नहीं होता है कि (प्रथमपद) नकारान्त है अथवा मकारान्त है। इसलिये 'परिग्रह' करते हैं—(जैसे) 'तामिति ताम्।'[ग]

टि० (क) उदू षु ण ॥ सं० पा० ॥ उत्। ऊँ इति। सु। नः ॥ प० पा०
उदू षु। ऊ षु ण.। ऊँ इत्यूँ। स्विति सु ॥ क्र० पा०

(ख) अर्थात् अर्धर्च के प्रथम द्विपद के प्रथम पद का अन्तिम वर्ण दिखलाई न देता हो तो प्रथम पद का 'परिग्रह' करके उसको दिखलाया जाता है।

(ग) तान्त्वाम् ॥ सं० पा० ॥ ताम्। त्वाम् ॥ प० पा०
तान्त्वाम्। तामिति ताम् ॥ क्र० पा०

---

[१] ११।१७
[२] ऋ० १।४९।४
[३] ऋ० क्र० ८।७०।९
[४] ऋ० क्र० १।४९।४

(स्थितसंज्ञा)

पदं यदा केवलमाह सा स्थितिः ॥२८॥

(स्थित-संज्ञा)

सू० अ०—जब (वक्ता) केवल (='इति' शब्द-रहित) पद का उच्चारण करता है तब वह (पद) 'स्थिति' ('स्थित') कहलाता है।

उ० भा०—पदम्; केवलम्=अनितिकरणम्; यदाह वक्ता सा स्थितिः इति वेदितव्या। संज्ञाकरणं स्थित्यभिक्रमार्थम्। "तन्न।"[१] तत्। "तान्नः।"[२] ताम्॥

उ० भा० अ०—यदा=जब; वक्ता, केवलम्='इति' शब्द से रहित, पदमाह=पद का उच्चारण करता है; सा=उसे, स्थिति='स्थिति'-संज्ञक जानना चाहिये। 'स्थिति' के अभिक्रम के लिये संज्ञा की है। (उदाहरण) "तन्न.।" तत्। "तान्नः।" ताम्।

(उपस्थितसंज्ञा)

यदेतिकारान्तमुपस्थितं तदा ॥२९॥

(उपस्थित-संज्ञा)

सू० अ०—जब (वक्ता) इतिकरणान्त (पद) (का उच्चारण करे) तब (वह पद) 'उपस्थित' (कहलाता है)।

उ० भा०—(इतिकारान्तम्=) इतिकरणान्तम्, यत् पदमाह वक्ता (तदा) तत्पदम् (उपस्थितम्=) उपस्थितसंज्ञम्, वेदितव्यम्। संज्ञाकरणमुपस्थितेनाभिक्रमार्थम्। "इन्द्राग्नी इति॥"[३]

उ० भा० अ०—वक्ता, (इतिकारान्तम्=) 'इति' शब्द में अन्त होने वाले, यत्= जिस, पद का उच्चारण करता है (तदा=तब) उस पद को, (उपस्थितम्=) 'उपस्थित'-संज्ञक, जानना चाहिये। 'उपस्थित' के अभिक्रम के लिये संज्ञा की है। (उदाहरण) "इन्द्राग्नी इति।"

(स्थितोपस्थितसंज्ञा)

अथो विपर्यस्य समस्य चाह ते
यदा स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत ॥३०॥

(स्थितोपस्थित-संज्ञा)

सू० अ०—किन्तु इसके अतिरिक्त जब (वक्ता) उन दोनों का विपर्यय करके उनका साथ-साथ उच्चारण करता है तो वह 'स्थितोपस्थित' बन जाता है।

[१] ऋ० १।१०७।३ [२] ऋ० १०।१५६।२ [३] ऋ० प० ६।५९।८

उ० भा० — अथो; ते = पदे स्थित्युपस्थिते; विपर्यस्य = उपस्थितं तत्पूर्वं कृत्वा स्थितं पश्चात्; समस्य च यदाह वक्ता तत्पदम्, (स्थितोपस्थितम्) स्थितोपस्थितसंज्ञम्; वेदितव्यम्। संज्ञाकरणं स्थितोपस्थितेनाभिक्रमणार्थम्। "विभावसो इति विभाऽवसो।"[१] "तान्नः। तामिति ताम्।"[२] आचरन्त्युत = एवं स्थित्युपस्थितस्थितोपस्थितानामन्यतमेन पदप्रदर्शनमाचरन्ति ॥

उ० भा० अ० — अथो = किन्तु, यदा = जब, वक्ता, ते = उन दो = 'स्थिति' और 'उपस्थित' पदो का (को), विपर्यस्य = विपर्यय करके = 'उपस्थित' को पूर्व में करके और 'स्थिति' को बाद में करके; समस्य च आह = साथ-साथ में उच्चारण करता है, उस पद को; (स्थितोपस्थितम् =) स्थितोपस्थित'-सज्ञक, जानना चाहिए। 'स्थितोपस्थित' के अभिक्रम के लिए संज्ञा की है। (उदाहरण) "विभावसो इति विभाऽवसो।" "तान्न। तामिति ताम्।" आचरन्त्युत = इस प्रकार 'स्थिति', 'उपस्थित' और 'स्थितोपस्थित' में से किसी एक के द्वारा पद का प्रदर्शन करते हैं (जैसे — तत् ॥ इन्द्राग्नी इति ॥ तामिति ताम् ॥)।

(परिग्रहविषयेऽन्ये नियमाः)

पुनर्ब्रुवँस्तत्र समासमिङ्गयेत् ॥३१॥

(परिग्रह के विषय में अन्य नियम)

सू० अ० — वहाँ (= 'स्थितोपस्थित' की स्थिति में) दोबारा उच्चारण करते हुए (वक्ता) समास को 'अवग्रह' के द्वारा पृथक करे।

उ० भा० — तत्र = स्थितोपस्थिते क्रियमाणे, पुनर्ब्रुवन् वक्ता समासम्; (इङ्गयेत् =) अवगृह्णीयात्। "पुरोहितमिति पुरःऽहितम्।"[३] "अतीत्य तेषां पदता प्रदर्शयेत्"[४] — इत्येवं सिद्ध इदं वचनं परिग्रहस्य पूर्वे वचनेऽवग्रहप्रतिषेधार्थम् ॥

उ० भा० अ० — तत्र = वहाँ = 'स्थितोपस्थित' करने पर, वक्ता, पुनर्ब्रुवन् = दोबारा उच्चारण करता हुआ, समासम् (इङ्गयेत् =) समास को 'अवग्रह' के द्वारा पृथक् करे (अर्थात् 'परिग्रह' के द्वितीय वचन में ही समास को 'अवग्रह' से पृथक् करे)। (उदाहरण) "पुरोहितमिति पुरऽहितम्।" "(क्रम-वर्गों को) पूरा करके उनका पद-रूप दिखलावे" — से ही ('अवग्रह' के द्वारा समास का पृथक् होना) सिद्ध होने पर यह वचन (नियम) 'परिग्रह' के पूर्ववचन में 'अवग्रह' का प्रतिषेध करने के लिये है।

स्वरित्यतोऽन्येषु च संधिमाचरेत्।
अवग्रहस्येव हि कालधारणा
परिग्रहेऽस्तीत्युपधेत्यनुस्मृता ॥३२॥

सू० अ० — ('स्थितोपस्थित' में) 'स्वः' को छोड़कर अन्य पदों में संधि (मेल) करना चाहिये; क्योंकि 'स्वः' के विषय मे यह माना गया है कि 'परिग्रह' में 'इति' के बाद में 'अवग्रह' के समान काल-धारणा (pause) है।

---

१ ऋ० क० १।४४।१०   २ ऋ० क० १०।१५६।२
३ ऋ० क० १।१।१   ४ ११।२५

उ० भा०—तस्मिन्नेव च स्थितोपस्थिते, (स्वरित्यतोऽन्येषु=) स्वरित्येतत्पद वर्जयित्वान्येषु, पदेष्वितिकरणात्परेषु सत्स्वितिना तेषां यथोक्तं संधिम्; (आचरेत्=) कुर्यात्। "और्वभृगुवदित्यौर्वभृगुऽवत्।"[१] "इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी।"[२] स्वरित्यतोऽन्येषु इति कस्मात्? स्वरित्येतस्य हि पदस्य अवग्रहस्येव हि मात्राकाल कालधारणा परिग्रहे; इत्युपधास्तीति=इतिपूर्वा शाकलैः अनुस्मृता। आचार्यग्रहणं पूजार्थम्। "स्व꣡ रिति स्वः।"[३] क्रमशास्त्र एव हेतुरुक्तः—"इतिपूर्वेषु सन्धानं पूर्वे"[४] इति॥

उ० भा० अ०—उसी 'स्थितोपस्थित' में; (स्वरित्यतोऽन्येषु=) 'स्व' इस पद को छोडकर अन्य, पद 'इति' शब्द से बाद में हों तो 'इति' के साथ उन (पदों) की नियम से प्राप्त; संधिम्=संधि (मेल) को; (आचरेत्=) करे। (उदाहरण) "और्वभृगुवदित्यौर्वभृगुऽवत्।"[क] "इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी।"[ख] 'स्व' इस पद से अन्य बाद में हों तो"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) परिग्रहे='परिग्रह' में, इत्युपधा='इति' के बाद में; 'स्व'-इस पद की, अवग्रहस्येव हि कालधारणा='अवग्रह' की तरह काल का अवरोध; अस्ति=होता है; इत्यनुस्मृता=शाकल के अनुयायियों ने यह माना है।[ग] 'आचार्य' का ग्रहण सम्मान प्रकट करने के लिए किया गया है। (उदाहरण) "स्व꣡ रिति स्वः।"[घ] क्रम-शास्त्र में ही हेतु कहा जा चुका है—"प्राचीन (आचार्यों) ने 'इति' से बाद वाले (पदों) में संधि (को अभीष्ट माना है)।"

अभिक्रमेतोभयतोऽनुसंहितं
ततोऽस्य पश्चात्पदतां प्रदर्शयेत्।
यथापदं वान्यतरेण संदधत्
त्रिषूत्तमेष्वेतदलोपसंभवात्॥२३॥

सू० अ०—अथवा (१) दोनों ओर संहिता-पाठ के अनुसार क्रम-वर्ग बनावे; तदनन्तर इस (विकृत पद) के पद-रूप को दिखलावे। अथवा (२) दोनों (पूर्ववर्ती और परवर्ती) में से किसी एक (पद) के साथ पद-पाठ के अनुसार

टि० (क) और्वभृगुवच्छुचिम्॥ स० पा०॥ और्वभृगुऽवत्। शुचिम्॥ प० पा०
और्वभृगुवच्छुचिम्। और्वभृगुवदित्यौर्वभृगुऽवत्॥ क्र० पा०
(ख) इन्द्राग्नी तपन्ति॥ स० पा०॥ इन्द्राग्नी इति। तपन्ति॥ प० पा०
इन्द्राग्नी तपन्ति। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी॥ क्र० पा०
(ग) अर्थात् 'परिग्रह' में 'इति' के बाद में विद्यमान पद की 'इति' के साथ संधि (मेल) हो जाती है किंतु 'इति' के बाद में विद्यमान भी 'स्व.' पद की 'इति' के साथ संधि नहीं होती है। 'इति' और 'स्व' के मध्य में एक मात्राकाल का व्यवधान होता है।
(घ) पृ० ५८० पर टि० (क) देखिए।

---

[१] ऋ० क्र० ८।१०२।४ [२] ऋ० क्र० ६।५९।८
[३] ऋ० प० १।५२।१२ [४] १०।१७

(विकृत पद को) मिलाता हुआ (क्रम-वर्गों को बनावे)। (इस प्रकार क्रम-वर्ग बनाने से) ('संहिता' का) अलोप संभव होने से यह अन्तिम तीन स्थलों पर (लागू होता है)।

उ० भा०—(अलोपसंभवात्=) अलोपसंभवदर्शनात्, अथवा; (अभिक्रमेत=) अभिक्रमं कुर्यात्; उभयतः=पूर्वेण च परेण च; अनुसंहितम्। ततः पश्चादस्य पदस्य पदतां प्रदर्शयेत्। क्व ? त्रिषूत्तमेषु निमित्तसंशयेषु। निमित्तहेतोरेवमप्यलोपः संभवति। "वीरास एतन। एतन मर्यासः। इतनेतीतन।"[1] "चित्कम्भनेन। कम्भनेन स्कभीयान्। स्कम्भनेनेति स्कम्भनेन।"[2] "योनिमारैक्। आरैगप। अरैगित्यरैक्।"[3]

यथापदं वान्यतरेण पदेन पूर्वेण परेण वा सह संदधत् क्रमं ब्रूयात्। "वीरास एतन। इतन मर्यासः। वीरास इतन। एतन मर्यासः।"[4] "चित्कम्भनेन। स्कम्भनेन स्कभीयान्। चित्स्कम्भनेन। कम्भनेन स्कभीयान्।"[5] "योनिमारैक्। अरैगप।" योनिमरैक्। आरैगप।"[6] एवमप्यलोपः संभवति।

द्वाविमौ पक्षौ। उभयतोऽनुसंहितम् इति च यथापदं वान्यतरेण इति च। एतयोः कोऽभिप्रायः ? अज्ञायमाने विकारनिमित्तेऽन्यतरयोगे विकारो भवतीति पूर्वस्याभिप्रायः। अन्यतरवचनादन्यतरं निमित्तं भवितुमर्हतीति परस्य। एवमेके वर्णयन्ति॥

उ० भा० अ०—अथवा, (अलोपसम्भवात्=) अलोप सम्भव दिखलाई पड़ता है इसलिये, उभयतः=दोनो के साथ=पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद के साथ, अनुसंहितम्= संहिता-पाठ के अनुसार, (अभिक्रमेत=) (विकृत-पद के) क्रम-वर्गों को बनावे। ततः पश्चात्=इसके बाद; अस्य=इस (विकृत-)पद के, पदताम्=पद-रूप (मूल-रूप) को, प्रदर्शयेत्=दिखलावे। कहाँ ? (उत्तर) त्रिषूत्तमेषु=अन्तिम तीन में, जहाँ (विकार के) निमित्त के विषय में संशय है। इस प्रकार भी निमित्त रूप हेतु का अलोप सम्भव है। (उदाहरण) "वीरास एतन। एतन मर्यास। इतनेतीतन।" चित्कम्भनेन। कम्भनेन स्कभीयान्। स्कम्भनेनेति स्कम्भनेन।" "योनिमारैक्। आरैगप। अरैगित्यरैक्।

अथवा, अन्यतरेण=दोनो में से किसी एक पद के साथ=पूर्ववर्ती (पद) के साथ अथवा परवर्ती पद के साथ, यथापदम्=पद-पाठ के अनुसार, संदधत्=(विकृत पद को) मिलाता हुआ, क्रम-वर्गों का उच्चारण करे। (उदाहरण) "वीरास एतन। इतन मर्यास।" "वीरास इतन। एतन मर्यास।"[क] 'चित्कम्भनेन। स्कम्भनेन

टि० (क) वीरास एतन॥ सं० पा०॥ वीराम। इतन॥ प० पा०
प्रथम आचार्य—वीरास एतन। एतन मर्यास। इतनेतीतन॥ क्र० पा०
द्वितीय आचार्य (1)—वीरास एतन। इतन मर्यास॥ क्र० पा०
अथवा (11)—वीरास इतन। एतन मर्यासः॥ क्र० पा०

---

[1] ऋ० क्र० ५।६१।४ [2] ऋ० क्र० १०।१११।५ [3] ऋ० क्र० १।१२४।८
[4] ऋ० क्र० ५।६१।४ [5] ऋ० क्र० १०।१११।५ [6] ऋ० क्र० १।१२४।८

स्कभीयान् ।" "चित्स्कम्भनेन । कम्भनेन स्कभीयान् ।"[क] "योनिमारैक् । अरैगप ।" "योनिमरैक् । आरैगप ।"[ख] इस प्रकार भी अलोप संभव है।

ये दो पक्ष हैं—दोनों ओर संहिता-पाठ के अनुसार अथवा दो में से एक ओर पद-पाठ के अनुसार। इन दोनों का क्या अभिप्राय है ? पूर्ववर्ती (पक्ष) का अभिप्राय यह है कि जब विकार का निमित्त ज्ञात नहीं होता है तब दोनों में से किसी एक के योग में विकार होता है। दूसरे (पक्ष) का अभिप्राय यह है कि दोनो में से एक का कथन कर देने से वही एक निमित्त हो सकता है। इस प्रकार कुछ लोग वर्णन करते हैं।

उ० भा०—अपरे पुनर्निवृत्तत्वान्निमित्तसंशयाधिकारस्य त्रिषूत्तमेष्विति प्रकृतानामेव—"सहेतिकाराणि"[1] इत्येतेषां त्रिषूत्तमेषु—"तृतीयतां गच्छति यस्य चोष्मवान्"[2] इत्येवमादिषु वर्णयन्ति। "पत्मन्दक्षुष । दक्षुष कृष्णजंहसः । धक्षुष इति धक्षुषः।"[3] "वरुणो मामहन्ताम् । मामहन्तामदितिः । ममहन्तामिति ममहन्ताम् ।"[4] योनिमारैक्। आरैगप। अरैगित्यरैक् ।"[5] पूर्वोत्तरयोः—"अतीत्य तेषां पदतां प्रदर्शयेत्"[6] इत्येव सिद्धत्वादिह ग्रहणमनर्थकम् । नानर्थकम् । "यथापदं वान्यतरेण संदधत्" इत्यपूर्वार्थविधिः। तत्रोक्तोप्यर्थः पुनः कीर्त्यते । "पत्मन्दक्षुषः । धक्षुषः कृष्णजंहसः ।"[7] "वरुणो मामहन्ताम् । ममहन्तामदितिः ।"[8] "योनिमारैक् । अरैगप ।"[9] यदवशिष्टं तत्पूर्ववद् द्रष्टव्यम् ॥

उ० भा० अ०—किंतु दूसरे लोग निमित्त-विषयक-संशय के अधिकार के निवृत्त हो जाने से "अन्तिम तीन में"—यहाँ पर प्रकृत ही "इतिकरण सहित"—इनमें से अन्तिम तीन—"जिस (पद) का 'सोष्म' (-वर्ण) तृतीय हो जाता है" इत्यादि में (इस सूत्र का) वर्णन करते हैं—'पत्मन्दक्षुष. । दक्षुष. कृष्णजहसः । धक्षुष इति धक्षुषः।" "वरुणो माम-हन्ताम् । मामहन्तामदिति. । ममहन्तामिति ममहन्ताम् ।" "योनिमारैक् । आरैगप । अरैगित्यरैक् ।" (पू०) पूर्ववर्ती और परवर्ती (वचन) में—"('क्रम' वर्गों को) पूरा करके उन (पदो) का पद-रूप दिखलावे"—इससे ही (पद-रूप) सिद्ध होने पर यहाँ ग्रहण अनर्थक है। (सि०) अनर्थक नहीं है। "एक के साथ पद-पाठ के अनुसार मिलाता

टि० (क) चित्कम्भनेन स्कभीयान् ॥ स० पा० ॥ चित् । स्कम्भनेन । स्कभीयान् ॥ प०पा०
प्रथम आचार्य-चित्कम्भनेन । कम्भनेन स्कभीयान् । स्कम्भनेनेति स्कम्भनेन ॥ क्र०पा०
द्वितीय आचार्य (i)–चित्कम्भनेन । स्कम्भनेन स्कभीयान् ॥ क्र० पा०
अथवा (ii)—चित्स्कम्भनेन । कम्भनेन स्कभीयान् ॥ क्र० पा०
(ख) योनिमारैक् ॥ स० पा० ॥ योनिम् । अरैक् ॥ प० पा०
प्रथम आचार्य—योनिमारैक् । आरैगप । अरैगित्यरैक् ॥ क्र० पा०
द्वितीय आचार्य (i)–योनिमारैक् । अरैगप ॥ क्र० पा०
अथवा (ii)—योनिमरैक् । आरैगप ॥ क्र० पा०

[1] ११।२५ [2] ११।२५ [3] ऋ० क्र० १।१४१।७
[4] ऋ० क्र० १।९४।१६ [5] ऋ० क्र० १।१२४।८ [6] ११।२५
[7] ऋ० क्र० १।१४१।७ [8] ऋ० क्र० १।९४।१६ [9] ऋ० क्र० १।१२४।८

हुआ"—यह अपूर्व विषय का विधान है। (इसलिये) वहाँ (११।२५ में) कहा गया विषय भी पुनः कहा गया है।[क] (उदाहरण) "परमन्दक्षुप । चक्षुप कृष्णजहम ।"[ख] "वरुणो मामहन्ताम् । ममहन्तामदिति ।"[ग] "योनिमारैक् । अरैगप ।"[घ] जो अवशिष्ट है उसे पूर्व की तरह समझना चाहिये।[ङ]

(परिग्रहविषयेऽपवादः)

अरक्तसंध्येत्यपवाद्यते पदं
पुनस्तदुक्त्वाध्यवसाय पूर्ववत् ॥३४॥

(परिग्रह के विषय में अपवाद)

सू० अ०—आनुनासिक्य से न मिला हुआ (अर्थात् अननुनासिक) 'आ' यह पद ('परिग्रह' से) मुक्त कर दिया जाता है। उस ('आ') को दोबारा कहकर और पहले की तरह (परवर्ती पद से) समाप्त करके (क्रम-वर्ग को बनावे)।

उ० भा०—अरक्तसंधि आ इत्येतत्पदमपवाद्यते। कस्मात्? परिग्रहात्। कस्य हेतोः? "बहुक्रमे मध्यगतानि यानि च"[१] इति परिग्रहोऽस्य मा भूदिति। कथं तर्हि वक्तव्यम्? पुनस्तत् पदम् उक्त्वा। कतरत्? आ इत्येतत्। पूर्ववत् परेण पदेन; (अध्यवसाय=) अध्यवसानं कृत्वा; क्रमेत। "चन्द्रमा वरेण्यम्। आ वरेण्यम्।"[२] अरक्तसंधि इति कस्मात्? "अत्र आँ अपः। एत्या।"[३]

उ० भा० अ०—अरक्तसंधि आ इति पदम्=आनुनासिक्य से न मिला हुआ 'आ' यह पद; अपवाद्यते=हटा दिया जाता है। किससे (हटा दिया जाता है)? (उत्तर)

टि० (क) पू०—इस सूत्र के पूर्वार्ध में विहित तथ्य का विधान तो ११।२५ में ही कर दिया गया था। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर यहाँ पुनर्विधान व्यर्थ है। सि०—इस सूत्र के उत्तरार्ध में नितान्त नवीन तथ्य का विधान किया गया है। इसके साथ-साथ ११।२५ में विहित तथ्य का भी अनुवाद कर दिया गया है।

(ख) परमन्दक्षुप. कृष्णजहस ॥ सं० पा० ॥ परमन् । चक्षुप. । कृष्णऽजहसः ॥ प० पा० प्रथम आचार्य—परमन्दक्षुप । दक्षुप. कृष्णजहस. । चक्षुप इति चक्षुप. ॥ क्र० पा० द्वितीय आचार्य—परमन्दक्षुप । चक्षुप. कृष्णजहस ॥ क्र० पा०

(ग) वरुणो मामहन्तामदिति ॥ सं० पा० ॥ वरुण । ममहन्ताम् । अदिति ॥ प० पा० प्रथम आचार्य—वरुणो मामहन्ताम् । मामहन्तामदिति । ममहन्तामिति ममहन्ताम् ॥ क्र० पा०

द्वितीय आचार्य—वरुणो मामहन्ताम् । ममहन्तामदिति ॥ क्र० पा०

(घ) पृष्ठ ६२३ पर टि० (ख) को देखिए।

(ङ) अर्थात् अवशिष्ट क्रम-वर्ग क्रम से इस प्रकार होंगे—
"परमन्दक्षुप. । दक्षुप. कृष्णजहस ।" 'वरुणो ममहन्ताम् । मामहन्तामदिति ।' "योनिमरैक् । आरैगप ।"

१ ११।२५ २ ऋ० क्र० ९।६५।२९ ३ ऋ० क्र० ५।४८।१

'परिग्रह' से (हटा दिया जाता है)। किस कारण से ? (उत्तर) "बहुत (पदों) के क्रम-वर्ग में जो मध्य में स्थित है उनको भी"—इस (सूत्र) से इस ('आ') का 'परिग्रह' न होवे। तब कैसे उच्चारण करना चाहिये ? **पुनस्तदुक्त्वा**=उस पद का पुनः उच्चारण करके। किसका ? (उत्तर) 'आ' इस (पद) का। **पूर्ववत्**=पहले की तरह (अर्थात् जैसे पूर्ववर्ती क्रम-वर्ग मे किया गया है वैसे), परवर्ती पद के साथ; **अध्यवसाय**=(क्रम-वर्ग को) समाप्त करके, क्रम-वर्ग बनाना चाहिये।[क] (उदाहरण) "मन्द्रमा वरेण्यम्। आ वरेण्यम्।"[ख] "आनुनासिक्य से न मिला हुआ"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "अभ्र आँ अप। एत्या।"[ग]

(यदृच्छोपनते बहुक्रमे कश्चित् विशेषः)

तथा यदृच्छोपनते बहुक्रमे
क्रमेत तस्यैकपदानि निःसृजन् ॥२५॥

(यदृच्छा से किये गए बहुक्रम में एक विशेष बात)

सू० अ०—उसी प्रकार बहुत (पदों) के उस क्रम-वर्ग में जो (पूर्ववर्ती) नियम से अविहित है, उस (क्रम-वर्ग) के एक-एक पद को पृथक् करता हुआ क्रम-वर्ग बनाये।

उ० भा०—तथा। कथम् ? यथा आकारस्य पदप्रदर्शनार्थं प्रत्यादानमुक्तं पूर्ववदध्यवसानम्। यदृच्छोपनते बहुक्रमे तस्य बहुक्रमस्य; (एकपदानि=) एकैकं पदम्; निःसृजन्=अपनयन्; वक्ता क्रमेत। कस्य हेतो ? यथा सर्वे पदान्ताः स्वराश्च सार्थदृष्टाः स्युरिति "आ स्वेता नि। स्वेता नि। एता नि। इता नि।"[1] निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन यो बहुक्रमः क्रमशास्त्रेषु नाम्नातः स यदृच्छोपनतः। यथा—"आ स्वेता नि" इत्यत्र आ तु इति द्वाभ्यामवसाने क्रियमाणे तकारस्य द्वित्वाभावात्तदनवसानीयं भवति। अनुनासिकभयात्तृतीयम्। दीर्घभावार्थं चतुर्थम्॥


टि० (क) यह सूत्र ११।२५ का अपवाद है। तीन पदों के क्रम-वर्ग के मध्य में आने पर भी अननुनासिक 'आ' का 'परिग्रह' नही किया जाता है। तीन पदों के क्रम-वर्ग के मध्य में रखने के उपरान्त 'आ' का पुन ग्रहण करके उसको दूसरे क्रम-वर्ग के प्रारम्भ में रखा जाता है और उस दूसरे क्रम-वर्ग के अन्त में 'आ' से बाद में स्थित उसी पद (वरेण्यम्) को रखा जाता है जो पूर्ववर्ती क्रम-वर्ग के अन्त में रखा गया था।

(ख) मन्द्रमा वरेण्यम् ॥ सं० पा० ॥ मन्द्रम्। आ। वरेण्यम् ॥ प० पा०
मन्द्रमा वरेण्यम्। आ वरेण्यम् ॥ क्र० पा०

(ग) अभ्र आँ अप ॥ सं० पा० ॥ अभ्रे। आ। अप. ॥ प० पा०
अभ्र आँ अप। एत्या ॥ क्र० पा०

यहाँ 'आ' 'अनुनासिक' है। अत ११.२५ से 'आ' का 'परिग्रह' किया गया है।

---

[1] ऋ० क्र० ११५११

उ० भा० अ०—**तथा**=उसी प्रकार। किस प्रकार? (उत्तर) जिस प्रकार आकार के पद-प्रदर्शन के लिये (आकार का) पुन: ग्रहण (प्रत्यादान) और पूर्व की तरह (परवर्ती पद के द्वारा) अध्यवसान (क्रम-वर्ग की समाप्ति) कहा गया है। **यदृच्छोपनते बहुक्रमे**=(पूर्ववर्ती) नियम से अविहित बहुत (पदो) के क्रम-वर्ग में, **तस्य**=उसके=बहुत (पदो) के क्रम-वर्ग के, (**एकपदानि**=) एक-एक पदो को, **निःसृजन्**=पृथक् करता हुआ; वक्ता; **क्रमेत**=क्रम-वर्ग बनाये।[क] किस कारण से? (उत्तर) जिससे सभी पदान्त और 'स्वर' साथ-साथ दिखलाई दे जावें। (उदाहरण) "आ त्वेता नि। त्वेता नि। एता नि। इता नि।"[ख] निमित्त और नैमित्तिक के प्रसङ्ग से जो बहुत (पदो) का क्रम-वर्ग क्रम-शास्त्रो में नही बतलाया गया है वह यदृच्छा से किया गया है। (जैसे) "आ त्वेता नि" में 'आ तु'—इस प्रकार दो पदो से क्रम-वर्ग का अवसान करने पर तकार का द्वित्व नही होगा, इसलिये 'तु' अवसान में नही रखा जाता है।[ग] 'अनुनासिक' के भय से तृतीय ('तु' के बाद में विद्यमान 'आ') (अवसान में नही रखा जाता है)।[घ] दीर्घभाव के लिये चतुर्थ (='इत') (अवसान में नही रखा जाता है)।[ङ]

टि० (क) क्रम-शास्त्र में विहित बहुत पदो के क्रम-वर्गों से अन्य बहुत पदो का क्रम-वर्ग यदि बनाया जाये तो वहाँ बहुत पदो का क्रम-वर्ग बनाने के अनन्तर उस क्रम-वर्ग के मध्यवर्ती पदो को एक-एक करके लिया जाता है और आगे वाले क्रम-वर्ग के प्रारम्भ में रखा जाता है। सभी क्रम-वर्गों के अवसान में वही पद रखा जाता है जो बहुत पदो के क्रम-वर्ग के अवसान में रखा हुआ हो।

(ख) आ त्वेता नि ॥ स० पा० ॥ आ। तु। आ। इत। नि॥ प० पा०
आ त्वेता नि। त्वेता नि। एता नि। इता नि ॥ क्र० पा०

यहाँ पाँच पदो का एक क्रम-वर्ग बना है। क्रम-शास्त्र में इस बहुक्रम का विधान नही किया गया है। इसलिये यह बहुत पदो का क्रम-वर्ग यदृच्छा से किया गया है। 

(ग) यदि 'आ तु' यह दो पदो का क्रम-वर्ग बनाया जाता तो तकार का द्वित्व न होता क्योकि ६।१ के अनुसार 'स्वर' के बाद में आने पर संयुक्त वर्ण का ही प्रथम 'व्यञ्जन' द्वित्व को प्राप्त होता है। किंतु यह द्वित्व अनिवार्य है क्योकि यह संहिता-पाठ में दृष्ट है।

(घ) यदि 'आ' से क्रम-वर्ग का अवसान किया जाता तो वह १।६३ के अनुसार 'आनुनासिक' हो जाता। अत आनुनासिक्य के भय से इसे क्रम-वर्ग के अवसान में नही रखा जाता है।

(ङ) यदि 'इत' को क्रम-वर्ग के अवसान में रखा जाये तो 'इत' का अकार, 'व्यञ्जन' बाद में न होने के कारण, 'दीर्घ' नही होगा। अत इस आकार को 'दीर्घ' करने के लिये इत को क्रम-वर्ग के अवसान में नहीं रखा जाता है।

(परिग्रहे संधिविशेषाणां प्रकृतिभावः)
नकारलोपोष्मरभावमानयेदपेतरागां प्रकृति परिग्रहे ॥३६॥
(परिग्रह में संधिविशेषों का प्रकृतिभाव)

सू० अ०—नकार के लोपभाव, ऊष्मभाव और रभाव को 'परिग्रह' में इसके आनुनासिक्यविहीन मूल-रूप में ले आवे।

उ० भा० (**नकारलोपोष्मरभावम्**=) नकारस्य खलु लोपभावं चोष्मभावं च रभाव च, **अपेतरागां**=रागवर्जिताम्; **प्रकृतिमानयेत्परिग्रहे** क्रियमाणे। कस्य हेतोः ? पदप्रदर्शनार्थम्। दृष्टा हि लोपोष्मरभावा द्विपदाभिक्रमेण भवन्ति। तस्मात्स्वां प्रकृतिमानयेत्। **लोपभावः**—"अस्माँअस्माँ इत्। अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽअस्मान्।"[१] **ऊष्मभावः**—"स्वतवाँः पायु। स्वतवानिति स्वऽतवान्।"[२] नैतदुदाहरणं युक्तम्। स्वतवाँः पायुरिति पायुशब्दे हि नकारस्य विसर्जनीयसम्बन्धः। इदं तर्ह्युदाहरणम्। "नॄँः पात्रमिति नृन्पात्रम्।"[३] "विभ्राजमानाँश्चमसान्। विभ्राजमानानिति विऽभ्राजमानान्।"[४] **रभावः**—'अभीशूँरिव सारथिः। अभीशूनिवेत्यभीशून्ऽइव।'[५]

उ० भा० अ०—(**नकारलोपोष्मरभावम्**=) नकार के लोपभाव, ऊष्मभाव और रभाव को; **अपेतरागाम्**=आनुनासिक्यविहीन, **प्रकृतिमानयेत्**=मूल-रूप में ले आवे; **परिग्रहे**='परिग्रह' करने पर।[क] किस कारण से ? (उत्तर) पद-प्रदर्शन के लिये; क्योंकि दो-दो पदों के क्रम वर्ग बनाने में लोपभाव, ऊष्मभाव और रेफभाव दिखलाई पड़ते है। इसलिये (उनको) उनके मूल-रूप में ले आवे। **लोपभाव** (का उदाहरण) "अस्माँअस्माँ इत्। अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽअस्मान्।"[ख] **ऊष्मभाव** (का उदाहरण) "स्वतवाँ पायु।[ग]

टि० (क) संहिता-पाठ में जहाँ प्रकृतिभूत नकार का लोप (४।६५-६८ से) होता है अथवा जहाँ नकार 'ऊष्म'-वर्ण के समान कार्य को (४।७४-७९ से) प्राप्त करता है अथवा जहाँ नकार का रेफ (४।६९-७१ से) होता है वहाँ क्रम-वर्ग में संहिता के रूप को दिखलाकर तत्पश्चात् 'परिग्रह' में मूल-रूप को दिखलाया जाता है

(ख) अस्माँअस्माँ इत् ॥ स० पा० ॥ अस्मान्ऽअस्मान्। इत् ॥ प० पा०
अस्माँअस्माँ इत्। अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽअस्मान् ॥ क्र० पा०
यहाँ संहिता-पाठ में ४।६५ से नकार का लोप होता है। क्रम-वर्ग में संहिता-रूप को दिखलाकर तत्पश्चात् 'परिग्रह' में मूल-रूप को दिखलाया गया है।

(ग) स्वतवाँ पायु ॥ स० पा० ॥ स्वऽतवान्। पायु ॥ प० पा०
स्वतवाँ पायु। स्वतवानिति स्वऽतवान् ॥ क्र० पा०
'परिग्रह' में 'स्वतवान्' का नकार विसर्जनीय हो ही नहीं सकता क्योंकि 'पायु' शब्द बाद में होने पर ही 'स्वतवान्' का नकार विसर्जनीय हो सकता है। अत 'परिग्रह' में 'स्वतवान्' के मूल-रूप के दिखलाने का विधान करना अनावश्यक है। यही कारण है कि यह स्थल प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण नहीं बन सकता है।

---

[१] ऋ० क्र० ४।३२।४ [२] ऋ० क्र० ४।२।६ [३] ऋ० क्र० १।१२१।१
[४] ऋ० क्र० ४।३३।६ [५] ऋ० क्र० ६।५७।६

स्वतवानिति स्वऽतवान् ।" यह उदाहरण युक्त नहीं है। "स्वतवाँ पायुः" में 'पायु' शब्द बाद में होने पर नकार विसर्जनीय होता है। तब यह उदाहरण है—"नॄँपात्रमिति नॄन्पात्रम् ।"[क] "विभ्राजमानाँश्चमसान् । विभ्राजमानानिति विऽभ्राजमानान् ।"[ख] रभाव (का उदाहरण) "अभीशूँरिव सारथि । अभीशूनिवेत्यभीशून्ऽइव ।"[ग]

उ० भा०—"अतीत्य तेषां पदतां प्रदर्शयेत्"[1] इत्येवं सिद्धे किमर्थं नकारलोपादीना संहितानां परिग्रहे पुनर्निवृत्तिरुच्यते । परिग्रहस्योभयोर्वचनयोर्विकारनिवृत्त्यर्थम् । तेन ह्युत्तरस्मिन्नेव स्यात् । नैष दोषः । तेनाप्युभयोर्भवतीति ज्ञापकं सूत्र । यदयम्—"पुनर्ब्रुवंस्तत्र समासमिङ्गयेत्"[2] इति पूर्वस्मिन्वचनेऽवग्रहप्रतिषेधार्थं कुर्वन्नेतद् ज्ञापयति अन्यत्रोभयोरपि वचनयोः पदतया प्रदर्शनं भवतीति । एवं च—"अतीत्य तेषां पदतां प्रदर्शयेत्"[3] इत्येवं सिद्धे नकारलोपोष्मरभावमानयेदित्येवमादीनां नियमार्थमनुक्रमण कुर्वञ्ज्ञापयति—अननुक्रान्तानां विकाराणां परिग्रहस्य पूर्ववचने निवृत्तिर्न भवति । यथा—"घनर्चमिति घनऽअर्चम् ।"[4] "ककुद्मानिति ककुत्ऽमान् ।"[5] "अहोभिरित्यहःऽभिः ।"[6] "वशोणिमिति वशाऽओणिम् ।।"[7]

उ० भा० अ० —(पू०) "क्रम वर्गों को पूरा करके उनके मूल-रूप को दिखलावे"—इस (सूत्र) से ही (विकार की निवृत्ति) सिद्ध होने पर नकारलोपादि संधियो की 'परिग्रह' में दोबारा निवृत्ति क्यों की गई है ? (सि०) 'परिग्रह' के दोनो वचनो में विकार की निवृत्ति के लिये (दोबारा निवृत्ति की गई है) क्योकि उससे (=११।२५ से) परवर्ती (वचन) में ही (विकार की निवृत्ति) होती। (पू०) यह दोष नही है। उससे (११।२५ से) भी दोनो में (विकार की निवृत्ति) होती है—इस विषय में ज्ञापक बतलाते हैं। जो यह (सूत्रकार)—"पुनरुच्चारण करता हुआ समास का 'अवग्रह' करे" इससे ('परिग्रह' के) पूर्ववचन में 'अवग्रह' के प्रतिषेध के लिये सूत्र बनाते है उसके द्वारा यह बतलाते हैं—अन्यत्र दोनो ही वचनो में पद-रूप (मूल-रूप) का प्रदर्शन होता है। (सि०) ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर "क्रम-वर्गों को पूरा करके उनके मूल-रूप को दिखलावे"—इस (सूत्र) से ही ('परिग्रह' के दोनों वचनो में विकार की निवृत्ति) सिद्ध होने पर 'नकार के लोपभाव, ऊष्मभाव और रभाव को (मूल-रूप में) ले आवे" इत्यादि का नियम के लिये अनुक्रमण

टि० (क) नॄँ पात्रम् ।। सं० पा० ।। नॄन् । पात्रम् ।। प० पा० ।। नॄँ पात्रमिति नॄन्पात्रम् ।। क्र० पा०

(ख) विभ्राजमानाँश्चमसान् ।। सं० पा० ।। विऽभ्राजमानान् । चमसान् ।। प० पा० विभ्राजमानाँश्चमसान् । विभ्राजमानानिति विऽभ्राजमानान् ।। क्र० पा०

(ग) अभीशूँरिव सारथि ।। सं० पा० ।। अभीशून्ऽइव । सारथि ।। प० पा० अभीशूँरिव सारथि । अभीशूनिवेत्यभीशून्ऽइव ।। क्र० पा०

यहाँ नकार ४।७० से रेफ हो जाता है। क्रम-वर्ग में संहिता-रूप को दिखलाकर तत्पश्चात् 'परिग्रह' मे मूल-रूप को दिखलाया गया है।

[1] ११।२५ [2] ११।३१ [3] ११।२५
[4] ऋ० क० १०।८६।५ [5] ऋ० क० १०।८।२ [6] ऋ० क० १०।१४।९
[7] ऋ० क० ६।२०।८

करते हुए (सूत्रकार) यह बतलाते हैं कि जिन विकारो का अनुक्रमण नही किया गया है उन (विकारो) की 'परिग्रह' के पूर्व-वचन में निवृत्ति नही होती है। (जैसे) "धनर्चमिति धनऽअर्चम्।"[क] "ककुद्मानिति ककुत्ऽमान्।"[ख] "अहोभिरित्यह ऽभि.।"[ग] "दशोणिमिति दशऽओणिम्।"[घ]

नतिम् ॥३७॥

सू० अ०—'मूर्धन्यभाव' ('नति') को (इसके मूल-रूप में ले आवे)।

उ० भा०—नतिं च प्रकृतिमानयेत्परिग्रहे क्रियमाणे। कस्य हेतोः ? पदप्रदर्शनार्थम्। "सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम।"[१] "दुर्हणो इति दुःऽहनो॥"[२]

उ० भा० अ०—'परिग्रह' करने पर, नतिम्='मूर्धन्यभाव' को, मूल-रूप में ले आवे। किस कारण से ? (उत्तर) पद-रूप (मूल-रूप) के प्रदर्शन के लिये। (उदाहरण) "सुषुमा यातम्। सुसुमेति सुसुम।"[ङ] "दुर्हणो इति दु ऽहनो।"[च]

प्लुतोपाचरिते च ॥३८॥

सू० अ०- दीर्घत्व ('प्लुत') और सकार-भाव ('उपाचरित') को भी (मूल-रूप में ले आवे)।

उ० भा०—प्लुतं चोपाचरितं च=प्लुतोपाचरिते; एते प्रकृतिमानयेत्परिग्रहे क्रियमाणे। कस्य हेतो ? समानो हेतुः पूर्वेण। प्लुतः—"मक्षूमक्षू कृणुहि। मक्षुमक्ष्विति मक्षुऽमक्षु।"[३] उपाचरितः- "ज्योतिष्कृदसि। ज्योतिःकृदिति ज्योति ऽकृत्॥"[४]

टि० (क) अर्वाण धनर्चम्॥ स० पा०॥ अर्वाणम्। धनऽअर्चम्॥ प० पा०
अर्वाण धनर्चम्। धनर्चमिति धनऽअर्चम्॥ क्र० पा०
(ख) वृषभ ककुद्मान्॥ स० पा०॥ वृषभ। ककुत्ऽमान्॥ प० पा०
वृषभ ककुद्मान्। ककुद्मानिति ककुत्ऽमान्॥ क्र० पा०
(ग) अहोभिरद्भिः॥ स० पा०॥ अहऽभिः। अत्ऽभि॥ प० पा०
अहोभिरद्भिः। अहोभिरित्यहःऽभिः॥ क्र० पा०
(घ) दशमाय दशोणिम्॥ स० पा०॥दशऽमायम्। दशऽओणिम्॥ प० पा०
दशमाय दशोणिम्। दशमायमिति दशऽमायम्। दशोणिमिति दशऽओणिम् क्र० पा०॥

उपर्युक्त चारो स्थलो पर 'परिग्रह' के पूर्ववचन में मूल-रूप को नही दिखलाया गया है क्योकि ११।३६ आदि सूत्रो में इन स्थलो का उल्लेख नही किया गया है।

(ङ) पृ० ६१५ पर टि० (क) देखिए।
(च) पृ० ६१४ पर टि० (ख) देखिए।

---

[१] ऋ० क्र० १।१३७।१
[२] ऋ० क्र० १०।१५५।२
[३] ऋ० क्र० ३।३१।२०
[४] ऋ० क्र० १।५०।४

उ० भा० अ०—प्लुतोपाचरिते च=दीर्घत्व और सकारभाव को भी; 'परिग्रह' करने पर मूल-रूप में ले आवे । किस कारण से ? (उत्तर) पूर्व के समान (=पद-रूप का प्रदर्शन) हेतु है । प्लुत (का उदाहरण)—"मक्षूमक्षू कृणुहि । मक्षुमक्ष्विति मक्षुऽमक्षु ।"[क] उपाचरित (का उदाहरण) "ज्योतिष्कृदसि । ज्योति कृदिति ज्योति ऽकृत् ।"[ख]

यत्र च प्रगृह्यमेकीभवति स्वरोदयम् ॥३९॥

सू० अ०—जहाँ 'स्वर' बाद में होने पर (पूर्ववर्ती) 'प्रगृह्य' ('स्वर') (उस परवर्ती 'स्वर' के साथ मिलकर) एक हो जाता है (उस स्थल को भी मूल-रूप में ले आवे) ।

उ० भा०—यत्र=यस्मिन्समुदाये; स्वरोदयं प्रगृह्यं पदम्; (एकीभवति=) एकीभावं गच्छति । यथा—"त्र्यक्षरान्तास्तु नेवे"[१] इति प्रकृतिभावे प्रतिषिद्धे । तच्च प्रकृतिमानयेत्परिग्रहे क्रियमाणे । कस्य हेतोः ? प्रगृह्यस्य प्रकृतिभावप्रदर्शनार्थम् । "दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव ॥"[२]

उ० भा० अ०—यत्र=जहाँ=जिस समुदाय में, स्वरोदयम्='स्वर' बाद में होने पर, प्रगृह्यम्='प्रगृह्य' पद, ('स्वर' के साथ मिलकर); (एकीभवति=) एकीभाव को प्राप्त होता है । (जैसे) ' 'इव' बाद में होने पर, तीन अक्षरों वाले (पदों) के अन्त में आने वाले ('प्रगृह्य' 'स्वर'-वर्ण आर्षी संहिता में 'प्रकृतिभाव' से) नहीं रहते"—इससे 'प्रकृतिभाव' का प्रतिषेध होने पर । उसको भी 'परिग्रह' करने पर मूल-रूप में ले आवे । किस कारण से ? (उत्तर) 'प्रगृह्य' ('स्वर') के 'प्रकृतिभाव' को दिखलाने के लिये । (उदाहरण) "दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव ।"[ग]

प्रवादिनो दूणाशदूळ्यदूळभान् ॥४०॥

सू० अ०—'दूणाश', 'दूळ्य' और 'दूळभ' के सभी रूपों को (उनके मूल-रूप में ले आवे ।

उ० भा०—(प्रवादिनः=) प्रवावान्; (दूणाशदूळ्यदूळभान्=) दूणाश दूळ्य दूळभ इत्येतान्, च प्रकृतिमानयेत्परिग्रहे क्रियमाणे । कस्य हेतोः ? पदप्रकृतिप्रदर्शनार्थम् ।

टि० (क) मक्षूमक्षू कृणुहि ॥ स० पा० ॥ मक्षुऽमक्षु । कृणुहि ॥ प० पा०
मक्षूमक्षू कृणुहि । मक्षुमक्ष्विति मक्षुऽमक्षु ॥ क्र० पा०
(ख) ज्योतिष्कृदसि ॥ स० पा० ॥ ज्योति ऽकृत् । असि ॥ प० पा०
ज्योतिष्कृदसि । ज्योतिःकृदिति ज्योतिःऽकृत् ॥ क्र० पा०
(ग) दम्पतीव क्रतुविदा ॥ स० पा० ॥ दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव । क्रतुऽविदा ॥ प०पा०
दम्पतीव क्रतुविदा । दम्पतीइवेति दम्पतीऽइव ॥ क्र० पा०
२।५५ से 'दम्पती' का ईकार 'इव' के इकार के साथ मिलकर एक हो जाता है । प्रस्तुत सूत्र से 'परिग्रह' में इस स्थल को मूल-रूप में दिखलाया जाता है ।

[१] २।५५ [२] ऋ० क्र० २।३९।२

"दूणाशं सख्यम्। दुर्नशमिति दुःऽनशम्।"[1] "जनस्य दूळ्यः। दुर्ध्य इति दुःऽध्यः।"[2] "दूळभो रथः। दुर्दभ इति दुःऽदभः॥"[3]

उ० भा० अ०—'परिग्रह' करने पर, (दूणाशदूळ्यदूळभान् प्रवादिनः=) 'दूणाश', 'दूळ्य' और 'दूळभ'—इनके सभी रूपों को; मूल-रूप में ले आवे। किस कारण से? पद की प्रकृति (मूल-रूप) को दिखलाने के लिये। (उदाहरण) 'दूणाश सख्यम्। दुर्नशमिति दुःऽनशम्।"[क] "जनस्य दूळ्यः। दुर्ध्य इति दुःऽध्यः।"[ख] "दूळभो रथः। दुर्दभ इति दुःऽदभः।"[ग]

परेष्वघोषेषु च रेफमूष्मणः ॥४१॥

सू० अ०—'अघोष' बाद में होने पर 'ऊष्म' (-वर्ण) का जो रेफ बन जाता है; उसे भी ('परिग्रह' के समय मूल-रूप में ले आवे)।

उ० भा०—अघोषेषु च परेषूष्मणः; रेफः क्रियते तम् (रेफम्) च प्रकृतिमानयेत्परिग्रहे क्रियमाणे। कस्य हेतोः? पदप्रकृतिप्रदर्शनार्थम्। "काव्येना स्वर्चनाः। स्वश्चना इति स्वःऽचनाः।"[4] "धूर्षदं वनर्षदम्। धूःसदमिति धूःऽसदम्।"[5] "पूर्पतिं सुशिष्टौ। पूःपतिमिति पूःऽपतिम्॥"[6]

उ० भा० अ०—अघोषेषु च परेषु='अघोष' बाद में होने पर; ऊष्मणः (रेफम्=) 'ऊष्म'-वर्ण का जो रेफ हो जाता है उसको, 'परिग्रह' करने पर मूल-रूप में ले आवे। किस कारण से? पद की प्रकृति (मूल-रूप) दिखलाने के लिये। (उदाहरण) "काव्येना स्वर्चना। स्वश्चना इति स्वऽचना।"[घ] "धूर्षद वनर्षदम्। धूःसदमिति धूःऽसदम्।"[ङ] "पूर्पतिं सुशिष्टौ। पूःपतिमिति पूःऽपतिम्।"[च]

टि० (क) दूणाश सख्यम्॥ सं० पा०॥ दुःऽनशम्। सख्यम्॥ प० पा०
दूणाश सख्यम्। दुर्नशमिति दुःऽनशम्॥ ऋ० पा०
(ख) जनस्य दूळ्यः॥ सं० पा०॥ जनस्य। दुःऽध्य॥ प० पा०
जनस्य दूळ्यः। दुर्ध्य इति दुःऽध्यः॥ ऋ० पा०
(ग) दूळभो रथः॥ सं० पा०॥ दुःऽदभः। रथः॥ प० पा०
दूळभो रथः। दुर्दभ इति दुःऽदभः॥ ऋ० पा०
(घ) काव्येना स्वर्चना॥ सं० पा०॥ काव्येन। स्वःऽचना॥ प० पा०
काव्येना स्वर्चनाः। स्वश्चना इति स्वःऽचनाः॥ ऋ० पा०
(ङ) धूर्षदं वनर्षदम्॥ सं० पा०॥ धूःऽसदम्। वनऽसदम्॥ प० पा०
धूर्षद वनर्षदम्। धूःसदमिति धूःऽसदम्॥ ऋ० पा०
(च) पूर्पतिं सुशिष्टौ॥ सं० पा०॥ पूःऽपतिम्। सुऽशिष्टौ॥ प० पा०
पूर्पतिं सुशिष्टौ। पूःपतिमिति पूःऽपतिम्॥ ऋ० पा०

'अघोष' 'व्यञ्जन' (चकार, वकार और पकार) बाद में होने पर 'स्व', 'धू' और 'पू' के विसर्जनीय रेफ ('ऊष्मन्') हो गए हैं। प्रस्तुत सूत्र से 'परिग्रह' में रेफ का मूल-रूप (विसर्जनीय) दिखलाया गया है।

---

[1] ऋ० ऋ० ६।४५।२६ [2] ऋ० ऋ० ८।१९।१५ [3] ऋ० ऋ० ४।९।८
[4] ऋ० ऋ० ९।८४।५ [5] ऋ० ऋ० १०।१३२।७ [6] ऋ० ऋ० १।१७३।१०

महाप्रदेशं स्वधितीव चानयेत् ॥४२॥

सू० अ०—विस्तृत क्षेत्र वाले ('प्रतिकण्ठ', 'निपातन') 'स्वधितीव' इस (पद) को भी ('परिग्रह' के समय मूल-रूप में) ले आवे।

उ० भा०—महाप्रदेशं स्वधितीव इत्येतत् च पदं प्रकृतिम् आनयेत् परिग्रहे क्रियमाणे। महाप्रदेशमिति—महानयं प्रदेशो यत्प्रतिकण्ठमस्य ग्रहणम्। सर्वाणि हि शास्त्राणि प्रतिकण्ठं पठ्यन्ते। "सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम्।"[१] प्रतिकण्ठे चास्य विधिरुक्तः। "नाक्षा इन्दुः स्वधितीवाह एव"[२]— इति रेफस्य च लोपो दीर्घत्वं च पुरा निपातितम्। तस्मात्स महाप्रदेशः "स्वधितिरिवेति स्वधितिःऽइव॥"[३]

उ० भा० अ०—महाप्रदेशम्=विस्तृत क्षेत्र वाले, स्वधितीव च='स्वधितीव' इस पद को भी, मूल-रूप में; आनयेत्=ले आवे, 'परिग्रह' करने पर, (अर्थात् 'परिग्रह' में 'स्वधितीव' का मूल-रूप दिखलाया जाता है)। महाप्रदेश—जो 'प्रतिकण्ठ' ('निपातन') होता है उसका क्षेत्र विशाल होता है; उस 'प्रतिकण्ठ' ('निपातन') का यहाँ ग्रहण किया गया है। 'प्रतिकण्ठ' सभी शास्त्रों के (अपवाद के रूप में) पढ़े जाते हैं—"सभी शास्त्रों के अपवादों के रूप में 'प्रतिकण्ठ' ('निपातन') का प्रतिपादन किया गया है।" 'प्रतिकण्ठ' के प्रसङ्ग में इस ('स्वधितीव') का विधान किया गया है—"'अक्षा इन्दु', 'स्वधितीव' और 'अह एव' (ये निपातन हैं)"—यहाँ पर (अर्थात् 'स्वधितीव' में) रेफ का लोप और पूर्ववर्ती (वर्ण) का दीर्घत्व ये दोनों निपातन से होते हैं। (उदाहरण) "स्वधितिरिवेति स्वधिति ऽइव।"[क]

नुदेच्च शौद्धाक्षरसंध्यमागमम् ॥४३॥

सू० अ०—'शौद्धाक्षर' नामक संधि से उत्पन्न आगम को ('परिग्रह' करने पर) हटा दें।

उ० भा०—नुदेत्; (शौद्धाक्षरसंध्यमागमम् च=) शौद्धाक्षरसंधिजं चागमम्। प्रकृतिमानयेत् परिग्रहे क्रियमाणे। कस्य हेतोः? पदप्रकृतिप्रदर्शनार्थम्। "सुश्चन्द्र दस्म। सुचन्द्रेति सुऽचन्द्र।"[४] "परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्। परिकृण्वन्निति परिऽकृण्वन्।"[५] "धूर्षदं वनर्षदम्। धूःसदमिति धूःऽसदम्।" "वनसदमिति वनऽसदम्॥"[६]

उ० भा० अ०—(शौद्धाक्षरसंध्यमागमम् च=) 'शौद्धाक्षर' सन्धि[ख] से उत्पन्न आगम को भी; नुदेत्=हटा दे। (जिस पद में 'शौद्धाक्षर'-संज्ञक आगम होता है उस पद की प्रकृति को) 'परिग्रह' करने पर मूल-रूप में ले आवे। किस कारण से? (उत्तर) पद की प्रकृति

टि० (क) स्वधितीव रीयते॥ म० पा०॥ स्वधितिःऽइव। रीयते॥ प० पा०
स्वधितीव रीयते। स्वधितिरिवेति स्वधितिःऽइव॥ क्र० पा०
(ख) 'शौद्धाक्षर' संधि के लिए ४।८४–८९ को देखिए।

[१] १।५४
[२] ४।४०
[३] ऋ० क्र० ५।७।८
[४] ऋ० क्र० ५।६।५
[५] ऋ० क्र० ९।३९।२
[६] ऋ० क्र० १०।१३२।७

(मूल-रूप) को दिखलाने के लिये। (उदाहरण) "सुश्चन्द्र दस्म। सुचन्द्रेति सुऽचन्द्र।"[क] "परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्। परिकृण्वन्निति परिऽकृण्वन्।"[ख] "धूर्षद वनर्षदम्। धू सदमिति धू ऽसदम्।" वनसदमिति वनऽसदम्।"[ग]

(क्रमपाठे विकृतरूपविषयकनियमः) (पूर्वानुवृत्तः)

अभिक्रमे पूर्वविधानमाचरेत्
पुनर्ब्रुवँस्तूत्तरकारितं क्रमे।
विकारमन्यद्यदतोऽनुसंहितं
तदाचरेदन्तगताद्ययोस्तु न ॥४४॥

(क्रम-पाठ में विकृतरूपविषयक नियम) (पूर्वानुवृत्त)

सू० अ०—(जब कोई पद) 'क्रम' मे प्रथम वार आवे तो पूर्ववर्ती (पद) से उत्पन्न किये गये (विकार) का उच्चारण करे। पुनः उच्चारण करता हुआ परवर्ती (पद) से किये गये (विकार का उच्चारण करे)। इनसे अन्य जो विकार है उसका (-को) संहिता-पाठ के अनुसार उच्चारण करे। किंतु (अर्धर्च के) अन्त में स्थित और आदि मे स्थित (पदों) में (यह नियम लागू) नहीं (होता है)।

उ० भा०—(क्रमे=) क्रमविधौ; अभिक्रमे=द्विपदस्य प्रथमे वचने; पूर्वविधानमाचरेत्=पूर्वप्रयुक्त विकारं पठेत्–इत्यर्थ। यथा—"प्र ण इन्दो"[१] इत्यत्र–प्र ण। पुनर्ब्रुवन्=द्वितीये वचने, उत्तरकारितम् आचरेत्, न पूर्वकारितं विकारम्—न इन्दो। अन्यदिति=यदतः पूर्वोत्तरकृतविकारादन्यत्=यत् पद स्वयंविकृतम्, तदनुसंहितमाचरेत्= क्रमकाल उभयवचनेऽपि यथासहित पठेत् इत्यर्थः। अन्तगताद्ययोस्तु न=अन्तगतस्यादिगतस्य स्वयंविकृतस्याप्युभयवचने नाचरणं कुर्यात्, तयोरुभयवचनस्याभावादिति भावः॥

उ० भा० अ०—(क्रमे=) क्रम-विधि में, अभिक्रमे=दो पदो के प्रथम वचन में; पूर्वविधानमाचरेत्=पूर्व-विधान का (को) आचरण करे=पूर्ववर्ती (पद) से किये

टि० (क) सुश्चन्द्र दस्म॥ स० पा०॥ सुऽचन्द्र। दस्म॥ प० पा०
सुश्चन्द्र दस्म। सुचन्द्रेति सुऽचन्द्र॥ क्र० पा०
(ख) परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्॥ स० पा०॥ परिऽकृण्वन्। अनिःऽकृतम्॥ प० पा०
परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्। परिकृण्वन्निति परिऽकृण्वन्॥ क्र० पा०
(ग) धूर्षद वनर्षदम्॥ स० पा०॥ धूःऽसदम्। वनऽसदम्॥ प० पा०
धूर्षद वनर्षदम्। धूःसदमिति धूःऽसदम्। वनसदमिति वनऽसदम्॥ क्र० पा०

'सुश्चन्द्र' में ४।८४ से शकार का, 'परिष्कृण्वन्' में ४।८५ से षकार का और 'वनर्षदम्' में ४।८६ से रेफ का आगम हुआ है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' करने पर इन सब आगमो को हटा दिया गया है और इन पदो के मूल-रूप को दिखलाया गया है।

[१] ऋ० ९।४४।१

गये विकार का (को) पाठ करे। जैसे—"प्र ण इन्दो"क में "प्र ण"; पुनर्ब्रुवन्=पुनः उच्चारण करता हुआ=द्वितीय वचन में, उत्तरकारितम्=परवर्ती (पद) से किये गये (विकार) का (को), पाठ करे, पूर्ववर्ती (पद) से किये गये विकार का (को) नहीं—"न इन्दो"। अन्यत्=पूर्ववर्ती तथा परवर्ती (पदो) से किये गये विकारों से अन्य=जो पद स्वय ही विकृत हो गया है, तदनुसंहितमाचरेत्=उसको सहिता-पाठ के अनुसार करना चाहिये=क्रम-काल में दोनो ही वचनो में सहिता-पाठ के अनुसार पाठ करना चाहिये। अन्तगताद्ययोस्तु न=(अर्धर्च के) अन्त में स्थित और आदि में स्थित (पद) का दोनो वचनों में आचरण नही करना चाहिये=सहिता-पाठ के अनुसार पाठ नही करना चाहिए चाहे वह स्वय से ही विकृत हो। उन दोनो (=अर्धर्च के प्रथम और अन्तिम पदो) में उभय वचन का अभाव होता है यह भाव है।

(परिग्रहे संधिविशेषाणां प्रकृतिभावः) (पूर्वानुवृत्त.)

सकृद्यथासंहितमेषु वाचरेत्
पुनर्विब्रुवन्पदमप्यसंदधत्।
परिग्रहे संधिषु कारणान्वयात् ॥४५॥

(परिग्रह में संधिविशेषो का प्रकृतिभाव) (पूर्वानुवृत्त)

सू० अ०—(११।३६ आदि सूत्रो में उलिखित) इन (स्थलो) में 'परिग्रह' करते समय एक बार (='परिग्रह' के प्रथम वचन में) संहिता-पाठ के अनुसार पाठ करे। पुनः (='परिग्रह' के द्वितीय वचन में) वक्ता पद मे (को) संधि न करता हुआ पाठ करे क्योंकि (इन) संधियो में ('परिग्रह' के प्रथम वचन में) कारण का अन्वय हो जाता है।

उ० भा०—अथ च सकृद्यथासंहितमेषु वाचरेत्। एषु कतरेषु? "नकारलोपोष्म-रभावमानयेत्"[१] इत्येवमादिषु। पुनः=द्वितीयं वचनम्, विब्रुवन्=वक्ता, पदमपि क्रियते, असंदधत्=सधिमकुर्वन्; परिग्रहे क्रियमाणे। कस्य हेतोः? संधिषु कारणान्वयात्—एषु हि नकारलोपादिषु सधिषु यस्मिस्ते नकारलोपादयो विहितास् तत्कारणमन्वेति परिग्रहस्य पूर्ववचने। श्येनाँइव ध्रजत.। श्येनाँइवेति श्येनान्ऽइव।"[२] 'विश्वश्चन्द्रा अमित्रहन्। विश्वश्चन्द्रा इति विश्वऽचन्द्राः॥"[३]

उ० भा० अ०—सकृद्यथासंहितमेषु वाचरेत्=अथवा इनमें एक बार सहिता-पाठ के अनुसार पाठ करना चाहिए। इनमें किनमें? (उत्तर) "नकार के लोपभाव, ऊष्मभाव और रभाव को (मूल-रूप में) ले आवे" इत्यादि में। पुनः विब्रुवन्=द्वितीय वचन में (को) वक्ता; पदमप्यसंदधत्=पद में (को) सधि (मेल) न करता हुआ, पाठ करे,

टि० (क) प्र ण इन्दो॥ स० पा०॥ प्र। न। इन्दो इति॥ प० पा०
प्र णः। न इन्दो॥ क्र० पा०

१ ११।३६ २ ऋ० क्र० १।१६५।२ ३ ऋ० क्र० १०।१३४।३

परिग्रहे='परिग्रह' करते समय।[क] किस कारण से? (उत्तर) संधिषु कारणान्वयात्= इन नकारलोप आदि संधियों में जिस (कारण) के परे रहते ये नकारलोप आदि विहित हैं वह कारण 'परिग्रह' के प्रथम वचन में अन्वित हो जाता है (जिससे आर्षी संहिता का लोप नहीं होता है)। (उदाहरण) 'श्येनाँइव ध्रजत। श्येनाँइवेति श्येनान्ऽइव।"[ख] "विश्वश्चन्द्रा अमित्रहन्। विश्वश्चन्द्रा इति विश्वऽचन्द्रा।"[ग]

अविक्रमं द्व्यूष्मसु चोष्मसंधिषु ॥४६॥

सू० अ०—दो 'ऊष्म' (-वर्णों) वाली 'ऊष्म' संधियों में ('परिग्रह' के प्रथम वचन में) अपरिवर्तित विसर्जनीय (का उच्चारण) नहीं (करना चाहिये)।

उ० भा०—अविक्रमम् एव कुर्याद्वक्ता द्व्यूष्मसूष्मसंधिषु परिग्रहे क्रियमाणे। किमर्थमिदमुच्यते? इह "निष्षिष्वरीः" "स्वर्षाता" इति च नते रेफस्य च निवृत्तौ कृतायां पुनर्विसर्जनीयस्य—"तमेवोष्माणमूष्मणि"[1] इति नित्यविधिं बाधित्वा—"ऊष्मणि वानते"[2] इति विभाषा प्राप्नोति। तत्र व्यापत्तिरेवेष्यते न विक्रम। एवमर्थमिदमुच्यते। "निष्षिष्वरीस्ते। निस्सिष्वरीरिति निःऽसिष्वरीः।"[3] 'स्वर्षाता यत्। स्वस्सातेति स्वऽसाता।"[4] द्व्यूष्मसु इति कस्मात्? "दिवः पृथिव्योः"[5] इत्यत्राप्युपाचारस्य निवृत्तौ कृतायाम्—"प्रथमोत्तमवर्गीये स्पर्शे वा"[6] इति व्यापत्तिरेव स्यात्। अविक्रमम् इति परिग्रहे विक्रमस्य प्रतिषेधात्। स्यान्मतम्—"अव्यापत्ति कखपफेषु वृत्तिः"[7] इत्युक्तत्वान्न भविष्यतीति। तच्च न। परिग्रहादन्यत्र सावकाशत्वात्तस्य॥

उ० भा० अ०—'परिग्रह' करने पर, द्व्यूष्मसूष्मसंधिषु=दो 'ऊष्म' (-वर्णों) वाली 'ऊष्म' संधियों में; अविक्रमम्=अपरिवर्तित विसर्जनीय नहीं, (उच्चारण) करना चाहिये, (अर्थात् दो 'ऊष्म'-वर्णों वाली 'ऊष्म'-संधियों में 'परिग्रह' के प्रथम वचन में परिवर्तित विसर्जनीय का उच्चारण करना चाहिये)। यह किसलिये कह रहे हो? (उत्तर) यहाँ (अर्थात् 'परिग्रह' के प्रथम वचन में) 'निष्षिष्वरीः' और 'स्वर्षाता' में (क्रमशः) 'मूर्धन्यभाव' ('नति') और रेफ की निवृत्ति हो जाने पर पुनः विसर्जनीय की—" 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो (विसर्जनीय) वही 'ऊष्म' (-वर्ण) हो जाता है"—इस नित्य-विधि को बाध करके—

टि० (क) ११।३६ आदि सूत्रों में उल्लिखित स्थलों में 'परिग्रह' के विषय में यह भी किया जा सकता है —(१) 'परिग्रह' के प्रथम वचन में संहिता-पाठ के अनुसार पाठ करे जिसमें विकार दिखलाया जाता है किंतु (२) 'परिग्रह' के द्वितीय वचन में विकार को न दिखलाकर पद-पाठ में दृष्ट रूप को दिखलाया जाता है।

(ख) श्येनाँइव ध्रजत ॥ स० पा० ॥ श्येनान्ऽइव। ध्रजत ॥ प० पा०
श्येनाँइव ध्रजत। श्येनाँइवेति श्येनान्ऽइव ॥ क्र० पा०

(ग) विश्वश्चन्द्रा अमित्रहन् ॥ स० पा० ॥ विश्वऽचन्द्रा। अमित्रऽहन् ॥ प० पा०
विश्वश्चन्द्रा अमित्रहन्। विश्वश्चन्द्रा इति विश्वऽचन्द्राः ॥ क्र० पा०

---

[1] ४।३२ [2] ४।३४ [3] ऋ० क्र० ३।५५।२२
[4] ऋ० क्र० ६।३३।४ [5] ऋ० क्र० २।२।३ [6] ४।३३ [7] ४।३८

" 'दन्त्य' के स्थान पर न आया हुआ 'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो तो (विसर्जनीय वही 'ऊष्म'-वर्ण विकल्प से होता है)"—इससे विभाषा प्राप्त होती है। वहाँ परिवर्तित विसर्जनीय ('व्यापत्ति') ही अभीष्ट है, अपरिवर्तित विसर्जनीय ('विक्रम') नही है—इसलिये यह कहा जा रहा है। (उदाहरण) "निष्षिष्वरीस्ते। निस्सिष्वरीरिति निऽसिष्वरी।"[क] "स्वर्षाता यत्। स्वस्सातेति स्वऽसाता।"[ख] "दो 'ऊष्म' (-वर्णों) की ('ऊष्म' सधियो में)"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "दिव पृथिव्यो"[ग] - यहाँ पर सकारभाव ('उपाचार') की निवृत्ति कर लेने पर "प्रथम और अन्तिम 'वर्ग' का ('अघोष') 'स्पर्श' बाद में हो तो (विसर्जनीय उस बाद वाले 'अघोष' 'स्पर्श' के समान स्थान वाला 'ऊष्म-वर्ण विकल्प से होता है)"—इस सूत्र से परिवर्तित विसर्जनीय ('व्यापत्ति') ही होता क्योकि (सूत्र में) "अपरिवर्तित विसर्जनीय नही"—इसके द्वारा 'परिग्रह' में अपरिवर्तित विसर्जनीय ('विक्रम')

टि० (क) निष्षिष्वरीस्ते ॥ स० पा० ॥ नि ऽसिष्वरी । ते ॥ प० पा०
निष्षिष्वरीस्ते । **निस्सिष्वरीरिति** नि ऽसिष्वरी ॥ क्र० पा०

'नि ऽसिष्वरी' का सकार ५।२१ से षकार होता है और विसर्जनीय ४।३२ से षकार होता है जिससे 'निष्षिष्वरी' रूप निष्पन्न होता है। इस 'ऊष्म' सधि में दो 'ऊष्म'-वर्णों में विकार हुआ है। ११।३७ से 'परिग्रह' में 'निष्षिष्वरी' का द्वितीय षकार सकार हो जाता है। फिर प्रथम षकार विसर्जनीय हो जाता है जिससे 'नि ऽसिष्वरी.' रूप निष्पन्न होता है। अब ४।३४ के अनुसार विसर्जनीय सकार भी हो सकता है और विकल्प से विसर्जनीय भी रह सकता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' के प्रथम वचन में विसर्जनीय का निराकरण कर विसर्जनीय के सकारभाव की व्यवस्था की गई है।

(ख) स्वर्षाता यत् ॥ स० पा० ॥ स्व ऽसाता । यत् ॥ प० पा०
स्वर्षाता यत् । **स्वस्सातेति** स्व ऽसाता ॥ क्र० पा०

'स्व ऽसाता' का विसर्जनीय, 'अघोष' (-वर्ण) बाद में रहते, ४।३९ से रेफ हो जाता है और इस रेफ के कारण 'साता' का सकार ५।२२ से षकार होता है जिससे सहिता-पाठ में 'स्वर्षाता' रूप निष्पन्न होता है। इस 'ऊष्म' सधि में दो 'ऊष्म'-वर्णों में विकार हुआ है। ११।४१ से 'परिग्रह' करने पर रेफ विसर्जनीय में परिवर्तित हो जाता है जिससे षकार भी सकार हो जाता है और यह मूल-रूप प्राप्त हो जाता है—'स्व ऽसाता'। अब ४।३४ के अनुसार विसर्जनीय सकार भी हो सकता है और विकल्प से विसर्जनीय भी रह सकता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' के प्रथम वचन में विसर्जनीय का निराकरण कर विसर्जनीय के सकारभाव की व्यवस्था की गई है।

(ग) 'दिव पृथिव्यो' का विसर्जनीय ४।५७ से सकार होता है। इस 'ऊष्म'-सधि में एक ही 'ऊष्म' (-वर्ण) में विकार हुआ है। अत प्रस्तुत सूत्र इस स्थल पर लागू नही होगा। अत 'परिग्रह' के पूर्ववचन मे अपरिवर्तित विसर्जनीय को ही दिखलाया जायेगा, परिवर्तित विसर्जनीय को नही।

का निषेध किया गया है। (पू०) मैं मानता हूँ कि 'क, ख, प और फ बाद में होने पर विसर्जनीय का ('ऊष्म'-वर्ण में) परिवर्तन न करना ('अव्यापत्ति') व्यवहार है"—इसके अनुसार ('व्यापत्ति') न होती। (सि०) ऐसी बात नहीं है क्योंकि वह (४।३८) 'परिग्रह' से अन्यत्र सावकाश है।[क]

(बहुक्रममन्तरेण आर्षीलोपापत्तेः स्थलानि)

समानकालावसमानकारणा-
वनन्तरौ वा यदि संनिगच्छतः।
पदस्य दोषावथ हेत्वसंग्रहे
नियुक्तमार्ष्यन्यतरेण लुप्यते ॥४७॥

(बहुत पदों के क्रम-वर्ग के बिना आर्षी के लोप के स्थल)

सू० अ०—यदि किसी पद के भिन्न-भिन्न कारण वाले दो विकार (दोष) (निमित्त से) अव्यवहित अथवा (निमित्त से व्यवहित) होने पर एक समय मे एक ही साथ होते हैं तो (उसी क्रम-वर्ग में) निमित्त (हेतु) का संग्रह न किये जाने पर आर्षी संहिता दोनों मे से किसी एक (पद) के साथ (क्रम-वर्ग में) निश्चय ही लुप्त हो जाती है।

उ० भा०—समानकालौ=एककालौ; असमानकारणौ=नानानिमित्तौ; अनन्तरौ वा=अव्यवहितौ निमित्ताद्व्यवहितौ वा; (यदि=) यत्र; संनिगच्छतः= संनिहितौ भवत ; पदस्य दोषौ=विकारौ–इत्यर्थः। अथ -अस्यामवस्थायाम्। हेत्वसंग्रहे= बहुक्रमेण निमित्तापरिग्रहे सति। नियुक्तम्=नियोगत। आर्षी संहिता। अन्यतरेण वचनेन लुप्यते। पूर्वेण वा परेण वा। "प्र णः"[१] इत्यत्र प्रनिमित्तं णत्वमुदात्तनिमित्त-मनुदात्तस्य स्वरितत्व चोत्तरेण सह प्रत्यादाने क्रियमाणे लुप्यते। "न इन्द्रो।"[२] व्यवहिते— "शक्र एणम्"[३]—इत्यत्र रेफनिमित्तं णत्वमुदात्तनिमित्तमनुदात्तस्य स्वरितत्व तदुत्तरेण प्रत्यादाने क्रियमाणे च लुप्यते। "एन पीपयत् ॥"[४]

टि० (क) पू०—पकार बाद मे होने के कारण विसर्जनीय ४।३८ से ही विकार को प्राप्त नही करेगा। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर यह कहना उचित नही है कि परिग्रह' के पूर्ववचन में अपरिवर्तित विसर्जनीय ('दिव पृथिव्यो' आदि) की सिद्धि के लिये "दो 'ऊष्म'-वर्णो वाली ('ऊष्म' सधियो मे)"—का सूत्र में ग्रहण किया गया है। सि०—४।३८ 'परिग्रह' से अन्यत्र स्थलो पर लागू होता है, 'परिग्रह' मे नही। इसलिये 'परिग्रह' के पूर्ववचन मे अपरिवर्तित विसर्जनीय की सिद्धि के लिये सूत्र में जो—"दो 'ऊष्म' (-वर्णो) वाली ('ऊष्म'-सधियों में)"—यह कहा गया है वह उचित है।

---

[१] ऋ० क्र० ९।४४।१
[२] ऋ० क्र० ९।४४।१
[३] ऋ० क्र० ८।१।१९
[४] ऋ० क्र० ८।१।१९

उ० भा० अ०—अनुनासिकोदये=प्रथम ('व्यञ्जन') के बाद में 'अनुनासिक हो तो; उभयेषाम्=जो गार्ग्य के मत को मानते हैं और जो शाकटायन के मत को मानते हैं—उन दोनों के मत से; अथ=ही; आर्षी संहिता का लोप हो जाता है। (जैसे) "त्रिककुम्निवर्तत्"[क]—यहाँ पर परवर्ती (पद) के कारण पकार का मकार होता है और वह मकार पूर्व (पद) के साथ वचन में लुप्त हो जाता है, (जैसे) "प्रसर्गे त्रिककुप्।"

अथो नतेनोपहितेऽनुनासिके ॥५१॥

सू० अ०—जब 'अनुनासिक' के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त वर्ण हो (तब भी आर्षी संहिता का लोप होता है)।

उ० भा०—अथो नतेनोपहितेऽनुनासिके सति परेण सह बहुक्रमेऽक्रियमाण आर्षी लुप्यते। "मो षु ण"[१] इत्यत्र षत्वनिमित्त णत्वं तदुत्तरेण सह प्रत्यादाने क्रियमाणे लुप्यते। "नः परापरा ॥"[२]

उ० भा० अ०—नतेनोपहितेऽनुनासिके—'अनुनासिक' के पूर्व में 'मूर्धन्यभाव' ('नति') को प्राप्त वर्ग हो तो, बहुत (पदों) का क्रम-वर्ग न करने पर परवर्ती (पद) के साथ (=द्वितीय वचन में), अथो=भी; आर्षी संहिता का लोप हो जाता है। (जैसे) "मो षु ण"—यहाँ पर 'षत्व' के कारण 'णत्व' हुआ है और परवर्ती (पद) के साथ पुनरुच्चारण ('प्रत्यादान') करने पर (यह 'णत्व') लुप्त हो जाता है, (जैसे) "न परापरा।"[ख]

तथाक्षरस्य क्रम एकपातिनः ॥५२॥

सू० अ०—उसी प्रकार (पद के रूप में) अकेले प्रयुक्त होने वाले 'अक्षर' का द्वित्व होने पर (आर्षी संहिता का लोप हो जाता है)।

उ० भा० - (एकपातिनः) अक्षरस्य (=एकाक्षरस्य पदस्य), क्रमः=द्विर्वचनम्; बहुक्रमेऽक्रियमाण उभयोर्वचनयोर्लुप्यते। "मुञ्चता वि। व्यंह. ॥"[३]

उ० भा० अ०—(एकपातिनः) अक्षरस्य=एक 'अक्षर' वाले पद का; क्रमः= द्विर्वचन=द्वित्व, ('परिग्रह' के) दोनों वचनों में लुप्त हो जाता है, यदि बहुत (पदों) का क्रम-वर्ग न बनाया जाये (अर्थात् जहाँ एकाक्षर पद-रूप 'अक्षर' का द्वित्व होता है वहाँ बहुत पदों का क्रम-वर्ग न बनाने पर द्वित्व का लोप हो जाता है), (जैसे) "मुञ्चता वि। व्यह।"[ग]

टि० (क) प्रसर्गे त्रिककुम्निवर्तत् ॥ सं० पा० ॥ प्रऽसर्गे। त्रिऽककुप्। निऽवर्तत ॥ प० पा०
प्रसर्गे त्रिककुप् (-ब्)। त्रिककुम्निवर्तत् ॥ क्र० पा०

(ख) मो षु ण ॥ सं० पा० ॥ मो इति। सु। न ॥ प० पा०
मो षु ण। नः परापरा ॥ क्र० पा०

(ग) मुञ्चता व्यह ॥ सं० पा० ॥ मुञ्चत। वि। अह ॥ प० पा०
मुञ्चता वि। व्यह ॥ क्र० पा०

[१] ऋ० १।३८।६ [२] ऋ० क्र० १।३८।६ [३] ऋ० क्र० ४।१२।६

न चात्र पूर्वः स्वरितेन संहितां
लभेत तस्मिन्नियतस्वरोदये ॥५३॥

सू० अ०—बाद में 'अनुदात्त' 'स्वर' हो तो यहाँ (=उपर्युक्त स्थल पर) पूर्ववर्ती ('स्वर') 'स्वरित' के साथ 'संहिता' को प्राप्त नहीं करेगा।

उ० भा०—अत्र=एकपातिनः क्रमे, तस्मादेकपातिनः पूर्वः स्वरः स्वरितेन संहितां न; (लभेत=) लभते; तस्मिन्नियतस्वरोदये सति। "हंसि नि। न्यं त्रिणम् ॥"[१]

उ० भा० अ०—अत्र=यहाँ=एकाक्षर पद-रूप 'अक्षर' का द्वित्व होने पर; उस एकाक्षर रूप 'अक्षर' से; पूर्वः=पूर्ववर्ती, 'स्वर', स्वरितेन='स्वरित' के साथ, संहिता न (लभेत)='संहिता' को प्राप्त नहीं होता है, तस्मिन्नियतस्वरोदये=यदि उस (एकाक्षर पद-रूप 'अक्षर') के बाद में 'अनुदात्त' हो; (अर्थात् जहाँ एकाक्षर पद-रूप 'अक्षर' का द्वित्व हुआ हो वहाँ उस एकाक्षर पद-रूप 'अक्षर' का पूर्ववर्ती 'स्वर' परवर्ती 'स्वरित' के साथ संहिता को प्राप्त नहीं होता है)। (उदाहरण) "हंसि नि। न्यं त्रिणम।"क

यदा च गच्छत्यनुदात्तमक्षरं
वशं पदादेरुदयस्य तेन च ॥५४॥

सू० अ०—जब 'अनुदात्त' 'अक्षर' परवर्ती पद के आदि ('उदात्त' 'अक्षर') के अधिकार में आ जाता है तो इससे भी (आर्षी संहिता का लोप हो जाता है)।

उ० भा०—यदा चानुदात्तमक्षरम्; (उदयस्य=) उदात्तस्य; पदादेर्वशं गच्छति। स्वरित च। "उदात्तवत्येकीभाव उदात्त सव्यमक्षरम्"[२] इति तेनोदात्तेनैकीभावे। तदा च बहुक्रमेऽक्रियमाणे ध्रुवमार्षी लुप्यते - "आ तेऽवः"[३] इत्यत्र त इत्यनुदात्तस्याव इत्युत्तरे-

(६४० ग) संहिता-पाठ में 'स्वर'-वर्ण (आकार) पूर्व में होने के कारण संयुक्त-वर्ण के प्रथम व्यञ्जन' (वकार) का ६।१ से द्वित्व होता है। 'परिग्रह' के प्रथम वचन में वकार संयुक्त-वर्ण का प्रथम 'व्यञ्जन' नहीं रहता और द्वितीय वचन में वकार के पूर्व में 'स्वर' नहीं आता है। अतः दोनों ही वचनों में वकार का (६।१ से प्राप्त) द्वित्व नहीं होता है। इससे आर्षी संहिता का लोप हो जाता है।

टि० (क) हंसि न्यं त्रिणम् ॥ सं० पा० ॥ हंसि। नि। अत्रिणम् ॥ प० पा०
हंसि नि। न्यं त्रिणम् ॥ क्र० पा०

यहाँ 'नि' एक 'अक्षर' वाला पद है जिसका प्रथम (='व्यञ्जन' नकार) संहितापाठ में ६।१ से द्वित्व को प्राप्त होता है। 'नि' के बाद में 'अत्रिणम्' का 'अ' 'अनुदात्त' है। संहिता-पाठ में 'हंसि' के 'अनुदात्त' 'इ' (जो 'नि' का पूर्ववर्ती 'स्वर' है) की 'संहिता' परवर्ती 'त्रि' 'स्वरित' के साथ दिखलाई पड रही है। दो-दो पदों का क्रम-वर्ग करने पर 'हंसि' के अनुदात्त की परवर्ती 'स्वरित' के साथ संहिता' नहीं दिखलाई देती है। इससे आर्षी संहिता का लोप हो जाता है।

[१] ऋ० ८।१२।१ [२] ३।११ [३] ऋ० ५।३५।३

णैकादेश उदात्तत्वम् । तत् पूर्वेण सह वचने लुप्यते—"आ तें।" "त्वां सोम॒ पर्वमानं स्वा॒ध्योऽनु॑"[१] इत्यत्र स्वाध्य इति स्वरितस्य—"उदात्तवत्येकीभावे"[२] इत्युत्तरेणैकादेश उदात्तत्व तत्पूर्वेण सह पठने लुप्यते। 'पर्वमान स्वा॒ध्यं॑ ॥"

उ० भा० अ०—यदा=जब, अनुदात्तमक्षरम्='अनुदात्त' 'अक्षर', पदादेः=पद के आदि में वर्तमान, (उदयस्य=) बाद वाले के='उदात्त' के; वशं गच्छति=अधिकार मे आ जाता है (अर्थात् 'उदात्त' हो जाता है), और 'स्वरित' भी (जब परवर्ती 'उदात्त' के अधिकार में आ जाता है)। '(दो स्वरो की) जिस सधि में एक (पूर्ववर्ती या परवर्ती) 'अक्षर' 'उदात्त' हो, वहाँ सधि के परिणामस्वरूप (सध्य) 'अक्षर' 'उदात्त' (होता है)"—इस (सूत्र) से (परवर्ती) 'उदात्त' के साथ एक हो जाता है। तब भी आर्षी सहिता का निश्चित ही लोप हो जाता है यदि बहुत (पदो) का क्रम-वर्ग न बनाया जावे। (जैसे) "आ तेऽर्व"[क]—यहाँ पर 'ते'—इस 'अनुदात्त' की 'अव' इस परवर्ती (पद) के ('उदात्त' के) साथ सधि होने पर (सधिज 'अक्षर') 'उदात्त' हो जाता है। पूर्ववर्ती पद के साथ क्रम-पाठ (वचन) करने में वह ('उदात्त') लुप्त हो जाता है—"आ तें।" "त्वा सोम॒ पर्वमान स्वा॒ध्योऽनु॑"[ख]—यहाँ पर 'स्वा॒ध्यं॑' के 'स्वरित' की—"(दो स्वरो की) जिस सधि में एक (पूर्ववर्ती या परवर्ती) 'अक्षर' 'उदात्त' हो (वहाँ संधिज 'अक्षर' 'उदात्त' होता है")—इससे परवर्ती पद के साथ सधि होने पर (वह 'स्वरित') उदात्त' होता है और वह ('उदात्त') पूर्ववर्ती (पद) के साथ पाठ करने मे लुप्त हो जाता है— 'पर्वमान स्वा॒ध्यं॑ ।"

उदात्तपूर्वे नियतस्वरोदये
परो विलोपोऽनियतो यदावरः ॥५५॥

सू० अ०—(१) जहाँ पूर्ववर्ती 'उदात्त' और परवर्ती 'अनुदात्त' (की सधि होती है) वहाँ द्वितीय वचन में (आर्षी संहिता का) लोप होता है। (२) प्रथम (वचन) मे भी (आर्षी संहिता का लोप होता है) यदि 'उदात्त' (अनियत) (बाद में होता है और 'अनुदात्त' पूर्व में होता है)।

उ० भा०—उदात्तपूर्वे एकादेशे नियतस्वरोदये सति। परः=परेण सह वचने—इत्यर्थः। आर्ष्या विलोपो भवतीति। अनियतो यदावरः—अनियत=उदात्त', यदा परो भवत्यनुदात्तश्च पूर्वस्तदा; अवरः=पूर्वेण सह वचने—इत्यर्थः। आर्ष्या विलोपो भवति। यद्येवं पूर्वस्याथ योग.। इह कस्मादुच्यते? उदात्तपूर्वेऽप्येकादेशे—"इकारयोश्च प्रश्लेषे"[३] इत्येवमादौ शाकले विधाने पूर्वेणापि सह वचन आर्ष्या विलोपो भवतीति स्यापनार्थम्।

टि० (क) आ तेऽर्व ॥ स० पा० ॥ आ। ते। अर्व ॥ प० पा०
आ तें। तेऽर्व ॥ क्र० पा०
(ख) त्वा सोम॒ पर्वमान स्वा॒ध्योऽनु॑ ॥ स० पा०
त्वाम्। सो॒म॒ पर्वमानम्। सु॒ऽआ॒ध्यं॑। अनु॑ ॥ प० पा०
त्वा सोम। सो॒म॒ पर्वमानम्। पर्वमानं स्वा॒ध्यं॑ः। स्वा॒ध्योऽनु॑ ॥ क्र० पा०

---

१ ऋ० ९।८६।२४ २ ३।११ ३ ३।१३

उदात्तपूर्वे—"एन्द्रं सानसिम्"[१] इत्यत्र आकारेण सहैकादेशनिमित्तमिकारस्योदात्तत्वम्। तस्य परेण सह प्रत्यादाने विलोपः—"इन्द्र सानसिम्।" तथा—'तेऽवन्तु'[२] इत्यत्र ते' इत्युदात्तस्य 'अवन्तु' इत्यनुदात्तेन सहैकादेशनिमित्तं स्वरितत्वम्। तस्य पूर्वेण सह वचने विलोपः—"ब्रवन्तु ते"[३] इति।

'अनियतो यदावरः" इत्येतस्य पूर्वसूत्रे निर्दिष्टमेवोदाहरणम्॥

उ० भा० अ०—उदात्तपूर्वे='उदात्त' (वाला 'अक्षर') है पूर्ववर्ती (वर्ण) जिसमें; नियतस्वरोदये=(और) 'अनुदात्त' 'स्वर' (वाला 'अक्षर' है) परवर्ती (वर्ण) जिसमें; उस संधि में, परः=परवर्ती (पद) के साथ वचन में (=द्वितीय वचन में)—यह अर्थ है। आर्षी संहिता का लोप हो जाता है। अनियतो यदावरः—अनियत='उदात्त', जब बाद में होता है और 'अनुदात्त' पूर्व में होता है तब, अवर=पूर्ववर्ती (पद) के साथ वचन में—यह अर्थ है। आर्षी संहिता का लोप हो जाता है। (पू०) यदि ऐसी बात है तो यह (तथ्य) पूर्ववर्ती (सूत्र) की पुनरावृत्ति (शेष) है। किस कारण से (इस तथ्य को) यहाँ (=पृथक् सूत्र में) कहा गया है? (सि०) 'दो 'ह्रस्व' इकारों की 'प्रश्लिष्ट' संधि में"—इत्यादि शाकल-विधान में जहाँ एकादेश का पूर्ववर्ती 'स्वर' उदात्त' होता है वहाँ पूर्ववर्ती (पद) के साथ वचन में आर्षी संहिता का लोप होता है—इस (नवीन तथ्य) को सूचित करने के लिये (पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त तथ्य की प्रस्तुत सूत्र में पुनरुक्ति की गयी है)।

'उदात्त' पूर्व में होने पर—"एन्द्रं सानसिम्"—यहाँ पर आकार के साथ संधि होने के कारण इकार 'उदात्त' हुआ है। परवर्ती (पद) के साथ पुनरुच्चारण (प्रत्यादान) करने पर उस ('उदात्त') का लोप हो जाता है—"इन्द्र सानसिम्।"[क] उसी प्रकार "तेऽवन्तु"—यहाँ पर "ते" के 'उदात्त' की "अवन्तु" के 'अनुदात्त' (अकार) के साथ जो संधि हुई है उसके कारण 'स्वरित' होता है। पूर्ववर्ती (पद) के साथ वचन में उस ('स्वरित') का लोप हो जाता है—"ब्रवन्तु ते।"[ख]

"प्रथम (वचन) में भी (आर्षी संहिता का लोप होता है) यदि 'उदात्त' (अनियत) (बाद में होता है और 'अनुदात्त' पूर्व में होता है)—इसका उदाहरण तो पूर्व सूत्र में ही दिया गया है।

स्वरैकदेशं स्वरितस्य चोत्तरं
यदा निहन्यादनिमित्तमक्षरम् ॥५६॥

सू० अ०—जब (वक्ता) (परवर्ती 'उदात्त' अथवा 'स्वरित' के कारण) 'स्वरित' 'स्वर' के बाद वाले एक अंश का (को) 'अनुदात्त' उच्चारण करता है तो वह

टि० (क) एन्द्रं सानसिम्॥ स० पा०॥ आ। इन्द्र। सानसिम्॥ प० पा०
एन्द्रं। इन्द्र सानसिम्॥ क्र० पा०
(ख) ब्रवन्तु तेऽवन्तु॥ स० पा०॥ ब्रवन्तु। ते। अवन्तु॥ प० पा०
ब्रवन्तु ते। तेऽवन्तु॥ क्र० पा०

[१] ऋ० १।८।१ [२] ऋ० क्र० १०।१५।५ [३] ऋ० क्र० १०।१५।५

'अक्षर' (प्रथम क्रम-वर्ग में) ('अनुदात्त' उच्चारण के) निमित्त के बिना ही (रखा जाता है जिससे आर्षी संहिता में दृष्ट 'स्वर' का लोप हो जाता है)।

उ० भा० - (स्वरितस्य=) स्वरितस्वरस्य; उत्तरम् अनुदात्तम्, (स्वरैकदेशम्=) एकदेशम्; तूदात्तस्वरितपरं सन्तम्, (निहन्यात्=) निहन्ति; वक्ता। "अ॒ण्यो॑ र॒सम्।" इति। तत् अक्षरम् यदा पूर्वेण सहानिमित्तं ब्रूयादार्षी लुप्यते। "सो॒तार॒ अ॒ण्योः॥"[१]

उ० भा० अ० —(स्वरितस्य=) 'स्वरित' 'स्वर' के; उत्तरम्=बाद वाले अनुदात्त'-रूप, (स्वरैकदेशम्=) एक अंश को; जब वक्ता 'उदात्त' और 'स्वरित बाद में होने पर, (निहन्यात्=) 'अनुदात्त' उच्चारण करता है—(जैसे) "अ॒ण्यो॑ र॒सम्" में। उस; अक्षरम्=('स्वरित' विशिष्ट) 'अक्षर' का जब पूर्ववर्ती (पद) के साथ ('अनुदात्त' उच्चारण) के निमित्त के बिना उच्चारण करता है तो आर्षी संहिता का लोप हो जाता है—(जैसे) "स॒तार॒ अ॒ण्यो'।"क

उदात्तपूर्वोऽप्यनुदात्तसंगमो
यदा स्वरौ द्वौ लभतेऽपि वा बहून् ॥५७॥

सू० अ० —'उदात्त' पूर्व में होने पर जब 'अनुदात्त' अक्षरों का समुदाय दो अथवा बहुत स्वरों को प्राप्त हो जाता है (तब भी आर्षी संहिता का लोप हो जाता है)।

उ० भा०—उदात्तपूर्वोऽपि स्वरितपूर्वोऽपि, (अनुदात्तसंगमः)= अनुदात्तानामक्षराणां समवायः; यदा द्वौ स्वरौ लभते; अपि वा बहून् स्वरान्; तदा बहुक्रमेऽक्रियमाणे आर्षी लुप्यते। "उ॒त दे॒वा अव॑हितम्"[३] इत्यत्र देवा इत्यनुदात्तसंगमस्य पूर्वनिमित्तमात्रस्य स्वरितत्वम्। तदुत्तरेण सह प्रत्यादाने क्रियमाणे लुप्यते —"दे॒वा अव॑हितम्।" तथा परनिमित्तमन्त्यस्यानुदात्तत्वम्। तत्पूर्वेण सह वचने लुप्यते—"उ॒त दे॒वाः।"

स्वरबहुत्वे—"पु॒रू पु॑रु॒भुजा॑ य॒त्"[४] इत्यत्र पूर्वापाये स्वरितो लुप्यते स्वरितापाये प्रचयाः—"पु॒रु॒भुजा॑ य॒त्।" उत्तरापाये चानुदात्तः —'पु॒रू पु॑रु॒भुजा।"

टि० (क) सो॒तार॒ अ॒ण्यो॑ र॒सम्॥ सं० पा०॥ सो॒तार॑। अ॒ण्यो॑। र॒सम्॥ प० पा० सो॒तार॒ अ॒ण्योः। अ॒ण्यो॑ र॒सम्॥ क्र० पा०

परवर्ती 'उदात्त' (रेफ) के कारण 'अ॒ण्यो॑' के 'स्वरित' (या-ओं) के 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण ३।६ के अनुसार 'अनुदात्त' होता है। प्रथम क्रम-वर्ग में जब 'अ॒ण्यो॑' पद 'र॒सम्' पद से पृथक् हो जाता है तो 'यो' इस 'स्वरित' 'अक्षर' का 'अनुदात्त' अंश 'अनुदात्त' उच्चारित न होकर ३।५ के अनुसार 'उदात्तश्रुति' उच्चारित होता है। इस प्रकार प्रथम क्रम-वर्ग में आर्षी संहिता का लोप हो जाता है। पृ० २१९ पर टि० (ङ) को भी देखिये।

[१] ऋ० ९।१६।१
[२] ऋ० क्र० ९।१६।१
[३] ऋ० १०।१३७।१
[४] ऋ० ५।७३।१

स्वरितपूर्वः—"वदता वर्दद्भ्यः"[१] इत्यत्र पूर्वापाये प्रचयस्वरौ लुप्येते। "वाचं वदत"[२] इत्यत्रोत्तरापायेऽनुदात्तः।

यस्माद्बहुक्रमेऽक्रियमाणे—"समानकालावसमानकारणौ"[३] इत्येवमादिभिर्विहितेल्वार्षी लुप्यते तस्माद्बहुक्रममिच्छन्त्येक आचार्याः॥

उ० भा० अ०—उदात्तपूर्वोऽपि='उदात्त' पूर्व में होने पर भी; (और) 'स्वरित' पूर्व में होने पर भी, (अनुदात्तसंगमः=) 'अनुदात्त' अक्षरो का समवाय; यदा द्वौ स्वरौ लभते=जब दो स्वरों को प्राप्त होता है; अपि वा बहून् =अथवा जब बहुत; स्वरों को (प्राप्त होता है), तब बहुत (पदो) का क्रम-(वर्ग) न बनाने पर आर्षी संहिता का लोप हो जाता है। (उदाहरण) 'उत देवा अर्वहितम्"—यहाँ पर 'देवा.' इस 'अनुदात्त' समुदाय में से प्रथम ('अनुदात्त') पूर्ववर्ती ('उदात्त') के कारण 'स्वरित' होता है। परवर्ती (पद) के साथ पुनरुच्चारण (प्रत्यादान) करने पर उस ('स्वरित') का लोप हो जाता है— "देवा अर्वहितम्"। उसी प्रकार अन्तिम ('अनुदात्त') का 'अनुदात्त' होना परवर्ती (पद) के कारण है। पूर्ववर्ती (पद) के साथ वचन में वह 'अनुदात्त' लुप्त हो जाता है—'उत देवा।"[क]

बहुत स्वर होने पर—"पुरू पुरुभुजा यत्"—यहाँ पर पूर्ववर्ती (पद) के पृथक् होने पर 'स्वरित' का लोप हो जाता है और 'स्वरित' का लोप होने पर प्रचयों (का लोप हो जाता है) 'पुरुभुजा यत्।" परवर्ती (पद) के पृथक् होने पर 'अनुदात्त' (का लोप हो जाता है)—"पुरू पुरुभुजा।"[ख]

स्वरित पूर्व में होने पर="वदता वर्दद्भ्य"—यहाँ पर पूर्व (='वाचम्') के पृथक् होने पर 'प्रचय' 'स्वर' का लोप हो जाता है। "वाचं वदत" यहाँ पर उत्तर पद के पृथक् होने पर 'अनुदात्त' का लोप हो जाता है।"[ग]

टि० (क) उत देवा अर्वहितम्॥ सं० पा०॥ उत। देवाः। अर्वऽहितम्॥ प० पा०
उत देवा। देवा अर्वहितम्॥ क्र० पा०

संहिता-पाठ में 'देवा' का 'दे' (ए) पूर्ववर्ती 'उदात्त' (त=अ) के कारण ३।७ से 'स्वरित' होता है और 'देवा.' का 'वाः' (आ) परवर्ती 'उदात्त' (अ) के कारण 'अनुदात्त' होता है। इस स्थिति में दो-दो पदो का क्रम-वर्ग करने पर प्रथम 'वचन' में 'देवा' के 'अनुदात्त' 'स्वर' का लोप हो जाता है और द्वितीय वचन में 'देवा.' के 'स्वरित' का लोप हो जाता है।

(ख) पुरू पुरुभुजा यत्॥ सं० पा०॥ पुरु। पुरुऽभुजा। यत्॥ प० पा०
पुरू पुरुभुजा। पुरुभुजा यत्॥ क्र० पा०

(ग) वाचं वदता वर्दद्भ्यः॥ सं० पा०॥ वाचम्। वदत। वर्दत्ऽभ्यः॥ प० पा०
वाचं वदत। वदता वर्दद्भ्य॥ क्र० पा०

---

[१] ऋ० क्र० १०।९४।१ [२] ऋ० क्र० १०.९४।१ [३] ११।६७

यत बहुत पदो का क्रम-वर्ग न करन पर "समान काल वाले तथा भिन्न-भिन्न कारण वाले"—इत्यादि से विहित (स्थलो) पर आर्षी सहिता लुप्त हो जाती है, अत कतिपय आचार्य (इन स्थलो पर) बहुत (पदो) के क्रम (-वर्ग) को बनाना अभीप्ट मानते हैं।

(आर्षीलोपविषये मतभेदः)

यथा प्रक्लृप्ते स्वरवर्णसंहिते
तयोस्तयोरक्षरवर्णयोस्तथा।
अदर्शनेऽनार्ष्यविलोप उच्यते
क्रमेष्वनार्षं ब्रुवतेऽपरे स्वरम् ॥५८॥

(आर्षी के लोप के विषय में मतभेद)

सू० अ०—स्वरों की संहिता और वर्णों की संहिता जिस प्रकार आर्षी संहिता में दिखलाई पड़ती हैं उस प्रकार यदि वे स्वरों की संहिता और वर्णों की संहिता (क्रम-पाठ में) दिखलाई न दें तो यह आर्षी संहिता का लोप कहा जाता है। किन्तु दूसरे (आचार्य) 'स्वर' को 'अनार्ष' कहते हैं (अर्थात् आर्षी संहिता में दृष्ट 'स्वर' को क्रम-पाठ मे दिखलाना आवश्यक नहीं मानते हैं)।

उ० भा०—यथा=येन प्रकारेण; प्रक्लप्ते=विहिते; (स्वरवर्णसंहिते=) स्वर सहिता वर्णसहिता च; तयोस्तयोरक्षरवर्णयोः—अक्षरस्य=स्वरस्य, सहिता वर्णाना च वर्णसहिता, तयोः स्वरवर्णसहितयोः: अदर्शने सति उच्यते अनार्ष्यविलोपः। किमिदमनार्ष्यविलोपः? आर्षीविलोपः—इत्यर्थः। कोऽस्य विग्रहः? विलोपः=विनाशः। तस्याभावः अविलोपः। आर्ष्या अविलोप=आर्ष्यविलोप। न आर्ष्यविलोप=अनार्ष्यविलोपः।

'प्र णं.'[1] इत्यस्मिन्वचने णत्वस्वरितयोर्दर्शनादप्यनार्ष्यविलोपो भवतीति। यद्यपि णत्वस्वरितौ तत्र दृष्टौ, "नु इन्द्रो। इन्द्रो मृहे"[2] इत्यत्रेन्दो इत्येतस्य प्रचयस्वरस्याभावाद्विलोप एव। नैष दोषः। क्रमेषु ह्यपर आचार्याः स्वरमनार्षं ब्रुवते॥

उ० भा० अ०—यथा=जिस प्रकार से, (स्वरवर्णसंहिते=) स्वरों की संहिता (मेल) और वर्णों की संहिता (मेल), प्रक्लृप्ते=(आर्षी संहिता में) दिखलाई पड़ती हैं। तयोस्तयोरक्षरवर्णयोः—'अक्षर' की='स्वर' की, संहिता (मेल) (स्वरसहिता) है और वर्णों की (संहिता) वर्णसंहिता है, वे स्वरसहिता और वर्णसहिता, अदर्शने=दिखलाई न दें तो, उच्यतेऽनार्ष्यविलोप=अनार्ष्यविलोप कहा जाता है। यह अनार्ष्यविलोप क्या है? (उत्तर) आर्षी का विलोप—यह अर्थ है। इसका विग्रह कैसे होता है? (उत्तर) विलोप=विनाश। उस (विलोप) का अभाव=अविलोप। आर्षी का अविलोप=आर्ष्यविलोप। आर्ष्यविलोप का न होना=अनार्ष्यविलोप।

"प्र णं"—इस क्रम-वर्ग में 'णत्व' और 'स्वरित' के दिखलाई पडने पर भी आर्षी का विलोप (अनार्ष्यविलोप) होता है। यद्यपि 'णत्व' और 'स्वरित' वहाँ (="प्र णं" में)

---

[1] ऋ० ऋ० ९।८४।१ [2] ऋ० ऋ० ९।८८।१

दिखलाई पड रहे हैं। तथापि "नृ इन्द्र ो। इन्द्र ो मृहे"[क] में 'इन्दो' के 'प्रचय' 'स्वर' के अभाव के कारण (आर्षी सहिता का) विलोप ही है। यह दोष नही है। (क्योकि) अन्य आचार्य क्रम-पाठ में 'स्वर' को 'अनार्ष' कहते हैं (अर्थात् यह आवश्यक नही है कि आर्षी सहिता में दृष्ट 'स्वर' ही क्रम-पाठ में होवे)।[ख]

अदृष्टमार्ष्यां यदि दृश्यते क्रमे
विलोपमेवं ब्रुवतेऽपरे तथा।
स कारणान्यार्ष्यविलोपविक्रमः
क्रमेण युक्तोऽपि बहूनि सन्दधत् ॥५६॥

सू० अ०—आर्षी संहिता में न दिखलाई देने वाला कोई रूप क्रम-पाठ में दिखलाई दे तो अन्य आचार्य इसे उसी प्रकार आर्षी संहिता का विलोप ही बतलाते हैं। आर्षी का विलोप न हो जावे इसलिए वह क्रम-पाठ में तत्पर व्यक्ति (क्रमक) (विकार के) बहुत कारणों को भी मिलाता हुआ (क्रम-पाठ करता है)।

उ० भा०—यद्यप्यन्यतरस्मिन्वचन आर्षी दृश्यते पुनः अदृष्टं (आर्ष्याम्) सहितायाम्; यदि क्रमे दृश्यते; एवम्=अस्यामवस्थायाम् अपर आचार्या विलोपम्; (ब्रुवते=) मन्यन्ते। कस्मात्? असतः प्रादुर्भावात्— 'न इन्दो।" तथा। कथम्? यथा—"समानकालावसमानकारणौ"[2] इति विहितेषु। स क्रमकः। आर्ष्यविलोपविक्रमः=आर्ष्यविलोपहेतुः। क्रमेण युक्तस्तमलोप प्रति, कारणानि=निमित्तानि; बहून्यपि पदानि संदधत्पठति। "इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमम्॥"[3]

उ० भा० अ०—यद्यपि दोनो (प्रथम और द्वितीय वचनो) में से किसी एक वचन में आर्षी सहिता दिखलाई देती है किंतु, (आर्ष्याम्) अदृष्टम्=आर्षी सहिता में अदृष्ट (कोई रूप); यदि क्रमे दृश्यते=यदि क्रम-पाठ में दिखलाई पड़े तो, एवम्=इस अवस्था में भी, अपरे=दूसरे आचार्य, विलोपम्=(आर्षी सहिता का) विलोप, ब्रुवते=मानते

टि० (क) प्र णं इन्दो मुहे ॥ स० पा० ॥ प्र । नृ । इन्द्र ो इति । मृहे ॥ प० पा०
प्र णः । नृ इन्द्र ो । इन्द्र ो मृहे ॥ क्र० पा०

(ख) इस सूत्र में दो मत प्रस्तुत किये गये है। प्रथम मत—आर्षी सहिता मे दृष्ट स्वर-सहिता और वर्णसहिता यदि क्रम-पाठ में दिखलाई न दे तो यह आर्षी सहिता का लोप माना जायेगा। उपर्युक्त उदाहरण में यद्यपि वर्णसहिता ('णत्व') का लोप नही हुआ है तथापि स्वरसहिता का लोप हो गया है—आर्षी सहिता में दृष्ट 'इन्दो' पद का 'प्रचय' 'स्वर' किसी भी क्रम-वर्ग में दिखलाई नही दे रहा है। द्वितीय मत—यह आवश्यक नही है कि आर्षी सहिता में दृष्ट 'स्वर' ही क्रम-पाठ में भी हो। स्वर' के कारण आर्षी सहिता का लोप नही होना। अत उपर्युक्त उदाहरण में आर्षी सहिता का लोप नही हुआ है।

---

[1] ऋ० क्र० ९।४४।१ [2] ११।४७ [3] ऋ० क्र० १०।७५।५

हैं। क्यों (मानते हैं); (उत्तर) (आर्षी संहिता में) अविद्यमान का प्रादुर्भाव होने से—(जैसे) "न॒ इन्द्र॒ो।" उसी प्रकार (लोप होता है)। किस प्रकार (लोप होता है)। (उत्तर) जिस प्रकार—'समान काल वाले और भिन्न-भिन्न कारण वाले" इस (सूत्र) से विहित स्थलों में। आर्ष्यविलोपविक्रम=आर्षी का लोप न हो इस कारण से, क्रमेण युक्तः सः=क्रम-पाठ करने में लगा हुआ वह क्रमक, आर्षी संहिता के अलोप के लिए, बहून्यपि कारणानि=(विकार के) निमित्तभूत बहुत से भी पदों को, संदधत्=मिलाता हुआ, क्रम-पाठ करता है। (उदाहरण) "इ॒म मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति॒ शुतु॑द्रि॒ स्तोम॑म्।"[क]

(परिग्रहस्योपयोगः)

पदं पदान्तश्च यदा न गच्छति
स्वरावसानं स तु योऽत्र युज्यते।
तदा न रूपं लभते निराकृतं
न चेन्निराहोपनिवृत्य तत्पदम् ॥६०॥

(परिग्रह का उपयोग)

सू० अ०—जब कोई पद अपने 'स्वर' को प्राप्त नहीं करता है और पद का अन्तिम वर्ण अपने अन्तिम रूप को प्राप्त नहीं करता है तब यहाँ (अर्थात् क्रम-पाठ में) लगा हुआ जो (व्यक्ति) है वह उस आच्छादित रूप को प्राप्त नहीं करता है यदि वह लौटकर उस पद का 'परिग्रह' न करे।

उ० भा०—(पद पदान्तश्च यदा न गच्छति स्वरावसानम्=) पद यदा स्वर न गच्छति पदान्तश्च यदावसान न गच्छति; तदा न रूपं लभते; निराकृतम्=विस्मृतम् =अन्येन केनचित् छादितम्—इत्यर्थः; पदकाले स्वरकृत च वर्णकृत चोभयम। यः त्वत्र युज्यते क्रमक स उपनिवृत्य तत्पदं न चेत्; (निराह=) निर्ब्रवीति। स्वरकृतम्—"ते॑ऽवदन्। त इति॒ ते॑"[1]—अत्र परिग्रहाकृत उदात्तकृत रूप न लभते। वर्णकृतम्—"नू इत्था। न्विति नु"[2]—अत्र ह्रस्वकृत रूप न लभते॥

उ० भा० अ०-(पदं पदान्तश्च यदा न गच्छति स्वरावसानम्=) जब कोई पद (अपने) 'स्वर' को प्राप्त नहीं करता है और पदान्त जब अन्तिम रूप को प्राप्त नहीं करता है, तदा न रूपं लभते=तब (क्रमक) (संहिता में प्राप्त) रूप को प्राप्त नहीं करता है, (जो

टि० (क) इ॒म मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति॒ शुतु॑द्रि॒ स्तोम॑म्॥ सं० पा०
इ॒मम्। मे॒। ग॒ङ्गे॒। य॒मु॒ने॒। स॒र॒स्व॒ति॒। शुतु॑द्रि। स्तोम॑म्॥ प० पा०
इ॒म मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति॒ शुतु॑द्रि॒ स्तोम॑म्॥ क्र० पा०

इन आचार्यों के मतानुसार यहाँ सात पदों का एक क्रम-वर्ग बनाया गया है। इन सात पदों में से एक को भी तोड़ने पर आर्षी संहिता में दृष्ट 'स्वर' में परिवर्तन हो जायेगा। इससे आर्षी संहिता का लोप हो जायेगा क्योंकि इन आचार्यों का मत है कि आर्षी संहिता में अदृष्ट कोई भी स्वर क्रम-पाठ में आ जाने तो आर्षी संहिता का लोप हो जाता है।

1 ऋ० सं० १०।१०९।१ 2 ऋ० सं० १।१३२।४

रूप), निराकृतम्=विस्मृत है=अन्य किसी (पद) के द्वारा आच्छादित है—यह अर्थ है, पद-काल मे जो 'स्वर' से सम्बद्ध रूप है और जो वर्ण से सम्बद्ध रूप है—ये दोनो। यः त्वत्र उच्यते=जो यहाँ (=क्रम-पाठ मे) लगा हुआ है सः=वह क्रमक, चेत्=यदि; उपनिवृत्य=लौटकर, तत् पदं न (निराह)=उस पद का 'परिग्रह' न करे तो।[क] स्वर का (रूप)—"तेऽवदन्।" "त इति ते।"[ख]—यहाँ पर 'परिग्रह' के विना उदात्तरूप प्राप्त नही होता है। वर्ण का (रूप)—"नू इत्था। न्विति नु"[ग]—यहा पर ('परिग्रह') के विना) 'ह्रस्व' रूप प्राप्त नही होता है।

स्थितिस्थितोपस्थिययोश्च दृश्यते
पदं यथावद्व्ययवद्ध्युपस्थिते।
क्वचित्स्थितौ चैवमतोऽधि शाकलाः
क्रमे स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत ॥६१॥

सू० अ०—'स्थिति' (केवल इतिरहित) तथा 'स्थितोपस्थित' (इतिसहित तथा इतिरहित) अवस्थाओं में ही पद मूल रूप में दिखलाई पड़ता है। 'उपस्थित' (केवल इतिसहित) अवस्था में पद विकृत रहता है और कभी-कभी 'स्थिति' (केवल इतिरहित) में भी (पद विकृत रहता है)। इसलिये शाकल के अनुयायी क्रम-पाठ में 'स्थितोपस्थित' (इतिसहित तथा इतिरहित) रूप में ही पद को दिखलाते है।

उ० भा०—यदुक्तमधस्तात्स्थित्युपस्थितस्थितोपस्थितानामन्यतमेन पदप्रदर्शनमाचरन्तीति तदयुक्तम्। कस्मात्? स्थितिस्थितोपस्थितयोः; (च=) एव; हि यथावत्पदं दृश्यते।

"आरुँक्पन्थाम्। अरुँगिति"—एवमुपस्थिते सति पदान्तस्य पदे दृष्टं स्वरितत्वं तत्र न दृश्यते। तस्माद् (उपस्थिते) व्ययवत् इत्युच्यते। तथा—"मो षू णः"[1]—इत्यत्रोपस्थितमुक्ते ह्रस्वान्तं न दृश्यते। क्वचित्स्थितौ; (च=) अपि, एवम्। यथोपस्थिते तथा व्ययवद् दृश्यते। 'प्रातः सोमम्। प्रातः"[2]—इत्यत्र पदे दृष्टो रेफः स न दृश्यते।

अतोऽधि=अस्माद्धेतोः, शाकलाः क्रमे वर्तमाने स्थितोपस्थितम्, (उत=) एव; आचरन्ति। "अरुँगित्यरैक्", 'स्विति सु", "प्रातरिति प्रातः।"

टि० (क) अर्थात् जब किसी पद का संहिता मे प्राप्त 'स्वर' क्रम-वर्ग में दिखलाई न पड़े और किसी पद का अन्तिम वर्ण क्रम-वर्ग में दिखलाई न पड़े तो वहाँ सम्बद्ध पदो का 'परिग्रह' न करने पर संहिता में प्राप्त 'स्वर' तथा संहिता में प्राप्त वर्ण दिखलाई नही पड़ेगा।

(ख) तेऽवदन् ॥ सं० पा० ॥ ते। अवदन् ॥ प० पा० ॥ तेऽवदन्। त इति ते॥ क्र०पा०

(ग) न्वित्था ॥ सं० पा० ॥ नु। इत्था ॥ प० पा० ॥ नू इत्था। न्विति नु ॥ क्र० पा०

[1] ऋ० कं० १।१९३।१६ [2] ऋ० १।१७३।१२ [3] ऋ० कं० ७।४१।१

उ० भा० अ०—यह जो पहले (११।३० में) कहा गया था कि 'स्थिति' (केवल इतिरहित), 'उपस्थित' (केवल इतिसहित) और 'स्थितोपस्थित' (इतिसहित तथा इतिरहित) में से किसी एक के द्वारा पद को दिखलाया जाता है—वह ठीक नही है। (पू०) क्यो (ठीक नही है) ? (सि०) स्थितिस्थितोपस्थितयो='स्थिति' (केवल इतिरहित) और 'स्थितोपस्थित' (इतिसहित तथा इतिरहित) में, (च=) ही, यथावत्पदं दृश्यते=पद मूल रूप में दिखलाई पडता है।

"आरैक्पन्थाम्। अरैगिति"[क]—इस प्रकार 'उपस्थित' (इतिसहित) होने पर पदान्त (रै) का पद-पाठ में दिखलाई देने वाला स्वरितत्व वहाँ (अर्थात् 'उपस्थित' में) दिखलाई नही देता है। इसलिये, (उपस्थिते) व्ययवत्=('उपस्थित' में) विकारयुक्त होता है)—यह कहा गया है। उसी प्रकार—"मो षू ण[ख]"—यहाँ पर 'उपस्थित' (स्विति) में कहने पर ('सु' पद) ह्रस्वान्त दिखलाई नही पडता है। क्वचित्स्थितौ=कभी-कभी 'स्थिति' (केवल इतिरहित) में; (च=) भी; एवम्=इसी प्रकार (होता है)। जैसा 'उपस्थित' (केवल इतिसहित) में वैसा ('स्थिति'=केवल इतिरहित में भी) विकारयुक्त दिखलाई पडता है। (जैसे) "प्रात सोमम् प्रात[ग]"—यहाँ 'प्रात' ('स्थिति') में पद-पाठ के समय रेफ दिखलाई पडता है किंतु वह ('स्थिति' में) नही दिखलाई देता है।

अतोऽधि=इस कारण से, शाकलाः=शाकल के अनुयायी; क्रमे=क्रम-पाठ के विषय में; स्थितोपस्थितम्='स्थितोपस्थित' (इतिसहित तथा इतिरहित) को, (उत=) ही; आचरन्ति=दिखलाते हैं। (जैसे) "अरैगित्यरैक्", "स्विति सु", "प्रातरिति प्रात।"

टि० (क) आरैक्पन्थाम् ॥ स० पा० ॥ अरैक्। पन्थाम् ॥ प० पा०
आरैक्पन्थाम्। अरैगिति ॥ क्र० पा०
'अरैक्' का 'रै' पद-पाठ में 'स्वरित' है किंतु 'अरैगिति' में 'अनुदात्त' हो गया है। अत यहाँ (='उपस्थित' में) पद मूल रूप में दिखलाई नही देता है।

(ख) मो षू ण ॥ स० पा० ॥ मो इति। सु। न. ॥ प० पा०
मो षू ण.। स्विति ॥ क्र० पा०
'सु' का अन्त पद-पाठ में 'ह्रस्व' 'अक्षर' (उकार) में होता है किंतु 'स्विति' में उकार दिखलाई नही पड रहा है। अत यहाँ (='उपस्थित' में) पद मूल रूप में दिखलाई नही देता है।

(ग) प्रात सोमम् ॥ स० पा० ॥ प्रातरिति। सोमम् ॥ प० पा०
प्रात सोमम्। प्रातः ॥ क्र० पा०
पद-पाठ में 'प्रातरिति' में रेफ दिखलाई दे रहा है किंतु 'प्रात' में रेफ दिखलाई नही पड रहा है। अत. यहाँ (='स्थिति' में) पद मूल रूप में दिखलाई नही देता है।

उपर्युक्त तीनो ही स्थलो में 'स्थितोपस्थित' ("अरैगित्यरैक्", "स्विति सु" और "प्रातरिति प्रात") में पद मूल रूप में दिखलाई पडते हैं।

क्रमेत सर्वाणि पदानि निर्ब्रुवन्निति स्मरन्ति ॥६२॥

सू० अ०—(दूसरे आचार्य) मानते हैं कि सभी पदों को ('परिग्रह' के द्वारा) दिखलाते हुए क्रम-वर्गों को बनावे।

उ० भा०—क्रमेत—क्रमं ब्रूयात्; क्रमकः; सर्वाणि पदानि=एकैकं पदम्; निर्ब्रुवन् द्विक्रमे बहुक्रमे वेति; स्मरन्ति=एवमिच्छन्त्येक आचार्याः। कस्य हेतोः? एवं सुखतरमार्ष्या अविलोपो भवतीति। "आ मन्द्रम्। एत्या। मन्द्रमा वरेण्यम्। मन्द्रमिति मन्द्रम्। आ वरेण्यम्। एत्या।"[१] एव सर्वत्र॥

उ० भा० अ०—क्रम-पाठी दो (पदों) के क्रम-वर्ग में अथवा बहुत (पदों) के क्रम-वर्ग में, सर्वाणि पदानि=सब पदों को=एक-एक पद को, निर्ब्रुवन्=('परिग्रह' के द्वारा) कहता हुआ, क्रमेत=क्रम-वर्ग बनाये; स्मरन्ति=स्मरण करते हैं=इसे कुछ आचार्य अभीष्ट मानते हैं। किस कारण से? (उत्तर) ऐसा करने से आसानी से आर्षी संहिता का अलोप होता है। "आ मन्द्रम्। एत्या। मन्द्रमा वरेण्यम्। मन्द्रमिति मन्द्रम्। आ वरेण्यम्। एत्या।"[क] इस प्रकार सर्वत्र (करना चाहिये)।

(शास्त्रविहितक्रमपाठस्य प्रशंसा)

आचरितं तु नोत्क्रमेत्।
क्रमस्य वर्त्म स्मृतिसंभवौ ब्रुवन्।
समाधिमस्यान्वितराणि कीर्तयेत् ॥६३॥

(शास्त्र में विहित क्रम-पाठ की प्रशंसा)

सू० अ०—(दशम पटल में) विहित (क्रम-शास्त्र का) उल्लंघन नहीं करना चाहिए। क्रम-पाठ के मार्ग में (को) शास्त्र (स्मृति) और युक्ति (संभव) को अपनाता हुआ क्रम-पाठी इस (क्रम-पाठ) के उत्कर्ष के लिए अन्य (=एकादश पटल में हेतुओं) को कहे।

उ० भा०—पार्षदे यत्; आचरितम्=पूर्वशास्त्रविहितम्—"क्रमो द्वाभ्यामभिक्रम्य"[२] इत्येवमादि; तत् तु; नोत्क्रमेत्=नान्यथाकुर्यात् इत्यर्थः। क्रमस्य वर्त्म वृत्तं स्मृतिसंभवौ हेतू; ब्रुवन्=वक्ता। स्मृतिः=शास्त्रदर्शनादि। संभवः=उपपत्तिः—इत्यनर्थान्तरम्। अस्य= क्रमस्य; समाधिम्=संपदम्। अन्वितराणि। अनुगम्यानुलक्ष्य च। इतराणि कतराणि? क्रमहेतौ शासनानि। कीर्तयेत्। किमुक्तं भवति? पूर्वस्मिन्क्रमशास्त्रे या

टि० (क) आ मन्द्रमा वरेण्यमा॥ सं० पा०॥ आ। मन्द्रम्। आ। वरेण्यम्। आ॥ प० पा० आ मन्द्रम्। एत्या। मन्द्रमा वरेण्यम्। मन्द्रमिति मन्द्रम्। आ वरेण्यम्। एत्या॥ क्र० पा०

---

[१] ऋ० क० ०।६५।३०   [२] १०। १-२

संपद्रुक्ता तस्या अविरोधेन हेतूक्तानि कुर्यात्—इत्यर्थः। "अग्निमीळे। ईळे पुरोहितम्।"[१] हेतौ परिगृह्यमाणेऽत्रापि त्रिक्रमः प्राप्नोति—"अदृष्टमार्ष्यां यदि दृश्यते क्रमे"[२] इति॥

अपरे वर्णयन्ति—**समाधिमस्यान्वितराणि कीर्तयेत्**—अस्य क्रमस्य समाधिमात्र-मितराणि क्रमहेतौ शासनानि कीर्तयेत्। किमुक्तं भवति? पूर्वस्मिन्क्रमशास्त्रे या संपदुक्ता तस्या अविरोधेन हेतूक्तानि कुर्यात्-इत्यर्थः। यथा—"अदृष्टवर्णं प्रथमे प्रदर्शनम्।"[३] यथा च प्लुतादिप्रभृतीनीत्येवमादीनि॥

उ० भा० अ०—प्रातिशाख्य (पार्षद) में जो; **आचरितम्**=प्रतिपादित किया गया है='दो पदों से प्रारम्भ करके (दो-दो पदो से क्रम-पाठ किया जाता है)" इत्यादि जो पूर्व-शास्त्र (दशम पटल में) विहित है, उसका (उसको); **तु नोत्क्रमेत्**=उल्लघन नही करना चाहिए=इसके विपरीत (क्रम-पाठ) नही करना चाहिए—यह अर्थ है। **क्रमस्य वर्त्म**=क्रम-पाठ का जो मार्ग (दशम पटल में) निश्चित किया गया है उसमें (उसको), **ब्रुवन्**=वक्ता; **स्मृतिसंभवौ**=स्मृति और सभव को, हेतु के रूप में अपनावे। स्मृति=शास्त्रदर्शनादि (=दशम पटल में कहे गये नियम)। संभव=युक्ति -ये भिन्नार्थक नही है (अर्थात् 'सभव' और 'युक्ति'—ये दोनो समानार्थक है)। **अस्य**=इस क्रम-पाठ के, **समाधिम्**=उत्कर्ष को, **अन्वितराणि**—अनु=अनुगमन करके और उस पर दृष्टि रखकर, **इतराणि**=अन्य। अन्य कौन? (उत्तर) क्रम-हेतु पटल में उपदेश। **कीर्तयेत्**=कहने चाहिए। कहने का क्या तात्पर्य है? (उत्तर) पूर्ववर्ती क्रम-शास्त्र (दशम पटल) में जो तथ्य बतलाये गये है उनका विरोध न करते हुए (एकादश पटल मे नवीन) हेतुओं का कथन करना चाहिए—यह अर्थ है।[क] "आर्षी सहिता में अदृष्ट कोई रूप यदि क्रम-पाठ में दिखलाई पडे (तो इससे आर्षी सहिता का लोप हो जाता है)"—इस (तथ्य) का हेतु-पटल (एकादश पटल) में ग्रहण होने से यहाँ "अग्निमीळे। ईळे पुरोहितम्।"[ख] में भी तीन पदो का एक क्रम वर्ग प्राप्त होता है।

टि० (क) इन आचार्यों का मत है कि (१) दशम मण्डल में प्रतिपादित नियमो के अनुसार ही क्रम-पाठ का निर्माण करना चाहिए और एकादश पटल में हेतुओ को भी ऐसे बतलाना चाहिए जिससे दशम पटल के नियमो का उल्लघन न हो। (२) कभी-कभी युक्ति के आधार पर क्रम-पाठ के निर्माण में कुछ हेर-फेर किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में भी दशम-पटल के नियमो पर सर्वदा दृष्टि रखनी चाहिए।

(ख) अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम्॥ स० पा०॥ अ॒ग्निम्। ई॒ळे॒। पु॒रःऽहि॑तम्॥ प० पा०
अ॒ग्निमी॑ळे। ई॒ळे॒ पु॒रोहि॑तम्॥ क्र० पा०॥ दशम पटल के अनुसार।
अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम्॥ क्र० पा०॥ इन आचार्यों के अनुसार।

दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाने पर क्रम-पाठ में 'ईळे' का 'स्वर' आर्षी सहिता में दृष्ट 'स्वर' से भिन्न हो जाता है। अत ये आचार्य आर्षी सहिता के अलोप के लिए यहाँ तीन पदो का एक क्रम-वर्ग बनाते है।

१ ऋ० क्र० १।१।१   २ ११।५९   ३ ११।२७

दूसरे आचार्य इस प्रकार व्याख्या करते हैं—**समाधिमस्यान्वितराणि कीर्तयेत्**= इस क्रम-पाठ के उत्कर्षमात्र के लिए अन्य को अर्थात् क्रम-हेतु-पटल मे उपदेशो को कहना चाहिए। कहने का क्या तात्पर्य है ? (उत्तर) पूर्ववर्ती क्रम-शास्त्र (दशम पटल) में जो तथ्य बतलाये गये हैं उनका विरोध न करते हुए (एकादश पटल में) हेतुओ को कहना चाहिए—यह अर्थ है। जैसे—"प्रथम (द्वंपद) में (प्रथम पद का अन्तिम) वर्ण दिखलाई न पडे (तो 'परिग्रह' के द्वारा इसको) दिखलाते है।" और जैसे 'दीर्घ' हो गए हैं प्रथम 'अक्षर' जिनके—इत्यादि (के हेतुओं) को (ही कहना चाहिए)।[क]

यथोपदिष्टं क्रमशास्त्रमादितः
पुनः पृथक्त्वैर्विविधैर्न साधुवत् ॥६४॥

सू० अ०—क्रम-शास्त्र जैसा प्रारम्भ मे उपदिष्ट किया था वही ठीक है। किंतु अनेक आचार्यों ने पृथक्-पृथक् रूप से (जिस क्रम-शास्त्र को कहा है) वह ठीक नहीं है।

उ० भा० **यथोपदिष्टं क्रमशास्त्रमादितः** तदेव साधुवदध्येतव्यम्। **पुनः पृथक्त्वैर्विविधैः**; यदुक्त तन्न **साधुवत्** विद्यात्। किं कारणम् ? सर्वथाभिक्रमे क्रियमाणे स्वं स्व पक्षान्तरमाश्रित्य संहिताया अविलोप इत्युच्यते ॥

उ० भा० अ०—**यथोपदिष्टं क्रमशास्त्रमादितः**=प्रारम्भ मे क्रम-शास्त्र जैसा उपदिष्ट किया गया था, वही ठीक है—यह जानना चाहिये। **पुनः पृथक्त्वैर्विविधैः**= किंतु अनेक (आचार्यों) के द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से, जिसको कहा गया है। वह, **साधुवत् न**=ठीक नही है—यह जानना चाहिये। क्या कारण है ? क्रम-वर्गों को बनाने के विषय में सबने अपने-अपने पक्ष का आश्रय लेकर कहा है कि इस प्रकार आर्षी संहिता का लोप नही होता है (सबने अनेक कल्पनायें की है)।

इति प्र बाभ्रव्य उवाच च क्रमं।
क्रमप्रवक्ता प्रथमं शशंस च ॥६५॥

सू० अ०—इसलिए क्रम-पाठ के प्रवक्ता बाभ्रव्य ने सर्वप्रथम क्रम-पाठ का प्रवचन किया था और इसकी प्रशंसा की थी।

उ० भा०—**इति**=एवम्; **बाभ्रव्यः**=बभ्रुपुत्रो भगवान्पाञ्चाल, (**क्रमप्रवक्ता**=) क्रमस्य प्रवक्ता; शिष्येभ्य **क्रमं प्रथमं** प्रोवाच **प्रशशंस च** हिताय। कथ ज्ञायते हितायेति ? प्रथममधिगम्य क्रमकाः कृतसंक्रमा इव मार्गमाक्रमन्त. सुखमाक्रमन्ते। संशय-दुर्गाणि च क्रमन्ते। भवति चात्र श्लोकः—

क्रमाभिगमभिन्नानि दुर्गाणि सुमहान्त्यपि।
विलीयन्तेऽर्कभिन्नानि तमांसीव निशात्यये ॥ इति

टि० (क) दूसरे आचार्यो का मत है कि दशम पटल के नियमो का पूर्णतया पालन करना चाहिए। उनमें किसी भी अवस्था में हेर-फेर नही किया जा सकता है। दशम पटल में विहित नियमो की पुष्टि करने के लिए ही एकादश पटल में हेतुओ का कथन करना चाहिए।

उ० भा० अ०—इति=इसलिए (अर्थात् शुद्ध क्रम-पाठ की रक्षा के लिए,, (क्रमप्रवक्ता=) 'क्रम' के प्रवक्ता, बाभ्रव्यः=बभ्रु के पुत्र भगवान पाञ्चाल ने, शिष्यों के लिये; क्रमं प्रथमं प्रोवाच=क्रम-पाठ का सर्वप्रथम प्रवचन किया, (और) हित के लिये, प्रशशंस च=(इसकी) प्रशंसा भी की। (यह) कैसे ज्ञात होता है कि हित के लिये ? (उत्तर) क्रम-पाठी लोगों ने उस प्रथम ज्ञान को प्राप्त करके शिष्य-परम्परा से क्रम-मार्ग को प्रशस्त किया और संशय रूपी दुर्गों को पार कर गये। इस विषय में श्लोक भी है --

"रात्रि के व्यतीत हो जाने पर सूर्य के द्वारा जिस प्रकार अन्धकार विनष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार क्रम-पाठ के ज्ञान से (संशय के) विशाल भी दुर्ग टूट कर विलीन हो जाते हैं।"

(आक्षेपनिरसनपूर्वकं क्रमपाठस्यार्थवत्त्वनिरूपणम्)

क्रमेण नार्थः पदसंहिताविदः
पुराप्रसिद्धाश्रयपूर्वसिद्धिभिः।
अकृत्स्नसिद्धश्च न चान्यसाधको
न चोदयापायकरो न च श्रुतः ॥३६॥

(आक्षेप का निराकरण करके क्रम-पाठ की उपयोगिता का निरूपण)

सू० अ०—क्रम-पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि (पद-पाठ और संहिता-पाठ जानने के अनन्तर (यह प्रारम्भ होता है)। यह (पद-पाठ और संहिता-पाठ के) पूर्व में असिद्ध है क्योंकि यह आश्रय (पद-पाठ और संहिता-पाठ) के सिद्ध होने पर ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह पूर्णतया सिद्ध भी नहीं है और न यह किसी अन्य वस्तु को सिद्ध करता है। यह न लाभकर है और न हानिकर है तथा यह शास्त्र में भी नहीं सुना गया है।

उ० भा०—योऽयं विहितो विधिः—"क्रमो द्वाभ्यामभिक्रम्य"[१] इति तेन (क्रमेण) नार्थः। कस्य हेतोः ? पदसंहिताविदः=पदानि विदुषः संहितां च, उत्तरकालं क्रमविधिरारभ्यते। किंच—पुराप्रसिद्धाश्रयपूर्वसिद्धिभिः—हेतौ तृतीया। पुराप्रसिद्धः=एव चास्य क्रमस्य पदसंहितात् पूर्वमप्रसिद्धे। आश्रयपूर्वसिद्धिभिः—पदसंहिते क्रमस्याश्रयस्तत्पूर्विकाश्चास्य सिद्धयो भवन्ति। पुरा चेन्न विधीयते, न चान्यतो विधीयते; तस्मात्पदसंहितादनन्योऽयं क्रमो भवति। अविशेषे हि विशेषारम्भोऽनर्थकः।

उ० भा० अ०—"दो पदों से प्रारम्भ करके (दो-दो पदों से क्रम-वर्गों को बनावे)"—इससे जिस क्रम-पाठ का विधान किया गया है उस (क्रमेण=क्रम-पाठ) से, नार्थः=कोई प्रयोजन नहीं है (अर्थात् वह निष्प्रयोजन है)। क्यों ? (उत्तर) पदसंहिताविदः=पद-पाठ को जानकर और संहिता-पाठ को जानकर बाद में क्रम-पाठ का विधान प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त, पुराप्रसिद्धाश्रयपूर्वसिद्धिभिः—हेतु-कथन में तृतीया है। पुरा-

---

[१] ऋ० १०।१–२

प्रसिद्धः=पद-पाठ और संहिता-पाठ से पूर्व में यह क्रम-पाठ सिद्ध नही है। आश्रयपूर्वसिद्धिभिः=पद-पाठ और संहिता-पाठ क्रम-पाठ के आधार है, उनके बाद में ही इसकी सिद्धि होती है। यत (यह क्रम-पाठ) (पद-पाठ और संहिता-पाठ के) पूर्व में विहित नही है और (इन दोनो के अतिरिक्त किसी) अन्य से विहित नही है; अत यह क्रम-पाठ पद-पाठ और संहिता-पाठ से भिन्न वस्तु नही है। पृथक् (विशेष) न होने पर पृथक् (विशेष) प्रयत्न करना अनर्थक है।

उ० भा०—अकृत्स्नसिद्धश्च=न कृत्स्नसिद्धः क्रमः। यद्यपि चास्य विशेषा सन्ति संहिताया अविलोपार्थं तथापि पदसंहिताश्रयत्वादकृत्स्नसिद्ध इत्युच्यते। न चान्यसाधकः इति=नायं क्रमोऽन्यशास्त्राश्रयत्वाद् विशेषान् साधयति। अकृत्स्नसिद्धस्य ह्यन्यसाधन न विद्यते। न चोद्यापायकरः इति=न चाय क्रमोऽध्येतुरभ्युदयकरो न चापायकरः। न च श्रुतः इति=न चायं क्रमोऽष्टानां ब्राह्मणपथानामन्यतमस्मिन् ब्राह्मणपथे श्रूयते। यथा ऋषिदैवतच्छन्दोयुक्त स्वाध्यायो यज्ञकर्मसु संहिताविधिः। यथा च नामाख्यातोपसर्गनिपाताः पदमिति पदविधि.। एभि कारणैः क्रमेण नार्थ इत्युच्यते। भवति चात्र श्लोक. -

यदि विषयगतो नान्यं जनयति कचिद् गुणविशेष कृत्स्नम्।
कलुषमतिकरं साधुस् तत्पर्षदि न वदेदिति॥

उ० भा० अ०—अकृत्स्नसिद्धश्च=क्रम-पाठ पूर्णतया सिद्ध नही है। यद्यपि आर्षी संहिता के अविलोप के लिए इस (क्रम-पाठ) में विशेष बातें बतलाई गई है तथापि पद-पाठ और संहिता-पाठ पर आश्रित होने के कारण 'यह पूर्णतया सिद्ध नही है'—यह कहा जाता है। न चान्यसाधकः=अन्य शास्त्रो पर आश्रित होने के कारण यह क्रम-पाठ किसी विशेष वस्तु को सिद्ध नही करता है। जो (स्वय) पूर्णतया सिद्ध नही होता है वह अन्य का साधन नही हो सकता है। न चोद्यापायकरः=यह क्रम-पाठ अध्येता का न लाभ करता है और न हानि करता है। न च श्रुतः=यह शास्त्र मे नही सुना गया है=आठ ब्राह्मणपथो में से किसी भी ब्राह्मणपथ में यह क्रम-पाठ नहीं सुना गया है। जैसे—ऋषि, देवता और छन्द से समन्वित स्वाध्याय यज्ञकर्मो मे (प्रयुक्त होता है)—यह संहिता-पाठ का विधान है। और जैसे—'नाम', 'आख्यात', 'उपसर्ग' और 'निपात' पद है—यह पद-पाठ का विधान है। इन कारणों से क्रम-पाठ से प्रयोजन नही है—यह कहा जाता है। यहाँ (=इस विषय में) यह श्लोक है—

"यदि किसी विषय को प्राप्त करके व्यक्ति किसी दूसरे सर्वाङ्गपूर्ण विशिष्ट गुण को उत्पन्न नही करता है और जो (विषय) बुद्धि को मलिन कर देने वाला है उसे सत्पुरुष सभा में न कहे।"

असिध्यतः सिद्धिविपर्ययो यदि
प्रसिध्यतोऽसिद्धिविपर्ययस्तथा ॥६७॥

सू० अ०—(पद-पाठ और संहिता-पाठ के पूर्व में) सिद्ध न होने से यदि (क्रम-पाठ की) सिद्धि का विपर्यय (=असिद्धि) है तो (सिद्ध पद-पाठ और संहिता-पाठ पर आश्रित होने के कारण इस क्रम-पाठ के) सिद्ध होने से (इस क्रम-पाठ की) असिद्धि का विपर्यय (=सिद्धि) है।

उ० भा०—(यदि असिध्यतः=) यदुक्तं पदसंहितात्पूर्वमयं क्रमो न सिध्यति तस्मादस्य; (सिद्धिविपर्य्ययः=) प्रसिद्धिविपर्ययः; इति। तन्नास्ति। कस्य हेतोः? प्रसिध्यतः; (असिद्धिविपर्य्ययः=) असिद्धत्वस्य विपर्ययः; तथा भविष्यति। प्रसिद्धं हि पदसंहितमाश्रित्य यद्यय क्रमो वर्तते ततः प्रसिद्ध एव। अनन्यश्चाय पदसंहितात् क्रमो भवतीति प्रतिज्ञा पूर्वमुक्ता। एकदेशं हि साधयत्येकदेशी ॥

उ० भा० अ० —(यदि असिध्यतः=) जो यह कहा गया था कि पद-पाठ और संहिता-पाठ से पूर्व में यह क्रम-पाठ सिद्ध नहीं होता है इसलिये इस (क्रम-पाठ) की; (सिद्धिविपर्य्ययः=) सिद्धि का विपर्यय (=असिद्धि) है—वह ठीक नहीं है। क्या कारण है? प्रसिध्यतः=सिद्ध होने वाले (क्रम-पाठ की); उसी प्रकार, (असिद्धिविपर्य्ययः=) असिद्धि का विपर्यय (=सिद्धि) होगा। यत प्रसिद्ध पद-पाठ और संहिता-पाठ को आश्रय बनाकर यह (क्रम-पाठ) प्रवृत्त होता है इसलिए यह (क्रम-पाठ) भी सिद्ध ही है। संहिता पाठ और पद-पाठ से क्रम-पाठ अभिन्न है—यह प्रतिज्ञा पहले ही कही जा चुकी है। पूर्ण वस्तु अपने अङ्ग को सिद्ध कर देती है (अत सिद्ध पद-पाठ और संहिता-पाठ अपने आश्रित क्रम-पाठ को भी सिद्ध कर देते है)।

सहापवादेषु च सत्सु न क्रमः
प्रदेशशास्त्रेषु भवत्यनर्थकः ॥६८॥

सू० अ०—निन्दा की गई है जिनकी ऐसे प्रदेशशास्त्रो के विद्यमान होने पर यह क्रम-पाठ भी अनर्थक नहीं है।

उ० भा०—अपवाद = निन्दा-इत्यर्थ। सहापवादेषु प्रदेशशास्त्रेषु सत्सु। यैरर्था प्रदिश्यन्ते तानि प्रदेशशास्त्राणि यथा सांख्ययोगशास्त्राणि। तेष्वप्यन्यस्मिन्नन्यस्यापवादो दृश्यते। तेषु शास्त्रेषु। सत्सु = विद्यमानेषु-इत्यर्थ। न अय क्रमोऽनर्थकः; (भवति=) भवितुमर्हति ॥

उ० भा० अ०—अपवाद -निन्दा- यह अर्थ है। सहापवादेषु प्रदेशशास्त्रेषु सत्सु—प्रदेश शास्त्र वे है जिनके द्वारा अर्थों का उपदेश होता है जैसे सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र। (उन प्रदेशशास्त्रो) में भी एक में दूसरे की निन्दा मिलती है। (निन्दा होने पर भी) उन शास्त्रो के विद्यमान होने पर यह, क्रमोऽनर्थक न भवति = क्रम-पाठ अनर्थक नहीं होता है, (अर्थात् यद्यपि ११।६६ में क्रम-पाठ की निन्दा की गई है तथापि उस निन्दा के कारण यह शास्त्र अनर्थक नही हो जाता है)।

विपर्ययाच्छास्त्रसमाधिदर्शनात्
पुराप्रसिद्धेरुभयोरनाश्रयात्।
समभ्युपेयाद् बहुभिश्च साधुभिः
श्रुतेश्च संमानकरः क्रमोऽर्थवान् ॥६९॥

सू० अ०—(१) (११।६७ मे दिखलाये गये) विपर्यय से (२) समाधि के दर्शन से (३) पहले ही प्रसिद्ध होने से (४) (पद-पाठ और संहिता-पाठ पर)

आश्रित न होने से (५) अनेक ऋषियों के द्वारा गृहीत होने से (६) और श्रुति का सम्मान करने से—यह क्रम-पाठ उपयोगी है।

उ० भा०—विपर्ययात् इति—"क्रमेण नार्थः पदसंहिताविदः"[१] इत्युक्त्वा—"प्रसिध्यतोऽसिद्धिविपर्ययस्तथा"[२] इत्युक्त स विपर्ययः। असिद्धा अपि हि भावाः सिद्धानाश्रित्य सिद्धा भवन्ति। शास्त्रसमाधिदर्शनात् चायं क्रमोऽर्थवान्भवति। शास्त्रसमाधिदर्शनात् इति—क्रमशास्त्रे ह्यनेकविधिविशेषाः संहितापदादिपदान्तानुग्रहार्था विधीयन्ते। यथैवानवसानीयानीति निमित्तसंशयानीत्येवमादयः।

उ० भा० अ०—विपर्ययात्—"पद-पाठ और संहिता-पाठ जानने वाले के लिये क्रम-पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है"—यह कहकर—"उसी प्रकार सिद्ध होने वाले (क्रम-पाठ) की असिद्धि का विपर्यय (=सिद्धि) है"—यह जो कहा गया है वह विपर्यय है। असिद्ध भी पदार्थ सिद्ध पदार्थों के आश्रय से सिद्ध हो जाते हैं। शास्त्रसमाधिदर्शनात्=शास्त्र का उत्कर्ष दिखलाई पड़ने से=क्रम-शास्त्र में संहिता के पदादि और पदान्त के स्वरूप-ज्ञान के लिए अनेक विशिष्ट विधियों का विधान किया गया है। जैसे—(क्रम-वर्गों के) अन्त में न आने वाले (पद) और (वे पद जिनके विकार के) निमित्त संशय से युक्त हैं इत्यादि।

उ० भा० पुराप्रसिद्धेः चाय क्रमोऽर्थवान्भवति। पुराप्रसिद्धेः इति। कथं हि नाम पुरा अप्रसिद्धः सन्नवसानीयादीन्विशेषानारभेत ? उभयोरनाश्रयात्। उभे अपि पदसंहिते अनाश्रित्य क्रमो वर्तते तस्मादप्यर्थवान्क्रमः। कथमनाश्रयावित्युच्यते ? व्यतिरिक्ते हि पदसंहिते विशेषारम्भश्च क्रमशास्त्रे दृश्यते। यथैवावगृह्याणां परिग्रहणम्। समभ्युपेयाद्बहुभिश्च साधुभिः पूर्वाचार्यैः समभ्युपगमनाच्चायं क्रमोऽर्थवान्भवितुमर्हति। कथं हि नामानर्थकं सन्त बहवः साधवः परिगृह्णीयुः ?

श्रुतेश्च सम्मानकरः क्रमोऽर्थवान्। श्रुतेश्चायमिष्टः क्रमः। द्विपदेनाङ्गिरसः प्रोचुः। त्रिपदेन वालखिल्याः इति। एभिः कारणैरयं क्रमोऽर्थवान्भवति। भवति चात्र—

सिद्धोऽयं श्रुतितश्च लक्षितोऽनुमतश्च विविधैर्गुणैर्विशेषैर्विततस्य।

संधिं न याति च पदविषयं पुनरपि च विकृतिमुचितां न जहाति ॥

उ० भा० अ०—पहले से ही सिद्ध होने से भी यह क्रम-पाठ उपयोगी होता है। पुराप्रसिद्धेः=जो पहले से सिद्ध नहीं है वह अवसान आदि विशेष बातों के विषय में कैसे प्रयत्न कर सकता है ? उभयोरनाश्रयात्=पद-पाठ और संहिता-पाठ—इन दोनों—के आश्रय के बिना क्रम-पाठ विद्यमान है—इसलिये भी यह उपयोगी है। आश्रय के बिना—यह कैसे कह रहे हो ? (उत्तर) पद-पाठ और संहिता-पाठ क्रम-पाठ से भिन्न हैं और क्रम-पाठ में विशेष बातें दिखलाई पड़ती हैं; जैसे—अवगृह्य पदों का 'परिग्रह'। समभ्युपेयाद्बहुभिश्च साधुभिः—पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण भी यह क्रम-पाठ उपयोगी है। यदि (क्रम-पाठ) अनर्थक होता तो बहुत से सत्पुरुष इसको स्वीकार क्यों करते ?

---

१ ११।६६   २ ११।६७

श्रुतेश्च सम्मानकरः क्रमोऽर्थवान्—क्रम-पाठ श्रुति को भी अभीष्ट है। (श्रुति में कहा गया है) अङ्गिरा ऋषि दो-दो पदो से पाठ करें, वालखिल्य ऋषि तीन-तीन पदो से पाठ करें। इस विषय में यह (श्लोक) है—

"(यह क्रम-पाठ) सिद्ध है, श्रुति में उल्लिखित है, (पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा) स्वीकृत है, अनेक विशेष गुणो से समन्वित है, पदो की सधि को नही करता है (अर्थात् पदो के मूल-रूप को दिखलाता है) किंतु (आर्षी सहिता में दृष्ट) उचित विकार का परित्याग भी नही करता है।"

ऋते न च द्वैपदसंहितास्वरौ
प्रसिध्यतः पारणकर्म चोत्तमम्।
क्रमात् ॥७०॥

सू० अ०—क्रम-पाठ के विना दो पदो की 'संहिता' और 'स्वर' सिद्ध नहीं होते हैं और उत्तम कोटि का पारणकर्म भी (इसके विना नहीं होता है)।

उ० भा०—इतश्चायं क्रमोऽर्थवान्भवति। क्रमादृते (द्वैपदसंहितास्वरौ=) द्वैपदसंहिता च द्वैपदस्वरश्च; न (प्रसिध्यतः=) सिध्यति। द्वैपदे हि सिद्ध उत्तरारम्भः शक्यते कर्तुं पादार्धर्चऋक्सूक्तसिद्धयर्थम्। पारणकर्म चोत्तमम् इति—भगवता पाञ्चालेन स्थापितानां पारायणकर्मणां क्रमपारायणमुत्तमं परम्परया महिम्ना च। भवति चात्र श्लोकः—

प्रगाथे पुनरादानं दृष्ट्वा यज्ञविधौ मुनिः।
अर्थवन्तं क्रमं ब्रूयाद् देवता याश्च शास्त्रतः॥

उ० भा० अ०—इससे भी क्रम-पाठ उपयोगी होता है। क्रमादृते=क्रम-पाठ के विना; (द्वैपदसंहितास्वरौ)=दो पदो की 'सहिता' और दो पदो के 'स्वर', न (प्रसिध्यतः)= नही सिद्ध होते है। दो पदो के सिद्ध होने पर ही पाद, अर्धर्च, ऋचा और सूक्त की सिद्धि के लिये आगे प्रयत्न आरम्भ किया जा सकता है। **पारणकर्म चोत्तमम्**—भगवान् पाञ्चाल के द्वारा स्थापित पारायण-कर्मों में कर्म-पारायण परम्परा और महिमा की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। इसके विषय में यह श्लोक भी है—

'यज्ञो में प्रयुक्त प्रगाथ में पुनरुक्ति (पुनरादान) को देखकर बुद्धिमान् व्यक्ति को सार्थक क्रम-पाठ का शास्त्र के अनुसार पाठ करना चाहिए[क] और देवताओ का भी।"

टि० (क) पू०—क्रम-पाठ में पदो की पुनरुक्ति होती है और पुनरुक्ति को दोष माना जाता है। अत क्रम-पाठ अनर्थक है। सि०—यज्ञ में प्रगाथो का शास्त्र के अनुसार प्रयोग होता है। प्रगाथो में भी मन्त्राशो की पुनरुक्ति होती है। शास्त्र से विहित होने के कारण जिस प्रकार प्रगाथो में पुनरुक्ति दोष नही है उसी प्रकार क्रम-पाठ में पदो की पुनरुक्ति दोष नही है। अत क्रम-पाठ अनर्थक नही है।

अतोऽप्यृग्यजुषां च बृंहणं
पदैः स्वरैश्चाध्ययनं तथा त्रिभिः ॥७१॥

सू० अ०—यतः ऋचाओं तथा यजुषों का संधारण (क्रम-पाठ की सहायता से) पदों तथा स्वरों के द्वारा किया जाता है अतः तीनों (संहिता-पाठ, पद-पाठ और क्रम-पाठ) के द्वारा (वेदों का) अध्ययन (किया जाता है)।

उ० भा०—अतोऽपि=अस्मादपि हेतोः; क्रमोऽर्थवान्भवति। क्रमात् (ऋग्यजुषाम् च=) ऋचां च यजुषां च; बृंहणम्=संधारणम्, क्रियते हपदेन। यथा पदाध्ययनेन चोदात्तानुदात्तस्वरितैर्ऋग्यजुषां धारणं क्रियते। तथाध्ययनं त्रिभिरन्योन्य वर्तते। संहिता-पदक्रमैः। तस्माच्चाय क्रमोऽर्थवान्भवति। भवति चात्र श्लोकः—

शरद्युज्वलो वितिमिरो विभाति भगवान्यथांशुमान्।
सत्यवचनवित्तम. क्रमक क्रमते हि संशयांस्तमस्तयात्मवान्॥

इति पार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रट-
पुत्रउवटकृतौ प्रातिशाख्यभाष्ये क्रमहेतु-
नामैकादशं पटलम्॥

उ० भा० अ०—अतोऽपि=इस कारण से भी, क्रम-पाठ उपयोगी होता है। क्रम-पाठ से, (ऋग्यजुषाम् च=) ऋचाओं का और यजुषों का, बृहणम्=संधारण=पुष्टि, की जाती है। जिस प्रकार (पदैः=) पदाध्ययन (पद-पाठ) के द्वारा, 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित' (स्वरैः=स्वरों) की सहायता से ऋचाओं और यजुषों की पुष्टि की जाती है। तथाध्ययनं त्रिभिः=अत एव तीनों के द्वारा अध्ययन किया जाता है—संहिता-पाठ से, पद-पाठ से और क्रम-पाठ से। इस कारण से भी यह क्रम-पाठ उपयोगी है। इस विषय में यह श्लोक है—

"जिस प्रकार अंधकार को नष्ट करके स्वच्छ भगवान् चन्द्रमा शरद् ऋतु में प्रकाशित होता है उसी प्रकार सत्य पाठ (वचन) को पूर्णतया जानने वाला तथा आत्मज्ञानी क्रम-पाठी सभी संशयों को दूर करके विराजमान होता है।"

आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्यभाष्य में क्रम-हेतु-नामक एकादश पटल समाप्त हुआ॥

---

१२ : सोमा-पटलम्

अपदान्तीयवर्णाः

पदादौ गन्तुमनर्हा वर्णाः

अन्योन्यं संयोक्तुमनर्हा वर्णाः

ऋचां पदमध्य एवोक्तविधानस्य चरितार्थत्वम्

नामाख्यातोपसर्गनिपातानां चतुर्णां पदजातानां निरूपणम्

(अपदान्तीयवर्णाः)

ऊष्मान्तस्थसोष्मचकारवर्गा
नान्तं यान्त्यन्यत्र विसर्जनीयात् ॥१॥

(पद के अन्त में न आने वाले वर्ण)

सू० अ०—विसर्जनीय को छोड़कर अन्य 'ऊष्म' (-वर्ण), 'अन्तःस्था' (-वर्ण), ऋकार, 'सोष्म' (-वर्ण) और चकारवर्ग (पदों के) अन्त में नहीं आते हैं।

उ० भा०—(ऊष्मान्तस्थसोष्मचकारवर्गाः=) ऊष्माणश्च, अन्तःस्थाश्च, ऋकारश्च, सोष्माणश्च, चकारवर्गश्च-इत्येते सप्तविंशतिवर्णाः; (अन्तम्=) पदान्तम्; (न यन्ति=) न गच्छन्ति। किमविशेषेण? नेत्याह—(अन्यत्र विसर्जनीयात्=) विसर्जनीयं वर्जयित्वा। विसर्जनीयस्तूष्मसु मध्ये तिष्ठति तथापि पदान्तं गच्छति—अग्निः, वायुः।

परिशेषादन्ये गच्छन्ति। तानुदाहरिष्यामः। एव। तया। नृभ्यः। अभि। देवी। वसु। बाहू। अग्ने। वायो। वै। तौ। वाक्। अर्वाङ्। विट्। वृषण्वान्। यत्। देवान्। त्रिष्टुप्। इन्द्रम्॥

उ० भा० अ०—(ऊष्मान्तस्थसोष्मचकारवर्गाः=) 'ऊष्म' (-वर्ण) (=ह, श, ष, स, अं, ᳵ क, ᳶ प, अ), 'अन्तःस्था' (-वर्ण) (=य, र, ल, व) ऋकार (ऋ), 'सोष्म' (-वर्ण) (=ख घ, छ झ, ठ ढ, थ ध, फ भ) और चकारवर्ग (=च, छ, ज, झ, ञ)—ये सत्ताईस वर्ण, (अन्तम्=) पद के अन्त में, (न यन्ति=) नही प्राप्त होते हैं (अर्थात् ये सत्ताईस वर्ण पदो के अन्त में नही आते है)।[क] क्या विना किसी विशेष के? (उत्तर) नही. (सूत्रकार ने कहा है)—(अन्यत्र विसर्जनीयात्=) विसर्जनीय को छोड़कर। विसर्जनीय तो 'ऊष्म' (-वर्णो) के मध्य में स्थित है तथापि पदो के अन्त में आता है—अग्निः, वायुः।

टि० (क) पदो के अन्त में ये वर्ण नही आते हैं—

(१) सात 'ऊष्म'-वर्ण—ह, श, ष, स, ᳵ क ᳶ प, अ। (२) चार 'अन्तःस्था'-वर्ण—य, र, ल, व। (३) ऋ। (४) दस 'सोष्म-वर्ण—ख, घ, छ, झ, ठ ढ, थ, ध, फ, भ। (५) चवर्ग के तीन वर्ण—च, ज, ञ (छ, झ का उल्लेख तो 'सोष्म'-वर्णो में ही हो गया है।

इस प्रकार ये उपर्युक्त पच्चीस वर्ण पदो के अन्त में नही आते हैं। भाष्यकार ने सत्ताईस वर्ण क्यो लिखा? ऐसा लगता है कि उन्होने छ और झ—इन दो वर्णो की 'सोष्म'-वर्णो और चवर्ग—इन दोनो में गणना कर ली है।

अवशिष्ट होने से (सूत्र में उल्लिखित वर्णों से) अन्य (पदों के अन्त में) आते हैं।[क] उनके उदाहरणों को देंगे – एव। तया। नृऽस्य।[ख] अभि।, देवी। वसु। बाहू। अग्ने। वायो। वै। तौ। वाक्। अर्वाङ्। विट्। वृषण्ऽवान्।[ग] यत्। देवान्। त्रिष्टुप्। इन्द्रम्।

(पदादौ गन्तुमनर्हा वर्णाः)

ऋृकारल्कारौ परमर्धमूष्मणां
नादि तकारादवरे च सप्त ॥२॥

(पद के आदि में न आने वाले वर्ण)

सू० अ०—ऋकार, लृकार, 'ऊष्म'-वर्णों में बाद वाला आधा भाग, तकार से पहले वाले सात ('व्यञ्जन') (पदों के) आदि में नहीं (आते हैं)।

उ० भा०—(ऋृकारल्कारौ=) ऋृकारः, लृकारः, (परमर्धमूष्मणाम्=) ऊष्मणां चोत्तरो भाग.—विसर्जनीयादिरुच्यते। तकाराच्च; (अवरे=) पूर्वे; ङकारादयः सप्त। एते त्रयोदशवर्णाः; (आदिम्=) पदादिम्; न गच्छन्ति। पारिशेष्यादन्ये गच्छन्ति। तानुदाहरिष्यामः—अथ। आत्। ऋतम्। इन्द्रम्। ईषत्। उत। ऊवु[१]। एषः। ओषधी। ऐतु। औक्षन्। कः। खनमानः[२]। गङ्गे[३]। घृतम्। चित्रम्। छाया[४]।

टि० (क) पदों के अन्त में आने वाले ये वर्ण हैं—

(१) 'ऊष्म'-वर्ण—अ (२) 'स्वर'-वर्ण—अ, आ, ऋ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ (३) 'स्पर्श'-वर्ण—क (ग), ङ, ट (ड), ण, त (द), न, प (ब), म (आचार्य शाकटायन के मत से वर्गों के प्रथम वर्ण पदों के अन्त में आते हैं और आचार्य गार्ग्य के मत से वर्गों के तृतीय वर्ण पदों के अन्त में आते हैं, दे० १।१६-१७।

वर्णमाला के कौन-कौन वर्ण पदों के अन्त में और आदि में आते हैं—यह जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि पदों के अन्तिम वर्णों और पदों के प्रथम वर्णों में ही विकार-विषयक-नियम लागू होते हैं।

(ख) सूत्रकार के अनुसार 'ऋ' पदान्तीय है किन्तु भाष्यकार ने पूर्व-'पद्य' के अन्त में स्थित 'ऋ' का उदाहरण दिया है। अतः 'ऋ' पद के अन्त में तो नहीं आता है किन्तु पूर्व-'पद्य' के अन्त में आता है। पूर्व-'पद्य' को "पदवच्च पद्यान्" के अनुसार पद माना जा सकता है। वा० प्रा० १।८८ ने भी 'ऋ' को पूर्व-'पद्य' के अन्त में आने वाला ही माना है किंतु इसमें भी वह 'पदान्तीय'-संज्ञक हो जाता है। वा० प्रा० ने पदों के अन्त में आने वाले वर्णों को 'पदान्तीय'-संज्ञा की है।

(ग) 'ऋ' की भाँति 'ण्' भी पद के अन्त में न आकर पूर्व-'पद्य' के अन्त में ही आता है। वा० प्रा० १।८८ ने भी ऐसा ही माना है और इसको 'पदान्तीय'-संज्ञा की है।

१ ऋ० ६।८५।८ २ ऋ० ११।७२।६ ३ ऋ० १०।७५।५
४ ऋ० १०।१२१।२

जगत् । तम् । प्रत्नऽथा । देवम् । घनेम् । नु । परि । फलिनीः[१] । बलम् । भयम् । मम । या । रत्नम् । लक्ष्मीः[२] । वायुः । हारण्या[३] । शतम् । षट् । सः ॥

उ० भा० अ०—(ऋकारल्कारौ=) ऋकार और लृकार (ऋ, लृ), (परमर्धमूष्मणाम्=) 'ऊष्म' (-वर्णो) का अन्तिम (आधा) भाग–जो विसर्जनीय से प्रारम्भ होता है =अः, ꣲक, ꣲप, अं। तकारान्च=तकार से, (अवरे=) पहले वाले; सात जो ङकार से प्रारम्भ होते हैं (=ङ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण)—ये तेरह वर्ण, (आदिम्=) पद के आदि में, न=नहीं; आते हैं।[क] अवशिष्ट होने से (इन तेरह से) अन्य (वर्ण) (पदो के आदि में) आते हैं।[ख] उनके उदाहरणों को देंगे—अथ। आत्। ऋतम्। इन्द्रम्। ईषत्। उत। ऊनु। एष। ओषधी। ऐत्। औक्षन्। क। खनमान.। गर्ज। घृतम्।[ग] चित्रम्। छाया। जगत्। तम। प्रत्नऽथा।[घ] देवम्। धनम्। नु। परि। फलिनी। बलम्। भयम्। मम। य.। रत्नम्। लक्ष्मी.। वायु। हरिण्या। शतम्। षट्। स.।

(अन्योन्यं संयोक्तुमनर्हा वर्णाः)

नान्योन्येन मध्यमा स्पर्शवर्गाः संयुज्यन्ते ॥३॥

सू० अ०—स्पर्शों के मध्यम (तीन) 'वर्ग' (=चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग) एक दूसरे के साथ संयुक्त नहीं होते हैं।

(एक दूसरे के साथ संयुक्त न होने वाले वर्ण)

उ० भा०—मध्यमा ये त्रयः स्पर्शवर्गाः ते अन्योन्येन सह न संयुज्यन्ते, स्ववर्गीयैस्तु संयुज्यन्ते। अर्च्यंश्च। यज्ञनीः।[४] जझ्झतीरिव।[५] सुष्टुठु।[६] डूड्‌ य[७]। मण्डूकः।[८] रत्येव।[९] अद्धवनयत्।[१०] इन्दो।[११] श्वेति सध।[१२] वब्रुवः।[१३] अञ्चति।[१४] वज्रम्।[१५]

टि० (क) पदो के आदि में न आने वाले तेरह वर्ण ये हैं—ऋ, लृ, अः, ꣲक, ꣲप, अं, ङ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण।

(ख) पदो के आदि में आने वाले ये वर्ण हैं—अ, आ, ऋ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, क, ख, ग, घ, च, छ, ज, त, थ, द, ध, न, प, फ, व, भ, म, य, र, ल, व, ह, श, ष, स।

(ग) 'ङ' वर्ण किसी भी पद के आदि में नहीं आया है। इस तथ्य की ओर न तो सूत्रकार ने संकेत किया है और न भाष्यकार ने।

(घ) 'थ' किसी पद के आदि में कही नही आया है किंतु उत्तर–'पद' के प्रारम्भ में तो आया है जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट है।

---

[१] ऋ० १०।९७।१५ [२] ऋ० १०।७१।२ [३] ऋ० ९।१।१।१
[४] ऋ० १।१५।१२ [५] ऋ० ५।५२।६ [६] ऋ० ८।२२।१८
[७] ऋ० १।९४।८ [८] ऋ० ७।१०३।४ [९] ऋ० १।११८०।४
[१०] ऋ० ६।१८।१० [११] ऋ० १।४३।८ [१२] ऋ० १।१५८।५
[१३] ऋ० ५।४७।६ [१४] ऋ० १।६।८ [१५] ऋ० १।८।३

उपद्रुद्राणाम् ।[१] वर्त्तनीः ।[२] त्राद्ध्वम् ।[३] श्च्योतन्ति ।[४] सुत्तौति । मध्यमा इति किम् ? वाक्पतङ्गाय धीयते ॥[५]

उ० भा० अ०—स्पर्शवर्गाः=‘स्पर्श’ (वर्णो) के जो तीन ‘वर्ग’; मध्यमाः=बीच वाले (चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग) हैं; वे; अन्योन्येन=एक दूसरे के साथ; न=नहीं, संयुज्यन्ते=सयुक्त होते हैं[क]; अपने ‘वर्ग’ वाले (वर्णो) के साथ तो सयुक्त होते हैं।[ख] (तीन वर्गों के वर्णो को छोड़कर) अन्य (वर्णो) के साथ भी (इन तीन मध्यम वर्गों के वर्ण सयुक्त होते है) ।[ग] (उदाहरण) यज्ञनी । जझ्झतीरिव । सुष्टुठु । दूड्ढ्य । मण्डूक । रत्न्येव । अद्ध्वनयत् । इन्दो । ग्वेति ग्व । वद्ध्व । अर्च्चति । वज्ज्रम् । उपद्रुद्राणाम् । वर्त्तनी । त्राद्ध्वम् । श्चोतन्ति । सुत्तौति । “मध्यम (वर्ग)”—यह (सूत्र में) क्यो (कहा है) ? (उत्तर) “वाक्पतङ्गाय धीयते ।”[घ]

न लकारेण रेफः ॥४॥

सू० अ०—रेफ लकार के साथ नहीं (संयुक्त होता है)।

उ० भा०—लकारेण सह रेफो न सयुज्यते । अर्यम्यम् ।[६] अर्चन्ति ।[७] सर्पि ।[८] बर्हि ।[९] वर्षम् ।[१०]

उ० भा० अ०—लकारेण=लकार के साथ, रेफो न=रेफ नही, सयुक्त होता है (अन्य वर्णो के साथ तो रेफ सयुक्त होता है)। (उदाहरण)—अर्चन्ति । सर्पि । बर्हिः । वर्षम् ॥

टि० (क) चवर्ग का कोई वर्ण टवर्ग तथा तवर्ग के किसी भी वर्ण के साथ संयुक्त नहीं होता है, टवर्ग का कोई वर्ण चवर्ग तथा तवर्ग के किसी वर्ण के साथ सयुक्त नही होता है, तवर्ग का कोई वर्ण चवर्ग तथा टवर्ग के किसी वर्ण के साथ सयुक्त नही होता है।

(ख) चवर्ग का कोई वर्ण अपने ही वर्ग (=चवर्ग) के किसी भी वर्ण के साथ सयुक्त हो जाता है, टवर्ग का कोई वर्ण अपने ही वर्ग (=टवर्ग) के किसी भी वर्ण के साथ सयुक्त हो जाता है; तवर्ग का कोई वर्ण अपने ही वर्ग (=तवर्ग) के किसी भी वर्ण के साथ सयुक्त हो जाता है।

(ग) इन तीन मध्यम वर्गों में से प्रत्येक का कोई भी वर्ण अन्य दो वर्गों के वर्णों को छोडकर वर्णमाला के अवशिष्ट किसी भी अन्य वर्ण के साथ सयुक्त हो जाता है।

(घ) यहाँ ‘क्’ और ‘प्’ सयुक्त हो गए है क्योकि ये (क् और प्) मध्यम-वर्गों (=चवर्ग, टवर्ग, तथा तवर्ग) के वर्ण न होकर प्रथम (=कवर्ग) और अन्तिम (=पवर्ग) के वर्ण हैं।

---

१ ऋ० ८।५।३७
२ ऋ० ४।१९।२
३ ऋ० २।२९।६
४ ऋ० १।८७।२
५ ऋ० १०।१८९।३
६ ऋ० ५।८५।७
७ ऋ० १।१०।१
८ ऋ० ९।६७।३२
९ ऋ० १।१३।५
१० ऋ० ५।५८।७

स्पर्शैर्वकारो न परैरनुत्तमैः ॥५॥

सू० अ०—परवर्ती 'अननुनासिक' (अनुत्तम) स्पर्शों के साथ वकार नहीं (संयुक्त होता है)।

उ० भा०—अनुत्तमैः स्पर्शैः परैर्वकारो न सयुज्यते, पूर्वैस्तु संयुज्यते। क्व। ज्वलयन्ती। अनड्वाहौ।[1] त्वाम्। विम्वा। अनुत्तमैः इति किम्? दधिक्राव्ण। सुतपाव्ने॥[2]

उ० भा० अ०—परैः=बाद मे आने वाले, अनुत्तमैः स्पर्शैः='अननुनासिक' स्पर्शों (=ङ्, ञ्, ण्, न्, म् से अन्य स्पर्शों) के साथ, वकारो न=वकार नही; संयुक्त होता है। किंतु पहले आने वाले (अनुत्तम स्पर्शों) के साथ तो सयुक्त होता है। (उदाहरण)—क्व। ज्वलयन्ती। अनड्वाहौ। त्वाम्। विम्वा। "अनुत्तम (स्पर्शों) के साथ"—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा)? (उत्तर) "दधिक्राव्ण"। "सुतपाव्ने।"[क]

तथा तेषां घोषिणः सर्वथोष्मभिः ॥६॥

सू० अ०—उसी प्रकार उन (स्पर्शों) के (अनुत्तम) 'सघोष' वर्ण 'ऊष्म' (-वर्णों) के साथ किसी भी अवस्था में (संयुक्त नहीं होते हैं)।

उ० भा०—तथा एव तेषां स्पर्शानामुत्तमादन्ये घोषिणः; (सर्वथोष्मभिः=) सर्वैरूष्मभि=पूर्वैः परैश्च सह, न संयुज्यन्ते। अघोषास्तु संयुज्यन्ते—स्कम्भथुः।[3] श्चोतन्ति। स्तौति। स्थ। स्पट्। यक्ष्म।[4] यख्ष्म। त्सरुः।[5] वत्सम्। विरप्शी। विरफ्शी। अनुत्तमैः इति किम्? यक्ष्म। पृश्नि। विष्णुः। स्म। तेषाम् इति किम्? ह्वयामि। स्वः। स्यात्॥

उ० भा० अ०— तथा=उसी प्रकार, तेषाम्=उन; 'स्पर्श' (वर्णों) के अन्तिम (ङ, ञ्, ण्, न्, म्) से अन्य, घोषिण='सघोष' (-वर्ण) (=ग् घ् ज् झ्, ड् ढ, द् ध्, ब् भ्), सर्वथोष्मभिः=सभी 'ऊष्म' (-वर्णों) के साथ=पूर्व मे आने वाले या बाद में आने वाले ('ऊष्म'-वर्णों) के साथ; सयुक्त नही होते है। किंतु 'अघोष' ('स्पर्श'-वर्ण) तो ('ऊष्म'-वर्णों के साथ) सयुक्त होते है।[ख] (उदाहरण)—स्कम्भथु। श्चोतन्ति। स्तौति। स्थ। स्पट्। यक्ष्म। यख्ष्म। त्सरु। वत्सम्। विरप्शी। विरफ्शी।[ग] "अनुत्तम

टि० (क) इन दो स्थलो पर वकार बाद में विद्यमान 'ण्' और 'न्' के साथ सयुक्त हो गया है क्योकि 'ण्' और 'न्' अनुत्तम 'स्पर्श' न होकर उत्तम 'स्पर्श' है।

(ख) (१) वर्गों के अन्तिम 'सघोष' 'स्पर्श'-वर्णो तथा सभी 'अघोष' वर्णो का 'ऊष्म'-वर्णो के साथ 'सयोग' हो जाता है। (२) वर्गों के तृतीय और चतुर्थ 'सघोष' 'स्पर्श' वर्णों का 'ऊष्म'-वर्णो के साथ 'सयोग' नही होता है।

(ग) इन सभी स्थलो पर 'अघोष' वर्ण का 'ऊष्म'-वर्ण के साथ 'सयोग' हुआ है।

---

[1] ऋ० १०।८५।१० [2] ऋ० १।५।५ [3] ऋ० ६।७२।२
[4] ऋ० १०।९७।१३ [5] ऋ० ७।५०।१

(अन्तिम से अन्य)"—यह क्यो (कहा) ? (उत्तर) यक्ष्म। पृश्नि। विष्णु। स्म।[क] "उन (स्पर्शो) का"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) ह्वयामि। स्व। स्यात्।[ख]

नान्त्यान्तस्था न प्रथमोष्मभिः परैः ॥७॥

सू० अ०—न तो अन्तिम 'अन्तःस्था' (=व्) और न प्रथम ('अन्तःस्था'=य्) बाद में आने वाले 'ऊष्म' (-वर्णों) के साथ (संयुक्त होता है)।

उ० भा०—अन्त्यान्तःस्था प्रथमा चोष्मभिः परैर्न संयुज्येते, पूर्वैस्तु संयुज्येते। श्यावाश्वस्य। स्वाहा। अन्त्याप्रथमे इति किम् ? अर्शि। शतवल्श।[1] बर्हिः। वर्ष्यान्॥[2]

उ० भा० अ०—अन्त्यान्तःस्था=अन्तिम 'अन्त स्था' (=व्), प्रथमा च=और प्रथम ('अन्त स्था'=य्)—ये दोनो, परैः ऊष्मभिर्न=बाद में आने वाले 'ऊष्म' (—वर्णों) के साथ नही; सयुक्त होते हैं। पूर्व मे आने वाले ('ऊष्म'-वर्णों) के साथ तो (व् और य्) सयुक्त होते है, (अर्थात् 'व्' और 'य्' का 'सयोग' बाद में स्थित 'ऊष्म'-वर्ण के तो साथ नही होता किंतु पूर्व में स्थित 'ऊष्म'-वर्ण के साथ हो जाता है)। (उदाहरण) श्यावाश्वस्य। स्वाहा। "अन्तिम और प्रथम ('अन्त स्था')"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) बर्हि। वर्ष्यान्।[ग]

न रेफो रेफेण॥८॥

सू० अ०—रेफ रेफ के साथ नहीं (संयुक्त होता है)।

उ० भा०—रेफो रेफेण सह न सयुज्यते, अन्यैस्तु संयुज्यते। अर्यमा॥

उ० भा० अ०—रेफो रेफेण=रेफ रेफ के साथ; न=नही; सयुक्त होता है, किंतु अन्य (वर्णो) के साथ तो सयुक्त होता है। (जैसे) अर्यमा।

न सोष्मणोष्मवान् ॥९॥

सू० अ०—'सोष्म' (-वर्ण) 'सोष्म' (-वर्ण) के साथ नहीं (संयुक्त होता है)।

टि० (क) अनुत्तम वर्ण न होने के कारण म्', 'न्', 'ण्' और 'म्'—इन 'सघोष' स्पर्शो का 'सयोग' 'ऊष्म'-वर्णों के साथ हो गया है।
(ख) अनुत्तम वर्ण होने पर भी 'ह्', 'व्' और 'य्' का 'ऊष्म'-वर्णों के साथ 'सयोग' हो गया है क्योंकि ये 'स्पर्श' नही अपितु 'ऊष्म'-वर्ण ('ह्') और 'अन्त स्था' (य् और व्) हैं।
(ग) इन स्थलो पर बाद में आने वाले 'ऊष्म'-वर्णों के साथ रेफ और लकार सयुक्त हो गए हैं क्योंकि रेफ और लकार अन्तिम तथा प्रथम 'अन्त स्था' न होकर द्वितीय और तृतीय 'अन्त स्था' हैं।

[1] ऋ० ३।८।११ [2] ऋ० ५।८३।३

उ० भा०—सोष्मणा सह ऊष्मवान्न संयुज्यते, अन्यैस्तु संयुज्यते। तुच्छ्येनाभ्व-पिहितम्[१]। अमत्थ्नात्[२]॥

उ० भा० अ०—सोष्मणा='सोष्म' (-वर्ण) के साथ; ऊष्मवान्='सोष्म' (-वर्ण), न=नहीं; सयुक्त होता है; किंतु अन्य (-वर्णों) के साथ तो सयुक्त होता है। (उदाहरण) तुच्छ्येनाभ्रपिहितम्। अमत्थ्नात्।

न स्पर्शैरुष्मा प्रथमः परः सन् ॥१०॥

सू० अ०—बाद में होने पर प्रथम 'ऊष्म' (-वर्ण) (=हकार) 'स्पर्श' (-वर्णों) के साथ नहीं (संयुक्त होता है)।

उ० भा०—स्पर्शैः सह प्रथमोष्मा परः सन्न संयुज्यते, पूर्वस्तु संयुज्यते। पूर्वाह्णे।[३] अह्नाह्ना नः।[४] स्पर्शैः इति किम्? बर्हिः॥

उ० भा० अ०—प्रथमोष्मा=प्रथम 'ऊष्म' (-वर्ण) (=हकार); परः सन्=बाद में होने पर; स्पर्शैः='स्पर्श' (-वर्णों) के साथ, न=नहीं, सयुक्त होता है। किंतु पूर्व में होने पर तो ('स्पर्श'-वर्णों के साथ) सयुक्त होता है। (उदाहरण) पूर्वाह्णे। अह्नाह्ना न.।[क] "'स्पर्श' (-वर्णों) के साथ"—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा)? (उत्तर) बर्हि।[ख]

नानुत्तमैः स च सोष्मा च पूर्वौ ॥११॥

सू० अ०—वह (प्रथम 'ऊष्म'-वर्ण=हकार) और 'सोष्म' (-वर्ण) पूर्व में होने पर अनुत्तम 'स्पर्श' (-वर्णों) के साथ नहीं (संयुक्त होते है)।

उ० भा०—अनुत्तमैः स्पर्शैः स च हकारः सोष्मा च पूर्वौ सन्तौ न संयुज्येते, उत्तमैस्तु संयुज्येते। ब्रह्म। अह्ना। वृत्रघ्नः। अमथ्नात्।[५] दध्ना। गृभ्णामि॥

उ० भा० अ०—स च=वह हकार भी, सोष्मा च=और 'सोष्म' (-वर्ण) भी पूर्वौ=पूर्ववर्ती होने पर; अनुत्तमै=अनुत्तम (स्पर्श'-वर्णों) के साथ, न=नहीं, सयुक्त होते है। अन्तिम (उत्तम) (स्पर्श'-वर्णों) के साथ तो संयुक्त होते हैं। (जैसे) ब्रह्म। अह्ना। वृत्रघ्न। अमथ्नात्। दध्ना। गृभ्णामि।

नानुत्तमा घोषिणोऽघोषिभिः सह स्पर्शैः स्पर्शाः ॥१२॥

सू० अ०—अनुत्तम 'सघोष' 'स्पर्श' (वर्ण) 'अघोष' 'स्पर्श' (वर्णो) के साथ नहीं (संयुक्त होते है)।

टि० (क) इन उदाहरणो में हकार (प्रथम 'ऊष्म'-वर्ण) 'ण्' और 'न्' के साथ सयुक्त हो गया है क्योकि हकार इन 'स्पर्श'-वर्णों के पूर्व में विद्यमान है।

(ख) बाद में विद्यमान होने पर भी हकार (प्रथम 'ऊष्म'-वर्ण रेफ के साथ सयुक्त हो गया है क्योंकि रेफ 'स्पर्श'-वर्ण नहीं अपितु 'अन्तस्था'-वर्ण है।

---

[१] ऋ० १०।१२९।३ [२] ऋ० १।९३।६ [३] ऋ० १०।३४।११
[४] ऋ० १०।३७।९ [५] ऋ० १।९३।६

उ० भा०—अनुत्तमा घोषिणः स्पर्शाः (अघोषिभिः=) अघोषैः, स्पर्शैः पूर्वैः परैश्च सह न संयुज्यन्ते, उत्तमास्तु संयुज्यन्ते-पलिक्नीः।[१] अमध्नात्।[२] अप्नस्वतीमश्विना।[३] परोदाहरणानि। य ईङ्खयन्ति।[४] पत्याः॥

उ० भा० अ०—अनुत्तमा घोषिणः स्पर्शाः=अनुत्तम 'सघोष' 'स्पर्श' (-वर्ण), पूर्ववर्ती और परवर्ती, (अघोषिभिः=) स्पर्शैः सह='अघोष' 'स्पर्श' (-वर्णों) के साथ, न=नहीं, संयुक्त होते हैं। अन्तिम (उत्तम) (सघोष' 'स्पर्श'-वर्ण तो 'अघोष' 'स्पर्श'-वर्णों के साथ) संयुक्त होते हैं। (जैसे) पलिक्नी। अमध्नात्। अप्नस्वतीमश्विना। परवर्ती ('अघोष' 'स्पर्श'-वर्णों के साथ 'संयोग') के उदाहरण—य ईङ्खयन्ति। पत्या।

नोत्तमा ऊष्मभिः परैः ॥१३॥

सू० अ०—अन्तिम ('स्पर्श'-वर्ण) परवर्ती 'ऊष्म' (-वर्णों) के साथ नहीं (संयुक्त होते हैं)।

उ० भा०—उत्तमाः स्पर्शा ऊष्मभिः परैः सह न संयुज्यन्ते, पूर्वैस्तु संयुज्यन्ते। ब्रह्म। विष्णुः। स्म। पृश्नि। उत्तमाः इति किम्। अप्सु। विरप्शी॥

उ० भा० अ०—उत्तमाः=अन्तिम 'स्पर्श', परैः ऊष्मभिः=परवर्ती 'ऊष्म' (-वर्णों) के साथ, न=नहीं, संयुक्त होते हैं। पूर्ववर्ती ('ऊष्म'-वर्णों के साथ तो) संयुक्त होते हैं। ब्रह्म। विष्णु। स्म। पृश्नि। 'उत्तम'—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) अप्सु। विरप्शी।

लकारस्पर्शैर्न यकार उत्तरैः ॥१४॥

सू० अ०—परवर्ती लकार और 'स्पर्श' (-वर्णों) के साथ यकार नहीं (संयुक्त होता है)।

उ० भा०—(लकारस्पर्शैः=) लकारेण स्पर्शैश्च, उत्तरैर्यकारो न संयुज्यते, पूर्वैस्तु संयुज्यते। विवाल्यम्[४]। दूढ्यः। सत्यम्। आरभ्य[५]। लकारस्पर्शैः इति किम्? इन्द्रवाय्वोः॥

उ० भा० अ०—उत्तरैः=परवर्ती, (लकारस्पर्शैः=) लकार के साथ और 'स्पर्श' (-वर्णों) के साथ, यकारो न=यकार नहीं, संयुक्त होता है। किंतु पूर्ववर्ती (लकार और 'स्पर्श'-वर्णों के साथ तो यकार) संयुक्त होता है। विवाल्यम्। दूढ्य। सत्यम्। आरभ्य। "लकार और 'स्पर्श' (-वर्णों) के साथ"- यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) इन्द्रवाय्वो ख।

टि० (क) उत्तम 'स्पर्श'-वर्ण न होने के कारण पकार परवर्ती 'ऊष्म'-वर्ण के साथ संयुक्त हो गया है।

(ख) यकार परवर्ती वकार के साथ संयुक्त हो गया है क्योंकि यकार, लकार और 'स्पर्श'-वर्णों से भिन्न वर्ण हैं।

---

[१] ऋ० ५।२।४ [२] ऋ० १।९३।६ [३] ऋ० १।११२।२४
[४] ऋ० १।१९।७ [५] ऋ० ४।३०।१२ [६] ऋ० १।५७।४

ऊष्माणोऽन्योन्येन च न ॥१५॥

सू० अ०—'ऊष्म' (-वर्ण) एक दूसरे के साथ भी नहीं (संयुक्त होते हैं)।

उ० भा०—ऊष्माणोऽन्योन्येन च सह न संयुज्यन्ते। स्वैस्तु संयुज्यन्ते। शुनश्शेपः। निष्षिष्वरीः। निष्षपी[1]। शास्सि[2]॥

उ० भा० अ०—ऊष्माणोऽन्योन्येन च='ऊष्म' (-वर्ण) एक दूसरे के साथ भी; न=नहीं; संयुक्त होते हैं। किंतु अपने साथ तो संयुक्त होते हैं। (जैसे) शुनश्शेप। निष्षिष्वरीः। निष्षपी। शास्सि।

(ऋचां पदमध्ये एवोक्तविधानस्य चरितार्थत्वम्)

ऋक्पदेष्विदम् ॥१६॥

(ऋचाओं के पदों के मध्य में ही उक्त विधान की चरितार्थता)

सू० अ०—यह (सब) ऋचाओं के पदों में (ही लागू होता है)।

उ० भा०—यद् इदम् अस्मिन्पटले विधानमुक्तं तत्; (ऋक्पदेषु=) ऋक्षु पदमध्य; एव भवति। पदसंधौ न भवतीति वेदितव्यम्। यदुक्तम्—"नान्योन्येन मध्यमा स्पर्शवर्गाः"[3] इति तत् संधौ न भवति। वषट् ते।[4] उप मा षड् द्वाद्वा।[5] तथा—"न लकारेण रेफः"[6] इति संधौ न भवति। सुमदशुर्ललामीः।[7] तथा - "नोत्तमा ऊष्मभिः परे"[8] इति संधौ न भवति। देवान्हुवे।[9] दध्यङ् ह मे।[10] अर्वाङ शश्वत्तमम्।[11] त्व रजिं पिठीनसे दशस्यन्षष्टिम्।[12] प्रत्यङ स विश्वा।[13] शर्मन्स्याम।[14] इदमपि पक्षान्तरमित्युदाहरण भवति॥

उ० भा० अ०—जो; इदम्=यह; इस पटल में विधान कहा गया है वह; (ऋक्पदेषु=) ऋचाओं में पदों के मध्य में; ही (लागू) होता है। (दो) पदों की संधि में (लागू) नहीं होता है—यह जानना चाहिए। जो कहा गया है—" 'स्पर्श' (-वर्णों) के मध्यय 'वर्ग' (चवर्ग टवर्ग और तवर्ग) एक दूसरे के साथ संयुक्त नहीं होते हैं"—यह (नियम) दो पदों की) संधि में (लागू) नहीं होता है। (जैसे) "वषट् ते।" 'उप मा षड् द्वाद्वा।"[क] उसी प्रकार—"रेफ लकार के साथ नहीं (संयुक्त होता है)"—यह (नियम) (दो पदों की)

टि० (क) उपर्युक्त दो स्थलों पर मध्यम वर्गों के 'स्पर्श'-वर्ण 'ट्' और 'त्' तथा 'ड्' और 'द्' संयुक्त हो गए हैं क्योंकि मध्यम वर्गों के 'स्पर्श'-वर्णों के परस्पर संयुक्त न होने का जो विधान (१२।३ में) किया गया था वह दो पदों की संधि में लागू नहीं होता है।

---

[1] ऋ० १।१०४।५ [2] ऋ० १।३३।१४ [3] १२।३
[4] ऋ० ७।९९।७ [5] ऋ० ८।६८।१४ [6] १२।४
[7] ऋ० १।१००।१६ [8] १२।१३ [9] ऋ० १०।६६।१
[10] ऋ० १।११९।९ [11] ऋ० ३।३५।६ [12] ऋ० ६।२६।६
[13] ऋ० ९।८०।३ [14] ऋ० १।५१।१५

संधि में (लागू) नही होता है। (जैसे) "सुमदंशुर्ललामी.।"क उसी प्रकार—"उत्तम ('स्पर्श'-वर्ण) परवर्ती 'ऊष्म' (-वर्णों) के साथ नही (संयुक्त होते हैं")—यह (दो पदों की संधि में (लागू) नही होता है। (जैसे) "देवान्हुवे।" 'दध्यङ्ह मे।" "अर्वाङ् शश्वत्तमम्" 'त्व रजि पिठीनसे दशस्यन्षष्टिम्।" "प्रत्यङ् स विश्वा।" 'शर्मन्स्याम।' यह सब (निषेध) (दो पदों की संधि के लिए) विधान हो गया जैसा उदाहरणो से ज्ञात होता है।

(नामाख्यातोपसर्गनिपातानां चतुर्णां पदजातानां निरूपणम्)

नामाख्यातमुपसर्गो निपात-
श्चत्वार्याहुः पदजातानि शाब्दाः ॥१७॥

(नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-इन चार पद्‌जातियों का निरूपण)

सू० अ०—वैयाकरण पदों की चार जातियाँ बतलाते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

उ० भा०—नाम, आख्यातम्, उपसर्गः, निपातः—इति चत्वारि पदजातानि; (शाब्दाः=) शब्दविदः; आहुः॥

उ० भा० अ०—नाम, आख्यात, उपसर्ग (और) निपात—ये, चत्वारि पदजातानि=पदो की चार जातियाँ, (शाब्दाः=) शब्दस्वरूपवेत्ता; आहुः=बतलाते हैं।

तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वम् ॥१८॥

सू० अ०—वह नाम है जिसके द्वारा (वक्ता) द्रव्य का अभिधान करता है।

उ० भा०—तन्नाम इत्युच्यते येन शब्देन अभिदधाति वक्ता; सत्त्वम्=द्रव्यम्—इत्यर्थः। "अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः॥"[१]

उ० भा० अ०—तन्नाम=वह नाम, कहलाता है, येन=जिस शब्द के द्वारा वक्ता, सत्त्वम्=द्रव्य को—यह अर्थ है; कहता है। (जैसे) "अग्न इन्द्र मित्र वरुण देवा।"

तदाख्यातं येन भावं सधातु ॥१९॥

सू० अ०—वह (शब्द) 'आख्यात' है जिसके द्वारा वक्ता क्रिया (भाव) (का अभिधान करता है) और जो धातु से समन्वित (होता है)।

टि० (क) यहाँ लकार के साथ रेफ संयुक्त हो गया है क्योंकि यहाँ दो पदो की संधि हुई है।

(ख) उपर्युक्त छ. स्थलो पर अन्तिम 'स्पर्श' परवर्ती 'ऊष्म'-वर्णों के साथ संयुक्त हो गए हैं क्योंकि इनके संयुक्त न होने का जो विधान (१२।१३ में) किया गया था वह केवल स्वतन्त्र पदो के मध्य में ही लागू होता है), दो पदो की संधि में नही।

---

१ ऋ० ५।४६।२

उ० भा०—तदाख्यातम् इत्युच्यते येन शब्देन; (सधातु=) सधातुना; अभिदधाति वक्ता; भावम्=क्रियाम्—इत्यर्थः। "हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः॥"[1]

उ० भा० अ०—तदाख्यातम्=वह 'आख्यात', कहलाती है; येन (सधातु)=जिस धातुसहित शब्द के द्वारा; वक्ता; भावम्=क्रिया का—यह अर्थ है; अभिधान करता है। (जैसे) "हत नुदेथा नि शिशीतमत्रिण.।"

प्राभ्या परा निर्दुरनु व्युपाप सं परि प्रति न्यत्यधि स्वदवापि।
उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम् ॥२०॥

सू० अ० प्र, अभि, आ, परा, निः, दुः, अनु, वि, उप, अप, सम्, परि, प्रति, नि, अति, अधि, सु, उन्, अव और अपि—ये बीस उपसर्ग हैं जो अन्य दो (='नाम' और 'आख्यात') के साथ (प्रयुक्त होकर) अर्थ के वाचक हैं।

उ० भा०—प्र, अभि, आ, परा, निः, दुः, अनु, वि, उप, अप, सम्, परि, प्रति, नि, अति अधि, सु, उत्, अव, अपि—इत्येते विंशतिरुपसर्गाः; अर्थवाचका= अर्थवाचिनः। सहेतराभ्याम्। कतराभ्याम्? नामाख्याताभ्याम्। प्र—"प्रयाणे जातवेदसः",[2] "प्र देवं देव्या धिया भरत।"[3] अभि—"अभिष्टने ते अद्रिवः"[4]; "अभि ष्याम रक्षसः।"[5] आ—"आयन्तारं महि स्थिरम्"[6]; "मरुद्भिरग्न आ गहि।"[7] परा—"परायतीं मातरमन्वचष्ट"[8]; "परा शृणीहि तपसा यातुधानान्।"[9] निः—"त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्"[10]; 'तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि'[11]। दुः 'पुराग्ने दुरितेभ्यः'[12]; "दुर्नियन्तुः परिप्रीतः।"[13] अनु—"अनु नु स्यात्यवृकाभिरूतिभिः;"[14]; 'तन्न ऋभुक्षा नरामनु ष्यात्।"[15] वि—"विराट् सम्राट्"[16]; "अपेत वीत वि च",[17] "विपाट् छुतुद्री।"[18] उप—"यज्ञेषत्त उपस्तुता"[19]; "इन्द्रमग्निमुप स्तुहि।"[20] अप—"अस्य प्राणादपानती"[21]; "अपेहि मनसस्पते।"[22] सम्—'प्र सम्राजं चर्षणीनाम्"[23]; 'साम्राजोरव आ वृणे।"[24] परि—'विदुर्विषाणं परिपानम्"[25]; "वाजी सन्परि णीयते।"[26] प्रति—"प्रतियन्तं चिदेनसः"[27]; "प्रति केतवः प्रथमा अदृश्रन्।"[28] नि—"अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः"[29]; "महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च।"[30] अति—अतिविद्धा विथुरेण"[31]; "अति

---

[1] ऋ० ७।१०४।१ [2] ऋ० ८।४३।६ [3] ऋ० १०।१७६।२
[4] ऋ० १।८०।१४ [5] ऋ० १०।१३२।२ [6] ऋ० ८।३२।१४
[7] ऋ० १।१९।१ [8] ऋ० ४।१८।३ [9] [illegible]।३।१४
[10] ऋ० १।२०।६ [11] ऋ० ४।१८।२ [12] ऋ० ८।४४।३०
[13] ऋ० १।१९०।६ [14] ऋ० २।३१।३ [15] ऋ० १।१६७।१०
[16] ऋ० १।१८८।५ [17] ऋ० १०।१४।९ [18] ऋ० ३।३३।१
[19] ऋ० १।१३६।१ [20] ऋ० १।१३६।६ [21] ऋ० १०।१८९।२
[22] ऋ० १०।१६४।१ [23] ऋ० ८।१६।१ [24] ऋ० १।१७।१
[25] ऋ० ५।४४।११ [26] ऋ० ४।१५।१ [27] ऋ० ८।६७।१७
[28] ऋ० ७।७८।१ [29] ऋ० ५।८३।६ [30] ऋ० ५।८३।८
[31] ऋ० ८।९६।२

ऋमिष्टं जुरतं पणेः।"[१] अधि—"मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि"[२]; "अभिशस्तेरधीहि।"[३] सु—"सुहस्तुपाणिः स्ववान्"[४]; "अश्विना स्वृषे स्तुहि।"[५] उत्—"उदग्रद्य मित्रमह"[६]; "उभे उदेति सूर्यः।"[७] अव—"अवस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम्"[८]; "अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।"[९] अपि—"यदीं गच्छन्त्युशतीरपिष्ठितम्"[१०]; "देवा देवानामपि यन्ति पाथः॥"[११]

उ० भा० अ०—प्र, अभि, आ, परा, निः, दुः, अनु, वि, उप, अप, सम्, परि, प्रति, नि, अति, अधि, सु, उत्, अव, अपि—ये; विंशतिरुपसर्गाः=बीस 'उपसर्ग', अर्थवाचका=अर्थ को बतलाने वाले हैं। सहेतराभ्याम्=अन्य दो के साथ (प्रयुक्त होकर। किन (दो के साथ)? (उत्तर) 'नाम' और 'आख्यात' के साथ। ")

इतरे निपाताः ॥२१॥

सू० अ०—अन्य निपात हैं।

उ० भा०—इतरे। कतरे? नामाख्यातोपसर्गेभ्योऽन्ये निपाता वेदितव्याः। "अस्माञ्च तांश्च॥"[१२]

उ० भा० अ०—इतरे=अन्य। कौन? (उत्तर) 'नाम', आख्यात', 'उपसर्ग' से अन्य को; निपाताः='निपात', जानना चाहिए। जैसे "अस्माञ्च तांश्च।"[क]

विंशतेरुपसर्गाणामुच्चा एकाक्षरा नव ॥२२॥

सू० अ०—बीस उपसर्गों में से एक 'अक्षर' वाले नौ 'उदात्त' हैं।

उ० भा०—प्र, आ, निः, दुः, वि, सम्, नि, सु, उत्-इत्येत उपसर्गाणां नवसंख्या एकाक्षराः; उच्चाः=उदात्ता —इत्यर्थः॥

उ० भा० अ०—प्र, आ, नि, दु, वि, सम्, नि, सु (और) उत्—(विंशतेः) उपसर्गाणाम्=(बीस उपसर्गों के मध्य में ये; (नव=) संख्या में नौ; एकाक्षराः=एक 'अक्षर' वाले; उच्चाः='उदात्त हैं।

आद्युदात्ता दशैतेषाम् ॥२३॥

सू० अ०- इन (उपसर्गों) में से दस 'आद्युदात्त' हैं।

उ० भा०—एतेषाम् उपसर्गाणां दशाद्युदात्ता वेदितव्याः। परा, अनु, उप, अप, परि, प्रति, अति, अधि, अव अपि - इत्येते॥

उ० भा० अ०—एतेषाम्=इन उपसर्गों में से, दशाद्युदात्ताः=दस को 'आद्युदात्त', जानना चाहिए। परा, अनु, उप, अप, परि, प्रति, अति, अधि, अव, अपि—ये (दस)।

टि० (क) दोनों "च" निपात हैं।

---

[१] ऋ० १।१८।२।३ [२] ऋ० १०।१२४।५ [३] ऋ० १।७१।१०
[४] ऋ० ३।५४।१२ [५] ऋ० ८।२६।१० [६] ऋ० १।५०।११
[७] ऋ० ७।६०।२ [८] ऋ० २।२३।८ [९] ऋ० १।२४।१५
[१०] ऋ० १।१४५।४ [११] ऋ० ३।८।९ [१२] ऋ० २।१।१६

अन्तोदात्तस्त्वभीत्ययम् ॥२४॥

सू० अ०—'अभि' यह ('उपसर्ग') तो 'अन्तोदात्त' है।

उ० भा०—एतेषामेवोपसर्गाणां मध्ये अभि इत्ययमन्तोदात्तो वेदितव्यः। "अभि प्रियाणि पवते चनोहितः ॥"[१]

उ० भा० अ०—इन्हीं उपसर्गों के मध्य में अभि इत्ययमन्तोदात्तः='अभि' इस (उपसर्ग) को 'अन्तोदात्त'; जानना चाहिए। (जैसे) "अभि प्रियाणि पवते चनोहितः।"

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः ॥२५॥

निपातानामर्थवशान्निपातना-
दनर्थकानामितरे च सार्थकाः।
नेयन्त इत्यस्ति संख्येह वाङ्मये
मिताक्षरे चाप्यमिताक्षरे च ये ॥२६॥

सू० अ०—'आख्यात' क्रिया का वाचक है; 'उपसर्ग' ('नाम' और 'आख्यात' के अर्थ में) विशेषता ला देता है; 'नाम' द्रव्य (सत्त्व) का अभिधान करने वाला है; 'निपात' पाद का पूरण करने वाला है।

कभी-कभी अर्थ के अनुसार प्रयुक्त होने से (निपातनात्) अनर्थक निपातों से अन्य सार्थक भी 'निपात' होते हैं। पद्य (मिताक्षर) और गद्य (अमिताक्षर) साहित्य में जो ('निपात') हैं, उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है कि "इतने ही 'निपात' हैं"।

उ० भा०—ऋज्वर्थावेतौ ॥

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये द्वादशं सीमापटलम् ॥
इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

उ० भा० अ०—इन दोनों (सूत्रों) का अर्थ सरल है।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य-भाष्य में सीमा-पटल नामक द्वादश (पटल) समाप्त हुआ।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

---

[१] ऋ० ९।७५।१

१३ : शिक्षा-पटलम्

(वर्णनिष्पत्तौ बाह्यः प्रयत्नः)

वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा।
आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम् ॥१॥

(वर्णों की निष्पत्ति में बाह्य प्रयत्न)

सू० अ०—जब वक्ता बोलने की चेष्टा करता है तो फेफड़े (lungs) से फेंकी हुई प्राण-रूप वायु, कण्ठ के छेद (स्वर-यन्त्र) (larynx) के (मुख्यतः) खुले हुए (विवृत) अथवा (मुख्यतः) बन्द होने (संवृत) के अनुसार, 'श्वास' (breath) अथवा नाद' (voice) हो जाती है।

उ० भा०—य इमे शारीरा इह पञ्च वायवो नानाकर्माणः प्राणापानव्यानोदानसमानास्तेषां प्राणो हि नाभेरुपरिष्टाद्व्याप्यास्ये व्याचरति। नाभेरधस्तात्पायुमेढ्योरपानः। प्रसारणाकुञ्चनोत्क्षेपणावक्षेपणगतिकर्मा व्यानः। कर्मप्रवृत्तिषु बलमारोपयत्युदानः। सर्वक्रियाणामुपरमणः समानः। एवं वाचि वर्तमानं प्राणमेक आचार्या मन्यन्ते। अपर उदानं मन्यन्ते—

उपरिष्टान्मुखादग्र ऊर्ध्वं यो वर्ततेऽनिलः।
उर्ध्वकर्मक्रियाः सर्वाः प्राणिनां सम्प्रवर्तयन् ॥
नाभ्युरोऽथ शिरोभागं गच्छन्करणसंयुतः।
कण्ठताल्वोष्ठदन्तानां सप्रयत्नः समीरितः ॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतान्वर्णान् स्निग्धान् रूक्षांश्च नैकधा।
उदात्ताननुदात्तांश्च स्वरितान्कम्पितानपि ॥
समान्विकीर्णांश्च तथा संवृतान्विवृतानपि।
देहिनामवबोधार्थं तेनोदानः स उच्यते ॥

उ० भा० अ०—शरीर में विद्यमान रहने वाली तथा पृथक्-पृथक् कार्य करने वाली जो ये पाँच वायु प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान हैं उनमें से प्राण वायु नाभि से ऊपर व्याप्त रहकर मुख में विचरण करती है। नाभि के नीचे मलाशय तथा मूत्राशय में अपान (वायु विद्यमान रहती है)। फैलाने वाली, सिकोड़ने वाली, ऊपर को फेंकने वाली, नीचे को फेंकने वाली और सामान्य गति करने वाली व्यान (वायु है)। उदान (वायु) कर्मप्रवृत्तियों में बल प्रदान करती है। समान (वायु) सब क्रियाओं में साम्य रखती है।

इस प्रकार वाणी के उत्पादन में उद्युक्त (वायु) को कतिपय आचार्य प्राण मानते हैं। दूसरे (आचार्य) (वाणी के उत्पादन में उद्युक्त वायु को) उदान मानते हैं—

प्राणियों के शरीर में ऊर्ध्वकर्म स्वरूप सभी क्रियाओं को निष्पन्न करती हुई जो वायु मुख से लेकर आगे ब्रह्मरन्ध्र तक विद्यमान रहती है; नाभि, उरस्, सिर में गमन करती हुई,

विभिन्न अङ्गो से सयुक्त होकर, कण्ठ, तालु, ओष्ठ, दाँतो से प्रयत्नपूर्वक प्रेरित हुई प्राणियो के ज्ञान के लिए 'ह्रस्व', 'दीर्घ', 'प्लुत' वर्णों को, स्निग्ध, रूक्ष, 'उदात्त', 'अनुदात्त', 'स्वरित' और कम्पित, समान, विकीर्ण, सवृत और विवृत (वर्णों) को (उत्पन्न करती है); अत वह (वायु) उदान कहलाती है।

उ० भा०—एवमुभयथाचार्यविप्रतिपत्तिदर्शनाच्छौनकेन भगवता प्राण मन्यमानेनेदं शास्त्रमेवं प्रणीतम्—"वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्" इति। ये पुनरुदानं मन्यन्ते तेषामिद न सिध्यत्युदानाभावात्। तेषां च सिद्धम्। कथम्? शारीराणां पञ्चानामपि प्राण इति नाम साधारणम्। तस्मात्तेषामपि "वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्" इत्येव सिद्धम्।

उ० भा० अ० --इस प्रकार (वाणी के उत्पादन में उद्युक्त वायु के विषय में) आचार्य लोगों में दोनों प्रकार (प्राण अथवा उदान) की विप्रतिपत्ति (मत-भेद) दिखलाई पड़ने से भगवान् शौनक ने (वाणी के उत्पादन में उद्युक्त वायु को) प्राण मानकर इस शास्त्र का इस प्रकार प्रणयन किया है— 'उदर से फेंकी हुई प्राण वायु।" (पू०) किंतु जो (आचार्य) (वाणी के उत्पादन में उद्युक्त वायु को) उदान मानते हैं उनके लिए यह (शास्त्र) सिद्ध नही होता है क्योकि (इस शास्त्र में) उदान का अभाव है। (सि०) उनके लिए भी (यह शास्त्र) सिद्ध है। (पू०) कैसे? शरीर में विद्यमान पाँचो प्रकार की वायु का प्राण साधारण नाम है (इनके मत में सूत्रोक्त 'प्राण' का अर्थ है 'उदान')। इसलिए उनके लिए भी "उदर से फेंकी हुई प्राण वायु" यह (शास्त्र) सिद्ध है।

प्राणो वायुः। कोष्ठम्=उदरम्। कोष्ठे भव कोष्ठ्यम्। अनुप्रदानम्=वायुमनु प्रदीयत इत्यनुप्रदानम्। किं च तत्? श्वासनादोभयम्। केन प्रयत्नेन किमनुप्रदानमापद्यते? कण्ठस्य=ग्रीवाया; खे=गलस्य बिले=छिद्रे। विवृते=विपुले=विशाले=महति। संवृते=सकुचिते=संश्लिष्टे=अल्पे वा सति। आपद्यते; श्वासताम्=श्वासत्वम्, नादताम्=नादत्व वा। वक्त्रीहायाम्—ईहा=चेष्टा। वक्तुरीहा=वक्त्रीहा। तस्यां वक्त्रीहायां स वायुः कण्ठबिले विवृते श्वासत्वमापद्यते संवृते नादत्वम्॥

उ० भा० अ०—प्राणो वायुः=प्राण नामक वायु। कोष्ठ=उदर (फेफड़ा=lungs) कोष्ठ्यम्=उदर (फेफड़ा=lungs) में उत्पन्न होने वाली। अनुप्रदानम्—वायु से प्रदान किया जाता है (=वायु का परिणाम है) अत 'अनुप्रदान' (emitted material) कहलाता है। (प्रश्न) वह ('अनुप्रदान') है क्या (वस्तु)? (उत्तर) 'श्वास' (breath), 'नाद' (voice) तथा दोनो ('श्वास' और 'नाद')। (प्रश्न) किस प्रयत्न से कौन 'अनुप्रदान' (emitted material) होता है? (उत्तर) कण्ठस्य=ग्रीवा के; खे=गले के बिल=गले के छेद (glottis) के। विवृते=विपुल होने पर=विशाल होने पर=महान् होने पर। संवृते=सकुचित होने पर=मिले हुए होने पर=अल्प होने पर। श्वासताम् आपद्यते=श्वासत्व को प्राप्त होती है, नादताम्=नादत्व को (प्राप्त होती है)। वक्त्रीहायाम्—ईहा=चेष्टा। वक्त्रीहा=वक्ता की चेष्टा। वक्ता की चेष्टा होने पर वह (प्राण नामक) वायु, कण्ठ के छिद्र (स्वर-यन्त्र) (larynx) के खुले होने पर, 'श्वास' (breath) हो जाती है, (और कण्ठ के छिद्र के) बन्द होने पर (वह

वायु) 'नाद' (voice) हो जाती है[क]।

उभयं वान्तरोभौ ॥२॥

सू० अ०—दोनों (विवृत और संवृत) के मध्य में होने पर (वायु) दोनों ('श्वास'=breath और 'नाद'=voice) हो जाती है।

उ० भा०—उभौ=विवृतसंवृतौ; अन्तरा=कण्ठबिले समे सति; उभयम्=श्वासं नादम्; आपद्यते ॥

उ० भा० अ०—उभौ=खुला हुआ (विवृत) और बन्द (संवृत); अन्तरा=मध्य

टि० (क) फेफड़े (lungs) से बाहर निकलने वाली वायु से ध्वनि की उत्पत्ति होती है। फेफड़े (lungs) से निकलने के बाद वायु स्वर-यन्त्र (larynx) से होकर बाहर आती है। स्वर-यन्त्र (larynx) में पतली झिल्ली के बने दो लचीले पर्दे (elastic bands) होते हैं जिन्हे स्वर-तन्त्री (vocal chords) कहते हैं। स्वर-तन्त्रियो (vocal chords) के बीच के छिद्र को कण्ठ-द्वार (glottis) कहते है। जब स्वरतन्त्रियाँ (vocal chords) एक दूसरे से दूर रहती है और कण्ठ-द्वार (glottis) खुला रहता है तब वहाँ से निकली हुई वायु 'श्वास' (breath) कहलाती है। जब स्वर-तन्त्रियाँ (vocal chords) एक दूसरे के निकट रहती है और कण्ठ-द्वार (glottis) बन्द-सा हो जाता है तब वायु घर्षण के साथ बाहर निकलती है जिससे स्वर-तन्त्रियो (vocal chords) में कम्पन (vibration) हो जाता है। इस अवस्था में बाहर निकली हुई वायु 'नाद' (voice) कहलाती है।

इस प्रकार फेफड़ा (lungs) और स्वर-यन्त्र (larynx) वायु को 'श्वास' (breath) अथवा 'नाद' (voice)बनाकर मुख के उच्चारणावयवो(organs of articulation) को द्रव्य (material) के रूप में प्रदान करते है। इन 'श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) का उपयोग मुख के उच्चारणावयव वर्णो के उत्पादन में करते है। 'श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) को 'अनुप्रदान' कहा जाता है। "अनुप्रदीयतेऽनेन वर्ण इत्यनुप्रदान मूलकारणम्। अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थ।" तै० प्रा० २।८ पर माहिषेयभाष्य। इसके अनुसार 'अनुप्रदान' वर्णों का मूल कारण है। 'श्वास' और 'नाद' रूप 'अनुप्रदान' को 'वाह्य प्रयत्न' तथा 'प्रकृति' भी कहा जाता है।

व्याकरण में 'वाह्य प्रयत्न' के अन्तर्गत 'विवार', 'संवार', 'श्वास', 'नाद', अघोष', 'सघोष' आदि का ग्रहण किया गया है। वास्तव में स्वर-तन्त्रियो (vocal chords) के खुले रहने (विवार) तथा बन्द रहने (संवार) ही को 'वाह्य प्रयत्न' कहना चाहिए। 'श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) ये दो प्रयत्नो के फल है। उसी प्रकार 'अघोष' (surds) और 'सघोष' (sonants) क्रमश 'श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) के फल हैं।

में=जब कण्ठ का छेद (glottis) समान अवस्था में हो तो (वायु); उभयम्=दोनों=
'श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) हो जाती है।[क]

ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति ॥३॥

सू० अ०—ये ('श्वास', 'नाद' और दोनों का मेल) वर्णों के मूल-कारण (प्रकृति) हैं।

उ० भा०—ताः=खल्वेताः; वर्णानाम्=सर्ववर्णानाम्; श्वासनादोभयात्मिकास् तिस्रः प्रकृतयो भवन्ति—इति वेदितव्यम् ॥

उक्तेऽप्यस्मिन्न ज्ञायते केषां वर्णानां का प्रकृतिर्भवतीति। तत्र ब्रूम —

उ० भा० अ०—ताः=ये; तीन–'श्वास' (breath), 'नाद' (voice) और दोनों, (वर्णानाम्=) सभी वर्णों के, प्रकृतयो भवन्ति=मूल कारण हैं—यह जानना चाहिए।

यह कहने पर भी यह पता नहीं चलता है कि किन वर्णों का क्या मूल कारण (प्रकृति) होता है। (अत) इस विषय में कहते हैं—

श्वासोऽघोषाणाम् ॥४॥

सू० अ०—'श्वास' (breath) 'अघोष' (वर्णों) (surd consonants) का मूल-कारण (प्रकृति) है।

उ० भा०—अघोषाणां वर्णाना श्वासः प्रकृतिर्भवतीति वेदितव्यम् ॥

उ० भा० अ०—श्वासः='श्वास' (breath); अघोषाणाम्='अघोष' वर्णों (surd consonants) का; मूल-कारण (प्रकृति) है—यह जानना चाहिए।

इतरेषां तु नादः ॥५॥

सू० अ०—'नाद' (voice) अन्य (वर्णों) का (मूल-कारण है)।

उ० भा०—इतरेषाम्। कतरेषाम्? स्वराणां घोषवतां च नादः प्रकृतिर्भवतीति वेदितव्यम् ॥

उ० भा० अ०—इतरेषाम्=अन्य (वर्णों) का। (प्रश्न) किनका? (उत्तर) 'स्वर' (-वर्णों) (vowels) का और सघोष'[ख] (व्यञ्जनों) (sonant consonants) का, नादः='नाद' (voice); मूल कारण (प्रकृति) होती है—यह जानना चाहिए।

टि० (क) अर्थात् जब स्वर-यन्त्र (larynx) का मुख (glottis) न तो पूर्ण रूप से खुला होता है और न बन्द रहता है तो उस अवस्था में प्राणवायु 'श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) दोनों हो जाती है।

(ख) 'अघोष' और 'सघोष' वर्णों के लिए १।११-१२ तथा पृष्ठ ५४ पर टि० (ग) को देखिए।

सोष्मोष्मणां घोषिणां श्वासनादौ ॥६॥

सू० अ०—'सघोष' 'सोष्म' (-वर्णों) (sonant aspirates) (=घ, झ, ढ, ध, भ) और 'सघोष' 'ऊष्म' (-वर्ण) (breathing) (=ह) (का मूल-कारण) श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) दोनों हैं।

उ० भा० – (सोष्मोष्मणां घोषिणाम्=) सोष्माणो ये घोषिणः=वर्गचतुर्थाः; ऊष्मणां च घोषः=हकार –तेषां वर्णानामेव, श्वासनादौ प्रकृतिर्भवतीति वेदितव्यम्।

श्वासानुप्रदाना अघोषाः। हचतुर्था उभयानुप्रदानाः। अवशिष्टाः सर्वे नादानुप्रदाना इति वेदितव्यम्॥

उ० भा० अ०—सोष्मोष्णां घोषिणाम्=जो 'सघोष' 'सोष्म' (-वर्ण) (sonant aspirates)=वर्गों के चतुर्थ वर्ण (=घ, झ, ढ, ध, भ) हैं और 'ऊष्म' (-वर्णों) (breathings) में जो 'सघोष' (-वर्ण) (sonant)=हकार (=ह) है—इन वर्णों का; मूल-कारण (प्रकृति); श्वासनादौ='श्वास' (breath) और 'नाद' (voice) दोनो है—यह जानना चाहिए।[क]

'अघोष' (-वर्णों) (surd consonants) का मूल-कारण ('अनुप्रदान') श्वास' (breath) है। ह और ('वर्ग') के चतुर्थ (वर्णों) का मूल-कारण (अनुप्रदान') दोनो ('श्वास'=breath और 'नाद'=voice) है। अवशिष्ट सब (वर्णों) का मूल-कारण ('अनुप्रदान') 'नाद' (voice) है—यह जानना चाहिए।

तेषां स्थानं प्रति नादात्तदुक्तम् ॥७॥

सू० अ०—जहाँ तक उन ('श्वास'=breath, 'नाद' =voice और दोनों) के रहने के समय का प्रश्न है वह तो 'नाद' (के रहने के समय) से ही कहा जा चुका है।

उ० भा०—तेषाम्=श्वासनादोभयानाम्; स्थानं प्रति यद्वक्तव्यम् तत्=एतत्; (नादात्) (उक्तम्=) व्याख्यातम्। "नादः परोऽभिनिधानाद् ध्रुवं तत्तत्कालस्थानम्"[१] इति। एवं श्वासादीनि त्रीण्यनुप्रदानानि वर्णकालस्थानानि भवन्ति। नाधिकानि, न न्यूनस्थानानि॥

उ० भा० अ०—तेषाम्=इनके= श्वास' (breath), 'नाद' (voice) और दोनों के; स्थानं प्रति=रहने के समय (duration) के विषय में; जो कहना है; तत्=यह, ('नाद' के समय की अवधि से), (उक्तम्=) व्याख्यात किया जा चुका है—" 'सघोष' 'व्यञ्जन' (sonant consonant) के 'अभिनिधान' से बाद में उसी ('अभिनिधान') के (उच्चारण) के काल तक रहने वाले 'नाद' (voice) का आगम होता है जिसे 'ध्रुव' कहते हैं।" इस प्रकार 'श्वास' (breath) आदि तीन 'अनुप्रदान' (emitted material)

टि० (क) 'ऊष्म'-वर्णों के लिए १।१० तथा पृष्ठ ५३ पर टि० (क) को देखिए।
(ख) 'सोष्म'-वर्णों के लिए १।१३ तथा पृष्ठ ५५ पर टि० (क) को देखिए।

---

[१] ६।३९

वर्ण के (उच्चारण के) समय तक रहते हैं। न अधिक समय तक और न थोड़े समय तक रहते हैं।

(वर्णनिष्पत्तौ आभ्यन्तरः प्रयत्नः)

तद्विशेषः करणम् ॥८॥

(वर्णों की निष्पत्ति में आभ्यन्तर प्रयत्न)

सू० अ०—इन (वर्णों) की एक विशेषता 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ('करण') (mode of orticulation) है।

उ० भा०—तत्र वर्णात्मगुणतत्त्वज्ञाने करणं नाम विशेषो वक्ष्यते। करणम्=प्रदानम्—इत्यनर्थान्तरमाहुः॥

उ० भा० अ०—वर्णों के स्वरूप (गुण) के यथार्थ-ज्ञान में, करणम्='आभ्यन्तर प्रयत्न' (mode of articulation), नामक, विशेषः=विशेषता, बतलाई जायेगी। 'करण'[क]='प्रदान'–ये दोनो भिन्नार्थक नही (अर्थात् समानार्थक है)—ऐसा (आचार्य) कहते हैं।

स्पृष्टमस्थितम् ॥९॥

सू० अ०—('स्पर्श' वर्णों का) अल्पकालीन 'स्पृष्ट' (non-stationary contact) ('आभ्यन्तर प्रयत्न'='करण') (होता है)।

उ० भा०—स्पृष्टं करण स्पर्शानाम्। तत् अस्थितम् वेदितव्यम्। अस्थितम् इति—यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तत् अस्थितम्—इत्युच्यते॥

उ० भा० अ०—'स्पर्श' (-वर्णों) का ('आभ्यन्तर प्रयत्न'='करण') ('स्पृष्ट') (contact) होता है। उसे, अस्थितम्=अस्थित (सक्रिय) (non-sationary); जानना चाहिए। अस्थित—जहाँ वर्ण के (उच्चारण-) स्थान को आश्रय बनाकर मध्य में जिह्वा नही रुकती है वह अस्थित (non-stationary (सक्रिय) कहा जाता है।[ख]

दुस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम् ॥१०॥

सू० अ०—हकार से पहले वाले चार (वर्णों=य, र, ल, व) का ('आभ्यन्तर प्रयत्न'='करण') 'ईषत्स्पृष्ट' ('दुःस्पृष्ट') (slight contact) (होता है)।

टि० (क) वर्णोत्पत्ति के लिए व्यापार को 'प्रयत्न' कहते है। 'प्रयत्न' के दो भेद है—(१) बाह्य (दे० १३-१-७) और (२) आभ्यन्तर। 'आभ्यन्तर प्रयत्न' को 'आस्य प्रयत्न', 'करण' या 'प्रदान' भी कहते है। जो प्रयत्न मुख (आस्य) के भीतर होते हैं उन्हें ('आभ्यन्तर प्रयत्न') (mode of articulation) कहते है।

(ख) 'स्पृष्ट' (contact) प्रयत्न में मुख के दो उच्चारणावयव एक दूसरे का स्पर्श करके वायु को पूर्ण रूप से रोक देते हैं और फिर तुरन्त ही एक दूसरे से पृथक् होकर वायु को बाहर जाने देते हैं। दो उच्चारणावयवो के स्पर्श (contact) के कारण ही इसे 'स्पृष्ट' (contact) 'प्रयत्न' कहते हैं। पृष्ठ ५२ पर टि० (क) को भी देखिए।

उ० भा०—दुःस्पृष्टम्=ईषत्स्पृष्टम्—इत्यर्थः। हकारात्प्राक्चतुर्णाम् वर्णानाम्=यरलवानाम् ॥

उ० भा० अ०—दुःस्पृष्टम्='ईषत्स्पृष्ट' (slight contact) यह अर्थ है। हकारात्प्राक्चतुर्णाम्=हकार से पूर्व वाले चार वर्णों का=य, र ल, व का।[क]

स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् ॥११॥

सू० अ०—'स्वर' (vowels), 'अनुस्वार' (pure nasal) और 'ऊष्म' (-वर्णों) (breathings) का ('आभ्यन्तर प्रयत्न'='करण') 'स्थित' 'अस्पृष्ट' (stationary non-contact) होता है।

उ० भा०—(स्वरानुस्वारोष्मणाम्=) स्वराणाम् अनुस्वारस्य ऊष्मणां च; अस्पृष्टं स्थितं वेदितव्यम्। यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य जिह्वावतिष्ठते तत्स्थितमित्युच्यते ॥

उ० भा० अ० (स्वरानुस्वारोष्मणाम्=) 'स्वर' (vowels), 'अनुस्वार' (pure nasal sound) और 'ऊष्म' (-वर्णों) (breathings) का (आभ्यन्तर प्रयत्न'='करण'), अस्पृष्टं स्थितम्=स्थित 'अस्पृष्ट' (stationary non-contact), जानना चाहिए। जहाँ वर्णों के (उच्चारण-) 'स्थान' का आश्रय लेकर जिह्वा स्थित हो जाती है वह 'स्थित' (stationary) कहा जाता है।[ख]

नैके कण्ठ्यस्य स्थितमाहुरूष्मणः ॥१२॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) 'कण्ठ्य' 'ऊष्म' (-वर्णों) (guttural breathings=ह, अः) का ('आभ्यन्तर प्रयत्न'='करण') 'स्थित' ('अस्पृष्ट') (stationary non-contact) नहीं मानते हैं।

उ० भा०—एके आचार्याः; कण्ठ्यस्योष्मणः=हकारस्य च विसर्जनीयस्य च; (स्थितम्) अस्पृष्टं करणं न; (आहुः=) मन्यन्ते। स्पृष्टं दुःस्पृष्टं वा। एवमेके। अपरेऽकण्ठ्यस्येति वर्णयन्ति ॥

उ० भा० अ०—एके=कतिपय आचार्य, कण्ठ्यस्योष्मणः='कण्ठ्य' 'ऊष्म' (-वर्णों) (guttural breathings) का=हकार का और विसर्जनीय का; (स्थितम्='स्थित') 'अस्पृष्ट' (non-contact) 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ('करण'); न=नहीं; (आहुः=)

टि० (क) इस 'प्रयत्न' में मुख के दो उच्चारणावयव न तो 'स्पर्श' वर्णों के समान एक दूसरे का पूर्ण स्पर्श ही करते हैं और न 'स्वर' वर्णों के समान एक दूसरे से दूर ही रहते हैं। इसमें उच्चारणावयवों का थोड़ा-सा स्पर्श होता है। उदाहरण के लिए 'य' का उच्चारण करने के लिए जिह्वा के अग्रभाग को कठोर तालु की ओर ले जाते हैं किंतु पूर्ण स्पर्श नहीं करते हैं। उसी प्रकार 'व' का उच्चारण करने के लिए दोनों ओष्ठ एक दूसरे के निकट आ जाते हैं किंतु एक दूसरे का पूर्ण स्पर्श नहीं करते हैं।

(ख) इस 'प्रयत्न' में (१) मुख के उच्चारणावयवों का स्पर्श (contact) नहीं होता और (२) उच्चारणावयव स्थित (निष्क्रिय) (stationary) रहते हैं।

मानते हैं। अर्थात् 'स्पृष्ट' (contact) अथवा 'दु.स्पृष्ट' (slight contact) (मानते हैं)। इस प्रकार कतिपय (आचार्य) (इस सूत्र की व्याख्या करते हैं)। दूसरे (आचार्य) अकण्ठ्य ('ऊष्म'–वर्णों=non-guttural breathings=श, ष, स, ≍ क, ≍ प, वं) का—यह व्याख्या करते हैं।क

(वर्णनिष्पत्तौ सामान्यवर्णनम्)

प्रयोक्तुरीहागुणसंनिपाते वर्णीभवन्गुणविशेषयोगात् ।
एकः श्रुतीः कर्मणाप्नोति बह्वीः ॥१३॥

(वर्णों की निष्पत्ति में सामान्य वर्णन)

सू० अ०—जब (कण्ठ्य वायु का) वक्ता के चेष्टात्मक गुण से योग होता है तो वह एक ही (कण्ठ्य वायु) वर्णता को प्राप्त हुई क्रिया (=प्रयत्न=कर्म) के द्वारा विशेष गुणों के योग से बहुत रूपों को प्राप्त हो जाती है।

उ० भा० -प्रयोक्तुः=वक्तुः; ईहा। (ईहागुणसंनिपाते–) ईहैव गुणः=ईहागुणः, तेन; संनिपाते=योगे; कण्ठ्यस्य वायोः। वर्णीभवन् इति=वर्णत्वमापद्यमानः; एकः सन् कण्ठ्यः स वायुः; गुणविशेषयोगात्—गुणा एव विशेषाः=गुणविशेषाः; तैर्योगात्। यः कण्ठ्यवायुः, बह्वीः श्रुतीः=बहुरूपाणि; कर्मणा=क्रियया; (आप्नोति=) प्राप्नोति। केऽत्र गुणविशेषा यैः संयोगाद्वर्णानां श्रुतितो विशेषो भवति? अनुप्रदानसंसर्गस्थानकरणपरिमाणाख्यास्तैः सह संयोगाद्वर्णानां रूपभेदो भवति॥

उ० भा० अ० - कण्ठ्य वायु का; प्रयोक्तुः=वक्ता की; चेष्टा (ईहा)। (ईहागुणसंनिपाते–) ईहा ही है गुण=ईहागुण; उसके साथ; सनिपात=योग होने पर। वर्णीभवन्=वर्णत्व को प्राप्त होती हुई वह कण्ठ्य वायु; गुणविशेषयोगात्—गुण ही हैं विशेष=गुणविशेष; उनके साथ योग से। जो (एक) कण्ठ्य वायु होती है वह; कर्मणा=क्रिया से; बह्वीः श्रुतीः=बहुत रूपों को; (आप्नोति=) प्राप्त होती है; (अर्थात् वक्ता की चेष्टा होने पर एक ही कण्ठ्य वायु विशेष गुणों के योग से अनेक रूपों को धारण कर लेती है जिससे भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णों की उत्पत्ति होती है)। (प्रश्न) कौन हैं वे विशेष गुण जिनके साथ संयोग होने से वर्णों के श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर (वैशिष्ट्य) हो जाता है? (उत्तर) 'बाह्य प्रयत्न' (emitted material), सर्ग (contact), (उच्चारण-) 'स्थान' (place of articulation). 'आभ्यन्तर प्रयत्न'

टि० (क) कतिपय आचार्य "नैके कण्ठ्यस्य" का पदच्छेद—"नैके। कण्ठ्यस्य" करते हैं और कतिपय आचार्य "नैके। अकण्ठ्यस्य" करते हैं। प्रथम आचार्यों के अनुसार 'कण्ठ्य' 'ऊष्म'–वर्णों (guttural breathings=ह अ) का 'प्रयत्न' 'स्थित' 'अस्पृष्ट' (stationary non-contact) नहीं होता है। द्वितीय आचार्यों के अनुसार 'अकण्ठ्य' 'ऊष्म'–वर्णों (non-gutturall) breathings=श, ष, स, ≍ क, ≍ प, अ) का 'प्रयत्न' 'स्थित' 'अस्पृष्ट' (stationary non-contact) नहीं है।

(करण=mode of articulation) और परिमाण (quantity) नामक विशेष गुण हैं; इनके साथ सयोग से वर्णों के श्रूयमाण रूप में भेद होता है।

उ० भा० – वर्गे वर्गे तुल्यस्थानानां तुल्यप्रयत्नानामपि प्रथमतृतीयानामनुप्रदानकृतः श्रुतिविशेषः। क च ट त प ग ज ड द ब इति। तथा हकारविसर्जनीययोः। संसर्गेणेति— वक्ष्यति 'आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम्"[1]; "सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन"[2]; "घोषिणां घोषिणैव"[3] इति। द्वितीयचतुर्था ऊष्मणा संसृज्यन्ते। अनुस्वारेण पञ्चमः। तत्र तुल्यस्थानप्रयत्नानुप्रदानानामपि प्रथमद्वितीयानां तथा तृतीयचतुर्थानां तथा तृतीयपञ्चमानां च संसर्गकृतः श्रुतिविशेषः। क च ट त प ख छ ठ थ फ। तथा ग ज ड ब तथा घ झ ढ ध भ तथा ङ ञ ण न म इति।

उ० भा० अ०—प्रत्येक वर्ग में तुल्य (उच्चारण–) 'स्थान' और तुल्य (आभ्यन्तर) 'प्रयत्न' वाले भी प्रथम और तृतीय (वर्णों) के श्रूयमाण स्वरूप में भेद 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान') के कारण होता है। (जैसे) क, च, ट, त, प और ग, ज, ड, द, ब में। उसी प्रकार हकार और विसर्जनीय में।[क] संसर्ग से—(सूत्रकार) कहेंगे—"कतिपय आचार्य 'सघोष' व्यञ्जनों (sonant consonants) का 'घोष' (voice) अकार को बतलाते हैं और 'अनुनासिक' (व्यञ्जनो) (nasal consonants) का 'घोष' (voice) 'अनुस्वार' (pure nasal) को (बतलाते है), "(ये आचार्य) 'सोष्म' (व्यञ्जनों) (aspirates) की 'सोष्मता' (aspiration) को भी समान 'स्थान' वाले 'ऊष्म' (-वर्ण) (breathing) से (उत्पन्न) बतलाते हैं"; "'सघोष' ('सोष्म'-वर्णों) (onant aspirates) की ('सोष्मता'=aspiration) को) 'सघोष' ('ऊष्म'-वर्ण=हकार) से ही (बतलाते हैं)। (इस प्रकार) (प्रत्येक 'वर्ग' के) द्वितीय और चतुर्थ (वर्णों) का 'ऊष्म' (-वर्ण) (breathing) से ससर्ग होता है और पञ्चम (वर्ण) का 'अनुस्वार' (pure nasal) से (ससर्ग होता है)। (इस प्रकार) तुल्य (उच्चारण-) 'स्थान' (place of articulation), (तुल्य) (आभ्यन्तर) 'प्रयत्न' (mode of articulation) और (तुल्य) 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान') (emitted material) वाले ('वर्ग' के) प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ तथा तृतीय और पञ्चम (वर्णों) के श्रूयमाण स्वरूप में भेद ससर्ग के कारण होता है। (जैसे) क, च, ट, त, प (तथा) ख, छ, ठ, थ, फ। ग, ज, ड, द, ब तथा घ, झ, ढ, ध, भ तथा ङ, ञ, ण, न, म।[ख]

टि० (क) 'क' और 'ग'—इन दोनों का (१) उच्चारणस्थान (place of articulation) १।४१ से समान (जिह्वामूल) है और (२) इनका 'आभ्यन्तर प्रयत्न' (mode of articulation) भी १३।९ से समान ('स्पष्ट') (contact) है। किंतु इन दोनो के 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान'=emitted material) में भेद है— 'क' 'श्वास' (breath) से उत्पन्न है और 'ग' 'नाद' (voice) से उत्पन्न है। अन्य सभी वर्णों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ख) क और ख का (१) उच्चारणस्थान (place of articulation) १।४१ से समान (जिह्वामूल) है (२) इनका 'आभ्यन्तर प्रयत्न' (mode of articulation)

[1] १३।१५ [2] १३।१६ [3] १३।१७

स्थानेनेति—तुल्यप्रयत्नानुप्रदानानामपि स्थानकृतः श्रुतिविशेषः। अ ऋ इ उ। क च ट त प। य र ल व। ह श ष स। **करणेनेति**। तुल्यस्थानानुप्रदानानामपि इकारजकारयकाराणां करणकृतः श्रुतिविशेषः। **परिमाणेनेति**। तुल्यस्थानप्रयत्नानुप्रदानयोरपि समानाक्षरयोः परिमाणकृतः श्रुतिविशेषः। यथा—अ आ। ऋ ॠ। इ ई। उ ऊ। अपि च श्लोकः—

अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविभ्रमात्।
जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमात् ॥[1] इति ॥

स्थान से=तुल्य (आभ्यन्तर) 'प्रयत्न' (mode of articulation) और (तुल्य) 'बाह्य-प्रयत्न' ('अनुप्रदान'=emitted material) वाले (वर्णों) की श्रुति में भेद (उच्चारण-) 'स्थान' (place of articulation) से होता है। (जैसे) अ, ऋ, इ, उ।[क] क, च, ट, त, प। य, र, ल, व। ह, श, ष, स। **आभ्यन्तर प्रयत्न** ('करण'=mode of articulation) से—तुल्य (उच्चारण-) 'स्थान' (place of articulation) और 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान'=emitted material) वाले भी इकार, जकार और यकार के श्रूयमाण स्वरूप में विभेद आभ्यन्तर प्रयत्न ('करण'=mode of articulation) के कारण होता है।[ख] **परिमाण से**—तुल्य (उच्चारण-) 'स्थान' (place of articulation), (तुल्य

(६८७ ख) १३।९ से समान ('स्पृष्ट'=contact) है और (२) इनका 'बाह्य प्रयत्न' (emitted material) भी १३।४ से समान ('श्वास'=breath) है। किंतु १३।१६ के अनुसार 'ख' में 'ऊष्म'-वर्ण (breathing) (ᳵ क) के संसर्ग से 'सोष्मता' (aspiration) आ गई है। यही दोनों में भेद है। प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ वर्णों में संसर्ग से उत्पन्न इसी 'सोष्मता' (aspiration) का भेद है। प्रत्येक वर्ग के पञ्चम ('अनुनासिक') (nasalized consonants) वर्णों का 'वर्ग' के तृतीय वर्णों से केवल यही भेद है कि 'अनुनासिक' वर्ण (nasalized consontant) में १३।१५ से 'अनुस्वार' (pure nasal) से उत्पन्न 'घोष' है।

टि० (क) अ, ऋ, इ, उ—इन 'स्वर'—वर्णों का (१) 'आभ्यन्तर प्रयत्न' (mode of articulation) १३।१० से समान ('अस्पृष्ट'=non-contact) है और (२) इनका 'बाह्य प्रयत्न' (emitted material) १३।५ से समान ('नाद'=voice) है। किंतु इनके उच्चारण-स्थान (place of articulation) भिन्न (क्रमशः कण्ठ, जिह्वामूल, तालु और ओष्ठ) हैं। उच्चारण-स्थान (place of articulation) के भिन्न होने से ही इन वर्णों में भेद है। अन्य सभी वर्णों को भी ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ख) इ, ज और य—इन वर्णों का (१) (उच्चारणस्थान (place of articulation) १।४२ से समान (तालु) है और (२) इनका 'बाह्य प्रयत्न' (emitted material) भी १३।५ से समान ('नाद'=voice) है। किंतु इनके 'आभ्यन्तर प्रयत्न' (mode of articulation) १३।११-१०-९ से भिन्न (क्रमशः 'अस्पृष्ट'=non-contact, 'स्पृष्ट'=contact और 'दुस्पृष्ट'=slight contact) है। 'आभ्यन्तर प्रयत्न' (mode of articulation) के भिन्न होने से ही इन वर्णों में भेद है।

१ तै० प्रा० २३।२

आभ्यन्तर–) 'प्रयत्न' (mode of articulation) वाले और (तुल्य) 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान'=emitted material) वाले समानाक्षरो (monopthongs) के श्रूयमाण स्वरूप में भेद परिमाण के कारण होता है। जैसे—अ, आ।[क] ऋ, ॠ,। इ, ई। उ, ऊ। इस विषय में श्लोक भी है—

'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान' emitted material) से, ससर्ग (contact) से, (उच्चारण—) 'स्थान' (place of articulation) से, 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ('करण' =mode of articulation) के विन्यास से और पञ्चम परिमाण (quantity) से वर्णों में वैशिष्ट्य (भेद) उत्पन्न होता है।

(वर्णाः शाश्वतिका इति मतन्यासः)

एके वर्णाञ्छाश्वतिकान्न कार्यान् ॥१४॥

(वर्णों की नित्यता का मत)

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) वर्णों को नित्य (शाश्वतिक) (मानते हैं), अनित्य (कार्य) नही।

उ० भा०—एके आचार्या अकारादीन् वर्णान्; शाश्वतिकान्=नित्यान्; न कार्यान्=न कर्तव्यान्; मन्यन्ते ॥

उ० भा० अ०—एके=कतिपय आचार्य, अकार आदि; वर्णान्=वर्णों को, शाश्वतिकान्=नित्य, न कार्यान्=अनित्य (उत्पाद्य) नहीं, मानते है।[ख]

(सघोषाणामनुनासिकानां सोष्मणां च उत्पत्तिविषये मतभेदः)

आहुर्घोषं घोषवतामकार-
मेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम् ॥१५॥

(सघोष, अनुनासिक और सोष्म-वर्णों की उत्पत्ति के विषय मे मतभेद)

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) 'सघोष' (व्यञ्जनो) (sonant consonants) का 'घोष' (voice) अकार को बतलाते है और 'अनुनासिक' (व्यञ्जनों) (nasalized consonants) का ('घोष'=voice) 'अनुस्वार' को (बतलाते हैं)।

टि० (क) अ और आ—इन वर्णों का (१) उच्चारणस्थान (place of articulation) १।३८ से समान (कण्ठ) है (२) इनका 'आभ्यन्तर प्रयत्न' (mode of articulation) १३।११ से समान ('अस्पृष्ट'=non-contact) है और (३) इनका 'बाह्य प्रयत्न' (emitted material) समान ('नाद'=voice) है। किंतु इनमें मात्रा (परिमाण) का भेद है। 'अ' का उच्चारणकाल एक मात्रा है जब कि 'आ' का दो मात्रा है।

(ख) कतिपय आचार्य वर्णों को नित्य मानते है। जिस प्रकार भूमि में जल सर्वत्र रहता है और कूप-खनन से वह केवल प्रकाश में आ जाता है; उसी प्रकार वर्ण नित्य हैं, उच्चारणावयवो के व्यापार से वे व्यक्त किए जाते हैं, उत्पन्न नही।

उ० भा०—घोषवतां वर्णानाम् अकारम् घोषमाहुरेके आचार्याः। किमुक्तं भवति ? घोषवत्स्वकारः स्वस्थानादागत्य घोषत्वं जनयतीति। ग ज ड द ब। य र ल व। ह इति। तथा त एवाचार्या अनुनासिकानां वर्णानाम् अनुस्वारम् घोषमाहुः। किमुक्तं भवति ? अनुस्वारः स्वस्थानादागत्य घोषत्वं जनयतीति। ङ ञ ण न म इति॥

उ० भा० अ०—एके=कतिपय आचार्य, घोषवताम्='सघोष' वर्णों (sonant consonants)का, घोषम्='घोष' (voice), अकारमाहुः=अकार को बतलाते हैं। कहने का क्या तात्पर्य है ? (उत्तर) अकार अपने स्थान से अकार 'सघोष' (व्यञ्जनों) (sonant consonants) में घोषत्व (voice) को उत्पन्न करता है।[क] (जैसे) ग, ज, ड, द, ब। य, र, ल, व। ह। उसी प्रकार वे ही आचार्य, अनुनासिकानाम्='अनुनासिक' व्यञ्जनों (nasalized consonants)का; 'घोष' (voice), अनुस्वारम्='अनुस्वार' (pure nasal) को, बतलाते हैं। कहने का क्या तात्पर्य है ? उत्तर) 'अनुस्वार' (pure nasal) अपने स्थान से आकर ('अनुनासिक' व्यञ्जनों=nasalized consonants में) घोषत्व (voice) को उत्पन्न करता है।[ख] (जैसे) ङ, ञ, ,न ण, म।

सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन ॥१६॥

सू० अ०—(ये आचार्य) 'सोष्म' (व्यञ्जनों) की 'सोष्मता' (aspiration) को भी समान 'स्थान' वाले 'ऊष्म' (-वर्ण) से (उत्पन्न), बतलाते हैं।

उ० भा०—सोष्मणां वर्णानाम्; (सोष्मताम्=)सोष्मत्वम्; सस्थानेनोष्मणाहुः। खकारस्य ≍क इत्येतेन। छकारस्य श इत्येतेन ठकारस्य ष इत्येतेन। थकारस्य स इत्येतेन। फकारस्य ≍प इत्येतेन॥

उ० भा० अ०—सोष्मणाम्='सोष्म'-वर्णों (aspirates) की, (सोष्मताम्=) 'सोष्मत्व' (aspiration)को, सस्थानेनोष्मणाहुः=समान 'स्थान' वाले 'ऊष्म' (-वर्ण) (breathing) से (उत्पन्न) बतलाते हैं। खकार की ('सोष्मता'=aspiration) '≍क' से (उत्पन्न होती है)। छकार की ('सोष्मता'=aspiration) 'श' से (उत्पन्न होती है)। ठकार की ('सोष्मता'=aspiration) 'ष' से (उत्पन्न होती है)। थकार की

टि० (क) इसका तात्पर्य यह है कि सघोष' वर्णों (sonant consonants) में जो 'घोष' (voice) है वह 'अ' ध्वनि के कारण है। प्रतीत होता है कि इन आचार्यों के अनुसार अ' शुद्ध 'घोष' (pure voice) है जो या तो अ-वर्ण के रूप में अपना स्वतन्त्र कार्य करती है या 'सघोष' वर्णों (sonant consonants) को अपेक्षित 'घोष' (voice) प्रदान करती है।

(ख) इन आचार्यों के अनुसार 'अनुस्वार' शुद्ध 'नासिक्य' (pure nasal) ध्वनि है जो सभी 'अनुनासिक' वर्णों (nasalized consonants) का आधार है। 'अनुनासिक' वर्णों (nasalized consonants) में जो घोष' (voice) है वह 'अनुस्वार' (pure nasal) के कारण ही है।

('सोष्मता'=aspiration) 'स' से (उत्पन्न होती है)। फकार की ('सोष्मता'= aspiration) 'ᳵप' से (उत्पन्न होती है)।

घोषिणां घोषिणैव ॥१७॥

सू० अ०—'सघोष' ('सोष्म'-वर्णों) की ('सोष्मता' को) सघोष' ('ऊष्म'-वर्ण=ह्कार) से ही (बतलाते हैं)।

उ० भा०—घोषिणां सोष्मणाम्; घोषिणैव ऊष्मणा=हकारेण—इत्यर्थः। सोष्मतामाह.। घ, झ, ढ, ध, भ इति ॥

उ० भा० अ०—घोषिणाम्= सघोष' 'सोष्म' (—वर्णों) (sonant aspirates) की, 'सोष्मता' (aspiration) को; घोषिणैव='सघोष' 'ऊष्म' (—वर्ण) (sonant breathing) से=ह्कार से (उत्पन्न); बतलाते हैं।क (जैसे) घ. झ, ढ, ध, भ।

अत्रोत्पन्नावपर ऊष्मघोषौ ॥१८॥

सू० अ०—दूसरे (आचार्य) 'सोष्मता' (aspiration) और 'घोष' (voice) को यही (= सोष्म' और 'सघोष' वर्णों मे, (स्वतन्त्र रूप से) उत्पन्न (मानते है)।

उ० भा०—अत्र=एव सोष्मसु घोषवत्सु च; (उत्पन्नौ=) उत्पद्येते ऊष्मघोषौ इति अपरे आचार्या आहुः। यदुक्तमकारो घोषवतां घोषवत्त्वं जनयतीति, अनुस्वारोऽनुनासिकानामिति. सोष्मणां चोष्मा सोष्मत्वमिति-तन्न स्पष्टं लक्ष्यते। कस्मात् ? एवमुच्यमाने सति वर्णानामनित्यत्व प्रसज्येत। नित्याश्च वर्णाः कूटस्थाश्चाविचालिनः ॥

उ० भा० अ०—अत्र=यहीं पर='सोष्म' (—वर्णों) (aspirates) में और 'सघोष' (—वर्णों) (sonant consonants) में; ऊष्मघोषौ='ऊष्मता' (aspiration) और 'घोष' (voice), (उत्पन्नौ=) उत्पन्न होते हैं- यह; अपरे=दूसरे आचार्य; कहते हैं। यह जो (१३।१५-१६-१७ में) कहा है कि (१) 'सघोष' (—वर्णों) (sonant consonants) की 'घोष' (voice) को अकार उत्पन्न करता है, (२) 'अनुनासिक' (—वर्णों) (nasalized consonants) की ('घोष'=voice को) 'अनुस्वार' (pure nasal) उत्पन्न करता है और (३) 'सोष्म' (—वर्णों) (aspirates) की 'सोष्मता' (aspiration) को 'ऊष्म' (—वर्ण) (उत्पन्न करता है)—वह ठीक प्रतीत नहीं होता है। क्यो? (उत्तर) इस प्रकार कहने से वर्णों के अनित्यत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। किन्तु वर्ण नित्य और अविचाली हैं।

शीघ्रतरं सोष्मसु प्राणमेके ॥१९॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) 'सोष्म' (—वर्णों) में प्राण को शीघ्रतर (मानते हैं)

टि० (क) अर्थात् सभी 'सघोष' 'महाप्राण' वर्णो (sonant aspirates) का आधार 'ह' ध्वनि है। इन वर्णों म जो महाप्राणता (अधिक वायु) है वह हकार के ही कारण है। हकार शुद्ध महाप्राण (pure aspirate) ध्वनि है।

उ० भा०—सोष्मसु=द्वितीयचतुर्थेषु; शीघ्रतरं प्राणमेके आचार्या मन्यन्ते। सर्वेषु वर्णेषु स्थानकरणानुप्रदानानि त्रयोः गुणाः समानाः। सोष्मसूष्मा गुणोऽधिकः। तत्र गुणबहुत्वान्मात्राकालेन शीघ्रचारादृते न शक्यमुच्चारयितुमिति तेषु शीघ्रतरं प्राणं मन्यन्ते। पदकारेणाप्युक्तम्—प्रथमद्वितीयाः श्वासानुप्रदाना अघोषा एकेऽल्पप्राणा अपरे महाप्राणा। तृतीयचतुर्था नादानुप्रदाना घोषवन्त। एकेऽल्पप्राणा अपरे महाप्राणाः—इति सोष्मसु महाप्राणं विदधदेतमेवार्थमाह ॥

उ० भा० अ०—एके=कतिपय आचार्य; सोष्मसु='सोष्म' (-वर्णों) (aspirates) में=(प्रत्येक 'वर्ग' के) द्वितीय और चतुर्थ (वर्णों) में, शीघ्रतरं प्राणम्=प्राण को शीघ्रतर; मानते हैं। सभी वर्णों में (उच्चारण-) 'स्थान', 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ('करण') और 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान')—ये तीन गुण समान हैं। 'सोष्म' (-वर्णों) में 'ऊष्मा' (aspiration) गुण अधिक है। वहाँ (=इन 'सोष्म'-वर्णों में) यदि (उच्चारण) शीघ्रता से न किया जावे तो गुणों के अधिक होने के कारण इनका उच्चारण एक मात्रा के काल में नहीं हो सकता है—इसलिए इन (वर्णों) में प्राण को शीघ्रतर मानते हैं। पदकार ने भी कहा है—(प्रत्येक 'वर्ग' के) प्रथम और द्वितीय (वर्णों) का 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान') 'श्वास' है और ये 'अघोष' हैं। पहले (क, च, ट, त, प) 'अल्पप्राण' हैं। दूसरे (ख, छ, ठ, थ, फ) 'महाप्राण' हैं। (प्रत्येक 'वर्ग' के) तृतीय और चतुर्थ (वर्णों) का 'बाह्य प्रयत्न' ('अनुप्रदान') 'नाद' है और ये 'सघोष' हैं। पहले (ग, ज, ड, द, ब) 'अल्पप्राण' हैं, दूसरे (घ, झ, ढ, ध, भ) 'महाप्राण' हैं—इस प्रकार 'सोष्म' (-वर्णों) में 'महाप्राण' का विधान करते हुए (पदकार) ने इसी बात को बतलाया है।

(अनुनासिकवर्णानामुच्चारणप्रकारः)

रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम् ॥२०॥

सू० अ०—'अनुनासिक' ('रक्त') का उच्चारण मुख और नासिका-दोनों-से होता है।

(अनुनासिक वर्णों का उच्चारणप्रकार)

उ० भा०—(मुखनासिकाभ्याम्=) मुखेन नासिकया च; (वचनः=) यः उच्यते, स रक्तो वेदितव्यः। ङ ञ ण न म इति। "सचाँ इन्द्रः"[१], "अस्माँअस्माँ इत्"[२], "अभीशूँरिव"[३]; "नॄँः प्रणेत्रम्।"[४] किमर्थमिदमुच्यते? ननु—"रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः"[५] इत्येव सिद्धम्। सत्यम्। न हि संज्ञा क्रियते। किं तर्हि? तत्रानुक्तं मुखनासिकावचनत्वमिह रक्तस्य विधीयते। एवमर्थमिदमुच्यते ॥

उ० भा० अ०—(मुखनासिकाभ्याम्=) मुख और नासिका से, (वचनः=) जिसका उच्चारण होता है; उसे, रक्तः='अनुनासिक', जानना चाहिए। (जैसे) ङ, ञ, ण, न, म। (उदाहरण) "सचाँ इन्द्र.", अस्माँअस्माँ इत्", "अभीशूँरिव",

---

१ ऋ० १।५१।११ २ ऋ० ४।३२।४ ३ ऋ० ६।५७।६
४ ग्रं० पृ० १४२ ५ १।३६

'नॄँ प्रणेत्रम् ।" (पू०) यह (सूत्र) किसलिए कहा है ? " 'अननासिक' की 'रक्त' संज्ञा है"—इस (सूत्र) से ही यह सिद्ध है। (सि०) यह तो सच है किंतु (प्रस्तुत सूत्र से) (रक्त') संज्ञा नहीं की जा रही है। (पू०) तो फिर क्या ? अनुनासिक' ('रक्त') के मुख और नासिका से उच्चारित होने का विधान यहाँ (=इस प्रस्तुत सूत्र में) किया गया है जो वहाँ (=१।३६ में) नही कहा गया था। इसलिए यह (सूत्र) कहा गया है।

(वर्णगुणोपसंहारः)

तद्वर्णात्मगुणशास्त्रमाहुः ॥२१॥

(वर्णों के गुणों का उपसंहार)

सू० अ०—यह वर्णों के गुणों का शासन है—यह कहते हैं।

उ० भा० - एतत्="वायुः प्राणः"[1] इत्येवमादि यदनुक्रान्तं तत्, (वर्णात्मगुणशास्त्रम्=) वर्णानामात्मगुणशासनम्, (आहुः=) वेदितव्यम्। एतावन्तो वर्णात्मगुणाः—श्वासता, नादता, उभयता। स्पृष्टता। दुःस्पृष्टता। अस्पृष्टता। कण्ठबिलस्य विवृतता संवृतता। अघोषता। घोषता। सोष्मता। अनुनासिकतेति ॥

उ० भा० अ०— 'प्राण वायु" इससे प्रारम्भ करके जो कहा गया है वह; (वर्णात्मगुणशास्त्रम्=) वर्णों के गुणो का शासन है—(आहुः=) यह जानना चाहिए। वर्णों के इतने गुण हैं—श्वासता नादता और दोनों। स्पृष्टता. दुःस्पृष्टता और अस्पृष्टता। कण्ठ के छेद का खुला होना और बन्द होना। अघोषता और सघोषता। सोष्मता। अनुनासिकता।

(ऋक्षु पदमध्ये दीर्घपूर्वस्य अनुस्वारस्य ह्रस्वपूर्वस्य अनुस्वारस्य च उच्चारणव्यवस्था)

नपुंसकं यदूष्मान्तं तस्य बह्वभिधानजः।
अनुस्वारो दीर्घपूर्वः सिष्यन्तेषु पदेषु सः ॥२२॥

(ऋचाओं के पद के मध्य में दीर्घपूर्व अनुस्वार और ह्रस्वपूर्व अनुस्वार के उच्चारण की व्यवस्था)

सू० अ०—'ऊष्म'-वर्ण (breathing) में समाप्त होने वाला जो नपुंसक लिङ्ग वाला (शब्द) है उसके बहुवचन में उत्पन्न 'अनुस्वार' (pure nasal) दीर्घपूर्व होता है। वह ('अनुस्वार'=pure nasal) 'सि' तथा 'षि' मे समाप्त होने वाले पदों में (उपलब्ध होता है)।

उ० भा०—(नपुंसकम्=) नपुंसकलिङ्गम्, यत् शब्दस्वरूपम् ऊष्मान्तम् तस्य नपुंसकलिङ्गस्य, बह्वभिधानजः=बहुवचनोत्पन्नः—इत्यर्थः; दीर्घपूर्वो नकारजन्यः पदमध्ये अनुस्वारो वेदितव्य। (सिष्यन्तेषु=) सि षि इत्येवमन्तेषु; पदेषु सः अनुस्वारो द्रष्टव्य। "भासांसि वस्ते सूर्यो न शुक्रः"[2]; 'चक्षूंषीव सूर्ये स चरन्ति"[3]; 'आ देव्या

---

[1] १३।१ [2] ऋ० ६।४।३ [3] ऋ० ५।१।४

वृणीमहेऽवांसि"[१]; "व्ययं इन्द्र तनुहि श्रवांसि"[२]; "तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु"[३]; 'वपूंषि जाता मिथुना सचेते"[४]; 'आ यस्मिन्मना हवींष्यग्नौ।"[५]

उ० भा० अ०—ऊष्मान्तम्='ऊष्म'-वर्ण (breathing) में समाप्त होने वाला; यत्=जो, (नपुंसकम्=) नपुसक लिङ्ग वाला, शब्द-स्वरूप है, तस्य=उस नपुसक लिङ्ग वाले (शब्द के), बह्वभिधानजः=बहुवचन में उत्पन्न—यह अर्थ है, पद के मध्य में वर्तमान तथा नकार से उत्पन्न, अनुस्वारः='अनुस्वार' को, दीर्घपूर्वः='दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके ऐसा, जानना चाहिए। सः=उस 'अनुस्वार' को, (सिष्यन्तेषु=) 'सि' तथा 'षि' में समाप्त होने वाले; पदेषु=पदों मे; देखना चाहिए।[क] (उदाहरण) "भासांसि वस्ते सूर्यो न शुक्रः", "चक्षूंषीव सूर्ये स चरन्ति", "आ दैव्या वृणीमहेऽवांसि"; "व्ययं इन्द्र तनुहि श्रवांसि", "तपूंसि तस्मै वृजिनानि सन्तु", "वपूंषि जाता मिथुना सचेते", "आ यस्मिन्मना हवींष्यग्नौ।"

उ० भा०—किमर्थमनुस्वारस्य दीर्घपूर्वस्य पदमध्ये वर्तमानस्य बहुभिः श्लोकैर्लक्षणं क्रियते? ननु पाठादेव सिद्धम्। यथान्येषां वर्णानां पाठात्सिद्धम्। सत्यम्। किंतु दुराम्नाननिवृत्त्यर्थमनयोः शिक्षापटलयोर्बहूनां वर्णानां लक्षणं क्रियते। यथा—'समापाद्यान्युत्तरे षट् पकारे"[६] 'शुनश्शेपो निष्षपी शास्ति निष्षाळविक्रमाः"[७] "ऐयेरित्यैकारमकारमाहु"[८] इत्येवमादीनि। कथं पुनर्दुराम्नानप्रसङ्ग? सन्ति ह्यतीर्थोषिता अलसा अगुणदोषज्ञा अन्योन्याध्यापकाः सर्ववर्णान्यत्वजनयितारः। तद्दोषनिवृत्त्यर्थमाचार्येण शिष्यहितार्थमिदमारब्धम्। अनुस्वारस्य तावत्स्थाने ङकारं जनयन्ति। तस्माद् ङकारात्परं ककारमन्तःपातं जनयन्ति—"हवींषि"; 'सर्पींषि"; "भासांसि"[९]; "अवांसि" इत्येवम्। तन्निवृत्त्यर्थमनुस्वारलक्षणं क्रियते।

उ० भा० अ०—(प्रश्न) पद के मध्य में वर्तमान दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' का बहुत से श्लोकों के द्वारा लक्षण किसलिए किया जा रहा है? (यह दीर्घपूर्व 'अनुस्वार') का लक्षण पाठ से ही सिद्ध है, जिस प्रकार अन्य वर्णों का (लक्षण) पाठ से सिद्ध है। (उत्तर) (यह तो) सच है। किंतु अशुद्ध उच्चारण की निवृत्ति के लिए इन दोनों शिक्षा-पटलों (त्रयोदश तथा चतुर्दश पटलों) में बहुत से वर्णों का लक्षण किया गया है। (जैसे) "पकार बाद में होने पर इन छ (शब्दों) का विसर्जनीय 'ऊष्म' (-वर्ण) हो जाता है", "'शुनश्शेप',

टि० (क) इस सूत्र में पद के मध्य में दीर्घपूर्व 'अनुस्वार'-(pure nasal) का विधान किया है। दीर्घपूर्व यह 'अनुस्वार' उन्हीं नपुसक लिङ्ग वाले शब्दों के बहुवचन में उपलब्ध होता है जो 'सि' अथवा 'षि' में समाप्त होते हैं। पद के मध्य में वर्तमान यह अनुस्वार' नकारजन्य होता है जब कि पद के अन्त में वर्तमान 'अनुस्वार' मकारजन्य होता है।

---

१ ऋ० ७।९७।२ २ ऋ० १०।११६।६ ३ ऋ० ६।५२।२
४ ऋ० ३।३९।३ ५ ऋ० १०।६।३ ६ १३।३०
७ १४।३६ ८ १४।४१ ९ ऋ० ६।४।३

'निष्पर्पी', 'शास्सि', 'निष्षाट्'–इनमें अपरिवर्तित विसर्जनीय (का उच्चारण) नही (करना चाहिए)", "'ऐये' के ऐकार को अकार उच्चारित करते है" इत्यादि। (प्रश्न) किंतु अशुद्ध उच्चारण का प्रसङ्ग कैसे (उपस्थित होता है) ? (उत्तर) कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जिन्होने गुरु के पास रहकर अध्ययन नही किया है, जो आलस्य से युक्त है, जो (उच्चारण के) गुण और दोष को नही जानते है और जो एक दूसरे के अध्यापक होते है—ये लोग एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण को उत्पन्न (उच्चारण) कर देते है। उस दोष की निवृत्ति के लिए आचार्य ने शिष्यो के हित के लिए यह आरम्भ किया है। (ये लोग) 'अनुस्वार' के स्थान पर ङकार को उत्पन्न कर देते है। उस ङकार से परे 'अन्त.पात' रूप ककार को उत्पन्न कर देते है—(जैसे) "हवींषि"; "सर्पींपि", "भासांसि", "अवांसि" इत्यादि। इसकी निवृत्ति के लिए 'अनुस्वार' का लक्षण किया है।[क]

उ० भा०—यद्येवं पदान्तेऽप्यनुस्वारस्य तच्छ्रवण तुल्यम्। "त्वां ह त्यदिन्द्रार्णसातौ"[1]; "तां सु ते कीर्ति मघवन्।"[2] तस्मादत्रापि यत्नः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। 'रेफोष्मणो-रवयर्योर्मकारोऽनुस्वारम्"[3] इति विहितमनुस्वारं जानात्यसौ। तत्र पदमध्येऽनुस्वारलक्षण नास्ति येनानुस्वारं जानीयात्। एवं सत्यपि किमर्थं दीर्घपूर्वो गृह्यते, न ह्रस्वपूर्वः ? "अयं सो अग्नि"[4]; "आ विंशत्या त्रिंशता"[5]; "असेषु वः"[6] इति। उभयत्रापि हि ङकारश्रवण तुल्यम्। तत्र तावदाहुः—यथा दीर्घपूर्वस्य व्यक्ता ङकारश्रुतिर्न तथा ह्रस्वपूर्वस्य। तस्मान्न गृह्यते। अपर आहुः। अनुस्वारस्योपधां ह्रस्वां केचिद् द्राघयन्त इव पठन्ति। तन्निवृत्त्यर्थं दीर्घपूर्वः परिगृह्यते—"एतावानृक्ष्वनुस्वारो दीर्घात्"[7] इत्येवमन्त ॥

उ० भा० अ०—(पू०) यदि ऐसी बात है तो पद के अन्त में भी 'अनुस्वार' का वह (ङकार के समान) श्रवण तुल्य है। (जैसे) "त्वां ह त्यदिन्द्रार्णसातौ", "तां सु ते कीर्ति मघवन्" (में)। इसलिए यहाँ पर (=पद के अन्त में) भी (अशुद्ध उच्चारण की निवृत्ति के लिए दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' के विधान का) यत्न करना चाहिए। (सि०) (यत्न) नही करना चाहिए। 'रेफ या 'ऊष्म'-वर्ण बाद में हो तो (पदान्त) मकार 'अनुस्वार' (हो जाता है)"—"इस (सूत्र) से विहित 'अनुस्वार' को वह (व्यक्ति) जानता

टि० (क) पू०—प्रातिशाख्य पदो को सिद्ध और संहिता को साध्य मानता है। अत सिद्ध पद के अवयवभूत वर्णों के विषय में नियम इस ग्रन्थ में नही बनाना चाहिए। सि०—बहुत से व्यक्ति 'अनुस्वार' (pure nasal sound) के स्थान पर 'अनुनासिक' (ङकार) (nasalized consonant) का उच्चारण कर देते है, जैसे "अवांसि" के स्थान पर वे लोग "अवाङ्क्सि" का उच्चारण कर देते है इत्यादि। इन सूत्रो के द्वारा यह बतलाया जा रहा है कि इन स्थलो पर 'अनुस्वार' (pure nasal sound) का ही उच्चारण करना चाहिए, 'अनुनासिक' (nasalized consonant) (ङकार) का नही।

[1] ऋ० १।६३।६ [2] ऋ० १०।५४।१ [3] ४।१५
[4] ऋ० ७।१।१६ [5] ऋ० २।१८।५ [6] ऋ० ५।५४।११
[7] १३।२८

है। वहाँ पद के मध्य में 'अनुस्वार' का लक्षण नहीं है जिससे वह (पद के मध्य में वर्तमान) 'अनुस्वार' को जाने (इसलिए इसका विधान किया गया है)। (पू०) यह (वस्तुस्थिति) होने पर भी दीर्घपूर्व ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके ऐसे) ('अनुस्वार') का ग्रहण क्यों किया गया है, ह्रस्वपूर्व ('ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व मे जिसके ऐसे) ('अनुस्वार') का (ग्रहण क्यों) नहीं (किया गया है) ? (जैसे) "अय सो अग्नि", "आ विंशत्या त्रिंशता", "असेपु व" इत्यादि में। दोनों (दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' और ह्रस्वपूर्व 'अनुस्वार') में ही ङकार का श्रवण तुल्य है। (सि०) इस विषय में कहते हैं— जिस प्रकार दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' का ङकार के समान श्रवण स्पष्ट है उस प्रकार ह्रस्वपूर्व ('अनुस्वार') का (श्रवण नहीं)। इसलिए (ह्रस्वपूर्व का) ग्रहण नहीं किया गया है। दूसरे आचार्य कहते हैं—कुछ व्यक्ति 'अनुस्वार' के पूर्ववर्ती 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) को 'दीर्घ' करते हुए पाठ करते हैं। उस (पाठ) की निवृत्ति के लिए "ऋचाओं में 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से बाद में इतना 'अनुस्वार' है"—यहाँ तक दीर्घपूर्व ('अनुस्वार') का ग्रहण किया गया है।[क]

स सा सौ सं पदान्तेभ्यः पूर्वोऽनाम्युपधस्तथा।
यकारो वा वकारो वा पुरस्ताच्चेदसंधिजः ॥२३॥

सू० अ०—(जो 'अनुस्वार') पद के अन्त में वर्तमान 'सः', 'सा', 'सौ' और 'सम्' से पूर्व में स्थित है और जिसके पूर्व में 'नामि' ('स्वर'-वर्ण) नहीं है (वह भी) वैसा (अर्थात् दीर्घपूर्व होता है)।

उ० भा०--सः, सा, सौ, सम् इत्येतेभ्यः पदान्तेभ्यः पूर्वः अनुस्वारः; अनाम्युपधः=अवर्णोपधः; तथा। कथम् ? यथा सिष्यन्तेषु दीर्घपूर्व एवमिहापि दीर्घपूर्वो वेदितव्य। असंधिजो यकारो वा वकारो वाः, (चेत्=) यदि; तस्मात् अवर्णात्, (पुरस्तात्=) पूर्वः भवति। सः—"साह्वांसो दस्युम्।"[१] सा—"शुक्रुवांसा चित्।"[२] सौ—"विद्वांसाविद्दुर।"[३] सम्—"श्रेयांसं दक्ष मनसा"[४]; "वावृध्वांसं चित्।"[५] यकारो वा वकारो वा पुरस्ताच्चेदसंधिजः इति कस्मात् ? "यो व्यंसम्।"[६]

उ० भा० अ०—पदान्तेभ्यः=पदों के अन्त में वर्तमान, सः, सा, सौ (और) सम्—इनमे, पूर्वः=पूर्ववर्ती, 'अनुस्वार', अनाम्युपधः=पूर्व में 'नामि' (-'स्वर'-वर्ण) न हो तो=पूर्व में अवर्ण (अ या आ) हो तो, तथा=वैसा (होता है)। (प्रश्न) कैसा

टि० (क) १३।२२ से १३।२८ तक दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' का विधान कर दिया गया है। (१) इससे कोई भी व्यक्ति समझ लेगा कि केवल इतने ही स्थलों पर पद के मध्य में 'अनुस्वार' के पूर्व में 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है। अन्यत्र पद के मध्य में 'अनुस्वार' के पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण ही है। (२) निर्दिष्ट सभी स्थलों पर 'अनुस्वार' का ही उच्चारण करना चाहिए, ङकार का नहीं।

१ ऋ० ९।४१।२ २ ऋ० ७।७०।५ ३ ऋ० १।१२०।२
४ ऋ० १०।३१।२ ५ ऋ० ८।९८।८ ६ ऋ० १।१०।१२

(होता है) ? (उत्तर) जिस प्रकार (११।२२ में सकेतित) 'सि' और 'षि' से समाप्त होने वाले (पदो में) ('अनुस्वार') दीर्घपूर्व ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके वैसा) (होता है) उसी प्रकार यहाँ भी ('अनुस्वार' को) दीर्घपूर्व ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके वैसा) जानना चाहिए। (चेत्=) यदि, ('अनुस्वार' के पूर्व मे वर्तमान) उस 'अ' वर्ण से, (पुरस्तात्=) पूर्व में, **असंधिजो यकारो वा वकारो वा**=सधि से उत्पन्न न होने वाला यकार अथवा वकार, होवे[क]। (उदाहरण) स:—"साह्वासो दस्युम्।"[ख] सा—"शुश्रुवासा चित्।" सौ—"विद्वासाविद्दुर।" सम्—श्रेयास दक्षं मनसा", "श्रावृष्वास चित्।" "यदि सधि से न उत्पन्न यकार अथवा वकार पूर्व में हो तो"—यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) 'यो व्यसम्।'[ग]

जिघांसन्पांसुरे मांसं पुमांसं पौंस्यमित्यपि पदेष्वेवंप्रवादेषु ॥२४॥

सू० अ०—'जिघांसन्', 'पासुरे', 'मांसम्', 'पुमांसम्' (और) 'पौंस्यम्'–इन पदों के सभी रूपो मे भी ('अनुस्वार' दीर्घपूर्व होता है)।

उ० भा०—जिघांसन्, पांसुरे, मांसम्, पुमांसम्, पौंस्यम्—(इत्यपि=) इत्येतेषु च; (पदेष्वेवंप्रवादेषु=) पदप्रवादेषु; अनुस्वारो दीर्घपूर्वो वेदितव्यः। जिघांसन्—"द्रुह जिघांसन्ध्वरसम्"[1]; "यत्स्तोतार जिघांससि सखायम्।"[2] पांसुरे—"समूळ्हमस्य पांसुरे।"[3] मांसम्—' मांसमेक. पिंशति सूनयाभृतम्"[4]; "ये वार्वतो मासभिक्षामुपासते।"[5] पुमांसम्—"पुमांस पुत्रमा धेहि।"[6] पौंस्यम्—"स्तुषे तदस्य पौंस्यम्"[7]; "चकर्थ तानि पौंस्या॥"[8]

उ० भा० अ०—**जिघांसन्, पांसुरे, मांसम्, पुमांसम्** (और) **पौंस्यम्**—(इत्यपि=) इन भी, (पदेष्वेवंप्रवादेषु=) पदो के सभी रूपो में, 'अनस्वार' को

टि० (क) पद के मध्य में स्थित वह 'अनुस्वार' भी दीर्घपूर्व होता है (१) जिसके बाद में पद के अन्त में वर्तमान 'स' या 'सा' या 'सौ' या 'सम्' हो (२) जिसके पूर्व में 'अ' या 'आ' हो (३) पूर्ववर्ती 'अ' या 'आ' के पूर्व में सधि से उत्पन्न यकार अथवा वकार न हो।

(ख) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यहाँ 'अनुस्वार' 'दीर्घपूर्व है क्योकि (१) इस (अनुस्वार') के बाद में पद के अन्त में वर्तमान 'स' है (२) इसके पूर्व मे 'आ' है और (३) 'आ' के पूर्व में ऐसा वकार है जो सधि से उत्पन्न नही है। सभी उदाहरणों को ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

(ग) यहाँ (१) 'अनुस्वार' के बाद में पद के अन्त में वर्तमान 'सम्' है (२) पूर्व में 'अ' वर्ण है और (३) 'अ' के पूर्व मे यकार है, तथापि यह 'अनुस्वार' दीर्घपूर्व नही है क्योकि 'अ' वर्ण के पूर्व में वर्तमान यकार सधि से उत्पन्न है—(य। विऽअसम्॥ प० पा०)।

---

[1] ऋ० ४।२३।७ [2] ऋ० ७।८९।४ [3] ऋ० १।२२।१७
[4] ऋ० १।१६१।१० [5] ऋ० १।१६२।१२ [6] ऋ० खि० १०।१८४।३
[7] ऋ० ८।६३।३ [8] ऋ० ४।६३।८

दीर्घपूर्व ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके ऐसा) जानना चाहिए। (उदाहरण) **जिघांसन्**—"द्रुह जिघासन्ध्वरसम्", "यस्तोनार जिघाससि सखायम्।" **पांसुरे**—"समूळ्हमस्य पासुरे।" **मांसम्**—"मासमेक पिंशति सूनयाभृतम्", "ये चार्वतो मास-भिक्षामुपासते।" **पुमांसम्**—"पुमास पुत्रमा धेहि। **पौंस्यम्**—"स्नुषे तदस्य पौंस्यम्", "चकृषे तानि पौंस्या।"

नामकार उपोत्तमे ॥२५॥

सू० अ०—उपोत्तम (अन्तिम से पहले वाले=पुमांसम्) में ('अनुस्वार' दीर्घपूर्व) नहीं (होता है) (यदि वह उपोत्तम पद) मकार से रहित हो।

उ० भा०—जिघासादीनाम् उपोत्तमे प्रवादे अमकारे सत्यनुस्वारो दीर्घपूर्वो न भवति। किंतु ह्रस्वपूर्व एव भवति। "पुस पुत्राँ उत ॥"[१]

उ० भा० अ०—(१३।२४ में उल्लिखित) 'जिघासन्' आदि में, उपोत्तमे=अन्तिम से पहले वाले=पुमासम्, का कोई भी रूप, अमकारे=मकार-रहित, हो तो 'अनुस्वार' दीर्घपूर्व ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके ऐसा), न=नही, होता है। किंतु ह्रस्व-पूर्व ('ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व मे जिसके ऐसा) होता है। (उदाहरण) "पुस पुत्राँ उत।"[क]

प्रश्लिष्टादभिनिहितात् ॥२६॥

सू० अ०—'प्रश्लिष्ट' तथा 'अभिनिहित' से (बाद मे स्थित 'अनुस्वार' भी दीर्घपूर्व होता है)।

उ० भा०—प्रश्लिष्टात्=एकीभावात्; अभिनिहितात् च परोऽनुस्वार पदे ह्रस्वपूर्व सन् संहितायां दीर्घपूर्वो भवति। प्रश्लिष्टात्— 'आ भूतांशः।"[२] अभिनिहितात्—"भरे-ष्विन्द्रं सुहव हवामहेंऽहोमुचम् ॥"[३]

उ० भा० अ०—प्रश्लिष्टात्=एकीभाव से, और, अभिनिहितात्='अभिनिहित' से, परवर्ती 'अनुस्वार' पद-पाठ में ह्रस्वपूर्व ('ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके ऐसा) होता हुआ संहिता-पाठ में दीर्घपूर्व ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व मे जिसके ऐसा) हो जाता है। प्रश्लिष्ट से (परवर्ती)—'आ भूताश।" अभिनिहित मे (परवर्ती)—"भरेष्विन्द्र सुहव हवामहेंऽहोमुचम्।"[ग]

टि० (क) यह सूत्र १३।२४ का अपवाद है। 'पुमासम्' पद के रूप 'पुस' में 'अनुस्वार' दीर्घपूर्व न होकर ह्रस्वपूर्व है क्योंकि 'पुस' मे मकार नही है।

(ख) आ। भूतऽअंश ॥ प० पा०
पद-पाठ में 'अनुस्वार' के पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर' ('अ') है जबकि संहिता-पाठ में 'अनुस्वार' के पूर्व मे 'दीर्घ' 'स्वर' ('आ') है।

(ग) भरेषु। इन्द्रम्। सुऽहवम्। हवामहे। अहऽमुचम् ॥ प० पा०
पद-पाठ में 'अनुस्वार' के पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर' ('अ') है जबकि संहिता-पाठ मे 'अनुस्वार' के पूर्व में 'दीर्घ' स्वर' ('ए') है।

---

[१] ऋ० १।१६२।२२ [२] ऋ० १०।१०८।११ [३] ऋ० १०।६३।९

मांश्चत्वेऽयांसमित्यपि ॥२७॥

सू० अ०—'मांश्चत्वे' और 'अयांसम्' (इन दो पदों) में भी ('अनुस्वार' दीर्घपूर्व होता है)।

उ० भा०—मांश्चत्वे, अयांसम्-(इत्यपि=) इत्येतयोश्च; अनुस्वारो दीर्घपूर्वो वेदितव्यः। मांश्चत्वे—"मांश्चत्वे वा पृश्ने वा वधत्रे।"[१] अयांसम्—"अयांसमग्ने सुक्षितम्।"[२]

अथ योगोऽनर्थकः। कथम्? मांश्चत्वे इति नायमनुस्वारः। किं तर्हि? "आदिस्वरश्चोत्तरेषां पदेऽपि"[३] इत्यनुनासिकः स्वरः। अयांसमिति -"सः सा सौं स पदान्तेभ्यः"[४] इत्येव सिद्धम्।

नानर्थकः। शाखान्तरे किल मांश्चत्वे इति सानुस्वारं पठन्ति। तत्प्रदर्श्यते। यद्येव मास्पचन्याः इति च निपातयितव्यम्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। 'जिघांसन्पांसुरे मांसन्'[५] इति मांसप्रवादत्वात्सिद्धम्। अयांसमित्येतस्य निपातने प्रयोजनं मृग्यम्॥

उ० भा० अ०—मांश्चत्वे और अयांसम्—(इत्यपि=) इन दो (पदों) में भी, 'अनुस्वार' को दीर्घपूर्व ('दीर्घ' स्वर'-वर्ण हैं पूर्व में जिसके ऐसा) जानना चाहिए। मांश्चत्वे—"मांश्चत्वे वा पृश्ने वा वधत्रे।" अयांसम्—"अयांसमग्ने सुक्षितिम्।"

(पू०) यह सूत्र अनर्थक है। (सि०) क्यों? (पू०) 'मांश्चत्वे' में यह 'अनुस्वार' (pure nasal sound) नहीं है। (सि०) तब फिर यह क्या है? (पू०) "परवर्ती (पदों) (='माँस्पचन्या', 'माँश्चत्वे' और 'मँश्चतो') का प्रथम 'स्वर' (–वर्ण) पद-पाठ में भी (और संहिता-पाठ में भी) ('अनुनासिक') (nasalized) होता है)"—इस (सूत्र) से यह 'अनुनासिक' 'स्वर' (–वर्ण) (nasalized vowel) है। "पद के अन्त में वर्तमान 'सः', 'सा', 'सौं' और 'सम्' से (पूर्ववर्ती 'अनुस्वार' दीर्घपूर्व होता है)"—इस (सूत्र) से ही 'अयांसम्' में (दीर्घपूर्व 'अनुस्वार') सिद्ध है।[क]

(सि०) यह (सूत्र) अनर्थक नहीं है। अन्य शाखा में 'मांश्चत्वे' का (को) 'अनुस्वार' के साथ पाठ करते हैं। उसे (इस सूत्र से) दिखलाते हैं।[ख] (पू०) यदि ऐसी

टि० (क) पू०—प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'मांश्चत्वे' तथा 'अयांसम्' में दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' का विधान करना व्यर्थ है क्योंकि (१) माँश्चत्वे के 'आ' (मा) के बाद में 'अनुस्वार' (pure nasal sound) नहीं है अपितु 'आ' ४।८१ के अनुसार 'अनुनासिक' 'स्वर' (nasalized vowel) (आँ) है और (२) 'अयांसम्' में दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' की सिद्धि तो १३।२३ से ही हो जाती है। इसका यहाँ दोबारा विधान व्यर्थ है।

(ख) सि०—ऋग्वेद की अन्य शाखा में आ (मा) को 'अनुनासिक' (nasalized vowel)—'स्वर' न मानकर आ (मा) के बाद में 'अनुस्वार' माना गया है। अतः यहाँ दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' का विधान किया गया है। यह व्यर्थ नहीं है।

---

[१] ऋ० ९।९७।५४ [२] ऋ० २।३५।१५ [३] ४।८१ [४] १३।२३ [५] १३।२४

बात है तो 'मास्पचन्या' का भी निपातन करना चाहिए।[क] (सि०) ऐसा करने का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि "'जिघासन्', 'पासुरे' और 'भासम्' (के सभी रूपों में 'अनुस्वार' दीर्घपूर्व है"—इस (सूत्र) के अनुसार 'मास' का रूप होने के कारण ('मास्पचन्या') सिद्ध है।[ख] (प्रस्तुत सूत्र में) 'अयासम्' के निपातन में प्रयोजन का खोजना चाहिए।[ग]

एतावानृक्ष्वनुस्वारो दीर्घात् ॥२८॥

सू० अ०—ऋचाओं में (पद के मध्य में) 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से बाद में इतना ही 'अनुस्वार' (pure nasal sound) है।

उ० भा०—"नपुंसक यदूष्मान्तम्"[१] इत्येवमादिर्योऽयमनुस्वारोऽनुक्रान्त एतावान् एव ऋक्षु (अनुस्वारः) पदमध्ये दीर्घात् परो वेदितव्यः। अत्रैवोदाहृत.॥

उ० भा० अ०—"'ऊष्म' (-वर्ण) में समाप्त होने वाला जो शब्द नपुसक लिङ्ग है..." इससे प्रारम्भ करके जिस 'अनुस्वार' को कहा गया है, एतावान्=इतना ही, ऋक्षु=ऋचाओं में (अनुस्वारः='अनुस्वार'), पद के मध्य में, दीर्घात्='दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से बाद में, जानना चाहिए, (अर्थात् ऋचाओं में पद के मध्य में 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण के बाद में यही 'अनुस्वार' है जिसका विधान १३।२२ से लेकर १३।२७ तक किया गया है)। यही पर (अर्थात सम्बद्ध सूत्रो के भाष्य में) (विहित 'अनुस्वार' के) उदाहरण भी दिये गये हैं।

इतरथेतरः ॥२९॥

सू० अ०—अन्य प्रकार का ('अनुस्वार') अन्य (=ह्रस्वपूर्व) है।

उ० भा०—इतरथा। कथम्? उक्ताद् दीर्घपूर्वाद्विषयादन्यत्र ऋक्षु पदमध्ये रेफोष्मपरः। इतरः। कतरः? ह्रस्वपूर्वोऽनुस्वारो वेदितव्यः। अह.। "विंशत्या"।[२] असेषु। "असविग्धान्स्वरान्"[३] इत्युक्तः श्लोकार्थः स्वरपटले। अत्र तथैव व्याख्यातव्यः॥

टि० (क) पू०—४।८१ में 'माँस्पचन्या', 'माँश्चत्वे' तथा 'मँश्चतो' के प्रथम 'स्वर' के 'अनुनासिक' (nasalized) होने का विधान किया गया है। ऋग्वेद की दूसरी शाखा में 'माँश्चत्वे' का पाठ मांश्चत्वे होता है—इस बात को आधार मानकर यदि इस सूत्र में 'मांश्चत्वे' का निपातन (पद के द्वारा ग्रहण) किया गया है तो उसी प्रकार 'मास्पचन्या' का भी निपातन करना चाहिए।

(ख) सि०—आपका यह कहना ठीक है कि 'मांश्चत्वे' की भाँति 'मास्पचन्या' में भी ऋग्वेद की अन्य शाखा के अनुसार दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' है किंतु इसकी सिद्धि १३।२४ से ही हो जाती है। अत इसका इस सूत्र में निपातन नहीं किया गया है।

(ग) सि०—जहाँ तक 'अयासम्' का प्रश्न है वह तो १३।२३ से ही सिद्ध हो जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र में इसका ग्रहण क्यो किया—इसमें प्रयोजन खोजना चाहिए। यह बात हमारी समझ में भी नही आई है।

---

१ १३।२२ २ ऋ० २।१८।५ ३ ३।२९

उ० भा० अ०—इतरथा=अन्य प्रकार का। किस प्रकार का? (१३।२२ से लेकर १३।२७ तक) उक्त दीर्घपूर्व ('दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व म जिसके ऐसे) ('अनुस्वार') के क्षेत्र (विषय) से अन्यत्र ऋचाओं में पदों के मध्य में रेफ और 'ऊष्म' (-वर्ण) से पूर्व में (जो 'अनुस्वार' होता है वह अन्य प्रकार का है)। इतरः=अन्य। कौनसा? (उत्तर) (उसे) ह्रस्वपूर्व ('ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण है पूर्व में जिसके ऐसा) 'अनुस्वार' जानना चाहिए। (उदाहरण) अह। "विंशत्या।" असेषु। 'स्वरो का (को) ऐसे उच्चारण करें जिससे सदेह न हो"—इस श्लोक का अर्थ स्वर-पटल में कहा जा चुका है। यहाँ पर भी उसी प्रकार इसकी व्याख्या करनी चाहिए।[क]

(समापाद्यस्वरूपम्)

समापाद्यान्युत्तरे षट् पकारे
राधो रथो ग्ना दिवो जा ऋतश्च।
अङ्गःपा दुःप्रेति च पूर्वपद्याव-
निङ्ग्यन्विक्रममेषु कुर्यात् ॥३०॥

(समापाद्य का स्वरूप)

सू० अ०—राधः', 'रथः', 'ग्नाः', 'दिवः', 'जाः' और 'ऋतः'—ये छः (पद), पकार बाद मे होने पर, तथा पूर्व-'पद्य' होने पर अङ्गःपाः' और' दुःप्र'—इन (सभी) पदो का विसर्जनीय (संहिता-पाठ में), सकार (या पकार) हो जाता है। (पद-पाठ में) 'अवग्रह' न करके (अनिङ्ग्यन्) इन (पदों) के विसर्जनीय को प्रदर्शित करना चाहिए।

उ० भा० समापाद्यानि षट् पदानि पकारे उत्तरे। राधः, रथः, ग्नाः, दिवः, जाः, ऋतः—इत्येतानि। अङ्गःपाः, दुःप्र इति एतौ च पूर्वपद्यौ। विक्रममेषु कुर्यात्; अनिङ्ग्यन्=अवग्रहमकुर्वन्। विक्रमं कुर्यात् इति—विक्रमम्=उपाचारमपनीय विसर्जनीयमेषु कुर्यात्। राधः—"त्वं हि राधस्पते।"[१] राधःपते। रथः—"एष ते देव नेता रथस्पतिः।"[२] रथःपतिः। ग्नाः—"नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।"[३] ग्नाःपतिः। दिवः—"दिवस्पृथिव्योरव आ वृणीमहे।"[४] दिवः पृथिव्योः। जाः—"स जास्पत्यम्।"[५]

टि० (क) तात्पर्य—यद्यपि प्रातिशाख्य में पदो के अवयवभूत वर्णों का विधान करना अनावश्यक है तथापि यहाँ यह बतलाया गया है कि पद के मध्य में इन-इन स्थलों पर 'अनुस्वार' के पूर्व मे 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण होता है और अन्य स्थलो पर 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण होता है। इसका उद्देश्य यही है कि कोई व्यक्ति 'अनुस्वार' के पूर्व में 'अ' और 'आ' के उच्चारण को ऐसे न करे जिससे सदेह हो। 'अनुस्वार' के स्थल पर 'अनुनासिक' के अशुद्ध उच्चारण की भी इससे निवृत्ति हो जाती है।

---

[१] ऋ० ८।६१।१४ [२] ऋ० ५।५०।५ [३] ऋ० २।३८।१०
[४] ऋ० १०।३५।२ [५] ऋ० ५।२८।३

जाःपत्यम् । ऋतः—"तव वायवृतस्पते ।"[1] ऋतःपते । अञ्जःपाः—"यामन्नञ्जस्पाइव घेदुपब्दिभिः ।"[2] अञ्जःपाऽइव । दुःप्राव्यः—"दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः ।"[3] दुःप्रऽअव्यः । पूर्वपद्यौ इति किम् ? इममञ्जस्पामुभये अकृण्वत ।"[4] अञ्जःऽपाम् —इत्यत्रावगृह्यत्वान्मात्राकालो भवतीति ॥

किमिद समापाद्यमित्यत आह -

उ० भा० अ०—**पकारे उत्तरे**=पकार बाद में होने पर, **राधः, रथः ग्नाः, दिवः, जाः, ऋतः**—ये, **षट्**=छ पद, **अञ्जःपाः, दुःप्र—इति च**=ये दो (पद) भी, **पूर्वपद्यौ**=पूर्व-'पद्य' होने पर, **समापाद्यानि**='समापाद्य'-सज्ञक है, (अर्थात् इनका विसर्जनीय सहिता-पाठ में सकारभाव को प्राप्त हो जाता है) । **विक्रममेषु कुर्यात्**=इन (पदो) में 'विक्रम' करना चाहिए, **अनिङ्ग्यन्**='अवग्रह' न करता हुआ । **विक्रम करे**-'विक्रम'=सकारभाव ('उपाचार') को हटाकर इनमें विसर्जनीय को करे ।[क] **राधः**—"त्व हि राधस्पते ।" राधःपते (प० पा०) । **रथः**—"एष ते देव नेता रथस्पति ।" रथःपति (प० पा०) । **ग्नाः**—"नराशसो ग्नास्पतिर्नो अव्या ।" ग्नाःपति (प० पा०) । **दिवः**—"दिवस्पृथिव्योरव आ वृणीमहे ।" दिवःपृथिव्योः (प० पा०) । **जाः**—"स जास्पत्यम् ।" जाःपत्यम् (प० पा०) । **ऋतः**—"तव वायवृतस्पते ।" ऋतःपते (प० पा०) । **अञ्जःपाः**—"यामन्नञ्जस्पाइव घेदुपब्दिभि ।" अञ्जःपाऽइव (प० पा०) । **दुःप्राव्यः**—"दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाच ।" दुःप्रऽअव्य (प० पा०) ॥

पूर्व-पद्य होने पर—यह (सूत्र मे) क्यो (कहा) ? (उत्तर) "इममञ्जस्पामुभये अकृण्वत ।"[ख] अञ्जःऽपाम् यहाँ पर 'अवग्रह' होने से मात्रा-काल (का व्यवधान) होता है ।

यह 'समापाद्य' क्या है ? (यह प्रश्न होता है) अत (सूत्रकार) कहते है—

समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं
तथा णत्वं सामवशाँश्च संधीन् ।
उपाचारं लक्षणतश्च सिद्ध-
माचार्या व्याळिशाकल्यगार्ग्याः ॥२१॥

सू० अ०—व्याळि, शाकल्य और गार्ग्य आचार्य 'षत्व' तथा णत्व' (मे परिवर्तन) को, 'सामवश' संधियों को और नियम से सिद्ध 'सकारभाव' ('उपाचार') को समापाद्य' कहते हैं ।

टि० (क) अर्थात् उपर्युक्त इन पदो का विसर्जनीय सहिता-पाठ में सकार हो जाता है । पद-पाठ में इन पदो में (१) 'अवग्रह' नही लगाया जाता है और (२) विसर्जनीय दिखलाया जाता है, विसर्जनीय के स्थान पर सकार नही ।

(ख) यहाँ 'अञ्ज पा ' 'पद्य' नही है अपितु समस्त पद है । अत इसमें 'अवग्रह' लगाया गया है । 'अञ्ज.' के बाद में 'अवग्रह' होने के कारण यहाँ विसर्जनीय के सकार

[1] ऋ० ८।२६।२१
[2] ऋ० १०।९४।१३
[3] ऋ० ४।२५।६
[4] ऋ० १०।९२।२

उ० भा०—समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं तथा णत्वम्। सामवशाँश्च संधीन् तथा वदन्ति। लक्षणतः सिद्धमुपाचारं च तथा वदन्ति। के ते? आचार्या व्यालिशाकल्यगार्ग्याः। षत्वम्—"सुषुमा यातम्।"[1] णत्वम्—'तदा रभस्व दुर्हणो।'[2] सामवशः—'मक्षूमक्षू कृणुहि।'[3] उपाचारम्—'त्व हि राधस्पते।'[4]

उ० भा० अ० -समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं तथा णत्वम्=सकार के षकार होने ('षत्व') तथा नकार के णकार होने ('णत्व') को 'समापाद्य' कहते हैं। सामवशाँश्च संधीन्='सामवश' संधियो को भी, वैसा (='समापाद्य') कहते हैं। लक्षणतः सिद्धमुपाचारं च=नियम से सिद्ध 'सकारभाव' ('उपाचार') को भी, वैसा (='समापाद्य') कहते हैं। वे कौन हैं (जो ऐसा कहते हैं)? (उत्तर) व्यालि, शाकल्य और गार्ग्य आचार्य। षत्व—"सुषुमा यातम्।"[क] णत्व "तदा रभस्व दुर्हणो।"[ख] सामवश (सवि)—"मक्षूमक्षू कृणुहि।"[ग] सकारभाव ('उपाचार')—"त्व हि राधस्पते।"[घ]

(सोपधानुस्वारस्योच्चारणकालविषये मतन्यासः)

ह्रस्वामर्धस्वरभक्त्यासमाप्तामनुस्वारस्योपधामाहुरेके।
अनुस्वारं तावतैवाधिकं च ह्रस्वोपधम्॥३२॥

(उपधा सहित अनुस्वार के उच्चारण-काल के विषय में मत)

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) कहते हैं कि 'अनुस्वार' के पूर्व मे स्थित 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) आधी 'स्वरभक्ति' से न्यून होता है और 'ह्रस्व' ('स्वर' वर्ण) के बाद मे स्थित वह 'अनुस्वार' उतने (=आधी 'स्वरभक्ति') ही से अधिक होता है।

उ० भा०—ह्रस्वामनुस्वारस्योपधाम्; अर्धस्वरभक्त्या असमाप्ताम्=पादमात्रया न्यूनाम्; आहुरेके आचार्याः। अनुस्वारं च तावता कालेन अधिकं ह्रस्वोपधम्। 'त्वं राजेन्द्र ये च देवाः।'[5] "त्वं ह नु त्यत्॥"[6]

(७०२ख) होने का प्रश्न ही नही उठता है। इस सूत्र के सभी उदाहरणो में 'अवग्रह' नही लगाया गया है। अतः वहाँ ४।४१ से विसर्जनीय के सकार होने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। यही कारण है कि इस सूत्र में सकार होने का निषेध करके विसर्जनीय के दिखलाने का विधान किया गया है।

टि० (क) सुसुम। आ। यातम्॥ प० पा०
५।२० से सकार संहिता-पाठ में षकार हो गया है।

(ख) तत्। आ। रभस्व। दुर्हनो इति दुःऽहनो॥ प० पा०
५।४० से नकार संहिता-पाठ में णकार हो गया है।

(ग) मक्षुऽमक्षु। कृणुहि॥ प० पा०
७।५ से उकार संहिता-पाठ में ऊकार हो गया है। यह 'सामवश' संधि है।

(घ) त्वम्। हि। राधःपते॥ प० पा०
४।४१ से विसर्जनीय संहिता-पाठ में सकार हो गया है।

---

[1] ऋ० १।१३७।१ [2] ऋ० १०।१५५।३ [3] ऋ० ३।३१।२०
[4] ऋ० ८।६१।१४ [5] ऋ० १।१७४।१ [6] ऋ० ६।१८।३

उ० भा० अ०—ह्रस्वामनुस्वारस्योपधाम्='अनुस्वार' के पूर्व में स्थित 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) को, अर्धस्वरभक्त्या असमाप्ताम्=आधी 'स्वरभक्ति' से असमाप्त= चौथाई (=$\frac{१}{४}$) मात्रा से न्यून; आहुरेके=कतिपय आचार्य कहते हैं। ह्रस्वोपधम् अनुस्वारं च=और 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) से बाद में स्थित उस 'अनुस्वार' को; तावता अधिकम्=उतने (=चौथाई मात्रा काल) से अधिक; कहते हैं। (उदाहरण) "त्वं राजेन्द्र ये च देवा.।" "त्वं ह नु त्यत्।"

दीर्घपूर्वं तदूनम् ॥३३॥

सू० अ०—दीर्घ ('स्वर'-वर्ण) से बाद में स्थित ('अनुस्वार') को उतने (=चौथाई मात्रा) से न्यून (बतलाते हैं) (और 'अनुस्वार' के पूर्व में स्थित उस 'दीर्घ' स्वर'-वर्ण को चौथाई मात्रा से अधिक बतलाते हैं)।

उ० भा०—दीर्घपूर्वम् अनुस्वारं तथैव; (तदूनम्=)अर्धस्वरभक्त्या न्यूनम्; आहुः। दीर्घामुपधां तावताधिकां च। "गवां शता।"[१] 'तां सु ते कीर्तिम्॥'[२]

उ० भा० अ०—दीर्घपूर्वम्='दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से बाद में स्थित; 'अनुस्वार' को उसी प्रकार; तदूनम्=उससे न्यून=आधी 'स्वरभक्ति' से न्यून (=चौथाई मात्रा से न्यून); कहते हैं और पूर्ववर्ती 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) को उससे (=चौथाई मात्रा से) अधिक (कहते हैं)।[क] (उदाहरण) गवां शता।" "तां सु ते कीर्तिम्।"

(ऋकार-ॠकार-ऌकार-स्वरूपम्)

रेफोऽस्त्यृकारे च परस्य चार्धे
पूर्वे ह्रसीयाँस्तु न चेतरस्मात्।
मध्ये सः ॥३४॥

(ऋकार, ॠकार और ऌकार का स्वरूप)

सू० अ०—ऋकार में रेफ होता है। (ऋकार से) परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) (=ॠकार) के पूर्वार्द्ध में (रेफ होता है)। वह (ऋकार का रेफ) अन्य (=ॠकार

टि० (क) १।३।३२ तथा १।३।३३ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'अनुस्वार' तथा पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण (चाहे वह 'ह्रस्व' हो या 'दीर्घ') इन दोनो के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। यदि अनुस्वार के पूर्व में 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण है तो (१) पूर्ववर्ती 'ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण के उच्चारण में $\frac{३}{४}$ मात्रा का समय लगेगा और (२) अनुस्वार के उच्चारण में १$\frac{१}{४}$ मात्रा का समय लगेगा।

यदि अनुस्वार के पूर्व में दीर्घ 'स्वर-वर्ण हो तो (१) पूर्ववर्ती 'दीर्घ' 'स्वर'-वर्ण के उच्चारण में १$\frac{३}{४}$ मात्रा का समय लगेगा और (२) अनुस्वार के उच्चारण में $\frac{१}{४}$ मात्रा का समय लगेगा।

---

१ ऋ० १।१२६।७ २ ऋ० १०।५४।१

के रेफ) से अल्पतर (होता है) अथवा (अल्पतर) नहीं (होता है)। वह (ऋकार का रेफ) (ऋकार के) मध्य में (होता है)।

उ० भा०—ऋकारे रेफः; (अस्ति=) विद्यते। परस्य च=ऋकारस्य च; पूर्वेऽर्धे रेफो विद्यते। ह्रसीयांस्तु=ह्रस्वतरः; स रेफः; इतरस्मात्=ऋकाररेफात्; अल्पतरः। न वा ह्रसीयान्=सम एव वा। मध्ये सः=स रेफस् तस्य ऋवर्णस्य मध्ये द्रष्टव्यः=नादौ, नान्ते। ऋ, ॠ॥

उ० भा० अ०—ऋकारे रेफः='ऋ' वर्ण में रेफ, (अस्ति=) विद्यमान होता है। परस्य च=बाद वाले के भी=ॠकार के भी, पूर्वेऽर्धे=पूर्वार्ध में; रेफ विद्यमान होता है। वह (ॠकार का) रेफ, ह्रसीयांस्तु=ह्रस्वतर (होता है)। इतरस्मात्=अन्य से=ऋकार के रेफ से, अल्पतर होता है। न वा ह्रसीयान्=अथवा अल्पतर नही होता है=(ॠकार का रेफ ऋकार के रेफ के) समान ही होता है। मध्ये सः=वह (ऋकार का रेफ) उस 'ऋ' वर्ण के मध्य में समझना चाहिए=न प्रारम्भ में (समझना चाहिए) और न अन्त में। (उदाहरण) ऋ, ॠ।[क]

तस्यैव लकारभावे धातौ स्वरः कल्पयताल्लृकारः ॥३५॥

सू० अ०—(ऋकार के) उसी (रेफ) के लकार हो जाने पर 'क्लृप्' धातु में लृकार 'स्वर' (-वर्ण) होता है।

उ० भा०—तस्य=ऋवर्णस्यस्य रेफस्य; लकारभावे=यदा स रेफो लकारमापद्यते तदा। लृकारो भवति; (स्वरः=) स्वरसंज्ञश्च; भवति। कल्पयतावेव धातौ नान्यत्र। "चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्याः"[१] इति। अत्र स्वरात्ककारस्य द्विर्वचनं न भवत्यसंयोगादित्वात्। पकारस्य च द्वित्वं भवति स्वरोपधत्वात्॥

उ० भा० अ०—तस्य= उसके='ऋ' वर्ण में स्थित रेफ के; लकारभावे=लकार हो जाने पर=जब ('ऋ' वर्ण का) वह रेफ लकार हो जाता है तब। ('ऋ'); लृकारः='लृ'; हो जाता है और वह (लृ); (स्वरः=) 'स्वर'-संज्ञक; होता है। कल्पयतावेव धातौ= 'क्लृप्' धातु में ही ('ऋ' का 'लृ' होता है), अन्यत्र नही।[ख] (उदाहरण) "चाक्लृप्रे तेन

टि० (क) (१) ऋकार तथा ॠकार-इन दोनो-में रेफ का अंश होता है। (२) ॠकार के पूर्वार्द्ध में रेफ होता है (३) ऋकार के मध्य में रेफ होता है (४) ॠकार का रेफ या तो ऋकार के रेफ से अल्पतर होता है या उसके समान होता है।

(ख) यहाँ मूल धातु 'कृप्' है। 'कृप्' के 'ऋ' वर्ण में स्थित रेफ लकार हो जाता है जैसा कि अथर्ववेद-प्रातिशाख्य में विधान भी किया गया है—"कृपे रेफस्य लकारः" ('कृप्' धातु में रेफ का लकार हो जाता है)। रेफ के लकार हो जाने पर 'कृप्' धातु 'क्लृप्' धातु हो जाती है। 'क्लृप्' में जो 'लृ' है उसकी प्रस्तुत सूत्र से 'स्वर'-संज्ञा का विधान भी किया गया है। 'क्लृप्' धातु को छोड़कर ऋग्वेद में अन्यत्र कही भी 'लृ' 'स्वर'-वर्ण उपलब्ध नही होता है।

[१] ऋ० १०।१३०।६

ऋषयो मनुष्या. ।" यहाँ पर 'स्वर' (–वर्ण='आ') के परवर्ती ककार का द्वित्व नहीं होता है क्योंकि यह (ककार) सयुक्त वर्ण ('सयोग') का आदि (=प्रथम 'व्यञ्जन') नही है।[क] और पकार का द्वित्व होता है क्योंकि यह (पकार) 'स्वर' (–वर्ण) के बाद में स्थित है।[ख]

अनन्तस्थं तमनुस्वारमाहुः ॥३६॥

सू० अ०—(आचार्य) कहते हैं कि (पदों के) अन्त में न स्थित (=पदों के मध्य में वर्तमान) 'अनुस्वार' को ही (१३।२२ से १३।२७ तक के सूत्रों में कहा गया है)।

उ० भा० योऽसौ पुरस्तादविशेषेणानुक्रान्तोऽनुस्वारः 'एतावानृक्ष्वनुस्वारो दीर्घात्'[१] इति तमनुस्वारम्; अनन्तस्थम्=पदमध्ये वर्तमानम्; आहुः आचार्याः। किमर्थमिदमुच्यते? "नपुंसक यद्रूष्मान्तम्"[२] इत्येवमाद्यनुक्रमणेनैव सिद्धम्। सत्यम्। किंतु –"एतावानृक्ष्वनुस्वारो दीर्घात्"[३] इत्युक्त एतावानृक्ष्वनुस्वारो दीर्घादिति नियमविधिः प्रसज्येत। तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते। सन्ति ह्यन्येऽपि दीर्घात्पदान्ताः। "त्वां हि"[४]; "त्वां राजानम्"[५]; "तां सु ते कीर्तिम्॥"[६]

उ० भा० अ०—"ऋचाओ मे 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) के बाद में इतना 'अनुस्वार' है"—यह जो 'अनुस्वार' पहले (१३।२२-२७ में) बिना किसी विशेष के उल्लिखित किया गया है; तमनुस्वारम्=उस 'अनुस्वार' को, अनन्तस्थम्= (पदों के) अन्त में न स्थित=पदों के मध्य में वर्तमान, आहुः=कहते हैं; आचार्य लोग।[ग] (पू०) यह किसलिए कहा जा रहा है? यह तो "'ऊष्म'(-वर्ण) से समाप्त होने वाले जो नपुसक लिङ्ग वाले (पद) हैं" इत्यादि उल्लेख से ही सिद्ध है।[घ] (सि०) (यह तो) सच है। किंतु "ऋचाओं में 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) के बाद में इतना 'अनुस्वार' है"—यह कहे जाने पर इस नियम-विधि का प्रसङ्ग उपस्थित होता है कि "ऋचाओं में 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) के बाद में इतना ही

टि० (क) 'चाक्लृप्रे'—यहाँ 'आ' के बाद में स्थित 'ककार' का ६।१ से प्रसक्त द्वित्व नही होता है क्योंकि ककार सयुक्त वर्ण ('सयोग') का प्रथम 'व्यञ्जन' नही है। 'लृ' 'स्वर' है, 'व्यञ्जन' नही। अतएव 'क्लृ' सयुक्त वर्ण ही नही है जिसका 'क्' आदि हो।

(ख) 'चाक्लृप्प्रे'—यहाँ पर पकार का ६।१ से द्वित्व हो गया है क्योंकि (१) पकार सयुक्त वर्ण ('सयोग'—प्र) का प्रथम 'व्यञ्जन' है और (२) पकार 'स्वर'—वर्ण (=लृ) के बाद में स्थित है।

(ग) अर्थात् १३।२२-१३।२७ में पदो के मध्य में वर्तमान दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' का ही प्रतिपादन किया गया है, पदों के अन्त में वर्तमान दीर्घपूर्व 'अनुस्वार' का नही।

(घ) अर्थात उल्लिखित पदो के देखने से तुरन्त यह पता लग जाता है कि उनमें जो 'अनुस्वार' है वह पद के मध्य में वर्तमान है।

---

[१] १३।२८ [२] १३।२२ [३] १३।२८
[४] ऋ० ६।४।७ [५] ऋ०२।१।१८ [६] ऋ० १०।५४।१

'अनुस्वार' है" । उस (नियम-विधि) की निवृत्ति के लिए (यह सूत्र) कहा जा रहा है । पदों के अन्त में स्थित अन्य भी 'अनुस्वार' है जो दीर्घ' ('स्वर'-वर्ण) से बाद में है । (उदाहरण) "त्वा हिं", "त्वा राजानम्", "ता सु ते कीर्तिम् ।"

(अनुस्वारोच्चारणविषये व्याळेर्मतम्)

व्याळिर्नासिक्यमनुनासिकं वा ॥२७॥

सू० अ०—व्याळि ('अनुस्वार' को) नासिका 'स्थान' वाला ('नासिक्य'=pure nasal sound) या मुखनासिका 'स्थान' वाला ('अनुनासिक'=nasalized vowel) (मानते हैं) ।

उ० भा०—व्याळिराचार्यः सर्वमनुस्वारम्; (नासिक्यम्=) नासिकास्थानम्; (अनुनासिकम्=) मुखनासिकास्थानम्; वा मन्यते । "त्व राजेन्द्र"[1]; "त्वां राजानम्"[2]; "असेषु व."[3]; "हवींषि"[4] । "त्वँ राजेन्द्र"; त्वाँ राजानम्"; "अँसेषु वः"; "हवीँषि" पूर्वाणि नासिक्यपक्षे । उत्तराणि त्वानुनासिक्यपक्षे । अनुस्वारस्य पूर्वोक्तमपि नासिकास्थानं मुखनासिकास्थानविवक्षया पुनरुच्यते ॥

उ० भा० अ०—व्याळि आचार्य सभी प्रकार के 'अनुस्वार' को, (नासिक्यम्=) नासिका 'स्थान' वाला, वा=अथवा, (अनुनासिकम्=) मुख-नासिका 'स्थान' वाला, मानते हैं । (उदाहरण) "त्व राजेन्द्र"; "त्वा राजानम्"; 'असेषु व", "हवींषि ।" "त्वँ राजेन्द्र", "त्वाँ राजानम्", "अँसेषु व", "हवीँषि ।" पहले वाले (उदाहरण) नासिका 'स्थान' ('नासिक्य') के पक्ष में है । बाद वाले (उदाहरण) तो मुख-नासिका 'स्थान' ('अनुनासिक') के पक्ष में हैं । 'अनुस्वार' का नासिका 'स्थान' पहले ही (१।४८) में कहा जा चुका है किंतु मुख-नासिका 'स्थान' का विधान करने के लिये (नासिका 'स्थान' को) दोबारा कहा गया है ।

(संध्यक्षराणां स्वरूपम्)

संध्यानि संध्यक्षराण्याहुरेके
द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु ॥२८॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) संध्यक्षरों (ए, ओ, ऐ और औ) को संधि से उत्पन्न बतलाते हैं । तदनुसार (तथा) इन दोनों (=ए, ओ और ऐ, औ) में द्विस्थानता है (अर्थात् प्रत्येक का उच्चारण दो-दो स्थानों से होता है) ।

उ० भा०—संध्यानि=संधिजानि; संध्यक्षराण्याहुरेके आचार्याः । यथान्यान्यक्षराणि स्वयमुत्पन्नानि न तथेमानि । कथमेतदध्यवसीयते ? द्विस्थानता=कण्ठतालुस्थानता कण्ठोष्ठस्थानता च; तथा लक्ष्यत (एतेषु) उभयेषु संध्यक्षरेषु कण्ठ्यतालव्ययोः कण्ठ्योष्ठ्ययोश्च । ए ओ ऐ औ इति ॥

यदि संध्यानि कयोर्वर्णयोः संधिजानि भवन्ति ?

उ० भा० अ० – एके=कतिपय आचार्य, संध्यक्षराणि=संध्यक्षरों (diphth-

---

[1] ऋ० १।१७४।१ [2] ऋ० २।१।८ [3] ऋ० ५।५४।११ [4] ऋ० १०।६।३

ongs=ए, ओ, ऐ, औ) को; संध्यानि=संधि से उत्पन्न, आहुः=बतलाते हैं। जिस प्रकार अन्य 'अक्षर' (बिना किसी संधि के) स्वयं उत्पन्न होते हैं उस प्रकार ये (उत्पन्न) नहीं (होते हैं)। यह कैसे निश्चय किया गया है? (उत्तर) (एतेषु) उभयेषु=(इन) दोनों सन्ध्यक्षरों में=दोनों कण्ठ्यतालव्यों (ए, ऐ) में और दोनों कण्ठ्योष्ठ्यों (ओ, औ) में, द्विस्थानता=दो (उच्चारण-) स्थानों से उच्चारित होने का गुण=कण्ठ-तालु 'स्थान' से उच्चारित होने और कण्ठोष्ठ 'स्थान' से उच्चारित होने का गुण, परिलक्षित होता है।[क] (जैसे) ए, ओ, ऐ, औ।

यदि संधि से उत्पन्न हैं तो किन दो वर्णों की संधि से उत्पन्न हैं?

संध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं
युजोरुकार इति शाकटायनः ॥३९॥

सू० अ०—(विषमसंख्यक) संध्यक्षरों (=ए, ओ) में अकार (अ) (पूर्ववर्ती) आधा भाग (होता है) और इकार (इ) परवर्ती (आधा भाग होता है)। सम-संख्यक (संध्यक्षरों=ओ, औ) में (अकार पूर्ववर्ती आधा भाग होता है और) उकार (परवर्ती आधा भाग होता है)।

उ० भा०—संध्येषु=संध्यक्षरेषु सत्सु; अकारः पूर्वम् अर्धं भवति; इकारः उत्तरम् अर्धं प्रथमतृतीययोर्भवति। युजोः=द्वितीयचतुर्थयोः, उकार उत्तरमर्धं भवति। एवं शाकटायन आचार्यो मन्यते। अ इ=ए। अ उ=ओ। अ ई=ऐ। अ ऊ=औ। इति॥ यद्येवमेकारैकारयोरोकारौकारयोर्वा कथं श्रुतिविशेषः?

उ० भा० अ०—संध्येषु=संध्यक्षरों (ए, ओ, ऐ, औ) में, जो प्रथम (ए) और तृतीय (ऐ) हैं उनमें; अकारः='अ' वर्ण; पूर्व वाला, अर्धम्=आधा भाग, होता है; इकारः='इ' वर्ण, उत्तरम्=बाद वाला, आधा भाग होता है। युजोः=समसंख्यक में=तृतीय (ओ) और चतुर्थ (औ) में; उकारः='उ' वर्ण, बाद वाला आधा भाग होता है। ऐसा आचार्य शाकटायन मानते हैं।[ख] (उदाहरण) अ इ=ए। अ उ=ओ। अ ई=ऐ। अ ऊ=औ।

यदि ऐसी बात है तो एकार और ऐकार तथा ओकार और औकार के श्रूयमाण स्वरूप में भेद क्यों है?

टि० (क) १।४२ में आचार्य शौनक ने ए और ए का उच्चारण-स्थान तालु बतलाया था और १।४७ में ओ और औ का उच्चारण-स्थान कण्ठ बतलाया था। किंतु कतिपय आचार्य सन्ध्यक्षरों को दो स्वरों की संधि से उत्पन्न बतलाते हैं। तदनुसार प्रत्येक 'संध्यक्षर' के दो-दो उच्चारण-स्थान हैं।

(ख) आचार्य शाकटायन का मत है कि ए तथा ऐ का पूर्वार्ध अकार है और उत्तरार्ध इकार है। उसी प्रकार ओ और औ का पूर्वार्ध अकार है और उत्तरार्ध उकार है।

मात्रासंसर्गादवरेऽपृथक्श्रुती ॥४०॥

सू० अ०—(अ और इ तथा अ और उ की) मात्राओ के मिल जाने (संसर्ग) से पहले वाले दो (=ए और ओ) पृथक् सुनाई नहीं पड़ते हैं (अर्थात् इनमें अ और इ तथा अ और उ का श्रवण पृथक्-पृथक् नहीं होता है)।

उ० भा०—अवरे=पूर्वे=ए ओ इत्येते; मात्रासंसर्गात्=मात्रयोः समयोः क्षीरोदकवत्ससर्गात्। न ज्ञायते क्वावर्णमात्रा क्व वेवर्णोवर्णयोरिति। तस्मात्ते अक्षरे अपृथक्श्रुती भवतः। किमिदमपृथक्श्रुती इति? ए ओ इत्येतयोरिवर्णोवर्णयोः पृथक् श्रवण न विद्यते क्षीरोदकवत्सप्रयुक्तत्वात्। एवं श्रुतिविशेषः।

अस्यैवापरा योजना—

उ० भा० अ०—अवरे=पहले वाले दो=ए और ओ-ये दो, मात्रासंसर्गात्—समान मात्राओ के जल और दूध के समान मिल जाने से। यह ज्ञात नही होता है कि 'अ' वर्ण की मात्रा कहाँ (=किस अश में) है और 'इ' वर्ण तथा 'उ' वर्ण की मात्रा कहाँ (=किस अश में) है[क]। इसलिए ये दोनो 'अक्षर' अपृथक्श्रुती=अपृथक् श्रुति वाले है। "अपृथक् श्रुति वाले है"—इसका क्या अर्थ है? (उत्तर) 'ए' और 'ओ'—इन दो (सध्यक्षरों) में 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण का ('अ' वर्ण से) पृथक् श्रवण नही होता है क्योकि ('ए' और 'ओ' में क्रमश: 'अ' और 'इ' तथा 'अ' और 'उ') दुग्ध और जल के समान मिले रहते हैं। यही कारण है कि ('ए' और 'ओ' तथा 'ऐ' और 'औ' के) श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर हैं।

इसी की दूसरी योजना है—

मात्रासंसर्गादवरे पृथक्श्रुती ॥

सू० अ०—मात्राओं का मेल होने से पहले वाले दो ('संध्यक्षर'=ए और ओ) (ऐ और औ से) पृथक् सुनाई पड़ते हैं।

उ० भा०—(मात्रासंसर्गात्=) मात्रयोः क्षीरोदकवत्संप्रयुक्तत्वात्। न ज्ञायते क्वावर्णस्य मात्रा क्वेवर्णोवर्णयोरिति। तस्मात्; अवरे=पूर्वे संध्यक्षरे=ए ओ इत्येते; पृथक्श्रुती भवतः। ऐऔकाराभ्यामेकारौकारौ पृथक् श्रूयेते—इत्यर्थः। एवं श्रुतिविशेषो भवति॥

उ० भा० अ०—(मात्रासंसर्गात्=) मात्राओ के दुग्ध और जल के समान मिले होने से। यह ज्ञात नही होता है कि 'अ' वर्ण की मात्रा कहाँ (=किस अश में) है और 'इ' वर्ण तथा 'उ' वर्ण की मात्रा कहाँ (=किस अश में) है। इसलिए, अवरे=पहले वाले दो 'संध्यक्षर'=ए और ओ—ये दो ('सध्यक्षर'), पृथक्श्रुती है=ऐकार और औकार से एकार और ओकार पृथक् सुनाई पडते हैं—यह अर्थ है। इस प्रकार (ए

टि० (क) अर्थात् यह पता नहीं चलता है कि कहाँ 'अ' समाप्त होता है और कहाँ 'इ' अथवा 'उ' प्रारम्भ होता है क्योकि ये दोनो दुग्ध और जल के समान मिल जाते हैं।

और ओ तथा ऐ और औ के) श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर होता है।

ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत्परे ॥४१॥

सू० अ०—परवर्ती दो (संध्यक्षर'='ऐ' और 'औ') 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) और 'अनुस्वार' के योग (व्यतिषङ्ग) के समान हैं।

उ० भा०—परे संध्यक्षरे=ऐ औ इत्येते, (ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत्=) ह्रस्वानुस्वारयोर्यो व्यतिषङ्गोऽनुक्रान्तः—"ह्रस्वामर्धस्वरभक्त्यासमाप्ताम्"[१] इति तद्वद्व्यतिषङ्गो वेदितव्यः। ऐ औ। किमुक्तं भवति? यथा तत्र अनुस्वारः पादमात्राधिक उपधा च तावता न्यूना एवमिहापि द्रष्टव्यम्। इवर्णोवर्णयोर्भूयसी मात्रा, अल्पीयस्यवर्णस्य। तस्मात्तयोर्वैषम्यात्र क्षीरोदकवत्संसर्गो भवति। तस्मात्तयोरवर्णस्य चेवर्णोवर्णयोश्च पृथक् श्रवणं भवति। ऐ औ इति॥

उ० भा० अ०—परे=परवर्ती दो 'संध्यक्षर'='ऐ' और 'औ'—ये दो ('संध्यक्षर') (ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत्=) "('अनुस्वार' से पूर्ववर्ती) 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) को आधी 'स्वरभक्ति' से न्यून (समझना चाहिए)"—इस (सूत्र) से 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) और 'अनुस्वार' के जिस 'संयोग' का प्रतिपादन किया गया है उसके समान ही ('ऐ' और 'औ' के) 'संयोग' को जानना चाहिए। (जैसे) 'ऐ' और 'औ'। इस कथन का क्या तात्पर्य है? (उत्तर) जिस प्रकार वहाँ 'अनुस्वार' चौथाई मात्रा से अधिक होता है और पूर्ववर्ती ('ह्रस्व' 'स्वर'-वर्ण) उतने (=चौथाई मात्रा) से न्यून होता है—उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए। 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण की अधिक मात्रा (होती है) 'अ' वर्ण की अल्प मात्रा (होती है)। इसलिए उन दोनो ('अ' वर्ण की मात्रा तथा 'इ' वर्ण या 'उ' वर्ण की मात्रा) की विषमता (असमानता) होने से उनका मेल दुग्ध और जल के समान नहीं होता है। इसलिए उन दोनो अर्थात् 'अ' वर्ण का तथा 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण का पृथक् श्रवण होता है। (जैसे) ऐ, औ।

(वाचो मन्द्रादीनि त्रीणि स्थानानि)

त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च
स्थानान्याहुः सप्तयमानि वाचः ॥४२॥

सू० अ०—मन्द्र मध्यम और उत्तम—वाणी के ये तीन 'स्थान' हैं जिन्हें (आचार्य लोग) सात यमों वाला कहते हैं।

टि० (क) चारो 'संध्यक्षर' (diphthongs=ए, ओ, ऐ, औ) दो-दो 'स्वर' (-वर्णों) के मिलने से निष्पन्न हुए हैं किंतु उच्चारण की दृष्टि से 'ए' और 'ओ' 'समानाक्षर' (monophthong) के सदृश ही हैं। प्रातिशाख्य के प्रस्तुत सूत्र से ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्य के समय में 'ए' और 'ओ' का उच्चारण 'समानाक्षर' (monophthong) के सदृश होने लगा था। इसमें संदेह नहीं कि मूलतः 'ए' और 'ओ' 'संध्यक्षर' थे। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि ए, ओ, ऐ और औ का मूल-उच्चारण क्रमशः अइ, अउ, आइ और आउ होना था।

[१] १३।३२

उ० भा०—मन्द्रं मध्यममुत्तमं च इति त्रीणि वाचः स्थानानि। सप्तयमानि= सप्तयमा येषु स्थानेषु तानि सप्तयमान्याहुः आचार्याः। तेषु मन्द्रमुरसि वर्तते। मध्यम कण्ठे वर्तते। उत्तमं शिरसि वर्तते। एतानि स्थानानि स्वरविशेषणान्यपि भवन्ति। यथा मन्द्रेण स्वरेणाधीयते। मन्द्रया वाचा प्रातःसवने शंसेत्। उरसाधीयत इति॥

उ० भा० अ०—मन्द्रं मध्यममुत्तमं च='मन्द्र' (soft), 'मध्यम' (middle) और उत्तम' (loud)—ये, त्रीणि वाचः स्थानानि=तीन वाणी (speech) के 'स्थान' (अवस्थायें) (positions, stages, places) है।[क] सप्तयमानि=सात 'यम' (tones) है जिन स्थानों (stages) में वे। सप्तयमान्याहुः=आचार्य लोग स्थानो (stages) को सात यमों (tones) वाला कहते है। उन (तीन अवस्थाओं) में से 'मन्द्र' (soft) हृदय में उच्चारित होती है। 'मध्यम' (middle) कण्ठ में उच्चारित होती है। उत्तम (loud) सिर में उच्चारित होती है। ये अवस्थायें ('स्थान') स्वर (tone) के विशेषण भी होते हैं। जैसे—'मन्द्र' (soft) स्वर से अध्ययन करता है। 'मन्द्र' (soft) वाणी से प्रात सवन में पाठ करना चाहिए। हृदय से अध्ययन करता है इत्यादि।

(सप्त यमास्तेषां स्वरूपं च)

अनन्तरश्चात्र यमोऽविशेषः ॥४३॥

(सात यम और उनका स्वरूप)

सू० अ०—'यम' (tone) 'स्थान' (stage) से व्यवधान के द्वारा पृथक् नहीं होता है और ('यम' का 'स्थान' से) कोई भेद नहीं (दिखलाया जा सकता है)।

उ० भा०—अत्र=एषु स्थानेषु; अनन्तरः=अव्यवहितः, यमः; अविशेषः= अविशिष्टः; भवति। अनन्तरे यमे विशेषो न शक्यते दर्शयितुम्—इत्यर्थः। के ते यमा नाम ?

उ० भा० अ०—अत्र=इन स्थानो (stages) में, यमः='यम' (tone), अनन्तरः=व्यवधानरहित (होता है), (अतएव) अविशेषः=('यम' स्थान' से) विशिष्ट नही, होता है। ('स्थान' से) अव्यवहित 'यम' में ('स्थान' से) वैशिष्ट्य नही दिखलाया जा सकता है—यह अर्थ है। वे 'यम' (tones) क्या होते हैं ?

सप्त स्वरा ये यमास्ते ॥४४॥

सू० अ०—जो सात 'स्वर' (musical notes) (होते हैं) वे ही 'यम' (tones) हैं।

टि० (क) 'मन्द्र' (soft), मध्यम (middle) और उत्तम (loud) अवस्थाओ में क्रमश हृदय, कण्ठ और सिर में उच्चारण होना है जैसा कि तै० प्रा० २३।८ में कहा गया है—"उरसि मन्द्र कण्ठे मध्यम शिरसि तारम्।" 'मन्द्र' (soft) अवस्था (stage) में व्याघ्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है, 'मध्यम' (middle) अवस्था (stage) में चक्रवाक के कूजने के समान ध्वनि होती है और 'उत्तम' ('तार'=loud) अवस्था (stage) में मयूर अथवा हंस अथवा कोकिल की ध्वनि के समान ध्वनि होती है।

उ० भा०—ये ते सप्त स्वराः—षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः स्वराः—इति गान्धर्ववेदे समाम्नाताः। तथा सामसु—क्रुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः[1] इति ते यमा नाम वेदितव्याः॥

उ० भा० अ०—'षड्ज', 'ऋषभ', 'गान्धार', 'मध्यम', 'पञ्चम', 'धैवत' और 'निषाद'—ये जो सात 'स्वर' (musical notes) हैं उन्हें तथा सामवेद में जो 'क्रुष्ट', 'प्रथम', 'द्वितीय' 'तृतीय', 'चतुर्थ', 'मन्द्र' और 'अतिस्वार्य' हैं उन्हें 'यम' नाम से जानना चाहिए।

पृथग्वा ॥४५॥

सू० अ०—अथवा ('यम' स्वरों से) पृथक् (होते हैं)।

उ० भा०—(वा=) अथवा; स्वरेभ्यः; (पृथक्=) पृथग्भूताः; अन्ये यमाः स्वरेषु वर्तन्ते। एतेषां मृदुत्वं तीक्ष्णत्वं चेति वेदितव्यम्॥

उ० भा० अ०—(वा=) अथवा; स्वरों (musical notes) से पृथग्भूत दूसरे 'यम' (tones) स्वरों (musical notes) में होते हैं। इनकी मृदुता और तीक्ष्णता को जानना चाहिए।

(वाचो वृत्तीनां निरूपणम्)

तिस्रो वृत्तीरुपदिशन्ति वाचो
विलम्बितां मध्यमां च द्रुतां च ॥४६॥

(वाणी की वृत्तियों का निरूपण)

सू० अ०—(आचार्य लोग) वाणी की तीन वृत्तियों (modes) को उपदिष्ट करते हैं—विलम्बित (slow), मध्यम (intermediate) और द्रुत (quick)।

उ० भा०—तिस्रो वृत्तीर्वाच उपदिशन्ति आचार्याः। विलम्बितां बालानामध्यापनादिषूपदिशन्ति। मध्यमां व्यवहारादिषूपदिशन्ति। द्रुताम् अध्ययनस्य बहुरूपाभ्यास उपदिशन्ति॥

उ० भा० अ०—आचार्य लोग, तिस्रो वृत्तीर्वाच उपदिशन्ति=वाणी (speech) की तीन वृत्तियों (modes) उपदिष्ट करते हैं। बच्चों के अध्यापन आदि में, विलम्बिताम्=विलम्बित (slow) ('वृत्ति') को उपदिष्ट करते हैं। व्यवहार आदि में, मध्यमाम्=मध्यम (intermediate) ('वृत्ति') को उपदिष्ट करते हैं। अध्ययन के बहुत रूपों वाले अभ्यास में, द्रुताम्=द्रुत (quick) ('वृत्ति') को उपदिष्ट करते हैं।

टि० (क) 'वृत्ति' का अर्थ है गति (speed, mode)। 'वृत्ति' के तीन भेद हैं—(१) विलम्बित (slow) (२) मध्यम (intermediate) और (३) द्रुत (quick)। बोलने की 'वृत्ति' (speed) या विलम्बित (slow) होती है या द्रुत (quick) या दोनों की मध्यवर्ती (intermediate)

[1] तै० प्रा० २३।१२

वृत्त्यन्तरे कर्मविशेषमाहुः ॥४७॥

सू० अ०—(आचार्य लोग) भिन्न-भिन्न 'वृत्ति' (mode) में भिन्न-भिन्न कर्मों (यागों) का विधान करते हैं।

उ० भा०—वृत्तेरन्या वृत्तिः=वृत्त्यन्तरम्। तस्मिन् वृत्त्यन्तरे कर्मविशेषमाहुः आचार्याः। विलम्बितायां प्रातःसवन भवति। मध्यमायां मध्यदिन सवनम्। द्रुतायां तृतीय सवनमिति। तेषु सवनेष्वेता वृत्तयो भवन्तीत्युक्त भवति॥

उ० भा० अ०—वृत्त्यन्तर=एक 'वृत्ति' से अन्य दूसरी 'वृत्ति'। उस; वृत्त्यन्तरे= भिन्न-भिन्न 'वृत्ति' (mode) में, आचार्य, कर्मविशेषमाहुः=विशेष कर्म का विधान करते है। विलम्बित (slow) (वृत्ति'=mode) में प्रात सवन होता है। मध्यम (intermediate) 'वृत्ति' (mode) में मध्यदिन सवन (होता है)। 'द्रुत' (quick) 'वृत्ति' (mode) मे तृतीय सवन (होता है)। इन सवनो में ये वृत्तियाँ (modes) होती है—यह तात्पर्य है।

मात्राविशेषः प्रतिवृत्त्युपैति ॥४८॥

सू० अ०—प्रत्येक (परवर्ती) 'वृत्ति' में मात्रा का आधिक्य होता है।

उ० भा०—वृत्ति वृत्ति प्रति=प्रतिवृत्ति; मात्राविशेषः=मात्राधिक्यम्; उपैति= उपगच्छति। द्रुतायां वृत्तौ ये वर्णास्ते मध्यमायां त्रिभागाधिका भवन्ति। तथा मध्यमायां ये वर्णास्ते विलम्बितायां त्रिभागाधिका भवन्ति। चतुर्भागाधिका भवन्तीत्येक इति॥

उ० भा० अ०—प्रतिवृत्ति=प्रत्येक 'वृत्ति' (mode) में; मात्राविशेषः=मात्रा की अधिकता; उपैति=प्राप्त होती है। द्रुत (quick) 'वृत्ति' (mode) में जो वर्ण (उच्चारित होते हैं) वे मध्यम (intermediate) 'वृत्ति' (mode) में तिहाई भाग से अधिक हो जाते है। उसी प्रकार मध्यम (intermediate) में जो वर्ण (उच्चारित होते हैं) वे विलम्बित (slow) 'वृत्ति' (mode) में तिहाई भाग से अधिक हो जाते है।[क] कतिपय आचार्य मानते है कि चौथाई भाग से अधिक होते हैं।[ख]

टि० (क) अर्थात् द्रुत (quick) 'वृत्ति' (mode) में जिन मन्त्रो के उच्चारण में नौ मुहूर्त का समय लगता है उन मन्त्रो का यदि मध्यम (intermediate) 'वृत्ति' (mode) मे उच्चारण किया जावे तो बारह मुहूर्त का समय लगेगा और विलम्बित (slow) 'वृत्ति' (mode) में सोलह मुहूर्त का समय लगेगा।

(ख) दूसरे आचार्यो के अनुसार उपर्युक्त तीन वृत्तियो मे समय का अनुपात यह होगा १६ २० २५।

अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ॥४९॥

चापस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत् ।
शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एष मात्रापरिग्रहः ॥५०॥

सू० अ०—(अध्ययन के) अभ्यास के लिए द्रुत (quick) 'वृत्ति' (mode) का, कर्मानुष्ठान (प्रयोग) के लिए मध्यम (intermediate) ('वृत्ति'=mode) का, शिष्यों के उपदेश के लिए विलम्बित (slow) ('वृत्ति'=mode) का प्रयोग करना चाहिए।

नीलकण्ठ एक मात्र बोलता है, कौवा दो मात्राओं को बोलता है, मोर को तीन मात्राओं को बोलने वाला जानना चाहिए। यह मात्राओं का विवरण है।

इति श्रीपार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये शिक्षापटल त्रयोदशम् ॥

वज्रट के पुत्र उवट की कृति प्रातिशाख्य-भाष्य में शिक्षा-पटल
नामक त्रयोदश पटल समाप्त हुआ ॥

टि० (क) अर्थात् १ मात्रा नीलकण्ठ की एक बोली के बराबर है, २ मात्रायें कौवे की एक बोली के बराबर है और तीन मात्रायें मोर की एक बोली के बराबर है।

१४ : उच्चारणदोष-पटलम्

वर्णदोषाणां सामान्यस्वरूपम्
वर्णानां सामान्यदोषाः
स्वराणां दोषाः
अनुनासिकानां दोषौ
सान्तःस्थानां वर्णानां दोषौ
व्यञ्जनानां सामान्यदोषाः
सघोषाणां सोष्मणामूष्मणां च दोषाः
वर्गीयवर्णानां दोषाः
रेफलकारयोर्दोषाः
हकारस्य तदन्योष्मणां च दोषाः
विसर्जनीयस्य दोषाः
यमस्य दोषाः
विसर्जनीयस्य दोषः (पूर्वानुवृत्त)
अनुनासिकस्थाने अनुस्वारोच्चारणम्
ऋकारऌकारयोर्दोषः
अघोषाणां दन्त्यानां दोषः
ह्रस्वस्वरस्य लोपः, अविद्यमानस्य वा ह्रस्वस्वरस्योच्चारणम्
ऐकारस्य दोषाः
इकारस्य दोषौ
ऋकारस्य दोषः
अविद्यमानस्य यकारस्योच्चारणम्
विद्यमानस्य यकारस्य वकारस्य वा लोपः
संयोगस्य स्वरेण व्यवच्छेदः
अन्तःस्थाया लोपो द्विरुच्चारणं च
अनुनासिकस्य ह्रस्वस्य दीर्घत्वम्
अविद्यमानस्य ऊष्मण उच्चारणम्
अधिकयमस्योच्चारणम्
स्वरोपधादननुनासिकात्पूर्वमनुस्वारस्योच्चारणम्, उपधाया अन्यवर्णत्वं वा
अननुनासिकात्परस्य वर्णस्य द्विरुच्चारणम्
अनुनासिकैः स्वराणां अनुनासिकता
अनुनासिकात्परस्य हकारस्य सोष्मत्वम्
संयोगानां चत्वारो दोषाः
विवृत्तेः दोषाः
दोषाणामसंख्यता शास्त्रस्य प्रयोजनं च
वर्णानामुच्चारणे अकारस्य अपेक्षा
दोषनिरसनपूर्वकं वर्णशिक्षायाः सप्रयोजनत्वस्थापनम्

(वर्णदोषाणां सामान्यस्वरूपम्)

समुद्दिष्टा वर्णगुणाः पुरस्तान्-
निर्दिष्टानां सांहितो यश्च धर्मः ।
तदायापायव्यथनानि दोषास्
तान्व्याख्यास्यामोऽत्र निदर्शनाय ॥१॥

वर्णों के दोषों का सामान्य स्वरूप)

सू० अ०—पूर्व में निर्दिष्ट वर्णों के गुण भलीभाँति कहे जा चुके हैं। संधि (संहिता) में होने वाला जो (वर्णों) का स्वरूप (धर्म) है (वह भी पूर्वोक्त पटलों मे कहा जा चुका है)। उन (वर्णों) के 'आय', 'अपाय' और 'व्यथन' दोष (हो जाते हैं)। (उन दोषों के) प्रदर्शन के लिए हम यहाँ (चतुर्दश पटल में) उन (दोषों) की (को) व्याख्या करेंगे।

उ० भा०—पुरस्तान्निर्दिष्टानाम्; (वर्णगुणाः=) वर्णानां गुणाः; समुद्दिष्टाः= सम्यगुद्दिष्टाः। सांहितो यश्चधर्मः समुद्दिष्टोऽनुक्रान्तेषु पटलेषु। तदायापायव्यथ-नानि=तेषां वर्णानामायोऽपायो व्यथनमित्येते; दोषाः प्रादुर्भवन्ति। आयो नामासतो वर्णस्योपजनः। यथा ह्वयामीत्यत्र पुरस्तादनुनाद। अपायो नाम सतोऽपकर्षः। यथा ऊन-यीरित्यत्र यीरित्येतस्य। व्यथनं नाम सतोऽन्यथाश्रवणम्। यथा रथ्य इत्यत्र थकारस्य सकारवच्छ्रवणम्। तान् दोषान्; (अत्र=) उत्तरत्र; निदर्शनार्थं विस्तरेणासाव-मुत्रेत्यनुक्रामन्तो व्याख्यास्यामः॥

उ० भा० अ०—पुरस्तान्निर्दिष्टानाम्=पूर्व में निर्दिष्ट; (वर्णगुणाः=) वर्णों के गुण; समुद्दिष्टाः=भलीभाँति कहे जा चुके हैं। सांहितो यश्च धर्मः=संधि (संहिता) में होने वाला जो (वर्णों) का स्वरूप (धर्म) है, वह भी पूर्वोक्त पटलों में भलीभाँति कहा जा चुका है। तदायापायव्यथनानि=उन (वर्णों) के आय, अपाय और व्यथन—ये (तीन), दोषाः=दोष; प्रादुर्भूत हो जाते हैं। आय का अर्थ है अविद्यमान वर्ण का आगम। जैसे 'ह्वयामि' के पूर्व में 'अनुनाद' (fore-sound) (का आगम)। अपाय का अर्थ है विद्यमान का लोप कर देना। जैसे 'ऊनयी.' में 'यी.' का (लोप कर दिया जाता है)। व्यथन का अर्थ है विद्यमान का अन्य प्रकार से उच्चारण करना (सुनाई पड़ना)। जैसे 'रथ्य' के थकार का सकार के समान उच्चारण करना। तान्=उन दोषों के; निदर्शनार्थम्=प्रदर्शन के लिए, (अत्र=) यहाँ=आगे (के सूत्रों में); "यह दोष यहाँ है" यह बतलाते हुए विस्तार के साथ, व्याख्यास्यामः=(उन दोषों की) व्याख्या करेंगे।[क]

टि० (क) वर्णों के उच्चारण में तीन प्रकार के दोष हो जाते हैं—(१) अविद्यमान वर्ण का उच्चारण। जैसे—'ह्वयामि' के पूर्व में एक अतिरिक्त 'अनुनाद' (fore-sound) का उच्चारण कर दिया जाता है; दे० १४।१८ (२) विद्यमान वर्ण का अनुच्चारण (लोप)। जैसे—'ऊनयी.' का 'ऊनै.' उच्चारण कर दिया जाता

(वर्णानां सामान्यदोषाः)

निरस्तं स्थानकरणापकर्षे ॥२॥

(वर्णों के सामान्य दोष)

सू० अ०—(उच्चारण-) 'स्थान' तथा उच्चारणायव ('करण') का अपकर्ष (deterioration) होने पर 'निरस्त' (नामक दोष होता है)।

उ० भा०—निरस्तं नाम दोष उत्पद्यते; (स्थानकरणापकर्षे=) स्थानकरणयोरपकर्षेण। ननु स्थानकरणयोरपकर्षो नोपपद्यते। कथम्? स्थानकरणाभ्यां हि वर्णोऽपकृष्यते। नैष दोषः। यथा स्थानकरणाभ्यां वर्णोऽपकृष्टो भवति तथा वर्णादपि स्थानकरणे अपकृष्टे भवत.। तस्मात्स दोषः परिहर्तव्यः॥

उ० भा० अ०—(स्थानकरणापकर्षे=) (उच्चारण-)'स्थान' और उच्चारणावयव ('करण') के अपकर्ष से; निरस्तम्='निरस्त' नामक दोष; उत्पन्न होता है। (पू०) (उच्चारण-) 'स्थान' और उच्चारणावयव ('करण') का अपकर्ष कहना युक्त नहीं है। (सि०) क्यों? (पू०) क्योंकि (उच्चारण-) 'स्थान' और उच्चारणावयव ('करण') से वर्ण (ही) अपकृष्ट होता है। (सि०) यह दोष नहीं है। जैसे (उच्चारण-) 'स्थान' और उच्चारणावयव ('करण') से वर्ण अपकृष्ट होता है वैसे (ही) वर्ण से (उच्चारण-) 'स्थान' और उच्चारणावयव ('करण') (भी) अपकृष्ट होते हैं। इसलिए इस ('निरस्त' दोष) का परिहार करना चाहिए।[क]

विहारसंहारयोर्व्यासपीळने ॥३॥

सू० अ०—(जब उच्चारणास्थान और उच्चारणावयव का अयुक्त) विस्तार और संकोचन होता है तो (क्रमशः) 'व्यास' और 'पीडन' (दोष होते हैं)।

उ० भा०—विहारः=विहरणम्=विस्तारः संहारः=संहरणम्=अन्यथाकरण सकोचनं वा। कस्य? स्थानकरणयोः। (विहारसंहारयोर्व्यासपीळने=) विहारे व्यासो नाम दोषो जायते, सहारे पीडनं च। व्यासोऽविवेक। पीडनं द्विर्भावः। तावपि परिहर्तव्यौ॥

उ० भा० अ०—विहार=विहरण=विस्तार। सहार=सहरण=अन्य प्रकार से (उच्चारण) करना अथवा सकोचन। किसका (विस्तार और सकोचन होता है)? (उत्तर) (उच्चारण-) 'स्थान' और उच्चारणावयव ('करण') का। (विहारसंहारयोर्व्यासपीळने=)

(७१७क) है। यहाँ 'यी' का अनुच्चारण (लोप) हो गया है; दे० १४।४३ (३) एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का उच्चारण। जैसे—'रथ्य' का 'रम्य' उच्चारण कर दिया जाता है। यहाँ थकार के स्थान पर सकार का उच्चारण किया गया है; दे० १४।३९।

टि० (क) 'निरस्त' दोष तब होता है जब कोई वर्ण अपने उच्चारण-स्थान अथवा अपने उच्चारणावयव से यथावत् उच्चारित नहीं होता है।

(उच्चारणस्थान और उच्चारणावयव का) विस्तार (विहार) होने पर 'व्यास' नामक दोष उत्पन्न होता है और सकोचन (सहार) होने पर 'पीडन' (नामक दोष उत्पन्न होता है)। 'व्यास' में विवेक नही होता[क] और 'पीडन' में द्विरुच्चारण हो जाता है।[ख]

इन दोनों (दोषो) का (को) भी परिहार करना चाहिए।

ओष्ठाभ्यामम्बूकृतमाह नद्धं दुष्टम् ॥४॥

सू० अ०—(जब वक्ता) होठों से बाँधकर (अर्थात् होठों को बन्द-सा करके) उच्चारण करता है तो वह दोष (दुष्ट) 'अम्बूकृत' (कहलाता है)।

उ० भा०—ओष्ठाभ्याम्; नद्धम्=बद्धम्—इत्यर्थः। यदा आह वक्ता तत् दुष्टमम्बूकृतम् इत्युच्यते। तदपि वर्ज्यम् ॥

उ० भा० अ०—जब वक्ता; ओष्ठाभ्याम्=होठों से; नद्धम्=बाँधकर—यह अर्थ है। आह=उच्चारण करता है, वह, दुष्टम्=दोष; अम्बूकृतम्='अम्बूकृत'[ग]; कहलाता है। इस (दोष) का भी परित्याग करना चाहिए।

मुखेन सुषिरेण शूनम् ॥५॥

सू० अ०—(जब वक्ता) खोखले (hollow) मुख से (उच्चारण करता है तो वह दोष) 'शून' (कहलाता है)।

उ० भा०—सुषिरेण=बिलायितेन; मुखेन यदाह वक्ता तद्दुष्टं शूनं नाम वेदितव्यम् ॥

उ० भा० अ०—जब वक्ता, सुषिरेण मुखेन=खोखले मुख से; उच्चारण करता है तो उस दोष को; शूनम्='शून' नामक; जानना चाहिए।[घ]

संदष्टं तु व्रीळन आह हन्वोः ॥६॥

सू० अ०—(जब वक्ता) जबड़ों को नीचा करके उच्चारण करता है तो 'संदष्ट' (नामक दोष होता है)।

टि० (क) 'व्यास' में सम्बद्ध वर्ण का उच्चारण अपने ही उच्चारण-स्थान से न होकर समीपवर्ती उच्चारण-स्थान से भी होता है। दो उच्चारण-स्थानो का मिश्रण हो जाता है। इससे उच्चारण अस्पष्ट हो जाता है।

(ख) 'सहार' में सम्बद्ध वर्ण का उच्चारण अपने सम्पूर्ण उच्चारण स्थान से न होकर उसके आधे भाग से ही होता है। आधे भाग से उच्चारण होने के अनन्तर दूसरे आधे भाग से उच्चारण होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। इससे वर्ण का द्विरुच्चारण हो जाता है।

(ग) जब वक्ता होठो को बन्द-सा करके उच्चारण करता है तो उच्चारण अस्पष्ट हो जाता है। अनेक शब्द वक्ता के मुख में ही रह जाते हैं और श्रोता के कानों तक नही पहुँचते। उच्चारण का यह दोष 'अम्बूकृत' कहलाता है।

(घ) 'शून' दोष 'अम्बूकृत' दोष के विपरीत है।

उ० भा०—व्रीडने हन्वोः संदष्टं नाम दोषो भवति। स वर्ज्यः। व्रीडन नाम हन्वोर्नीचैर्भावः ॥

उ० भा० अ०—व्रीडने हन्वोः=जबड़ों के व्रीडन में, संदष्टम्='सदष्ट' नामक दोष; होता है। उस (दोष) का परित्याग करना चाहिए। 'व्रीडन' का अर्थ है जबड़ों को नीचा करना।

प्रकर्षणे तदु विक्लिष्टमाहुः ॥७॥

सू० अ० (जबड़ों) के दूर खींचने पर 'विक्लिष्ट' (दोष) बतलाते हैं।

उ० भा०—(तदु=) हन्वोः; प्रकर्षणे; (विक्लिष्टमाहुः=) विक्लिष्टं नाम दोषो भवति। प्रकर्षण नाम सर्वतश्चलनम्। विक्लिष्टं नामासंयुक्तम् ॥

उ० भा० अ० –(तदु=) उनके=जबड़ों के; प्रकर्षणे=खींचने पर, (विक्लिष्ट-माहुः=) 'विक्लिष्ट' दोष बतलाते हैं। प्रकर्षण का अर्थ है सब ओर चलना। 'विक्लिष्ट' का अर्थ है असंयुक्त (न मिलाना=दूर खींच लेना)।

जिह्वामूलनिग्रहे ग्रस्तमेतत् ॥८॥

सू० अ०—जिह्वा के मूल का निग्रह होने पर 'ग्रस्त' (नामक दोष होता है)।

उ० भा०—(जिह्वामूलनिग्रहे=) जिह्वामूलस्य निग्रहे; ग्रस्तं नाम दोषो भवति। एतं वर्जयेत्। निग्रहो नाम स्तम्भनम् ॥

उ० भा० अ०—(जिह्वामूलनिग्रहे=) जिह्वा के मूल का निग्रह होने पर; ग्रस्त नामक दोष होता है। इसका परित्याग करना चाहिए। निग्रह का अर्थ है स्तम्भन (रोक कर कड़ा कर लेना)

नासिकयोस्त्वनुषङ्गेऽनुनासिकम् ॥९॥

सू० अ०—नासिकाओं का संबन्ध (प्रभाव) होने पर 'अनुनासिक' (दोष होता है)।

उ० भा०—(नासिकयोस्त्वनुषङ्गे=) नासिकयोर्यदा वर्णोऽनुषज्यते तदा; (अनुनासिकम्=) अनुनासिकत्वम्; उत्पद्यते। स दोषस्तं परिहरेत् ॥

उ० भा० अ०—(नासिकयोस्त्वनुषङ्गे=) जब वर्ण का नासिकाओं से सबन्ध हो जाता है तब; (अनुनासिकम्=) अनुनासिकत्व; उत्पन्न हो जाता है। वह ('अनुना-सिक'संज्ञक) दोष है। उसका परिहार करना चाहिए।

(स्वराणां दोषाः)

अयथामात्रं वचनं स्वराणाम् ॥१०॥

(स्वरों के दोष)

सू० अ०—'स्वर' (-वर्णों) का मात्राओं के अनुसार उच्चारण न करना (दोष है)।

उ० भा०—यथा मात्रा=यथामात्रम्। अयथामात्रं वचनं स्वराणाम्=ह्रस्वदीर्घ-प्लुतानामयथामात्रोच्चारणं दोषो भवति। प्रायेण दीर्घेषु ह्रस्वेषु च रक्तेषु मात्राधिक्यं कुर्वन्ति। तदाचार्येण निदर्शनार्थमुत्तरत्रोदाहृतम्—"रक्त ह्रस्वं द्राघयन्त्युग्रँ ओक. ॥"[1]

उ० भा० अ०—यथामात्रम्=मात्राओं के अनुसार। अयथामात्रं वचनं स्वराणाम्='ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत' ('स्वर'-वर्णों) का मात्राओ के अनुसार उच्चारण न करना दोष है। प्रायः 'दीर्घ' ('स्वर'-वर्णों) में और 'अनुनासिक' 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्णों) में मात्रा का आधिक्य करते हैं। इसे समझाने के लिए आचार्य ने उदाहरण दिया है—"'अनुनासिक' 'ह्रस्व' ('स्वर'-वर्ण) को 'दीर्घ' कर देते हैं, जैसे 'उग्रँ ओकः' में।"

संदंशो व्यासः पीळनं निरासः ॥११॥

सू० अ०—(क्रमशः १४।६, १४।३, १४।३ और १४।२ में उक्त) 'संदंश', 'व्यास', 'पीडन' और 'निरास' ('स्वर'-वर्णों के भी दोष होते हैं)।

उ० भा०—संदंशो, व्यासः, पीडनं, निरासः—इत्येते च पुरस्तात्कीर्तितास्ते स्वराणां भवन्ति। संदंश इति—"संदष्टं तु व्रीळन आह हन्वो"[2] इति कीर्तितः। व्यासः पीडनमित्येतौ—"विहारसंहारयोः"[3] इति कीर्तितौ। निरास इति—"निरस्तं स्थान-करणापकर्षे"[4] इति कीर्तितः ॥

उ० भा० अ०—संदंश, व्यास, पीडन और निरास—ये पहले (१४।६, १४।३, १४।३ और १४।२ में) कहे जा चुके हैं। ये 'स्वर' (—वर्णों) के (भी) (दोष) होते हैं। संदंश को—"(जब वक्ता) जबडो को नीचा करके उच्चारण करता है तो 'संदष्ट' (नामक दोष होता है)"—इस (सूत्र) में कहा जा चुका है। व्यास और पीडन—इन दो को—"(जब उच्चारणस्थान और उच्चारणावयव का अयुक्त) विस्तार और संकोचन होता है तो (क्रमशः) 'व्यास' और 'पीडन' (दोष होते हैं)"—इस (सूत्र) में कहा जा चुका है। निरास को—"उच्चारणस्थान और उच्चारणावयव का अपकर्ष होने पर 'निरस्त' (दोष होता है)"—इस (सूत्र) में कहा जा चुका है।

ग्रासः कण्ठ्ययोः ॥१२॥

सू० अ०—'कण्ठ्य' ('स्वर'—वर्णों='अ' और 'आ') में (१४।८ में उक्त) 'ग्रास' (दोष होता है)।

उ० भा०—"जिह्वामूलनिग्रहे ग्रस्तम्"[5] इति यः प्रागुक्तो ग्रासो नाम दोषः सः; कण्ठ्ययोः=अकाराकारयोः; उत्पद्यते। स वर्जयितव्यः ॥

उ० भा० अ०—"जिह्वामूल का निग्रह होने पर 'ग्रस्त' (दोष होता है)'—इस (सूत्र) में जिस ग्रास नामक दोष को पहले कहा जा चुका है वह कण्ठ्ययोः='कण्ठ्य' ('स्वर'-वर्णों)=अकार और आकार (के उच्चारण) में उत्पन्न होता है। उसका परित्याग करना चाहिए।

---

[1] १४।५१ [2] १४।६ [3] १४।३
[4] १४।२ [5] १४।८

(अनुनासिकानां दोषौ)

अनुनासिकानां संदष्टता विषमरागता वा ॥१३॥

(अनुनासिकों के दो दोष)

सू० अ०—'अनुनासिक' (वर्णों) के 'संदष्टता' और 'विषमरागता' (दोष होते हैं)।

उ० भा०—अनुनासिकानां वर्णानां संदष्टता दोषो भवति। स व्याख्यातः। विषमरागता वा अनुनासिकाना भवति। न हि राग प्रत्याख्यायानुनासिका वर्तन्ते। तस्माद्विषमरागता दोष उच्यते। 'अक्तँ एमि'[1], "अभ्र आँ अपः॥"[2]

उ० भा० अ०—अनुनासिकानाम्='अनुनासिक' वर्णों का, संदष्टता दोष होता है। उसकी व्याख्या (१४।६ में) की जा चुकी है। वा=अथवा, 'अनुनासिक' (वर्णों) का विषमरागता[क] (दोष) होता है। 'अनुनासिक' वर्ण 'आनुनासिक्य' (nasaliza-tion) को छोडकर नही रहते है। इसलिए 'विषमरागता' को दोष कहा जाता है। (उदाहरण) 'अक्तँ एमि", "अभ्र आँ अप।"

(सान्तःस्थानां वर्णानां दोषौ)

सान्तस्थानामादिलोपान्तलोपौ ॥१४॥

(अन्तःस्था से युक्त वर्णों के दो दोष)

सू० अ०—'अन्तःस्था' के साथ प्रयुक्त (वर्णों) मे से (कभी 'अन्तःस्था' से) पहले वाले (वर्ण) का लोप (हो जाता है) और (कभी 'अन्तःस्था' से) बाद वाले (वर्ण) का लोप (हो जाता है)।

उ० भा०—सहान्त स्थया वर्तन्त इति सान्तःस्थाः। तेषां सान्तःस्थानां वर्णानाम्; (आदिलोपान्तलोपौ=) क्वचिदादिलोप क्रियते क्वचिदन्तलोपः। तौ दोषौ ज्ञेयौ आदिलोपः "पिबा निषद्य।"[3] अन्तलोपः—"इन्द्रवाय्वोः"॥

उ० भा० अ०—सान्तःस्थाः=जो 'अन्त स्था' के साथ प्रयुक्त होते हैं वे। सान्तःस्थानाम्='अन्त स्था' के साथ प्रयुक्त होने वाले वर्णों में से, (आदिलोपान्तलोपौ=) कही ('अन्त.स्था' से) पहले वाले (वर्ण) का लोप किया जाता है और कही (अन्त स्था से) बाद वाले का लोप किया जाता है। इन दोनो को दोष समझना चाहिए। आदिलोप—"पिबा निषद्य।"[ख] अन्तलोप—'इन्द्रवाय्वो।"[ग]

टि० (क) जब सानुनासिक 'स्वर' वर्ण को तो निरनुनासिक कर दिया जाता है और उसके स्थान पर निरनुनासिक स्वर' वर्ण को सानुनासिक कर दिया जाता है तो वहाँ 'विषमरागता' दोष हो जाता है।

(ख) यहाँ 'अन्त स्था' (=य्) से पहले वाले (=द्) का लोप कर दिया जाता है। तब 'निषद्य' का उच्चारण 'निषय' हो जाता है।

(ग) यहाँ 'अन्त.स्था' (=य्) से बाद वाले (=व्) का लोप कर दिया जाता है। तब 'इन्द्रवाय्वो' का उच्चारण 'इन्द्रवायो.' हो जाता है।

[1] ऋ १०।३४।५ [2] ऋ० ५।४८।१ [3] ऋ० १।१७७।४

(व्यञ्जनानां सामान्यदोषाः)

अदेशे वा वचनं व्यञ्जनस्य ॥१५॥

(व्यञ्जनों के सामान्य दोष)

सू० अ०—अथवा 'व्यञ्जन' का अयुक्त 'स्थान' में उच्चारण (किया जाता है)।

उ० भा० (वा=) अथवा, अदेशे=अस्थाने, (वचनम्=) असद्व्यञ्जनमुच्यते। स दोषो वर्जनीयः। यथा—"अस्मान्", "स्तोमैरभुत्स्महि"[१]; "उत्स्नाय"[२]; "विश्वप्स्न्यस्य"[३]— इत्यत्र सकारात्परस्तकार उच्यते। यथा—"यक्ष्मं दोषण्यम्"[४]; "विष्णुः"— इत्यत्र षकारादिकारोकारौ॥

उ० भा० अ०—(वा=) अथवा; अदेशे=अयुक्त 'स्थान' में; (वचनम्=) अविद्यमान 'व्यञ्जन' का उच्चारण किया जाता है। उस दोष का परित्याग करना चाहिए। जैसे—'अस्मान्", 'स्तोमैरभुत्स्महि", "उत्स्नाय"; 'विश्वप्स्न्यस्य" यहाँ पर (अर्थात् इन स्थलों में) सकार से बाद में (अविद्यमान) तकार का उच्चारण कर दिया जाता है।[क] जैसे—"यक्ष्म दोषण्यम्"; "विष्णु"—यहाँ पर षकार से बाद में (क्रमश) इकार और उकार का उच्चारण कर दिया जाता है।[ख]

अन्योन्येन व्यञ्जनानां विरागः ॥१६॥

सू० अ०—एक 'व्यञ्जन' दूसरे 'व्यञ्जन' को दबा लेता है (यह भी दोष है)।

उ० भा०—व्यञ्जनानामन्योन्येन सह विरागः क्रियते। स दोषः। यथा—"उप मा षड् द्वाद्व"[५] इत्यत्र डकारात्परस्य दकारस्य विरागः क्रियतेऽज्ञातृभिः॥

उ० भा० अ० - व्यञ्जनानामन्योन्येन=व्यञ्जनो के मध्य में एक के द्वारा दूसरा; विरागः=दबा लिया जाता है (अर्थात् एक 'व्यञ्जन' दूसरे 'व्यञ्जन' को प्रभावित कर देता है)। वह दोष है। जैसे—"उप मा षड् द्वाद्वा" —यहाँ पर (शुद्ध उच्चारण को) न जानने वाले (व्यक्तियो) के द्वारा डकार से बाद में विद्यमान दकार (डकार के प्रभाव से) दबा दिया जाता है।

लेशेन वा वचनं पीळनं वा ॥१७॥

सू० अ०—अथवा प्रयत्नशैथिल्य से (व्यञ्जनों) का उच्चारण किया जाता है अथवा (किसी 'व्यञ्जन' के उच्चारण में) अधिक प्रयत्न (किया जाता है)।

टि० (क) अर्थात् 'अस्मान्', 'स्तोमैरभुत्स्महि', 'उत्स्नाय' और 'विश्वप्स्न्यस्य' का उच्चारण क्रमश. 'अस्त्मान्', 'स्तोमैरभुत्स्त्महि'. 'उत्स्त्नाय' और 'विश्वप्स्त्न्यस्य' कर दिया जाता है।

(ख) अर्थात् 'दोषण्यम्' और 'विष्णु' का उच्चारण क्रमश 'दोषिण्यम्' और 'विषुणु.' कर दिया जाता है।

---

[१] ऋ० ४।५२।४ [२] ऋ० २।१५।५ [३] ऋ० ७।४२।६
[४] ऋ० १०।१६३।२ [५] ऋ० ८।६८।१४

उ० भा०—लेशेन वा व्यञ्जनानां वचनं क्रियते पीडनं वा। लेशेन=प्रयत्नशैथिल्येन। पीडनम्=अतिप्रयत्नः। तावुभौ दोषौ सर्वेषु वर्जयेत्॥

उ० भा० अ०—वा=अथवा, लेशेन='लेश' से, व्यञ्जनो का, (वचनम्=) उच्चारण, किया जाता है; पीडनं वा=अथवा पीडन (किया जाता है)। लेश—प्रयत्न की शिथिलता। पीडन=प्रयत्न की अधिकता।[क] सभी (व्यञ्जनो) में उन दोनो दोषो का परित्याग करना चाहिए।

(सघोषाणां सोष्मणामूष्मणां च दोषाः)

घोषवतामनुनादः पुरस्तादा-
दिस्थानां क्रियते धारणं वा ॥१८॥

(सघोष, सोष्म और ऊष्म-वर्णों के दोष)

सू० अ०—(पद के) आदि में स्थित 'सघोष' (व्यञ्जनों) के पहले (अतिरिक्त) अनुनाद (fore-sound) (उच्चारित) किया जाता है अथवा उन ('सघोष' व्यञ्जनों का) अनुच्चारण (अनुपलब्धि) (अथवा द्विर्वचन) होता है।

उ० भा०—(आदिस्थानाम्=) पदादिस्थानाम्; घोषवतां पुरस्तात्; अनुनादः=ध्वनिः; क्रियते। (वा=) अथवा; तेषां घोषवतां धारणम् नाम=अनुपलब्धि.। यथा—"ह्वयामि" इत्यत्र पुरस्तादधिकशब्दः क्रियते। अथवा तस्य दोषस्य परिहरणार्थं हकारस्यानुपलब्धिः क्रियते। अपरे धारणम्=द्विर्वचनम्; मन्यन्ते। "ज्योतिष्कृत्"[१]; "द्यावा"; "द्वादश"॥

उ० भा० अ०—(आदिस्थानाम्=) पद के आदि में स्थित, घोषवतां पुरस्तात्='सघोष' (व्यञ्जनो) के पहले, अनुनादः=एक (अतिरिक्त) ध्वनि (fore-sound); क्रियते=की जाती है। (वा=) अथवा, उन 'सघोष' (व्यञ्जनो) का; धारणम्=अनुच्चारण (अनुपलब्धि) (होता है)। जैसे—"ह्वयामि" के पहले अधिक शब्द किया जाता है अथवा उस दोष के परिहार के लिए हकार की अनुपलब्धि की जाती है, (अर्थात् हकार का उच्चारण नही किया जाता है)। दूसरे, धारण=द्विर्वचन; मानते है, (अर्थात् इन आचार्यों के अनुसार पद के आदि में स्थित 'सघोष' 'व्यञ्जन' का द्विरुच्चारण (द्वित्व) हो जाता है)। (उदाहरण) "ज्योतिष्कृत्", "द्यावा", "द्वादश"।

सोष्मोष्मणामनुनादोऽप्यनादः ॥१९॥

सू० अ०—(पद के आदि में स्थित) 'सोष्म' (-वर्णों) और 'ऊष्म' (-वर्णों) के (पहले अतिरिक्त) अनुनाद (fore-sound) (उच्चारित किया जाता है) अथवा (उन व्यञ्जनों का) अनुच्चारण होता है।

टि० (क) जब प्रयत्न की शिथिलता से किसी 'व्यञ्जन' का उच्चारण किया जाता है तो उस 'व्यञ्जन' का आंशिक उच्चारण ही होता है। जब किसी 'व्यञ्जन' का उच्चारण अधिक प्रयत्न से किया जाता है तो उस 'व्यञ्जन' पर अधिक दबाव पड जाता है।

१. ऋ० १।५०।४

उ० भा०—सोष्मणामूष्मणाम् अपि पुरस्तात्पदादिस्थानाम्; अनादः=अशब्दः; अनुनादः च क्रियते। यथा—"अभिख्या"। "छायामिव।"[1] "श्चोतन्ति"। "स्तौति"॥

उ० भा० अ०—पद के आदि में स्थित; सोष्मणामूष्मणाम्='सोष्म' (-वर्णों) और 'ऊष्म' (-वर्णों) के; पहले; (अनादः=) (विद्यमान) ध्वनि का अनुच्चारण, अनुनादः= अथवा एक (अतिरिक्त) (fore-sound) का उच्चारण, किया जाता है। जैसे— "अभिख्या"। "छायामिव"। "श्चोतन्ति"। "स्तौति"।

लोमश्यं च क्ष्वेळनमूष्मणां तु ॥२०॥

सू० अ०—('अघोष') 'ऊष्म' (व्यञ्जनों) के तो 'लोमश्य' और 'क्ष्वेडन' (दोष होते हैं)।

उ० भा०—ऊष्मणां त्वघोषाणां लोमश्यं च क्ष्वेडनं च दोषौ भवतः। लोमश्य नामासौकुमार्यम्। क्ष्वेडन नामाधिको वर्णस्य सरूपो ध्वनिः॥

उ० भा० अ०—'अघोष'; (ऊष्मणाम्=) 'ऊष्म' (—वर्णों) के, लोमश्य और क्ष्वेडन - ये दो दोष होते हैं। लोमश्य का अर्थ है असुकुमारता (roughness)। क्ष्वेडन का अर्थ है (प्रकृत) वर्ण के समान एक अधिकार शीत्कार ध्वनि (hissing sound) (का उच्चारण करना)।

(वर्गीयवर्णानां दोषाः)

वर्गेषु जिह्वाप्रथनं चतुर्षु ॥२१॥

(वर्गीय वर्णों के दोष)

सू० अ०—(प्रथम) चार वर्गों (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग) में जिह्वा का विस्तार (कर दिया जाता है)।

उ० भा०—आद्येषु चतुर्षु वर्गेषु जिह्वाप्रथनं क्रियते। स दोषः। जिह्वायाः प्रथन नाम विस्तारः॥

उ० भा० अ० -प्रथम, चतुर्षु वर्गेषु=चार वर्गों (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग) में, जिह्वाप्रथनम्=जिह्वा का विस्तार, कर दिया जाता है। वह दोष है। जिह्वा के प्रथन का अर्थ है (जिह्वा का) विस्तार।

ग्रासो मुख्ये ॥२२॥

सू० अ०—प्रथम (मुख्य) ('वर्ग') में 'ग्रास' (नामक दोष होता है)।

उ० भा०—एतेषां वर्गाणाम्, मुख्ये=आद्ये; वर्गे ग्रासो नाम दोषो भवति। ग्रासो व्याख्यातः॥

उ० भा० अ०--इन वर्गों के, मुख्ये=प्रथम, 'वर्ग' में ग्रास नामक दोप होता है। ग्रास की व्याख्या (१४।८-में) की जा चुकी है।

---

[1] ऋ० ६।१६।३८

प्रतिहारश्चतुर्थे ॥२३॥

सू० अ०—चतुर्थ ('वर्ग') में 'प्रतिहार' (नामक दोष होता है)।

उ० भा०—एतेषामेव चतुर्थे वर्गे प्रतिहारो नाम दोषो भवति । अतिप्रयत्न प्रतिहारः ॥

उ० भा० अ०—इन (वर्गों) के ही, चतुर्थे=चतुर्थ, 'वर्ग' में प्रतिहार नामक दोष होता है। प्रतिहार का अर्थ है अति प्रयत्न (अर्थात् जिह्वा का दाँतो के साथ आवश्यकता से अधिक स्पर्श)।

सरेफयोर्मध्यमयोर्निरासः ॥२४॥

सू० अ० रेफसहित दो मध्यम (वर्गों) में 'निरास' (नामक दोष होता है)।

उ० भा०—सह रेफेण वर्तते इति सरेफौ। (सरेफयोर्मध्यमयोः=) एतेषामेव चतुर्णां वर्णाणां यौ मध्यमौ वर्गौ तयोश्च रेफस्य च निरासो नाम दोषो भवति। स व्याख्यातः ॥

उ० भा० अ०—सरेफ=रेफ के साथ विद्यमान, (सरेफयोर्मध्यमयोः=)(१४।२१ में निर्दिष्ट) इन्हीं (आद्य) चार वर्गों में जो मुख्य दो 'वर्ग' हैं उन दोनो में और रेफ में निरास नामक दोष होता है। उसकी (='निरास' की) व्याख्या (१४।२ में) की जा चुकी है।

विक्लेश स्थाने सकले चतुर्थे ॥२५॥

सू० अ०—चतुर्थ 'वर्ग' (तवर्ग) के विषय में अवयवसहित (उच्चारण-) 'स्थान' में 'विक्लेश' (नामक दोष होता है)।

उ० भा०—चतुर्थे वर्गे स्थाने सकले। सह कलाभिः=सकलम् । कलाः= अवयवाः। के ते ? करणादयः। तेषु करणादिषु स्थाने च विक्लेशो नाम दोषो भवति। विक्लेशोऽवैशद्यमित्येकोऽर्थः ॥

उ० भा० अ०—चतुर्थे=चतुर्थ 'वर्ग' (=तवर्ग) के विषय में, स्थाने सकले= सकल (उच्चारण-) 'स्थान' में। सकलम्=कलाओं के सहित। कला=अवयव। वे (कलायें) कौन हैं ? (उत्तर) 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ('करण') आदि। उन 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ('करण') आदि में और (उच्चारण-) 'स्थान' में विक्लेश नामक दोष होता है। विक्लेश का अर्थ है अस्पष्टता।

(रेफलकारयोर्दोषाः)

अतिस्पर्शो बर्बरता च रेफे ॥२६॥

(रेफ और लकार के दोष)

सू० अ०—रेफ (के उच्चारण) में अति स्पर्श और बर्बरता (हो जाती है)।

उ० भा०—दुःस्पृष्टः स रेफः; (अतिस्पर्शः=) अतिस्पृश्यते। बर्बरता च उच्यते। तौ दोषौ रेफस्य वर्जयेत्। बर्बरताप्यसौकुमार्यमेव ॥

उ० भा० अ०—'ईषत्स्पृष्ट' ('दुःस्पृष्ट') रेफ का, अतिस्पर्शः=अति स्पर्श किया जाता है। बर्बरता च=और बर्बरता (तुतलाना, हकलाना) से उच्चारण होता है। रेफ के इन दोनो दोषो का परित्याग करना चाहिए। बर्बरता भी असुकुमारता (roughness) ही है।

जिह्वान्ताभ्यां च वचनं लकारे ॥२७॥

सू० अ०—लकार में जिह्वा के दोनों अन्तों (ends) से उच्चारण होता है।

उ० भा०—जिह्वाग्रेण वक्तव्यः स लकारो यदा, (जिह्वान्ताभ्याम्=) जिह्वाया अन्ताभ्याम्; (वचनम्=) उच्यते; तदा स दोषो भवति। पूर्वोक्तौ चातिस्पर्शबर्बरौ। एते त्रयो दोषा लकारस्य भवन्ति। तान्वर्जयेन्मेधावी ॥

उ० भा० अ०—जिह्वा के अग्र (भाग) से उच्चारित होने वाला लकार जब; (जिह्वान्ताभ्याम्=) जिह्वा के दोनो अन्तिम भागो से; (वचनम्=) उच्चारित होता है, तब वह दोष होता है। पूर्व (=१४।२६) मे उक्त 'अति स्पर्श' और 'बर्बरता' (भी लकार के दोष होते हैं)। ये तीन दोष लकार के होते है। मेधावी को इनका परित्याग करना चाहिए।

(हकारस्य तदन्योष्मणां च दोषाः)

श्वासोऽघोषनिभता वा हकारे ॥२८॥

(हकार तथा उससे अन्य ऊष्म-वर्णो के दोष)

सू० अ०—(अधिक) श्वास अथवा 'अघोष' (वर्ण) की सदृशता हकार में (होती है)।

उ० भा०—श्वासो वाधिकः; अघोषनिभता=अघोषसदृशत्वम्; वा; (हकारे=) हकारस्य दोषौ; लक्षयेत् ॥

उ० भा० अ०—अधिक श्वास; अथवा, अघोषनिभता='अघोष' (वर्ण) की सदृशता, (हकारे=) हकार के दोष है, (इन दोषो को) दृष्टि में रखना चाहिए।

निरासोऽन्येषूष्मसु पीळनं वा ॥२९॥

सू० अ०—अन्य 'ऊष्म' (-वर्णों) में 'निरास' अथवा 'पीडन' (दोष होता है)।

उ० भा०—(अन्येषूष्मसु=) येऽन्ये हकारादूष्माणस्तेषु शकारादिषु; निरासः पीडनं वा इति द्वौ दोषौ भवतः। तौ व्याख्यातौ ॥

उ० भा० अ० (अन्येषूष्मसु=) हकार से अन्य जो 'ऊष्म' (-वर्ण) है उन शकार आदि में; निरास, (वा=) अथवा, पीडन—ये दो दोष होते है। उन दोनो की व्याख्या (क्रमश १४।२ और १४।३ में) की जा चुकी है।

(विसर्जनीयस्य दोषाः)

स्वरात्परं पूर्वसस्थानमाहु-
र्दीर्घान्निरस्तं तु विसर्जनीयम् ॥३०॥

(विसर्जनीय के दोष)

सू० अ०—'दीर्घ' 'स्वर' से बाद में स्थित विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती 'स्वर' के समान (उच्चारण-) 'स्थान' से करते हैं (और इस प्रकार) 'निरस्त' (-संज्ञक दोष होता है)।

उ० भा०– दीर्घात्स्वरात्परं विसर्जनीयम्; (पूर्वसस्थानम् =) पूर्वस्य सस्थानम्; निरस्तमाहुः। उक्तः स दोषः। रथीः। वधूः। अग्ने:। वायोः। किमुच्यते दीर्घादिति? ननु ह्रस्वादपि विसर्जनीयः पूर्वसस्थान एव श्रूयते। अग्निः। वायुः इति। यद्यपि श्रवणं तुल्यं तथाप्यत्राचार्येण दीर्घग्रहणं कृतम्। तस्माद्दीर्घादेव पूर्वसस्थानत्वं भवति न ह्रस्वादपि भवतीति मन्तव्यम्।

उ० भा० अ०–दीर्घात्स्वरात्परं विसर्जनीयम्='दीर्घ' 'स्वर' से बाद में स्थित विसर्जनीय का (को), (पूर्वसस्थानम् =) पूर्ववर्ती 'स्वर' के समान (उच्चारण-) 'स्थान' से; आहुः=उच्चारण करते हैं, (और इस प्रकार) निरस्तम्='निरस्त' (-संज्ञक दोष) को (उत्पन्न कर देते हैं)। वह ('निरस्त'-संज्ञक) दोष (१४।२ में) कहा जा चुका है। (उदाहरण) रथी। वधू। अग्ने। वायो। " 'दीर्घ' ('स्वर') से बाद में"—यह क्यों कह रहे हो? क्योंकि 'ह्रस्व' ('स्वर') से बाद में स्थित विसर्जनीय (भी) पूर्ववर्ती ('ह्रस्व' 'स्वर') के समान (उच्चारण-) 'स्थान' से ही सुनाई पड़ता है। (उदाहरण) अग्नि। वायु। (सि०) यद्यपि (ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय और दीर्घपूर्व विसर्जनीय का) श्रवण तुल्य है तथापि आचार्य ने (सूत्र में) दीर्घ' का ग्रहण किया है। इसलिए 'दीर्घ' ('स्वर') से ही (बाद में स्थित विसर्जनीय) पूर्ववर्ती ('स्वर') के समान (उच्चारण-) 'स्थान' वाला होता है, ह्रस्व ('स्वर') से बाद में स्थित (विसर्जनीय) नहीं —यह मान लेना चाहिए।

अपरे पुनरन्यथा वर्णयन्ति। अन्यस्थाने दीर्घात्स्वरात्परो विसर्जनीयो देवैरपि न शक्य उच्चारयितुमिति विधिं वर्णयन्ति। दीर्घात्स्वरात् परं पूर्वसस्थानमाहुः आचार्याः—इच्छन्ति-इत्यर्थः। तस्मिन्नपि पक्षे दीर्घग्रहणमनर्थकम्। ह्रस्वादपि ते तथैवेच्छन्ति। एवं तर्हि परस्य योगस्यार्थे दीर्घग्रहणं वृत्तवशेनेह पठितं द्रष्टव्यम्। स्वरात्परं पूर्वसस्थानमाहुर्निरस्तं विसर्जनीयमित्यस्मिन्योगे सत्युभयोरपि पक्षयोः अग्निः वायुः रथीः वधूः इति सर्वं सिद्धं भवति।

दूसरे (व्याख्याकार) अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं—'दीर्घ' 'स्वर' से बाद में स्थित विसर्जनीय का (को) (पूर्ववर्ती 'स्वर' के उच्चारणस्थान से) अन्य स्थान में देवता भी उच्चारण नहीं कर सकते हैं—इसलिए (इस सूत्र में दोष नहीं अपितु उच्चारण का) विधान बतलाते हैं। दीर्घात्स्वरात्—'दीर्घ' 'स्वर' से बाद में स्थित (विसर्जनीय) का (को), पूर्वसस्थानमाहुः—पूर्ववर्ती ('दीर्घ' 'स्वर' के) समान (उच्चारण) 'स्थान' से

उच्चारण करते हैं आचार्य लोग—(पूर्ववर्ती 'दीर्घ' 'स्वर' के समान 'स्थान' से उच्चारण को) अभीष्ट मानते हैं—यह अर्थ है। (पू०) उस पक्ष में भी (सूत्र में) 'दीर्घ' (पद) का ग्रहण अनर्थक है। 'ह्रस्व' ('स्वर') से भी (वाद में स्थित विसर्जनीय को) उसी प्रकार (पूर्ववर्ती 'स्वर' के समान 'स्थान' वाला) अभीष्ट मानते हैं। (सि०) तब यह समझना चाहिए कि 'दीर्घ' (पद) का परवर्ती सूत्र के लिए ग्रहण किया गया है किंतु छन्द की सुविधा के लिए इस 'दीर्घ' पद का इस सूत्र में पाठ कर दिया गया है। " 'स्वर' से वाद में स्थित विसर्जनीय का (को) पूर्ववर्ती ('स्वर') के समान (उच्चारण) 'स्थान' से उच्चारण करते हैं जो 'निरस्त' है"—यह सूत्र होने पर दोनों ही पक्षों में 'अग्निः', 'वायुः', 'रथीः', 'वधूः'—यह सब सिद्ध हो जाता है।

किं पुनरत्र युक्तम् ? उभयम्। कथम् ? शास्त्रान्तरे विधिर्दृश्यते। "कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ।"[१] "उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम्।"[२] "पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः"[३] इति। तेषां विसर्जनीयः पूर्वसस्थानो भवतीति। तस्मात्तदपि युक्तम्। इह दोषसमुच्चयप्रकरणे वचनाद्दोषः स इति निश्चयः। कथमेतदव्यवसीयते ? आचार्यप्रवृत्तिर् दृश्यते। यथानुनासिकपराद्रूष्मणः परः सस्थानयमागमो भवत्येकेषाम्। यथा—"अस्मे"; 'विष्णुः" इति। तदिहास्माकं प्रतिषिद्धम्। "पर यम रक्तपरादघोषात्।"[४] इति। तस्मादेतदव्यवसीयते ॥

उ० भा० अ०—यहाँ (अर्थात् इन दोनों पक्षों में) कौन ठीक है ? (उत्तर) दोनों ठीक हैं। कैसे ? अन्य शास्त्र में विधि दिखलाई पड़ती है। "हकार और विसर्जनीय

टि० (क) पू०—इस सूत्र में 'दीर्घ' पद का ग्रहण अनर्थक है। क्योंकि विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती 'स्वर' के उच्चारणस्थान के समान उच्चारणस्थान से होता है चाहे उस विसर्जनीय के पूर्व में 'दीर्घ' स्वर हो और चाहे ह्रस्व 'स्वर' हो। सि०—तब तो इस 'दीर्घ' पद का सम्बन्ध इस सूत्र के साथ न होकर परवर्ती सूत्र के साथ है। छन्द की सुविधा के कारण इस 'दीर्घ' पद को परवर्ती सूत्र में न रखकर प्रस्तुत सूत्र में रखा गया है। ऐसा मानने पर सूत्र का अर्थ यह है—

प्रथम पक्ष—१।३९ के अनुसार विसर्जनीय कण्ठ-'स्थान' से उच्चारित होने वाली ध्वनि है। किंतु कुछ लोग विसर्जनीय का उच्चारण इसके पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण के उच्चारणस्थान से कर देते है। इससे १४।२ में निर्दिष्ट 'निरस्त'-संज्ञक दोष होता है।

द्वितीय पक्ष—यह दोष नहीं है। विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती 'स्वर' के उच्चारणस्थान से होता है। देवता भी विसर्जनीय का ऐसा उच्चारण नहीं कर सकते जिस उच्चारण में पूर्ववर्ती 'स्वर' का प्रभाव न हो। अतः इस सूत्र में यह विधान किया गया है कि विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती 'स्वर' के 'स्थान' से करना चाहिए।

---

[१] तै० प्रा० २।४६ [२] तै० प्रा० २।४७ [३] तै० प्रा० २।४८
[४] १४।३४

कण्ठ 'स्थान' वाले है ।" "कतिपय (आचार्यों) के मत से हकार परवर्ती 'स्वर' के आदि (प्रथम अंश) के समान 'स्थान' वाला है ।" "विसर्जनीय पूर्ववर्ती ('स्वर' के) अन्त (अंतिम अंश) के समान स्थान' वाला है ।" इन (आचार्यों के मत से) विसर्जनीय पूर्ववर्ती ('स्वर') के समान 'स्थान' वाला होता है । इसलिए वह (द्वितीय पक्ष) भी ठीक है। यहाँ पर दोषों के समुच्चय के प्रकरण में कथन होने से वह दोष है—यह निश्चय है । वह कैसे निश्चय किया गया है ? आचार्यों की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। जैसे कतिपय (आचार्यों के मत से) 'अनुनासिक' से पूर्व में स्थित 'ऊष्म'(-वर्ण) से बाद में समान 'स्थान' वाले 'यम' का आगम होता है, जैसे "अस्मे" और "विष्णु" में । हम इस ('यम') का यहाँ प्रतिषेध कर रहे है—" 'अनुनासिक' है बाद में जिसके ऐसे 'अघोष' ('ऊष्म'-वर्ण) से बाद में 'यम' (का उच्चारण करते है) (जो दोष है) ।" इसलिए यह निश्चय किया जाता है ।

कण्ठ्याद्यथा रेफवतस्तथाहुः ॥३१॥

सू० अ०—('दीर्घ') 'कण्ठ्य' ('स्वर'=आ) से बाद में स्थित (विसर्जनीय) का (को) वैसे (=जिह्वा के मूल से) उच्चारण करते हैं जैसे ऋकार से बाद में स्थित (विसर्जनीय का होता है) ।

उ० भा०—दीर्घात् कण्ठ्यात् परं विसर्जनीयं यथा; रेफवतः=ऋकारात्; परं जिह्वामूलीयं तथा निरस्तम् आहुः । स दोषः । "देवा."; "सोमाः" । दीर्घात् इति कस्मात् ? "देवः", 'सोमः" । ह्रस्वात्कण्ठ्यात्परो विसर्जनीयो ह्रस्वसस्थान एव भवति ॥

उ० भा० अ०—'दीर्घ', कण्ठ्यात्='कण्ठ्य' ('स्वर'=आ) से, बाद में स्थित विसर्जनीय को 'निरस्त'-संज्ञक दोष से युक्त करके, तथा=वैसे=जिह्वा के मूल से, आहुः=उच्चारण करते है, यथा=जैसे, रेफवतः=रेफ वाले=ऋकार ने, बाद में स्थित (विसर्जनीय को) जिह्वा के मूल से उच्चारण करते है। वह दोष है । (उदाहरण) "देवा"; "सोमा" । 'दीर्घ' ('स्वर') से (बाद वाले विसर्जनीय को)" यह (सूत्र में) क्यो (कहा) ? (उत्तर) " 'ह्रस्व' 'कण्ठ्य' ('स्वर'=अ) से परवर्ती विसर्जनीय (पूर्ववर्ती) 'ह्रस्व' ('स्वर') के समान 'स्थान' वाला ही होता है ।

रक्तात्तु नासिक्यमपीतरस्मात् ॥३२॥

सू० अ०—'अनुनासिक' ('दीर्घ' 'कण्ठ्य' 'स्वर'=आ) से (बाद में स्थित तथा अन्य (='अनुनासिक' ऋ) से भी (बाद में स्थित विसर्जनीय का) नासिका से (उच्चारण करते हैं) ।

उ० भा०—रक्तात् कण्ठ्याद्दीर्घात्परं विसर्जनीयम् । इतरस्मादपि परम् । कतरस्मात् ? ऋकारात् । नासिक्यमाहुः । स दोषः । "स्वतवाँ. पायु." [1] "नॄँ. पतिभ्य. ॥" [2]

उ० भा० अ० - रक्तात्='अनुनासिक', 'दीर्घ' 'कण्ठ्य' ('स्वर'=आ) से परवर्ती (विसर्जनीय) को । इतरस्मादपि=अन्य से भी, परवर्ती (विसर्जनीय) को, किससे

---

[1] ऋ० ४।२।६ [2] ग्रं० पृ० १४२

(परवर्ती) ? (उत्तर) ऋकार से। नासिक्यम्=नासिका से उच्चारण करते है।[क] वह दोष है। (उदाहरण) "स्वतवाँ पायु ।" 'नृँ पतिभ्य ।"

संयोगादेरूष्मणः पूर्वमाहु-
विंसर्जनीयमधिकं स्वरोपधात् ॥२३॥

सू० अ०—'स्वर' पूर्व में है जिसके तथा जो 'संयोग' के आदि में स्थित है ऐसे 'ऊष्म' (वर्ण) के पहले एक अतिरिक्त (अधिक) विसर्जनीय का (को) उच्चारण करते हैं।

उ० भा०—स्वरोपधात्संयोगादेरूष्मणः पूर्वमधिकं विसर्जनीयमाहुः। स दोषो वर्ज्यः। "पावक ते स्तोका श्चोतन्ति"।[१] "अभि ष्याम।"[२] संयोगादेः इति किम्? "द्विपदे श चतुष्पदे।"[३] "मो षु णः।"[४] "परि सोमः।" उष्मणः इति किम्?[५] "तव त्यत्।"[६] स्वरोपधात् इति किम्? "अप्स्वग्ने॥"[७]

उ० भा० अ०—स्वरोपधात्संयोगादेरूष्मणः पूर्वम्='स्वर' है पूर्व में जिसके तथा जो 'सयोग' के आदि में स्थित है ऐसे 'ऊष्म' (-वर्ण) के पहले, अधिकं विसर्जनीय-माहुः=अतिरिक्त (अधिक) विसर्जनीय का (को) उच्चारण करते है।[ख] उस दोष का परित्याग करना चाहिए। (उदाहरण) "पावक ते स्तोका श्चोतन्ति।" "अभि ष्याम।"[ग] " 'सयोग' के आदि मे स्थित का" यह (सूत्र मे) क्यो (कहा)? (उत्तर) "द्विपदे श चतुष्पदे।" "मो षु ण।" "परि सोम।"[घ] " 'ऊष्म' (वर्ण) के (पूर्व में)"—यह (सूत्र में) क्यो

टि० (क) अर्थात् 'अनुनासिक' 'आ' तथा 'अनुनासिक' 'ऋ' से बाद में स्थित विसर्जनीय का उच्चारण नासिका से कर दिया जाता है।

(ख) अर्थात् उस 'ऊष्म' (-वर्ण) के पूर्व में अतिरिक्त विसर्जनीय का उच्चारण कर दिया जाता है (१) जो 'सयोग' के आदि में स्थित है और (२) जिसके पूर्व मे 'स्वर'-वर्ण है।

(ग) 'ऊष्म'-वर्णों (शकार और षकार) के पूर्व में अतिरिक्त विसर्जनीय का उच्चारण किया जाता है क्योकि (१) 'ऊष्म'-वर्ण (शकार और षकार) 'सयोग' के आदि में स्थित है और (२) 'ऊष्म'-वर्णो (शकार और षकार) के पूर्व में 'स्वर' (क्रमश आकार और इकार) स्थित है।

(घ) इन तीनो स्थलो पर 'ऊष्म'-वर्णो (शकार, षकार और सकार) के पूर्व में अतिरिक्त विसर्जनीय का उच्चारण नही किया जाता है क्योकि ये 'ऊष्म'-वर्ण (शकार, षकार और सकार) 'सयोग' के आदि में स्थित नही है।

---

[१] ऋ० ३।२१।२ [२] ऋ० १०।१३२।२ [३] ऋ० ७।५४।१
[४] ऋ० १।३८।६ [५] ऋ० ९।५६।१ [६] ऋ० ८।१५।७
[७] ऋ० ८।४३।९

(कहा) ? (उत्तर) "तव त्यत्।'क" 'स्वर' है पूर्व में जिसके उससे (पूर्व में)--यह (सूत्र में) क्यों (कहा) ? (उत्तर) "अप्स्वग्ने।"ख

(यमस्य दोषाः)

परं यमं रक्तपरादघोषात् ॥३४॥

(यम के दोष)

सू० अ०--'अनुनासिक' (रक्त') है बाद में जिसके ऐसे 'अघोष' ('ऊष्म'-वर्ण) से बाद में 'यम' का उच्चारण करते हैं।

उ० भा० ऊष्मणः अघोषाद्रक्तपरात् परं यमम् आहुः। स दोषः। "पृश्निः"। "विष्णुः"। "स्नात्वाः" ॥[१]

उ० भा० अ०--अघोषाद्रक्तपरात्='अनुनासिक' है बाद में जिसके ऐसे 'अघोष' 'ऊष्म' (-वर्ण) से; परम्=बाद में, यमम्='यम'ग का (को), उच्चारण करते हैं। वह दोष है। (उदाहरण) "पृश्नि."। "विष्णु"। "स्नात्वा"।

ऊष्माणं वा घोषिणस्तत्प्रयत्नम् ॥३५॥

सू० अ०--('अनुनासिक' है बाद में जिसके ऐसे) 'सघोष' (ऊष्म'-वर्ण) से बाद में उसी प्रयत्न वाले 'ऊष्म' (-वर्ण) (अथवा यम' का' उच्चारण करते हैं)।

उ० भा०--घोषिण ऊष्मणो रक्तपरात्परम्; (तत्प्रयत्नम्=) तेन घोषिणा तुल्यप्रयत्नम्; ऊष्माणं वा आहुर्यमम्। स दोषः। तं वर्जयेद् बुधः। "ब्रह्म"। "अह्ना" ॥

उ० भा० अ०--'अनुनासिक' है बाद में जिसके ऐसे, घोषिणः='सघोष', 'ऊष्म' (-वर्ण) से बाद में, (तत्प्रयत्नम्=) उस 'सघोष' ('ऊष्म'-वर्ण) के तुल्य प्रयत्न वाले; ऊष्माणम्='ऊष्म' (-वर्ण) का (को), वा=अथवा, 'यम' का (को) उच्चारण करते हैं। वह दोष है। बुद्धिमान् को उस (दोष) का परित्याग करना चाहिए। (उदाहरण) "ब्रह्म"। "अह्ना"।

टि० (क) तकार (१) 'सयोग' के आदि में है तथा (२) तकार के पूर्व में 'स्वर' भी है। तथापि इसके पूर्व में अतिरिक्त विसर्जनीय का उच्चारण नही किया जाता है क्योकि तकार 'ऊष्म'-वर्ण नही अपितु 'स्पर्श'-वर्ण है।

(ख) 'ऊष्म'-वर्ण (सकार) के पूर्व में विसर्जनीय का उच्चारण नही किया जाता है क्योंकि इस 'ऊष्म'-वर्ण (सकार) के पूर्व में 'स्वर' नही है।

(ग) 'यम' के लिए ६।२९ तथा पृ० ५१ पर टि० (क) को देखिए।

---

१ ऋ० १०।७१।७

(विसर्जनीयस्य दोषः) (पूर्वानुवृत्तः)

शुनश्शेपो निष्षपी शास्सि निष्षा-
ळविक्रमा ब्रह्म विष्णुः स्म पृश्निः ॥३६॥

(विसर्जनीय का दोष) (पूर्वानुवृत्त)

सू० अ०— शुनश्शेपः', 'निष्षपी', 'शास्सि', 'निष्षाट्', 'ब्रह्म', 'विष्णुः', 'स्म' 'पृश्निः'—इनमें अपरिवर्तित विसर्जनीय नहीं है (अर्थात् इनमें अपरिवर्तित विसर्जनीय का उच्चारण करना दोष है)।

उ० भा०—शुनश्शेपः, निष्षपी, शास्सि, निष्षाट्, ब्रह्म, विष्णुः स्म, पृश्निः—इत्येते अविक्रमा भवन्ति। एतेषु विक्रमो विसर्जनीयः स दोषो वर्ज्यः। शुनश्शेपः "शुनश्शेपो यमह्वद् गृभीतः।"[1] निष्षपी—"मा नो मघेव निष्षपी परा दाः।"[2] शास्सि—"प्र पाक शास्सि प्र दिशो विदुष्टरः।"[3] निष्षाट्—"प्र वां शरद्वान्वृषभो न निष्षाट्"[4]; "अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाट्।"[5] ब्रह्म—"ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्च।"[6] विष्णुः—"इद विष्णुर्विचक्रमे।"[7] स्म—"कूटं स्म तृहदभिमातिमेति।"[8] पृश्निः—"आय गौः पृश्निरक्रमीत्।"[9]

उ० भा० अ०—शुनश्शेपः, निष्षपी, शास्सि, निष्षाट्, ब्रह्म, विष्णु', स्म, पृश्निः—ये, अविक्रमाः=इनमें अपरिवर्तित विसर्जनीय ('विक्रम') नही है। इनमें अपरिवर्तित विसर्जनीय ('विक्रम') (का उच्चारण करना) दोष है। उस दोष का परित्याग करना चाहिए। (उदाहरण) शुनश्शेपः –'शुनश्शेपो यमह्वद् गृभीत।" निष्षपी—'मा नो मघेव निष्षपी परा दा।" शास्सि –"प्र पाक शास्सि प्र दिशो विदुष्टर.।" निष्षाट्—प्र वा शरद्वान्वृषभो न निष्षाट्" 'अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाट्।"

ब्रह्म—"ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्च।" विष्णुः—"इद विष्णुर्विचक्रमे।" स्म—"कूट स्म तृहदभिमातिमेति।" पृश्निः—"आय गौ. पृश्निरक्रमीत्।"

(अनुनासिकस्थाने अनुस्वारोच्चारणम्)

स्पर्शोष्मसंधीन्स्पर्शरेफसंधी-
नभिप्रायाँश्च परिपादयन्ति ॥३७॥

(अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का उच्चारण)

सू० अ०—'स्पर्शोष्म' संधियो को, 'स्पर्शरेफ' संधियों को और विवृत्त्यभिप्रायों को सानुस्वार कर देते हैं।

---

[1] ऋ० १।२४।१२ [2] ऋ० १।१०४।५ [3] ऋ० १।३१।१४
[4] ऋ० १।१८१।६ [5] ऋ० १०।४८।७ [6] ऋ० १०।४।७
[7] ऋ० १।२२।१७ [8] ऋ० १०।१०२।४ [9] ऋ० १०।१८९।१

उ० भा०—"चरति चक्रे"[1] इत्येवमादीन्स्पर्शोष्मसंधीन्—"ईकारोकारोपहितः"[2] इति च स्पर्शरेफसंधीन्—"विवृत्त्यभिप्रायेषु च"[3] इति अभिप्रायांश्च; परिपादयन्ति=एतेष्वनुस्वारं कुर्वन्ति—इत्यर्थः। स दोषः। "तांस्ते अश्याम।"[4] 'रश्मीँरिव।"[5] "पीवोअन्नाँ रयिवृधः॥"[6]

उ० भा० अ०—"चरति चक्रे" इत्यादि, स्पर्शोष्मसंधीन्='स्पर्शोष्म' (-सञ्ज्ञक) संधियों[क] को, "ईकार और ऊकार से बाद में स्थित (नकार)" इत्यादि, स्पर्शरेफसंधीन्='स्पर्शरेफ' (सञ्ज्ञक) संधियों[ख] को, "विवृत्त्यभिप्रायों में", अभिप्रायांश्च–इन 'अभिप्राय' (-सञ्ज्ञक) (विवृत्तियों)[ग] को, परिपादयन्ति=इनमें ('अनुनासिक' के स्थान पर) 'अनुस्वार' (का उच्चारण) कर देते हैं। वह दोष है। (उदाहरण) "तांस्ते अश्याम।" "रश्मीँरिव।" "पीवोअन्नाँ रयिवृधः।"

(ऋकारॠकारयोर्दोषः)

स्वरौ कुर्वन्त्योष्ठ्यनिभौ सरेफौ
तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्यन्नृभिर्नॄन् ॥३८॥

(ऋकार और ॠकार का दोष)

सू० अ०—"तिस्रो मातॄः", "त्रीन् पितॄन्" और "यन्नृभिर्नॄन्" (जैसे स्थलों में) रेफसहित स्वरों (=ऋ और ॠ) का (को) (उच्चारण) (रेफसहित) 'ओष्ठ्य' ('स्वर') (='उ' वर्ण) के समान करते हैं।

उ० भा०—सरेफौ (स्वरौ)=ऋ ॠ इत्येतौ, ओष्ठ्यनिभौ=उवर्णसदृशौ; कुर्वन्ति। स दोषः। "तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्।"[7] "कर्हि स्वित्तदिन्द्र यन्नृभिर्नॄन्॥"[8]

उ० भा० अ०—सरेफौ (स्वरौ)=रेफसहित स्वरों का (को)=ऋ और ॠ इन-दो का (को); (उच्चारण), ओष्ठ्यनिभौ=(रेफसहित) 'ओष्ठ्य' ('स्वर') के सदृश=(रेफसहित) 'उ' वर्ण के सदृश, कुर्वन्ति=करते हैं।[घ] यह दोष है। "तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्।" "कर्हि स्वित्तदिन्द्र यन्नृभिर्नॄन्।"

टि० (क) 'स्पर्शोष्म'-सञ्ज्ञक संधियों के लिए ४।७४-७७ को देखिए।
(ख) 'स्पर्शरेफ'-सञ्ज्ञक संधियों के लिए ४।६९-७२ को देखिए।
(ग) विवृत्त्यभिप्रायों के लिए ४।६८ को देखिए।
(घ) अर्थात् 'मातॄः', 'पितॄन्' 'नृभिर्नॄन्' का उच्चारण क्रमश 'मात्रूः', 'पित्रून्' और "नृभिर्न्रून्' कर दिया जाता है।

[1] ४।७४ [2] ४।६९ [3] ४।६८
[4] ऋ० ९।९१।५ [5] ऋ० ८।३५।२१ [6] ऋ० ७।९१।३
[7] ऋ० १।१६४।१० [8] ऋ० ६।३५।२

(अघोषाणां दन्त्यानां दोषः)

दन्त्यान्सकारोपनिभानघोषान्
रथ्यः पृथ्वी पृथिवी त्वा पृथीति ॥३६॥

(अघोष दन्त्य वर्णों के दोष)

सू० अ०—'रथ्यः', 'पृथ्वी', 'पृथिवी', 'त्वा', 'पृथी' इत्यादि में 'अघोष' 'दन्त्य' (वर्णों) का (को) सकार के सदृश (उच्चारण करते है)।

उ० भा०—दन्त्यानघोषान्; सकारोपनिभान्=सकारसदृशान्; कुर्वन्ति । स दोषः । रथ्यः, पृथ्वी, पृथिवी, त्वा, पृथी इत्येवमादिषु । रथ्यः—"असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ ।"[1] पृथ्वी—"उर्वी पृथ्वी बहुले दूरेअन्ते ।"[2]

इद विचार्यते—"पृथिवी त्वा" इति त्वाग्रहणं विशेषणार्थं पृथग्ग्रहण वेति। कुतः सन्देहः ? प्रायेण थकारे सकारोपनिभो दोषः संलक्ष्यते न तकार इति विशेषणार्थमेके मन्यन्ते । अपरे यदि थकारस्यैव स दोष स्यात्कथ थकार सकारोपनिभमिति लघीयसा सिद्धे दन्त्यग्रहण-मघोषग्रहणं च करोति । तेन पृथग्ग्रहणं मन्यन्ते ।

पृथिवी—"अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।"[3] त्वा "यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुः ।"[4] पृथी—"पृथी यद्वां वैन्य. सादनेषु ॥"[5]

उ० भा० अ०—रथ्यः, पृथ्वी, पृथिवी, त्वा, पृथी – इत्यादि म, दन्त्यानघोषान्= 'अघोष' 'दन्त्य' (वर्णों=त, थ) का (को), सकारोपनिभान्=सकार के सदृश, (उच्चारण) करते है। वह दोष है। रथ्यः—"असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ ।" पृथ्वी—"उर्वी पृथ्वी बहुले दूरेअन्ते ।"

यह विचार किया जाता है कि "पृथिवी त्वा" में 'त्वा' का (सूत्र में) ग्रहण ('पृथिवी' के) विशेषण के लिए (किया गया है) अथवा पृथक् ग्रहण (किया गया है) ? यह सदेह कैसे ? प्राय थकार में सकार के समान (उच्चारित होने का दोष) दिखलाई पड़ता है, तकार में नही—इसलिये कतिपय (आचार्य) ('त्वा' का ग्रहण) ('पृथिवी' के) विशेषण के लिए मानते है। दूसरे (आचार्यों का कहना है कि) यदि (केवल) थकार के (उच्चारण में) ही वह दोष होता तो "थकार सकारोपनिभम्" (थकार को सकार के सदृश) - इस लघुतर (सूत्र) से सिद्ध होने पर (सूत्रकार) 'दन्त्य' का ग्रहण और 'अघोष' का ग्रहण क्यों करते।[क] इसलिए ('त्वा' का) पृथक् ग्रहण मानते हैं।

पृथिवी—"अदिति सिन्धु पृथिवी उत द्यौ ।" त्वा—"यत्त्वा सूर्य स्वर्भानु ।" पृथी—"पृथी यद्वा वैन्यः सादनेषु ।"

टि० (क) सूत्र में थकार का ग्रहण न करके 'अघोष' और 'दन्त्य' का ग्रहण किया गया है। इसका अभिप्राय है तकार और थकार दोनो को लेना।

[1] ऋ० ९।९१।१ [2] ऋ० ११८५।७ [3] ऋ० १।९४।१६
[4] ऋ० ५।४०।५ [5] ऋ० ८।९।१०

(ह्रस्वस्वरस्य लोपः, अविद्यमानस्य वा ह्रस्वस्योच्चारणम्)

ऊष्मान्तस्थाप्रत्ययं रेफपूर्वं
ह्रस्वं लुम्पन्त्याहुरथाप्यसन्तम् ।
पुरुषन्तिं पुरुवारार्यमाष्ट्र्यां
हरियोजनाय हरियूपीयायाम् ॥४०॥

(ह्रस्वस्वर का लोप अथवा अविद्यमान ह्रस्व स्वर का उच्चारण)

सू० अ०—'ऊष्म' (-वर्ण) बाद में हो और रेफ पूर्व में हो तो 'ह्रस्व' ('स्वर') का (को) लोप कर देते हैं अथवा अविद्यमान भी ('ह्रस्व' 'स्वर') का (को) उच्चारण करते हैं—(इन स्थलों में)—'पुरुषन्तिम्', 'पुरुवार', 'अर्यमा', 'आष्ट्र्याम्', 'हरियोजनाय', 'हरियूपीयायाम्' ।

उ० भा०—(ऊष्मान्तस्थाप्रत्ययम्=) ऊष्मप्रत्ययमन्तःस्थाप्रत्ययं च; रेफपूर्वं ह्रस्वम्; लुम्पन्ति=नाशयन्ति । (अथ=) अथवा, असन्तम्=अविद्यमानम्; ह्रस्वं रेफात्परम्, आहुः=उत्पादयन्ति । तौ दोषौ वर्जयेत् । पुरुषन्तिम्, पुरुवार, अर्यमा, आष्ट्र्याम्, हरियोजनाय, हरियूपीयायाम् एतेषु । पुरुषन्तिम्—"याभिर्ध्वसन्तिं पुरुषन्तिमावतम् ।"[1] पुरुवार—"महो रायः पुरुवार प्र यन्धि"[2]; "पुरुवीराभिर्वृषभ क्षितीनाम् ।"[3] अर्यमा—"अर्यमा यातयज्जनः ।"[4] आष्ट्र्याम्—"आष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने ।"[5] हरियोजनाय—"अतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय ।"[6] हरियूपीयायाम्—"वृचीवतो यद्धरियूपीयायाम् ।"[7] अर्यमा आष्ट्र्याम् इत्येतयोरसन्तमाहुरन्येषु लुम्पन्ति ॥

उ० भा० अ०—(ऊष्मान्तस्थाप्रत्ययम्=) 'ऊष्म' (-वर्ण) है बाद में जिसके अथवा 'अन्तःस्था' (-वर्ण) है बाद में जिसके, तथा, रेफपूर्वम्=रेफ है पूर्व में जिसके ऐसे, ह्रस्वम्='ह्रस्व' (स्वर'-वर्ण) को; लुम्पन्ति=लुप्त कर देते हैं=विनष्ट कर देते हैं ।[क] (अथ=) अथवा, रेफ से बाद में, असन्तम्=अविद्यमान, 'ह्रस्व' ('स्वर') को; आहुः=उत्पन्न कर देते हैं ।[ख] इन दोनों दोषों का परित्याग करना चाहिए । । 'अर्यमा' और 'आष्ट्र्याम्'—इन दो (पदों) में अविद्यमान ('ह्रस्व' 'स्वर'=अ) का उच्चारण करते हैं[ग], अन्य (पदों) में ('ह्रस्व' 'स्वर') का लोप कर देते हैं ।[घ]

टि० (क) 'ह्रस्व' 'स्वर' का लोप कर देते हैं यदि (१) बाद में 'ऊष्म'-वर्ण अथवा 'अन्तःस्था'-वर्ण हो और (२) पूर्व में रेफ हो ।

(ख) (१) रेफ तथा 'ऊष्म'-वर्ण का 'संयोग' हो अथवा रेफ तथा 'अन्तःस्था'-वर्ण का 'संयोग' हो तो 'संयोग' के मध्य में अतिरिक्त 'ह्रस्व' 'स्वर' का उच्चारण कर देते हैं ।

(ग) 'अर्यमा' और 'आष्ट्र्याम्' का उच्चारण 'अरयमा' और 'आष्ट्रयाम्' करते हैं ।

(घ) 'पुरुषन्तिम्' इत्यादि का उच्चारण 'पुर्षन्तिम्' इत्यादि करते हैं ।

[1] ऋ० १।११२।२३ [2] ऋ० ४।२।२० [3] ऋ० ६।३२।४
[4] ऋ० १।१३६।३ [5] ऋ० १०।१६५।३ [6] ऋ० १।६२।१३
[7] ऋ० ६।२७।५

(ऐकारस्य दोषाः)

ऐयेरित्यैकारमकारमाहुर्

वैयश्वेति क्रमयन्तो यकारम् ॥४१॥

(ऐकार के दोष)

सू० अ०—'ऐयेः' और 'वैयश्व' (जैसे पदों) में यकार का द्वित्व करते हुए ऐकार का(को) अकार उच्चारण करते हैं।

उ० भा०—ऐयेरिति अत्र वैयश्वेति च; (ऐकारमकारमाहु =) ऐकारस्य स्थानेऽकारमाहु; पर यकारं क्रमयन्तः। तौ दोषौ। ऐयेः—"हृणीयमानो अप हि मदैये।"[1] वैयश्व—"वैयश्वस्य श्रुतं नरा॥"[2]

उ० भा० अ०—ऐयेरिति='ऐये' में, और; वैयश्वेति='वैयश्व' में, परवर्ती, यकार क्रमयन्तः=यकार का (को) द्विरुच्चारण (द्वित्व) करते हुए, ऐकारमकारमाहुः=ऐकार का (को) अकार उच्चारण करते हैं।[क] वे दोनो (यकार का द्वित्व और ऐकार के स्थान पर अकार का उच्चारण) दोष हैं। ऐयेः—'हृणीयमानो अप हि मदैये।" वैयश्व—"वैयश्वस्य श्रुत नरा।"

तदेवान्येषु विपरीतमाहुस्

त रय्या वय्यं च हृदय्ययेति च ॥४२॥

सू० अ०—'(ते) रय्या', 'वय्यम्' और 'हृदय्यया' (जैसे) अन्य (पदों) में उन्हीं (=१४।४१ से निर्दिष्ट दोषों) के विपरीत उच्चारण करते हैं।

उ० भा०—(तदेव =) तद्दोषद्वयम्, अन्येषु पदेषु विपरीतमाहुः। कथम्? अकारस्थाने ऐकारमाहु पर यकारमक्रामयन्त। तौ दोषौ। ते रय्या, वय्यम् हृदय्या इत्येवमादिषु। ते रय्या—"ते रय्या स सृजन्तु न.।"[3] वय्यम्—"परिप्रयन्त वय्य सुषंसदम्।"[4] हृदय्यया—"श्रद्धा हृदय्ययाकूत्या॥"[5]

उ० भा० अ०—(तदेव=) उन दोनो दोषो का (को), अन्येषु=अन्य पदो में, (विपरीतमाहुः=) विपरीत उच्चारण करते है। कैसे? (उत्तर) परवर्ती यकार का द्वित्व न करते हुए अकार के स्थान में ऐकार का (को) उच्चारण करते है। वे दोनो (यकार का द्वित्व न करना और अकार के स्थान पर ऐकार का उच्चारण) दोष है। ते रय्या वय्यम् हृदय्यया—इत्यादि में।[ख] ते रय्या—"ते रय्या स सृजन्तु न।" वय्यम्—परिप्रयन्त वय्य सुषसदम्।" हृदय्यया—'श्रद्धा हृदय्ययाकूत्या।"

टि० (क) अर्थात् 'ऐये' और 'वैयश्व' के स्थान पर क्रमश अय्ये' और 'वय्यश्व' का' उच्चारण करते हैं।

(ख) अर्थात् 'रय्या', 'वय्यम्' और 'हृदय्यया' के स्थान पर क्रमश 'रैया', 'वैयम्' और 'हृदैया' का उच्चारण करते है।

---

[1] ऋ० ५।३।८ [2] ऋ० ८।२६।११ [3] ऋ० १०।१९।७

[4] ऋ० ९।६८।८ [5] ऋ० १०।१५१।४

अकारस्य स्थान ऐकारमाहु-
लुम्पन्ति च सयमीकारमुत्तरम् ।
बह्वक्षरं द्व्यक्षरतां नयन्ति
यथोनयीध्वंनयीत्कोशयीरिति ॥४३॥

सू० अ०—अकार के स्थान पर ऐकार का (को) उच्चारण करते हैं और परवर्ती ईकार को यकार के सहित लुप्त कर देते हैं। (इस प्रकार) बहुत (=दो से अधिक) अक्षरों (के पद) को दो अक्षरों का बना देता है। जैसे 'ऊनयीः', 'ध्वनयीत्' और 'कोशयीः' (पदों) में।

उ० भा०—येन सह वर्तत इति सयः। त सयमीकारम्। अकारस्य स्थान ऐकारमाहुः सयमीकारं लुम्पन्ति च। बह्वक्षरं सन्त द्व्यक्षरताम्; नयन्ति=गमयन्ति। एते त्रयश्चत्वारो वा दोषा भवन्ति। ऊनयीः, ध्वनयीत्, कोशयीः इत्येवमादिषु। ऊनयीः—"जरितुः काममूनयीः।"[1] ध्वनयीत्—"मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिः।"[2] कोशयीः—"दश कोशयीर्दश वाजिनोऽदात्॥"[3]

उ० भा० अ०—सय=य' के साथ विद्यमान। उस, सयमीकारम्=यकार के सहित ईकार को। अकारस्य स्थान ऐकारमाहुः=अकार के स्थान पर ऐकार का (को) उच्चारण करते हैं, सयमीकारं लुम्पति च=और यकार के सहित ईकार को लुप्त कर देते हैं। (इस प्रकार उच्चारण करके), बह्वक्षरम्=बहुत अक्षरों (के पद) को; द्व्यक्षरताम्=दो अक्षरों का स्वरूप, नयन्ति=प्राप्त करा देते हैं, (अर्थात् बहुत अक्षरों के पद को दो अक्षरों का पद बना देते हैं)। ये तीन या चार दोष होते हैं। ऊनयी', ध्वनयीत्, कोशयीः—इत्यादि (पदों) में।[क] ऊनयीः "जरितु काममनयी।" ध्वनयीत् "मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धि।' कोशयीः—' दश कोशयीर्दश वाजिनोऽदात्।"

तदेव चान्यत्र विपर्ययेण
कार्य्यं ऐत्त्वे सयमीकारमाहुः।
धातोर्बिभेतेर्जयतेर्नियश्चा
भैष्मचाजैष्म नैष्टेति चैषु ॥४४॥

सू० अ०—अन्य पदों में उस सब का विपर्यय करके जहाँ ऐ' (का उच्चारण) करना चाहिए (वहाँ अकार का उच्चारण करके उसके बाद मे अविद्यमान) यकार-सहित ईकार का (को) उच्चारण करते हैं। जैसे 'भी', 'जि' और 'नी' धातुओं से निष्पन्न अभैष्म' अजैष्म' और 'नैष्ट' (पदों) में (किया जाता है)।

टि० (क) अर्थात् 'ऊनयी' 'ध्वनयीत्' और 'कोशयी' के स्थान पर क्रमश 'ऊनै' 'ध्वनैत्' और 'कोशै' का उच्चारण करते हैं।

[1] ऋ० १।५३।३ [2] ऋ० १।१६२।१५ [3] ऋ० ६।४७।२३

उ० भा०—तदेव सर्वत्र च; अन्यत्र=अन्येषु पदेषु; (कार्य्ये=) कर्तव्ये; ऐत्वे विपर्ययेण अकारं कृत्वा सयमीकारम् अक्षरमसन्तम् आहुः। ते तथैव दोषा भवन्ति। (धातोर्विभेतेर्जयतेर्नियश्च=) भी जि नी इत्येतेषां धातूनां प्रयोगे; अभैष्म, अजैष्म, नैष्ट इति यथा। अभैष्म—"अभैष्माप तदुच्छतु।"[1] अजैष्म—"अजैष्माद्यासनाम च।"[2] नैष्ट "दूरं नैष्ट परावतः॥"[3]

उ० भा० अ० अन्यत्र=अन्य पदों में, तदेव विपर्ययेण=(१४।४३ में विहित) सभी बातों का विपर्यय करके, (कार्य्ये) ऐत्वे=जहाँ 'ऐ' (का उच्चारण) करना चाहिए, (वहाँ ऐकार का) अकार (उच्चारण) करके अविद्यमान, सयमीकारम्=यकारसहित ईकार अक्षर' का (को), आहुः=उच्चारण करते हैं। वे उसी प्रकार दोष होते हैं (जैसा कि १४।४३ में बतलाया गया था)। जैसे, (धातोर्विभेतेर्जयतेर्नियश्च=) 'भी', 'जि' और 'नि' धातुओं से निष्पन्न, अभैष्म, अजैष्म और नैष्ट (पदों में किया जाता है)।[क] अभैष्म—"अभैष्माप तदुच्छतु।" अजैष्म—"अजैष्माद्यासनाम च।" नैष्ट—"दूरं नैष्ट परावतः।"

(इकारस्य दोषौ)

इकारस्य स्थाने ऋकारमाहु-
र्लृकारं वा चन्द्रनिर्णिक्सुशिल्पे ॥४५॥

(इकार के दो दोष)

सू० अ०—'चन्द्रनिर्णिक्' और 'सुशिल्पे' (इत्यादि) में इकार के स्थान पर ऋकार अथवा लृकार का (को) उच्चारण करते हैं।

उ० भा०—इकारस्य स्थाने क्वचिद् ऋकारमाहुश्चन्द्रनिर्णिगित्येवमादिषु। क्वचिद् लृकारमाहुः सुशिल्पे इत्येवमादिषु। तौ दोषौ लक्षयेत्। चन्द्रनिर्णिक् "पतरेव चचरा चन्द्रनिर्णिक्"; "अतः सहस्रनिर्णिजा।"[4] शुशिल्पे "सुशिल्पे बृहती मही॥"[5]

उ० भा० अ० कहीं पर, इकारस्य स्थाने=इकार के स्थान पर, ऋकारमाहुः=ऋकार का (को) उच्चारण करते हैं, (जैसे) चन्द्रनिर्णिक् इत्यादि में। कहीं पर (इकार के स्थान पर) लृकारमाहुः=लृकार का (को) उच्चारण करते हैं, (जैसे) सुशिल्पे इत्यादि में।[ख] उन दोनों पर दृष्टि रखनी चाहिए। चन्द्रनिर्णिक्—"पतरेव चचरा चन्द्रनिर्णिक्", 'अतः सहस्रनिर्णिजा।' सुशिल्पे—"सुशिल्पे बृहती मही।"

टि० (क) अर्थात् 'अभैष्म', अजैष्म' और 'नैष्ट' के स्थान पर क्रमशः 'अभयीष्म', 'अजयीष्म' और 'नयीष्ट' का उच्चारण करते हैं।

(ख) अर्थात् 'चन्द्रनिर्णिक्' और 'सुशिल्पे' के स्थान पर क्रमशः 'चन्द्रनृर्णिक्' और 'सुश्लृल्पे' का उच्चारण करते हैं।

---

[1] ऋ० ८।४७।१८ [2] ऋ० ८।४७।१८ [3] ऋ० ८।३०।३
[4] ऋ० १०।१०६।८ [5] ऋ० ८।८।११ [6] ऋ० ९।५।६

(ऋकारस्य दोषः)

अनन्तरे तद्विपरीतमाहुस्
तालव्ये शृङ्गे विभृयाद्विचृताः ॥४६॥

(ऋकार का दोष)

सू० अ०—यदि 'तालव्य'(वर्ण) बिना व्यवधान के (पूर्व में अथवा बाद में) हो तो उसके (पूर्व सूत्र में विहित विधान के) विपरीत उच्चारण करते हैं (अर्थात् ऋकार के स्थान पर इकार का उच्चारण करते हैं), (जैसे) 'शृङ्गे' 'विभृयात्' और 'विचृताः' में।

उ० भा०—अनन्तरे तालव्ये सति—ऋकारात्पूर्वो वा परो वा यदि तालव्यो वर्णो भवति तदा तद् विधान विपरीतमाहुः यदुक्तमिकारस्य स्थान ऋकारमाहुर्न्यदिह ऋकारस्य स्थान इकारमाहुः । स दोषो ज्ञेय । शृङ्गे—"शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे ।"[1] बिभृयात्—"यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ।"[2] विचृत्ताः—"पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ता ॥"[3]

उ० भा० अ०—अनन्तरे तालव्ये='तालव्य' (-वर्ण) के व्यवधान-रहित होने पर=ऋकार से पूर्व में या बाद में यदि 'तालव्य' (-वर्ण) हो तो, तव; तद्=उस (१४।४५ में विहित) विधान के, विपरीतमाहुः=विपरीत उच्चारण करते हैं=जो (१४। ४५ में) कहा गया था कि इकार के स्थान पर ऋकार का (को) उच्चारण करते हैं यहाँ ऋकार के स्थान पर [illegible]र का उच्चारण करते हैं। उस दोष को जानना चाहिए। शृङ्गे—"शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे।" बिभृयात्—"यमीर्यमस्य बिभृयादजामि।" विचृत्ताः—"पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ता।"[क]

(अविद्यमानस्य यकारस्योच्चारणम्)

तालुस्थानो व्यञ्जनादुत्तरश्चे-
दयकारस्तत्र यकारमाहुः ।
शुनःशेपः शास्सि ववर्जुषीणा-
मत्के विरप्शीति निदर्शनानि ॥४७॥

(अविद्यमान यकार का उच्चारण)

सू० अ०—यकार को छोड़कर अन्य कोई तालु 'स्थान' वाला वर्ण व्यञ्जन' से बाद में हो तो वहाँ (अविद्यमान) यकार का (को) उच्चारण करते हैं। 'शुनः-शेपः', शास्सि', 'ववर्जुषीणाम्' अत्के' और 'विरप्शी' (इस सूत्र के उदाहरण हैं।)

टि० (क) 'विभृयात्' में ऋकार के बाद में 'तालव्य' वर्ण (यकार) है। 'शृङ्गे' और 'विचृत्ता' में ऋकार के बाद में 'तालव्य' वर्ण (शकार और चकार) हैं। अत 'विभृयात्', 'शृङ्गे' और 'विचृता' के स्थान पर क्रमश 'विभियात्', 'शिङ्गे' और 'विचिता' का उच्चारण कर देते हैं।

[1] ऋ० ५।२।९ [2] ऋ० १०।१०।९ [3] ऋ० २।२८।१६

उ० भा०—(अयकारः=) यकारादन्यः; तालुस्थानो वर्णो व्यञ्जनादुत्तरः; (चेत्=) यदि; भवति तत्र अविद्यमान यकारमाहुः। शुनःशेपः—'शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः।"[१] शास्सि -"प्र पाक शास्सि प्र दिशो विदुष्टरः।"[२] ववर्जुषीणाम् "विशां ववर्जुषीणाम्।"[३] अत्के—"आ जामिरत्के अव्यत।" विरप्शी -"विरप्शो गोमती मही॥"[४]

उ० भा० अ०—अयकारः=यकार से अन्य, तालुस्थानः=तालु 'स्थान' वाला वर्ण, (चेत्=) यदि, व्यञ्जनादुत्तरः='व्यञ्जन' से बाद में, हः तो, तत्र=वहाँ, अविद्यमान, यकारमाहुः यकार का (को) उच्चारण करते हैं। शुनःशेपः—'शुनःशेपो यमह्वद् गृभीत।" शास्सि —'प्र पाक शास्सि प्र दिशो विदुष्टर।"

ववर्जुषीणाम्—"विशां ववर्जुषीणाम्।" अत्के—"आ जामिरत्के अव्यत।" विरप्शी—"विरप्शो गोमती मही।"[क]

(विद्यमानस्य यकारस्य वकारस्य वा लोपः)

लुम्पन्ति वा सन्तमेवं य्वकारं
ज्यैष्ठ्याय सम्वारन्नापृच्छ्यमृभ्वा ॥४८॥

(विद्यमान यकार अथवा वकार का लोप)

सू० अ०—अथवा इस प्रकार (अर्थात् 'व्यञ्जन' से बाद में) विद्यमान यकार और वकार का (को) लोप कर देते हैं। (जैसे) 'ज्यैष्ठ्याय' 'सम्वारन्' 'आपृच्छ्यम्' और 'ऋभ्वा' में।

उ० भा० (वा=) अथवा; क्वचित्; एवं सन्तम्=व्यञ्जनादुत्तरं सन्तम्; (य्वकारम्=) यकारं वकारं वा; लुम्पन्ति। ज्यैष्ठ्याय सम्वारन् अय वृत्तवशेन पादैकदेशो द्रष्टव्य। आपृच्छ्यम् ऋभ्वा इत्येतेषु। ज्यैष्ठ्याय -"इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो।"[७] सम्वारन् "सम्वारन्नङ्गिरस्य मघानि।"[९] आपृच्छ्यम् "आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति।"[८] ऋभ्वा -"पुरुहूतो यः पुरुगूर्त ऋभ्वा॥"[९]

उ० भा० अ०—(वा=) अथवा; कहीं पर, एव सन्तम्=इस प्रकार विद्यमान='व्यञ्जन' से बाद में विद्यमान, (य्वकारम्=) यकार अथवा वकार का (को), लुम्पन्ति=लोप कर देते हैं। (जैसे) ज्यैष्ठ्याय सम्वारन्—'वृत्त' के कारण इसे पाद

टि० (क) किसी 'व्यञ्जन' के बाद में यकार से अन्य कोई 'तालव्य' वर्ण हो तो 'व्यञ्जन' और उस 'तालव्य' वर्ण के मध्य में एक अतिरिक्त यकार का उच्चारण कर दिया जाता है। इसके अनुसार 'शुनःशेप', शास्सि, 'ववर्जुषीणाम्' 'अत्के' और 'विरप्शी' के स्थान पर क्रमशः 'शुनःश्येप', 'शास्स्यि', 'ववर्ज्युष्यीणाम्', 'अत्क्ये' और 'विरप्श्यी' का उच्चारण कर दिया जाता है।

[१] ऋ० १।२४।१२ [२] ऋ० १।३१।१४ [३] ऋ० १।१३४।६
[४] ऋ० ९।१०१।१४ [५] ऋ० १।८।८ [६] ऋ० १।५।६
[७] ऋ० १०।१३२।३ [८] ऋ० ९।१०७।५ [९] ऋ० ६।३४।२

का एक देश समझना चाहिए।[क] आपृच्छ्यम् ऋभ्वा - इन (पदों) में। ज्यैष्ठ्याय- "इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो।" सम्वारन् -"समवाग्न्नारिन्य मघानि।" आपृच्छ्यम् - "आपृच्छ्य धरुणं वाज्यर्षति।" ऋभ्वा - "पुरुहूतो य पुरुगूर्त ऋभ्वा।"[ख]

(संयोगस्य स्वरेण व्यवच्छेदः)

व्यस्यन्त्यन्तर्महतोऽव्यायतं तं
दीर्घायुः सूर्यो रुशदीर्ते ऊर्जम् ॥४६॥

(संयोग का स्वर के द्वारा व्यवच्छेद)

सू० अ०—'दीर्घ' ('स्वर') से बाद में विद्यमान संयुक्त 'व्यञ्जन' को (किसी 'स्वर' के द्वारा) पृथक् कर देते है। (जैसे) 'दीर्घायुः', 'सूर्यः', 'रुशदीर्ते' और 'ऊर्जम्' में।

उ० भा० महतः=संयोगस्य; अन्तर्भूतम्, महतः=दीर्घात् परम्, अव्यायतम्=अपृथग्भूतम्=रेफेण संसक्तम् इत्यर्थः। तम्; अन्तर्व्यस्यन्ति=रेफात् पृथक् कुर्वन्ति—केनचित्स्वरेण व्यवदधति इत्यर्थ। दीर्घायुः, सूर्यः, रुशदीर्ते, ऊर्जम् इत्येवमादिषु। दीर्घायुः—"दीर्घायुरस्या यः पतिः।"[१] सूर्यः—"सूर्यो नो दिवस्पातु।"[२] रुशदीर्ते—"पवमानो रुशदीर्ते पयो गो।"[३] ऊर्जम्—"इषमूर्जं च पिन्वसे॥"

उ० भा० अ०—महतः= संयोग के, अन्तर्भूत, महतः=दीर्घ ('स्वर') से बाद में स्थित। अव्यायतम्=अपृथग्भूत=रेफ से मिले हुए ('व्यञ्जन') को—यह अर्थ है। उस ('व्यञ्जन') को; अन्तर्व्यस्यन्ति=रेफ के द्वारा पृथक् कर देते हैं=किसी 'स्वर' से व्यवहित कर देते है—यह अर्थ है।[ग] दीर्घायुः, सूर्यः, रुशदीर्ते ऊर्जम्—इत्यादि में। दीर्घायुः,—"दीर्घायुरस्या य पति।" सूर्यः—"सूर्यो नो दिवस्पातु।" रुशदीर्ते—"पवमानो रुशदीर्ते पयो गो।" ऊर्जम्—"इषमूर्जं च पिन्वसे।"[घ]

टि० (क) छन्दो के 'वृत्त' के लिए १७।३९ को देखिए।

(ख) 'व्यञ्जन' के बाद में विद्यमान यकार अथवा वकार का लोप कर दिया जाता है। इसके अनुसार 'ज्यैष्ठ्याय', 'सम्वारन्', 'आपृच्छ्यम्' और 'ऋभ्वा' का उच्चारण क्रमशः 'जैष्ठाय', 'समारन्', 'आपृच्छम्' और 'ऋभा' कर दिया जाता है।

(ग) संयुक्त वर्ण ('संयोग') को 'स्वर' के द्वारा पृथक् कर देते हैं यदि (१) वह संयुक्त वर्ण 'दीर्घ' 'स्वर' के बाद में हो और (२) उस संयुक्त वर्ण ('संयोग') का एक वर्ण रेफ हो।

(घ) 'दीर्घायु', 'सूर्य', 'रुशदीर्ते' और ऊर्जम्' का उच्चारण क्रमशः 'दीरघायु', 'सूरय', 'रुशदीरते' और 'ऊरजम्' कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया को भाषा-विज्ञान में मध्य-स्वर-आगम (anaptyxis) कहते हैं।

१ ऋ० १०।८५।३९ २ ऋ० १०।१५८।१ ३ ऋ० ९।९१।३
४ ऋ० ९।६३।२

(अन्तःस्थाया लोपो द्विर्भावश्च)

लुम्पन्त्यन्तस्थां क्रमयन्ति चैतां
स्वरात्सस्थानादवरां परां वा ।
स्वस्तयेऽधायि भुवनेयमूवुः ॥५०॥

(अन्तःस्था का लोप और द्विरुच्चारण)

सू० अ०—समान 'स्थान' वाले 'स्वर' से पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती 'अन्तःस्था' का (को) लोप कर देते है अथवा इसका द्विरुच्चारण (द्वित्व) कर देते है। (जैसे) 'स्वस्तये', 'अधायि' 'भुवना' 'इयम्' और 'ऊवु.' मे।

उ० भा० **लुम्पन्त्यःस्थाम्**; (**वा**=) अथवा; **क्रमयन्त्येतां सस्थानात् स्वरात्**; **अवराम्**=पूर्वाम्; **परां वा**। लोपो द्विर्भावश्चेति तौ दोषौ परिहरेत्। **स्वस्तये, अधायि, भुवना, इयम्, ऊवुः** इत्येवमादिषु। **स्वस्तये**—"स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै।"[1] **अधायि**—"उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म।"[2] **भुवना**—"त संप्रश्न भुवना यन्त्यन्या।"[3] **इयम्**—"इय शुष्मेभिर्बिसखाइवारुजत्।" **ऊवुः**—"इन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः॥"[4]

उ० भा० अ० **सस्थानात् स्वरात्**=समान 'स्थान' वाले 'स्वर' से, **अवराम्**=पूर्व वाले, **परां वा**=अथवा बाद वाले, **लुम्पन्त्यन्तःस्थाम्**='अन्तःस्था' का (को) लोप कर देते है, (**वा**=) अथवा, **क्रमयन्त्येताम्**=इस ('अन्तःस्था') का (को) द्विरुच्चारण (द्वित्व) कर देते है। लोप और द्विरुच्चारण (द्वित्व)—इन दोनो दोषो का परिहार करना चाहिए। **स्वस्तये, अधायि, भुवना इयम्, ऊवुः**—इत्यादि में।[क] **स्वस्तये** "स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै।" **अधायि** "उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म।" **भुवना** "त संप्रश्न भुवना यन्त्यन्या।" **इयम्** "इय शुष्मेभिर्बिसखाइवारुजत्।" **ऊवुः**—"इन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवु।"

(अनुनासिकस्य ह्रस्वस्य दीर्घत्वम्)

रक्तं ह्रस्वं द्राघयन्त्युग्रँ ओकः ॥५१॥

(अनुनासिक ह्रस्व स्वर का दीर्घत्व)

सू० अ०—'अनुनासिक' ('रक्त') 'ह्रस्व' ('स्वर') को 'दीर्घ' कर देते हैं। (जैसे) "ऊग्रँ ओकः" मे।

उ० भा० **रक्तं ह्रस्वम्**; (**द्राघयन्ति**=) दीर्घं कुर्वन्ति। स दोषः। **उग्रँ ओकः**" इति यथा। "विश्वेदहानि तविषीव उग्रँ ओक।"[6] "यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एव॥"[7]

टि० (क) अर्थात् 'स्वस्तये' 'अधायि', 'भुवना', 'इयम्' और 'ऊवु' का उच्चारण या तो क्रमश 'स्वस्ते' अधाइ', 'भुअना', 'इअम्' और 'ऊउ' किया जाता है अथवा 'स्वस्त्य्ये', 'अधाय्यि', 'भुव्वना', इय्यम्' और 'ऊव्वु' किया जाता है।

---

[1] ऋ० ५।५१।१२ [2] ऋ० १।१६२।७ [3] ऋ० १०।८२।३
[4] ऋ० ६।६१।२ [5] ऋ० १।६१।८ [6] ऋ० ७।२५।४ [7] ऋ० १।११३।१

उ० भा० अ० – रक्तं ह्रस्वम्='अनुनासिक' 'ह्रस्व' ('स्वर') को; (द्राघयन्ति=) 'दीर्घ' कर देते हैं। वह दोष है। जैसे "उग्रँ ओक" में। (उदाहरण) "विश्वेदहानि तविषीव उग्रँ ओक।" "यथा प्रसुता सवितु सवायँ एव।"क

(अविद्यमानस्य ऊष्मण उच्चारणम्)

हकारसोष्मोपहिताद्यकारा-
द्वकाराद्वा सर्वसोष्मोष्मपूर्वात्।
तत्सस्थानं पूर्वमूष्माणमाहु-
स्तुच्छ्यान्दध्या आपृच्छ्यमृभ्वा ह्वयेऽह्यः ॥५२॥

(अविद्यमान ऊष्म-वर्ण का उच्चारण)

सू० अ०—हकार अथवा सोष्म' (-वर्ण) (aspirate) से बाद में विद्यमान यकार तथा किसी भी 'सोष्म' (-वर्ण) (asp rate) अथवा 'ऊष्म' (-वर्ण) (breathing) से बाद मे विद्यमान वकार से पूर्व में उनके समान 'स्थान' वाले 'ऊष्म' (-वर्ण) (b eathing) का उच्चारण करते हैं। (जैसे) 'तुच्छ्यान्', दध्याः', 'आपृच्छ्यम्', 'ऋभ्वा', 'ह्वये' और 'अह्यः' मे।

उ० भा०—(हकारसोष्मोपहितात्=) हकारेण सोष्मभिश्चोपहितात्; यकाराद्वकाराद्वा; (सर्वसोष्मोष्मपूर्वात्=) सर्वैरूष्मभिः सोष्मभिश्चोपहितात्, पूर्वम्; (तत्सस्थानम्=) तेषां समानस्थानम्, ऊष्माणमाहुः। स दोष। तुच्छ्यान्, दध्या', आपृच्छ्यम्, ऋभ्वा, ह्वये, अह्यः इत्येवमादिषु। तुच्छ्यान्—"तुच्छ्यान्कामान्करते सिष्विदान।"[१] दध्याः—"पश्वा स दध्या यो अघस्य धाता।"[२] आपृच्छ्यम्—"आपृच्छ्य धरुण वाज्यर्षति।"[३] ऋभ्वा—"पुरुहूतो य पुरुगूर्त ऋभ्वा।"[४] ह्वये—"तत्र देवाँ उप ह्वये।"[५] अह्यः — शतचक्रं योऽह्यो वर्तनि ॥"[६]

उ० भा० अ०—(हकारसोष्मोपहितात्) यकारात्=हकार और 'सोष्म' (-वर्ण) से उपहित यकार से, (सर्वसोष्मोष्मपूर्वात्) वकारात्=सभी (अर्थात् किसी भी) 'ऊष्म' (-वर्ण) और 'सोष्म' (-वर्ण) से उपहित वकार से, पूर्वम्=पूर्व में, (तत्सस्थानम्=) उनके (पूर्ववर्ती हकार, 'सोष्म'-वर्ण और 'ऊष्म'-वर्ग के) समान 'स्थान' वाले, ऊष्माणमाहुः= 'ऊष्म' (-वर्ण) का (को) उच्चारण करते हैं। वह दोष है। तुच्छ्यान्, दध्याः, आपृच्छ्यम्, ऋभ्वा, ह्वये और अह्यः—इत्यादि में। तुच्छ्यान्—"तुच्छ्यान्कामान्करते सिष्विदान।" दध्याः—"पश्वा स दध्या यो अघस्य धाता।" आपृच्छ्यम्— "आपृच्छ्य

टि० (क) "उग्रँ ओक" तथा "सवायँ एव" का उच्चारण "उग्राँ ओक" तथा "सवायाँ एव" कर दिया जाता है।

[१] ऋ० ५।४२।१०
[२] ऋ० १।१२३।५
[३] ऋ० ९।१०७।५
[४] ऋ० ६।३४।२
[५] ऋ० १।१३।१२
[६] ऋ० १०।१४४।४

धरुण वाज्यर्षति ।" ऋभ्वा—"पुरुहूतो य पुरुगूर्त ऋभ्वा ।" ह्वये—"तत्र देवाँ उपह्वये ।" अह्य:—"शतचक्र योऽह्यो वर्तनि ।"[क]

(अधिकयमस्योच्चारणम्)

पकारवर्गोपहिताच्च रक्ताद्-
न्यं यमं तृप्णुताप्नानमौभ्नात् ॥५३॥

(अतिरिक्त यम का उच्चारण)

सू० अ०—पवर्ग (पकारवर्ग) (के किसी 'व्यञ्जन') से बाद में स्थित 'अनुनासिक' से (पूर्व में) अतिरिक्त (अन्य) 'यम' का (को) (उच्चारण करते हैं) । (जैसे) 'तृप्णुत', 'आप्नानम्' और 'औभ्नात्' में ।

उ० भा० –(पकारवर्गोपहितात्=) पकारवर्गेणोपहितात्; रक्तात्—अनुनासिकात्; पूर्वम्; अन्यं यमम् अधिकमाहुः । तृप्णुत, आप्नानम् औभ्नात् इत्येवमादिषु । स दोषो वर्जयितव्यः । तृप्णुत—'समु तृप्णुत ऋभवः ।"[१] आप्नानम्—'आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचत् ।"[२] औभ्नात्—'दृळहा न्यौभ्नादुशमान ओज. ॥"[३]

उ० भा० अ०—(पकारवर्गोपहितात्=) पकारवर्ग से उपहित (=पवर्ग के किसी वर्ण से बाद मे विद्यमान), रक्तात्='अनुनासिक' से, पूर्व में अन्यं यमम्=अन्य अर्थात् एक अधिक 'यम' का (को); उच्चारण करते है ।[ख] तृप्णुत, आप्नानम्, औभ्नात् इत्यादि में । उस दोष का परित्याग करना चाहिए । तृप्णुत—"समु तृप्णुत ऋभव ।" आप्नानम्—"आप्नान तीर्थं क इह प्र वोचत् ।' औभ्नात् "दृळहा न्यौभ्नादुशमान ओज ।"

(स्वरोपधादनुनासिकात्पूर्वमनुस्वारस्योच्चारणम् , उपधाया अन्यवर्णत्वं वा)

अनुस्वारमुपधां वान्यवर्णां
स्वरोपधात्सोष्मयमोदयश्चेत् ।
तङ् घ्नन्त्यञ्ज्मो जङ्घ्नत ईङ्खयन्तीः
सञ्ज्ञातरूपोऽथ सञ्ज्ञानमिन्द्रः ॥५४॥

(स्वर से परवर्ती अनुनासिक से पूर्व मे अनुस्वार का उच्चारण अथवा उपधा का अन्य वर्ण मे परिवर्तन)

टि० (क) अर्थात् 'तुच्छयान्', 'दध्या.', 'आपृच्छयम्' 'ऋभ्वा 'ह्वये' और 'अह्य' के स्थान पर क्रमश 'तुच्छ्श्यान्', 'दध्क्यान्', 'आपृच्छ्श्यम्', 'ऋभ्ष्वा', ह्ह्वये' और 'अह्ह्य' का उच्चारण कर दिया जाता है ।

(ख) अर्थात् एक 'यम' का उच्चारण तो ६।२९ के अनुसार वहाँ नियम से प्राप्त है किन्तु कुछ लोग यहाँ एक अतिरिक्त 'यम' का भी उच्चारण कर देते है । द्वितीय 'यम' का उच्चारण दोष है ।

---

[१] ऋ० १।११०।१ [२] ऋ० १०।११४।७ [३] ऋ० ४।१९।४

सू० अ०—'स्वर' है पूर्व में जिसके (ऐसे 'अनुनासिक' से पूर्व में) 'अनुस्वार' का (को) (उच्चारण कर देते हैं) या पूर्ववर्ती ('स्वर') को अन्य वर्ण में (परिवर्तित कर देते हैं), यदि ('अनुनासिक' के) बाद में 'सोष्म'(-वर्ण) या 'यम' हो।

उ० भा०—'तत्सस्थान पूर्वम्'[1] इत्यत. पूर्वमित्यनुवर्तते। "पकारवर्गोपहिताच्च रक्तात्"[2] इत्यतो रक्तादिति वर्तते। स्वरोपधात् रक्तात्पूर्वम् अनुस्वारम् आहुः। उपधां वान्यवर्णाम्। तौ दोषौ परिहरेत्। स रक्तः; (सोष्मयमोदयाः=) सोष्मोदयो वा यमोदयो वा, (चेत्=) यदि; भवति। तङ् घ्नन्ति, अञ्ज्मः, जङ्घ्नतः, ईङ्खयन्तीः, सञ्ज्ञातरूपः, सञ्ज्ञानमिन्द्रः इत्येवमादिषु। तङ् घ्नन्ति—"नकिष्टङ् घ्नन्त्यन्तितो न दूरात्।"[3] अञ्ज्मः—"गोभिरञ्ज्मो मदाय कम्।"[4] जङ्घ्नतः—"पवमानस्य जङ्घ्नतः।"[5] ईङ्खयन्तीः—"ईङ्खयन्तीरपस्युवः।"[6] सञ्ज्ञातरूपः—"सञ्ज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै।"[7] सञ्ज्ञानमिन्द्रः—"सञ्ज्ञानमिन्द्रश्चाग्निश्च।"[8] एषा योजना ये रक्तात्पूर्वमनुस्वारं कुर्वन्ति तेषाम्।

ये न कुर्वन्ति ते पूर्वग्रहणं निवर्त्य स्वरोपधात् रक्तात्परम् अनुस्वारम् आहुः उपधां वान्यवर्णां कुर्वन्तीति योजना कर्तव्या।

केचिद्रक्तमेवानुस्वारमाहुः। तैरेवमयं योगः परिवर्तितव्यः। अनुस्वारमुपधां वान्यवर्णां स्वरोपधं सोष्मयमोदयश्चेत् इति। अस्मिन् पक्षे स्वरोपधं रक्तमनुस्वारं कुर्वन्तीति योजना कर्तव्या। तान्येवोदाहरणानि॥

उ० भा० अ—"पूर्व में उनके समान 'स्थान' वाला" (सूत्र=१४।५२ से) "पूर्व में (पूर्वम्)" की अनुवृत्ति हो रही है। "पवर्ग (के किसी वर्ण) से बाद में विद्यमान 'अनुनासिक' से (पूर्व में)" इस (सूत्र–१४।५३ से) "'अनुनासिक' से (रक्तात्)" की अनुवृत्ति हो रही है। स्वरोपधात्='स्वर' से बाद में स्थित, 'अनुनासिक' ('रक्त') से पूर्व में, अनुस्वारम्='अनुस्वार' का (को), उच्चारण करते है। उपधां वान्यवर्णाम्=अथवा पूर्ववर्ती ('स्वर') को अन्य वर्णों में (परिवर्तित कर देते है)। इन दोनो दोषों का परिहार करना चाहिए। (चेत्=) यदि वह 'अनुनासिक' ('रक्त'), (सोष्मयमोदयः=) ('सोष्म'(-वर्ण) है बाद मे जिसके अथवा 'यम' है बाद में जिसके ऐसा होवे।[क] तङ् घ्नन्ति, अञ्ज्मः, जङ्घ्नतः, ईङ्खयन्तीः, सञ्ज्ञातरूपः, सञ्ज्ञानमिन्द्रः—इत्यादि में। तङ्

टि० (क) 'अनुनासिक' से पूर्व में 'अनुस्वार का उच्चारण करते है अथवा पूर्ववर्ती 'स्वर' को अन्य वर्ण में परिवर्तित कर देते है यदि (१) 'अनुनासिक' से पूर्व में 'स्वर' हो और (२) 'अनुनासिक' से बाद में 'सोष्म'-वर्ण हो अथवा 'यम' हो। इस प्रकार 'तङ घ्नन्ति', 'अञ्ज्म', जङ्घ्नत' 'ईङ्खयन्ती', 'सञ्ज्ञातरूप' और 'सञ्ज्ञानमिन्द्र' का उच्चारण क्रमश 'तङ्घ्नन्ति', 'अञ्ज्म', 'जङ्घ्नत', 'ईङ्खयन्ती', 'सञ्ज्ञातरूप' और 'सञ्ज्ञानमिन्द्र' कर दिया जाता है।

१ १४।५२
२ १४।५३
३ ऋ० २।२७।१३
४ ऋ० ९।४५।३
५ ऋ० ९।६६।२५
६ ऋ० १०।१५३।१
७ ऋ० १।६९।५
८ ऋ० खि० १०।१९१।१

घ्नन्ति—"नकिष्टङ् घ्नन्त्यन्तितो न दूरात् ।" अञ्जमः—"गोभिरञ्जमो मदाय कम् ।" जङ्घ्नतः "पवमानस्य जङ्घ्नत. ।" ईङ्खयन्तीः—"ईङ्खयन्तीरपस्युव ।" सञ्ज्ञात-रूपः—"सञ्ज्ञातरूपश्चिकेदस्मै ।" सञ्ज्ञानमिन्द्रः—"सञ्ज्ञानमिन्द्रश्चाग्निश्च ।" यह योजना उन (लोगों) के लिए है जो 'अनुनासिक' ('रक्त') से पूर्व में 'अनुस्वार' (का उच्चारण) करते है।

जो ('अनुनासिक' से पूर्व में 'अनुस्वार' का उच्चारण) नहीं करते हैं उनके मत को अपनाते हुए (१४।५२ से अनुवृत्त) 'पूर्व' शब्द की निवृत्ति करके—**स्वरोपधात्**='स्वर' से बाद में स्थित, 'अनुनासिक' से बाद में, **अनुस्वारम्**='अनुस्वार' का (को) उच्चारण करते है, **उपधां वान्यवर्णाम्**=अथवा पूर्ववर्ती ('स्वर') को अन्य वर्ण (मे परिवर्तित) कर देते हैं—यह योजना करनी चाहिए।[क]

कुछ लोग 'अनुनासिक' का (को) ही 'अनुस्वार' उच्चारण करते हैं। उनके अनुसार इस सूत्र को इस प्रकार परिवर्तित कर लेना चाहिए—**"अनुस्वारमुपधां वान्यवर्णां स्वरोपधं सोष्मयमोदयश्चेत् ।"** इस पक्ष में " स्वर' के बाद में विद्यमान 'अनुनासिक' का (को) 'अनुस्वार' (उच्चारण) करते हैं"—यह योजना कर लेनी चाहिए। उदाहरण वे ही हैं।[ख]

(अनुनासिकात्परस्य वर्णस्य द्विरुच्चारणम्)

सान्तस्थादौ धारयन्तः परक्रमं
शर्मन्स्यामास्मिन्सु जनान्छ्रुधीयतः ॥५५॥

(अनुनासिक से परवर्ती वर्ण का द्विरुच्चारण)

सू० अ०—अन्तःस्थासहित (संयोग') के आदि मे ('अनुनासिक' के उच्चारण को) विलम्ब से करते हुए परवर्ती ('व्यञ्जन') का द्विरुच्चारण (द्वित्व) (कर देते हैं)। (जैसे) 'शर्मन्स्याम', 'अस्मिन्सु (स्व्)' और 'जनान्छ्रुधीयतः' (में)।

उ० भा० (सान्तस्थादौ=) सान्त.स्थस्य सयोगस्यादौः रक्त धारयन्तः=विलम्बमाना ; परक्रमं कुर्वन्ति । शर्मन्स्याम, अस्मिन्सु, जनान्छ्रुधीयतः इति यथा। शर्मन्स्याम—'शर्मन्स्याम मरुतामुपस्ये ।"[1] अस्मिन्सु—"अस्मिन्स्वेतच्छकपूत एनः ।"[2] जनान्छ्रुधीयतः "स यावप्नस्यो अपसेव जनान्छ्रुधीयत ॥"[3]

टि० (क) इस प्रकार 'तङ् घ्नन्ति', 'अञ्जम', 'जङ्घ्नत', 'ईङ्खयन्ती', 'सञ्ज्ञातरूपः' और 'सञ्ज्ञानमिन्द्र' का उच्चारण क्रमशः 'तङ घ्नन्ति', 'अञ्ज्म', 'जङ्घ्नत', 'ईङ खयन्ती', सञ्ज्ञातरूप' और 'सञ्ज्ञानमिन्द्र' कर दिया जाता है।

(ख) इस प्रकार 'तङ् घ्नन्ति', 'अञ्जम', 'जङ्घ्नत', ईङ्खयन्ती' 'सञ्ज्ञातरूप' और 'सञ्ज्ञानमिन्द्र' का उच्चारण क्रमश 'तं घ्नन्ति', 'अंजम', 'जंघ्नत', 'ईंखयन्ती', 'संज्ञातरूप' और 'संज्ञानमिन्द्र.' कर दिया जाता है।

[1] ऋ० ७।३४।२५ [2] ऋ० १०।१३।२५ [3] ऋ० ८।६७।३

उ० भा० अ०—(सान्तस्थादौ=) अन्तस्थासहित 'संयोग' के आदि में, 'अनुनासिक' ('रक्त') को, धारयन्तः=धारण करते हुए=विलम्ब से उच्चारण करते हुए, परक्रमम्= परवर्ती ('व्यञ्जन') का द्वित्व, कर देते हैं। जैसे—शर्मन्त्स्याम, अस्मिन्त्सु और जनाञ्छ्छ्धीयतः मे।[क] शर्मन्त्स्याम—"शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे।" अस्मिन्त्सु—"अस्मिन्त्स्वेतच्छकपूत एन।" जनाञ्छ्छ्धीयतः—"स यावप्नस्थो अपसेव जनाञ्छ्धीयत।"

(अनुनासिकैः स्वराणामनुनासिकता)

रक्तैः रागः समवाये स्वराणां

न नूनं नृम्णं नृमणा नृभिर्नॄन् ॥५६॥

(अनुनासिक वर्णों के द्वारा स्वरों की अनुनासिकता)

सू० अ०—'अनुनासिक' (व्यञ्जनों) के साथ सम्बन्ध होने पर स्वरों की अनुनासिकता ('राग') (कर दी जाती है)। जैसे न नूनम्' नृम्णम्' नृमणाः' और 'नृभिर्नॄन्' में।

उ० भा०—रक्तैः समवाये स्वराणां रागः क्रियते। न नूनम्, नृम्णम्, नृमणाः, नृभिर्नॄन् इत्येवमादिषु। न नूनम् "न नूनमस्ति नो श्वः।"[१] नृम्णम्—"नृम्ण तद्धत्तमश्विना।"[२] नृमणाः -"नृमणा वीरपस्त्य.।"[३] नृभिर्नॄन्—"र्कार्हि स्वित्सदिन्द्र यन्नृभिर्नॄन्॥"[४]

उ० भा० अ०-रक्तैः समवाये= अनुनासिक' (व्यञ्जनों) के साथ सम्बन्ध होने पर, स्वराणां रागः='स्वर' (-वर्णों) की अनुनासिकता, कर दी जाती है। न नूनम्, नृम्णम्, नृमणाः, नृभिर्नॄन्—इत्यादि में।[ख] न नूनम्—"न नूनमस्ति नो श्व।" नृम्णम्—"नृम्ण तद्धत्तमश्विना।' नृमणाः "नृमणा वीरपस्त्य।" नृभिर्नॄन्—"र्कार्हि स्वित्सदिन्द्र यन्नृभिर्नॄन्।"

(अनुनासिकात्परस्य हकारस्य सोष्मत्वम्)

रक्तात्तु सोष्मा क्रियते हकारो

दध्यङ् ह देवान्हवते महान्हि ॥५७॥

(अनुनासिक से परवर्ती हकार का सोष्म हो जाना)

सू० अ०—'अनुनासिक' से बाद मे विद्यमान हकार को 'सोष्म' (-वर्ण) (aspirate) कर दिया जाता है। (जैसे) 'दध्यङ् ह', 'देवान्हवते' और 'महान्हि' में।

टि० (क) इस प्रकार 'शर्मन्त्स्याम', 'अस्मिन्त्सु (स्व') और 'जनाञ्छ्धीयत' का उच्चारण क्रमश 'शर्मन्त्स्याम', 'अस्मिन्त्सु (स्व्)' और 'जनाञ्छ्छ्धीयत' किया जाता है।

(ख) 'न नूनम्', 'नृम्णम्', 'नृमणा' और 'नृभिर्नॄन्' का उच्चारण क्रमश 'नँ नूँनँम्', 'नृँम्णँम्', 'नृँमँणाँ' और नृँभिर्नॄँन्" कर दिया जाता है।

१ ऋ० १।१७०।१ २ ऋ० ८।९।२ ३ ऋ० ५।५०।४ ४ ऋ० ६।३५।२

उ० भा०—रक्तान् परो हकारः सोष्मा क्रियते। दृध्यङ् ह, देवान्ह्वते, महान्हि इत्येवमादिषु। दृध्यङ् ह—"दध्यङ् ह मे जनुषम्।"[1] देवान्ह्वते—"देवान् हवत ऊतये।"[2] महान्हि—"दक्षसो महान्हि ष॥"[3]

उ० भा० अ०—रक्तात्='अनुनासिक से परवर्ती, हकारः सोष्मा क्रियते= हकार को 'सोष्म' (-वर्ण) (aspirate) कर दिया जाता है। दृध्यङ् ह, देवान्ह्वते, महान्हि इत्यादि में।[क] दृध्यङ् ह,—"दध्यङ् ह मे जनुषम्।" देवान्ह्वते—"देवान् हवत ऊतये।" महान्हि—"दक्षसो महान्हि ष।"

(संयोगानां चत्वारो दोषाः)

संयोगानां स्वरभक्त्या व्यवायो
विक्रमणं क्रमणं वायथोक्तम्।
विपर्ययो वा व्यत तिल्विलेऽज्म-
न्द्रप्सोऽजुषून्साञ्जर्योऽष्ट्रां प्र नेष्टात्॥५८॥

(संयोगों के चार दोष)

सू० अ०—(कहीं पर) संयुक्त वर्णों ('संयोग') का 'स्वरभक्ति' से पृथक्करण (कर दिया जाता है)। (कहीं पर) द्वित्व का अभाव (विक्रमण) और (कहीं पर) नियम से अप्राप्त द्वित्व (क्रमण) (कर दिया जाता है)। (कहीं पर) विद्यमान 'स्वर-भक्ति' का अनुच्चारण (विपर्यय) (कर दिया जाता है)। (ये उदाहरण हैं) 'व्यत', 'तिल्विले' 'अज्मन्', 'द्रप्सः', 'अजुषून्', 'साञ्जर्यः', 'अष्ट्राम्', 'प्र' और 'नेष्टात्'।

उ० भा०—संयोगानां क्वचिदविद्यमानया स्वरभक्त्या व्यवायः क्रियते। संयोगस्य मध्ये क्वचित्स्वरमुत्पादयन्ति-इत्यर्थः। क्वचित् विक्रमणम्। विक्रमण नामद्विर्वचनाभाव। क्वचिच्च अयथोक्तं क्रमणं क्रियते। क्वचित् विपर्ययः। विपर्ययो नाम=विद्यमानां स्वरभक्ति न कुर्वन्ति—इत्यर्थः। इमे चत्वारो दोषाः संयोगस्य भवन्ति। तान्वर्जयेत्।

उ० भा० अ०—कहीं पर, संयोगानाम्=संयुक्त वर्णों का, अविद्यमान, स्वरभक्त्या व्यवायः='स्वरभक्ति' से पृथक्करण, कर दिया जाता है=कहीं पर संयुक्त वर्णों के मध्य में 'स्वर' को उत्पन्न (उच्चारित) कर देते हैं—यह अर्थ है। कहीं पर, विक्रमणम्=विक्रमण (कर दिया जाता है)। विक्रमण=द्वित्व का अभाव। कहीं पर, अयथोक्तं क्रमणम्=नियम से अप्राप्त द्वित्व, कर दिया जाता है। कहीं पर, विपर्ययः= विपर्यय (कर दिया जाता है)। विपर्यय=विद्यमान 'स्वरभक्ति' का (को) (उच्चारण) नहीं करते हैं—यह अर्थ है। ये चार दोष संयुक्त वर्णों ('संयोग') के होते हैं। उनका परित्याग करना चाहिए।

टि० (क) अर्थात् 'दध्यङ ह', 'देवान्ह्वते' और 'महान्हि' का उच्चारण क्रमशः 'दध्यङ घ', 'देवान्घवते' और 'महान्घि' कर दिया जाता है।

[1] ऋ० १।११७।१२ [2] ऋ० १।१०५।१७ [3] ऋ० ८।१३।१

उ० भा०—व्यत इत्यत्र विक्रमणम्। तिल्विले, अज्मन् इत्येतयोर्द्वित्वाभिधानमकृत्वा अतीर्थोषिता उच्चारयन्ति। तत्र स्वरभक्त्या व्यवाय इव भवति। द्रप्सः विक्रमणमेव। अजुष्रन् इत्यत्र षकारात्परं टकारमिव किञ्चिदुत्पाद्यायथोक्त क्रमण कुर्वन्ति। सार्ञ्जयः इत्यत्र विपर्यय। अष्ट्राम्, प्र, नेष्ट्रात् इत्येतेषु च क्रमणमेव।

व्यत—"शूरो यो युत्सु तन्व परिव्यत।"[1] तिल्विले "भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा।"[2] अज्मन्—"विश्वो वो अज्मन्भयते वनस्पतिः।"[3] द्रप्सः—"द्रप्सश्चस्कन्द प्रथमाँ अनु द्यून्।"[4] अजुष्रन्—"स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रन्।"[5] सार्ञ्जयः "भरद्वाजाय सार्ञ्जयो अभ्ययष्ट।"[6] अष्ट्राम्—"अष्ट्रा पूषा शिथिरामुद्वरीवृजत्।"[7] प्र—"प्र देव देव्या धिया।"[8] नेष्ट्रात् "नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥"[9]

उ० भा० अ० (परि) 'व्यत' में द्वित्व का अभाव (विक्रमण) (कर दिया जाता है)।[क] गुरु-मुख से उच्चारण न सीखने वाले लोग तिल्विले और अज्मन् में द्वित्व का कथन न करते हुए उच्चारण करते हैं। वहाँ 'स्वरभक्ति' से पृथक्करण-सा हो जाता है।[ख] द्रप्सः में द्वित्व का अभाव ही (कर दिया जाता है)।[ग] अजुष्रन् में षकार से बाद में कुछ टकार सा करके नियम से अप्राप्त द्वित्व का (को) (उच्चारण) करते हैं। सार्ञ्जयः में विपर्यय है (अर्थात् विद्यमान 'स्वरभक्ति' का उच्चारण नहीं किया जाता है)।[घ] अष्ट्राम्, प्र, नेष्ट्रात्—इनमें द्वित्व ही (कर दिया जाता है)।[ङ]

टि० (क) ६।१ से वकार का द्विरुच्चारण होना चाहिए। किन्तु कुछ लोग यहाँ वकार का द्विरुच्चारण नहीं करते हैं।

(ख) ६।१ से 'तिल्विले' और 'अज्मन्' के लकार और जकार का द्विरुच्चारण होना चाहिए। किन्तु कुछ लोग लकार और जकार का द्विरुच्चारण न करके लकार और जकार के बाद में 'स्वरभक्ति' का उच्चारण करते हैं।

(ग) ६।१ से 'द्रप्स' के पकार का द्विरुच्चारण होना चाहिए। किन्तु कुछ लोग पकार का द्विरुच्चारण नहीं करते हैं।

(घ) ६।४६ से 'सार्ञ्जय' के रेफ से बाद में 'स्वरभक्ति' का उच्चारण होना चाहिए। किन्तु कुछ लोग यहाँ 'स्वरभक्ति' का उच्चारण नहीं करते हैं।

(ङ) ६।१ से 'प्र' के पकार का द्विरुच्चारण प्राप्त नहीं है क्योंकि 'प्र' के पूर्व में 'स्वर' नहीं है। किन्तु कुछ लोग यहाँ पकार का द्विरुच्चारण कर देते हैं।

६।६ से 'अष्ट्राम्' तथा 'नेष्ट्रात्' के षकार का द्विरुच्चारण प्राप्त होता है। ६।११ में षकार के द्विरुच्चारण का निषेध कर दिया गया है। कुछ लोग दोनों ही पदों में षकार का द्विरुच्चारण कर देते हैं।

---

[1] ऋ० २।१७।२ [2] ऋ० ५।६२।७ [3] ऋ० १।१६६।५
[4] ऋ० १०।१७।११ [5] ऋ० १।७१।१ [6] ऋ० ६।४७।२५
[7] ऋ० ६।५८।२ [8] ऋ० १०।१७६।२ [9] ऋ० २।३७।३

विवृत्तिषु प्रत्ययादेरदर्शनं
यथा या ऐच्छश्च य औशिजश्च ॥५९॥

सू० अ०—विवृत्तियों में परवर्ती (पद) के आदि (वर्ण) का लोप हो जाता है। जैसे 'या ऐच्छः' और 'य औशिजः' से।

उ० भा०—विवृत्तिषु (प्रत्ययादेरदर्शनम्) प्रत्ययस्यादेः अदर्शनम्=लोपः; क्रियते। स दोषः। यथा—या ऐच्छः—'इमा गावः सरमे या ऐच्छ।"[1] य औशिजः—"कक्षीवन्तं य औशिजः॥"[2]

उ० भा० अ० विवृत्तिषु=विवृत्तियों में; (प्रत्ययादेरदर्शनम्=) परवर्ती (पद) के आदि (वर्ण) का, अदर्शनम्=लोप कर दिया जाता है। यह दोष है। जैसे—या ऐच्छः—"इमा गाव सरमे या ऐच्छ।" य औशिजः—"कक्षीवन्त य औशिज।"[क]

इउसंधौ संध्यवचनं च कासुचित्
स इदस्ता कस्त उपो यथैते ॥६०॥

सू० अ०—कतिपय (विवृत्तियों) में (पूर्ववर्ती अकार के साथ) इकार और उकार की संधि करके संध्य ('अक्षर') का उच्चारण करते हैं। जैसे 'स इदस्ता' और 'कस्त उपः' में।

उ० भा०—(इउसंधौ=) इ उ इत्येतयोः सधौ, कासुचित् विवृत्तिषु; (संध्यवचनम्=) सध्यक्षरवचनम् प्रत्ययादर्शनं च क्रियते। तौ दोषौ वर्जयेत्। यथा—स इदस्ता—"स इदस्तेव प्रति धादसिष्यन्।"[3] "स इन्द्र चित्राँ अभि तृन्धि वाजान्।"[4] कस्त उपः—"कस्त उप कथप्रिये।"[5] 'त उत्स्नाय रयिमभि प्र तस्थुः॥"[6]

उ० भा० अ० कासुचित्=कतिपय विवृतियों में, (इउसंधौ=) (पूर्ववर्ती अकार के साथ) इ और उ की सधि करके, (संध्यवचनम्=) 'सध्यक्षर' (diphthong=ए, ओ) का उच्चारण, और परवर्ती (वर्ण=इ, उ) का लोप (अदर्शन) कर दिया जाता है। इन दोनों दोषों का परित्याग करना चाहिए। जैसे—स इदस्ता—'स इदस्तेव प्रति धादसिष्यन्", "स इन्द्र चित्राँ अभि तृन्धि वाजान्।" कस्त उपः—"कस्त उप कथप्रिये", "त उत्स्नाय रयिमभि प्र तस्थु.।"[ख]

टि० (क) अर्थात् 'या ऐच्छ' और 'य औशिज' का उच्चारण 'या च्छ' और 'य शिज' कर दिया जाता है।

(ख) अर्थात् 'स इदस्ता', 'स इन्द्र', 'कस्त उप' और 'त उत्स्नाय' का उच्चारण क्रमशः 'सेदस्ता', सेन्द्र', 'कस्तोप' और 'तोत्स्नाय' कर दिया जाता है।

---

[1] ऋ० १०।१०८।५
[2] ऋ० १।१८।१
[3] ऋ० ६।३।५
[4] ऋ० ६।१७।२
[5] ऋ० १।३०।२०
[6] ऋ० २।१५।५

समानवर्णासु विपर्ययो वा
यथा ह्यूती इन्द्र क आसतश्च ॥६१॥

सू० अ०—समान (homogeneous) वर्णों वाली (विवृत्तियों) में वर्णों का परस्पर स्थान-परिवर्तन (विपर्यय) (कर दिया जाता है) अथवा (परवर्ती पद के आदि वर्ण का लोप कर दिया जाता है); जैसे—'ऊती इन्द्र' और 'क आसतः' में।

उ० भा०—समानवर्णासु विवृत्तिषु क्वचित् विपर्ययः क्रियते, प्रश्लेषे वा अदर्शनम्। को विपर्ययः ? वर्णयोः पूर्वो वर्णः परः क्रियते परश्च पूर्वः क्रियते। स विपर्ययः। तौ दोषौ लक्षयेत्। ऊती इन्द्र, क आसतः इति यथा। ऊती इन्द्र—'आ न स्तुत उप वाजेभिरूती इन्द्र'[1]; "अच्छा यो गन्ता नाधमानमूती इत्था"[2] क आसतः—"क आसतो वचसः सन्ति"[3]; "त आ गमन्तु त इह॥"[4]

उ० भा० अ० समानवर्णासु=समान (homogeneous) वर्णों वाली [illegible] विवृत्तियों में; विपर्ययः=विपर्यय=(वर्णों का) परस्पर स्थान-परिवर्तन (metathesis) कर दिया जाता है; वा=अथवा; परवर्ती (पद) के आदि (वर्ण) का लोप (कर दिया जाता है)। विपर्यय क्या ? (उभर) दो (समान) वर्णों में से पूर्ववर्ती वर्ण को परवर्ती कर दिया जाता है और परवर्ती वर्ण पूर्ववर्ती कर दिया जाता है। यह विपर्यय (=परस्पर स्थान-परिवर्तन) है। इन दोनों दोषों को दृष्टि में रखना चाहिए। यथा—जैसे ऊती इन्द्र और क आसतः में। ऊती इन्द्र—'आ न स्तुत उप वाजेभिरूती इन्द्र' 'अच्छा यो गन्ता नाधमानमूती इत्था'। क आसतः—'क आसतो वचसः सन्ति' 'त आ गमन्तु त इह।'[5]

अभिव्यादानं च विवृत्तिपूर्वं
कण्ठ्यं ता आपोऽवसा एति दीर्घे ॥६२॥

सू० अ०—'विवृत्ति' से पूर्ववर्ती और परवर्ती—ये दोनों (विवृत्तिपूर्वे) जब 'दीर्घ' 'कण्ठ्य' (स्वर) (=आ) (होते हैं) तो ता आपः अवसा आ इत्यादि (स्थलों पर) 'विवृत्ति' के द्वारा परवर्ती 'स्वर' का आरम्भ स्थान (अभिव्यादान) कर लिया जाता है।

उ० भा०—विवृत्तिः पूर्वा यस्मात्तत् विवृत्तिपूर्वम्। तस्मिन् विवृत्तिपूर्वे कण्ठ्ये दीर्घे प्रत्यय इति। यदि सप्तमीनिर्देशो विज्ञायते [illegible] इत्येवं [illegible] स तत्र विपर्यय उक्त—"समानवर्णासु विपर्ययो वा" इति [illegible] कथम्। विवृत्ति पूर्वा यस्मादक्षरात्तद्विवृत्तिपूर्वमक्षरम्। विवृत्ते पूर्वमपि विवृत्तिपूर्वम्।

टि० (क) अर्थात् 'ऊती इन्द्र', ऊती इत्था' क आसतः' और [illegible]
तो [illegible] ऊति इन्द्र ऊति इत्था, 'क [illegible] और [illegible]
या [illegible] [illegible], 'क [illegible]' और [illegible] कर दिया जाता है

[1] ऋ० ४।२९।१
[2] ऋ० ६।४५।२
[3] ऋ० १।१६५।[illegible]
[4] १०।६३
[5] [illegible]

(विवृत्तिपूर्वे=) ते उभे, कण्ठ्ये दीर्घे यदा भवतस्तदा कासुचिद्विवृत्तिषु अभिव्यादानं क्रियते कासुचित्प्रत्ययादेरदर्शनम् । एतौ दोषौ वर्जयेन्मेधावी ।

किमिदमभिव्यादानमिति ? आदानम्=आरम्भः । विविधं विपुलं विशालं वा आदानम् । अथवा, आदानमेव=व्यादानम् । केनचिदभिव्याप्तमभिभूत वा व्यादान यस्य तदिदमभिव्यादान भवत्यक्षरम् । किमुक्त भवति ? पादमात्रा त्रिवृत्तिरिह समधिका क्रियते । तया परस्यारम्भो व्याप्यत इत्यर्थः । क्व ? ता आपः, अवसा आ इत्येवमादिषु ।

ता आपः—"ता आपो देवीरिह मामवन्तु ।"[1] अवसा आ—"स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात्"[2]; "या आपो दिव्याः"[3]; "ता आ चरन्ति ।"[4] ते दोषाः । तत्र श्लोकः—

अभ्रमध्ये यथा विद्युद् दृश्यते मणिसूत्रवत् ।
एष च्छेदो विवृत्तीनां यथा वालेषु कर्तरी ॥[5]

उ० भा० अ०—विवृत्तिपूर्व=जिससे पूर्व मे 'विवृति' है वह । विवृत्तिपूर्वे कण्ठ्ये दीर्घे='विवृत्ति' है पूर्व मे जिसके ऐसा वह 'कण्ठ्य' 'दीर्घ' ('स्वर') (=आ) बाद मे हो तो । यदि (यहाँ) सप्तमी का निर्देश है तो ज्ञात होता है कि 'क आसत' इत्यादि में 'अभिव्यादान' ही होगा । (किंतु) वहाँ विपर्यय (परस्पर स्थान-परिवर्तन) कहा गया है- "अथवा समान वर्णों वाली (विवृत्तियो) में परस्पर स्थान-परिवर्तन (विपर्यय) (कर दिया जाता है)"—इसलिए (यहाँ) सप्तमी का निर्देश नही है । (तो फिर अर्थ) कैसे (होगा) ? (उत्तर) 'विवृत्ति' है पूर्व में जिस 'अक्षर' से वह विवृत्तिपूर्व 'अक्षर' है । 'विवृत्ति' से पूर्ववर्ती ('अक्षर') भी विवृत्तिपूर्व है । (विवृत्तिपूर्वे='विवृत्ति' से पूर्ववर्ती और परवर्ती=) ये दोनो, जब, कण्ठ्ये दीर्घे='दीर्घ' 'कण्ठ्य' ('स्वर') (=आ), होते है तब कतिपय विवृत्तियो में, अभिव्यादानम्='अभिव्यादान', कर दिया जाता है । कतिपय (विवृत्तियो) में परवर्ती (पद) के आदि (वर्ण) का लोप (कर दिया जाता है) । बुद्धिमान् को इन दोषो का परित्याग करना चाहिए ।

यह 'अभिव्यादान' क्या (वस्तु) है ? (उत्तर) आदान=आरम्भ । (व्यादान=) विविध या विपुल या विशाल आदान । अथवा, आदान ही=व्यादान । किसी के द्वारा

टि० (क) यदि 'विवृत्तिपूर्वे', 'कण्ठये' और 'दीर्घे' में सप्तमी विभक्ति मानी जाती है तो इससे प्रस्तुत सूत्र का अर्थ होगा कि 'विवृत्ति' के बाद मे 'दीर्घ' 'कण्ठ्य' 'स्वर' (=आ) हो तो अभिव्यादान किया जाता है । ऐसी व्याख्या करने पर तो 'क आसत' भी प्रस्तुत सूत्र का उदाहरण बन जायेगा किंतु १४।६१ के द्वारा 'क आसत' में विपर्यय का विधान किया गया है । अत इन तीनो पदों में सप्तमी विभक्ति नही है । ये पद तो प्रथमा विभक्ति के द्विवचन के है । ऐसा मानने पर 'ता आप.' आदि वे स्थल ही प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण होंगे जिनमें विवृत्ति' के दोनो ओर 'दीर्घ' 'कण्ठ्य' 'स्वर' (=आ) है ।

---

[1] ऋ० ७।४९।१ [2] ऋ० ३।५३।२० [3] ऋ० ७।४९।२
[4] ऋ० ४।५१।८ [5] मा० शि० ९७, तु० या० शि० ९३

अभिव्याप्त या अभिभूत है आरम्भ (व्यादान) जिसका उस 'अक्षर' का 'अभिव्यादान' होता है। कहने का क्या तात्पर्य है ? (उत्तर) यहाँ 'विवृत्ति' चौथाई मात्रा से अधिक होती है। उसके द्वारा परवर्ती (वर्ण) का आरम्भ व्याप्त कर लिया जाता है—यह अर्थ है। कहाँ ? (उत्तर) **ता आपः, अवसा आ** -इत्यादि में।

ता आपः—"ता आपो देवीरिह मामवन्तु।" **अवसा आ**—"स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात्", "या आपो दिव्याः", "ता आ चरन्ति।"

('विवृत्ति' के) ये दोष हैं। वहाँ (=इस विषय में) यह श्लोक है—

'मेघों के मध्य में जिस प्रकार विद्युत् मणि के सूत्र के समान दिखलाई पड़ती है और जिस प्रकार बालों में कैंची (शब्द करती है), उसी प्रकार विवृत्तियाँ (दो स्वरों को) पृथक् करती हैं।[क]

(दोषाणामसंख्यता शास्त्रस्य प्रयोजनं च)

न दोषाणां स्वरसंयोगजाना-
मन्तो गम्यः संख्ययाथेतरेषाम् ॥६३॥

(दोषों की असंख्यता और शास्त्र का प्रयोजन)

सू० अ०—स्वरों के संयोग से उत्पन्न होने वाले और अन्य (=व्यञ्जनों के संयोग से उत्पन्न होने वाले) दोषों का अन्त गणना से प्राप्त नहीं किया जा सकता है (अर्थात् "इतने दोष हैं"—यह गिनकर बतला देना असंभव है)।

उ० भा०—एषां **दोषाणां स्वरसंयोगजानाम्**=स्वरेषूच्चमानेषूत्पद्यन्ते ये दोषास्तेषाम् इत्यर्थः। **अथेतरेषाम्**=व्यञ्जनसंयोगजानाम्। **संख्यया**=गणनया, **अन्तः**=पारम्, (**न गम्यः**=) गन्तुमशक्यम्। कस्मात् ? उच्चावचाः प्रयोक्तारो नानास्थानकरणानु-प्रदानस्वरोच्चारणास्तथा नानाप्रकृतिस्वभावशीलसमाचाराः केषु वर्णेषु कान्दोषाञ्जनयन्तीत्य-ज्ञानात् ॥

उ० भा० अ०—**दोषाणां स्वरसंयोगजानाम्**=स्वरों के संयोग से उत्पन्न इन दोषों का=स्वरों का उच्चारण किए जाने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं उन (दोषों) का—यह अर्थ है। **अथेतरेषाम्**=और अन्य (दोषों) का=व्यञ्जनों के संयोग से उत्पन्न (दोषों) का। **संख्यया**=गणना से (=गिनकर), **अन्तः**=पार (**न गम्यः**=) नहीं पहुँचा जा सकता है, (अर्थात् "ये इतने दोष हैं" यह गिनकर बतला देना असंभव है)। क्यों ? (उत्तर)

टि० (क) याज्ञवल्क्य-शिक्षा की 'शिक्षावल्ली' नाम्नी विवृत्ति में इस श्लोक का भाव इस प्रकार बतलाया गया है—विद्युत् प्रगट होकर जितने समय तक ध्वनि करती है उतने समय तक विवृत्तियों का छेदन करके उच्चारण करना चाहिए। जिस प्रकार बालों में कैंची वेगपूर्वक 'कटक्' ध्वनि को करती है उसी प्रकार यहाँ पर भी 'विवृत्ति' के उच्चारण में ध्वनि करनी चाहिए। इस श्लोक का भाव वास्तव में यह प्रतीत होता है—विद्युत् की एक चमक और कैंची की एक 'कटक्' में जितना समय लगता है उतने समय तक 'विवृत्ति' रूप व्यवधान करना चाहिए।

भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्वभाव, शील और आचरण के भिन्न-भिन्न वक्ता हैं और वे लोग अपने भिन्न-भिन्न (उच्चारण-) स्थानो उच्चारणायवो ('करण'), वाह्य प्रयत्नो ('अनुप्रदान') और स्वरो से उच्चारण करते हैं। यह ज्ञात नही हो सकता है कि किन वर्णो (के उच्चारण) में किन दोषो को उत्पन्न कर दें।

शक्यस्तु शास्त्रादधि साधु धर्मो
युक्तेन कृत्स्नः प्रतिपत्तुमस्मात् ॥६४॥

सू० अ०—किंतु सुयोग्य व्यक्ति इस शास्त्र से (वर्णों के) सम्पूर्ण धर्म को जान सकता है।

उ० भा०—अस्माच्छास्त्रादधि वर्णानां कृत्स्नो धर्मः; साधु युक्तेन=साधु धर्मयुक्तेन, प्रतिपत्ता प्रतिपत्तुं शक्यः। साधु युक्तो नाम=मनोवाग्बुद्धियुक्तस्तत्त्वार्थदर्शी शिक्षालक्षणविदूहापोहवितर्कज्ञः शास्त्रागमकुशलो ध्यानपरोऽवितथाध्यवसायी ॥

उ० भा० अ०—**साधु युक्तेन**=गुणो से भलीभाँति समन्वित, बुद्धिमान् (व्यक्ति) के द्वारा, **अस्माच्छास्त्रादधि**=इस शास्त्र की सहायता से, वर्णो का, **कृत्स्नो धर्मः**=सम्पूर्ण स्वरूप (गुण), **प्रतिपत्तुं शक्यः**=जाना जा सकता है। साधु युक्त=मन, वाणी और बुद्धि से समन्वित, यथार्थ अर्थ का दर्शन करने वाला शिक्षा के लक्षणो को जानने वाला, ऊहापोह और वितर्क को जानने वाला, शास्त्र और आगम मे कुशल, ध्यान में तत्पर और सच्चा अध्यवसायी।

(वर्णानामुच्चारणे अकारस्य अपेक्षा)

अकारस्य करणावस्थयान्यान्स्वरान्ब्रूयात् ॥६५॥

(वर्णों के उच्चारण में अकार की अपेक्षा)

सू० अ०—अकार की करणावस्था (articulatory stage) से अन्य स्वरों का (को) उच्चारण करना चाहिये।

उ० भा०—(**अन्यान्स्वरान्**=) अ ऋ इ उ एवमाद्यान्स्वरान्, (**अकारस्य करणावस्थया**) **ब्रूयात्** ॥

उ० भा० अ०—(**अन्यान्स्वरान्**=) अन्य स्वरो का (को)=अ, ऋ, इ, उ इत्यादि स्वरो का (को), (**अकारस्य करणावस्थया**=अकार की करणावस्था से), **ब्रूयात्**=उच्चारण करना चाहिये।[क]

टि० (क) अकार शुद्ध 'घोष' ध्वनि (pure voice) है। इसका उच्चारण-स्थान कण्ठ है। इसके उच्चारण में केवल स्वर-यन्त्र (larynx) का ही उपयोग होता है। इसके उच्चारण में मुख के अन्दर किसी भी उच्चारण-स्थान अथवा उच्चारणावयव का व्यापार नही होता है जैसा कि महाभाष्य १।१।४ मे कहा गया है—"वाह्य ह्यास्यात् स्थानमवर्णस्य।"

तद्धि संपन्नमाहुः ॥६६॥

सू० अ०—(आचार्य लोग) इसे ठीक बतलाते हैं।

उ० भा०—अकारस्य करणावस्थया इ ई उ ऊ इत्येवमाद्यानन्यानपि स्वरान्ब्रूयात्। तद्धि संपन्नम् ; (आहुः—) भवति ॥

उ० भा० अ०—अकार की करणावस्था (articulatory stage) से इ, ई उ और ऊ इत्यादि अन्य भी स्वरों का (को) उच्चारण करना चाहिये। तद्धि संपन्नम् (आहुः)—यह ठीक है।

परानकारोदयवद्विवक्षेत्
सर्वत्र वर्णानिति संपदेषा ॥६७॥

सू० अ०—परवर्ती (='व्यञ्जन') वर्णों का (को) सर्वत्र ऐसा उच्चारण करे मानो उनके बाद में अकार है। यहाँ (वर्णों की) संपत् (स्वरूप) (का विवरण) समाप्त होता है।

उ० भा०—परान्—ककारादीनपि व्यञ्जनसंज्ञकान्; वर्णान्। अकारोदयवत्—अकारोदयानिव; विवक्षेत्—वक्तुमिच्छेत्। सर्वत्र वर्णानिति—आहुराचार्याः क का कि की कु कू इति यथा। संपदेषा वर्णानाम्। सा सपद्भ्याम्यां पटलाभ्यां व्याख्याता ॥

उ० भा० अ०—परान्—परवर्ती (वर्णों) को—ककार आदि 'व्यञ्जन'-संज्ञक वर्णों को भी। अकारोदयवत्—मानों उन (व्यञ्जनों) के बाद में अकार है ऐसे, विवक्षेत्—उच्चारण की इच्छा करनी चाहिए। सर्वत्र वर्णानिति—वर्णों में सर्वत्र (ऐसा ही उच्चारण होना चाहिये)—यह आचार्य लोग कहते हैं। जैसे—क, का, कि, की, कु, कू आदि। संपदेषा—यह वर्णों की सपत् (—वर्णों के स्वरूप का विवरण) है। इस सपत् (वर्णों के स्वरूप) की दो (त्रयोदश और चतुर्दश) पटलों के द्वारा व्याख्या की गई है।

(७५५ क) 'अ' मिश्रित (mixed or neutral) 'स्वर' है। यह सभी स्वरों का आधार है। स्वर-यन्त्र से प्राप्त शुद्ध 'घोष' ध्वनि अकार को मूलकारण (material cause) के रूप में अपनाते हुए जब हम मुख-विवर (mouth-opening) को कुछ सँकरा करके जिह्वा के अगले भाग को ऊपर की ओर विभिन्न ऊँचाइयों तक उठाते हैं तो हमें क्रमशः ऐ, ए, इ और ई की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर जब हम मुख को बन्द-सा करके और होठों को गोल बनाकर जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर की ओर विभिन्न ऊँचाइयों तक उठाते हैं तो क्रमशः औ ओ उ और ऊ की प्राप्ति होती है।

अपने आधार-भूत 'स्वर' अकार की भाँति सभी 'स्वर' 'सघोष' होते हैं और सभी में मुख में एक मुखावयव के साथ दूसरे मुखावयव का स्पर्श नहीं होता है। केवल मुख के अवयवों की आकृति तथा जिह्वा की ऊँचाई में ही अन्तर पड़ता है।

(दोषनिरसनपूर्वकं वर्णशिक्षायाः सप्रयोजनत्वस्थापनम्)

शास्त्रापवादात्प्रतिपत्तिभेदान्नि-
न्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम् ॥६८॥

(दोषों का निराकरण करके वर्णशिक्षा के प्रयोजन की स्थापना)

सू० अ०—(अशक्यार्थता) दोष से दूषित होने से तथा (इस शास्त्र में विहित तथ्यों के विषय में) मतभेद होने से इस वर्णशिक्षा को अपूर्ण (अकृत्स्न) कहकर (इस वर्णशिक्षा की) निन्दा करते हैं।

उ० भा०—(शास्त्रापवादात्=) शास्त्राणामपवादात्। दोषाः सन्ति पुनरुक्तता-विस्पष्टार्थता कष्टशब्दताशक्यार्थतेत्येवमादय। तेष्वशक्यार्थता दोषोऽस्मिञ्छास्त्रे सन्निहितः। नहि एकमक्षर यथोच्चारयितु शक्यम्। अस्माच्छास्त्रापवादात्।

प्रतिपत्तिभेदाच्च निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्। अकृत्स्ना इति=अप्रयोजना–इत्यर्थः। किमिति ? प्रतिपत्तिभेदो नाम—"आहुर्घोष घोषवतामकारम्" इत्युक्त्वा—"अत्रोत्पन्नावपर ऊष्मघोषौ" इत्येवमदीनां वर्णप्रतिपत्तिभेदो विरुद्धविधानानि॥

उ० भा० अ०—(शास्त्रापवादात्=) शास्त्रो के दोष से पुनरुक्तता, अवि-स्पष्टार्थता, कष्टशब्दता और अशक्यार्थता इत्यादि दोष होते हैं। इनमें से अशक्यार्थता दोष इस शास्त्र में विद्यमान है। (क्योकि) एक अक्षर भी नियमानुसार उच्चारित नही किया जा सकता है। इस शास्त्र के इस दोष के कारण।

प्रतिपत्तिभेदाच्च=तथ्यों के विषय में मतभेद होने से; निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्=वर्णशिक्षा को अपूर्ण (अकृत्स्न) कहकर निन्दा करते है। (प्रश्न) (अकृत्स्न कहने का) क्या अर्थ है ? (उत्तर) अकृत्स्न=प्रयोजनरहित यह अर्थ है।

प्रतिपत्तिभेद—' 'सघोष' (व्यञ्जनों) का 'घोष' अकार को कहते हैं"—यह कहकर—"दूसरे (आचार्य कहते हैं कि) 'ऊष्म' और 'घोष' यही परं (अर्थात् इन वर्णों में स्वतन्त्र रूप से) उत्पन्न होते हैं" इत्यादि में जो विरुद्ध विधान किये गये है वे ही वर्णों के प्रतिपत्ति भेद हैं।

सैतेन शास्त्रैर्न विशिष्यतेऽन्यैः
कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम् ॥६९॥

सू० अ०—यह (वर्णशिक्षा-ग्रन्थ) इस (वर्णोच्चारणविषयक विधान) के कारण अन्य शास्त्रों के द्वारा अतिक्रान्त नहीं किया जा सकता है। यह पूर्ण है, अनिन्द्य है, वेदाङ्ग है और आर्ष है।

उ० भा०—यदुच्यते—इह यथोक्त तथा वर्णोच्चारण कर्तुमशक्य तस्मादकृत्स्नेय वर्णशिक्षेति—तन्न। कथम् ? (सा=) शिक्षा; एतेन एव विधानेन अन्यैः शास्त्रैर्न विशिष्यते। अन्येष्वपि हि शास्त्रेषु प्रस्त निरस्त इत्येवमादयो वर्णानां दोषा विधीयन्ते। तानि चाशक्यार्थविधानादकृत्स्नानीति नोच्यन्ते। तानि च कृत्स्नान्येव भवन्ति। तस्मादिदमपि शास्त्र कृत्स्नं भवितुमर्हति।

प्रतिपत्तिभेदश्च न । अन्येष्वपि शास्त्रेष्वेवंविधा विकल्पाः सन्ति । तस्मात् अनिन्द्यम् । वेदाङ्गं च—षट्सु वेदाङ्गेष्विदमप्येकमङ्गम् । कल्पो व्याकरणं निरुक्त शिक्षाच्छन्दोविचितिज्योतिषामयनमिति । तस्माच्चानिन्द्यम् । आर्षं च वेदाङ्गशास्त्रम् । आर्षं च लोके प्रमाणं भवति । तस्माच्चानिन्द्यम् । अपि चात्र श्लोकाः—

उ० भा० अ०—यह जो कहा गया है कि यहाँ (=शिक्षापटलो में) जैसा विधान किया गया है वैसा वर्णों का उच्चारण नही किया जा सकता है, इसलिये यह वर्णशिक्षा प्रयोजनरहित है—यह ठीक नही है। (प्रश्न) क्यो ? (सा=) यह शिक्षा, **एतेन**= इसी (वर्णोच्चारण-विषयक) विधान के कारण, **अन्यैः शास्त्रैर्न विशिष्यते**=अन्य शास्त्रों से अतिक्रान्त नही की जा सकती है। क्योकि अन्य शास्त्रो में भी 'ग्रस्त' और 'निरस्त' इत्यादि वर्णों के दोपो का विधान किया गया है। अशक्यार्थं का विधान करने से उन्हें प्रयोजन-रहित (अपूर्ण, अकृत्स्न) नही कहा जाता है। वे सप्रयोजन (पूर्ण, कृत्स्न) ही है। इसलिये यह शास्त्र भी सप्रयोजन (पूर्ण, कृत्स्न) होने के सर्वथा योग्य है।

विरुद्ध विधान (प्रतिपत्तिभेद) भी नहीं है। अन्य भी शास्त्रों में इस प्रकार के विकल्प उपलब्ध होते है। इसलिये (यह शास्त्र), **अनिन्द्यम्**=निन्दनीय नही है। **वेदाङ्गं च**=छ वेदाङ्गो के मध्य में यह भी एक वेदाङ्ग है—कल्प व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा, छन्दोविचिति और ज्योतिष (ये छ वेदाङ्ग है)। इस कारण से भी यह (शास्त्र) निन्दनीय नही है **आर्षम्**=यह वेदाङ्गशास्त्र ऋषि-प्रोक्त है। और ऋषि-प्रोक्त लोक में प्रमाण होता है। इस कारण से भी यह (शास्त्र) निन्दनीय नही है। इस विषय में य श्लोक भी है—

उक्त्वोदाहरणं किंचिद् बहुग्रन्थधरो नरः।
आक्षिप्तः शैक्षिकेणेह तृणाग्निरिव शाम्यति॥
सुबहुज्ञोऽपि यो भूत्वा शिक्षां चैन्नाधिगच्छति।
न राजति सभायां स शैक्षिकस्य समीपतः।
ब्राह्मणेषु समेतेषु विद्वत्सु च बहुष्वपि।
ब्रह्मोद्ये संप्रवृत्ते यः शैक्षिकः स विराजते॥

इति श्रीपार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ प्रातिशाख्यभाष्ये चतुर्दशं पटलम्॥

बहुत ग्रन्थों को धारण करने वाला व्यक्ति प्रारम्भ में कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करके वाद-विवाद को प्रारम्भ करता है। किंतु जब शिक्षा-शास्त्र के ज्ञाता के द्वारा उसको चुनौती दी जाती है तो वह तिनको की अग्नि के समान शान्त हो जाता है। बहुत विषयो का ज्ञाता होकर भी जो शिक्षा का ज्ञान प्राप्त नही करता है वह सभा में शिक्षाशास्त्र के ज्ञाता के समीप बैठा हुआ शोभायमान नही होता है। जब किसी सभा में बहुत से ब्राह्मण तथा अन्य विद्वान् एकत्र हो जाते हैं और वेद-विषयक वाद-विवाद प्रारम्भ हो जाता है तो वहाँ शिक्षा-शास्त्र का ज्ञाता ही विशेष रूप से शोभायमान होता है।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य-भाष्य में चतुर्दश पटल समाप्त हुआ।

---

१५ : ओंकारपटलम् (वेदाध्ययन-पटलम्)

(वेदाध्ययने गुरुशिष्ययोरुपवेशनप्रकारः)

पारायणं वर्तयेद् ब्रह्मचारी
गुरुः शिष्येभ्यस्तदनुव्रतेभ्यः ।
अध्यासीनो दिशमेकां प्रशस्तां
प्राचीमुदीचीमपराजितां वा ॥१॥

(वेदाध्ययन मे गुरु और शिष्यो के वैठने का प्रकार)

सू० अ०—नियतेन्द्रिय गुरु एक प्रशस्त दिशा—पूर्व, उत्तर या उत्तर-पूर्व—में वैठा हुआ उसमें (गुरु में तथा अध्ययन मे) श्रद्धालु शिष्यों के लिये अध्यापन करे।

उ० भा०—पारायणम्=अध्यापनम्; वर्तयेत्=कुर्यात्; गुरुः=उपाध्यायः; ब्रह्मचारी भूत्वा तावन्तं कालम्। शिष्येभ्यस्; तदनुव्रतेभ्यः=गुरावध्ययने च ये भक्तास्तेभ्य। प्रशस्तामेकां दिशमध्यासीनः—प्राचीम्=पूर्वाम्; उदीचीम्=उत्तराम्; अपराजिताम् वा=प्रागुदीचीम् ॥

उ० भा० अ०—पारायणम् वर्तयेत्=अध्ययन करावे=अध्यापन करे, गुरुः=उपाध्याय; ब्रह्मचारी=नियतेन्द्रिय, होकर उतने समय तक (अर्थात् जव तक अध्यापन करना है तब तक गुरु नियतेन्द्रिय रहे)। तदनुव्रतेभ्यः=गुरु और अध्ययन मे जो श्रद्धालु (भक्त) हो उन; शिष्येभ्यः=शिष्यो के लिए। प्रशस्तामेकां दिशमध्यासीनः=एक प्रशस्त दिशा में वैठा हुआ—प्राचीम्=पूर्व (दिशा), उदीचीम्=उत्तर (दिशा), अपराजिताम् वा=अथवा पूर्वोत्तर (दिशा) (में वैठा हुआ)।

एकः श्रोता दक्षिणतो निषीदेद् द्वौ वा ॥२॥

सू० अ०—एक शिष्य (श्रोता) (हो तो गुरु के) दाहिनी ओर वैठे अथवा दो (शिष्य हों तो वे भी गुरु के दाहिनी ओर वैठे)।

उ० भा०- एकः; श्रोता=शिष्य, दक्षिणतः; निषीदेत्=उपविशेत् - इत्यर्थ। द्वौ वा श्रोतारौ दक्षिणत एव निषीदेताम् ॥

उ० भा० अ०—एकः श्रोता=एक शिष्य, दक्षिणतः=(गुरु के) दाहिनी ओर, निषीदेत्=वैठे—यह अर्थ है। द्वौ वा=अथवा दो, शिष्य हो तो वे (गुरु के) दाहिनी ओर वैठें।

भूयांसस्तु यथावकाशम् ॥३॥

सू० अ०—यदि (शिष्य) वहुत हो तो स्थान के अनुसार (वैठे)।

उ० भा०—भूयांसः=वहव, श्रोतारो यदि स्यु; यथावकाशम्=यत्र यत्रावकाशस्तत्र तत्र निषीदेयु. ॥

उ० भा० अ०—यदि शिष्य; भूयांसः=बहुत, हो (तो वे), यथावकाशम्=जहाँ-जहाँ स्थान हो वहाँ-वहाँ बैठें।

(गुरवे शिष्यप्रार्थना)

तेऽधीहि भो३ इत्यभिचोदयन्ति
गुरुं शिष्या उपसंगृह्य सर्वे ॥४॥

(गुरु से शिष्यों की प्रार्थना)

सू० अ०—वे सब शिष्य (गुरु के) चरणो को स्पर्श करके गुरु से (को प्रार्थना करते है—"भगवन् पढ़ाइये।"

उ० भा०—ते सर्वे शिष्याः; उपसंगृह्य=गुरोः पादौ पाणिभ्यामुपपीड्य शिरसि कृत्वा; अधीहि भो३ इत्यनेन गुरुमभिचोदयन्ति ॥

उ० भा० अ०—ते सर्वे=वे सब शिष्य, उपसंगृह्य=गुरु के चरणो का स्पर्श करके और अपने सिर को गुरु के चरणो मे रखकर, अधीहि भो३='भगवन् पढाइये"—इस (वाक्य) के द्वारा, गुरुमभिचोदयन्ति=गुरु से (को) प्रार्थना करते है।

(ओंकारस्य महिमा तदुच्चारणप्रकारश्च)

स ओ३मिति प्रस्वरति त्रिमात्रः
प्रस्वार स्थाने स भवत्युदात्तः।
चतुर्मात्रो वार्धपूर्वानुदात्तः
षण्मात्रो वा भवति द्विःस्वरः सन् ॥५॥

(ओंकार की महिमा और उसका उच्चारण-प्रकार)

सू० अ० (उत्तर के रूप में) वह (गुरु) 'ओ३म्' (हाँ) का उच्चारण करता है। यह ओंकार शब्द ('प्रस्वार') (१) तीन मात्राओ का होता है तथा अपने (समुचित) 'स्थान' (stage) मे 'उदात्त' होता है; अथवा (२) यह चार मात्राओ का होता है और इसका पहला आधा भाग 'अनुदात्त' होता है; अथवा (३) यह छः मात्राओ का होता है और (तब यह) 'द्व्युदात्त' होता है।

उ० भा०—स गुरु ओ३मिति; प्रस्वरति=शब्द करोति। त्रिमात्रः प्रस्वारः=स ओंकारशब्दस्त्रिमात्रः। स्थाने भवति। उदात्तः च। किमिद स्थानमिति? उपांशुध्वाननिमदोपब्दिमन्मन्द्रमध्यमताराणि स्थानानि। निषादे पञ्चमे मन्द्रमध्यमतारेषु स्थानेषु (एकस्मिन्) स्थाने प्रयोज्य. स्यात्। तेनैव प्रकारेण प्रणवं कुर्यात्। तान्येतान्युक्तानि भवन्ति। (वा=) अथवा; चतुर्मात्रः संभवति। अर्धपूर्वोऽनुदात्तो यस्य स अर्धपूर्वानुदात्तः। (वा=) अथवा, षण्मात्रो भवति द्विःस्वरः सन्। इमे त्रय प्रणवा'। तेषामाद्यो बहुभिः परिगृहीतः, न मध्यमः। किमिति न ज्ञायते? अस्माभिस्तूत्तमः पठ्यते ॥

उ० भा० अ०—सः=वह गुरु, ओदेमिति='ओ३म्' इस, प्रस्वरति=शब्द को करता है (='ओ३म्' शब्द का उच्चारण करता है)। त्रिमात्रः प्रस्वारः=वह ओकार शब्द तीन मात्राओं वाला (होता है)। स्थाने भवति=(अपने समुचित) 'स्थान' (stage) में (उच्चारित) होता है। और उदात्त (होता है)। यह स्थान क्या है ? (उत्तर) 'उपांशु', 'ध्वान', 'निमद', 'उपब्दिमत्', 'मन्द्र', 'मध्यम' और 'तार'—ये (सात) स्थान है।[क] 'मन्द्र', 'मध्यम' और 'तार' स्थानों (stages) में से किसी एक में ('ओ३म्' शब्द का) उच्चारण (प्रयोग) 'निषाद' अथवा 'पञ्चम' 'स्वर' (musical note) में करना चाहिये। इस प्रकार से ओकार शब्द ('प्रणव') (का उच्चारण) करना चाहिये। ये ['स्थान' (stages) और 'स्वर' (musical notes)] (त्रयोदश पटल १३।४२-४४ में) कहे जा चुके हैं। (वा=) अथवा; चतुर्मात्रः=(यह ओकार शब्द) चार मात्राओं वाला, होता है। पूर्ववर्ती आधा भाग है 'अनुदात्त' जिसका वह अर्धपूर्वानुदात्त है। (वा=) अथवा, द्विस्वरः सन्=दो उदात्तों से समन्वित वह; षण्मात्रः भवति=छ मात्राओं वाला होता है। ये तीन (प्रकार के) ओकार शब्द ('प्रणव') (होते हैं)। उनमें से प्रथम को बहुत से लोगों ने अपनाया है, द्वितीय (=मध्यम) को नहीं। यह ज्ञात नहीं होता है कि (इन तीनों में से) किसको अपनाया जाये ? (उत्तर) हम तो अन्तिम (=छ मात्राओं वाले ओकार) का पाठ करते हैं।

अध्येतुरध्यापयितुश्च नित्यं स्वर्गद्वारं ब्रह्म वरिष्ठमेतत्।
मुखं स्वाध्यायस्य भवेत् ॥६॥

सू० अ०—यह प्रधान ब्रह्म (ओंकारात्मक वेद) अध्येता और अध्यापक के लिये निश्चित ही स्वर्ग का द्वार है। (यह सर्वदा) स्वाध्याय के प्रारम्भ में स्थित होना चाहिए (अर्थात् वेदाध्ययन के प्रारम्भ में सर्वदा ओकार का उच्चारण करना चाहिए)।

उ० भा०—अध्येतुः=शिष्यस्य; अध्यापयितुश्च; नित्यम्=ध्रुवम्; प्रणवो भवति स्वर्गद्वारम्। वरिष्ठम्=प्रधानम्; ब्रह्म इति एतत् अक्षरम्; प्रतीयात्=जानीयात्। मुखम्=आदौ, स्वाध्यायस्य भवेत् ब्रह्म ॥

उ० भा० अ०—यह ओकार ('प्रणव'), अध्येतुः=शिष्य (अध्ययन करने वाले) के लिये, अध्यापयितुश्च=और गुरु (अध्यापन करने वाले) के लिये, नित्यम्=निश्चय ही, स्वर्गद्वारम्=स्वर्ग में प्रवेश करने के लिये द्वार है। एतत्=इस (ओकार रूप) 'अक्षर' को, वरिष्ठम्=प्रधान, ब्रह्म (वेद) जानना चाहिए। यह ओकार (ब्रह्म); स्वाध्यायस्य=स्वाध्याय के, मुखम्=आदि में, भवेत्=होवे, (अर्थात् स्वाध्याय के आदि में ओकार का उच्चारण करना चाहिए)।

टि० (क) स्थानों (stages) के विवरण के लिये पृष्ठ १० पर टि० (क) देखिये।

न चैतत्संदध्यात्स्वाध्यायगतं परेण ॥७॥

सू० अ०—स्वाध्याय के आदि मे प्रयुक्त इस (ओंकार 'अक्षर') को परवर्ती (पाद अथवा अर्धर्च) के साथ नहीं मिलाना चाहिए।

उ० भा०—एतत्=ओंकारमक्षरम्; (स्वाध्यायगतम्=) स्वाध्यायार्थं प्रयुक्तम्; परेण=परपादेन या अर्धर्चेन वा; न संदध्यात्। यज्ञकर्मणि तु सधानं भवति चोदितत्वात्॥

उ० भा० अ०—(स्वाध्यायगतम्=) स्वाध्याय के अन्तर्गत प्रयुक्त, एतत्=इसको=ओंकार 'अक्षर' को, परेण=परवर्ती पाद अथवा अर्धर्च के साथ, न संदध्यात्=नहीं मिलाना चाहिए, (अर्थात् पाद अथवा अर्धर्च के प्रथम पद के साथ इसकी सधि नही करनी चाहिए)। यज्ञ-कर्म में तो सन्धि होती है क्योकि (शाखायन आदि श्रौत-सूत्रो में सधि का) विधान किया गया है।

(वेदाध्ययने गुरुप्रक्रिया शिष्यप्रक्रिया च)

प्रचोदितोऽभिक्रमते यथास्य
क्रमः परस्ताद्विहितस्तथैव ॥८॥

(वेदाध्ययन में गुरु और शिष्यों की प्रक्रिया)

सू० अ०—(शिष्य के द्वारा) प्रार्थित (गुरु) उसी प्रकार (अध्यापन) प्रारम्भ करता है जैसा कि आगे (१५।२१ मे) क्रम विहित है।

उ० भा०—तथा शिष्येण प्रचोदितो गुरुरोकारं कृत्वा; अभिक्रमते=अध्ययनमुच्चारयति। यथास्य; क्रमः=आनुपूर्व्यम्; परस्तात्=उत्तरत्र; (विहितः=) विहितम्—'दक्षिणाय प्रथमं प्रश्नमाह'[1] इति तथैव॥

उ० भा० अ०—उस प्रकार (जैसे १५।४ में कहा गया है) शिष्य के द्वारा, प्रचोदितः=प्रार्थित, गुरु ओकार का (को) (उच्चारण) करके, अभिक्रमते=प्रारम्भ करता है=अध्ययन का (को) उच्चारण करता है। तथैव=उसी प्रकार (प्रारम्भ करता है), यथास्य=जिस प्रकार इस (अध्ययन) का, क्रमः=आनुपूर्व्य, परस्तात्=बाद में, (विहितः=) विहित है। (अध्ययन का क्रम इस सूत्र से विहित है)—"(गुरु) दाहिनी ओर बैठे हुए (शिष्य) के लिये प्रथम प्रश्न का उच्चारण करता है।"

सर्वोदात्तं त्विह तस्मिन्नपृक्त-
मक्षैप्रयुक्तं द्विरुपस्थितं वा ॥९॥

सू० अ०—इस (पारायण-प्रवचन मे) (१) 'सर्वोदात्त' (पद), (२) (संहिता-पाठ में) 'क्षैप्र' संधि को अप्राप्त 'अपृक्त' (=पद-पाठ मे 'व्यञ्जन' से न मिले हुए) (पद) अथवा (३) पद-पाठ में 'इति' के साथ प्रयुक्त होने वाले ('उपस्थित') (पद) का (को) (उपाध्याय) दो बार उच्चारण करता है।

१ १५।२१

उ० भा०—इह=पारायणप्रवचन; तस्मिन्=अभिक्रमणे, सर्वोदात्तं च यत्तत्पदम्; अक्षैप्रयुक्तम् अपृक्तं वा उपस्थितं वा। शिष्यज्ञापनार्थं गुरुः द्विः उच्चारयति। प्र। आ। रोदसी इति; उभे इति यथा। अक्षैप्रयुक्तम् इति कस्मात्? 'उद्वेति।'"[१] एवनेके॥

अपर उकाराकारयोरपि सर्वोदात्तमित्येव सिद्धत्वादपृक्तम् अक्षैप्रयुक्तमित्यनर्थकं भवति। तस्मात्पाठान्तरेण वर्णयन्ति—अपृक्तं सन्नक्षैप्रयुक्तम् इति। ननु अत्राप्युपस्थितमित्येव सिद्धम्। सत्यम्; नियमार्थमिदमुच्यते इह मा भूत्। क्व? "उद्वेति।" "उद्व त्य देव"[२] इत्येवमादौ नियमः स्यात्।

अथवोपस्थितं वेति उपस्थिते विभाषाप्राप्तेर्नित्यार्थमस्य ग्रहणम्—अपृक्तमक्षैप्रयुक्तमिति॥

उ० भा० अ०—इह तस्मिन्=उस पारायणप्रवचन के प्रारम्भ हो जाने पर; (१) सर्वोदात्तम्=जो 'सर्वोदात्त' पद है उसको; अथवा (२) अक्षैप्रयुक्तम् अपृक्तम्=(संहिता-पाठ में) 'क्षैप्र' संधि को अप्राप्त तथा 'अपृक्त' (पद-पाठ में 'व्यञ्जन' में न मिले हुए) (पद) को, अथवा (३) उपस्थितं वा=पद-पाठ में 'इति' सहित (पद) को; शिष्य को समझाने के लिए गुरु; द्विः=दो बार, उच्चारण करता है।[क] जैसे - प्र। आ। रोदसी इति, उभे इति। "'क्षैप्र' संधि को अप्राप्त"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "उद्वेति।"[ख]

दूसरे (आचार्य) (कहते हैं कि सूत्र में) 'सर्वोदात्त' (का ग्रहण होने) से ही उकार और आकार के सिद्ध हो जाने से (सूत्र में) 'अपृक्त' और 'अक्षैप्रयुक्त' (का ग्रहण) अनर्थक है।[ग] इसलिए (ये आचार्य) (सूत्र के) अन्य पाठ द्वारा (इस सूत्र की) व्याख्या करते हैं—(पद-पाठ में) 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ तथा (संहिता-पाठ में) 'क्षैप्र (संधि) को

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र की यह प्रथम व्याख्या है। उपाध्याय इन स्थलों का दो बार उच्चारण करता है—(१) 'सर्वोदात्त' पद; (२) पद-पाठ में 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ तथा संहिता-पाठ में 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त नहीं हुआ पद, और (३) पद-पाठ में 'इति' सहित पद।

(ख) उत्। ॐ इति। एति॥ प० पा०

यद्यपि 'उ' पद पद-पाठ में व्यञ्जन से नहीं मिला हुआ है तथापि यह संहिता-पाठ में 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त हो जाता है। अतः उपाध्याय इस 'उ' पद का दो बार उच्चारण नहीं करता है।

(ग) प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि 'सर्वोदात्त' पद का दो बार उच्चारण किया जाता है। इस विधान से 'आ' का दो बार उच्चारण सिद्ध होता है क्योंकि 'आ' (पद-पाठ में) 'सर्वोदात्त' पद है। इस विधान से 'उ' का दो बार उच्चारण न करना भी सिद्ध है क्योंकि 'उ' पद (पद-पाठ में) 'सर्वोदात्त' न होकर 'अनुदात्त' है। अतएव 'आ' के दो बार उच्चारण और 'उ' के एक बार उच्चारण की सिद्धि के लिए सूत्र में 'अपृक्त' और 'अक्षैप्रयुक्त' पदों का ग्रहण अनर्थक है।

[१] ऋ० ७।६३।१ [२] ऋ० २।३८।१

अप्राप्त।[क] (शङ्का) (सूत्र मे ग्रहण किये गए) 'उपस्थित' से ही यहाँ पर (कार्य) सिद्ध हो जाता है।[ख] (समाधान) यह तो सच है किंतु नियम के लिए इसका (='व्यञ्जन' से न मिला हुआ तथा 'क्षैप्र' संधि को अप्राप्त का) उच्चारण (ग्रहण) किया गया है। (जिससे) यहाँ (दो बार उच्चारण) न होवे। (प्रश्न) (यहाँ) कहाँ ? (उत्तर) "उद्वेति।" 'उदु त्य देव" इत्यादि में नियम (अर्थात् नियम-के अनुसार दो बार उच्चारण) होवे।"[ग]

अथवा "उपस्थितं वा"— इसके अनुसार 'इति' सहित पद ('उपस्थित') में विकल्प प्राप्त होने पर नित्य (विधान) के लिए इसका ग्रहण किया गया है—पद-पाठ में 'व्यञ्जन' से न मिला हुआ और 'क्षैप्र' संधि को अप्राप्त (पद दो बार अवश्य उच्चारित होता है)।[घ]

अभिक्रान्ते द्विपदे वाधिके वा
पूर्वं पदं प्रथमः प्राह शिष्यः ॥१०॥

सू० अ० जब (गुरु) दो पदों के समूह अथवा इससे अधिक का उच्चारण कर लेते हैं तब प्रथम शिष्य (गुरूच्चारित) प्रथम शब्द का प्रत्युच्चारण करता है।

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट पाठान्तर का ग्रहण करने से इन स्थलों का दो बार उच्चारण होगा—(१) 'सर्वोदात्त' पद और (२) वह पद जो (i) पद-पाठ में 'व्यञ्जन' से नहीं मिला हुआ है और (ii) संहिता-पाठ में 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त नहीं है। (१) का उदाहरण 'प्र' है। (२) का यह उदाहरण है—"उदु त्य देव" (उत्। ऊँ इति। त्य। देव॥ प० पा०)। यहाँ 'उ' पद का दो बार उच्चारण किया जाता है क्योंकि 'उ' पद (i) पद-पाठ में 'व्यञ्जन' से नहीं मिला हुआ है और (ii) संहिता-पाठ में 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त नही है।

(ख) प्रस्तुत सूत्र में यह पाठान्तर भी अनर्थक है क्योंकि उपर्युक्त 'उ' पद का दो बार उच्चारण इसी सूत्रस्थ 'उपस्थित' पद से ही सिद्ध हो जाता है। क्योंकि यह 'उ' पद पद-पाठ में 'इति' से युक्त है।

(ग) पाठान्तर का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि 'उ' पद का दो बार उच्चारण तभी होगा जब वह (१) पद-पाठ में 'इति' से युक्त न हो और (२) संहिता-पाठ मे 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त न हो, जैसे "उदु त्य देव" इत्यादि में। "उद्वेति" इत्यादि अन्य स्थलों पर 'उ' पद का दो बार उच्चारण नहीं होगा। प्रस्तुत सूत्र में इस पाठान्तर का ग्रहण न किया जाता तो 'उ' पद का सर्वत्र दो बार उच्चारण प्रसक्त हो जाता।

(घ) "उपस्थितं वा" में 'वा' पद के कारण पद-पाठ में 'इति' से युक्त हुए पद ('उपस्थित') का विकल्प से दो बार उच्चारण प्राप्त होता है। सूत्रस्थ 'अपृक्तम-क्षैप्रयुक्तम्" के कारण उस 'उपस्थित'-संज्ञक पद का नित्य ही दो बार उच्चारण किया जायेगा जो (१) पद-पाठ में 'व्यञ्जन' से नहीं मिला हुआ होता है और (२) संहिता-पाठ में 'क्षैप्र' संधि को प्राप्त नहीं होता है। इससे अतिरिक्त स्थलों पर विकल्प होगा।

उ० भा०—गुरुणा द्वैपदे वाधिके वा; (अभिक्रान्ते=) प्रोक्ते; पूर्वं पदम्= प्रश्नाद्यं पदम्; प्राह; (प्रथमः=) दक्षिणः, शिष्यः। ततः पश्चादितरे प्राहुः। अस्मिन्पटले यदुक्तं विधानं तेन दाक्षिणात्या. पठन्ति। तस्मादिष्टज्ञापनत्वाभिप्रायेण किंचिदुक्तं मत्वा तत्कश्चिच्छिष्यत इति ॥

उ० भा० अ० -गुरु के द्वारा, द्वैपदे वाधिके वा=दो पदो के समूह अथवा अधिक का (को), (अभिक्रान्ते=) उच्चारण कर लिये जाने पर, (प्रथमः) शिष्यः=दाहिनी ओर वैठा हुआ शिष्य, पूर्वं पदम्='प्रश्न' के प्रथम पद का (को), प्राह=उच्चारण करता है। तत्पश्चात् अन्य (शिष्य) उच्चारण करते हैं। इस पटल में जो विधान किया गया है उसके अनुसार दक्षिण भारत के वेदपाठी पाठ करते हैं। इसलिए इष्ट को बतलाने के अभिप्राय से "कुछ तो कहा ही गया है" यह मानकर किसी शिष्य को शिक्षा दी जा रही है।[क]

निर्वाच्ये तु भो३इति चोदना स्या-
न्निरुक्त ओं भो३इति चाभ्यनुज्ञा ॥११॥

सू० अ० (जब किसी स्थल की) व्याख्या करनी हो (तब शिष्य के द्वारा) "भगवन्" (भो३) इस (शब्द) से प्रार्थना की जानी चाहिये, और (जब उस स्थल की) व्याख्या की जा चुकी हो (तब शिष्य के द्वारा) "ठीक है, भगवन्" (ओं भो३) इन शब्दों से (आगे अध्यापन करने का) अनुरोध (किया जाना चाहिए)।

उ० भा०—शिष्येण; (निर्वाच्ये=) निर्वक्तव्ये, गुरौ भो३इति चोदना स्यात्। तेन निरुक्त ओं भो३इति चार्थं पुनर् गृहीतमावर्तयन्; अभ्यनुज्ञा स्यात् ॥

उ० भा० अ०—(निर्वाच्ये=) (जब किसी स्थल की) व्याख्या करनी हो तो, शिष्य के द्वारा गुरु के प्रति, भो३इति चोदना स्यात्="भगवन्" (भो३) इस (शब्द) से प्रार्थना की जानी चाहिये। उनके द्वारा, निरुक्ते=व्याख्या कर देने पर, दोबारा गृहीत (पदार्थ) को दोहराता हुआ, ओं भो३ इति="ठीक है, भगवन्"—यह अनुरोध करे।

परिपन्नं प्राकृतमूष्मसंधिं
नकारस्य लोपरेफोष्मभावम्
असंयुक्तमृपरं रेफसंधिं
विवृत्तिमित्यत्र निदर्शनानि ॥१२॥

सू० अ०—(१) पद के अन्त में वर्तमान मकार के 'अनुस्वार' ('परिपन्न') होने को; (२) प्राकृत 'ऊष्म'-संधि को; (३) नकार के लोप, रेफ अथवा 'ऊष्म' (-वर्ण)

टि० (क) इस पटल में उसी पारायण-प्रवचन का विधान किया गया है जो दक्षिण भारत के वेदपाठियो में प्रचलित है। अत एव यह विधान आंशिक है, पूर्ण नहीं। तथापि यह पारायण-प्रवचन महत्त्वपूर्ण है क्योंकि (१) पारायण-प्रवचन की यह पद्धति आचार्य को इष्ट है और वे चाहते है कि अन्य वेदपाठी भी इसका अनुसरण करें, (२) पारायण-प्रवचन के विषय में कुछ तो कहा ही गया है। यह विषय छोडा तो नहीं गया है। कुछ न कहने की अपेक्षा कुछ कह देना अच्छा ही है।

होने को; (४) 'प्रगृह्य' (असंयुक्त) को; (५) ऋकार है बाद में जिसके उस (पद) को; (६) रेफ-संधि को; और (७) 'विवृत्ति'—इनको (उपाध्याय) निदर्शन (वतलाते) हैं।

उ० भा०—परिपन्नम्—"त्वं राजेन्द्र"[१] इत्येवमादि। (प्राकृतमूष्मसंधिम्=) प्राकृताक्षरमूष्मसंधौ—"अग्निश्च"[२]; "यस्ते मन्यो"[३]; "यश्शम्बर पर्वतेषु।"[४] नकारस्य लोपभावम्—"अस्माँअस्मा इत्।"[५] रेफभावम्—"रश्मीँरिव"[६]; "अभीशूँरिव।"[७] ऊष्मभावम्—"पशूंस्ताँश्चक्रे"[८]; "ताँस्ते अश्याम"[९]; "नॄः पात्रम्।"[१०] असंयुक्तम्—"तव वायवृतस्पते।"[११] ऋपरम्—"प्र ऋभुभ्यः।"[१२] रेफसंधिम्—"अन्तर्वावत्"[१३]; "अग्नी रक्षांसि।"[१४] विवृत्तिम्—"स इं पाहि।"[१५] इत्येतानि निदर्शनान्याहुराचार्याः। कस्य निदर्शनानीत्येतदागमयितव्यम्। केचिदेन श्लोक न पठन्ति॥

उ० भा० अ० —(१) परिपन्न को —"त्वं राजेन्द्र"[क] इत्यादि। (२) 'ऊष्म' संधि में मूल 'अक्षर' को —"अग्निश्च", "यस्ते मन्यो", 'यश्शम्बर पर्वतेषु।"[ख] (३) नकार के (i) लोपभाव को –"अस्माँअस्मा इत्।"[ग] (नकार के) (ii) रेफभाव को—"रश्मीँरिव", 'अभीशूँरिव।"[घ] (नकार के) (iii) ऊष्मभाव को —"पशूंस्ताँश्चक्रे", "ताँस्ते अश्याम", "नॄँ पात्रम्।"[ङ] (४) प्रगृह्य को—"तव वायवृतस्पते।"[च] (५) ऋपर

टि० (क) पदादि रेफ बाद मे होने पर पदान्त मकार ४।१५ से 'अनुस्वार' हो गया है। इस संधि को 'परिपन्न' कहते हैं।

(ख) उपर्युक्त तीनो स्थलो पर विसर्जनीय ४।३१ से शकार और सकार हो गया है। इनके समझने में शिष्य को कठिनता न होवे इसलिये मूल-रूप (विसर्जनीय) को दिखलाकर उपाध्याय इन स्थलो को समझा दे। इस सूत्र के अन्य सभी स्थलो को भी उपाध्याय आवश्यकता पडने पर शिष्य को समझा दें।

(ग) नकार का लोप ४।६५ से हो गया है।

(घ) इन दोनो स्थलो पर नकार ४।७० से रेफ हो गया है।

(ङ) इन तीनो स्थलो पर नकार ४।७४, ४।७६ और ४।७८ से क्रमश शकार, सकार और विसर्जनीय हो गया है।

(च) तव। वायो इति। ऋत पते॥ प० पा० 'वायो' का ओकार १।६८ से 'प्रगृह्य' है। 'प्रगृह्य' 'स्वर' में सामान्यत कोई विकार नही होता है, किंतु यहाँ २।५३ के अनुसार इसकी 'भुग्न' संधि (२।३१ से) हो गई है।

---

१ ऋ० १।१७४।१
२ ऋ० ५।६०।७
३ ऋ० १०।८३।१
४ ऋ० २।१२।११
५ ऋ० ४।३२।४
६ ऋ० ८।३५।२१
७ ऋ० ६।५७।६
८ ऋ० १०।९०।८
९ ऋ० ९।९१।५
१० ऋ० १।१२१।१
११ ऋ० ८।२६।२१
१२ ऋ० ४।३३।१
१३ ऋ० १।४०।७
१४ ऋ० ७।१५।१०
१५ ऋ० ६।१७।२

को—"प्र ऋभुभ्य ।"[क] (६) रेफसंधि को—"अन्तर्वावत्"; "अग्नी रक्षांसि ।"[ख] (७) विवृत्ति को—"स इं पाहि"–इत्यत्र निदर्शनानि=इन्हें (प्रातिशाख्य के) आचार्य निदर्शन बतलाते हैं। किस शिष्य के लिए कौन स्थल कठिन है इस बात को दृष्टि में रखकर (उपाध्याय को कठिन स्थलों की) व्याख्या करनी चाहिए। कुछ लोग इस श्लोक का पाठ नहीं करते हैं।

प्रत्युच्चार्यैतद्वचनं परस्य
शिष्यस्य स्याद् भो३इति चोदना वा।
अर्धर्चोदर्केषु तु वर्जयेयु-
रध्यायान्तेषूभयथा स्मरन्ति ॥१३॥

सू० अ०—दूसरे (अर्थात् गुरु) के इस (= १५।१० में निर्दिष्ट दो पदों अथवा इससे अधिक पदों के) उच्चारण (वचन) का प्रत्युच्चारण करके शिष्य "भगवन्" (भो३) इस (शब्द) से प्रार्थना करे या न करे। अर्धर्चों के अन्त में तो (इस प्रार्थना का) परित्याग करे। अध्यायों के अन्त मे (आचार्य लोग) दोनों प्रकार (परित्याग अथवा अपरित्याग) से बतलाते हैं।

उ० भा०—प्रत्युच्चार्यैतद्वचनम्; परस्य=गुरोः—इत्यर्थः। शिष्यस्य भो३इति चोदना स्यात् न वा स्यात्। अर्धर्चोदर्केषु=अर्धर्चसमाप्तिषु; तां चोदनां वर्जयेयुः। अध्यायान्तेषु अर्धर्चोदर्केषु उभयथा स्मरन्ति आचार्याः वर्जनं वा न वेति ॥

उ० भा० अ०—परस्य=दूसरे के=गुरु के—यह अर्थ है। एतद्वचनम्=इस वचन का (को) (=१५।१० में निर्दिष्ट दो पदों अथवा इससे अधिक पदों के उच्चारण का), प्रत्युच्चार्य=प्रत्युच्चारण करके, शिष्यस्य भो३इति चोदना स्यात् वा=शिष्य के द्वारा (की) "भगवन्" (भो३) इस (शब्द) से (आगे अध्यापन करने की) प्रार्थना की जावे अथवा न की जावे। अर्धर्चोदर्केषु=अर्धर्चों की समाप्ति होने पर, उस प्रार्थना का (को) वर्जयेयुः=परित्याग करे। अध्यायान्तेषु=अध्यायों के अन्त में; स्थित अर्धर्चों की समाप्ति होने पर, उभयथा स्मरन्ति=आचार्य लोग दोनों प्रकार का विधान करते है—(इस प्रार्थना का) परित्याग करे अथवा (परित्याग) न (करे)।

गुरुः शिष्यस्य पदमाह मुख्यं
समासश्चेदसमासौ यदि द्वे ॥१४॥

सू० अ०—गुरु शिष्य के लिये ('प्रश्न' के) एक (प्रथम) पद का उच्चारण करें यदि समास हो। यदि समास न हो तो दो (पदों का उच्चारण करें)।

उ० भा०—गुरुः शिष्यस्य प्रश्ने; मुख्यम्=एकम्; पदमाह, (चेत्=) यदि; समासः। यद्यसमासौ द्वे पदे आह ॥

टि० (क) २।३२ से यहाँ 'उद्ग्राहवत्' संधि हुई है, किंतु कोई विकार नहीं हुआ है।
(ख) प्रथम स्थल में 'अन्तः' का विसर्जनीय ४।२७ से रेफ हो गया है। द्वितीय स्थल में 'अग्नि' के विसर्जनीय का ४।२८ से लोप हो गया है और 'अग्नि' का इकार ४।२९ से 'दीर्घ' हो गया है।

उ० भा० अ०—गुरुः शिष्यस्य=गुरु शिष्य के लिये, 'प्रश्न' के (में), मुख्यम्=एक, पदमाह=पद का (को) उच्चारण करते हैं, (चेत्=) यदि, समासः=(वह पद) समास (होवे)। यद्यसमासो=यदि (वह पद) समास न हो तो, द्वे=दो; पदों का (को) उच्चारण करें।

एतेन कल्पेन समाप्य प्रश्नं
प्रत्याम्नायुस्तं पुनरेव सर्वे ॥१५॥

सू० अ०—इस प्रकार से एक 'प्रश्न' को समाप्त करके सभी (शिष्य) उसी ('प्रश्न') का (को) पुनः अभ्यास (प्रत्युच्चारण) करें।

उ० भा०—एतेन; (कल्पेन =) विधानेन; प्रश्नं समाप्य सर्वे शिष्याः तमेव प्रश्नं पुनः पुनः; (प्रत्याम्नायुः=) अभ्यस्येयु. ॥

उ० भा० अ०—एतेन (कल्पेन)=इस विधान से, प्रश्नं समाप्य='प्रश्न' को समाप्त करके; सर्वे=सभी शिष्य; तमेव=उसी, 'प्रश्न' का (को), पुनः=बार-बार (प्रत्याम्नायुः=) अभ्यास करें।

तत ऊर्ध्वं संततं संवृतेन
प्रविग्रहेण मृद्ववग्रहेण।
सर्वोदात्तेन च चर्चयेयुः सर्वे
इमान्युपस्थापयन्तः पदानि ॥१६॥

सू० अ०—इस (अभ्यास) के बाद सभी (शिष्य) मिले हुए पदों को थोड़ा-थोड़ा पृथक् करते हुए तथा (१५।१७ में उल्लिखित) इन पदों के साथ 'इति' लगाते हुए (उसी 'प्रश्न' का) बिना रुके समान सर्वोदात्त ध्वनि से पुनः उच्चारण करें।

उ० भा०—ततः=तस्मादभ्यासात्; ऊर्ध्वम्; संततम्=अविच्छिन्नम्; संवृतम्=समानम्; (संवृतेन=) समानशब्देन। मृद्ववग्रहेण प्रविग्रहेण। प्रश्लिष्टो यस्मिन् सभवति स प्रविग्रहः। "उद्धेति"[1] इत्येवमादिषु प्रविग्रहेषु प्रश्लिष्टं विश्लिष्टं कुर्यात्=कालाधिक्येन कुर्यात्—इत्यर्थ.। मृद्ववग्रहेण=मृदवोऽवग्रहा यस्मिन्स मृद्ववग्रहस्तेन। सर्वोदात्तेन स्वरेण चर्चयेयुः। आदिपदिकाश्चोत्तरपदिकाश्च भूत्वा सर्वे शिष्यास्तमेव प्रश्नम्। इमानि पदानि यानि वक्ष्यामस्तानि; उपस्थापयन्तः=सेतिकरणानि कुर्वन्तः—इत्यर्थं ॥

उ० भा० अ०—ततः=(१५।१५ में विहित) उस अभ्यास से, ऊर्ध्वम्=बाद में, संततम्=अविच्छिन्न रूप से=बिना रुके, संवृत=समान, (संवृतेन=) समान ध्वनि से। मृद्ववग्रहेण प्रविग्रहेण—जिसमें मेल (प्रश्लिष्ट) संभव हो वह प्रविग्रह है। "उद्धेति" इत्यादि प्रविग्रहों में मेल को पृथक् करना चाहिए=अधिक काल में (उच्चारण) करना चाहिए—यह अर्थ है। मृद्ववग्रहेण=मृदु 'अवग्रह' (थोड़ा-सा पृथक्करण) है जिसमें वह मृद्ववग्रह है उसमें। सर्वोदात्तेन='सर्वोदात्त' 'स्वर' में, चर्चयेयुः=पुन उच्चारण

---

१ ऋ० ७।६३।१

करें। आदिपदिक और उत्तरपदिक होकर[क] सभी शिष्य उसी 'प्रश्न' का (को) (पुनः उच्चारण करें)। **इमानि पदानि**=इन पदों को=जिनको (१५।१७ में) कहेंगे उन (पदो) को, **उपस्थापयन्तः**='इति' शब्द सहित करते हुए—यह अर्थ है।[ख]

अभ्युत्परा निर्व्युप सं प्रति प्र
न्यध्यत्यपा दुःस्वपि पर्यवानु ॥१७॥

सू० अ०—(१५।१६ में सूचित पद ये हैं) 'अभि', 'उत्', 'परा', 'निः', 'वि', 'उप', 'सम्', 'प्रति', 'प्र', 'नि', 'अधि', 'अति', 'अप', 'आ', 'दुः', 'सु', 'अपि', 'परि', 'अव' और 'अनु'।

उ० भा०—अभि, उत् परा, निः, वि, उप, सम्, प्रति, प्र, नि, अधि, अति, अप, आ, दुः, सु, अपि, परि, अव, अनु–इत्येतानि पदानि केषांचिच्छाखिनां सेतिकरणानि भवन्ति–"उदिति"; "परेति"। अस्माकं तु न। यानि सेतिकरणानि तेष्वेवाय विधिः कर्तव्यः॥

उ० भा० अ०—अभि, उत्, परा, निः, वि, उप, सम्, प्रति, प्र, नि, अधि, अति, अप, आ, दुः, सु, अपि, परि, अव और अनु—कुछ शाखाओ के अनुयायी इन पदो को 'इति' शब्द से युक्त कर देते हैं—(उदाहरण) "उदिति"; "परेति"। हम लोग (इन पदो को 'इति' से युक्त) नही करते हैं। जिन (पदों) को 'इति' शब्द से युक्त करते हैं उनके ही विषय में यह विधान करना चाहिये।[ग]

टि० (क) शिष्यो के दो पक्ष होते है। प्रथम पक्ष के शिष्य ऋचा का उच्चारण प्रारम्भ करते है और पहले 'अवसान' पर रुक जाते हैं। प्रथम पक्ष के शिष्य जब 'अवसान' के अन्तिम (उत्तर) पद का उच्चारण करते है तभी द्वितीय पक्ष के शिष्य 'अवसान' से बाद में स्थित प्रथम (आदि) पद का उच्चारण कर देते हैं। इस प्रकार दोनो पक्षो के उच्चारणो के मध्य में कोई विराम नही होता हैं। दूसरे पक्ष के शिष्य तब दूसरे 'अवसान' पर रुकते हैं। फिर प्रथम पक्ष के शिष्य प्रारम्भ करते है। इसी प्रकार आगे भी।

(ख) १५।१५ के अनुसार जिस 'प्रश्न' का बार-बार अभ्यास किया गया है उसी 'प्रश्न' का सभी शिष्य मिलकर पुन उच्चारण करते है जिसमें इन बातो का अनुसरण करना चाहिए--(१) उच्चारण के मध्य में रुकना नही चाहिए, (२) सभी पदो का समानरूपेण उच्च ध्वनि से उच्चारण करना चाहिए, (३) विकार के द्वारा मिले हुए पदो को थोडा पृथक् करते हुए उच्चारण करना चाहिए, (४) १५।१७ में उल्लिखित पदो के साथ 'इति' शब्द को युक्त करना चाहिए।

(ग) ऋग्वेद की जिन शाखाओ के पद-पाठ में इन पदो के साथ 'इति' शब्द लगाया जाता है उनके पारायण-प्रवचन में ही इन पदो के साथ 'इति' शब्द को लगावें; अन्य शाखाओ के पारायण-प्रवचन में नही। अन्य शाखा के पद-पाठ में जिन शब्दो के साथ 'इति' शब्द लगाया जाता है उन्ही पदो के विषय में यह विधान लागू होता हैं।

आद्यं स्थितोपस्थितमेकमेषा-
मर्धर्चान्ते कुर्युरथो द्विषंधौ ॥१८॥

सू० अ०—(१५।१७ में सूचित) इन (पदों) में से प्रथम एक ('अभि') को 'स्थितोपस्थित' करना चाहिये, यदि (वह 'अभि' पद) अर्धर्च के अन्त में हो अथवा 'द्विषंधि' (नामक 'विवृत्ति') में (वर्तमान हो)।

उ० भा०—(एषाम्=) तेषामुपसर्गाणाम्, आद्यम् अभीति एकम् उपसर्गम् अर्धर्चान्ते वर्तमानम् अथो द्विषंधौ वा विवृत्तिस्थाने स्थितोपस्थितं कुर्युः। तेषामेव शाखिनाम्। "अभीत्यभि"॥

उ० भा० अ०—(एषाम्=) इन उपसर्गों में से, आद्यम्=प्रथम='अभि' इस, एकम्=एक, 'उपसर्ग' को, अर्धर्चान्ते=अर्धर्च के अन्त में, वर्तमान अथवा, द्विषंधौ='द्विषंधि'[क] नामक 'विवृत्ति' के स्थान में, स्थितोपस्थितं कुर्युः='स्थितोपस्थित' करना चाहिए।[ख] (१५।१७ के भाष्य में सूचित) उन्ही शाखाओ के अनुयायियो के मत से। (उदाहरण) "अभीत्यभि"।

च घ हि वेति च सर्वत्र तेषा-
मनेकं चेत्संनिपतेद् द्वितीयम् ॥१९॥

सू० अ०—'च', 'घ', 'हि' और 'वा' को सर्वत्र ('स्थितोपस्थित' करना चाहिये)। किन्तु यदि इनमें से एक से अधिक एक साथ आ जावें तो केवल द्वितीय को ('इति' से युक्त करना चाहिए)।

उ० भा०—च, घ, हि, वा—इत्येतानि सर्वत्र स्थितोपस्थितानि कुर्युः। चेति च। घेति घ। तेषाम्=उपसर्गाणाम्, (चेत्=) यदि; अनेकं संनिपतेद् द्वितीयम् एव सेतिकरणं कुर्यु, नेतरत्। उत्। परेति॥

उ० भा० अ०—च, घ, हि और वा—इनको सर्वत्र 'स्थितोपस्थित' करना चाहिए। (उदाहरण) चेति च। घेति घ। तेषाम्=उनमें से=(इन) उपसर्गों में से, (चेत्=) यदि, अनेकम्=एक से अधिक, संनिपतेद्=साथ-साथ में आ जावें तो, द्वितीयम्=दूसरे को ही, 'इति' से युक्त करना चाहिए, अन्य (उपसर्गों) को नही। (उदाहरण) उत्। परेति।

समस्यन्तश्च द्विपदाद्यर्धर्चौ
व्यवस्यन्त इतराश्चर्चयेयुः ॥२०॥

सू० अ०—प्रारम्भ से लेकर 'द्विपदा' (दो पादों वाली ऋचा) रूप दो-दो अर्धर्चों को (एक ऋचा में) मिलाते हुए और अन्य (=अतिरिक्त द्विपदाओं) को पृथक् करते हुए उच्चारण करना चाहिये।

टि० (क) 'द्विषंधि' नामक 'विवृत्ति' के लिए २।८० को देखिए।
(ख) अर्थात् इस शाखा के अनुसार 'अभि' पद के बाद में इति' रखकर पुन 'अभि' का उच्चारण करना चाहिए। 'स्थितोपस्थित' के लिए१०।१४तथा११।३०को देखिए।

उ० भा०—"पश्वा न तायुम्"[1] इत्येवमादीनां द्विपदानां सूक्तानाम्; (द्विपदार्धर्चौ=) द्वौ द्वावर्धर्चौ; (समस्यन्तः=) एकैकम् ऋच कुर्वन्तः। व्यवस्यन्तः=पृथक्कुर्वन्तः; इतराः=अधिका याः सूक्तेषु—"साधुर्न गृध्नुः"[2] इति यथा। तास्तथैव चर्चयेयुः। आदिग्रहणम् आदिपदस्यैतदुच्यते ॥

उ० भा० अ०—"पश्वा न तायुम्" इत्यादि; (द्विपदाद्यर्धर्चौ=) 'द्विपदा' वाले सूक्तों के दो-दो अर्धर्चों को, (समस्यन्तः=) एक-एक ऋचा करते हुए। इतराः=अन्य को=सूक्तो में जो अधिक ऋचायें होती हैं उनको, व्यवस्यन्तः=पृथक् करते हुए—"साधुर्न गृध्नु।" इनका उसी प्रकार, चर्चयेयुः=उच्चारण करना चाहिए। (सूत्र में) 'आदि' (पद) का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि प्रथम (आदि) पाद से लेकर (गिनते हुए) (दो-दो द्विपदाओ की एक-एक ऋचा बनाते हैं)।[क]

दक्षिणाय प्रथमं प्रश्नमाह प्रदक्षिणं तत ऊर्ध्वं परीयुः ॥२१॥

सू० अ०—(गुरु) दाहिनी ओर बैठे हुए (शिष्य) के लिए प्रथम 'प्रश्न' का (को) उच्चारण करता है। तत्पश्चात् (शिष्यों को) गुरु को दाहिनी ओर करके जाना चाहिए।

उ० भा०—दक्षिणाय शिष्याय प्रथमं प्रश्नमाह गुरु। तत अध्ययनारम्भात् ऊर्ध्वं क्वचिद् गच्छन्तः शिष्याः; (प्रदक्षिणम्=) दक्षिणम् आचार्यं कृत्वा; परीयुः। प्रदक्षिणावृत्ताः परीयुरिति वा योजयितव्यम् ॥

उ० भा० अ०—गुरु, दक्षिणाय=दाहिनी ओर बैठे हुए शिष्य के लिये; प्रथमं प्रश्नमाह=प्रथम 'प्रश्न' का (को) उच्चारण करता है। ततः ऊर्ध्वम्=इसके बाद=अध्ययन प्रारम्भ करने के बाद; शिष्य कभी (कार्य पडने पर) कही जावें तो, (प्रदक्षिणम्=) गुरु को दाहिनी ओर करके; परीयुः=जावें। अथवा यह योजना करनी चाहिए कि (अध्ययन के अन्त में) सभी शिष्य गुरु की प्रदक्षिणा करके तब जावें।[ख]

टि० (क) दो-दो पादो वाली (=द्विपदा) ऋचाओ के सूक्तो में—(१) प्रारम्भ से लेकर दो-दो द्विपदा ऋचाओ की एक-एक चतुष्पदा ऋचा बना लेनी चाहिए; (२) यदि सूक्त में द्विपदा ऋचायें समसंख्यक हैं तो दो-दो द्विपदाओं की चतुष्पदा ऋचायें बनाने में कोई कठिनता नही होगी, (३) यदि सूक्त में द्विपदा ऋचायें विषमसंख्यक हैं तो दो-दो द्विपदा ऋचाओ की चतुष्पदा ऋचायें बनाने पर एक अन्तिम ऋचा अवशिष्ट रह जायेगी, उस एक द्विपदा को एक पूर्ण ऋचा करके मान लेना चाहिए, क्योकि उसका जोडा नही बन सकता है।

(ख) पहली योजना के अनुसार यह अर्थ है—अध्ययन के मध्य में यदि शिष्य को कही बाहर जाना पडे तो वह गुरु को दाहिनी ओर करके तब बाहर जावे। दूसरी योजना के अनुसार यह अर्थ है—अध्ययन के समाप्त होने पर शिष्य गुरु की प्रदक्षिण करके बाहर जावें।

---

[1] ऋ० १।६५।१ [2] ऋ० १।७०।६

एवं सर्वे प्रश्नशोऽध्यायमुक्त्वो-
पसंगृह्यातिसृष्टा यथार्थम् ॥२२॥

सू० अ० इस प्रकार एक-एक 'प्रश्न' करके अध्याय का उच्चारण करके, (गुरु के) चरणों का स्पर्श करके (गुरु से) जाने की आज्ञा पाकर अपने-अपने कार्य पर चले जावें।

उ० भा०—एवम्=एतेन विधिना, प्रश्नशः सर्वे शिष्याः (अध्यायमुक्त्वा=) अध्ययनान्तं गत्वा; उपसंगृह्य गुरुं तेन अतिसृष्टाः; (यथार्थम्=) यथार्थाः स्युः=यद्यत्स्यकर्म तत्तत् कुर्युः-इत्यर्थः ॥

किमिदं प्रश्न इति ?

उ० भा० अ०—एवम्=इस विधि से, प्रश्नशः=एक-एक 'प्रश्न' करके, सर्वे=सभी शिष्य, (अध्यायमुक्त्वा=) अध्याय का उच्चारण करके=अध्याय के अन्त में जाकर, उपसंगृह्य=गुरु के चरणों का (को) स्पर्श करके, उनके द्वारा, अतिसृष्टाः=जाने की आज्ञा पाकर (विसर्जित होकर); (यथार्थम्=) अपने-अपने कार्य पर चले जावें=जो-जो अपना कार्य है उस-उस को करें—यह अर्थ है।

प्रश्न किसे कहते हैं ?

(प्रश्नस्वरूपमध्यायस्वरूपं च)

प्रश्नस्तृचः ॥२३॥

(प्रश्न और अध्याय का स्वरूप)

सू० अ०—तीन ऋचाओं का एक 'प्रश्न' होता है।

उ० भा०—तृचः प्रश्न इत्युच्यते ॥

उ० भा० अ०—तृचः=तीन ऋचायें, प्रश्नः='प्रश्न'; कही जाती है।

पङ्क्तिषु तु द्व्यृचो वा ॥२४॥

सू० अ०—'पङ्क्ति' (छन्दः की ऋचाओं) में दो ऋचायें अथवा (तीन ऋचायें) ('प्रश्न' होती हैं)।

उ० भा०—पङ्क्तिषु तु ऋक्षु द्व्यृचो वा प्रश्नो भवति; तृचो वा ॥

उ० भा० अ०—पङ्क्तिषु='पङ्क्ति' छन्द की ऋचाओं में, द्व्यृचो वा=दो ऋचायें अथवा तीन ऋचायें 'प्रश्न' होती है।

द्वे द्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु ॥२५॥

सू० अ०–'पङ्क्ति' से अधिक अक्षरों वाले (छन्दों) में दो-दो ऋचाओं का ('प्रश्न' होता है)।

उ० भा० तस्याः; पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु=त्रिष्टुबादिषु छन्दःसु; द्वे द्वे एव ऋचौ प्रश्नो भवति ॥

उ० भा० अ०—उस, पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु='पङ्क्ति' से अधिक अक्षरों वाले (छन्दो) में='त्रिष्टुप्' आदि छन्दो में, द्वे द्वे=दो-दो, ऋचाओं का 'प्रश्न' होता है।

एका च सूक्तम् ॥२६॥

सू० अ०—एक (ऋचा) सूक्त (हो तो वह एक ऋचा भी 'प्रश्न' होती है)।

उ० भा०— एका ऋक् यत् सूक्तम् भवति सा; च प्रश्नो भवति ॥

उ० भा० अ०—जब; एका=एक ऋचा; सूक्तम्=सूक्त, होती है (तब) वह; च=भी, 'प्रश्न' होती है।

समयास्त्वगण्याः परावराध्याः ॥२७॥

सू० अ०—'समय'-संज्ञक पुनरुक्त मन्त्रांशो को नहीं गिना जाता है, चाहे वे (मन्त्रांश) बड़े हों अथवा छोटे हों।

उ० भा०—समयाः परावराध्याः प्रश्नेषु, (अगण्याः=) न गण्यन्ते ॥

उ० भा० अ०—समयाः='समय'[क]-सज्ञक पुनरुक्त मन्त्रांश, परावराध्याः=चाहे वे (पुनरुक्त मन्त्राश)बड़े हो अथवा छोटे हो, प्रश्नो; में (अगण्याः=) नही गिने जाते है, (अर्थात् प्रश्नो की गणना करते समय 'समय'-सज्ञक पुनरुक्त मन्त्राशो को छोड़ दिया जाता है)।

द्विपदे यथैका ॥२८॥

सू० अ०—दो द्विपदाओं को एक (ऋचा) करके (गिना जाता है)।

उ० भा०— द्विपदे यथैका ऋक्तथा गण्येते ॥

उ० भा० अ०--द्विपदे यथैका=दो द्विपदायें जैसे एक ऋचा हो, वैसे गिनी जाती है; (अर्थात् गणना करते समय दो द्विपदाओ को एक ऋचा माना जाता है)।

सूक्तस्य शेषोऽल्पतरो यदि स्यात्पूर्वं स गच्छेत् ॥२९॥

सू० अ०—यदि सूक्त का शेष भाग ('प्रश्न' से) अल्पतर हो तो वह पूर्ववर्ती ('प्रश्न') को प्राप्त होगा।

उ० भा० एव प्रश्नेष परिकल्प्यमानेषु सूक्तस्य शेषो यद्यल्पतरः स्यात् प्रश्नात् पूर्वं स प्रश्न गच्छेत् ॥

उ० भा० अ०—इस प्रकार प्रश्नो को बना लेने पर, सूक्तस्य शेषः=सूक्त का शेष भाग, यदि 'प्रश्न' से, अल्पतरः स्यात्=न्यून होवे तो; सः=वह (न्यून भाग), पूर्वम्=पूर्ववर्ती 'प्रश्न' को, गच्छेत्=प्राप्त होवे, (अर्थात् वह अवशिष्ट न्यून भाग अपने पूर्ववर्ती 'प्रश्न' का ही अश बन जायेगा और इसकी गणना उसके साथ ही हो जायेगी)।

यदि तु द्वृचो वा ॥३०॥

सू० अ०—यदि (शेष भाग) दो ऋचायें हो तो विकल्प से (वे दो ऋचायें पूर्ववर्ती 'प्रश्न' का अंग होती हैं)।

टि० (क) 'समय' के लिए पृ० ५८१ पर टि० (क) को देखिए।

उ० भा०—यदि सूक्तस्य शेषो द्वृचो भवति पूर्वं प्रश्नं गच्छेत् वा न वेति। पङ्क्त्याः प्राक् छन्दसो द्वृचं पूर्वमेव गच्छेत्। यदि पराणि पङ्क्त्याः स्युः तदा पूर्वं न गच्छेत्। यदि मिश्राणि स्युः पङ्क्त्या तर्हि क्वचित् पृथक्स्यात्, पूर्वं गच्छेद्वा सङ्ख्यावशेन ॥

उ० भा० अ०—यदि सूक्त का शेष (भाग); द्वृचः=दो ऋचायें, होती है (तो यह शेष भाग) पूर्ववर्ती 'प्रश्न' को प्राप्त होगा; वा=अथवा; (पूर्ववर्ती 'प्रश्न' को) प्राप्त नही होगा। 'पङ्क्ति' से पूर्व वाले छन्दः की दो ऋचायें पूर्ववर्ती 'प्रश्न' को ही प्राप्त होंगी। यदि 'पङ्क्ति' से परवर्ती (छन्द) की दो ऋचायें हो तो वे पूर्ववर्ती ('प्रश्न') को प्राप्त नही होंगी। यदि पङ्क्ति' से मिली हुई (दो ऋचायें) होवें तो कही पृथक् होवें, अथवा (पादगत) संख्या के आधार पर पूर्ववर्ती ('प्रश्न') को प्राप्त होवे।[क]

ते षष्टिरध्याय उपाधिका वा
सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ताः ॥२१॥

सू० अ०—एक अध्याय में ६० ('प्रश्न') होते हैं। यदि सूक्त के समाप्त न होने पर ही वे (६० 'प्रश्न') समाप्त (पूरे) हो जावें तो (एक अध्याय में ६० से भी) थोड़े-से अधिक ('प्रश्न' हो जाते हैं)।

उ० भा०—ते प्रश्ना एव गण्यमाना एकैकस्मिन् अध्याये षष्टिः भवन्ति। उपाधिका वा भवन्ति; (सूक्तेऽसमाप्ते=) सूक्तेष्वसमाप्तेषु; यदि ते प्रश्नाः; समाप्ता भवन्ति=यदि षष्टिः पूर्णा भवन्ति—इत्यर्थः। तदा यावद्भिः प्रश्नैः सूक्तशेषः समाप्यते तावद्भिरधिका षष्टिर्भवति। एवं प्रायेण सर्वत्र युज्यते।

क्वचित्सूक्ते समाप्त इति—जातिग्रहण द्रष्टव्यम्। सूक्तेषु समाप्तेष्विति। यथा चतुःषष्टिरध्यायाः ॥

उ० भा० अ०—इस प्रकार गिने जाने पर; ते=वे 'प्रश्न'; एक-एक, अध्याये= अध्याय में; षष्टिः=६०, होते हैं। (सूक्तेऽसमाप्ते=) सूक्तो के समाप्त न होने पर ही, यदि; ते=वे 'प्रश्न', समाप्ताः=समाप्त हो जाते है=यदि ६० ('प्रश्न') पूरे हो जाते हैं-यह अर्थ है तो; उपाधिका वा=(एक अध्याय में ६० से भी) थोड़े-से अधिक ('प्रश्न') हो जाते हैं। तव जितने प्रश्नो से अवशिष्ट सूक्त समाप्त होता है उतने ही ('प्रश्न') ६० से अधिक होते हैं। प्राय इसी प्रकार सर्वत्र किया जाता है।

कही पर "सूक्ते समाप्ते" (यह पाठ है)—यहाँ पर (एक वचन से)(सूक्त) जाति का ग्रहण (किया गया है)—यह समझना चाहिये (सूक्तो के समाप्त होने पर—यह अर्थ है)।

इस प्रकार गणना करने पर ऋग्वेद में ६४ अध्याय सम्पन्न होते है।

टि० (क) अर्थात् (१) एक ऋचा 'पङ्क्ति' छन्द की हो और एक ऋचा 'पङ्क्ति' से पहले वाले छन्द की हो तो वे दोनो ऋचायें पूर्ववर्ती 'प्रश्न' के अन्तर्गत गिनी जायेंगी। किन्तु (२)एक ऋचा 'पङ्क्ति' छन्दः की हो और एक ऋचा 'पङ्क्ति' से वाद वाले छन्द की हो तो वे दोनो ऋचायें पूर्ववर्ती 'प्रश्न' से पृथक् करके गिनी जायेंगी।

[विदाध्ययने गुरुप्रक्रिया शिष्यप्रक्रिया च (पूर्वानुवृत्ता)]

भो३इत्यर्धर्चे गुरुणोक्त आह
शिष्य ओं भो३इत्युचितामृचं च ॥३२॥

[विदाध्ययन में गुरुप्रक्रिया और शिष्यप्रक्रिया (पूर्वानुवृत्त)]

सू० अ०—जब (अध्याय के अन्तिम) अर्धर्च (की समाप्ति पर) गुरु "हो गया" ? कहते हैं तो शिष्य "जी हाँ, हो गया" (कहता है) और (अध्ययन के अन्त में) प्रायः प्रयुक्त की जाने वाली ऋचा का (को) उच्चारण करता है।

उ० भा०—अध्यायस्यान्त्ये अर्धर्चे समाप्ते भो३इति गुरुणोक्तः शिष्य ओं भो३इत्याह। बाढं युष्मदनुध्यानात्समाप्तम्—इत्यर्थः। उक्तां च ऋचमाह। उचितामृचं च। उचिता ऋक्—"शतधारमुत्सम्"[1] इति। तथा—"नमो ब्रह्मणे नमोऽस्त्वग्नये"[2] इति सा नित्य स्वाध्याये परिधानीया ऋक्स्यात्॥

उ० भा० अ०—अध्याय के अन्तिम; अर्धर्चे=अर्धर्च के समाप्त होने पर, भो३इति गुरुणोक्तः=जब गुरु शिष्य के प्रति "हो गया" ? कहते हैं, शिष्य ओं भो३ इत्याह= शिष्य "जी हाँ, हो गया" कहता है। हाँ, आपके प्रयत्न से (अध्याय) समाप्त हो गया—यह अर्थ है। (श्रौतसूत्रो में)कही हुई ऋचा का उच्चारण करता है। उचितामृचं च=और (अध्ययन के अन्त में) प्राय प्रयुक्त की जाने वाली ऋचा का (को) भी उच्चारण करता है। प्राय. प्रयुक्त की जाने वाली ऋचा यह है—'शतधारमुत्सम्।" उसी प्रकार— "नमो ब्रह्मणे नमोऽस्त्वग्नये"—यह ऋचा नित्य स्वाध्याय में अन्तिम ऋचा होती है।

अथैके प्राहुरनुसंहितं तत्पारायणे प्रवचनं प्रशस्तम् ॥३३॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) कहते हैं कि वेदोच्चारण (पारायण) के विषय में वह प्रवचन प्रशस्त है जो संहिता-पाठ के अनुसार होता है।

उ० भा०—अथैके (पारायणे) आचार्याः प्राहुः; (तत्=) एतदेव; पारायणस्य प्रवचनम्; अनुसंहितम्=संहिताक्रमेण; प्रशस्तम् इति॥

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये पञ्चदशं पटलम्॥

उ० भा० अ०—अथैके=कतिपय आचार्य; प्राहुः=कहते है, (पारायणे=) पारायण का; (तत्=) वही, प्रवचनम्=प्रवचन; प्रशस्तम्=श्रेष्ठ होता है जो; अनुसंहितम्=संहिता-पाठ के अनुसार होता है।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक
प्रातिशाख्य-भाष्य में पञ्चदश पटल समाप्त हुआ॥

---

[1] ऋ० ३।२६।९ [2] आ० गृ० ३।३।४

१६ : छन्दः-पटलम् (१)

प्रजापतेर्देवानामसुराणां च सप्त छन्दांसि

ऋषीणां छन्दांसि

यजुषां साम्नामृचां ब्रह्मणश्च छन्दांसि

ऋषीणां छन्दस्सु वर्गाणां त्रिविधत्वम्

ऋषीणां छन्दसामधिकारः

गायत्री तद्भेदाश्च

उष्णिक् तद्भेदाश्च

अनुष्टुप् तद्भेदाश्च

बृहती तद्भेदाश्च

पङ्क्तिस्तद्भेदाश्च

त्रिष्टुप् तद्भेदाश्च

जगती तद्भेदाश्च

अतिच्छन्दसां द्वौ वर्गौ

अतिच्छन्दसां प्रथमो वर्गः

अतिच्छन्दसां द्वितीयो वर्गः

प्रथमवर्गस्य उदाहरणानि

द्वितीयवर्गस्य उदाहरणानि

(प्रजापतेर्देवानामसुराणां च सप्त छन्दांसि)

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती च प्रजापतेः ।
पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगती च सप्तच्छन्दांसि तानि ह ।
अष्टाक्षरप्रभृतीनि ॥१॥

(प्रजापति, देवों तथा असुरों के सात छन्दः)

सू० अ०—'गायत्री', 'उष्णिक्', 'अनुष्टुप्', 'बृहती', 'पङ्क्ति', 'त्रिष्टुप्' और 'जगती'—ये सात छन्दः प्रजापति के हैं जो ८ अक्षरों से प्रारम्भ होते हैं।

उ० भा०—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्तिः, त्रिष्टुप्, जगती इति अष्टाक्षरप्रभृतीनि सप्त च्छन्दांसि । तानि प्रजापतेः वेदितव्यानि ॥

उ० भा० अ०—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् (और) जगती—ये, सप्तच्छन्दांसि=सात छन्द हैं, अष्टाक्षरप्रभृतीनि=(जो) ८ अक्षरो से प्रारम्भ होते हैं। तानि प्रजापतेः=उनको प्रजापति का; जानना चाहिये।

चतुर्भूयः परं परम् ॥२॥

सू० अ०—प्रत्येक बाद में आने वाला छन्दः (अपने-अपने पूर्व वाले छन्दः से) ४ अक्षरों से अधिक होता है।

उ० भा०—यथापरंपरं तेषु च्छन्दःसु पूर्वस्मात् पूर्वस्माच् छन्दस उत्तरमुत्तरम्; (चतुर्भूयः=) चतुर्भिरक्षरैर्भूयः; भवति ॥

उ० भा० अ०—परं परम्=इन छन्दो में प्रत्येक बाद वाला छन्दः अपने पहले वाले छन्द से; (चतुर्भूयः=) ४ अक्षरो से अधिक होता है।[क]

दैवान्यपि च सप्तैव ॥३॥

सू० अ०—देवताओं के भी सात ही (छन्द होते हैं)।

उ० भा०—(दैवान्यपि=) देवानामपि; सप्तैव च्छन्दांसि भवन्ति ॥

उ० भा० अ०—(दैवान्यपि=) देवताओं के भी (इन्ही नामो वाले), सप्तैव= सात ही, छन्द होते है।

सप्त चैवासुराण्यपि ॥४॥

सू० अ०—असुरों के भी सात ही (छन्दः होते हैं)।

उ० भा०—आसुराण्यपि सप्तैव च्छन्दांसि भवन्ति ॥

उ० भा० अ०—आसुराण्यपि=असुरो के भी (इन्ही नामो वाले); सप्तैव= सात ही, छन्द होते है।

टि० (क) इस प्रकार प्रजापति की गायत्री'८, 'उष्णिक्'१२, 'अनुष्टुप्'१६ 'बृहती'२०, 'पङ्क्ति'२४, 'त्रिष्टुप्'२८ और 'जगती'३२ अक्षरो की होती है।

एकोत्तराणि देवानां तान्येवैकाक्षरादधि ॥५॥

सू० अ०—देवताओं के वे ही ('गायत्री' आदि छन्दः) १ 'अक्षर' से प्रारम्भ होकर १-१ ('अक्षर') से बढ़ते हैं।

उ० भा०—तान्येव=गायत्र्यादीनि; (एकाक्षरादधि=) एकाक्षरप्रभृतीनि; एकोत्तराणि देवानां भवन्ति ॥

उ० भा० अ०—देवानाम्=देवताओं के, तान्येव=वे ही='गायत्री' आदि (छन्द); (एकाक्षरादधि=) १ 'अक्षर' से प्रारम्भ होकर, एकोत्तराणि=१-१ ('अक्षर') से अधिक होने वाले; होते है, (अर्थात् देवताओं के 'गायत्री' आदि छन्द. १ 'अक्षर' से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर १-१ 'अक्षर' से बढ़ते हैं)।[क]

एकावमान्यसुराणां ततः पञ्चदशाक्षरात् ॥६॥

सू० अ०—असुरों के (छन्द., १५ अक्षरों से (प्रारम्भ होते हैं) और तब १-१ ('अक्षर') से कम होते हैं।

उ० भा०—तान्येव पञ्चदशाक्षरात् प्रभृति चेमानि; एकावमानि=एकैकन्यूनानि; असुराणां भवन्ति ॥

उ० भा० अ०—असुराणां=असुरों के; वे ही ये ('गायत्री' आदि छन्द); पञ्चदशाक्षरात्=१५ अक्षरो से (प्रारम्भ होते हैं); (ततः=तब) एकावमानि=१-१ ('अक्षर') से न्यून होते हैं।[ख]

(ऋषीणां छन्दांसि)

तानि त्रीणि समागम्य सनामानि सनाम तत्।
एकं भवत्यृषिच्छन्दस्तथा गच्छन्ति संपदम् ॥७॥

(ऋषियों के छन्दः)

सू० अ०—जब उसी नाम वाले ये तीन (प्रजापति, देवों और असुरों के छन्दः) एक मे मिल जाते हैं तो वह उसी नाम का एक ऋषि-छन्दः होता है। इस प्रकार (ऋषि-छन्दः) पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

उ० भा०—तानि=प्रजापतिदेवासुराणां छन्दांसि। (सनामानि=) समाननामानि; तानि त्रीणि; समागम्य=सह भूत्वा; सहभूतानां सनाम तदेकमृषिच्छन्दो भवति। तथा। कथम्? प्रजापतेर्गायत्रमष्टाक्षरं देवानामेकाक्षरमसुराणां पञ्चदशाक्षरम्। तानि चतुर्विंशतिः। चतुरुत्तराणि भवन्ति। एवं सर्वाणि ऋषिच्छन्दांसि संपदं गच्छन्ति ॥

टि० (क) इस प्रकार देवताओं की 'गायत्री' १ 'उष्णिक्' २, 'अनुष्टुप्' ३, 'बृहती' ४, 'पङ्क्ति' ५, 'त्रिष्टुप्' ६ और 'जगती' ७ अक्षरो की होती है।

(ख) इस प्रकार असुरों की 'गायत्री' १५, 'उष्णिक्' १४ 'अनुष्टुप्' १३, 'बृहती' १२, 'पङ्क्ति' ११, 'त्रिष्टुप्' १० और जगती' ९ अक्षरो की होती है।

उ० भा० अ०—तानि=वे=प्रजापति, देव और असुरों के छन्द। (सनामानि=) समान (उसी) नाम वाले, वे; त्रीणि=तीन, समागम्य=एक में मिलकर; मिलकर एक बने हुए (छन्दों) का; सनाम तदेकमृषिच्छन्दो भवति=उसी नाम वाला एक ऋषि-छन्दः हो जाता है। तथा=इस प्रकार (वे पूर्णता को प्राप्त होते हैं)। (प्रश्न) किस प्रकार ? (उत्तर) प्रजापति की 'गायत्री' ८ अक्षरों की, देवताओं की ('गायत्री') १ 'अक्षर' की और असुरों की ('गायत्री') १५ अक्षरों की (होती है)। वे (तीनों मिलकर) २४ ('अक्षर' हो जाते हैं) (जो एक ऋषि-'गायत्री' होती है) ! (वे ऋषि-छन्द क्रमशः) ४-४ अक्षरों से बढ़ते हैं—इस प्रकार सभी ऋषि-छन्द ; संपदं गच्छन्ति=पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

एवं त्रिप्रकृतीन्याहुर्युक्तानि चतुरुत्तरम् ।
ऋषिच्छन्दांसि ॥८॥

सू० अ०—इस प्रकार मिलकर बने हुए ऋषि-छन्दों के विषय में (आचार्य) कहते हैं कि उन (ऋषि-छन्दों) की तीन प्रकृतियाँ होती हैं तथा वे (ऋषि-छन्दः) उत्तरोत्तर ४-४ अक्षरों से बढ़ते हैं।

उ० भा०—एवम्। कथम् ? युक्तानि समाननामानि सनामेति च। त्रिप्रकृतीनि ऋषिच्छन्दांसि; (चतुरुत्तरम्=) चतुरुत्तराणि; आहुः ॥

उ० भा० अ०—एवम्=इस प्रकार (मिलकर बने हुए)। (प्रश्न) किस प्रकार (मिलकर बने हुए) ? (उत्तर) (प्रजापति, देव और असुरों के) समान नाम वाले (छन्दः मिलकर) समान (उसी) नाम वाले (ऋषि-छन्दः हो जाते हैं)। त्रिप्रकृतीनि ऋषिच्छन्दांसि आहुः=ऋषि-छन्दों के विषय में (आचार्य) कहते हैं कि उनकी तीन प्रकृतियाँ होती हैं; (चतुरुत्तरम्=) वे (ऋषि-छन्द) उत्तरोत्तर ४-४ अक्षरों से बढ़ते हैं।[क]

टि० (क) प्रजापति, देवों और असुरों के छन्द—ये तीन—ऋषि-छन्दों की प्रकृतियाँ हैं। इन तीनों के मिलने से ऋषि-छन्द सम्पन्न होते हैं। ये ऋषि-छन्द 'गायत्री' से लेकर 'जगती' तक उत्तरोत्तर ४-४ अक्षरों से अधिक होते हैं। जैसे—ऋषि की 'गायत्री' २४, 'उष्णिक्' २८, 'अनुष्टुप्' ३२, 'बृहती' ३६, 'पङ्क्ति' ४०, 'त्रिष्टुप्' ४४ और 'जगती' ४८ अक्षरों की होती है जैसा कि इस रेखा-चित्र से स्पष्ट हो जायेगा—

	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती
प्रजापति की	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
देवों की	१	२	३	४	५	६	७
असुरों की	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
ऋषि की	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८

तैः प्रायो मन्त्रः श्लोकश्च वर्तते ॥९॥

सू० अ०—इन्हीं (ऋषि-छन्दों) से प्रायः मन्त्र और श्लोक होता है।

उ० भा०—तैः=ऋषिच्छन्दोभिः; (प्रायः=) प्रायेण; मन्त्रः; (वर्तते=) अनुवर्तते; श्लोकश्च ॥

उ० भा० अ०—तैः=इन्हीं ऋषि छन्दों से, (प्रायः=) प्रायेण; मन्त्रः=मन्त्र, श्लोकश्च=और श्लोक भी; (वर्तते=) होता है।

(यजुषां साम्नामृचां ब्रह्मणश्च छन्दांसि)

तत्पादो यजुषां छन्दः साम्नां तु द्वावृचां त्रयः ॥१०॥

(यजुषों, सामों, ऋचाओं तथा ब्रह्म के छन्दः)

सू० अ०—उन (ऋषि-छन्दों) का चतुर्थ भाग यजुषों का छन्दः (होता है), दो चतुर्थ (अर्थात् आधा) भाग सामों का (छन्दः होता है) और तीन चतुर्थ भाग ऋचाओं का (छन्दः होता है)।

उ० भा०—तत्पादः=तेषामृषिच्छन्दसां चतुर्थोऽशः; यजुषां छन्दो वेदितव्यम्। साम्नां छन्दो द्वौ पादौ वेदितव्यौ। ऋचां छन्द. त्रयः पादा वेदितव्याः ॥

उ० भा० अ०—तत्पादः=उनके पाद को=उन ऋषि-छन्दों के चतुर्थ अंश को, यजुषां छन्दः=यजुषों का छन्द; जानना चाहिये। द्वौ=(ऋषि-छन्दों के) दो पादों को (=दो चतुर्थ अंशों को=आधे भाग को); साम्नाम्=सामों का, छन्द जानना चाहिये। त्रयः=तीन पादों (=तीन चतुर्थ अंशों) को, ऋचाम्=ऋचाओं का; छन्द जानना चाहिये।[क]

टि० (क) अर्थात् याजुष छन्दों में आर्ष छन्दों के एक चौथाई 'अक्षर' होते हैं; साम छन्दों में दो चौथाई 'अक्षर' होते हैं और आर्च छन्दों में तीन चौथाई 'अक्षर' होते हैं। जैसे—आर्षी 'गायत्री' २४ अक्षरों की होती है; याजुष 'गायत्री' इसके एक चौथाई अर्थात् $२४ \times \frac{१}{४} = ६$ अक्षरों की होती है; साम 'गायत्री' इसके दो चौथाई अर्थात् $२४ \times \frac{२}{४} = १२$ अक्षरों की होती है और आर्च 'गायत्री' इसके तीन चौथाई अर्थात् $२४ \times \frac{३}{४} = १८$ अक्षरों की होती है, जैसा कि इस रेखा-चित्र से स्पष्ट हो जायेगा—

	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती
ऋषि की	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
यजुष् की	६	७	८	९	१०	११	१२
सामन् की	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
ऋचा की	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६

गायत्र्यादि जगत्यन्तमेकद्वित्र्यधिकं तु तत् ।
आर्षवत्तत्समाहारो ब्राह्मो वर्गः षळुत्तरः ॥११॥

सू० अ०—'गायत्री' से लेकर 'जगती' तक ये (याजुष', 'साम' और 'आर्च' छन्द: क्रमशः) १, २ और ३ (अक्षरों) से अधिक होते हैं। आर्ष (छन्दों) की तरह इनके एकत्र मिलने से ब्राह्मवर्ग (संपन्न) होता है जो उत्तरोत्तर ६-६ अक्षरों से बढ़ता है।

उ० भा० (तत्=)तानि च्छन्दांसि यजुःसामऋचाम्, (गायत्र्यादि जगत्यन्तम्=) गायत्र्यादिजगत्यन्तानि; क्रमेण, (एकद्वित्र्यधिकम्=) एकद्वित्र्यधिकानि; भवन्ति। कः क्रमः? यजुषां गायत्री षडक्षरा; उष्णिक्सप्ताक्षरा। एवम्। तथा साम्नां द्वादशाक्षरा गायत्री; उष्णिक् चतुर्दशाक्षरा। तथा ऋचां गायत्र्यष्टादशाक्षरा, उष्णिगेकविंशत्यक्षरेति। एवं सर्वत्र। तत्समाहारः=तेषामृग्यजुःसाम्नां छन्दसां समाहारः; आर्षवत्=ऋषिच्छन्दोवत्; द्रष्टव्यः। स ब्राह्मः=ब्रह्मणोऽयम्; वर्गः=गणः, षडुत्तरो वेदितव्यः॥

उ० भा० अ०—(तत्=) यजुषों सामों और ऋचाओं के वे छन्द, (गायत्र्यादि जगत्यन्तम्=) 'गायत्री' से लेकर 'जगती' तक; क्रम से, (एकद्वित्र्यधिकम्=) १, २ और ३ (अक्षरो) से अधिक होते हैं। (प्रश्न) कैसा क्रम है? (उत्तर) यजुषों की 'गायत्री ६ अक्षरो की होती है, 'उष्णिक्' ७ अक्षरो की होती है। इसी प्रकार (आगे वाले भी याजुष छन्द एक-एक 'अक्षर' से बढते हैं)। उसी प्रकार सामों की 'गायत्री' १२ अक्षरो की होती है, 'उष्णिक्' १४ अक्षरो की होती है। (आगे वाले साम-छन्द भी २-२ अक्षरो से बढते हैं)। उसी प्रकार ऋचाओं की 'गायत्री' १८ अक्षरो की होती है, 'उष्णिक्' २१ अक्षरो की होती है। (आगे वाले भी आर्च छन्दः ३-३ अक्षरो से बढते हैं)। ऐसा ही सर्वत्र (होता है)। तत्समाहारः=ऋचाओं, यजुषों और सामों के समाहार को, आर्षवत्=ऋषि छन्दो की तरह, समझना चाहिये। (इस प्रकार समाहार करने पर) ब्राह्मः=ब्रह्मन् का, वर्गः=गण (सम्पन्न हो जाता है); जिसे; षळुत्तरः=उत्तरोत्तर ६-६ (अक्षरो) से बढने वाला; जानना चाहिये।[क]

अक्षराणि तु षट्त्रिंशद्गायत्री ब्रह्मणो मिता ॥१२॥

सू० अ०—ब्रह्मन् की गायत्री' ३६ अक्षरों वाली होती है।

उ० भा०—एवं समाहारे; (गायत्री ब्रह्मणः=) गायत्री ब्राह्मी; (अक्षराणि तु षट्त्रिंशत्=) षट्त्रिंशदक्षरा; (मिता=) वेदितव्या॥

उ० भा० अ०—इस प्रकार समाहार करने पर, (गायत्री ब्रह्मणः=) ब्रह्मन् (वेदत्रय का समन्वय) की 'गायत्री', (अक्षराणि तु षट्त्रिंशत्=) ३६ अक्षरो वाली, (मिता=) जाननी चाहिये।

टि० (क) इस विषय में यह संग्रह-श्लोक है—

एकोत्तरो यजुर्वर्गः साम्नो वर्गस्तु द्व्युत्तरः।
ऋचां तु त्र्युत्तरो वर्गो ब्राह्मो वर्गः षळुत्तरः॥

यजुषां षळृचां त्रिः षट् साम्नां द्वादश संपदि ॥१३॥

सू० अ०—यजुषों की ('गायत्री') ६ (अक्षरों) वाली, ऋचाओं की ('गायत्री') तीन गुणा छः (३×६=१८) (अक्षरों) वाली, सामों की ('गायत्री') १२ (अक्षरों) वाली होती है। (इस प्रकार ३६ अक्षरो वाली ब्राह्मी 'गायत्री') सम्पन्न होती है।

उ० भा०—कथ यद् ब्रह्मणो गायत्री षट्त्रिंशदक्षरा भवतीति मन्यसे? तच्छृणु, यजुषां गायत्री षडक्षरा। ऋचां त्रिः षट्=अष्टादशाक्षरा—इत्यर्थः। साम्नाम्; (द्वादश=) द्वादशाक्षरा। अस्यां संपदि षट्त्रिंशदक्षरा भवति॥

उ० भा० अ०—(प्रश्न) यह कैसे मानते हो कि ब्रह्मन् की 'गायत्री' ३६ अक्षरो वाली होती है? (उत्तर) सुनो, यजुषाम्=यजुषों की, 'गायत्री', षट्=६, अक्षरों वाली होती है। ऋचाम्=ऋचाओं की ('गायत्री'), त्रिः षट्=तीन गुणा छ (३×६)=१८ अक्षरो वाली (होती है) —यह अर्थ है। साम्नाम्=सामों की ('गायत्री'); द्वादश=१२; अक्षरो वाली (होती है)। इस प्रकार, संपदि=सम्पन्न होने पर, (ब्राह्मी गायत्री) (अक्षराणि तु षट्त्रिंशत्=) ३६ अक्षरों की, होती है।[क]

(ऋषीणां वर्गाणां त्रिविधत्वम्)

ऋषीणां तु त्रयो वर्गाः सप्तका एकधेतरे ॥१४॥

(ऋषिवर्गों का त्रिविधत्व)

सू० अ०—ऋषि-छन्दों के सात-सात के तीन वर्ग हैं। दूसरे एक प्रकार के हैं।

उ० भा०—ऋषीणां वर्गास्तु त्रयः सप्तका वेदितव्याः। इतरे=प्रजापतिदेवासुरयजुर्ऋक्सामब्रह्मणां वर्गाः, एकधा=एकप्रकाराः; भवन्ति—इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—आर्षादन्येषां सप्तानामुदाहृतानां छन्दसां ये वर्गास्ते गायत्र्यादिजगत्यन्त्याः—इत्यर्थः॥

उ० भा० अ०—ऋषीणाम्=ऋषि-छन्दो के, वर्गास्तु त्रयः सप्तकाः=७-७ (छन्दो) के तीन वर्गों को, जानना चाहिये। इतरे=अन्य=प्रजापति, देव, असुर, यजुष्, ऋक्, साम और ब्रह्मन् के (छन्दो के) वर्ग, एकधा=एक प्रकार के, होते हैं—

टि० (क) यजुषों, ऋचाओं और सामों के 'उष्णिक्' आदि छन्दो के समाहार से ब्रह्मन् के 'उष्णिक्' आदि छन्द. भी सम्पन्न होते हैं, जैसा कि इस रेखाचित्र से स्पष्ट हो जायेगा—

	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती
यजुष् की	६	७	८	९	१०	११	१२
सामन् की	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
ऋचा की	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
ब्रह्मन् की	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

यह अर्थ है। कहने का यह तात्पर्य है—आर्ष छन्दो से अन्य उदाहृत सात छन्दों के जो वर्ग है वे 'गायत्री' से लेकर 'जगती' तक ही है।[क]

(ऋषिच्छन्दसामधिकारः)

ऋषिच्छन्दांसि ॥१५॥

(ऋषिच्छन्दों का अधिकार)

सू० अ०—(अब) ऋषि-छन्दों को (विस्तार में कहेंगे)।

उ० भा०—प्रजापतिप्रभृतीनां छन्दांसि व्याख्यातानि। तेषु ऋषिच्छन्दांसि सोदाहरणानि विस्तरेण वक्ष्यति ॥

उ० भा० अ०—प्रजापति आदि के छन्दो की (को) व्याख्या की जा चुकी है। उनमें से ऋषि-छन्दो को (सूत्रकार) उदाहरणो के सहित विस्तार से कहेंगे।

(गायत्री तद्भेदाश्च)

गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा।
अष्टाक्षरास्त्रयः पादाश्चत्वारो वा षळक्षराः ॥१६॥

(गायत्री और उसके भेद)

सू० अ०—'गायत्री' २४ अक्षरों की होती है। ८-८ अक्षरों के तीन पाद होते हैं अथवा ६-६ अक्षरों के चार पाद होते हैं।

उ० भा०—तेषु गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा स्यात्। तस्या अष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्ति। "अग्निमीळे पुरोहितम्।"[१] षडक्षरा वा चत्वारः पादा भवन्ति ॥

उ० भा० अ०—उन (ऋषि-छन्दो) में, गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा='गायत्री' २४ अक्षरो की; होती है। उसके, अष्टाक्षरास्त्रयः पादाः=८-८ अक्षरों के तीन पाद; होते है।[ख] (उदाहरण) "अग्निमीळे पुरोहितम्।"[ग] षडक्षरा वा=अथवा ६-६ अक्षरो के; चार पाद होते है।[घ]

टि० (क) ऋषि-छन्दो के सात-सात छन्दो के तीन वर्ग है। प्रथम वर्ग म गायत्री' से लेकर 'जगती तक सात छन्द है जिनका सक्षिप्त वर्णन पहले किया जा चुका है और जिनका विस्तृत वर्णन सूत्रकार आगे (१६।१६ इत्यादि में) करेंगे। दूसरे वर्ग में 'अतिजगती' से लेकर 'अतिधृति' तक के सात छन्द आते है। तृतीय वर्ग में 'कृति' मे लेकर 'उत्कृति' तक के सात छन्द. आते है। द्वितीय और तृतीय वर्गों के छन्दों का वर्णन भी आगे इसी पटल (१६।७९ इत्यादि) में किया गया है।

(ख) अष्टाक्षरा गायत्री=८+८+८=२४

(ग) अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥

(घ) षडक्षरा गायत्री=६+६+६+६+=२४

सूत्रकार ने इसका उदाहरण १६।१७ में दिया है।

---

[१] ऋ० १।१।१

इन्द्रः शचीपतिर् बलेन वीळितः ।
दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः ॥१७॥

उ० भा०—इति षडक्षराया उदाहरणम् ॥

उ० भा० अ०—यह (मन्त्र) ६-६ अक्षरों (के चार पादों) की ('गायत्री') का उदाहरण है ।[क]

पञ्चकाः पञ्च पड्वान्त्यः पदपङ्क्तिर्हि सा भुरिक् ।
द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चकाः ॥१८॥

सू० अ०—(१) यदि ५-५ (अक्षरों) के पाँच पाद हों तो वह 'पदपङ्क्ति' ('गायत्री') (होती है) अथवा (२) अन्तिम (पाद) ६ (अक्षरों) का हो (और शेष चार पाद ५-५ अक्षरों के हों) तो वह 'भुरिक्' ('पदपङ्क्ति गायत्री') (होती है)। अथवा (३) दो पाद—एक ४ (अक्षरों) का और दूसरा ६ (अक्षरों) का—हों और तीन पाद ५-५ (अक्षरों) के हों (तो वह भी 'पदपङ्क्ति गायत्री' होती है) ।

उ० भा०—(पञ्चकाः=) पञ्चाक्षराः; पञ्च पादा भवन्ति यस्याः सा पदपङ्क्तिः नाम वेदितव्या । (षट्=) षडक्षरः, वान्त्यः पादो भवति चत्वारश्च पञ्चकाः सा भुरिक् पदपङ्क्तिर्नाम वेदितव्या । (वा=) अथवा; द्वौ पादौ एकः चतुष्क एकः षट्कः; (त्रिपञ्चकाः=) त्रयश्च पञ्चाक्षराः; भवन्ति; सापि । तासामुदाहरणं वक्ष्यति ॥

उ० भा० अ०—(पञ्चकाः=) ५-५ अक्षरों के, पञ्च=पाँच, पाद जिसके होते हैं उसे; पदपङ्क्तिः='पदपङ्क्ति' नामक, 'गायत्री' जानना चाहिये । वान्त्यः=अथवा अन्तिम; पाद, (षट्=) ६ अक्षरों का, हो और चार (पाद) ५-५ (अक्षरों) के हों तो; सा भुरिक्=उसे 'भुरिक्', 'पदपङ्क्ति' नामक ('गायत्री') जानना चाहिये । (वा=) अथवा; द्वौ पादौ=दो पाद, चतुष्कः एकः षट्कः=एक ४ अक्षरों का और एक ६ अक्षरों का (और); (त्रिपञ्चकाः=) तीन (पाद) ५-५ अक्षरों के; हों तो वह भी ('पदपङ्क्ति गायत्री' होती है) ।[ख] इनके उदाहरण (सूत्रकार १६।१९ में) कहेंगे ।

अधा हीन्द्रेति च तृचौ घृतमग्ने तमित्यृचः ॥१९॥

सू० अ०—"अधा हि" और "इन्द्र" (से प्रारम्भ होने वाले) दो तृच (तीन-तीन ऋचाओं के समूह) तथा "घृतम्" और "अग्ने तम्" (से प्रारम्भ होने वाली) ऋचायें (१६।१८ में उल्लिखित छन्दों के उदाहरण हैं) ।

टि० (क) यह मन्त्र ऋग्वेद की उपलब्ध (शाकल) संहिता में नहीं है । अतः सूत्रकार ने सूत्र में ही सम्पूर्ण उदाहरण को दे दिया है ।

(ख) पदपङ्क्ति गायत्री =५+५+५+५+५=२५

अथवा

४+६+५+५+५=२५

भुरिक् पदपङ्क्ति गायत्री=५+५+५+५+६=२६

उ० भा०—अघा हि, इन्द्र इति तृचौ; घृतम्, अग्ने तम् अद्य इत्येताश्च ऋचः तासामुदाहरणानि भवन्ति। "अधा ह्यग्ने।"[१] इन्द्रेति षोडशिनः स्तोत्रियः—"इन्द्र जुषस्व प्रवहा याहि शूर हरीह। पिवा सुतस्य मतिर्न मध्वश्चकानश्चारुर्मदाय।"[२] एवमष्टाक्षरैर्विना पञ्चकाः पञ्च पादा भवन्ति। "घृतं न पूतम्।"[३] "अग्ने तमद्य॥"[४]

उ० भा० अ०—"अघा हि " और "इन्द्र "—ये दो तृच (तीन-तीन ऋचाओं के समूह) "घृतम्" " और "अग्ने तमद्य " इत्यादि ऋचायें उनके (='पदपङ्क्ति गायत्री' और 'भुरिक् पदपङ्क्ति गायत्री' के) उदाहरण हैं। "अघा ह्यग्ने।"[क] "इन्द्र…"—यह षोडशी ग्रह की प्रथम ऋचा (स्तोत्रिय) है—"इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरीह। पिवा सुतस्य मतिर्न मध्वश्चकानश्चारुर्मदाय।"[ख] इस प्रकार (शाङ्खायन श्रौतसूत्र की तीनों ऋचाओं के अन्तिम) ८ अक्षरों को छोडकर ५-५ अक्षरों के पांच पाद हैं। "घृत न पूतम्।"[ग] "अग्ने तमद्य।"[घ]

अष्टको दशकः सप्ती विद्वांसाविति सा भुरिक्॥२०॥

सू० अ०—(यदि प्रथम पाद) ८ (अक्षरों) का, (द्वितीय पाद) १० (अक्षरों) का और (तृतीय) ७ (अक्षरों) का हो तो वह 'भुरिक्' ('गायत्री') (होती है)। 'विद्वांसौ' (आदि इसका उदाहरण है)।

उ० भा०—अष्टकः प्रथमः पाद उत्तरो दशकः अन्त्यः (सप्ती=); सप्तकः; सा भुरिक्। उदाहरणम्—"विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेत्।"[५]

उ० भा० अ०—प्रथम पाद, अष्टकः=८ (अक्षरों) का, (उसके) बाद वाला (अर्थात् द्वितीय पाद); दशकः=१० अक्षरों का, और अन्तिम (पाद); (सप्ती=) ७

टि० (क) अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधो। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥
एभिर्नो अर्कैर् भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः। अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः॥
आभिष्टे अद्य गीर्भिर्गृणन्तो ऽग्ने दाशेम। प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः॥

(ख) इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिह।
पिवा सुतस्य मतिर्न मध्वश्चकानश्चारुर्मदाय॥
इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अस्युः॥
इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो न जघान वृत्रं यतिर्न।
बिभेद वलं भृगुर्न ससाहे शत्रून्मदे सोमस्य॥

(ग) घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम्। तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः॥

(घ) अग्ने तमद्या ऽश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥

---

[१] ऋ० ४।१०।२ [२] शा० श्रौ० ९।५।२ [३] ऋ० ४।१०।६
[४] ऋ० ४।१०।१ [५] ऋ० १।१२०।२

(अक्षरों) का (होवे तो); सा भूरिक्=वह 'भुरिक्'[क] (नामक 'गायत्री' होती है)। उदाहरण—"विद्वासाविद् दुर पृच्छेत्।"[ख]

युवाकु हीति गायत्री त्रयः सप्ताक्षरा विराट्।
सैषा पादनिचृन्नाम गायत्र्येवैकविंशिका ॥२१॥

सू० अ०—"युवाकु हि" यह 'विराट् गायत्री' है जिसमें ७-७ अक्षरों के तीन पाद हैं। २१ अक्षरों वाली यह 'पादनिचृत्' नामक 'गायत्री' है।

उ० भा०—युवाकु हि शचीनाम्"[१] इत्येषा; (त्रयः=) त्रिः; समाक्षरा गायत्र्येव विराड्; (एकविंशिका=) एकविंशत्यक्षरा; पादनिचृन्नाम वेदितव्या ॥

उ० भा० अ०—"युवाकु हि शचीनाम्"[ग]—यह; सप्ताक्षराः=७-७ अक्षरो के, (त्रयः=) तीन (पादों को), विराट्; गायत्र्येव='गायत्री' ही है। (एकविंशिका=) २१ अक्षरों की (इस 'गायत्री' को); पादनिचृन्नाम='पादनिचृत्'[घ] नामक; जानना चाहिये।

षट्कः सप्तकयोर्मध्ये स्तोतॄणां विवाचीति।
यस्या सातिनिचृन्नाम गायत्री द्विर्दशाक्षरा ॥२२॥

सू० अ०—जिसके ७-७ (अक्षरों) के दो पादों के मध्य में "स्तोतॄणां विवाचि" (जैसा) ६ (अक्षरों) का (कोई पाद) आवे तो २० अक्षरों की वह 'गायत्री' 'अतिनिचृत्' नामक होती है।

उ० भा०-सप्तकयोर्मध्ये यस्याः—"स्तोतॄणां विवाचि"—इति षट्कः पाव सातिनिचृन्नाम; (द्विर्दशाक्षरा=) विंशत्यक्षरा; गायत्री। "पुरूतम पुरूणां स्तोतॄणाम्"[२] इति ॥

उ० भा० अ०—सप्तकयोर्मध्ये यस्याः=जिसके ७-७ (अक्षरों) के दो (पादों) के मध्य में, "स्तोतॄणां विवाचि" (जैसा), षट्कः=६ (अक्षरो) का, (कोई) पाद हो तो, (द्विर्दशाक्षरा=) २० अक्षरो की, सातिनिचृन्नाम=वह 'अतिनिचृत'[ङ] नामक, गायत्री (होती है)। (उदाहरण) "पुरूतमं पुरूणा स्तोतॄणाम्"[च]।

टि० (क) भुरिक् गायत्री=८+१०+७=२५

(ख) विद्वासाविद् दुर पृच्छेद् अविद्वानित्थापरो अचेना। नू चिन्नु मर्ते अक्रौ ॥

(ग) युवाकु हि शचीना युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम् ॥

(घ) पादनिचृत् गायत्री=७+७+७=२१

(ङ) अतिनिचृत् गायत्री=७+६+७=२०

(च) पुरूतम पुरूणा स्तोतॄणा विवाचि। वाजेभिर्वाजयताम् ॥

---

[१] ऋ० १।१७।४ [२] ऋ० ६।४५।२९

षट्कसप्तकयोर्मध्ये स्तुह्यासावतिथिम् ।
षळक्षरः प्रकृत्यैष व्यूहेनाष्टाक्षरोऽपि वा ॥२३॥

सू० अ०—६ और ७ (अक्षरों) के दो पादों के मध्य में आने वाला 'स्तुह्यासावातिथिम्' (यह पाद) प्रकृति रूप में ६ अक्षरों का है किंतु 'व्यूह' करने पर ८ अक्षरों का हो जाता है (यह भी अतिनिचृत् 'गायत्री' है)।

उ० भा०—तथा यस्या मध्ये—"स्तुह्यासावातिथिम्"—प्रकृत्यैष षडक्षरो व्यूहेनाष्टाक्षरः सा च गायत्र्यतिनिचृदेव । "प्रेष्ठमु प्रियाणाम्"[1] इति ॥

उ० भा० अ०—उसी प्रकार जिसके; मध्ये=मध्य में; "स्तुह्यासावातिथिम्"; प्रकृत्यैष षडक्षरो व्यूहेनाष्टाक्षरः=प्रकृति रूप से ६ अक्षरों वाला और 'व्यूह'[क] से ८ अक्षरों वाला—यह (पाद आया है); वह भी गायत्री' 'अतिनिचृत्' ही है। (उदाहरण) "प्रेष्ठमु प्रियाणाम् ।"[ख]

उत्तरोत्तरिणः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः ।
गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्ने यज्ञानामिति ॥२४॥

सू० अ०—यदि तीन पाद उत्तरोत्तर ६,७ और ८ (अक्षरों) के हों तो वह 'गायत्री' 'वर्धमाना' (कहलाती है)। "त्वमग्ने यज्ञानाम्" (यह उदाहरण है)।

उ० भा०—उत्तरोत्तरिण एकैकाक्षरेण वर्धमाना. त्रयः पादाः; (षट् सप्ताष्टाविति=) षट्सप्ताष्टाक्षराः; यस्याः; (एषा=) सा; गायत्री वर्धमाना नाम वेदितव्या । "त्वमग्ने यज्ञानाम्"[2] इति ॥

उ० भा० अ०—जिसके, त्रयः पादाः=तीन पाद, उत्तरोत्तरिणः=क्रमश; १-१ 'अक्षर' से बढते हुए, (षट् सप्ताष्टाविति=) ६, ७ और ८ अक्षरो के (होते है); (एषा) गायत्री=उस 'गायत्री' को, वर्धमाना[ग] नामक जानना चाहिये। (उदाहरण) 'त्वमग्ने यज्ञानाम् ।"[घ]

अष्टकौ मध्यमः षट्क एकेषामुपदिश्यते ॥२५॥

सू० अ०—कतिपय आचार्य (उसे भी 'वर्धमाना' 'गायत्री') कहते हैं जिसमे दो (पाद) ८-८ (अक्षरों) के (होते हैं और उनके) मध्य में एक ६ (अक्षरों) का (पाद होता है)।

उ० भा०—एकेषां शाखिनामाद्यन्तौ अष्टकौ पादौ मध्यमः षट्को यस्या. सा वर्धमानैव उपदिश्यते ॥

टि० (क) 'व्यूह' के लिये १७।२२ को देखिए।
(ख) प्रेष्ठमु प्रियाणा स्तुह्यासावातिथिम् । अग्निं रथाना यमम् ॥
(ग) वर्धमाना गायत्री=६+७+८=२१
(घ) त्वमग्ने यज्ञाना होता विश्वेषा हित । देवेभिर्मानुषे जने ॥

[1] ऋ० ८।१०३।१० [2] ऋ० ६।१६।१

उ० भा० अ० —एकेषाम्=एक शाखा वालों के (मत से) जिस ('गायत्री') के प्रथम और अन्तिम—ये दो—पाद, अष्टकौ=८-८ (अक्षरों) के (और), मध्यमः षट्कः=मध्यम (पाद) ६ (अक्षरों) का होवे, वह 'वर्धमाना' ('गायत्री')[क] ही, उपदिश्यते=कहलाती है।

स नो वाजेषु पादौ द्वौ जागतौ द्विपदोच्यते ॥२६॥

सू० अ०—"स नो वाजेषु" में दो १२-१२ (अक्षरों) के (=जागत) पाद हैं। इसे 'द्विपदा गायत्री' कहते हैं।

उ० भा०—"स नो वाजेष्वविता पुरूवसु."[१] इति जागतौ पादौ द्विपदा गायत्री उच्यते ॥

उ० भा० अ० —"स नो वाजेष्वविता पुरूवसु."[ख] —ये; जागतौ पादौ=१२-१२ (अक्षरों) वाले दो पाद हैं, द्विपदा उच्यते=यह 'द्विपदा गायत्री'[ग] कहलाती है।

आद्यान्त्यौ सप्तकौ यस्या मध्ये च दशको भवेत्।
यवमध्या च गायत्री स सुन्व इति दृश्यते ॥२७॥

सू० अ०—जिसके प्रथम और अन्तिम (पाद) ७-७ (अक्षरों) के हों और मध्य में १० ('अक्षर') का (पाद) हो उसे 'यवमध्या गायत्री' (कहते हैं) और (यह 'गायत्री') "स सुन्वे" —(इस मन्त्र में) दिखलाई पड़ती है।

उ० भा०—आद्यान्त्यौ पादौ सप्तकौ यस्या मध्ये च दशको भवेद्यवमध्या नाम सा गायत्री वेदितव्या। "स सुन्वे यो वसूनाम् ॥"[२]

उ० भा० अ०—यस्याः आद्यान्त्यौ=जिसके प्रथम और अन्तिम पाद, सप्तकौ=७-७ (अक्षरों) के (हों); मध्ये च दशको भवेत्=और मध्य में १० (अक्षरों) का (पाद) हो उसे यवमध्या गायत्री[घ] जानना चाहिए। (उदाहरण) "स सुन्वे यो वसूनाम्।"[ङ]

षडक्षरः सप्ताक्षरस्तत एकादशाक्षरः।
एषोष्णिग्गर्भा गायत्री ता मे अश्व्यानामिति ॥२८॥

सू० अ०—(जिसका प्रथम पाद) ६ अक्षरों का, उसके बाद में (द्वितीय पाद) ७ अक्षरों का और (तृतीय पाद) ११ अक्षरों का हो, वह 'उष्णिग्गर्भा गायत्री' (है)। "ता मे अश्व्यानाम्"—(यह इसका उदाहरण है)।

टि० (क) वर्धमाना गायत्री=८+६+८=२२
(ख) स नो वाजेष्वविता पुरूवसु पुरस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत् ॥
(ग) द्विपदा गायत्री=१२+१२=२४
(घ) यवमध्या गायत्री=७+१०+७=२४
(ङ) स सुन्वे यो वसूना यो रायामानेता य इळानाम्। सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥

[१] ऋ ८।४६।१३ [२] ऋ० ९।१०८।१३

उ० भा०—षडक्षरः प्रथमः पादस्ततो द्वितीयः सप्ताक्षरः तृतीय एकादशाक्षरो यस्या एषोष्णिग्गर्भा नाम गायत्री वेदितव्या। "ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना"[१] इति ॥

उ० भा० अ०—जिसका प्रथम पाद, षडक्षरः=६ अक्षरों का हो; ततः=इसके बाद में, द्वितीय (पाद), सप्ताक्षरः=७ अक्षरो का, हो और तृतीय (पाद), एकादशाक्षरः=११ अक्षरों का हो, एषोष्णिग्गर्भा गायत्री=इसे 'उष्णिग्गर्भा गायत्री'[क]; जानना चाहिए। (उदाहरण) "ता मे अश्व्यानां हरीणा नितोशना।"[ख]

(उष्णिक् तद्भेदाश्च)

अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभिः।
पूर्वावष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षरः ॥२९॥

(उष्णिक् और उसके भेद)

सू० अ०—'उष्णिक्' (छन्द) २८ अक्षरों का (होता है)। वह तीन पादों से समन्वित होता है। (उसके) पूर्ववर्ती दो पाद ८-८ अक्षरों के (होते हैं); तृतीय पाद १२ अक्षरों का (होता है)।

उ० भा—(अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा=) यस्या अष्टाविंशत्यक्षराणि सा उष्णिग्भवति। त्रिभिः च पादैर्वर्तते। पूर्वावष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षरः ॥

उ० भा० अ० -(अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा=) जिसके २८ 'अक्षर' होते हैं वह 'उष्णिक्'[ग] होता है। त्रिभिः पादैर्वर्तते=(यह) तीन पादो से समन्वित होता है। पूर्वावष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षरः=(इसके) पूर्ववर्ती दो पाद ८-८ अक्षरों के (होते हैं), तृतीय (पाद) १२ अक्षरों का (होता है)।

पुरउष्णिक् तु सा तस्मिन्प्रथमे मध्यमे ककुप् ॥३०॥

सू० अ०—जब वह (=१२ अक्षरों का पाद) प्रथम हो तो वह 'पुरउष्णिक्' (होता है); जब वह मध्यम हो तो वह 'ककुप्' ('उष्णिक्' होता है)।

उ० भा०—तस्मिन्=द्वादशाक्षरे; प्रथमे सति पुरउष्णिक् भवति। तस्मिन्द्वादशाक्षरे मध्यमे सति ककुप् भवति ॥

उ० भा० अ०—तस्मिन्=वह=१२ अक्षरो का (पाद); प्रथमे=प्रथम (पाद) हो तो; (वह) पुरउष्णिक्[घ] होता है। १२ अक्षरो का वह पाद, मध्यमे=मध्यम (पाद) हो तो; (वह) ककुप्[ङ] ('उष्णिक्') होता है।

टि० (क) उष्णिग्गर्भा गायत्री=६+७+११=२४

(ख) ता मे अश्व्याना हरीणा नितोशना। उतो नु कृत्व्याना नृवाहसा ॥

(ग) उष्णिक्=८+८+१२=२८

(घ) पुरउष्णिक्=१२+८+८=२८

(ङ) ककुप् उष्णिक्=८+१२+८=२८

---

[१] ऋ० ८।२५।२३

अग्ने वाजस्य तच्चक्षुः सुदेवः समहेति च ।
ऋचो निदर्शनार्यैताः परा यास्ता यथोदिताः ॥३१॥

सू० अ०—"अग्ने वाजस्य ", "तच्चक्षुः ", "सुदेवः समहा" "–ये ऋचायें (क्रमशः 'उष्णिक्', 'पुरउष्णिक्' और 'ककुप् उष्णिक्' के) उदाहरण हैं।

उ० भा०—उष्णिक्पुरउष्णिक्ककुभां क्रमेण एता ऋचः; (निदर्शनाय=) निदर्शनानि; भवन्ति—"अग्ने वाजस्य गोमतः ।"[१] "तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।"[२] "सुदेवः समहासति ।"[३] परा या ऋचः ताः; यथोदिताः=यथा कथ्यमाना., तथा जानीयात् ॥

उ० भा० अ०—एता ऋचः=ये (अधोलिखित) ऋचायें; क्रमशः, 'उष्णिक्', 'पुरउष्णिक्' और 'ककुप्' ('उष्णिक्') के, (निदर्शनाय=) उदाहरण हैं—"अग्ने वाजस्य गोमत ।"[क] "तच्चक्षुर्देवहित शुक्रमुच्चरत् ।"[ख] "सुदेवः समहासति ।"[ग] परा याः=अन्य जो ऋचायें हैं, ताः=उनको, यथोदिताः=जैसा कहा गया है, वैसे ही समझना चाहिए।

सप्ताक्षरैश्चतुर्भिर्द्वे नदं मंसीमहीति च ।
पादैरनुष्टुभौ विद्यादक्षरैरुष्णिहाविमे ॥३२॥

सू० अ०—७-७ अक्षरों के चार (पादों) से समन्वित इन दो (ऋचाओं) "नदम् " और "मंसीमहि" " को पादों की दृष्टि से 'अनुष्टुप्' और अक्षरों की दृष्टि से 'उष्णिक्' जानना चाहिये।

उ० भा०—सप्ताक्षरैश्चतुर्भिः पादैः द्वे ऋचावुष्णिहौ भवतः। पादैरनुष्टुभौ; (विद्यात्=) जानीयात्; अक्षरैः कृत्वा उष्णिहौ भवतः—"नदं व ओदतीनाम्"[४]; "मंसीमहि त्वा वयम्"[५] इत्येते ॥

उ० भा० अ० सप्ताक्षरैश्चतुर्भिः=७-७ अक्षरों के चार पादों से युक्त, द्वे=दो ऋचायें, 'उष्णिक्' हैं। पादैरनुष्टुभौ=(इन्हें) पाद की दृष्टि से 'अनुष्टुप्; (विद्यात्) = जानना चाहिये; अक्षरैः उष्णिहौ=अक्षरों की दृष्टि से 'उष्णिक्' हैं[घ]—"नदं व

टि० (क) अग्ने वाजस्य गोमत ईशान. सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रव ॥
(ख) तच्चक्षुर्देवहित शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरद शत जीवेम शरद शतम् ॥
(ग) सुदेव समहासति सुवीरो नरो मरुत. स मर्त्य । य त्रायध्वे स्याम ते ॥
(घ) अर्थात् ७-७ अक्षरों के चार पादों से समन्वित ये दो ऋचायें 'उष्णिक्' भी कही जा सकती हैं और 'अनुष्टुप्' भी। अक्षरों की दृष्टि से ये 'उष्णिक्' हैं क्योंकि 'उष्णिक्' में २८ अक्षर होते हैं और इन दोनों ऋचाओं में भी २८-२८ 'अक्षर' हैं। पादों की दृष्टि से ये 'अनुष्टुप्' हैं क्योंकि 'अनुष्टुप्' में चार पाद होते हैं। इन ऋचाओं में चार-चार पाद हैं जबकि 'उष्णिक्' में तीन ही पाद होते हैं।

---

[१] ऋ० १।७९।४ [२] ऋ० ७।६६।१६ [३] ऋ० ५।५३।१५
[४] ऋ० ८।६९।२ [५] ऋ० १०।२६।४

ओदतीनाम्"[क], "मंसीमहि त्वा वयम् ।"[ख]

ददी रेक्ण इति त्वेषा ककुम्न्यङ्कुशिरा निचृत् ।
एकादशोऽस्याः प्रथम उत्तमश्चतुरक्षरः ॥३३॥

सू० अ०—"ददी रेक्ण… " यह (ऋचा) 'ककुम्न्यङ्कुशिरा निचृत्' ('उष्णिक्') है। इसका प्रथम (पाद) ११ और अन्तिम (पाद) ४ अक्षरों का है (मध्यम पाद १२ अक्षरों का है)।

उ० भा०—अस्याः प्रथमः; (एकादशः =) एकादशाक्षरः। नाम्नि ककुप्शब्दाद् द्वितीयो द्वादशाक्षरः। उत्तमः=तृतीयः; चतुरक्षरः। एषा ककुम्न्यङ्कुशिरा निचृत्। उदाहरणम्—"ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु ॥"[1]

उ० भा० अ०—अस्याः प्रथमः = इसका प्रथम (पाद); (एकादशः=) ११ अक्षरों का (होता है)। नाम में ककुप्' शब्द होने से द्वितीय (पाद) १२ अक्षरों का (होता है)।[ग] उत्तमः=अन्तिम=तृतीय, चतुरक्षर=४ अक्षरो का (होता है)। एषा=यह, ककुम्न्यङ्कुशिरा निचृत्[घ] (नामक 'उष्णिक्' है)। उदाहरण—"ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु।"[ङ]

एकादशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चैकः षळक्षरः ।
उष्णिक् पिपीलिकमध्या हरी यस्येति दृश्यते ॥३४॥

सू० अ०—जिसके दो (पाद) ११-११ अक्षरों के (होते हैं) और मध्य में एक (पाद) ६ अक्षरों का (होता है) उसे 'पिपीलिकमध्या उष्णिक्' (कहते हैं)। (वह) "हरी यस्य…"—(इस ऋचा में) दिखलाई पड़ती है।

उ० भा०—यस्या एकादशाक्षरौ द्वौ पादौ तयोः मध्ये एकः षडक्षरः पिपीलिकमध्या नाम सा उष्णिक् वेदितव्या। "हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेः ॥"[2]

उ० भा० अ०—जिसके; द्वौ=दो पाद, एकादशाक्षरौ=११-११ अक्षरा के (होते हैं) (और), मध्ये एकः षडक्षरः=मध्य में एक (पाद) ६ अक्षरों का (होता है);

टि० (क) नद व ओदतीना नद योयुवतीनाम्। पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥
(ख) मसीमहि त्वा वयम् अस्माक देव पूषन्।
मतीनां च साधन विप्राणा चाधवम् ॥
(ग) जब किसी छन्द के नाम में 'ककुप्' शब्द आता है तो इससे ज्ञात होता है कि मध्यवर्ती पाद अन्य पादों की अपेक्षा अधिक अक्षरो का है। प्रस्तुत छन्दः में प्रथम पाद ११ अक्षरो का है और तृतीय पाद ४ अक्षरों का है। अत मध्यम पाद अवश्य ही १२ अक्षरों का होगा। 'उष्णिक्' छन्द में सबसे बडा पाद १२ अक्षरों का ही होता है।
(घ) ककुम्न्यङ्कुशिरा निचृन्=११+१२+४=२७
(ङ) ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम्। नूनमथ ॥

---

[1] ऋ० ८।४६।१५ [2] ऋ० १०।१०५।२

उसे पिपीलिकमध्या[क] नाम वाला उष्णिक् जानना चाहिये। (उदाहरण) "हरी यस्य सुयुजा विव्रता वे.।"[ख]

ताभ्यां परः षळक्षरः प्र या तनुशिरा नाम ॥३५॥

सू० अ०—६ अक्षरों का(पाद)यदि उन दोनों (=११-११ अक्षरों के दो पादों) के बाद में हो (तो उस 'उष्णिक्' को) 'तनुशिरा' नाम वाला (जानना चाहिये)।

उ० भा०—ताभ्याम्=एकादशाक्षराभ्यां पादाभ्याम्; षडक्षरः पादः परो भवति सोष्णिक् तनुशिरा नाम वेदितव्या। "प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे॥"[1]

उ० भा० अ०—षडक्षरः=६ अक्षरों का पाद; ताभ्याम्=उन दोनो से=११-११ अक्षरो के दो पादो से, परः=बाद में; होवे तो उस 'उष्णिक्' को तनुशिरा[ग] नाम वाला जानना चाहिये। (उदाहरण) "प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे।"[घ]

आद्यः पञ्चाक्षरः पाद उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः।
अनुष्टुब्गर्भैषोष्णिक् सागस्त्येऽस्ति पितुं न्विति ॥३६॥

सू० अ०—यदि प्रथम पाद ५ अक्षरों का हो और बाद के तीन (पाद) ८-८ अक्षरों के हो तो उस 'उष्णिक्' को 'अनुष्टुब्गर्भा' (कहते हैं)। वह अगस्त्य ऋषि (के सूक्त) "पितुं नु .. " इत्यादि में है।

उ० भा०—आद्यः पञ्चाक्षरः पाद उत्तरे त्रयः पादा अष्टाक्षरा यस्या एषानुष्टुब्गर्भोष्णिग् भवति। (सागस्त्ये=)सागस्त्य ऋचौ; विद्यते। "पितुं नु स्तोषम्"[2] इति॥

उ० भा० अ०—जिसका, आद्यः पञ्चाक्षरः पादः=प्रथम पाद ५ अक्षरो का (होता है); उत्तरे त्रयः अष्टाक्षराः=बाद के तीन (पाद) ८-८ अक्षरो के होते हैं; एषा=यह, अनुष्टुब्गर्भा उष्णिक्[ङ] होता है। (सागस्त्ये=) वह अगस्त्य ऋषि (के सूक्त) में; विद्यमान है। (उदाहरण) "पितुं नु स्तोषम्।"[च]

(अनुष्टुप् तद्भेदाश्च)

द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः ॥३७॥

(अनुष्टुप् और उसके भेद)

सू० अ०—'अनुष्टुप्' (छन्दः) ३२ अक्षरों का (होता है)। (इसमें) ८-८ अक्षरो के चार बराबर (पाद होते हैं)।

टि० (क) पिपीलिकमध्या उष्णिक्=११+६+११=२८

(ख) हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेर् अर्वन्तानु शेपा। उभा रजी न केशिना पतिर्दन्॥

(ग) तनुशिरा उष्णिक्=११+११+६=२८

(घ) प्र या घोष भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम्। प्रैषयुर्न विद्वान्॥

(ङ) अनुष्टुब्गर्भा उष्णिक्=५+८+८+८=२९

(च) पितु नु स्तोष महोधर्माण तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्र विपर्वमर्दयत्॥

[1] ऋ० १।१२०।५ [2] ऋ० १।१८७।१

उ० भा०—या द्वात्रिंशदक्षरा सा अनुष्टुप् भवति। तस्याः चत्वारः पादा अष्टाक्षराः ते च समा वेदितव्याः। उदाहरणम्—"गायन्ति त्वा गायत्रिणः"[1] इत्येवमादयः॥

उ० भा० अ०—जो; द्वात्रिंशदक्षरा=३२ अक्षरों का (होता है), वह अनुष्टुप्[क] होता है। उसके; चत्वारः=चार पाद, अष्टाक्षराः=८-८ अक्षरों के (होते हैं,) और उन (पादों को); समाः=बराबर, जानना चाहिए। उदाहरण—"गायन्ति त्वा गायत्रिणः"[ख] इत्यादि।

कृतिर्द्वौ द्वादशाक्षरावेकश्चाष्टाक्षरः परः ॥३८॥

सू० अ०—जिसके दो (पाद) १२-१२ अक्षरों के और (उनके) बाद वाला एक (पाद) ८ अक्षरों वाला हो, वह 'कृति' नामक 'अनुष्टुप्' (होता है)।

उ० भा०—यस्याः (द्वौ) पादौ द्वादशाक्षरौ पूर्वौ स्तः परः (एकः) पादो अष्टाक्षरो भवति सानुष्टुप् कृतिः नाम वेदितव्या। उदाहरणं वक्ष्यति॥

उ० भा० अ०—जिसके पूर्व वाले (द्वौ=दो) पाद, द्वादशाक्षरौ=१२-१२ अक्षरों के होते हैं, परः (एकः)=परवर्ती (एक), पाद; अष्टाक्षर=८ अक्षरों का, होता है उस 'अनुष्टुप्' को कृति[ग] नाम वाला जानना चाहिये। (सूत्रकार) उदाहरण को (आगे) कहेंगे।

यस्यास्त्वष्टाक्षरो मध्ये सा पिपीलिकमध्यमा ॥३९॥

सू० अ०—किंतु जिसका ८ अक्षरों का (पाद) (१२-१२ अक्षरों के पादों के) मध्य में (होता है) वह 'पिपीलिकमध्यमा' ('अनुष्टुप्') (होता है)।

उ० भा०—यस्यास्तु द्वादशाक्षरयोः मध्येऽष्टाक्षरः पादो भवति सा पिपीलिकमध्या अनुष्टुब्भवति। वक्ष्यमाणोदाहरणम्॥

उ० भा० अ०—यस्यास्तु=किंतु जिसके, १२-१२ अक्षरों के दो पादों के, मध्ये=मध्य में; अष्टाक्षर=८ अक्षरों का, पाद होता है; सा=वह; पिपीलिकमध्या[घ] 'अनुष्टुप्' होता है। उदाहरण आगे कहा जाने वाला है।

नवकौ द्वादशी द्व्यूना
ता विद्वांसेति काविराट् ॥४०॥

सू० अ०—दो (पाद) ९ (अक्षरों) वाले हों और एक (पाद) १२ (अक्षरों) वाला हो तो दो (अक्षरों) से न्यून वह 'काविराट्' ('अनुष्टुप्') है। (जैसे) "ता विद्वांसा…।"

टि० (क) अनुष्टुप्=८+८+८+८=३२
(ख) गायन्ति त्वा गायत्रिणो ऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद् वंशमिव येमिरे॥
(ग) कृति नामक अनुष्टुप्=१२+१२+८=३२।
(घ) पिपीलिकमध्यमा अनुष्टुप्=१२+८+१२=३२।

[1] ऋ० १।१०।१

उ० भा०—नवकौ आद्यन्तौ पादौ मध्ये च द्वादशी पादः; (द्व्यूना=) द्वाभ्यां न्यूना; काविराड् वेदितव्या। "ता विद्वांसा हवामहे वाम्"[1] इति ॥

उ० भा० अ० —प्रथम और अन्तिम दो पाद, नवकौ=९-९ (अक्षरों) के हों, और (उनके) मध्य में; द्वादशी=१२ अक्षरों का; पाद हो तो· (द्व्यूना=) दो (अक्षरों) से न्यून (अर्थात् ३२-२=३० अक्षरों के उस 'अनुष्टुप्' को) काविराट्[क] जानना चाहिये। (उदाहरण) "ता विद्वांसा हवामहे वाम् ॥"[ख]

तेषामेकाधिकावन्त्यौ नष्टरूपा वि पृच्छामि ॥४१॥

सू० अ०—यदि (१६।४० में उल्लिखित) उन (तीन पादों) में से अन्तिम दो (पाद) एक-एक ('अक्षर') से अधिक हों तो वह नष्टरूपा' ('अनुष्टुप्') (होता है)। (जैसे) "वि पृच्छामि··· ·।"

उ० भा०—तेषाम्=एव नवकद्वादशिनां पादानाम्; अन्त्यौ; (एकाधिकौ=) एकैकेनाक्षरेणाधिकौ भवतः=नवाक्षरः प्रथमः पादः, दशाक्षरो द्वितीयः, त्रयोदशाक्षरोऽन्तिमः; सानुष्टुप् नष्टरूपा नाम वेदितव्या। "वि पृच्छामि पाक्या न देवान् ॥"[2]

उ० भा० अ०—तेषाम्=उनमें से=९ और १२ अक्षरों वाले पादों में से; अन्त्यौ=अन्त वाले दो पाद, (एकाधिकौ=) १-१ 'अक्षर' से अधिक हों=९ अक्षरों का प्रथम पाद हो, १० अक्षरों का द्वितीय पाद हो, १३ अक्षरों का अन्तिम पाद हो तो, उस 'अनुष्टुप्' को नष्टरूपा[ग] नाम वाला जानना चाहिए। (उदाहरण) "वि पृच्छामि पाक्या न देवान् ।"[घ]

टि० (क) काविराट् अनुष्टुप्=९+१२+९=३०

(ख) ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य ।
प्रार्चद् दयमानो युवाकु ॥

(ग) नष्टरूपा अनुष्टुप्=९+१०+१३=३२

(१) 'नष्टरूपा अनुष्टुप्' के अन्तिम दो पादों की 'अक्षर'-संख्या 'काविराट् अनुष्टुप्' के अन्तिम दो पादों की 'अक्षर'-संख्या की अपेक्षा १-१ 'अक्षर' से अधिक होती है और (२) 'नष्टरूपा अनुष्टुप्' के अन्तिम दो पादों के क्रम में भी परिवर्तन हो जाता है।

सूत्रकार ने (१) को ही बतलाया है, किंतु भाष्यकार ने (२) को भी बतलाया है।

(घ) वि पृच्छामि पाक्या न देवान् वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा ।
पातं च सह्यसो युवं च रभ्यसो नः ॥

---

[1] ऋ० १।१२०।३ [2] ऋ० १।१२०।४

दशाक्षरास्त्रयो विराट् त्रयो वैकादशाक्षराः ॥४२॥

सू० अ०—यदि १०-१० अक्षरों वाले तीन (पाद) हों अथवा ११-११ अक्षरों वाले तीन पाद हों तो वह 'विराट्' ('अनुष्टुप्') (होता है)।

उ० भा०—दशाक्षरास्त्रयः पादा एकादशाक्षरा वा त्रयो यस्या भवन्ति अनुष्टुब् विराण्नाम सा वेदितव्या। तयोरुदाहरणे वक्ष्यामः॥

उ० भा० अ०—जिसके, दशाक्षरास्त्रयः=१०-१० अक्षरों वाले तीन पाद, वा=अथवा, एकादशाक्षरास्त्रयः=११-११ अक्षरों के तीन (पाद) होते हैं; उस 'अनुष्टुप्' को विराट[क] नाम वाला जानना चाहिए। इन दोनों के उदाहरणों को आगे कहेंगे।

षण्महापदपङ्क्तिस्तु षट्कोऽन्त्यः पञ्च पञ्चकाः ॥४३॥

सू० अ०—छः (पादों) वाला ('अनुष्टुप्') 'महापदपङ्क्ति' (कहलाता है)। (इसका) अन्तिम (पाद) ६ (अक्षरों) वाला (होता है) और (पूर्ववर्ती) पाँच (पाद) ५-५ (अक्षरों) वाले (होते हैं)।

उ० भा०—(षण्महापदपङ्क्तिस्तु=) षड्भिः पादैर्यानुष्टुप्सा महापदपङ्क्तिरित्युच्यते। अन्त्यः पादः षट्कः। सर्वे पञ्च पञ्चका आद्याः। उदाहरणं वक्ष्यति॥

उ० भा० अ०—(षण्महापदपङ्क्तिस्तु=) जो 'अनुष्टुप्' छः पादों से (समन्वित होता है) वह 'महापदपङ्क्ति'[ख] कहलाता है। अन्त्यः=अन्तिम पाद; षट्कः=६ (अक्षरों) वाला (होता है), आदि वाले सभी; पञ्च=पाँच (पाद), पञ्चकाः=५-५ (अक्षरों) वाले (होते हैं)। (सूत्रकार) उदाहरण कहेंगे।

मा कस्मै पर्यू षु श्रुध्यग्ने
तव स्वादिष्ठा ता ऋचः ॥४४॥

सू० अ०—"मा कस्मै ", "पर्यू षु", "श्रुधि ", "अग्ने " और "तव स्वादिष्ठा"—ये ऋचायें (क्रमशः 'कृति', 'पिपीलिकमध्यमा', दो प्रकार के 'विराट' और 'महापदपङ्क्ति' के उदाहरण हैं)।

उ० भा०—मा कस्मै, पर्यू षु, श्रुधि, अग्ने, तव स्वादिष्ठा-(ता ऋचः=) इत्येता ऋचः, निर्दिष्टलक्षणानामनिर्दिष्टोदाहरणानामुदाहरणानि।

कृतिः-"मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नः।"[1] अनुष्टुप् पिपीलिकमध्या-"पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये।"[2] दशाक्षरा विराट्-"श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेः।"[3] एकादशाक्षरा-"अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे।"[4] महापदपङ्क्तिः-"तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिः॥"[5]

टि० (क) विराट् अनुष्टुप्=१०+१०+१०=३० अथवा ११+११+११=३३
(ख) महापदपङ्क्ति अनुष्टुप्=५+५+५+५+५+६=३१

---

[1] ऋ० १।१२०।८ [2] ऋ० ९।११०।१ [3] ऋ० ७।२२।४
[4] ऋ० ३।२५।४ [5] ऋ० ४।१०।५

उ० भा० अ०—"मा कस्मै ·"क, "पर्यू षु ··"ख, "श्रुधि···"ग, "अग्ने···"घ और "तव स्वादिष्ठा "ङ—(ता ऋचः)=ये ऋचायें, उन (छन्दो) के उदाहरण हैं जिनके लक्षणो का तो निर्देश (१६।३८-३९-४२-४३ में) कर दिया गया है किंतु उदाहरणो का निर्देश नही किया गया है··· ।

(बृहती तद्भेदाश्च)

चतुष्पदा तु बृहती प्रायः षट्त्रिंशदक्षरा ।
अष्टाक्षरास्त्रयः पादास्तृतीयो द्वादशाक्षरः ॥४५॥

(बृहती और उसके भेद)

सू० अ०—'बृहती' प्रायः चार पादों वाली और ३६ अक्षरों वाली (होती है)। (इसके) तीन पाद ८-८ अक्षरो वाले (होते हैं) और तृतीय (पाद) १२ अक्षरों वाला होता है।

उ० भा०—बृहती षट्त्रिंशदक्षरा चतुष्पदा भवति। तस्याः त्रयः पादा अष्टाक्षराः। तृतीयो द्वादशाक्षरः पादो भवति। एषा बृहती प्रायः। किमिदं प्राय इति? प्रायेण प्रयुज्यते-इत्यर्थः। "मा चिदन्यद्वि शंसत"[1] इति यथा॥

उ० भा० अ०—बृहती षट्त्रिंशदक्षरा चतुष्पदा='बृहती'च ३६ अक्षरो वाली और चार पादो वाली, होती है। उसके, त्रयः पादा अष्टाक्षराः=तीन (=प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ) पाद ८-८ अक्षरो वाले (होते हैं)। तृतीयो द्वादशाक्षरः=तृतीय पाद १२ अक्षरो वाला, होता है। प्रायः बृहती=यह प्राय 'बृहती' है। यह 'प्राय' क्या है? (उत्तर) प्राय इसका प्रयोग होता है। (उदाहरण) "मा चिदन्यद्वि शसत।"छ

टि० (क) मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गु.।
स्तनाभुजो अशिश्वी ॥

(ख) पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणि। द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे॥

(ग) श्रुधी हव विपिपानस्याद्रेर् बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्।
कृष्वा दुवास्यन्तमा सचेमा॥

(घ) अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिहोप यातम्।
अमर्धन्ता सोमपेयाय देवा॥

(ङ) तव स्वादिष्ठा अग्ने सदृष्टिर् इदा चिदह्न इदा चिदक्तो।
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके॥

(च) बृहती=८+८+१२+८=३६

(छ) मा चिदन्यद् वि शसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित स्तोता वृषण सचा सुते मुहुरुक्था च शसत॥

---

[1] ऋ० ८।१।१

पुरस्ताद्बृहती नाम प्रथमे द्वादशाक्षरे ।
उपरिष्टाद्बृहत्यन्त्ये द्वितीये न्यङ्कुसारिणी ।
स्कन्धोग्रीव्युरोबृहती त्रेधैनां प्रतिजानते ॥४६॥

सू० अ०—यदि प्रथम (पाद) १२ अक्षरों वाला हो तो वह 'पुरस्ताद्बृहती' नाम वाली है; यदि अन्तिम (पाद) (१२ अक्षरो वाला हो तो वह) 'उपरिष्टाद्-बृहती' (नाम वाली है); यदि द्वितीय (पाद) (१२ अक्षरो वाला हो तो) इस (बृहती) को तीन प्रकार से कहते हैं—'न्यङ्कुसारिणी', 'स्कन्धोग्रीवी' और 'उरोबृहती'।

उ० भा०—प्रथमे द्वादशाक्षरे सति पुरस्ताद्बृहती नाम वेदितव्या । (अन्त्ये=) अन्तिमे, द्वादशाक्षरे सति उपरिष्टाद्बृहती नाम भवति । द्वितीये द्वादशाक्षरे न्यङ्कु-सारिणी इति केचिदाहु. । अपरे स्कन्धाग्रीवी इति मन्यन्ते । उरोबृहती इत्यन्ये । तासामुदाहरणानि वक्ष्यति । एवम् एताम्; (त्रेधा=) त्रिधा, प्रतिजानत आचार्याः ॥

उ० भा० अ०—प्रथमे द्वादशाक्षरे=प्रथम (पाद) १२ अक्षरो वाला हो तो, पुरस्ताद्बृहती नाम= पुरस्ताद्बृहती[क] नाम वाली, जानना चाहिए । (अन्त्ये=) अन्तिम (पाद), १२ अक्षरो वाला हो तो उपरिष्टाद्बृहती[ख] नाम वाली होती है । द्वितीये= द्वितीय (पाद), १२ अक्षरो वाला हो तो कुछ लोग इसे न्यङ्कुसारिणी[ग] कहते है । दूसरे लोग इसे स्कन्धोग्रीवी[ग] मानते हैं । अन्य लोग इसे उरोबृहती[ग] (कहते है) । (सूत्रकार) इनके उदाहरणो को कहेंगे । इस प्रकार, (त्रेधा) एनां प्रतिजानते=इसको आचार्य तीन प्रकार से कहते हैं ।

त्रयो द्वादशका यस्याः सा होर्ध्वबृहती विराट् ॥४७॥

सू० अ०—जिसके तीन (पाद) १२-१२ (अक्षरो) वाले (होते हैं) वह 'विराट् ऊर्ध्वबृहती' (कहलाती है) ।

उ० भा०—यस्या बृहत्यास्त्रयः पादा.; (द्वादशकाः=) द्वादशाक्षराः, सा विराडूर्ध्वबृहती नाम वेदितव्या । उदाहरणं वक्ष्ये ॥

उ० भा० अ०—यस्याः=जिस 'बृहती' के, त्रयः=तीन पाद; (द्वादशकाः=) १२-१२ अक्षरो वाले (होते है), सा=उसे, विराट् ऊर्ध्वबृहती[घ] नाम वाली जानना चाहिए । उदाहरण कहा जायेगा ।

टि० (क) पुरस्ताद्बृहती=१२+८+८+८=३६

(ख) उपरिष्टाद्बृहती=८+८+८+१२=३६

(ग) न्यङ्कुसारिणी या स्कन्धोग्रीवी या उरोबृहती =८+१२+८+८=३६

(घ) विराट् ऊर्ध्वबृहती=१२+१२+१२=३६ ।

महो योऽधीन्न तं मत्सीजानमिदजीजनः ॥४८॥

सू० अ०—"महो यः…", "अधीत् ", "न तम्…", "मत्सि…", "ईजानमित् " और 'अजीजनः…' (ये 'पुरस्ताद्बृहती', 'उपरिष्टात्बृहती', 'न्यङ्कुसारिणी' और 'विराट् ऊर्ध्वबृहती' के) उदाहरण हैं।

उ० भा०—महो यः, अधीत्, न तम्, मत्सि, ईजानमित्, अजीजनः, निर्दिष्टलक्षणानामनिर्दिष्टोदाहरणानामित्येतान्युदाहरणानि। पुरस्ताद्बृहत्या द्वे—"महो यस्पतिः शवसो असाम्या"[1], "अधीन्वत्र सप्तति च सप्त च।"[2] उपरिष्टाद्बृहत्याः– "न तमंहो न दुरितम्।"[3] न्यङ्कुसारिणीस्कन्धोग्रीव्युरोबृहतीनां द्वे–"मत्स्यपायि ते महः"[4], "ईजानमिद् द्यौर्गूर्तावसुः।"[5] विराडूर्ध्वबृहत्याः—"अजीजनो अमृत मर्त्येष्वा॥"[6]

उ० भा० अ०—महो यः, अधीत्, न तम्, मत्सि, ईजानमित् और अजीजनः– ये (ऋचायें) उन छन्दो के उदाहरण है जिनके लक्षणो का तो निर्देश (१६।४६–४७ में) कर दिया गया है किंतु उदाहरणो का निर्देश वहाँ नही किया गया है। ।

अष्टिनोर्दशकौ मध्ये विष्टारबृहती युवम् ॥४९॥

सू० अ०—८-८ (अक्षरों) वाले दो (पादों) के मध्य में १०-१० (अक्षरों) वाले दो (पाद) हों तो वह 'विष्टारबृहती' (कहलाती है)। (जैसे) "युवम् ।"

उ० भा०—अष्टिनोः पादयोर्मध्ये दशकौ यस्याः सा विष्टारबृहती नाम वेदितव्या। "युवं ह्यास्तं महो रन्"[7] इति॥

उ० भा० अ० -जिसके, अष्टिनोः=८-८ (अक्षरो) वाले दो पादो के, मध्ये=मध्य में, दशकौ=१०-१० (अक्षरो) वाले दो (पाद), हो उसे विष्टारबृहती[क] नाम वाली जानना चाहिए। (उदाहरण) "युवं ह्यास्त महो रन्।"[ख]

एकागस्त्ये पितुस्तोमे नवाक्षरपदोत्तमा ॥५०॥

सू० अ०—अगस्त्य (ऋषि) के अन्नस्तुति वाले सूक्त (ऋ० १।१८७) में अन्तिम ऋचा ९-९ (अक्षरों) वाले (चार) पादों वाली है। (वह 'बृहती' ही है)।

उ० भा०—(अगस्तये=) अगस्त्य ऋषौ; (पितुस्तोमे=) अन्नस्तुतिसूक्ते, उत्तमा=अन्त्या; एका नवाक्षरपदा=) नवाक्षरपादा, विद्यते। बृहत्येव। "तं त्वा वयं पितो वचोभि॥"[8]

टि० (क) विष्टारबृहती=८+१०+१०+८=३६

(ख) युव ह्यास्त महो रन् युव वा यन्निरततसतम्।
ता नो वसू सुगोपा स्यात पात नो वृकादघायोः॥

---

१ ऋ० १०।२२।३
२ ऋ० १०।९३।१५
३ ऋ० १०।१२६।१
४ ऋ० १।१७५।१
५ ऋ० १०।१३२।१
६ ऋ० १०।११०।४
७ ऋ० १।१२०।७
८ ऋ० १।१८७।११

उ० भा० अ०—(अगस्त्ये=) अगस्त्य ऋषि के; (पितुस्तोमे=) अन्नस्तुति वाले सूक्त में, उत्तमा=अन्तिम; (एका=) एक ऋचा, नवाक्षरपदा=९-९ अक्षरों वाले (चार) पादों वाली; विद्यमान है। (वह) 'बृहती' ही है। (उदाहरण) "तं त्वा वय पितो वचोभि ।"[क]

द्वयोश्चोपेदमाहार्षं सर्वे व्यूहे नवाक्षराः ॥५१॥

सू० अ०—"उपदेम् ", "आहार्षम्"···इन दो (ऋचाओं) के सब (पाद) 'व्यूह' करने पर ९-९ अक्षरों वाले (होते हैं)। (ये दोनों 'बृहती' ही हैं)।

उ० भा० - "उपेदमुपपर्चनम्"[१]; "आहार्षं त्वाविदं त्वा"[२] इत्येतयोश्च द्वयोः ऋचोः सर्वे पादा व्यूहे सति नवाक्षरा भवन्ति। बृहत्येव॥

उ० भा० अ०—"उपेदमुपपर्चनम्"[ख]; "आहार्षं त्वाविद त्वा"[ग]—इन; द्वयोः=दो ऋचाओं के, सर्वे=सभी पाद, व्यूहे='व्यूह' (संधि का पृथक्करण) करने पर, नवाक्षराः=९-९ अक्षरों वाले, हो जाते हैं। (ये दोनों) 'बृहती' ही है।

त्रयोदशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चाष्टाक्षरो भवेत्।
अभि वो वीरमित्येषा सा पिपीलिकमध्यमा ॥५२॥

सू० अ०—यदि दो (पाद) १३-१३ अक्षरों वाले हों और (उनके) मध्य में (एक पाद) ८ अक्षरों वाला हो तो वह 'पिपीलिकमध्यमा' ('बृहती') (होती है)। (जैसे) "अभि वो वीरम् ।"

उ० भा०—(त्रयोदशाक्षरौ च द्वौ मध्ये=) त्रयोदशाक्षरयोर्मध्ये च; अष्टाक्षरः पादः सा पिपीलिकमध्यमा नाम बृहती वेदितव्या। "अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय॥"[३]

उ० भा० अ०—(त्रयोदशाक्षरौ च द्वौ मध्ये=) १३-१३ अक्षरों वाले दो (पादों) के मध्य में, अष्टाक्षरः=आठ अक्षरों वाला पाद, (भवेत्=होवे तो); सा=

टि० (क) तं त्वा वय पितो वचोभिर् गावो न हव्या सुषूदिम।
देवेभ्यस्त्वा सधमादम् अस्मभ्य त्वा सधमादम्॥
९+९+९+९=३६

(ख) उपेदमुपपर्चनम् आसु गोषूप पृच्यताम्।
उप ऋषभस्य रेत-स्युपेन्द्र तव वीर्ये॥
९+९+९+९=३६

(ग) आहार्षं त्वाविद त्वा पुनरागाः पुनर्नव।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षु सर्वमायुश्च तेऽविदम्॥
९+९+९+९=३६

[१] ऋ० ६।२८।८ [२] ऋ० १०।१६१।५ [३] ऋ० ८।४६।१४

उसे, पिपीलिकमध्यमा[क] नाम वाली 'बृहती' जानना चाहिए। (उदाहरण) "अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय।"[ख]

नवकाष्ट दश सहैकः परमोऽष्ट च यदि पादाः।
बृहतो विषमपदा सा सनितः सुसनितरुग्र ॥५३॥

सू० अ०—यदि (प्रथम तीन) पाद (क्रमशः) ९, ८ और १०+१=११ (अक्षरों) वाले हों और अन्तिम (पाद) ८ (अक्षरों) वाला हो तो वह 'विषमपदा' (नामक) 'बृहती' (होती है)। जैसे "सनितः सुसनितरुग्र।"

उ० भा०—(नवकाष्ट दश सहैकः=) नवाक्षरः प्रथमः पादः, अष्टाक्षरो द्वितीयः, एकादशाक्षरस्तृतीयः, (परमोऽष्ट च=) परमश्चाष्टाक्षर इति—ईदृशा यदि (पादाः) भवन्ति सा बृहती विषमपदा नाम वेदितव्या। "सनितः सुसनितरुग्र"[1] इति॥

उ० भा० अ०—(नवकाष्ट दश सहैकः=) ९ अक्षरो वाला प्रथम पाद, ८ अक्षरो वाला द्वितीय (पाद), ११ (१०+१) अक्षरो वाला तृतीय (पाद), (परमोऽष्ट च=) और ८ अक्षरो वाला अन्तिम (पाद)—इस प्रकार के यदि (पादाः=पाद) होते हैं तो, सा बृहती=उस 'बृहती' को, विषमपदा[ग] नाम वाली जानना चाहिए। (उदाहरण) "सनितः सुसनितरुग्र।"[घ]

(पङ्क्तिस्तद्भेदाश्च)

पङ्क्तिरष्टाक्षराः पञ्च ॥५४॥

(पङ्क्ति और उसके भेद)

सू० अ०—जिसके ८-८ अक्षरों वाले पाँच (पाद) हों वह 'पङ्क्ति' (होती है)।

उ० भा०—सा पङ्क्तिः इष्यते यस्या अष्टाक्षराः पञ्च पादा भवन्ति। "इन्द्रो मदाय वावृधे॥"[2]

उ० भा० अ०—जिसके, अष्टाक्षरा=८-८ अक्षरो वाले; पञ्च=पाँच पादः होते हैं, वह पङ्क्ति[ङ] मानी जाती है। (उदाहरण) "इन्द्रो मदाय वावृधे।"[च]

टि० (क) पिपीलिकमध्यमा बृहती=१२+८+१२=३४
(ख) अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्।
इन्द्रं नाम श्रुत्य शाकिनं वचो यथा॥
(ग) विषमपदा बृहती=९+८+११+८=३६
(घ) सनित सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत।
प्रासहा सम्राट् सहुरिं सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम्॥
(ङ) पङ्क्ति=८+८+८+८+८=४०
(च) इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषू तेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥

[1] ऋ० ८।४६।२० [2] ऋ० १।८१।१

चत्वारो दशका विराट् ॥५५॥

सू० अ०—१०-१० (अक्षरों) वाले चार पाद हों तो वह 'विराट्' (पङ्क्ति) (होती है)।

उ० भा०—यस्याश्चत्वारः पादा दशकाः सा विराट्पङ्क्तिर्भवति। "मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानाम्॥"[१]

उ० भा० अ०—जिसके; चत्वारः=चार पाद, दशकाः=१०-१० (अक्षरो) वाले हों; वह विराट् 'पङ्क्ति[क] होती है। (उदाहरण) "मन्ये त्वा यज्ञिय यज्ञियानाम्।"[ख]

आदेशेऽष्टाक्षरौ विद्यात्सोपसर्गेषु नामसु ॥५६॥

सू० अ०—(१६।५९ से १६।६२ तक के सूत्रों में उल्लिखित) उपसर्गसहित ('आस्तारपङ्क्ति' आदि) नामों में ('आदितः' इत्यादि के द्वारा) जो आदेश (किया गया है वह) ८-८ अक्षरों वाले दो (पादों) का (को) जानना चाहिए।

उ० भा०—"आस्तारपङ्क्तिः"[२] इत्येवमादिषु सोपसर्गेषु नामसु; (आदेशे=) आदितोऽन्ततो मध्यत इत्येवमादिषु अष्टाक्षरौ पादौ विद्यात्॥

उ० भा० अ०—'आस्तारपङ्क्ति' इत्यादि; सोपसर्गेषु नामसु=उपसर्ग सहित नामो में, (आदेशे=) 'आदि में' (आदित), 'अन्त में' (अन्तत), 'मध्य में' (मध्यत) इत्यादि के द्वारा (आदेश होने पर), अष्टाक्षरौ=८-८ अक्षरो वाले दो पादों को; विद्यात्=जानना चाहिए।[ग]

युग्मावष्टाक्षरौ पादावयुजौ द्वादशाक्षरौ।
सा सतोबृहती नाम ॥५७॥

सू० अ०—समसंख्यक (=द्वितीय और चतुर्थ) पाद ८-८ अक्षरों वाले हो और विषमसंख्यक (=प्रथम और तृतीय) (पाद) १२-१२ अक्षरों वाले (हों तो वह 'पङ्क्ति') 'सतोबृहती' नाम वाली है।

टि० (क) विराट् पङ्क्ति=१०+१०+१०+१०=४०

(ख) मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियाना मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतु मन्ये त्वा वृषभ चर्षणीनाम्॥

(ग) १६।५९ से १६।६२ तक के सूत्रो में उल्लिखित 'आस्तारपङ्क्ति' इत्यादि उपसर्गसहित नाम वाले (जिनके नामो के साथ उपसर्ग लगा हुआ है) छन्दो के विषय में केवल इतना ही कहा गया है कि आदि में', 'अन्त में' इत्यादि। वहाँ यह प्रश्न होता है कि 'आदि में' या 'अन्त में' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। 'आदि में'=आदि में ८-८ अक्षरो के दो पाद हो तो, 'अन्त में'=अन्त में ८-८ अक्षरों के दो पाद हो तो; इत्यादि।

---

[१] ऋ० ८।९६।४ [२] १६।५९

उ० भा०—यस्याः; युग्मौ=द्वितीयचतुर्थौ; पादावष्टाक्षरौ भवत । अयुजौ=प्रथमतृतीयौ; द्वादशाक्षरौ । सा पङ्क्तिः सतोबृहती नाम वेदितव्या । "मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसो ॥"[१]

उ० भा० अ० –जिसके, युग्मौ पादौ=समसंख्यक पाद=द्वितीय और चतुर्थ पाद, अष्टाक्षरौ=८-८ अक्षरों वाले, होते हैं । अयुजौ=विषमसंख्यक (पाद)=प्रथम और तृतीय (पाद), द्वादशाक्षरौ=१२-१२ अक्षरों वाले (होते हैं), सा=उस ('पङ्क्ति') को; सतोबृहती[क] नाम='सतोबृहती' नाम वाली, जानना चाहिए । (उदाहरण) "मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसो ।"[ख]

विपरीता विपर्यये ॥५८॥

सू० अ०—(पादों का) विपर्यय होने पर 'विपरीता' ('पङ्क्ति') (हो जाती है) ।

उ० भा०—तेषाम्; विपर्यये=युग्मौ द्वादशाक्षरावयुजावष्टाक्षरौ । सा विपरीता पङ्क्तिर्नाम वेदितव्या । "य ऋष्व आवयत्सखा ॥"[२]

उ० भा० अ०—(१६।५७ में निर्दिष्ट) उन (पादों) का; विपर्यये=विपर्यय होने पर=समसंख्यक (द्वितीय और चतुर्थ पाद) १२-१२ अक्षरों के हों और विषमसंख्यक (प्रथम और तृतीय पाद) ८-८ अक्षरों वाले हों तो, उसे विपरीता[ग] नाम वाली 'पङ्क्ति' जानना चाहिए । (उदाहरण) "य ऋष्व आवयत्सखा ।"[घ]

आस्तारपङ्क्तिरादितः ॥५९॥

सू० अ०—(यदि ८-८ अक्षरों वाले दो पाद) आदि में हों तो वह 'आस्तार पङ्क्ति' (कहलाती है) ।

उ० भा०—(आदितः=) आदावष्टाक्षरौ; अन्त्यौ द्वादशकौ । सा आस्तार-पङ्क्तिः नाम । "अग्निं न स्ववृक्तिभिः"[३] इति ॥

उ० भा० अ०—(आदितः=) आदि में ८-८ अक्षरों वाले दो (पाद) हों और अन्तिम (=तृतीय और चतुर्थ) दो (पाद) १२-१२ (अक्षरों) वाले हों तो उसे आस्तार-

टि० (क) सतोबृहती पङ्क्ति=१२+८+१२+८=४०

(ख) मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसो ऽस्मान् कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥

(ग) विपरीता पङ्क्ति=८+१२+८+१२=४०

(घ) य ऋष्व श्रावयत्सखा विश्वेत् स वेद जनिमा पुरुष्टुत ।
तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः ॥

१ ऋ० १।८४।२० २ ऋ० ८।४६।१२ ३ ऋ० १०।२१।१

पङ्क्ति[क] नाम वाली (जानना चाहिए)। (उदाहरण) "अग्निं न स्ववृक्तिभिः।"[ख]

प्रस्तारपङ्क्तिरन्ततः ॥६०॥

सू० अ०—(यदि ८-८ अक्षरों वाले दो पाद) अन्त में हों तो वह 'प्रस्तार-पङ्क्ति' (कहलाती है)।

उ० भा०—यस्याः; (अन्ततः=) अन्त्यौ, पादावष्टाक्षरौ भवतः। आद्यौ द्वादशकौ; सा प्रस्तारपङ्क्तिर्नाम वेदितव्या। "महि द्यावापृथिवी भूतमुर्वी॥"[१]

उ० भा० अ०—जिसके; (अन्ततः=) अन्त वाले, दो पाद ८-८ अक्षरो वाले होते हैं, और आदि वाले दो (पाद) १२-१२ (अक्षरो) वाले (होते हैं), उसे प्रस्तारपङ्क्ति[ग] नाम वाली जानना चाहिए। (उदाहरण) "महि द्यावापृथिवी भूतमुर्वी।"[घ]

संस्तारपङ्क्तिर्मध्यतः ॥६१॥

सू० अ०—(यदि ८-८ अक्षरो वाले दो पाद) मध्य में हों तो वह 'संस्तार-पङ्क्ति' (कहलाती) है।

उ० भा०—(मध्यतः=) मध्ये, अष्टाक्षरौ पादौ; आद्यान्त्यौ द्वादशाक्षरौ भवतः; सा संस्तारपङ्क्तिः नाम वेदितव्या। "पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः"[२] इति॥

उ० भा० अ०—(मध्यतः=) मध्य में (=द्वितीय और तृतीय), ८-८ अक्षरो वाले दो पाद, और प्रथम और अन्तिम (पाद) १२-१२ अक्षरो वाले होते हैं तो उसे संस्तार-पङ्क्ति[ङ] नाम वाली जानना चाहिए। (उदाहरण) 'पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः।"[च]

विष्टारपङ्क्तिर्बाह्यतः ॥६२॥

सू० अ०—(यदि ८-८ अक्षरों वाले पाद) बाहर की ओर (प्रथम और चतुर्थ) हों तो वह 'विष्टारपङ्क्ति' (कहलाती है)।

उ० भा०—(बाह्यतः=) आद्यान्त्यौ चाष्टाक्षरौ; मध्ये द्वादशाक्षरौ भवतः; सा विष्टारपङ्क्तिः नाम वेदितव्या। "अग्ने तव श्रवो वयः"[३] इति॥

टि० (क) आस्तारपङ्क्ति=८+८+१२+१२=४०

(ख) अग्निं न स्ववृक्तिभिर् होतारं त्वा वृणीमहे।
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे॥

(ग) प्रस्तारपङ्क्ति=१२+१२+८+८=४०

(घ) महि द्यावापृथिवी भूतमुर्वी नारी यह्वी न रोदसी सदं नः।
तेभिर्नः पातं सह्यस एभिर्नः पातं शूषणि।

(ङ) संस्तारपङ्क्ति=१२+८+८+१२=४०

(च) पितुभृतो न तन्तुमित् सुदानवः प्रति दध्मो यजामसि॥
उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता॥

---

[१] ऋ० १०।९३।१ [२] ऋ० १०।१७२।३ [३] ऋ० १०।१४०।१

उ० भा० अ०—(बाह्यतः=) बाहर की ओर=प्रथम और अन्तिम (पाद) ८-८ अक्षरों वाले, और मध्य में (=द्वितीय और तृतीय पाद) १२-१२ अक्षरों वाले (पाद) होते हैं तो उसे विष्टारपङ्क्ति[क] नाम वाली जानना चाहिए। (उदाहरण) "अग्ने तव श्रवो वय।"[ख]

मन्ये त्वा मा ते राधांसि
य ऋष्व आग्नि महीति च।
पितुभृतो नाग्ने तव
ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥६३॥

सू० अ०—"मन्ये त्वा…", "मा ते राधांसि", "य ऋष्वः…", "आग्निम्…"; "महि…", "पितुभृतो न…" और "अग्ने तव…" ये ऋचायें यहाँ पर उदाहरण हैं।

उ० भा०—"मन्ये त्वा यज्ञियम्।"[1] "मा ते राधांसि।"[2] "य ऋष्वः श्रावयत्सखा।"[3] "आग्निं न स्ववृक्तिभिः।"[4] "महि द्यावापृथिवी।"[5] "पितुभृतो न तन्तुम्।"[6] "अग्ने तव"[7]- ता ऋचोऽत्र निदर्शनं यथाक्रमम्। पुरस्तादेव निदर्शितानि ॥

उ० भा० अ०— — ये ऋचायें यहाँ पर क्रमानुसार ('विराट् पङ्क्ति', 'सतोबृहती पङ्क्ति', 'विपरीता पङ्क्ति', 'आस्तार पङ्क्ति', 'प्रस्तार पङ्क्ति', 'संस्तार पङ्क्ति' और 'विष्टार पङ्क्ति' के) उदाहरण हैं। (सम्बद्ध भाष्य में हम इन उदाहरणों को) पहले ही दिखा चुके हैं।

(त्रिष्टुप् तद्भेदाश्च)

चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुबक्षराणि चतुष्पदा।
एकादशाक्षरैः पादैः ॥६४॥

(त्रिष्टुप् और उसके भेद)

सू० अ०—४४ अक्षरों तथा ११-११ अक्षरों वाले चार पादों वाला 'त्रिष्टुप्' (छन्दः) (होता है)।

उ० भा०—(चतुश्चत्वारिंशत् अक्षराणि=) चतुश्चत्वारिंशदक्षराः एकादशाक्षरैः पादैश्चतुष्पदा त्रिष्टुप् भवति। "पिबा सोममभि यमुग्र तर्द.॥"[8]

टि० (क) विष्टारपङ्क्ति=८+१२+१२+८=४०
(ख) अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥

---

[1] ऋ० ८।९६।४ [2] ऋ० १।८४।२० [3] ऋ० ८।४६।१२
[4] ऋ० १०।२१।१ [5] ऋ० १०।९३।१ [6] ऋ० १ …
[7] ऋ० १०।१४०।१ [8] ६।१७।१

उ० भा० अ०—(चतुश्चत्वारिंशत् अक्षराणि=) ४४ अक्षरों वाली; एकादशाक्षरैः पादैश्चतुष्पदा=११-११ अक्षरों वाले चार पादो वाली, त्रिष्टुप्[क] होती है। (उदाहरण) "पिबा सोममभि यमुग्र तर्द ।"[ख]

द्वौ चेत्तु द्वादशाक्षरौ ।
प्रायस्योपजगत्येषा
परस्यास्य तु सा त्रिष्टुप् ॥६५॥

सू० अ०—किंतु यदि (कोई भी) दो (पाद) १२-१२ अक्षरों वाले हों तो परवर्ती ('=जगती' छन्दः) के अधिकार में होने पर यह 'उपजगती' (कहलाती है) । (वही स्थिति) इस (='त्रिष्टुप्' छन्दः) के अधिकार में होने पर यह 'त्रिष्टुप्' है ।

उ० भा०—(चेत्=) यदि; द्वौ द्वादशाक्षरौ भवतः द्वावेकादशाक्षरौ । परस्य=जागतस्य । प्रायसि भवा=प्रायस्या ; जागतप्राये वर्तमाना—इत्यर्थः । उपजगती नाम वेदितव्या । यथा—"सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या स्वा सचा"[1] इति । अस्य तु=त्रिष्टुभः; प्रायस्या सा त्रिष्टुप् नाम्ना वेदितव्या । यथा—"सनेमि चक्रमजरं वि वावृते ॥"[2]

उ० भा० अ०—(चेत्=) यदि; द्वौ द्वादशाक्षरौ=दो (पाद) १२-१२ अक्षरो वाले; होते है और दो (पाद) ११-११ अक्षरो वाले, (होते है) । परस्य=परवर्ती (छन्द) के='जगती' के । प्रायस्या=अधिकार (प्रायस्) में होने वाली । 'जगती' के अधिकार में वर्तमान—यह अर्थ है । उपजगती नाम वाली जानना चाहिए । जैसे—"सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या स्वा सचा ।"[ग] अस्य तु=किंतु इसके तो='त्रिष्टुप्' के; अधिकार में आने पर; सा=उसे; त्रिष्टुप् नाम से जानना चाहिए । जैसे—"सनेमि चक्रमजरं वि वावृते ।"[घ]

टि० (क) त्रिष्टुप्=११+११+११+११=४४

(ख) पिबा सोममभि यमुग्र तर्द ऊर्वं गव्यं महि गृणान इन्द्र ।
वि यो धृष्णो वधिषो वज्रहस्त विश्वा वृत्रममित्रिया शवोभिः ॥

(ग) सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते ।
अव वेति सुक्षयं सुते मधू—दिद्धूनोति वातो यथा वनम् ॥

इस ऋचा के प्रथम दो पाद १२-१२ अक्षरो वाले है और बाद वाले दो पाद ११-११ अक्षरो वाले है । प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह 'उपजगती' छन्द है, क्योकि यह 'जगती' छन्द के अधिकार में है । इस ऋचा की पूर्ववर्ती दो ऋचायें 'जगती' छन्द की है ।

(घ) सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥

इस ऋचा के दो पाद १२-१२ अक्षरो के है और दो पाद ११-११ अक्षरो के है । प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह 'त्रिष्टुप्' छन्द है, क्योकि यह 'त्रिष्टुप्' छन्द के अधिकार में है । इस ऋचा की पूर्ववर्ती ऋचायें 'त्रिष्टुप्' छन्द की है ।

---

[1] ऋ० १०।२३।४ [2] ऋ० १।१६४।१४

वैराजजागतैः पादैर्यो वाचेत्यभिसारिणी ॥६६॥

सू० अ०—१० अक्षरों वाले ('वैराज') और १२ अक्षरों वाले ('जागत') पादों से (समन्वित) 'अभिसारिणी' ('त्रिष्टुप्') (होती है)। (जैसे) 'यो वाचा···।"

उ० भा०—(वैराजजागतैः पादैः=) द्वौ दशाक्षरौ भवतः; द्वौ च द्वादशाक्षरौ; अभिसारिणीसंज्ञा वेदितव्या। "यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः ॥"[1]

उ० भा० अ०—(वैराजजागतैः पादैः='वैराज' और 'जागत' पादों से समन्वित=) १०-१० अक्षरो वाले दो (पाद) होते हैं और १२-१२ अक्षरो वाले दो (पाद) (होते हैं तो), (उस 'त्रिष्टुप्' को) अभिसारिणी[क]-संज्ञक जानना चाहिए। (उदाहरण) "यो वाचा विवाचो मृध्रवाच ।"[ख]

नवको दशको वा स्या-
देकोऽनेकोऽपि त्रिष्टुभः ।
एकादशाक्षरश्चापि
विराट्स्थाना ह नाम सा ॥६७॥

सू० अ०—यदि (i) 'त्रिष्टुप्' का एक या अनेक भी (पाद) ९ या १० (अक्षरों) का हो ; और (ii) (एक या अनेक भी पाद) ११ अक्षरों का हो तो वह ('त्रिष्टुप्') 'विराट्स्थाना' नाम वाला (होता है)।

उ० भा०—त्रिष्टुभः पाद एकः अपि अनेकोऽपि नवको वा दशको वा स्यात्। एकादशाक्षरश्च एकः अपि अनेको वा स्यात्। सा विराट्स्थाना नाम वेदितव्या। "श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्य."[2] इति ॥

उ० भा० अ०—त्रिष्टुभ='त्रिष्टुप्' का, एकोऽनेकोऽपि=एक या अनेक भी पाद, नवको दशको वा स्यात्=९ (अक्षरो) या १० (अक्षरो) का होवे। एकादशाक्षरश्चापि=एक या अनेक भी पाद ११ अक्षरो का होवे तो, सा=उस ('त्रिष्टुप्' को), विराट्स्थाना नाम='विराट्स्थान'[ग] नामक, जानना चाहिए। (उदाहरण) "श्रुधी

टि० (क) अभिसारिणी त्रिष्टुप्=१०+१०+१२+१२=४४
चार पादो में से कोई भी दो पाद १०-१० अक्षरो के हो सकते हैं, और कोई भी दो पाद १२-१२ अक्षरो के हो सकते हैं।

(ख) यो वाचा विवाचो मृध्रवाच पुरू सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शव ॥

(ग) विराट्स्थाना त्रिष्टुप् की ये स्थितियाँ हो सकती हैं—
९+१०+१०+११=४०
९+९+१०+११=३९
९+१०+११+११=४१

[1] ऋ० १०।२३।५ [2] ऋ० २।११।१

हवमिन्द्र मा रिषण्य ।"[क]

पूर्वौ दशाक्षरौ पादा उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः ।
विराट्पूर्वा ह नामैषा त्रिष्टुप् पङ्क्त्युत्तरैव वा ॥६८॥

सू० अ०—पूर्व के दो पाद १०-१० अक्षरों के हों और बाद के तीन (पाद) ८-८ अक्षरों के हों तो उस 'त्रिष्टुप्' को 'विराट्पूर्वा' अथवा 'पङ्क्त्युत्तरा' नाम वाला (जानना चाहिए) ।

उ० भा०—यस्याः पूर्वौ द्वौ पादौ दशाक्षरौ भवतः । उत्तरे च अष्टाक्षरास्त्रयो भवन्ति । एषा त्रिष्टुब् विराट्पूर्वा पङ्क्त्युत्तरा नाम वा वेदितव्या । यथा—"एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यम् ॥"[१]

उ० भा० अ०—जिसके, पूर्वौ पादौ=पूर्व के दो पाद, दशाक्षरौ=१०-१० अक्षरो के होते है । उत्तरे अष्टाक्षरास्त्रयः=और बाद के तीन (पाद) ८-८ अक्षरो के होते हैं । एषा त्रिष्टुप्=इस 'त्रिष्टुप्' को; विराट्पूर्वा पङ्क्त्युत्तरा नाम वा= 'विराट्पूर्वा' अथवा 'पङ्क्त्युत्तरा'[ख] नाम वाला, जानना चाहिए । जैसे—"एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यम् ।"[ग]

त्रयश्चैकादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः परः ।
विराड्रूपा ह नामैषा त्रिष्टुम्नाक्षरसंपदा ॥६९॥

सू० अ०—तीन (पाद) ११-११ अक्षरो के हो और एक अन्तिम (पाद) ८ अक्षरों का हो तो यह 'विराड्रूपा' नाम वाला 'त्रिष्टुप्' है, यद्यपि अक्षरों की पूर्ति (नहीं होती है) ।

उ० भा०—यस्या त्रयः पादा एकादशाक्षरा एकश्च; (परः=) अपरः; अष्टाक्षरः; (एषा=) सा, विराड्रूपा नाम त्रिष्टुब् वेदितव्या । यद्यपि; (अक्षरसंपदा=) अक्षरसंपत्; नास्ति । उक्तं हि—

त्रिष्टुभो या विराट्स्थाना विराड्रूपास्तथापराः ।
बहूना अपि ता ज्ञेयास् त्रिष्टुभो ब्राह्मणं तथा ॥ इति ।

"क्रीळन्नो रश्म आ भुव"[२] इति ॥

टि० (क) श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्य. स्याम ते दावने वसूनाम् ।
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयव सिन्धवो न क्षरन्त ॥
सभी स्थितियो में इस 'त्रिष्टुप्' छन्द की अक्षर-सख्या अनेक अक्षरो से न्यून है ।

(ख) विराट्पूर्वा अथवा पङ्क्त्युत्तरा त्रिष्टुप्=१०+१०+८+८+८=४४

(ग) एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्य शूष्य घृतं न पूतमद्रिभि ।
ता सूरिषु श्रवो वृहद् रयिं गृणत्सु दिधृतम् इष गृणत्सु दिधृतम् ॥

[१] ऋ० ५।८६।६ [२] ऋ० ५।१९।५

उ० भा० अ०—जिसके; त्रयः=तीन पाद; एकादशाक्षराः=११-११ अक्षरों के हों; एकश्च (परः)=और अन्तिम एक (पाद); अष्टाक्षरः=८ अक्षरों का हो; (एषा=) उसे; विराड्रूपा नाम त्रिष्टुप्='विराड्रूपा'[क] नामक 'त्रिष्टुप्'; जानना चाहिए। यद्यपि; (नाक्षरसंपदा=) अक्षरों की पूर्ति नहीं; होती है।[ख] कहा भी है—

"जो 'विराट्स्थान त्रिष्टुप्' (होते हैं) और जो 'विराड्रूप त्रिष्टुप्' (होते हैं), बहुत अक्षरों से न्यून होने पर भी उनको 'त्रिष्टुप्' जानना चाहिए, ब्राह्मण वैसा (कहता है)।"

(उदाहरण)—"क्रीळन्नो रश्म आ भुव।"[ग]

त्रयश्च द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः क्वचित्।
एषा ज्योतिष्मती नाम ततो ज्योतिर्यतोऽष्टकः ॥७०॥

सू० अ०—तीन पाद १२-१२ अक्षरों के हों और कहीं भी एक पाद ८ अक्षरों का हो तो यह 'ज्योतिष्मती' नामक ('त्रिष्टुप्') (होता है)। जहाँ ८ अक्षरों का (पाद) हो वहीं ज्योति (होती है)।

उ० भा०—यस्यास्त्रयः पादा द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः क्वचित् भवति एषा त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती नाम वेदितव्या। यतोऽष्टकः पादस्ततो ज्योतिः इत्युच्यते। यथा—"यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुः"[1] इति मध्ये ज्योतिः। "अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुना"[2] इत्युपरिष्टाज्ज्योतिः॥

उ० भा० अ०—जिसके; त्रयः=तीन; पाद; द्वादशाक्षराः=१२-१२ अक्षरों के (होते हैं); एकश्चाष्टाक्षरः=और एक पाद ८ अक्षरों का; क्वचित्=कहीं पर; होता है तो, एषा=इस (यह); 'त्रिष्टुप्' को; ज्योतिष्मती नाम='ज्योतिष्मती'[घ] नामक; जानना चाहिए। यतोऽष्टकः=जहाँ ८ अक्षरों का; पाद (होता है), ततो ज्योतिः=वहाँ ज्योति, कहा जाता है। जैसे—"यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथु"[ङ]—यहाँ मध्य में ज्योति है। "अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुना"[च]—यहाँ बाद में ज्योति है।

टि० (क) विराड्रूपा त्रिष्टुप्=११+११+११+८=४१

(ख) 'त्रिष्टुप्' में ४४ 'अक्षर' होते हैं, किंतु 'विराड्रूपा त्रिष्टुप्' में ४१ 'अक्षर' ही होते हैं। इस प्रकार इसमें ३ अक्षरों की न्यूनता है।

(ग) क्रीळन् नो रश्म आ भुव स भस्मना वायुना वेविदानः।
ता अस्य सन् धृषजो न तिग्माः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः।

(घ) ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्=१२+१२+१२+८ (किसी भी पाद में)=४४

(ङ) यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथु—रेवेत् काण्वस्य बोधतम्।
बृहस्पतिं विश्वान् देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा॥

(च) अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुना ऽऽदित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना॥

[1] ऋ० ८।१०।२ [2] ऋ० ८।३५।१

चत्वारोऽष्टाक्षराः पादा एकश्च द्वादशाक्षरः ।
सा महाबृहती नाम ॥७१॥

सू० अ०—चार पाद ८-८ अक्षरों के हों और एक (पाद) १२ अक्षरों का हो तो वह 'महाबृहती' नामक ('त्रिष्टुप्' होता है) ।

उ० भा०—यस्या अष्टाक्षराश्चत्वारः पादा एकश्च द्वादशाक्षरः सा त्रिष्टुब् महाबृहती नाम वेदितव्या । यथा—"नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा ॥"[1]

उ० भा० अ०—जिसके; अष्टाक्षराश्चत्वारः पादाः=चार पाद ८-८ अक्षरों के हों; एकश्च द्वादशाक्षरः=और एक (पाद) १२ अक्षरों का हो तो, सा=उस, 'त्रिष्टुप्' को; महाबृहती नाम='महाबृहती'[क] नामक, जानना चाहिए । जैसे—"नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा ।"[ख]

यवमध्या तु मध्यमे ॥७२॥

सू० अ०—(१२ अक्षरों का पाद) मध्य में हो तो (वह) 'यवमध्या त्रिष्टुप' (कहलाता है) ।

उ० भा०—आद्यावष्टाक्षरौ; (मध्यमे=) तृतीयो द्वादशाक्षर; चतुर्थपञ्चमौ चाष्टाक्षरौ सा त्रिष्टुब् यवमध्या नाम वेदितव्या । यथा—"बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः ॥"[2]

उ० भा० अ०—प्रथम दो पाद ८-८ अक्षरों के हों, (मध्यमे=) तृतीय (पाद) १२ अक्षरों का हो; और चतुर्थ तथा पञ्चम (पाद) ८-८ अक्षरों के हो तो उस 'त्रिष्टुप्' को यवमध्या[ग] नामक जानना चाहिए । जैसे—"बृहद्भिरग्ने अर्चिभि ।"[घ]

सो चिन्नु सनेमि श्रुध्येव क्रीळन्यद्वाग्निनेन्द्रेण ।
नमोवाके बृहद्भिश्च ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥७३॥

सू० अ०—"सो चिन्नु ", "सनेमि ", "श्रुधी · ", "एव...", "क्रीळन्···", "यद्वा···", "अग्निनेन्द्रेण··", "नमोवाके " और 'बृहद्भिः···"—ये ऋचायें यहाँ उदाहरण हैं ।

उ० भा०—उक्तान्येवोदाहरणानि ॥

टि० (क) महाबृहती त्रिष्टुप्=१२+८+८+८+८=४४

(ख) नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा विवक्षणस्य पीतये ।
आ यातमश्विना गतम् अवस्युर्वामहं हुवे धत्त रत्नानि दाशुषे ॥

(ग) यवमध्यमा त्रिष्टुप्=८+८+१२+८+८=४४

(घ) बृहद्भिरग्ने अर्चिभि· शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत् पावक दीदिहि ॥

---

[1] ऋ० ८।३५।२३ [2] ऋ० ६।४८।७

उ० भा० अ०—(ये) उदाहरण (१६।६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१ और ७२ में) कहे जा चुके हैं।

(जगती तद्भेदाश्च)

पञ्चाशज्जगती द्व्यूना चत्वारो द्वादशाक्षराः।
तदस्या बहुलं वृत्तम् ॥७४॥

(जगती और उसके भेद)

सू० अ०—२ कम पचास (अर्थात् ४८ अक्षरों) की 'जगती' (होती है)। (इसमें) १२-१२ अक्षरों के चार (पाद होते हैं)। इसका प्रायः यही स्वरूप (वृत्त) है।

उ० भा०—(द्व्यूना=) द्वाभ्यामूनानि; पञ्चाशत् अक्षराणि सा जगती नाम भवति। चत्वारः पादा द्वादशाक्षरा भवन्ति। तद् वृत्तम्; बहुलमस्याः=प्रायेण, भवति। उदाहरणम्—"प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवः॥"[1]

उ० भा० अ०—(द्व्यूना) पञ्चाशत्=२ कम ५०; 'अक्षर' (जिसमें होते हैं) वह जगती[क] नामक (छन्द) होता है। (इसमें), चत्वारः=चार, पाद, द्वादशाक्षराः=१२-१२ अक्षरों के, होते हैं। तद् वृत्तम्=वह स्वभाव, बहुलमस्याः=इसका प्राय, होता है। उदाहरण—"प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दव.।[ख]

महापङ्क्तिः षळष्टकाः ॥७५॥

सू० अ०—८-८ (अक्षरों) के छः (पाद) (हों तो वह) 'महापङ्क्ति' ('जगती') (होती है)।

उ० भा०—यस्या षट् पादा, (अष्टकाः=) अष्टाक्षराः, भवन्ति सा जगती महापङ्क्तिः इत्युच्यते॥

उ० भा० अ०—जिसके, षट्=छ, पाद, (अष्टकाः=) ८-८ अक्षरों के, होते हैं वह 'जगती' महापङ्क्ति[ग] कहलाती है।

अष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकश्च वा ॥७६॥

सू० अ०—अथवा ('महापङ्क्ति' में) दो (पाद) ८-८, एक ७, एक ६ एक १० और एक ९ (अक्षरों) का (होता है)।

टि० (क) जगती=१२+१२+१२+१२=४८

(ख) प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवो ऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः।
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजं धिरे॥

(ग) महापङ्क्ति जगती=८+८+८+८+८+८=४८

---

[1] ऋ० ९।६८।१

उ० भा०—द्वौ पादौ; (अष्टकौ=) अष्टाक्षरौ; एकः; (सप्तकः=) सप्ताक्षरः; अपरः; (षट्कः=) षडक्षर; एकः; (दशकः=) दशाक्षरः; अन्यः; (नवकः=) नवाक्षरः—सा वा महापङ्क्तिः। "सेहान उग्र पृतना."[१]; "सूर्ये विषम्॥"[२]

उ० भा० अ०—दो पाद, (अष्टकौ=) ८-८ अक्षरों के; एक (पाद); (सप्तकः=) ७ अक्षरों का, एक (पाद); (षट्कः=) ६ अक्षरों का; एक (पाद); (दशकः=) १० अक्षरों का; एक (पाद), (नवकः=) ९ अक्षरों का (हो तो)—वह; वा=भी; महापङ्क्ति[क] (होती है)। (उदाहरण)—"सेहान उग्र पृतना."[ख]; "सूर्ये विषम्।"[ग]

महासतोबृहत्यर्धे व्यूहयोरेतयोः सह।
(संपाते त्वेति पादान्ते देवत्रान्सप्तविंशके)[घ] ॥७७॥

सू० अ०—(१६।७४ और १६।७५ में विहित) इन दो (छन्दों) के आधे-आधे (भागों) के (एक ही ऋचा में) मिल जाने पर 'महासतोबृहती' (छन्दः) (बनता है)।

उ० भा०—एतयोः=ऋचोः; सह=अष्टाक्षरद्वादशाक्षरयोः पादयोः सह; व्यूहयोः सतोमहासतोबृहती नाम जगती वेदितव्या॥

उ० भा० अ० –(१६।७४ और १६।७५ में विहित) एतयोः=ऋचाओं के (='जगती' और 'महापङ्क्ति' छन्दस्क ऋचाओं के), सह=८ अक्षरों वाले (३ पादों) और १२ अक्षरों वाले (२ पादों) के एक साथ में (=एक ऋचा में), व्यूहयोः=मिल जाने पर; महासतोबृहती[ङ] नामक 'जगती' जानना चाहिए।

टि० (क) ८+८+७+६+१०+९=४८

(ख) सेहान उग्र पृतना अभि द्रुह शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिवा सोमस्य वज्रिवः॥
चतुर्थ और पञ्चम पाद की 'अक्षर'-संख्या के विषय में १७।२४ को देखिए।

(ग) सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामा—ऽऽरे अस्य योजनं हरिष्ठा
मधु त्वा मधुला चकार॥

(घ) यह अंश प्रक्षिप्त है क्योंकि (१) भाष्यकार ने इसका भाष्य नहीं लिखा है; (२) कुछ हस्तलेखों में इसका ग्रहण नहीं किया गया है, (३) एक हस्तलेख में इसको स्पष्ट शब्दों में प्रक्षिप्त कहा गया है; (४) इसका अर्थ नहीं लगता है और (५) इसका परित्याग करने से १७।७६ और १७।७७ मिलकर 'अनुष्टुप्' वाला एक श्लोक पूरा हो जाता है।

(ङ) महासतोबृहती=८+८+८+१२+१२=४८
कोई भी तीन पाद ८-८ और कोई भी दो पाद १२-१२ अक्षरों के हो सकते हैं।

---

[१] ऋ० ८।३७।२ [२] ऋ० १।१९१।१०

अस्मा ऊ षूभे यदिन्द्र सेह्यान उग्रेति षट् ।
आ यः पप्रौ विश्वासां च ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥७८॥

सू० अ०—"अस्मा ऊ षु···"; "उभे यदिन्द्र···"; "सेह्यान उग्र···" इत्यादि छः; "आ यः पप्रौ··· " और "विश्वासाम् ···"—ये ऋचायें यहाँ पर उदाहरण हैं ।

उ० भा०—"अस्मा ऊ षु प्रभूतये"[1]; "उभे यदिन्द्र रोदसी"[2]; "सेह्यान उग्र पृतनाः"[3] इति षट्—एता महापङ्क्तयः । "आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे"[4]; "विश्वासां गृहपतिर्विशामसि"[5]—एते महासतोबृहत्यौ ॥

उ० भा० अ०—"अस्मा ऊ षु प्रभूतये"[क], "उभे यदिन्द्र रोदसी"[ख], "सेह्यान उग्र पृतना"[ग] इत्यादि छ (ऋचायें)—ये 'महापङ्क्ति' हैं । "आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे"[घ], "विश्वासां गृहपतिर्विशामसि"[ङ]—ये दो 'महासतोबृहती' हैं ।

(अतिच्छन्दसां द्वौ वर्गौ)

द्वावतिच्छन्दसां वर्गा उत्तरौ चतुरुत्तरौ ॥७९॥

(अतिच्छन्दों के दो वर्ग)

सू० अ०—('जगती' के) बाद में अतिछन्दों के दो वर्ग हैं जो (उत्तरोत्तर) ४-४ अक्षरों से बढ़ते हैं ।

उ० भा०—जगत्या उत्तरौ अतिच्छन्दसां द्वौ वर्गौ चतुरुत्तरौ वेदितव्यौ ॥

उ० भा० अ० —'जगती' के, उत्तरौ=बाद में, अतिच्छन्दसां द्वौ वर्गौ=अतिच्छन्दों के दो वर्ग हैं; (उनको), चतुरुत्तरौ=४-४ अक्षरों से बढ़ने वाला, जानना चाहिए ।

टि० (क) अस्मा ऊ षु प्रभूतये वरुणाय मरुद्भ्यो ऽर्चा विदुष्टरेभ्य ।
यो धीता मानुषाणा पश्वो गा इव रक्षति नभन्तामन्यके समे ॥

(ख) उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव ।
महान्त त्वा महीना सम्राज चर्षणीना देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥

(ग) सेह्यान उग्र पृतना अभि द्रुह शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभि ।
माध्यदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिव ॥

(घ) आ य पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि ।
तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा ॥

(ङ) विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम् ।
शत पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यहस समेद्धार शत हिमा स्तोतृभ्यो ये च ददति ॥

सूत्रकार द्वारा उदाहृत ऋचाओं के कई पाद न्यून अक्षरों वाले हैं । ऐसे पादों के अक्षरों की पूर्ति सर्वत्र सधिविच्छेद तथा 'व्यवधान' से कर लेनी चाहिए ।

---

[1] ऋ० ८।४१।१ [2] ऋ० १०।१३४।१ [3] ऋ० ८।३७।२
[4] ऋ० ६।४८।६ [5] ऋ० ६।४८।८

प्रथमातिजगत्यासां सा द्विपञ्चाशदक्षरा ॥८०॥

सू० अ०—इनमें प्रथम 'अतिजगती' है। वह ५२ अक्षरों की (होती है)।

उ० भा०—आसां प्रथमा या द्विपञ्चाशदक्षरा साऽतिजगती नाम वेदितव्या। यथा—"तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रम् ॥"[१]

उ० भा० अ०—आसां प्रथमा=इन (अतिच्छन्दों) में प्रथम, जो; द्विपञ्चाशदक्षरा=५२ अक्षरो की (होती है), साऽतिजगती=उसे 'अतिजगती', नामक जानना चाहिए। जैसे—"तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रम्।"[क]

षट्पञ्चाशत्तु शक्वरी ॥८१॥

सू० अ०—५६ (अक्षरों) की 'शक्वरी' (होती है)।

उ० भा०—षट्पञ्चाशद्-अक्षरा शक्वरी भवति। "प्रो ष्वस्मै पुरोरथम् ॥"[२]

उ० भा० अ०—षट्पञ्चाशत्=५६, अक्षरो की शक्वरी होती है। (उदाहरण) "प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्।"[ख]

षष्टिरेवातिशक्वरी ॥८२॥

सू० अ०—६० (अक्षरो) की 'अतिशक्वरी' (होती है)।

उ० भा०—षष्टिः अक्षराणि अतिशक्वरी भवति। "सुषुमा यातमद्रिभिः ॥"[३]

उ० भा० अ०—षष्टिः=६०; अक्षरो की अतिशक्वरी होती है। (उदाहरण) "सुषुमा यातमद्रिभि।"[ग]

उत्तराष्टिश्चतुष्षष्टिः ॥८३॥

सू० अ०—(उस 'अतिशक्वरी' के) बाद वाली ६४ (अक्षरों) की 'अष्टि' (होती) है।

उ० भा०—तस्या उत्तरा या सा चतुष्षष्टिः अक्षराणि भवति। सा अष्टिः नाम वेदितव्या। "त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्म"[४] इति ॥

टि० (क) तमिन्द्र जोहवीमि मघवानमुग्र सत्रा दधानमप्रतिष्कुत शवासि।
महिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥

(ख) प्रो ष्वस्मै पुरोरथम् इन्द्राय शूषमर्चत।
अभीके चिदु लोककृत् सगे समत्सु वृत्रहा ऽस्माक बोधि चोदिता।
नभन्तामन्यकेषा ज्याका अधि धन्वसु ॥

(ग) सुषुमा यातमद्रिभिर् गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे।
आ राजाना दिविस्पृशा ऽस्मत्रा गन्तमुप न।
इमे वा मित्रावरुणा गवाशिर सोमा शुक्रा गवाशिर ॥

[१] ऋ० १।१३७।१ [२] ऋ० ८।९७।१३ [३] ऋ० १०।१३३।१
[४] ऋ० २।२२।१

उ० भा० अ०—उसके (='अतिशक्वरी' के); उत्तरा=बाद में; जो है वह, चतुष्षष्टिः=६४, अक्षरो की होती है। उसे अष्टि नामक जानना चाहिए। (उदाहरण) "त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्म ।"[क]

ततोऽष्टाषष्टिरत्यष्टिः ॥८४॥

सू० अ०—उसके बाद में ६८ (अक्षरों) वाली 'अत्यष्टि' (होती है)।

उ० भा०—तत उत्तरा अष्टाषष्टिः अक्षराणि सा अत्यष्टिः भवति। "अया रुचा हरिण्या पुनानः"[1] इति ॥

उ० भा० अ०—ततः=उससे बाद में; (जो) अष्टाषष्टिः=६८; अक्षरो वाली है वह अत्यष्टि होती है। (उदाहरण) "अया रुचा हरिण्या पुनान. ।"[ख]

धृतिः पूर्वा द्विसप्ततिः ॥८५॥

सू० अ०—('अतिधृति' से) पूर्व वाली ७२ (अक्षरों) की 'धृति' (होती है)।

उ० भा०—अतिधृते. पूर्वा या; (द्विसप्ततिः=) द्विसप्तत्यक्षरा; सा धृतिः भवति। "सखे सखायमभ्या ववृत्स्व ॥"[2]

उ० भा० अ०—'अतिधृति' से; पूर्वा=पूर्व वाली; जो, (द्विसप्ततिः=) ७२; अक्षरो की (होती है); वह धृति होती है। (उदाहरण) "सखे सखायमभ्या ववृत्स्व ।"[ग]

षट्सप्ततिस्त्वतिधृतिः ॥८६॥

सू० अ०—७६ (अक्षरो) की तो 'अतिधृति' (होती है)।

उ० भा०—यस्या; (षट्सप्ततिः=) षट्सप्तत्यक्षराणि; भवन्ति सा अतिधृतिर् भवति। "स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिः ॥"[1]

टि० (क) त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिर तुविशुष्म—स्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुत यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरु सैनं सश्चद् देवो देव सत्यमिन्द्र सत्य इन्दु ॥

(ख) अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषासि तरति स्वयुग्वभि. सूरो न स्वयुग्वभि ।
धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरि ।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभि. सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥

(ग) सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशु न चक्र रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या।
अग्ने मृळीक वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु ।
तोकाय तुजे शुशुचान श कृध्यस्मभ्य दस्म श कृधि ॥

---

१ ऋ० ९।१११।१ २ ऋ० ४।१।३ १ ऋ० १।१२७।६

उ० भा० अ०—जिसके; (षट्सप्ततिः=) ७६; 'अक्षर'; होते हैं वह अतिधृति होती है। (उदाहरण) "स हि शर्धो न मारुत तुविष्वणि ।"क

सर्वा दाशतयीष्वेताः ॥८७॥

सू० अ०—ये सब ('अतिजगती' आदि सात छन्दः) दस मण्डलों में विभक्त ऋग्वेद की ऋचाओं में (विद्यमान हैं)।

उ० भा०—एता अतिजगत्यादयः सर्वा दाशतयीषु विद्यन्ते ॥

उ० भा० अ०—एता=ये, 'अतिजगती' इत्यादि, सर्वाः=सभी (छन्द); दाशतयीषु=दस मण्डलो में विभक्त ऋग्वेद की ऋचाओं में, विद्यमान है।

उत्तरास्तु सुभेषजे ॥८८॥

सू० अ०—आगे बतलाये जाने वाले ('अतिच्छन्दः') वो सुभेषज (ऋषि के सूक्तों) में (विद्यमान हैं)।

उ० भा०—उत्तरा या वक्ष्यन्ते ताः सुभेषजे ऋषौ द्रष्टव्याः ॥

उ० भा० अ०—आगे जो ('अतिच्छन्द') बतलाये जायेंगे उनको, सुभेषजे=सुभेषज ऋषि (के सूक्तो) में, देखना चाहिए।

कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संकृतिस्तथा ।
षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते ॥८९॥

सू० अ०—'कृति', 'प्रकृति', 'आकृति', 'विकृति', 'संकृति', छठी 'अभिकृति' और सप्तमी 'उत्कृति' (ये तीसरे वर्ग के 'अतिच्छन्दः' हैं)।

उ० भा०—कृतिः, प्रकृतिः, आकृतिः, विकृतिः, संकृतिः, अभिकृतिः, उत्कृतिः इति तथा ॥

उ० भा० अ०-कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति और उत्कृति ये वैसे (अर्थात् तीसरे वर्ग के अतिच्छन्द है)।

अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीतिर्द्विनवतिः ।
षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमा तु चतुःशतम् ॥९०॥

सू० अ०—(१६।८९ में उल्लिखित अतिच्छन्दो की 'अक्षर'-संख्या क्रमशः इस प्रकार है)—८०, ८४, ८८, ९२, ९६ १०० और १०४।

उ० भा०—कृत्यादीनामक्षरपरिमाणानि क्रमेण - अशीतिः, चतुरशीतिः, अष्टाशीतिः, द्विनवतिः षण्णवतिः, शतं पूर्णम्, उत्तमा=अन्त्या, चतुःशतम् इति ॥

टि० (क) स हि शर्धो न मारुत तुविष्वणिर् अप्नस्वतीपूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनि ।
आदद्धव्यान्याददिर् यज्ञस्य केतुरर्हणा ।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्था नरः शुभे न पन्थाम् ॥

उ० भा० अ०—'कृति' आदि (अतिच्छन्दों) के अक्षरों की संख्या क्रम से (यह है)—अशीतिः=८०; चतुरशीतिः=८४; अष्टाशीतिः=८८; द्विनवतिः=९२, षण्णवतिः=९६; शतं पूर्णम्=पूरे १००; उत्तमा=अन्तिम (='उत्कृति'); चतुः-शतम्=१०४।

तमिन्द्रं प्रो षु सुषुम त्रिकद्रुकेष्वया रुचा।
सखे च स हि शर्धश्च मध्यमो वर्ग उच्यते ॥९१॥

सू० अ०—"तमिन्द्रम्...", "प्रो षु ...", "सुषुम...", "त्रिकद्रुकेषु...", "अया रुचा...", "सखे..." और "स हि शर्धः..."—(ये ऋचायें) मध्यम वर्ग कहा गया है (अर्थात् मध्यम वर्ग के अतिच्छन्दों के ये उदाहरण हैं)।

उ० भा०—तास्तु यथाक्रमं पुरस्तादेवोदाहृता. ॥

उ० भा० अ०—इन्हें पहले ही (१६।८०-८६ के भाष्य में) क्रमानुसार उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा चुका है।

आ सु कृतिस्तु प्रकृतिर्ध्रुवं पूर्वा ततस्तु या।
आकृतिर्यदि ते मात्रा मेषी विकृतिरुच्यते ॥
संकृतिस्तु न वै तत्र देवो अग्निस्त्वभिकृतिः।
सर्वस्येत्युत्कृतिस्तत्र तृतीयो वर्ग उच्यते ॥९२॥

सू० अ०—"आ सु..." 'कृति' है। "ध्रुवं पूर्वा..." 'प्रकृति' है। उस ('प्रकृति') से बाद में 'आकृति' है जो "यदि ते मात्रा..." (के द्वारा उदाहृत है)। "मेषी..." यह 'विकृति' कही जाती है। "न वै तत्र..." 'संकृति' है। "देवो अग्नि..." 'अभिकृति' है। "सर्वस्य..." 'उत्कृति' है। यह (छन्दों का) तृतीय वर्ग कहा जाता है।

उ० भा०—कृतिः—"आ सुतेतु परावत"[1] इति। प्रकृतिः—"ध्रुवं पूर्वा"[2] इति। ततः=प्रकृतेः परा; आकृतिः—"यदि ते मात्रा"[3] इति। "मेषी"[4]—इति विकृति-रुच्यते। संकृतिस्तु; न वै तत्र=तस्मिन् सुनेपलेऽपि न विद्यते—एवं प्रायेण वर्णयन्ति। केचिद्वर्णयन्ति—संकृतेः—"न वै"[5] इत्येतदुदाहरणमिति। अभिकृतिः—"देवो अग्निः स्विष्ट-कृत्"[6] इति। उत्कृतिः—"सर्वस्य"[7] इति। अपङ्क्त्य आम्नानस्यादिह संतानिरदाहृता। अत्रास्यामुत्कृतौ तृतीयो वर्गः समाप्यते ॥

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये षोडशं पटलम् ॥

---

[1] तु० ग्रं० पृ० १२३-१२५
[2] तु० ग्रं० पृ० १२४-१२५
[3] तु० ग्रं० पृ० १२४-१२५
[4] तु० ग्रं० पृ० १२४-१२५
[5] तु० ग्रं० पृ० १२४
[6] तु० ग्रं० पृ० १२४
[7] तु० ग्रं० पृ० १२४-१२५

उ० भा० अ०—**कृति**—"आ सुरैतु परावत ।"क **प्रकृति**—"ध्रुव पूर्वा" । **ततः**='प्रकृति' के बाद मे; **याकृतिः**=जो 'आकृति' है 'यदि ते मात्रा ।" **"मेषी"**—यह; **विकृतिरुच्यते**='विकृति' कहलाती है। **संकृतिस्तु**='सकृति' तो, **न वै तत्र**=उस 'सुभेषज' (ऋषि के सूक्त) में भी विद्यमान नही है—इस प्रकार प्रायेण व्याख्या करते है। कुछ लोग व्याख्या करते है कि **"न वै "**"यह 'सकृति' का उदाहरण है। **अभिकृति**—**"देवो अग्निः स्विष्टकृत् ।"** **उत्कृति**—**"सर्वस्य"** । पादो के क्रम से पाठ न होने से यहाँ उदाहरणो को सज्ञाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है।

(तत्र=) यहाँ (वहाँ)=इस 'उत्कृति' की समाप्ति होने पर; **तृतीयो वर्ग उच्यते**=तृतीय वर्ग समाप्त हो जाता है।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य-भाष्य में षोडश पटल समाप्त हुआ ।

टि० (क) सुभेषज ऋषि के सूक्त किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। अतः उदाहरणो को पूर्ण रूप में प्रस्तुत नही किया जा सका है।

---

१७ : छन्दः-पटलम् (२)

छन्दसां केचिद्विशेषाः

निचृत्संज्ञा भुरिक्संज्ञा च

स्वराट्संज्ञा विराट्संज्ञा च

छन्दसां देवताः

छन्दसां वर्णाः

गायत्र्याः पूर्वाणि मादीनि पञ्च च्छन्दांसि ; तेषां वैराजानि च

पादवृत्ताक्षरेषु संदेहास्पदानामृचां छन्दोनिर्णयप्रकारः

छन्दोदृष्ट्या न्यूनाक्षराणां पादानां पूरणार्थं संधिविच्छेदो व्यवधानं वा

पादानां विभागप्रकारः

पादेषु इतरे विशेषाः

ऋग्वेदे बृहत्तमा ऋक्

ऋग्वेदे बहुपादाऽपि लघुतमा ऋक्

द्विपदविराजां चतुष्पदाक्षरपङ्क्तित्वमिति केचित्

(छन्दसां केचिद्विशेषाः)

एवं क्लृप्तप्रमाणानां छन्दसामुपदिश्यते ॥१॥

(छन्दों के विषय में कतिपय विशेष बातें)

सू० अ०—इस प्रकार निश्चित 'अक्षर'-संख्या वाले छन्दों के विषय मे (कुछ और) उपदेश किया जाता है।

उ० भा०—एवं क्लृप्तप्रमाणानां चतुर्विंशत्यक्षरादीनां चतुरुत्तराणां चतुःशतपर्यन्तानामेकविंशतिच्छन्दसां कश्चिद्विशेष उपदिश्यते ॥

कोऽसौ विशेषः ?

उ० भा० अ०—एवम्=इस प्रकार, क्लृप्तप्रमाणानाम्=(षोडश पटल में) निश्चित की जा चुकी है 'अक्षर'-संख्या जिनकी, २४ अक्षरो से प्रारम्भ होने वाले और ४-४ (अक्षरों) से बढते हुए १०४ (अक्षरो) पर समाप्त होने वाले इक्कीस, छन्दसाम्=छन्दो के विषय में, कुछ विशेष, उपदिश्यते=उपदेश (विधान) किया जाता है।[क]

कौन सा विशेष ?

(निचृत्संज्ञा भुरिक्संज्ञा च)

एकद्व्यूनाधिका सैव निचृदूनाधिका भुरिक् ॥२॥

(निचृत्-संज्ञा और भुरिक्-संज्ञा)

सू० अ०—वही (=कोई ऋचा) १ या २ (अक्षरों) से न्यून या अधिक (हो सकती है)। यदि (१ 'अक्षर' से) न्यून हो तो 'निचृत्' (कहलाती हैं), यदि (१ 'अक्षर' से) अधिक हो तो 'भुरिक्' (कहलाती है)।

उ० भा०—(एकद्व्यूनाधिका सैव) एकेन ऊना निचृद् भवति। एकेन या ऋग् अधिका सा भुरिग्भवति। 'य. शुक्रइव सूर्य."[1] इति निचृत्। "परि धामानि यानि ते"[2] इति भुरिक् ॥

उ० भा० अ०—[एकद्व्यूनाधिका सैव=वही (ऋचा) १ या २ (अक्षरो) से न्यून या अधिक (हो सकती है)]। १ ('अक्षर')से, ऊना=न्यून, (ऋचा), निचृत् होती है।

टि० (क) १६ वें पटल में सभी छन्दो की 'अक्षर'-संख्या निश्चित की जा चुकी है। उन्ही छन्दो के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यो का उद्घाटन इस पटल में किया जायेगा।

---

[1] ऋ० १।४३।५ [2] ऋ० ९।६६।३

१ ('अक्षर') से जो ऋचा; अधिका=अधिक; हो वह भुरिक् होती है।[क] (जैसे) "य शुक्रइव सूर्य "[ख]—यह 'निचृत्' है। "परि धामनि यानि ते"[ग]—यह 'भुरिक्' है।

(स्वराट्संज्ञा विराट्संज्ञा च)

विराजस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्यां या विषये स्थिताः ।
स्वराज एवं पूर्वस्य याः काश्चैवंगता ऋचः ॥३॥

(स्वराट्-संज्ञा और विराट्-संज्ञा)

सू० अ० (अव्यवहित पूर्ववर्ती ऋचा से) २ (अक्षरों) से न्यून (जो ऋचा) (अक्षरों की दृष्टि से) परवर्ती (छन्दः) (जो छन्दः उस ऋचा में और २ 'अक्षर' जोड़ने से बनता है) के अधिकार में स्थित होती है वह (उस परवर्ती छन्दः का) 'विराट्' कहलाती है और (अव्यवहित पूर्ववर्ती ऋचा से और २ अक्षरों से अधिक) जो कोई ऋचा उसी प्रकार (अक्षरों की दृष्टि से) पूर्ववर्ती (छन्दः) (जो इस ऋचा में से दो 'अक्षर' घटाने पर बनता है) के (अधिकार में) आती है वह (उस पूर्ववर्ती छन्दः का) 'स्वराट्' (कहलाती है)।

उ० भा० द्वाभ्याम् अक्षराभ्यां या ऋचोऽधिका न्यूना वा; विषये=मध्ये; स्थिता उत्तरस्य पूर्वस्य च च्छन्दसः; विराजस्ता आहुरुत्तरस्य; स्वराजः पूर्वस्य। यथा षड्विंशत्यक्षरा ऋचो गायत्रीप्राये स्वराजो गायत्र्यो भवन्ति; उष्णिक्प्राये विराज उष्णिहो भवन्ति। यथा—"जोषा सवितर्यस्य ते"[१] इति स्वराड्गायत्री। "अतिथिं मानुषाणाम्"[२] इति विराडुष्णिक्। उत्तरत्रापि याः काश्चैवंगता ऋचो भवन्ति ॥

टि० (क) (i) छन्दोविशेष की निश्चित 'अक्षर'-संख्या—१ ('अक्षर')
='निचृत्' छन्दोविशेष।

जैसे—२४ (गायत्री' की निश्चित 'अक्षर'-संख्या) १=२३ ('अक्षर')
='निचृत् गायत्री'।

(ii) छन्दोविशेष की निश्चित 'अक्षर'-संख्या+१ ('अक्षर)
='भुरिक्' छन्दोविशेष।

जैसे २४ ('गायत्री' की निश्चित 'अक्षर'-संख्या)+१=२५ ('अक्षर')
='भुरिक् गायत्री'।

(ख) य शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवाना वसुः ॥
२३ (२४-१) अक्षरों वाली यह ऋचा 'निचृत् गायत्री' छन्द की है। इसके तृतीय पाद में ८ अक्षरों के स्थान पर ७ ही 'अक्षर' है। प्रथम पाद में व्यवधान ('व्यवाय') करके ८ अक्षर' हो जाते हैं।

(ग) परि धामनि यानि ते त्वं सोमासि विश्वतः। पवमान ऋतुभिः कवे ॥
२५ (२४+१) अक्षरों वाली यह ऋचा 'भुरिक् गायत्री' छन्द की है। इसके तृतीय पाद में ८ अक्षरों के स्थान पर ९ 'अक्षर' है।

---

[१] ऋ० १०।१५८।२ [२] ऋ० ८।२३।२५

उ० भा० अ०—**द्वाभ्याम्**=दो अक्षरों से, **याः**=जो ऋचायें; अधिक अथवा न्यून (होती हैं) तथा पूर्ववर्ती और परवर्ती छन्द के, **विषये**=प्रकरण में, **स्थिताः**=स्थित (होती हैं), उनको, **विराजः आहुरुत्तरस्य**=परवर्ती (छन्द) का 'विराट्' कहते हैं, (और) **स्वराजः पूर्वस्य**=पूर्ववर्ती (छन्द) का 'स्वराट्' (कहते हैं)।[क] जैसे २६ अक्षरों वाली ऋचायें 'गायत्री' के अधिकार में होने पर 'स्वराट् गायत्री' होती हैं, 'उष्णिक्' के अधिकार में होने पर 'विराट् उष्णिक्' होती हैं। जैसे—"जोषा सवितर्यस्य ते"[ख]—यह 'स्वराट् गायत्री' है। 'अतिथिं मानुषाणाम्'[ग]—यह 'विराट् उष्णिक्' है। **याः काश्चैवंगता ऋचः**=जो कोई भी इस प्रकार की ऋचायें, होती हैं (उन्हें ऐसे ही समझ लेना चाहिए)।

याः काश्चिद्बहुपादास्तु गायत्र्यो हीनतां गताः ।
अक्षरैर्बहुभिस्तास्तु गायत्र्य उपधारयेत् ॥४॥

सू० अ०—जो 'गायत्री' बहुत (=दो से अधिक) पादों की हैं और बहुत (=दो से अधिक) अक्षरों से न्यून (हीन) है, उन्हें ('विराट्') 'गायत्री' समझना चाहिए।

टि० (क) (i) छन्दोविशेष की निश्चित 'अक्षर'-सख्या—२ ('अक्षर')
= 'विराट्' छन्दोविशेष।

जैसे—२८ ('उष्णिक्' की निश्चित 'अक्षर'-सख्या) २=२६ ('अक्षर')
= 'विराट् उष्णिक्'।

(ii) छन्दोविशेष की निश्चित 'अक्षर'-सख्या+२ ('अक्षर')
= 'स्वराट्' छन्दोविशेष।

जैसे २४ ('गायत्री' की निश्चित अक्षर-सख्या) । २=२६ ('अक्षर')
= 'स्वराट् गायत्री'।

(प्रश्न) २६ (=२८−२ या २४+२) अक्षरों की ऋचा 'विराट् उष्णिक्' होगी या 'स्वराट् गायत्री'? (उत्तर) 'उष्णिक्' के अधिकार में होने पर 'विराट् उष्णिक्' छन्द की होगी, गायत्री' के अधिकार में होने पर 'स्वराट् गायत्री' छन्द की होगी।

(ख) जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति।
पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥
२६ अक्षरों की यह ऋचा 'स्वराट् गायत्री' है क्योंकि यह ऋचा 'गायत्री' छन्द के अधिकार में स्थित है।

(ग) अतिथिं मानुषाणां सूनुं वनस्पतीनाम्।
विप्रा अग्निमवसे प्रत्नमीळते ॥
२६ अक्षरों की यह ऋचा 'विराट् उष्णिक्' है क्योंकि यह ऋचा 'उष्णिक्' छन्दः के अधिकार में स्थित है।

उ०भा०—गायत्र्यः; बहुभिः=द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिर्वा; (हीनतां गताः=) न्यूनाः सत्यः; गायत्र्य एव विराजः; (उपधारयेत्=) भवन्ति; पूर्वस्य च्छन्दसोऽभावात्। भगवतोभयच्छन्दसां मध्ये तदुक्तम् ॥

उ० भा० अ०—(बहुभिः=बहुत से=) २, ३, ४ अथवा ५ (अक्षरों) से, (हीनतां गताः=हीनता को प्राप्त=) न्यून होने पर (भी), गायत्र्यः='गायत्री'; 'विराट्'; गायत्र्यः='गायत्री', ही, (उपधारयेत्=समझनी चाहिए=) होते हैं, क्योंकि ('गायत्री' से) पूर्व में (बहुपाद) छन्द का अभाव है। भगवान् (शौनक) ने (बहुपाद) दो छन्दों के मध्य में ही उसे (दो ही अक्षरों से न्यून होने पर 'विराट्' के विधान) को कहा है। [क]

ताराड् विराट् स्वराट् सम्राट् स्ववशिनी परमेष्ठी ।
प्रतिष्ठा प्रत्नममृतं वृषा शुक्रं जीवं पयः ॥
तृप्तमर्णोऽशोऽम्भोऽम्बु वार्यापश्चोदकमुत्तमम् ॥५॥

सू० अ०—'ताराट्', 'विराट्', 'स्वराट्', 'सम्राट्', 'स्ववशिनी', 'परमेष्ठी', 'प्रतिष्ठा', 'प्रत्न', 'अमृत', 'वृषा', 'शुक्र', 'जीव', 'पयः', 'तृप्त', 'अर्णः', 'अंशः', 'अम्भः', 'अम्बु', 'वारि', आपः' और अन्तिम उदक (ये उन छन्दों के नाम हैं जो दूसरे छन्दों के अधिकार में स्थित होते हैं और २ अक्षरों से न्यून अथवा अधिक होते हैं)।

उ० भा०—या विषये स्थिता द्वाभ्यां ता इमाः—ताराट्, विराट्, स्वराट्, सम्राट्, स्ववशिनी, परमेष्ठी, प्रतिष्ठा, प्रत्नम्, अमृतम्, वृषा, शुक्रम्, जीवम्, पयः, तृप्तम्, अर्णः, अंशः, अम्भः, अम्बु, वारि, आपः, (उत्तमम्) उदकम् इति यथैकविंशतिर्विराजश्च द्वाविंशत्यक्षरादयो द्विशताक्षरपर्यन्ताः ॥

उ० भा० अ०—जो (दूसरे छन्दों के) अधिकार में स्थित (होते हैं) और २ (अक्षरों) से (न्यून अथवा अधिक होते हैं) वे ये हैं—ताराट्[ख], विराट्, स्वराट्, सम्राट्, स्ववशिनी, परमेष्ठी, प्रतिष्ठा, प्रत्न, अमृत, वृषा, शुक्र, जीव, पयः, तृप्त,

टि० (क) किसी छन्द के नाम के साथ 'विराट्' शब्द तभी लगाया जाता है जब उस छन्द की 'अक्षर'-सख्या से सम्बद्ध ऋचा में २ 'अक्षर' न्यून होते हैं। किंतु 'विराट् गायत्री' तो २०, २१ अथवा १९ अक्षरों की भी हो सकती है। १७।३ केवल उसी ऋचा पर लागू होता है जो ऐसे दो छन्दों के मध्य में आवे जो 'अक्षर'-सख्या की दृष्टि से उस ऋचा से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती हो।

(ख) निदान-सूत्र १।५ में इस छन्द का नाम 'राट्' है।

अर्णः, अंश, अम्भः, अम्बु, वारि, आपः, (और, उत्तमम्=अन्तिम) उदक—२२ अक्षरों से लेकर १०२ अक्षरों तक के ये 'विराट्' छन्द. हैं।[क]

(छन्दसां देवताः)

दैवतं छन्दसामत्र वक्ष्यते तत उत्तरम् ।
अग्नेर्गायत्र्यतोऽपि द्वे भक्त्या दैवतमाहतुः ।
सप्तानां छन्दसामृचौ ॥६॥

(छन्दों के देवता)

सू० अ०—(अब यहाँ से आगे) छन्दों के देवता बतलाये जायेंगे। "अग्नेर्गायत्री" से प्रारम्भ होने वाली दो ऋचायें सात छन्दों के देवताओं को एक-एक करके बतलाती हैं।

टि० (क)

१७।१९ प्राग्गायत्री-वर्ग १७।२०

छन्द: का नाम	अक्षर-संख्या	विराट् का नाम	अक्षर-संख्या
मा	४	हर्षीका	४—२= २
प्रमा	८	सर्पीका	८—२= ६
प्रतिमा	१२	मर्पीका	१२—२=१०
उपमा	१६	सर्वमात्रा	१६—२=१४
समा	२०	विराट्कामा	२०—२=१८

१६।८ प्रथम-वर्ग १७।५

छन्दः का नाम	अक्षर-संख्या	विराट् का नाम	अक्षर-संख्या
गायत्री	२४	ताराट्	२४—२=२२
उष्णिक्	२८	विराट्	२८—२=२६
अनुष्टुप्	३२	स्वराट्	३२—२=३०
बृहती	३६	सम्राट्	३६—२=३४
पङ्क्ति	४०	स्ववशिनी	४०—२=३८
त्रिष्टुप्	४४	परमेष्ठी	४४—२=४२
जगती	४८	प्रतिष्ठा	४८—२=४६

उ० भा०—(अत्र तत उत्तरम् =) ताराडादीनां छन्दसामुत्तरम्; (छन्दसाम् =) गायत्र्यादीनामतिच्छन्दसां च, (दैवतम् =) देवताः; (वक्ष्यते =) कथ्यन्ते । "अग्ने गोयत्र्यभवत्सयुग्वा"[1]; (अतोऽधि =) इत्यत आरभ्य; द्वे ऋचौ छन्दसां भक्त्या दैवत-

१६।८०—८६ द्वितीय-वर्ग १७।५

(८२९ क)

छन्द का नाम	अक्षर-संख्या	विराट् का नाम	अक्षर-संख्या
अतिजगती	५२	प्लव	५२—२=५०
शक्वरी	५६	अमृत	५६—२=५४
अतिशक्वरी	६०	वृषा	६०—२=५८
अष्टि	६४	शुक्र	६४—२=६२
अत्यष्टि	६८	जीव	६८—२=६६
धृति	७२	पय	७२—२=७०
अतिधृति	७६	तृप्त	७६—२=७४

१६।८९—९० तृतीय-वर्ग १७।५

छन्द का नाम	अक्षर-संख्या	विराट् का नाम	अक्षर-संख्या
कृति	८०	अर्ण	८०—२=७८
प्रकृति	८४	अश	८४—२=८२
आकृति	८८	अम्भ.	८८—२=८६
विकृति	९२	अम्बु	९२—२=९०
संकृति	९६	वारि	९६—२=९४
अभिकृति	१००	आप	१००—२=९८
उत्कृति	१०४	उदक	१०४—२=१०२

(ख) पूर्ववर्ती छन्द के अधिकार के अनुसार ये छन्द 'विराट्' भी हो सकते हैं और 'स्वराट्' भी । 'हर्षीका' और 'ताराट्' तो केवल 'विराट्' ही हो सकते हैं, 'स्वराट्' नहीं । यहाँ विराटों के ही नाम बतलाये गये हैं ।

१ ऋ० १०।१३०।४

माहतुः सप्तानाम् । तस्मादग्नेर्गायत्री भवति । सावित्र्युष्णिक् । सौम्यनुष्टुप् । बार्हस्पत्या बृहती । मैत्रावरुणी विराट् । ऐन्द्री त्रिष्टुप् । वैश्वदेवी जगती ।

छन्दसां देवताज्ञाने धर्मः प्रयोजनं भवत्येव । सशये छन्दसां दैवतेनाध्यवसायो भवति । यथा "तव स्वादिष्ठा"[1]; "शिवा नः सख्या"[2] इत्युष्णिगनुष्टुभोर्मध्ये—"घृतं न पूतम्"[3] इति षड्विंशत्यक्षरे द्वे ऋचौ दैवतेन स्वराजौ गायत्र्यावध्यवसीयेते, न विराजावुष्णिहौ ॥

उ० भा० अ०—(अत्र तत उत्तरम्=अब यहाँ से आगे=) ताराड् आदि छन्दो के अनन्तर, (छन्दसाम्=छन्दों के=) 'गायत्री' आदि (छन्दो) के और अतिच्छन्दों के; (दैवतम्=) देवता; (वक्ष्यते=) कहे जाते है। "अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वा"[क], (अतोऽधि=) यहाँ से लेकर, द्वे ऋचौ=दो ऋचायें; भक्त्या=एक-एक करके; सप्तानां छन्दसाम्=सात छन्दो के, दैवतमाहतुः= देवताओ को बतलाती है। अतएव 'गायत्री' (छन्द) अग्नि का, 'उष्णिक्' सवितृ का, अनुष्टुप् सोम का, 'बृहती' बृहस्पति का, 'विराट्' मित्रावरुण का, 'त्रिष्टुप्' इन्द्र का (और) 'जगती' विश्वेदेवो का है।

छन्दो के देवताओं के ज्ञान में धर्म रूप प्रयोजन तो है ही। (इसके अतिरिक्त) सशय होने पर छन्दो का निश्चय देवता से होता है। जैसे—"तव स्वादिष्ठा··" और "शिवा न सख्या "—इन 'उष्णिक्' और 'अनुष्टुप्' (-छन्दस्क ऋचाओं) के मध्य में—"घृत न पूतम्···" आदि २६ अक्षरों वाली दो ऋचायें (अग्नि) देवता की होने से 'स्वराट् गायत्री' (-छन्दस्क) निश्चित की जाती है, 'विराट् उष्णिक्' (-छन्दस्क) नही।[ख]

टि० (क) अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सबभूव ।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्न- ।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्या ॥

(ख) तव स्वादिष्ठा ऽग्ने सदृष्टिर् इदा चिदह्न इदा चिदक्तो ।
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके ॥४।१०।५
घृत न पूत तनूररेपा शुचि हिरण्यम् ।
तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधाव ॥४।१०।६
कृत चिद्धि ष्मा सनेमि द्वेषो ऽग्न इनोषि मर्तात् ।
इत्था यजमानादृताव. ॥४।१०।७
शिवा न सख्या सन्तु भ्रात्राऽग्ने देवेषु युष्मे ।
सा नो नाभि. सदने सस्मिन्नूधन् ॥४।१०।८

२६-२६ अक्षरो वाली ये दो ऋचायें (४।१०।६-७) 'स्वराट् गायत्री' भी हो सकती है और 'विराट् उष्णिक्' भी। इन सभी ऋचाओ (४।१०।१-८) का देवता अग्नि है। अग्नि 'गायत्री' का देवता माना गया है। अत ये दो ऋचायें 'स्वराट् गायत्री' है।

---

[1] ऋ० ४।१०।५ [2] ऋ० ४।१०।८ [3] ऋ० ४।१०।६

न पङ्क्तेः ॥७॥

सू० अ०—(१७।६ में निर्दिष्ट ऋचाओं में) 'पङ्क्ति' (छन्दः) के (देवता का उल्लेख) नहीं (है)।

उ० भा०—पङ्क्तेः दैवतमेते ऋचौ न माहतुः। सप्तसु मध्ये यस्मात् पङ्क्तिस्तस्मा-विदमुच्यते ॥

उ० भा० अ०—(१७।६ में निर्दिष्ट) इन दो ऋचाओं ने; पङ्क्तेः='पङ्क्ति' के, देवता को; न=नहीं, कहा है। यतः 'पङ्क्ति' (प्रधानभूत) सात (छन्दों) के मध्य में आता है, अतः (सूत्र में) यह कहा गया है।[क]

सा तु वासवी ॥८॥

सू० अ०—वह (=पङ्क्ति) वसुओं की है।

उ० भा०—सा=पङ्क्तिः; वासवी वेदितव्या ॥

उ० भा० अ०—सा=उसे=पङ्क्ति को, वासवी=वसुओं की; जानना चाहिए।

प्राजापत्या त्वतिच्छन्दा ॥९॥

सू० अ०—'अतिच्छन्दः' (वाली ऋचा) प्रजापति (देवता) की (होती है)।

उ० भा०—या अतिच्छन्दा ऋक्सा प्राजापत्या वेदितव्या ॥

उ० भा० अ०—जो अतिच्छन्दा ऋचा (होती है) उसे, प्राजापत्या=प्रजापति की; जानना चाहिए।

विच्छन्दा वायुदेवता ॥१०॥

सू० अ०—'विच्छन्दः' (वाली ऋचा) वायु देवता की (होती है)।

उ० भा०—या विच्छन्दा ऋक्सा वायुदेवता वेदितव्या ॥

उ० भा० अ०—जो विच्छन्दा ऋचा (होती है) उसे वायु देवता वाली; जानना चाहिए।[ख]

टि० (क) पूर्ववर्ती सूत्र (१७।६) ऋग्वेद की दो ऋचाओं (१०।१३०।४-५) पर आधृत है जिनमें 'विराट्' पद आया है। सूत्रकार इस 'विराट्' का अर्थ 'दो अक्षरों से न्यून छन्द' मानते है। यतः इन दोनों ऋचाओं तथा तदनुसार १७।६ में 'पङ्क्ति' के देवता का उल्लेख नहीं है, अतः सूत्रकार को 'पङ्क्ति' के देवता के लिए पृथक् सूत्र (१७।८) बनाना पड़ा है। वास्तव में उपर्युक्त ऋचाओं में प्रयुक्त 'विराट्' पद का अर्थ 'पङ्क्ति' है, जैसा कि ताण्ड्य-ब्राह्मण २४।१०।२ में कहा गया है—"पङ्क्तिर्वै परमा विराट्।" अत एव सूत्रकार को 'पङ्क्ति' छन्द के देवता के लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं थी।

(ख) 'विच्छन्द' कौन छन्द है—यह भाष्यकार ने नहीं बतलाया है। विच्छन्दः के विषय में उपनिदान-सूत्र ६ में कहा गया है—"विच्छन्दः स्वक्षरपरिमाणा सकृति-

द्विपदा पौरुषं छन्दः ॥११॥

सू० अ०—द्विपदा छन्दः पुरुष (देवता) का (है)।

उ० भा०—या द्विपदा (छन्दः) ऋक् सा, (पौरुषम्=) पौरुषी; वेदितव्या ॥

उ० भा० अ०—जो द्विपदा (छन्दः) वाली ऋचा है उसे; (पौरुषम्=) पुरुष (देवता) की; जानना चाहिए।

ब्राह्मी त्वेकपदा स्मृता ॥१२॥

सू० अ०—एकपदा (ऋचा) तो ब्रह्मन् की मानी गई है।

उ० भा०—या एकपदा ऋक् सा ब्राह्मी स्मृता ॥

उ० भा० अ०—जो एकपदा (=एक पाद वाली) ऋचा (होती है) वह; ब्राह्मी=ब्रह्मन् की, स्मृता=मानी गई है।

(छन्दसां वर्णाः)

एतेनैव क्रमेणैषां वर्णतो भक्तिरुच्यते ॥१३॥

(छन्दों के वर्ण)

सू० अ०—इसी क्रम से इन (छन्दों) का वर्ण की दृष्टि से विभाग बतलाया जाता है।

उ० भा०—येन क्रमेण च्छन्दसा दैवतमुक्तम्, (एतेन=) तेन; एव क्रमेणैषां वर्णतो भक्तिरुच्यते ॥

उ० भा० अ०—जिस क्रम से छन्दों के देवता बतलाये गये हैं; (एतेन=) उस; ही; क्रमेणैषाम्=क्रम से इनका, वर्णतो भक्तिरुच्यते=वर्ण की दृष्टि से विभाग बतलाया जाता है।

श्वेतं च सारङ्गमतः पिशङ्गं कृष्णमेव च।
नीलं च लोहितं चैव सुवर्णमिव सप्तमम्।
अरुणं श्यामगौरे च बभ्रु वै नकुलं तथा ॥१४॥

सू०अ०—('गायत्री' आदि छन्दों के वर्ण क्रमशः ये हैं)—श्वेत, सारङ्ग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित और सप्तम सुवर्ण की भाँति, अरुण, श्याम, गौर, बभ्रु और नकुल।

(८३२ ख) प्रभृत्यूर्ध्वं 'विज्ञेया' अर्थात् 'विच्छन्द' में अक्षरों की संख्या 'संकृति' प्रभृति ('अतिच्छन्द' से) आगे जाननी चाहिए।

इससे प्रतीत होता है १०४ अक्षरों तक समाप्त होने वाले 'अतिच्छन्द' से अधिक अक्षरो वाले छन्दो को 'विच्छन्द' कहा जाता है। 'विच्छन्दः' का उल्लेख 'अतिच्छन्द' के बाद में हुआ है—इससे भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

उ० भा० -श्वेतम्=शङ्खवर्णम्; गायत्रम्। सारङ्गम्=द्विवर्णं कृष्णशुक्लम्; औष्णिहम्। पिशङ्गम्=रोचनावर्णम्; आनुष्टुभम्। कृष्णम्=अगुरुवर्णम्; बार्हतम्। नीलम्=उत्पलवर्णम्; वैराजम्। लोहितम्=इन्द्रगोपवर्णम्; त्रैष्टुभम्। (सुवर्णमिव=) सुवर्णरूपवर्णम्; जागतम्। अरुणम्=प्रातःसन्ध्याभ्रवर्णम्; पाङ्क्तम्। (श्यामगौरे--) श्यामम्=शुकवर्णम्; अतिच्छन्दः; गौरम्=सिद्धार्थवर्णम्; विच्छन्दः। बभ्रु=कपिलवर्णम्; द्विपद छन्दः। नकुलम्=नकुलवर्णम्; एकपदं छन्दः। एतावता देवताक्रमेण वर्णविधिः॥

उ० भा० अ०—'गायत्री' का (वर्ण); श्वेतम्=श्वेत=शङ्ख के वर्ण के समान, (है)। 'उष्णिक्' का (वर्ण); सारङ्गम्=चितकवरा=कृष्ण और शुक्ल इन दो वर्णों का मेल; (है)। 'अनुष्टुप्' का; पिशङ्गम्=लालिमा युक्त पीला, वर्ण, (है)। 'बृहती' का (वर्ण); कृष्णम्=कृष्ण=अगरु का वर्ण, (है)। 'विराट्' का (वर्ण), नीलम्=नीला=नीले कमल के वर्ण के समान, (है)। 'त्रिष्टुप्' का (वर्ण), लोहितम्=लाल=जुगनू के वर्ण के समान; (है)। 'जगती' का, (सुवर्णमिव=सुवर्ण की भाँति=) सुवर्ण के रूप के समान वर्ण है। 'पङ्क्ति' का (वर्ण), अरुणम्=अरुण=प्रातकालीन बादल के वर्ण के समान; (है)। (श्यामगौरे—)'अतिच्छन्द', श्यामम्=श्याम=तोते के वर्ण वाला; (होता है)। 'विच्छन्द', गौरम्=गौर (वर्ण) का=पीली सरसो के समान वर्ण वाला; (होता है)। द्विपदा छन्द, बभ्रु=भूरा=कपि के वर्ण वाला, (होता है)। एकपदा छन्द; नकुलम्=नकुल के वर्ण वाला (होता है)। देवताओं के इस क्रम से वर्णों का विधान (किया गया है)।

पृश्निवर्णं तु वैराजम् ॥१७॥

सू० अ०—'विराट्' पृश्नि वर्ण वाला है।

उ० भा० —पृश्निवर्णम्=बहुवर्णम्=चित्रम्; वैराजम्। अथ कस्माद्वैराजस्य द्विवर्णोपदेशः क्रियते ? तत्र क्रमेणैव नीलत्वं सिद्धम्। न सिध्यति। कथम् ? एतास्तिस्रो विराजोऽनुष्टुबेका पङ्क्तिरेका द्वाभ्यां न्यूना चैका। तत्र पूर्वयोर्नीलो वर्णः। अस्याः पृश्निरिति वेदितव्यम्। एवमपि कथमेतदध्यवसीयते पूर्वयोर्नीलः अस्याः पृश्निरिति ? निचृद्भुरिजोर्न्यूनाधिकयोः सहोपदेशादस्याः पृश्निर्भवति। परिशेषादितरयोर्नील इत्यध्यवसीयते। तयोरप्येके क्रमात् पङ्क्तेरेव विराजो नीलत्व मन्यन्ते॥

उ० भा० अ० —वैराजम्='विराट्' (छन्द), पृश्निवर्णम्=बहुत वर्णों वाला=रङ्ग-विरङ्गा (है)। (प्रश्न) 'विराट्' के लिये दो वर्णों का उपदेश किस कारण से किया जाता है ? वहाँ (='विराट्' में) क्रम से ही नीलत्व सिद्ध है। (उत्तर) सिद्ध नहीं होता है। (प्रश्न) क्यों (सिद्ध नहीं होता है) ? (उत्तर) 'विराट्' तीन हैं—(१) ('विराट्') 'अनुष्टुप्'[क] एक, (२) ('विराट्') 'पङ्क्ति'[ख] एक, (३) २ (अक्षरों) से न्यून[ग] ('विराट्')

टि० (क) 'विराट् अनुष्टुप्' के लिए १६।४२ को देखिए।

(ख) 'विराट् पङ्क्ति' के लिए १६।५५ को देखिए।

(ग) दो अक्षरों से न्यून 'विराट्' के लिए १७।३ को देखिए।

एक। इनमें से पूर्व वाले दो (विराटो) का नील वर्ण है। इसका (=दो अक्षरो से न्यून 'विराट्' का) पृश्नि (वर्ण) जानना चाहिए। (प्रश्न) ऐसी स्थिति होने पर भी यह कैसे निश्चित किया जाता है कि पूर्व वाले दो (विराटो) का नील है और इसका (=२ अक्षरो से न्यून 'विराट्' का) पृश्नि है ? (उत्तर) न्यून (अक्षरो) वाले तथा अधिक (अक्षरो) वाले 'निचृत्' और 'भुरिक्' के साथ उपदेश होने से इसका (=२ अक्षरो से न्यून 'विराट्' का) पृश्नि (सिद्ध) होता है। अवशिष्ट होने से अन्य दो ('विराट् अनुष्टुप्' और 'विराट् पङ्क्ति') का नील (वर्ण) है—यह निश्चय किया जाता है।[क] एक आचार्य उनमें भी क्रम से 'विराट् पङ्क्ति' का ही नील (वर्ण) मानते हैं।

निचृच्छ्यावम् ॥१६॥

सू० अ०—'निचृत्' गहरे भूरे (श्याव) (वर्ण का होता है)।

उ० भा०—(श्यावम्=) कृमिदूषितपत्रवर्णम्; निचृत् भवति ॥

उ० भा० अ०—(श्यावम्=गहरे भूरे वर्ण वाला=) कीटो से दूषित किये गये पत्ते के वर्ण के समान, निचृत् (छन्द) होता है।

पृषद्भुरिक् ॥१७॥

सू० अ०—'भुरिक्' (छन्दः) पृषद् (बिन्दु वाला) (होता है)।

उ० भा०—(पृषत्=) बिन्दुमत्; भुरिक् भवति ॥

उ० भा० अ०—(पृषत्=)बिन्दु वाला, भुरिक् (छन्द) होता है।

ब्रह्मसामर्ग्यजुश्छन्दः कपिलं वर्णतः स्मृतम् ॥१८॥

सू० अ०—ब्रह्मन्, सामन्, ऋचा और यजुः का छन्दः वर्ण की दृष्टि से कपिल माना गया है।

उ० भा०—(ब्रह्मसामर्ग्यजुश्छन्दः=) ब्रह्मणः सामर्ग्यजुषां च च्छन्दः; वर्णतः; कपिलम्=जटाकलापवर्णम्; स्मृतम् ॥

उ० भा० अ०—(ब्रह्मसामर्ग्यजुश्छन्दः=) ब्रह्मन्, सामन्, ऋचा और यजु का छन्द[ख], वर्णतः=वर्ण की दृष्टि से, कपिलम्=भूरा=जटासमूह के वर्ण के समान, स्मृतम्=माना गया है।[ग]

टि० (क) 'निचृत्', 'भुरिक्' और 'विराट्'—इन तीनो छन्दों में यह समानता है कि ये निर्दिष्ट अक्षरो वाले छन्द न होकर न्यूनाक्षरों अथवा अधिकाक्षरो वाले छन्द हैं। अतः 'निचृत्' (१७।१६) और 'भुरिक्' (१७।१७) के अव्यवहित पूर्व (१७।१५) में न्यूनाक्षरा 'विराट्' का ही विधान युक्त है, अन्य प्रकार के विराटो का नही। अन्य प्रकार के दोनो विराटो का तो १७।१४ में विहित नील वर्ण ही है।

(ख) इन छन्दो के लिए १६।१० और १६।११ को देखिए।

(गायत्र्याः पूर्वाणि मादीनि पञ्च च्छन्दांसि; तेषां वैराजानि च)

मा प्रमा प्रतिमोपमा संमा च चतुरक्षरात् ।
चतुरुत्तरमुद्यन्ति पञ्च च्छन्दांसि तानि ह ॥१९॥

(गायत्री से पूर्ववर्ती छन्दः और उनके विराट्)

सू० अ०—'मा', 'प्रमा', 'प्रतिमा', 'उपमा' और 'संमा'—ये पाँच छन्दः हैं जो ४ अक्षरों से (प्रारम्भ होकर) ४-४ अक्षरों से बढ़ते हैं।

(८३५ग)

छन्द का नाम	अक्षर-संख्या	देवता	वर्ण
गायत्री	२४	अग्नि	श्वेत
उष्णिक्	२८	सवितृ	सारङ्ग
अनुष्टुप्	३२	सोम	पिशङ्ग
बृहती	३६	बृहस्पति	कृष्ण
पङ्क्ति	४०	वसु	अरुण
त्रिष्टुप्	४४	इन्द्र	लोहित
जगती	४८	विश्वेदेव	सुवर्ण-वर्ण
(i) विराट् अनुष्टुप् (ii) विराट्-पङ्क्ति	३० (१०×३) या ३३(११×३), ४०(१०×४)	मित्रावरुण	नील
न्यूनाक्षरा विराट् (ताराट्, ··· उदक)	२२, २६, ३० ·१०२	अनुल्लिखित	पृश्नि
निचृत् (गायत्री, उष्णिक् ···उत्कृति)	२३, २७, ३१ १०३	अनुल्लिखित	श्याव
भूरिक्, (गायत्री, उष्णिक् ··· उत्कृति)	२५, २९, ३३· ·१०५	अनुल्लिखित	पृषत्
एकपदा (गायत्री···जगती)	८ · ··१२	ब्रह्मन्	नकुल-वर्ण
द्विपदा (गायत्री · जगती)	(८×२)·· ·· (१२×२)	पुरुष	बभ्रु
अतिच्छन्द (अतिजगती उत्कृति)	५२, ५६ · · १०४	प्रजापति	श्याम
विच्छन्द	१०८···· ·· · ····	वायु	गौर
ब्रह्मन्, सामन्, ऋक् और यजु का छन्द	३६ , १२·· . १८ , ६···	अनुल्लिखित	[illegible]

उ० भा०—मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा, संमा च इति चतुरक्षरात्; (चतुरुत्तरम्=) चतुरुत्तराणि। तानि गायत्र्याः पूर्वाणि पञ्च च्छन्दांसि वेदितव्यानि ॥

उ० भा० अ०--मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा और संमा—ये; चतुरक्षरात्=४ अक्षरों से (प्रारम्भ होकर); (चतुरुत्तरम्=) ४-४ अक्षरों से बढते हैं।[क] 'गायत्री' से पूर्व में; तानि पञ्च छन्दांसि=इन पांच छन्दो को; जानना चाहिए।

हर्षीका सर्षीका मर्षीका सर्वमात्रा विराट्कामा ।
द्व्यक्षरादीनि मादीनां वैराजान्यनुचक्षते ॥२०॥

सू० अ०—२ अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले (और ४-४ अक्षरों से बढ़ने वाले) हर्षीका', 'सर्षीका', 'मर्षीका', 'सर्वमात्रा' और 'विराट्कामा'—ये 'मा' आदि (छन्दों) के 'विराट्' कहे जाते हैं।

उ० भा०—(हर्षीका सर्षीका मर्षीका सर्वमात्रा विराट्कामा, इत्येतानि च द्व्यक्षरादीनि चतुरुत्तराण्यष्टादशाक्षरपर्यन्तानि मादीनां वैराजान्यनुचक्षते ॥

उ० भा० अ०—द्व्यक्षरादीनि=२ अक्षरो से प्रारम्भ होने वाले; ४-४ अक्षरो से बढते हुए १८ अक्षरों तक जाने वाले (हर्षीका, सर्षीका, मर्षीका, सर्वमात्रा, विराट्कामा) ये (छन्द), मादीनां वैराजान्यनुचक्षते='मा' आदि (छन्दो) के 'विराट्' कहलाते हैं।[ख]

(पादवृत्ताक्षरेषु सन्देहास्पदानामृचां छन्दोनिर्णयप्रकारः)

अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम् ।
विद्याद्विप्रतिपन्नानां पादवृत्ताक्षरैर्ऋचाम् ॥२१॥

(पाद, वृत्त और अक्षरो के विषय में संदिग्ध ऋचाओं के छन्दः के निर्णय का प्रकार)

सू० अ०—पादो, वृत्तों और अक्षरो की दृष्टि से संदिग्ध ऋचाओं के (छन्दोनिर्णय के लिए) सर्वाधिक बलवान् निमित्त सर्वत्र (उन ऋचाओं के) 'अक्षर' ही हैं।

उ० भा०—(पादवृत्ताक्षरैः=) पादैर्वृत्तैरक्षरैश्च, विप्रतिपन्नानामृचां सर्वत्र बलवत्तरं निमित्तमक्षराण्येव विद्यात्। यथा—"सूर्ये विषमा सजामि"[१] पादैर्विप्रतिपन्नास्तित्तोऽक्षरैर्जगत्योऽध्यवसीयन्ते। यथा—"नवानां नवतीनाम्"[२] इति पङ्क्तिः। यथा च-"अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु"[३] इति वृत्तैर्विप्रतिपन्नाक्षरैस्त्रिष्टुबध्यवसीयते। यथा—"यास्ते प्रजा अमृतस्य"[४] इत्यनुष्टुप्। यथा च -"ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु"[५] इति त्रिष्टुप्प्राये चाक्षरैरेव जगत्यध्यवसीयते ॥

टि० (क) इस प्रकार 'मा' ४, 'प्रमा' ८, 'प्रतिमा' १२ 'उपमा' १६ और 'संमा' (छन्द) २० अक्षरो का होता है।

(ख) 'मा' आदि छन्दो तथा इनके विराटो के लिए पृष्ठ ८०९ पर रेखाचित्र को देखिए।

[१] ऋ० १।१९१।१० [२] ऋ० १।१९१।१३ [३] ऋ० १०।७७।१
[४] ऋ० १।४३।९ [५] ऋ० १०।१२८।९

उ० भा० अ०—(पादवृत्ताक्षरैः=) पादों, वृत्तों और अक्षरों (की दृष्टि) से, विप्रतिपन्नानामृचाम्=सदिग्ध ऋचाओ के (छन्दोनिर्णय के लिये); बलवत्तरं निमित्तम् सर्वाधिक बलवान् निमित्त; सर्वत्र; अक्षराण्येव=अक्षरो ('अक्षर'-सख्या) को ही, जानना चाहिए। जैसे—"सूर्ये विषमा सजामि"—पादों की दृष्टि से सदिग्ध ये तीन ऋचायें अक्षरो ('अक्षर'-सख्या) से 'जगती' (छन्दः की) निश्चित की जाती है।[क] जैसे—"नवाना नवतीनाम्"—यह (ऋचा) 'पङ्क्ति' (छन्द की निश्चित की जाती है)।[ख] और जैसे—"अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु"—यह वृत्तो से सदिग्ध होने पर अक्षरो ('अक्षर'-सख्या) से 'त्रिष्टुप्' निश्चित की जाती है।[ग] जैसे—"यास्ते प्रजा अमृतस्य" यह (ऋचा) 'अनुष्टुप्' (छन्द की निश्चित)

टि० (क) (i) सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे।
सो चिन्नु न मराति नो वय मरामा—रे अस्य योजन हरिष्ठा
मधु त्वा मधुला चकार। ऋ० १।१९१।१०

(ii) इयत्तिका शकुन्तिका सका जघास ते विषम्।
सो चिन्नु न मराति नो वय मरामा—रे अस्य योजन हरिष्ठा
मधु त्वा मधुला चकार। ऋ० १।१९१।११

(iii) त्रिः सप्त विष्पुलिङ्गका विषस्य पुष्पमक्षन्।
ताश्चिन्नु न मरन्ति नो वय मरामा—रे अस्य योजन हरिष्ठा
मधु त्वा मधुला चकार। ऋ० १।१९१।१२

(प्रश्न) इन तीनो ऋचाओं में क्रमश ८, ८, ७, ६, १० और ९ अक्षरो के छ पाद हैं। पादो की दृष्टि से इन ऋचाओं के छन्दोनिर्णय में सशय होता है। (उत्तर) इन तीनों ऋचाओ में ४८-४८ 'अक्षर' हैं। इस 'अक्षर'-सख्या से निर्णय हो जाता है कि ये तीनों ऋचायें ४८-अक्षरात्मक 'जगती' छन्द की हैं।

(ख) नवाना नवतीना विषस्य रोपुषीणाम्।
सर्वासामग्रभ नामाऽऽरे अस्य योजन हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार।

(प्रश्न) इस ऋचा में क्रमश ७, ७, ६, ५, ६ और ९ अक्षरो के ६ पाद हैं। इस प्रकार पादों की दृष्टि से इस ऋचा के छन्दोनिर्णय में सशय होता है। (उत्तर) इस ऋचा में ४० 'अक्षर' है। इस 'अक्षर'-सख्या से निर्णय हो जाता है कि यह ऋचा ४०-अक्षारात्मक 'पङ्क्ति' छन्द की है।

(ग) अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु हविष्मन्तो न यज्ञा विजानुषः।
सुमारुत न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषा न शोभसे॥

(प्रश्न) ११-११ अक्षरो के पादो से ज्ञात होता है कि यह 'त्रिष्टुप्' है, किन्तु 'त्रिष्टुप्' छन्द के पाद का उपोत्तम 'अक्षर' 'गुरु' होता है—यह 'त्रिष्टुप्' का 'वृत्त' है, दे० १७।२९। प्रस्तुत ऋचा के सभी पादों में उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' है। इस प्रकार सभी पादों में 'वृत्त' नियम के विरुद्ध है। (उत्तर) 'वृत्त' की दृष्टि से विरोध होने पर भी इस ऋचा का छन्द 'त्रिष्टुप्' ही माना जाता है, क्योंकि इस ऋचा में 'त्रिष्टुप्' के निर्वाहक ४४ 'अक्षर' हैं।

की जाती है) ।[क] और जैसे—"ये न सपत्ना अप ते भवन्तु"—यह 'त्रिष्टुप्' के अधिकार में होने पर अक्षरों ('अक्षर'-सख्या) से ही 'जगती' (छन्द. वाली) निश्चित की जाती है ।[ख]

(छन्दोदृष्ट्या न्यूनाक्षराणां पादानां पूरणार्थं संधिविच्छेदो व्यवधानं वा)

व्यूहेदेकाक्षरीभावान्पादेषूनेषु संपदे ॥२२॥

(छन्दः की दृष्टि से न्यूनाक्षर पादों की पूर्ति के लिए संधि-विच्छेद अथवा व्यवधान)

सू० अ०—(एक अथवा एकाधिक) पादों में अक्षरों की संख्या (छन्दः की दृष्टि से एक अथवा एकाधिक) न्यून हो तो (अक्षरों की संख्या की) पूर्ति (संपद्) के लिए एकाक्षरीभावरूप संधियों को तोड़कर पृथक् कर देना चाहिए।

उ० भा० ऊनेषु पादेषु, (संपदे=) संपदि कर्तव्यायाम्; एकाक्षरीभावान् संधीन्; व्यूहेत् – पृथक्कुर्यात्—इत्यर्थः। "प्रेता जयता नरः"[1]; "सास्माकेभिरेतरी न शूषैः"[2] इति यथा। ऊनेषु इति किम् ? "सेमं यज्ञं मधुमन्तं कृधी नः।"[3] संपदे इति कस्मात् ? "आ इतायामोप गव्यन्त इन्द्रम्"[4] इत्यत्र त्रय एकीभावास्तत्र पूर्वस्यैव व्यूहेन संपत्सिद्धेरुत्तरयोर् न कर्तव्यो भवति ॥

उ० भा० अ०—ऊनेषु पादेषु=पादों में अक्षरों की सख्या (छन्द की दृष्टि से) न्यून हो तो, संपदे=(अक्षरों की सख्या की) पूर्ति के लिए, एकाक्षरीभावान्=एकाक्षरीभावरूप[ग] सधियों का (को), व्यूहेत्='व्यूह'[घ] करे=पृथक् करे—यह अर्थ है।

टि० (क) यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य ।
मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्ती सोम वेद ॥

(प्रश्न) ८-८ अक्षरों के पादों से ज्ञात होता है कि यह 'अनुष्टुप्' है; किन्तु 'अनुष्टुप्' छन्द. का उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' होता है। प्रस्तुत ऋचा के सभी पादों में उपोत्तम 'अक्षर' 'गुरु' है। (उत्तर) 'वृत्त' की दृष्टि से विरोध होने पर भी इस ऋचा का छन्द 'अनुष्टुप्' ही है, क्योंकि इस ऋचा में ३२ 'अक्षर' हैं।

(ख) ये न सपत्ना अप ते भवन्त्वि—न्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् ।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ॥

(प्रश्न) प्रस्तुत ऋचा 'त्रिष्टुप्' के अधिकार में आई है। किन्तु इस ऋचा में ४८ 'अक्षर' हैं, जो 'जगती' की नियत 'अक्षर'-सख्या है। (उत्तर) 'त्रिष्टुप्' के अधिकार में होने पर भी 'अक्षर' सख्या (४८) के कारण यह 'जगती' ही है।

(ग) जहाँ दो अक्षरों के मिलने पर एक 'अक्षर' हो जाता है—उसे एकाक्षरीभाव सधि कहा जाता है। (i) 'प्रश्लिष्ट' (सवर्णदीर्घ, गुण और वृद्धि) और (ii) अभिनिहित' (पूर्वरूप) सधियाँ - ये एकाक्षरीभावरूप सधियाँ हैं।

(घ) सधियों को तोडकर एक 'अक्षर' के स्थान पर दो 'अक्षर' बना देने को 'व्यूह कहा जाता है। 'व्यूह' का अर्थ है पृथक्करण।

---

[1] ऋ० १०।१०३।१३ [2] ऋ० ६।१२।४ [3] ऋ० ३।४।२ [4] ऋ० १।३३।१

जैसे—"प्रेता जयता नर"[क] (और) "सास्माकेभिरेतरी न शूषै."[ख] (में किया जाता है)। "न्यून अक्षरों वाले पादों में"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "सेम यज्ञं मधुमन्त कृधी न।"[ग] "पूर्ति के लिए"—यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) "आ इतायामोप गव्यन्त इन्द्रम्"—इसमें तीन एकीभाव हैं। उनमें से प्रथम (एकीभाव) ही के 'व्यूह' से पूर्णता सिद्ध हो जाने पर बाद वाले दो (एकीभावों) का 'व्यूह' नहीं करना होता है।[घ]

क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान्व्यवेयात्सदृशैः स्वरैः ॥२३॥

सू० अ०—'अन्तःस्था'-वर्ण ('क्षैप्र' वर्ण) के संयोगों को तत्सदृश स्वरों से व्यवधान-युक्त करे।

उ० भा०—क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान्=सान्तःस्थान्संयोगान्-इत्यर्थः। व्यवेयात्=व्यवधानं कुर्यात्-इत्यर्थः। सदृशैः=समानस्थानैः, स्वरैः। "त्र्यम्बकं यजामहे।"[1] "उग्र-रस्वस्मा अकृणोतना तृणम्।"[2] "गोर्न पर्व विरदा तिरश्चा।"[3] पादेपूनेषु इति संपदे इत्येवानुवर्तते। ऊनेषु इति कस्मात्? "प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्।"[4] संपदे इति कस्मात्? "अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे"[5] इत्यत्र द्वौ क्षैप्रवर्णसंयोगौ। तत्र पूर्वस्मिन् व्यवायेन संपदः सिद्धेरितरस्मिन्न कर्तव्यो भवति॥

टि० (क) 'अनुष्टुप्'-छन्दस्क ऋचा का यह प्रथम पाद है। 'अनुष्टुप्' के पाद में ८ 'अक्षर' होते हैं, किन्तु यहाँ ७(=८-१) 'अक्षर' हैं। अत एव १ 'अक्षर' की न्यूनता की पूर्ति के लिए "प्रेता" में विद्यमान 'प्रश्लिष्ट' ('दीर्घ') संधि को पृथक् करके "प्र इता" पाठ किया जाता है।

(ख) 'त्रिष्टुप्'-छन्दस्क ऋचा का यह प्रथम पाद है। 'त्रिष्टुप्' के एक पाद में ११ 'अक्षर' होते हैं, किन्तु यहाँ १० (=११-१) 'अक्षर' हैं। अत एव १ 'अक्षर' की पूर्ति के लिए "सास्माकेभि." में विद्यमान 'प्रश्लिष्ट' ('दीर्घ') संधि को पृथक् करके "स अस्माकेभि" पाठ किया जाता है।

(ग) "सेमम्" (स इमम्) में संधि-विच्छेद संभव होने पर भी नहीं किया जाता है, क्योंकि 'त्रिष्टुप्' छन्द के इस तृतीय पाद में संधि-विच्छेद के बिना ही ११ 'अक्षर' हैं, जो 'त्रिष्टुप्' के एक पाद की नियत 'अक्षर'-संख्या है। संधि-विच्छेद वहीं पर किया जाता है जहाँ अक्षरों की संख्या न्यून हो।

(घ) यह 'त्रिष्टुप्'-छन्दस्क ऋचा का प्रथम पाद है। इसमें ११ अक्षरों के स्थान पर १०(=११-१) ही 'अक्षर' हैं। अत इस पाद में १ 'अक्षर' की न्यूनता है। इस पाद में तीन स्थलों (आ[1]+इत[2]+अयाम[3]+उप) पर संधि-विच्छेद संभव होने पर भी केवल एक स्थल (आ+इत) पर ही संधि-विच्छेद किया जाता है, क्योंकि एक स्थल पर संधि-विच्छेद करने पर ही 'अक्षर'-संख्या पूर्ण हो जाती है।

---

[1] ऋ० ७।५९।१२ [2] ऋ० १।१६१।११ [3] ऋ० १।६१।१२
[4] ऋ० ५।३०।१२ [5] ऋ० १।१६१।११

उ० भा० अ०—क्षैप्रवर्णाश्च संयोगान्='क्षैप्र'-वर्ण के सयोगों को='अन्तस्था'-सहित सयोगों को—यह अर्थ है। व्यवेयात्='व्यवाय'[क] करे=व्यवधान करे—यह अर्थ है। सदृशैः=समान (उच्चारण-) 'स्थान' वाले; स्वरैः=स्वरों से। (जैसे) "त्र्यम्बक यजामहे।"[ख] "उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणम्।"[ग] "गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चा।"[घ] (इस सूत्र में १७।२२ से) पादेषूनेषु (=न्यून अक्षरो वाले पादो में) और संपदे (=अक्षरो की पूर्ति के लिए) की अनुवृत्ति हो रही है। "न्यून अक्षरो वाले पादो में"—यह क्यो (कहा)? (उत्तर) "प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्।"[ङ] "पूर्णता के लिए" —यह (सूत्र में) क्यो (कहा)? (उत्तर) "अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे"[च]—यहाँ (=इस पाद में) 'क्षैप्र'-वर्णों के दो 'सयोग' है। उनमें से पूर्व वाले ('सयोग') में व्यवधान करने से पूर्णता की सिद्धि हो जाती है, अत बाद वाले 'सयोग' में (व्यवधान) नही करना होता है।

टि० (क) 'व्यवाय' का अर्थ है व्यवधान। जब किसी 'अन्त स्था'-वर्ण का किसी अन्य 'व्यञ्जन' के साथ 'सयोग' होता है और वह अन्त स्था'-वर्ण उस 'सयोग' का अन्तिम 'व्यञ्जन' होता है, तब पूर्ववर्ती अन्य 'व्यञ्जन' और परवर्ती 'अन्त स्था'-वर्ण के मध्य में 'अन्तस्था'-वर्ण के समान उच्चारण-स्थान वाले 'स्वर'-वर्ण का उच्चारण किया जाता है, जैसे—सयुक्त य् और व् के स्थान पर इय् और उव् का उच्चारण।

(ख) 'अनुष्टुप्'—छन्दस्क ऋचा के इस पाद में ८ अक्षरो के स्थान पर ७ ही 'अक्षर' है। अत एव १ 'अक्षर' की पूर्ति के लिए "त्र्यम्बकम्" के 'अन्त स्था' के 'संयोग' को व्यवधान से युक्त करना चाहिए (त्र्यम्बकम्=त्रियम्बकम्)। ऐसा करने पर पाद की नियत 'अक्षर'-सख्या (=८) पूर्ण हो जाती है।

(ग) 'जगती'—छन्दस्क ऋचा के इस पाद में १२ अक्षरो के स्थान पर ११ ही 'अक्षर' है। अत एव १ 'अक्षर' की पूर्ति के लिए 'उद्वत्स्वस्मै" में व्यवधान करके (अर्थात् "उद्वत्स्वस्मै" के स्थान पर "उद्वत्सु अस्मै" का उच्चारण करके) अक्षरो की पूर्ति की जाती है।

(घ) 'त्रिष्टुप्'—छन्दस्क ऋचा के इस प्रथम पाद में ११ अक्षरो के स्थान पर १० ही 'अक्षर' है। अत एव १ 'अक्षर' की न्यूनता की पूर्णता के लिए 'पर्व' में व्यवधान करके (अर्थात् "पर्व" के स्थान पर "परुव" का उच्चारण करके) अक्षरो की पूर्ति की जाती है।

(ङ) "प्रत्यग्रभीष्म" (प्रति यग्रभीष्म) में व्यवधान सभव होने पर भी नही किया जाता है, क्योकि 'त्रिष्टुप्' छन्द के इस पाद में व्यवधान किये विना ही ११ 'अक्षर' हैं।

(च) 'जगती'—छन्दस्क ऋचा के इस पाद मे १२ अक्षरो के स्थान पर ११ ही 'अक्षर' है। अर्थात् इस पाद में एक 'अक्षर' की न्यूनता है। इस पाद में दो स्थलो (अगोह्य[१]स्य[२]) पर व्यवधान सभव होने पर भी केवल एक स्थल (अगोह्य[१]स्य) पर ही व्यवधान किया जाता है। एक स्थल पर व्यवधान करने पर ही 'अक्षर'—सन्या पूर्ण हो जानी है।

उ० भा०—अत्र केचित् क्षैप्रसंधिकृतानन्तःस्थासयोगान्व्यूहेत्, एकाक्षरीभावानित्येवं सिद्ध इति मन्यन्ते । तेषाम्—"उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणम्"[1] इति व्यूहः कर्तव्यः । तत्सदृशैः स्वरैर्व्यवायः । अस्य तु ये स्वाभाविका अन्तःस्थासंयोगास्त उदाहरणत्वेन भवन्ति । यथा—"त्वमङ्ग्यस् त्वमश्मनस्परि"[2] इति । "गोर्न पर्व विरदा तिरश्चा"[3] इति ।

अयं व्यवायो यकारवकारसंयोग एवेष्यते, रेफलकारसंयोगयोर्न । कथं ज्ञायते ? "अय ध्रुवो रयीणां चिकेत यत्"[4] इत्यत्र दीर्घत्वप्रतिषेधार्थम्—"जामिषु जासु चिकेत"[5] इति चिकेतशब्दस्य पाठात् ॥

उ० भा० अ० —यहाँ (अर्थात् इस विषय में) कतिपय (आचार्य) मानते हैं कि "एकाक्षरीभावात्"—इस (=सूत्र १७।२२) से ही सिद्ध होने पर 'क्षैप्र' संधि द्वारा किये गये 'अन्त स्था'-संयोगो में (को) संधि-विच्छेद करे । उन आचार्यों के मत से "उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणम्"[क] में संधि-विच्छेद करना चाहिए । तत्सदृश स्वरो से जो व्यवधान किया जाता है उसके उदाहरण तो स्वाभाविक 'अन्त स्था-संयोग' है ।[ख] जैसे—"त्वमद्भ्यस् त्वमश्मनस्परि"[ग]; "गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चा ।"[घ]

यह व्यवधान यकार और वकार के 'संयोग' में ही इष्ट है, रेफ और लकार के 'संयोग' में नही । यह कैसे ज्ञात होता है ? (उत्तर) 'अय ध्रुवो रयीणा चिकेत यत्"—यहा पर दीर्घत्व के प्रतिषेध के लिए—"जामिषु जासु चिकेत" में 'चिकेत' शब्द का पाठ होने से (यह ज्ञात होता है)।[ङ]

टि० (क) पृष्ठ ८४१ पर टि० (ग) को देखिए ।

(ख) (१) 'अन्त स्था'-वर्ण दो प्रकार के होते है—(1) स्वाभाविक और (ii) 'क्षैप्र'-संधि के परिणामस्वरूप (जैसे—इ+अ=य) । (२) प्रथम व्याख्याकार दोनो में व्यवधान मानते है; द्वितीय व्याख्याकार स्वाभाविक 'अन्त स्था'-वर्णों में व्यवधान और 'क्षैप्र'-संधि-कृत 'अन्त स्था'-वर्णों में संधि-विच्छेद मानते है ।

(ग) 'जगती'-छन्दस्क ऋचा के इस पाद में ९ 'अक्षर' है । ३ अक्षरो की पूर्ति के लिए प्रस्तुत पाद में तीन स्थलो (त्वमद्भ्यस् त्वमश्मनस्परि) पर व्यवधान किया जाता है ।

(घ) पृष्ठ ८४१ पर टि० (घ) को देखिए ।

(ङ) "अय ध्रुवो रयीणा चिकेत यत्"—यह 'उष्णिक्' (८+८+१२) का पाद है । पाद-पूर्ति के लिये प्रस्तुत सूत्र से 'ध्रुव' के 'ध्रु' के रेफ के पूर्व में व्यवधान करना चाहिए । किंतु सूत्रकार ने 'उष्णिक्' के इस पाद को एक 'अक्षर' से न्यून करके ही माना है । (प्रश्न) सूत्रकार ने ऐसा माना है—यह कैसे ज्ञात हुआ ? (उत्तर) ८।४५ में सूत्रकार ने 'चिकेत' के 'त' के दीर्घत्व का निषेध किया है । किंतु व्यवधान से 'ध्रुव' के स्थान पर 'धुरुव' कर दिया जावे तो 'चिकेत' का 'त' पाद का एकादश 'अक्षर' हो जाता है और एकादश 'अक्षर' में दीर्घत्व की प्राप्ति ही नही होती है, क्योंकि ८।३८ के अनुसार ११ और १२ अक्षरो के पादो में दशम 'अक्षर' ही 'दीर्घ' होता है । अत जब 'त' में दीर्घत्व की प्राप्ति ही नही तो ८।४५ में

[1] ऋ० १।१६१।११ [2] ऋ० २।१।१ [3] ऋ० १।६१।१२
[4] ऋ० ९।१०२।४ [5] ऋ० ८।४५

(पादानां विभागप्रकारः)

पदाभेदेन पादानां विभागोऽभिसमीक्ष्य तु ।
छन्दसः संपदं तां तां यां यां मन्येत पादतः ॥२४॥

(पादों के विभाग का प्रकार)

सू० अ०—छन्दः के पादों से जिस-जिस पूर्ति को (अभीष्ट) माने उस-उस को अच्छी प्रकार से विचार करके पदों का बिना विभाग किये पादों का विभाग करे।

उ० भा०—(छन्दसः=) छन्दसाम्; पादतो यां यां संपदं मन्येत तां तां सम्यक्पूर्वम् अभिसमीक्ष्य पादांश्च पश्चात्; (पदाभेदेन=) पदानामभेदेन; पादानां विभागः कर्तव्यः; यद्यप्युत्तरैः पादज्ञानहेतुभिर्विरोधो भवति । यथा—"माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य"[1] इत्येतयोः पादयोः पदभेदेनाष्टाक्षरयोः क्रियमाणयोर्यद्यपि प्रायवृत्तसंपद्भवति; अनादृत्य तां माध्यंदिनस्य सवनस्येत्येवं विभागः कर्तव्यः । तथा—"एकराळस्य भुवनस्य"[2] इति विभागः कर्तव्यः ॥

उ० भा० अ०—(छन्दसः=) छन्दों के, पादतः=पाद से; यां यां संपदं मन्येत=जिस-जिस पूर्ति को (अभीष्ट) माने; तां ताम्=उस-उस को; सम्यक् प्रकार से पहले; अभिसमीक्ष्य=विचार करके, और पादों का (को) (विचार करके) बाद में; (पदाभेदेन=) पदो का विभाग किये विना, पादानां विभागः=पादो का विभाग; करना चाहिए[क], चाहे आगे बतलाये गये पाद—ज्ञान के हेतुओ ('प्राय', 'अर्थ' और 'वृत्त') से विरोध (भी) होवे जैसे - "माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य"[ख]– पदो का विभाग करने से इन दो पादो को ८-८अक्षरो का करने पर यद्यपि 'प्राय' और 'वृत्त' ठीक बठता है, (तथापि)

(८४२ ङ) 'त' के दीर्घत्व का निषेध व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए उस निषेध को सार्थक बनाने के लिये 'चिकेत' के 'त' को पाद का दशम 'अक्षर' ही मानना पडेगा और 'चिकेत' का 'त' दशम 'अक्षर' तभी हो सकता है जब 'ध्रुवम्' में व्यवधान न किया जावे।

इसलिए यह सिद्धान्त मानना पडेगा कि प्रस्तुत सूत्र में जिस व्यवधान का विधान किया गया है वह केवल यकार और वकार के विषय में ही है, रेफ और लकार के विषय में नही है।

टि० (क) अक्षरो की संख्या आदि के आधार पर जब किसी छन्द के पादो का विभाग करना होता है, तब इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पाद की समाप्ति किसी पद के अन्तिम 'अक्षर' में ही हो। किसी पद का मध्य में विभाग करके पद के उसी मध्य मे पाद की समाप्ति नही करनी चाहिए।

(ख) (प्रश्न) "माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य" –अधिकार से ये ८-८ अक्षरो के दो पाद होने चाहिए, क्योंकि प्रस्तुत सूक्त में ८-८ अक्षरो के पादों का बाहुल्य है। ८-८ अक्षरों के पाद तभी होंगे जब 'सवनस्य' पद का विभाग (=सव। नस्य) किया जावे। (उत्तर) पद का विभाग नही किया जा सकता है; चाहे इससे अधिकार की हानि भी होवे। अत इन पादो का विभाग यह होगा—माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य।

[1] ऋ० ८।३७।१ [2] ऋ० ८।३७।३

उस ('प्राय.' और 'वृत्त')का अनादर करके "माध्यंदिनस्य सवनस्य"—इस प्रकार ही विभाग करना चाहिए। उसी प्रकार —"एकराळस्य भुवनस्य"—यह विभाग करना चाहिए।

प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः ॥२५॥

सू० अ०—(१) 'प्रायः' (अधिकार), (२) 'अर्थ' (अन्वय) और (३) 'वृत्त' (गुरुलघुभाव)—ये (तीन) पादों के ज्ञान के हेतु (होते हैं)।

उ० भा० -- प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवो भवन्ति। त्रिष्टुभः प्रायः—"गोर्न पर्व वि रद"[1] इति प्रकृत्या दशाक्षरो व्यूहेनैकादशाक्षरः क्रियते। तथा अर्थः—"स गृणानो अद्भिर्देववान्"[2] इति। तथा वृत्तम् "अलाय्यस्य परशुर्ननाश तम्"[3] इति प्रकृत्यैकादशाक्षरो विकर्षेण द्वादशाक्षरः क्रियते। वृत्तादेव "अर्यो गिरः सद्य आ जग्मुषीरा"[4] इति पादान्तः

उ० भा० अ०—प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः='प्राय', 'अर्थ' और 'वृत्त'—ये (तीन) पादों के ज्ञान (निर्णय) के हेतु, होते हैं। 'त्रिष्टुप्' का प्रायः—"गोर्न पर्व वि रद (तिररचे)"—सन्धि-विच्छेद किये बिना १० अक्षरों का यह पाद सन्धि-विच्छेद के द्वारा ११ अक्षरों का किया जाता है।[क] उसी प्रकार अर्थ—"स गृणानो अद्भिर्देववान्।" उसी प्रकार वृत्त—"अलाय्यस्य परशुर्ननाश तम्"—सन्धि-विच्छेद किये बिना ११ अक्षरों का यह पाद व्यवधान ('विकर्ष') से १२ अक्षरों का किया जाता है।[ख] 'वृत्त' से ही—"अर्यो गिरः सद्य आ जग्मुषीरा"—यह पादान्त है।[ग]

टि० (क) प्रस्तुत पाद में १० 'अक्षर' हैं, किन्तु यहाँ 'त्रिष्टुप्' छन्द का अधिकार चल रहा है। अत प्रायः (अधिकार) के कारण इस पाद में सन्धि-विच्छेद करके 'अक्षर'-सख्या ११ बना ली जाती है।

(ख) सामान्यत. यह पाद ११ अक्षरों का है किन्तु ऐसा मानने पर 'वृत्त' से विरोध पडता है। ११ अक्षरात्मक 'त्रैष्टुभ' पाद का उपोत्तम 'अक्षर' 'गुरु' होता है, जबकि यहाँ उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' है। 'वृत्त' के कारण 'अलाय्य'''' में व्यवधान करके इसे १२ अक्षरों का 'जागत' पाद बनाया जाता है। यह ठीक भी है क्योंकि यह 'पुरउष्णिक्' छन्द का प्रथम पाद है, जिसमें १२ 'अक्षर' होते हैं।

(ग) यह 'त्रिष्टुप्' छन्द का तृतीय पाद है। यद्यपि 'अर्य' पद में व्यवधान करके 'जग्मुषी' पद के अन्त तक ही ११ 'अक्षर' पूरे हो सकते हैं, तथापि 'जग्मुषी' में पादान्त नही माना जा सकता। ऐसा मानने पर 'वृत्त' से विरोध पडता है—एकादशाक्षर 'त्रैष्टुभ' पाद का उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' हो रहा है जो 'वृत्त' के नियम के विपरीत है। 'वृत्त' के कारण हम 'अर्य' में व्यवधान नही करते और जग्मुषीरा' को पाद का अन्त मानते हैं।

---

[1] ऋ० १।६१।१२ [2] ऋ० १०।६१।२६ [3] ऋ० १०।६७।३०
[4] ऋ० १।१२२।१४

विशेषसंनिपाते तु पूर्व पूर्वं परं परम् ॥२६॥

सू० अ०—जब ये (एक से अधिक) विशेष ('प्रायः', 'अर्थ' और 'वृत्त') एक साथ आ जावें तो पहले को पहले और बाद वाले को बाद में (मानना चाहिए) (अर्थात् प्रत्येक पूर्ववर्ती विशेष को अधिक महत्त्व देना चाहिए)।

उ० भा०—(विशेषसंनिपाते=) एतेषामेव विशेषाणां संनिपाते; तु पूर्वं निमित्तं पूर्वं भवति, परं निमित्तं परं भवति। पूर्वो हेतुरुत्तराद्बलीयान्–इत्यर्थः। "त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्"[1] इत्यत्र प्रायोर्थयोर्विरोधे प्रायबलीयस्त्वात् स्योनानिति पादान्तः। येषां पुनरर्थो बलीयांस्तेषाम्–"मनवे स्योनान्पथः"[2] इति पादान्तो गम्यते। प्रायबलीयस्त्वादेव—"ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिः"[3] इति पादान्तः, न सनितेति।

प्रायवृत्तविरोधे प्रायबलीयस्त्वात्—"प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्"[4] इति पादान्तः। एकादशाक्षर एव भवति, न वृत्ताद्विकृष्यते। अर्थवृत्तविरोधेऽर्थबलीयस्त्वात्—"यदग्ने स्यामहं त्वम्"[5] इति पादान्तः, न वृत्तादहमिति। एवं सर्वत्र बलाबलमभिसमीक्ष्य पादं जिज्ञासेत्॥

उ० भा० अ०—(विशेषसंनिपाते=) इन्ही विशेषो ('प्राय.', 'अर्थ' और 'वृत्त') के एक साथ आ जाने पर, पूर्वं पूर्वम्=पहला निमित्त पहले; होता है; परं परम्=बाद वाला निमित्त बाद में; होता है। पहले वाला हेतु बाद वाले हेतु से बलवान् होता है—यह अर्थ है।[क] (जैसे) "त्व चकर्थ मनवे स्योनान्"—यहाँ पर अधिकार ('प्राय') और 'अर्थ' में विरोध होने पर अधिकार ('प्राय') के अधिक बलवान् होने से "स्योनान्" पाद का अन्त है। जिनके मत में 'अर्थ' (अधिक) बलवान् है, उनके मत से "स्योनान्पथ" यह पाद का अन्त है। अधिकार ('प्राय') के अधिक बलवान् होने से ही "ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभि"—यह पाद का अन्त है, ('अर्थ' के अनुसार) 'सनिता' (पाद का अन्त) नही है।[ख]

टि० (क) अर्थात् (१) जहाँ अधिकार ('प्राय') और अन्वय ('अर्थ') में विरोध हो वहाँ अधिकार (प्राय') अन्वय ('अर्थ') से अधिक बलवान् होता है, (२) जहाँ 'अर्थ' और 'वृत्त' में विरोध हो वहाँ 'अर्थ' 'वृत्त' से अधिक बलवान् होता है और (३) जहाँ अधिकार ('प्राय') और 'वृत्त' में विरोध हो वहाँ अधिकार ('प्राय') 'वृत्त' से अधिक बलवान् होता है।

(ख) प्रायः और अर्थ का विरोध

(१) त्व चकर्थ मनवे स्योनान्पथो गोव्वश्वा ओपश्रीपु।

(प्रश्न) 'त्रिष्टुप्' छन्द के अधिकार ('प्राय') के कारण प्रथम पाद का अन्तिम पद 'स्योनान्' है, क्योकि यहाँ 'त्रैष्टुभ' पाद के ११ 'अक्षर' पूरे हो जाते है। अन्वय ('अर्थ') के कारण 'पथ' अन्तिम पद है- क्योकि 'पथ' पर इस पाद का अर्थ पूरा होता है। इस स्थिति में पाद का अन्तिम पद किसे माना जावे?

---

[1] ऋ० १०।७३।७ [2] ऋ० १०।७३।७ [3] ऋ० १।३६।१३

[4] ऋ० ५।३०।१२ [5] ऋ० ८।४४।२३

अधिकार ('प्राय') और 'वृत्त' का विरोध होने पर अधिकार ('प्राय') के अधिक बलवान् होने से "प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्"— यह पाद का अन्त है। (यह पाद) ११ अक्षरों का ही होता है, 'वृत्त' के कारण व्यवधान नहीं किया जाता है।क 'अर्थ' और 'वृत्त' में विरोध होने पर 'अर्थ' के अधिक बलवान् होने से "यदग्ने स्यामह त्वम्"—यह पाद का अन्त है। 'वृत्त' से 'अहम्' नहीं।ख इस प्रकार सर्वत्र बल और अबल का विचार करके पाद को जानने की इच्छा करे।

अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम् ॥२७॥

सू० अ०—उकार को छोड़कर अन्य 'अनुदात्त' पद (ऋग्वेद में) पाद के प्रारम्भ में विद्यमान नहीं है।

(८४५ ख) (उत्तर) अधिकार ('प्राय') अधिक बलवान् होने के कारण इस पाद का अन्तिम पद 'स्योनान्' है।

(२) ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे।
(प्रश्न) अधिकार से ज्ञात होता है कि ये उपर्युक्त 'बृहती' छन्द के तृतीय और चतुर्थ पाद हैं। अधिकार से 'अञ्जिभि' तृतीय पाद का अन्तिम पद है, क्योंकि यहाँ १२ 'अक्षर' पूरे हो जाते हैं। अन्वय के अनुसार तृतीय पाद का अन्तिम पद 'सनिता' है, क्योंकि 'सनिता' पद पर इस पाद का अर्थ पूरा होता है। इस स्थिति में पाद का अन्तिम पद किसे माना जावे? (उत्तर) अधिकार अधिक बलवान् होने से इस पाद का अन्तिम पाद 'अञ्जिभि' है।

टि० (क) प्रायः और वृत्त का विरोध

प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्।

(प्रश्न) 'त्रिष्टुप्' छन्द के अधिकार के कारण यह पाद ११ अक्षरों का होना चाहिए। 'वृत्त' की दृष्टि से व्यवधान द्वारा इसे १२ अक्षरों का बना लेना चाहिए। १२ अक्षरों के पाद का उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' है, जबकि ११ अक्षरों के पाद का उपोत्तम 'अक्षर' 'गुरु' होता है। इस स्थिति में इसे ११ अक्षरों का पाद माना जावे अथवा व्यवधान द्वारा इसे १२ अक्षरों का बनाया जावे? (उत्तर) अधिकार अधिक बलवान् होने से इस पाद को ११ अक्षरों का ही मानना चाहिए।

(ख) अर्थ और वृत्त का विरोध

यदग्ने स्यामह त्वम्।

(प्रश्न) अन्वय की दृष्टि से इस पाद का अन्तिम पद 'त्वम्' है, क्योंकि यहीं पर इस पाद का अर्थ पूरा होता है। 'वृत्त' की दृष्टि से इस पाद का अन्तिम पद 'अहम्' है। यह 'गायत्री' छन्दः का पाद है जिसका उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' होना चाहिए। 'अहम्' को पाद का अन्तिम पद मानने पर ही उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' होता है। इस स्थिति में किसे अन्तिम पद माना जावे? (उत्तर) अन्वय अधिक बलवान् होने से 'त्वम्' ही को अन्तिम पद मानना चाहिए।

उ० भा०—चतुःषष्ट्यां पादादावनुदात्तं पदं न विद्यते। (उवर्जम्=) उकारस्तु विद्यते। यथा—"उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्"[१]; उ लोको यस्ते अद्रिवः।"[२] अयमपि पादान्तज्ञाने हेतुरेव सर्वहेतुभ्यो बलवत्तमः। तस्मात्सर्वान्बाधित्वा "ब्रतो वंतासि यम नैव ते"[३] इति पादान्तः। तथा —"क्षत्राय त्वमर्वसि"[४] इति पादान्तः॥

उ० भा० अ०—६४ अध्यायात्मक ऋग्वेद में; पादादावनुदात्तं पदं न विद्यते= पाद के आदि में 'अनुदात्त' पद विद्यमान नहीं है। (उवर्जम्=उकार को छोड़कर=) उकार तो (पाद के आदि में) विद्यमान है। जैसे—"उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्"क, "उ लोको यस्ते अद्रिवः।"क यह भी पाद के अन्त के ज्ञान में हेतु है और अन्य सब हेतुओं से बलवान् है। इसलिए सब (हेतुओं) को बाधकर—"ब्रतो वंतासि यम नैव ते"ख यहाँ पाद का अन्त है। उसी प्रकार क्षत्राय त्वमर्वसि'ग—यहाँ पाद का अन्त है।

पादादावनुदात्तं तु यदन्यत्तदिहोदितम् ॥२८॥

सू० अ०—पाद के प्रारम्भ में आने वाले जो अन्य 'अनुदात्त' पद हैं उन्हें यहाँ कहते हैं।

टि० (क) इन दोनों स्थलो पर 'अनुदात्त' 'उ' पद पाद के प्रारम्भ में विद्यमान है।

(ख) ब्रतो वंतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम। (प्रश्न) प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'अनुदात्त' पद पाद के प्रारम्भ में नहीं आता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर 'ते' द्वितीय पाद के प्रारम्भ में कैसे आया है? (उत्तर) तब 'ते' को प्रथम पाद का अन्तिम पद मान लीजिए। (प्रश्न) ऐसे मानने पर—(१) अधिकार ('प्राय.') से विरोध होता है। ११ अक्षरों के पादों का अधिकार चल रहा है। व्यवधान ('व्यवाय')करने पर भी द्वितीय पाद ११ अक्षरों का नहीं बनता है। (२) अन्वय ('अर्थ')से भी विरोध होता है; क्योंकि अन्वय की दृष्टि से 'ते' का द्वितीय पाद के साथ सम्बन्ध है। (३) तथा 'वृत्त' से भी विरोध होता है। ११ अक्षरो वाले प्रथम पाद का अन्तिम से पहले वाला पद नियम(१७।२३)के विपरीत 'लघु' हो गया। (उत्तर) प्रस्तुत सूत्र का विधान पूर्ववर्ती सभी विधानों से बलवान् है। अतः 'ते' को द्वितीय पाद के प्रारम्भ में नहीं रख कर प्रथम पाद के अन्त में ही रखना है।

(ग) क्षत्राय त्वमर्वसि न त्वम् आविथ शचीपते…। (प्रश्न) 'अनुदात्त' 'त्वम्' पद पाद के प्रारम्भ में स्थित है, जो प्रस्तुत नियम के विपरीत है। (उत्तर)तब तो 'त्वम्' को प्रथम पाद का अन्तिम पद मान लीजिए। (प्रश्न) ऐसा मानने पर अधिकार ('प्राय') से विरोध होता है। ८-८ अक्षरो के पादो का अधिकार चल रहा है। अब प्रथम पाद ७ अक्षरों का और द्वितीय पाद ९ अक्षरो का हो गया। (उत्तर) प्रस्तुत सूत्र का विधान पूर्ववर्ती सभी विधानों से बलवान् है। अत 'त्वम्' को द्वितीय पाद के प्रारम्भ में नहीं रख कर प्रथम पाद के अन्त में ही रखना होगा।

[१] ऋ० ८।१५।४ [२] ऋ० ३।३७।११ [३] ऋ० १०।१०।१३ [४] ऋ० ८।३७।६

उ० भा०—तु=पुनः; पादादौ; (यदनुदात्तम्=) यान्यनुदात्तानि; पदानि; (तत्=) तानि; आचार्यः सूत्रे पठति। "वशऽस्तीयक्षसि"[1] इत्येवमादय.॥

उ० भा० अ०—तु=किन्तु, पादादौ=पाद के प्रारम्भ में आने वाले; यदनुदात्तम्=जो 'अनुदात्त', पद है, (तत्=) उनको; आचार्य सूत्र में गिनते हैं। "इयक्षसि' यह एक ('अनुदात्त' पद) वश (ऋषि के सूक्त) में है" इत्यादि।

वशेऽस्तीयक्षसीत्येकम् ॥२९॥

सू० अ०—'इयक्षसि'—यह एक ('अनुदात्त' पद) वश (ऋषि के सूक्त) में (पाद के प्रारम्भ में) है।

उ० भा०—(इयक्षसि) इदं च एकम्; (वशे=) वश ऋषौ; पादादावनुदात्त पदम् अस्ति। "इ॒य॒क्ष॒सि॒ गाये॑ त्वा॒ नम॑सा गि॒रा॥"[2]

उ० भा० अ०—(इयक्षसि) यह; एकम्=एक; 'अनुदात्त' पद पाद के प्रारम्भ में; (वशे=) वश ऋषि (के सूक्त=८।४६) में, अस्ति=विद्यमान है। (उदाहरण) "इ॒य॒क्ष॒सि॒ गाये॑ त्वा॒ नम॑सा गि॒रा।"

तृचे चाभिष्ट इत्यपि। नेतिपूर्वाणि सर्वाणि ॥३०॥

सू० अ०—"आभिष्टे" से प्रारम्भ होने वाली तीन ऋचाओं में 'न' (पद) है पूर्व में जिनके वे सब ('अनुदात्त' पद पाद के प्रारम्भ में विद्यमान हैं)।

उ० भा०—आभिष्ट इति च तृचे नेतिपूर्वाणि सर्वाणि="आभिष्टे अद्य"[3] इत्येतस्मिंस्तृचेऽनुदात्तानि सन्ति तानि सर्वाणि नेत्येवंपूर्वाणि। "(न) स्त॒न॒य॒न्ति॒ शुष्मा."[4]; (न) "रो॒च॒त॒ उ॒पा॒के"[5] (न) "रो॒च॒त॒ स्व॒धा॒वः"[6] इति॥

उ० भा० अ०—आभिष्ट इति च तृचे नेतिपूर्वाणि सर्वाणि="आभिष्टे अद्य ...।" इन तीन ऋचाओं (तृच) में 'न'—यह (पद) है पूर्व में जिनके वे सब (पद) 'अनुदात्त' हैं। (उदाहरण) "(न) स्त॒न॒य॒न्ति॒ शुष्मा", "(न) रो॒च॒त॒ उ॒पा॒के", "(न) रो॒च॒त॒ स्व॒धा॒वः।"[क]

मधुच्छन्दस्यृतावृधौ ॥३१॥

सू० अ०—मधुच्छन्दा (ऋषि के सूक्त=ऋ० १।२) में 'ऋतावृधौ' (यह 'अनुदात्त' पद पाद के प्रारम्भ में विद्यमान है)।

उ० भा०—मधुच्छन्दसि ऋषौ ऋतावृधौ इत्येकमनुदात्तमस्ति। "ऋ॒ता॒वृ॒धा॒वृ॒तस्पृशा"[2] इति॥

टि० (क) ये सब 'अनुदात्त' पद पादों के प्रारम्भ में ही विद्यमान हैं।

---

[1] १७।२९ [2] ऋ० ८।४६।१७ [3] ऋ० १०।४।४ [4] ऋ० ४।१०।४ [5] ऋ० ४।१०।५ [6] ऋ० ४।१०।६

उ० भा० अ०—मधुच्छन्दसि=मधुच्छन्दा ऋषि (के सूक्तों) में; ऋतावृधौ—यह एक 'अनुदात्त' (पद पाद के प्रारम्भ में) है। (उदाहरण) "ऋतावृधावृतस्पृशा।"

स्तोमशब्दे परेऽधायि ॥३२॥

सू० अ० 'स्तोम' शब्द बाद में होने पर 'अधायि' (यह 'अनुदात्त' पद पाद के प्रारम्भ में है)।

उ० भा०—स्तोमशब्दे; (परे=) प्रत्यये; अधायि इत्येकम् अनुदात्तम् अस्ति। "अधायि स्तोमः॥"[1]

उ० भा० अ०—स्तोमशब्दे (परे)='स्तोम' शब्द बाद में होने पर; अधायि—यह एक 'अनुदात्त' (पद) (पाद के प्रारम्भ में) है। (उदाहरण) "अधायि स्तोमः।"

ऋतशब्दे परे स्रिधत् ॥३३॥

सू० अ०—'ऋत' शब्द बाद में होने पर 'स्रिधत्' (यह 'अनुदात्त' पद पाद के प्रारम्भ में है)।

उ० भा०—ऋतशब्दे; (परे=) प्रत्यये; स्रिधत् इत्येकमनुदात्तमस्ति। "मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः"[2] इति॥

उ० भा० अ०—ऋतशब्दे (परे)='ऋत' शब्द बाद में होने पर; स्रिधत्—यह एक (पद) (पाद के प्रारम्भ मे) है। (उदाहरण) "मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः।"[क]

हुवे तुराणां यत्पूर्वम् ॥३४॥

सू० अ०—"हुवे तुराणाम्" में जो पहला (पद) है (वह पाद के प्रारम्भ में 'अनुदात्त' है)।

उ० भा०—हुवे तुराणाम् इति द्वंपदे यत्पूर्वं पदं तदनुदात्तम्। "प्रिया वो नाम हुवे तुराणाम्॥"[3]

उ० भा० अ०—हुवे तुराणाम्—इन दो पदो में; यत्पूर्वम्=जो पहला; पद है वह (पाद के प्रारम्भ में) 'अनुदात्त' है। (उदाहरण) "प्रिया वो नाम हुवे तुराणाम्।"

तृपन्मरुत उत्तरम् ॥३५॥

सू० अ०—"तृपन्मरुतः" में बाद वाला ('अनुदात्त' पद पाद के प्रारम्भ में है)।

उ० भा०—तृपन्मरुतो द्वंपदे यद् उत्तरं पदं तदनुदात्तमस्ति। मरुत इति। "आ यत्तृपन्मरुतो वावशानाः।"[4]

टि० (क) सर्वानुक्रमणी आदि में ऐसे स्थलो का छन्द. 'द्विपदा विराट्' माना गया है। कतिपय आचार्य इनका छन्द. चार पादो वाली 'अक्षरपङ्क्ति' मानते हैं; दे० १७।५०। इसी दूसरे मत के अनुसार 'स्रिधत्' पाद के प्रारम्भ में है।

[1] ऋ० ७।३४।१४ [2] ऋ० ७।३४।१७। [3] ऋ० ७।५६।१०
[4] ऋ० ७।५६।१०

उ० भा० अ०—वृषन्मरुतः—इन दो पदों में जो बाद वाला 'मरुत' पद है वह 'अनुदात्त' (द्वितीय पाद के प्रारम्भ में) है। (उदाहरण) "आ यत्तृपन्मरुतो वावशानाः।"

प्रेदं ब्रह्मेति चैतस्मिन्सूक्ते पादोऽस्ति पञ्चमः।
सर्वानुदात्तः षट्स्वृक्ष्वादितश्च चतुर्दशः ॥३६॥

सू० अ०—"प्रेदं ब्रह्म"—इस सूक्त में (प्रथम) छः ऋचाओं में पञ्चम पाद 'सर्वानुदात्त' है और आदि से चतुर्दश (पाद) भी ('सर्वानुदात्त') है।

उ० भा०—"प्रेदं ब्रह्म वृत्रतूर्येष्वाविथ"[१] इत्येतस्मिन्सूक्ते षट्सु ऋक्षु सर्वानुदात्तः पादोऽस्ति पञ्चमः—"वृत्रहन्नन्नेद्य"[२] इति। अस्यैव सूक्तस्य आदितश्चतुर्दशः पादः स च सर्वानुदात्तोऽस्ति "राजसि शचीपते"[३] इति।

एवमिमे सप्त सर्वानुदात्ताः सन्ति। मधुच्छन्दस्येकः—"ऋतावृधावृतस्पृशा" इति।[४] "आभिष्टे" इति च तृच एकः—"रोचत स्वधावः"[५] इति। एताभ्यां सह नव भवन्ति, न दशमः॥

उ० भा० अ०—"प्रेदं ब्रह्म वृत्रतूर्येष्वाविथ"; इत्येतस्मिन्सूक्ते=इस सूक्त में; षट्सु ऋक्षु=छः ऋचाओं में; सर्वानुदात्तः पादोऽस्ति पञ्चमः=(प्रत्येक) पञ्चम पाद 'सर्वानुदात्त' है—"वृत्रहन्नन्नेद्य।" इसी सूक्त का; आदितश्चतुर्दशः=आदि से चतुर्दश; पाद भी 'सर्वानुदात्त' है—"राजसि शचीपते।"

इस प्रकार (१७।३६ में विहित) ये सात 'सर्वानुदात्त' (पाद) हैं। मधुच्छन्दा (ऋषि के सूक्त=ऋ० १।२ में) एक (पाद)—"ऋतावृधावृतस्पृशा।" "आभिष्टे…" इस तृच में एक (पाद)—"रोचत स्वधावः"। इन दो (पादों के साथ) नौ ('सर्वानुदात्त' पाद) हैं,[क] दशम (पाद) ('सर्वानुदात्त') नहीं है।

(पादानां विषये इतरे विशेषाः)

पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्षरदशाक्षरौ ॥३७॥

(पादों के विषय में अन्य विशेष)

सू० अ०—८ अक्षरों वाले और १० अक्षरों वाले पादों को (क्रमशः) 'गायत्र' और 'वैराज' (नाम से जानना चाहिए)।

उ० भा०—अष्टाक्षरदशाक्षरौ पादौ गायत्रवैराजौ विद्यात्।

उ० भा० अ०—अष्टाक्षरदशाक्षरौ पादौ=८ अक्षरों और १० अक्षरों वाले पादों को; गायत्रवैराजौ=(क्रमशः) 'गायत्र' और 'वैराज'; जानना चाहिए।

टि० (क) इस प्रकार ये सात (६+१+२) पाद 'सर्वानुदात्त' हुए।

---

[१] ऋ० ८।३७।१ [२] ऋ० ८।३७।१ [३] ऋ० ८।३७।३
[४] ऋ० १।२।८ [५] ऋ० ४।१०।६

एकादशिद्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ ॥३८॥

सू० अ॰—११ (अक्षरों) वाले और १२ (अक्षरों) वाले (पादों) को (क्रमशः) 'त्रैष्टुभ' और 'जागत' (जानना चाहिए)।

उ० भा०—(एकादशिद्वादशिनौ=) एकादशद्वादशाक्षरौ पादौ; त्रैष्टुभजागतौ विद्यात् ॥

उ० भा० अ०—(एकादशिद्वादशिनौ=) ११ और १२ अक्षरों वाले पादों को; त्रैष्टुभजागतौ=(क्रमशः) 'त्रैष्टुभ' और 'जागत'; विद्यात्=जानना चाहिए।

वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्।
गुर्वेवेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राहुः ॥३९॥

सू० अ०—इन (पादों) में सबसे बड़े (='जागत' पाद) और सबसे छोटे ('गायत्र' पाद) का अन्तिम से पहला (उपोत्तम) 'अक्षर' 'लघु' (होता है)। अन्य दो (='वैराज' पाद तथा 'त्रैष्टुभ' पाद) का (अन्तिम से पहला 'अक्षर') 'गुरु' (होता है)। ऋचाओं में इसे छन्दों का 'वृत्त' कहते हैं।

उ० भा०—एषां पादानाम्, वर्षिष्ठाणिष्ठयोः=अष्टाक्षरद्वादशाक्षरयोः पादयोः; उपोत्तममक्षरं लघु भवति। यथा—"अग्निमीळे पुरोहितम्"[१]; "प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवः"[२] इति। इतरयोः=दशैकादशाक्षरयोः; उपोत्तम गुरु भवति। "श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेः"[३]; "पिबा सोममभि यमुग्र तर्दः"[४] इति। छन्दसामृक्षु तद्वृत्तम्; (प्राहुः=) आहुः; आचार्याः।

उ० भा० अ०—एषाम्=इन; पादों में से, वर्षिष्ठाणिष्ठयोः=८ अक्षरों और १२ अक्षरों वाले पादों का; उपोत्तममक्षरम्=अन्तिम से पहला 'अक्षर'; लघु होता है। जैसे—"अग्निमीळे पुरोहितम्"[क], "प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवः।"[क] इतरयोः=अन्य दो का=१० और ११ अक्षरों वाले (पादों) का, अन्तिम से पहला ('अक्षर') गुरु होता है। (जैसे) "श्रुधी हव विपिपानस्याद्रे"[ख]; "पिबा सोममभि यमुग्र तर्द।"[ख] आचार्य लोग, छन्दसामृक्षु तद्वृत्तम्=इसे ऋचाओं में छन्दों का 'वृत्त'; (प्राहुः=) कहते हैं।

टि० (क) ८ अक्षरों वाले ('गायत्र') तथा १२ अक्षरों वाले ('जागत') पादों के अन्तिम से पहले वाले (=उपोत्तम) 'अक्षर' (=क्रमशः 'त' का 'अ' और 'द' का 'अ') लघु हैं।

(ख) १० अक्षरों वाले ('वैराज') और ११ अक्षरों वाले ('त्रैष्टुभ') पादों के अन्तिम से पहले वाले (उपोत्तम) 'अक्षर' (=क्रमशः 'था' का 'आ' और 'त' का 'अ') 'गुरु' हैं।

---

[१] ऋ० १।१।१ [२] ऋ० ९।६८।१ [३] ऋ० ७।२२।४
[४] ऋ० ६।१७।१

एतैश्छन्दांसि वर्तन्ते सर्वाण्यन्यैरतोऽल्पशः ।
एतद्विकारा एवान्ये सर्वे तु प्राकृताः समाः ॥४०॥

सू० अ०—सभी छन्दः इन्हीं (चार प्रकार के पादों) से युक्त हैं। इनसे अन्य (पादों) से थोड़े से (छन्दः) (युक्त हैं)। अन्य सब (पाद) इन्हीं (चार प्रकार के पादों) के विकार हैं। किंतु सभी (चार प्रकार के) प्राकृत (पाद) समान हैं।

उ० भा०—एतैः पादैः सर्वाणि च्छन्दांसि वर्तन्ते। अतः=एभ्यः, अन्यैः पादैः अल्पशो वर्तन्ते। ये तु अन्ये पादास्ते; (एतद्विकाराः=) एतेषामेव पादाना विकाराः; भवन्ति। अष्टाक्षरात्पूर्वे पादास्ते गायत्रस्य पादस्य विकारा भवन्ति। नवाक्षरो वैराजस्य विकारो यदि गुरूपोत्तमः। अन्यस्तु गायत्रस्यैव। त्रयोदशाक्षरप्रभृतिषु ये गुरूपोत्तमास्ते त्रैष्टुभस्य। ये लघूपोत्तमास्ते जागतस्य।

उ० भा० अ०—एतैः=इन; (चार प्रकार के) पादो से; सर्वाणि च्छन्दांसि वर्तन्ते=सब छन्दः युक्त होते हैं। अतः=इनसे; अन्यैः=अन्य, पादो से; अल्पशः= थोड़े से (छन्दः); युक्त होते हैं।[क] किंतु जो; अन्ये=अन्य, पाद हैं वे, (एतद्विकाराः=) इन्हीं पादों के विकार; होते हैं। ८ अक्षरों से पहले वाले (अर्थात् ८ अक्षरों से थोड़े अक्षरों वाले) पाद 'गायत्र' पाद के विकार होते हैं। ९ अक्षरो वाला (पाद) 'वैराज' (पाद) का विकार होता है, यदि अन्तिम से पहले वाला (उपोत्तम) ('अक्षर') 'गुरु' होवे। अन्य (अर्थात् जिसका अन्तिम से पहले वाला 'अक्षर' 'लघु' है) 'गायत्र' का ही ('विकार') है।[ख] १३ इत्यादि अक्षरों वाले जिन (पादो) में अन्तिम से पहले वाला ('अक्षर') 'गुरु' है वे 'त्रैष्टुभ' (पाद के) (विकार हैं)। जिनमें अन्तिम से पहले वाला ('अक्षर') 'लघु' है वे 'जागत' (पाद) के (विकार हैं)।

टि० (क) अष्टाक्षर ('गायत्र'), दशाक्षर ('वैराज'), एकादशाक्षर ('त्रैष्टुभ') और द्वादशाक्षर ('जागत')—इन चार प्रकार के पादो का ऋग्वेद में बहुल प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से ये चार पाद सब वैदिक छन्दों के आधार हैं। यही कारण है कि इन चार प्रकार के पादों को प्राकृत (मौलिक) और अन्य पादों को वैकृत (उद्भूत) माना गया है।

(ख) 'गायत्र' पाद ८ अक्षरों का और 'वैराज' पाद (दे० १७।३३) १० अक्षरों का होता है। (प्रश्न) ९ (८+१ या १०-१) अक्षरो के पाद को किसका विकार माना जायेगा—'गायत्र' पाद का अथवा 'वैराज' पाद का? (उत्तर) 'गायत्र' आदि प्राकृत पादों में गुरुलघुभाव ('वृत्त') नियत है। जैसे—'गायत्र' पाद का अन्तिम से पहले वाला 'अक्षर' 'लघु' होता है और 'त्रैष्टुभ' पाद का अन्तिम से पहले वाला 'अक्षर' 'गुरु' होता है। अत एव यदि ९ अक्षरो के पाद का अन्तिम से पहले वाला 'अक्षर' 'लघु' है तो उसे 'गायत्र' पाद का विकार माना जायेगा और यदि अन्तिम से पहले वाला 'अक्षर' 'गुरु' हो तो उसे 'वैराज' पाद का विकार माना जायेगा। इसी प्रकार १३ इत्यादि अक्षरो वाले पाद का निर्णय कर लेना चाहिए।

उ० भा०—सर्वे तु प्राकृताः पादाः समा वेदितव्याः। ते प्राकृता अष्टाक्षरादयश्चतुर्विधाः। यद्येवं नैते समाः। बहवो ह्यष्टाक्षरा अल्पीयांसो दशाक्षराः। यद्येवं समा इत्येषां संज्ञा स्यात्। न संज्ञाया प्रयोजनमस्ति।

एवं तर्ह्यन्योऽर्थः कथ्यते। सर्वे तु प्राकृताः समाः। तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः। यदुक्तमेतेषां विकारा अन्ये पादा इति। तन्न। यथा सर्वे पादा प्राकृता एव; नान्योन्यस्य विकाराः। तस्मात्समाः। न संख्याकृतं समत्वम्।

अपरे पुनरन्यथा वर्णयन्ति। सर्वे तु प्राकृताः समाः=सर्वेऽष्टाक्षरप्रभृतयश्चतुर्विधाः समास्तुल्या भवन्ति। किमुक्तं भवति ? नान्योन्यस्य विकारा भवन्तीत्युक्तं भवति॥

उ० भा० अ०—सर्वे तु प्राकृताः पादाः समाः=किन्तु सब प्राकृत पादों को समान; जानना चाहिए। वे प्राकृत (पाद) ८ इत्यादि अक्षरों वाले चार प्रकार के हैं। (पू०) यदि ऐसी बात है तो वे (संख्या में) समान नही हैं; क्योंकि ८ अक्षरों के अधिक (पाद) है, १० अक्षरो के थोडे (पाद) हैं। (सि०) तब 'सम' इनकी (=चार प्रकार के प्राकृत पादों की) संज्ञा होगी। (पू०) संज्ञा का प्रयोजन नही है (और निष्प्रयोजन संज्ञा करना अयुक्त है)।

(सि०) ऐसी बात है तो (प्रस्तुत सूत्र का) अन्य अर्थ कहा जाता है। सर्वे तु प्राकृताः समाः—'तु' शब्द (उक्त) पक्ष का व्यावर्तक है। (अर्थात्) जो यह कहा गया है कि अन्य पाद इन (चार प्रकार के पादो) के विकार है, वह (ठीक) नही है। क्योकि सब पाद प्राकृत ही हैं; एक दूसरे के विकार नही है। अत एव समान हैं। सख्या की दृष्टि से समत्व (अभीष्ट) नही है।

दूसरे लोग अन्य प्रकार से व्याख्या करते है। सर्वे तु प्राकृताः समाः=८ इत्यादि अक्षरों वाले चार प्रकार के प्राकृत पाद; सम=तुल्य; हैं। कहने का क्या तात्पर्य है ? (उत्तर) कहने का यह तात्पर्य है कि (प्राकृत पाद) एक दूसरे के विकार नही है (जबकि अन्य सभी पाद इन चार प्राकृत पादो के विकार है)।[क]

एक एकपदैतेषां द्वौ पादौ द्विपदोच्यते।
ते तु तेनैव प्रोच्येते सरूपे यस्य पादतः॥४१॥

सू० अ०—इन (१७।३७-३८ में उक्त चार प्राकृत पादो) में से एक (पाद है जिसमें वह ऋचा) एकपदा (कहलाती है)। इनमें से दो पाद (हैं जिस ऋचा मे वह) द्विपदा कहलाती है। किन्तु वे दोनों (एकपदा और द्विपदा ऋचायें) उसी (छन्दः के नाम) से अभिहित होती हैं जिस (छन्दः) के समान वे पाद की दृष्टि से (होती हैं)।

टि० (क) प्रस्तुत सूत्र के सर्वे तु प्राकृताः समाः—इस अश की व्याख्या तीन प्रकार से हैं: –(१) 'गायत्र', 'वैराज', 'त्रैष्टुभ' और 'जागत' पाद 'सम'–सज्ञक हैं; (२) पादो में प्रकृति-विकृति-भाव नही माना जायेगा। निखिल पाद सममर्याद हैं; (३) पादो में प्रकृति-विकृति-भाव स्वीकृत है। किन्तु प्राकृत पादो में परस्पर प्रकृति-विकृति-भाव अस्वीकृत हैं। ये चार सममर्याद है।

उ० भा० —(एतेषाम्=) तेषाम् चतुर्णां पादानाम् एकः पादो यस्याः सा एकपदा ऋगित्युच्यते। यथा—"असिक्न्या यजमानो न होता।"[1] तेषामेव चतुर्णां द्वौ पादौ यस्याः सा द्विपदा ऋगिति उच्यते। "साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु"[2] इति। तेनैव च्छन्दसा प्रोच्येते ते द्विपदैकपदे छन्दसां मध्ये यस्य च्छन्दसः पादतः सरूपे भवतः। यदि गायत्रस्य सरूपे भवतो यदि त्रिष्टुभः। गायत्री द्विपदा त्रिष्टुबेकपदेति ॥

उ० भा० अ०—(एतेषाम्=) उन, चार पादो में से एक पाद है जिसमें (जिसका) वह एकपदा ऋक् कहलाती है। जैसे—"असिक्न्या यजमानो न होता ('एकपदा विराट्')।" उन्ही चार (पादो) में से; द्वौ पादौ=दो पाद; हैं जिसमें (जिसका) वह द्विपदा ऋक्; उच्यते = कहलाती है। (जैसे)—"साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु" ('द्विपदा विराट्')। ते=वे दोनों; द्विपदा और एकपदा (ऋचायें); तेनैव=उसी; छन्द. (के नाम) से; प्रोच्येते=अभिहित होती हैं; छन्दों के मध्य में; पादतः=पाद की दृष्टि से; यस्य=जिस; छन्द के; सरूपे=समान; होती हैं। यदि 'गायत्री' (छन्द.) के समान होती हैं यदि 'त्रिष्टुप्' के। (जैसे) 'द्विपदा गायत्री', 'एकपदा त्रिष्टुप्'।[क]

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः।
अन्यत्र वैमद्याः सैका दशिनी सुखतो विराट् ॥४२॥

आहुस्त्वेकपदा अन्ये अध्यासानेकपातिनः
अध्यासानपि केचित्त्वाहुरेकपदा इमाः।
आ वां सुम्ने असिक्न्यां द्वे उरौ देवाः सिषक्तु नः ॥४३॥

सू० अ०—यास्क के मत में विमद (ऋषि) द्वारा दृष्ट (ऋचा=१०।२०।१) के अतिरिक्त कोई एकपदा ऋचा ऋग्वेद मे नहीं है। वह १० अक्षरो वाली एक (एकपदा) 'विराट्' (सूक्त के) प्रारम्भ में (स्थित है)। दूसरे लोग स्वतन्त्र रूप मे स्थित द्विपदाओ को (पूर्ववर्ती) ऋचाओ का परिशिष्ट मानते हैं। कतिपय आचार्य इन परिशिष्टों को भी एकपदा (ऋचा) मानते है।

उ० भा०—दशतये भवा=दाशतयी; काचिदेकपदा नास्तीति वै यास्क आचार्यो मन्यते। अस्माकं या एकपदाः ता सर्वा पूर्वामृचाम् अध्यासान्; (आहुः=) मन्यन्ते। अन्तान्-इत्यर्थः। किम् अविशेषेण? नेत्याह—अन्यत्रवैमद्या एकपदायाः। सा तु स्यात्; मुखतः=वैमदस्य आदौ-इत्यर्थः। दशिनी विराट् एकपदास्त्येव ॥

टि० (क) जो ऋचा एक पाद की होती हैं वह 'एकपदा' कहलाती है और जो दो पादो की होती हैं वह 'द्विपदा' कहलाती है। यह 'एकपदा' अथवा 'द्विपदा' ऋचा जिस छन्द के समान होती है, उसी के आधार पर इसका नाम होता है। जैसे ११ अक्षरो के एक पाद वाली ऋचा 'एकपदा त्रिष्टुप्' कहलायेगी। अथवा ८-८ अक्षरो के दो पादो वाली ऋचा 'द्विपदा गायत्री' कहलायेगी।

१ ऋ० ४।१७।१५

२ ऋ० १।७०।११

इमान्युदाहरणानि—"आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिष् ष्याम् ।"[१] "असिक्न्यां यजमानो न होता ।"[२] उरौ देवा अनिबाधे स्याम ।"[३] "सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः"[४] इति।

तानप्येकपातिनोऽध्यासानन्य आचार्या एकपदा आहुः—अस्मिन्पाठान्तरे—"ता तरेम"[५] इत्येवमादीनां पुनः पादानाम् अनेकपातिनामध्यासानाम् एकपदाशङ्कैव न भवति ॥

उ० भा० अ०—दशमण्डलात्मक ऋग्वेद में होने वाली=दाशतयी; काचिदेकपदा नास्तीति वै यास्कः=कोई एकपदा (ऋचा) नहीं है—यह यास्क; आचार्य मानते हैं। हमारे मत में जो एकपदा हैं उन सबको पूर्ववर्ती ऋचाओं का; अध्यासान्=परिशिष्ट=अन्त-यह अर्थ है; (आहुः=) मानते हैं। क्या बिना किसी विशेष के (अर्थात् क्या यास्क के अनुसार ऋग्वेद में कोई भी एकपदा ऋचा नहीं है) ? (उत्तर) नहीं, (सूत्रकार ने) कहा है—अन्यत्र वैमद्याः=विमद (ऋषि) के द्वारा दृष्ट एकपदा से अतिरिक्त (एकपदा नहीं है)। सा=वह (विमद ऋषि के द्वारा दृष्ट एकपदा ऋचा); मुखतः=प्रारम्भ में=विमद ऋषि (के सूक्त=१०।२०) के प्रारम्भ में है—यह अर्थ है। वह एकपदा (ऋ० १०।२०।१); दशिनी विराट्=१० अक्षरों की 'विराट्' है।[क]

(हमारे द्वारा स्वीकृत द्विपदाओं के) ये उदाहरण हैं—"आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिष् ष्याम् ।"[ख] "असिक्न्यां यजमानो न होता ।"[ग] "उरौ देवा अनिबाधे स्याम ।"[घ] "सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ।"[ङ]

टि० (क) भद्रं नो अपि वातयः मनः ॥ ऋ० १०।२०।१

(ख) सं वा शता नासत्या सहस्रा ऽश्वाना पुरुपन्था गिरे दात् ॥
भरद्वाजाय वीर नू गिरे दा—द्धता रक्षांसि पुरुदससा स्युः ॥ ऋ० ६।६३।१०
आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिष् ष्याम् ॥ ऋ० ६।६३।११

(ग) अय चक्रमिषणत् सूर्यस्य न्येतश रीरमत् ससृमाणम् ।
आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ॥ ऋ० ४।१७।१४
असिक्न्यां यजमानो न होता ॥ ऋ० ४।१७।१५

(घ) प्रैष. स्तोमः पृथिवीमन्तरिक्षं वनस्पतीरोषधी राये अश्याः ।
देवोदेव सुहवो भूतु मह्य मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात् ॥ (ऋ० ५।४२।१६)
उरौ देवा अनिबाधे स्याम ॥ ऋ० ५।४२।१७, ऋ० ५।४३।१६

(ङ) अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणाना—ऽभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः ॥ ऋ० ५।४१।१९
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥ ऋ० ५।४१।२०

उपर्युक्त चार द्विपदाओं के पूर्व में 'त्रिष्टुप्' छन्दस्क ऋचायें हैं। इन द्विपदाओं के बिना ही उन ऋचाओं में 'त्रिष्टुप्' छन्द सम्पन्न हैं। चारों द्विपदा ऋचायें अपनी पूर्ववर्ती ऋचाओं से छन्द. की दृष्टि से स्वतन्त्र हैं।

---

[१] ऋ० ६।६३।११ [२] ऋ० ४।१७।१५ [३] ऋ० ५।४२।१७; ऋ० ५।४३।१६
[४] ऋ० ५।४१।२० [५] ६।२।११

(अन्य ऋचाओं के) अन्त में आने वाले किंतु स्वतन्त्र रूप में स्थित उनको भी आचार्य एकपदा बतलाते हैं—इस पाठान्तर के अनुसार (अन्य ऋचाओं के) अन्त में आने वाले तथा स्वतन्त्र रूप में स्थित न होने वाले पादों के विषय में तो एकपदा की आशङ्का नहीं होती है।[क]

पादा एकाधिकाः सन्ति च्छन्दसां चतुरक्षरात्।
सन्त्यतिच्छन्दसां पादा एकोत्कर्षेण जागतात्।
षोळशाक्षरपर्यन्ता एकश्चाष्टादशाक्षरः ॥४४॥

सू० अ०—छन्दों के पाद ४ अक्षरों से प्रारम्भ होकर (उत्तरोत्तर) १-१ ('अक्षर') से अधिक होते हैं। अतिच्छन्दों के पाद १२ अक्षरों वाले पाद ('जागत') से प्रारम्भ होकर १-१ 'अक्षर' से अधिक होते हैं तथा १६ अक्षरों तक के होते हैं। एक (पाद) १८ अक्षरों का भी है।

उ० भा०—छन्दसां पादाश्चतुरक्षरात् प्रभृति षोडशाक्षरपर्यन्ताः; (एकाधिकाः=) ते एकैनैकेनाधिकाः, सन्ति। एकश्चाष्टादशाक्षरः। "नूनमथ।"[१] "अग्ने तमद्य।"[२] "ऋध्यामा त ओहैः।"[३] "नदं व ओदतीनाम्।"[४] "अग्निमीळे पुरोहितम्।"[५] "तं त्वा वयं पितो वचोभिः।"[६] "श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेः।"[७] पिबा सोममभि यमुग्र तर्दः।"[८]

(८५५क) एकपदा ऋचाओं की दो स्थितियाँ संभावित हैं :—(१) सूक्त के प्रारम्भ में और (२) किसी ऋचा के अन्त में। एकपदा ऋचाओं के विषय में दो मत हैं —(१) यास्क विमद ऋषि द्वारा दृष्ट तथा सूक्त के प्रारम्भ में स्थित "भद्रं नो अपि वातय मनः" (ऋ० १०।२०।१) को ही एकपदा ऋचा मानते हैं। अन्य स्थलों में एकपदा के रूप में संभावित ऋचा को वे तत्संश्लिष्ट ऋचा का ही अव्यवच्छेद्य अङ्ग मानते हैं। (२) सूत्रकार आदि का मत है कि विमद ऋषि की एकपदा ऋचा के अतिरिक्त अन्य स्थलों में भी एकपदा संभावित हैं; किंतु ऐसी द्विपदा ऋचाओं के विषय में दो मत हैं (i) ये ऋचायें संश्लिष्ट ऋचाओं के परिशिष्ट हैं, (ii) ये संश्लिष्ट ऋचाओं से स्वतन्त्र हैं।

टि० (क) अच्छा नो मित्रमहो देव देवा—नग्ने वोचः सुमतिं रोदस्योः।
वीहि स्वस्तिं सुक्षितिं दिवो नॄन् द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम
ता तरेम तवावसा तरेम ॥ ऋ० ६।२।११

(प्रश्न) निर्दिष्ट पाद बहुपादा ऋचा के अन्त में स्थित है। अत एव इसे एकपदा ऋचा के रूप में मान लेना चाहिए। (उत्तर) यह पाद बहुपादा 'शक्वरी' (५६ 'अक्षर') छन्द के अन्तर्गत ही है। इसके बिना 'शक्वरी' छन्द के ५६ 'अक्षर' सम्पन्न नहीं होंगे। इसलिए इस पाद की स्वतन्त्र सत्ता का कोई प्रश्न उठता ही नहीं है।

---

१ ऋ० ८।४६।१५
२ ऋ० ८।१०।१
३ ऋ० ४।१०।१
४ ऋ० ८।६९।२
५ ऋ० १।१।१
६ ऋ० १।१८७।११
७ ऋ० ७।२२।८
८ ऋ० ६।१७।१

"प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवः।"[१] "तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रम्।"[२] "अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिः।"[३] 'अभि त्य देव सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।"[४] "त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मः"[५]—एते चतुरक्षरादारभ्य षोडशाक्षरपर्यन्ताः। "अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्"[६]—एष चाष्टादशाक्षरः।

केचित्पाठान्तरं वर्णयन्ति। जागतादारभ्याष्टादशाक्षरपर्यन्ताः पादा अतिच्छन्दसां विद्यन्ते। ते व्याख्याता इति॥

उ० भा० अ०—छन्दसां पादाः=छन्दों के पाद, चतुरक्षरात्=४ अक्षरो से; प्रारम्भ होकर; षोडशाक्षरपर्यन्ताः=१६ अक्षरों तक (होते है); (एकाधिकाः=) वे (पाद) १-१ ('अक्षर') से अधिक; होते हैं। (उदाहरण) (४ अक्षरों का पाद)—"नूनमथ।" (५ अक्षरो का)—"अग्ने तमद्य।" (६ अक्षरों का)—"ऋध्यामा त ओहै.।" (७ अक्षरो का)—"नद व ओदतीनाम्।" (८ अक्षरों का)—"अग्निमीळे पुरोहितम्।" (९ अक्षरों का)—"त त्वा वय पितो वचोभि।" (१० अक्षरों का)—"श्रुधी हव विपिपानस्याद्रे.।" (११ अक्षरो का)—"पिबा सोममभि यमुग्र तर्द।" (१२ अक्षरों का)—"प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवः।" (१३ अक्षरों का)—"तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रम्।" (१४ अक्षरो का)—"अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभि।" (१५ अक्षरो का)—"अभि त्य देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।" (१६ अक्षरों का)—"त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्म."—ये ४ अक्षरों से लेकर १६ अक्षरो तक के (पाद) हैं। "अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रिय मतिं कविम्"—यह १८ अक्षरो का (पाद) है।

कुछ लोग (प्रस्तुत सूत्र में) पाठान्तर का वर्णन करते हैं—१२ अक्षरो के पाद ('जागत') से लेकर १८ अक्षरो तक के पाद अतिच्छन्दो के होते हैं। उनकी व्याख्या (सोदाहरण) की जा चुकी है।[क]

एकादशैव च्छन्दसि पादा ये षोळशाक्षराः।
सर्वे त्रिकद्रुकीयासु नाकुलोऽष्टादशाक्षरः॥४५॥

सू० अ०—ऋग्वेद में ग्यारह ही पाद ऐसे हैं जो १६-१६ अक्षरो के हैं। वे सब 'त्रिकद्रुकीय' (ऋचाओ) (='त्रिकद्रुक' शब्द से प्रारम्भ होने वाले सूक्त की ऋचाओ) में (उपलब्ध होते हैं)। १८ अक्षरो का पाद नकुल (ऋषि) का है।

उ० भा०—छन्दसि संहितायां ये षोडशाक्षराः पादा एकादशैव ते सर्वे त्रिकद्रुकीयासु ऋक्षु दृश्यन्ते। यथा—"त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मः"[७] इति प्रथमायां चत्वारः। द्वितीयायां तृतीयायां च त्रयस्त्रयः पादाः। चतुर्थ्यामेकः। एवमेते त्रिकद्रुकीयासु सर्वे भवन्ति। नकुलस्यार्षेऽष्टादशाक्षरः। "अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्"[८] इति॥

टि० (क) सूत्रस्य मध्यम पङ्क्ति को पाठान्तर के रूप में लेकर भाष्य में व्याख्या की गई है।

[१] ऋ० ९।६८।१ [२] ऋ० ८।९७।१३ [३] ऋ० १।१३३।६
[४] ऋ० १०।१०३।४ [५] ऋ० २।२२।१ [६] प्रै० पृ० १०६, आ० श्रौ० ४।६।३
[७] ऋ० २।२२।१ [८] प्रै० पृ० १०६, आ० श्रौ० ४।६।३

उ० भा० अ०—छन्दसि=ऋग्वेद-संहिता में; ये षोडशाक्षराः पादा एकादशैव =जो ग्यारह ही १६-१६ अक्षरों वाले पाद हैं; वे; सर्वे=सब; त्रिकद्रुकीयासु='त्रिकद्रुकीय, ('त्रिकद्रुक' शब्द से प्रारम्भ होने वाले सूक्त की) ऋचाओं में; दिखलाई पड़ते हैं। जैसे—"त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिर तुविशुष्मः"—इस प्रथम (ऋचा) में (१६-१६ अक्षरों वाले) चार (पाद) हैं। द्वितीय (ऋचा) में और तृतीय (ऋचा) में (१६-१६ अक्षरों वाले) तीन-तीन पाद हैं। चतुर्थी (ऋचा) में (१६ अक्षरों वाला) एक (पाद) है। इस प्रकार ये सब (ग्यारह पाद) 'त्रिकद्रुकीय' ऋचाओं में विद्यमान हैं।[क] नकुल ऋषि के (सूक्त) में १८ अक्षरों का (पाद) है—"अर्चामि सत्यसव रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्।"

(ऋग्वेदे बृहत्तमा ऋक्)

अवर्मंहोऽविकर्षेण ज्येष्ठा दाशतयीष्वृचाम् ॥४६॥

(ऋग्वेद में सबसे बड़ी ऋचा)

सू० अ०—ऋग्वेद में विद्यमान ऋचाओं के मध्य में "अवर्मंहः……", 'विकर्ष' किये बिना, सबसे बड़ी (ऋचा) है।

उ० भा०—"अवर्मंह इन्द्र"[1] इत्येषा अविकर्षेण सप्तत्यक्षरा सा; ज्येष्ठा=महती· दाशतयीषु; (ऋचाम्=) ऋक्षु। बह्वक्षरा-इत्यर्थः॥

उ० भा० अ०—अवर्मंह इन्द्र"[ख]—यह (ऋचा); अविकर्षेण='विकर्ष' किये

टि० (क) त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिर तुविशुष्म-
स्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुम्
सैनं सश्चद् देवो देव सत्यमिन्द्र सत्य इन्दुः॥१॥
अध त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रिविं युधाभव-
दा रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्र वावृधे।
अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत
सैनं सश्चद् देवो देव सत्यमिन्द्र सत्य इन्दु॥२॥
साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ
साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणि॥
दाता राध स्तुवते काम्यं वसु
सैनं सश्चद् देवो देव सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दु.॥३॥
तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्।
यद् देवस्य शवसा प्रारिणा असु रिणन्नप.।
भुवद् विश्वमभ्यादेवमोजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम्॥४॥

(ख) अवर्मंह इन्द्र दादृहि श्रुधी न शुशोच हि द्यौ क्षा न भीषाँ अद्रिवो
घृणान्न भीषाँ अद्रिव।
शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभि—र्वं—धैरुग्रेभिरीयसे।
अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभि—स्त्रिसप्तैः शूर सत्वभि॥

[1] ऋ० १।१३३।६

बिना; ७० अक्षरों वाली है; वह; दाशतयीषु (ऋचाम्)=ऋग्वेद-संहिता की ऋचाओं में; ज्येष्ठा=(सबसे) बड़ी है। बहुत अक्षरों वाली है—यह अर्थ है।

विकर्षेण तु पादैश्च स हि शर्ध इति स्मृता ॥४७॥

सू० अ०—किन्तु 'विकर्ष' करने पर और पादों की दृष्टि से भी "स हि शर्धः"—यह (सबसे बड़ी ऋचा) मानी गई है।

उ० भा०–विकर्षेण तु षट्सप्तत्यक्षरा भवति। पादैश्च अष्टपदा भवति। तस्माज् ज्येष्ठा स्मृता। "स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिः"[१] इति॥

उ० भा० अ०—किन्तु "स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिः"[क]—यह (ऋचा); विकर्षेण=संधि-विच्छेद और व्यवधान ('विकर्ष') करने से; ७६ अक्षरों की होती है। पादैश्च=और पादों की दृष्टि से, आठ पादो की है। इसलिए सबसे बड़ी; स्मृता=मानी गई है।

(ऋग्वेदे बहुपादाऽपि लघुतमा ऋक्)

अणिष्ठा बहुपादानां भारद्वाजी पुरूतमम् ॥४८॥

(ऋग्वेद में बहुपादा होने पर भी सबसे छोटी ऋचा)

सू० अ०—बहुत पादों वाली (ऋचाओं) के मध्य में भरद्वाज (ऋषि) के द्वारा दृष्ट 'पुरूतमम्'...—यह सबसे छोटी (ऋचा) है।

उ० भा०—बहुपादानाम् ऋचां मध्ये; अणिष्ठा=अत्यल्पा; विंशत्यक्षरा भारद्वाजी "पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणाम्"[२] इति। ऋषिग्रहणात्—"पुरूतमं पुरूणामीशानम्"[३] इति मास्तु॥

उ० भा० अ०—बहुपादानाम्=बहुत पादों वाली; ऋचाओं के मध्य में "पुरूतमं पुरूणा स्तोतॄणाम्"[ख]—यह; भारद्वाजी=भरद्वाज (ऋषि) के द्वारा दृष्ट; २० अक्षरो वाली (ऋचा); अणिष्ठा=सबसे छोटी; है। ऋषि का ग्रहण होने से—"पुरूतम पुरूणामीशानम्" यह न होवे।[ग]

टि० (क) स हि शर्धो न मारुत तुविष्वणि—रप्नस्वतीपूर्वरास्विष्टनि—रार्तनास्विष्टनि.।
आदद्धव्यान्यादंदि—र्यज्ञस्य केतुरर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम्॥

(ख) पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणा विवाचि। वाजेभिर्वाजयताम्।

(ग) पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम्। इद सोमे सचा सुते॥

(प्रश्न) प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित "पुरूतमम्" पद से प्रारम्भ होने वाली ऋचा "पुरूतम पुरूणामीशानम्" भी है। क्या यह उदाहरण नहीं बन सकती?

---

[१] ऋ० १।१२७।६ [२] ऋ० ६।४५।२९ [३] ऋ० १।५।२

अविकर्षेण सौभरी प्रेष्ठम्वादि ह्रसीयसी ॥४६॥

सू० अ०—सौभरि के द्वारा दृष्ट "प्रेष्ठमु" यह (ऋचा) विना संधि-विच्छेद तथा व्यवधान ('विकर्ष') किये (पहली ऋचा ऋ० ६।४५।२९ की अपेक्षा) छोटी है।

उ० भा०—अविकर्षेण; (सौभरी=) सोभरिणा दृष्टा—"प्रेष्ठमु प्रियाणाम्"[१] इत्येषा; ह्रसीयसी=अल्पाक्षरतरा, भवत्येकोनविंशत्यक्षरेति ॥

उ० भा० अ०—(सौभरी=) सोभरि के द्वारा दृष्ट "प्रेष्ठमु प्रियाणाम्"[क]—यह (ऋचा); अविकर्षेण=संधि-विच्छेद तथा व्यवधान ('विकर्ष') किये विना; ह्रसीयसी=(ऋ० ६।४५।२९ की अपेक्षा) अधिक छोटी=थोड़े अक्षरों वाली; है=१९ अक्षरो की है।

(द्विपद्विराजां चतुष्पदाक्षरपङ्क्तित्वमिति केचित्)

विराजो द्विपदाः केचित्सर्वा आहुश्चतुष्पदाः।
कृत्वा पञ्चाक्षरान्पादाँस्तास्तथाक्षरपङ्क्तयः ॥५०॥

(द्विपदा विराट् ऋचाओं के चतुष्पदा अक्षरपङ्क्ति होने का मत)

सू० अ०—कतिपय (आचार्य) ५-५ अक्षरों के पाद बनाकर कहते हैं कि सभी 'द्विपदा विराट्' चतुष्पदा (ऋचायें) हैं। ऐसा होने पर ये अक्षरपङ्क्तियाँ (कहलाती हैं)।

उ० भा०—"पश्वा न तायुं गुहा चतन्तम्"[२] इत्येवमादयो या विराजो द्विपदाः ताः सर्वाः "पश्वा न तायुम्" इत्येवं पञ्चाक्षरान्पादान् कृत्वा चतुष्पदा आहुः केचित् आचार्याः। तास्तथा क्रियमाणा अक्षरपङ्क्तयो नाम भवन्ति ॥

इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवटकृतौ
प्रातिशाख्यभाष्ये सप्तदशं पटलम् ॥

(८५९ ग) (उत्तर) सूत्र में 'भरद्वाज' नाम के उल्लेख से यह सूचित होता है कि भरद्वाज (ऋषि) के द्वारा दृष्ट "पुरूतम पुरूणा स्तोतॄणाम्" ऋचा ही यहाँ उदाहरण है; मधुच्छन्दा द्वारा दृष्ट "पुरूतम पुरूणामीशानम्" नहीं।

टि० (क) प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम्।
अग्निं रथानां यमम् ॥

[१] ऋ० ८।१०३।१० [२] ऋ० १।६५।१

उ० भा० अ०—"पश्वा न तायुं गुहा चतन्तम्" इत्यादि जो; **विराजो द्विपदाः**='द्विपदा विराट्' हैं; उन; **सर्वाः**=सबको; "पश्वा न तायुम्"क (इस प्रकार) **पञ्चाक्षरान्पादान् कृत्वा**=५-५ अक्षरों वाले पाँच पाद बनाकर; **चतुष्पदा आहुः**=चार पादों वाली कहते हैं; **केचित्**=कतिपय; आचार्य। **तास्तथा**=वे वैसी; की जाने पर; **अक्षरपङ्क्तयः**='अक्षरपङ्क्ति'; नाम वाली होती हैं।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य-भाष्य में सप्तदश पटल समाप्त हुआ।

टि० (क) पश्वा न तायुं गुहा चरन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्।
सजोषा धीराः पदैरनु ग्मन्नुप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः॥

अथवा

पश्वा न तायुं गुहा चरन्तं
नमो युजानं नमो वहन्तम्।
सजोषा धीराः पदैरनु ग्म-
न्नुप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः॥

सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों में ऐसी ऋचाओं का छन्द 'द्विपदा विराट्' माना गया है। कतिपय आचार्य इनका छन्द. चार पादों वाली 'अक्षरपङ्क्ति' बतलाते हैं।

१८ ः छन्दः-पटलम् (३)

प्रगाथाः

अक्षर-संज्ञा

अनुस्वारव्यञ्जनयोः स्वराङ्गत्वविचारः

लघ्वक्षरगुर्वक्षरादिनिरूपणम्

एकस्य छन्दसः अन्यस्मिन् छन्दसि विपरिणमनम्

त्रिपदादिषु ऋक्षु अवसाननिर्णयप्रकारः

प्रश्नस्वरूपमध्यायस्वरूपं च

त्रिष्टुब्जगत्योश्छन्दोज्ञानस्य च महिमा

(प्रगाथाः)

बार्हतो बृहतीपूर्वः ककुप्पूर्वस्तु काकुभः ।
एतौ सतोबृहत्यन्तौ प्रगाथौ भवतो द्वृचौ ॥१॥

(प्रगाथ)

सू० अ०—'बार्हत' ('प्रगाथ') 'बृहती' से प्रारम्भ (होता है)। 'काकुभ' ('प्रगाथ') 'ककुप्' से प्रारम्भ (होता है)। 'सतोबृहती' में समाप्त होने वाले ये दोनों 'प्रगाथ' दो-दो ऋचाओं के होते हैं (अर्थात् इन दोनो में दो दो ऋचायें होती हैं)।

उ० भा०—यो बृहतीपूर्वः स बार्हतः। ककुप्पूर्वो यः स काकुभः। उभौ एतौ सतोबृहत्यन्तौ द्वृचौ प्रगाथौ भवतः ॥

उ० भा० अ० बृहतीपूर्व='बृहती' है पूर्व में जिस ('प्रगाथ')[क] के वह, बार्हतः='बार्हत'[ख] ('प्रगाथ') है। ककुप्पूर्वः='ककुप्' है पूर्व में जिसके वह, काकुभः='काकुभ'[ग] ('प्रगाथ') है। सतोबृहत्यन्तौ='सतोबृहती' में समाप्त होने वाले; एतौ=ये दोनो, प्रगाथौ='प्रगाथ'; द्वृचौ भवतः=दो-दो ऋचाओं वाले होते है।

त्वमङ्ग प्र प्र वो यह्वं मा चिद् बृहदु गायिषे ।
बार्हताः काकुभानाहुस्तं गूर्धय वयमिति ॥२॥

सू० अ०—"त्वमङ्ग प्र", "प्र वो यह्वम्", "मा चित्" और "बृहदु गायिषे"—(इनसे प्रारम्भ होने वाले 'प्रगाथ') 'बार्हत' हैं। "तं गूर्धय" और "वयमु" (से) प्रारम्भ होने वाले प्रगाथों) को 'काकुभ' कहते हैं।

उ० भा०—त इमे बार्हताः प्रगाथाः - "त्वमङ्ग प्र शंसिषः"[१], "प्र वो यह्वं पुरूणाम्"[२], "मा चिदन्यद्वि शंसत"[३]; "बृहदु गायिषे वचः।"[४]

टि० (क) 'प्रगाथ' शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में किया गया है—(१) कारणविशेष से दो ऋचाओं के अंशविशेषों की पुनरावृत्ति करके उनकी तीन ऋचायें बनाई जाती है। तब इस प्रग्रथन के लिए 'प्रगाथ' शब्द का प्रयोग सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थो में बहुलता से मिलता है, (२) जब दो या तीन छन्दो का समुदाय बनाया जाता है, तब उस छन्द-समुदाय के लिए 'प्रगाथ' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी अर्थ में षड्गुरुशिष्य ने ऋ० सर्वा० की वृत्ति में कहा है—"प्रागाथ्यते समेल्यते छन्दसा छन्द इति प्रगाथ।" प्रस्तुत पटल में 'प्रगाथ' को द्वितीय अर्थ (छन्द-समुदाय) में लिया गया है।

(ख) बार्हत=बृहती+सतोबृहती=(८+८+१२+८)+(१२+८+१२+८)=७६

(ग) काकुभ=ककुप्+सतोबृहती=(८+१२+८)+(१२+८+१२+८)=६८

[१] ऋ० ११८४।१९-२० [२] ऋ० १।३६।१-२ [३] ऋ० ८।१।१-२
[४] ऋ० ७।९६।१-२

काकुभानाहुः—"तं गूर्धया स्वर्णरम्"[1], "वयमु त्वामपूर्व्य"[2] इति ॥

उ० भा० अ० —वे; बार्हताः='बार्हत'; 'प्रगाथ,' ये हैं—"त्वमङ्ग प्र शंसिष"[क], "प्र वो यह्वं पुरूणाम्"[ख], "मा चिदन्यद्वि शंसत"[ग], "बृहदु गायिषे वच ॥"[घ]

काकुभानाहुः=(इन प्रगाथों को) 'काकुभ' कहते हैं—"तं गूर्धया स्वर्णरम्"[ङ], "वयमु त्वामपूर्व्य ।"[च]

अनुष्टुब् द्वे च गायत्र्यावेष आनुष्टुभः स्मृतः ।
विराजावभिसंपन्नः पद्याक्षर्ये स उत्थितः ॥३॥

सू० अ०—एक 'अनुष्टुप्' और दो 'गायत्री'—इनसे 'आनुष्टुभ' ('प्रगाथ') बनता है। पादों और अक्षरों दोनों दृष्टियों से दो विराजों के (बराबर) बना हुआ "सः ··" (यह 'प्रगाथ') उच्च (उत्थित) है।

उ० भा०—एका अनुष्टुब् द्वे च गायत्र्यावेष प्रगाथ आनुष्टुभः स्मृतः। विराजौ द्वे अभिसंपन्नः। (पद्याक्षर्ये=) पद्या चाक्षर्या च=पादैरक्षरैश्च इत्यर्थः। वश पादाः

टि० (क) त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥
मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥

(ख) प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते ॥
जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते ।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य ॥

(ग) मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥
अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥

(घ) बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम् ।
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी ॥
उभे यत् ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः ।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् ॥

(ङ) तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे । देवत्रा हव्यमोहिरे ॥
विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीळिष्व यन्तुरम् ।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥

(च) वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः । वाजे चित्रं हवामहे ॥
उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥

[1] ऋ० ८।१९।१-२ [2] ऋ० ८।२१।१-२

सैका विराट् । अशीतिरक्षराणि स्वक्षर्या । स इति प्रतीकम् । "स पूर्व्यो महानाम्"[१] इति । उत्थित इति प्रशंसा कृता । अन्ये प्रगाथाः षड्भिः सप्तभिरष्टाभिर्वा पादैर्भवन्ति । अयं तु दशभिः । तस्मादुत्थित इति प्रशस्यते ॥

उ० भा० अ०—अनुष्टुब् द्वे च गायत्र्यौ=एक 'अनुष्टुप्' और दो 'गायत्री', एषः=यह 'प्रगाथ'; आनुष्टुभः स्मृतः='आनुष्टुभ'[क] माना गया है (अर्थात् इसमें तीन ऋचायें होती हैं—प्रथम 'अनुष्टुप्' छन्दः की और बाद वाली दो 'गायत्री' छन्द की)। (पद्याक्षर्ये=) पादों और अक्षरों के अनुरूप=पादों (की दृष्टि) से और अक्षरों (की दृष्टि) से—यह अर्थ है। विराजौ अभिसंपन्नः=दो विराजों (विराटों) के बराबर बना हुआ। (इस 'प्रगाथ' में) दस पाद (होते हैं); वह एक 'विराट्' है।[ख] (इस 'प्रगाथ' में) ८० 'अक्षर' होते है, अक्षरो (की दृष्टि) से (ये दो 'विराट्' हो गये हैं)।[ग] सः—यह (उदाहरण का) प्रतीक है—"स पूर्व्यो महानाम्।"[घ] उत्थितः=उच्च यह (कहकर इस 'प्रगाथ' की) प्रशसा की गई है। दूसरे 'प्रगाथ' छ, सात अथवा आठ पादों से (समन्वित) होते हैं। यह तो दस (पादों) से (समन्वित है)। इसलिए उच्च (उत्थित) (कहकर इस 'प्रगाथ' की) प्रशंसा की गई है।

आकृतिर्व्यपदेशानां प्राय आदित आदितः ॥४॥

सू० अ०—(प्रगाथों के) नामों की आकृति प्रायः आदि के (छन्दः पर आधृत होती है)।

उ० भा० –आदितः; (प्रायः=) प्रायेण; (व्यपदेशानामाकृतिः=) प्रगाथः क्रियते=व्यपदिश्यते—बार्हतः काकुभ आनुष्टुभ इति। तेषामादितो यच्छन्दस्तेनैव व्यपदेशः कृतो द्रष्टव्यः। नोभाभ्यां यथा गायत्रबार्हत इति ॥

उ० भा० अ०—आदितः=आदि के (छन्द के) आधार पर; (प्रायः=)प्रायण; (व्यपदेशानामाकृतिः=प्रगाथो के नामो की आकृति=) 'प्रगाथ' किया जाता है=

टि० (क) आनुष्टुभ=अनुष्टुप्+गायत्री+गायत्री=
(८+८+८+८)+(८+८+८)+(८+८+८)=८०

(ख) 'विराट्' छन्द के एक पाद में १० 'अक्षर' होते है। अत दस संख्या 'विराट्' की प्रतीक मानी जाती है। दस पाद होने के कारण 'आनुष्टुभ प्रगाथ' 'विराट्' का प्रतीक हुआ।

(ग) 'आनुष्टुभ प्रगाथ' में ८० 'अक्षर' होते है। 'विराट्' छन्द मे ४० 'अक्षर' होते है। अत एक 'आनुष्टुभ प्रगाथ'=दो 'विराट्'।

(घ) स पूर्व्यो महाना वेन ऋतुभिरानजे।
यस्य द्वारा मनुष्पिता देवेषु धिय आनजे ॥
दिवो मान नोत्सदन् त्सोमपृष्ठासो अद्रय। उक्था ब्रह्म च शस्या ॥
स विद्वाँ अङ्गिरोभ्य इन्द्रो गा अवृणोदप। स्तुषे तदस्य पौंस्यम् ॥

---

[१] ऋ० ८।६३।१-३

('प्रगाथ' का) नामकरण किया जाता है। (जैसे)—'बार्हत', 'काकुभ' और 'आनुष्टुभ'। उनके (=प्रगाथों के) आदि में जो छन्द है उसी से (प्रगाथों का) नामकरण किया गया है—यह समझना चाहिये। (प्राय) दोनो (छन्दो) से नहीं (किया जाता है) जैसे—'गायत्रबार्हत' (में दोनो छन्दो के आधार पर नामकरण किया गया है)।[क]

गायत्र्यादिस्तु बार्हते प्रायो गायत्रबार्हतः ॥५॥

सू० अ०—किंतु 'गायत्री' है आदि में जिसके और 'बृहती' है अन्त में जिसके वह ('प्रगाथ') प्रायः 'गायत्रबार्हत' (कहलाता है)।

उ० भा०—(गायत्र्यादिः बार्हते=) गायत्र्यादिबृहत्यन्तः; एव प्रगाथः प्रायो गायत्रबार्हतः इत्युच्यते। यथा—"तमिन्द्र दानमीमहे"[1] इति ॥

उ० भा० अ० –(गायत्र्यादिः बार्हते) 'गायत्री' है आदि मे जिसके और 'बृहती' है अन्त में जिसके, वह 'प्रगाथ' प्रायः गायत्रबार्हत[ख] कहलाता है। जैसे—"तमिन्द्र दानमीमहे।"[ग]

गायत्रकाकुभो नाम प्रायो भवति काकुभे ॥६॥

सू० अ०—('गायत्री' पूर्व में होने पर और) 'ककुप' बाद में होने पर प्रायः 'गायत्रकाकुभ' नामक 'प्रगाथ' होता है।

उ० भा०—गायत्र्यादिः; (काकुभे=) ककुबन्तः; प्रगाथो गायत्रकाकुभो नाम (भवति=) वेदितव्यः। यथा—"सुनीथो घा स मर्त्यः"[2] इति ॥

उ० भा० अ०—'गायत्री' है आदि में जिसके (और), (काकुभे=) 'ककुप्' है अन्त में जिसके, (उस) 'प्रगाथ' को, गायत्रकाकुभो नाम='गायत्रकाकुभ'[घ] नामक, (भवति=होता है=) जानना चाहिये। जैसे—"सुनीथो घा स मर्त्यः।"[ङ]

टि० (क) प्रगाथो का नामकरण तीन प्रकार से हुआ है–(१) मुख्यत 'प्रगाथ' के प्रथम छन्द के अनुसार—जैसे –'बार्हत'='बृहती'+'सतोबृहती', 'काकुभ'='ककुप्'+'सतोबृहती'। (२) 'प्रगाथ' के अन्तिम छन्द के अनुसार—जैसे—"विपरीतान्त'='बृहती'+'विपरीता', (दे० १८।१५)। (३) 'प्रगाथ' के दोनों छन्दो के अनुसार—जैसे—गायत्रबार्हत='गायत्री'+'बृहती', पाङ्क्तकाकुभः= पङ्क्ति'+'ककुप्', (दे० १८।५ तथा १८।८)।

(ख) गायत्रबार्हत=गायत्री+बृहती=(८+८+८)+(८+८+१२+८)=६०

(ग) तमिन्द्रं दानमीमहे शवमानमभीर्वम्। ईशान राय ईमहे ॥
तस्मिन् हि सन्त्यूतयो विश्वा अभीरव सचा।
तमा वहन्तु सप्तय पुरूवसु मदाय हरय सुतम् ॥

(घ) गायत्रकाकुभ=गायत्री+ककुप् (८+८+८)+(८+१२+८)=५२

(ङ) सुनीथो घा स मर्त्यो य मरुतो यमर्यमा। मित्र पान्त्यद्रुह ॥
दधानो गोमदश्ववत् सुवीर्यमादित्यजूत एधते। सदा राया पुरुस्पृहा ॥

[1] ऋ० ८।४६।६-७ [2] ऋ० ८।४६।४-५

औष्णिहस्तूष्णिहापूर्वः ॥७॥

सू० अ०—'उष्णिक्' ('उष्णिह्') पूर्व में हो (और' सतोबृहती' अन्त में हो) तो वह 'औष्णिह' ('प्रगाथ') (कहलाता है)।

उ० भा०—उष्णिहापूर्वः सतोबृहत्यन्तः प्रगाथ औष्णिह इत्युच्यते। यथा "यमादित्यासो अद्रुहः"[१] इति ॥

उ० भा० अ०—उष्णिहापूर्वः='उष्णिक्' ('उष्णिह्') पूर्व में हो (और) 'सतोबृहती' अन्त में हो तो वह 'प्रगाथ' औष्णिह[क] कहलाता है। जैसे—'यमादित्यासो अद्रुह।"[ख]

पङ्क्त्यन्तः पाङ्क्तकाकुभः ॥८॥

सू० अ०—('ककुप्' पूर्व में हो और) 'पङ्क्ति' अन्त में हो तो (वह प्रगाथ') 'पाङ्क्तकाकुभ' (कहलाता है)।

उ० भा०—पङ्क्त्यन्तः ककुप्पूर्वः पाङ्क्तकाकुभो नाम वेदितव्यः। यथा—"अदान्मे पौरुकुत्स्यः"[२] इति ॥

उ० भा० अ०—पङ्क्त्यन्तः='पङक्ति' है अन्त में जिसके (और); 'ककुप्' है पूर्व में जिसके (उस 'प्रगाथ' को) पाङ्क्तकाकुभ[ग] नामक जानना चाहिये। जैसे—"अदान्मे पौरुकुत्स्य।"[घ]

तमिन्द्रं च सुनीथश्च यमादित्यास एव च।
अदान्मे पौरुकुत्स्यश्च ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥९॥

सू० अ०—"तमिन्द्रम्...", "सुनीथः...", "यमादित्यासः..." और "अदान्मे पौरुकुत्स्यः..."—ये ऋचायें यहाँ (अर्थात् १८।५-८ मे विहित प्रगाथों के) उदाहरण हैं।

उ० भा०—पुरस्तादेव निदर्शनान्युक्तानि ॥

उ० भा० अ० –उदाहरण पहले ही (=१८।५-८ के भाष्य में) कहे जा चुके हैं।

टि० (क) औष्णिह=उष्णिक्+सतोबृहती=(८+८+१२)+(१२+८+१२+८)=६८

(ख) यमादित्यासो अद्रुह पार नयथ मर्त्यम्। मघोना विश्वेषा सुदानव ॥
यूय राजान क चिच्चर्षणीसह क्षयन्त मानुषा अनु।
वय ते वो वरुण मित्रार्यमन् स्यामेदृतस्य रथ्य ॥

(ग) पाङ्क्तकाकुभ=ककुप्+पङक्ति=(८+१२+८)+(८+८+८+८+८)=६८

(घ) अदान्मे पौरुकुत्स्य पञ्चाशत त्रसदस्युर्वधूनाम्। मंहिष्ठो अर्य सत्पति ॥
उत मे प्रयियोर्वयियो सुवास्त्वा अधि तुग्वनि।
तिसृणा सप्ततीना श्याव प्रणेता भुवद् वसुर्दियाना पति ॥

---

[१] ऋ० ८।१९।३४-३५ [२] ऋ० ८।१९।३६-३७

महासतोबृहत्यन्तो यो महाबृहतीमुखः।
स महाबार्हतो नाम ॥१०॥

सू० अ०—'महासतोबृहती' है अन्त मे जिसके और 'महाबृहती' है प्रारम्भ में जिसके वह ('प्रगाथ') 'महाबार्हत' नामक है।

उ० भा०—महासतोबृहत्यन्तो महाबृहतीमुखो यः=प्रगाथः स महाबार्हतो नाम वेदितव्य । यथा—"बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः"[1] इति ॥

उ० भा० अ० महासतोबृहत्यन्तो महाबृहतीमुखो यः 'महासतोबृहती' है अन्त में जिसके और 'महाबृहती' है प्रारम्भ में जिसके; स महाबार्हतो नाम=उसे 'महाबार्हत'[क] नामक, 'प्रगाथ' जानना चाहिये । जैसे—"बृहद्भिरग्ने अर्चिभि ।"[ख]

बार्हतो बृहतीमुखः ॥११॥

सू० अ०—'बृहती' है आदि में जिसके (और 'जगती' है अन्त में जिसके वह 'प्रगाथ') 'बार्हत' (कहलाता है)।

उ० भा०—बृहतीमुखो जगत्यन्तो यः प्रगाथः स बार्हत इत्युच्यते । यथा—"तं व शर्धं रथेशुभम्"[2] इति ॥

उ० भा० अ० -बृहतीमुखः='बृहती' है आदि में जिसके (और); 'जगती' है अन्त में जिसके वह 'प्रगाथ' बार्हत[ग] कहलाता है। जैसे -"त व शर्धं रथेशुभम् ।"[घ]

टि० (क) महाबार्हत=महाबृहती+महासतोबृहती=(८+८+१२+८+८)+(१२+८+१२+८+८)=९२

(ख) बृहद्भिरग्ने अर्चिभि- शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठय रेवन्न. शुक्र दीदिहि द्युमत् पावक दीदिहि ॥
विश्वासा गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम् ।
शत पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यहस. समेद्धार शत हिमा स्तोतृभ्यो ये च ददति ॥

(ग) बार्हत=बृहती+जगती=(८+८+१२+८)+(१२+१२+१२+१२)=८४

(घ) त व शर्धं रथेशुभ त्वेष पनस्युमा हुवे ।
यस्मिन् त्सुजाता सुभगा महीयते सचा मरुत्सु मीळ्हुषी ॥
आ रुद्रास इन्द्रवन्त सजोषसो हिरण्यरथा सुविताय गन्तन ।
इय वो अस्मत् प्रति हर्यते मति—स्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥

इस 'प्रगाथ' की प्रथम ऋचा ५।५६ की अन्तिम ऋचा है और द्वितीय ऋचा ५।५७ की प्रथम ऋचा है। इस प्रकार दो सूक्तों की अन्तिम और आदि ऋचाओं के मिलने से यह 'प्रगाथ' बना है।

[1] ऋ० ६।४८।७-८ [2] ऋ० ५।५६।९—५।५७।१

अथो अतिजगत्यन्तः ॥१२॥

सू० अ०—'अतिजगती' है अन्त में जिसके (और 'बृहती' है आदि में जिसके वह 'प्रगाथ') भी ('बार्हत' कहलाता है)।

उ० भा०—(अथो=) अपि च; अतिजगत्यन्तो बृहतीमुखो यः प्रगाथः स च बार्हत एव। यथा—"नेमिं नमन्ति चक्षसा"[1] इति॥

उ० भा० अ०—अतिजगत्यन्तः='अतिजगती' है अन्त में जिसके (और); 'बृहती' है आदि में जिसके वह 'प्रगाथ'; (अथो=) भी, 'बार्हत'[क] ही है। जैसे—"नेमिं नमन्ति चक्षसा।"[ख]

यवमध्योत्तरोऽपि च ॥१३॥

सू० अ०—यदि 'यवमध्या' बाद में हो (और 'बृहती' प्रारम्भ में हो) तो भी (वह 'प्रगाथ' 'बार्हत' ही है)।

उ० भा०—यवमध्योत्तरो बृहतीमुखो यः प्रगाथः स च बार्हतः। यथा—"वामी वामस्य धूतयः"[2] इति॥

उ० भा० अ०—यवमध्योत्तरः='यवमध्या' है बाद में जिसके (और); 'बृहती' है प्रारम्भ में जिसके वह 'प्रगाथ', च=भी; 'बार्हत'[ग] है। जैसे—"वामी वामस्य धूतयः।"[घ]

बृहद्भिस्तं वो नेमिं च वामी वामस्य ता ऋचः ॥१४॥

सू० अ०—"बृहद्भिः....", "तं वः...", "नेमिम् " और "वामी वामस्य...."—ये ऋचायें (१८।१०-१३ के उदाहरण हैं)।

उ० भा०—पुरस्तादेवोदाहृताः॥

टि० (क) बार्हत = बृहती+अतिजगती = (८+८+१२+८) + (१२+१२+१२+८+८)=८८

(ख) नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः॥
तमिन्द्र जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री॥

(ग) बार्हत=बृहती+यवमध्या (त्रिष्टुप्)=(८+८+१२+८)+(८+८+१२+८+८)=८०

(घ) वामी वामस्य धूतयः प्रणीतिरस्तु सूनृता।
देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य वेजानस्य प्रयज्यवः॥
सद्यश्चिद् यस्य चर्कृतिः परि द्यां देवो नैति सूर्यः।
त्वेषं शवो दधिरे नाम यज्ञियं मरुतो वृत्रहं शवो ज्येष्ठं वृत्रहं शवः॥

---

[1] ऋ० ८।९७।१२-१३।

[2] ऋ० ६।४८।२०-२१

उ० भा० अ०—(उदाहरण) पहले ही (=१८।१०-१३ के भाष्य में) कहे जा चुके हैं।

नहि ते विपरीतान्तः ॥१५॥

सू० अ०—"नहि ते ··" (यह 'प्रगाथ') 'विपरीतान्त' (नामक है)।

उ० भा०—"नहि ते शूर राधसः"[1] इत्ययं प्रगाथो विपरीतान्तो बृहतीमुखो विपरीतान्तो नाम वेदितव्यः॥

उ० भा० अ०—"नहि ते शूर राधस"[क]—यह 'प्रगाथ' 'विपरीता' में समाप्त होता है और 'बृहती' से प्रारम्भ होता है। इसे विपरीतान्त[ख] नामक जानना चाहिये।

मो षु त्वा द्विपदाधिकः ॥१६॥

सू० अ०—"मो षु त्वा" (यह 'प्रगाथ') एक 'द्विपदा' से अधिक है।

उ० भा०—"मो षु त्वा वाघतश्चन"[2] इति प्राकृत एव प्रगाथो द्विपदाधिको वेदितव्यः। "रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणम्"[3] इत्येतया सहितो द्रष्टव्यः॥

उ० भा० अ०—"मो षु त्वा वाघतश्चन"[ग]—इस प्राकृत (='विपरीतान्त') ही 'प्रगाथ'[ख] को, द्विपदाधिकः=एक 'द्विपदा' से अधिक जानना चाहिए। "रायस्कामो वज्रहस्त सुदक्षिणम्"[घ]—इस (द्विपदा) के सहित (इस 'प्रगाथ' को) समझना चाहिए।

अनुष्टुब्जगती चैव विश्वेषामिरज्यन्तं च ॥१७॥

सू० अ०—"विश्वेषामिरज्यन्तम्"—यह ('प्रगाथ') 'अनुष्टुप्' और 'जगती' से बना है।

टि० (क) नहि ते शूर राधसो ऽन्त विन्दामि सत्रा।
दशस्या नो मघवन्नू चिदद्रिवो धियो वाजेभिराविथ॥
य ऋष्व श्रावयत्सखा विश्वेत् स वेद जनिमा पुरुष्टुत.।
त विश्वे मानुषा युगे—न्द्रं हवन्ते तविष यतस्रुच॥

(ख) विपरीतान्त=बृहती+विपरीता=(८+८+१२+८)+
(८+१२+८+१२)=७६

(ग) मो षु त्वा वाघतश्चना—ऽऽरे अस्मिन्न रीरमन्।
आरात्ताच्चित्सधमाद न आगही—ह वा सन्नुप।
इमे हि ते ब्रह्मकृत सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे काम जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधु॥
रायस्कामो वज्रहस्त सुदक्षिण पुत्रो न पितर हुवे॥

(घ) बृहती+विपरीता+द्विपदा=(८+८+१२+८)+(८+१२+८+१२)
+(१२+८)=९६

---

[1] ऋ० ८।४६।११-१२ [2] ऋ० ७।३२।१-३ [3] ऋ० ७।३२।३

उ० भा०—"विश्वेषामिरज्यन्तं वसूनाम्"[१] इत्ययं प्रगाथः; (अनुष्टुब्जगती=) अनुष्टुप्पूर्वो जगत्यन्तः; वेदितव्यः ॥

उ० भा० अ०—"विश्वेषामिरज्यन्तं वसूनाम्"[क]—इस 'प्रगाथ' को; (अनुष्टुब्जगती=) 'अनुष्टुप्' से प्रारम्भ होने वाला और 'जगती' में समाप्त होने वाला; जानना चाहिए ।[ख]

द्विपदा बृहती चैव स नो वाजेष्विति स्मृतः ॥१८॥

सू० अ०—"स नो वाजेषु"—यह ('प्रगाथ') 'द्विपदा' और 'बृहती' से बना हुआ माना जाता है ।

उ० भा० —"स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः"[२] इत्यय प्रगाथः; (द्विपदा बृहती चैव=) द्विपदापूर्वो बृहत्युत्तरः; स्मृतः ॥

उ० भा० अ०—"स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः"[ग]—इस 'प्रगाथ' को; (द्विपदा बृहती चैव=) 'द्विपदा' से प्रारम्भ होने वाला और 'बृहती' में अन्त होने वाला, माना गया है ।[घ]

ककुप्पूर्वस्तु को वेद स्मृतः काकुभबार्हतः ॥१९॥

सू० अ०—'ककुप्' है पूर्व में जिसके ऐसे "को वेद" (इस 'प्रगाथ' को) 'काकुभबार्हत' माना जाता है ।

उ० भा०—ककुप्पूर्वो बृहत्यन्तः काकुभबार्हतो नामायं प्रगाथः स्मृतः । यथा—"को वेद जानमेषाम्"[३] इति ॥

उ० भा० अ०—ककुप्पूर्वः='ककुप्' है पूर्व में जिसके (और) 'बृहती' है अन्त में

टि० (क) विश्वेषामिरज्यन्तं वसूनां सासह्वांसम् ।
चिदस्य वर्पसः कृपयतो नूनमत्यथ ॥
महु षु वो अरमिषे स्तवामहे मीळ्हुषे अरंगमाय जग्मये ।
यज्ञेभिर्गीर्भिर्विश्वमनुषां मरुतामियक्षसि गाये त्वा नमसा गिरा ॥

(ख) अनुष्टुप्पूर्व-जगत्यन्त = अनुष्टुप् + जगती = (८+८+८+८)+(१२+१२+१२+१२)=८०

(ग) स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरःस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत् ।
अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम् ।
इन्द्रं नाम श्रुत्य शाकिनं वचो यथा ।

(घ) द्विपदापूर्व-बृहत्युत्तर = (१२+१२)+(१३+८+१३) (पिपीलिकमध्या बृहती)=५८

[१] ऋ० ८।४६।१६-१७ [२] ऋ० ८।४६।१३-१४ [३] ऋ० ५।५३।१-२

जिसके ऐसे 'प्रगाथ' को; काकुभवार्हतः स्मृतः='काकुभवार्हत'[क] नामक माना गया है। जैसे—"को वेद जानमेषाम्।"[ख]

आनुष्टुभौष्णिहं विद्यात्ते म आहुर्य आययुः ॥२०॥

सू० अ०— "ते म आहुर्य आययुः"—इस ('प्रगाथ') को 'आनुष्टुभौष्णिह' जानना चाहिए।

उ० भा० — "ते म आहुर्य आययुः"[१] इत्ययं प्रगाथः। तम् आनुष्टुभौष्णिहं विद्यात्। अनुष्टुप्पूर्वा अपरोष्णिगिति॥

उ० भा० अ०—"ते म आहुर्य आययुः"[ग]—यह 'प्रगाथ' है। इसको, आनुष्टुभौष्णिहं विद्यात्='आनुष्टुभौष्णिह'[घ] (नामक) जानना चाहिए। (इस 'प्रगाथ' में) पहली (ऋचा) 'अनुष्टुप्' है और बाद वाली (ऋचा) 'उष्णिक्' है।

ते नस्त्राध्वं बृहत्यादिर्बार्हतानुष्टुभः स्मृतः ॥२१॥

सू० अ०—'बृहती' है पूर्व में जिसके ऐसे "ते नस्त्राध्वम्"—इस ('प्रगाथ') को 'बार्हतानुष्टुभ' माना गया है।

उ० भा० —"ते नस्त्राध्वं तेऽवत"[२] इत्ययं प्रगाथो बृहत्यादिः अनुष्टुबन्तो बार्हतानुष्टुभः स्मृतः॥

उ० भा० अ०—बृहत्यादिः='बृहती' है आदि में जिसके (और) 'अनुष्टुप्' है अन्त में जिसके ऐसा "ते नस्त्राध्वं तेऽवत"[ङ]—यह 'प्रगाथ', बार्हतानुष्टुभः स्मृतः='बार्हतानुष्टुभ'[च] माना गया है।

टि० (क) काकुभवार्हत=ककुप्+बृहती=(८+१२+८)+(८+८+१२+८)=६४

(ख) को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम्।
यद् युयुज्रे किलास्यः।
ऐतान् रथेषु तस्थुषः कः शुश्राव कथा ययुः।
कस्मै सस्रुः सुदासे अन्वापय इळाभिर्वृष्टयः सह॥

(ग) ते म आहुर्य आययु—रुप द्युभिर्विभिर्मदे।
नरो मर्या अरेपस इमान् पश्यन्निति ष्टुहि॥
ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु।
श्राया रथेषु धन्वसु॥

(घ) आनुष्टुभौष्णिह=अनुष्टुप्+उष्णिक्=
(८+८+८+८)+(१२+८+८) (पुरउष्णिक्)=६०

(ङ) ते नस्त्राध्वं तेऽवत त उ नो अधि वोचत।
मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः॥
ये देवास इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत।
अस्मभ्यं शर्म सप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत॥

(च) बार्हतानुष्टुभ=बृहती+अनुष्टुप्=(८+८+१२+८)+(८+८+८+८)
=६८

१ ऋ० ५।५३।३-४

२ ऋ० ८।३०।३-४

अग्नि वः पूर्व्यमित्येषोऽनुष्टुप्पङ्क्तिरेव च ॥२२॥

सू० अ०—"अग्नि वः पूर्व्यम्"—यह 'अनुष्टुप्' और 'पङ्क्ति' से बना है।

उ० भा०—"अग्निं वः पूर्व्यं गिरा"[1] इति प्रगाथः; (अनुष्टुप्पङ्क्तिरेव च=) अनुष्टुप्पूर्वः पङ्क्त्यन्तः; आनुष्टुभपाङ्क्त इति स्मृतः ॥

उ० भा० अ०—(अनुष्टुप्पङ्क्तिरेव च=) 'अनुष्टुप्' है पूर्व में जिसके और 'पङ्क्ति' है अन्त में जिसके ऐसा "अग्निं वः पूर्व्यं गिरा"[क]—यह 'प्रगाथ' 'आनुष्टुभपाङ्क्त'[ख] माना गया है।

यद्‌ध्रिगावो अध्रिगू ककुप् च त्रिष्टुबेव च ॥२३॥

सू० अ०—"यद्‌ध्रिगावो अध्रिगू"—यह ('प्रगाथ') 'ककुप्' और 'त्रिष्टुप्' से बना है।

उ० भा०—"यद्‌ध्रिगावो अध्रिगू"[2] इत्येष प्रगाथः, (ककुप् च त्रिष्टुबेव च=) ककुप्पूर्वस्त्रिष्टुबन्तः; काकुभत्रैष्टुभ इति स्मृत. ॥

उ० भा० अ०—(ककुप् च त्रिष्टुबेव च=) 'ककुप्' है पूर्व में जिसके और 'त्रिष्टुप्' है अन्त में जिसके ऐसा, "यद्‌ध्रिगावो अध्रिगू"[ग]—यह 'प्रगाथ' 'काकुभत्रैष्टुभ'[घ] माना गया है।

यद्य वामनुष्टुप्च त्रिष्टुप्चैवोपदिश्यते ॥२४॥

सू० अ०—"यद्य वाम्"—यह ('प्रगाथ') 'अनुष्टुप्' और 'त्रिष्टुप्' से बना हुआ उपदिष्ट किया जाता है।

उ० भा०—"यद्य वां नासत्या"[3] इत्ययं प्रगाथः; (अनुष्टुप्च त्रिष्टुप्चैव=) अनुष्टुप्पूर्वस्त्रिष्टुबुत्तरः; आनुष्टुभत्रैष्टुभ इति उपदिश्यते ॥

टि० (क) अग्नि व पूर्व्यं गिरा देवमीळे वसूनाम्।
सपर्यन्त पुरुप्रिय मित्र न क्षेत्रसाधसम् ॥
मक्षू देववतो रथ शूरो वा पृत्सु कासु चित्।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्ष—त्यभीदयज्वनो भुवत् ॥

(ख) आनुष्टुभपाङ्क्त=अनुष्टुप्+पङ्क्ति=
(८+८+८+८)+(८+८+८+८+८)=७२

(ग) यदध्रिगावो अध्रिगू इदा चिदह्नो अश्विना हवामहे। वयं गीर्भिर्विपन्यव ॥
ताभिरा यातं वृषणोप मे हव विश्वप्सु विश्ववार्यम्।
इषा मंहिष्ठा पुरुभूतमा नरा याभि क्रिविं वावृधुस्ताभिरा गतम् ॥

(घ) काकुभत्रैष्टुभ=ककुप्+त्रिष्टुप्=(८+१२+८)+(११+११+१२+१२)
=७४

---

[1] ऋ० ८।३१।१४-१५ [2] ऋ० ८।२२।११-१२ [3] ऋ० ८।९।९-१०

उ० भा० अ०—(अनुष्टुप्च त्रिष्टुप्चैव=) 'अनुष्टुप्' है पूर्व में जिसके और 'त्रिष्टुप्' है बाद मे जिसके ऐसा "यद्द्य वां नासत्या"[क]—यह 'प्रगाथ' 'आनुष्टुभत्रैष्टुभ'[ख]; उपदिश्यते=उपदिष्ट किया जाता है।

यत्स्थो दीर्घेति च त्वेष बृहती त्रिष्टुबेव च ॥२५॥

सू० अ०—"यत्स्थो दीर्घ…"—यह ('प्रगाथ') तो 'बृहती' और 'त्रिष्टुप्' से बना है।

उ० भा०—"यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि"[1] इत्येष प्रगाथः; (बृहती त्रिष्टुबेव च=) बृहतीपूर्वस्त्रिष्टुबुत्तरः; बार्हतत्रैष्टुभ इत्युच्यते ॥

उ० भा० अ०—(बृहती त्रिष्टुबेव च=) 'बृहती' है पूर्व में जिसके और 'त्रिष्टुप्' है बाद में जिसके ऐसा; "यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि"[ग]—इत्येषः=यह, 'प्रगाथ' 'बार्हतत्रैष्टुभ'[घ] कहा जाता है।

आ यन्मा वेनास्त्रिष्टुप्च जगती चोपदिश्यते ॥२६॥

सू० अ०—"आ यन्मा वेनाः"—यह ('प्रगाथ') 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' से बना हुआ उपदिष्ट किया जाता है।

उ० भा०—"आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्य"[2] इत्ययं प्रगाथः; (त्रिष्टुप्च जगती च=) त्रिष्टुप्पूर्वो जगत्युत्तरः त्रैष्टुभजागत इति उपदिश्यते ॥

उ० भा० अ०—(त्रिष्टुप्च जगती च=) 'त्रिष्टुप्' है पूर्व में जिसके और 'जगती'

टि० (क) यदद्य वां नासत्यो—क्थैराचुच्युवीमहि।
यद् वा वाणीभिरश्विने—वेत् काण्वस्य बोधतम् ॥
यद् वा कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद् वा दीर्घतमा जुहाव।
पृथी यद् वा वैन्य सादनेष्वे—वेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥

(ख) आनुष्टुभत्रैष्टुभ=अनुष्टुप्+त्रिष्टुप्=(८+८+८+८)+(११+११+११+११)=७६

(ग) यत् स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद् वादो रोचने दिव।
यद् वा समुद्रे अध्याकृते गृहे ऽत आ यातमश्विना ॥
यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथु—रेवेत् काण्वस्य बोधतम्।
बृहस्पतिं विश्वान् देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा ॥

(घ) बार्हतत्रैष्टुभ=बृहती+त्रिष्टुप्=(८+८+१२+८)+(१२+१०+१२+१२)=८२

[1] ऋ० ८।१०।१-२

[2] ऋ० ८।१००।५-६

है बाद में जिसके ऐसा "आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्य"[क] यह 'प्रगाथ' त्रैष्टुभजागत'[ख]; उपदिश्यते=उपदिष्ट किया जाता है।

ता बृधन्तावनुष्टुप्च महासतोमुखैव च ॥२७॥

सू० अ०—"ता वृधन्तौ…"—यह ('प्रगाथ') 'अनुष्टुप्' और 'महासतोमुख' से बना है।

उ० भा०—महासतोमुखेति विराट्पूर्वा त्रिष्टुबुच्यते। "ता वृधन्तावनु द्यून्"[१] इत्ययं प्रगाथः; (अनुष्टुप्च महासतोमुखैव च=) अनुष्टुप्पूर्वस्त्रिष्टुबुत्तरः; आनुष्टुभ त्रैष्टुभ इत्युपदिश्यते ॥

उ० भा० अ०—'विराट्पूर्वा त्रिष्टुप्' को 'महासतोमुख' कहा जाता है। (अनुष्टुप्च महासतोमुखैव च=) 'अनुष्टुप्' है पूर्व में जिसके और 'त्रिष्टुप्' है बाद में जिसके ऐसा "ता वृधन्तावनु द्यून्"[ग]—यह 'प्रगाथ' 'आनुष्टुभत्रैष्टुभ'[घ] उपदिष्ट किया जाता है।

जागतस्त्वदद्दा अर्भा प्रगाथस्त्रिष्टुबुत्तरः ॥२८॥

सू० अ०—"अदद्दा अर्भास्"—यह ('प्रगाथ') 'त्रिष्टुबुत्तरजागत' (अथवा 'जागतत्रिष्टुबुत्तर' अथवा 'जागतत्रैष्टुभ') (कहलाता) है।

उ० भा०—"अदद्दा अर्भा महते वचस्यवे"[२] इति प्रगाथस्त्रिष्टुबुत्तरो जागत इत्युच्यते ॥

उ० भा० अ०—"अदद्दा अर्भा महते वचस्यवे"[ङ]—यह 'प्रगाथ' 'त्रिष्टुबुत्तरजागत' कहलाता है।

टि० (क) आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोच—दचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः ॥
विश्वेत् ता ते सवनेषु प्रवाच्या या चकर्थ मघवन्निन्द्र सुन्वते।
पारावतं यत् पुरुसंभृतं व—स्वपावृणोः शरभाय ऋषिबन्धवे ॥

(ख) त्रैष्टुभजागत=त्रिष्टुप्+जगती = (११+११+११+११)+(१२+१२+१२+१२)=९२

(ग) ता वृधन्तावनु द्यून् मर्ताय देवावदभा।
अर्हन्ता चित् पुरो दधे—ऽशेव देवावर्वते ॥
एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यं शूष्यं घृतं न पूतमद्रिभिः।
ता सूरिषु श्रवो बृहद् रयिं गृणत्सु दिधृत—मिषं गृणत्सु दिधृतम् ॥

(घ) आनुष्टुभत्रैष्टुभ=अनुष्टुप्+त्रिष्टुप् (विराट्पूर्वा) = (८+८+८+८)+(१०+१०+८+८+८)=७६

[१] ऋ० ५।८६।५-६ [२] ऋ० १।५१।-१३।१४

उत्तरस्त्रैष्टुभस्तस्माज्जगत्युत्तर उच्यते ॥२९॥

सू० अ०—इसके (१८।२८ में विहित 'प्रगाथ' के) बाद वाला ('प्रगाथ') 'जगत्युत्तरत्रैष्टुभ' (अथवा 'त्रैष्टुभजगत्युत्तर' अथवा 'त्रैष्टुभजागत') कहलाता है।

उ० भा०—तस्मादुत्तरः प्रगाथः—"इदं नमो वृषभाय स्वराजे"[१] इति जगत्युत्तरस्त्रैष्टुभ इति उच्यते ॥

उ० भा० अ०—तस्मादुत्तरः=इससे (=१८।२८ में विहित 'प्रगाथ' से) बाद वाला; 'प्रगाथ' "इद नमो वृषभाय स्वराजे"[क]—यह; जगत्युत्तरस्त्रैष्टुभ उच्यते='जगत्युत्तरत्रैष्टुभ'[ख] कहलाता है।

त्वमेताञ्जन च द्वौ द्वौ स घा राजेति च स्मृतौ ॥३०॥

सू० अ०—"त्वमेताञ्जन"[२] और "स घा राजा"[३]—ये दो-दो ('प्रगाथ') (१८।२८-२९ में विहित प्रगाथों की तरह) माने गये हैं।

उ० भा०—"त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दश"[२] इति द्वौ प्रगाथौ पूर्ववद् द्रष्टव्यौ। यथा—पूर्वो जागतस्त्रिष्टुबुत्तर इत्युच्यते। तस्मादुत्तरः प्रगाथः—"य उदृचीन्द्र देवगोपाः"[३] इति त्रैष्टुभजागत इत्युच्यते। उत्तरौ—"स घा राजा सत्पतिः शूशुवज्जनः"[४] इति च द्वौ प्रगाथौ स्मृतौ। पूर्वो जागतत्रैष्टुभः। "तुभ्येदेते बहुला अद्रिदुग्धाः"[५] इति त्रैष्टुभो जगत्युत्तरः ॥

(८७७ङ) अदर्दा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत् ता ते सवनेषु प्रवाच्या ॥
इन्द्रो अश्रायि सुध्यो निरेके पज्रेषु स्तोमो दुर्यो न यूप।
अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयु—रिन्द्र इन्द्राय क्षयति प्रयन्ता ॥
त्रिष्टुबुत्तरजागत=जगती+त्रिष्टुप्=(१२+१२+१२+१२)+(११+११+११+११)=९२

टि० (क) इद नमो वृषभाय स्वराजे सत्यशुष्माय तवसेऽवाचि।
अस्मिन्निन्द्र वृजने सर्ववीरा स्मत् सूरिभिस्तव शर्मन्त्स्याम ॥
त्य सु मेष महया स्वर्विद शत यस्य सुभ्व साकमीरते।
अत्य न वाज हवनस्यद रथ—मेन्द्र ववृत्यामवसे सुवृक्तिभि ॥

(ख) जगत्युत्तरत्रैष्टुभ=त्रिष्टुप्+जगती=(११+११+११+११)+(१२+१२+१२+१२)=९२

---

[१] ऋ० १।५१।१५ ॥ १।५२।१
[२] ऋ० १।५३।११ ॥ १।५४।१
[३] ऋ० १।५४।६-१०
[४] ऋ० १।५३।९-११ ॥ १।५४।१
[५] ऋ० १।५४।७-१०

उ० भा० अ०—"त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दश"क—इन; द्वौ=दो प्रगाथों को पूर्व की तरह (अर्थात् १८।२८-२९ में विहित 'जागतत्रिष्टुबुत्तर' और 'त्रैष्टुभजगत्युत्तर' की तरह) समझना चाहिए। जैसे—पहले वाला ('प्रगाथ') 'जागतत्रिष्टुबुत्तर' कहा जाता है। उसके बाद वाला—"य उदृचीन्द्र देवगोपा"—यह 'प्रगाथ' 'त्रैष्टुभजागत' ('त्रैष्टुभजगत्युत्तर') कहा जाता है। बाद वाले "स घा राजा सत्पति शूशुवज्जन."ख—ये; द्वौ=दो; 'प्रगाथ' (१८।२८-२९ में विहित प्रगाथों की तरह); स्मृतौ=माने गये हैं। (इन दो में) पहले वाला 'जागतत्रैष्टुभ' है। (उसके बाद वाला) "तुभ्येदेते बहुला अद्रिदुग्धा."—यह ('प्रगाथ') 'त्रैष्टुभजगत्युत्तर' ('त्रैष्टुभजागत') है।

त्वमस्य पारे रजसो जागतौ त्रिष्टुबुत्तरौ ॥३१॥

सू० अ०—"त्वमस्य पारे रजसः"—(ये दो 'प्रगाथ') 'त्रिष्टुबुत्तरजागत' हैं।

उ० भा०—"त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः"[1] इति द्वौ प्रगाथौ जागतौ त्रिष्टुबुत्तरौ ज्ञेयाविति ॥

टि० (क) त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुष. ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥
त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम् ।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनाय. ॥
जागतत्रिष्टुबुत्तर=जगती+त्रिष्टुप्=(१२+१२+१२+१२)+(११+११+११+११)=९२
य उदृचीन्द्र देवगोपा सखायस्ते शिवतमा असाम ।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधाना. ॥
मा नो अस्मिन् मघवन् पृत्स्वंहसि नहि ते अन्तः शवसः परीणशे ।
अक्रन्दयो नद्यो रोरुवद् वना कथा न क्षोणीर्भियसा समारत ॥
त्रैष्टुभजागत=त्रिष्टुप्+जगती=(११+११+११+११)+(१२+१२+१२+१२)=९२
(ख) स घा राजा सत्पतिः शूशुवज्जनो रातहव्यः प्रति यः शासमिन्वति ।
उक्था वा यो अभिगृणाति राधसा दानुरस्मा उपरा पिन्वते दिव. ॥
असमं क्षत्रमसमा मनीषा प्र सोमपा अपसा सन्तु नेमे ।
ये त इन्द्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं स्थविरं वृष्ण्यं च ॥
जागतत्रैष्टुभ=जगती+त्रिष्टुप्=(१२+१२+१२+१२)+(११+११+११+११)=९२
तुभ्येदेते बहुला अद्रिदुग्धाश्चमूषदश्चमसा इन्द्रपानाः ।
व्यश्नुहि तर्पया काममेषामथा मनो वसुदेयाय कृष्व ॥
अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमोऽन्तर्वृत्रस्य जठरेषु पर्वत. ।
अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणा हिता विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते ॥
त्रैष्टुभजगत्युत्तर=त्रिष्टुप्+जगती=(११+११+११+११)+(१२+१२+१२+१२)=९२

---

[1] ऋ० १।५३।९-१५

उ० भा० अ०—"त्वमस्य पारे रजसो व्योमन"[क]—इन दो प्रगाथों को त्रिष्टुबुत्तरजागत[ख] जानना चाहिए।

(अक्षरसंज्ञा)

सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम् ॥३२॥

(अक्षर-संज्ञा)

सू० अ०—'व्यञ्जन'-सहित अथवा 'अनुस्वार'-सहित अथवा शुद्ध भी 'स्वर' (-वर्ण) 'अक्षर' (-संज्ञक) होता है।

उ० भा०—(सव्यञ्जनः=) व्यञ्जनेन युक्तः; (सानुस्वारः=) अनुस्वारेण सहितः; (वा=) अथवा; (शुद्धः=) अनुस्वारेण रहितो व्यञ्जनेन रहितः; स्वरः; (अक्षरम्=) अक्षरसंज्ञः; भवति ॥

उ० भा० अ०—(सव्यञ्जनः=) 'व्यञ्जन' से युक्त, (सानुस्वारः=) 'अनुस्वार' के सहित; (वा=) अथवा, (शुद्धः=) 'अनुस्वार' से रहित और 'व्यञ्जन' से रहित; स्वरः='स्वर' (-वर्ण), (अक्षरम्=) 'अक्षर'-संज्ञक, होता है।

(अनुस्वारव्यञ्जनयोः स्वराङ्गत्वविचारः)

व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्यं तु पूर्वभाक् ॥३३॥

(अनुस्वार और व्यञ्जन के स्वर का अङ्ग होने का विचार)

सू० अ०—'व्यञ्जन' परवर्ती ही 'स्वर' के ('अङ्ग' होते हैं)। किंतु अन्तिम ('व्यञ्जन') पूर्ववर्ती ('स्वर') का 'अङ्ग' होता है।

उ० भा०—व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्य अङ्गं भवन्ति। "तदस्य"[१]; "तन्नः।"[२] अन्त्यं तु पूर्वभाक्=अन्त्यं तु व्यञ्जनं पूर्वमक्षरं भजेत्। तत्, वाक् ॥

उ० भा० अ०-व्यञ्जनानि='व्यञ्जन', उत्तरस्यैव स्वरस्य=परवर्ती 'स्वर' के ही; 'अङ्ग' होते हैं।[ग] (उदाहरण) "तदस्य"; "तन्न।" अन्त्यं तु पूर्वभाक्=

टि० (क) त्वमस्य पारे रजसो व्योमन स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मन।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसो ऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥
त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः।
विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् ॥
न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥
आर्चन्नत्र मरुतः सस्मिन्नाजौ विश्वे देवासो अमदन्ननु त्वा।
वृत्रस्य यद् भृष्टिमता वधेन नि त्वमिन्द्र प्रत्यानं जघन्थ ॥
(ख) त्रिष्टुबुत्तरजागत=(१२+१२+१२+१२)+११+११+११+११)=९२
(ग) अङ्गत्व-विचार के लिए १।२२-२६ को देखिए।

[१] ऋ० १।१५४।५ [२] ऋ० १।१४२।१०

(पद का) अन्तिम 'व्यञ्जन' तो पूर्ववर्ती 'अक्षर' का 'अङ्ग' होता है। (उदाहरण) तत्, वाक् ॥

विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम् ॥३४॥

सू० अ०—विसर्जनीय और 'अनुस्वार' पूर्व 'अक्षर' का (को) 'अङ्ग' होते हैं।

उ० भा०—(विसर्जनीयानुस्वारौ=) विसर्जनीयोऽनुस्वारश्च; पूर्वमक्षरं भजेते। "यः सोम"[1]; "त्वं सोम"॥[2]

उ० भा० अ०—(विसर्जनीयानुस्वारौ=) विसर्जनीय और 'अनुस्वार'; पूर्वमक्षरं भजेते=पूर्ववर्ती 'अक्षर' का (को) 'अङ्ग' होते हैं। (उदाहरण) "यः सोम"; "त्वं सोम"।

संयोगादिर्वा चैवं च ॥३५॥

सू० अ०—संयुक्त वर्ण ('संयोग') का प्रथम (वर्ण) भी विकल्प से इस प्रकार होता है (=अपने पूर्ववर्ती 'स्वर' का 'अङ्ग' होता है)।

उ० भा०—संयोगादिर्वा; (एवं च=) पूर्वमक्षरं भजते। तस्य; यस्य ॥

उ० भा० अ०—संयोगादिर्वा=संयुक्त वर्ण ('संयोग') का प्रथम (वर्ण) विकल्प से; (एवं च=इस प्रकार होता है=) (अपने) पूर्ववर्ती 'स्वर' ('अक्षर') का (को) 'अङ्ग' होता है। (उदाहरण) तस्य; यस्य ॥

सहक्रम्यः परक्रमे ॥३६॥

सू० अ०—जब संयुक्त वर्ण ('संयोग') के द्वितीय वर्ण का द्वित्व होता है तब द्वित्व को प्राप्त होने वाला (क्रम्य) तथा (उस द्वितीय वर्ण) के साथ-साथ द्वित्व के परिणामस्वरूप होने वाला (क्रम) (नया) वर्ण (विकल्प से अपने पूर्ववर्ती 'स्वर' के 'अङ्ग' होते हैं)।

उ० भा०—(सहक्रम्यः=) क्रमेण सह क्रम्यो वर्णः; पूर्वमक्षरं वा भजते परक्रमे सति। अर्क्कः; ऊर्ज्जम् ॥

उ० भा० अ०—परक्रमे=संयुक्त वर्ण ('संयोग') के द्वितीय वर्ण का द्वित्व होने पर; सहक्रम्यः=द्वित्व के परिणामस्वरूप होने वाले वर्ण (क्रम) के साथ द्वित्व को प्राप्त होने वाला वर्ण (क्रम्य), विकल्प से पूर्ववर्ती 'स्वर' ('अक्षर') का 'अङ्ग' होता है। (जैसे) अर्क्क; ऊर्ज्जम्।

(लघ्वक्षरगुर्वक्षरादिनिरूपणम्)

गुर्वक्षरम् ॥३७॥

(लघु अक्षर और गुरु अक्षर आदि का निरूपण)

सू० अ०—('दीर्घ') 'अक्षर' 'गुरु' (-संज्ञक) (होता है)।

उ० भा०—दीर्घम् अक्षरम्; (गुरु=) गुरुसंज्ञम्; भवति। "नू देवानो वरिवः कर्तना नो भूत् ॥"[3]

---

[1] ऋ० १।९१।१४ [2] ऋ० १।९१।१ [3] ऋ० ३।४८।४

उ० भा० अ०—अक्षरम्=('दीर्घ') 'अक्षर'; (गुरु=) 'गुरु'-संज्ञक, होता है।[क] (उदाहरण) "नू देवासो वरिव. कर्तना नो भूत्।"

लघु ह्रस्वं न चेत्संयोग उत्तरः ॥३८॥

सू० अ०—'ह्रस्व' ('अक्षर') 'लघु' (-संज्ञक) होता है, यदि (उसके) अव्यवहित बाद में संयुक्त वर्ण ('संयोग') न हो।

उ० भा०—ह्रस्वम् अक्षरम्; (लघु=) लघुसंज्ञम्, भवति संयोग.; (उत्तरः=) परतः; न चेत् भवति। यथा—"मित्रमहो अवद्यात्॥"[1]

उ० भा० अ०—ह्रस्वम्='ह्रस्व' 'अक्षर'; (लघु=) 'लघु'-संज्ञक; होता है; चेत्=यदि, (उत्तरः=) बाद में; संयोग=संयुक्त वर्ण; न=नहीं; होता है। जैसे—"मित्रमहो अवद्यात्।"

अनुस्वारश्च ॥३९॥

सू० अ०—'अनुस्वार' भी ('ह्रस्व' 'अक्षर' के अव्यवहित बाद में न हो तो वह 'ह्रस्व' 'अक्षर' 'लघु' होता है)।

उ० भा०—अनुस्वारश्च यद्युत्तरो न भवति तदा लघुसंज्ञं भवति। यथा—"अस्ति सोमो अयं सुतः"[2] इति॥

उ० भा० अ०—अनुस्वारश्च='अनुस्वार' भी; यदि बाद में नहीं होता है तो ('ह्रस्व' 'अक्षर') 'लघु'-संज्ञक होता है।[ख] जैसे—"अस्ति सोमो अयं सुतः।"

संयोगं विद्याद्व्यञ्जनसंगमम् ॥४०॥

सू० अ०—'व्यञ्जन' (-वर्णों) के मेल (=संगम) को 'संयोग' (-संज्ञक) जानना चाहिये।

उ० भा०—(व्यञ्जनसंगमम्=) व्यञ्जनानां मेलकः; (संयोगम्=) संयोग-संज्ञः; (विद्यात्=) भवति। "आ त्वा रथम्।"[3] अनुस्वार इत्यनुवर्तते। "इदं श्रेष्ठम्"[4] इति।

उ० भा० अ०—(व्यञ्जनसंगमम्=) व्यञ्जनों का मेल; (संयोगम्=) 'संयोग'-संज्ञक; (विद्यात्=जानना चाहिये=) होता है। (उदाहरण) "आ त्वा रथम्।" (इस सूत्र में १८।३९ से) 'अनुस्वार' की अनुवृत्ति हो रही है—"इदं श्रेष्ठम्।"

टि० (क) देखिए १।२०

(ख) 'ह्रस्व' अक्षर 'गुरु'-संज्ञक होता है यदि इसके अव्यवहित बाद में संयुक्त वर्ण ('संयोग') अथवा 'अनुस्वार' हो।

---

[1] ऋ० ४।४।१५ [2] ऋ० ८।९४।४ [3] ऋ० ८।६८।१
[4] ऋ० १।११३।१

गुरु दीर्घम् ॥४१॥

सू० अ०—'दीर्घ' ('अक्षर') 'गुरु' (-संज्ञक) (होता है)।

उ० भा०—दीर्घम् अक्षरम्; (गुरु=) गुरुसंज्ञम्; भवति। "आ रुक्मैरा युधा नरः"[1] इति। सिद्धेऽप्यर्थं उत्तरक्रियार्थं पुनरुच्यते॥

उ० भा० अ०—दीर्घम्='दीर्घ' 'अक्षर'; (गुरु=) 'गुरु'-सज्ञक; होता है। (उदाहरण) "आ रुक्मैरा युधा नरः।" इस विषय के सिद्ध होने पर भी परवर्ती (सूत्र) में (विहित) कार्य के लिये दोबारा कथन किया गया है।[क]

गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत् ॥४२॥

सू० अ०—यदि ('दीर्घ' 'अक्षर') 'व्यञ्जन' के सहित हो तो वह गुरुतर होता है।

उ० भा०—गरीयस्तु=गुरुतरम्; (भवेत्=) विद्यात्; दीर्घं सव्यञ्जनं सत्। राष्ट्री इति॥

उ० भा० अ०—यदि 'दीर्घ' ('अक्षर') 'व्यञ्जन' के सहित हो तो उसे; गरी-यस्तु=गुरुतर; (भवेत्=होता है=) जानना चाहिये। (उदाहरण) राष्ट्री।

लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वम् ॥४३॥

सू० अ०—'व्यञ्जन'-सहित 'ह्रस्व' ('अक्षर') 'लघु' (-संज्ञक) होता है)।

उ० भा०—ह्रस्वम् अक्षरं सव्यञ्जनम्, (लघु=) लघुसंज्ञम्; भवति। क कि कु॥

उ० भा० अ०—सव्यञ्जनम्='व्यञ्जन'-सहित, ह्रस्वम्='ह्रस्व' 'अक्षर'; (लघु=) 'लघु'-सज्ञक; होता है। (उदाहरण) क, कि, कु।

लघीयो व्यञ्जनादृते ॥४४॥

सू० अ०—'व्यञ्जन' से रहित (=केवल) ('ह्रस्व' 'अक्षर') लघुतर होता है।

उ० भा०—ह्रस्वमक्षरम्; (व्यञ्जनादृते=) व्यञ्जनवर्जम्, (लघीयः=) लघीयः-सज्ञम्, भवति।

उ० भा० अ०—(व्यञ्जनादृते=) 'व्यञ्जन' के विना; 'ह्रस्व' 'अक्षर'; (लघीयः=) 'लघीय'-सज्ञक, होता है।

टि० (क) अर्थात् 'दीर्घ' 'अक्षर' 'गुरु'-सज्ञक होता है—यह १८।३७ से ही ज्ञात है; तथापि १८।४२ के लिए इसका दोबारा कथन किया गया है।

---

[1] ऋ० ५।५२।६

(एकस्य छन्दसः अन्यस्मिन् छन्दसि विपरिणमनम्)

छन्दस्तुरीयेण समानसंख्या
याश्छन्दसोऽन्यस्य भवन्त्यृचोऽन्याः ।
यावत्तुरीयं भवति स्वमासां
तावत्य एता इतरा भवन्ति ॥४५॥

(एक छन्दः का दूसरे छन्दः में विपरिणमन)

सू० अ०—परवर्ती छन्दः की जो ऋचायें होती हैं वे (पूर्ववर्ती) छन्दः के (अक्षरों के) चतुर्थ भाग के समान संख्या वाली होती हैं। इनके (=परवर्ती छन्दः के अक्षरों का) जितना चतुर्थ भाग होता है, उतनी वे अन्य (=पूर्ववर्ती छन्दः की ऋचायें) होती हैं।

उ० भा०—कस्य छन्दसः केन सह का सपद्भवतीति विचारणायां तत इदमुच्यते। छन्दस्तुरीयेण=छन्दसो गायत्र्या अक्षराणां चतुर्थेन भागेन; समानसंख्याः; अन्यस्य (छन्दसः=)उष्णिक्छन्दसः; ऋचो भवन्ति। आसाम्=उष्णिहाम्; यावत् छन्दस्तुरीयम् भवति तावत्य एताः; इतराः=गायत्र्यः; भवन्ति। तथा चोक्तं रहस्ये—"सप्त गायत्र्यः षळुष्णिहो भवन्ति।"[1] "यदिन्द्राहं यथा त्वम्"[2] इति यथा। आभिः सप्तभिः षळुष्णिहो भवन्ति। एवं सर्वेषां छन्दसामन्योन्यस्य चतुर्थेन भागेन संपद्भवति॥

उ० भा० अ०—किस छन्द में किस (छन्द.) का कैसे विपरिणमन होता है—यह विचार प्रस्तुत होने पर यह (सूत्र) कहा गया है। छन्दस्तुरीयेण=(जैसे) 'गायत्री' छन्द. के अक्षरो (=२४) के चतुर्थ भाग (२४—४=६) के, समानसंख्याः=समान सख्या (=६) वाली, अन्यस्य (छन्दसः=) अन्य छन्द. की=(जैसे) 'उष्णिक्' छन्द की; ऋचो भवन्ति=ऋचायें होती हैं। यावत्=जितना; आसाम्=इनका= 'उष्णिक्' छन्दः के (अक्षरो) (=२८ का); तुरीयम्=चतुर्थ भाग (२८—४=७) भवति=होता है, तावत्यः=उतनी (=७); एता इतराः=ये अन्य='गायत्री' (छन्द की ऋचायें), भवन्ति=होती हैं। ऐतरेय आरण्यक (रहस्य) में वैसा कहा भी है—"सात 'गायत्री' छ 'उष्णिक्' होती हैं।" "यदिन्द्राह यथा त्वम्" इन सात ('गायत्री' छन्दों) से छ 'उष्णिक्' सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार सब छन्दो में एक-दूसरे के चतुर्थ भाग से विपरिणमन किया जा सकता है।[क]

टि० (क) (१) ऐतरेय आरण्यक ५।२।११ मे 'निष्केवल्य शस्त्र' के प्रसङ्ग में इन्द्रदेवताक 'उष्णिक्'—छन्दस्क २४० ऋचाओ के पाठ का विधान किया गया है। (२) इसी स्थल पर इन्द्रदेवताक 'उष्णिक्'—छन्दस्क १२६ ऋचायें गिनाई गई हैं। (३) अवशिष्ट (२४०—१२६=) ११४ इन्द्रदेवताक 'उष्णिक्'—छन्दस्क ऋचाओ की पूर्ति के लिए इन्द्रदेवताक 'गायत्री'—छन्दस्क १३० ऋचाओ का ग्रहण इसी स्थल में विहित है।

[1] ऐ० आ० ५।२।११ [2] ऋ० ८।१४।१

(त्रिपदादिषु ऋक्षु अवसाननिर्णयप्रकारः)

द्वाभ्यामवस्येत् त्रिपदासु पूर्वं
पादेन पश्चात्क्वचिदन्यथैतत् ॥४६॥

(तीन इत्यादि पादों वाली ऋचाओं में अवसान के निर्णय का प्रकार)

सू० अ०—तीन पादों वाली (ऋचाओं) में पहले दो (पादों) के बाद में 'अवसान' करे और फिर अन्तिम पाद के बाद में। कभी-कभी इसके विपरीत ('अवसान' होता है)।

उ० भा०—त्रिपदासु ऋक्षु द्वाभ्यां पादाभ्यां पूर्वमवस्येत्पश्चात्पादेन। "अग्निमीळे पुरोहितम्।"[1] क्वचिदेतदन्यथा=पूर्वं पादेन पश्चाद द्वाभ्याम्। "दूतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्"[2] इति ॥

उ० भा० अ०—त्रिपदासु=तीन पादों वाली; ऋचाओं में; द्वाभ्याम्=दो पादो के बाद में; पूर्वमवस्येत्=पहला 'अवसान' करे; पश्चात् पादेन=इसके बाद में एक

(५८४क) (प्रश्न) अवशिष्ट ११४ सख्या की पूर्ति के लिये इन्द्रदेवताक 'उष्णिक्'-छन्दस्क अन्य ११४ ऋचायें ही क्यो ग्रहण नही की गई हैं? (उत्तर) उपर्युक्त ११६ के अतिरिक्त इन्द्रदेवताक 'उष्णिक्'-छन्दस्क ऋचायें ऋग्वेद में उपलब्ध नही हैं। (प्रश्न) 'गायत्री'—छन्दस्क ऋचाओ से अवशिष्ट ११४ 'उष्णिक्'-छन्दस्क ऋचाओ की पूर्ति कैसे होगी? (उत्तर) 'गायत्री'-छन्दस्क ऋचाओं को 'उष्णिक्'-छन्दस्क ऋचाओ में विपरिणत करके। (प्रश्न) इस प्रकार विपरिणमन की क्या प्रक्रिया है? (उत्तर) देखिए दो दृष्टान्त—

दृष्टान्त १

गायत्री का उष्णिक् में विपरिणमन

'गायत्री'	'उष्णिक्'
'गायत्री' की 'अक्षर'-सख्या २४÷४ =६	'उष्णिक्' की 'अक्षर'-सख्या २८÷४ =७

प्रक्रिया का निष्कर्ष—७ 'गायत्री'=६ 'उष्णिक्'

दृष्टान्त २

गायत्री का जगती मे विपरिणमन

'गायत्री'	'जगती'
'गायत्री' की 'अक्षर'-सख्या २४÷४ =६	'जगती' की 'अक्षर'-संख्या ४८÷४ =१२

प्रक्रिया का निष्कर्ष—१२ 'गायत्री'=६ 'जगती'

यद्यपि विपरिणमन-प्रक्रिया छन्दो के सभी वर्गों में सभावित है, तथापि 'गायत्री'-'जगती' वर्ग के विषय में ही इसको लागू समझना चाहिए। १८।४५ के मूलानुवाद में 'पूर्ववर्ती' और 'परवर्ती' शब्दों का प्रयोग भी इसी वर्ग के किन्हीं दो छन्दो को अपनाते हुए किया गया है।

[1] ऋ० १।१।१ [2] ऋ० ६।४८।१८

(=अन्तिम) पाद के बाद में। (उदाहरण) "अग्निमीळे पुरोहितम्।"[क] क्वचिदेतद-न्यथा=कहीं पर इस (उपर्युक्त) के विपरीत ('अवसान' किया जाता है)=पहले (प्रथम) पाद के बाद में और तत्पश्चात् दो (पादों) के बाद में ('अवसान' किया जाता है)। (उदाहरण) "दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्।"[ख]

मध्येऽवसानं तु चतुष्पदानाम् ॥४७॥

सू० अ०—चार पादों वाली (ऋचाओं) के तो मध्य में 'अवसान' होता है।

उ० भा०—चतुष्पदानां मध्येऽवसानं भवति। "गायन्ति त्वा गायत्रिणः"[1] इत्येवमादयः॥

उ० भा० अ०—चतुष्पदानाम्=चार पादों वाली (ऋचाओं) के; मध्येऽव-सानम्=मध्य में 'अवसान'; होता है। (उदाहरण) "गायन्ति त्वा गायत्रिण"[ग] इत्यादि।

त्रिभिः समस्तैरवरैः परैर्वा ॥४८॥

सू० अ०—(चार पादों वाली ऋचाओं में कभी-कभी 'अवसान') या तो प्रथम तीन मिले हुए पादों के बाद में होता है या अन्तिम तीन पादों के बाद में।

उ० भा०—(अवरैः) त्रिभिः समस्तैः पादैः पूर्वम् अवसानं भवति। पादेनोत्तरम्। यथा—"एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्ट्वम्।"[2] (परैः) पादैः वा त्रिभिः परमवसानं भवति। पादेन पूर्वम्—"अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च"[3] इति॥

उ० भा० अ०—(अवरैः) त्रिभिः समस्तैः=(पूर्ववर्ती) तीन मिले हुए पादों के बाद में; पहला 'अवसान' होता है। (अन्तिम) पाद के बाद में दूसरा ('अवसान') (होता है)। जैसे—"एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्ट्वम्।"[घ] वा=अथवा, (परैः=परवर्ती) तीन पादों के बाद में दूसरा 'अवसान' होता है। (प्रथम) पाद के बाद में पहला 'अवसान' (होता है)। (उदाहरण) "अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च।"[ङ]

टि० (क) अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(ख) दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्। अच्छिद्रस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः॥

(ग) गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतु उद् वंशमिव येमिरे॥

(घ) एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्ट्वं कूचित् सन्तं सहसावन्नभिष्टये सदा पाह्यभिष्टये।
मेदतां वेदता वसो॥

(ङ) अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च।
सद्यो दिदिष्ट तान्वः सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः सद्यो दिदिष्ट मायवः॥

1 ऋ० १।१०।१ 2 ऋ० १०।९३।११ 3 ऋ० १०।९३।१५

पङ्क्त्यां द्विशो वा तत उत्तरेण
त्रिभिः परैर्वा विपरीतमेतत् ॥४६॥

सू० अ०—'पङ्क्ति' में दो-दो (पादों) के बाद में ('अवसान' होता है) और तब परवर्ती (=अन्तिम) (पाद) के बाद में ('अवसान' होता है)। अथवा (पहला 'अवसान' पहले दो पादों के बाद में और दूसरा 'अवसान') परवर्ती तीन (पादों) के बाद में होता है। (अथवा) यह विपरीत होता है (=पहला 'अवसान' पहले तीन पादों के बाद में और दूसरा 'अवसान' परवर्ती दो पादों के बाद में होता है)।

उ० भा०—पङ्क्त्याम्=पञ्चपदासु इत्यर्थः। द्विशः=द्वाभ्यां द्वाभ्यामवस्येत्। (तत उत्तरेण=) पादेनोत्तरमवसानम्। "अथ चक्रमिषणत्सूर्यस्य"[1] इति। (परैः) त्रिभिः पादैः परमवसानं वा। द्वाभ्यां पूर्वम्। "नकिष्टं कर्मणा नशत्"[2] इति। एतद्वा विपरीतम्=त्रिभिः पूर्वं द्वाभ्यामुत्तरम्। "नकिर्देवा मिनीमसि"[3] इति॥

उ० भा० अ०—पङ्क्त्याम्='पङ्क्ति' में=पाँच पादों में—यह अर्थ है। द्विशः= दो-दो पादों के बाद में 'अवसान' करे। (तत उत्तरेण=तत्पश्चात् परवर्ती) एक पाद के बाद में अन्तिम 'अवसान' को (करे)। (उदाहरण) "अथ चक्रमिषणत्सूर्यस्य।"[क] वा= अथवा; (परैः=परवर्ती) त्रिभिः=तीन पादो के बाद में; अन्तिम 'अवसान' को करे। (पूर्ववर्ती) दो पादो के बाद में पहला 'अवसान' करे। (उदाहरण) "नकिष्ट कर्मणा नशत्॥"[ख] एतद्वा विपरीतम्=अथवा इसके विपरीत ('अवसान' होते हैं)=तीन पादो के बाद में पहला ('अवसान' होता है), दो पादो के बाद में दूसरा ('अवसान' होता ह)। (उदाहरण) "नकिर्देवा मिनीमसि।"[ग]

द्विशस्त्रिशो वा परतश्चतुर्भिः
स्यात्षट्पदानामवसानमेतत् ॥५०॥

सू० अ०—छः पादों वाली (ऋचाओं) में दो-दो पादों के बाद में अथवा तीन-तीन पादों के बाद में 'अवसान' (होता है)। अथवा (पहला 'अवसान' दो पादों के बाद में होता है और) दूसरा 'अवसान' (अन्तिम) चार पादों के बाद मे (होता है)।

टि० (क) अय चक्रमिषणत् सूर्यस्य न्येतश रीरमत् ससृमाणम्।
आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो वुध्नो रजस अस्य योनौ।
असिक्न्यां यजमानो न होता॥

(ख) नकिष्ट कर्मणा नश—न्न प्र योषन्न योषति।
देवाना य इन्मनो यजमान इयक्ष—त्यभीदयज्वनो भुवत्॥

(ग) नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्य चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभि—रत्राभि स रभामहे॥

---

[1] ऋ० ४।१७।१४-१५ [2] ऋ० ८।३१।१७ [3] ऋ० १०।१३४।७

उ० भा०—(द्विशः=) द्वाभ्यां द्वाभ्याम् वा; (त्रिशः=) त्रिभिस्त्रिभिः; वा अवस्येत्। "विश्वान्देवान्हवामहे।"[1] एषा तु कौषीतकिनां षट्पदा शस्यते। अस्मिन्पक्ष उदाहरणम्। त्रिशो वा=त्रिभिस्त्रिभिर्वावस्येत्। "स क्षपः परि षस्वजे।"[2] अथवा परतश्चतुर्भिः अवस्येत्। द्वाभ्यां पूर्वम्। "निष्कं वा घा कृणवते।"[3] एवं त्रिविधम् अवसानं षट्पदानां स्यात्॥

उ० भा० अ०—(द्विशः=) दो-दो (पादों) के बाद में; वा=अथवा; (त्रिशः=) तीन-तीन (पादो) के बाद में, 'अवसान' करे। (उदाहरण) "विश्वान्देवान्हवामहे।"[क] कौषीतकी शाखा वाले इस छ पादों वाली (ऋचा) का पाठ करते हैं। (दो-दो पादो के बाद में 'अवसान' के) पक्ष में यह उदाहरण है। त्रिशो वा=अथवा तीन-तीन (पादो) के बाद में; 'अवसान' करे। (उदाहरण) "स क्षपः परि षस्वजे।"[ख] अथवा, परतश्चतुर्भिः=चार पादों के बाद में दूसरा; 'अवसान' करे। पूर्ववर्ती दो (पादो) के बाद में पहला ('अवसान' होता है)। (उदाहरण) "निष्क वा घा कृणवते।"[ग] इस प्रकार, षट्पदानाम् अवसानम्=छ पादों (वाली ऋचाओ) का 'अवसान', तीन प्रकार से होता है।

त्रिभिस्तु पूर्वं तत उत्तरं स्याद्
द्विशस्त्रिशो वा यदि वा समस्तम्।
द्वाभ्यां पुनः सप्तपदावसानम् ॥५१॥

सू० अ०—सात पादों (वाली ऋचाओं) का पहला 'अवसान' तीन (पादों) के बाद में (होता है); तत्पश्चात् बाद वाले (दो 'अवसान') दो-दो (पादों) के बाद में (होते हैं)। अथवा यदि (पहला 'अवसान') तीन (पादों) के बाद में हो तो (दूसरा 'अवसान') सभी (=अन्तिम चार पादों) के बाद में (होगा)। अथवा (पहला 'अवसान') दो पादों के बाद में (और दूसरा 'अवसान' अवशिष्ट पाँच पादों के बाद में होगा)।

उ० भा०—(सप्तपदावसानम्=) सप्तपदानां तु पूर्वमवसानम्; त्रिभिः पादैः स्यात्। (ततः=) तस्मात् उत्तरं द्विशः। यथा—"सुषुमा यातमद्रिभिः"[4] इति।

टि० (क) विश्वान्देवान्हवामहे अस्मिन्यज्ञे सजोषस।
त इम यज्ञमागमन् देवासो देव्या धिया।
ये यज्ञस्य तनूकृतो विश्व आ सोमपीतये॥
(ख) स क्षप· परि षस्वजे न्युस्रो मायया दधे स विश्व परि दर्शतः।
तस्य वेनीरनु व्रत—मुषस्तिस्रो अवर्धयन् नभन्तामन्यके समे॥
(ग) निष्क वा घा कृणवते स्रज वा दुहितर्दिव.।
त्रिते दुष्वप्न्य सर्व—माप्त्ये परि दद्मस्य—नेहसो व ऊतय सुऊतयो व ऊतय.॥

[1] शा० श्रौ० ७।१०।१४ [2] ऋ० ८।४१।३ [3] ऋ० ८।४७।१५
[4] ऋ० १।१३७।१

त्रिशो वा यदि पूर्वमवसानं तदोत्तरम्; समस्तम्=चतुर्भिः इत्यर्थः। यथा—"नहि वां वव्रयामहे"[१] इति। द्वाभ्यां पुनः पूर्वमवसानम्। उत्तरं समस्तं पञ्चभिः स्यात्। यथा—"प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्"[२] इति॥

उ० भा० अ०—(सप्तपदावसानम्=) सात पादो (वाली ऋचाओ) का प्रथम 'अवसान'; त्रिभिः=तीन; पादो के बाद में होता है। (ततः=) तत्पश्चात्, उत्तरम्=बाद वाले (दो 'अवसान'); द्विशः=दो-दो पादों के बाद में (होते हैं)। जैसे—"सुषुमा यातमद्रिभि।"[क] वा=अथवा; यदि प्रथम 'अवसान'; त्रिशः=तीन पादों के बाद में (होता है) तब बाद वाला ('अवसान'); समस्तम्=सभी अर्थात् चार पादो के बाद में होता है। जैसे—"नहि वा वव्रयामहे।"[ख] पुनः=अथवा; पहला 'अवसान', द्वाभ्याम्=दो पादों के बाद में (होता है)। बाद वाला सभी पांच (पादो) के बाद में होता है। जैसे—"प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्।"[ग]

द्वाभ्यां च मध्येऽष्टपदासु विद्यात् ॥५२॥

सू० अ०—आठ पादों वाली (ऋचाओं) के (में) मध्य में दो पादों के बाद में ('अवसान' को) जानना चाहिये।

उ० भा०—अष्टपदासु ऋक्षु मध्ये द्वाभ्याम् अवसानम्, (विद्यात्=) स्यात्। परिशेषादाद्यन्तयोस्त्रिभिस्त्रिभिरवसानं भवति। "स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिः"[३] इति॥

उ० भा० अ०—अष्टपदासु=आठ पादों वाली ऋचाओ में, मध्ये=मध्य में, द्वाभ्याम्=दो (पादो) के बाद में 'अवसान'; (विद्यात्=जानना चाहिए=) होता है। अवशिष्ट रहने से आदि और अन्त में तीन-तीन पादो के बाद में 'अवसान' होता है।[घ] (उदाहरण) "स हि शर्धो न मारुत तुविष्वणि।"[ङ]

टि० (क) सुषुमा यातमद्रिभि—र्गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे।
आ राजाना दिविस्पृशा ऽस्मत्रा गन्तमुप नः।
इमे वा मित्रावरुणा गवाशिर सोमा शुक्रा गवाशिर॥

(ख) नहि वा वव्रयामहे ऽथेन्द्रमिद् यजामहे शविष्ठ नृणा नरम्।
स न कदा चिदर्वता गमदा वाजसातये गमदा मेघसातये नभन्तामन्यके समे॥

(ग) प्रो ष्वस्मै पुरोरथ—मिन्द्राय शूषमर्चत।
अभीके चिदु लोककृत् सगे समत्सु वृत्रहा ऽस्माक बोधि चोदिता
नभन्तामन्यकेषा ज्याका अधि धन्वसु॥

(घ) अर्थात् आठ पादो वाली ऋचाओ में पहला 'अवसान' प्रथम तीन पादों के बाद में होता है। दूसरा 'अवसान' चतुर्थ और पञ्चम—इन दोनों—को एकत्र करके इनके बाद में (अर्थात् पञ्चम पाद के बाद में) होता है। तीसरा 'अवसान' अन्तिम तीन पादो के बाद में होता है।

(ङ) स हि शर्धो न मारुत तुविष्वणिर्
अप्नस्वतीषूर्वरास्विष्ट निरार्तनास्विष्टनि।
आदद्धव्यान्याददिर् यजस्य केतुर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्था नरः शुभे न पन्थाम्॥

[१] ऋ० ८।४०।२ [२] ऋ० १०।१३३।१ [३] ऋ० १।१२७।६

अग्निमीळे इतेरिव गायन्त्येतमधीन्न्विति ।
अयं चक्रं नकिष्टं च नकिर्देवा मिनीमसि ॥
विश्वान्देवान्हवामहे स क्षपो निष्कं सुषुम ।
नहि वां प्रो षु स हि शर्धस्ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥५३॥

सू० अ०—"अग्निमीळे "; "इतेरिव "; "गायन्ति "; "एतम्" ; "अधीन्नु…", "अयं चक्रम् ", "नकिष्टम् "; "नकिर्देवा मिनीमसि…", "विश्वान्देवान्हवामहे "; "स क्षपः "; "निष्कम्…"; "सुषुम…"; "नहि वाम् "; "प्रो षु …"; "स हि शर्धः…"—ये ऋचायें यहाँ (अर्थात् सूत्र १८।४६-५२ के) उदाहरण हैं।

उ० भा०— यथाक्रमं पुरस्तादेव निदर्शितानि ॥

उ० भा० अ०—क्रमानुसार पहले ही उदाहरण दिये जा चुके हैं।

द्वाभ्यां पादेन द्वाभ्यां तु तव त्यत्पञ्चपदाष्टिः ।
अव्यूहेनातिशक्वरी तृतीयः षोळशाक्षरः ॥५४॥

सू० अ०—"तव त्यत् " (यह ऋचा) पाँच पादों की है और 'अष्टि' है। संधि-विच्छेद ('व्यूह') किये विना यह 'अतिशक्वरी' है। इसका तृतीय (पाद) १६ अक्षरों का है। (इसमे पहला 'अवसान') दो (पादों) के बाद में (होता है); (तब दूसरा 'अवसान') एक पाद के बाद में (होता है); (और तब तीसरा 'अवसान') दो पादों के बाद में होता है।

उ० भा०—द्वाभ्याम् अवस्येत् । ततः पादेन । पुनः द्वाभ्याम्—' तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र''[१] इति । सेयं पञ्चपदाष्टिः विज्ञेया। अव्यूहेनातिशक्वरी । अस्याम् तृतीयः षोडशाक्षरः ॥

उ० भा० अ०—द्वाभ्याम्=दो पादों के बाद में, 'अवसान' करे। तत्पश्चात्, पादेन=एक पाद के बाद में (दूसरा 'अवसान' करे)। पुनः द्वाभ्याम्=दो पादों के बाद में (तीसरा 'अवसान' करे)—"तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र।"[क] इसे, पञ्चपदाष्टिः=पाँच पादों वाली 'अष्टि' जानना चाहिए। अव्यूहेनातिशक्वरी=संधि-विच्छेद ('व्यूह') न करने पर यह 'अतिशक्वरी' है। इसमें; तृतीयः षोडशाक्षरः=तृतीय (पाद) १६ अक्षरों वाला है।

टि० (क) तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम् ।
यद् देवस्य शवसा प्रारिणा असुं रिणन्नपः ।
भुवद्विश्वमभ्यादेवमोजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम् ॥

---

[१] ऋ० २।२२।४

चतुर्भिस्तत एकेनाग्ने तमद्येति च ॥५५॥

सू० अ०—"अग्ने तमद्य···" में (पहला 'अवसान') चार (पादों) के बाद में (होता है) और तब (दूसरा 'अवसान') एक पाद के बाद में (होता है)।

उ० भा०—चतुर्भिः पूर्वमवसानं तत एकेन—"अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः"[1] इति ॥

उ० भा० अ०—पहला 'अवसान', चतुर्भिः=चार पादो के बाद में (होता है); ततः=तत्पश्चात् (दूसरा 'अवसान'); एकेन=एक (पाद) के बाद में (होता है)—"अग्ने तमद्याश्व न स्तोमै ।"[क]

चतुर्भिस्तु परं द्वाभ्यां तव स्वादिष्ठा तच्छंयोः ॥५६॥

सू० अ०—"तव स्वादिष्ठा ··" और "तच्छंयोः ··"—(इन दो ऋचाओं में) (पहला अवसान') चार (पादों) के बाद मे (होता है) और दूसरा ('अवसान') दो पादो के बाद मे (होता है)

उ० भा०—चतुर्भिः पूर्वमवसानं परं द्वाभ्याम्—"तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिः"[2] इति। "तच्छंयोरा वृणीमहे॥"[3]

उ० भा० अ०—पहला 'अवसान', चतुर्भिः=चार पादो के बाद में (होता है), परम्=दूसरा ('अवसान'), द्वाभ्याम्=दो पादो के बाद में (होता है)—"तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टि.।"[ख] "तच्छंयोरा वृणीमहे।"[ग]

भरद्वाजाय तच्चक्षुरधीद् वृक्षा दतेरिव ।
एतासु न व्यवस्यन्त्येके द्वादशकादिषु ॥५७॥

सू० अ०—"भरद्वाजाय ··", "तच्चक्षुः ··", "अधीत् ··", "वृक्षाः ··" और "दतेरिव···"—बारह अक्षरों के (पाद) से आरम्भ होने वाली इन (ऋचाओं) में कतिपय (आचार्य) कोई 'अवसान' नहीं करते हैं।

उ० भा०—एतासु द्वादशकादिषु ऋक्षु एके; (न व्यवस्यन्ति=) अवसानं न कुर्वन्ति। "भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता धेनुं च"[4-घ] "तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्प-

टि० (क) अग्ने तमद्या अश्व न स्तोमै· क्रतु न भद्र हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहै ॥
(ख) तव स्वादिष्ठा अग्ने संदृष्टि—रिदा चिदह्न इदा चिदक्तो ।
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके ॥
(ग) तच्छंयोरा वृणीमहे गातु यज्ञाय गातु यज्ञपतये
दैवी स्वस्तिरस्तु न. स्वस्तिर्मानुषेभ्य ।
ऊर्ध्वं जिगातु भेषजं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
(घ) भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता ।
धेनु च विश्वदोहसम् इषं च विश्वभोजसम् ॥
अथवा
भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता धेनु च विश्वदोहसम् इष च विश्वभोजसम् ॥

[1] ऋ० ४।१०।१ [2] ऋ० ४।१०।५ [3] ऋ० खि० १०।१९१।५ [4] ऋ० ६।४८।१३

श्येम ।"[१-क] "अधीन्न्वत्र सप्तति च सप्त च सद्यो दिदिष्ट ।"[२-ख] "वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुर्गाम् ।"[३-ग] "दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यमच्छिद्रस्य ।।"[४-घ]

उ० भा० अ०—एतासु द्वादशकादिषु=बारह अक्षरों के (पाद) से प्रारम्भ होने वाली इन (ऋचाओं) में; एके=कतिपय आचार्य, (न व्यवस्यन्ति=) 'अवसान' नहीं करते हैं। ....।

(प्रश्नस्वरूपमध्यायस्वरूपं च)

प्रश्नस्तृचः पङ्क्तिषु तु द्वृचो वा
द्वे द्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु ।
एका च सूक्तं समयास्त्वगण्याः
परावराध्यौ द्विपदे यथैका ।।
सूक्तस्य शेषोऽल्पतरो यदि स्यात्
पूर्वं स गच्छेद्यदि तु द्वृचो वा ।
ते षष्टिरध्याय उपाधिका वा
सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ताः ।।५८।।

(प्रश्न का स्वरूप और अध्याय का स्वरूप)

सू० अ०—तीन ऋचाओं का एक 'प्रश्न' होता है। 'पङ्क्ति' (छन्दः की ऋचाओं) में दो ऋचायें अथवा (तीन ऋचायें) ('प्रश्न' होती हैं)। 'पङ्क्ति' से अधिक अक्षरों वाले (छन्दों) में दो-दो ऋचाओं का ('प्रश्न' होता है)। एक

टि० (क) तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरद शतं जीवेम शरदः शतम् ।।

अथवा

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् पश्येम शरद शतं जीवेम शरदः शतम् ।।

(ख) अधीन्न्वत्र सप्तति च सप्त च ।
सद्यो दिदिष्ट तान्व सद्यो दिदिष्ट पार्थ्य सद्यो दिदिष्ट मायव. ।।

अथवा

अधीन्न्वत्र सप्तति च सप्त च सद्यो दिदिष्ट तान्व
सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यं सद्यो दिदिष्ट मायव ।।

(ग) वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणु. ।
गा भजन्त मेहना ऽश्व भजन्त मेहना ।।

अथवा

वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणु.
गा भजन्त मेहना ऽश्व भजन्त मेहना ।।

---

१ ऋ० ७ ६६।१६ २ ऋ० १०।९३।१५ ३ ऋ० ८।४।२१ ४ ऋ० ६।४८।१८

(ऋचा) सूक्त (हो तो वह एक ऋचा भी 'प्रश्न' होती है)। 'समय'-संज्ञक पुनरुक्त मंत्रांशो को नहीं गिना जाता है, चाहे वे (मंत्रांश) बड़े हों अथवा छोटे हों। दो द्विपदाओं को एक (ऋचा) करके (गिना जाता है)। यदि सूक्त का शेष भाग ('प्रश्न' से) अल्पतर हो तो वह पूर्ववर्ती ('प्रश्न') को प्राप्त होगा। यदि (शेष भाग) दो ऋचायें हों तो विकल्प से (वे दो ऋचायें पूर्ववर्ती 'प्रश्न' का अंग होती हैं)। एक अध्याय में ६० ('प्रश्न') होते हैं। यदि सूक्त के समाप्त न होने पर ही वे (६० 'प्रश्न') समाप्त (पूरे) हो जावें तो (एक अध्याय में ६० से भी) अधिक ('प्रश्न' हो जाते हैं)।

उ० भा०—इत्युक्तौ श्लोकावोङ्कारपटले अत्र च। तत्रैव व्याख्यातौ ॥

उ० भा० अ०—ये दोनों श्लोक ओङ्कार पटल (१५।२३-३१) में कहे गये हैं और यहाँ भी। उनकी व्याख्या वहीं पर (=ओंकार पटल में) की जा चुकी है (दे० पृ० ७७४-७७६)।

(त्रिष्टुब्जगत्योश्छन्दोज्ञानस्य च महिमा)

सर्वाणि भूतानि मनो गतिश्च
स्पर्शाश्च गन्धाश्च रसाश्च सर्वे।
शब्दाश्च रूपाणि च सर्वमेतत्
त्रिष्टुब्जगत्यौ समुपैति भक्त्या ॥५६॥

(त्रिष्टुप्, जगती और छन्दोज्ञान की महिमा)

सू० अ०—सब भूत, मनः, गति, स्पर्श, गन्ध, सब रस, शब्द, रूप—ये सब 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' को अनुपात-विशेष से प्राप्त होते है (अर्थात् ऋग्वेद में मुख्यतः 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' से ही बाह्य तथा आन्तर पदार्थजात का सविशेष वर्णन किया गया है)।

उ० भा०—सर्वाणि भूतानि मनो गतिश्च स्पर्शाश्च गन्धाश्च सर्वे रसाः शब्दाश्च रूपाणीत्येतत्सर्वम्; त्रिष्टुब्जगत्यौ=त्रिष्टुभं च जगतीं च; भक्त्या; (समुपैति=) समुपगच्छति ॥

उ० भा० अ०—सर्वाणि भूतानि=सब भूत; मनो गतिश्च=मन और (उसका धर्म) गति; स्पर्शाश्च गन्धाश्च सर्वे रसाः शब्दाश्च रूपाणि-एतत्सर्वम्=स्पर्श, गन्ध, सब रस, शब्द और रूप—ये सब, भक्त्या=उचित अनुपात में; त्रिष्टुब्जगत्यौ='त्रिष्टुप्' और 'जगती' को; (समुपैति=) प्राप्त होते हैं[क]।

टि० (क) वाह्य तथा आन्तर जगत् सूक्तो के वर्ण्य होने के कारण देवता भी भौतिक ही है—ऐसा सूत्रकार का मत सूचित होता है।

गुर्वत्तराणां गुरुवृत्ति सर्वं
गुर्वक्षरं त्रैष्टुभमेव विद्यात् ॥६०॥

सू० अ०—गुरु स्वभाव वाले सब (पदार्थ) 'गुरु' अक्षरों से सम्बद्ध हैं। 'गुरु' 'अक्षर' वाला त्रिष्टुप् को ही जानना चाहिए (क्योंकि 'त्रिष्टुप्' का उपोत्तम 'अक्षर' 'गुरु' होता है)।

उ० भा०—यत् किंचित्स्थावरं जङ्गमं गुरुवृत्ति तत्सर्वं गुर्वक्षराणामेव। किं पुनर्गुर्वक्षरम्? (गुर्वक्षरम्) त्रैष्टुभम् इति॥

उ० भा० अ०—जो कोई स्थावर और जङ्गम, गुरुवृत्ति=गुरु स्वभाव वाला है, वह; सर्वम्=सब, गुर्वक्षराणामेव (विद्यात्)='गुरु' अक्षरों ही से सम्बद्ध है (यह जानना चाहिए)। 'गुरु' 'अक्षर' वाला कौन है? (उत्तर) (गुर्वक्षरम्) त्रैष्टुभम्=('गुरु' अक्षरों वाला) 'त्रिष्टुप्' है।

लघ्वत्तराणां लघुवृत्ति सर्वं
लघ्वक्षरं जागतमेव विद्यात् ॥६१॥

सू० अ०—लघु स्वभाव वाले सब (पदार्थ) 'लघु' अक्षरों से सम्बद्ध हैं। 'लघु' अक्षर' वाला 'जगती' को ही जानना चाहिए (क्योंकि 'जगती' का ही उपोत्तम 'अक्षर' 'लघु' होता है)।

उ० भा०—यत्स्थावरं जङ्गमं लघुवृत्ति तत्सर्वं लघ्वक्षराणामेव विद्यात्। किं पुनस्तल्लघ्वक्षरम्? (लघ्वक्षरम्) जागतम् इति॥

उ० भा० अ०—जो कोई स्थावर और जङ्गम; लघुवृत्ति=लघु स्वभाव वाला है, वह; सर्वम्=सब; लघ्वक्षराणामेव विद्यात्='लघु' अक्षरों ही से सम्बद्ध है—यह जानना चाहिए। 'लघु' अक्षर' वाला कौन है? (उत्तर) (लघ्वक्षरम्) जागतम्=('लघु' 'अक्षर' वाला) 'जगती' है।

यश्छन्दसां वेद विशेषमेतं
भूतानि च त्रैष्टुभजागतानि।
सर्वाणि रूपाणि च भक्तितो यः
स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम्॥
स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम् ॥६२॥

सू० अ०—जो (व्यक्ति) छन्दों के विशेष को जानता है और 'त्रिष्टुप्' तथा 'जगती' से सम्बद्ध भूतों और सब रूपों को सविशेष जानता है, वह इन (छन्दों) से स्वर्ग को जीत लेता है और तदनन्तर अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

उ० भा०—यो ब्राह्मणश्छन्दसामेतं विशेषं वेद=भूतानि च त्रैष्टुभजागतानि यो वेद, सर्वाणि रूपाणि च। यो द्वादशाध्यायानां त्रयाणां चाभ्यासं करोति। भूतानि

च त्रैष्टुभजागतानि सर्वाणि रूपाणि च भक्तितः । स स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम् त्रैष्टुभजागतानि यो वेदः भक्तितः स स्वर्गं लोकं जयति एभिश्छन्दोभि ; अथामृतत्वं च गच्छति—इत्याह भगवाञ्छौनकः । श्लोका —

गायत्र्यादीनि च्छन्दांसि सोमो यैराहृतः पुरा ।
तानि सर्वमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सच राचरम् ॥
स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वृद्धिकरं शुभम् ।
कीर्तिमृग्यं यशस्यं च छन्दसां ज्ञानमुच्यते ॥

छन्दोज्ञानं नान्यत्; तस्मात् प्रयत्नं कुरु । महाज्ञानानां नान्यदस्तीति तत्त्वम् ।

इति श्रीपार्षदव्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रउवट-
कृतौ प्रातिशाख्यभाष्येऽष्टादशं पटलं समाप्तम् ॥

प्रातिशाख्यभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥

इति उवटकृतभाष्यसहितमृग्वेदप्रातिशाख्यं समाप्तम् ।

उ० भा० अ०—यश्छन्दसामेतं विशेषं वेद=जो ब्राह्मण छन्दो के इस विशेष को जानता है=जो 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' से सम्बद्ध भूतो और सब रूपो को जानता है । और जो (प्रथम पटल से लेकर पञ्चदश पटल तक के) पन्द्रह (=१२+३) पटलों (अध्यायो) का अभ्यास करता है । भूतानि च त्रैष्टुभजागतानि सर्वाणि रूपाणि च भक्तितः । स स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम्=जो (व्यक्ति) 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' से सम्बद्ध (भूतो और सब रूपों को) सविशेष जानता है, वह इन छन्दो से स्वर्ग लोक को जीत लेता है और तदनन्तर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है—ऐसा भगवान् शौनक ने कहा है । (इस विषय में ये) श्लोक हैं—

जो 'गायत्री' आदि छन्दः प्राचीन काल में सोम को लाये थे वे ('गायत्री' आदि छन्द ही) ये सम्पूर्ण चराचर तीन लोक हैं ।[क] छन्दो का ज्ञान स्वर्ग को प्रदान करने वाला, यश और आयु को बढाने वाला, पवित्र, समृद्धि करने वाला, शुभ, कीर्ति के लिए अन्वेषणीय और यश को बढाने वाला है ।

छन्दोज्ञान से अन्य नही है । इसलिए (छन्दोज्ञान की प्राप्ति के लिये) प्रयत्न करो । महा-ज्ञानो में (छन्दोज्ञान के समान) दूसरा ज्ञान नही है—यह तात्पर्य है ।

टि० (क) सोम के पलायन तथा आहरण की कथा के लिये बृहद्देवता ६।१०९-११४ को देखिय ।

आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य-भाष्य में अष्टादश पटल समाप्त हुआ ।

प्रातिशाख्य में तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

उवटकृत भाष्य के सहित ऋग्वेद-प्रातिशाख्य समाप्त हुआ ॥

परावरे ब्रह्मणि यं सदाहुर्
वेदात्मानं वेदनिधिं मुनीन्द्राः ।
तं पद्मगर्भं परमं त्वादिदेवं
प्रणम्यर्चां लक्षणमाह शौनकः ॥१॥

माण्डूकेयः संहितां वायुमाह
तथाकाशं चास्य माक्षव्य एव ।
समानतामनिले चाम्बरे च
मत्वागस्त्योऽविपरिहारं तदेव ॥२॥

अध्यात्मक्लृप्तौ शूरवीरः सुतश्च
वाङ्मनसयोर्विवदन्त्यानुपूर्व्यं ।
सन्धेर्विवर्तनं निर्भुजं वदन्ति
शौद्धाक्षरोच्चारणं च प्रतृण्णम् ॥३॥

उभयं व्याप्तमुभयमन्तरेण
तथा परे कामा अग्नाकोभयाख्या ।
प्राणः पकारो यच्च वलं णकारो
वाक्प्राणयोर्यश्च होमः परस्परम् ॥४॥

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च ।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः ॥५॥

स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम् ।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता ॥६॥

छन्दोज्ञानमाकारं भूतज्ञानं
छन्दसा व्याप्तिं स्वर्गामृतप्राप्तिम् ।
अस्य ज्ञानार्थमिदमुत्तरत्र
वक्ष्ये शास्त्रमखिलं शैशिरीये ॥७॥

पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः ।
स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसंपदम् ॥८॥

अकारर्कारावि उ ए ओ ऐ औ
पदाद्यन्तयोर्न ऌकारः स्वरेषु ।
आकारादीन्दीर्घरूपान्द्वितीयान्
ह्रस्वेषु पञ्चस्वपि तानि सन्ति ॥९॥

कखौ गघौ ङ चछौ जझौ ञ
टठौ डढौ ण तथौ दधौ न ।
पफौ बभौ म यरलवा हशषसा
अ ꣲ क ꣳ प अ इति वर्णराशिः क्रमश्च ॥१०॥

अथ ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्

अथ प्रथमं पटलम्

[१]अष्टौ समानाक्षराण्यादितस् [२]ततश् चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि ।
[३]एते स्वरा [४]इपरो दीर्घवत्प्लुतो ऽ[५]नुस्वारो व्यञ्जन वा स्वरो वा ॥१॥

[६]सर्वं शेषो व्यञ्जनान्येव[७] तेषामाद्या स्पर्शा [८]पञ्च ते पञ्चवर्गा ।
[९]चतस्रोऽन्तस्थास्तत [१०]उत्तरेऽष्टा ऊष्माणोऽ[११]न्त्या सप्त तेषामघोषा. ॥२॥

[१२]वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ [१३]युग्मौ सोष्माणाव[१४] नुनासिकोऽन्त्यः ।
[१५]तस्मादन्यमवसाने तृतीय गार्ग्य स्पर्शं [१६]प्रथम शाकटायन. ॥३॥

[१७]ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ता स्वराणाम् [१८]अन्ये दीर्घा [१९]उभये त्वक्षराणि ।
[२०]गुरूणि दीर्घाणि [२१]तथेतरेषा सयोगानुस्वारपराणि यानि ॥४॥

[२२]अनुस्वारो व्यञ्जन चाक्षराङ्ग [२३]स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य ।
[२४]पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ [२५]सयोगादिर्वा [२६]च परक्रमे द्वे ॥५॥१॥

[२७]मात्रा ह्रस्वस् [२८]तावदवग्रहान्तर [२९]द्वे दीर्घ[३०]स्तिस्र प्लुत उच्यते स्वरः।
[३१]अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३दर्थे प्लुतिर्भीरिव विन्दती३ँ ॥६॥

[३२]स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्ग [३३]द्राघीयसी सार्धमात्रे[३४]तरे च ।
[३५]अर्धोनान्या [३६]रक्तसज्ञोऽनुनासिक [३७]सयोगस्तु व्यञ्जनसंनिपात. ॥७॥

[३८]कण्ठ्योऽकारः [३९]प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणा [४०]केचिदेता उरस्यौ ।
[४१]ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीया. प्रथमश्च वर्ग ॥८॥

[४२]तालव्यावेकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकार शकार ।
[४३]मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ [४४]दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः ॥९॥

[४५]सकाररेफलकाराश्च [४६]रेफ वर्स्व्यमेके [४७]शष ओष्ठ्योऽपवाद्य ।
नासिक्यान् [४८]नासिक्ययमानुस्वारान् [४९]इति स्थानान्य[५०]त्र यमोपदेश ॥१०॥२॥

[५१]जिह्वामूलं तालु चाचार्य आह स्थान डकारस्य तु वेदमित्र ।
[५२]द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सपद्यते स डकारो ळकार ॥११॥

ळहकारतामेति स एव चास्य ढकार सन्नूष्मणा सप्रयुक्त ।
इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण ॥१२॥

[५३]न्यायैर्मिश्रानपवादान्प्रतीयात् [५४]सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम् ।
[५५]स्थानप्रश्लेषोपदेशे स्वराणा ह्रस्वादेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ ॥१३॥

[५६]असावमुमिति तद्भावमुक्त यथान्तर [५७]पादवच्चैव प्रैषान् ।
[५८]प्राक्चानार्षादितिकरणात्पदान्तांस् तद्युक्तानां [५९]तेन येऽसंहितानाम् ॥१४॥

[६०]सामवशा इति चैवापवादान् कुर्वन्ति ये संपद पादवृत्तयो. ।
[६१]अप्रत्याम्नाये पदवच्च पद्यान् [६२]ऋते नतोपाचरितक्रमस्वरान् ॥१५॥३॥
[६३]अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान् ।
[६४]तत्तिमात्रे शाकला दर्शयन्त्याचार्यशास्त्रापरिलोपहेतवः ॥१६॥
[६५]ऋकारादयो दश नामिन' स्वरा [६६]पूर्वो नन्ता नतिषु नम्यमुत्तरम् ।
[६७]सह्रोपधोऽरिफित एकवर्णवद् विसर्जनीय. स्वरघोषवत्पर ॥१७॥
[६८]ओकार आमन्त्रितज प्रगृह्य. [६९]पद चान्यो [७०]ऽपूर्वपदान्तगश्च ।
[७१]षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस् त्रयो दीर्घा [७२]साप्तमिकी च पूर्वो ॥१८॥
[७३]अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्या [७४]उपोत्तमं नानुदात्त न पद्यम् ।
[७५]उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघित शाकलेन ॥१९॥
[७६]ऊष्मा रेफी पञ्चमो नामिपूर्वो [७७]महोऽपोवर्जमितरो यथोक्तम् ।
[७८]अन्तोदात्तमन्तर[७९]क्षाविपर्यये [८०]स्पर्शे चोष. प्रत्यये पूर्वपद्य. ॥२०॥४॥
[८१]प्रातर् [८२]देवं भार् [८३]ववराद्युदात्त [८४]करनुदात्तम् [८५]अविभस् [८६]तदाद ।
[८७]स्त प्रागाथमे[८८]तवो कर् [८९]दिवे कर् [९०]अपस्क[९१]त्सार[९२]विपूर्वमस्त ॥२१॥
[९३]स्व स्वरित [९४]न समासाङ्गमुत्तर [९५]स्वरादेशोऽपूर्वपदेश्व[९६]वर्मह ।
[९७]अनर्थर्चान्ते स्वरघोषजत्परमूधर् [९८]न रेफेऽवधासोऽतृणन्मही ॥२२॥
[९९]वरवरावरिति- नैकपादे व्यपपूर्वाण्यसमासाङ्गयोगे ।
[१००]पथ्या भवोनी दिवि चक्षसा भदे पूर्वोऽर्चिषातीतृषामोत्तरेषु न ॥२३॥
[१०१]होत. सनित' पोतर्नेष्ट सोत सवितर्नेतस्त्वष्ट ।
मातर्जनितर्भ्रातस्त्रात स्यातर्जरितर्धातर्वर्त. ॥२४॥
[१०२]जामातर्दुहितर्दर्तः प्रशास्तरवित पित' ।
दोषावस्तरवस्पर्त. प्रयन्तश्चेङ्ग्यमुत्तमम् ॥२५॥
[१०३]दीवरभारवरीवरदर्दर् दर्दरदर्धरजागरजीग ।
वारपुन पुनरस्परक स्प सस्वरह सनुत सवरस्वा ॥२६॥५॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये प्रथमं पटलम् ॥

अथ द्वितीयं पटलम्

[१]संहिता पदप्रकृतिः [२]पदान्तान् पदादिभिः सदधदेति यत्सा ।
कालाव्यवायेन [३]स्वरान्तर तु विवृत्ति [४]सा वा स्वरभक्तिकाला ॥१॥
[५]पदान्तादिष्वेव विकारशास्त्र पदे दृष्टेषु वचनात्प्रतीयात् ।
[६]पद पदान्तादिवदेकवर्णं प्रश्लिष्टमप्या[७]नुपूर्व्येण सधीन् ॥२॥
[८]एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे भवन्ति व्यञ्जनमुत्तर यदेभ्यः ।
तेऽन्वक्षरसधयोऽनुलोमा [९]प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव ॥३॥

[१०]तत्र प्रथमास्तृतीयभाव प्रतिलोमेषु नियन्त्य[११]थेतरेषु ।
ऊष्मा परिलुप्यते त्रयाणा स्वरवर्जं [१२]न तु यत्र तानि पद्मा: ॥४॥

[१३]पुरएता तितउना प्रउग नमउक्तिभि ।
अन्त:पदं विवृत्तयो [१४]अतोऽन्या पदसंधिषु ॥५॥१॥

[१५]समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् ।
[१६]इकारोदय एकारमकार सोदयस् [१७]तथा ॥६॥

उकारोदय ओकारं [१८]परेष्वैकारमोजयो: ।
[१९]औकारं युग्मयो[२०]रेते प्रश्लिष्टा नाम संधय: ॥७॥

[२१]समानाक्षरमन्तस्था स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम् ।
[२२]न समानाक्षरे स्वे स्वे [२३]ते क्षैप्रा: प्राकृतोदया: ॥८॥

[२४]विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वं स्वरोदय. ।
आकार[२५]मुत्तमौ च द्वौ स्वरौ [२६]ता: पदवृत्तय: ॥९॥

[२७]ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकार [२८]पूर्वौ चोपोत्तमात्स्वरौ ।
[२९]त उद्ग्राहा [३०]दीर्घपरा उद्ग्राहपदवृत्तय: ॥१०॥२॥

[३१]ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽन्तरागम ।
[३२]ऋकार उदये कण्ठ्यावकार तदुद्ग्राहवत् ॥११॥

[३३]उद्ग्राहाणा पूर्वरूपाण्यकारे प्रकृत्या द्वे ओ भवत्येकमाद्यम् ।
प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयस्ता. पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति ॥१२॥

[३४]अथाभिनिहित. संधिरेतै. प्राकृतवैकृतै ।
एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र संधिजा ॥१३॥

[३५]अन्त.पादमकाराच्चेत् संहिताया लघोर्लघु ।
यकाराद्यक्षर पर वकाराद्यपि वा भवेत् ॥१४॥

[३६]अन्याद्यपि तथायुक्तमावोऽन्तोपहितात्सत ।
[३७]अयेऽयोऽवेऽव इत्यन्तैरकार. सर्वथा भवन् ॥१५॥३॥

[३८]व इत्येतेन चा न प्र क्व चित्र. सवितैव क ।
पदैरुपहितेनैतै: [३९]सर्वैरेवोदया: परे ॥१६॥

[४०]अदादवत्रोऽजनयन्ताव्यत्या अभेदयोऽपाष्टिरवन्त्ववीरता ।
अमुमुक्तममतयेऽनशामहा अव त्वचोऽवीरतेऽवास्यवोऽरथा. ॥१७॥

[४१]वासोवायोऽभिभुवे कवष्य. सक्रन्दनो धीजवन. स्वधाव· ।
उत्सादत ऋताव. सगर्भ्यो हिरण्यशृङ्ग इति चोपधाभि. ॥१८॥

[४२]येऽरा रायोऽध मेऽवायि नोऽहिरग्नेऽभिदासति ।
जायमानोऽभवोऽग्नेऽय नृतोऽपोऽह्नोऽतिपिप्रति ॥१९॥

[४३]जम्भयन्तोऽहिं मरुतोऽनु भर्त्री यवसेऽविष्यन्वयुनेऽजनिष्ट ।
वृत्रहत्येऽत्री समरेऽक्रमाना मरुतोऽमदन्नभितोऽनवन्त ॥२०॥४॥
[४४]ध्रुवतेऽध्वंस्तवसेऽवाचि मेऽरपद् दधिरेऽग्ना नहुषोऽस्मत्पुरोऽभिनत् ।
उप तेऽधा वहतेऽयं यमोऽदितिर् जनुषोऽया सुवितोऽनु श्रियोऽधित ॥२१॥
[४५]वपुषेऽनु विशोऽयन्त सन्तोऽवद्यानि खेऽनस ।
भरन्तोऽवस्यवोऽवोऽस्तु बुध्न्योऽजो मायिनोऽघम ॥२२॥
[४६]देवोऽनयत्पुरूवसोऽनु रण्वो मूतोऽभि श्वेतोऽरुपस्तेन नोऽध ।
येऽज्ञामयस्तेऽरदन्नोऽधिवक्ता तेऽवर्धन्त तेऽरुणेभि सदोऽधि ॥२३॥
[४७]स्वाध्योऽजनयन्वनोऽभिमातीरग्नेऽप दह मनसोऽधि योऽध्वनः ।
योऽप्यस्तेऽविन्दँस्तपसोऽधि न योऽधि पादोऽस्य योऽति ब्राह्मणोऽस्य योऽनयत् ॥२४॥
[४८]सोऽस्माक यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यस् तेभ्योऽकर पयस्वन्तोऽमृताश्च ।
[४९]अन्योऽश्विकेऽयो इति नोदयेषु पुत्र पराके च परावतश्च ॥२५॥५॥
[५०]अन्त पादं च वयो अन्तरिक्षे वयो अस्याश्रयो हेतयस्त्रय ।
यो अन्धस शयवे अश्विनोभये श्रवो अधि साञ्जयो आमयः पयः ॥२६॥
[५१]प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्या. [५२]स्वरेषु चाप्यौ [५३]प्रथमो यथोक्तम् ।
[५४]सहोदयास्ताः प्रगृहीतपदाः सर्वत्रैव [५५]त्र्यक्षरान्तास्तु नैवे ॥२७॥
[५६]आप्यमिव संध्ययकारपूर्वो विवृत्तेश्च प्रत्यय सन्नुकार ।
[५७]ऊकारादौ स्विति [५८]पूर्वेत्यकारे न चेत्तदेकाक्षरतन्नपूर्वम् ॥२८॥
[५९]अद्धा सम्राज्ञी सुशमी स्वधोती पृथुज्रयी पृथिवीषा मनीषा ।
अया निद्रा ज्या प्रपेति स्वराणा मूल्ये परे पञ्चमषष्ठयोश्च ॥२९॥
[६०]स्वरे पादादा उदये सचेति [६१]ध्वन्त जोष चर्षणीश्चर्षणिभ्यः ।
एकारान्त मित्रयोरस्मदीवन् नमस्युरित्युपच चेत्यपृक्तम् ॥३०॥६॥
[६२]एकारौकारपरौ च कण्ठ्यौ लुगादर्वाग् [६३]गोतमे चाभिनन्त ।
[६४]विभ्वा विधर्ता विपन्या कदा या मानेत्यृकारेऽप्यपादादिभाजि ॥३१॥
[६५]परुच्छेपे भीषा पर्येत्यकार [६६]एवौ अग्निमभिषु सा प्लुतोपधा ।
[६७]सचादयो या विहिता विवृत्तय प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधा. ॥३२॥
[६८]सेदु सास्मिन्सेमभि सामिवेग सेदृभव सोपमा सौषधीरनु ।
सास्मा अर सोत न सेन्द्र विश्वा सेति सास्माकमनवद्य सासि ॥३३॥
[६९]सेदग्ने सेदग्निर्वसिष्ठ सास्माकेभि सेदुग्र- सेमे ।
सैना सन सेमं सोदञ्च सेमा सोषा सेशे सेदीशे ॥३४॥
[७०]नू इत्था ते सानो अव्ये वो अस्मे वासौ वेधस्याम् ।
धिष्ण्येमे नू अन्यत्रा चित् पादादौ नू इन्द्रोत्यर्वाक् ॥३५॥७॥
[७१]उदू अपाच्रजेषित धनचं शतचंसं दशोणये दशोण्ये ।
ययोर्हिषे यथोचिषे दशोणि स्वरोदय पिबा इम रथोळ्ह ॥३६॥

[72]वीरास एतन तमू अकृण्वँस् ततारेव प्रैषयू रोदसीमे ।
धन्वर्णसः सरपस. सचोत प्रधीव वीळू उत सर्तवाजौ ॥३७॥
[73]अश्विनेव पीवोपवसनाना मह्रो आदित्याँ उषसामिवेतय. ।
स्तोतव अम्ब्य च सृजा इयध्यै सचेन्द्र सानो अव्यये स्वधामिता ॥३८॥
[74]गोओपशागोऋजीकप्रवादो मनीषा आ त्वा पृथिवी उत द्यौः ।
मनीषावस्यू रणया इह्राव बृहतीइवेति च यथागृहीतम् ॥३९॥
[75]योनिमारैंगगादारैंग् आरैंग्दुर्योण आवृणक् ।
हन्त्यासद्रूप आरुपितमनायुधास आसता ॥४०॥८॥
[76]अस्त्वासतो निराविध्यद् अभ्यादेव क आसतः ।
न्यावृणङ्क्किरादेवो न्याविध्यदेनमायुनक् ॥४१॥
[77]अहिहृनारिणक्पथ आयुक्षाताभुदावता ।
रिक्थमारैंग्य आयुक्त कुरुश्रवणमावृणि ॥४२॥
[78]शुनश्चिच्छेप निदित नरा वा शस पूषणम् ।
नरा च शंस दैव्य ता अनानुपूर्व्यसहिता ॥४३॥
[79]यतो दीर्घस्ततो दीर्घा विवृत्तयो [80] द्विषघयस्तूभयत स्वरस्वरा. ।
[81]प्राच्यपञ्चालउपधानिभोदया शाकल्यस्य स्थविरस्ये[82]तरा स्थिति ॥४४॥९॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये द्वितीयं पटलम् ॥

अथ तृतीयं पटलम्

[1]उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय. स्वराः ।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस् त उच्यन्तेऽ[2]क्षराश्रया ॥१॥
[3]एकाक्षरसमावेशे पूर्वयो स्वरित. स्वर ।
[4]तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा ॥२॥
[5]अनुदात्त. पर शेष स उदात्तश्रुति[6]र्न चेत् ।
उदात्त वोच्यते किञ्चित् स्वरित वाक्षर परम् ॥३॥
[7]उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्त पदेऽक्षरम् ।
[8]अतोऽन्यत्स्वरित स्वार जात्यमाचक्षते पदे ॥४॥
[9]उभाभ्या तु पर विद्यात् ताभ्यामुदात्तमक्षरम् ।
अनेकमप्यनुदात्त[10] न चेत्पूर्व तथागतात् ॥५॥१॥
[11]उदात्तवत्येकीभाव उदात्त सध्यमक्षरम् ।
[12]अनुदात्तोदये पुन स्वरित स्वरितोपधे ॥६॥
[13]इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च ।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥७॥

[15]माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत् ।
[16]इत्येकीभाविना धर्माः[16] परं प्रथमभाविनः ॥८॥
[17]उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा ।
स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम् ॥९॥
[18]वैवृत्ततैरोव्यञ्जनौ क्षैप्राभिनिहितौ च तान् ।
प्रश्लिष्टं च यथासंधि स्वारानाचक्षते पृथक् ॥१०॥२॥
[19]स्वरिताद्नुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा ॥११॥
[20]केचित्त्वेकमनेकं वा नियच्छन्त्यन्ततोऽक्षरम् ।
आ वा शेषा[21]न्नियुक्तं तूदात्तस्वरितोदयम् ॥१२॥
[22]नियमं कारणादेके प्रचयस्वरधर्मवत् ।
प्रचयस्वर आचारः शाकल्यान्यतरेययोः ॥१३॥
[23]परिग्रहे त्वनार्षान्तात् तेन वैकाक्षरीकृतात् ।
परेषां न्यासमाचारं व्यालिस्तौ चेत्स्वरौ परौ ॥१४॥
[24]यथा संधीयमानानामनेकीभवतां स्वरः ।
उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे ॥१५॥३॥
[25]पद्यादी स्तु द्व्युदात्तानामसहितवदुत्तरान् ।
[26]जात्यवद्वा तथा वान्तौ तनू शचीति पूर्वयोः ॥१६॥
[27]त्रिमात्रयोरुत्तरयोरन्त्यापि प्रचयस्वरे ।
मात्रा न्यस्ततरैकेषाम्[28] उभे व्यालिः समस्वरे ॥१७॥
[29]असंदिग्धान्स्वरान्ब्रूयात् [30]अविकृष्टान[31]कम्पितान् ।
[32]स्वरितं नातिनिर्हण्यात् [33]पूर्वं नातिविवर्तयेत् ॥१८॥
[34]जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ॥१९॥४॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये तृतीयं पटलम् ॥

अथ चतुर्थं पटलम्[1]

[1]स्पर्शाः पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तराण्यास्थापितानामवशगम तत् ।
[2]घोषवत्परा प्रथमास्तृतीयान् स्वानु[3]त्तमानुत्तमेषूदयेषु ॥१॥
[4]सर्वे प्रथमैरुपधीयमानः शकारः शाकल्यपितुश्छकारम् ।
[5]पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतैस्तेषां चतुर्थानुदयो हकारः ॥२॥
[6]विस्थाने स्पर्श उदये मकारः सर्वेषामेवोदयस्योत्तमं स्वम् ।
[7]अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु ॥३॥

[8]तथा नकार उदये लकारे [9]ञकारं शकारचकारवर्गयोः ।
[10]तकारो जकारलकारयोस्तौ [11]तालव्येऽघोष उदये चकारम् ॥४॥

[12]छकारं तयोरुदयः शकारो [13]न शाकल्यस्य [14]ता वशंगमानि ।
[15]रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोऽनुस्वार तत्परिपन्नमाहुः ॥५॥१॥

[16]ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरेके ककारं [17]टकारनकारयोस्तु ।
आहुः सकारोदययोस्तकारं [18]ञकारे शकारपरे चकारम् ॥६॥

[19]तेऽन्त पाता [20]अकृतसंहितानामूष्मान्तानां पटलेऽस्मिन्विधानम् ।
[21]चित्कम्भनेनोष्मलोप. [22]ककुद्मान् [23]सम्राट्शब्दः परिपन्नापवाद· ॥७॥

[24]विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्परः ।
[25]ओकारं ह्रस्वपूर्व[26]स्तौ सधी नियतप्रश्रितौ ॥८॥

[27]सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफ रेफी ते पुना रेफसधयः ।
[28]रेफोदयो लुप्यते [29]द्राघितोपधा ह्रस्वस्था[30]कामनियता उभाविमौ ॥९॥

[31]अघोषे रेफयरेफी चोष्माणं स्पर्श उत्तरे ।
तत्सस्थानमनूष्मपरे [32]तमेवोष्माणमूष्मणि ॥१०॥२॥

[33]प्रथमोत्तमवर्गीये स्पर्शे वो[34]ष्मणि चानते ।
[35]व्यापन्न ऊष्मसधिः स विक्रान्त. प्राकृतोपध ॥११॥

[36]ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते परे नतेऽपि [37]सोऽन्वक्षरसंधिर्वक्त्र· ।
[38]अव्यापत्ति कखपफेषु वृत्ती [39]रेफ स्वर्घू पूरघोषेष्वविग्रहे ॥१२॥

[40]नाक्षा इन्दु स्वधितीवाहु एव भूण्याददेऽह्नोभिरुषर्वसूयव. ।
क्षावर्तमोऽह्नोरात्र्याण्यदी पितो प्रचेता राजन्वर्तनीरहेति च ॥१३॥

[41]यथादिष्टं नामिपूर्व· षकार सकारमन्योऽरिफित ककारे ।
पकारे च प्रत्ययेऽन्त.पदं तु सर्वत्रैवोपाचरित स संधि ॥१४॥

[42]अन्त पादं विग्रहेऽकारपूर्व· पतिशब्दे द्व्यक्षरे पुरुप्रवादे ।
[43]करं कृत कृधि करत्करित्यपि परेषु [44]पादान्तगते परीति च ॥१५॥३॥

[45]असोऽन्तोऽरेफवत पारशब्दे परि कृतानि करतीति चैषु ।
अपादान्तीयेष्वपि प्रत्ययेषु [46]वास्तोरित्येतत्पतिशब्द उत्तरे ॥१६॥

[47]आविर्हविर्ज्योतिरित्युत्तरश्चेत् ककारो[48]ऽयो पान्तपश्यन्तिशब्दौ ।
[49]इळाया गा नमसो देवयुर्दुहो मातुरिळस्तानि पदप्रवादे ॥१७॥

[50]पूर्व पुर पूरिति पूर्वपद्यान् पदानि चापोद्य नवैतदेवम् ।
[51]अस्या य सोनो बृहतोऽस्य पूर्व्य उरु ज्योतिर्जात इमो वृषोऽन्य. ॥१८॥

[52]ब्रह्मणो द्वे त्रातऋतो विदुर्वसु पशुरेतानि कविशब्द उत्तरे ।
[53]पथिशब्दे जिन्वथश्चेतथोमहु [54] पृथुशब्दे विश्वतो वीळितो रज ॥१९॥

[55]कामरोणपूर्णिमन्त्रेषु राग. [56]पादादिरन्तश्च दिवस्परीति च ।
[57]दिवस्पृथिव्या अपगस्पदीष्ट पूर्वं पादादौ यदि [58] सस्पदीष्ट ॥२०॥४॥
[59]अग्नी मह: महस इळायाः पास्त्रियेकं पुत्रशब्दे पराणि ।
[60]रायस्पो महस्करयो महस्पर निष्कृथाद निष्कृथ निष्पिपर्तन ॥२१॥

[61]कबन्ध पृषु कण्वास पुत्रः पातु पया पयः ।
पायुः पृष्ठं पदं तेषां प्रयादा उदये दिव. ॥२२॥
[62]रजसस्पात्यन्तासाया. कण्वाव्या चतुरस्कर ।
स्वादुषिक्त निदस्पातु द्यौष्पितर्वसतिष्कृता ॥२३॥
[63]उपो रत्रिष त्रिष्टुब्वी धीष्पीपाय विशिष्पतात् ।
धोषिता रजसस्पृष्टो ददुष्पश्चात्र नस्कर ॥२४॥
[64]मनुष्कृधिनगनुष्पिता पितुष्पिता पितुष्परि ।
प्र पस्पुरो मयस्करन् नमस्पायस्त्रयस्पर ॥२५॥५॥

[65]नकार आकारोपध. पश्चान्तोऽपि स्वरोदय. ।
लुप्यते:[66]यान् जमसानान् जयन्वान् देवहृतमान् ॥२६॥
वनुष्यानो इन्द्र गोमांग् तृपाणान् नो देव देवान् ।
हृता देवी इति [67]नैता आन्पदा. पदवृत्तय ॥२७॥
[68]विवृत्त्यभिप्रायेषु च पीवोअन्नां रयिवृध. ।
वयन्वां मो जुजुर्वां य. स्ववां या तु दद्वां येति ॥२८॥
[69]हत योनौ वचोभिर्यान् युवन्यूंर् वनिर्यीप्टेति ।
ईकारोकारोपहितो रेफमेषु [70] स्वरेषु च ॥२९॥
[71]दस्यूंरेको नॄंरभि च [72]ते स्पर्शरेफसधय ।
[73]नास्मानुपैतावान्स्फुरान् गच्छान् देवानयाड् वहान् ॥३०॥६॥

हिरण्यवक्रान्मायावान् घोषांस् तानस्विनाविद्वान् ।
पयस्वान्पुत्राना पेषा यजीयान्पतीनुरो ॥३१॥
[74]चरति चक्रे चमसांश्च चो चिद् चरसि च्योत्नश्चतुरश्चिकित्वान् ।
एतेषु सर्वत्र विसर्जनीयवद् दीर्घोपधोऽ[75]स्मान् चमसान्पशून्न ॥३२॥
[76]तांस्ते सर्वास्तान्देवांस्त्व तांस्त्रायस्वावदंस्त्व च ।
[77]विसर्जनीय परेष्विति ते स्पर्शोष्मसधय ॥३३॥
[78]नॄः पतिभ्यो नॄः प्रणेत्र नॄं पात्र स्वतवां पायु ।
सधिविक्रान्त एवैष [79]नॄं पाहि शृणुधीति च ॥३४॥
[80]नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिक स्वर. ।
[81]आदिस्वरश्चोत्तरेषा पदेऽपि [82]मांस्पचन्या मांश्चत्वे मंश्चतोश्च ॥३५॥७॥
[83]ईमित्यन्तलोप एषूदयेषु गर्भं गावो वत्स मृजन्ति पृच्यते ।
सखायो दिव्याच पुना रिणन्ति रथमित्यन्वक्षरमधिरेव स ॥३६॥

[८४]पुरु पृथ्वधि पूर्वेषु शकार उपजायते ।
ह्रस्वे च पूर्वपद्यान्ते चन्द्रशब्दे परेऽन्तरा ॥३७॥

[८५]परीति पद्ये कृपरे पकारो [८६]वनेति रेफ. सदशब्द उत्तरे ।
[८७]परिष्कृण्वन्ति वेधसोऽ[८८]स्कृतोपस [८९]शौद्वाक्षरा सधय एत उक्ताः ॥३८॥

[९०]मेधातिथी वरुणान्तव्रतान्तौ स्पर्शान्तिस्थाप्रत्ययौ निह्र्नसेते ।
[९१]आदित्या देवा वरुणासुरेति येत्यादिषु [९२]वयमित्यत्र मित्रा ॥३९॥

[९३]या सुप्रतीकं निष्कृत पुरोहिति क्षत्र दाशति शवसा भिषज्यथः ।
[९४]सो चिन्वगस्त्ये दशमे च मण्डले[९५]सा न्वीयते[९६]स. पलिक्नी[९७]हि षस्तव॥४०॥

[९८]जुगुक्षतो दुदुक्षन्गा अदुक्षद् दुक्षन् वृधेऽस्य दुक्षतानु दक्षि ।
दक्षन्न परमन्दक्षुपोऽभि दक्षत् कृष्णासो दक्षि हियानस्य दक्षो ॥४१॥८॥

॥इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये चतुर्थं पटलम्॥

अथ पञ्चमं पटलम्

[१]अन्त.पाद नाम्युपध सकार. षकारमप्यूष्मपरैर्यथोक्तम् ।
अन्यैरेकारान् [२]नतिरत्र पूर्वा ततो व्यापत्तिर्भवतीति विद्यात् ॥१॥

[३]सूती नकि. स्वैर्व्युरु नह्यभि त्री नि हीति स [४]द्व्यक्षरेणैव सत्स्थः ।
[५]स्ववह्वरेण [६]पदादयश्च स्यिति स्किति स्नित्य[७]रेफस्य च स्मिति ॥२॥

[८]एकारेणापि स्विति न.पर चेद् [९]दीर्घो न स्यिर[१०]यु च नास्पर्शपूर्वम् ।
[११]तकारवर्गस्तु टकारवर्गमन्त पदस्योऽपि षकारपूर्व ॥३॥

[१२]सिता सधस्थात्स्तनिहि स्तवाम स्तवे स्तुवन्ति स्तुहि सी स्तुत स्थ ।
साहि स्त स्तुम्सत्सि सत्सत्स्वनीति स्तोभेत्यादिश्चापि वह्वक्षरान्त्यै ॥४॥

[१३]नि परीति स्व सीत्यादी चकारवर्गीयोदयौ ।
[१४]दकारे चोत्तरे परान् से स सीति स्वरोदये ॥५॥१॥

[१५]सेव स्वापय सस्वजे सस्वजाते ससाद च ।
[१६]सन्त सन्त सन्ति पूर्वी स्थु स्या स्यादिति चोत्तर ॥६॥

[१७]हि षिञ्च तू पिञ्च रज सु पीदन्नितो पिञ्चताभि. पत किमु ष्वित् ।
सूरिभिष्ष्याम दिवि पन्तु के ष्ठ प्रति ष्फुर त्री पथस्था कमु ष्वित् ॥७॥

[१८]उ पुवाणो दिवि पन्सूरिभिष्ष्यामृच्छन्ति ष्म नू ष्ठिर वसु पीदति ।
नु ष प्र हि ष्ठो यशसा मही पा वि पा भूयामो षु यति ष्ठनेति च ॥८॥

[१९]वाजी स्तुतो वहन्ति सी पति स्या दित्ससि स्तुत ।
अपो सु म्यक्ष श्रुधि सु त्रि. स्म स्तुहि स्तुहीति न ॥९॥

[२०]युग्मान्तस्थादन्तमूलीयपूर्वैरन्त पद नम्यतेऽन्त पदस्थै. ।
[२१]अन्यपूर्वैरपि पद्यादिभाक्सन्ने[२२]काररेफमृतनोपवश्च ॥१०॥२॥

[२३]रेफकारकारपरः प्रकृत्या [२४]सं स्पृक्स्व सर्स्वरिति चाक्षराणाम् ।
[२५]सेति चास्य परिपन्नोपधा चेत् [२६]सयोगस्य चाप्यनुनासिकादेः ॥११॥

[२७]सहस्रं सनिता स्यात्रा सावित्र सूवरी स्नुषे ।
समुद्र सदृशा सारे सायकः सायनी सह ॥१२॥

सनित स्पष्टः सदृश. सखायं सप्तैरेते सानुशब्दश्च पद्या ।
[२८]सुते सोमे वक्षणेऽप्रामि चर्षणि स्वमिष्टीत्येवमुपधाश्च सर्वे ॥१३॥

[२९]अभिसत्वा रयिस्थानो यासिसीष्ठा सिसक्षि च ।
तिस्तिरे तिस्तिराणा च सिसिचे सिसिचुश्च न ॥१४॥

[३०]गोष्ठादिव गोषतमा उपष्टुत् सप्रवादो नार्षद पर्यषस्वजत् ।
स्वादुषसदः पुरुषन्तिशब्द सुषसद सुपमिवानुसेषिघत् ॥१५॥३॥

[३१]तकारे पूर्वपद्यान्तो व्यापन्नोऽरेफसहिते ।
नामिपूर्वो [३२]विग्रहे तु त्वा त इत्यनुदात्तयो ॥१६॥

[३३]अग्निरेकाक्षरस्यादौ [३४]नकिश्चाथो[३५] तनुष्विति ।
[३६]तत्ततन्युस्ततक्षुस्त तौग्र्यमित्युत्तरेषु नि ॥१७॥

[३७]पायुभि. पर्तृभिस्त्रिभिर् ददिर्वेरस्मयु. शुचि ।
उत्तरे त्वमितीयुष्टे[३८] वावृधुष्टे सधिष्टव ॥१८॥

गोभिष्टरेम क्रतुष्ट [३९]नाहुर्निष्षिष्वरी. प्रभोः ।
वन्दारु षष्टिराविस्त्रिर बाह्वोरित्यनुदात्तयो. ॥१९॥

[४०]ऋकाररेफषकारा नकार समानपदेऽवगृह्ये नमन्ति ।
अन्त पदस्थमककारपूर्वा अपि सध्या [४१]सध्य ऊष्माप्यनिङ्ग्ये ॥२०॥४॥

[४२]न मध्यमं स्पर्शवर्गव्यवेत [४३]परिप्रऋषीन्द्रादिषु चोत्तमेन ।
[४४]तथा शकारसकारव्यवेत सर्वादिषु [४५]पूर्वपदान्तग च ॥२१॥

[४६]नामिर्निर्णिकप्रवादादौ [४७]यकारस्पर्शसहितम् ।
[४८]कर्मनिष्ठा दीर्घनीथे [४९]भानुशब्दे [५०]हिनोमि च ॥२२॥

[५१]ह्रस्वोदय त्वेषपुर्वेवमादिषु [५२]त्रिश्रुअयुष्मादिषु चोभयोदयम् ।
[५३]अहकारेष्वधिकत्र्यक्षरेषु च पुर पुनर्दुश्चतुर्ज्योतिरादिषु ॥२३॥

[५४]उस्रयाम्णेऽनुस्रयाम्णे सुषाम्णे वृषमण्यवोऽधिपवण्या प्रण्य ।
[५५]दूळचदूणाशदूळभप्रवादा दुर्दूभूतमक्षर तेषु नन्तृ ॥२४॥

[५६]अव्यवेत विग्रहे विघ्नकृद्धौ रेफोष्माणौ सर्वपूर्वौ यथोक्तम् ।
[५७]आनीनु त्य नोनुवुर्नोनुमस्व नयत्यर्थं च प्र परीति पूर्वौ ॥२५॥५॥

[५८]पुरुप्रिया ब्रह्म सुतेषु नेषि प्लुताकारान्त सषकारमिन्द्र ।
नते सु स्मेति सवनेषु पर्षि स्वरर्यमा प्रोरु परीति तैर्न. ॥२६॥

[49]हेळो मुञ्चत मित्राय राया पूषा गव्यविपञ्छकारवत् ।
नव्येभिस्त्मने वाजान्कृणोत द्वे नय प्रतर परेषु न ॥२७॥

[50]गोरोहेण निर्गमाणीन्द्र एणा इन्द्र एण स्वर्ण परा णुदस्व ।
अग्नेरवेण वार्ण शक्र एणमे[51]वा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभाव ॥२८॥६॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये पञ्चमं पटलम् ॥

अथ षष्ठं पटलम्

[1]स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादिः स क्रमोऽविक्रमे सन् ।
[2]सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते सकृत् स्वेना[3]सयोगादिरपि च्छकार ॥१॥

[4]पर रेफात् [5]स्पर्श एव लकाराद् [6]ऊष्मणो वा [7]नावसित [8]न रेफ ।
[9]वोष्मा सयुक्तोऽनुपधो [10]न तूष्मा स्वरोष्मपरो [11]न परक्रमोपधा ॥२॥

[12]सहातिहाय पवमान यस्य द्वे तने चेत्युपहित. पदादि ।
छकारो [13]दीर्घेण च मेतिवर्ज [14]सयुक्त तु व्यञ्जन शाकलेन ॥३॥

[15]पदान्तीयो ह्रस्वपूर्वो ङकारो नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे ।
[16]अनादेशे पटलेऽस्मिन् विधान सर्वत्र विद्यादपि वैकृतानाम् ॥४॥

[17]अभिनिधान कृतसहितानां स्पर्शान्तस्थानामपवाद्य रेफम् ।
सधारण सवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयाना[18]मपि चावसाने ॥५॥१॥

[19]अन्तस्था स्वे स्वे च परेऽपि रक्ता [20]लकार ऊष्मस्वपि शाकलेन ।
[21]खकारे चैवमुदये ककार. स्यातेर्धातो [22]रप्सतेर्वा पकारः ॥६॥

[23]पदान्तीया यरवोष्मोदयाश्च स्पर्शा पदादिष्ववरे मकारात् ।
[24]असंयुक्त शाकल [25]तन्न मध्ये स्वित्युत्तरे [26]वा त्वनेकाक्षरान्त्या. ॥७॥

[27]सर्वत्रैके करणस्थानभेदे वा शाकल [28]प्रथमे स्पर्शवर्गे ।
[29]स्पर्शा यमाननुनासिका स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु ॥८॥

[30]न स्पर्शस्योष्मप्रकृते. प्रतीयाद् यमापत्ति [31]नाभिनिधानभावम् ।
[32]यम. प्रकृत्यैव सदृक् [33]श्रुतिर्वा यमेन गुर्व्यास्ति समानकाला ॥९॥

[34]अनन्यस्तु प्रकृते. प्रत्ययार्थे [35]न सयोग स्वरभक्तिर्विहन्ति ।
[36]यमान्नासिक्या स्वरभक्तिरुत्तरा गार्ग्यस्यो[37]ष्मा सोष्मणो [38]वर्जयेत्तम्॥१०॥२

[39]नाद परोऽभिनिधानाद् ध्रुव तत् तत्कालस्थान[40]मश्रुति त्वघोषात् ।
[41]नासिकास्थानमनुनासिकाच्चेद् [42]अन्तस्थायाः पूर्वस्वरूपमेव ॥११॥

[43]व्याळे सर्वत्राभिनिधानलोप. [44]परक्रमस्वररेफोपधे न ।
[45]सवर्णपूर्वस्य सहध्रुवस्य विपर्ययो ध्रुवशिष्टेऽपरेषाम् ॥१२॥

[46]रेफात्स्वरोपहिताद् व्यञ्जनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा ।
[47]विच्छेदात् स्पर्शोष्मपराच्च घोषिणो [48]द्राघीयसी तूष्मपरे[49]तरा क्रमे ॥१३॥

[५०]सर्वत्रैके स्वरभक्तेरभाव [५१]रेफोपधामपरे विद्यमानाम् ।
[५२]अक्रान्तोष्मप्रत्ययाभावमेके [५३]पूर्वोत्तरस्वरसरूपता च ॥१४॥

[५४]ऊष्मोदयं प्रथम स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम् ।
[५५]क्शातौ खकारयकारा उ एके [५६]तावेव ख्यातिसदृशेषु नामसु ॥१५॥३॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये षष्ठं पटलम् ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमं पटलम्

[१]दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जनेऽन्त्यस्त्वृकाराद् यथादिष्ट सामवश स सधि ।
[२]सैव प्लुति [३]र्या स्वरेषूपदिष्टा [४]योनिमारंगादिषु चोदयादे ॥१॥

[५]मक्षिवत्युकार प्लवते सर्वत्राप्यपदान्तभाक् ।
[६]सुता याहीत्यतोऽन्येषु पदेष्वच्छेति विग्रहे ॥२॥

[७]अनाकारोपधश्चान्त्यो येत्युत्तरपदस्य य ।
उदात्तादेर्द्व्यक्षरस्य [८]नास्येति व्यञ्जनोपध ॥३॥

[९]नियूय पिष्टतमयाभिपद्य प्रास्य सगत्यानुदृश्याभिवृत्य ।
आरभ्य समील्य मक्षुङ्गमाभिरभिव्लग्य यत्र निपद्य वीति च ॥४॥

[१०]नाहि जह्यभि वीर्येण कृघीति कृणुथेति च ।
एतान्येकाक्षरे पदे क्षैप्रीभाव्ये [११]पराणि च ॥५॥

[१२]युक्ष्व मन्दस्व विघ्नेति हीति [१३]विद्धि पिब त्विति ।
[१४]जुहोत यज धासथ शिशीत भरेति स्विति ॥६॥

[१५]सु नु हीत्येतेषु परेष्वघेति [१६]तृम्पतन मुञ्चताद्येति वीति ।
[१७]सु न्वित्यनर्थपरयोरुकार पद [१८]तयोरुत्तरे योज घेति ॥७॥

[१९]मृळयद्भ्या वसुवित्तमं यत्सोम जातवेदसम् ।
भरतेत्येतेष्व[२०]पादान्तो[२१]ऽद्येति करणादिषु ॥८॥

[२२]करण च चित्करते वृणीमहे भवत कृणोतु भवत स्वस्तये ।
[२३]पुर्विति चित्पुरुहूतो नृपूत सहस्राणि पुरुभुजा वियायते ॥९॥

[२४]वहेति त्वंदुहितर्दैव्यमुत्तर [२५]द्युम्न रुद्र नव्यमेतेषु वर्धय ।
[२६]चिन्महित्वगीर्गृणान सतेपर न्वित्यन्त्ये चेन्मतशब्दाद्रिव परे ॥१०॥२॥

[२७]तूतुजानो मतिभिर्भोजनानि नो दद्धि स्तोम भूरि योनिं त्वमेषु ।
भरेत्येतन् [२८]न नु चिद्यो [२९]भवेति स्तोतृभ्यो द्युम्नी शत मे परेषु ॥११॥

[३०]शोचा यविष्ठयैवा यथा कर्ता यत्सादया सप्त ।
अर्चा मरुद्भ्यस्तिष्ठा नः सना स्व पारया नव्य ॥१२॥

[३१]दोघा स्तोत्रे चक्रमा ब्रह्मवाह शशा गोपूच्छा दुहितर्वदा तना ।
अजा नष्ट जम्भया ता अधा महो गन्ता मा युक्ष्वा हि सृजा वनस्पते ॥१३॥

[32]अग्ने रक्षा णस्तिष्ठा हिरण्यय सोता वरेण्यं शोचा मरुद्वृधः ।
शिक्षा स्तोतृभ्यो भूमा त्रिवन्धुर. पिबा मधूना सोता परीति च ॥१४॥

[33]सक्ष्व मिमिक्ष्व दधिष्व वसिष्व श्रोत सुनोत हिनोत पुनात ।
विध जगृभ्म ररम्म ववन्म क्षाम सुपप्तनि मन्थत मत्स्व ॥१५॥३॥

सर रद रण जिन्व धारयार्ष क्षर यज यच्छ दशस्य साध सेध ।
तप रुज मृळ वर्ध यावयात्र श्रवय नमस्य विदाष्ट कृष्व जोष ॥१६॥

शृणुधि श्रृणुत यन्त यच्छत स्तव सिम गूहत कुत्र मोषथ ।
दिधृत पचत वृश्च विध्यताथ मदयास्त यदीत पाथन ॥१७॥

उपागत्याच्छलीकृत्य वव्राजाविष्टनोरुष्य ।
इच्कर्तेळिष्व मर्मृज्म विभयेयर्त तच्छतम् ॥१८॥

सार्धमद्यादिभिः प्लुतैः पादादौ व्यञ्जनोदयम् ।
न्वेववर्जं न संयोगे शेषे चापठिते सति ॥१९॥

[34]वर्ध शुभ्रे रुज यः सेध राजन् वह हव्यानि यदि मेऽध यामनि ।
विद्म दातारमघ धारयाध यदद्य ते विश्वं पुरु वार्चं गाय ॥२०॥४॥

वह वायो पिब मध्वः पुरु विश्वान्यव वायु पुरु शस्त ।
यदि मृत्योरघ जिह्वा पुरु विश्वा पिब शुद्ध पिब राये वह कुत्सम् ॥२१॥

भरद्वाजेऽर्च देवाय यदि वा पुरु दाशुषे ।
वह शुष्णायाध वह्लघ यत्पुरु हीति न ॥२२॥

[35]कृधीति परेषु सहस्रसा धिय जरित्रे न इति [36]तत्रेति चान्त्ये ।
[37]सहस्येन सुश्रवस पवस्व द्वे नो अधीत्येषु परेषु तेन ॥२३॥

[38]देव वेन कैतमित्युत्तरेषु दधातेति [39]श्रुधि वस्वेति न.परे ।
[40]वेदेति विश्वस्यमृममउत्तर [41]शुन शेपे च प्लवते यकारे ॥२४॥

[42]ब्रह्मेति नो द्वे च गिरः कृणोति ते कृणोत तूतोदिति चोत्तरेषु ।
[43]अभीति नो नु नवन्ते सतो नरं द्वा सत्स्वित्याग्ने[44]ऽर्षपरे तु मुख्ये ॥२५॥५॥

[45]चकृवंदेते दशस्यन्समुद्रो रथेन न. सप्तऋषीन्मदन्ति ।
ते वो भयन्ते नियुद्भिः कृणीट रथस्य सोमस्य मती रणन्ति ॥२६॥

[46]समुद्र द्वे स्वर्ण नवग्वशब्दो दशग्व वसिष्ठ वसूनि नो वसु ।
वृत्र निर्द्वे नु यतिभ्यः सहन्त. पृथिव्या निहंसि समत्सु पावक ॥२७॥

[47]यत्रेति चक्रुरादिषु नरः सुपर्णा इति च ।
[48]समुद्रादिषु येनेति [49]तत्रेति मे सदो रथम् ॥२८॥

[50]अवेति नो नु कल्पेषु नूनं वाजेषु पृत्सुषु ।
[51]आद्ये चेद्वाजयुपार्येकमग्नेमघवन्परे ॥२९॥

[52]रास्वा पित. शतेना नो वर्धस्व सु श्रुधी हवम् ।
मन्दस्वा सु वहस्वा सु वनेमा ते नही नु वः ॥३०॥६॥

[४१]पाथा दिवो धाता रयिं सृजता गयसावनम् ।
रास्वा चोद न शग्धी न: सृजता मधुमत्तमम् ॥३१॥

[४२]जही चिकित्वो वेत्था हि रक्षथा न हता मखम् ।
युयोता शरु स्वेना हि वनेमा ररिमा वयम् ॥३२॥

[४३]अग्ना वो अस्मे धामा ह सना ज्योतिरपा वृधि ।
[४४]ऋध्यामा ते वामदेवे जुहोता मधुमत्तमम् ॥३३॥

यक्ष्वा महे धिष्वा शवो जनिष्वा देववीतये ।
अधा त्व ह्यधाधा श्वःश्व सचस्वा न स्वस्तये ॥३४॥७॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये सप्तमं पटलम् ॥

अथाष्टमं पटलम्

[१]अन्त.पाद विग्रह एष्वपृक्त उकारो ग्रजस्य सु धा नमोभि. ।
शुचि पवित्रं तु महीर्नु चाप्लुत सुतस्येति [२]यद्युदयोदया न ॥१॥

सोमसुति चकिराम स्तवाम स्तवाना गृभाय रथ शृधीति ।
[३]ते अस्ति ते महिमन. प्र वोचत प्र वोच न: सुमना द्विपदाश्च ॥२॥

[४]महे दधिष्व तिर मुञ्च नो मृधश् चर नमस्व नम ते नयन्त ।
स्वित्येतेष्वे[५]काक्षरयो पराणि चेदुपेन्द्राग्नेऽश्वाव्वरसायुरेत्विति ॥३॥

[६]सदेत्येतद्योनिपुपीतयेपर [७]धन्वेत्येतत्सोम राट् पूयमान ।
[८]यदीति कृण्यो मनसः कवीना सवन्ववो गो सरमेति तेषु ॥४॥

[९]चरेति पुष्टिं सोम चर्षणिप्रा [१०]जनिमेति हन्ति स जातवेदा ।
[११]रन्धयेति येपूकशासदुत्तर [१२]न न कारे स्वित्युपसातयेपरे ॥५॥१॥

[१३]महयात्र जथ काव्येन गृर्धय भरेति च स्वरिति प्रत्यये षट् ।
[१४]मद पर्वं पिपृत धन्व यच्छत रुहेमेति स्वस्तयउत्तराणि ॥६॥

[१५]दधिम मदत तन्वि सिञ्चत स्तव वदतानज रक्षतोक्षत ।
पिपृत पृणत पृच्छत श्रुप स्य च हिनवाम जुहोत पश्यत ॥७॥

चकृमाकुत्र भूम स्म शिशीत स्तोत पप्तत ।
यथोदयानि सर्वाणि [१६]त्विति चैकाक्षरोपधम् ॥८॥

[१७]कदा हरिवो वरुणस्य चकृतु सूर्यस्य निष्टया इव भूम तेषु न ।
[१८]वस्त्राणि हि वावधे यज्ञियाना ते दसो द्वे न स च शक्र तेषु तु ॥९॥

[१९]चकृमेति द्विपदे भूरि दुष्कृत वर्धता विप्रवचसो जिह्मयेति ।
[२०]काण्वायना निष्कृतीरेतयो स्थ [२१]जाताः सुरथा हवनश्रुतश्च ॥१०॥२॥

[२२]सखापर घेति न कौत्सवंमद [२३]स्म राशिमित्यादिषु न [२४]प्रति ष्म च ।
[२५]स्म ते परेषु व्रजन वनस्पते शुभे- परुष्ण्या [२६]स्म पुरा वृषाकपौ ॥११॥

[27]रार्शि वाजेषु मे सद्य पूषणं तं तूतुहद्धायि मा दुर्हृणायत. ।
यस्मै यद् वृत्रहत्येषु मावते वातो यं यस्य मदुद्गुंमीयसे ॥१२॥
[28]पृच्छा विपश्चितमवा पुरंध्या घा त्वद्रिन्वीरान्वनुयामा त्वोताः ।
जनया दैव्यं भुजेमा तनूभिर् हा वहतो वाशया मन्मना च ॥१३॥
[29]वेदा वसुर्विति रोमा पृथिव्या वोचा मुतेषु वावता सुहस्त्यः ।
मुञ्चा सुपुत्रुषः स्वाद्मा पितूनामिहा वृणीष्व वोचया पुरंधिम् ॥१४॥
[30]अवया स कुणुथा सुप्रतीकं तिरा शचीभि. कुणुता सुरत्नान् ।
ग्मन्ता नहुषोऽजयता वियन्त स्मा च्यावयन्नीरया वृष्टिमन्तम् ॥१५॥३॥
[31]असृजता मातर सू रय हुवे नयता वद्ध स्वापया मिथूदृशा ।
इता जयता गता सर्वतातय ईरयया मरुतो नेपया सुगम् ॥१६॥
[32]अन्यत्रा चित्पिबता मुञ्जनेजनं वा स्या वोचेमा विदथेष्विता वियम् ।
इता नि यत्रा वि दशस्यया किर्वि चा बोवाति द्रावया त्व किरा वसु ॥१७॥
[33]हा पदेव कर्तना श्रुष्टि योवया च जग्रभा वाचम् ।
पायया च तर्पया कामं गातुया च मन्दया गोभिः ॥१८॥
[34]घा स्यालादेना सुमतिं वोचा नु व्ययया मन्युम् ।
नेथा च चक्रा जरसं भवता मृळयन्तश्च ॥१९॥
[35]एवा चन मजा राये ररिमा ते मजा भूरि ।
श्रुवी न उभयत्रा ते भजा त्व मृळया नश्च ॥२०॥४॥
[36]एकादशिद्वादशिनोर् ऌधावष्टममक्षरम् ।
उदये संहिताकाले [37]नःकारे च गुरावपि ॥२१॥
[38]दशमं चैतयोरेवं [39]षष्ठ चाष्टाक्षरेऽक्षरम् ।
[40]व्यूहैः संपत्समीस्योने क्षैप्रवर्णं कमाविनाम् ॥२२॥
[41]न वावृधन्त वातस्यावद्यानि जिघांससि ।
सासह्याम ववृत्याम दीदिह्यष्टममूर्णुहि ॥२३॥
[42]पुरुप्रजातस्याभि नः कृणुहि द्वयक्षरोपधम् ।
हर्यश्वोत भवन्त्विन्द्र सदनायास्ति नाम चित् ॥२४॥
[43]चमसौ इवाग्नि वसवान द्वादशिन सूवास्य विमदस्य ।
सुमखाय वारय ददातु रक्ष विया दवातु दिविषेय ॥२५॥५॥
[44]अञ्ज सरस्वति पञ्च चरन्ति ग्नाभिरिहेन्वसि रण्यसि वाव ।
विद्धि पु णोऽभि षत सुविताय त्वा समिधान दधीमहि देव ॥२६॥
[45]नाभिषु चासु चिकेत किरासि स्मस्पुष पात्यसि सोम ऋतस्य ।
आयुषि चेतति विष्टपि मास्व प्रोग्मसि मूर्धनि सद्य वरन्त ॥२७॥
[46]प्रदिवि वरुण तमसि तिरसि घृतमिव दिवि मम हि नु विद्मः ।
उषसि पृथिवि रजसि वहसि हनति पितरि वि विहि नि मधु ॥२८॥

[४७]सहस्राणि श्रोमतेनासनाम च्छायामिवेषण्यसि सस्तु पाहि ।
गोपीथ्याय पवमानो वसन्तान् सख्याय वोचेमहि मानुषस्य ॥२९॥
[४८]आध्य भूमेति पादान्तौ व्यञ्जनेषु [४९]श्रुधी हवम् ।
[५०]सधा होता स्मा सनेमि धर्मा स भूषता रथः ॥३०॥६॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्येऽष्टमं पटलम् ॥

अथ नवमं पटलम्

[१]सर्वत्र पूर्वपदान्ताः प्लवन्ते वसुमघयो परयो [२]रवे तुवि ।
[३]विश्व विम्व धन्व रथति शत्रु द्युम्न यज्ञेति सहुतौ [४]प्र चाप्लुते ॥१॥
[५]सहप्रवादा उदयास्तमान्ता [६]पर्यम्यपापीति वृतावृवण ।
[७]अभीवर्तः सूयवसो रथीतम पुरूतमोऽनन्तरधर्च उत्तमः ॥२॥
[८]कपर्दु धान्य मिथु चर्षणि स्तन पिवेति सर्वत्र यथोदय च ।
[९]त्विष्युक्थेत्येता उदये मकारे [१०]पर्युवंक्षेत्यमकारेऽनुनासिके ॥३॥
[११]पित्र्य माहिनाकृषि भङ्गुराश्व विश्व विश्वदेव्य भेषज तुग्र्य पस्त्य ।
सुम्नर्ता रातीत्युदये वकारे [१२]वैम्वादयश्च [१३]पृशनादयस्तु ॥१४॥
यकारेऽ[१४]राति कवि सुक्रतु शुचि पितु सुम्न रथ्यृताश्वेति चैते ।
[१५]न स्वश्व सुम्नर्त वृषेति पद्या एकाक्षरादा उदये यकारे ॥५॥१॥
[१६]पृशिनाजिरर्जु मधु पुत्रि जनि क्रतु वल्गु वन्धुर वृकाङ्कु दम ।
वृजिनाश्वरीषु वृष मव्य सखि स्तभु दुच्छुनाद्य यवि शत्रु वसु ॥६॥
[१७]वैभु ह्रादुनि पुष्ट पर्वताहुति शुभ्र हृदयामति सह वृष्ण्य शक्ति ।
सप्ति स्वधिति कृशन वयुनर्ण घृणि हित घित विषु सुतर्त्विय नीथ ॥७॥
[१८]नतंवाकेनाश्वविस्सुम्नयन्ता वसुवसू प्रसहानोऽभिवावृते ।
परिवृतं नाभिवृत्याश्ववच्च[१९] पादान्ते [२०]सर्वत्र परे मघस्य ॥८॥
[२१]अश्वयूपायाश्वयुजोऽश्वयोगा. सहवाहः सुम्नयन्तर्तयन्त ।
सहवसु सहवत्सर्तयुक्ति सहवीर वयुनवच्चकार ॥९॥
[२२]सुम्नायुर्जुह्व ऋतायन्नृतायुमुग्रादेव दक्षिणावानृतायो ।
वृषारवाय सुमय शतावन्नपीजुवारीवृतोऽनपावृत् ॥१०॥२॥
[२३]इन्द्रावतः सोमावतीमवायती दीर्घाधियोऽमित्रायुधो रथीतर. ।
अन्नावृध विश्वापुष वसुजुवं विश्वाभुवे यज्ञायते घृतावृधा ॥११॥
[२४]सुम्नायन्निमित्रायुव ऋषीवो देवावान्दिव ।
एवावदस्य क्षेत्रासाम् ऋताव्ने सदनासदे ॥१२॥
[२५]पदेष्वन्तरनिङ्ग्येषु प्लुति पद्येषु चोत्तरा ।
[२६]वृषस्व वन्थ वृद्व्वास वाता वातुर्वनो वृतु ॥१३॥

वृते वृषाणा वृषाणो वृजे वन्धि मृजुर्मृशु. ।
मृजे मृजीत वानैषा व मेति सदृशादिषु ॥१४॥
[27]सहेत्यादिः पूर्वपदोपध. सन्नेकाक्षरश्चर्षणिघन्ववर्जम् ।
[28]न तु पादस्याष्टिनोऽन्त गतस्य [29]न द्वादशिनोऽनभिमातिपूर्वः ॥१५॥३॥
[30]अभिमातिनृपृतनोपधस्तु सर्वत्र परे प्लवते यकारे ।
[31]श्रायवादीनामुदयास्त्रिवर्णा. पदैकदेशा इति तान्प्रतीयात् ॥१६॥
[32]श्रायव यावय च्यावय यामय रामय मामह् वावस ।
द्रावय दादृह् वावृध तातृप सासह् रारप ॥१७॥
आद्यक्षर प्लुत तेषाम[33]नन्वित्यस्य मध्यमम् ।
[34]द्विवर्णः प्रत्ययोऽन्त्यस्य [35]प्रवादा. षळित. परे ॥१८॥
[36]दूणाश [37]उक्थशासश्चे[38]कारान्तश्च दावृधि. ।
[39]पादान्तेऽपद्य. सादनम[40]र्षचान्ते तु पूरुष ॥१९॥
[41]दोषामस्मै राजतोऽऋन्वनस्पतीन् महीयमाना कति तुभ्यमेभ्यः ।
उपासमित्युत्तर सर्वदेश्य [42]पादस्य चैकादशिनो यदन्ते ॥२०॥४॥
[43]यवयुररमय ससाहिषे ववृधन्तो रमया गिरा ररम्म ।
यवयसि ततृषाणमोर्षति श्रवयन्तोऽददृहन्त ते नृषह्ये ॥२१॥
[44]श्रवयत वाजसातौ नृसह्ये विम्वासह दूणशा रोचनानि ।
न ततृपाणो यमयो ररप्शे पुरुषीणा यवयन्त्विन्दवश्च ॥२२॥
[45]ररक्ष यवय स्तेन ससाहे यवया वध्रम् ।
परमया द्रवयन्त श्रवयन् ररते च न ॥२३॥
[46]साह्वासो व सत्रासाह सादन्य सत्यं तातान ।
नानाम श्रूया शुश्रूया रीषन्त गातूयन्तीव ॥२४॥
[47]वावर्त मेषा रीषतोऽदकारे सान्त्यभि नृषाहमपूरुषघ्न. ।
सान्ति गुहा तन्व रीरिषोष्ट जानि पूर्व्योऽमीवृतेव श्रथाय ॥२५॥५॥
[48]साहन्साहा जहृषन्त प्रसाह नक्तोषासा सूर्यमुषासमग्निम् ।
परिराप. सूनृते जारयन्ती शुश्रूयात युयुवि सादना ते ॥२६॥
[49]करन्सुषाहा घृतवान्ति साह्वानृजूयेव सूयवसाद् वृषाय ।
उषासानक्ता पृथुजाघने च राध्यभी रीरिपत ग्लापयन्ति ॥२७॥
[50]अध्वानयद्रीरिवत्प्रावणेभी रथायन्तीवादमाय ससाहे ।
सासाह यूयुधिरिवाश्रथाय पुरुषघ्न रीरिष. पूरुषाद. ॥२८॥
[51]अपूरुष जाहृषाणेन रीषत ऋतायुभी रथीना साहिषीमहि ।
पवीतार. कियात्ये पूरुषत्वत ऋतावरीरिव हव्यानि गामय ॥२९॥
[52]वृषायस्व प्रसवीता ससाहिषे तातृपाणा तातृपि सादनस्पृश ।
साह्वामेयान्ति पशुमान्ति जागृधु. पवीतार सूर्यमुषासमीमहे ॥३०॥६॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये नवम पटलम् ॥

अथ दशमं पटलम्

[1]क्रमो [2]द्वाभ्यामभिक्रम्य प्रत्यादायोत्तर तयो ।
उत्तरेणोपसंदध्यात् तयार्धर्चं समापयेत् ॥१॥
[3]एकवर्णमनोकारं नते सु स्मेति न परे।
पदेन च व्यवेतं यत् पद तच्च व्यवायि च ॥२॥
[4]लुप्तान्त प्लुतादीनि स्कम्भनेनेति लुप्तवत् ।
इतो पिञ्चतावर्तम पूर्वे [5]पदयोर्द्वयो ॥३॥
स्वसारमस्कृतेत्युभे पर वीरास एतन ।
अतीत्यैतान्यवस्यन्ति प्लुतादिप्रभृतीनि च ॥४॥
[5]पूर्वोत्तरकृत रूप प्रत्यादानावसानयो. ।
न ब्रूयान् [6]सर्वमेवान्यद्यथासहितमाचरेत् ॥५॥१॥
[7]अवगृह्याण्यतिक्रम्य सहेतिकरणानि च ।
घक्षिघुक्षिप्रवादौ च विकृतादी प्लुतादि च ॥६॥
अन्त.पद च येषा स्याद् विकारोऽनन्यकारित. ।
एतानि परिगृह्णीयाद् बहुमध्यगतानि च ॥७॥
[9]अर्धर्चान्त्य च [10]नाकार प्रागतोऽननुनासिकम् ।
[11]प्रत्यादायैव त ब्रूयादुत्तरेण पुन सह ॥८॥
[12]उपस्थित सेतिकरण [13]केवलं तु पद स्थितम् ।
[14]तत्स्थितोपस्थित नाम यत्रोभे आह संहिते ॥९॥
[15]अब्दृष्टवर्णे प्रथमे चोदक स्यात्प्रदर्शक ।
एतदिष्ट [16]समासांस्तु पुनर्वचन इङ्गयेत् ॥१०॥२॥
[17]इतिपूर्वेषु संधान पूर्व· स्व. स्यादसहितम् ।
तदवग्रहवद् ब्रूयात् [18]सर्विनार्धर्चयोर्भवेत् ॥११॥
[19]दृष्टक्रमत्वात्समयान् संदध्यात्सर्वश क्रमे ।
पदेन च पदाभ्या च प्रागवस्येदतीत्य च ॥१२॥
[20]नकारस्योष्मवद्वृत्त प्लुतोपाचरिते नति ।
प्रश्लेषश्च प्रगृह्यस्य प्रकृत्या स्यु परिग्रहे ॥१३॥
[21]शौद्धाक्षरागमोऽऽपैति [22]न्यायं यान्त्युत्तरे त्रय ।
रिफितान्यूष्मणोऽघोषे द्रूभाव. स्वपितीव च ॥१४॥३॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये दशमं पटलम् ॥

अथैकादशं पटलम्

[1]अधार्ध्यलोपेन यदाह न क्रम समानकालं पदसहित द्वयो ।
[2]अथो बहूनामविलोपकारण परैरवस्यन्त्यतिगम्य कानिचित् ॥१॥

[३]अपृक्तमेकाक्षरमद्वियोनि यत् तदानुनासिक्यभयाददतीयते ।
[४]नतं च पूर्वेण परस्य कारण नतेः परस्योभयहेतुसंग्रहात् ॥२॥
[५]परीत इत्युत्तरमेतयोर्द्वयो. पर हि पूर्वं नमतीत्यतीयते ।
[६]ततोऽपरे संध्यमवेक्ष्य कारणं तदर्थजं द्विक्रममत्र कुर्वते ॥३॥
[७]तम पर रेफनिमित्तसंशयात् तथावरित्येतदपोद्यते पदम् ।
[८]अदो पितो सो चिदुषर्वसूयवो न वक्षि वृक्षीत्यपि चातियन्ति किम् ॥४॥
[९]स्वसारमित्येतदपोद्यते पद पर. सकारोपजनोऽस्कृतेति च ।
निरस्कृतेति ह्युपसर्गकारितस् तदन्वयादाचरितं तु पञ्चभिः ॥५॥
[१०]सहेति चेमेति च रक्तसहित गुणागमादेतनभावि चेतन ।
पद च चास्कम्भ चिदित्यत' पर प्लुतादि चैतानि निमित्तसंशयात् ॥६॥१॥
[११]व्यभिक्रमं पूर्वनिमित्तमानिनस् त्रिपूत्तमेष्वाहुरनन्तरं हि तत् ।
[१२]अनन्तर एवेव चतुर्थषष्ठयो पर कथ तत्र च न व्यभिक्रमम् ॥७॥
[१३]अनानुपूर्व्ये पदसध्यदर्शनात् पदव्यवेत च पद व्यवायि च ।
[१४]ततोऽपरे द्विक्रमम हुराश्रयात् कृताविलुप्तात्र हि वर्णसहिता । ८॥
[१५]पदानुपूर्व्येण सपूर्व आ ततस्ततो व्यवेत च सह व्यवायि च ।
[१६]ततो निराहेतरयोश्च ते पदे ततोऽव्यवेतेन परस्य सहिता ॥९॥
[१७]अनन्तरे त्रिक्रमकारणे यदि त्रिभिश्च गार्ग्यः पुनरेव च त्रिभिः ।
[१८]त्रिसगमे पञ्चभिरार्ष्यनुग्रहश[१९] चतु क्रमस्त्वाचरितोऽत्र शाकलै. ॥१०॥
[२०]अलोपभावादपरे बहुक्रम प्रतिस्वमार्षीति न कुर्वते क्वचित् ।
[२१]असर्वशस्त्रिप्रभृतिष्वनेकश स्मरन्ति सख्यानियमेन शाकलम् ॥११॥
[२२]अयावने पूर्वविधानमाचरेद् [२३]यथापद सधिमपेतहेतुषु ।
[२४]अथो पदाभ्या समयं पदेन च क्रमेष्ववस्येदतिगम्य सदवत् ॥१२॥२॥
[२५]सहेतिकाराणि समासमन्तभाग् बहुक्रमे मध्यगतानि यानि च ।
तृतीयता गच्छति यस्य सोष्मवाननन्ययोग विकृत प्लुतादि च ॥१३॥
अतीत्य तेषा पदता प्रदर्शयेत् [२६]कृते तु गार्ग्यस्य पुनस्त्र्यभिक्रमे ।
[२७]अदृष्टवर्णे प्रथमे प्रदर्शनं स्मरन्ति तत्त्वत्र निराह चोदक ॥१४॥
[२८]पद यदा केवलमाह सा स्थितिर [२९]यदेतिकारान्तमुपस्थित तदा ।
[३०]अथो विपर्यस्य समस्य चाह ते यदा स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत ॥१५॥
[३१]पुनर्ब्रुवँस्तत्र समासमिङ्गयेत् [३२]स्वरित्यतोऽन्येषु च सधिमाचरेत् ।
अवग्रहस्येव हि कालधारणा परिग्रहेऽस्तीत्युपधेत्यनुस्मृता ॥१६॥
[३३]अभिक्रमेतोभयतोऽनुसहित ततोऽस्य पश्चात्पदता प्रदर्शयेत् ।
यथापद वान्यतरेण सदवत् त्रिपूत्तमेष्वेतदलोपसभवात् ॥१७॥
[३४]अरक्तसध्येत्यपवाद्यते पद पुनस्तदुक्त्वाध्यवसाय पूर्ववत् ।
[३५]तथा यदृच्छोपनते बहुक्रमे क्रमेत तस्यैकपदानि नि सृजन् ॥१८॥३॥

[३५]नकारलोपोष्मरभावमान[३६]दपेतरागा प्रकृतिं परिग्रहे ।
[३७]नति [३८] प्लुतोपाचरिते च [३९]यत्र च प्रगृह्यमेकीभवति स्वरोदयम् ॥१९॥

[४०]प्रवादिनो दूणाशदूळ्यदूळभान् [४१]परेष्वघोषेषु च रेफमूष्मण ।
[४२]महाप्रदेश स्वधितीव चानयेन् [४३]नुदेच्च शौद्धाक्षरसध्यमागमम् ॥२०॥

[४४]अभिक्रमे पूर्वविधानमाचरेत् पुनर्ब्रुवंस्तूत्तरकारित क्रमे ।
विकारमन्यद्वदतोऽनुसहित तदाचरेदन्तगताद्ययोस्तु न ॥२१॥

[४५]सकृद्यथासहितमेषु वाचरेत् पुनर्विवक्षन्पदमध्यसदधत् ।
परिग्रहे सधिषु कारणान्वयाद[४६]विक्रम ह्यूष्मसु चोष्मसधिषु ॥२२॥

[४७]समानकालावसमानकारणावनन्तरौ वा यदि सनिगच्छत ।
पदस्य दोषावथ हेत्वसग्रहे नियुक्तमाध्यंन्यतरेण लुप्यते ॥२३॥

[४८]मकारलोपे विकृतस्वरोपधे तृतीयभावे प्रथमस्य च ध्रुवम् ।
[४९]विपर्ययो वेतरथाभ्युपेयुषा[५०]मथोभयेषामनुनासिकोदये ॥२४॥

[५१]अथो नतेनोपहितेऽनुनासिके [५२]तथाक्षरस्य क्रम एकपातिन ।
[५३]न चात्र पूर्वं स्वरितेन सहिता लभेत तस्मिन्नियतस्वरोदये ॥२५॥४॥

[५४]यदा च गच्छत्यनुदात्तमक्षर वश पदादेरुदयस्य तेन च ।
[५५]उदात्तपूर्वं नियतस्वरोदये परो विलोपोऽनियतो यदावर ॥२६॥

[५६]स्वरैकदेश स्वरितस्य चोत्तर यदा निहन्यादनिमित्तमक्षरम् ।
[५७]उदात्तपूर्वोऽप्यनुदात्तसगमो यदा स्वरौ द्वौ लभतेऽपि वा बहून् ॥२७॥

[५८]यथा प्रक्लृप्ते स्वरवर्णसहिते तयोस् तयोरक्षरवर्णयोस्तथा ।
अदर्शनेऽनार्ष्यविलोप उच्यते क्रमेष्वनार्षं ब्रुवतेऽपरे स्वरम् ॥२८॥

[५९]अदृष्टमार्ष्यां यदि दृश्यते क्रमे विलोपमेव ब्रुवतेऽपरे तथा ।
स करणान्यार्ष्यविलोपविक्रम क्रमेण युक्तोऽपि बहूनि सदधत् ॥२९॥

[६०]पद पदान्तश्च यदा न गच्छति स्वरावसान स तु योऽत्र युज्यते ।
तदा न रूप लभते निराकृत न चेन्निराह्योपनिवृत्य तत्पदम् ॥३०॥

[६१]स्थितिस्थितोपस्थितयोश्च दृश्यते पद यथावद्वचयवद्धयुपस्थिते ।
क्वचित्स्थितौ चैवमतोऽपि शाकला क्रमे स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत ॥३१॥

[६२]क्रमेत सर्वाणि पदानि निर्ब्रुवन्निति स्मरन्त्या [६३]चरिन नु नोत्क्रमेत् ।
क्रमस्य वर्त्म स्मृतिसभवौ ब्रुवन् समाधिमस्यान्वितगर्गाण कीर्तयेत् ॥३२॥

[६४]यथोपदिष्ट क्रमशास्त्रमादित पुन पृथक्त्वैर्विविधैर्न माधुवत् ।
[६५]इति प्र बाभ्रव्य उवाच च क्रम क्रमप्रवक्ता प्रथम शशास च ॥३३॥

[६६]क्रमेण नार्थ पदसहिताविद पुराप्रमिद्धाश्रयपूर्वमिद्धिभि ।
अकृत्स्नसिद्धश्च न चान्यसाधको न चोदयापायकरो न च श्रुत ॥३४॥

[१७]असिध्यत सिद्धिविपर्ययो यदि प्रसिध्यतोऽसिद्धिविपर्ययस्तथा ।
[१८]सह्यपवादेषु च सत्सु न क्रम प्रदेशशास्त्रेषु भवत्यनर्थक ॥३५॥
[१९]विपर्ययाच्छास्त्रसमाधिदर्शनात् पुराप्रसिद्धेरुभयोरनाश्रयात् ।
समभ्युपेयाद् बहुभिश्च साधुभि. श्रुतेश्च सन्मानकर. क्रमोऽर्थवान् ॥३६॥

[२०]ऋते न च द्वैपदसहितास्वरौ प्रसिध्यत. पारणकर्म चोत्तमम् ।
क्रमा[२१]दतोऽप्यृग्यजुषां च बृंहणं पदै. स्वरैश्चाध्ययनं तथा त्रिभि. ॥३७॥६॥

॥इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये एकादशं पटलम्॥

अथ द्वादशं पटलम्

[१]ऊष्मान्तस्थसोष्मचकारवर्गो नान्त्या यान्त्यन्यत्र विसर्जनीयात् ।
[२]ऋकारल्कारौ परमर्धमूष्मणा नादि तकारादवरे च सप्त ॥१॥
[३]नान्योन्येन मध्यमा स्पर्शवर्गा संयुज्यन्ते [४]न लकारेण रेफ ।
[५]स्पर्शैर्वकारो न परैरनुत्तमैस् [६]तथा तेषां घोषिण सर्वथोष्मभि ॥२॥

[७]नान्त्यान्तस्था न प्रथमोष्मभिः परैर् [८]न रेफो रेफेण [९]न सोष्मणोष्मवान् ।
[१०]न स्पर्शोरूष्मा प्रथम पर सन् [११]नानुत्तमै. स च सोष्मा च पूर्वौ ॥३॥
[१२]नानुत्तमा घोषिणोऽघोषिभि सह स्पर्शौ स्पर्शा [१३]नोत्तमा ऊष्मभि. परै ।
[१४]लकारस्पर्शैर्न यकार उत्तरै[१५]रूष्माणोऽन्योन्येन च [१६]नर्क् पदेष्विदम् ॥४॥१॥

[१७]नामाख्यातमुपसर्गो निपातश् चत्वार्याहु. पदजातानि शाब्दा. ।
[१८]तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्व [१९]तदाख्यात येन भावं सधातु ॥५॥
[२०]प्राभ्या परा निर्दुरनु व्युपाप सं परि प्रति न्यत्यधि सूदवापि ।
उपसर्गा विंशतिरर्थवाचका. सहेतराभ्या[२१]मितरे निपाता ॥६॥
[२२]विंशतेरुपसर्गाणामुच्चा एकाक्षरा नव ।
[२३]आद्युदात्ता दशैतेषाम् [२४]अन्तोदात्तस्त्वभीत्ययम् ॥७॥
[२५]क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।
सत्त्वाभिधायक नाम निपात. पादपूरण ॥८॥
[२६]निपातानामर्थवशान्निपातनाद् अनर्थकानामितरे च सार्थका. ।
नेयन्त इत्यस्ति सत्येह वाङ्मये मिताक्षरे चाप्यमिताक्षरे च ये ॥९॥२॥

॥इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये द्वादशं पटलम्॥
॥इति द्वितीयोऽध्याय:॥

अथ त्रयोदशं पटलम्

[१]वायु. प्राण. कोष्ठ्यमनुप्रदान कण्ठस्य खे विवृते सवृते वा ।
आपद्यते श्वासता नादता वा वक्त्रीहाया[२]मुभय वान्तरोभौ ॥१ ।
[३]ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति [४]श्वासोऽघोषाणामि[५]तरेषा तु नाद ।
[६]सोष्मोष्मणां घोषिणा श्वासनादौ [७]तेषा स्थान प्रति नादात्तदुक्तम् ॥२॥

[8]तद्विशेषः करणं [9]स्पृष्टमस्थितं [10]दुस्पृष्टं तु प्राग्यकाराच्चतुर्णाम् ।
[11]स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितं [12]नैके कण्ठ्यस्य स्थितमाहुरूष्मण ॥३॥
[13]प्रयोक्तुरीहागुणसंनिपाते वर्णीभवन्गुणविशेषयोगात् ।
एक श्रुती कर्मणाप्नोति वह्नीर् [14]एके वर्णाञ्छाश्वतिकान्न कार्यान् ॥४॥
[15]आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम् ।
[16]सोष्मता च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन [17]घोषिणा घोषिणैव ॥५॥१॥
[18]अत्रोत्पन्नावपर ऊष्मघोषौ [19]श्रोत्रतर सोष्मसु प्राणमेके ।
[20]रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम् [21]एतद्वर्णात्मगुणशास्त्रमाहु ॥६॥
[22]नपुंसक यदूष्मान्त तस्य बह्वभिधानज ।
अनुस्वारो दीर्घपूर्व सिध्यन्तेषु पदेषु स ॥७॥
[23]स सासौ स पदान्तेभ्य. पूर्वोऽनाम्युपधस्तथा ।
यकारो वा वकारो वा पुरस्तात्त्वेदसंधिजं ॥८॥
[24]जिघासन्पासुरे मास पुमान्स पौस्यमित्यपि ।
पदेष्वेवंप्रवादेषु [25]नामकार उपोत्तमे ॥९॥
[26]प्रश्लिष्टादभिनिहितान् [27]माश्चत्वेऽयासमित्यपि ।
[28]एतावानूष्वनुस्वारो दीर्घादि[29]तरथेतर ॥१०॥२॥
[30]समापाद्यान्युत्तरे पद् पकारे राघो रथो ग्ना दिवो जा ऋतश्च ।
अब्ज पा दु र्प्रेति च पूर्वपद्यावनिङ्गयन्विक्रममेषु कुर्यात् ॥११॥
[31]समापाद्य नाम वदन्ति षत्व तथा णत्व सामवशांश्च संधीन् ।
उपाचार लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्यालिशाकल्यगार्ग्या ॥१२॥
[32]ह्रस्वामर्धस्वरभक्त्यासमाप्तामनुस्वारस्योपधामाहुरेके ।
अनुस्वार तावतैवाधिक च ह्रस्वोपधं [33]दीर्घपूर्वं तद्वलम् ॥३॥
[34]रेफोऽस्त्यृकारे च परस्य चार्धे पूर्वे ह्रसीयांस्तु न वेतरस्मात् ।
मध्ये स [35]तस्यैव लकारभावे यातो स्वर कल्पयताल्लकार ॥१४॥३॥
[36]अनन्तस्थ तमनुस्वारमाहुर् [37]व्यालिर्नासिक्यमनुनासिक वा ।
[38]सध्यानि सध्यक्षराण्याहुरेके द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु ॥१५॥
[39]सध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तर युजोरुकार इति शाकटायन ।
[40]मात्रासससर्गादवरे पृथक्श्रुती [41]ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत्परे ॥१६॥
[42]त्रीणि मन्द्र मध्यममुत्तम च स्थानान्याहु. सप्तयमानि वाच ।
[43]अनन्तरश्चात्र यमोऽविशेष [44]सप्त स्वरा ये यमास्ते [45]पृथग्वा ॥१७॥
[46]तिस्रो वृत्तीरुपदिशन्ति वाचो विलम्बिता मध्यमा च द्रुता च ।
[47]वृत्त्यन्तरे कर्मविशेषमाहुर् [48]मात्राविशेष प्रतिवृत्त्युपैति ॥१८॥

[49]अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ॥१९॥
[50]चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत् ।
शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एष मात्रापरिग्रहः ॥२०॥४॥

॥इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये त्रयोदशं पटलम्॥

अथ चतुर्दशं पटलम्

[1]समुद्दिष्टा वर्णगुणाः पुरस्तान् निर्दिष्टाना संहितो यश्च धर्मः ।
तदायापायव्यथनानि दोषास्तान्व्याख्यास्यामोऽत्र निदर्शनाय ॥१॥
[2]निरस्त स्थानकरणापकर्षे [3]विहारसंहारयोर्व्यासपीळने ।
[4]ओष्ठाभ्याममम्बूकृतमाह नद्ध दुष्ट [5]मुखेन सुषिरेण शूनम् ॥२॥
[6]संदष्टं तु ग्रीळन आह हन्वोः [7]प्रकर्षणे तद् विक्लिष्टमाहुः ।
[8]जिह्वामूलनिग्रहे ग्रस्तमेतन् [9]नासिकयोस्त्वनुषक्तेऽनुनासिकम् ॥३॥
[10]अयथामात्र वचन स्वराणां [11]संदंशो व्यास. पीळन निरास. ।
[12]ग्रास कण्ठ्ययोर[13]नुनासिकाना संदष्टता विषमरागता वा ॥४॥
[14]सान्तस्थानामादिलोपान्तलोपाव् [15]अदेशे वा वचनं व्यञ्जनस्य ।
[16]अन्योन्येन व्यञ्जनाना विरागो [17]लेशन वा वचन पीळन वा ॥५॥१॥
[18]घोषवतामननुनाद. पुरस्तादादिस्थानां क्रियते धारणं वा ।
[19]सोष्मोष्मणामननुनादोऽप्यनादो [20]लोमशय च क्ष्वेलनमूष्मणां तु ॥६॥
[21]वर्गेषु जिह्वाग्रथनं चतुर्षु [22]ग्रासो मुख्ये [23]प्रतिहारश्चतुर्थे ।
[24]सरेफयोर्मध्यमयोर्निरासो [25]विश्लेश स्थाने सकले चतुर्थे ॥७॥
[26]अतिस्पर्शो बर्बरता च रेफे [27]जिह्वान्ताभ्यां च वचन लकारे ।
[28]श्वासोऽघोषनिभता वा हकारे [29]निरासोऽन्येषूष्मसु पीळनं वा ॥८॥
[30]स्वरात्पर पूर्वसस्थानमाहुर् दीर्घान्निरस्तं तु विसर्जनीयम् ।
[31]कण्ठ्याद्यथा रेफवतस्तथाहू [32]रक्तात्तु नासिक्यमपीतरस्मात् ॥९॥
[33]सयोगादेरूष्मण. पूर्वमाहुर् विसर्जनीयमधिक स्वरोपधात् ।
[34]परं यम रक्तपरादघोषाद् [35]ऊष्माण वा घोषिणस्तत्प्रयत्नम् ॥१०॥२॥
[36]शुनश्शेपो निष्षपी शास्सि निष्षाळविक्रमा ब्रह्म विष्णु. स्म पृश्नि ।
[37]स्पर्शोष्मसंधीन्स्पर्शरेफमधीनभिप्रायांश्च परिपादयन्ति ॥११॥
[38]स्वरौ कुर्वन्त्योष्ठ्यनिभौ सरेफौ तिलो मातृस्त्रीन्पितृन्त्यन् नृभिर्नॄन् ।
[39]दन्त्यान् सकारोपनिभानघोषान् रथ्य पृथ्वी पृथिवी त्वा पृथीति ॥१२॥
[40]ऊष्मान्तस्थाप्रत्ययं रेफपूर्वं ह्रस्वं लुम्पन्त्याहुरथाप्यसन्तम् ।
पुरुषन्ति पुरुवारार्यमाष्ट्रयां हरियोजनाय हरियूपीयायाम् ॥१३॥

[४१]ऐयेरित्यैकारमकारमाहुर् वैयश्वेति क्रमयन्तो यकारम् ।
[४२]तदेवान्येषु विपरीतमाहुस् ते रय्या वय्य च हृदय्ययेति च ॥१४॥

[४३]अकारस्य स्थान ऐकारमाहुर् लुम्पन्ति च सयमीकारमुत्तरम् ।
बह्वक्षर द्व्यक्षरता नयन्ति यथोनयीर्ब्वनयीत्कोशयीरिति ॥१५॥३॥

[४४]तदेव चान्यत्र विपर्ययेण कार्यं ऐत्वे सयमीकारमाहु ।
धातोर्बिभेतेर्जयतेर्नियश्चामैष्म चाजैष्म नैष्टेति चैषु ॥१६॥

[४५]इकारस्य स्थान ऋकारमाहुर् लृकार वा चन्द्रनिर्णिक्सुशिल्पे ।
[४६]अनन्तरे तद्विपरीतमाहुस् तालव्यं शृङ्गे विभयाद्विचृत्ता ॥१७॥

[४७]तालुस्थानो व्यञ्जनादुत्तरश्चेदयकारस्तत्र यकारमाहु ।
शुन शेप शास्सि ववर्जुषीणामत्के विरप्शीति निदर्शनानि ॥१८॥

[४८]लुम्पन्ति वा सन्तमेव व्वकार ज्यैष्ठचाय सम्वारणापृच्छचमृभ्वा ।
[४९]व्यस्यन्त्यन्तर्महतोऽव्यायत त दीर्घायु सूर्यो रुशदीतं ऊर्जम् ॥१९॥

[५०]लुम्पन्त्यन्तस्था क्रमयन्ति वैता स्वरात्सस्थानादवरा परा वा ।
स्वस्तयऽधायि भुवनेयमूव्व [५१]रक्त ह्रस्व द्राघयन्त्युग्रं ओक ॥२०॥४॥

[५२]हकारसोष्मोपहिताद्यकाराद् वकाराद्वा सर्वसोष्मोष्मपूर्वात् ।
तत्सस्थान पूर्वमूष्माणमाहुस् तुच्छचान्दध्या आपृच्छचमृभ्वा ह्वयेऽह्य. ॥२१॥

[५३]पकारवर्गोपहिताच्च रक्तादन्य यम तृण्णुतान्नानमोष्मात् ।
[५४]अनुस्वारमुपधा वान्यवर्णां स्वरोपधात्सोष्मयमोदयश्चेत् ॥२२॥

तङ्घ्नन्त्यञ्ज्मो जङ्घ्नत ईङ्खयन्ती सञ्ज्ञातरूपोऽथ सञ्ज्ञानमिन्द्र ।
[५५]सान्तस्थादौ धारयन्त परक्रम शर्मन्स्यामास्मिन्सु जनाञ्छ्रु ीयत: ॥२३॥

[५६]रक्तौ राग समवाये स्वराणा न नून नृम्ण नृमणा नृभिर्नॄन् ।
[५७]रक्तात्तु सोष्मा क्रियते हकारो दध्यङ्ह देवान्ह्वते महान्हि ॥२४॥

[५८]सयोगाना स्वरभक्त्या व्यवायो विक्रमण क्रमण वायथोक्तम् ।
विपर्ययो वा व्यततिल्विलेऽज्मन् द्रप्सोऽजुषन्साञ्जयोऽप्स्राप्नेष्प्रात् ॥२५॥५॥

[५९]विवृत्तिषु प्रत्ययादेरदर्शन यथा या ऐच्छश्च य औशिजश्च ।
[६०]इउसधौ सध्यवचन च कासुचित् स इदस्ता कस्त उषो यथैते ॥२६॥

[६१]समानवर्णासु विपर्ययो वा यथा ह्यूती इन्द्र क आसतश्च ।
[६२]अभिव्यादान च विवृत्तिपूर्वे कण्ठ्ये ता आपोऽवसा एति दीर्घे ॥२७॥

[६३]न दोषाणा स्वरसयोगजानामन्तो गम्य सख्ययाथेतरेषाम् ।
[६४]शक्यस्तु शास्त्रादधि साधु धर्मो युक्तेन कृत्स्न प्रतिपत्तुमस्मात् ॥२८॥

[६५]अकारस्य करणावस्थयान्यान् स्वरान्ब्रूया [६६]त्तद्धि सपन्नमाहु ।
[६७]प्रागनकारोदयवद्विवक्षेत् सर्वत्र वर्णानिति सपदेया ॥२९॥

[१८]शास्त्रापवादात् प्रतिपत्तिभेदात् निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णयन्ति ताम् ।
[१९]संतेन शास्त्रेण विशिष्यतेऽन्यैः कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम् ॥२०॥६॥

॥इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये चतुर्दशं पटलम् ॥

अथ पञ्चदशं पटलम्

[१]पारायणं वर्तयेद् ब्रह्मचारी गुरुः शिष्येभ्यस्तदनुव्रतेभ्यः ।
अध्यासीनो दिशमेकां प्रशस्तां प्राचीमुदीचीमपराजितां वा ॥१॥

[२]एकः श्रोता दक्षिणतो निषीदेद् द्वौ वा [३]भूयांसस्तु यथावकाशम् ।
[४]तेऽधीहि भो३इत्यभिचोदयन्ति गुरुं शिष्या उपसंगृह्य सर्वे ॥२॥

[५]स ओ३मिति प्रस्वरति त्रिमात्रः प्रस्वार स्थाने स भवत्युदात्तः ।
चतुर्मात्रो वार्धपूर्वानुदात्तः षण्मात्रो वा भवति द्विस्वरः सन् ॥३॥

[६]अध्येतुरध्यापयितुश्च नित्यं स्वर्गद्वारं ब्रह्म वरिष्ठमेतत् ।
मुखं स्वाध्यायस्य भवे[७]न्न चैतत् सदध्यात्स्वाध्यायगत परेण ॥४॥

[८]प्रचोदितोऽभिक्रमते यथास्य क्रमं परस्ताद्विहितस्तथैव ।
[९]सर्वोदात्तं त्विह तस्मिन्नपृक्तमसंप्रयुक्तं द्विरुपस्थितं वा ॥५॥१॥

[१०]अभिक्रान्ते द्वे पदे वाधिके वा पूर्वं पदं प्रथमः प्राह शिष्यः ।
[११]निर्वाच्ये तु भो३इति चोदना स्यात् निरुक्तं ओं भो३इति चाप्यनुज्ञा ॥६॥

[१२]परिपन्नं प्राकृतमूष्मसंधि नकारस्य लोपरेफोष्मभावम् ।
असंयुक्तमूपरं रेफसंधि विवृत्तिमित्यत्र निदर्शनानि ॥७॥

[१३]प्रत्युच्चार्यैतद्वचनं परस्य शिष्यस्य स्याद्भो३इति चोदना वा ।
अर्धर्चोदर्केषु तु वर्जयेयुरध्यायान्तेषूभयथा स्मरन्ति ॥८॥

[१४]गुरुः शिष्यस्य पदमाह मुख्यं समासश्चेदसमासो यदि द्वे ।
[१५]एतेन कल्पेन समाप्य प्रश्नं प्रत्याम्नायुस्तं पुनरेव सर्वे ॥९॥

[१६]तत ऊर्ध्वं सततं संवृतेन प्रविग्रहेण मृदुप्रग्रहेण ।
सर्वोदात्तेन च चर्चयेयुः सर्वं इमान्युपस्थापयन्तः पदानि ॥१०॥२॥

[१७]अभ्युत्परा निर्व्यप सं प्रति प्र न्यध्यत्यपा दु स्वपि पर्यवानु ।
[१८]आद्यं स्थितोपस्थितमेकमेषामवर्चान्ते कुर्युरथो द्विपर्वौ ॥११॥

[१९]च घ हि वेति च सर्वत्र तेषामनेकं चेत्सनिपदेद् द्वितीयम् ।
[२०]समस्यन्तश्च द्विपदावर्चौ व्यवस्यन्त इतराश्चर्चयेयुः ॥१२॥

[२१]दक्षिणाय प्रथमं प्रश्नमाह प्रदक्षिणं तत ऊर्ध्वं परीयुः ।
[२२]एवं सर्वे प्रश्नशोऽध्यायमुक्त्वा उपसंगृह्यातिसृष्टा यथार्थम् ॥१३॥

[२३]प्रश्नस्तृचः [२४]पङ्क्तिषु तु द्वृचो वा [२५]द्वे द्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु ।
[२६]एका च सूक्तं [२७]समयास्त्वगण्याः परावरार्ध्या [२८]द्विपदे यथैका ॥१४॥

[29]सूक्तस्य शेषोऽल्पतरो यदि स्यात् पूर्वं स गच्छेद् [30]यदि तु द्वृचो वा ।
[31]ते षष्टिरध्याय उपाधिका वा सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ताः ॥१५॥

[32]भो३इत्यर्थचें गुरुणोक्त आह शिष्य ओं भो३इत्युचितामृच च ।
[33]अथैके प्राहुरनुसहितं तत् पारायणे प्रवचन प्रशस्तम् ॥१६॥३॥

॥इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये पञ्चदशं पटलम्॥

अथ षोडशं पटलम्

[1]गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती च प्रजापतेः ।
पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगती च सप्त च्छन्दांसि तानि ह ॥१॥

अष्टाक्षरप्रभृतीनि [2]चतुर्भूयः पर परम् ।
[3]दैवान्यपि च सप्तैव [4]सप्त चैवासुराण्यपि ॥२॥

[5]एकोत्तराणि दैवानां तान्येवैकाक्षरादधि ।
[6]एकावमान्यसुराणां ततः पञ्चदशाक्षरात् ॥३॥

[7]तानि त्रीणि समागम्य सनामानि सनाम तत् ।
एकं भवत्यृषिच्छन्दस् तथा गच्छन्ति सपदम् ॥४॥

[8]एवं त्रिप्रकृतीन्याहुर् युक्तानि चतुरुत्तरम् ।
ऋषिच्छन्दासि [9]तै. प्रायो मन्त्र. श्लोकश्च वर्तते ॥५॥१॥

[10]तत्पादो यजुषा छन्द साम्नां तु द्वावृचा त्रय ।
[11]गायत्र्यादि जगत्यन्तम् एकद्वित्र्यधिक तु तत् ॥६॥

आर्षवत्तत्समाहारो ब्राह्मो वर्गः पळुत्तर ।
[12]अक्षराणि तु षट्त्रिंशद् गायत्री ब्रह्मणो मिता ॥७॥

[13]यजुषा षळृचां त्रि. षट् साम्ना द्वादश सपदि ।
[14]ऋषीणां तु त्रयो वर्गा. सप्तका एकवेतरे ॥८॥

[15]ऋषिच्छन्दांसि [16]गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा ।
अष्टाक्षरास्त्रय. पादाश् चत्वारो वा पळक्षरा ॥९॥

[17]इन्द्र. शचीपतिर् बलेन वीळित ।
दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहि ॥१०॥२॥

[18]पञ्चका. पञ्च षड् वान्त्य पदपङ्क्तिर्हि सा भुरिक् ।
द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चका ॥११॥

[19]अग्रा हीन्द्रेति च तृचौ घृतमग्ने तमित्यृच ।
[20]अष्टको दशक. सप्तौ विद्वासाविति सा भुरिक् ॥१२॥

[21]युवाकु हीति गायत्री त्रय. सप्ताक्षरा विराट् ।
सैषा पादनिचृन्नाम गायत्र्येवैकविंशिका ॥१३॥

[22]षट्कः सप्तकयोर्मध्ये स्तोतृणा विवाचीति ।
यस्याः सातिनिचृन्नाम गायत्री द्विदंशाक्षरा ॥१४॥
[23]षट्कसप्तकयोर्मध्ये स्तुह्यासावातिथिम् ।
षळक्षर प्रकृत्यैष व्यूहेनाष्टाक्षरोऽपि वा ॥१५॥३॥
[24]उत्तरोत्तरिण पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रय ।
गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्ने यज्ञानामिति ॥१६॥
[25]अष्टकौ मध्यम षट्क एकेषामुपदिश्यते ।
[26]स नो वाजेषु पादौ द्वौ जागती द्विपदोच्यते ॥१७॥
[27]आद्यान्त्यौ सप्तकौ यस्या मध्ये चं दशकौ भवेत् ।
यवमध्या च गायत्री स सुन्व इति दृश्यते ॥१८॥
[28]षळक्षरः सप्ताक्षरस् तत एकादशाक्षर ।
एषोष्णिग्गर्भा गायत्री ता मे अश्व्यानामिति ॥१९॥
[29]अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभि. ।
पूर्वावष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षर ॥२०॥४॥
[30]पुरउष्णिक् तु सा तस्मिन् प्रथमे मध्यमे ककुप् ।
[31]अग्ने वाजस्य तच्चक्षु. सुदेव समहेति च ॥२१॥
ऋचौ निदर्शनार्थैता परा यास्ता यथोदिता ।
[32]सप्ताक्षरैश्चतुर्भिर्द्वे नद मसीमहीति च ॥२२॥
पादैरनुष्टुभौ विद्यादक्षरैरुष्णिहाविमे ।
[33]ददी रेक्ण इति त्वेषा ककुम्न्यङ्कुशिरा निचृत् ॥२३॥
एकादशोऽस्या प्रथम उत्तमश्चतुरक्षर ।
[34]एकादशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चैक. षळक्षर ॥२४॥
उष्णिक् पिपीलिकमध्या हरी यस्येति दृश्यते ।
[35]ताभ्यां पर षळक्षर प्र या तनुशिरा नाम ॥२५॥५॥
[36]आद्य पञ्चाक्षरः पाद उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रय ।
अनुष्टुब्गर्भैषोष्णिक्सागस्त्येऽस्ति पितुं न्विति ॥२६॥
[37]द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षरा समा. ।
[38]कृतिर्द्वौ द्वादशाक्षरावेकश्चाष्टाक्षर पर ॥२७॥
[39]यस्यास्त्वष्टाक्षरो मध्ये सा पिपीलिकमध्यमा ।
[40]नवकौ द्वादशी द्व्यूना ता विद्वांसेति काविराट् ॥२८॥
[41]तेषामेकाधिकावन्त्यौ नष्टरूपा वि पृच्छामि ।
[42]दशाक्षरास्त्रयो विराट् त्रयो वैकादशाक्षरा ॥२९॥
[43]षण्महापदपङ्क्तिस्तु षट्कोऽन्त्यः पञ्च पञ्चका ।
[44]मा कस्मै पर्यू षु प्रुच्यग्ने तव स्वादिष्ठा ता ऋच. ॥३०॥६॥

[४५]चतुष्पदा तु वृहती प्राय षट्त्रिंशदक्षरा ।
अष्टाक्षरास्त्रय. पादास्तृतीयो द्वादशाक्षर ॥३१॥
[४६]पुरस्ताद्बृहती नाम प्रथमे द्वादशाक्षरे ।
उपरिष्टाद्बृहत्यन्त्ये द्वितीये न्यङ्कुसारिणी ॥३२॥
स्कन्धोग्रीव्युरोबृहती ग्रैवैना प्रतिजानते ।
[४७]त्रयो द्वादशका यस्या सा ह्यूर्ध्वबृहती विराट् ॥३३॥
[४८]महो योऽर्योन्न त मत्सीजानमिदजीजन ।
[४९]अष्टिनोर्दशकौ मध्ये विष्टारबृहती युवम् ॥३४॥
[५०]एकागस्त्ये पितुस्तोमे नवाक्षरपदोत्तमा ।
[५१]द्वयोश्चोपेदमाहार्यं सर्वे व्यूहे नवाक्षरा ॥३५॥७॥
[५२]त्रयोदशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चाष्टाक्षरो भवेत् ।
अभि वो वीरमित्येषा सा पिपीलिकमध्यमा ॥३६॥
[५३]नवकाष्ट दश सहैक' परमोऽष्ट च यदि पादा ।
वृहती विषमपदा सा सनितः सुसनितरुग्र ॥३७॥
[५४]पङ्क्तिरष्टाक्षरा' पञ्च [५५]चत्वारो दशका विराट् ।
[५६]आदेशोऽष्टाक्षरौ विद्यात् सोपसर्गेषु नामसु ॥३८॥
[५७]युग्मावष्टाक्षरौ पादावयुजौ द्वादशाक्षरौ ।
सा सतोबृहती नाम [५८]विपरीता विपर्यये ॥३९॥
[५९]आस्तारपङ्क्तिरादित. [६०]प्रस्तारपङ्क्तिरन्तत. ।
[६१]सस्तारपङ्क्तिर्मध्यतो [६२]विष्टारपङ्क्तिर्बाह्यत ॥४०॥८॥
[६३]मन्ये त्वा मा ते राधासि य ऋष्व आग्नि महीति च ।
पितुभृतो नाग्ने तव ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥४१॥
[६४]चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुब् अक्षराणि चतुष्पदा ।
एकादशाक्षरैः पादैर् द्वौ चेत्तु द्वादशाक्षरौ ॥४२॥
प्रायस्योपजगत्येषा परस्यास्य तु सा त्रिष्टुप् ।
[६५]वैराजजागतै पादैर् यो वाचेत्यभिसारिणी ॥४३॥
[६६]नवको दशको वा स्याद् एकोऽनेकोऽपि त्रिष्टुभ ।
एकादशाक्षरश्चापि विराट्स्थाना ह नाम सा ॥४४॥
[६७]पूर्वौ दशाक्षरौ पादा उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रय ।
विराट्पूर्वा ह नामैषा त्रिष्टुप् पङ्क्त्युत्तरव वा ॥४५॥९॥
[६८]त्रयश्चैकादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षर पर ।
विराड्रूपा ह नामैषा त्रिष्टुम्नाक्षरसपदा ॥४६॥
[६९]त्रयश्च द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षर -क्वचित् ।
एषा ज्योतिष्मती नाम ततो ज्योतिर्यतोऽष्टक ॥४७॥

[७१]चत्वारोऽष्टाक्षराः पादा एकश्च द्वादशाक्षरः ।
सा महाबृहती नाम [७२]यवमध्या तु मध्यमे ॥४८॥
[७३]सो चिन्नु सनेमि श्रुष्येव क्रीळन्त्यद्वाग्निनेन्द्रेण ।
नमोवाके बृहद्भिश्च ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥४९॥
[७४]पञ्चाशज्जगती द्व्यूना चत्वारो द्वादशाक्षरा ।
तदस्या बहुलं वृत्त [७५]महापङ्क्तिः षळष्टकाः ।
[७६]अष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकश्च वा ॥५०॥
[७७]महासतोबृहत्यर्षे व्यूहयोरेतयोः सह ।
संपाते त्वेति पादान्ते देववान्सप्तविंशके ॥५१॥
[७८]अस्मा ऊ षूभे यदिन्द्र सेहान उग्रेति षट् ।
आ यः पत्री विश्वासा च ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥५२॥१०॥
[७९]द्वावतिच्छन्दसां वर्गौ उत्तरौ चतुरुत्तरौ ।
[८०]प्रथमातिजगत्यासां सा द्विपञ्चाशदक्षरा ॥५३॥
[८१]षट्पञ्चाशत्तु शक्वरी [८२]षष्टिरेवातिशक्वरी ।
[८३]उत्तराष्टिश्चतु षष्टिस् [८४]ततोऽष्टाषष्टिरत्यष्टिः ॥५४॥
[८५]षट्सप्ततिस्त्वतिधृतिर् [८६]धृतिः पूर्वा द्विसप्ततिः ।
[८७]सर्वा दाशतयीष्वेता [८८]उत्तरास्तु सुभेषजे ॥५५॥
[८९]कृतिः प्रकृतिराकृतिर् विकृति संस्कृतिस्तथा ।
षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते ॥५६॥
[९०]अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीतिर्द्विनवति ।
षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमा तु चतु शतम् ॥५७॥११॥
[९१]तमिन्द्रं प्रो षु सुषुम त्रिकद्रुकेष्वया रुचा ।
सखे च स हि शर्धश्च मध्यमो वर्ग उच्यते ॥५८॥
[९२]आ सु कृतिस्तु प्रकृतिर् ध्रुव पूर्वा ततस्तु या ।
आकृतिर्यदि ते मात्रा मेषी विकृतिरुच्यते ॥५९॥
सकृतिस्तु न वै तत्र देवो अग्निस्त्वभिकृति ।
सर्वस्येत्युत्कृतिस्तत्र तृतीयो वर्ग उच्यते ॥६०॥१२॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये षोडशं पटलम् ॥

अथ सप्तदशं पटलम्

[१]एव क्लृप्तप्रमाणानां छन्दसामुपदिश्यते ।
[२]एकद्व्यूनाधिका सैव निचृद्भूनाधिका भुरिक् ॥१॥
[३]विराजस्तूत्तरस्याहुर् द्वाभ्यां या विषये स्थिता ।
स्वराज एवं पूर्वस्य याः काश्चैवगता ऋच ॥२॥

[4]याः काश्चिद् बहुपादास्तु गायत्र्यो हीनतां गताः ।
अक्षरैर्बहुभिस्तास्तु गायत्र्य उपधारयेत् ॥३॥
[5]ताराड् विराट् सम्राट् स्ववशिनी परमेष्ठी ।
प्रतिष्ठा प्रत्नममृत वृधा शुक्र जीवं पय ॥४॥
तृप्तमर्णोऽशोऽम्भोऽम्बु वार्यापश्चोदकमुत्तमम् ।
[6]दैवत छन्दसामत्र वक्ष्यते तत उत्तरम् ॥५॥
अग्नेर्गायत्र्यतोऽधि द्वे भक्त्या दैवतमाहतु ।
सप्ताना छन्दसामृचो [7]न पङक्तेः [8]सा तु वासवी ॥६॥१॥
[9]प्राजापत्या त्वतिच्छन्दा [10]विच्छन्दा वायुदेवता ।
[11]द्विपदा पौरुष छन्दो [12]ब्राह्मी त्वेकपदा स्मृता ॥७॥
[13]एतेनैव क्रमेणैषां वर्णतो भक्तिरुच्यते ।
[14]श्वेत च सारङ्गमत. पिशङ्ग कृष्णमेव च ॥८॥
नील च लोहितं चैव सुवर्णमिव सप्तमम् ।
अरुण श्यामगौरे च बभ्रु वै नकुलं तथा ॥९॥
[15]पृश्निवर्णं तु वैराज [16]निचृच्छ्याव [17]पृषद्भुरिक् ।
[18]ब्रह्मसामर्ग्यजुश्छन्दः कपिल वर्णत स्मृतम् ॥१०॥
[19]भा प्रभा प्रतिमोपमा समा च चतुरक्षरात् ।
चतुरुत्तरमुद्यन्ति पञ्च च्छन्दासि तानि ह ॥११॥
[20]हर्षीका सर्षीका मर्षीका सर्वमात्रा विराट्कामा ।
द्व्यक्षरादीनि भादीना वैराजान्यनुचक्षते ॥१२॥
[21]अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्त बलवत्तरम् ।
विद्याद्विप्रतिपन्नाना पादवृत्ताक्षरैर्ऋचाम् ॥१३॥
[22]व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सपदे ।
[23]क्षैप्रवर्णांश्च सयोगान् व्यवेयात्सदृशै. स्वरैः ॥१४॥
[24]पदाभेदेन पादाना विभागोऽभिसमीक्ष्य तु ।
छन्दसः सपद ता ता या या मन्येत पादतः ॥१५॥
[25]प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः ।
[26]विशेषसनिपाते तु पूर्वं पूर्वं पर परम् ॥१६॥३॥
[27]अनुदात्त तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम् ।
[28]पादादावनुदात्त तु यदन्यत्तदिहोदितम् ॥१७॥
[29]वशोऽस्तीयक्षसीत्येक [30]तृचे चाभिष्ट इत्यपि ।
नेतिपूर्वाणि सर्वाणि [31]मधुच्छन्दस्यृतावृधो ॥१८॥
[32]स्तोमशब्दे परेऽवायि [33]ऋतशब्दे परे स्रिधत् ।
[34]हुवे तुराणा यत्पूर्वं [35]तृपन्मरुत उत्तरम् ॥१९॥

[36]प्रेदं ब्रह्मेति चैतस्मिन् सूक्ते पादोऽस्ति पञ्चमः ।
सर्वानुदात्तः षट्स्वृक्ष्वादितश्च चतुर्दश: ॥२०॥
[37]पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्षरदशाक्षरौ ।
[38]एकादशद्विादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ ॥२१॥४॥
[39]वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम् ।
गुर्वेवेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राह. ॥२२॥
[40]एतैश्छन्दांसि वर्तन्ते सर्वाण्यन्यैरतोऽल्पश. ।
एतद्विकारा एवान्ये सर्वे तु प्राकृता समाः ॥२३॥
[41]एक एकपदैतेषां द्वौ पादौ द्विपदोच्यते ।
ते तु तेनैव प्रोच्येते सरूपे यस्य पादतः ॥२४॥
[42]न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः ।
अन्यत्र वैमद्या. सैका दशिनी मुखतो विराट् ॥२५॥
[43]आहुस्त्वेकपदा अन्ये अध्यासानेकपातिन ।
अध्यासानपि केचित्त्वाहुरेकपदा इमाः ॥२६॥
आ वा सुम्ने असिक्न्यां द्वे उरौ देवा' सिषक्तु न ।
[44]पादा एकाधिकाः सन्ति च्छन्दसा चतुरक्षरात् ॥२७॥५॥
सन्त्यतिच्छन्दसा पादा एकोत्कर्षेण जागतात् ।
षोळशाक्षरपर्यन्ता एकश्चाष्टादशाक्षर ॥२८॥
[45]एकादशैव च्छन्दसि पादा ये षोळशाक्षरा. ।
सर्वे त्रिकद्रुकीयासु नाकुलोऽष्टादशाक्षर ॥२९॥
[46]अयमेंहोऽविकर्षेण ज्येष्ठा दाशतयीष्वृचाम् ।
[47]विकर्षेण तु पादैश्च स हि शर्व इति स्मृता ॥३०॥
[48]अणिष्ठा बहुपादाना भारद्वाजी पुरूतमम् ।
[49]अविकर्षेण सौभरी प्रेष्ठम्वादि हसीयसी ॥३१॥
[50]विराजो द्विपदा. केचित् सर्वा आहुश्चतुष्पदा. ।
कृत्वा पञ्चाक्षरान्पादांस् तास्तथाक्षरपङ्क्तय ॥३२॥६॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्ये सप्तदशं पटलम् ॥

अथाष्टादशं पटलम्

[1]बार्हतो बृहतीपूर्वः ककुप्पूर्वस्तु काकुभः ।
एतौ सतोबृहत्यन्तौ प्रगाथौ भवतो द्वृचौ ॥१॥
[2]त्वमङ्ग प्र प्र वो यह्व मा चिद् बृहदु गायिषे ।
बार्हताः काकुभानाहुस् त गूर्धय वयम्विति ॥२॥

[३]अनुष्टुब्द्वे च गायत्र्यावेष आनुष्टुभः स्मृतः ।
विराजावभिसंपन्नः पद्याक्षर्यं स उत्थित ॥३॥
[४]आकृतिर्व्यपदेशानां प्राय आदित आदितः ।
[५]गायत्र्यादिस्तु बार्हते प्रायो गायत्रबार्हतः ॥४॥
[६]गायत्रकाकुभो नाम प्रायो भवति काकुभे ।
[७]औष्णिहस्तूष्णिहापूर्वः [८]पङ्क्त्यन्तः पाङ्क्तकाकुभः ॥५॥१॥
[९]तमिन्द्र च सुनीथश्च यमादित्यास एव च ।
अदान्मे पौरुकुत्स्यश्च सा ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥६॥
[१०]महासतोबृहत्यन्तो यो महाबृहतीमुख ।
स महाबार्हतो नाम [११]बार्हतो बृहतीमुखः ॥७॥
[१२]अयो अतिजगत्यन्तो [१३]यवमध्योत्तरोऽपि च ।
[१४]बृहद्भिस्त वो नेमिं च वामी वामस्य ता ऋचः ॥८॥
[१५]नहि ते विपरीतान्तो [१६]मो षु त्वा द्विपदाधिकः ।
[१७]अनुष्टुब्जगती चैव विश्वेषामिरज्यन्त च ॥९॥
[१८]द्विपदा बृहती चैव स नो वाजेष्विति स्मृत ।
[१९]ककुप्पूर्वस्तु को वेद स्मृत काकुभबार्हत ॥१०॥२॥
[२०]आनुष्टुभौष्णिह विद्यात् ते म आहुर्य आययु ।
[२१]ते नस्त्राध्व बृहत्यादिर् बार्हतानुष्टुभ. स्मृतः ॥११॥
[२२]अग्नि व पूर्व्यमित्येषोऽनुष्टुप्पङ्क्तिरेव च ।
[२३]यदभ्रिगावो अभ्रिगू ककुप् च त्रिष्टुबेव च ॥१२॥
[२४]यदद्य वामनुष्टुप् च त्रिष्टुप् चैवोपदिश्यते ।
[२५]यत्स्थो दीर्घेति च त्वेष बृहती त्रिष्टुबेव च ॥१३॥
[२६]आ यन्मा वेनास्त्रिष्टुप् च जगती चोपदिश्यते ।
[२७]ता वृधन्तावनुष्टुप् च महासतोमुखैव च ॥१४॥
[२८]जागतस्त्वददा अर्भा प्रागायस्त्रिष्टुबुत्तर ।
[२९]उत्तरस्त्रैष्टुभस्तस्माज् जगत्युत्तर उच्यते ॥१५॥३॥
[३०]त्वमेताञ्जन च द्वौ द्वौ स घा राजेति च स्मृतौ ।
[३१]त्वमस्य पारे रजसो जागती त्रिष्टुबुत्तरौ ॥१६॥
[३२]सव्यञ्जन सानुस्वार शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम् ।
[३३]व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्य तु पूर्वभाक् ॥१७॥
[३४]विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम् ।
[३५]सयोगादिश्च वैव च [३६]सहक्रम्य परक्रमे ॥१८॥
[३७]गुर्वक्षरं [३८]लघु ह्रस्वं न चेत्सयोग उत्तर ।
[३९]अनुस्वारश्च [४०]सयोग विद्याद्व्यञ्जनसगमम् ॥१९॥

[४१]गुरु दीर्घं [४२]गरीयस्तु यदि सव्यञ्जन भवेत् ।
[४३]लघु सव्यञ्जन ह्रस्व [४४]लघीयो व्यञ्जनादृते ॥२०॥४
[४५]छन्दस्तुरीयेण समानसख्या याश् छन्दसोऽन्यस्य भवन्त्यृचोऽन्या. ।
यावत्तुरीय भवति स्वमासा तावत्य एता इतरा भवन्ति ॥२१॥
[४६]द्वाभ्यामवस्येत् त्रिपदासु पूर्वं पादेन पश्चात्क्वचिदन्यथैतत् ।
[४७]मध्येऽवसान तु चतुष्पदाना [४८]त्रिभि. समस्तैरवरैः परैर्वा ॥२२॥
[४९]पङ्क्तथा द्विशो वा तत उत्तरेण त्रिभि. परैर्वा विपरीतमेतत् ।
[५०]द्विशस्त्रिशो वा परतश्चतुर्भिः स्यात्पट्पदानामवसानमेतत् ॥२३॥
[५१]त्रिभिस्तु पूर्वं तत उत्तर स्याद् द्विशस्त्रिशो वा यदि वा समस्तम् ।
द्वाभ्या पुनः सप्तपदावसान [५२]द्वाभ्या च मध्येऽष्टपदासु विद्यात् ॥२४॥
[५३]अग्निमीळे दृतेरिव गायन्त्येतमवीन्विति ।
अय चक्र नकिष्ट च नकिर्देवा मिनीमसि ॥२५॥५॥
विश्वान्देवान्हवामहे स क्षपो निष्क सुवुम ।
नहि वा प्रो षु स हि शर्वस् ता ऋचोऽत्र निदर्शनम् ॥२६॥
[५४]द्वाभ्या पादेन द्वाभ्या तु तत्र स्यत्पञ्चपदाष्टिः ।
अव्यूहेनातिशक्वरी तृतीय षोळशाक्षर ॥२७॥
[५५]चतुर्भिस्तत एकेनाग्ने तमद्येति च ।
[५६]चतुर्भिस्तु पर द्वाभ्यां तत्र स्वादिष्ठा तच्छयो ॥२८॥
[५७]भरद्वाजाय तच्चक्षुरधीद् वृक्षा दृतेरिव ।
एतासु न व्यवस्यन्त्येके द्वादशकादिषु ॥२९॥
[५८]प्रस्तरतृच पङ्क्तिषु तु द्वृचो वा द्वे द्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु ।
एका च सूक्त समभास्त्वगण्याः परावराभ्यां द्विपदे यथैका ॥३०॥
सूक्तस्य शेषोऽल्पतरो यदि स्यात् पूर्वं स गच्छेद्यदि तु द्वृचो वा ।
तै षष्टिरध्याय उपाधिका वा सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ता. ॥३१॥६॥
[५९]सर्वाणि भूतानि मनो गतिश्च स्पर्शाश्च गन्धाश्च रसाश्च सर्वे ।
शब्दाश्च रूपाणि च सर्वमेतत् त्रिष्टुब्जगत्यौ समुपैति भक्त्या ॥३२॥
[६०]गुर्वक्षराणा गुरुवृत्ति सर्वं गुर्वक्षर त्रैष्टुभमेव विद्यात् ।
[६१]लघ्वक्षराणा लघुवृत्ति सर्वं लघ्वक्षर जागतमेव विद्यात् ॥३३॥
[६२]यश्छन्दसा वेद विशेषमेत भूतानि च त्रैष्टुभजागतानि ।
सर्वाणि रूपाणि च भक्तितो य. स्वर्ग जयत्येभिरथामृतत्वम् ॥३४॥

॥ स्वर्ग जयत्येभिरथामृतत्वम् ॥७॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्येऽष्टादशं पटलम् ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ इति ऋग्वेदप्रातिशाख्यं समाप्तम् ॥

ऋग्वेदप्रातिशाख्य-सूत्र-सूची

पारिभाषिक शब्द-कोष

अकाम (सधि)·—(स्थिति) रिफित विसर्जनीय+र्=(फल) र्। जैसे—युवो.। रजांसि। (प० पा०)=युवो रजांसि (सं० पा०) (४।२८)।

अक्षर (syllable)·—(i) व्यञ्जन से युक्त स्वर-वर्ण, (ii) अनुस्वार से युक्त स्वर-वर्ण; (iii) केवल स्वर-वर्ण (१।१९; १८।३२)।

अक्षरपङ्क्तिः—५-५ अक्षरो के चार पादों का छन्द (१७।५०)।

अघोष (voiceless).—(i) ऊष्मन्—श, ष, स, अः, ⨯क, ⨯प, अ तथा (ii) वर्गों के प्रथम दो-दो वर्ण—क, ख; च, छ, ट, ठ, त, थ; प, फ (१।११-१२)।

अघोषनिभता—हकार का अघोष के समान उच्चारण करना (१४।२८)।

अङ्ग (part):—स्वर (accent) आदि की दृष्टि से अनुस्वार और व्यञ्जन का स्वर-वर्ण का भाग होना (१।२२-२६; १८।३३-३६)।

अतिच्छन्दः—५२ अक्षरो से लेकर १०४ अक्षरो तक के छन्द. (१६।७९)।

अतिजगतीः—५२ अक्षरो का अतिच्छन्द (१६।८०)।

अतिधृतिः—७६ अक्षरो का अतिच्छन्द (१६।८६)।

अतिनिचृत्—२० (=७+६+७) अक्षरों का गायत्री छन्दः (१६।२२)।

अतिशक्वरीः—६० अक्षरों का अतिच्छन्द (१६।८२)।

अतिस्पर्शः—'ईषत्स्पृष्ट' रेफ का अधिक स्पर्श करके उच्चारण करना (१४।२६)।

अत्यष्टिः—६८ अक्षरो का अतिच्छन्दः (१६।८४)।

अध्यायः—६० अथवा अधिक प्रश्नों का समूह (१५।३१)।

अनानुपूर्व्यसंहिता (Saṁhitā contrary to the succession of words).—पदों के क्रम से न होने वाली संहिता। जैसे—शुन शेपम्। चित्। निदितम्। सहस्रात्। (प० पा०)=शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात् (सं० पा०) (२।७८)।

अनुदात्त (grave):—उच्चारणावयवों के अधोगमन से उच्चारित होने वाला स्वर (३।१)।

अनुनासिक (nasal):—वर्गों के पञ्चम वर्ण—ङ, ञ, ण, न, म (१।१४)।

अनुनासिकः—वर्ण के उच्चारण में नासिकाओं का अनावश्यक सम्बन्ध (१४।९)।

अनुप्रदान(emitted material):—वर्णों के मूलकारण—श्वास और नाद (१३।१)।

अनुलोमान्वक्षर (संधि) (combinatons according to succession of syllables).—(स्थिति)एषः, स्यः, सः या स्वर+व्यञ्जन=(फल) केवल विसर्जनीय का लोप। जैसे—(i)एष। देव.। (प० पा०)=एष देव (स० पा०); (ii) स्य.। वाजी। (प० पा०)=स्य वाजी (स० पा०); (iii) स.। सुत। (प० पा०)=स सुत. (सं० पा०); (iv) न। नि। (प० पा०)=न नि (स० पा०) (२।८)।

अनुष्टुपः—३२(=८+८+८+८)अक्षरों का छन्द (१६।३७)।

अनुष्टुप्पूर्व-जगत्यन्त (प्रगाथ) छन्दः:—अनुष्टुप्+जगती=(८+८+८+८)+(१२+१२+१२+१२)=८० (१८।१७)।

अनुष्टुब्गर्भा :– २९ (=५+८+८+८) अक्षरों का उष्णिक् छन्द (१६।३६)।

अनुस्वार (pure nasal):—शुद्ध नासिक्य वर्ण=अ (१।५)।

अन्तःपदविवृत्ति (hiatus in the interior of words).—पद के मध्य में वर्तमान विवृत्ति। जैसे—पुरएता (२।१३)।

अन्तःपात (संधि)(insertions) –दो वर्णों के मध्य में एक अतिरिक्त वर्ण का आगम। जैसे—प्रत्यङ। सः। (प० पा०)= प्रत्यङ्क् सः (सं० पा०) (४।१६)।

अन्तःस्था (semivowels) —य, र, ल, व (१।९)।

अन्वक्षरवक्त्र (संधि) –(स्थिति) विसर्जनीय+ ऊष्मन्+अघोष व्यञ्जन=(फल)ऊष्मन् +अघोष व्यञ्जन। जैसे–समुद्रः।स्थ। (प० पा०)=समुद्र स्स्थ (स० पा०) (४।३६-३७)।

अपवाद (exceptions).—विशेष नियम (१।५३)।

अपायः—विद्यमान वर्ण का अनुच्चारण (१४।१)।

अपृक्तः—एक अक्षर वाला पद। जैसे—आ। (१।७५; ११।३)।

अभिकृतिः—१०० अक्षरों का अतिच्छन्द. (१६।८९)।

अभिनिधान (incomplete articulation):—अपूर्ण उच्चारण —वर्ण का अवरोध और वर्ण की ध्वनि को दबाना (६।१७-२८)।

अभिनिहित (संधि) (पूर्वरूप संधि) (absorbed combination):—(स्थिति) ए या ओ+अ=(फल)ए या ओ। जैसे—(i) ते। अवदन्। (प० पा०)=तेऽवदन् (सं० पा०) (ii) पितो इति। अरम्। (प० पा०)= पितोऽरम् (सं० पा०) (२।३४-५०)।

अभिनिहित (स्वरित) (circumflex due to absorbed combination):–(स्थिति)ते+अ॒=(फल) ते॑ऽ; इत्यादि। जैसे–ते। अ॒वद॒न्। (प० पा०)= ते॑ऽवदन् (स० पा०) (३।१३)।

अभिसारिणी –४४ (=१०+१०+१२+१२)अक्षरो का त्रिष्टुप् छन्द (१६।६६)।

अमृतः—५४ अक्षरो का विराट् छन्द.(१६।५)

अम्बुः—९० अक्षरों का विराट् छन्दः(१७।५)।

अम्बूकृतः—होठों को बन्द सा करके वर्ण का उच्चारण करना (१४।४)।

अम्भः—८६ अक्षरों का विराट् छन्द (१७।५)।

अर्णः—७८ अक्षरो का विराट् छन्द (१७।५)।

अर्थः—छन्द. के अक्षरो का अन्वय (१७।२५)।

अवग्रहः—ऽ—इस चिह्न से पृथक्करण (१।२८)।

अवशंगम (संधि) (uninfluenced combination) –(स्थिति)पदान्त स्पर्श+ पदादि व्यञ्जन=(फल) बिना विकार के संधि। जैसे—वषट्। ते। (प०पा०)= वषट् ते (सं० पा०) (४।१)।

अवसान (pause) —ऋचाओं में विराम-स्थल (१८।४६-५७)।

अष्टिः—६४ अक्षरो का अतिच्छन्द (१६।८३)।

अस्पृष्ट (non-contact) –स्वर, अनुस्वार और ऊष्म-वर्णों के उच्चारण के लिये आभ्यन्तर-प्रयत्न। इसमें मुख के उच्चारणावयवो का थोड़ा भी परस्पर स्पर्श नही होता है (१३।११)।

अंशः—८२ अक्षरो का विराट् छन्द (१७।५)।

आकृतिः—८८ अक्षरो का अतिच्छन्दः (१६।८९)।

आक्षेप (carrying across) —उच्चारणावयवो का तिर्यग्गमन (३।१)।

आख्यात (verb) –क्रिया-वाचक पद। जैसे—गच्छति (१२।१७)।

आगम (nsertion) .—अतिरिक्त वर्ण का आ जाना (वि० वि० ५)।

आनुष्टुभ (प्रगाथ) छन्द —अनुष्टुप्+गायत्री+गायत्री=(८+८+८+८)+(८+८+८)+(८+८+८)=८० (१८।३)।

आनुष्टुभत्रैष्टुभ (प्रगाथ) छन्द —(i) अनुष्टुप्+त्रिष्टुप् = (८+८+८+८)+(११+११+११+११) = ७६ (१८।२४)।
(ii) अनुष्टुप्+त्रिष्टुप् (विराट्पूर्वा) =(८+८+८+८)+(१०+१०+८+८+८)=७६ (१८।२७)।

आनुष्टुभपाङक्त (प्रगाथ) छन्द –अनुष्टुप्+पङ्क्ति = (८+८+८+८)+(८+८+८+८+८)=७२ (१८।२२)।

आनुष्टुभौष्णिह (प्रगाथ) छन्द –अनुष्टुप्+उष्णिक् = (८+८+८+८)+(१२+८+८)=६० (१८।२०)।

आन्पद-पदवृत्ति —(स्थिति) आ+पदान्त या पद्यान्त न्+स्वर= (फल) आँ+स्वर। जैसे—महान्। इन्द्र। (प० पा०)= महाँ इन्द्र (स० पा०) (४।६५–६७)।

आपः—९८ अक्षरो का विराट् छन्द. (१७।५)।

आयः—अविद्यमान वर्ण का उच्चारण (१४।१)।

आयाम (stretching). –उच्चारणावयवो का ऊर्ध्वगमन (३।१)।

आस्तारपङ्क्तिः–४०(=८+८+१२+१२) अक्षरो का पङ्क्ति छन्द (१६।५९)।

आस्थापित (सधि) (combinations of consonants).—व्यञ्जन-सधियाँ (४।१)।

इङ्ग्य—पद-पाठ में सावग्रह पद (११।१०२)।

उत्कृति—१०४ अक्षरो का अतिच्छन्दः (१६।८९)।

उत्तम (loud)·—सिर में उच्चारित होने वाला वर्णों का स्थान (stage) (१३।४२)।

उदक —१०२ अक्षरों का विराट् छन्द (१७।५)।

उदय —अव्यवहित परवर्ती वर्ण अथवा पद (२।१६)।

उदात्त (acute) –उच्चारणावयवो के ऊर्ध्वगमन से उच्चारित होने वाला स्वर (३।१)।

उदात्तपूर्व (स्वरित) (dependent circumflex) —(स्थिति) उ०+अ०=(फल) उ०+स्व०। जैसे—होतां (३।७)।

उदग्राह (सधि) —(स्थिति) अ, ए या ओ+ह्रस्व स्वर=(फल) अ+ह्रस्व स्वर। जैसे—(i) य इन्द्र=य इन्द्र; (ii) अग्ने इन्द्र=अग्न इन्द्र; (iii) वायो उक्थेभि =वाय उक्थेभि (२।२७–२९)

उद्ग्राह-पदवृत्ति (सधि)· –(स्थिति) अ, ए या ओ+दीर्घ स्वर= (फल) अ+दीर्घ स्वर। जैसे—(i) क। ईषते (प०पा०) =क ईषते (स० पा०), (ii) तिरस्ते। आयु। (प० पा०)=तिरस्त आयु (स० पा०) (२।३०)।

उद्ग्राहवत् (सधि) —(स्थिति) अ या आ+ऋ=(फल) अ+ऋ। जैसे - (i) प्र। ऋभुभ्यः। (प० पा०)=प्र ऋभुभ्य (स० पा०); मधुना ऋतस्य (प० पा०) =मधुन ऋतस्य (स० पा०) (२।३२)।

उपजगती–४६ (=१२+१२+११+११) अक्षरो का त्रिष्टुप् छन्द. (१६।६५)।

उपधा—अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण अथवा पद (४।२९)।

उपमा:—१६ अक्षरों का छन्द: (१७।१९) ।
उपरिष्टाद्-बृहती:—३६ (=८+८+८+१२) अक्षरों का बृहती छन्द: (१६।४६)।
उपसर्ग (preposition) :—नाम और आख्यात के साथ प्रयुक्त होकर अर्थ के प्रतिपादक 'प्र' आदि पद (१२।१७) ।
उपस्थित.—पदपाठ में इति-शब्द से युक्त पद। जैसे—बाहू इति (१०।१२; ११।२९) ।
उपाचरित (संधि) (sibilation)—विसर्जनीय का स् या ष् होना । जैसे—(i) य: । पति. । (प० पा०) = यस्पति. (स० पा०); (ii) नि:ऽकृती । (प० पा०) = निष्कृती (सं० पा०) (४।४१–६४) ।
उभयमन्तरेण.—क्रम-पाठ (वि० वि० ४) ।
उरस्य (chest-sounds)—ऊष्मन्–ह, अ: (१।४०) ।
उष्णिक् —२८ (=८+८+१२) अक्षरो का छन्द (१६।३२) ।
उष्णिग्गर्भा २४ (=६+७+११) अक्षरो का गायत्री छन्द. (१६।२८) ।
ऊष्मन् (breath-sounds)—ह, श, ष, स, अ, ꣲ क, ꣲ प, अं (१।१०) ।
ऋचा—पाद–बद्ध मन्त्र (वि० वि० १) ।
एकपदा—एक पाद की ऋचा (१७।४१) ।
ओष्ठ्य (labials)—(i) स्वर—उ, ऊ, ओ, औ; (ii) पवर्ग—प, फ, ब, भ, म; (iii) अन्तस्था—व; (iv) ऊष्मन् — ꣲ प (१।४७) ।
औष्णिह (प्रगाथ) छन्द :—उष्णिक्+सतोबृहती=(८+८+१२) + (१२+८+१२+८)=६८ (१८।७) ।
ककुप् :—२८ (=८+१२+८) अक्षरो का उष्णिक् छन्द (१६।३०)।
ककुन्न्यङ्कुशिरा निवृत् :—२७ (=११+१२+४) अक्षरों का उष्णिक् (छन्द) (१६।३३) ।
कण्ठ्य (gutturals)—(i) स्वर–अ, आ; (ii) ऊष्मन्–ह, अ (१।३८-३९) ।
कम्प.—(स्थिति)जात्य स्व० या (ii) संधिज (अभि०,क्षैप्र या प्रश्लिष्ट)स्व० + उ० या स्व०=(फल) (i)जात्य स्व० या (ii) संधिज (अभि०, क्षैप्र या प्रश्लिष्ट) स्व० +कम्प+उ० या स्व० (३।३४) ।
करण (mode of articulation) वर्णों के उच्चारण में आभ्यन्तर-प्रयत्न (१३।८) ।
काकुभ (प्रगाथ) छन्द —ककुप्+सतोबृहती = (८+१२+८) + (१२+८+१२+८)=६८ (१८।१) ।
काकुभत्रैष्टुभ (प्रगाथ) छन्द —ककुप्+त्रिष्टुप्=(८+१२+८) + (११+११+१२+१२) = ७४ (१८।२३) ।
काकुभबार्हत (प्रगाथ) छन्द :—ककुप्+बृहती= (८+१२+८) + (८+८+१२+८)=६४ (१८।१९) ।
कविराट्–३० (=९+१२+९) अक्षरों का अनुष्टुप् (छन्द) (१६।४०) ।
कृति:—३२ (=१२+१२+८) अक्षरों का अनुष्टुप् (छन्द:) (१६।३८) ।
कृति —८० अक्षरो का अतिच्छन्द (१६।८९) ।
क्रम (doubling):—वर्ण का द्विरुच्चारण (६।१-१५) ।
क्रम —दो-दो पदो का सहोच्चारण (१०।१) ।
क्षैप्र (संधि) (यण् संधि) (hastened combination) –(स्थिति) इ+अ =(फल) य्+अ इत्यादि । जैसे अभि । आर्यम् । (प० पा०)=अभ्यार्यम् (२।२१।२३) ।
क्षैप्र (स्वरित) (circumflex due to hastened combination) (स्थिति) इ+अ=(फल) य॑, इत्यादि ।

जैसे—नु । इन्द्र । (प० पा०)=न्विन्द्र (सं० पा०) (३।१३) ।

क्ष्वेळनः—एक अधिक शीत्कार ध्वनि (hissing sound) का उच्चारण करना (१४।२०)

गरीय. (heavier)—व्यञ्जन से युक्त दीर्घ अक्षर (१८।४२) ।

गायत्रः—८ अक्षरो का पाद (१७।३७) ।

गायत्रकाकुभ (प्रगाथ) छन्दः।—गायत्री+ककुप् = (८+८+८) + (८+१२+८) =५२ (१८।६) ।

गायत्रबार्हत (प्रगाथ) छन्द—गायत्री+बृहती =(८+८+८)+(८+८+१२ +८)=६० (१८।५) ।

गायत्री —२४(=८+८+८ या ६+६+ ६+६) अक्षरों का छन्द (१६।१६) ।

गुरु (स्वर) (heavy):—(i) आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई३, (ii) अ, ऋ, इ, उ—यदि इनके बाद में संयुक्त व्यञ्जन अथवा अनुस्वार हो (१।२०–२१, १८।४१) ।

ग्रस्तः—जिह्वा के मूल का निग्रह करके वर्ण का उच्चारण करना (१४।८) ।

घोषवत् (सघोष) (voiced)—(i) वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण—ग, घ, ङ; ज, झ, ञ; ड, ढ, ण, द, ध, न, व, भ, म; (ii) अन्तःस्था—य, र, ल, व; (iii) ऊष्मन्—ह (१।१२ भाष्य) ।

चतुःक्रमः—चार पदों का क्रम-वर्ग (११।१९)।

जगतीः—४८ (=१२+१२+१२+१२) अक्षरो का छन्दः (१६।७४) ।

जागतः—१२ अक्षरो का पाद (१७।३८) ।

जागतत्रैष्टुभ (प्रगाथ) छन्द.—जगती+त्रिष्टुप्=(१२+१२+१२+१२)+(११ +११+११+११)=९२ (१८।२८) ।

जात्य (स्वरित) (independent circumflex)—स्वभाव स्वरित—(i) अपूर्व=पूर्व में कोई स्वर नही+स्व० (ii) अनुदात्तपूर्व =अनु०+स्व० (३।८) ।

जिह्वामूलीय (sounds produced at the root of the tongue):—(i) स्वर—ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, (ii) कवर्ग–क, ख, ग, घ, ङ; (iii) ऊष्मन्–ᳵक (१।४१) ।

जीवः—६६ अक्षरो का विराट् छन्द (१७।५)।

ज्योतिष्मतीः–४४(=१२+१२+१२+८) अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द. (१६।७०) ।

तनुशिरा –२८ (=११+११+६) अक्षरो का उष्णिक् छन्द (१६।३५) ।

ताराट्ः—२२ अक्षरो का विराट् छन्द (१७।५) ।

तालव्य (palatals).—स्वर–इ, ई, ए, ऐ; (ii) चवर्ग–च, छ, ज, झ, ञ; (iii) अन्तःस्था–य; (iv) ऊष्मन्–श(१।४२)।

तृप्तः—७४ अक्षरों का विराट् छन्द. (१७।५) ।

तैरोव्यञ्जन (स्वरित) (circumflex intervened by consonant)—(स्थिति)उ०+व्यञ्जन+अनु०=(फल) उ०+व्यञ्जन+स्व० । जैसे–अग्निम् । ईळे । (प० पा०)=अग्निमीळे (सं० पा०) (३।१७) ।

त्रिक्रमः तीन पदो का क्रम-वर्ग (११।१७)।

त्रिष्टुप् . –४४(=११+११+११+११) अक्षरो का छन्द (१६।६४) ।

त्रैष्टुभः—११ अक्षरों का पाद (१७।३८) ।

त्रैष्टुभजागत (प्रगाथ) छन्द .—त्रिष्टुप्+जगती = (११+११+११+११)+(१२ +१२+१२+१२)=९२ (१८।२६; १८।२९) ।

दन्तमूलीय (sounds produced at the root of teeth):—(i) तवर्ग–

त, थ, द, ध, न; (ii) अन्त.स्था--र, ल; (iii) ऊष्मन्—स (१।४४-४५)।

दीर्घ (स्वर) (long) :—आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ (१।१८)।

दीर्घ विवृत्ति (long hiatus) :—जिस विवृत्ति में एक ओर या दोनो ओर दीर्घ स्वर हो। जैसे-(i) नृषा असि; (ii) य आनयत्; (iii) ता आपः (२।७९)।

दुःस्पृष्ट (slight contact)·—अन्त स्था-वर्णों का आभ्यन्तर-प्रयत्न जिसमें मुख के उच्चारणावयवो का थोड़ा सा स्पर्श होता है (१३।१०)।

द्रुत (quick):—बोलने की तीव्र गति (speed) (१३।४६)।

द्विक्रमः—दो पदों का क्रम-वर्ग (११।६)।

द्विपदाः —२४ (=१२+१२) अक्षरों का गायत्री छन्दः (१६।२६)।

द्विपदाः —दो पादो की ऋचा (१७।४१)।

द्विपदापूर्व-बृहत्युत्तर (प्रगाथ) छन्द. —द्विपदा +बृहती=(१२+१२)+(१३+८ +१३)=५८ (१८।१८)।

द्विसंधि (विवृत्ति) (hiatuses admitting twofold combination):—एक मध्यवर्ती स्वर-वर्ण के दोनों ओर स्वर-वर्णों का होना। जैसे-तस्मा उ अद्य (२।८०)।

धृति :—७२ अक्षरो का अतिच्छन्द. (१६।८५)।

ध्रुवः अभिनिधान से बाद में उच्चारित होने वाला नाद (६।३९-४२)।

नतिः—दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य होना। जैसे —(1) ते। सु। न·। (प० पा०)=ते षु ण· (सं० पा०); (ii) पितृऽयानम्। (प० पा०)=पितृयाणम् (सं० पा०) (५।१-६१)।

नष्टरूपाः—३२ (=९+१०+१३) अक्षरो का अनुष्टुप् छन्दः (१६।४१)।

नाद (voice) —सघोष-वर्णों की मूलभूत वायु (१३।५)।

नाम (noun):—द्रव्य-वाचक पद। जैसे—अश्व (१२।१७)।

नामिन् (cerebralizing vowels):—अ, आ से भिन्न स्वर-वर्ण=ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ (१।६५)।

नासिक्य (nasals):—(i) नासिक्य—ँ (ii) यम; (iii) अनुस्वार-अं (१।४८)।

निवृत् :—१ अक्षर से न्यून छन्दः (१७।२)।

निपात (particle) — नाम, आख्यात और उपसर्ग को छोडकर अन्य 'च' आदि पद (१२।१७)।

नियत (संधि).-(स्थिति) आ+सघोष व्यञ्जन=(फल) आ+सघोष व्यञ्जन। जैसे-पुनाना। यन्ति। (प० पा०)= पुनाना यन्ति (स० पा०) (४।२४)।

नियत (संधि):-(स्थिति) ह्रस्व स्वर+रिफित विसर्जनीय+र्=(फल) दीर्घ स्वर+रिफित विसर्जनीय+र्। जैसे—प्रात.। रत्नम्। (प० पा०)=प्राता रत्नम् (स० पा०) (४।२९)।

निरस्त.—किसी वर्ण का अपने उच्चारण-स्थान अथवा उच्चारणावयव से यथावत् उच्चारण न होना (१४।२)।

निर्भुज :—संहिता-पाठ (वि० वि० ३)।

न्यङ्कुसारिणी (स्कन्धोग्रीवी, उरोबृहती) —३६ (=८+१२+८+८) अक्षरो का बृहती छन्द (१६।४६)।

न्याय (general rule) — सामान्य नियम (१५३)।

पङ्क्तिः —४० (=८+८+८+८+८) अक्षरो का छन्द (१६।५४)।

पञ्चाल-पदवृत्ति (संधि) -(स्थिति) (.) अ.+ अ=(फल) ओ+अ, (1) प्राकृत ओ+ अ=ओ+अ; (कोई विकार नही)। जैसे-(1) यः। अस्मै। (प०पा०)=यो अस्मै

(सं०पा०);(ii)प्रो। अयासीत्। (प०पा०) =प्रो अयासीत् (स० पा०)(२।३३)।

पदपङ्क्ति.—२५ (=५+५+५+५+५ या ४+६+५+५+५) अक्षरों का गायत्री छन्दः (१६।१८)।

पदवृत्ति (संधि)(hiatus between two words)—(स्थिति)आ., ऐ या औ+स्वर=(फल)आ+स्वर। जैसे-(i) या। ओषधीः। (प० पा०)=या ओषधी; (ii) अन्वेतवै। उ। (प० पा०)=अन्वेतवा उ (स० पा०); (iii) उभौ। उ। (प० पा०)=उभा उ (स० पा०) (२।२७-२९)।

पद्यः—(पद-पाठ में) सावग्रह पद का आधा भाग (१।६१)।

पद्यः—७० अक्षरो का विराट् छन्द.(१७।५)।

परमेष्ठीः—४२अक्षरों का विराट् छन्द (१७।५)।

परिग्रह (repetition with 'iti' interposed).—पदपाठ में मध्य में 'इति' रखकर पद को दोहराना। जैसे—सत्यानृते इति सत्यानृते (३।२३)।

परिपन्न (संधि) —(स्थिति)म्+र् या ऊष्मन् =(फल)अ+र् या ऊष्मन्। जैसे-(i) होतारम्। रत्नऽधातमम्। (प० पा०)= होतार रत्नधातमम् (स० पा०); (ii) वसुम्। सूनुम्। सहस.। (प० पा०)= वसु सूनु सहस. (स० पा०)(४।१५)।

पाङ्क्तकाकुभ (प्रगाथ) छन्द —ककुप्+पङ्क्ति = (८+१२+८)+(८+८+८+८+८)=६८ (१८।८)।

पादनिचृत् —२१ (=७+७+७) अक्षरो का गायत्री छन्द. (१६।२१)।

पिपीलिकमध्यमाः—३२=(१२+८+१२) अक्षरो का अनुष्टुप छन्द (१६।३९)।

पिपीलिकमध्यमा —३४(=१३+८+१३) अक्षरों का बृहती छन्द (१६।५२)।

पिपीलिकमध्याः—२८ (=११+६+११) अक्षरो का उष्णिक् छन्द (१६।३४)।

पीळन —उच्चारण के समय उच्चारणस्थान और उच्चारणावयव का अनावश्यक संकोचन (१४।३)।

पुरउष्णिक् —२८ (=१२+८+८) अक्षरों का उष्णिक् छन्द (१६।३०)।

पुरस्तात्बृहती —३६(=१२+८+८+८) अक्षरो का बृहती छन्द (१६।४६)।

प्रकृतिः—८४अक्षरो का अतिच्छन्द.(१६।८९)

प्रगाथः—दो या तीन छन्दो का समूह (१८।१-३१)।

प्रगृहीतपद (सहिता) —(स्थिति) अविकृत स्वर-वर्ण+स्वर-वर्ण=(फल) अविकृत स्वर-वर्ण+स्वर-वर्ण। जैसे-(i) इन्दो इति=इन्दो इति; (ii) अतप्यमाने अवसावन्ती अनु = अतप्यमाने अवसावन्ती अनु (२।५४)।

प्रगृह्य —परवर्ती स्वर-वर्ण के साथ विकार सभव होने पर भी विकार को प्राप्त न करने वाले स्वर-वर्ण (१।६८-७५)।

प्रचय (accumulation):—(स्थिति) स्व०+अनु०=(फल) स्व०+प्रचय। जैसे—इमम्। मे। गङ्गे। (प० पा०) =इम में गङ्गे (स० पा०) (३।१९)।

प्रतिकण्ठ (irregular formations):—निपातन-सिद्ध (१।५४)।

प्रतिमा —१२ अक्षरो का छन्द. (१७।१९)।

प्रतिलोमान्त्यक्षर (संधि) (combinations contrary to the succession of syllables)—(स्थिति) व्यञ्जन+स्वर=(फल) वर्ग का प्रथम व्यञ्जन>वर्ग का तृतीय व्यञ्जन+स्वर। जैसे—यत्। अङ्ग। (प० पा०)। =यदङ्ग (सं० पा०) (२।९)।

प्रतिष्ठा —४६ अक्षरो का विराट् छन्दः।

प्रतिहार —जिह्वा का दाँतों के साथ आवश्यकता से अधिक स्पर्श (१४।२३)।

प्रतृण्णः—पद-पाठ (वि० वि० ३)।

प्रस्न.—५० अक्षरो का विराट् छन्द.(१६।५)।

प्रमा.—८ अक्षरों का छन्द. (१७।१९)।

प्लुत (prolated).—तीन मात्राओ का स्वर-वर्ण (१।३०)।

प्लुति —(lengthening) ह्रस्व स्वर का दीर्घ होना। जैसे—मक्षुऽमक्षु। कृणुहि। (प० पा०)=मक्षूमक्षू कृणुहि (सं० पा०) (७।१-९।५२)।

प्रग्नः—दो अथवा तीन ऋचाओ का समूह (१५।२३)।

प्रश्रित (सधि).–(स्थिति)अ+सघोष व्यञ्जन =(फल)ओ+सघोष व्यञ्जन। जैसे—देवः। देवेभिः। (प० पा०)=देवो देवेभि. (स० पा०) (४।२५)।

प्रश्लिष्ट (सधि) (contracted combinations) —स्वरवर्णद्वय का एकीभाव–(i) (स्थिति) अ+अ=(फल) आ; इत्यादि(दीर्घसधि), (ii) (स्थिति) अ+इ=(फल)ए, इत्यादि(गुण सधि); (iii)(स्थिति)अ+ए=(फल)ऐ, इत्यादि (वृद्धि संधि)। (२।१५-२०)।

प्रश्लिष्ट (स्वरित) (circumflex due to contracted combinations):—(स्थिति)इ+इ=(फल) ई। जैसे—सुचि। इव। (प० पा०)= स्रुचींव (स० पा०) (३।१३)।

प्रस्तारपङ्क्ति –४०(=१२+१२+८+८) अक्षरो का पङ्क्ति छन्द (१६।६०)।

प्राच्य-पदवृत्ति (सधि)–(स्थिति) ए+अ= (फल) ए+अ। जैसे—ते। अग्रेपा। (प० पा०)=ते अग्रेपा (स०पा०)।

प्रायः —छन्दो का अधिकार (१७।२५)।

बर्बरता —उच्चारण करते समय तुतलाना (१४।२६)।

बर्स्य (sounds produced at the socket of the teeth).—अन्त.स्था–र (१।४६)।

बहुक्रम —बहुत पदो का क्रम-वर्ग(११।२०)।

बार्हत (प्रगाथ)छन्द.—(i) बृहती+सतोबृहती=(८+८+१२+८)+(१२+८+१२+८) = ७६ (१८।१); (ii)बृहती+जगती=(८+८+१२+८)+(१२+१२+१२+१२)= ८४ (१८।११); (iii) बृहती+अतिजगती=(८+८+१२+८)+(१२+१२+१२+८+८)=८८ (१८।१२); (iv) बृहती+यवमध्या= (८+८+१२+८)+(८+८+१२+८+८)=८० (१८।१३)।

बार्हतत्रैष्टुभ (प्रगाथ)छन्द :–बृहती+त्रिष्टुप् =(८+८+१२+८)+(१२+१०+१२+१२)=८२ (१८।२५)।

बार्हतानुष्टुभ (प्रगाथ) छन्द —बृहती+अनुष्टुप्=(८+८+१२+८)+(८+८+८+८)=६८ (१८।२१)।

बृहती —३६(=८+८+१२+८)अक्षरो का छन्द. (१६।४५)।

भुग्न (सधि).—(स्थिति) (क्रमशः ओ और औ के स्थान पर आने वाले) अ और आ+अनोष्ठ्य स्वर=(फल) अ और आ+व्+अनोष्ठ्य स्वर। जैसे—(i) वायो। आयाहि। (प० पा०)=वायवा याहि (स० पा०), (ii) मित्रावरुणौ। ऋतावृधा। (प० पा०)=मित्रावरुणा वृतावृधा (स० पा०) (२।३१)।

भुरिक् :—२५ (=८+१०+७) अक्षरो का गायत्री छन्द (१६।२०)।

भुरिक् :—१अक्षर से अधिक छन्द (१७।२)।

भुरिक् पदपङ्क्ति —२६ (=५+५+५+५+६) अक्षरो का गायत्री छन्द. (१६।१८)।

मध्यम (intermediate):—बोलने की मध्यम गति (speed) (१३।४६)।

मध्यम (middle):—कण्ठ में उच्चारित होने वाला वर्णों का स्थान (stage) (१३।४२)।

मन्द्र (soft).—हृदय में उच्चारित होने वाला वर्णों का स्थान (stage) (११।४२)।

मर्वीकाः—१० अक्षरो का छन्दः (१७।२०)।

महापङ्क्तिः—४८(=८+८+८+८+८+८ या ८+८+७+६+१०+९) अक्षरों का जगती छन्द. (१६।७५)।

महापवपङ्क्तिः—३१ (=५+५+५+५+५+६) अक्षरों का अनुष्टुप् छन्दः (१६।४३)।

महाबार्हत (प्रगाथ) छन्दः:—महाबृहती+सतोबृहती=(८+८+१२+८+८)+(१२+८+१२+८+८)=९२ (१८।१०)।

महाबृहती.—४४ (=१२+८+८+८+८) अक्षरो का त्रिष्टुप् छन्द. (१६।७१)।

महासतोबृहती—४८ (=८+८+८+१२+१२) अक्षरो का जगती छन्द. (१६।७७)।

माः—४ अक्षरों का छन्द. (१७।१९)।

मात्रा (mora).—वर्ण के उच्चारण-काल की माप (१।२७)।

मूर्धन्य (cerebrals):—(i) टवर्ग—ट, ठ, ड, ढ, ण, (ii) ऊष्मन्—ष (१।४३)।

यम (twin):—कँ, खँ, गँ, घँ इत्यादि नासिक्य-वर्ण (६।२९-३४)।

यम (tone): -षड्ज आदि सात स्वर (musical notes) अथवा इन सात स्वरो के धर्म (१३।४३)।

यवमध्याः—२४ (=७+१०+७) अक्षरों का गायत्री छन्दः (१६।२७)।

यवमध्यः—४४(=८+८+१२+८+८) अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्दः (१६।७२)।

रक्त (nasalized):—अनुनासिक-वर्ण (१।३६)।

रेफ (सधि):—(स्थिति) रिफित विसर्जनीय+स्वर या सघोष व्यञ्जन=(फल) र्+स्वर या सघोष व्यञ्जन। जैसे—(i) प्रातः। अग्निम्। (प० पा०)=प्रातरग्निम् (सं० पा०); (ii) अग्निः। वीरम्। (प० पा०)=अग्निर्वीरम् (सं० पा०) (४।२७)।

रेफिन् (rhotacized):—रेफमूलक विसर्जनीय (१।७६-१०३)।

लक्षण.—बाह्य स्वरूप (वि० वि० १)।

लघीय (स्वर) (lighter)·—व्यञ्जन के बिना ह्रस्व अक्षर (१८।४४)।

लघु (स्वर) (light):- अ, ऋ, इ, उ (१।२१ भाष्य, १८।३८-३९)।

लोप (elision).—वर्ण का अदर्शन (वि० वि० ५)।

लोमशयः—असुकुमारता के साथ उच्चारण करना (१४।२०)।

वर्ग (class):—(i) कवर्ग (ii) चवर्ग (iii) टवर्ग (iv) तवर्ग (v) पवर्ग (१।८)।

वर्धमानाः—२१(=६+७+८) अक्षरो का गायत्री छन्द. (१६।२४)।

वशंगम (सधि) (influenced combinations):—वह व्यञ्जन-सधि जिसमें कोई न कोई विकार होता है। जैसे—यत्। वा। (प० पा०)=यद्वा (स० पा०) (४।२-१४)।

वारि—९४ अक्षरो का विराट् छन्दः (१७।५)।

विकार (modification):—एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का आ जाना (वि० वि० ५)।

विकृतिः—९२ अक्षरो का अतिच्छन्दः (१६।८९)।

विक्रान्त (सन्धि) (passed over):—विसर्जनीय का अविकृत रहना। जैसे—व.। शिवतम.। (प० पा०)=व शिवतम (स० पा०) (४।३५)

विक्लिष्टः—जबड़ों को दूर खींचकर वर्ण का उच्चारण करना (१४।७)।

विपरीताः—४० (=८+१२+८+१२) अक्षरो का पङ्क्ति छन्द (१६।५८)।

विपरीतान्त (प्रगाथ)छन्द —बृहती+विपरीता=(८+८+१२+८)+(८+१२+८+१२)=७६ (१८।१५)।

विराट्—३० (=१०+१०+१०) अथवा ३३ (=११+११+११) अक्षरो का अनुष्टुप् छन्द (१६।४२)।

विराट्ः—४० (=१०+१०+१०+१०) अक्षरो का पङ्क्ति छन्दः (१६।५५)।

विराट्ः—२ अक्षरो से न्यून छन्द (१७।३)।

विराट्ः—२६ अक्षरो का विराट् छन्द (१७।५)।

विराट्कामाः—१८ अक्षरो का छन्द (१७।२०)।

विराट्पूर्वा (अथवा पङ्क्त्युत्तरा):—४४ (=१०+१०+८+८+८) अक्षरो का त्रिष्टुप् छन्द (१६।६८)।

विराट्स्थानाः—४० (=९+१०+१०+११) अथवा ३९ (=९+९+१०+११) अथवा ४१ (=९+१०+११+११) अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द (१६।६७)।

विराडूर्ध्वबृहती—३६ (=१२+१२+१२) अक्षरो का बृहती छन्द (१६।४७)।

विराड्रूपाः ४१ (=११+११+११+८) अक्षरो का त्रिष्टप छन्द (१६।६९)।

विलम्बित (slow):—बोलने की धीमी गति (speed) (१३।४६)।

विवृत्ति (hiatus).—दो स्वर-वर्णों के मध्य उच्चारण में कालकृत व्यवधान (२।३)।

विवृत्त्यभिप्राय (apparent hiatuses)—(स्थिति) आ+पदान्त या पदान्त न्+अन्त स्था= (फल) आँ+ अन्तःस्था। जैसे—दधन्वान्। य। (प० पा०) =दधन्वाँ य. (स०पा०) (४।६८)।

विश्रम्भ (relaxing)—उच्चारणावयवो का अधोगमन (३।१)।

विषमपदा—३६ (=९+८+११+८) अक्षरो का बृहती छन्द (१६।५३)।

विषमरागता—सानुनासिक स्वर-वर्ण का निरनुनासिक के रूप में उच्चारण और उसके स्थान पर निरनुनासिक स्वर-वर्ण का सानुनासिक के रूप में उच्चारण (१४।१३)।

विष्टारपङ्क्ति—४० (=८+१२+१२+८) अक्षरो का पङ्क्ति छन्द. (१६।६२)।

विष्टारबृहती—३६ (=८+१०+१०+८) अक्षरो का बृहती छन्द (१६।४९)।

वृत्तः—छन्द के अक्षरो का गुरु-लघु-भाव (१७।२५)।

वृत्ति (mode)—बोलने की गति (speed) (१३।४६)।

वृषा—५८ अक्षरो का विराट् छन्द (१७।५)।

वैराज—१० अक्षरों का पाद (१७।३७)।

वैवृत्त (स्वरित) (circumflex intervened by hiatus)—(स्थिति) उ०+विवृत्ति+अ०=(फल) उ०+विवृत्ति+स्व०। जैसे—य.। इन्द्र। (प०पा०)=य इन्द्र (स०पा०) (३।१०)।

व्यञ्जन (consonants):—(i) कवर्ग-क, ख, ग, घ, ङ, (ii) चवर्ग-च, छ, ज, झ, ञ, (iii) टवर्ग-ट, ठ, ड, ढ, ण, (iv) तवर्ग-त, थ, द, ध, न, (v) पवर्ग-प, फ, ब, भ, म, (vi) अन्त स्था-य, र, ल, व; (vii) ऊष्मन्-ह, श, ष, स, ᳲ, ᳵ क, ᳶ प, ᳳ (१।६)।

व्ययनः—एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का उच्चारण (१४।१)।

व्यवायः—किसी व्यञ्जन और परवर्ती अन्त.-स्था-वर्ण के मध्य में अन्त स्था-वर्ण के समान उच्चारण स्थान वाले स्वर-वर्ण का उच्चारण। जैसे—त्र्यम्बकम् = त्रियम्बकम् (१३।२३)

व्यापन्न (संधि) (changed)—विसर्जनीय का ऊष्मन् में परिवर्तन। जैसे—व.। शिवतमः। (प० पा०)=वश्शिवतम (स० पा०) (४।३५)।

व्यासः—उच्चारण के समय उच्चारण-स्थान और उच्चारणावयव का अनावश्यक विस्तार (१४।३)।

व्यूहः—संधियों को तोड़कर एक अक्षर के स्थान पर दो अक्षर बना देना। जैसे—प्रेता=प्रइता (१७।२२)।

शक्वरीः—५६ अक्षरो का अतिच्छन्द (१६।८१)।

शुक्रः—६२ अक्षरो का विराट् छन्द. (१७।५)।

शूनः—खोखले मुख से वर्ण का उच्चारण करना (१४।५)।

शौद्धाक्षर (संधि):—श्, ष्, स् या र् का आगम। जैसे—(i) पुरु। चन्द्रम्। (प० पा०)=पुरुश्चन्द्रम् (सं०पा०); (ii) परि। कृण्वन्। (प० पा०) = परिष्कृण्वन् (स० पा०) (४।८४–८९)।

श्वास (breath)—अघोष-वर्णों की मूलभूत वायु (१३।४)।

श्वासः—हकार के उच्चारण में अधिक श्वास का प्रयोग करना (१४।२८)।

सतोबृहती:—४० (=१२+८+१२+८) अक्षरों का पङ्क्ति छन्द (१६।५७)

समयः—दो से अधिक पदों का पुनरुक्त समूह (१०।१९;११।२४)।

समानाक्षर (monopthongs):—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ (१।१)।

समापाद्यः—(i) षत्व; (ii) णत्व; (iii) सामवश संधि और (iv) नियम से सिद्ध सकारभाव (१३।३१)।

सम्राट्ः—३४ अक्षरो का विराट् छन्दः (१७।५)।

सर्वमात्राः—१४ अक्षरों का छन्द (१७।२०)।

सर्वोकाः—६ अक्षरो का छन्द (१७।२०)।

सामवश (संधि):—(स्थिति) ह्रस्व स्वर + व्यञ्जन = (फल) दीर्घ स्वर + व्यञ्जन। जैसे—मक्षुऽमक्षु। कृणुहि। (प० पा०) =मक्षूमक्षू कृणुहि (सं० पा०)(७।१–९।५२)।

संकृतिः—९६ अक्षरों का अतिच्छन्द. (१६।८९)।

संदष्टः—जबड़ो को नीचा करके वर्ण का उच्चारण करना (१४।६)।

संधिः—वर्ण का (i) लोप (ii) आगम (iii) विकार (iv) प्रकृतिभाव (वि०वि०३)।

संध्यक्षर (diphthongs).—ए, ओ, ऐ, औ (१।२)।

संमाः—२० अक्षरो का छन्द. (१७।१९)।

संयोग (conjunction)—अव्यवहित दो व्यञ्जनो का मेल (१।३७)।

संस्तारपङ्क्ति.–४०(=१२+८+८+१२) अक्षरों का पङ्क्ति छन्द (१६।६१)।

संहिताः—पदो की अतिशयित संनिधि (वि० वि० २)।

सोष्मन् (aspirates):—वर्गों के द्वितीय

और चतुर्थ वर्ण—ख, घ; छ, झ; ठ, ढ; थ, ध; फ, भ (१।१३)।

स्थान (places of articulation):—वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्थल (१।४९)।

स्पर्श (contact consonants):—(i) कवर्ग—क, ख, ग, घ, ङ; (ii) चवर्ग—च, छ, ज, झ, ञ; (iii) टवर्ग—ट, ठ, ड, ढ, ण; (iv) तवर्ग—त, थ, द, ध, न; (v) पवर्ग—प, फ, ब, भ, म (१।७)।

स्पर्शरेफ (सन्धि)·—नकार का रेफ में परिवर्तन। जैसे—पणीन्। हतम्। (प० पा०)=पणीँर्हतम् (सं० पा०) (४। ६९-७२)।

स्पर्शोष्म (सन्धि)·—न् का श् या स् होना। जैसे—महान्। चरति। (प० पा०) =महाँश्चरति (सं० पा०) (४। ७४—७७)।

स्पृष्ट (contact)·—स्पर्श-वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न जिसमें मुख के दो उच्चारणावयव एक दूसरे का स्पर्श करते हैं (१३।९)।

स्वर (vowels)वर्ण.—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई३, लृ (१।३)।

स्वर (accent)—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित-सञ्ज्ञक स्वरवर्ण के उच्चारण-धर्म (३।१)।

स्वर (musical notes):—सप्त स्वर—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद (१३।४४)।

स्वरभक्ति (vowel part)·—अति ह्रस्व स्वर। (स्थिति)स्वर+र्+व्यञ्जन=(फल)स्वर+र्+स्वरभक्ति+व्यञ्जन। जैसे—बर्हि (६।४६—५३)।

स्वराट्.—२ अक्षरों से अधिक छन्द (१७।३)।

स्वराट्·—३०अक्षरोंका विराट् छन्द (१७।५)।

स्वरित (circumflex)—उच्चारणावयवों के तिर्यग्गमन से उच्चारित होने वाला स्वर (३।१)।

स्ववशिनी—३८ अक्षरों का विराट् छन्द (१६।५)।

स्थित—पदपाठ में इति-शब्द से रहित अर्थात् केवल पद। जैसे—अग्निम् (१०।१३; ११।२८)।

स्थितोपस्थित—पदपाठ में इति-शब्द से युक्त तथा इति-शब्द से रहित पद। जैसे—विभावसो इति विभाऽवसो (१०।१४, ११।३०)।

ह्रसीका—२ अक्षरों का छन्दः (१७।२०)।

ह्रस्व(स्वर वर्ण)(short):—अ, ऋ, इ, उ (१।१७)।

ऋग्वेदप्रातिशाख्य में उद्धृत आचार्य

उवट-भाष्य में उद्धृत आचार्य एवं ग्रन्थ

(अधोलिखित संख्या पृष्ठ तथा पङ्क्ति को निर्दिष्ट करती हैं)

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
श्रष्ठ	श्रेष्ठ ६,२०	आ	अ १४३, ९
ह	हैं ६,३० इत्यादि	दृश	दृशे १४५, २८
करन	करने ७,९ इत्यादि	आय	आयु. १४९, १०
वायू	वायु १६,१६	वाहि	याहि १४९, २१
म	में १७,१५ इत्यादि	यकरादि वकरादि	यकारादि वकारादि १५६, ११
प्रतृण्णम् ।	प्रतृण्णम् ॥३॥; १८,१८	अध्यत्तम्	अध्यधत्तम् १७३, ६
होम:	होम परस्परम् २२,९	प्रकृतिभाव	प्रकृतिभाव. १७३, १५
सहिताम्	सहिताम् २७,२५	सेवे	सेशे १९४, २, ५
ऐ० ब्रा० १।४।५	ऐ० ब्रा० १।२२।१५; २९,३२	सेदीषे	सेदीशे १९४, २, ५
प्रैष	पाद ३५, ९९	घनचम्	घनर्चम् १९८, १४
वेदिततव्यम्	वेदितव्यम् ३०,१६	वाणिभि:	वाणीभि: २०१, ३०
प्रतिशाख्य	प्रातिशाख्य ४०,२४	अयदानीम्	अथेदानीम् २१३, ९
द्वितीय	द्वित्व ४८,२५	द्वन्न:	द्रुवन्न २१८, २
सत्र	सूत्र ५०,२५	जुनिता	जुनिता २२०, १०,२३
पूव	पूर्वे ५२,३	इन्द्राहवृस्पती	इन्द्राबृहस्पती २२०, २६
sonant	surd ५४,६	परोहितम्	पुरोहितम् २२९, १
३०	३१, ६७,३	इम गङ्ग	इम मे गङ्गे २३१,११
विदन्ति	विन्दति ६७,२४	वाजेवाजऽवत	वाजेवाजेऽवत २३२, १५
दशनात्	दर्शनात् ७३,३१	शतऽक्तु	शतऽक्तो २३५, १८
पृतुनासु	पृतनासु ७७,१७	प्रायण	प्रायेण २४२, १९
तनयाय तोकाय	तोकाय तनयाय ७७,२२	मन्मना	मज्मना २६०, ३
सूत्रकार	भाष्यकार ९२,२७	वसूवय:	वसूयव २७७,७—
सुभरे	सुभरं १००,१७	रभि	—रभि २७९, १९
इतिरणेन	इतिकरणेन १०२,७	गाष्पदेभ्यो	गास्पदेभ्यो २८७, १
व:	वः ११०,२३	नकारस्य णकार:	सकारस्य षकार: ३३८,१
शतमते	शतमूते ११५,१०	नकार का णकार	सकार का षकार ३३८,६
उदाजप	उदाजदप ११८,१२	(?)	छोडिये ३४०, ८
इङ्गय	इङ्गय १२२,५	—नामिभि	—र्नीमिभि ३४९, ११
स्वरभक्ति	विवृत्ति १३०, ४	—यृषिाण	यृषिपाण ३५१, १६
अनच्चारण	अनुच्चारण १३०, २४	मयु	मधु ३५४, १५
सनज्ञना	समज्ञना १३२, ८	सन्त	सन्तं ३६३, १२

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
—स्तिभिः	—स्तिभि. ३८४, २	मित्रमह्	मित्रमह ६७४,२
ज्	र् ३९३, ३१	ऌकार	ऋकारऌकार ६७७,४
उष्मणः	ऊष्मणः ३९५, ११	तपूसि	तपूंषि ६९४,१०
एच्छाम	ऐच्छाम ३९९, १७	ऋकारस्य	ॠकारस्य ७०५,३
सबसे छोटे संभव काल	एक चौथाई मात्रा ४१६,५	कण्ठ	ओष्ठ ७०८,२८
		सहार	पीडन ७१९,२६
वर्व	वर्ग ४२३, २४	अनुषज्यते	अनुषज्यते ७२०,२३
वोषा	वोघा ४४८, २१	उष्मणा	ऊष्मणा ७२५,१०
नूनम्	नून ४६५, २०	अधिकार	अधिक ७२५,१४
श्व.श्व	श्व श्व. ४६८, २४	शुशिल्पे	सुशिल्पे ७३९,२२
१, २	९, १०; ४६८, २५	विचृता	विचृत्ता ७४०,३,८
न	न॰ ४६९, ३	ऊग्रँ	उग्रँ ७४३,२६
मुञ्ज	मुञ्च ४७७,९	ऊच्चारण	उच्चारण ७४३,२९
सुषुवुषु	सुषुवुष॰ ४८८, २६	रक्ताद्	रक्ताद ७४५,४
इन्द्र	इन्द ४९९, १	न्मत्रांश	मन्त्रांश ७७५,१२
अतिम	अन्तिम ५२४, २६	इन्द्रश्न	इन्द्रश्च ७९९,२८
हृदयऽविघ॰	हृदयऽविघ ५२७, २०	उपदेम्	उपेदम् ८०३,६
चोतरा	चोत्तरा ५३५, १०	चानना	जानना ८०४ १४
मल	मूल ५८७, २१	ऋ० १ २।३	ऋ० १०।१७२।३, ८०८,३१
अविलाप	अविलोप ६०७,१२		
प्राप्तरिति	प्रातरिति ६१६,११	सात	नौ ८५०,२९
अन्यतर	अन्यतरन् ६२२,१५	द्विपदाओ	एकपदाओ ८५४,२२, ८५५,१४,३०,३१
प्रकृति	प्रकृति ६२७,२		
निर्बूवन्	निर्बुवन् ६५१,४,९	द्विपदा	एकपदा ८५५,३१; ८५६,२३
सामधि	समाधि ६५६,२९		